महाभारत के नियम।

(१) महाभारत मूल और भाषांतर प्रति अंकमें सौ पृष्ठ प्रकाशित होगा।

(२) इसमें मूल श्लोक और उसका सरल भाषानुवाद होगा। महाभारत की समालोचना प्रतिमास वैदिक धर्म मासिक में प्रकाशित होती रहेगी और पर्व समाप्तिके पश्चात् पुस्तक रूपसे भी वह ग्राहकों को मिल जायगी।

(३) भूमिका रूप इस विस्तृत लेखमें धार्मिक, सामाजिक, राजकीय तथा अन्य दृष्टियोंसे परिपूर्ण विवरण होगा, तात्पर्य यह भूमिका का विस्तृत लेख भारतकालीन वस्तुस्थितिका पूर्ण रीतिसे निदर्शक होगा। यह लेख हरएक पर्व छपनेके पश्चात ही ग्राहकों को मिल जायगा।

(४) संपूर्ण महाभारतके मुख्यप्रसंगों के सौ चित्र इस ग्रंथमें दिये जांयगे। उन में प्रतिपर्व एक चित्र रंगीनभी होगा इसके अतिरिक्त उस समयकी भूगोलिक अवस्था बताने वाले कई नकशे दिये जायगे।

(५) इसके अतिरिक्त ग्राम, नगर, प्रांत और देशोंके नाम, जातिवाचक नाम तथा, अन्य नामोंका पूर्ण परिचय देनेवाली विविध सूचियां भी दी जांयगी।

मूल्य।

(६) बारह अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य मनी आर्डर से ६) छः रु. होगा और वी. पी. से ७) रु. होगा, यह मूल्य वार्षिक मूल्य नहीं है, परंतु १२०० पृष्ठोंका मूल्य है।

(७) बहुधा प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रकाशित होगा, परंतु संभव हुआ तो अधिक अंक भी प्रसिद्ध होंगे।

(८) प्रत्येक अंक तैयार होतेही ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। यदि किसीको न मिला, तो उनकी सूचना अगला अंक मिलते ही आनी चाहिये। जिनकी सूचना अगला अंक मिलते ही आ जायगी उनको ही वह न मिला हुआ अंक पुनः भेजा जायगा। परंतु जिनकी सूचना उक्त समयमें नहीं आवेगी उनको ॥=) आनेका मूल्य आनेपर, संभव हुआ तो ही अंक भेजा जायगा।

(९) सब ग्राहक अपने अपने अंक संभाल कर रखें और चार अथवा पांच महिनोंके पश्चात् अपने अंकोंकी जिल्द बनवा लें जिससे अंक गुम होनेकी संभावना नहीं होगी। दो मास के पश्चात् किसी पुराने ग्राहक को पिछला अंक मूल्य देनेपरभी मिलेगा नहीं क्योंकि एक अंक कम होनेसे



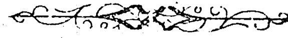
श्री महर्षि व्यास प्रणीत

महाभारत।

वनपर्व



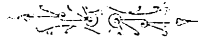
(भाषाभाष्य समेत)



भाषांतरकर्ता और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)



संवत् १९८२

शक १८४७





संसार में विजय प्राप्त करनेका मार्ग।



एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ८१ ॥

महाभारत वनपर्व अ० २

" जो संसारमें विजयकी इच्छा करनेवाले, लोभ और द्वेष छोड कर पुरुषार्थ करते हैं, वे देवता लोग ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं। "



ॐ

श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

महाभारतम् ।

वनपर्व ।

आरण्यपर्व ।

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

जनमेजय उवाच—एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम ॥ १ ॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम् ।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः ॥ २ ॥
कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमीयुषः ।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः ॥ ३ ॥
के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान्व्यसनमुत्तमम् ।
किमाचाराः किमाहाराः क्व च वासो महात्मनाम् ॥ ४ ॥
कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने ।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम् ॥ ५ ॥

वनपर्वमें पहिला अध्याय

और आरण्यपर्व ।

नारायणको, नरश्रेष्ठ नरको, और सरस्वती देवीको प्रणाम करके जय कीर्तन करें । (१)

जनमेजय बोले, कि हे द्विजोत्तम ! धृतराष्ट्रके पुत्र और उनके मन्त्रीवर्गसे जुएमें छल द्वारा हारकर और उन दुरात्माओंके, अत्यन्त शत्रुताको उत्पन्न करनेवाले दुर्वाक्य सुनकर क्रोधसे भरे कुरुकुलको बढानेवाले पाण्डुपुत्र मेरे प्रपितामहोंने क्या किया था ? इन्द्रके समान तेजोवान् वह कुन्तीपुत्र अचानक ऐश्वर्यसे भ्रष्ट और सहनेके अयोग्य दुःखको पाकर वनमें कैसे विहार करते थे ? उस विपद्के समयमें कौन कौनसे मनुष्य उनके सङ्ग गये थे ? अथवा किस रीतिसे उनको भोजन आदि प्राप्त होता था ? यद्वा वह महात्मा लोग कैसे आचारसे कहां निवास करते थे ? हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उन शत्रुघाती [illegible] वनमें कैसे कटे [illegible]

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम् ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी सत्यवादिनी ॥ ६ ॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच— एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ॥ ९ ॥
वर्धमानपुरद्वारेणाऽभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ १० ॥
इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परिचतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ ११ ॥
व्रजतस्तान्विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः
गर्हयन्तोऽसकृद्भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ॥ १२ ॥
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ।

पौरा उचुः— नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ॥ १३ ॥
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेयेन पालितः ।

मुख्य, पतिव्रता, राजपुत्री, महाभाग्यवती, सदा सत्य बोलनेवाली द्रौपदी, दुःख भोगनेमें अयोग्य होकरभी वनवासके कठोर दुःख भोगनेमें समयको कैसे बिताती थी? हे तपोधन ब्राह्मण! यह सब कथा आप मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये। उन महाधनी और महावीर्यवान पाण्डवोंके सम्पूर्ण चरित्र आपसे सुननेके लिये मेरा चित्त बहुत चञ्चल हो रहा है। (२-८)

वैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज! धृतराष्ट्रके मन्त्रीवर्ग और दुरात्मा पुत्रों- [illegible]और कुपि[illegible]कर पाण्डव-लोग हास्तिनापुरसे चले। वे सब शस्त्र धारण करके द्रौपदीके सहित ऋद्धि सिद्धिसे भरे नगरके द्वारसे निकलकर उत्तर दिशाको चलने लगे! इन्द्रसेन आदि पन्द्रह राजमन्त्री स्त्रियोंको सङ्ग लेकर रथमें चढके शीघ्रताके साथ उनके पीछे चले; पुरवासी प्रजागण पाण्डवोंके वन गमनको सुनके शोकसे व्याकुल होकर सब लोग परस्पर मिलके और भयको त्यागकर, भीष्म, द्रोण, कृप और विदुरकी निन्दा करके कहने लगे, कि जहांपर सुबलराजाका पुत्र शकुनि, कर्ण

कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥ १४ ॥
न तत्कुलं न चाऽऽचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम्।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ॥ १५ ॥
दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः॥ १६ ॥
नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः१७ ॥
सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच– एवमुक्त्वाऽनुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान्समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे तान्कुन्तीमाद्रिनन्दनान् १९ ॥
क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वाऽस्मान्दुःखभागिनः।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥ २० ॥
अधर्मेण जितान्छ्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।

और दुःशासनके मतमें रहके पापात्मा दुर्योधन राज्य करनेकी इच्छा करता है, वहांपर हम समस्त प्रजागण, हमारा कुल हमारे घर और धन आदि सबही नष्ट भये । (९—१४)

जहांपर पापियोंकी सहायतासे पापात्मा दुर्योधन राज्य करनेकी इच्छा करता है वहांपर हमारा कुल, आचार, धर्म और धन कुछभी नहीं बचेगा; बस सुखकी संभावना कहां ! यह दुर्योधन गुरुद्रोही आचारभ्रष्ट, स्वजनत्यागी, धनका लोभी, अभिमानी,नीचस्वभाव तथा दया रहित है; यह जहांपर राजा होगा,वहांपर सम्पूर्ण पृथ्वीका नाश हो जायगा; इस कारणसे जितेन्द्रिय, शत्रुओंको जीतनेवाले, लज्जाशील, कीर्तिमान् धर्मके आचरण करनेवाले, दयाके सागर, महात्मा पाण्डवगण जिस देशको जाते हैं, हमलोगोंकोभी उसी देशमें जाना अच्छा जान पडता है, चलो हमलोग उसी देशको चलें । (१५—१८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि प्रजागण इस प्रकारसे कहके कुन्तीपुत्र और माद्रीनन्दनोंके पीछे चले । पश्चात् उन्होंने पाण्डवोंके समीप आकर, हाथ जोडके कहा, कि आप का कल्याण हो, आप इस दुःखी प्रजागणको त्यागकर कहां जायंगे? आपने जिस स्थानमें जानेको मनमें विचारा है, हमभी वहीं चलेंगे । दयारहित वैरियोंने अधर्मसे आपके

उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नाऽस्मान्हातुमिहाऽर्हथ २१ ॥
भक्तानुरक्तान्सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ॥ २२ ॥
श्रूयतां चाऽभिधास्यामो गुणदोषान्नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥ २३ ॥
वस्त्रमापस्तिलान्भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ २४ ॥
मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहानि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ २५ ॥
तस्मात्प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च शुद्धभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥ २६ ॥
येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
तान्सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी २७
निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।

राज्यको जुएमें जीत लिया है, इसको सुनके हम सब लोगोंका चित्त बहुत व्याकुल हो गया है; हम लोग आपके भक्त अनुरक्त, मित्र, आपका प्रिय और हित करनेवाले हैं, इस लिये हमलोगोंको त्याग देना आपके योग्य नहीं है, हमलोग कुराजाके राज्यमें वसकर विनाशको प्राप्त होना नहीं चाहते हैं। (१९-२२)

हे मनुष्यश्रेष्ठगण ! अच्छे और बुरेके संग जो गुण और दोष मनुष्यमें उत्पन्न होते हैं उनका व्यौरा हमलोग आपसे कहते हैं, आप लोग सुनिये । जिन प्रकारसे वस्त्र, जल और तिल यह सब वस्तु जिन फूलोंके सङ्गमें रहती हैं उन्हींकी सुगन्धसे युक्त हो जाती हैं, ऐसे ही मनुष्योंमेंभी अच्छे और बुरेके सङ्गसे शुभ और अशुभ गुण उत्पन्न होजाते हैं। क्योंकि मूढ मनुष्यके प्रतिदिन सङ्ग करनेसे मोह राशिकी वृद्धि होती है, ऐसेही सज्जनका सङ्ग धर्मको उत्पन्न करनेका कारण होता है; इसी हेतुसे शान्तिपरायण मनुष्यको बुद्धिमान्, उत्तम चरित्रवाले, वृद्ध और तपस्वियोंका सङ्ग करना चाहिये। (२३—२६)

जिन लोगोंकी विद्या कुल, और धर्म यह तीनों निर्मल हैं, उनका संग करना शास्त्रके पढनेसे भी उत्तम है, कारण उनकी ही सेवा करनी चाहिये । हम लोग शास्त्रमें लिखे किसी कर्मका अनुष्ठान विना कियेही साधुलोगोंके सङ्गमें

पुण्यमेवाऽऽप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ २८ ॥
असतां दर्शनात्स्पर्शात्संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिध्यन्ति च न मानवाः २९ ॥
बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः॥
अनीचैर्नाऽप्यविषयैर्नाऽधर्मिष्ठैर्विशेषतः ॥ ३० ॥
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसंभवाः ।
लोकाचारेषु संभूता वेदोक्ताः शिष्टसंमताः ३१ ॥
ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोभिकांक्षिणः ॥३२॥
युधिष्ठिर उवाच—धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः॥ ३३ ॥
तदहं भ्रातृसहितः सर्वान्विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ ३४ ॥
भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी तथा ।

रहके पुण्यको प्राप्त कर सकेंगे । पापियोंकी सेवा करनेसे हम लोगोंको केवल पापही मिलेगा । मनुष्यलोग धर्मात्मा होकर भी यदि असाधु मनुष्यका दर्शन, स्पर्श अथवा बातचीत, यद्वा एक स्थानमें निवास करें, तो भी नीच हो जाते हैं; और चित्तकी शुद्धिरूप सिद्धिको नहीं पासक्ते हैं । (२७-२९)

पुरुषकी बुद्धि नीचके सङ्गसे नीच होती है, मध्यमके सङ्गसे मध्यम और उत्तमके सङ्गसे उत्तम बुद्धि होती है, जो सब उत्तम गुण वेदमें कहे हैं, लोकाचारमें चलित हैं, जो सज्जनोंके द्वारा माने जाते हैं, जो धर्म, काम और अर्थको देनेवाले हैं, और लोकमें प्रसिद्ध हैं वे सबही संक्षेप और विस्तार रूपसे आप लोगोंमें वर्तमान हैं, इस कारणसे हम लोग अपने अपने कल्याणकी इच्छा करके ऐसे शुभ गुणयुक्त लोगोंके पास रहनेके अभिलाषी हुए हैं ! (३०—३२)

युधिष्ठिर बोले, हे ब्राह्मणादि प्रजागण! जिस कारणसे आपलोग हमारी ओर स्नेह और दयायुक्त होकर हमलोगोंमें कोई गुण न होने परभी हमें गुणवान कह कर वर्णन करते हैं, इसी कारणसे हमलोग धन्य हुए हैं । हम अपने भाइयोंके सहित जो कुछ आपसे कहते हैं, उसे आपलोग हमारे स्नेह और दयाके वश होके मिथ्या नहीं

सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ ३५ ॥
ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसंतापविह्वलाः ३६॥
निवर्ततांऽऽगता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ३७॥
एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम् ।
कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च कृतो भवेत्॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथाऽनुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥ ३९ ॥
गुणान्पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः ।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याऽथ पाण्डवान् ४०॥
निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः ।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ४१ ॥
ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।

करेंगे । हस्तिनापुरमें हमलोगोंके पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुर, हमारी माता, और मित्र हमलोगोंके वास्ते शोकसे व्याकुल हो रहे हैं, आपलोग हमारे हित करनेकी इच्छासे उन सबको बडे यत्नसे पालन करना । आपलोग हमारे वनको जानेके कारण बहुत सन्तापयुक्त होकर बहुत दूर चले आये हैं, इस लिये हमारे वाक्यसे आपलोग फिरके घर जाके हम लोगोंके आत्मीयजनोंको ऐसा समझा कर कि हम उन्हें आपलोगोंको सौंपे जाते हैं,उन लोगों पर प्रीति रखियेगा; इसहीसे हमलोगों के मनका परम कार्य सत्कार तथा सन्तोष होगा । (३३–३८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,कि वह प्रजा धर्मराजके द्वारा ऊपर लिखी रीतिसे समझायी जाकर,हा महाराज ! हा महाराज! कहके भयानक आर्तस्वरसे विलाप करने लगी; क्या करे, विना आज्ञाके कोई सङ्ग नहीं जा सक्ता है,कुन्तीपुत्रोंके गुणोंको स्मरण करते हुए, महादुःखी होकर पाण्डवोंका सङ्ग छोडनेकी इच्छा न रहने परभी प्रजागण विवश होके लौटे । पुरवासियोंके जाने पर पाण्डव लोग जुदे जुदे रथोंपर चढके गङ्गातट पर जहां प्रमाण नामक वडा भारी वटवृक्ष था, वहां पहुंचे। वहलोग जिस समय गङ्गाके तटपर खडे उक्त महावटके पास आये, उसी समय सन्ध्या हो-

ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥ ४२ ॥
उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते नरपुंगवाः ।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान्स्नेहात्केचिद् द्विजातयः ॥ ४३ ॥
साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः ।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥ ४४ ॥
तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे ।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः संजल्पः समजायत ॥ ४५ ॥
राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः ।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन्॥४६॥ [४६]

इति श्रीमहाभारते शत० संहितायां वैयासिक्यां वनपर्वण्यारण्यपर्वणि पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः॥ १ ॥
तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः ॥ २ ॥

गयी, उन वीरोंने गङ्गाके शुद्ध जलको स्पर्श करके उस रात्रिको वहीं निवास किया उन्होंने रात्रिको गङ्गाजलके सिवाय और कुछ भोजन न किया (३९-४२)

इसी प्रकारके दुःखसे उन्होंने वह रात्रि व्यतीत करी, पाण्डवोंके स्नेहसे कितने ही अग्निहोत्र करनेवाले और कितनेही विना अग्निहोत्रवाले ब्राह्मण अपने शिष्य और बन्धुबान्धवों सहित उनके सङ्ग चले आये थे। महाराज युधिष्ठिर उन ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंके मध्यमें अत्यंत शोभायमान हुए, वह भयानक संध्याकाल ब्राह्मणोंकी प्रभावि होमकी अग्नि, वेद पाठ और आपसकी बोलचालसे मनोहर हो गया, उन ब्राह्मणश्रेष्ठोंने हंसोंके समान मीठे स्वरसे कुरुकुल प्रधान युधिष्ठिरको धैर्य देकर उनका चित्त बहलाते वह सब रात बिता दी। (४२—४६) [४६]

वनपर्वमें पहिला अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दूसरा अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि रातके बीतनेपर सवेरा होतेही भिक्षाके अन्नको खानेवाले ब्राह्मणलोग वनमें जानेको उद्यत हुए, पाण्डवोंके आगे जाकर खडे हुए। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उन्हें सन्मुख खडे देखकर कहा, कि इस समय हमारा सर्वस्व हरा गया, हमारा राज्य छिन गया, हम श्रीरहित हैं, और हम, फल मूल तथा मांस भोजन करके

फलमूलामिषाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः ॥ ३ ॥
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ।
परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ॥ ४ ॥
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत् ।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः ॥ ५ ॥
ब्राह्मणा ऊचुः— गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः ।
नाऽर्हस्यस्मान्परित्यक्तुं भक्तान्सद्धर्मदर्शिनः ॥ ६ ॥
अनुकम्पां हि भक्तेषु दैवता ह्यपि कुर्वते ।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच— ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः ।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम् ॥ ८ ॥
आहरेयुर्हि मे येऽपि फलमूलमृगांस्तथा ।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ॥ ९ ॥
द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च ।

वनको जायंगे, इसलिये निश्चय जान पडता है कि, यदि आपलोग हमारे सङ्गमें अनेक दोषोंसे भरे व्याघ्र और हिंसा करनेवाले जन्तुओंसे सेवित वनमें चलेंगे, तो आपलोगोंको अनेक दुःख होंगे। जिसके आश्रयमें रहके ब्राह्मण लोग दुःख पाते हैं, चाहे वह देवताभी हो, तौ भी उसका नाश हो जाता है। हमतो मनुष्यही हैं, हमारे आश्रयमें यदि आप लोग क्लेश पावेंगे तो हमलोग अवश्य नष्ट हो जायंगे, इस वास्ते आपलोग यहांसे लौटकर जहां इच्छा हो वहां चले जाइये। (१—५)

ब्राह्मण लोग बोले, कि हे महाराज! आपलोगोंकी जो गति होगी हमलोगभी उसी गतिको प्राप्त होनेकी इच्छा करते हैं, हमलोग सद्धर्मको जाननेवाले और आपके प्रेमी हैं, हमें छोडना आपको योग्य नहीं है, देखिये देवतालोगभी अपने भक्तोंपर दया करते हैं, विशेषतः सदाचारयुक्त ब्राह्मणों पर दया करते हैं। (६—७)

युधिष्ठिर बोले, कि हे ब्राह्मणवृन्द! हमारी ब्राह्मणोंपर सदा परम भक्ति रहती है, किन्तु क्या करें इस समय सहायहीन होनेसे हमको शिथिल होना पडा है; यह हमारे भाई लोग आपकी सेवाके वास्ते जो फल मूल और मृगोंका मांस लावेंगे वही शोकसे उत्पन्न दुःखसे मोहित होरहे हैं, औरोंसे अपने राज्यका

दुःखार्दितानिमान्क्लेशैर्नाऽहं योक्तुमिहोत्सहे ॥ १० ॥

ब्राह्मणा ऊचुः— अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत्ते हृदि पार्थिव ।
स्वयमाहृत्य चाऽन्नानि त्वाऽनुयास्यामहे वयम् ॥ ११ ॥
अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव ।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः ।
न्यूनभावात्तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवाऽऽत्मनः ॥ १३ ॥
कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान्स्वयमाहृत्य भोजिनः ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान्धिक्पापान्धृतराष्ट्रजान् ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा स नृपः शोचन्निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वाञ्छौनको नाम वै द्विजः ।
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १६ ॥

छिना जान तथा द्रौपदीके अपमानसे वह लोग बहुत घबडा रहे हैं, इस कारणसे इस कालमें उन लोगोंको फलमूल आदि को लानेके वास्ते नियुक्त करनेमें मेरा उत्साह नहीं होता है । (८—१०)

ब्राह्मण बोले, महाराज ! आपको हमारे पालनेके वास्ते चिन्ता करनी नहीं होगी, हम लोग अपने भोजनको आपही लाकर समय बितावेंगे । ईश्वरके ध्यान और जपसे आपके कल्याण करनेमें तत्पर रहेंगे तथा मनोहर कथा कहके आपके साथ सन्तोष पावेंगे । (११-१२)

युधिष्ठिर बोले, ऐसा होनेसे हम ब्राह्मणोंके साथ सदा आनन्दसे रह सक्ते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं, हम अपनी हीनतासे आपकी हीनताभी देखते हैं, कारण कि आप दुःख भोगनेके योग्य नहीं, तौभी हमारे प्रेमके वश होके, दुःख सहकर आपही भोजनके पदार्थ लाकर आहार करेंगे; यह हम कैसे देख सकेंगे; धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंको धिक्कार है, जिनके कुकर्मसे इस प्रकारकी दुर्घटना हुई । (१३-१४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इसप्रकार से कहकर महाराज युधिष्ठिर शोकसे व्याकुल हो धरती पर बैठ गये, पश्चात् अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाले तथा सांख्ययोगमें निपुण शौनक नामक एक विद्वान् राजासे कहने लगे, हे महाराज ! सहस्रों शोकके स्थान और सैकडों भयके

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः॥ १७ ॥
अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन्सा त्वय्यवस्थिता १८॥
अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥ १९ ॥
श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना२०॥
मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥२१॥
व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः संप्रवर्तते ॥ २२ ॥
तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रिया योगद्वयेन तु ॥ २३ ॥

स्थान मूर्खहीको आश्रय करते हैं, पंडितको आश्रय नहीं कर सक्ते हैं, । जो कर्म ज्ञानके विरोधी मुक्तिमें विघ्न करनेवाले और बहुतदोषयुक्त हैं, ऐसे कर्मोंमें आपके समान बुद्धिमान् नहीं लगते हैं। (१५–१७)

हे महाराज ! पण्डितलोग जिस बुद्धिको सब दुःखोंकी नाश करनेवाली कहके वर्णन करते हैं वही श्रुति और स्मृतिसे भरी, आठ अंगवाली बुद्धि आपमें विराजमान है; इससे आप जैसे पुरुषोंको धनके कष्टसे वा दुःखसे चलने योग्य मार्ग, वा अपने सम्बन्धियोंके आपत कालमें, अथवा मन सम्बन्धी वा शरीरसम्बन्धी दुःखने दुःखी होना उचित नहीं है। पहिले समयमें महात्मा जनकने चित्तको स्थिर करनेवाले सिद्धान्त कहे हैं, उन्हे मैं कहता हूं सुनिये। यह जगत् मन और देह इन दोनोंके निमित्तही दुःखसे पीडित होता रहता है। इसी मानसिक और देह सम्बन्धी दुःखोंकी शान्तिका उपाय संक्षेप और विस्तार से कहता हूं, सुनने को तैयार हूजिये। (१८– २१)

व्याधि, अनिष्ट प्राप्ति, श्रम और प्यारी वस्तुकी अप्राप्ति, इन चार कारणोंसे शरीरमें दुःख उत्पन्न होता है, औषधादिके सेवनसे व्याधि और सदाचिन्तासे दूर रहने रूप योगसे आधी (मनका दुःख) दूर होता है। बुद्धिमान् वैद्यलोग

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः संभोगोपनयैर्नृणाम् २४ ॥
मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥२५ ॥
मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाऽग्निमिवाऽम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति॥ २६ ॥
मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहाच्च सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २७ ॥
स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात्प्रवर्तते॥२८ ॥
स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २९ ॥
कोटराग्निर्यथाऽशेषं ससमूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत्३०॥
विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ॥ ३१ ॥

पहिलेही प्यारी बात, सुखभोग और प्रसङ्गसे रोगी मनुष्यके मनोगत दुःखको शान्त करते हैं, जैसे तपेहुए लोहेके टुकडेसे घडेमें भरा जल तप जाता है, ऐसेही मनके दुःखसे शरीरभी तप जाता है; इस कारणसे ज्ञान रूपी जलसे मनके दुःखकी अग्निको बुझा देनाही कर्तव्य है। मनका सन्ताप दूर होनेसे शरीरकी ताप बुझ जाती है ! (२२-२६)

ऐसा प्रतीत होता है, कि मनके दुःखका मूल स्नेह है स्नेहसेही मनुष्य गिरता है और दुःख भोगता है। मनुष्योंका स्नेह ही दुःख, भय, शोक, हर्ष और राग इन सबका कारण है; प्रीति होनेसे ही विषयोंकी चिन्ता और विषयोंमें प्रीति यह दो विकार मनमें उत्पन्न होते हैं, यह दोनों विकार कल्याणको नाश करनेमें यद्यपि एक से हैं, तौभी पहिली विषय-चिन्ता बहुत बडी है। जैसे वृक्षकी खाकर के भीतर रहने वाली अग्नि वृक्षका जडके सहित नाश करदेती है, ऐसे ही थोडीभी विषयप्रीति मनुष्यके धर्म और अर्थका नाश करदेती है। (२७-३०)

जो मनुष्य विषयका त्यागी हो, उसे विषयसे विरक्त नहीं कहते हैं, किंतु जो

तस्मात्स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात् ।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत् ॥ ३२ ॥
ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥ ३३ ॥
रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते ॥ ३४॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥ ३५ ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
याऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां स्तृष्णां त्यजतः सुखम् ३६॥
अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ॥ ३७ ॥
यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति ।

मनुष्य विषय प्राप्तिमें दोषोंको समझत है, वही विषय-त्यागी कहाता है, वह त्यागीही वैराग्यका पात्र है, वही शत्रुता रहित स्वतन्त्र होता है । इस हेतुसे धन इकट्ठा करके मित्रोंसे प्रेम करनेकीभी इच्छा मत करना; तथा अपने शरीरसे उत्पन्न हुए स्नेहको ज्ञानसे निवारण करना । जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं लगता है, वैसेही उन नित्य वस्तुको पानेमें उद्योग करनेवाले, शास्त्रज्ञ शुद्ध-चित्त और प्रसिद्ध विवेकी मनुष्योंके अन्तःकरणमें स्नेह नहीं लग सक्ता है । जो मनुष्य विषय प्रीतिमें फंसता है, उसी मनुष्यके अन्तःकरणमें विषयकी अभिलाषा उत्पन्न होकर उसे दुःख होता है; अनन्तर उसके चित्तमें विषय भोगकी इच्छा उत्पन्न होती है, उसके पीछे विषयमें तृष्णा बढती है । (३१–३४)

महापापिनी विषयतृष्णाही प्रतिदिन मनुष्यको पीडा देती है और पाप कर्ममें लगाती है; इस विषयतृष्णाको दुर्बुद्धि लोग नहीं छोड सकते हैं; मनुष्यका शरीर वृद्ध होजाता है, पर तृष्णा वृद्ध नहीं होती है, इस लिये तृष्णाको प्राण नाशक रोग कहसकते हैं; जो मनुष्य विषयतृष्णाको त्याग कर सक्ता है वही सुखी होता है। इस विषयतृष्णाका आदि और अन्त नहीं है, यह प्राणियोंके अन्तःकरणमें बैठके अग्निके समान उन्हे नाश करती है । जिस प्रकारसे काष्ठ अपने अङ्गसे उत्पन्न अग्निसे विनाश होता है, वैसेही अपनी आत्माकी बुराई चाहने-

तथाऽकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ॥ ३८ ॥
राजतः सलिलादग्नेश्चौरत स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ ३९ ॥
यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ ४० ॥
अर्थ एव हि केषां चिदनर्थं भजते नृणाम् ।
अर्थश्रेयसि चाऽऽसक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ॥४१॥
तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ॥ ४२ ॥
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ।
अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम् ४३॥
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये ।
सहन्ति च महद्दुःखं घ्नन्ति चैवार्थऽकारणात् ॥ ४४ ॥
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः ।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत् ४५ ॥
असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ।

वाला मनुष्य अपने अंगसे उत्पन्न हुए लोभसे नष्ट होता है । (३५-३८)

जैसा मृत्युसे सब प्राणियोंको भय होता है, वैसाही चोरसे, राजासे, आगसे, जलसे और अपने कुटुंबियोंसे धनवान् मनुष्यको डर होता है। जिस प्रकारसे मांस यदि आकाशमें रहे तो पक्षीगण; पृथ्वीमें रहे, तो मांस खानेवाले जन्तु, और जलमें रहे, तो मछली उसे खाती हैं; वैसेही धनाढ्य लोग जहां रहते हैं, वहीं उसे विपत्ति घेरती है, धनही अनेक मनुष्योंके वास्ते अनर्थकी जड होता है; इस कारणसे जो मनुष्य धनको कल्याणकारी समझके उसमें लिप्त होता है, वह सच्चे सुखको नहीं पासकता है । तस्मात् धनकी प्राप्ति मनमें मोहकी वृद्धि कराती है । बुद्धिमान् मनुष्य जानता है, कि कृपणता अभिमान, डर, और उद्वेग इन सब दुःखोंकी जड केवल धनही है । (३९—४३)

देखिये धनको कमानेमें जैसा दुःख सहना पडता है वैसा ही दुःख धनकी रखवाली और देखभाल तथा धनके नाशमें सहना पडता है । धनके लिये बडा दुःख सहन करते हैं और परस्परका घात भी करते हैं । अर्थात् त्यागके समय तथा रक्षाके समय भी धन दुःख देता है । धन की प्राप्ति में भी

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ४६ ॥
तस्मात्संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ।
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः ॥ ४७ ॥
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ।
त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान्क्लेशान्सहेत च॥ ४८ ॥
न हि संचयवान्कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैः पुम्भिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ४९ ॥
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य वरमस्पर्शनं नृणाम् ॥ ५० ॥
युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि ।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवाऽर्थतः॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच— आत्मोपभोगालिप्सार्थं नेयमर्थेप्सुता मम ।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन्कांक्षे न लोभतः ॥५२ ॥
कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन्वर्तमानो गृहाश्रमे ।

दुःख है। इस लिये धनके नाशकी चिन्ता करना उचित नहीं है। जो लोग मूर्ख होते हैं, वह असन्तोषसे समयको विताते हैं, और पण्डित लोग सदा सन्तोषके अमृतमें अन्तःकरणको भिगाये रहते हैं; कोई भी मनुष्य कभी विषयतृष्णाके पार नहीं जा सक्ता है, सबने सन्तोषही परम सुख वर्णन किया गया है। पण्डित लोग जीवन, यौवन, रूप, रत्नोंका इकट्ठा करना, प्रभुता और प्यारे मनुष्यके पास रहना, इन सब वस्तुओंको अनित्य जानकर उनमें इच्छा नहीं रखते हैं। इस कारणसे दुःख सहकरभी धनके कामनाओंको त्यागना योग्य है। ४४-४८

जिस कारणसे धनके कमाने वाले मनुष्य कभी उपद्रवरहित नहीं देखे जाते हैं, इसी निमित्त धर्मात्मा लोग उसीकी प्रशंसा करते हैं, जिसकी धनमें प्रीति नहीं रहती है, जो पुरुष धर्मके वास्ते धन कमानेका उद्योग करते हैं, उस उद्योग की अपेक्षा क्रियारहित होना उत्तम है क्योंकि अंगमें लगी हुई कीचडको धोने की अपेक्षा कीचडको न छूनाही उत्तम है। हे युधिष्ठिर! जो आप की धर्ममें प्रीति हो तो धनमें इच्छा रहित बनो। (४९—५१)

युधिष्ठिर बोले, हे ब्राह्मण! मैं ब्राह्मण के पालनेके वास्ते ही धनकी इच्छा करता हूं, लोभसे वा अपने भोगविलासके वास्ते मुझे धनकी कामना नहीं है! हमारे ऐसे

भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५३ ॥
संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते ।
तथैवाऽपचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५४ ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५५ ॥
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ५६ ॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्यात्सुभाषिणीम् ।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मःसनातनः ।
प्रत्युत्थायाऽभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्॥५७ ॥
अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ॥ ५८ ॥
आत्मार्थं पाचयेन्नाऽन्नं न वृथा घातयेत्पशून् ।
न च तत्स्वयमश्नीयाद्विधिवद्यन्न निर्वपेत् ॥ ५९ ॥

पुरुष गृहस्थाश्रममें रहके अपने आश्रममें रहनेवालोंको विना पालन किये कैसे निश्चिन्त रहसक्ते हैं ! जैसे सब प्राणियोंको अपने कुटुम्बोंको भोजन बांट देना उचित है, वैसेही गृहस्थको संन्यासी और ब्रह्मचारी पाकाक्रियारहित मनुष्योंको भोजन देना आवश्यक है । यदि भले मनुष्यके घरमें अतिथि और अभ्यागत लोगोंके वास्ते और कोई देने योग्य वस्तु न हो, तो आसनकेवास्ते तृण, रहनेको स्थान,पैर धोनेको जल और सन्तोष देनेको मीठेवचन इन सबका कभी अभाव नहीं होता है। (५२—५५)

गृहस्थ मनुष्य रोगीको शय्या, थकेमांदेको आसन, प्यासेको जल, और भूखेको भोजन देता है। जो घरपर कोई अतिथि आवे तो उस पर स्नेहदृष्टि रखना बडी श्रद्धासे मनही मनमें प्रसन्न होना, मीठे वचनसे उसे सन्तुष्ट करना, खडे होकर आसन देना, हाथ उठाकर उनके सन्मुख जाना और यथायोग्य उसकी पूजा करना यह सब गृहस्थके नित्यधर्म हैं। जो मनुष्य अग्निहोत्र, गौकी सेवा, तथा पुत्र, स्त्री,सेवक, ज्ञाति और अतिथिका पालन पोषण न करें वे ही मनुष्य अधर्मके कर्मसे उत्पन्नहुए पापद्वारा भस्म होते हैं. इसी कारणसे गृहस्थ मनुष्य केवल अपने भोजनकेवास्ते पाक न करें और (पितर,देवता,और अतिथियोंकी पूजाके उद्देश्यको छोडके)पशुको न मारे,

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चाऽवपेद्भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातश्च दीयते ॥ ६० ॥
विघसाशी भवेत्तस्मान्नित्यं चाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ ६१ ॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६२ ॥
यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायाऽदृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ६३ ॥
एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥ ६४ ॥

शौनक उवाच— अहो बत महत्कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।
येनाऽपत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६५ ॥
शिश्नोदरकृते प्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६६ ॥

तथा पितर, देवता और अतिथि को विना-दिये मारे हुए पशुकामांस न खाय ५६-५९

सायंकाल और प्रातःकाल कुत्ते, चाण्डाल और पक्षियोंके वास्ते पृथ्वीमें अन्न रखके वैश्वदेव नामक बलि प्रदान करे, जो मनुष्य प्रतिदिन पितर देवता और अतिथिको भोजन करानेके पश्चात् यज्ञसे बचा भोजन करता है वही मनुष्य अमृत भोजन करता है, इस यज्ञमें अतिथिको स्नेह भरी दृष्टिसे देखना, मनकी प्रसन्नतासे और मीठी वाणीसे प्रसन्न करना, अतिथिके पीछे जाना, अन्न आदिसे अतिथिसेवा करना यह पांच प्रकारकी दक्षिणा देनी चाहिये। जो गृहस्थ मार्गचलनेसे थके हुए अदृष्टपूर्व अतिथि को कृपणता को छोड के भोजन कराता है वही महा पुण्यको पाता है; पण्डितलोग कहते हैं, कि जो लोग गृहस्थाश्रममें रहके इस प्रकारसे आचारको पालन करते हैं, उनको परम धर्म होता है; हे द्विजवर ! इस विषयमें आपका मन्तव्य क्या है उसे प्रकाश कीजिये। (६०–६४)

शौनक बोले, हा कष्ट ! हा शोक ! इस संसारका स्वभावही उलटा है, देखिये, भले मनुष्य जिस कार्यसे लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्य उसीसे प्रसन्न होते हैं, बुद्धिहीन मनुष्य मोह, और प्रीतिके वशमें तथा इन्द्रियोंके प्यारे काममें फंसके लिङ्ग और पेटकेवास्ते अनेक लोगोंको

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः ।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६७ ॥
षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा ।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ॥ ६८ ॥
मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान्याति सेवितुम् ।
तस्यौत्सुक्यं संभवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६९ ॥
ततः संकल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात्पतङ्गवत् ७०॥
ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया ।
महामोहे सुखे मग्नो नाऽऽत्मानमवबुध्यते ॥ ७१ ॥
एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु ।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ७२॥
ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते ।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः ॥ ७३ ॥
अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।

अन्न और जलादि दिया करते हैं। जैसे दुष्ट और बिगडे हुए घोडोंके द्वारा सारथी राहमें गिरता वैसेही हरनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा खिचकर परमार्थ ज्ञानसे विहीन होकर ज्ञानी मनुष्य ही नष्ट होता है। ६५-६७

छही इन्द्रियोंमेंसे कोई इन्द्रिय अपने विषयकी ओर जाती है,उस समय मनुष्यका अन्तःकरण उसी विषय भोगकी कामना करता है; इस प्रकारसे जिस मनुष्यका अन्तःकरण विषय भोगकी ओर दौडता है, उसी मनुष्यकी उस विषयके भोगनेमें औत्सुक्य और प्रवृत्ति उत्पन्न होती है,उस समय, जैसे पतङ्ग अग्निके रूपसे मोहित होकर उसमें गिरता है, उसी प्रकारसे विषय भोगके सङ्कल्प रूप कामनाके बाणसे विंधकर लोभकी अग्निमें गिरता है, पश्चात् वह मूर्ख मनुष्य इच्छाके अनुसार आहार विहारसे महामोहमें भरे सुखमें डूबकर आत्मतत्त्वको नहीं जानता है। (६८—७१)

सब कर्म, अविद्या और विषयतृष्णासे चक्रके समान भ्रमित होकर इस संसार में ब्रह्मासे तिनकेतक भूमिमें फिरनेवाले आकाशमें चरनेवाले, और जलचर आदि योनियोंमें वारंवार जन्म लेते हैं ; महाराज ! अज्ञानी जीवोंकी ऐसीही गति होती है, जो मनुष्य कल्याणकारी धर्मआचरणसे मुक्ति पानेके पात्र हैं, उन

ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ७४ ॥
तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
तस्माद्धर्मानिमान्सर्वान्नाऽभिमानात्समाचरेत् ॥७५॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः॥७६॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः ।
कर्तव्यमिति यत्कार्यं नाऽभिमानात्समाचरेत् ॥७७॥
उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७८ ॥
सम्यक्संकल्पसंबन्धात्सम्यगिन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक्च गुरुसेवनात् ॥ ७९ ॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक्चाऽध्ययनागमात् ।
सम्यक्कर्मोपसन्यासात्सम्यक्चित्तनिरोधनात् ८० ॥
एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ८१ ॥
रुद्राः साध्यास्तथाऽदित्या वसवोऽथ तथाऽश्विनौ ।

ज्ञानियोंकी गति सुनिये। (७२—७४)

कर्म करने योग्य हैं और कर्मत्यागने योग्य हैं, यह दोनों प्रकारके वेदवाक्य हैं इस कारणसे यह सब धर्म अभिमान रहित होके करे—यज्ञ, वेद-पढना, दान, तपस्या, सत्यका आचरण, क्षमा, इन्द्रियोंको जीतना, और अलोभ यह आठ प्रकारका धर्म मार्ग कहा गया है, इनमें से पहिले कहे चार पितृलोकके मार्गको लेजाते हैं, इस विषयमें जो कर्म करने योग्य कहके वर्णन किये गये हैं, उनको अभिमान रहित होके करे तथा अन्तमें लिखे देवयानके नामसे प्रसिद्ध हैं, इन को महातमा लोग सदाही करते हैं। परन्तु शुद्धचित्त होके ऊपर लिखे अष्टाङ्ग धर्म को करना चाहिये। (७५–७८)

इस कारणसे जो मनुष्य संसारके जीतने अर्थात् मोक्ष पानेकी इच्छा रखते हों, वह अच्छी भावना भली भांति इन्द्रियोंको जीतना; भली भांति विशेष व्रत, भलीभांति गुरुसेवा, भली भांति वेदोंका पढना, भली भांति अन्नका त्याग और भली भांति चित्तको रोककर कर्मोंको करते हैं। देवता लोगोंने राग द्वेष रहित होकरही ऐश्वर्यको पाया है । रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण और दोनों अश्विनी-

योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ८२ ॥
तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ८३ ॥
पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥८४॥
सिद्धा हि यद्यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वाऽऽत्ममनोरथम् ॥८५॥ [१३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्यारण्यपर्वणि
पाण्डवानां प्रव्रजनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच– शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृभिः सहितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच––प्रस्थितं माऽनुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
न चाऽस्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः॥ २ ॥
परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दानशक्तिश्च नास्ति मे ।
कथमत्र मया कार्यं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

कुमार इसी भांतिके ऐश्वर्यसेही इस प्रजागणका पालन करते हैं। (७९-८२)

हे कुन्तिनन्दन! आप भी पूरी रीतिसे शममें तत्पर होके तपकी सिद्धि और योगकी सिद्धिको प्राप्त करने आदिसे पितृऋणसे मुक्त होकर पिता मातारूपी सिद्धिको पाया है और यज्ञआदि कर्मोंको करके कर्ममयी सिद्धिको पाया है, इस समय ब्राह्मणोंका पालन करनेके वास्ते तपस्यासे सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा कीजिये, तपसे सिद्ध हुआ मनुष्य जो इच्छा करता है तपके प्रभावसे वही कर सकता है। इस कारणसे तपस्याको आश्रय करके अपने मनोरथको पूरा कीजिये। (८३-८५)

वनपर्वमें द्वितीय अध्याय समाप्त। (१३१)

वनपर्वमें तीसरा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शौनकके इन सब वचनोंको सुनके, पुरोहितको बुलाके भाइयोंके मध्यमें बैठके कहने लगे। हे भगवान्! मैं वनको जानेके वास्ते उद्यत हूं, तौभी यह वेद पाठमें निपुण ब्राह्मण मेरे साथी बनते हैं, अब इनको पालन करने और दान करनेमें मैं समर्थ नहीं हूं, इस कारणसे मैं बहुत ही दुःखी हूं, पर इनको छोडभी नहीं सक्ता हूं, इसलिये मुझे कैसा कर्म करना चाहिये, वह आप मुझे उपदेश दीजिये। (१—३)

वैशम्पायन उवाच— मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणाऽन्विष्य तां गतिम् ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥
धौम्य उवाच— पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम् ।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा ॥ ५ ॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः ।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः ॥ ६ ॥
क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः ।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा ॥ ७ ॥
निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः ।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि ॥ ८ ॥
एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात्तं शरणं व्रज ॥ ९ ॥
राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः ।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम् ॥ १० ॥
भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरोहित धौम्य युधिष्ठिर के इस प्रस्तावको सुननेके पश्चात् एक मुहूर्तभर समाधिसे उस विषयको विचार कर कहने लगे, कि पहिले समयमें सविता सूर्य सब प्राणियोंको भूखसे अत्यन्त दुःखी देखकर उन प्राणियों पर पिताके समान दयालु हुए, इसी हेतुसे वह उत्तरायणमें जाके अपनी किरणोंसे जलको उठाते हैं, और दक्षिणायनमें उष्णता (गर्मी)को धारण करके पृथ्वीपर विराजमान रहते हैं, जब वह खेतोंमें गर्मी पहुंचाते हैं, उसके पश्चात्, औषधियोंके स्वामी चन्द्रमा उसी उठाये हुए जलसे अन्तरीक्षमें मेघ उत्पन्न करके जल बरसाते और औषधियोंको उत्पन्न करते हैं। (४–७)

सब क्षेत्रज्ञ सूर्यही चन्द्रमाके तेजसे सेचन और खेतीके अंकुर रूपमें निकलकर छह रसयुक्त पवित्र औषधियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं, यह औषधिही संसारमें प्राणियोंका अन्न होती हैं, जिस कारणसे सम्पूर्ण प्राणियोंके जीवनका आधार अन्नही सूर्यकी कृपासे होता है, और सूर्यही सब प्राणियोंके पिता रूप हुए हैं, इसी कारणसे आप सूर्यके ही शरणागत हूजिये। उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए राजालोग पूरीरीतिसे तपस्याको आश्रय करके ही प्रजाको दुःखसे उद्धार किया

तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः ॥ ११ ॥
तथा त्वमपि धर्मात्मन्कर्मणा च विशोधितः ।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन्भर भारत ॥ १२ ॥

जनमेजय उवाच— कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः ।
विप्रार्थमाराधितवान्सूर्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—शृणुष्वाऽवहितो राजञ्छुचिर्भूत्वा समाहितः ।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र संप्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १४ ॥
धौम्येन तु यथापूर्वं पार्थाय सुमहात्मने ।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ॥ १५ ॥

धौम्य उवाच— सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषाऽर्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥१६॥
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १७ ॥
इन्द्रो विवस्वान्दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वैश्रवणो यमः ॥ १८ ॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।

करते हैं, देखिये धौम्य, कार्तवीर्य, पृथु और नहुष इन राजोंने तपस्या और समाधिको अवलम्बन करके ही प्रजाको विपतसे उबाराथा ! हे धर्मात्मन् ! आपभी शुद्ध कर्मवाले हैं, आपभी उन्हींके समान-तपस्या करके ब्राह्मणोंका पालन कीजिये । (८–१२)

जनमेजय बोले,कुरुकुलके मुकुट राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके वास्ते अद्भुत प्रभावी सूर्यकी किस प्रकारसे तपस्या की थी। श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे राजेन्द्र ! आप भलीभांति सुनिये, मैं पूर्णरीतिसे उसका वर्णन करता हूं, आप शुद्ध और शान्त चित्तसे सुनिये। हे महाबुद्धिमान्! धौम्य ऋषिने महात्मा युधिष्ठिरसे जो सूर्यके एकसौ आठ नामके स्तोत्रको वर्णन किया था, उसे सुनिये। (१३–१५)

सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि, गभस्तिमान्, काल, मृत्यु, धाता, प्रभाकर, पृथिवी, जल, तेज, आकाश, वायु, परायण, सोम, बृहस्पति, शुक्र, बुध,अङ्गारक, इन्द्र,विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचि, शौरि, शनैश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, स्कन्द, वैश्रवण, यम, विद्युत्, जाठर और भौतिक अग्नि तेजःपति , धर्मध्वज , वेदकर्ता ,

धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥ १९ ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः ।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च क्षपा यामस्तथा क्षणः ॥ २० ॥
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥ २१ ॥
कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोंशश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥ २२ ॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्यादिरलोलुपः ॥ २३ ॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः ।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ॥ २४ ॥
मनः सुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारणः ।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥ २५ ॥
द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥
देहकर्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ॥२७॥
एतद्वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्याऽमिततेजसः ।
नामाष्टशतकं चेदं प्रोक्तमेतत्स्वयंभुवा ॥ २८ ॥

वेदाङ्ग, वेदवाहन, सत्य, त्रेता, द्वापर, सब मलोंका आश्रय कलियुग, कला, काष्ठा, मुहूर्त, रात्रि, प्रहर, क्षण, संवत्सर करनेवाले, अश्वत्थ, कालचक्र, विभावसु, पुरुष, शाश्वत, योगी, व्यक्ताव्यक्त, सनातन, कालपति, प्रजापति, विश्वकर्मा तमोनाशक, वरुण, सागर, अंश, जीमूत, जीवन, शत्रुनाशी, भूताश्रय, भूतपति, सब प्राणियोंसे नमस्कार करने योग्य, स्रष्टा, संवर्तक, वह्नि, सर्वादि, अलोलुप, अनन्त, कपिल, कामद, भानु, सर्वतोमुख, जय, विशाल, वरद, सब धातुओंको सींचनेवाले, मन, सुपर्ण, भूतादि, शीघ्रगामी, प्राणोंका आधार, धन्वन्तरि, धूमकेतु, अदितिपुत्र, आदिदेव, द्वादशात्मा, अरविन्दाक्ष, पिता, माता, पितामह, स्वर्गद्वार, प्रजाद्वार, मुक्तिद्वार, त्रिविष्टप, देहकर्ता, प्रशान्तात्मा, विश्वात्मा, विश्वतोमुख, चराचरात्मा, सूक्ष्मात्मा, दयावान् मैत्रेय, करुणान्वित, स्मरण

सुरगणपितृयक्षसेवितं ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ॥ २९ ॥
सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्स पुत्रदारान्धनरत्नसंचयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरः सदा धृतिं च मेधां च स विन्दते पुमान् ॥ ३० ॥
इमं स्तवं देववरस्य मानवः प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः ।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागराल्लभेत कामान्मनसा यथेप्सितान् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः ।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ॥ ३२ ॥
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम् ।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ॥ ३३ ॥
सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत् ।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ३४॥
गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान् ।
शुचिः प्रयतवाग्भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः ॥ ३५ ॥

करने योग्य, महातेजवान् सूर्यके यह १०८ नाम स्वयम्भूने वर्णन किये थे (१६-२८)

देवता, पितर, और यक्षलोग जिसकी सेवा करते हैं, असुर, निशाचर और सिद्धगण जिसकी वन्दना करते हैं, जो उत्तम सुवर्ण और अग्निके समान प्रकाशयुक्त हैं, ऐसे भास्करको कल्याणके निमित्त नमस्कार करता हूं। जो मनुष्य सूर्य निकलनेके समय एकाग्रचित्त होके इस स्तोत्रको पढते हैं, वह पुत्र, स्त्री, धन, रत्न, पूर्वजन्म स्मरण करनेकी शक्ति, तथा धारणा शक्ति; और बुद्धिको पाते हैं। यदि मनुष्य परमदेव सूर्यके इस स्तोत्रको शुद्ध और स्थिरचित्तसे पाठ करे, तो शोकरूपी अपार दावानलसे छूट जाय और मनवाञ्छित सिद्धिको पासकता है। (२९-३१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, राजा युधिष्ठिरने धौम्यसे इन समयानुसार वाक्यों को सुनके ब्राह्मण प्रतिपालन रूपी धर्मचिन्ता करके दृढ नियम और शुद्धचित्त होकर मनको संयममें, लगाके घोर तपस्याका आरंभ किया। वह पुष्प तथा नैवेद्य आदिसे सूर्यकी पूजा करके जलमें घुसकर सूर्यके संमुख खडे हुए। उन धर्मात्माने इन्द्रियोंको जीतके योगको आश्रय और वायु भक्षण करके तथा गङ्गा जलको छूकर प्राणायामके अनुष्ठानमें कुछ समयको बिताया; पश्चात् शुद्ध और मौनी होके स्तुति करना आरम्भ किया। (३२—३५)

युधिष्ठिर उवाच— त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम् ।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ३६॥
त्वं गतिः सर्वसाङ्ख्यानां योगिनां त्वं परायणम् ।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥ ३७ ॥
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते ।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ॥३८॥
त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणाऽर्चितम्॥ ३९ ॥
तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः ।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः ॥ ४० ॥
त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः ।
सोपेंद्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः ४१ ॥
उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः ।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः ॥ ४२॥
गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः ।
ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ४३ ॥

हे सूर्य ! तुम जगत्के नेत्र, तुम सब प्राणियोंके आत्मा, तुम चराचरके आत्मा, तुम चराचरके उत्पत्तिस्थान और तुमही संपूर्ण क्रियावानोंके आधार हो। तुमही समस्त ज्ञानियोंकी गति, तुमही योगीजनोंका परम आश्रय, तुमही मुक्ति चाहनेवालोंका खुला मुक्तिद्वार और तुमही सब लोकोंके आधार हो। तुमहीसे सब लोक प्रकाश पाते हैं, तुमहीसे इस जगतको शुद्धता प्राप्त होती है, तुमही छलरहित भावसे इस जगत्को पालन करते हो, ऋषिलोग तुम्हारी पूजा करते हैं, एवम् वेदपाठी ब्राह्मणलोग अपनी अपनी शाखाओंमें लिखे मन्त्रोंसे समय पर तुम्हारी उपासना करते हैं। (३६-३९)

सिद्ध, चारण, गंधर्व, यक्ष, गुह्यक, और सर्प वरमांगनेवास्ते तुम्हारे शीघ्रगामी दिव्यरथके पीछे पीछे फिरा करते हैं। इन्द्र और उपेन्द्रके सहित तेंतीस देवता और विमानविहारी गणोंने तुम्हारी उपासना करके ही सिद्धि पाई है; उत्तम विद्याधरोंने दिव्यमन्दारकी फूलमालासे तुम्हारी पूजा करकेही शीघ्रमनोरथ प्राप्त किया है; गुह्यक गण तथा दिव्य और मानुष सात पितरोंने तुम्हारी कृपासेही प्रधानता पायी है; वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण,

वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः ।
बालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ॥४४॥
सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च ।
न तद्भूतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ॥ ४५ ॥
सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ॥४६॥
ज्योतींषि त्वयि सर्वाणि त्वं सर्वज्योतिषां पतिः ।
त्वयि सत्यं च सत्त्वं च सर्वे भावाश्च सात्त्विकाः ॥ ४७॥
त्वत्तेजसा कृतं चक्रं सुनाभं विश्वकर्मणा ।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ॥ ४८ ॥
त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।
सर्वौषधिरसानां च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ॥ ४९ ॥
तपन्त्यन्ये दहन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये तथा घनाः ।
विद्योतन्ते प्रवर्षन्ति तव प्रावृषि रश्मयः ॥ ५० ॥
न तथा सुखयत्यग्निर्न प्रावारा न कम्बलाः ।
शीतवातार्दितं लोकं यथा तव मरीचयः ॥ ५१ ॥
त्रयोदशद्वीपवतीं गोभिर्भासयसे महीम् ।

मरीचिगण, सिद्धगण, और बालखिल्य आदि सबहीने आपको प्रणाम करके उत्तमता पाई है । (४०—४४)

ब्रह्मलोकसे आदिलेके सातों लोकोंमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसे आपसे भिन्न कहा जाय;संसारमें बलयुक्त और भी अनेक महत् पदार्थ हैं, पर उनमेंसे कोई भी आपके समान प्रभावयुक्त और दीप्तिमान नहीं हैं; सम्पूर्ण ज्योति तुममें ही निवास करती है; समस्त ज्योतिके स्वामी तुमही हो; सत्य सत्व और सम्पूर्ण सात्विक भाव तुममें ही विराजमान हैं; भगवान विष्णु जिससे दैत्योंके अभिमान को नाश करते हैं, उस सुनाभ चक्र को तुम्हारेही तेजसे विश्वकर्माने बनाया था । (४५-४८)

तुम्ही ग्रीष्म ऋतुमें अपनी किरणोंसे शरीरधारी औषधी और रसोंके तेजको खींचकर फिर वर्षाकालमें बरसा देते हो, तुम्हारी किरणही तपाती हैं, जलाती हैं, और वर्षा ऋतुमें मेघ बनके गरजती चमकाती तथा बरसाती हैं।शीतवातसे जो मनुष्य पीडित हो उसकेवास्ते जैसी सुखकारी आपकी किरण होती है वैसी

त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्तसे ॥ ५२ ॥
तव यद्युदयो न स्यादन्धं जगदिदं भवेत् ।
न च धर्मार्थकामेषु प्रवर्तेरन्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
आधानपशुबन्धेष्टिमन्त्रयज्ञतपः क्रियाः ।
त्वत्प्रसादादवाप्यन्ते ब्रह्मक्षत्रविशां गणैः ॥५४ ॥
यदहो ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्रयुगसंमितम् ।
तस्य त्वमादिरन्तश्च कालज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ५५ ॥
मनूनां मनुपुत्राणां जगतो मानवस्य च ।
मन्वन्तराणां सर्वेषामीश्वराणां त्वमीश्वरः ॥ ५६ ॥
संहारकाले संप्राप्ते तव क्रोधविनिःसृतः ।
संवर्तकाग्निस्त्रैलोक्यं भस्मीकृत्वावतिष्ठते ॥ ५७ ॥
त्वद्दीधितिसमुत्पन्ना नानावर्णा महाघनाः ।
सैरावताः साशनयः कुर्वन्त्याभूतसंप्लवम् ॥ ५८ ॥
कृत्वा द्वादशधात्मानं द्वादशादित्यतां गतः ।
संहृत्यैकार्णवं सर्वं त्वं शोषयसि रश्मिभिः ॥ ५९॥
त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।

अग्नि वा कम्बल कदापि सुखकारी नहीं होते हैं, तुम्ही तेरह द्वीपयुक्त पृथिवीको अपनी किरणोंसे प्रकाशित करते हो,तुम एकेलेही तीनों लोकका कल्याण करनेमें प्रवृत्त होते हो; यदि जगत्में तुम्हारा उदय न हो,तो यह सम्पूर्ण जगत् अन्धा हो जाय,तथा बुद्धिमान् लोगभी धर्म,अर्थ और काममें प्रवृत्त न हो सकें। ४९-५३

ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य तुम्हारीही कृपासे, अग्न्याधान, पशुबन्ध,इष्टिमन्त्र, यज्ञ और तपस्या आदि क्रियाओंको करते हैं;सहस्र युगका समय जो ब्रह्माका एकदिन प्रसिद्ध है, कालको जाननेवाले पण्डित लोग उसका आदि और अन्त तुमकोही मानते हैं; तुमही मनु, मनुष्य, और मन्वन्तरोंके सहित सम्पूर्ण जगत्के तथा ईश्वरके ईश्वर हो; महाप्रलयके समय में तुम्हारे क्रोधसे निकली सम्वर्त नामक आग्नि इस त्रिलोकीको भस्म कर देती है; तुम्हारी किरणोंसे उत्पन्न हुआ अनेक वर्णसे शोभायमान् महामेघगण ऐरावत और वज्रके सहित उदित होके सम्पूर्ण जगत्को जलसे डुबा देते हैं,पुनर्वार तुमही १२ मूर्ति धारण करके अपनी किरणोंसे एकार्णव समुद्रको सुखा देते हो। (५४—५९)

त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ६०॥
त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः ।
विवस्वान्मिहिरः पूषा मित्रो धर्मस्तथैव च ॥ ६१ ॥
सहस्ररश्मिरादित्यस्तपनस्त्वं गवांपतिः ।
मार्तण्डोऽर्को रविः सूर्यः शरण्यो दिनकृत्तथा ६२॥
दिवाकरः सप्तसप्तिर्धामकेशी विरोचनः ।
आशुगामी तमोघ्नश्च हरिताश्वश्च कीर्त्यसे ॥ ६३ ॥
सप्तम्यामथ वा षष्ठ्यां भक्त्या पूजां करोति यः ।
अनिर्विण्णोनहंकारी तं लक्ष्मीर्भजते नरम् ॥ ६४ ॥
न तेषामापदः सन्ति नाधयो व्याधयस्तथा ।
ये तवाऽनन्यमनसः कुर्वन्त्यर्चनवन्दनम् ॥ ६५ ॥
सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिताः ।
तद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः ॥६६ ॥
त्वं ममाप्यन्नकामस्य सर्वातिथ्यं चिकीर्षतः।
अन्नमन्नपते दातुमभितः श्रद्धयाऽर्हसि ॥ ६७ ॥
ये च तेऽनुचराः सर्वे पादोपान्तं समाश्रिताः ।

आचार्य लोग तुमको इन्द्र कहके कीर्त्तन करते हैं, तुमही विष्णु, रुद्र, प्रजापति, अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु, और सनातन ब्रह्म निरूपित होते हो; पण्डित लोग तुमको हंस, सविता, भानु, अंशु-माली, वृषाकपि, विवस्वान्, मिहिर, पूषा, मित्र, धर्म, सहस्र-किरण, आदित्य, तपन, गोपति, मार्त्तण्ड, अर्क, रवि, सूर्य, शरण्य, दिनकर, दिवाकर, सप्तसप्ति, धामकेशी, विरोचन, शीघ्र चलनेवाले, अन्धकार नाशक, हरिताश्व कहके कीर्त्तन करते हैं। (६०—६३)

जो मनुष्य शान्तचित्त और अहङ्कार रहित होके सप्तमी वा षष्ठीको तुम्हारी पूजा करता है लक्ष्मी उसकी सेवा करती है; जो एकाग्र चित्त होके तुम्हारी पूजा और वन्दना करते हैं उनको मानसिक शारीरिक तथा और और कोई विपद नहीं सताती है; जो लोग तुम्हारे भक्त हैं, वह सब रोग और पापोंसे छुटे सुखी और अधिक कालतक जीते रहते हैं। (६४—६६)

हे अन्नके स्वामी ! मैं श्रद्धापूर्वक सबके आतिथिसत्कार करनेकेवास्ते अन्न की इच्छा करता हूं, तुम मुझे पूर्ण रीति-से अन्न दो; विजली, वज्र आदिको प्र-

माठरारुणदण्डाद्यास्तांस्तान्वन्देऽशनिक्षुभान् ६८॥
क्षुभया सहिता मैत्री याश्चान्या भूतमातरः।
ताश्च सर्वा नमस्यामि पान्तु मां शरणागतम् ६९॥

वैशम्पायन उवाच– एवं स्तुतो महाराज भास्करो लोकभावनः।
ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम्।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः॥ ७०॥

विवस्वानुवाच— यत्तेऽभिलषितं किंचित्तत्त्वं सर्वमवाप्स्यसि।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः॥ ७१॥
गृह्णीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्तं नराधिप।
यावद्वत्स्यति पाञ्चाली पात्रेणाऽनेन सुव्रत॥ ७२॥
फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति॥ ७३॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि।

वैशम्पायन उवाच– एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत॥ ७४॥
इमं स्तवं प्रयतमनाः समाधिना पठेदिहान्योपि वरं समर्थयन्।

वर्तन करनेवाले, माठर, अरुण, और दण्ड आदि जिन सेवक लोगोंने आपका आश्रय लिया है मैं उनकी वन्दना करता हूं तथा मुक्ति और बन्धन करनेवाली, क्षुभा, मैत्री, तथा अन्य भूतमाताओंके शरणागत होके उनको नमस्कार करता हूं; वह हमारी रक्षा करें। (६७—६९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज! युधिष्ठिरके इस प्रकारसे जगत्को पवित्र करनेवाले सूर्यकी स्तुति करनेपर सूर्यदेव उनपर प्रसन्न होकर जलती हुई अग्निके समान प्रकाशमान शरीरसे उनके समीप प्रकट हुए, और बोले, हे मनुष्योंके स्वामी! तुम्हारे मनकी इच्छा पूरी होगी, हम बारह वर्षतक तुमको अन्नदान करेंगे, तुम हमसे तामेकी बनी हुई बटलोही ग्रहण करो। हे व्रतधारी! अन्न, फल, मूल, साग वा मांस जो कुछ इसमें बनेगा, उसे जबतक द्रौपदी इस पात्रसे परोसैंगी तबतक चाबने और चूसनेके योग्य सब प्रकारके अन्न इसमें भरे रहेंगे; तुमको चवदाह वर्षमें राज्य प्राप्त होगा। ७०-७४

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भगवान् सूर्यदेव ऐसे कहके उसी स्थानपर अन्तर्ध्यान होगये। जो मनुष्य जिस वरकी इच्छा करके युधिष्ठिरके बनाये इस सूर्यके स्तोत्रका एकाग्रचित्तसे पाठ करेगा सूर्यदेव उसे वही वर देते हैं, चाहे कोई स्त्री

तत्तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं तदाप्नुयाद्यद्यपि तत्सुदुर्लभम् ७५॥
यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद्वाप्यभीक्ष्णशः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ॥ ७६ ॥
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोप्यथवा स्त्रियः ।
उभे सन्ध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि ॥७७॥
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
एतद्ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ॥ ७८ ॥
शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद्युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान्कामानवाप्तवान् ७९॥
संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलं चाप्नुयाद्वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ॥८० ॥
वैशम्पायन उवाच– लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातृंश्च परिषस्वजे ॥८१॥
द्रौपद्या सह संगम्य वन्द्यमानस्तया प्रभुः ।
महानसे तदानीं तु साधयामास पाण्डवः ॥ ८२ ॥
संस्कृतं प्रसवं याति स्वल्पमन्नं चतुर्विधम् ।

वा पुरुष प्रतिदिन इसका पाठ करे वा सुने उसे यदि पुत्रकी इच्छा हो तो पुत्र, धनकी इच्छा हो तो धन, विद्याकी हो तो विद्या प्राप्त होती है, स्त्री वा पुरुष जो कोई हरदिन दोनों सन्ध्योंमें इसका पाठ करे वा वह किसी विपदमें फंसा हो तो उससे छुट जाता है, यदि किसी बन्धमें हो तो उससे छुट जाय, युद्धमें जय पावे, बहुत धन पावे और सब पापोंसे छूटजाता है और मरनेके पश्चात् सूर्यलोकमें जाता है। पहिले समयमें इस स्तोत्रको ब्रह्माने इन्द्रको इन्द्रने नारदको और नारदने धौम्यको दिया था, युधिष्ठिरने धौम्यसे इसे पाके अपने वांछित फलोंको पाया था। (७४—८०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धर्मको जाननेवाले युधिष्ठिर सूर्यसे वर पाकर जलसे निकले और धौम्यके दोनों चरणोंकी वन्दना की, एवम् भाइयोंको गलेसे लगाया। हे महाराज! पश्चात् वह द्रौपदीके सहित रसोईघरमें जाकर उसमें आदर पाके रसोई बनानेकी क्रियाको आरम्भ किया। जिस अन्नसे भोजन बनता था, वह यदि थोडाभी हो तो भी, चाबने योग्य, चूसने योग्य, चाटने योग्य और पीनेयोग्य, सब प्रकारके भोजन अक्षय हो

अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥ ८३ ॥
भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद्भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ॥८४ ॥
युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ॥ ८५ ॥
एवं दिवाकरात्प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ।
कामान्मनोभिलषितान्ब्राह्मणेभ्यो ददौ प्रभुः ८६॥
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥ ८७ ॥
ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः ।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥८८ ॥ [२१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यके पर्वणि पाण्डवानां काम्यकवनप्रवेशं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच– वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः ।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं सुखासीनो वाक्यमुवाच राजन् ॥ १ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम्
समश्च त्वं संमतः कौरवाणां पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि ॥ २ ॥

जाते थे। महाराज युधिष्ठिर उसी अन्नसे ब्राह्मणोंको भोजन कराते थे, ब्राह्मणोंको भोजन करानेके पश्चात् भाइयोंको भोजन कराते थे, फिर आप भोजन करते थे. उसके पीछे द्रौपदीके भोजन करनेके पश्चात् सूर्यका पात्र खाली हो जाता था, फिर उसमें कुछ नहीं रहता था, सूर्यके समान तेजवान् महाराज सूर्यसे ऐसा वांछित बर पाके ब्राह्मणोंकी इच्छाके अनुसार अन्नदान करने लगे। इसके पश्चात् वह लोग धौम्यसे स्वस्तिवाचन कराके ब्राह्मणोंके सहित काम्यक बनको चले गये। (८१—८८) [२१९]

वनपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें चौथा अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पाण्डवोंके वनको जानेपर सुखसे बैठे हुए अंबिका-नन्दन, प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने व्याकुल चित्त होकर, महाबुद्धिमान् धर्मात्मा विदुरसे कहा, हे विदुर ! तुम शुक्रके समान शुद्ध बुद्धिवाले हो; धर्मके अति-सूक्ष्म तात्पर्यके जाननेवाले हो; कुरुकुलमें किसीके साथ तुम्हारी शत्रुता नहीं है, अतएव इस समय वही संमति हमें दो,

एवं गते विदुर यदद्य कार्यं पौराश्चेमे कथमस्मान्भजेरन् ।
ते चाप्यस्मान्नोद्धरेयुःसमूलांस्तत्त्वं ब्रूयाः साधु कार्याणि वेत्सि ॥ ३ ॥
विदुर उवाच— त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति ।
धर्मे राजन्वर्तमानः स्वशक्त्या पुत्रान्सर्वान्पाहि पाण्डोः सुतांश्च ॥ ४ ॥
स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः ।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां पराजैषीत्सत्यसन्धं सुतस्ते ॥ ५ ॥
एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राजञ्छेषस्याहं परिपश्याम्युपायम् ।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापान्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ॥ ६ ॥
तद्वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां यत्तद्राजन्नभिसृष्टं त्वयासीत् ।
एष धर्मः परमो यत्स्वकेन राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत् ॥ ७ ॥
यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम् ।
एतत्कार्यं तव सर्वप्रधानं तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ॥ ८ ॥

जिससे कौरवोंका और हमारा कल्याण हो । इस समय कौरवोंकी जैसी दशा है उसके अनुसार शीघ्रताके साथ हमें क्या करना चाहिये; पाण्डवोंके वनको जानेके कारणसे घबडाये हुए नगरनिवासी हमलोगोंपर कैसी भक्ति रखते हैं? पाण्डवलोग हमको किस रीतिसे जड-सहित नहीं उखाड सकेंगे ? तुम इसका कोई अच्छा उपाय बतलाओ, क्योंकि कोई अच्छा कर्म ऐसा नहीं है जिसे तुम न जानते हो ! (१—३)

विदुर बोले, हे महाराज ! मनुष्यके अर्थ काम और मोक्ष यह त्रिवर्ग धर्मसे होते हैं, पण्डित लोग राज्यकोभी धर्मसे ही कहते हैं, इस लिये आप धर्मके अनुगामी होके अपनी शक्तिके अनुसार अपने पुत्र और पाण्डुके पुत्रोंका पालन कीजिये । हे कुरुनन्दन ! आपके पुत्र दुर्योधन और शकुनि आदि पापी जनोंने सत्यवक्ता युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जुएमें हराया है, इसीसे वह लोग धर्मसे रहित हो गये हैं। आपके पाप दूर करनेके वास्ते केवल यही उपाय दीख पडता है, इसके करनेसे आपके पुत्र निष्पाप होके जगत्में अच्छीतरहसे प्रतिष्ठा पा सकेंगे, आपने जो पाण्डवोंको पहिले राज्य दिया था, फिर उन्हे वही मिल जाय, तो आपके धर्मकी रक्षा हो; क्योंकि अपने धनसे सन्तुष्ट रहना और पराये धनमें इच्छा न करना राजा लोगोंके-वास्ते परम धर्म लिखा है; आप पाण्डवोंके राज्यको उन्हे दे दीजिये, जिससे आपका अयश और आपसकी फूट दूर होजायगी तथा धर्मभी दृढ रहेगा, इस

एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्यादेतद्राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व ।
तथैतदेवं न करोषि राजन्ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ॥ ९ ॥
न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके ।
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् १० ॥
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा तेषां लोके किं नु न प्राप्यमस्ति ।
उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते मया यत्ते हितमासीत्तदानीम् ॥ ११ ॥
पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य हितं परं न च तत्त्वं चकर्थ ।
इदं च राजन्हितमुक्तं न चेत्त्वमेवं कर्ता परितप्तासि पश्चात् ॥ १२ ॥
यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते संप्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम् ।
तापो न ते भविता प्रीतियोगान्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय ॥ १३ ॥
दुर्योधनं त्वहितं वै निगृह्य पाण्डोः पुत्रं प्रकुरुष्वाधिपत्ये ।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ॥ १४ ॥

समय जिसमें पाण्डवोंको सन्तोष हो और शकुनिका अपमान हो ऐसाही काम आपको सब कामोंसे मुख्य समझ के करना होगा, कारण यह है कि ऐसा करनेसे आपके पुत्रोंका नाश होनेसे बचा हुआ सौभाग्य उदय होगा, इसलिये शीघ्रतासे इस कार्यको कीजिये; यदि मेरे बताये कर्मको आप न करेंगे तो अवश्यही कुरुकुलका नाश होगा, क्योंकि भीमसेन वा अर्जुन यदि क्रुद्ध होंगे तो शत्रुकुलको शेष न छोडेंगे, हे राजन् ! जिनके अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा अर्जुन बायें और दहिने दोनों हाथोंसे एकसे बाण चलानेमें समर्थ, जिनका धनुष संसारका सार गाण्डीव, तथा जिनके योद्धा महाभुज भीम, उनको तीनों लोकमें क्या कोई कार्य असाध्य है ? (४–११)

महाराज ! मैंने पहिलेही आपके पुत्र होनेके समय कुलके कल्याणकेवास्ते इस पुत्रके त्याग देनेको कहा था, तब आपने इस हितकारी कार्यको न किया, इस समय भी आपकी हित कामनासे पाण्डवोंके पाने योग्य राज्यको उनको देदेनेके वास्ते कहता हूं, यदि इसे आप न करेंगे तो पीछे आपको दुःखभोगना होगा । यदि आपका पुत्र पाण्डवोंके सङ्ग मिलकर और प्रेमयुक्त होकर राज्य करनेमें सम्मत हो तो आपको प्रसन्न होनेकेवास्ते दुःखपानेकी कोई संभावना नहीं है, नहीं तो आप भविष्यत् सुखके वास्ते कुलके अहितकारी अपने पुत्र दुर्योधनको कैद करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको राज्यका अधिकार दीजिये। (११–१४)

ततो राजन्पार्थिवाः सर्वे एव वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः ।
दुर्योधनः शकुनिःसूतपुत्रः प्रीत्या राजन्पाण्डुपुत्रान्भजन्तु ॥१५॥
दुःशासनो याचतु भीमसेनं सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च ।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ॥१६॥
त्वया पृष्टः किमहमन्यद्वदेयमेतत्कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन्॥१७॥
धृतराष्ट्र उवाच–श्रुतं वाक्यं विदुर यत्ते सभायामिह प्रोक्तं पाण्डवान्प्राप्य मां च
हितं तेषामहितं मामकानामेतत्सर्वं मम नावैति चेतः ॥ १८ ॥
इदं त्विदानीं कुत एव निश्चितं तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् १९॥
असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा दुर्योधनस्तु मम देहात्प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति को नु ब्रूयात्समतामन्ववेक्ष्य ॥२० ॥
स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि मानं च तेऽहमधिकं धारयामि ॥ २१॥
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ।

अजातशत्रु युधिष्ठिर राग द्वेषको छोड कर यदि राज्य करने लगेंगे तो सम्पूर्ण राजालोग तत्क्षणही बनियोंके समान हम लोगोंकी सेवा करने लगेंगे। हे राजन्! दुर्योधन, कर्ण और शकुनि प्रसन्नतासे पाण्डवोंकी सेवामें नियुक्त हों, दुःशासन सभाके बीचमें भीमसेन और द्रौपदीसे क्षमा मांगे, आप युधिष्ठिरको आदरके सहित राज्याभिषेक करें। महाराज !आपने जो मुझसे पूछा था उसमें इसके सिवाय और क्या कहूं, मैंने जो कहा उसको करने हीसे आप कृतकार्य होंगे। (१४ — १७)

धृतराष्ट्र बोले, हे विदुर ! तुमने पाण्डवों के और हमारे लिये उनके हितकारी और शुभकारी सम्पूर्ण वाक्य कहे, वह मेरे मनमें नहीं समाये; तुमने इस समय किस कारणसे ऐसा निश्चय किया ? तुमने जो पाण्डवोंके कल्याणके निमित्त ऐसे वचन कहे उससे जान पडता है, कि तुम हमारे हितकारी नहीं हो! मैं उनके वास्ते पुत्रको कैसे त्याग करूंगा ? पाण्डव हमारे ही पुत्र हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर दुर्योधन मेरी कायासे उत्पन्न हुआ है, बस वह मेरा शरीर है, ऐसे स्थलपर पाण्डु पुत्र और मेरे पुत्र दोनोंको एकसा समझ कर क्या कोई कह सक्ता है, कि दूसरेके वास्ते अपने शरीरको त्याग कर दो ? (१८-२०)

हे विदुर ! मैं तुम्हारा बडा मान करता हूं, पर तुम मुझको सबही कठोर वचन कहते हो, इसलिये जैसे खोटी स्त्री अनेक प्यारे वचनोंसे समझाई जाने पर भी पतिको त्याग करती है, ऐसेही तुम

वैशम्पायन उवाच— एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्यदन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन्।
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः संप्राद्रवद्यत्र पार्था बभूवुः २२॥[२४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आरण्यपर्वण्यारण्यके
विदुरवाक्यप्रत्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच— पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात्कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥ १ ॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्यमुनां च निषेव्य ते ।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥
ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥
तत्र ते न्यवसन्वीरा वने बहुमृगद्विजे ।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ४॥
विदुरस्त्वपि पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः ।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥
ततो गत्वा विदुरः काननं तच्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन ।
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ ६ ॥

मुझे परित्याग करो, अथवा वहीं रहो, या जहां तुम्हारी इच्छा हो वहां जाओ। श्रीवैशम्पायनजी बोले,हे महाराज! राजा धृतराष्ट्र ऐसा कहके हठात् रणवास-में उठके चले गये, पश्चात् विदुरभी यह कहके कि इनका कुल अब नहीं बचेगा, जिस स्थानमें पाण्डव थे, वहींको चले गये। (२१-२२) [२४१]

वनपर्वमें चतुर्थ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें पांचवां अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कुरुकुल सिंह पाण्डवलोग अपने सेवकोंके समेत वनवा-सकी इच्छा करके गङ्गा तीरसे कुरुक्षेत्र-को चले, सरस्वती दृषद्वती और यमुना-के तटपर एक वनसे दूसरे वनको ऐसे बराबर पश्चिम दिशाको चले, अनन्तर सरस्वतीके तटपर मारवाडजांगल देश-की समभूमिमें मुनिप्रिय काम्यक नाम वनको देखा। हे राजन्! जिधर जिधर, अनेक मृग और पक्षियोंसे सेवित काम्यक वनमें मुनियोंसे सत्कृत और शान्त होकर ठहरे सदा पाण्डवोंके दर्शनाभि-लाषी विदुर रथपर आरूढ होकर एकले ही ऋद्धिभरे काम्यक वनमें आये ।(१-५)

तब विदुरने शीघ्रगामी अश्वयुक्त रथके द्वारा काम्यक वनमें जाकर देखा,

ततोऽपश्यद्विदुरं तूर्णमाराद्भ्यायान्तं सत्यसन्धः स राजा ।
अथाब्रवीद्भ्रातरं भीमसेनं किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ ७ ॥
कच्चिन्नायं वचनात्सौबलस्य समाह्वाता देवनायोपयातः ।
कच्चित्क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि जेष्यत्यस्मान्पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ८ ॥
समाहूतः केनचिदाद्रवेति नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम् ।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः प्रत्यगृह्णन्नृपते सर्व एव ।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो यथोचितं पाण्डुपुत्रान्समेयात् ॥ १० ॥
समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभास्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम् ।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥ ११ ॥
विदुर उवाच—अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्तमजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य ।
एवं गते समतामभ्युपेत्य पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ॥ १२ ॥
मयाप्युक्तं यत्क्षमं कौरवाणां हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव ।
तद्वै तस्मै न रुचामभ्युपैति ततश्चाहं क्षममन्यन्न मन्ये ॥ १३ ॥

कि महात्मा धर्मराज एकान्तमें द्रौपदी, ब्राह्मण और भाइयोंके समेत बैठे हैं, उस समय विदुरको दूरसे आते देखकर सत्य सन्ध राजा युधिष्ठिरने अपने भाई भीमसेनसे कहा, कि नजाने यह विदुर हमसे क्या कहनेको आते हैं, क्या यह शकुनीके वचनसे हमें जुएके निमित्त बुलानेको आते हैं? क्या अब दुरात्मा शकुनि जुएमें हमारे शस्त्रोंको जीतेगा? हे भीमसेन! यदि वे हमको बुलावेंगे, तो हम निवृत्त होनेमें असमर्थ होंगे और जब गाण्डीवको हम जुएमें हार जायंगे, तो फिर हमें राज्य कैसे मिलेगा? (६-९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे महाराज! तबसब पाण्डवोंने खडे होकर विदुरको सत्कार पूर्वक लिया। अजमीढ वंशोद्भव विदुरने भी आदर पाके पाण्डवोंको यथोचित आशीर्वाद दिया, जब विदुर स्वस्थ हुए तो नरसिंह पाण्डवोंने उनके आनेका कारण पूछा, विदुरने विस्तार पूर्वक सब समाचार जैसे अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रने इनके सङ्ग कह दिया था, सुनाया। १०-११

विदुर बोले, हे अजातशत्रो! हितोपदेश द्वारा रक्षा करनेवाले मुझसे पूजा और प्रीति कर समता प्राप्त करके धृतराष्ट्रने यों पूछा, कि पाण्डवोंके इस प्रकारसे जाने पर उनको और हमको जो पथ्य हो सो तुम कहो, मैंनेभी कौरव और धृतराष्ट्रको जो उचित और करने योग्य था सो कहा, परन्तु उनको यह मेरा

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः।
यथातुरस्येव हि पथ्यमन्नं न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ॥ १४ ॥
न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥
ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति ।
यथा च पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं जलं न तिष्ठेत्पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥१६॥
ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां यस्मिञ्छ्रद्धा भारत तत्र याहि ।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥ १७ ॥
सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेंद्र।
तद्वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां तद्धार्यतां यत्प्रवक्ष्यामि भूयः ॥ १८ ॥
क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः क्षमां कुर्वन्कालमुपासते यः ।
संवर्धयंस्तोकमिवाग्निमात्मवान्स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥ १९ ॥
यस्याऽविभक्तं वसु राजन्सहायैस्तस्य दुःखेऽप्यंशभाजः सहायाः ।

कहना प्रीतिकारक न हुआ और मैंने वैर उत्तम न समझा, हे पाण्डवो ! जो परम कल्याणकी बात थी, सो मैंने उनसे कही परन्तु अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रने उसे न सुना, जैसे रोगीको पथ्य अच्छा नहीं लगता है, वैसेही उन्हे मेरा कहना अच्छा न लगा, हे अजातशत्रो ! जैसे वेदविद्के घरमें दुष्टा स्त्री कल्याणको नहीं प्राप्त करने देती, तैसेही धृतराष्ट्रभी कल्याणको प्राप्त नहीं होंगे, जैसे अल्पवयस्का स्त्रीको साठवर्षका पति सुखदायक नहीं होता, तैसेही इनकी बुद्धिभी लाभदायक नहीं है, जैसे कमलके पत्तेमें रखा हुआ पानी नहीं ठहरता तैसेही धृतराष्ट्रके मनमें पथ्यबातभी नहीं ठहरती। (१२-१६)

हे राजन् ! इससे निश्चय हुआ है, कि कुरुवंशका नाश निश्चयही होनेवाला है। धृतराष्ट्र परम कल्याणको प्राप्त नहीं होंगे,हे भारत! तब धृतराष्ट्रने मुझसे क्रोध करके कहा, कि जहां तुम्हारी इच्छा हो, तुम वहीं चले जाओ;मैं अबसे नगर और पृथिवीकी पालनामें तुम्हारी सहायता नहीं चाहता हूं, हे नरेन्द्र ! इस प्रकार धृतराष्ट्रसे त्यक्त होकर तुम्हें सिखानेको आया हूं; सो मैंने जो कुछ सभामें कहा था और जो पुनः कहता हूं, सो धारण करो। (१७-१८)

जो वैरियोंसे कठिन क्लेश पाके क्षमा करता हुआ समयको बिताता है,वह जैसे थोडी अग्नि बढकर सबको जलाती है, तैसे ही शत्रुओंको जलाकर एकेला सब पृथिवीका भोग करता है, हे राजन्!

सहायानामेष संग्रहणेऽभ्युपायः सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः॥२०॥
सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव विप्रलापं तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः ।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य एवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः ।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं तद्वै वाच्यं तत्करिष्यामि कृत्स्नम् २२॥ [२६३]
इति श्रीमहाभारते शत० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यकपर्वणि विदुरानिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच-गते तु विदुरे राजन्नाऽऽश्रमं पाण्डवान्प्रति ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥ १ ॥
विदुरस्य प्रभावं च सन्धिविग्रहकारितम् ।
विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥२॥
स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः ।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ ३ ॥
स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात् ।
समीपोपस्थितं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥
भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद्धर्म इवापरः ।

जिसने अपना धन सहायोंमें बांटा है, उसके दुःखके वही सहायक भागी होते हैं, यही उपाय सहाय मिलनेका है, और सहाय लेना पृथिवी मिलनेका कारण है, हे पाण्डव! सहायोंसे मिथ्या वचन न कहने चाहिये; जो आप खाय, सो उन्हे भी सङ्गही खिलाना उचित है, उनके आगे अपनेको बडा न समझे; ऐसे राजा वर्धित होते हैं। (१९—२१)

युधिष्ठिर बोले, कि आप जो कहते हैं, सो मैं परमबुद्धि धारण कर स्वस्थ होकर सब ऐसेही करूंगा, औरभी देश और कालके अनुसार मुझे करने योग्य जो हो सो कहिये मैं सबही करूंगा। २२ [२६३]

वनपर्वमें पांचवा अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें छठां अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! जब विदुर पाण्डवोंके आश्रमको चले गये, तब महाबुद्धिमान् धृतराष्ट्रको महा चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा कि विदुरकी सन्धि विग्रहादि विद्या पाण्डवोंको बुद्धिकारिणी होगी, यह विचारकर सभाके द्वारपर आये और विदुरको स्मरण करके राजोंके सामने चेतन शून्य होकर पृथिवीमें गिरपडे, पुनः संज्ञा प्राप्तकर और पृथिवीसे उठकर समीप खडे सञ्जयसे राजाने ऐसा कहा, मेरा भाई और मित्र साक्षात् मानों धर्मही था; उसे स्मरण

तस्य स्मृत्वाऽद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ५ ॥
तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै ।
इति ब्रुवन्स नृपतिः कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥
पश्चात्तापाऽभिसंतप्तो विदुरस्मारमोहितः ।
भ्रातृस्नेहादिदं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
गच्छ सञ्जय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम ।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ ८ ॥
न हि तेन मम भ्राता सुसूक्ष्ममपि किंचन ।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनाऽमितबुद्धिना ॥ ९ ॥
स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान् ।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय संजय ॥१०॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च ।
संजयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत्काम्यकं प्रति ॥११॥
सोऽचिरेण समासाद्य तद्वनं यत्र पाण्डवाः ।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
भ्रातृभिश्चाऽभिसंगुप्तं देवैरिव पुरन्दरम् ॥ १३ ॥
युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास सञ्जयः ।

करनेसे मेरा हृदय फटा जाता है, तुम मेरे उस धर्मज्ञ भाईको शीघ्र ले आओ। (१-६)

ऐसा कहते हुए राजा रोने लगे; पश्चात्तापसे जलते हुए, मोहसे विदुरको स्मरण करते हुए और भाईकी प्रीतिसे दुःखी होकर राजाने सञ्जयसे पुनः यह वाक्य कहा, हे सञ्जय! तुम शीघ्र जाकर जानो, कि मेरा भाई विदुर जीता है, वा नहीं, मुझ पापीने उसे क्रोधसे त्याग कर दिया, उस पाण्डित, अपार बुद्धिमान् मेरे भाईने कभी मेरा किञ्चित भी द्वेषयुक्त काम नहीं किया, किन्तु वह परम बुद्धिमान् मुझसे परम अप्रिय कार्यको प्राप्त हुआ है। हे प्राज्ञ! उसे तुम ले आवो, नहीं तो मैं अपने प्राण को त्याग दूंगा। ६-१०

महाराजके ऐसे वचन सुनके प्रमाण कर "बहुतअच्छा" ऐसा कहकर सञ्जय काम्यक वनको चले, सञ्जय शीघ्रही काम्यकवनमें जाकर जहां पाण्डव थे वहां पहुंचे और हरिणचर्म धारण किये विदुर और शस्त्रोंको धारण किये तथा ब्राह्मणोंके सहित बैठे भाइयोंसे रक्षित, देवतों

भीमार्जुनयमाश्चाऽपि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥
राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च सञ्जयः ।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाऽब्रवीद्वचः ॥ १५ ॥
सञ्जय उवाच— राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् १६॥
सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान्पाण्डवान्कुरुनन्दनान् ।
नियोगाद्राजसिंहस्य गंतुमर्हसि सत्तम ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच— एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान्स्वजनवत्सलः ।
युधिष्ठिरस्याऽनुमते पुनरायाद्गजाह्वयम् ॥ १८ ॥
तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दिष्ट्या प्राप्तोसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ ॥१९॥
अद्य चाहं दिवा रात्रौ त्वत्कृते भरतर्षभ ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥ २० ॥
सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याघ्राय चैव ह ।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोसि मयाऽनघ ॥२१ ॥
विदुर उवाच — क्षान्तमेव मया राजन्गुरुर्मे परमो भवान् ।

से परिवृत इन्द्रके समान महाराज युधिष्ठिरको देखा। सञ्जयने युधिष्ठिरको देख कर पूजा की और भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेवने यथायोग्य उनका आदर किया, जब वे सुखसे बैठे, तो अपने आनेका कारण कह कर विदुरसे ऐसा कहने लगे। (११-१५)

सञ्जय बोले, हे क्षत्त! आम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र तुम्हारा स्मरण करते हैं, सो तुम शीघ्र चलकर उन्हे देखो और जिलाओ। हे नरश्रेष्ठ ! तुम कुरुनन्दन पाण्डवोंकी संमति और राजोंमें सिंह धृतराष्ट्रकी आज्ञासे चलो। (१६—१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि सञ्जयके ऐसे वचन सुनकर बुद्धिमान् स्वजनके प्यारे विदुर युधिष्ठिरकी सम्मतिसे पुनः हस्तिनापुरको चले आये, उनको देखकर आम्बिकापुत्र तेजस्वी धृतराष्ट्र ऐसा कहने लगे, हे पापरहित! हे धर्मज्ञ! तुम प्रारब्धहीसे आये हो, प्रारब्धहीसे तुम मुझे स्मरण करते हो, हे नरर्षभ। आज कल मुझे तुम्हारे दुःखसे जब निद्रा होती है, तो अपने शरीरको लक्ष्मीहीन देखता हूं, राजा धृतराष्ट्र विदुरको गोदमें बिठलाकर और माथा सूंघकर कहने लगे, कि हे अपाप ! मैंने

एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥ २२ ॥
भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः ।
दीनाभिपातिनो राजन्नात्र कार्या विचारणा ॥ २३ ॥
पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत ।
दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान्प्रति ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥ २५ ॥ [२८८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यके पर्वणि विदुरप्रत्यागमनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ १ ॥
स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा ।
अब्रवीद्वचनं राजा प्रविश्याऽबुद्धिजं तमः ॥ २ ॥
एष प्रत्यागतो मन्त्री धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद्विद्वान्हिते रतः ॥ ३ ॥
यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नाऽपकर्षति ।

जो तुम्हें कहा, सो क्षमा करो। (१८-२१)

विदुर बोले, कि हे महाराज! आप हमारे बडे हैं, मैंने सब क्षमाही किया है, आपके दर्शनका अभिलाषी होकर मैं प्राप्त हुआ हूं। हे नरसिंह ! धर्मज्ञ लोग दीनोंके पक्षपाती होते ही हैं, मुझे जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, तैसेही आपके पुत्रभी हैं, परन्तु वे दीन हैं, यह विचार कर उनपर मैं कृपा करता हूं। (२२–२४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इस प्रकार से महातेजस्वी दोनों भाई परस्पर वार्तालाप करके विदुर और धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न हुए। (२५) [२८८]

वनपर्वमें छठा अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सातवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जब दुर्मति धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने सुना, कि विदुर पुनः आया और राजाने उन्हे शान्त किया है, तो महादुःखसे जलने लगा। तब शकुनी कर्ण और दुःशासनको बुलाकर अबुद्धिरूपी अन्धकारमें प्रवेश करके ऐसे कहने लगा, महा बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रका मन्त्री पाण्डवोंका मित्र उनका हिताभिलाषी विदुर लौट आया। जबतक पाण्डवोंके लौटानेके लिये विदुर इन राजाकी बुद्धिको न फेरे तबतक मेरे हितकेलिये

पाण्डवाऽऽगमने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम ॥ ४ ॥
अथ पश्याम्यहं पार्थान्प्राप्तानिह कथंचन ।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरस्तुर्निरवग्रहः ॥ ५ ॥
विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम् ।
करिष्ये न हि तान्वृद्धान्पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच —किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशांपते ।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति ॥ ७ ॥
सत्यवाक्ये स्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित् ॥ ८ ॥
अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम् ।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति ॥ ९ ॥
सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः ।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः ॥१०॥

दुःशासन उवाच— एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल ।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्हि रोचते ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच— काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम् ।
ऐकमत्यं हि नो राजन्सर्वेषामेव लक्षये ॥ १२ ॥

कुछ मन्त्रणा करनी चाहिये, यदि मैं किसी प्रकारसे पाण्डवोंको यहां आया हुआ देखूंगा, तो विना प्रतिबन्धकेभी निराहार होकर सूख जाऊंगा, विष खाकर, शस्त्रसे, अथवा अग्निमें प्रवेश करके मर जाऊंगा, परंतु ऋद्धियुक्त पाण्डवोंको नहीं देख सकूंगा। (१-६)

शकुनी बोले, कि हे प्रजानाथ! हे महाराज! आप क्यों मूर्खोंके समान बुद्धिमें पडे हैं? पाण्डवलोग पण करके गये हैं, वे एसा नहीं करेंगे। हे भरतकुल सिंह! हे प्यारे दुर्योधन! वे लोग सत्यवाक्यमें स्थित हैं; तुम्हारे पिताके वचनको कदापि ग्रहण करके पुनः नगरमें आही जांयगे, तो हम सब प्रतिज्ञा करके कार्य व्यवहार का निश्चय करलेंगे और हम सब राजा के कार्योंमें मध्यस्थ रहते हैं; सावधान होकर पाण्डवोंके छिद्र (दोष) देखते रहेंगे। दुःशासन बोले, हे मामा! हे महाप्राज्ञ! जो तुमने कहा सो सब ठीक है; तुम्हारे कहनेमें सदा मेरी बुद्धि प्रसन्न होती है। (७—११)

कर्ण बोले, कि हे दुर्योधन! हम सब यथायोग्य तुम्हारे हितको देखते रहते

नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम् ।
आगमिष्यन्ति चेन्मोहात्पुनर्द्यूतेन ताञ्जय ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच– एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नाऽतिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत्स पराङ्मुखः ॥ १४ ॥
उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे ।
रोषाद्दुःशासनं चैव सौबलं च तमेव च ॥ १५ ॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना ।
अथो मम मतं यत्तु तन्निबोधत भूमिपाः ॥ १६ ॥
प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किंकरपाणयः ।
न चाऽस्य शक्नुमः स्थातुं प्रिये सर्वे ह्यतन्द्रिताः॥१७
वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः ।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान्वनगोचरान् ॥१८॥
तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम् ।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम्॥१९॥
यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः ।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥२०॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः ।

हैं; हे राजन् ! हम सबका एक मत है; वे वीर पाण्डव लोग विना समय बिताये नहीं आवेंगे और यदि लोभसे आही जांय तो पुनः जुएमें जीत लो।(१२-१३)

श्रीवैशंपायनजी बोले, कि जब कर्णने राजा दुर्योधनसे ऐसा कहा,तो वह अति प्रसन्न हुए और मुह फेर लिया । कर्ण यह देख कर शुभनेत्र फैलाकर शरीरको उद्यत करके क्रोधमें भरके दुःशासन, शकुनी और राजासे ऐसा बोले, हे राजालोगो ! मेरा जो मत है, सो सुनो; हम सब राजाके दास हैं; हाथके समान इनका प्रिय कार्य करेंगे,हम सब आलस्य-रहित होकर केवल राजाके प्रियके हित बैठेही नहीं रहेंगे, अर्थात् कार्यभी करेंगे, चलिये, हम सब सन्नद्ध होकर रथोंमें बैठकर शस्त्रोंको धारण करके सेना लेकर वनवासी पाण्डवोंको मारनेको चलें, सब जब शान्त होकर अविदित गतिको प्राप्त होंगे अर्थात् मर जायंगे, तो धृतराष्ट्र पुत्र और हम सबभी विवाद रहित हो जायंगे; जब तक पाण्डव दुःखी हैं, जब तक शोकमें भरे हैं, जबतक मित्रोंसे हीन हैं, मेरे सिद्धान्तमें तबही तक वह जीतने

बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥ २१ ॥
एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक् ।
निर्ययुः पाण्डवान्हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः॥२२॥
तान्प्रस्थितान्परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा॥२३॥
प्रतिषिध्याथ तान्सर्वान्भगवाँल्लोकपूजितः ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ॥ २४ ॥[३१२]

इति श्रीमहाभारते श० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यके पर्वणि व्यासागमनं नाम सप्तमोऽध्यायः॥७॥

व्यास उवाच— धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम ।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम्॥ १ ॥
न मे प्रियं महाबाहो यद्गताः पाण्डवा वनम् ।
निकृत्या निकृताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ॥ २ ॥
ते स्मरन्तः परिक्लेशान्वर्षे पूर्णे त्रयोदशे ।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ॥ ३ ॥
तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः ।
पाण्डवान्नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥ ४ ॥
वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः ।

योग्य हैं। (१४—२०)

सूतपुत्रके यह वचन सुनकर उन सबोंनेही प्रशंसा करी और बहुत अच्छा कहने लगे। निश्चय करके सब इकट्ठे होकर अपने अपने रथोंपर चढकर पाण्डवोंको मारनेको चले, उन सबोंको चलते हुए जानके, ज्ञाननेत्रसे देखकर भगवान् शुद्धात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासमुनि आये, लोकपूजित भगवान व्यासमुनि उनको जानेसे निषेध करके शीघ्र धृतराष्ट्रके पास जाकर ऐसा बोले। (२१—२४)

वनपर्वमें सात अध्याय समाप्त। (३१२)

वनपर्वमें आठ अध्याय।

श्रीव्यासजी बोले, कि हे महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र ! सब कौरवोंका हित वचन जो हम तुमसे कहते हैं; सो सुनो। हे महाबाहो ! दुर्योधनादिके छलसे हारकर पाण्डवोंका वनको जाना हमारा प्रियकाम नहीं हुआ। हे भारत ! यह लोग तेरह वर्ष पूरे होनेपर अपने क्लेशोंको स्मरण कर क्रोधित होके कुरुकुलमें विष बरसावेंगे, सो यह पापात्मा मेद-बुद्धि तुम्हारा पुत्र सदा क्रोधी दुर्योधन राज्यके निमित्त पाण्डवोंसे द्वेष करता है; इस

वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन्प्राणान्विमोक्ष्यति ५॥
यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम् ।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि ॥ ६ ॥
विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः ।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन्प्रतिपद्यथाः ॥ ७ ॥
समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान्प्रति भारत ।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन्महान्तमनयं स्पृशेत्॥ ८ ॥
अथवाऽयं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः ।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवाऽसहायवान् ॥ ९ ॥
ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः ।
यदि स्यात्कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर ॥ १०॥
अथवा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते ।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति ॥ ११ ॥
कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोपि वा।
भवान्वात्रक्षमं कार्यं पुरा वोऽर्थो निवर्तते ॥ १२ ॥ [३२४]

इति श्रीमहा०शतसा० सं० वैयासिक्यां आरण्यपर्वण्यारण्यके पर्वणि व्यासवाक्यं नाम अष्टमोऽध्यायः॥ ८ ॥

मूर्खबुद्धिको निवारण करना ही अच्छा है, यह शान्त हो; अन्यथा वनवासी पाण्डवोंको मारनेकी इच्छासे अपने प्राण खोदेगा। (१-५)

जैसे महाबुद्धिमान् विदुर, भीष्म, हम, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य हैं,तैसेही आप-भी साधु हैं; हे महाप्राज्ञ! अपने पुरुषोंसे लडना उत्तम नहीं बरन अधर्मको बढाने-वाला और यशनाशक है, अतएव आप उसे मत कीजिये; हे भारत ! दुर्योधनकी जैसी समीक्षा (विचार पूर्वका भेदबुद्धि) है,हे राजन्! उसीसे महाविग्रह हो जायगी हे राजन् ! अथवा यह तेरा पुत्र सहायहीन एकला वनको चला जाकर पाण्डवोंके सङ्ग रहैं तब तेरे पुत्रको पाण्डवोंके संग रहनेसे प्रेम उत्पन्न हो तो हे नरनाथ ! तुम कृतकृत्य हो जावोगे, परन्तु यह भी दुर्लभ है, क्योंकि हे महाराज ! यह सुना है, कि उत्पन्न होनेमें जिसका जो स्वभाव होता है, सो मरनेसे भी नहीं छुटता है; यह तो कहिये कि भीष्म, द्रोण, विदुर और आप इस कार्यमें क्या कर्त्तव्य मानते हैं? क्योंकि पहिलेही तुम्हें यह कर्त्तव्य था। विना कर्तव्यके विचारे अर्थनाश होता है। (६—१२) [३२४]

वनपर्वमें आठ अध्याय समाप्त ।

धृतराष्ट्र उवाच— भगवन्नाहमप्येतद्रोचये द्यूतसंभवम् ।
मन्ये तद्विधिनाकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने ॥ १ ॥
नैतद्रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च ।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तच्च मोहात्प्रवर्तितम् ॥ २ ॥
परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम् ।
पुत्रस्नेहेन भगवञ्जानन्नपि प्रियव्रत ॥ ३ ॥
व्यास उवाच— वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान् ।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते ॥ ४ ॥
इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः ।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम् ॥ ५ ॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशांपते ॥ ६ ॥
त्रिविष्टपगता राजन्सुरभी प्रारुदत्किल ।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोन्वकृपायत ॥ ७ ॥
इन्द्र उवाच— किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम् ।
मनुष्येष्वथ नागेषु नैतदल्पं भविष्यति ॥ ८ ॥

वनपर्वमें नौ अध्याय ।

धृतराष्ट्र बोले, कि हे भगवन् ! हे मुने! यह जुआ मुझभी प्रिय नहीं था; पर जान पडता है कि प्रारब्धके वशमें होकर मैंने यह काम किया। न भीष्म, न द्रोण, न विदुर और न यह गान्धारीको जुआ अच्छा लगा, परन्तु भूलसे हो गया। हे भगवन् ! हे प्रियव्रत ! मैं दुर्योधनको मूर्ख जानकरभी पुत्र स्नेहसे छोड नहीं सकता हूं। (१- ३)

व्यास बोले, कि हे विचित्रवीर्यके पुत्र नरनाथ ! आपने सत्य कहा, पुत्रसे अधिक प्रिय और कोईभी नहीं है, इन्द्रको भी जब सुरभीने अश्रु पातसे बोधित किया था, तो यही मानाथा कि अन्य वस्तुओंके बढने परभी पुत्रके समान कोई वस्तु नहीं है। हे प्रजापते ! यहां हम इन्द्र और सुरभीका संवादरूप बहुत उत्तम इतिहास कहते हैं, हे राजन् ! एक समय गायोंकी माता सुरभी रोती हुई स्वर्गमें गई तब इन्द्रने उसके ऊपर कृपा करी। (४—७)

इन्द्र बोले, कि हे शुभे ! तुम क्यों रोती हो कहो, देवता मनुष्य और नागोंमें कुशल तो है, क्योंकि तुम्हारा रोना कम नहीं है। (८)

सुरभिरुवाच— विनिपातो न ते कश्चिद्दृश्यते त्रिदशाऽधिप ।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ॥९॥
पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम् ।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीडितम् ॥ १० ॥
निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराऽधिप ।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम ॥ ११ ॥
एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ।
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसन्ततः ।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ॥ १२ ॥
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ॥ १३ ॥
ततोऽहं तस्य शोकार्ता विरौमि भृशदुःखिता ।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥ १४ ॥

शक्र उवाच— तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने ।
किं कृपायितमस्त्यत्र पुत्र एकत्र हन्यति ॥ १५ ॥

सुरभिरुवाच— यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे ।
दीनस्य तु सुतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा १६ ॥

सुरभी बोली, हे इन्द्र ! हे सुराधिप! तुम्हारी कोई क्षति नहीं दीखती है, मैं अपने पुत्रको देखकर सोचती हूं, इसी लिये रोती हूं। देखो यह मेरा पुत्र दुर्बल होने परभी भार खींचता है, तौभी यह इसे कोडेसे मारते हैं; हलमें जोतकर पीडा देते हैं; हे सुराधिप! उत्कण्ठा सहित बैठे हुए, पिटते हुए देखकर मुझे दया होती है, और मेरा मन दुःखी होता है। उनमें जो बलवान् है, सो भारी धुरमें जुडा है, दूसरा जो दुर्बल और मांस रहित है, हे वासव! सो कठिनतासे भारको लेचलता है मैं इसीका शोक करती हूं। हे इन्द्र! देखो कोडेसे पिटनेपरभी और भारसे बारबार दुःखित होनेपरभी उस भारको नहीं लेचल सकता है, मैं उनहीके दुःखसे पीडित होकर अत्यन्त पीडित हूं, और मेरे नेत्रोंसे आंसू करुणा सहित बहती हैं। (९-१४)

इन्द्र बोले, कि हे सुशोभने तुम्हारे सहस्रों पुत्र पीडित हो रहे हैं, परन्तु तुम एकहीको पीडित देखकर क्यों रोती हो। (१५)

सुरभी बोली, कि हे शक्र! यद्यपि मुझे सहस्र पुत्र समानही हैं, तथापि दीन

व्यास उवाच— तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः ।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥ १७ ॥
प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम् ।
कर्षकस्याचरन्विघ्नं भगवान्पाकशासनः ॥ १८ ॥
तद्यथा सुरभिः प्राह समवेतास्तु ते तथा ।
सुतेषु राजन्सर्वेषु हीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥ १९ ॥
यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक ।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥
चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः २१ ॥
कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते ॥ २२ ॥
यदि पार्थिव कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ॥ २३ ॥ [३४७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि आरण्यकपर्वणि
सुरभ्युपाख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच— एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि नो मुने ।

पुत्रपर अधिक दया है। (१६)

व्यास बोले कि हे कौरव्य ! सुरभीका यह वचन सुनकर इन्द्र अत्यन्त विस्मित हुए; हे राजन् ! उन्होंने जाना कि पुत्र शरीरसेभी अधिक प्यारा होता है, उसी समय वहां पृथिवी पर बहुतही जलवर्षा और भगवान इन्द्रने बैल जोतनेवालोंको विघ्न कर दिया। सो जैसे सुरभीने कहा था, तैसेही तुम्हारे पुत्रभी इकठ्ठे होगये हैं। हे राजन्! हीन पुत्रपरभी अधिक कृपा होतीही है। हे पुत्र! जैसा पाण्डु मेरा पुत्र था, तैसेही तुमभी हो और वैसेही महाबुद्धिमान विदुरभी हैं, इसी स्नेहसे यह सब कहने आया हूं, यह बात है, कि तुम्हारे एक सौ एक पुत्र हैं, और पाण्डुके पांचही दीखते हैं, वेभी हीन और दुःखित हैं, यह लोग कैसे जीयेंगे कैसे बढेंगे; अतएव पाण्डवोंपर मेरा चित्त दुःखी होता है। हे, राजन् ! यदि तुम कौरवोंको जिलाना चाहते हो, तो अपने पुत्र दुर्योधनको शान्त करो। (१७—२३) [३४७]

वनपर्वमें नौ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दस अध्याय।

धृतराष्ट्र बोले, कि हे महाप्राज्ञ मुने!

अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ॥ १ ॥
भवांश्च मन्यते साधु यत्कुरूणां महोदयम् ।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने॥ २ ॥
यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि ।
अनुशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ॥ ३ ॥

व्यास उवाच— अयमायाति वै राजन्मैत्रेयो भगवानृषिः ।
अन्विष्य पाण्डवान्भ्रातॄनिहैवास्मद्दिदृक्षया ॥ ४ ॥
एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन्महानृषिः ।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च ॥५॥
ब्रूयाद्यदेष कौरव्य तत्कार्यमविशङ्कया ।
अक्रियायां तु कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा ॥६॥

वैशम्पायन उवाच— एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ॥ ७ ॥
अर्घ्याद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम् ।
प्रश्रयेणाब्रवीद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ८ ॥
सुखेनाऽऽगमनं कच्चिद्भगवन्कुरुजाङ्गलान् ।

जो आपने कहा सो सत्य है, आप हमारे पिता हैं, इस बातको हम और यह सब राजालोग जानते है। हे मुने! आप जिस प्रकारसे कुरुकुलका उदय चाहते हैं, वैसेही मुझसे भीष्म विदुर और द्रोणनेभी कहा था,यदि आप मुझे कृपापात्र समझते हैं, और कुरुकुलपर आपकी दया है, तो मेरे दुरात्मा दुर्योधन पुत्रको उपदेश कीजिये। (१–३)

व्यास बोले, हे राजन्! यह देखो पांचों भाई पाण्डवोंको उपदेश किये भगवान् मैत्रेय ऋषि हमें देखनेको यहीं चले आते हैं। हे राजन् ये महाऋषि न्यायानुसार इस कुलमें शान्तिके अर्थ तुम्हारे पुत्र दुर्योधनको उपदेश करेंगे, हे कौरव्य! यह मुनि जो कहैं, सो शङ्कारहित होकर करने योग्य है, इनका कहा कार्य न करनेसे यह क्रोधयुक्त होकर तुम्हारे पुत्र को शाप देंगे। (४—६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि व्यास ऐसा कहकर चले गए और मैत्रेयमुनि आये; पुत्रोंके समेत राजा धृतराष्ट्रने उनके लिये अर्घादि क्रिया करी। मुनियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेय जब शान्त भये, तब अंबिकापुत्र धृतराष्ट्र विनय पूर्वक ऐसा बोले हे भगवन्! कहिये आप कुरुजांगल

कच्चित्कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ॥ ९ ॥
समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च भरतर्षभाः ।
कच्चित्कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति १० ॥

मैत्रेय उवाच– तीर्थयात्रामनुक्रामन्प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान् ।
यदृच्छया धर्मराज दृष्टवान्काम्यके वने ॥ ११ ॥
तं जटाजिनसंवीतं तपोधननिवासिनम् ।
समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ॥ १२ ॥
तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम् ।
अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ॥ १३ ॥
ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्याधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो १४॥
नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योऽन्येन ते पुत्रा विरोधयन्ते कथंचन ॥ १५ ॥
मेढीभूतः स्वयं राजन्निग्रहप्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ॥ १६ ॥
दस्यूनामिव यद्वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागम ॥ १७ ॥

देशमें सुखसे तो आये, कहिये वीर पांचो-भाई पाण्डव कुशलसे तो हैं, भरतकुलसिंह शान्ति करना चाहते हैं, या नहीं, कहिये कुरुवंशमें भाईचारा तो न टूटेगा? (७-१०)

मैत्रेय बोले, मैं तीर्थयात्रासे घूमता हुआ कुरुजांगलदेशको प्राप्त हुआ हूं। हे प्रभो! काम्यक वनमें प्रारब्धसे धर्म-राजको देखा उन महात्माको जटा और मृग चर्मधारी वनवासी देखनेके निमित्त अनेक मुनियोंके समूह आये हैं। हे महाराज! वहां आपके पुत्रोंका जुआरूपी अन्याय और भूल सुनो, सो अब महा-भय उपस्थित है। हे प्रभो! आपसे सदा बहुतही प्रीति और स्नेह है, अतएव मैं कौरवोंके कल्याणार्थ आपके पास आया हूं। हे राजन्! आप और भीष्मके जीते यह उचित नहीं था कि आपके पुत्र परस्पर विरोध करें। हे राजन्! अभी तो तुम आपही युद्ध और अशुभके निवारण करनेको पशुकी रस्सीके समान उपस्थित हो। आप इस उठे घोर अन्यायको क्यों देखते हैं, अर्थात् क्यों नहीं शान्त करते? हे कुरुनन्दन! तुमने सभाके मध्यमें जो दस्युके ऐसा काम किया, उससे तुम

वैशम्पायन उवाच—ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ॥१८॥

मैत्रेय उवाच— दुर्योधन महाबाहो निबोध वदतांवर ।
वचनं मे महाभाग ब्रुवतो यद्धितं तव ॥ १९ ॥
मा द्रुहः पाण्डवान्राजन्कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ ॥ २० ॥
ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥ २१ ॥
सत्यव्रत धराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ २२ ॥
हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ॥ २३॥
इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ।
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः २४॥
तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनांवरः ।
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २५ ॥
पश्य दिग्विजये राजन्यथा भीमेन पातितः ।

मुनियोंके सङ्गमें बैठकर शोभा नहीं पाते हो। (११—१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, तब भगवान् मैत्रेय ऋषि राजा दुर्योधनकी ओर मुख करके मीठी वाणीसे बोले। (१८)

मैत्रेय बोले, हे दुर्योधन ! हे महाबाहो ! हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ ! हे महाभाग ! हम जो तुम्हारे हितके वचन कहते हैं, सो सुनो, हे राजन् ! नरसिंह पाण्डवोंसे द्वेष मत करो। अपना, पाण्डव, कौरव और सब लोकका प्रियकाम करो, वे सब पुरुषोंमें सिंह शूर तेजस्वी महायुद्धकारी दशसहस्र रथियोंके बलवाले और वज्रके समान दृढ शरीरवाले हैं; वे सब सत्यव्रत धारी सब वीर्याभिमानी हिडिंब बक आदि राक्षसोंमें मुख्य, कामरूपी देवशत्रु राक्षसोंके मारनेवाले हैं, अभी मार्गमें जाते हुए रात्रिको पर्वतके समान अचल भयानक शरीरवाला किर्मीर उन महात्माओंके मार्गको रोक कर खडा था, तब युद्धप्रिय बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने अपने बलसे उसे पशुके समान जैसे सिंह छोटे हरिणको मारता है, मारडाला। (१९–२५)

हे राजन् ! देखो दिग्विजयमें भीमसेनने दश सहस्र गजके समान बलवाले महापराक्रमी जरासन्धको कैसे मारडाला

जरासन्धो महेष्वासो नागाऽयुतबलो युधि ॥ २६ ॥
संबन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ।
कस्तान्युधि समासीत जरामरणवान्नरः ॥ २७ ॥
तस्य ते शम एवाऽस्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
कुरु मे वचनं राजन्मा मन्युवशमन्वगाः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशांपते ।
ऊरुं गजकराकारं करेणाऽभिजघान सः ॥ २९ ॥
दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन्महीम् ।
न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ॥ ३० ॥
तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुन्धराम् ।
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन्मैत्रेयं कोप आविशत् ॥ ३१ ॥
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ।
विधिना संप्रणुदितः शापायास्य मनो दधे ॥ ३२ ॥
ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ।
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद्दुष्टचेतसम् ॥ ३३ ॥
यस्मात्त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ३४ ॥

था, श्रीकृष्ण उनके संबन्धी हैं; धृष्टद्युम्नादि द्रुपदपुत्र उनके साले हैं, जरा और मृत्युयुक्त पुरुष उनसे कौन युद्धमें लड सकता है, हे भरतर्षभ ! उन पाण्डवोंके सङ्ग तुम्हारी सन्धिही होनी उचित है, हे राजन् ! हमारी बात मानो; क्रोधके वशमें मत हो। (२७—२८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे राजन् ! इस प्रकार कहते हुए भगवान् मैत्रेय के सामने हाथीकी सूंडके समान अपनी जंघापर दुर्योधनने अपना हाथ मारा और हंसकर चरणसे पृथिवीको खोदने लगा, दुर्बुद्धि दुर्योधन कुछ न बोला सिर नीचाकरके बैठ रहा । जब भगवान् मैत्रेयने देखा, कि यह दुर्योधन हमारे वचनकी सुश्रूषा नहीं करता और पृथिवीको खोदता है, हे राजन् ! तब मैत्रेय मुनिको क्रोध आया । (२९-३२)

मुनियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेय क्रोधके वशमें होकर और ब्रह्मासे प्रेरित होकर दुर्योधन को शाप देनेका विचार करने लगे । तब क्रोधसे लालनेत्र करके उन्होंने जलस्पर्श किया और दुष्टोंके अगुआ धृतराष्ट्रके पुत्रको मैत्रेयने शाप दिया; जिस लिये तैंने

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥ ३५ ॥
इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भविष्यति ॥ ३६ ॥
मैत्रेय उवाच— शमं यास्यति चेत्पुत्रस्तव राजन्यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥३७॥
वैशम्पायन उवाच— विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।
मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥ ३८ ॥
मैत्रेय उवाच — नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥ ३९ ॥
इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथागतम् ।
किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ॥ ४० ॥ [३८७]

इति श्री०शत०सं०वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यके पर्वणि मैत्रेयवाक्ये दशमोऽध्यायः ॥१०॥समाप्तं चारण्यपर्व ॥

अथ किर्मीरवधपर्व ॥

धृतराष्ट्र उवाच— किर्मीरस्य वधं क्षत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत्समागमः ॥ १ ॥

मेरा अनादर करके मेरा वचन न माना, अतएव उस अभिमानका फल शीघ्रही प्राप्त कर। तेरे किये द्रोहसे महायुद्ध उपस्थित होगा; उसमें बलवान् भीम गदासे तेरी जंघाको तोडेगा। ऐसा सुनकर धृतराष्ट्र मुनिको यह कहते हुए कि यह बात ऐसे न हो, प्रसन्न करने लगे। मैत्रेय बोले; हे राजन्! यह तेरा पुत्र यदि शमको प्राप्त होगा, तो हे तात ! मेरा शाप न होगा, नहीं तो अवश्यही होगा। (३३–३७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तब दुर्योधनके पिता राजा धृतराष्ट्र भीमके बलको लक्ष्य करते हुए मैत्रेयसे कहने लगे, कि भीमने किर्मीरको कैसे मारा, सो कहिये। (३८)

मैत्रेय बोले, अब हम तुमसे कुछ न बोलेंगे, क्योंकि तुम्हारे पुत्रको श्रद्धा नहीं है, मेरे जानेपर यह विदुर तुमसे सब कहेंगे। ऐसा कह कर मैत्रेय मुनि जहां से आये थे वहींको चले गये। किर्मीर–वध न सुननेकी इच्छासे दुर्योधनभी बाहर चला गया। (३९–४०) [३८७]

वनपर्वमें दस अध्याय और आरण्यपर्व समाप्त।

वनपर्वमें ग्यारह अध्याय और किर्मीरवध पर्व ।

धृतराष्ट्र बोले, कि हे विदुर ! हम

विदुर उवाच— शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्मणः ।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥ २ ॥
इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवाऽद्यूतनिर्जिताः ।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद्वनं ॥ ३ ॥
रात्रौ निशीथे स्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप ।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥ ४ ॥
तद्वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ।
दूरात्परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात्किल ॥ ५ ॥
तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत ।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यपद्यत ॥ ६ ॥
बाहू महान्तौ कृत्वा च तथाऽस्यं च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ॥ ७ ॥
स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ॥ ८ ॥
सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ।
मुञ्चन्तं विपुलान्नादान्सतोयमिव तोयदम् ॥ ९ ॥

किर्मीरका मारा जाना सुननेकी इच्छा रखते हैं; तुम कहो, कि उस राक्षस और भीमसेनको सामना कैसे हुआ? (१)

विदुर बोले, कि मनुष्योंमें अधिक कर्म करनेवाले भीमका यह कर्म जो मैंने पहले सुना है, सो सुनो। हे राजेन्द्र! पाण्डवलोग यहांसे जुएमें हारकर जो चले, तो तीन दिनरातमें काम्यक नामक वनमें पहुंचे। हे नरनाथ! जब रात्रिका आधा भाग बीत गया और मनुष्यभक्षी राक्षसोंके विचरनेका समय हुआ, तब उस वनको मनुष्यभक्षी राक्षसोंके भयसे तपस्वी गोपाल और वनमें रहनेवालोंने दूरहीसे त्याग दिया था। हे राजन्! हे भारत! पाण्डवोंने उस वनमें प्रवेश किया, तो उनके मार्गका अवरोध करके प्रज्वलित नेत्र अति भयानक उक्त राक्षस मिला। (२—६)

वह अपने हाथोंको विस्तारित करके और मुखको भयानक बनाकर जिस मार्गसे पाण्डव आते थे उसे रोककर खडा होगया, ओठदांतोंको प्रत्यक्ष करके, लाल प्रकाशमान ऊंचे केशयुक्त सूर्यकिरण बिजली और बक-पंक्तियुक्त मेघके समान भयानक राक्षसी मायाको विस्तार करता हुआ, महाशब्द करता हुआ, गरजते हुए

तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतो दिशम् ।
विमुक्तनादाः संपेतुः स्थलजा जलजैः सह ॥ १० ॥
संप्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ।
तद्वनं तस्य नादेन संप्रस्थितमिवाभवत् ॥ ११ ॥
तस्योरुवातामिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः ।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् १२॥
तस्मिन्क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ॥ १३ ॥
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।
पञ्चानामिन्द्रियार्थानां शोकावेश इवातुलः ॥ १४ ॥
स दृष्ट्वा पाण्डवान्दूरात्कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोत्तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ॥ १५ ॥
तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥ १६ ॥
दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ॥ १७ ॥

मेघके समान राक्षस आके खडा होगया। उसके शब्दसे डरकर जलचर और स्थलचर पक्षी सब ओरसे बोलना बन्द करके एकत्र बैठ गये। (७—१०)

उस समय उसके नादसे मृग, गैंडा, भैंसा, रीच्छ इधर उधर भागने लगे। ऐसा भान होने लगा मानो वनही चलता है, वनकी लता उसकी जंघा की हवासे घायल होकर मानों भयपूर्वक तामेके रङ्गवाले पल्लवरूपी हाथोंसे दूरके वृक्षको भी आलिंगन करने लगी। उस समयमें बडा कठिन वायु बहने लगा; धूलसे पूरीत होनेके कारण आकाश तारा-हीन भान होने लगा, जैसे पांच इन्द्रियोंके अर्थोंका अतुल शोक रिपु होता है, तैसेही पांच पाण्डवोंका अज्ञात शत्रु राक्षस मार्गमें आया। (११–१४)

काले हरिणके चर्म ओढे पाण्डवोंको दूरसे देखकर मैनाक पर्वतके समान मार्गका अवरोध करके खडा हो गया, उनको देखकर कमलनयनी द्रौपदी डरी। उसने ऐसा भयानक रूप पहले कभी नहीं देखा था; अपनी आंखको बन्दकर लिया। दुःशासनके हाथसे खींचे हुए बिखरेकेशवाली द्रौपदी पांच पर्वतोंके बीचवाली नदीके समान व्याकुल हो

मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ॥१८॥
अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान् १९॥
स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ।
कामसूर्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत ॥ २० ॥
तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ।
को भवान्कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम् २१॥
प्रत्युवाचाऽथ तद्रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः ॥ २२॥
वनेऽस्मिन्काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ।
युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ॥ २३ ॥
के यूयमभिसंप्राप्ता भक्ष्यभूता ममाऽन्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान्भक्षयिष्ये गतज्वरः २४॥
वैशम्पायन उवाच— युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ॥ २५ ॥

गयी । मूर्छित होती द्रौपदीको पांचों पाण्डवोंने ऐसे संभाल लिया, जैसे विषयोंमें लीन पांच इन्द्रियां रतिको ग्रहण करती हैं । (१५–१८)

अनन्तर पाण्डवोंके आगेही उस राक्षसी घोर मायाको वीर्यवान् धौम्यने राक्षसोंके नाश करनेवाले विविध मन्त्रोंका भलीभांति प्रयोग करके नाशकर दिया । वह महाबल माया नष्ट होतेही क्रोधसे नेत्र खोलकर इच्छासे मूर्ति धरनेवाला क्रूर कालके समान दीखने लगा । तब महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उससे कहा तुम कौन और किसका पुत्र है, कह हम तुम्हारा क्या काम करें ? तब धर्मराज युधिष्ठिरसे उस राक्षसने यह कहा, मैं बकका भाई हूं, किर्मीर नामसे प्रसिद्ध हूं, इस शून्य काम्यक वनमें सुखसे रहता हूं, मैं सदाही मनुष्योंको युद्धमें जीतकर खाता हूं । तुमलोग कौन हो, मेरा भोजनरूप होकर मेरे घरमें आये हो; अब मैं तुम सबको युद्धमें जीतकर खाजाऊंगा । (१९–२४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! युधिष्ठिरने उस दुरात्माका यह वचन सुनकर अपना नाम और जाति आदि सब

युधिष्ठिर उवाच— पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥२६॥
हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥ २७ ॥

विदुर उवाच— किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ॥ २८ ॥
भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।
चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनं चाऽऽसादयाम्यहम् २९ ॥
सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा काङ्क्षितश्चिरम् ।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ॥३०॥
वैत्रकीयवने राजन्ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ॥३१॥
हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनाऽनेन स्वसा चाऽस्य हृता पुरा॥३२॥
सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे स्थिते समे ॥ ३३ ॥
अद्याऽस्य पातयिष्यामि तद्वैरं चिरसंभृतम् ।

कह सुनायी। (२५)

युधिष्ठिर बोले, हम पाण्डुपुत्र धर्मराज हैं, कदाचित् तुमनेभी सुना हो; सो हम भीमसेन और अर्जुनादि सब भाइयोंके संग राज्य नष्ट होनेसे वनमें रहनेकी इच्छासे इस घोर वन, तेरे घरमें आये हैं। (२६—२७)

विदुर बोले, कि यह सुनकर किर्मीर युधिष्ठिरसे बोला, कि बहुत समयसे मेरे मनमें स्थित यह बलि आज देवतोंने भेज दिया । मैं भीमसेनके मारनेके अर्थही शस्त्रोंको उद्यत करके सब पृथिवी में घूमता हूं, परन्तु इसे नहीं पाता था; सो आज इस अपने भाईके मारनेवालेको प्रारब्धहीसे पाया हूं, हे राजन्! इसीने पहले कपटसे ब्राह्मण वेष धारण करके वैत्रकीय वनमें मेरे भाईको विद्या-बलको आश्रय करके मारडाला था, इसको अपना बल कुछभी नहीं है, और मेरे प्यारे मित्र वनवासी हिडिम्बको भी इसी दुरात्माने मारा है, और उसकी बहनकोभी छीन लिया ! सो यह मूर्ख हमारे घूमनेके समय आधी रातको मेरे इस महावनमें आगया; अब मैं

तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ॥ ३४ ॥
अद्याऽहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धाऽस्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ३५॥
यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥
एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।
संभक्ष्य जरयिष्यामि यथाऽगस्त्यो महासुरम् ३७॥
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ।
नैतदस्तीति संक्रुद्धो भर्त्सयामास राक्षसम् ॥ ३८॥
ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।
दशव्याममथोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत्तदा ॥ ३९ ॥
चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ॥ ४० ॥
निवार्य भीमो जिष्णुं तं तद्रक्षो मेघनिःस्वनम् ।
अभिद्रुत्याऽब्रवीद्वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ॥४१॥
इत्युक्त्वैनमभिक्रुद्धः कक्षामुत्पीड्य पाण्डवः ।

वह पुराना वैर इससे निकालूंगा और इसके बहुत रुधिरसे बकको तर्पण करूंगा। (२८—३४)

आज मैं अपने भाई और मित्रके ऋणसे उद्धार होकर इस राक्षसोंकी वैरीको मार कर परम शान्तिको प्राप्त होऊंगा। हे युधिष्ठिर ! इसे पहले बकने छोड दिया था, परन्तु आज तुम्हारे देखते ही मैं इसे खा जाता हूं; जैसे अगस्त्यने वातापी को खाकर पचालिया था, वैसेही आज मैं इस महापराक्रमी भीमसेनको मारकर और खाकर पचा जाऊंगा। इस प्रकारसे सुनकर धर्मात्मा युधिष्ठिरने क्रोधकरके कहा, कि ऐसा नहीं हो सकता। तब महाबाहु भीमसेन दश व्याम (दोनों हाथोंको फैलाकर जो मान हो उसे व्याम कहते हैं) के वृक्षको उखाडकर उसे पत्ररहित कर दिया। उसी समय क्षणमात्रमें अर्जुनने वज्रके समान गाण्डीव धनुषको सज्जित किया। (३५—४०)

हे भारत ! भीमने अर्जुनको निवारण करके दौडकर घोर शब्दवाले राक्षससे कहा, कि रे ! खडा रह। ऐसा कहकर अपने कच्छको बांधकर बलवान् भीम क्रोधसे होंठ चबाते हुए, हाथसे हाथको मलकर वृक्ष हाथमें लेकर वेगसे राक्षसकी

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो बली ॥४२॥
तमभ्यधावद्वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ॥ ४३ ॥
यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ।
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ॥ ४४ ॥
असंभ्रान्तं तु तद्रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ।
चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ॥४५ ॥
तदुद्स्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ।
पदा सव्येन चिक्षेप तद्रक्षः पुनराव्रजत् ॥ ४६ ॥
किर्मीरश्चाऽपि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ।
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत ॥ ४७ ॥
तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकांक्षिणोः पुरा ॥४८॥
शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ।
यथैवोत्पलमालानि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ॥ ४९ ॥
मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ।
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ॥ ५० ॥
तद्वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ ।

ओर चले। तब उस यमदण्डके समान वृक्षको उसके सिरपर मारा जैसे इन्द्र वज्र मारता है। उसके लगनेसे उस राक्षस को कुछ भी दुःख न हुआ, तब उसने वज्रके समान जलती हुई लूक भीमसेनको मारी। योधोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उस लूकको शीघ्रतासे बांये चरणसे पकडकर पुनः राक्षसकी ओर फेंका; तब किर्मीरभी शीघ्र वृक्ष उखाडकर दण्डधारी यमके समान क्रुद्ध होकर भीमकी ओर दौडा, उस समय दोनोंका वृक्षयुद्ध होने लगा, जिससे वृक्ष नाश होने लगे ।(४१-४८)

उस समय इन दोनोंका ऐसा युद्ध हुआ, जैसे पहले स्त्रीकी इच्छावाले वालि और सुग्रीव दोनों भाइयोंका हुआ था ! उनके सिरमें लगनेसे वृक्ष अनेक टुकडे हो होकर गिरने लगे; जैसे दो मत्तवाले हाथियोंके शरीरमें लगनेसे कमलकी डंटी चूर्ण हो जाती है; तैसेही इन दोनोंके शरीरमें लग लगकर अनेक वृक्ष मूंजके समान चूर्ण हो गये। उस वनमें फैले रजके समान फैल गये। (४८—५०)

हे भरतर्षभ! इस प्रकारसे राक्षसोंमें मुख्य किर्मीर और पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीमसेन

राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥५१॥
ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद्राक्षसः क्रुद्धो भीमश्च न चचाल ह ॥५२॥
तं शिलाताडनजडं पर्यधावत राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ५३ ॥
तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५४ ॥
तयोरासीत्सुतुमुलः संप्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५५ ॥
दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
कृष्णाकटाक्षहृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः ॥ ५६ ॥
अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ५७ ॥
स चाप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपद्भीमसेनो बलेन बलिनां वरः ॥ ५८ ॥
तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद्घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ५९ ॥

का वृक्षयुद्ध मुहूर्तमात्र होता रहा। तब राक्षसने क्रोधसे भरकर एक शिला युद्धमें स्थिर भीमको मारी; परन्तु भीमसेन किञ्चित्भी चलायमान न हुए; तब राक्षस शिलाकी चोटसे स्थिर भीमसेनकी ओर हाथ फैलाकर ऐसा दौडा, जैसे युद्धमें किरण विस्तारकरके राहु सूर्यकी ओर जाता है। तब वे दोनों परस्पर युद्ध करते हुए एक दूसरेसे लिपटकर खींचने लगे। दोनों ऐसे शोभित हुए, जैसे बडे वृष (बैल) लडते हैं। (५१–५४)

उस समय उन दोनोंका ऐसा घोर दारुण भयानक बाहुयुद्ध भया, जैसे नाखून और दांतशस्त्रवाले उन्मत्त दो व्याघ्रोंका युद्ध होता है। वहां दुर्योधनके बिगाडसे और बाहुबलसे उन्मत्त, द्रौपदीके कटाक्ष पातसे क्रुद्ध भीमसेनका बल बढने लगा। जैसे एक मत्तवाला हाथी दूसरे मत्तवाले हाथीको पकडता है, तैसेही भीमने उस राक्षसको क्रोधकर हाथोंसे पकडा; तब बलवान् राक्षसनेभी इन्हे वैसेही पकडा; तब बलवानोंमें उत्तम भीमने उसे बलसे गिरा दिया; तब युद्धमें उन दोनों बलवानोंके हाथोंके रगडे जानेसे ऐसा

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ६० ॥
स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६१ ॥
तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः ।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ६२ ॥
विनदन्तं महानादं भिन्नभेरीस्वनं बली ।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ६३ ॥
तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः ।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ॥ ६४ ॥
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीडयामास पाणिभ्यां तस्य कण्ठं वृकोदरः ॥ ६५ ॥
अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६६ ॥
हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चासि यमस्य सदनं प्रति ॥ ६७ ॥
इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तं राक्षसं क्रोधपरीतचेताः ।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्तमुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ६८ ॥

शब्द हुआ, जैसे बांसोंके फटनेसे होता है। (५४—५९)

तब भीमने बलसे उसे पटक कर और युद्धमें पकडकर जैसे प्रबल वायु वृक्षको घुमाता है, तैसही घुमाया; तब दुर्बल राक्षस बलवान् भीमके बलसे युद्धमें क्लेशित होकर प्राण निकालता हुआ भीमको खींचने लगा; तब भीमसेनने जाना कि यह राक्षस अब थक गया; तब जैसे पशुको रस्सीसे बांधते हैं तैसेही हाथों से उसे कसा। भूरीभेरके समान शब्द करने वाले राक्षसको बली भीमने चेतना रहित करके बहुत देरतक घुमाया; उस राक्षसको तडपता हुआ जानकर पाण्डु-नन्दनने हाथोंसे पकडकर शीघ्रतासे पशुके समान मार डाला। (६०-६४)

उसकी कटि (कमर) जंघासे दबाकर हाथोंसे कण्ठको दबाया; अनन्तर टूटे-गात्र-निकले राक्षसको पृथिवीमें मल कर यों बोले, रे पापी ! तू यमके स्थानमें जाकर भी हिडम्ब और बककी आंसू न पोंछ सकेगा। क्रोधी पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर

तस्मिन्हते तोयदतुल्यरूपे कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः ।
भीमं प्रशस्याऽथ गणैरनेकैर्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥ ६९ ॥

विदुर उवाच— एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ।
भीमेन वचनात्तस्य धर्मराजस्य कौरव ॥ ७० ॥
ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥ ७१ ॥
समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥ ७२ ॥
भीमबाहुबलात्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः ।
विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ७३ ॥
स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः ।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥ ७४ ॥
तत्राऽश्रौषमहं चैतत्कर्म भीमस्य भारत ।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्राऽऽसन्समागताः ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच— एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम् ।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासाऽऽर्तवत्तदा ॥ ७६ ॥ [४६३]

इति श्री० वैयासिक्यामारण्यपर्वणि किर्मीरवधपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्यायः ११ समाप्तं च किर्मीरवधपर्व।

भीमने नष्टवस्त्र नष्टभूषण तडफते हुए विना प्राणवाले उस राक्षसको छोड दिया। उस मेघके समान रूपवाले राक्षसके मरने पर द्रौपदी को आगे कर अनेक गुणोंसे भीमसेनकी प्रशंसा करते हुए पाण्डव लोग प्रसन्न होकर द्वैतवनको चले।६५-६९

विदुर बोले, हे नरनाथ ! कौरव ! धर्मराजके वचनसे इस प्रकार भीमसेनने किर्मीरको युद्धमें मारा । इस प्रकारसे अपराजित युधिष्ठिरने उस वनको निष्कण्टक किया; तब द्रौपदीके सङ्ग धर्मज्ञ पाण्डवलोग वहां ठहरे। वे सब भरत-कुलसिंह द्रौपदीको आश्वासन करके प्रसन्न मनसे प्रेमपूर्वक भीमसेनकी प्रशंसा करने लगे; भीमसेनके बाहुबलसे जब वह राक्षस नष्ट होगया, तब वीर पाण्डवोंने शुद्ध और निष्कण्टक उस वनमें प्रवेश किया, सो मैंने मार्गमें जाते हुए उस फैले पडे भयानक दुष्टात्मा राक्षसको महावनमें भीमके बलसे मरा हुआ देखा। हे भारत! वहां जो ब्राह्मण आये थे, उनसे मैंने यह वार्ता सुनी। (७०-७५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, राक्षसोंमें श्रेष्ठ किर्मीरका वध इस प्रकार भीमने किया।

अथाऽर्जुनाभिगमनपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—भोजाः प्रव्रजिताञ्छ्रुत्वा वृष्णयश्चाऽन्धकैः सह।
पाण्डवान्दुःखसंतप्तान्समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥
पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥ २ ॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान्क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान्किं कुर्म इति चाऽब्रुवन्॥ ३ ॥
वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ॥ ४॥

वासुदेव उवाच—दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥५॥
एतान्निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः ।
तांश्च सर्वान्विनिर्जित्य सहितान्सनराधिपान् ॥६॥
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन्वध्य एष धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच--पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।

यह सुनके राजाने दुःखीके समान भारी सांस लिया। (७६) [४६३]

वनपर्वमें ग्यारह अध्याय और किर्मीरवधपर्वसमाप्त

वनपर्वमें बारह अध्याय और अर्जुनाभिगमनपर्व ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जब भोज वंशी तथा अन्धकवंशीयोंने सुना, कि पाण्डव लोग दुःखित होकर वनको गये हैं; तो सबलोग वनहीमें आये। धृष्टद्युम्न, चेदिके राजा, धृष्टकेतु, लोकमें विदित महावीर केकय सब भाई यह सब धृतराष्ट्र के पुत्रोंकी निन्दा करते हुए हम क्या करें, ऐसा कहते हुए क्रोधसे भरे पाण्डवोंको देखनेको वनमें आये। वे सब क्षत्रियोंमें सिंह लोग श्रीकृष्णको आगे कर के धर्मराज युधिष्ठिरके चारों ओर बैठे। कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे प्रणाम करके दुःखी होकर श्रीकृष्ण कहने लगे। (१-४)

श्रीकृष्ण बोले, दुर्योधन कर्ण शकुनी और चौथे दुरात्मा दुःशासनका रुधिर भूमि पीवेगी। इन सब दुष्टोंको इनके संगियोंको और जो राजा उनकी सहायता करेंगे, उन सबको युद्धमें मारकर हम सबलोग धर्मराज युधिष्ठिरको पुनः राज्य देंगे; क्योंकि छली मारने योग्य है, यह

अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तामिव प्रजाः ॥ ८ ॥
संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः ।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ॥ ९ ॥
पुरुषस्याऽप्रमेयस्य सत्यस्याऽमिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच— दश वर्षसहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः ।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥ ११ ॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन्पुरा ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन ।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥ १३ ॥
अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसन्ततः ।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ १४ ॥
प्रभासमप्यथाऽऽसाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम् ।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥ १५ ॥

सनातन धर्म है । (५—७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, पाण्डवोंके निरादरसे मानों प्रजाको भस्म कर देंगे ऐसे कुपित श्रीकृष्णको अर्जुनने शान्त किया । अर्जुनने श्रीकृष्णको क्रोधयुक्त देखकर महात्मा सत्यकीर्तिने कृष्णके पूर्व देहकृत कर्म कहे । अर्जुन पुरुष (सांख्य शास्त्रोक्त) प्रमाण रहित सत्य अपारतेज प्रजापतियोंके पति विष्णु लोकनाथ बुद्धिमान् श्रीकृष्णके गुण इस प्रकार कहने लगे । (८–१०)

अर्जुन बोले हे कृष्ण ! पहले समयमें तुमने दश सहस्र वर्ष तक गन्धमादन पर्वतपर यत्रसायंगृह मुनि (यत्रसायंगृह उसे कहते हैं,जो जहां सांझ हो जाय वहीं घर मान लें) हो तप किया था; और हे कृष्ण ! तुम ग्यारह सहस्र वर्ष पर्यन्त पुष्कर क्षेत्रमें केवल जलही पीकर रहे थे, तथा सौ वर्षतक वायु भक्षण करके और उर्ध्ववाहु होकर विशाल बदरिकाश्रममें एक चरणसे खडे रहे थे, तैसेही उत्तरीय वस्त्र छोडकर मांसरहित केवल नाडीयुक्त शरीरसे सारस्वतीनदीके तटपर बारह वर्षके यज्ञमें रहे थे । (११–१४)

हे कृष्ण ! तैसेही पुण्यात्मा पुरुषोंके योग्य प्रभासक्षेत्रमें जाकरभी तुम दिव्य सहस्रवर्ष तक लोकस्थितिके निमित्त खडे

अतिष्ठस्त्वं यथैकेन पादेन नियमस्थितः।
लोकप्रवृत्तिहेतोस्त्वमिति व्यासो ममाऽब्रवीत् ॥१६॥
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥१७॥
निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
प्रथमोत्पादितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ॥१८॥
कृत्वा तत्कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित्।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान्समेतान्दैत्यदानवान् ॥१९॥
ततः सर्वेश्वरत्वं च संप्रदाय शचीपतेः।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥२०॥
स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परन्तप।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥२१॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥२२॥
परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ॥२३॥
शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि दत्तवान् ॥२४॥

रहे थे; मुझसे व्यासने ऐसा कहा था; हे कृष्ण! तुम क्षेत्रज्ञ हो, सब जगतके आदि हो; हे केशव! आप सबके अन्त हो; तुम तपनिधान हो; भूमिसे उत्पन्न नरक दैत्यको मारकर तुम कुण्डल लाये थे; हे कृष्ण! तुमने प्रथम उत्पन्न घोड़को यज्ञके अर्थ प्राप्त किया, उससे यज्ञ करके लोक सिंह और सब लोकोंके जीतनेवाले तुमने युद्धमें सब दैत्य और दानवोंको मारा तब इन्द्रको सर्वेश्वर पद देकर हे केशव! तुमने मनुष्यलोकमें जन्म लिया। (१५—२०)

हे महाबाहो! हे परन्तप! सो तुम नारायण होकर हरि हुये; ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, धर्म, धाता, (धारणकरनेवाले) यम, अग्नि, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथिवी और दिशा तुम्हीं हो। तुम उत्पन्न नहीं होते चर और अचरके गुरु हो, हे पुरुषोत्तम! तुम बनानेवाले हो। हे मधुराक्षसके नाशक! हे कृष्ण! अति तेजस्वी तुमने चैत्ररथ वनमें सबसे उत्तम देवश्रेष्ठत्व प्राप्तिके अर्थ अनेक यज्ञ

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥ २५ ॥
शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परन्तप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ॥ २६ ॥
संप्राप्य दिवमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन्भास्करं स्वेन तेजसा ॥ २७ ॥
प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ॥ २८ ॥
सादिता मौरवाः पाशा निषूदनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥२९ ॥
जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासन्धश्च शैव्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥ ३० ॥
तथा पर्जन्यघोषेण रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ३१॥
इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद्यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम्॥३२॥

किये थे; हे जनार्दन! वहां एक एक यज्ञ में सौ सौ सुवर्णके भाग दिये थे, हे यदुनन्दन! तुम अदितिके पुत्र होकर जगतमें इन्द्रसे छोटे भाई और विष्णुके नामसे प्रसिद्ध हुए थे; हे शत्रुनाशक! तुमने बालक होकर आकाश, पाताल और पृथिवीको अपने तेजसे तीनही चरणसे लङ्घन किया। तुम तेजरूप होकर आकाश और स्वर्गमें प्राप्त होकर सूर्यके रथपर चढकर सूर्यको प्रकाशित करते हो। (२१—२७)

हे कृष्ण, हे नाथ! तुमने अनेक (सहस्रों) अवतार लेकर सैकडों अधर्मी असुरोंको नाश किया है, तुमने मुरुके पाशको काटदिया और निषूद और नरकासुरका नाश करके प्रागज्योतिषपुरका मार्ग शुद्धकर दिया। जारुथी नगरमें आहुति, क्राथ पुरुषोंके सहित शिशुपाल, जरासन्ध, शैब्य और शतधन्वाको तुमने जीता; तैसेही तुमने सूर्यके समान तेजयुक्त मेघके समान शब्दवाले रथपर चढकर भोज वंशोत्पन्ना रुक्मिणीको युद्धमें जीत कर प्राप्त किया; तुमने क्रोधसे इन्द्रद्युम्न और कसेरुमान् यवनको मारा है; आकाशमें घूमनेवाले सौभ नगरके स्वामी शाल्वको मारकर उसके नगरको

एवमेते युधि हता भूयश्चाऽन्यान्छृणुष्व ह ॥ ३३ ॥
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ।
गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ॥ ३४ ॥
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ।
द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ॥ ३५ ॥
न क्रोधो न च मात्सर्यं नाऽनृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजुः ॥ ३६ ॥
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताऽभयमच्युत ॥ ३७ ॥
युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मनैवाऽऽत्मसात्कृत्वा जगदासीः परन्तप ॥ ३८ ॥
युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥ ३९ ॥
तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ॥
ललाटाज्जातवाञ्छंभुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ॥ ४० ॥
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ।

पृथिवीमें गिराया; इस प्रकार तुमने इतनोंको युद्धमें मारा इसके पश्चात् और भी सुनिये। (२८-३३)

कार्तवीर्यके समान भोज तथा गोपति और तालकेतु को तुमने इरावतीके युद्धमें मारा, हे जनार्दन! और मुनियोंकी प्यारी भोगवती द्वारिकाको अपने वशमें करके समुद्रको प्राप्त करते हो। हे मधुसूदन! हे दाशार्ह! क्रोध, धूर्त्तता, असत्य, निर्लज्जता, टेढापन यह आपमें कुछभी नहीं है, स्थानमें बैठे हुए अपने तेजसे प्रदीप्त आपके पास आकर महामुनिलोग अभय मांगते हैं; हे मधुसूदन! हे परन्तप! युग के अन्तमें सब प्राणियोंको नाश करके सबको आत्मामें मिलाकर आप जगतरूप हो जाते हैं। (३४-३८)

हे वृष्णिवंशोद्भव! युगके आदिसे तुम्हारे नाभिकमलसे चराचरके गुरु ब्रह्मा जगत् बनानेवाले उत्पन्न भये; उनको मारनेके निमित्त घोर राक्षस मधु और कैटभ उद्यत हुए; उनका यह कुकर्म देखकर आपको क्रोध हुआ; तब आपके मस्तक से तीननेत्रवाले शूलधारी शिव उत्पन्न भये, इस प्रकार ब्रह्मा और शिव दोनोंही

त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ॥ ४१ ॥
तथा नारायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने ॥ ४२ ॥
नैवं पूर्वे नाऽपरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा।
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ॥ ४३ ॥
कृतवान्पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥ ४४ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ ४५ ॥
ममैव त्वं तवैवाऽहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ४६॥
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥ ४७ ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाऽहं तथैव च ।
नाऽऽवयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥ ४८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना ।

आपके शरीरसे उत्पन्न भये हैं, मुझसे नारदने कहा है, कि यह दोनों तुम्हारी आज्ञासे पालनेवाले हैं। हे नारायण ! हे कृष्ण ! तैसेही तुमने पहले समयमें चैत्र-रथ वनमें महा यज्ञ किया था। अन्य पुरुषोंने ऐसे यज्ञ बहुत दक्षिणायुक्त न किये, न करते हैं और न करेंगे । हे देव ! जो कर्म बालकपनमें महाबलवाले तुमने बलदेवकी सहायतासे किये, सो और से न होंगे; कैलासमें ब्राह्मणोंके संग तुम रहे थे। (३९–४४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कृष्णरूप पाण्डुपुत्र अर्जुन महात्मा कृष्णसे यह सब कहकर चुप हो गये; तब कृष्णने ऐसा कहा, हम तुम हैं, और तुम हमारे रूप हो, जो हमारे भाव हैं, सो सब तुम्हारे हैं; जो तुम्हारे द्वेषी हैं,सो हमारा द्वेष करते हैं, जो तुम्हारे अनुगामी हैं, सो हमारे मित्र हैं; तुम दुःखसे धर्षण करने योग्य नर हो और हम भक्तदुःख नाशक नारायण हैं, हम दोनों नरनारा-यण ऋषि जगतमें समय पाकर प्राप्त हुए हैं। हे कुन्तीनन्दन ! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे अभिन्न हूं; हे भरतर्षभ! हमारा और तुम्हारा भेद जाननेके योग्य नहीं है। (४५-४८)

तस्मिन्वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु　　॥ ४९ ॥
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता　　।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह　॥ ५० ॥
अभिगम्याऽब्रवीत्क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी　॥ ५१ ॥

द्रौपद्युवाच— पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम्　।
स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत्　॥ ५२ ॥
विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन　।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाऽब्रवीत् ५३॥
ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
सत्याद्यज्ञोऽसि संभूतः कश्यपस्त्वां यथाऽब्रवीत् ५४॥
साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत्　॥ ५५ ॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः　।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव　॥ ५६ ॥
द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उस वीर-समाजमें जहां राजालोग उद्यत बैठे थे, जब महात्मा श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे, तो महावीर धृष्टद्युम्नआदि भाईयोंसे वेष्टिता शरणकी इच्छा करनेवाली द्रौपदी शरणपरायण भाईयोंसे युक्त बैठे हुए श्रीकृष्णसे बोली (४९–५१)

द्रौपदी बोली, मुझसे असित देवलमुनिने आपके विषयमें कहा है, कि पूर्व-कालमें आपही अकेले थे और जगत्में आप प्रजापति हैं; आप सब लोकोंके बनानेवाले हैं, हे दुर्द्धर्ष! (दुःखसे धर्षण करने योग्य) आप विष्णु हैं । हे मधुसूदन ! (मधु नामक दैत्यके नाशक) आप यज्ञ स्वरूप हैं । जमदग्नि मुनिने कहा है, कि आप पूजक और आपही पूजाके योग्य है । ऋषियोंने तुम्हे क्षमा रूप कहा है, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! तुम सत्वरूप हो; कश्यपने तुम्हे सत्वसे उत्पन्न कहा है; नारदने तुम्हे साध्य देवता और शिव आदिका ईश्वर तथा प्राणियोंके नाथ कहा है । (५१–५५)

हे पुरुषोंमें व्याघ्र श्रीकृष्ण ! जैसे बालक खेल बनाकर उससे खेलते हैं, तैसेही आप ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादिको बार बार बनाकर खेला करते हैं; हे नाथ ! आकाश आपके सिरसे, पृथिवी चरणोंसे व्याप्त और यह लोक तुम्हारे पेटसे व्याप्त

जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५७ ॥
विद्यातपोभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ॥ ५८ ॥
राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥५९॥
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ६० ॥
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ६१ ॥
सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ६२ ॥
कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥ ६३ ॥
स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता ।
एकवस्त्रा विकृष्टाऽस्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥ ६४ ॥
राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसाऽतिपरिप्लुता ।

है; आप सनातन पुरुष हैं, विद्या तपसे तपकर आप तप द्वारा आत्माको भावित करनेवाले और आत्माके दर्शनसे तृप्त मुनियोंमें उत्तम हो; युद्धमें से न फिरनेवाले, पुण्यात्मा,सब धर्म युक्त राजऋषियोंकी आपही गति हैं। हे पुरुषसिंह ! तुम विभू, तुमही प्राणियोंके स्वामी हो; तुमही सुकर्मोंके कर्ता हो। लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दशों दिशा, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य यह सब आपहीमें प्रतिष्ठित हैं। (५६—६०)

मर्त्यलोग वासियोंमें मानव धर्म और देवतोंमें अमरता यह सब आपहीके अधीन है, हे महाबाहो ! सब लोकोंके काम आपहीमें प्रतिष्ठित हैं, हे मधुसूदन ! सो आपसे मैं विनयपूर्वक अपने दुःखको कहती हूं, आप सब जगत्में जो दिव्य और मानुष प्राणी हैं उसके स्वामी हैं, हे कृष्ण ! हे विभो ! मैं पाण्डवोंकी स्त्री, तुम्हारी सखी,और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूं,तो मेरी ऐसी स्त्री किस प्रकार सभामें खींची गयी; कांपती हुई रजस्वला रुधिरसे भीजी एकवस्त्र धारिणी मैं कौरवोंकी सभामें खींची गयी, सभामें राजोंके

दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्राः प्राहसन्पापचेतसः ॥ ६५ ॥
दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन ।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेषु च वृष्णिषु ॥ ६६ ॥
नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साऽहं दासीकृता बलात् ६७॥
गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधिश्रेष्ठान्महाबलान् ।
यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ६८॥
धिग्बलं भीमसेनस्य धिक्पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ॥ ६९ ॥
शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।
यद्भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ॥ ७० ॥
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ७१ ॥
आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ७२ ॥
नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नाऽन्वपद्यन्त पाण्डवाः ७३ ॥

मध्यमें मुझे रुधिरसे भींगी देखकर पापी धृतराष्ट्रके पुत्र हंसने लगे। (६१—६५)

हे मधुसूदन! वे लोग दासी बनाकर पाण्डव पाञ्चाल और यादवोंके जीते मुझे भोग करना चाहते थे, हे कृष्ण! जो मैं भीष्म और धृतराष्ट्रकी पुत्रवधू थी उस मुझे उन्होंने बलसे दासी बनाया ! युद्धमें श्रेष्ठ महाबलवान् इन पाण्डवोंकी मैं निन्दा करती हूं, जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नीके क्लेशको देखते हैं; हे जनार्दन! भीमके बलको और अर्जुनके गाण्डीव धनुषको धिकार है, जो मुझे क्षुद्रोंसे खिंचती देखकर क्षमा कर रहे हैं। ६६-६९)

महात्माओंने यह धर्ममार्ग नित्य कहा है, कि थोडे बलवाले पतिभी अपनी स्त्रियोंकी रक्षा करते हैं; जब स्त्रीकी रक्षा होती है तो सन्तानभी रक्षित होती है, आत्माही उसे उत्पन्न होता है अतएव उसे जाया कहते हैं, स्त्री भी पतिकी रक्षा करती है, कि भर्ता मेरे उदरसे कैसे उत्पन्न होगा। यह पाण्डवलोग शरणागतको कदापि नहीं त्यागते हैं, परन्तु शरणमें आई मुझको उन्होंनेभी रक्षित न किया। (७०—७३)

पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्याऽस्मि जनार्दन ॥ ७४ ॥
प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ७५ ॥
कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ॥७६॥
नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥७७ ॥
अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिकृष्टाऽहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥ ७८ ॥
नाऽधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्राऽर्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ॥७९॥
धिग्बलं भीमसेनस्य धिक्पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ८० ॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
तत्कालेन कृतं मन्ये न तु पौरुषवर्धनम् ॥ ८१ ॥
य एतानाक्षिपद्राष्ट्रात्सह मात्राऽविहिंसकान् ।

देखो मेरे पांचपतियोंसे महा तेजस्वी पांच पुत्र हुए हैं, हे जनार्दन ! इनको भी देखकरके रक्षा किये जाने योग्य हूं, युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतकर्मा पुत्र हुए हैं,यह सब सत्यपराक्रमी हैं। ७४-७६

हे कृष्ण ! जैसे प्रद्युम्न हैं, वैसेही यह भी सब महारथ हैं, यह सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ, युद्धमें शत्रुओंसे अजेय हैं; न जानें, यह सब दुर्बल धृतराष्ट्रके पुत्रोंको क्यों क्षमा कर रहे हैं; उन्होंने इनका राज्य अधर्मसे छीन लिया। इन सबको दास बनाय एक वस्त्र धारिणी रजस्वला मुझको सभामें खींचलाये। हे मधुसूदन! गाण्डीव धनुष अर्जुन, भीम तथा तुम्हारे विना जगत्में किसीसेभी अधिज्य (रोद सहित) नहीं हो सकती है। किन्तु हे कृष्ण! भीमके बल और अर्जुनके पुरुषार्थको धिकार है,जो दुर्योधन इनके आगे मुहूर्त्त भरभी जीवित है। (७६—८०)

कालही भूतोंको उत्पन्न करता और नाश करता है। इसलिये यह कालने किया है यह पौरुषका परिणाम नहीं

अधीयानान्पुरा बालान्व्रतस्थान्मधुसूदन ॥ ८२ ॥
भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं संभृतं लोमहर्षणम् ॥ ८३ ॥
तज्जीर्णमविकारेण सहाऽन्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ॥ ८४ ॥
प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत ॥ ८५ ॥
यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥ ८६ ॥
आशीविषैः कृष्णसर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाऽङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ ८७ ॥
प्रतिक्रुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान्सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चाऽस्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ८८ ॥
पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद्बालकान्वारणावते ।
शयनानार्यया सार्धं को नु तत्कर्तुमर्हति ॥ ८९ ॥
यत्राऽऽर्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
महद्व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥ ९० ॥

ऐसा मेरा मत है। उसने इन अदुःखदाइयोंको माताके समेत राज्यसे निकाल दिया था, उस पापीने इनकी ब्रह्मचर्यावस्थामें बालकपनमें पढते समय भीमसेनके भोजनमें विष मिलाय दिया था। हे महाबाहो! नवीन तीक्ष्ण अधिक कालकूटको (विषविशेष) अन्नके सहित विना विकारही भीमने आयुशेष रहनेके कारण उसे पचालिया था। प्रमाण नामक वट- वृक्षके नीचे विश्वास सहित तटपर सोते हुए भीमसेनको बांधकर गङ्गामें डालके वह आप नगरको चलागया था। (८१—८५)

हे कृष्ण! जब महाबली महाबाहु कुन्तीपुत्र भीमसेन जागे तब सब बन्धन तोडकर खडे होगये। हे कृष्ण! भीमके सब अङ्गोंमें उसने कठिन विषैले सर्पोंसे कटवाया तथापि शत्रुनाशन भीम न मरे; जब भीम जगे तो सब सर्पोंको मारडाला और उसके सारथी को भी हाथसे मारा फिर वारणावतमें यह बालक अपनी माताके सङ्ग जब सोते थे तब उसने आग लगा दी। भला ऐसा कौन कर सकता है? जहां महादुःखमें पडी आगसे

हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहाऽनलात् ।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥९१॥
तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः ।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातॄंश्चापि वृकोदरः ॥९२॥
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान्पततां वरः ।
तथैवाऽभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥ ९३ ॥
आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च ।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥ ९४॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान् ।
भ्रातॄनार्यां च बलवान्मोक्षयामास पावकात् ॥९५॥
ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः ।
अभ्यगच्छन्महारण्यं हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥९६॥
श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः ।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छाद्धिडिम्बा नाम राक्षसी॥९७॥
सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान्मात्रा सह क्षितौ ।
हृच्छयेनाऽभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत्॥ ९८ ॥
भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽबला ।

घिरी रोती हुई हमारी सासने पाण्डवोंसे यों कहा, हाय मैं मरी अब कैसे शान्ति होगी, मैं अनाथ बालक पुत्रोंके संग यहीं नष्ट हो जाऊंगी ! (८६–९१)

वहां महाबाहु वायुके समान वेग और बलवाले भीमने कुन्ती और भाइयोंको आश्वास दिया और कहा, कि जैसे उडने वाले पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड उडता है, वैसे ही मैं भी उड जाऊंगा; आप लोगोंको कुछभी भय नहीं है; तब कुन्तिको बांई गोदमें राजाको दहनीमें नकुल और सहदेवको कन्धोंपर तथा अर्जुनको पीठ पर चढाकर सबके समेत एकबार उडकर बलवान भीमने भाई और माताको आगसे बचाया (९१—९५)

तब यशस्वी पाण्डवलोग अपनी माताके संग वहांसे रातको चले, तो महाघोर वनमें पहुंचे जो हिडम्ब राक्षसका घर था, वहां वे थकी हुई दुःखिनी माताके समेत सो रहे थे; सोते हुओंके पास हिडम्बानाम्नी राक्षसी आयी, उसने माताके संग पृथिवीमें सोते पुत्र पाण्डवों को देखकर कामसे पराजित होके भीमको पति करनेकी कामना करी, तब

पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥ ९९ ॥
तामबुध्यदमेयात्मा बलवान्सत्यविक्रमः ।
पर्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते१००॥
एवमुक्ता तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी ।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ॥ १०१ ॥
पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्यवान् ।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद्गच्छत मा चिरम् १०२॥
अथ भीमोऽभ्युवाचैनां साभिमानमिदं वचः ।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ॥ १०३॥
तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद्राक्षसाधमः ।
भीमरूपो महानादान्विसृजन्भीमदर्शनः ॥१०४॥
राक्षस उवाच— केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममाऽन्तिकम् ।
हिडिम्बे भक्षयिष्यामो न चिरं कर्तुमर्हसि १०५॥
सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।
नैवमैच्छत्तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥ १०६ ॥
स नादान्विनदन्घोरान्राक्षसः पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥ १०७ ॥

कल्याणी अबला हिडिम्बाने भीमके चरण अपनी गोदमें लेकर प्रसन्न होकर कोमल हाथोंसे दबाया।(९५—९९)

तब सत्य-पराक्रम भीमने जागकर उससे पूंछा, हे अनिन्दिते! तुम क्या चाहती हो? भीमसेनके यह वचन सुन करके अनिन्दिता कामरूपिणी राक्षसी बोली, कि हे बलवान्! मेरा भाई तुम लोगों को मारने आता है; अतएव शीघ्रही यहांसे भाग जाइये;अनन्तर भीमने राक्षसीसे अभिमान सहित कहा,कि मैं उससे नहीं डरता, यदि वह लडेगा, तो अभी मार डालूंगा। इन दोनोंकी वार्तालाप सुनकर राक्षसोंमें नीच और भयानक घोररूपी महाशब्द करता हुआ हिडिम्ब वहां आया। (१००-१०४)

राक्षस बोला, हे हिडिम्बे! तू किसके सङ्ग बात करती है, इसको मेरे घरमें ले आ। हम इसको खायंगे, तू विलम्ब मत कर। उस अनिन्दित नेत्रवाली मनस्विनी ने हृदयके कृपावश होनेके कारण मोहसे इनको बन्धन करनेकी इच्छा नहीं की। तब मनुष्यभक्षी घोर शब्द करता हुआ वह वेगसे भीमसेनकी ओर दौडा, क्रोध

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली ।
अगृह्णात्पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः १०८॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत्सहसा करम् ॥१०९॥
गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा ।
नाऽमृष्यत महाबाहुस्तत्राऽक्रुध्यद् वृकोदरः११० ॥
तदासीत्तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ १११ ॥
विक्रीड्य सुचिरं भीमो राक्षसेन सहाऽनघ ।
निजघान महावीर्यस्तं तदा निर्बलं बली ॥ ११२ ॥
हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ११३॥
ततः संप्राद्रवन्सर्वे सह मात्रा परन्तपाः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥ ११४॥
प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहिते रतः ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः११५॥
तत्राऽप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव संमितम् ॥ ११६ ॥

में भरा हुआ बली राक्षसने महावेगसे दौडकर भीमका हाथ पकड लिया । इन्द्र के वज्रके समान स्पर्शवाला, वज्रके समान दृढ हाथका मुका बांधकर उसने भीमसेन को मारा । (१०५–१०९)

भीमने जब अपना हाथ राक्षसके हाथमें देखा,तो क्षमा न करी और महाक्रोध किया । तब सब शास्त्र जाननेवाले भीम और हिडम्बका वैसाही घोरयुद्ध हुआ जैसा इन्द्र और वृत्रासुरका भया था । हे पापरहित ! इस प्रकार राक्षसके सङ्ग बहुत समय पर्यन्त बली भीमने क्रीडा करके उस निर्बलको मारा, हिडंब को मारके भाइयोंके समेत हिडिम्बा को आगे कर भीमसेन वहांसे चले; आगे हिडिंबासे घटोत्कचका जन्म हुआ। तब यह सब परन्तप पाण्डव लोग माता के और ब्राह्मण समूहके साथ एकचक्रापुरीको चले । (११०—११४)

मार्गमें इनके मन्त्री प्रिय चाहनेवाले व्यास मिले; तब यह व्रतधारी पाण्डव एकचक्रापुरीको गये; वहां भीमकी महा-

तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतांवरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥ ११७ ॥
लब्धाऽहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ११८॥
एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताऽहं मधुसूदन ।
स्वयंवरे महत्कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ॥ ११९ ॥
एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता ।
निवसाम्यार्यया हीना कृष्ण धौम्यपुरःसरा ॥१२०॥
त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाऽभ्यधिकाः परैः ।
निहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्ति मां कथम् १२१॥
एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम् ।
दीर्घकालं प्रदीप्तास्मि पापानां पापकर्मणाम् ॥१२२॥
कुले महति जाताऽस्मि दिव्येन विधिना किल।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः १२३
कचग्रहमनुप्राप्ता साऽस्मि कृष्ण वरा सती।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ॥ १२४ ॥
इत्युक्त्वा प्रारुदत्कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना ।

बलवान् बकासुरसे भेट भई। उस मनुष्य भक्षक भयानक हिडम्बके समान राक्षस को मारनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमने मार कर भाईयोंके सङ्ग द्रुपदपुरको गमन किया। वहां निवास करते हुए अर्जुनने औरोंसे न करने योग्य कर्मको करके मुझे प्राप्त किया। हे कृष्ण ! जैसे तुमने युद्धमें भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीको जीता, तैसेही अर्जुनने मुझे स्वयंवरके महायुद्धमें जीता। (११५—११९)

हे मधुसूदन! इस प्रकार बहुत क्लेशोंसे क्लेशित होकर मैं अपनी सासमे रहित होकर धौम्यके सहित वनमें बास करती हूं। यह सिंहके समान पराक्रमी होनेपरभी वैरियोंसे अधिक बलवान् तथा हीन पुरुषोंके समान क्यों दुःखी हो रहे हैं और मुझे इस दशामें देख रहे हैं ? ऐसे ऐसे महादुःखोंको दुर्बल और पापियोंसे पाकर मैं बहुत समयसे दुःखी हो रही हूं। मैं दिव्यविधिसे महाकुलमें उत्पन्न भई हूं;पाण्डवोंकी प्यारी स्त्री और महात्मा पाण्डुकी बहू हूं,हे कृष्ण!मैं ऐसी श्रेष्ठ होनेपरभी इन्द्र समान पांच पाण्डवोंके देखते अन्य पुरुष द्वारा पकडके खींची गयी। (१२०-१२४)

पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥ १२५ ॥
स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुबिन्दुभिः ॥१२६॥
चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः ।
बाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥१२७॥
नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः ।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ॥ १२८॥
ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत् ।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत्प्राहसत्तदा॥१२९॥
चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्याऽस्मि नित्यशः।
संबन्धाद्गौरवात्सख्यात्प्रभुत्वेनैव केशव ॥ १३० ॥
वैशम्पायन उवाच— अथ तामब्रवीत्कृष्णस्तस्मिन्वीरसमागमे॥ १३१ ॥
वासुदेव उवाच— रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धाऽसि भाविनि ।
बीभत्सुशरसंछन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान् १३२॥
निहतान्वल्लभान्वीक्ष्य शयानान्वसुधातले ।
यत्समर्थं पाण्डवानां तत्करिष्यामि मा शुचः१३३॥

ऐसा कहकर द्रौपदी अपने पद्म सदृश कोमल हाथसे मुखको छिपाकर रोने लगी; अपतित पीन शुभलक्षणयुक्त स्तनोंको आंसुओंसे भिगोने लगी । आंखोंको पोंछती हुई बार बार सांस लेती हुई आंसुओंसे पूर्ण कण्ठसे क्रुद्ध द्रौपदी ऐसी बोली,मेरे न पति हैं, न पुत्र हैं,न बान्धव हैं, न भाईलोग हैं, न पिता हैं, और हे कृष्ण ! तुमभी नहीं हो; जो आप लोग शोक रहित हैं, और मेरे दुःखकी उपेक्षा कर रहे हैं । क्षुद्रलोग मेरा अपमान करते हैं और कर्णने तो मेरी हंसी उडाई । सो मेरा दुःख शान्त नहीं होता । हे केशव ! हे कृष्ण ! मैं आपसे चार हेतु करके रक्षा करने योग्य हूं । प्रथम तो संबन्धसे, दूसरे बडेपनसे, तीसरे सखीभावसे, चौथे तुम प्रभु हो, इससे । (१२५–१३०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर उस वीर समागममें श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा । (१३१)

श्रीकृष्णजी बोले, भाविनि ! तुम जिन पर क्रुद्ध भई हो, उनकी स्त्रीयांभी अपने पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे घेरे, रुधिर-से भरे हुए पृथिवीमें सोये, मरे हुए देखकर ऐसेही रोवेंगी । पाण्डवलोग जो कुछ कर सकते हैं, सो हम करेंगे; तुम

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत्पृथिवी शकलीभवेत्॥ १३४ ॥
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।
तच्छ्रुत्वा द्रौपदीवाक्यं प्रतिवाक्यं तथाऽच्युतात्१३५॥
साचीकृतमवैक्षत्सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।
आबभाषे महाराज द्रौपदीमर्जुनस्तदा ॥ १३६ ॥
मा रोदीः शुभताम्राक्षि यथाऽऽह मधुसूदनः ।
तथा तद्भविता देवि नाऽन्यथा वरवर्णिनि ॥ १३७ ॥
धृष्टद्युम्न उवाच— अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनञ्जयः ॥ १३८ ॥
रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः ।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजैः ॥ १३९ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपस्थिताः ।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् १४०॥ [६०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यके पर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वासुदेव उवाच—नैतत्कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान्स्याद्वसुधाधिप ।

सोच मत करो; हम सत्य कहते हैं, तुम राजराणी होगी; चाहे आकाश गिर जाय, भूमि खण्ड खण्ड हो जाय अथवा समुद्र सूख जाय, परन्तु मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा। द्रौपदीने कृष्णका यह उत्तर सुनकर अपने मध्यम पति अर्जुनको तिरछी दृष्टिसे देखा, तो अर्जुनने द्रौपदीसे कहा, हे उत्तम लाल नेत्रवाली तू मत रोओ। हे उत्तमवर्णवाली! जो श्रीकृष्णने कहा है, सो वैसाही होगा; अन्यथा कुछभी नहीं होगा। (१३२-१३७)

धृष्टद्युम्न बोले, कि हे बहन! मैं द्रोणाचार्यको मारूंगा, शिखण्डी भीष्मका नाश करेंगे, दुर्योधनको भीमसेन, कर्णको अर्जुन मारेंगे, हम बलराम और श्रीकृष्णकी सहायतासे युद्धमें इन्द्रसेभी अजेय हैं, तब धृतराष्ट्रके पुत्र क्या वस्तु हैं। (१३८—१३९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, जब धृष्टद्युम्नने ऐसा कहा, तो सब वीरलोग श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे। अनन्तर वीरोंके मध्यमें महाबाहु श्रीकृष्ण ऐसा बोले। (१४०) [६०३]

वनपर्वमें बारह अध्याय समाप्त।

यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन्सन्निहितः पुरा ॥ १ ॥
आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ॥ २ ॥
वारयेयमहं द्यूतं बहून्दोषान्प्रदर्शयन् ।
भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ॥ ३ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ।
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ॥ ४ ॥
तत्राचक्षमहं दोषान्यैर्भवान्व्यतिरोपितः ।
वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात्प्रभ्रंशितः पुरा ॥ ५ ॥
अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते ।
सातत्यं च प्रसंगस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्कामसमुत्थितम् ।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः ।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥
एकाह्नाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च ।

वनपर्वमें तेरहं अध्याय ।

श्रीकृष्ण बोले, हे महाराज युधिष्ठिर! यदि मैं उस समय द्वारिकामें होता, तो आपको यह कष्ट न होता। मैं अम्बिका-पुत्र धृतराष्ट्र और दुर्योधनके न बुलाने-परभी अवश्य द्यूत स्थानमें पहुंचता। हे दुर्द्धर्ष! मैं अनेक दोष दिखाकर जुएको न होने देता। भीष्म,द्रोणाचार्य,कृपाचार्य, बाह्लीक,और महाराज विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्रसे कहता, कि हे कौरव! यह जुआ व्यर्थ है। हे प्रभो! यह तुम्हारे और तुम्हारे पुत्रोंके योग्य नहीं है;मैं वहां यहभी सब दोष दिखाता, जिनमें इस समय आप पडे हैं,और वे दोषभी मैं दिखाता, जिनसे पहले समयमें वीरसेनके पुत्र (नल) राज्यसे नष्ट हुए थे। हे राजन्! जुएमें अवश्यही विनाश हो जाता है। मैं सब दोष अविच्छिन्न रूपसे यथायोग्य कहता हूं। (१-६)

यह चार दोष कामसे उत्पन्न होते हैं, स्त्रियोंमें अति प्रसक्ति,जुआ,मद्यपान,और मृगया, (शिकार) यह चारोंही महादुःखदायी हैं,क्योंकि इनसे पुरुष लक्ष्मीहीन हो जाता है। यद्यपि शास्त्रदर्शी महात्मा इन चारों ही को दोषस्थान कहते हैं, तथापि विशेषकर जुएको बुरा

अभुक्तनाशश्चाऽर्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ९ ॥
एतच्चाऽन्यच्च कौरव्य प्रसङ्गि कटुकोदयम् ।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याऽम्बिकासुतम् १०॥
एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद्वचनं मम ।
अनामयं स्याद्धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ॥ ११ ॥
न चेत्स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १२ ॥
अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥ १३ ॥
असान्निध्यं तु कौरव्य ममाऽऽनर्तेष्वभूत्तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥ १४ ॥
सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद्यथायथम् ॥ १५ ॥
श्रुत्वैव चाऽहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशांपते ॥१६॥
अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ।
योऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ॥१७॥ [६२०]

इति श्री० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

कहते हैं, क्योंकि इसमें एकही दिनमें सब द्रव्य नाश हो जाता है, और उसमें राज्यभ्रंशादिभी अवश्यही हो जाता है, तथा इसमें विना भोग कियेही धनका नाश होता है। हे कौरव्य ! हे महाबाहो! इत्यादि अनेक कडुवी बात जुएमें प्रसंग होनेपर मैं अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रसे कहता, हे कुरुवर्द्धन ! मेरी इन बातोंको यदि वह मानते तो कुरुवंशमें कल्याणवृद्धि होती और धर्म होता। हे राजेन्द्र ! यदि वह मेरे पथ्यके समान मीठेवचनको न मानते तो उनको बलसे दण्ड देता। (७-१२)

हे भरतश्रेष्ठ ! इनके लडनेके समय यदि इनके दुष्टात्मा मित्रलोग और दुष्ट सभासद आते, तो उन दुष्कर्मियोंकोभी मैं मार डालता; हे कौरव्य ! उस समय मैं आनर्त देशियोंके समीप नहीं था; अतएव आपलोग इस जुएके महादोषमें पड गये, हे कुरुश्रेष्ठ ! हे पाण्डुनन्दन ! जब मैं आया, तो सात्यकीसे यह सब वृत्तान्त सुना, हे राजेन्द्र ! मैं सुनतेही अत्यन्त उद्विग्नचित्त होकर आपको देखनेकी

युधिष्ठिर उवाच—असान्निध्यं कथं कृष्ण तवाऽऽसीद्वृष्णिनन्दन ।
क्व चासीद्विप्रवासस्ते किं चाऽकार्षीः प्रवासतः ॥ १॥

कृष्ण उवाच— शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ॥ २ ॥
महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः ।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥३ ॥
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति ।
स रोषवशमापन्नो नाऽमृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
उपायाद् द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत॥ ५ ॥
स तत्र योधितो राजन्कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमारुह्यैव नृशंसवत् ॥ ६ ॥
ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान्बालान्हत्वा बहूंस्तदा ।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ॥ ७ ॥

इच्छासे बहुत शीघ्र यहां चलाआया । हे भरतर्षभ! हे महाराज ! हम महादुःखमें पडे हैं, क्योंकि हम भाइयोंके समेत आप को इस दुःखमें देख रहे हैं । (१३-१७)

वनपर्वमें तेरह अध्याय समाप्त । [६२०]

वनपर्वमें चौदह अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, कि हे वृष्णिनन्दन कृष्ण ! तुम द्वारिकामें क्यों नहीं थे, तुम किस परदेशको गये थे और उस परदेशमें तुमने क्या कार्य किया । (१)

श्रीकृष्ण बोले, कि हे भरतर्षभ ! हे कौरवश्रेष्ठ ! शाल्वको मारनेके अर्थ मैं उसके सौभपुरमें गया था । इसका कारण यह हुआ, कि पूजाके निमित्त आपके राजसूय यज्ञमें मैंने महातेजस्वी महाबाहु महायशस्वी दमघोषके पुत्र वीर राजा शिशुपालको मारा था;सो शाल्वराजा उस क्रोधको शान्त नहीं कर सका;वह दुरात्मा क्रोधके वश में होकर क्षमा न कर सका। हे भारत ! जब मैं आपके पास आया था, तब उस ने शिशुपालका मरना सुनकर क्रोधके वशमें होकर शून्य द्वारका को घेर लिया, जब निर्लज्जके समान अपने सौभपुरको (यह नगर उत्तम प्रकाशमान धातुओंसे बना था और आकाशमें घूम सकता था) लेकर द्वारिकामें आया तो वृष्णिवंशी राजकुमारोंने उससे युद्ध किया । तब उस दुर्मतिने उन बालक वृष्णिवंशियोंको मारकर नगरके उपवनोंको सब ओर नाशकर दिया।(२-७)

उक्तवांश्च महाबाहो क्वाऽसौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥
तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयिताऽस्म्यहम् ।
आनर्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्ताऽस्मि यत्र सः ९॥
तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम् ।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनाऽऽयुधमालभे ॥ १० ॥
क्वाऽसौ क्वाऽसाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति ।
मया किल रणे योद्धुं कांक्षमाणः स सौभराट् ११॥
अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद्गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥
मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः ।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीतले ॥ १३ ॥
भ्राता बालश्च राजा च न च सङ्ग्राममूर्धनि ।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥
एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः ।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ॥१५॥
तमश्रौषमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः ।

हे महाबाहो । तब उसने कहा, कि वह दुष्टबुद्धि वसुदेवका पुत्र, वृष्णिकुलका अधम कृष्ण कहां है ? मैं उस युद्धकी इच्छावालेका अभिमान युद्धमें नाश करूंगा । हे आनर्त्तलोगो । तुम सत्य कहो, वह जहां होगा, मैं वहीं जाऊंगा, उस कंस और केशीके मारने-वालेको मारकर लौटूंगा । मैं सत्यकर शस्त्र धारण करता हूं; कि उसे विना मारे कदापि न फिरूंगा । "वह कहां है, वह कहां है" ऐसे कहता हुआ सौभका राजा मुझसे युद्ध करनेकी इच्छासे इधर ऊधर दौडने लगा और कहने लगा, कि आज उस पापी विश्वासघाती, क्षुद्र, शिशुपालके मारनेके क्रोधसे भरा हुआ कृष्णको मैं यमके घरको भेजूंगा । जिस पाप स्वभाववालेने मेरे भाई राजा शिशुपालको मारा है, आज मैं उसको मारूंगा। जिस कृष्णने मेरे भाई बालक वीर प्रमत्त राजा शिशुपाल को विना युद्धके मारा, मैं भी उसे मारूंगा । (८-१४)

हे राजन् ! वह इस प्रकारसे कहता हुआ, इच्छानुसार चलनेवाले नगरके सहित मुझे गाली देता हुआ, आकाशको

मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ॥१६॥
ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुलमानसः ।
निश्चित्य मनसा राजन्वधायाऽस्य मनो दधे॥ १७॥
आनर्तेषु विमर्द च क्षेपं चाऽऽत्मनि कौरव ।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥
ततः सौभवधायाऽहं प्रतस्थे पृथिवीपते ।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत्परीप्सता ॥ १९ ॥
ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप ।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥
तन्मुहूर्तमभूद्युद्धं तत्र मे दानवैः सह ।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥
एतत्कार्यं महाबाहो येनाऽहं नाऽगमं तदा ।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाऽविनयोत्थितम् ॥
द्रुतमागतवान्युष्मान्द्रष्टुकामः सुदुःखितान् ॥२२॥ [६४२]

इति श्रीमहा० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच– वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते ।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥१॥

चला गया। हे कौरव्य ! जब मैं आपके पाससे गया, तो उस दुर्बुद्धि "मार्तिकावत" देशी दुष्टात्मा राजा शाल्वने जो मेरे लिये किया था, सो सब सुना। हे कौरव्य! तब मैं भी क्रोधसे व्याकुल होकर निश्चय करके उसके मारनेका विचार करने लगा। मैं आनर्त देशका विनाश, अपना निरादर उस दुष्कर्मीका बढा हुआ अभिमान,यह सब विचार कर हे पृथिवीनाथ! सौभके नाश करनेको चला। (१५-१८)

हे नरनाथ! मैंने जाकर उसे समुद्रके द्वीपमें देखा। तब मैंने पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया और शाल्वको युद्धमें बुला कर मैं स्थित हुआ। तब उन दानवों और मुझसे मुहूर्त भर युद्ध हुआ। तब मैंने सबको वशमें कर लिया और पृथिवीमें गिरा दिया। हे महाबाहो! इसही कारणसे मैं अन्यायमय द्यूतके समयमें हस्तिनापुरमें नहीं आ सका और न आप लोगोंको दुःखी सुनकर शीघ्रतासे पहुंच सका। (१९-२२)

वनपर्वमें चौदह अध्याय समाप्त । [६४२]

वनपर्वमें पन्दरह अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे वसुदेवनन्दन ! हे महाबाहो ! हे महामते ! इस बातको

वासुदेव उवाच— हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप ।
उपायाद्भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥
अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन ।
शाल्वो वैहायसं चापि तत्पुरं व्यूह्यधिष्ठितः॥ ३ ॥
तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम् ।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्तत ॥ ४ ॥
पुरी समन्ताद्विहिता सपताका सतोरणा ।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥ ५ ॥
सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा ।
सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥ ६ ॥
सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरिपणवानका ।
सतोमराङ्कुशा राजन्सशतघ्नीकलाङ्गला ॥ ७ ॥
सभुशुण्ड्यश्मगुडका सायुधा सपरश्वधा ।
लोहचर्मवती चाऽपि साग्निः सगुडशृङ्गिका ॥ ८ ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयुक्ता भरतर्षभ ।

आपसे सुननेसे मेरी तृप्ति नहीं होती है,अत एव सौभवधको विस्तार पूर्वक कहिये।(१)

श्रीकृष्ण बोले हे भरतश्रेष्ठ! हे महाबाहो! हे नरनाथ! मैंने शिशुपाल को मारा ऐसा सुनकर शाल्व द्वारिकाको आया। हे पाण्डुनन्दन! उस दुष्टात्माने पुरीको घेर लिया और आकाशको भी व्यूह रचना करके घेर लिया। और आकाशमें स्थिर होकर जहां युद्ध हो,वहीं जाकर उस नगरमें युद्ध करने लगा। (२-४)

ध्वजा, तोरण (बनाये द्वार) युक्ता-नगरीको सब ओरसे घेर लिया। योद्धाओंके रहनेके स्थान, [विष्ठा और मूत्र त्याग करनेके घर] हुडास(बुर्ज), यन्त्र (कल) सुरङ्ग खोदनेकी शस्त्र, लोहेके कटहरे लगी सडकैं, अटारी, नगरके द्वार, चक्रग्रहणी, (जहांसे लडनेको रहती है, मोर्चा) अग्निसमेत लूक, अवपोथिका, (शत्रुओंके मारनेको पत्थर और काष्ठ जहां रखे जाते हैं) कुप्पियोंके स्थान, भेर, पणवानक (बाजा) तोमर, अंकुश, शतघ्नी, (तोप) लांगल,भुशुंडी (शस्त्र-विशेष) पत्थर और गुडके स्थान (जहां गुड रहता है, और शत्रुओंके आनेपर उसे तापकर उनके ऊपर डालते हैं) शस्त्र परश्वध, लोहा, चमडा, ढाल, आग्नेय औषध सहित गुडके गोलोंसे पूर्णशृङ्ग। साम्ब, गद और उद्धव करके

रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ ९ ॥
पुरुषैःकुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिवारणे ।
अतिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥
मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता ।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥ ११ ॥
आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै ।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥
प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः ।
इति कृत्वा प्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः१३॥
आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायनाः ।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसंचयम् ॥ १४ ॥
संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः ।
परिखाश्चाऽपि कौरव्य कीलैः सुनिचिताः कृताः१५ ॥
उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाऽप्यम्बरीषकाः ।
समन्तात्क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः॥ १६ ॥
प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम् ।

युद्धशास्त्र विधिके अनुसार अनेक रथ सहित रथशाला, हे कुरुशार्दूल ! अति विख्यात वंश, शत्रुओंको निवारण करनेमें समर्थ, युद्धमें प्रकाश बली पुरुष, इन वस्तुओंके सहित द्वारिकाको शाल्वने घेर लिया । मध्य गुल्म (जहां बैठ कर चारों ओरके शत्रुओंको देख और उनसे लड सकें) के रक्षा करनेवालोंसे रक्षित शत्रुओंके गुल्मको भगानेके स्थानों सहित पुरीको घेर लिया ।(५—११)

उसही समय प्रमादसे रक्षा करनेवाले, उग्रसेन और उद्धवादिने पताका-सहित घोडोंपर पुरुषोंको चढाकर यह घोषणा दिलादी,कि राजा शाल्व मतवारोंको मार डालेगा। अतएव कोईभी पुरुष सुरा (मद्य) न पीये । यह सब कर के वृष्णी और अन्धकवंशी अप्रमत्त हाकर स्थिर हुए । तब धनकी रक्षा करनेवालोंने आनर्त देशवासी पुरुष नट, (नाटक करनेवाले)नाचनेवाले, गानेवाले, पुरुषोंको शीघ्रही नगरसे बाहर बसनेकी आज्ञा देदी । सब पुल तोड दिये, नावोंको रोक दिया, नहरके फाटकोंको कीलोंसे दृढकर दिया । हे कुरुश्रेष्ठ ! एक कोश पर्यंत कुए और बावडीभी कीलोंसे दृढकर दीं और भूमि नीची उंची

प्रकृत्या चाऽऽयुधोपेतं विशेषेण तदाऽनघ ॥ १७ ॥
सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत्पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ॥ १८ ॥
न चाऽमुद्रोऽभिनिर्याति न चाऽमुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥ १९ ॥
अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २० ॥
दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ॥ २१ ॥
न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चाऽतिक्रान्तवेतनी ।
नाऽनुग्रहभृतः कश्चिन्न चाऽदृष्टपराक्रमः ॥ २२ ॥
एवं सुविदिता राजन्द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ॥ २३ ॥ [६६५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

वासुदेव उवाच—तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १ ॥

करदी । (११—१६)

एक तो द्वारिका स्वभाव ही से कठिन और सुरक्षित शस्त्रसहित थी, परन्तु हे अनघ ! उस समय सभी सुरक्षित गुप्त, और शस्त्रोंके सहित ऐसी शोभित हुई, जैसा इन्द्रका स्थान; विना मुद्राके (चिह्न वा पत्र) न कोई नगरमें जा और न कोई बाहर निकल सकता था, हे राजन्! उस सौभपतिकी चढाई में द्वारिकाकी छोटी गलियोंमें चौंतरोंपर हाथी घोडेसे सेना पूरित हो गई ! वेतन, भोजन, शस्त्र, वस्त्र प्राप्त करके सब सेना यथोचित सन्नद्ध हो गई, हे महाभुज ! उस सेनामें कोई छोटे वेतनवाला, कोई अति कम वेतनी, न कोई अनुग्रहसे युद्ध करनेवाला था, न कोई ऐसा था, कि जिसका बल देखा न गया हो। हे राजन् ! हे कमल नेत्र ! उस समय द्वारिका अनेक कुशल पुरुषोंसे रक्षित हुई । (१७–२३) [६६५]

वनपर्वमें पन्द्रह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें सोलह अध्याय ।

श्रीकृष्ण बोले, हे राजेन्द्र ! उस नगरीमें सौभपति शाल्वराजाने हाथी घोडेयुक्त महासेना लेकर प्रवेश किया । उस

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ॥ २ ॥
वर्जयित्वा स्मशानानि देवतायतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद्बलम् ॥ ३ ॥
अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृताऽभवन् ।
प्रवणाय च नैवाऽऽसञ्छाल्वस्य शिबिरे नृप॥४ ॥
सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्वकलिलं पदातिध्वजसंकुलम् ॥ ५ ॥
तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥ ६ ॥
संनिवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥ ७ ॥
तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥८॥
असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ९ ॥
ते रथैर्दंशिताः सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।

समय हमारे महासमुद्रमें शाल्व राजाकी हाथी, घोडे, रथ, और पदाति संयुक्त सेनाने प्रवेश किया। स्मशान, देवतोंके स्थान, वनई, (बिल आदि) और चैत्य वृक्ष, इनको छोडकर और सब स्थानोंमें सेना पूरी हो गई, सेनाके छोटे छोटे टु-कडोंसे बडे बडे मार्ग बन्द हो गये, हे नरनाथ, शाल्वके शिबिर (सेना निवास वा कैंप) में गुप्तरीतिसे प्रवेश करनेकी किसीको सामर्थ न हुई। (१—४)

हे कौरव ! हे भरतर्षभ ! सब शास्त्रों-से संयुक्त, सब शस्त्रनिपुण, रथ, घोडे, हाथी, पैदलोंसे पूर्ण पताकायुक्त, सन्तुष्ट, बली पुरुषसहित लक्षणयुक्त विचित्र झण्डे और कवचयुक्त विचित्र रथ, विचित्र धनुषयुक्त सेनाको शाल्वने जैसे वेगसे गरुड दौडता है तैसेही नगरकी ओर चलाया। जब उस शाल्वकी सेनाको नगरकी ओर आता देखा, तो वृष्णिवंश के कुमार निकलकर युद्ध करने लगे; हे कौरव ! शाल्व राजाके उस वेगको न सहकर चारुदेष्ण, साम्ब और महा-रथ प्रद्युम्न यह लोग सन्नद्ध हो रथोंपर चढकर विचित्र आभूषण और ध्वजा

संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥ १० ॥
गृहीत्वा कार्मुकं साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ ११ ॥
तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमोच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥ १२ ॥
तद्बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ॥ १३ ॥
ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥ १४ ॥
ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याऽभ्यवर्षत ॥ १५ ॥
ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥ १६ ॥
तस्मिन्विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याऽथ चमूपतौ ।
वेगवान्नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद्बली ॥ १७ ॥
अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥ १८ ॥

धारण करके शाल्वके अनेक योधोंसे युद्ध करने लगे; साम्ब धनुषको धारण करके शाल्वके सेनापति मन्त्री क्षेमवृद्धिसे प्रसन्न होकर युद्ध करने लगे।९-११

हे भरतश्रेष्ठ ! जांबवतीके पुत्रने उसपर ऐसी बाण वर्षा करी, जैसे इन्द्र जल वर्षाता है। हे महाराज ! उन महा बाणोंकी वर्षाको क्षेमवृद्धि सेनापति ऐसे निपुणतासे सहने लगा जैसे महावर्षाको हिमाचल सहता है। हे राजेन्द्र ! तब क्षेमवृद्धि सेनापतिने साम्बके प्रति मायाके समेत महाशर छोडा। अनन्तर सांबने उसके मायामय शरजालको माया हीसे विदीर्ण किया और उसके रथपर सहस्र बाण छोड दिये।जब क्षेमवृद्धि सेनापति उनके बाणोंसे विद्ध हुआ, तो तेज घोडोंके रथसे युद्धको छोडकर भाग गया। (१२—१६)

जब शाल्वका क्रूर सेनापति भाग गया, तो बलवान् वेगवान् नामक दैत्य मेरे पुत्र साम्बके आगे उपस्थित हुआ। हे राजेन्द्र ! जब वृष्णिवंशी साम्बको वेगवानने युद्धमें लक्ष किया, तो वीर साम्ब उसके बाणोंके वेगको धारण कर स्थिर

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविध्य सत्यविक्रमः ॥१९॥
तया त्वभिहतो राजन्वेगवान्न्यपतद्भुवि ।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥२०॥
तस्मिन्विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥२१॥
चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥ २२ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन्यथा पूर्वं तथाऽभवत् ॥ २३ ॥
अन्योन्यस्याऽभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान्सिंहाविव महाबलौ ॥ २४ ॥
रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ॥ २५ ॥
स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।
चिक्षेप मे सुतो राजन्स गतासुरथाऽपतत् ॥ २६ ॥
विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।

रहा; हे कुन्तिपुत्र युधिष्ठिर ! तब सत्य-पराक्रम, वीर साम्बने शीघ्रतासे वेगवती गदाको घुमाकर वेगवान् को मारा, तब उसके लगनेसे वेगवान् मरकर पृथिवीपर ऐसा गिरा जैसे वायुके लगनेसे जड उख-डकर वृक्ष गिरता है। (१७—२०)

उस महाअसुर वीरको भयानक गदासे मारकर मेरे पुत्रने उस महासेनामें घुस-कर महा युद्ध किया। हे राजन् ! चारु-देष्णके संग शाल्व की आज्ञासे महारथ महाधनुर्धारी, विविंध्यनामक राक्षस युद्ध करने लगा। उस समय चारुदेष्ण और विविंध्यका ऐसा घोर युद्ध हुआ, जैसा पहले समयमें वृत्रासुर और इन्द्रका हुआ था। वे दोनों परस्पर एक दूसरेको क्रुद्ध होकर बाणोंसे काटने लगे, महा बलवान् सिंहोंके समान दोनों गर्जने लगे; तब रुक्मिणीनन्दन चारुदेष्णने अग्नि और सूर्यके समान तेजवाले शत्रु नाशक बाणको महास्त्र मन्त्रसे अभिम-न्त्रित करके धनुषपर चढाया। (२१-२५

हे राजन् ! महावीर चारुदेष्णने उस बाणको चढाकर क्रोधमें भर विविंध्यको ललकारके उसको मारा। विविंध्य उसके

कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ २७ ॥
ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद्बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ॥२८॥
ततो निर्याय कौरव्य अवस्थाप्य च तद्बलम् ।
आनर्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥२९॥
सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात्सौभं सराजकम् ॥ ३० ॥
अयं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजाविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ॥ ३१ ॥
आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाऽभिपन्नो दुष्टात्मा स सौभो विनशिष्यति ३२॥
एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
धिष्ठितं तद्बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ॥ ३३ ॥ [६९८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यारण्यके पर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच— एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान्भरतर्षभ ।

लगनेसे प्राणरहित होकर पृथिवीमें गिर पडा। विविंध्यको मरा और सेनाको घबराई हुई देखकर शाल्व मनोगामी सौभपर चढकर स्वयं ही आया। हे नरनाथ! सौभपर आरूढ शाल्वको देखकर द्वारिकाकी जितनी सेना थी, सबही व्याकुल होगयी, हे कौरव्य! हे महाराज! तब प्रद्युम्नने निकल कर और यादवोंकी उस सेनाको स्थिर करके ऐसा कहा। आप सब लोग खडे रहिये, देखिये मैं राजाके समेत सौभका युद्धमें निवारण करता हूं। (२६–३०)

हे यादवो! मैं शाल्वकी सेनाको सभी धनुषको कुटिलतासे छूटे लोहेके सर्पोंके समान बाणोंसे नाशकर देता हूं। आप लोग स्वस्थ हूजिये, डर मत कीजिये; शाल्व अभी मर जाता है, मुझसे लडकर यह दुष्टात्मा सौभके सहित नष्ट हो जायगा। हे वीर पाण्डुनन्दन! जब प्रद्युम्नने प्रसन्न होकर ऐसा कहा, तो सब सेना स्थिर हुई और सुखपूर्वक युद्ध करने लगी। (३१-३४) [६९८]

वनपर्वमें सोलह अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सतरह अध्याय।

श्रीकृष्ण बोले, कि हे भरतकुलसिंह! रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न यादवोंसे ऐसा कह-

दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ॥ १ ॥
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवाऽन्तकम् ।
उत्पतद्भिरिवाऽकाशं तैर्हयैरन्वयात्परान् ॥ २ ॥
विक्षिपन्नादयंश्चापि धनुःश्रेष्ठं महाबलैः ।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधांगुलित्रवान् ॥ ३ ॥
स विद्युच्छुरितं चापं विहरन्वै तलात्तलम् ।
मोहयामास दैतेयान्सर्वान्सौभनिवासिनः ॥ ४ ॥
तस्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चाऽसकृत् ।
नाऽन्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान्रणे ॥ ५ ॥
मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य ।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्र्यम् ६ ॥
जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी ।
वित्रासयन्राजति वाहमुख्ये शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः ७ ॥
ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः ।
शाल्वमेवाऽभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप ॥ ८ ॥
अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे ।

कर सन्नद्ध घोडोंसे युक्त सुवर्णमय रथपर चढकर मुँह फुलाये यमराजके समान मत्स्य सहित ध्वजायुक्त, मानो आकाशको जाते हैं, ऐसे घोडोंसहित रथपर चढकर शत्रुकी सेनाके आगे आये। वीर प्रद्युम्न अपनी धनुषको शत्रुओंको दिखाते हुए बलसे टङ्कारध्वनि करते हुए कवच खड्ग हाथ और अंगुलियोंमें लोहेके रक्षाजाल धारण किये बिजली समान धनुष दहनी बांई ओर घुमाते हुए समस्त सौभवासी दैत्यगणको मोहित करने लगे। (१–४)

उस समय शत्रुओंको मारते हुए प्रद्युम्न कब धनुषपर बाण चढाते हैं, कब खींचते हैं, और कब छोडते हैं, इन सब बातोंको कोईभी नहीं जान सकता था, न इनके मुखका कुछ रंग बदला और न शरीर चलायमान हुआ, केवल सिंहके समान इनका पराक्रमभरा शब्द सबलोग सुनते थे। रथके ऊपर सब मछरिओंमें मुख्य मत्स्य मुखफैलाए हुए ध्वजामें लगा हुआ सोनेके दण्डसे बंधा शाल्वकी सेनाको डराता हुआ शोभा देने लगा; तब युद्धकी इच्छायुक्त प्रद्युम्न वेगसे शाल्वहीके आगे युद्ध करनेको उपस्थित हुए। (५–८)

नाऽमर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ॥ ९ ॥
स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥
तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥ ११ ॥
तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः ।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः सतूणवान् ॥ १२ ॥
स तं रथवरं श्रीमान्समारुह्य किल प्रभो ।
मुमोच बाणान्कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ १३ ॥
ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत्तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं संमोहयन्निव ॥ १४ ॥
स तैरभिहतः सङ्ख्ये नाऽमर्षयत सौभराट् ।
शरान्दीप्ताग्निसंकाशान्मुमोच तनये मम ॥ १५ ॥
तानापततो बाणौघान्संचिच्छेद महाबलः ।
ततश्चाऽन्यांश्छरान्दीप्तान्प्रचिक्षेप सुते मम ॥ १६ ॥
स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥ १७ ॥
तस्य वर्म विभिद्याऽऽशु स बाणो मत्सुतेरितः ।

हे कुरुकुलको बढानेवाले नरनाथ ! उस महायुद्धमें वीर प्रद्युम्नके सङ्ग क्रोधसे भरा शाल्व युद्धको उपस्थित हुआ। क्रोध मदसे उन्मत्त शत्रुजित शाल्व सौभरथसे उतरकर प्रद्युम्नको वेधित करता हुआ युद्ध करने लगा, उन दोनोंका युद्ध बलि और इन्द्रके समान होते सब-लोग देखने लगे। हे वीर! हे प्रभो! हे कौरव्य! श्रीमान् बलवान शाल्वराज मायामय, सोनेके, पताका, ध्वजा, और ठाटयुक्त रथपर चढकर तूण धारणकर प्रद्युम्न पर बाण बरसाने लगा। (९-१३)

तब शाल्वको मोहित करते हुए प्रद्युम्नने शीघ्रता सहित बाहुबलसे युद्धमें बाणोंकी वर्षा करी, उन सब बाणोंसे शाल्व महा क्रोध करके मेरे पुत्रपर जलती हुई अग्नि समान बाणोंको छोडने लगा, महाबलवान मेरे पुत्रने उसके सब बाणोंको काटकर अपने तीक्ष्णबाणोंको छोडा। हे राजेन्द्र! रुक्मिणीनन्दनने शाल्वको बाणोंसे विद्धकर मर्मभेदी एक बाण शीघ्रता सहित युद्धमें छोडा। मेरे

विव्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥
तस्मिन्निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।
संप्राद्रवन्दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुन्धराम् ॥ १९ ॥
हाहाकृतमभूत्सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥ २० ॥
तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
मुमोच बाणान्सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ २१ ॥
तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद्रथे तदा ॥ २२ ॥
तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनाऽपूरयन्महीम् ॥ २३ ॥
ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान्दुरासदान् २४ ॥
स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद्रणाजिरे ॥ २५ ॥ [७२३]

इति श्री० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच— शाल्वबाणार्दिते तस्मिन्प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।

पुत्रका वह पंखयुक्त बाण उसके मर्मस्थान को भेदकर हृदयमें प्रवेशकर गया, उससे वह मूर्च्छित होकर गिर पडा। (१४-१८)

शाल्व राज वीरके चेतनारहित होने-पर दैत्यलोग पृथिवीको धारण करते हुए भागने लगे, हे पृथिवीनाथ ! शाल्वकी सेनामें हाहाकार होने लगा। हे कौरव्य ! तब चैतन्य होके शाल्व उठा और महाबल शाल्व वेगसे प्रद्युम्नपर बाण छोडने लगा, महाबाहु महावीर प्रद्युम्न समरमें उन बाणोंसे सन्धिस्थानोंमें पीडित होकर रथपर मूर्च्छित हो गए,उस रुक्मिणीनन्दनको मूर्च्छित करके शाल्व पृथिवी को शब्दसे पूर्ण करता हुआ महाशब्द करने लगा। हे भारत ! जब मेरा पुत्र युद्धमें मूर्च्छित हुआ, तो वह बडे बडे और कठिन बाणोंको छोडने लगा; हे कौरव-श्रेष्ठ ! तब युद्धमें उसके अनेक बाणोंसे पीडित होकर प्रद्युम्न चेष्टारहित हो गये। (१९-२५) [७२३]

वनपर्वमें सतरह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें अठरह अध्याय।

श्रीकृष्णजी बोले,जब बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न शाल्वके बाणोंसे पीडित हुए,

वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥ १ ॥
हाहाकृतमभूत्सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः ।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन्परे च मुदिता भृशम् ॥ २ ॥
तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत्तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥ ३ ॥
नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥
सौते किं ते व्यवसितं कस्माद्यासि पराङ्मुखः ।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ॥ ५ ॥
कच्चित्सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच— जानार्दने न मे मोहो नाऽपि मां भयमाविशत् ।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन ॥ ७ ॥
सोपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत ।
मोचितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ॥ ८ ॥
आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाऽप्यहम् ।

तब सब वृष्णिवंशी लोग नष्ट संकल्प हो कर सेनामें व्यथित हो गये; उस समय समस्त वृष्णि और अन्धकोंमें हाहाकार होने लगा। परन्तु प्रद्युम्नको मूर्च्छित देखकर शत्रु अति प्रसन्न हुए। उनको मूर्च्छित देखकर दारुकका पुत्र शिक्षित सारथी वेगवान् घोडोंयुक्त रथके समेत युद्धसे शीघ्र बाहर लेगया, जब रथ थोडीही दूर गया, तो महारथोंको जीतनवाले प्रद्युम्न चैतन्य होकर सारथीसे ऐसा कहने लगे, हे सूत ! तुमने क्या किया जो युद्धसे मुख-फेरे लौटे जाते हो, यह युद्धमें वृष्णिवं-शियोंका धर्म नहीं है, हे सूतपुत्र ! क्या तुमको युद्धमें शाल्वको देखकर कुछ भ्रम हो गया ? युद्धको देखकर कुछ दुःख हुआ? मुझसे सत्य सत्य कहो। (१—६)

सूत बोला, हे कृष्णपुत्र ! मुझे न मोह हुआ, न मुझे भय हुआ, परन्तु मैंने यह समझा कि शाल्व आपसे भारी वीर है, यह पापी बडा बलवान् है, इसी लिये धीरे धीरे युद्धमें हटा जाता हूं, क्योंकि, यह नियम है कि युद्धमें सारथी रथी (रथमें बैठे योधा) की रक्षा करे। हे आयुष्मन्! मेरा धर्म है आपकी रक्षा करना और आपका धर्म मेरी रक्षा करना है, सारथी

रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वाऽपयाम्यहम् ॥९॥
एकश्चाऽसि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
न समं रौक्मिणेयाऽहं रणे मत्वाऽपयामि वै॥१०॥
एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं पुनः ॥ ११ ॥
दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन ।
व्यपयानं रणात्सौते जीवतो मम कर्हिचित् ॥१२॥
न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवाऽस्मीति च वादिनम्१३॥
तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च ।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ १४॥
त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि ।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ॥ १५ ॥
स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे ।
अपयानं पुनः सौते मैवं कार्षीः कथंचन ॥ १६ ॥
अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम् ।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥१७॥

रथीकी रक्षा करे यह विचार कर मैं युद्धसे चला हूं। हे रुक्मिणीनन्दन ! मैंने विचारा है, कि तुम अकेले और यह दानव अनेक हैं, युद्ध समान नहीं है, अतएव मैं युद्धसे चला जाता हूं। (७-१०)

हे युधिष्ठिर ! सूतके ऐसे वचन सुनकर प्रद्युम्नने सूतसे कहा, कि हे सूत ! तुम रथको पुनः लौटाओ, हे दारुकपुत्र ! तुम ऐसा काम फिर कभी मत करना, जीते हुए, मुझे युद्धसे पुनः कभी मत हटाकर लेजाना; जो युद्धको त्याग दे उसको, गिरेको, "हम तुम्हारे हैं" ऐसा कहते हुए को, स्त्रीको, बालकको, रथहीनको, घबरायेको, जिसके शस्त्र टुटे हों, ऐसे पुरुषोंको जो मारे सो वृष्णिकुलमें उत्पन्न नहीं हुआ। हे दारुकपुत्र ! तुम सूतवंशमें उत्पन्न हुए हो, सूतकर्ममें कुशल हो, और युद्धमें यदुवंशियोंके धर्मको जानते हो । हे सूत ! तुम सेनाके अग्रभागमें उपस्थित यदुवंशियोंका पूरा धर्म जानकर पुनः कभी इस प्रकारसे युद्ध छोडके मत भागना। (१०-१६)

मुझे युद्धसे भगा पीठपर घाव खाये,

केशवस्याऽग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः ।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥ १८ ॥
किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः ।
अपयातं रणात्सूत साम्बश्च समितिञ्जयः ॥ १९ ॥
चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ॥ २० ॥
शूरं संभावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम् ।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः २१ ॥
प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम् ।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति २२ ॥
धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा ।
मृत्युनाऽभ्यधिकः सौते स त्वं मां व्यपयाः पुनः२३ ॥
भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः ।
यज्ञं भारतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ॥ २४ ॥
कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः ।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ॥ २५ ॥

भ्रान्त युद्धसे लौटा हुआ देखकर दुराधर्ष गदाग्रज, कृष्ण क्या कहेंगे। महाबाहु, मदसे भरे नीलवस्त्रधारी कृष्णके बडे भाई बलदेव आकर मुझे क्या कहेंगे? शिनीके पौत्र पुरुष सिंह महा धनुर्धारी सात्यकी मुझे क्या कहेंगे? मुझे युद्धसे भगा देख महावीर साम्ब, दुर्धर्ष चारुदेष्ण, गद सारण और महाबल अक्रूर मुझे क्या कहेंगे? हे सूत! शूर, मानयुक्त, शान्त, नित्यही पराक्रमके अभिमानी, यदुवंशियोंकी स्त्रियां इकट्ठी होकर मुझे क्या कहेंगी। (१७—२१)

यह सब यही कहेंगी, कि यह प्रद्युम्न भयसे महायुद्धको त्याग करके भागा आता है, इसे धिक्कार है, मुझे अच्छा कदापि न कहेंगी। हे सूत! मुझे और मेरे समान पुरुषोंको धिक्कार शब्द सुनना मृत्युसे भी अधिक दुःखदाई है; तुम ऐसे युद्धसे कभी मत भागना। श्रीकृष्ण द्वारिकाका भार मेरे ऊपर देकर भरतकुलसिंह युधिष्ठिरकी यज्ञमें गए हैं, सो इस समय शत्रुको छोडना उचित नहीं है। (२२—२४)

हे सूत! महावीर कृतवर्मा युद्ध करनेको आते थे, सो मैंने उन्हे "आप यहीं रहिये मैं शाल्वको निवारण करूंगा" यह

स च संभावयन्मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः ।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् २६॥
उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥२७॥
सात्यकिं बलदेवं च ये चाऽन्येऽन्धकवृष्णयः ।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् २८॥
त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
त्वयाऽपनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ॥ २९ ॥
स निवर्त रथेनाऽऽशु पुनर्दारुकनन्दन ।
न चैतदेवं कर्तव्यमप्यापत्सु कथंचन ॥ ३० ॥
न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कथंचन ।
अपयातो रणाद्भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः॥ ३१ ॥
कदापि सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम् ।
अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥ ३२ ॥
न युक्तं भवता त्यक्तुं सङ्ग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ३३॥[७२६]

इति श्रीमहा० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः १८॥

कहकर आनेसे रोक दिया। हृदिकपुत्र कृतवर्मामी मुझे समर्थ जानकर लौट गए। सो मैं युद्धसे भागकर उस महारथसे मिलकर क्या कहूंगा? (२५— २६)

जब दुराधर्ष शङ्खचक्रधारी महाबाहु श्रीकृष्ण आवेंगे, तो मैं उनसे क्या कहूंगा? सात्यकी, बलदेव, तथा और यदु वंशियोंसे जो नित्यही मेरे समान होने की इच्छा किया करते हैं, उनसे भला मैं क्या कहूंगा? हे सूत! इस युद्धसे भाग कर और पीठपर बाणोंसे आहत होकर विवश होकर तुम मुझे ले आये, अन्यथा मैं कदापि न आता। हे सूतपुत्र तुम! शीघ्र मेरे रथको घुमाओ, और ऐसा पुनः आपत्तिमें भी मत करना, हे सूत! मैं युद्धसे पीठ पर बाणोंसे आहत भीरू बन जीना उत्तम नहीं समझता। हे सूत-पुत्र! तुमने कभी मुझे नपुंसकके समरसे व्याकुल रणसे भगा हुआ देखा है? हे दारुकात्मज! मेरी युद्धकी इच्छा रहने परभी तुमने युद्ध छोड दिया, यह बहुत अनुचित किया सो पुनः युद्धको चलो। (२७—३३) [७५६]

वनपर्वमें अठारह अध्याय समाप्त।

वासुदेव उवाच— एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ॥ १ ॥
न मे भयं रौक्मिणेय सङ्ग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञोऽस्मि च वृष्णीनां नाऽत्र किंचिदतोऽन्यथा २ ॥
आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ॥ ३ ॥
त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाऽभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ॥ ४ ॥
स त्वं सात्वतमुख्याऽद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ॥ ५ ॥
दारुकेणाऽहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ६ ॥
वासुदेव उवाच— एवमुक्त्वा ततो वीर हयान्संचोद्य सङ्गरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाऽभ्यपतत्तदा ॥ ७ ॥
मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ८ ॥

वनपर्वमें उन्नीस अध्याय ।

श्रीकृष्ण बोले, कि हे कौन्तेय ! जब सूतने प्रद्युम्नके ऐसे वचन सुने, तो बलियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नसे मीठी कोमल बातों से ऐसा बोला, हे रुक्मणीनन्दन ! युद्धमें घोडोंको हांकनेमें मुझे कुछभी भय नहीं है;और इसमें भी कुछ मिथ्या नहीं है कि मैं वृष्णिवंशियोंके युद्धको जाननेवाला हूं; परन्तु हे आयुष्मन् ! सारथियोंके लिये, यह उपदेश प्रसिद्ध है, कि सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये, और आप अधिक व्यथित होगए थे, हे वीर! आप शाल्वके बाणोंके भारी आघातसे मूर्च्छित हुए थे, तबही मैं युद्धसे ले आया था। हे यादवमुख्य केशवनन्दन ! अब आप अपनी इच्छानुसार मूर्च्छासे जागे हैं,सो अब युद्धमें मेरी घोडे हाकने की विधिको देखिये, मैं दारुकका पुत्र हूं, और उन्हींसे मैंने यथायोग्य शिक्षाभी पाई है, सो मैं निर्भय होकर इस विस्तृत शाल्व सेनामें प्रवेश करता हूं। (१-६)

श्रीकृष्ण बोले, कि हे वीर! सूतने ऐसा कहकर घोडोंकी रश्मि (लगाम) ठोककर युद्धकी ओर वेगसे चलाया। उस समय सूतने अपनी ऐसी विद्या प्रगट करी, कि विचित्र मण्डलाकार गति,

प्रतोदेनाऽऽहता राजन्रश्मिभिश्च समुद्यताः।
उत्पतन्त इवाऽऽकाशे व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ॥ ९ ॥
ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम्।
दह्यमाना इव तदा नाऽस्पृशंश्चरणैर्महीम् ॥ १० ॥
सोपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ।
चकार नाऽतियत्नेन तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ ११ ॥
अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन स सौभराट्।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ॥ १२ ॥
दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन्।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ॥ १३ ॥
ततो बाणान्बहुविधान्पुनरेव स सौभराट्।
मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणिनन्दने ॥ १४ ॥
तानप्राप्तांश्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन्हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥
छिन्नान्दृष्ट्वा तु तान्बाणान्प्रद्युम्नेन स सौभराट्।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ॥ १६ ॥

यमक, (सदृश सदृश अनेक मण्डल) अयमक (असदृश मण्डल) विचित्र वाम गति, और चित्र दक्षिण गतिसे घोडोंको चलाने लगा, हे राजन्! कोडे लगाने और लगाम उद्यत होनेसे वह उत्तम घोडे ऐसे चले, मानो आकाशको उड जायंगे, हे नरनाथ! उस समय घोडे सूतका हस्त लाघव जानकर ऐसे वेगसे चले मानो पृथिवी इनके चरणोंसे स्पर्श नहीं होती है। (७-१०)

हे भरतकुलसिंह! उस समय सूतने थोडेही यत्नसे शाल्वकी महासेनाको बाईं ओर कर दिया, यह देखकर सबलोगोंको बडा आश्चर्य हुआ। जब प्रद्युम्नका रथ दहिनी ओर आया तो शाल्वको महाक्रोध भया, और तीन बाण सूतको मारा। हे महाबाहो! दारुकके पुत्रने उसके बाणके वेगको कुछभी ध्यानमें न लाकर पुनः अपने रथको उसके दहनी ओर पहुंचाया। हे वीर! तब शाल्वने अनेक प्रकारके बाण मेरे पुत्र रुक्मिणीनन्दनके ऊपर छोडे, उन बाणोंको दूरहीसे शत्रुनाशक रुक्मिणिपुत्रने हंसते हंसते अपने हस्त लाघवको दिखाते हुए तीक्ष्ण बाणोंसे काट दिया, शाल्व अपने बाणोंको प्रद्युम्नके बाणोंसे कटा हुआ देखकर दारुण राक्षसी

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम् ।
ब्रह्मास्त्रेणाऽन्तरा छित्वा मुमोचाऽन्यान्पतत्रिणः १७॥
ते तदस्त्रं विधूयाऽऽशु विव्यधू रुधिराशनाः ।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥
तस्मिन्निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते ।
रौक्मिणेयोऽपरं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ॥ १९ ॥
तमर्चितं सर्वदशार्हपूगैराशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम् ।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ॥ २० ॥
ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः ।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च मनोजवम् ॥ २१ ॥
तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम् ।
नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथंचन ॥ २२ ॥
संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे ।
एतस्य च शरस्याऽजौ नावध्योऽस्ति पुमान्कचित्२३॥
मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः ।
कृष्णः संकल्पितो धात्रा तन्न मिथ्या भवेदिति २४॥
ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम् ।

मायाका आश्रय करके बाण छोडने लगा, प्रद्युम्न राक्षसी मायाका प्रयोग जानकर उस दैत्य अस्त्रको ब्रह्मास्त्रसे काट कर और अनेक प्रकारके बाण छोडने लगे। (११-१७)

वह रुधिर पीनेवाले बाण शाल्वके अस्त्रोंको काटकर उसके शिर, मुख, और हृदयमें प्रवेश कर गए; तब शाल्वको मूर्च्छा होगई और वह गिर पडा ! जब क्षुद्र शाल्व बाणोंसे पीडित होकर गिरा तो रुक्मिणीनन्दनने दूसरा शत्रुनाशक बाण निकाला, वह समस्त यदुवंशीयोंसे पूजित सर्पके समान तेज, जलती अग्निके समान प्रकाशित, बाणको धनुषपर चढाते देखकर आकाशमें महा हाहाकार होने लगा, इन्द्र और कुबेरके समेत सब देवतोंने शीघ्रही वायु और नारद को प्रद्युम्नके समीप भेजा, दोनोंने आकर रुक्मिणीपुत्रसे देवतोंके वचन कहे, हे वीर ! यह शाल्वराज तुमसे वध्य नहीं है और इस बाणसे कोईभी अवध्य नहीं है, अतएव तुम इस बाणको मत छोडो, ब्रह्माने इसकी मृत्यु देवकीनन्दन को बनाया है, सो ब्रह्माकी यह प्रतिज्ञा

संजहार धनुःश्रेष्ठात्तूणे चैव न्यवेशयत् ॥ २५ ॥
तत उत्थाय राजेन्द्र शाल्वः परमदुर्मनाः ।
व्यपायात्सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ॥ २६ ॥
स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरर्दितः ।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥ २७ ॥ [७८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच—आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव ॥ १ ॥
अपश्यं द्वारकां चाऽहं महाराज हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम् ॥ २ ॥
अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ॥ ३ ॥
अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥
एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।

मिथ्या न हो; अतएव तुम इस बाणको मत चलाओ । यह सुनकर प्रद्युम्न अत्यन्त प्रसन्न हुए और उस बाणको धनुषसे उतारकर तूणमें रख लिया।(१८–२५)

हे राजेन्द्र ! इतनेमें शाल्वनेभी संज्ञा प्राप्तकर परम विमन हो प्रद्युम्नके बाणों-से पीडित होकर शीघ्र सेना समेत भाग-ना आरम्भ किया,वह क्रूर यादवोंके बा-णोंसे पीडित हो द्वारिकाको छोड सौभपर बैठकर आकाशको चला । (२६-२७)

वनपर्वमें उन्नीस अध्याय समाप्त । (७८३)

वनपर्वमें बीस अध्याय ।

श्रीकृष्ण बोले, हे नरनाथ ! जब आपका राजसूय यज्ञ समाप्त हुआ तो मैंने जाकर देखा, कि द्वारिका उससे मुक्त हुई है । हे महाराज ! मैंने जाकर देखा तो द्वारिकाका तेज नष्ट हो गया था, पठन पाठन रहित, कहीं यज्ञ नहीं, विना भूषण स्त्री, और नगरके चारों ओरके बाग कुरूप हो गये थे, मुझे यह सब देखकर शंका उत्पन्न भई तो मैंने हार्दिकपुत्र (कृतवर्मासे) पूंछा कि हे नरशार्दूल इस नगरके वृष्णिवंशी स्त्री पुरुष घबडाये क्यों हैं, इसका कारण मुझसे कहो । (१–४)

हे राजसत्तम! ऐसा पूंछनेसे कृतवर्माने

रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ॥५॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाऽकरवं मतिम् ॥ ६ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकं चैव तथैवाऽऽनकदुन्दुभिम् ॥ ७ ॥
सर्वान्वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ।
अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ॥ ८ ॥
शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत ।
नाऽहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ ९ ॥
सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टाऽस्मि वः पुनः ।
त्रिःसामा हन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा॥१०॥
ते मयाऽऽश्वासिता वीरा यथावद्भरतर्षभ ।
सर्वे मामब्रुवन्हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान् ॥११॥
तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दितः ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान्प्रणम्य शिरसा भवम् १२॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनाऽनादयन्दिशः ।
प्रध्माय शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप ॥ १३ ॥

मुझसे विस्तार सहित यह सब कथा जिस प्रकारसे शाल्वने नगरको घेरा था और जैसे छोडा था कहो। हे कुरुश्रेष्ठ! मैंने यह सब सुनकर शाल्वके नाश करनेका मनमें विचार किया। हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ! तब मैंने नगर निवासी राजा उग्रसेन, और वसुदेवको धीरज देकर सब यदुवंशियोंको प्रसन्न करते हुए यह वचन कहा। हे यादवलोगो! आपको उचित है, कि सदा नगरमें सावधान रहें और मुझे शाल्वके मारनेको जाने दें, मैं अब विना उसके मारे द्वारिकापुरीको लौट कर न आऊंगा, मैं सौभ नगरके सहित शाल्वको नष्ट करके आपलोगोंको पुनः देखूंगा, अब शत्रुओंको भय देनेवाली दुंदुभी तीनों स्वरों (नीचे और मध्यम) के सहित बजाई जाय, हे भरतर्षभ! जब मैंने सबको धीरज दिया तो वे सब प्रसन्न होकर कहने लगे, कि "आप जाइये और शत्रुओंको जीतिये।" (५-११)

उन प्रसन्न चित्तवाले वीरोंसे आशीर्वाद लेकर ब्राह्मण श्रेष्ठोंसे स्वस्तिवाचन सुनकर और शिवको शिरसे प्रणाम करके शैब्य, सुग्रीव घोडेसे युक्त रथ पर चढकर हे

प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।
कल्पेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना ॥ १४ ॥
समतीत्य बहून्देशान्गिरींश्च बहुपादपान् ।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ॥ १५ ॥
तत्राऽश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात् ।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ॥१६॥
ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत्सौभमास्थाय शत्रुहन् १७॥
स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥
तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नाऽऽसाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत्१९ ॥
स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥ २० ॥
सैनिकान्मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान्वयं युध्याम भारत ॥ २१ ॥
ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।

महाराज ! सब दिशाओंको प्रसन्न करता पाञ्चजन्य शङ्खको बजाकर हे पुरुव्याघ्र! जयशील सन्नद्ध चतुरङ्गिणी महा सेनाको लेकर मैं चला। अनेक देश, पर्वत, वन, सर और नदियोंको पार होकर मार्त्तिकावत देशमें पहुंचा। (१२—१५)

हे पुरुषव्याघ्र ! वहां जाकर सुना कि शाल्व सौभ सहित समुद्रके तटको गया है, तब मैं भी उसके पीछे हो वहांको चला गया, हे शत्रुनाशक ! तब मैंने महातरङ्ग वाले समुद्र पर प्राप्त करके देखा कि शाल्व सौभके सहित समुद्रके मध्यमें स्थित है। हे युधिष्ठिर ! वह दुष्टात्मा मुझे दूरहीसे देख विस्मयके सहित, युद्धके अर्थ मुझे पुकारने लगा । तब मैंने मर्मभेदी अनेक बाण चलाये, परन्तु मेरे तीक्ष्णबाण शार्ङ्गसे छूटकर उसके नगरमें प्राप्त नहीं होते थे, अतएव मुझे महाक्रोध उत्पन्न भया, हे नरनाथ ! वहभी पापी, दैत्योंमें नीच, दुर्धर्ष शाल्व सहस्रों बाण मुझपर वर्षण करने लगा, मेरे सैनिक, सूत, घोडे और रथ को बाणोंसे भर दिया। (१६—२१)

हे भारत ! परन्तु हम लोग उसके

चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥२२॥
ते हयांश्च रथं चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥
न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाऽहं सैनिकाश्च मे॥ २४ ॥
ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान्बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाऽक्षिपम् २५॥
न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत्सौभं क्रोशमात्र इवाऽभवत् २६॥
ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २७ ॥
मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानां शरास्तथा ।
अङ्गेषु रुधिराप्लाङ्गा विविशुः शलभा इव ॥ २८ ॥
ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे २९॥
ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान्नादान्निपतन्ति स्म दानवाः ॥ ३० ॥

बाणोंका विचार न करके युद्ध करतेही रहे, तब हमारे ऊपर शाल्वके सेना पुरुषोंने सहस्रों तीक्ष्णबाण छोडे,तब उनके उन तीक्ष्ण बाणोंसे मेरे घोडे रथ दारुक सारथीको राक्षसोंने छालिया।हे वीर!मैं मेरा सारथी, घोडे, रथ, और मेरी सेना, यह बाणोंसे छिपनेके कारण कुछ भी न दीखने लगे; हे कुन्तीपुत्र! तब मैंनेभी सहस्रों बाण दिव्यमंत्रोंसे मन्त्रित करके धनुषपर चढा कर चलाए। (२१—२५)

हे भारत ! उस सौभके आकाशमें लीन रहनेके कारण मैं और मेरे सैनिक कोई भी उसे न देख सकते थे, मानों एक कोश पर है। तब शत्रुओंके देखनेवाले सब लोगोंने मुझे ताली और सिंह के समान शब्दोंसे प्रसन्न किया। वे लोग ऐसे भान होते थे मानो यह सब रङ्गवाटीमें स्थित हैं। मेरे विचित्रपंख वाले बाण शत्रुओंके शरीरमें ऐसे प्रवेश करने लगे जैसे अग्निमें पतंग। तब मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे मरते हुए और समुद्रमें गिरते हुए राक्षसोंसे सौभमें महाघोर शब्द हुआ। लोग विना हाथ, विना कन्ध, कबन्धके समान दीखनेवाले, घोर

पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ॥ ३१ ॥
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाऽहमपूरयम् ।
तान्दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः ३२॥
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।
ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ३३ ॥
असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रपतन्त्यनिशं मयि ॥ ३४ ॥
तामहं माययैवाऽऽशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३५ ॥
ततोऽभवत्तम इव प्रकाश इव चाऽभवत् ।
दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ॥ ३६ ॥
अङ्गारपांसुवर्षं च शस्त्रवर्षं च भारत ।
एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ३७ ॥
विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम् ।
यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३८ ॥

शब्द करते हुए समुद्रमें गिरने लगे, जो दानव समुद्रमें गिरता था उसको समुद्रके जन्तु खा जाते थे। (२६--३१)

तब मैंने, गायके दूध, कुंदपुष्प, और चन्द्रमा, कमलकी डण्डी, तथा चांदीके समान श्वेत पाञ्चजन्य शङ्खको शक्तिसे बजाया। सौभपति शाल्वने उन राक्षसों-को समुद्रमें गिरता हुआ देखकर, महा मायासे युक्त होकर मुझसे युद्ध किया; तब गदा, हल, प्रास, परश्वध, खड्ग, शक्ति, वेत्र पास, दण्ड, कनप, बाण, पट्टिश, और भुशुण्डी मेरे ऊपर निरन्तर बरसने लगे, मैंने उस मायाको मायाहीसे ग्रहण करके नाश कर दिया, जब वह माया नष्ट होगयी तो पर्वतके शृङ्गोंसे वह युद्ध करने लगे, तब अन्धकार हो गया, पुनः प्रकाश भया, पश्चात् सुदिन (मेघरहित दिन) फिर दुर्दिन (मेघोंसे सूर्य छिप गया) क्षणमें शीत, और क्षण-मात्रमें उष्ण होने लगा। (३१-३६)

हे भारत! कभी अङ्गारे कभी शस्त्र बरसने लगते थे, इस प्रकारसे माया कर के वह शत्रु मुझसे युद्ध करने लगा, सो सब जानकर मैंने मायाहीसे वह सब नाश कर दिया, तथा समय पाकर सब ओरसे बाणोंसे उसको पूर्ण कर दिया,

*

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाऽभवत् ।
शतचन्द्रं च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ।
ततो नाऽज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः ३९ ॥
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ।
ततस्तदस्त्रं कौन्तेय धूतं तूलमिवाऽनिलैः ॥ ४० ॥
तथा तदभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्रः पुनः शत्रुमयोधयम् ॥४१ ॥ [८२४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि
सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच— एवं स पुरुषव्याघ्रः शाल्वराजो महारिपुः ।
युध्यमानो मया सङ्ख्ये वियदभ्यगमत्पुनः ॥ १ ॥
ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च दीप्तांश्च शूलान्मुसलानसींश्च ।
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी २ ॥
तानाशुगैरापततोऽहमाशु निवार्य हन्तुं खगमान्ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाऽच्छिनमाशु मुक्तस्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ॥३ ॥
ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।

हे महाराज ! उसी समय मैंने आकाशमें सौ सूर्यके समान प्रकाश देखा, थोडे कालमें देखा, कि सौ चन्द्रमा और लाखों तारे निकल रहे हैं । हे कुन्तीपुत्र ! उस समयमें दिन है कि रात है, और कौन दिशा किधर है, यह कुछभी नहीं जान पडा, हे कुन्तीनन्दन ! उस समय मुझे भ्रम होगया, तब मैंने प्रज्ञा अस्त्र धनुष-पर धारण किया अनन्तर वह अस्त्र वायुसे ऐसे धुना गया जैसे रुई धुनी जाती है, यह युद्ध महाघोर भया, जब मुझे प्रकाश दीखने लगा, तो मैं पुनः शाल्वसे युद्ध करने लगा। (३७-४१)

वनपर्वमें बीस अध्याय समाप्त । [८२४]

वनपर्वमें इक्कीस अध्याय ।

श्रीकृष्ण बोले, कि हे महाराज ! वह पुरुषोंमें सिंह महाशत्रु शाल्वराज इस प्रकार मुझसे युद्ध करके पुनः आकाशही को चला गया; तब शतघ्नी महागदा, प्रकाशमान त्रिशूली मूसल, और खड्ग मेरे ऊपर जयकी इच्छा रखनेवाला वही शाल्व बरसाने लगा, तब मैंने भी शीघ्रता सहित उन सब शस्त्रोंको दूरही आकाशमें निवारण करके दो दो और तीन तीन टुकडे कर दिये; तब आकाशमें महा शब्द हुआ । तब उसने तीक्ष्ण धारवाले

दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ॥ ४ ॥
ततो मामब्रवीद्वीर दारुको विह्वलन्निव ।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ५ ॥
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ॥ ६ ॥
इति तस्य निशम्याऽहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ७ ॥
न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्याम्यनिचितं शरैः ॥ ८ ॥
स तु बाणवरोत्पीडाद्विस्रवत्यसृगुल्बणम् ।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ९ ॥
अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तंभयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ॥ १० ॥
अथ मां पुरुषः कश्चिद्द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ।
त्वरितो रथमारोप्य सौहृदादिव भारत ॥ ११ ॥
आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १२ ॥

सहस्र बाणोंसे मेरे घोडे, सारथी और रथ को भर दिया, हे वीर ! तब विद्ध होके दारुकने मुझसे कहा, कि मेरे अङ्ग शाल्वके बाणोंसे कटे जाते हैं, मैं शाल्वके बाणोंसे अत्यन्त पीडित हुआ हूं, परन्तु युद्धमें स्थिर रहनाही मेरा धर्म है, वह जानके स्थिर हूं, वास्तवमें स्थिर रहनेकी शक्ति मुझे नहीं है। (१—६)

मैंने उसके करुणामय वचन सुनकर उसको देखा तो जानपडा, कि शाल्वके बाणोंसे इसे बहुतही पीडा हुई है। उसके न सिरमें न हृदयमें न शरीरमें और न दोनों हाथोंमें हे पाण्डवश्रेष्ठ ! मैंने बाणसे बेविंधा शरीर न पाया। उस समय सारथीके शरीरोंमें बाण लगनेसे ऐसी रुधिरकी धारा वहती थी जैसे वर्षा होनेसे पर्वतसे गेरुके झरने झरते हैं। मैंने अपने सारथीको युद्धमें लगाम पकडे शाल्वके बाणोंसे पीडित दुःख सहित देख कर उसको आश्वासन किया। (७-१०)

हे महाबाहो ! हे युधिष्ठिर ! इस समय एक महाराज उग्रसेनका सेवक द्वारिकाका रहनेवाला, शीघ्रतासहित रथ लेकर मेरे पास आया, और आकर दुःखसे मेरे मित्रके समान उग्रसेनकी बात मुझसे कहने लगा, कि द्वारिकापति वीर उग्रसेन

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेहि विजानीष्व यत्त्वां पितृसखोऽब्रवीत् १३ ॥
उपायायाऽद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ॥ १४ ॥
तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत्तव ॥ १५ ॥
इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाऽधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य च ॥ १६ ॥
सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम् ।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ॥ १७ ॥
अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातने ॥ १८ ॥
बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ॥ १९ ॥
एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन ।
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् २० ॥

ने आपसे ऐसा कहा है, कि हे केशव ! तुम्हारे पिताका मित्र उग्रसेन तुमसे जो कहता है, सो मानो, तुम द्वारिकाको लौट आओ । हे वृष्णिनन्दन ! जब तुम यहांसे चले गए तो हे दुर्धर्ष! यहां शाल्व ने आकर वसुदेवको बलसे मारडाला, हे जनार्दन ! अतएव युद्ध करना व्यर्थ है, तुम लौट आओ, तुम द्वारिकाही की रक्षा करो, यही तुम्हारा परम कर्तव्य है, मैं उसका यह परम अप्रिय वचन सुनकर यह निश्चय न कर सका कि मुझे क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य है, मैं मनसे सात्यकी, बलदेव और महारथ प्रद्युम्न की निन्दा करने लगा । (११-१७)

हे कुरुनन्दन ! मैंने यह विचार किया कि पूर्वोक्त वीरोंको द्वारिका और पिता की रक्षा करनेको छोडकर सौभसे युद्ध करनेको आया हूं । महाबाहु शत्रुनाशक बलदेव जीवित हैं, सात्यकी, प्रद्युम्न और वीर्यवान चारुदेष्ण तथा साम्ब प्रभृति वीर जीवित हैं या नहीं ? यह सोच कर मेरा मन महादुःखको प्राप्त हुआ, हे नरव्याघ्र! मैंने सोचा कि इन सबके जीते साक्षात् वज्रधारी इन्द्रकी भी शक्ति नहीं

हतः शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं चैते परासवः ।
बलदेवमुखाः सर्वे इति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥
सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
सुविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥ २२ ॥
ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा ।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत् २३॥
तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप ।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम् २४ ॥
विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः ।
प्रपतन्दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ २५ ॥
ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात्प्रपतितं मम ।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम् ॥ २६ ॥
ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम् ।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत ॥ २७ ॥
प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि ।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा ॥ २८ ॥
तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः ।

है, कि वसुदेवको मारसके; और वसुदेव मारे गए इससे निश्चय यह सब बलदेव आदि मारे गए, यह मुझे निश्चय होगया। हे महाराज ! इस प्रकारसे मैं अपने सब नाशको विचारता हुआ विकल होकर शाल्वसे युद्ध करने लगा। (१८–२२)

हे महाराज ! तब मैंने देखा कि मेरे पिता सौभसे गिरे, उस समय मुझे महा मोह उपस्थित हुआ, हे नरनाथ ! मेरे पिताके गिरते समय ऐसा रूप प्रकाशित हुआ जैसे पुण्य नाश होने पर ययाति का हुआ था, मैली खुली पगडी, फैले-वस्त्र और केशवाले मेरे पिताके गिरते हुए, ऐसा प्रकाश हुआ जैसे पुण्य नाश होनेसे तारा टूट कर गिरता है। (२३-२५)

तब उत्तम शार्ङ्गधनुष मेरे हाथसे गिर पडा, हे कौंतेय ! मैं मोहसे व्याकुल होकर रथकी शय्यामें बैठ गया, हे भारत! जब मेरी सेनाने मुझे रथमें प्राण रहितके समान मूर्च्छित पडा देखा, तो सब लोग हाहाकार करके रोने लगे, दोनों हाथ और दोनों पैर फैला कर गिरते हुए मेरे पिताका रूप गिरते हुए शकुनीके समान शोभित

अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो व्यकम्पयन् ॥ २९ ॥

ततो मुहूर्तात्प्रतिलभ्य संज्ञामहं तदा वीर महाविमर्दे ।

न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि ॥ ३० ॥

ततो ममाऽऽसीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम् ।

प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽवाकिरञ्छरान् ॥ ३१ ॥ [८५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्यान एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वासुदेव उवाच—ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।

शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम् ॥ १ ॥

शरांश्चाऽऽशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः ।

प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान्सुवाससः ॥ २ ॥

ततो नाऽदृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह ।

अन्तर्हितं माययाऽभूत्ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ॥ ३ ॥

अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्धजाः ।

उदक्रोशन्महाराज धिष्ठिते मयि भारत ॥ ४ ॥

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे ।

अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥ ५ ॥

हुआ, हे महाबाहो ! गिरते हुए मेरे पिताको शूल और पट्टिशधारी अनेक योधा मेरे हृदयको कंपाते हुए काटने लगे, हे वीर ! तब क्षण भरमें मैंने मोहको त्याग करके उस महायुद्धमें देखा, कि न वहां सौभ, न शत्रु शाल्व, और न वृद्ध पिता हैं, तब मेरे मनमें यह निश्चय हो गया, कि यह मायाही है, तब मैं पुनः बोधित हुआ, और सैकडों बाण छोडने लगा। (२९–३१) [८५५]

वनपर्वमें इक्कीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें बाईस अध्याय ।

हे भरश्रेष्ठ ! तब मैं उत्तम धनुष ग्रहण करके बाणोंसे राक्षसोंके शिर पृथिवी में गिराने लगा, मैं सांपके समान, महा तेजस्वी, ऊर्ध्वगामी, उत्तम पंखवाले, बाण शार्ङ्गधनुषसे शाल्वको लक्ष करके छोडने लगा, हे कुरुकुलोत्पन्न ! तब सौभ मायासे ऐसा छिप गया, कि मुझे दिखाई न देने लगा, तब मुझे विस्मय हुआ, हे महाराज ! तब कटे शिरकेशवाले राक्षस मुझे गाली देने लगे, तब मैंने स्वस्थतासे स्थिर होकर शब्दवेधी बाण शीघ्रतासहित उनके मारनेको

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः ।
शरैरादित्यसङ्काशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥ ६ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवाऽन्यतोऽभवत् ।
शब्दोऽपरो महाराज तत्राऽपि प्राहरं शरैः ॥ ७ ॥
एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥ ८ ॥
ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत ।
सौभं कामगमं वीरो मोहयन्मम चक्षुषी ॥ ९ ॥
ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः ।
शिलावर्षेण महता सहसा मां समावृणोत् ॥१०॥
सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः ।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥ ११ ॥
ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः ।
अप्रख्यातिमियां राजन्सर्वतः पर्वतैश्चितः ॥ १२ ॥
ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममाऽऽसन्सैनिकास्तदा ।
ते भयार्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १३ ॥
ततो हाहाकृतमभूत्सर्वं किल विशांपते ।

चलाए, तब शब्द बन्द हो गया, तब मैंने प्रकाशमान सूर्यके समान तेजवाले, शब्दवेधी बाणोंसे उन सब राक्षसोंको मारडाला, जिन्होंने वह शब्द किया था। (१–६)

हे महाराज ! जब वह शब्द बंद हो गया तो पुनः दूसरी ओर शब्द हुआ, मैंने वहांभी बाणोंसे वैसेही राक्षसोंको मारा, हे भारत! इस प्रकारसे दशोंदिशाओंमें नीचे और ऊपर ऐसाही शब्द हुआ, मैं सब ओर राक्षसोंको ऐसेही मारता रहा, हे वीर ! तब मैंने प्राग्ज्योतिष पुरमें जाकर पुनः सौभको अपने नेत्रोंको मोहित करते देखा, तब लोकका नाश करनेवाला, दारुण शरीरवाला दानव महा शिला वर्षण करके मुझसे लडने लगा, हे महाराज ! मैं बारबार शिला वर्षणसे पीडित होकर ऐसा दीखने लगा, जैसा, पहाडमें बिल । (७-११)

हे महाराज ! मैं घोडे और सारथीके समेत पर्वतोंके मारे अदृश्य हो गया, तब वृष्णिवंशी मेरे सैन्यवाले भयसे व्याकुल होकर चारों ओरको भाग गए, हे महाराज ! जब मैं किसीको न दीखने

द्यौश्च भूमिश्च खं चैवाऽदृश्यमाने तथा मयि ॥१४॥
ततो विषण्णमनसो मम राजन्सुहृज्जनाः ।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥ १५ ॥
द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाऽद्विषतामपि ।
एवं विजितवान्वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥ १६ ॥
ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम् ।
वज्रमुद्यम्य तान्सर्वान्पर्वतान्समशातयम् ॥ १७ ॥
ततः पर्वतभारार्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः ।
हया मम महाराजवेपमाना इवाऽभवन् ॥ १८ ॥
मेघजालमिवाऽऽकाशे विदार्याऽभ्युदितं रविम् ।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन्पुनः ॥ १९ ॥
ततः पर्वतभारार्तान्मन्दप्राणविचेष्टितान् ।
हयान्संदृश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः२० ॥
साधु संपश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ।
अलं कृष्णाऽवमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ॥ २१ ॥
मार्दवं सखितां चैव शाल्वादस्य व्यपाहर ।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ।

लगा तो स्वर्ग, आकाश, और भूमि सबमें हाहाकार मच गया, हे राजन्! तब मेरे मित्रलोग दुःख शोकसे भरकर मलीन-मन होकर रोने पीटने लगे, हे अच्युत! हे वीर! शत्रुओंमें प्रसन्नता और मेरे मित्रोंमें दुःखने प्रवेश किया, जब मुझे संज्ञा प्राप्त हुई तो यही शब्द सुना कि शाल्वने कृष्णको जीत लिया। तब मैंने इन्द्रके प्यारे शस्त्र पर्वतनाशक वज्रका प्रयोग करके उन सब पर्वतोंको नाश कर दिया। (१२—१७)

हे महाराज! अनन्तर पर्वतकी अधिक मारसे दुःखी होकर मेरे घोडे कांपने लगे, मन्दबल मन्द चेष्टायुक्त हो गए, जैसे मेघ समूहको फाडकर सूर्य उदय होता है वैसेही मुझे पर्वत जालसे मुक्त हुआ देखकर मेरे सब बान्धव प्रसन्न हुए, तब पर्वतोंके बोझसे व्याकुल अल्पबल मन्द चेष्टावाले घोडोंको देखकर सूतने उसके अनकूल मुझसे कहा, कि वह आप भली-प्रकारसे देखिये वह शाल्वराजा खडा है, हे कृष्ण! अब इसको छोडना उचित नहीं है,उत्तम यत्न कीजिये, हे महाबाहो! हे केशव! अब आप शाल्वसे कोमलता

सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ॥ २२ ॥
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
योऽपि स्यात्पीठगः कश्चित्किं पुनः समरे स्थितः२३॥
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ।
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात्पुनः२४॥
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नाऽपि सखा तव ।
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चाऽवमर्दिता ॥ २५ ॥
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाऽहं सारथेर्वचः ।
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ॥ २६ ॥
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ।
दारुकं चाऽब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति ॥ २७ ॥
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवान् ।
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ॥ २८ ॥
योजयंस्तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥ २९ ॥
यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ३० ॥
क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम् ।

और मित्रताको छोड दीजिये, अब इसे जीता मत छोडिये शीघ्रही जीत लीजिये, हे वीर ! बलवानकोभी उचित है, कि अपने दुर्बल शत्रुको न छोडें, सब यत्नोंसे शत्रु मारनेहीके योग्य हैं, हे पुरुष शार्दूल! हे प्रभो ! यदि शत्रु अपने घरभी बैठा हो तो उसे विना युद्धभी मार डालना चाहिये तथा युद्धमें स्थित को भी। हे वृष्णिकुलश्रेष्ठ ! यह मृदु युद्धसे वशमें नहीं आवेगा, न यह आपका मित्र है, अतएव आप इस शाल्वको नाश कीजिये समय नष्ट मत कीजिये, इसने आपसे युद्ध किया, द्वारिकामें उपद्रव किया। (१८-२५)

हे कुन्तीपुत्र ! मैंने सारथीके यह वचन सुनकर जाना, कि यह ठीक कहता है, तब मैंने युद्धमें अपने चित्तको लगाया, शाल्वके मारने और सौभके गिरानेकी बुद्धि करी, और सारथीसे कहा कि तुम क्षणमात्र स्थिर रहो, तब मैंने न चूकने योग्य, दिव्य, न भेदने योग्य, महाबलवान, सब सहनेवाला, महा प्रकाशमान, दानवोंका अन्त करने- वाला, अग्नि अस्त्र धनुषपर धारण किया, युद्धमें यक्ष, राक्षस, दानव, और दुष्कर्मी

अनुमन्त्र्याऽहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ॥ ३१ ॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चाऽत्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा॥ ३२ ॥
रूपं सुदर्शनस्याऽऽसीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥ ३३ ॥
तत्समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ३४ ॥
द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥ ३५ ॥
तस्मिन्निपतिते सौभे चक्रमागात्करं मम ।
पुनश्चाऽऽदाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३६ ॥
ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३७ ॥
तस्मिन्विनिहते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ३८ ॥
ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।

राजोंका भस्म करनेवाला जैसी छुरीकी धार होती है, वैसा निर्मल, काल और यमके समान, शत्रुओंके नाशक चक्रको मैंने अभिमन्त्रित करके उससे कहा कि तुम अपने बलसे मेरे जो यहां शत्रु हैं, उनको और सौभको नष्ट कर दो। २६-३१

ऐसा कहकर मैंने क्रोधसे और हाथके बलसे उसको शाल्वकी ओर छोडा, उस समय सुदर्शन चक्रके आकाशसे गिरते ऐसा रूप प्रकाशित हुआ, जैसे प्रलयकालमें दूसरे सूर्यका, उसके छूटतेही सौभ तेजहीन हो गया; उसने सौभको बीचसे ऐसा काट दिया, जैसे आरा वृक्षको काटता है, जैसे शिवके बाणसे नष्ट होकर त्रिपुरासुरका नगर पृथिवीपर गिरा था वैसेही मेरे चक्रसे कटकर सौभ पृथिवीमें गिर गया। (३२—३५)

जब वह नगर गिर गया, तो चक्र वेगसे पुनःमेरे हाथहीमें आगया, मैंने उसे लेकर पुनः शाल्वकी ओर चलाया, तब शाल्वने एक भारी गदा चक्रमें मारी परन्तु चक्रने उसे शाल्वके समेत दो टुकडे कर दिया, और तेजसे प्रकाशित होने लगा, जब वीर शाल्व मर गया, तो दानवलोग मेरे बाणोंसे पीडित होकर भयसे हाहाकार करते हुए सब दिशाओंको भागने लगे,

शङ्खं प्रध्माय हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥ ३९ ॥
तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः संप्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥
एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तात्पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ ४१ ॥
तदेतत्कारणं राजन्यदहं नागसाह्वयम् ।
नाऽऽगमं परवीरघ्न न हि जीवेत्सुयोधनः ॥ ४२ ॥
मय्यागतेऽथ वा वीर द्यूतं न भविता तथा ।
अद्याऽहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ४३ ॥
वैशम्पायन उवाच— एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान्पाण्डवान्मधुसूदनः ४४ ॥
अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥ ४५ ॥
परिष्वक्तश्चाऽर्जुनेन यमाभ्यां चाऽभिवादितः ।
संमानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चाऽर्चितोऽश्रुभिः ४६॥
सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् ।

तब मै अपने रथको सौभके समीप लेजाकर आनन्दसे शंख बजाकर अपने मित्रोंको आनन्दित किया, और सौभ मेरुके शिखरके समान जलने लगा, उसके स्थान और अटारियोंको जलते देखकर स्त्रियां भाग गयीं । (३९—४०)

हे राजन् ! मैंने इस प्रकारसे सौभको तोड शाल्वको मार पुनः द्वारिकामें आकर अपने मित्रोंको प्रसन्न किया, हे शत्रुनाशन ! यही कारण हुआ जो मैं जुएके समय हस्तिनापुरमें नहीं आया, अन्यथा या तो दुर्योधन जीताही न रहता, या ऐसा जुआ ही न होता, अब मैं क्या करूं ? मेरी वही दशा है, जैसे बांध टूटने पर पुल बांधनेवालेकी होती है । (४१-४३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, महाबाहु श्रीमान् मधुदैत्य नाशक श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर पाण्डवोंकी आज्ञासे चलने लगे, महाबाहु कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेनको प्रणाम करी, उन दोनोंने उनके माथेको सूंघा अर्जुनसे मिले, तथा नकुल और सहदेवने उन्हें दण्डवत करी, धौम्यने आशीर्वाद दिया, द्रौपदीने आँसुवोंसे पूजा करी, तब कृष्ण सुभद्रा और अभिमन्युको सोनेके

आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥ ४७ ॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ ४८ ॥
ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ ४९ ॥
धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाऽथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान्दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ ५० ॥
कैकेयाश्चाऽप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनाऽमितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान्सर्वान्प्रययुस्तेऽपि भारत ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।
विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ५२ ॥
समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥ ५३ ॥
युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान्काले रथान्योजयतेति वै ॥ ५४ ॥ [९०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

रथपर चढाकर संग ले चले; तब पाण्डवों से पूजित हो और युधिष्ठिरको समुझाय सूर्यके समान तेजयुक्त, शैब्यसुग्रीव घोडों सहित रथपर चढकर द्वारिकाको चले गए। (४४—४८)

जब श्रीकृष्ण चले गए तो धृष्टद्युम्नभी द्रौपदीके पांचोंपुत्रोंको अपने सङ्ग लेकर निज नरको गए, धृष्टकेतुभी(शिशुपालके पुत्र और नकुलके साले) अपनी बहन को सङ्ग लेकर पाण्डवोंसे मिलकर रम्य शुक्तिमती नगरीको गये, पश्चात् कैकेय लोगभी (सहदेवके साले) महा तेजस्वी युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर और पाण्डवोंसे विदा होकर अपने स्थानको चले गये, ब्राह्मण, बनिये तथा अन्य सङ्ग रहनेवाले लोग पाण्डवोंके बहुत कहने परभी पाण्डवोंको छोडनेकी इच्छा न करने लगे, हे महाराज ! हे भरतर्षभ जनमेजय ! यह उस काम्यक वनमें महात्माओंका विचित्र समागम हुआ, तब महाराज युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंका सन्मान करके अच्छे कालमें अपने पुरुषोंको आज्ञा दी कि हमारे रथ योजित करो। (४९-५४)

वनपर्वमें बाईस अध्याय समाप्त। [९०९]

वैशम्पायन उवाच– तस्मिन्दशार्हाधिपतौ प्रयाते युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च रथान्महार्हान्परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान्वसनानि गाश्च प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ॥२॥
प्रेष्याःपुरो विंशतिरात्तशस्त्रा धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान् ।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च सर्वे समादाय जघन्यमीयुः ॥ ३ ॥
ततश्च वासांसि च राजपुत्र्या धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च ।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य जघन्यमेवोपययौ रथेन ॥ ४ ॥
ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।
तं ब्राह्मणाश्चाऽभ्यवदन्प्रसन्ना मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ५ ॥
स चाऽपि तानभ्यवदत्प्रसन्नः सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः ।
तस्थौ च तत्राऽधिपतिर्महात्मा दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ६ ॥
पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा ।
ते चाऽपि तस्मिन्भरतप्रबर्हे तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥ ७ ॥

वनपर्वमें तेईस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जब दशार्हदेशके स्वामी (श्रीकृष्ण) चलेगए, तो युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और धौम्य पुरोहित,यह सब उत्तम बडेबडे घोडोंसे युक्त रथोंपर चढ कर वेद वेदांग जाननेवाले ब्राह्मणोंको सुवर्ण निष्क (१०२ सुवर्णकी मुद्रा अथवा कण्ठभूषण विशेष) वस्त्र, और गौ देकर शिवके समान वनको चले, उनके वीस कर्मचारीभी शस्त्रनिपुण, धनुष, शस्त्र, प्रकाशमान बाणज्या (रोदा) यन्त्र (कल) सायक,लेकर सब लोग आगे पीछे चले । पश्चात् सुभद्राके वस्त्र, धाय, दासी और आभूषण लेकर इन्द्रसेन द्वारिका को गया, तब कुरुकुलश्रेष्ठ धर्मराज के समीप जाकर सब उदार पुरवासियोंने उनकी प्रदक्षिणा करी, कुरु जांगल देशके रहनेवालोंमें मुख्यलोग और ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उनसे कुछ वार्तालाप किया, और महाराजनेभी भाइयोंके समेत उन सबसे प्रसन्न चित्तसे बात करी । (१—६)

कुरुदेशवासी प्रधान लोगोंकी भक्ति देखकर महात्मा महाराज युधिष्ठिर वहां ठहर गए,कुरुकुलसिंह महात्मा युधिष्ठिर- ने उन प्रजाके पुरुषोंसे वैसाही भाव किया जैसा पिता पुत्रोंसे करता है और उन लोगोंने भी उन कुरुश्रेष्ठ महाराजसे वैसाही भाव किया जैसा लोग पितासे

ततस्तमासाद्य महाजनौघाः कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः ।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा ह्रीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन् ॥ ८ ॥
वरः कुरूणामधिपः प्रजानां पितेव पुत्रानपहाय चाऽस्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ९ ॥
धिग्धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं धिक्सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा ये धर्मनित्यस्य सतस्तवैवम् ॥ १० ॥
स्वयं निवेश्याऽप्रतिमं महात्मा पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ११ ॥
चकार यामप्रतिमां महात्मा सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ १२ ॥
तान्धर्मकामार्थविदुत्तमौजा बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥ १३ ॥
द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक्च भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥ १४ ॥

करते हैं। तब सब कुरुकुलवीरोंको प्राप्त करके सब पुरुषोंने आंसुवोंसे मुखको भरके लज्जित होकर हा नाथ! हा धर्मराज! ऐसा कहा, फिर वे सब उनके चारों ओर बैठ गए। (६-८)

वह लोग कहने लगे, कि कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ, प्रजाके स्वामी धर्मराज, हमारे पिताके समान हैं, हम उनके पुत्र समान हैं, वे पुत्रके समान नगर और देश निवासियोंको छोड कर कहीं जाते हैं? निर्लज्ज धृतराष्ट्र पुत्रको धिकार है, शकुनी और पापी कर्णको धिकार है। हे नरनाथ! जो लोग महात्मा आपके निमित्त अनर्थ करते हैं, उनको धिकार है। जो महात्मा देवके समान उपमा रहित इन्द्रप्रस्थ - नगर बसाकर रहे थ, वह अप्रमाण कर्मकर्ता धर्मराज उसे छोड कहां जाते हैं? जिस देवसभाके समान सभाको महात्मा मयने उपमा रहित बनाया था, उसे देव रक्षित देव मायाके समान छोडकर धर्म राज कहां जाते हैं? (९—१२)

इस प्रकारसे कहते हुए पजाके मुख्य लोगोंसे अर्थ और धर्मके जानने वाले, तेजस्वी अर्जुनने उच्च स्वरमें यों कहा, महाराज वनमें वास करके शत्रुओंके यशको नाश करके पुनः उन वस्तुओंको ग्रहण करेंगे, आपलोग, द्विजातियोंमें मुख्य मिले हों वा अलग हों उनको प्रसन्न करके आपलोग धर्म और अर्थकी वार्ता करते रहियेगा इसीसे हमारी परम

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाऽभ्यनन्दन्सहिताश्च चक्रुः प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् १५॥
आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च धनञ्जयं याज्ञसेनीं यमौ च ।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा युधिष्ठिरेणाऽनुमता यथास्वम् ॥ १६ ॥ [९२५]

इति श्रीमहा० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसङ्गरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन्सर्वान्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
द्वादशेमाः समाऽस्माभिर्वस्तव्यं निर्जने वने।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥ २ ॥
बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥ ३ ॥
एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनञ्जयः ।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच— भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ॥ ५ ॥
त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।

सिद्धि होगी, हे जनमेजय! अर्जुनका यह वचन सुनकर ब्राह्मणादि सब वर्ण उनकी प्रशंसा कर महाराजको प्रदक्षिणाकर महाराज, भीमसेन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, और धौम्य पुरोहित से आज्ञा मांगकर निरानन्द होकर युधिष्ठिरकी आज्ञा यथोचित पालन कर अपने अपने घरको चले गए। (१३—१६) [९२५]

वनपर्वमें तेइस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें चौवीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन बोले, जब वे प्रजागण सब पुरुष चले गए तो सत्यपालक धर्मात्मा, कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सब भाइयोंसे ऐसा बोले, बारह वर्ष पर्यन्त हम लोगोंको यहीं वसना है, सो तुम लोग इस महावनमें ऐसा स्थान ढूंढो जहां बहुत हरिण, पक्षी और फल हों। जो स्थान रम्य, सत्पुरुषोंसे कल्याण मय हो, जहां इन सब वर्षोंको हम सुखसे विता सकें। लोकगुरु मनस्वी धर्मराजके ऐसे वचन सुनकर अर्जुन उनका गुरुके समान सन्मान करके कहने लगे। (१—४)

अर्जुन बोले, कि हे भरतर्षभ! आप वृद्ध ऋषियोंके उपासक हैं, अतएव मनुष्य लोकमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप नहीं जानते हैं, आपने जगतमें

द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥ ६ ॥
यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी ।
देवलोकाद्ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७ ॥
अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥ ८ ॥
त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयःकारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥ ९ ॥
इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ १० ॥
यत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन्किमन्यन्मन्यते भवान् ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच— ममाऽप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत्समुदाहृतम् ।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच– ततस्ते प्रययुः सर्वे पाडवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।

व्यास आदि ब्राह्मणोंकी सेवा करी है, जो देवलोकसे ब्रह्मलोक वहांसे गन्धर्व लोक और अप्सरालोक आदि सब स्थानोंको जाते हैं, जो सदाही सब लोकोंके द्वारमें घूमा करते हैं, आपने उन नारदकी सेवा करी है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप ब्राह्मणोंके प्रभावोंको जानते हैं । हे राजन्! कल्याणके कारण को आपही जानते हैं, हे महाराज! जहां आपकी इच्छा हो हम सब वहीं निवास करेंगे,यह द्वैतवन नामक तडाग है, इसमें पवित्र जल भरा है, यह वन रम्य है, इसमें पुष्प और पक्षी बहुत हैं, मुझे यही अच्छा भान होता है, कि हमलोग द्वादशवर्ष पर्यन्त यहीं विहार करें, हे महाराज ! यदि आपकी रुचि हो तो यहीं निवास कीजिये । (५–११)

युधिष्ठिर बोले, हे अर्जुन ! तुमने जो कहा सोही मेरीभी इच्छा है, अतएव हम सब अब पुण्य द्वैतवन नामक तडागको चलते हैं । (१२)

श्रीवैशंपायनजी बोले, तब वे सब धार्मिक लोग वहांसे अनेक ब्राह्मणोंको संग ले पुण्यमय द्वैतवन सरको चले गये, वहां युधिष्ठिरके मिलनेको अग्निहोत्री, निराग्नि (जो अग्निहोत्र न करें), वेद पढानेवाले

स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ॥ १४ ॥
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
ततः सिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ॥ १५ ॥
ते यात्वा पाण्डवास्तत्र बहुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ १६ ॥
तमालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १७ ॥
महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थुर्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसंघास्तस्मिन्वने बर्हिणकोकिलाश्च ॥ १८ ॥
करेणुयूथैः सह यूथपानां मदोत्कटानामचलप्रभाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां तस्मिन्वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १९ ॥
मनोरमां भोगवतीमुपेत्य पूतात्मनां चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन्वने धर्मभृतां निवासे ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥ २० ॥
ततः स यानादवरुह्य राजा सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठस्त्रिविष्टपं शक्र इवाऽमितौजाः ॥ २१ ॥
तं सत्यसन्धं सहिताऽभिपेतुर्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसंघाः ।

और वनके रहनेवाले भिक्षुक लोग आये। सैकडों ब्राह्मण, तपसे सिद्ध व्रतीलोग आये, वे लोग अनेक ब्राह्मणोंके सहित पाण्डवोंसे मिलकर रम्य द्वैतवनसरके समीपको चले गये, पाण्डव लोगोंने उनके सहित पुण्य द्वैतवन तडागको वसे, वहां महाबली राजेश्वर युधिष्ठिरने वसन्तमें फूले हुए साल, ताड, महुवा, नीप (कदम्ब आदि) राऊ, अर्जुन (वृक्ष विशेष) और कचनारको देखा कि वृक्षोंपर बैठकर मोर, चकवा, चकोर, मोरनी, कोकिला मीठे मीठे स्वरोंसे शब्द कर रहे हैं, हस्तिनियोंके यूथके समेत अनेक मतवाले पहाडके समान शरीर वाले यूथपति हाथियोंकी अनेक मण्डली पडी हैं। (१३—१९)

अनन्तर सुन्दर राजाने सरस्वतीपर जाकर, जटावल्कलधारी, पवित्र, तपस्वी धर्मात्मोंके, निवास वनमें अनेक सिद्ध और ऋषिओंके गणको देखा, तब अपने भाई और पुरुषोंके सहित रथोंसे उतरकर जैसे इन्द्र स्वर्गमें प्रवेश करते हैं तैसे हा राजाने वनमें प्रवेश किया। अनन्तर उन धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ धर्मज्ञको इच्छा रखनेवाले सिद्ध और चारण, इकट्ठे होकर आए, तथा और भी

*

वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं मनस्विनं तं परिवार्य तस्थुः ॥ २२ ॥
स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्प्रत्यर्चितो राजवद्देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥२३॥
स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥ २४ ॥
भीमश्च कृष्णा च धनञ्जयश्च यमौ च ते चाऽनुचरा नरेन्द्रम् ।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ॥ २५ ॥
लतावतानावनतः स पाण्डवैर्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः ।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभिर्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥ २६ ॥[९५१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच- तत्काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥ १ ॥
यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वांस्तस्मिन्वने मूलफलैरुदग्रैः ।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां संतर्पयामास महानुभावः ॥ २ ॥

वनवासी तपस्वीलोगोंने आकर महाराज को चारों ओरसे घेर लिया, तब, महाराजने सब सिद्धोंको प्रणाम किया उन्होंनेभी इनको देवता और राजाके समान पूजा। तब धर्म जानने वालोंमें उत्तम युधिष्ठिरने हाथ जोडकर सब ब्राह्मणोंके सहित वनमें प्रवेश किया। (२०–२३)

अनन्तर वह धर्मज्ञ पुण्यात्मा राजा महातपस्विओंसे पुत्रके समान सत्कार पाकर पूजा ग्रहण करके एक फूल भरे भारी वृक्षकी छायामें बैठ गये, उनके बैठनेके पश्चात् भीमसेन, द्रौपदी, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा और सब लोग अपने रथोंसे उतर कर उसी वृक्षके नीचे बैठ गये, लताओंसे भरनेके कारण झुकी हुई शाखावाला वह वृक्ष, धनुर्धारी पांच पाण्डवोंसे ऐसा शोभित हुआ, जैसे बडा पर्वत पांच यूथपाल हाथियोंके बैठनेसे शोभित होता है। (२४–२६)

वनपर्वमें चौवीस अध्याय समाप्त। [९५१]

वनपर्वमें पचीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, इन्द्रके समान महाराज पाण्डुके योग्य पुत्र होनेपरभी दुःखसे उस वनमें निवास करते हुए, उत्तम सरस्वती नदीके तट पर उस वनमें महानुभाव, कुरुकुलसिंह राजा युधिष्ठिर उत्तम मूल और फलोंसे यति, मुनि और

इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च महावने वसतां पाण्डवानाम् ।
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजाश्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम् ॥ ३ ॥
अपेत्य राष्ट्राद्वसतां तु तेषामृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम ।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ॥ ४ ॥
तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः ।
अपूजयत्सुरऋषिमानवार्चितं महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्यवान् ॥ ५ ॥
स सर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः ॥ ६ ॥
तं धर्मराजो विमना इवाऽब्रवीत्सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी ।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्टस्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ॥ ७ ॥
मार्कण्डेय उवाच- न तात हृष्यामि न च स्मयामि प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवाऽऽपदं त्वद्य समीक्ष्य रामं सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥ ८ ॥
स चापि राजा सह लक्ष्मणेन वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
धन्वी चरन्पार्थ मयैव दृष्टो गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ॥ ९ ॥
सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता ।

समस्त ब्राह्मणोंको तृप्त करते थे। उसी वनमें राजपुरोहित महा तेजस्वी धौम्य पाण्डवोंकी यज्ञ और पैतृक क्रिया पिताके समान कराते थे। (१—३)

राज्यसे नष्ट हुए वनवासी श्रीमान पाण्डवोंके आश्रममें, महा तेजस्वी, मार्कण्डेय मुनि अतिथि होकर आए, कुरुकुलसिंह सत्यपराक्रम, अनुपम महामनस्वी युधिष्ठिरने जलती अग्निके समान तेजस्वी, ऋषि, देवता, और मनुष्योंसे पूजित ऋषिको आते देखकर पूजा करी। उन सर्वज्ञ मुनिने द्रौपदी, युधिष्ठिर, भीमसेन, और अर्जुनको देखकर मनसे रामका स्मरण किया और महात्मा महातेजस्वी मार्कण्डेय तपस्वी लोगोंके मध्य में हंसने लगे। तब धर्मराजने कुछ विमन होकर उनसे कहा कि यह सब मुनीश्वर लोग लज्जित बैठे हैं, आप सब तपस्वियोंके सामने प्रसन्नचित्तसे मुझे देख कर हंसते हैं, इसका कारण क्या? (४-७)

मार्कण्डेय बोले, हे तात ! हे पार्थ ! मैं न प्रसन्नतासे हूं, न आश्चर्य करता हूं, न मुझे कुछ आनन्दका अभिमान भया है, मैं तुम्हारी इस आपत्तिको देखके सत्यव्रत, दशरथपुत्र, रामका स्मरण, करता हूं। वह राजाभी लक्ष्मणके समेत पिताकी आज्ञासे वनमें बसे थे, मैंने उन्हे ऋष्यमूक पर्वतके समीप धनुष धारण किये

पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं वासं वने दाशरथिश्चकार ॥ १० ॥
स चापि शक्रस्य समप्रभावो महानुभावः समरेष्वजेयः ।
विहाय भोगानचरद्वनेषु नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ ११ ॥
नृपाश्च नाभागभगीरथादयो महीमिमां सागरान्तां विजित्य ।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १२ ॥
अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं सत्यव्रतं काशिकरूषराजम् ।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥१३॥
धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणैस्तं पूजयन्तो नरवर्य सन्तः ।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥१४॥
महाबलान्पर्वतकूटमात्रान्विषाणिनः पश्य गजान्नरेन्द्र ।
स्थितान्निदेशे नरवर्य धातुर्नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १५ ॥
सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य तथा यथावद्विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितः कर्म सदाऽऽचरन्ति नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥१६॥
सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।

घूमते देखा था, यमके शासक नमुचीके नाशक सहस्र नेत्र इन्द्रके समान महात्मा पापरहित, धर्मपालक दशरथके पुत्र रामने वनमें वास किया था; वह इन्द्रके समान प्रभाव युक्त महानुभाव, युद्धमें अजेय, राजाभी सब भागोंको छोडकर वनमें वसे थे, इससे क्या बल रहते अधर्म करना उचित है ? अर्थात् अनुचित है, हे तात ! नाभाग और भगीरथादि राजोंने इस पृथिवीको समुद्र पर्यन्त जीतकर सत्यसे परलोकको जीता। अतएव शक्ति होने परभी अधर्म न करना चाहिये ! (८–१२)

हे पुरुषश्रेष्ठ! अलर्क, सत्यव्रत काशिराज, करुषदेशके राजा, यह सब लोग राज्य और धनको छोडकर वनमें रहे थे अतएव शक्ति रहनेपरभी धर्मही कर्तव्य है, हे कुरुश्रेष्ठ! देखो यह सप्त ऋषि ब्रह्माके नियमको पालन करते हुए, आज पर्यन्त आकाशमें प्रकाशित हैं, बल रहते भी क्या अधर्म करना योग्य है ? हे नरेन्द्र ! महाबलयुक्त पर्वतके समान शरीरवाले दन्तारे हाथियोंको देखिये कि यह ब्रह्माकी आज्ञाहीसे चलते हैं, बल रहनेपरभी धर्महीं कर्तव्य है। हे नरेंद्र ! सब प्राणियोंको देख यह वैसेही स्थिर हैं, जैसे ब्रह्माने योजित किया है। अपनी योग्यताके अनुसार सदाही कर्म करते हैं, बल रहनेपरभी अधर्म न करना चाहिये। (१३–१६)

यशश्च तेजश्च तथाऽपि दीप्तं विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥१७॥
यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्तामादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच– तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षिस्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थांस्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः॥१९॥ [९७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच–वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ १ ॥
ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥
यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ॥ ३ ॥
ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ ४ ॥
अथाऽब्रवीद्बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

हे कुन्तीपुत्र! सत्य, धर्म, उचित वृत्ति और लज्जासे सब प्राणियोंको उल्लङ्घन करके तुम्हारा यश, तेजयुक्त सूर्य के समान प्रकाशित है, हे महानुभाव! तुम प्रतिज्ञाके अनुसार कठिन वनवासको काटकर अपने तेजसे प्रकाशित लक्ष्मीको कौरवोंसे ग्रहण करोगे। (१७-१८)

वैशम्पायनजी बोले, सुहृद लोगोंके सहित, तपस्वियोंके मध्यमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे, मार्कण्डेय महर्षि ऐसा कहकर धौम्य सहित पाण्डवोंसे पूछ कर उत्तर दिशाको चले गए। (१९) [९७०]

वनपर्वमें पचीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छब्बीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, महात्मा पाण्डवोंके बसनेसे वह महावन ब्राह्मणोंसे पूर्ण हो गया, उस समय वेदशब्दसे पूर्ण द्वैतवन सब ओर से ब्रह्मलोकके समान भान होता था, वहां चारों ओर ऋग्वेद, यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थहीकी ध्वनि सुन पडती थी, वहां पाण्डवोंके धनुषोंका शब्द, और ब्राह्मणोंके वेदपाठका शब्द होनेसे ऐसा भान होता था, कि मानो ब्रह्माने ब्राह्मण और क्षत्रियोंको बनाकर पुनः मिलाया है। (१-४)

सन्ध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ५ ॥
पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ संप्रज्वलितपावकाम् ॥ ६ ॥
चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ॥ ७ ॥
आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ॥ ८ ॥
इदं तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव ९ ॥
ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून्वनानीवाऽग्निमारुतौ ॥ १० ॥
नाऽब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषेदिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ ११ ॥
चरन्नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाऽध्यगच्छद्बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥ १२ ॥
अन्यूनमासीदसुरस्य कामैर्वैरोचनेः श्रीरपि चाऽक्षयाऽऽसीत् ।

अनन्तर बकदाल्भ्य मुनि ब्राह्मणोंसे परिवृत संध्यामें बैठे हुए, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहने लगे, हे पृथापुत्र! देखो इस द्वैतवनमें तपस्वी ब्राह्मणलोगोंका अग्निहोत्रका समय है, देखो अग्नि जल रही है, हे महाराज! देखो यह आपसे रक्षित होकर इस पुण्यक्षेत्र वनमें भृगुवंशी, अङ्गिरावंशी, वसिष्ठवंशोद्भव, काश्यप, महाभाग अगस्त्य, और उत्तम व्रतधारी अत्रि वंशोत्पन्न, व्रतधारी, जगतके श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग आपके सङ्ग रहते हैं। ५–८

हे कौरव! हे कौन्तेय! मैं जो वचन कहता हूं, सो तुम भाइयोंके समेत श्रवण करो, ब्राह्मण क्षत्रियोंसे और क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे मिले हैं, यह दोनों प्रकाशित होकर शत्रुओंको वैसेही नाशकर सकते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर वनको नाश कर देते हैं। हे तात! क्षत्रियोंको उचित है, कि विना ब्राह्मणके ऐश्वर्य और इस लोकके जीतनेकी इच्छा न करें। और क्षत्रिय धर्म जाननेवाले, द्रोह रहित, ब्राह्मणको प्राप्तकर राजा अपने शत्रुओंको जीतता है! प्रजापालन और उत्तम धर्म करता हुआ राजा ब्राह्मणको छोडकर दूसरे तीर्थको न जाय, देखो राक्षस बलिको कामके अनुसार क्षयहीन

लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसंप्रयोगात्तेष्वाचरन्दुष्टमथो व्यनश्यत् ॥१३॥
नाऽब्राह्मणं भूमिरियं सभूतिर्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम् ॥१४॥
कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याऽङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १५ ॥
ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति॥१६॥
यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् ।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परिवृद्धये ॥ १८ ॥
अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय॥१९॥
ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ २० ॥

लक्ष्मी प्राप्त हुई थी, ब्राह्मणकी आराधना करनेसे उसने पृथिवीको प्राप्त किया था अन्तको जब ब्राह्मणोंसे दुष्टता करी तब नष्ट होगया । (९—१३)

जो ब्राह्मणकी सेवा नहीं करता उसे पृथ्वी अधिक समयतक प्राप्त नहीं होती है। जिस विनयवान् अन्य वर्णके पुरुषको ब्राह्मण शासन करता है, उससे समुद्र पर्यन्त जगत् नम्र होता है । जैसे हाथियोंके युद्धमें महावत (हाथीवान्) के विना योद्धाका बल घट जाता है, तैसेही ब्राह्मणसे रहित क्षत्रियका बल हीन हो जाता है, ब्राह्मणकी उपमारहित विद्या और क्षत्रियका असामान्य बल, यह दोनों यदि मिलकर कार्य करें,तो लोकमें आनन्द होता है । जैसे वायुको सङ्ग लेकर अग्नि बडे भारी काष्ठ आदिके समूहको भी भस्मकर देता है, तैसेही ब्राह्मणकी सहायतासे क्षत्रिय बडे शत्रुकोभी नाशकर देता है बुद्धिमान् क्षत्रिय, विना प्राप्त हुई वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त हुईकी वृद्धिके अर्थ अपनी बुद्धिको ब्राह्मणहीमें लगावे, हे युधिष्ठिर ! तुम अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्तिकी वृद्धि तथा तीर्थोंके यथार्थ स्थापनके निमित्त, यशस्वी, वेद जाननेवाले, पण्डित, बहुश्रुत, ब्राह्मणहीको अपने यहां बसाओ, तुम्हारी वृत्ति ब्राह्मणोंमें सदा बहुत ही

वैशम्पायन उवाच–ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकदाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥
द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥ २२ ॥
कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूलकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ॥२३ ॥
कृतवाक्च सुवाक्चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥ २४ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरन्दरमिवर्षयः ॥ २५ ॥ [९९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि
द्वैतवनप्रवेशे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपाविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥ १ ॥
प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
द्रौपद्युवाच— न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।

उत्तम है, अतएव तुम्हारा यश सब लोकोंमें प्रसिद्ध है। (१४—२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जब बकदाल्भ्य मुनिने युधिष्ठिरकी ऐसी प्रशंसा करी, तो सब मुनिलोग पुनः प्रसन्न होकर बकदाल्भ्यकी प्रशंसा करने लगे। द्वैपायन (व्यास), नारद, जामदग्नि पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपात, कर्णश्रवा, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप,हारीत,स्थूणकर्ण, अग्निवेश्य,शौनक,कृतवाक्, सुवाक्,बृहदश्व,विभावसु, उर्ध्वरेता,वृषामित्र,सुहोत्र और होत्रवाहन इत्यादिको लेकर दूसरे अनेक व्रतधारी ब्राह्मणलोग महाराज युधिष्ठिरकी वैसेही पूजा करने लगे, जैसे इन्द्रकी ऋषिलोग करते हैं। (२१—२५) [९९५]

वनपर्वमें छब्बीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सत्ताइस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले,वनवासी शोक और दुःखसे भरे हुए पाण्डव संध्यासमय द्रौपदी समेत बैठकर वार्तालाप करने लगे। अनन्तर सुन्दरी, पण्डिता पतिव्रता पाण्डवोंकी प्यारी, द्रौपदी धर्मराजसे ऐसा कहने लगी। द्रौपदी बोली,

विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥
यस्त्वां राजन्मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नाऽन्वतप्यत दुर्मतिः ॥४ ॥
आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं ज्येष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत्तदा ॥ ५ ॥
सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥
चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाऽजिनवाससि ॥७ ॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन्दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥
इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाऽभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥
इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चाऽऽसीत्ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥१०॥
दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशबृसीं चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ ११ ॥

उस पापी, निर्लज्ज, दुरात्मा, धृतराष्ट्रके पुत्रको हमारे दुःख पानेसे निश्चय कुछभी दुःख नहीं है । हे राजन् ! जिस दुष्टने मेरे समेत आपको वनवास देकर हरिण चर्म उढाकर कुछभी दुःख नहीं पाया, जिसने धर्म परायण आपको रूखी बात सुनायी, जो पापी, दुरात्मा सुखके योग्य, दुःख के अयोग्य, आपको इस दुर्दशामें डालकर आप बन्धुओंके सहित सुख भोगता है; निश्चय उस दुर्मति, दुष्कर्मीका हृदय लोहेका है । (१—६)

हे भारत ! जब आप हरिण चर्म धारण करके वनको चले थे, उस समय दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनी और उस दुष्ट दुःशासन, इनही पापियोंके नेत्रसे आंसू नहीं गिरी थीं । हे कुरुसत्तम ! और जितने कौरव थे, वे सब दुःखसे भरकर रोने लगे थे । हे महाराज ! आपके पहिले पलङ्गको स्मरणकर और इस शयनस्थान को देखकर मैं सुखके योग्य और दुःखके अयोग्य आपकोही सोचती हूं । वह हाथीदांतका बना हुआ, सभाके मध्यमें शोभित, रत्नोंसे जडा हुआ, आपका सिंहासन स्मरण करके और यह कुशाके

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १२ ॥
या त्वाऽहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम् ।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ॥ १३ ॥
या त्वाऽहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम् १४॥
यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥ १५ ॥
यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीव गुणवत्प्रभो ॥ १६ ॥
सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ॥ १७ ॥
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८ ॥
यत्ते भ्रातॄन्महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ॥ १९ ॥

आसनको देखकर मुझे शोक घेरे लेता है। (७—११)

हे महाराज! मैंने जिस आपको सभाके मध्यमें सहस्रों राजोंसे वेष्टित देखा था, आज उनहीं आपको एकले और दुःखी देखकर कहिये तो मेरे हृदयको कैसे शान्ति हो सकती है। हे भारत! जिस मैंने आपको चन्दनसे लिप्त-शरीर तथा सूर्य समान तेजयुक्त देखा है, सो मैं आज धूल, और मैलेभरे शरीरवाले आपको देखकर मूर्च्छित हुई जाती हूं। हे राजेन्द्र! जिस मैंने आपको उत्तम निर्मल रेशमके वस्त्र धारण किये देखा था, सो मैं आज आपको चर्म ओढे देखती हूं, हे महाराज! जो सोनेके वर्त्तनमें रखकर सहस्रों ब्राह्मणोंको सब कामनायुक्त (यथेच्छा) उत्तम संस्कार किया हुआ, अन्न आपके घरसे मिलता था, जो ब्रह्मचारी और घरमें रहनेवाले यतियोंको उत्तम गुणयुक्त भोजन दिया था, जो सब कामको प्राप्त करके सहस्रों ब्राह्मण पहिले घरमें पूजे जाते थे, हे राजन्! हे नाथ! वह सब अन्न न देखनेसे मेरे हृदयको क्या शान्ति होगी! (१२—१८)

हे महाराज! जिन आपके भाइयोंको कुण्डलधारी युवा सूप लोग परम उत्तम संस्कार किये सुस्वादु अन्न भोजन कराते

सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ।
अदुःखार्हान्मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः॥२०॥
भीमसेनमिमं चाऽपि दुःखितं वनवासिनम् ।
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते॥२१ ॥
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ।
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २२ ॥
सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २३ ॥
अयं कुरून्रणे सर्वान्हन्तुमुत्सहते प्रभुः ।
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ॥ २४ ॥
योऽर्जुनेनाऽर्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
शरावमर्दे शीघ्रत्वात्कालान्तकयमोपमः ॥ २५ ॥
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः ।
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे ॥ २६ ॥
तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ।
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद्राजन्न कुप्यसि ॥२७ ॥
दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ।

थे, उनही सबको अब वनमें फल, मूल आदि खाकर जीते देखती हूं। हे नरनाथ! इन दुःखोंके अयोग्य तुम्हारे भाइयोंकी यह दशा देखकर मेरा मन शान्त नहीं होता है। हे महाराज! इन भीमसेनको दुःखित और बन वासी देखकर इनके दुःखका ध्यान करके क्या आपको यह काल प्राप्त होनेपरभी क्रोध नहीं बढता? यह भीमसेन एकलाही युद्धमें धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको नाश करनेकी शक्ति रखते हैं, यह केवल आपकी प्रतिज्ञाको पालनेके निमित्त सब सह रहे हैं। (१९-२४)

जो दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र बाहुवाले अर्जुन कृतवीर्य हैहयके तुल्य हैं, जो बाणोंको शीघ्र चलाने और शत्रुके मारनेमें यमराजके समान हैं, जिनके शस्त्रके प्रतापसे सब राजालोग लघु बनकर आपके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी सेवा कर रहे थे, देव और दानवोंसे पूजित नरसिंह अर्जुनको चिन्तायुक्त देखकर, हे महाराज! आपको क्रोध क्यों नहीं आता? दुःख सहनेके अयोग्य, और सुख भोगनेके योग्य कुन्तीनन्दनोंको

न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ॥ २८ ॥
यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २९ ॥
यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ।
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परन्तपः ॥ ३० ॥
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३१ ॥
श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ।
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३२ ॥
दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ।
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात्क्षमसि पार्थिव ॥ ३३ ॥
नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ।
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३४ ॥
द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ॥
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात्क्षमसि पार्थिव ॥ ३५ ॥
नूनं च तव वै नाऽस्तिमन्युर्भरतसत्तम ।

वनमें आये देखके आपको क्रोध नहीं आता इसीसे मुझे सन्देह होता है। (२५-२८)

जिसने एकही रथसे देवता मनुष्य और सर्पोंको जीता, उसको वनवासी देखके आपका क्रोध क्यों नहीं बढता है? जिन्होंने अद्भुत रूपवाली सवारी, हाथी और घोडोंसे आच्छादित होकर बलपूर्वक राजोंसे धन लिया था; जो एकही वार पांचसौ बाण छोडते हैं उन अर्जुनको वनवासी देखके आपका क्रोध क्यों नहीं बढता है? श्यामवर्ण वाले उद्यमी, युवा और युद्धमें तलवार ढाल चलानेवालोंमें श्रेष्ठ नकुलको वनमें देखके आपका क्रोध क्यों नहीं बढता है? हे युधिष्ठिर! मनोहर रूपवाले शूर वीर माद्रीपुत्र सहदेवको वनवासी देखके आप क्यों क्षमा करते हैं? (२९-३३)

नकुल सहदेव जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन दोनोंको दुःखी देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं बढता है? हे राजन् द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई, महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, धृष्टद्युम्नकी बहिन, और अनुकूल रहनेवाली मुझ वीरपत्नीको वनमें फिरती देखके आप क्यों क्षमा करते हैं?

यत्ते आर्तांश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३६ ॥
न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् ।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३७ ॥
यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥ ३८ ॥
तत्त्वया न क्षमा कार्या शत्रून्प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नाऽत्र संशयः ॥ ३९ ॥
तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥ ४० ॥ [१०३५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरितापवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच—
अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ १ ॥
असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥ २ ॥

हे श्रेष्ठ ! निश्चय होता है, कि यथार्थमें तुमको क्रोधही नहीं है । इसीसे तुम्हारा मन अपने भाइयोंको और मुझे देखके पीडित नहीं होता है । (३४-३६)

क्षत्रिय शब्दका यही अर्थ है, कि जिसमें क्रोध हो वही क्षत्रिय है और जिसमें क्रोध न हो वह क्षत्रिय नहीं है, अब मैं तुममें उसका विपरीत भाव देखती हूं ! हे कुन्तीनन्दन ! जो क्षत्रिय समय पाकर क्रोध नहीं करता है, सब प्राणी उसकी सदा निन्दा करते हैं । इस कारणसे तुमको शत्रुओं पर कदापि क्षमा न करनी चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है, कि शत्रु लोग क्रोधसेही मारे जायंगे । ऐसेही जो क्षत्रिय क्षमा योग्य समयमें शान्त नहीं रहता है, वह सब प्राणियोंका अप्रिय होजाता है और उसके यह लोक और परलोक दोनों नाश हो जाते हैं । (३७-४०)[१०३५]

वनपर्वमें सताईस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें अठाईस अध्याय ।

द्रौपदी बोली, इस विषयमें इस पुराने इतिहासका लोग उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें प्रह्लाद और विरोचनके पुत्र बलिका संवाद वर्णित है । महाबुद्धिमान् धर्म-तत्त्वों को जाननेवाले असुरोंके स्वामी प्रह्लादसे उनके पोते बलिने पूंछा, कि हे तात !

बलिरुवाच— क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥
श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत्सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥
तस्मै प्रोवाच तत्सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित्प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥
प्रह्लाद उवाच— न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥
यो नित्यं क्षमते तात बहून्दोषान्स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथाऽरयः ॥ ७ ॥
सर्वभूतानि चाऽप्यस्य न नमन्ते कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता ॥ ८ ॥
अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चाऽस्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः॥९ ॥
यानं वस्त्राण्यलंङ्काराञ्छयनान्यासनानि च।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।

मुझे इनमें बडा सन्देह है, कि क्षमा उत्तम है, वा क्रोध उत्तम है ? मैं आपसे पूछता हूं, आप यथार्थ कहिये । हे धर्मज्ञ ! जो इनमें उत्तम हो, उसे आप संशय-रहित होके कहिये; जैसी आज्ञा होगी वैसा ही मैं करूंगा। (१—४)

ऐसा प्रश्न करनेवाले, बलिसे निश्चय पूर्वक जाननेवाले पितामह प्रह्लाद यों वर्णन करने लगे। प्रह्लाद बोले, न सदा क्रोधही उत्तम है, और न सदा क्षमाही श्रेष्ठ है। हे प्यारे ! इनको तुम सन्देह रहित होके समझ लो; हे तात ! जो सदा क्षमा करता है, उसे बहुत दुःख भोगने पडते हैं ; उसके सेवक उसका अनादर करते हैं, शत्रुलोग उससे उदासीन रहते हैं। हे पुत्र ! क्षमावाले मनुष्यको कोई प्राणी प्रणाम नहीं करता है ; इस कारणसे सदा क्षमा करना पण्डितोंने भी निंदित मना है।(५—८)

क्षमाशील मनुष्यके सेवक निन्दा करके बहुतसे दोषोंको धारण करते हैं, मन्दबुद्धि सेवकलोग क्षमाशीलका धन छीनना चाहते हैं। सवारी, वस्त्र आभूषण, शय्या, आसन, खानेपीनेकी

प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥
न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन्मरणादपि गर्हितम् ॥१२ ॥
क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥१३ ॥
अथाऽस्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चाऽस्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥
तथा च नित्यमुदितो यदि नाऽल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाऽप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् ।
अथ वैरोचने दोषानिमान्विद्ध्यक्षमावताम् ॥१६ ॥
अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसा वृतः ।
क्रुद्धो दण्डान्प्रणयति विविधान्स्वेन तेजसा ॥१७ ॥
मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसा वृतः ।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात्स्वजनतस्तथा ॥१८॥

संपूर्ण सामग्री अधिकारी लोग सब ले लेते हैं । क्षमा शीलके अधिकारी लोग इच्छाचारी, वेष बना रहते हैं, और स्वामीकी आज्ञानुसार कोई वस्तु नहीं देते हैं । सेवकलोग क्षमाशीलको मालिकके समान आदर नहीं करते हैं, अनादर मरणसे भी बुरा है । क्षमा करनेवालेको सेवक, दूत, पुत्र, तथा और लोगभी गाली देते हैं । (९–१३)

क्षमावालेकी स्त्री उसकी निन्दा करती है और स्वेच्छाचारिणी हो जाती है, और नित्यही स्वामीकी सेवाको छोडकर उत्सवोंमें लगी रहती है । यदि स्त्रियोंको स्वामी कुछभी दण्ड न दे, तो स्त्री दुष्ट होकर कुकर्म करने लगती है, हे विरोचननन्दन ! इन दोषोंके सिवाय और भी बहुतसे दोष क्षमाशील लोगोंको भोगने पडते हैं । आगे क्रोधी लोगोंके दोषोंको समझो । उचित स्थानमें नित्यही रजोगुणसे आवृत और क्रोधसे पूरित होकर नित्य ही अपने आधीन पुरुषोंको जो दण्ड देता है, सो क्रोधके वशमें होनेसे अपने मित्रोंका विरोधी बनता है, और जगतमें मित्रों-से द्वेषको प्राप्त होता है, अर्थात मित्र-लोग उससे द्वेष रखने लगते हैं; मित्रोंके द्वेषसे धनका नाश होता है; तब उस पुरुषको सब लोग धिक्कार देने लगते हैं;

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम् ।
संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥
क्रोधाद्दण्डान्मनुष्येषु विविधान्पुरुषो दधत् ।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात्प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥
योऽपकर्तॄंश्च हर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥
यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥
तस्मान्नात्युत्सृजेत्तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् ।
काले काले तु संप्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत् २३ ॥
काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २४ ॥
क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान् ।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २५॥
पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २६ ॥

तब अनादर, दुःख, द्वेष, और मोहको प्राप्त होते हैं अनन्तर उसके शत्रुभी उत्पन्न होते हैं। (१४—१९)

जो क्रोधके वशमें होकर अन्यायसे मनुष्योंको दण्ड देता है,सो शीघ्रही ऐश्वर्य मित्र और प्राणोंकोभी नष्ट करता है। जो अपने उपकारी और चोरोंको बलसे दण्ड देता है, उससे लोकके पुरुष ऐसा डरते हैं, जैसा घरमें बैठेहुए सांपसे, और जिससे जगतके लोग घबडाते हैं, उसका कल्याण कैसे हो सकता है? यह निश्चय है, कि वही लोग समय देखकर उसकी हानि अवश्य करते हैं; अतएव सदा क्रोधहीमें नहीं रहना चाहिये और न नित्य साधु होकर रहना उचित है। जैसा समय हो वैसाही तेज वा शान्त स्वभाव रखना चाहिये। (२०—२३)

जो समय पाकर शान्त और समय पाकर तेज होता है,वह इस लोक और परलोकमें सुखको प्राप्त करता है। पण्डित लोगोंने जो क्षमाके समय कहे हैं; जिनको पुरुषोंको कदापि न छोडना चाहिये,उनको हम विस्तारसहित कहते हैं तुम सुनो। जिसने पहिले कोई उपकार किया हो और पश्चात् भारी अपराध भी किया हो, उसका वह अपराध पूर्व

अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम् ।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २७ ॥
अथ ये बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम् ।
पापान्स्वल्पेऽपि तान्हन्यादपराधे तथाऽनृजून् २८॥
सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ।
द्वितीयेऽसति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् २९॥
अजानता भवेत्कश्चिदपराधः कृतो यदि ।
क्षंतव्यमेव तस्याऽऽहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ ३० ॥
मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नाऽसाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु ॥ ३१ ॥
देशकालौ तु संप्रेक्ष्य बलाबलमथाऽऽत्मनः ।
नाऽदेशकाले किंचित्स्यादेशकालौ प्रतीक्षताम् ३२ ॥
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ ३३ ॥
एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ।
अन्योऽन्यथाऽनुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ॥ ३४॥

उपकारके बदले क्षमा कर देना चाहिये। जो मूर्ख निर्बुद्धि होनेके कारण कोई अपराध करे, तो वहभी क्षमा करने योग्य है, क्योंकि सबलोगोंको पण्डित होना सुलभ नहीं है। जो दुष्टात्मा जान-कर थोडा अपराधभी करे और कहे कि मैंने विना जाने किया है, उस पापीको अवश्य मारडालना चाहिये। (२४–२८)

एकही अपराध कोई करे, तो उसकी क्षमा करनी चाहिये। यदि वही फिर दूसरा अपराध करे, तो उसे अवश्य दण्ड देना उचित है। यदि विना जाने, कोई पुरुष किसी अपराध-को करे, तो उसकी परीक्षा उत्तमरूपसे करके क्षमा करना चाहिये, क्योंकि क्षमाही से साधु और असाधु दोनों मारे जाते हैं; क्षमासे कुछ असिद्धि नहीं होती, अतएव क्षमा ही अत्यन्त तेज है। देशकाल, अपना बल और दुर्बलता देख-कर सबकार्य करना उचित है, क्योंकि अदेश और असमयमें कोई कार्य नहीं होता; अतएव देश और कालको देखो और ऐसा भी कहा है, कि लोकके भयसेभी अपराधको क्षमा करना चाहिये। (२९–३३)

इस प्रकारसे क्षमाके समय कहे हैं इन सबोंसे भिन्न एक तेजका काल कहा है, द्रौपदी बोली सो हे

द्रौपद्युवाच— तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चाऽपकारिषु ॥३५ ॥
न हि कश्चित्क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून्प्रति ।
तेजसश्चाऽऽगते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ३६ ॥
मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयं चैतद्यो वेद स महीपतिः ॥३७ ॥ [१०७२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

युधिष्ठिर उवाच— क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥
यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ॥ २ ॥
तस्याऽभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ ३ ॥
क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत्कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ४ ॥
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात्क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि ।

महाराज ! लोभी , निरन्तर अपराध करनेवाले धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे आपका तेज-काल प्राप्त हुआ है , मेरी बुद्धिमें अब कौरवोंके ऊपर क्षमा करनेका समय नहीं है; इस तेजकालमें आप उन पर तेजपात कीजिये । अत्यन्त कोमल राजाका अनादर होता है, और अत्यन्त तेज राजासे पुरुष घबडाते हैं ; जो समयके अनुसार कोमल और तेज होजाता है, वही राजा होनेके योग्य है । (३४—३७)

वनपर्वमें अठाईस अध्याय समाप्त । [१०७२]

वनपर्वमें उनतीस अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे सुन्दरि ! क्रोधही पुरुषका नाश कर देता है , और फिर क्रोधहीसे वृद्धि होती है । हे महापण्डिते ! तुम निश्चय जानो कि क्रोधही हानि और लाभका मूल है । जो पुरुष क्रोधको नाश करता है, उसका कल्याण होता है । हे शुभे ! जो पुरुष सदाही क्रोधके वशमें रहता है उसके नाशका कारण वही परम क्रोध हो जाता है । क्रोधही प्रजाके नाशका मूल है, सो ऐसे लोक--नाशक क्रोधको मेरे समान पुरुष कैसे कर सक्ता है ? (१ -- ४)

क्रोधी पुरुष पापका आचरण करता है, गुरुजनोंके वधमें भी प्रवृत्त होता है

क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ५ ॥
वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाऽकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नाऽवाच्यं विद्यते तथा ॥ ६ ॥
हिंस्यात्क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान्संपूजयीत च ।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद्यमसादनम् ॥ ७ ॥
एतान्दोषान्प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चाऽमुत्र चोत्तमम् ॥ ८ ॥
तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतद् द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥ ९ ॥
आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन्द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ १० ॥
मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान्नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
तस्याऽऽत्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ १२ ॥
विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।

तथा कठिन बात बोलता है और माननीय पुरुषोंका भी निरादर कर देता है ; क्रोधी नहीं जान सक्ता, कि यह बात कहनेके योग्य है या नहीं कोई ऐसा काम नहीं है, जिसे क्रोधी न कर सके ! कोई ऐसी बात नहीं है, जिसे क्रोधी न कह सके ; क्रोधी अवध्यकोभी मार सक्ता है और वध्यकी पूजा करसक्ता है ; क्रोधी अपने जीवनको भी नष्ट कर सक्ता है । यही सब दोष देख कर इस लोक और परलोकमें उत्तम कल्याणकी इच्छा करनेवाले महात्माओंने क्रोधको जीता है ! हे द्रौपदि ! पण्डितोंसे त्यागने योग्य उस क्रोधको हमारे समान पुरुष कैसे कर सकता है ? यही विचार कर हमें क्रोध नहीं बढता । (५– ९)

जो क्रोधीके ऊपर क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरेको महाभयसे बचाता है, अतएव वह दोनोंका वैद्य है । यदि दुर्बल मूर्ख बलवान क्रोधीके ऊपर क्रोध करे, तो अपने शरीरको नाश करता है । हे द्रौपदि ! जो अनात्मजित् अपनी आत्माका नाश करता है, उसका स्वर्गवास नाश होता है, अतएव दुर्बलको उचित है, कि अपने क्रोधको वशमें रखे । जो विद्वान

अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १३ ॥
तस्माद्बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाऽऽहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १४ ॥
मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम्॥१५॥
सत्यं चाऽनृततः श्रेयो नृशंसाच्चाऽनृशंसता ।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥ १६ ॥
मादृशः प्रसृजेत्कस्मात्सुयोधनवधादपि ।
तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १७ ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।
यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ॥
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥१८॥
क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत्प्रपश्यति ।
नाऽकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति॥१९॥
हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून्क्रुद्धस्तुदत्यपि ।
तस्मात्तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥२० ॥

बलवान होनेपरभी क्लेश सहता है, और क्लेश देनेवालेको क्लेश नहीं देता, वह स्वर्गमें आनन्द करता है, अतएव जाननेवाले दुर्बल वा बलवान पुरुषको आपत्कालमेंभी क्षमाही करना उचित है। (१०-१४)

हे कृष्णे! क्रोधका विजय करनेकी साधु लोग प्रशंसा करते हैं। क्षमाशीलका नित्य विजय होता है ऐसा साधुओंका मत है। झूठसे सत्य अच्छा है और निर्दयतासे सदयता अच्छी है। उस बहुत दोषोंसे भरे हुए साधुनिन्दित क्रोधको दुर्योधनके मारनेके निमित्त मेरे समान पुरुष कैसे कर सकता है? जिसको दीर्घदर्शी पण्डित लोग तेजस्वी कहते हैं, निश्चय करके क्रोध उसके हृदयमें नहीं रहता। जो उत्पन्न क्रोधको अपनी बुद्धिसे नाश करता है तत्त्वदर्शी विद्वान लोग उसीको तेजस्वी कहते हैं। (१५-१८)

हे सुश्रोणि! क्रोधी पुरुष कार्यको ठीक नहीं जान सकता; क्रोधी पुरुष अकर्त्तव्य और मर्यादाकोभी नहीं जान सक्ता है। क्रोधी पुरुष अवध्यको भी मार डालता है; मान्य पुरुषोंको भी दुःख देता है, अतएव उत्तम पुरुषको

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ २१ ॥
क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक्तेजोऽभिपद्यते ।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २२ ॥
क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत्तेज इत्यभिनिश्चितम् ।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २३ ॥
तस्माच्छश्वत्त्यजेत्क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन् ।
श्रेयान्स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २४ ॥
यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथं स्वित्स्यादनिन्दिते ॥ २५ ॥
यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात्संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २६ ॥
अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद्गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २७ ॥
आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २८ ॥
हन्युर्हि पितरः पुत्रान्पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।

उचित है, कि बलसे क्रोधको दूरही रखे। कार्यमें कुशलता, शत्रुओं का हानि-चिन्तन, शत्रुओंके जीतनेकी शक्ति तथा शीघ्रता यह जो तेजके गुण हैं, सो क्रोधी नहीं प्राप्त हो सकते। हे महाप्राज्ञे ! जो पुरुष क्रोधको छोडता है, उसका तेज भली भांति बढता है । तेजस्वी पुरुषके देशकालानुरूप तेजको क्रोधी पुरुष सह नहीं सकते। (१९-२२)

मूर्ख लोग क्रोधहीको तेज कहते हैं और मनुष्यमें रजोगुण लोकके नाशार्थही दिया गया है, अतएव उत्तमाचरण करने वाले पुरुषको क्रोध छोड देना चाहिये। क्रोधी पुरुषसे अपने उत्तम धर्मसे नष्ट भी श्रेष्ठ है। हे अनिन्दिते! यदि मूर्ख लोग उत्तम कामोंको नांघ जाय, तो क्या हमारे समान पुरुषभी वैसेही करें ? यदि मनुष्योंमें पृथिवीके समान क्षमा करनेवाले पुरुष नहीं, तो सन्धिही न हो; क्योंकि क्रोध विग्रहका मूल है। (२३-२६)

क्रोधी मनुष्य दूसरोंको क्रोध उत्पन्न करते हैं और गुरुके मारनेपरभी गुरुको मारे इस प्रकार अधर्म फैलनेसे लोकका नाश होसक्ता है। गाली देनेपर दूसरेको

हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन्भार्यास्तथैव च ॥ २९ ॥
एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्णे न विद्यते ।
प्रजानां सन्धिमूलं हि जन्म विद्धि शुभानने ॥ ३० ॥
ताः क्षिपेरन्प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ ३१ ॥
यस्मात्तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ ३२ ॥
क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने ।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ ३३ ॥
आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३४ ॥
प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः ।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३५ ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
गीताः क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३६ ॥
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।

गाली दे, पीटनेसे पीटे, मारनेसे मारे, पिताको पुत्र, पुत्रको पिता, पतिको स्त्री और स्त्रीको पति क्रोधके वशमें होकर मार डाले। हे कृष्णे ! इस प्रकार लोकमें क्रोध फैलनेसे संसारमें जन्म होना बन्द हो सक्ता है। हे शुभानने ! जन्मका मूल मेलही है। (२७–३०)

हे द्रौपदि ! इस प्रकारका क्रोध होनेसे प्रजा शीघ्रही नष्ट हो सक्ती है, अतएव क्रोध प्रजाके नाशका मूल है, और दुःखका कारण है, पृथिवीके समान क्षमावान पुरुष लोकमें दीखते हैं, अतएव प्रजाका जन्म और कल्याण होता है, हे सुशोभने ! पुरुषको उचित है कि वह जगतमें सब आपत्तियोंमें क्षमा करता रहे, क्योंकि क्षमाहीसे जगतमें जन्म और कल्याण होता है। जो पुरुष गाली सुनकर, मार खाकर, क्रोधी होनेपरभी बलवान पुरुषको क्षमा करता है, जो पण्डित उत्तम पुरुष प्रभाववान होकर भी क्रोधको अपने वशमें रखता है, उसको अक्षय स्वर्ग मिलता है। (३१–३५)

जो मन्दबुद्धि क्रोधके वशमें रहता है, सो इस लोक और परलोकमें भी नष्ट होता है। हे कृष्णे ! क्षमावान् महात्मा काश्यपने क्षमावान पुरुषोंकी जो कथा

य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३७ ॥
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३८ ॥
अतियज्ञविदां लोकान्क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
अतिब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥ ३९ ॥
अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा ।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ४० ॥
क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ ४१ ॥
तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥४२॥
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ४३ ॥
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।

कही है, उसका उदाहरण पण्डितलोग इसी स्थान पर देते हैं। क्षमाही धर्म है, क्षमाही यज्ञ है, क्षमाही वेद है और क्षमाही सुननेका फल है। जो पुरुष इसको अच्छी प्रकार जानता है वही सब क्षमा करनेमें समर्थ है। क्षमाही ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमाही थी और क्षमाही होगी; क्षमा तप है, क्षमाही पवित्रता है, और क्षमाहीसे जगत स्थिर है। (३५—३८)

जो लोक वेद जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता और तपस्वियोंको मिलते हैं, क्षमावान पुरुषभी उनही लोकोंको प्राप्त करता है। अग्निहोत्र कर्म करनेवाले पुरुषोंके दूसरे लोक हैं; परन्तु क्षमावान पुरुषोंको परम पूजायुक्त ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। तेजस्वी पुरुषोंका तेज क्षमा ही है। तपस्वियोंका ब्रह्म क्षमाही है। सत्यवान पुरुषोंका सत्य क्षमाही है। क्षमाही यज्ञ और क्षमाही इन्द्रियोंको वश करनेका फल है। (३९—४१)

हे कृष्णे ! ऐसी क्षमाको हमारे समान पुरुष किस प्रकार छोड सकता है? जिस क्षमामें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक प्रतिष्ठित हैं। अतएव जाननेवाले पुरुषको सदा क्षमाही करना उचित है। जब पुरुष क्षमा करता है, तब उनको ब्रह्म प्राप्त होता है। क्षमावानके निमित्त यह लोक और परलोक सुखदायक है। इस लोकमें क्षमावान पुरुषको

इह संमानमर्हन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४४ ॥
येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाऽभिहतः सदा ।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात्क्षान्तिः परा मता ॥ ४५ ॥
इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः ॥ ४६ ॥
पितामहः शान्तनवः शमं संपूजयिष्यति ।
कृष्णश्च देवकीपुत्रः शमं संपूजयिष्यति ॥ ४७ ॥
आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः ।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४८ ॥
सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च ।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४९ ॥
एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति ।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ५० ॥
कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये ।
निश्चितं मे सदैवैतत्पुरस्तादपि भाविनि ॥ ५१ ॥
सुयोधनो नाऽर्हतीति क्षमामेवं न विन्दति ।
अर्हस्तत्राऽहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ ५२ ॥

सन्मान और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है। जिस पुरुषकी क्षमा क्रोधका नाश कर देती है, उसको उत्तम लोक प्राप्त होते हैं; इस हेतु क्षमा उत्तम वस्तु है। हे द्रौपदि ! क्षमावान पुरुषोंकी यह कथा काश्यप मुनिने कही है, तुम यह सुनकर शान्त हो और क्रोध मत करो। क्षमा करनेसे शान्तनुपुत्र हमारे दादा भीष्म और देवकीपुत्र श्रीकृष्ण प्रशंसा करेंगे; गुरु द्रोणाचार्य, विदुर, कृपाचार्य, सञ्जय क्षमा ही की प्रशंसा करेंगे। सोमदत्त, युयुत्सु, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और हमारे पितामह व्यासदेव क्षमाही को वर्णन करते हैं! इन सबके कहनेसे युद्धको उद्यत राजा धृतराष्ट्र शान्त होकर हमको राज्य देंगे, ऐसा हमारी बुद्धिमें निश्चय होता है। यदि न देंगे, तो लोभसे नष्ट होजायंगे। हे सुन्दरि ! मैं जैसा पहले निश्चय किया करता था, सोही भरतकुल नाशका यह दारुण समय प्राप्त हुआ है। दुर्योधन क्षमा करनेमें असमर्थ है; अतएव राज्यके योग्य नहीं है। (४९—५२)

मैं राज्य के योग्य हूं, अतएव क्षमा करना भी मुझको उचित है; यही धर्मज्ञोंका

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ।
क्षमा चैवाऽनृशंस्यं च तत्कर्ताऽस्म्यहमञ्जसा ॥५३॥[११२५

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदीसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

द्रौपद्युवाच— नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव ।
पितृपैतामहे वृत्ते बोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥
कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः ।
तस्मात्कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति २ ॥
नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नाऽऽर्जवेन च ।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ ३ ॥
त्वां चेद्व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम् ।
यत्त्वं नाऽर्हसि नाऽपीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ४ ॥
न हि तेऽध्यगमज्जातु तदानीं नाऽद्य भारत ।
धर्मात्प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीवितादिह ॥ ५ ॥
धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते ।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ६ ॥

चारित्र है , और यही सनातन धर्म है । मैं तत्त्वविचार करके क्षमा और सुबुद्धि को धारण करता हूं । । ४७—५३)

वनपर्वमें उनतीस अध्याय समाप्त । [११२५]

वन पर्वमें तीस अध्याय ।

द्रौपदी बोली , हे महाराज ! मैं उस परमेश्वर और प्रारब्धको नमस्कार करती हूं , जिसने बाप दादासे प्राप्त राज्यकी प्राप्तिमें आपकी बुद्धिको उलट दिया है। कर्मसे पृथक उत्तम , मध्यम और नीच-योनि अलग प्राप्त होती हैं , अतएव कर्महो निश्चल है । लोभसे मोक्षकी इच्छा होती है । जगतमें धर्म, अहिंसा, क्षमा, साधुता या लोकापवादभय से कदापि लक्ष्मीको प्राप्त नहीं कर सकता ; अत एव कर्मही नित्य है। हे भरतवंशावतंस ! देखिये आप और आपके महातेजस्वी भाईलोग जिस दुःखके योग्य नहीं थे, उस कठिन दुःखको प्राप्त हुए हैं । हे भारत ! मैं जानती हूं कि राज्यके समयमें और इस समय भी धर्मसे प्रिय आपको और कुछ नहीं है, आप जीवनसे भी धर्मको अधिक मानते हैं ; इसको देवता, ब्राह्मण और गुरुलोग भी जानते हैं कि आपका राज्य और जीवन धर्महीके निमित्त हैं । (१—६)

भीमसेनार्जुनौ चेमौ माद्रेयौ च मया सह ।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ७ ॥
राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥ ८ ॥
अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्ममेव ते ।
बुद्धिः सततमन्वेति च्छायेव पुरुषं निजा ॥ ९ ॥
नाऽवमंस्था हि सदृशान्नाऽवरांश्छ्रेयसः कुतः ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ॥ १० ॥
स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान् ।
दैवतानि पितॄंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ ११ ॥
ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ॥ १२ ॥
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राऽहं परिचारिका ॥ १३ ॥
आरण्यकेभ्यो लौहानि भोजनानि प्रयच्छसि ।
नाऽदेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ॥ १४ ॥
यदिदं वैश्वदेवं ते शान्तये क्रियते गृहे ।

मुझे यह निश्चय है कि आप भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और मुझको भी त्याग सकते हैं ; परन्तु धर्मको नहीं छोडेंगे । मैंने आर्य पुरुषोंके मुखसे यह सुना था कि धर्मरक्षक राजाकी धर्मही रक्षा करता है, परन्तु जान पडता है, कि वह धर्म आपकी रक्षा नहीं करता । हे पुरुषसिंह ! आपकी बुद्धि सदैव धर्ममें इस प्रकार रहती है, जैसे छाया पुरुषके पीछे फिरा करती है । हे महाराज ! सब पृथ्वीका राज्य प्राप्त होने पर भी आपने कभी अपने समान पुरुषों का अपमान नहीं किया, न कभी आपको नीच पुरुषोंकी तरह अभिमान कदापि उत्पन्न हुआ । (७-१०)

हे महाराज ! आपने निरन्तरही स्वाहाकार, स्वधाकार और पूजासे ब्राह्मण, देवता और पितरोंकी तृप्ति की है । हे भारत ! आप मोक्षकी इच्छा रखनेवाले संन्यासी और गृहस्थ ब्राह्मणोंको सदा इच्छानुसार तृप्त करते रहे हैं । हे महाराज ! जो मैं दासियों समेत सोनेके पात्रमें ब्राह्मणोंको भोजन कराती थी, सो आज वनवासियोंसे लोहे के पात्र प्राप्त करती हूं, आपके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो ब्राह्मण लोगोंको न

तद्दत्वाऽतिथिभूतेभ्यो राजञ्छिष्टेन जीवसि ॥ १५ ॥
इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ।
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ॥ १६ ॥
अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ।
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्ते नाऽवसीदति ॥ १७ ॥
अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ।
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ॥ १८ ॥
राजन्परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ।
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातृन्मां चापि निर्जितः ॥ १९ ॥
ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ॥ २० ॥
अतीव मोहमायाति मनश्च परिभूयते ।
निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चाऽऽपदमीदृशीम् ॥ २१ ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नाऽऽत्मनो यथा ॥ २२ ॥
धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।

दीजाय। हे राजन्! यह जो आपके घरमें शान्तिके निमित्त बलि वैश्वदेव कर्म होता है,इसमें ब्राह्मण और अतिथियोंको देकर जो बचता है, उसीको खाकर आप जीते हैं। (११-१५)

काम्य और नैमित्तिक पशु-बन्ध यज्ञ,पाकयज्ञ और औरभी कर्म राज्य नष्ट होनेपर, चारोंभाइयोंके सहित इस महा वनमें वास करके भी आप करते हैं, इससे जान पडता है, कि धर्मको आपने अभीतक नहीं छोडा। हे महाराज! मुझको एक सन्देह है,कि आपने अश्वमेध, राजसूय और गोसव पुण्डरीक आदि महायज्ञ करके ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी है, और जुएमें विपरीत बुद्धि धारण करके राज्य, धन, भाई और मुझेभी हारा है। हे कोमल सीधे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ! सत्यवादी! आपकी बुद्धि किस प्रकार जुएमें लगी थी? (१६—२०)

हे महाराज! मुझको अत्यन्त शोक होता है, और मनको ग्लानि आती है, जब आपको और अपनेको इस दुःखमें पडे हुए देखती हूं। ईश्वरके वशमें लोक स्थित हैं, अपने वशमें नहीं। ऐसे स्थान पर पुराने इतिहासका उदाहरण देते हैं। पहले कर्मके बीजका आश्रय लेकर

दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २३ ॥
यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ २४ ॥
आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ॥ २५ ॥
शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ।
ईश्वरस्य वशे तिष्ठन्नाऽन्येषां नाऽऽत्मनः प्रभुः ॥२६ ॥
मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ।
स्रोतसां मध्यमापन्नः कूलाद्वृक्ष इव च्युतः ॥ २७ ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नाऽऽत्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन २८ ॥
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २९ ॥
यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेव वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ ३० ॥
आर्ये कर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ।

ईश्वरही सुख, दुःख, प्रिय और अप्रिय फलका विधान करते हैं। हे नरवीर! हे राजन्! जिस प्रकार कठपुतली नचाने वाले पुरुषके वशमें रहती है, वैसेही यह जगत्‌भी ईश्वरके वशमें रहता है। (२१–२४)

हे भारत! ईश्वर आकाशके समान सबमें व्याप्त होकर कल्याण और पापके फलको यथायोग्य देते हैं। जैसे पक्षी डोरेमें बंधकर अवश हो जाता है, वैसेही जगत्‌भी अपना और दूसरेका स्वामी नहीं है। जैसे सूत्रमें मणी तथा नाकमें रस्सी डालनेसे बैल बेवश होजाता है, जैसे पानीकी धारामें आकर वृक्ष अपने समूहसे टूटकर बहने लगता है, और उसका वहनामी उसके वशमें नही है, यह सब परमेश्वरकी आज्ञासे होता है; मनुष्य अपने अधीन होकर कदापि किसी समयमें कोई कार्य नहीं करता है। (२५—२८)

यह मूर्ख जीव अपने सुखका स्वामी नहीं है, ईश्वरहीकी प्रेरणासे स्वर्ग और नरकको प्राप्त करता है। हे भारत! जिस प्रकारसे तिनकेका अग्रभाग बलवान वायुके वशमें होकर हिलता है, तैसेही समस्त प्राणी लोकभी ईश्वरके वशमें रहते हैं। ईश्वर उत्तम और नीच

व्याप्य भूतानि चरते न चाऽयमिति लक्ष्यते ॥ ३१ ॥
हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम् ।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ॥ ३२ ॥
पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया ॥ ३३ ॥
अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ३४ ॥
अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ॥ ३५ ॥
यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाऽश्मना पुनः ।
अयसा चाऽप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३६ ॥
एवं स भगवान्देवः स्वयंभूः प्रपितामहः ।
हिनस्ति भूतैर्भूतानि छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ ३७ ॥
संप्रयोज्य वियोज्याऽयं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान्भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३८ ॥
न मातृपितृवद्राजन्धाता भूतेषु वर्तते ।

कर्म करते हुए जगत्में व्यापक होकर घूमते हैं, परन्तु किसीको दिखाई नहीं देते। यह शरीर परमेश्वरका स्थान होनेपर भी हेतुमात्र है, इसीके द्वारा ईश्वर शुभ और अशुभ कर्म कराते हैं, देखो, परमेश्वरकी कैसी माया है, कि एक प्राणी दूसरे प्राणीको मायासे मोहित होकर नष्ट करता है। (२९—३३)

जैसे सूर्यकी किरण सब ओर फैलती हैं, वैसेही प्राणीलोगभी सर्वत्र फैले हैं, परन्तु तत्त्वदर्शी मुनियोंने जैसा उपदेश किया है, यह लोग उससे उलटाही आचरण करते हैं, मनुष्यलोग जिन जिन कामोंको दूसरी प्रकार मानते हैं, ईश्वर उनही कामोंको दूसरे प्रकारसे करते हैं, और कभी नहीं भी करते। जिस प्रकारसे चेतना रहित; चेष्टाशून्य काष्ठको काष्ठसे, पत्थरको पत्थरसे और लोहेको लोहेसे काट देते हैं, हे युधिष्ठिर! उस प्रकारसे वह सबका प्रपितामह स्वयंभु भगवान् ब्रह्मा प्राणियोंको प्राणियोंसे नष्ट करते हैं। (३४–३७)

जिसप्रकारसे बालक खेलौनोंको बनाकर खेलता है, वैसेही परमेश्वर भी समस्त प्राणियोंका अपनी इच्छानुसार संयोग और वियोग कराके खेलते हैं। हे राजन्! जैसे माता और पिता आचरण

रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथाऽयमितरो जनः ॥ ३९ ॥
आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ।
अनार्यान्सुखिनश्चैव विह्वलामिव चिन्तया ॥ ४० ॥
तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ ४१ ॥
आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ।
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ॥ ४२ ॥
कर्म चेत्कृतमन्वेति कर्तारं नाऽन्यमृच्छति ।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ॥ ४३ ॥
अथ कर्मकृतं पापं न चेत्कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ॥ ४४ ॥[११६९]

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदीसंवादे त्रिंशोऽध्यायः ॥३० ॥

युधिष्ठिर उवाच—वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥

करते हैं, वैसे सब प्राणियोंमें ब्रह्मा दयाका आचरण नहीं करता, परंतु जिस प्रकारसे सामान्य पुरुष क्रोधके वशमें होके आचरण करते हैं, वैसा आचरण करता है । क्योंकि देखते हैं कि उत्तम आचरणयुक्त लज्जावान श्रेष्ठ पुरुष खानेसे भी दुःखी और चिन्तासे पीडित रहते हैं, और दुष्टलोग आनन्द करते हैं; देखिये आपको यह आपत्ति और दुर्योधनको सुख हो रहा है । हे कुन्तीनन्दन! यही देखकर मैं विषम-दर्शी ब्रह्माकी निन्दा करती हूं ! (३८—४१)

आर्य शास्त्रको छोडनेवाले, क्रूर, अधर्मी और लोभी धृतराष्ट्रपुत्रको लक्ष्मी देकर ब्रह्मा क्या फल पावेंगे ? यदि किया हुआ कर्म कर्ताको छोड और किसीको प्राप्त नहीं होता, तो पाप कर्मका फल ईश्वर ही को होता होगा, क्योंकि वही सबका प्रेरक है । यदि किये हुए कर्मका पाप कर्ताको नहीं प्राप्त होता, तो इसमें बलही कारण होगा, अतएव मुझे दुर्बलोंका बडा शोच है । (४२—४४) [११६९]

वनपर्वमें तीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें इकतीस अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे याज्ञसेनि ! तुमने जो उत्तम विचित्र और कोमल वचन कहा, सो हमने सुना, परन्तु

नाऽहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥
अस्तु वाऽत्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥
धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥ ५ ॥
न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात्पापचेतनः ॥ ६ ॥
अतिवादाद्वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशंकी पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥ ७ ॥
धर्मो यस्याऽभिशंक्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवाऽपेयात्स लोकादजरामरात् ॥ ८ ॥

यह सब वेदके विरुद्ध होनेसे नास्तिकोंका वाक्य है। हे राजपुत्री! मैं कर्मके फलकी इच्छासे नहीं दौडता हूं, मेरा यही प्रण है, देता हूं, यह वस्तु देने योग्य है, और यज्ञ करता हूं यह करने योग्य है। हे कृष्णे! मैं घरमें रहूं वा कहीं, शक्ति अनुसार यही कर्म करता हूं और यही पुरुषको करने योग्य है, चाहे फल हो वा नहीं। हे सुश्रोणि! मैं धर्म शास्त्रोंके अनुसार तथा उत्तम पुरुषों का कर्म देखकर धर्म करता हूं परन्तु उसके फलकी इच्छा नहीं रखता। (१---४)

हे कृष्णे! मैंने अपने स्वभाव और मनसे धर्मको धारण किया है, जो पुरुष धर्मका व्यापार करता है अर्थात् धर्म करके इसके फलकी इच्छा करता है, वह हीन पुरुष धर्म ज्ञानियोंमें नीच माना जाता है। जो धर्मको दोहना चाहता है अर्थात् उसके फलकी इच्छा करता है, और जो पापी नास्तिकतासे धर्म करके उसमें शङ्का करता है, वह धर्मके फलको नहीं प्राप्त होता। मैं ठीक वेदके प्रमाणसे कहता हूं, कि तुम धर्ममें शङ्का मत करो, क्योंकि धर्म में शङ्का करनेवाले पुरुषको नीच गति होती है। जिस दुरात्मा पापीको धर्ममें अथवा ऋषि प्रणीत पुस्तकोंमें शंका हो, वह वेदसे शूद्रके समान सब लोकोंसे और मोक्षसे नष्ट होता है। (५-८)

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजभिर्धर्मचारिभिः ॥ ९ ॥
पापीयान्स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥ १० ॥
प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन्महातपाः।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविता ॥ ११ ॥
व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान्दिव्ययोगसमन्वितान्।
शापानुग्रहणे शक्तान्देवेभ्योऽपि गरीयसः ॥ १३ ॥
एते हि धर्ममेवाऽऽदौ वर्णयन्ति सदाऽनघे।
कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥ १४ ॥
अतो नाऽर्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च।
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ॥ १५ ॥
उन्मत्तान्मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान्।
धर्माभिशङ्की नाऽन्यस्मात्प्रमाणमधिगच्छति ॥

हे मनस्विनि! वेदका पढनेवाला, धर्मज्ञ, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ, वह बालक भी क्यों न हो, परन्तु धर्म करनेवाले राजाओंकोभी वृद्धोंमें गिना जाना चाहिये। जो पापी, मन्दबुद्धि शास्त्रको छोडकर धर्ममें शंका करता है, वह शूद्र और चोरोंसे भी नीच गिना जाता है। देखो तुमने अपनी दृष्टिसे देखा कि, महा तपस्वी महात्मा धर्महीसे बहुत कालतक जीते हैं। देखो व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश और शुक आदिको लेकर औरभी अनेक महर्षि लोग धर्महीसे ज्ञानको प्राप्त हुए हैं। (९-१२)

तुम इन सबको प्रत्यक्ष देखती हो, कि यह लोग दिव्य योग सहित शाप और अनुग्रहमें समर्थ देवतोंसेभी उत्तम हैं। हे पापरहिते! यही लोग प्रत्यक्ष और आगम (प्रमाणविशेष) की बुद्धिसे जगत्के आदिमें करने योग्य धर्मको वर्णन करते हैं। हे कल्याणि! हे राणि! यही सब विचारकर तुमको उचित है, कि मूर्ख मनसे ब्रह्मा और धर्ममें आक्षेप और शङ्का न करो, बालक सब पण्डितोंको पागल जानता और मानता है। जो अधार्मिक मूढ मनुष्य होता है वह सब धर्मिष्ठोंको मूढ समझता है और

आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ॥ १६ ॥
इन्द्रियप्रीतिसंबद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥ १७ ॥
प्रायश्चित्तं न तस्याऽस्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन्स कृपणः पापो न लोकान्प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥
प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभातिगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥
यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाऽभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्राऽऽनन्त्यमश्नुते ॥ २० ॥
आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं न जन्मसु विन्दति ॥ २१ ॥
यस्य नाऽऽर्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भामिनि ।
नैव तस्य परो लोको नाऽयमस्तीति निश्चयः ॥ २२ ॥
शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्माऽभिशंकिथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ २३ ॥
धर्म एव प्लवो नाऽन्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।

वह अपने अतिरिक्त दूसरोंको प्रमाण नहीं मानता । (१३--१६)

मूर्ख लोग अपनेहीको प्रमाण मानके धर्मका अपमान करते हैं और समझते हैं, कि यह जगत् इन्द्रियोंके सुखहीके निमित्त है, और धर्मको कुछ नहीं मानते हैं। जो पापी, कृपण सदा धनहीकी चिन्ता किया करते हैं, और धर्म करनेमें शंका करते हैं, उनको प्रायश्चित्त भी नहीं है। जो पापी काम और लोभके वशमें हो कर प्रमाणको छोडके वेद और शास्त्रकी निन्दा करता है, सो नरकमें पडता है। हे कल्याणि! जो उत्तम बुद्धिवाला पुरुष शंकारहित होकर सदा धर्म ही करता रहता है सो उत्तम अन्तरहित सुखको भोगता है। १६-२०

जो मूर्ख वेदके प्रमाणको नांघ कर धर्मको नहीं पालता और शास्त्रकी मर्यादाको नहीं मानता, वह अनेक जन्मोंमें भी सुखको नहीं प्राप्त होता। हे भामिनि! जिसको वेदका प्रमाण और शिष्टाचार माननीय नहीं है, उसको न इस लोक और न परलोक में सुख प्राप्त होता है। हे कृष्णे ! जिस धर्मको महात्मा लोग करते हैं, उसमें तुम शंका मत करो। यह प्राचीन धर्म सर्वज्ञ सर्वदर्शी महात्मा

सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥ २४ ॥
अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ॥ २५ ॥
निर्वाणं नाऽधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम्।
विद्यां ते नैव युज्येयुर्न चाऽर्थं केचिदाप्नुयुः ॥ २६ ॥
तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ २७ ॥
नाऽऽचरिष्यन्परे धर्मं परे परतरे च ये।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ २८ ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ॥ २९ ॥
फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम्।
धर्मं ते व्यचरन्कृष्णे तद्धि शर्म सनातनम् ॥ ३० ॥
स नाऽयमफलो धर्मो नाऽधर्मोऽफलवानपि।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥ ३१ ॥
त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे यथा श्रुतम्।

ऋषियोंने कहा है, हे द्रौपदि! स्वर्ग जानेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको धर्मही एक ऐसी नाव है जैसे समुद्रसे पार जानेवाले बनियेको नौका। (२१-२४)

हे अनिन्दिते! यदि धर्म करनेवाले पुरुषोंसे किया हुआ धर्म फल-रहित होता, तो यह जगत प्रतिष्ठाशून्य अन्धकार में डूब जाता। यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, पढना, दान, साधुता यह निष्फल होता तो कोई भी मोक्षको प्राप्त न होता, सब पशुजीविकासे जीते कोई भी विद्या और धन को प्राप्त न करता; कोईभी हमसे पहिला, उनसे पहिला और पहिलेसे पहिला धर्म न करता। (२५-२८)

यदि धर्ममें वंचना होती, और यदि क्रिया निष्फल होती, तो ऋषि, देवता, गन्धर्व असुर और राक्षसलोग समर्थ होकर भी आदर सहित धर्मको क्यों करते? हे कृष्णे! यह सब लोग ब्रह्माको फलके देनेवाले जानकर धर्म करते हैं, और ऐसा ही सनातन नियम है। सो धर्म और अधर्म फलसे रहित नहीं हैं, क्योंकि जगत्में विद्या और तपका फल दीखता है; इसलिये धर्म वा अधर्मको निष्फल नहीं कहा जाता। (२८–३१)

हे कृष्णे! तुम अपने जन्मका स्मरण

वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥
एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ।
कर्मणां फलमाप्नोति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ॥ ३३ ॥
बहुनाऽपि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किंचित्प्रेत्य शर्माऽस्ति वा पुनः ॥ ३४ ॥
कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानां च फलोदयः ।
प्रभवश्चाऽऽत्ययश्चैव देवगुह्यानि भाविनि ॥ ३५ ॥
एतानि वेद यः कश्चिन्मानवः शुभदर्शने ।
अपि कल्पसहस्रेण नरः श्रेयोऽधिगच्छति ॥ ३६ ॥
रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः ॥३७॥
कृताशाश्च व्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
प्रसादैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ॥ ३८ ॥
न फलादर्शनाद्धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चाऽनसूयता ॥ ३९ ॥
कर्मणां फलमस्तीह तथैतद्धर्मशाश्वतम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ॥ ४० ॥

करो और यह भी बताओ, कि प्रतापवान धृष्टद्युम्न कैसे उत्पन्न हुए हैं। हे शुचि-स्मिते ! धीर पुरुष कर्मके फलको पाता है, और थोडेहीमें सन्तुष्टभी हो जाता है, इसका उदाहरण जो हमने दिया सोही बहुत है। मूर्ख, निर्बुद्धिलोग बहुत फल पाकरभी सन्तुष्ट नहीं होते, क्या उनको मरनेके पश्चात् धर्मका कुछ कल्याण प्राप्त होगा? हे भामिनि ! वेद सुननेवालोंके सत्कर्म और पापियोंके कुकर्म फलकर उदय उन्नति या विनाश देवतोंकोभी गुप्त रहता है, अर्थात् वेभी कठिनतासे जान सकते हैं। (३२--३५)

जो पुरुष यह जानते हैं उनको सहस्र कल्पोंके पश्चात्भी कल्याण लाभ होता है। यह विषय देवतों करके रक्षित है और देवतोंकी माया बहुत गूढ है ; इसको आशा रहित , शान्त , तपसे पापको जलाये हुए ब्राह्मणलोग मनकी प्रसन्नतासे देखते हैं। फल न देखनेसे धर्म और देवतायोंमें शंका नहीं करनी चाहिये। दुष्टतासे रहित होकर यत्न करके सदा यज्ञ और दान करना चाहिये ; ब्रह्माने अपने पुत्रोंसे कहा था , कि धर्मका फल इसी लोकमें है । यह सनातन धर्म है ; इसका अर्थ कश्यप

तस्मात्ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु ।
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ॥४१ ॥
ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप ।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ ४२ ॥
यस्य प्रसादात्तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम् ।
उत्तमां दैवतां कृष्णे मावमंस्थाः कथंचन ॥ ४३ ॥ [१२११]

इति श्री० वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदीसंवाद एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१ ॥

द्रौपद्युवाच— नाऽवमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथंचन ।
ईश्वरं कुत एवाऽहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥ १ ॥
आर्ताऽहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥ २ ॥
कर्म खल्विह कर्तव्यं जानताऽमित्रकर्शन ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥
यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात् ।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

ऋषिने जाना था । (३६—४०)

हे कृष्णे ! यह सब जानकर तुम्हारा संशय कुहरेके समान नष्ट होना चाहिये । यह सब सत्य है, यह निश्चयकर तुम नास्तिक भावको त्याग दो। सब जगत्के बनानेवाले ईश्वरको गाली मत दो । उन का ध्यान करो, उनको नमस्कार करो । तुम्हारी बुद्धि नष्ट न होनी चाहिये। हे कृष्णे ! जिसको कृपा और भक्ति है, सो पुरुष मोक्षको प्राप्त करता है; तुम उस उत्तम देवताका अपमान कदापि मत करो । (४१—४३) [१२१२]

वनपर्वमें इकतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें बत्तीस अध्याय ।

द्रौपदी बोली, हे कुन्तीनन्दन ! मैं कदापि धर्मका अपमान नहीं करती हूं, और जगतके स्वामी परमेश्वरका अपमान भी नहीं करती हूं । हे भारत ! परन्तु दुःखसे व्याकुल हूं, अतएव निरर्थक बकती हूं, और पुनःभी बकूंगी, आप प्रसन्नचित्त होकर सुनिये। हे शत्रुनाशन ! यह निश्चय है, कि जाननेवालेको कर्म करनाही चाहिये, क्योंकि विना कर्म किये स्थावरों (नहीं चलनेवालों) को छोडकर कोईभी जीता नहीं रह सकता। हे युधिष्ठिर! जिस दिन गायका बच्चा उत्पन्न होता है, उस दिनसे दूध पीना, छांव में बैठना यह सब उसे कर्मोंसे प्राप्त होता है ।(१-४)

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥ ५ ॥
उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥ ६ ॥
सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।
अपि धाता विधाता च यथाऽयमुदके बकः ॥ ७ ॥
अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन ।
तदेवाऽभिप्रपद्येत न विहन्यात्कदाचन ॥ ८ ॥
स कर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः ।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नाऽस्ति च ॥९ ॥
तस्य चापि भवेत्कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा ।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात्क्षीयते हिमवानपि ॥ १० ॥
उत्सीदेरन्प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद्भुवि ।
तथा ह्येता न वर्धेरन्कर्म चेदफलं भवेत् ॥ ११ ॥
अपि चाऽव्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नाऽन्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथंचन ॥ १२॥

हे भरतकुलसिंह! जङ्गमों (चलनेवालों) में विशेषकर मनुष्य अपने कर्मके फलोंको पानेकी इच्छा इस लोक और परलोकमें करते हैं। हे भारत ! सब प्राणी अपनी प्रारब्धको भोगते हैं, और कर्मके फलोंको जगतके सामने प्रत्यक्ष भोग करते हैं। धाता और विधाताभी कर्मके अनुसारही फल देता है। सब प्राणी अपने अपने प्रारब्धको भोगते हैं। देखो यह बगुला भी जलमें अपने कर्मका फल भोग रहा है। विना कर्म किये हुए किसी प्राणीकी आजीविका कहीं नहीं होती; अतएव पुरुषको उचित है, कि कर्म करे और उसका नाश न करे। (५-८

सो तुम ग्लानि मत करो,उसी कर्मको करो। जो कर्म करता है वही फलको पाता है ; कर्मके कवचसे सुरक्षित रहा। सहस्रोंमें एकाद मनुष्य कर्मको यथावत् जानता है। उसी का कार्य और वृद्धि होती है। यदि हिमाचलमेंसे निरन्तर हिम काटा ही जाय , तो एक दिन वह भी नष्ट हो सकता है। यदि जगतमें कर्म न किया जाय तो सब प्रजा नष्ट होजायं, और यदि कर्मका फल न हो, तो यह सब प्रजा वर्धित न हो। कहीं कहीं कर्मका फल मनुष्योंको नहीं भी दीखता

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चाऽपि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ १३ ॥
यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं शयेत् ।
अवसीदेत्स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥ १४ ॥
तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥ १५ ॥
अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ १६ ॥
यच्चापि किंचित्पुरुषो दिष्टं नाम भजत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ तद्दैवमिति निश्चितम् ॥ १७ ॥
यत्स्वयं कर्मणा किंचित्फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत्पौरुषमिति श्रुतम् ॥ १८ ॥
स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात् ।
तत्स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ॥ १९ ॥
एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात्कर्मणस्तथा ।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फलं पूर्वकर्मणाम् ॥ २० ॥
धाताऽपि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः ।

है, क्योंकि लोकमें कोई भी उलटी वृत्ति को नहीं प्राप्त होता। (९–१२)

जगत्में जो दैववादी हैं,और जो हठ वादी हैं, यह दोनों शठ हैं कर्म बुद्धी ही प्रशंसनीय है। जो मूर्ख दैवके भरोसे विना यत्न किये सुखसे सोते रहते हैं, वह वैसेही नष्ट होते हैं जैसे कच्चा घडा पानीमें पडनेसे। जो हठबुद्धि समर्थ होने परभी उपाय नहीं करते,वे दुर्बल अनाथके समान बहुत काल नहीं जीते। जिस किसी-को अकस्मात कहींसे धन मिल जाता है, उसको लोग हठ कहते हैं, क्योंकि वह किसीका यत्न नहीं है। (१३–१६)

हे कुन्तीनन्दन! पुरुष जिसका नाम प्रारब्ध कहते हैं, जो देवतोंके विधानसे होती है, निश्चय करके उसहीको दैवभी कहते हैं! जिस फलको जगत्में पुरुष अपना कर्म करके प्रत्यक्ष प्राप्त करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। हे पुरुषोत्तम! जो कर्म विना कारणके स्वभावहीसे होजाय उसे स्वाभाविक जानो। इस प्रकारसे हठ, दैव, स्वभाव और कर्मसे पुरुषको जो जो फल प्राप्त होते हैं, सब पूर्वजन्मके फल हैं। (१७–२०)

विदधाति विभाज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥ ३१ ॥
यद्ध्ययं पुरुषः किंचित्कुरुते वै शुभाशुभम् ।
तद्धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ ३२ ॥
कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि वर्तते ।
स यथा प्रेरयत्येवं तथाऽयं कुरुतेऽवशः ॥ ३३ ॥
तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः ।
सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ॥ ३४ ॥
मनसाऽर्थान्विनिश्चित्य पश्चात्प्राप्नोति कर्मणा ।
बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर पुरुषस्तत्र कारणम् ॥ ३५ ॥
संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ॥ ३६ ॥
तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।
धिया धीरो विजानीयादुपायं चाऽस्य सिद्धये ॥ ३७ ॥
ततः प्रवर्तते पश्चात्कारणैस्तस्य सिद्धये ।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ॥ ३८ ॥
कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम् ।

सब प्राणियोंके ईश्वर ब्रह्माभी उन हेतुओंसे पुरुषोंके कर्मोंको अलग करके प्राणियोंको भुगवाते हैं। इस जगत्में पुरुष जो कुछ शुभ और अशुभ कर्म करता है,वह सब पूर्व जन्मका फल है। इसका कारण देहही है। ब्रह्मा प्राणिको कर्मके अनुसार फल देते हैं,और वह उस को अवश होकर भोगता है। हे कुन्ती नन्दन! परमेश्वर सब प्राणियोंको उन-ही कर्मोंको भुगाते हैं, और यह भी अ-वश होकर उसही को भोगता है,जो इस के किये हुए हैं। (३१–३४)

हे वीरपुरुष! बुद्धिपूर्वक पहिले मनमें निश्चय करता है, पश्चात उस ही को कर्मसे करता है अतएव इसका कारण पुरुष ही है। हे पुरुषसिंह! मैं कर्मोंको गिनवानेमें असमर्थ हूं, परन्तु घर और नगर अच्छा वा बुरा मिलना यह पुरुषके कर्मका फल है। बुद्धिमान पुरुषको इस-की सिद्धिका उपाय अपनी बुद्धिसे ऐसे-ही निश्चय करना चाहिये–जैसे तिलमें तेल, गायमें दूध और काष्ठमें अग्नि है। पश्चात् अनेक कारणोंसे उसकी सिद्धिमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है,परन्तु सिद्धि कर्म के फलके अनुसारही होती है। ३५–३८

विशेष कर्ममें यह ज्ञान होता है, कि

इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥ २९ ॥
इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥ ३० ॥
कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशात्कथं त्विह ॥ ३१ ॥
सर्वमेव हठेनैके दैवेनैके वदन्त्युत ।
पुंसः प्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥ ३२ ॥
न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चाऽपरे ।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ॥ ३३ ॥
दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चाऽर्थस्य संततिः ।
किंचिद्दैवाद्धठात्किंचित्किंचिदेव स्वभावतः ॥ ३४ ॥
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नाऽत्र कारणम् ।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्त्वविदो जनाः ॥ ३५ ॥
तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः ।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥ ३६ ॥
यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः ।

यह कुशलसे किया है, अतएव कर्ताको साधुतापूर्वक प्राप्त हुआ है, और अमुक कर्म अकुशलतासे किया गया है। यदि पुरुष कर्मसाध्य विषयमें कारण न होता, तो उसे यज्ञ और तडाग आदि कर्मका फल कुछ न होता, और कोईका किसी गुरु शिष्य न होता। पुरुष कर्म करनेमें प्रधान है, अतएव कर्मकी सिद्धि और नाशमें उसहीकी प्रशंसा और निन्दा होती है। सब कर्मोंको कोई हठसे कोई प्रारब्धसे और कोई कोई उपायसे कर्मकी सिद्धि बतलाते हैं, यह तीन प्रकारका भेद कहा है। (२९–३२)

कोई कोई कहते हैं यह सब ठीक नहीं है, क्योंकि हठ और दैव दोनोंही अदृश्य हैं, किन्तु जगत्में अर्थप्राप्ति कुछ हठ और कुछ दृश्य अर्थसे होती है; इससे यह निश्चय हुआ, कि अर्थसिद्धिमें प्रारब्ध, हठ और स्वभाव तीनोंही कारण हैं। तत्वदर्शी पण्डित लोग जानते हैं, कि इन तीनोंको छोडकर चौथा कारण और कुछ नहीं है। ईश्वरभी प्राणियोंको इसहीके अनुसार इष्ट वा अनिष्ट फल देता है। यदि ऐसा हो तो कोईभी पुरुष कृपण न हो। (३३–३६)

यदि प्रारब्ध न हो, तो पुरुष जिस

तत्तत्सफलमेव स्याद्यदि न स्यात्पुरा कृतम् ॥ ३७ ॥
त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नाऽनुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवाऽनर्थसिद्धिं च यथैवाऽऽत्मा तथैव ते ॥ ३८ ॥
कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥ ३९ ॥
कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥ ४० ॥
असंभवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्षयेत् ।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथाऽऽनृण्यमवाप्नुते ॥ ४१ ॥
अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥ ४२ ॥
अनर्थाः संशयावस्थाः सिध्यन्ते मुक्तसंशयाः ।
धीरा नराः कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ॥ ४३ ॥
एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु सांप्रतम् ।
न तु निःसंशयं न स्यात्त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥ ४४ ॥

जिस कामकी इच्छासे जो कर्म करता है वह सबही सिद्ध होने चाहिये । जो पुरुष ऊपर कहे तीनों उपायोंके द्वारा अपने कार्योंकी सिद्धि और असिद्धिको नहीं देखते हैं, वह लोग मरी हुई देहके समान जड हैं । भगवान् मनुका यह निश्चय है, कि सदाही कर्म करना चाहिये, क्योंकि कर्म न करनेसे पुरुष चेष्टाहीन हो जाता है । हे युधिष्ठिर ! इस लोक में कर्म करने से फलसिद्धि अवश्यही होती है, परन्तु आलसी लोग इसको नहीं मानते । (३७–४१)

हे राजेन्द्र ! यदि कर्म करनेसे सिद्धि न हो, तो उसको जाने, कि यह हमारे पूर्वकर्मफलका प्रायश्चित्त था, अब इसके करनेसे हम उऋण हो गये । जो आलसी सोता रहता है, वह अवश्य दरिद्री होता है, और जो उद्योगी कर्म करता है, वह अवश्य उसके फलको प्राप्त कर के सुख भोगता है ! संशययुक्त अवस्था अनर्थ कारक है । संशय रहित लोगही सिद्धि प्राप्त करते हैं । संशय रहित धैर्य-शाली मनुष्यही पुरुषार्थी होते हैं, सो आज कल हमलोग अतिशय करके अनर्थ में पडे हैं; इस अनर्थ निवारणका उपाय यदि आप कुछ कर्म करते होते, तो यह अवस्था हम लोगोंकी न होती । (४१–४४)

अथवा सिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते ।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥ ४५ ॥
अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः ।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथा फलम् ॥ ४६ ॥
पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्वा बीजं वपत्युत ।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम्॥४७॥
वृष्टिश्चेन्नाऽनुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः ।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात्तत्कृतं सकलं मया ॥ ४८ ॥
तच्चेदं फलमस्माकमपराधो न मे क्वचित् ।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नाऽऽत्मानं तत्र गर्हयेत्४९ ॥
कुर्वतो नाऽर्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत ।
निर्वेदो नाऽत्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम्५०॥
सिद्धिर्वाऽप्यथवाऽसिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा ।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्मसिद्धयः ॥ ५१ ॥
गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च ।

यदि आपके अनुष्ठित कर्मसे कार्य सिद्ध न हो,तो वही;भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव और आपको भी राज्य अप्राप्तिका सम्पूर्ण रूपसे प्रमाण कहके बोध होगा; तो राज्यकी आशा त्यागके उद्वेग रहिता हो सकते हैं। जैसे अन्यान्य लोगोंका कर्म सफल होता दीखता है, वैसेही हम लोगोंका भी होसकता हैः परन्तु विना कर्म किये पहिले वह कैसे निश्चय बोध होगा? कर्म करनेवालाही कर्म करने पर उसका उचित फल जान सकता है। जैसे हलसे भूमिको जोतकर किसान बीज बोता है, और पर्जन्यको कारण समझके चुप चाप बैठा रहता है; यदि वृष्टि न हो तो किसानका क्या दोष है? जो दूसरे से हो सकता है वह मैंने किया ऐसा मनुष्यको कहना चाहिये। (४५–४८)

बुद्धिमान पुरुषको उचित है, कि यह मेरा अपराध है, और यह नहीं है, यह विचारकर आत्माको दोष न दे। हे भारत ! इस कर्मके करनेमें हमको सिद्धि नहीं होगी, ऐसा समझकर पुरुषको पहिलेही कर्मसे निवृत्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि इसमें दो कारण दूसरे होते हैं, सिद्धि, असिद्धि, प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति इत्यादि ! अनेक भाव मिलकर कर्मकी सिद्धि हुआ करती है। यदि पुरुषमें गुण ही न हो, तो कर्मका फल थोडा अथवा

अनारम्भे हि न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ॥ ५२ ॥
देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये ।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ ५३ ॥
अप्रमत्तेन तत्कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः ।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु दृश्यमेव पराक्रमः ॥ ५४ ॥
यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः ।
साम्नैवाऽर्थं ततो लिप्सेत्कर्म चाऽस्मै प्रयोजयेत् ॥५५॥
व्यसनं वाऽस्य कांक्षेत विवासं वा युधिष्ठिर ।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥ ५६ ॥
उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे ।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्याऽऽत्मन एव च ॥ ५७ ॥
न त्वेवाऽऽत्माऽवमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥ ५८ ॥
एवं संस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ।
तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥५९ ॥
ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।

नहींभी होता है, और जब आरंभ ही न किया जाय, तो फल और गुण दोनोंही नहीं दिखते हैं । (४९—५२)

जो बुद्धिमान पुरुष देश, काल, उपाय, और मंगल कर्म सिद्धिमें शक्तिके अनुसार प्रयोग करता है,उसको सिद्धि प्राप्त होती है। इस सब कर्मोंमें पराक्रमही उपदेश करनेवाला है, अतएव पराक्रमही कर्मका कारण दीखता है। बुद्धिमान पुरुष जहांपर अनेक गुणोंसे अपने कल्याणको देखे,तहां शान्तिहीसे कर्म सिद्धिका उपाय करे । हे युधिष्ठिर! यदि वह कर्म शान्तिसे न सिद्ध हो, तो शत्रुके दुःख और परदेश के समयको देखता रहे, ऐसा करनेसे समुद्र और पर्वतको जीत सकता है, पुरुषोंकी क्या कथा है । (५३–५६)

शत्रुका छिद्र सतत देखने वाला पुरुष अपनेको और शत्रुको दोनोंहीको ऋण रहित करता है । पुरुषको उचित है, कि अपनेको कभी भी छोटा न समझे, क्यों कि अपना निरादर करनेसे कभीभी उत्तम कर्मकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती । हे भारत! इस प्रकार यह लोकोंके कर्मसिद्धि की व्यवस्था कही है; परन्तु इसकी सिद्धि कालके अनुसारही होती है। (५७–५९)

हे भरतकुलसिंह ! मेरे पिताने एक

सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ॥ ६० ॥
नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन्मेऽग्राहयत्पुरा ।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतां तदा गृहे ॥ ६१ ॥[१२७३]
स मां राजन्कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि
द्रौपदीवाक्यं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच-याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥
राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥ २ ॥
नैव धर्मेण तद्राज्यं नाऽऽर्जवेन न चौजसा ।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥ ३ ॥
गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्वद्राज्यं हि नो हृतम् ॥ ४ ॥
धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः ।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन्दुःखेषु परितप्यसे ॥ ५ ॥

पण्डित ब्राह्मण को पहले समयमें घरमें रख्या था, उसीने यह सब कहा था। जब ब्राह्मण मेरे भाइयोंको बृहस्पतिकी कही हुई नीति पढाता था, तब मैंने भी घरमें अपने भाइयोंके पास बैठकर यह सब सुना था। हे युधिष्ठिर! जब मैं पिताकी गोदमें सुननेकी इच्छासे बैठी थी, तब उस ब्राह्मणने सान्त्वना सहित मुझको यह सब पढाया था। (६०–६२)

वनपर्वमें बत्तीस अध्याय समाप्त। [१२७३]

वनपर्वमें तैतीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनमुनि बोले, द्रौपदीका यह वचन सुनकर परम क्रोधी भीमसेन क्रोधकर राजाके पास आकर ऐसा कहने लगे, सत्पुरुषोंके योग्य धर्मसे युक्त राज्यको प्राप्त कीजिये; धर्म, अर्थ और कामसे हीन होकर हम लोगोंको तपस्वियोंके समान वनमें रहना उचित नहीं। दुर्योधनने हमारे राज्यको धर्म, साधुता और वीरतासे नहीं लिया, केवल अक्षोंके कपटसे ले लिया है। उस दुष्टने हमारे राज्यको इसही प्रकारसे लिया, जैसे सिंहका भोजन सियार, और बलवानका दुर्बल लेता है। धर्मके अंशका आश्रय कर, धर्म और

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥
कुणीनामिव बिल्वानि पंगूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥
भवतः प्रियमित्येवं महद्व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ॥ ८ ॥
कर्षयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ॥ ९ ॥
यद्वयं न तदैवैतान्धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥ १० ॥
अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवाऽऽत्मनः ।
दुर्बलाचरितां राजन्नबलस्थैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥
यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाऽभिमन्युर्न सृञ्जयाः।
न चाऽहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥१२ ॥
भवान्धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः ।
कच्चिद्राजन्ननिर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ॥ १३ ॥

कामके उत्पादक अर्थको छोड कर, राजन्! तू दुःखमें क्यों तप रहे हो गाण्डीव धनुषसे रक्षित राज्यके लेने की शक्ति इन्द्रको भी नहीं थी परन्तु आपके कर्तव्यसे हमलोगोंके जीतेही हमारा राज्य इस प्रकारसे छिन गया, जैसे लूले का बेलफल और लंगडेकी गाय छिन जाती हैं। (१—७)

हे भारत! आपको धर्मलाभमें निश्चय युक्त जानकर आपकी प्रीतिकी इच्छा से हमलोग इस महा दुःखको सहते हैं। हे भरतकुलसिंह! आपकी आज्ञासे अपने शरीरको वशमें करके हमलोग अपने मित्रोंको दुःखी और शत्रुओंको आनन्दित कर रहे हैं। आपकी आज्ञाके अनुसार हमलोग जो धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं मारते यह हमारे पापका फल प्रत्यक्ष हो रहा है। आप अपनी इस हरिणोंके समान दुर्दशाको देखिये। हे राजन्! यह दुर्बलों की दशा है, कदापि बलवान् इसमें नहीं पडते। इस दशाको कृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु समस्त सृञ्जय वंशी, मैं, नकुल और सहदेव कदापि अच्छी नहीं कहते। (८-१२)

हे राजन्! आप धर्म धर्म ऐसेही बकते हुए सदा व्रतोंसे दुःखी होकर ग्लानि पाकर नपुंसकोंकी जीविकामें पडे हैं।

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम् ।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम्॥ १४ ॥
स भवान्दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन्नाऽनर्थमवबुद्ध्यसे ॥ १५ ॥
अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद्दुःखं नाऽऽहवे वधः॥ १६ ॥
तत्र चेद्युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम् ।
सर्वशो हि वधः श्रेयान्प्रेत्य लोकाँल्लभेमहि ॥ १७ ॥
अथवा वयमेवैतान्निहत्य भरतर्षभ ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥ १८ ॥
सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कांक्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम्॥ १९ ॥
आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥ २० ॥
कर्षणार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद्राजन्न धर्मः स कुधर्म तत् ॥ २१ ॥

दुष्ट असमर्थ मनुष्य लोग अपने प्रयोजन को नाश करनेवाली ग्लानिको प्राप्त करके लक्ष्मीप्राप्ति करनेकी इच्छा करते हुए अपने प्रिय कार्योंको करते हैं । हे राजन् ! आप तो तत्वदर्शी हैं और हम लोगोंके पुरुषार्थको देखनेवाले हैं, सो आप निर्लज्जता धारण करके अनर्थकी ओर दृष्टि नहीं करते । धृतराष्ट्रके पुत्र-लोग हम लोगोंको क्षमा करने पर अस-मर्थ समझते हैं; इस दुःखसे युद्धमें मर-ना अधिक नहीं है, क्योंकि यदि युद्धमें हमलोग धर्मके सहित सब मर जायं तो अच्छा होगा, क्योंकि मरकर उत्तम लोकों को प्राप्त करेंगे । (१३-१७)

हे भरतर्षभ ! अथवा उन सबको मारकर हमलोग समस्त पृथ्वीको प्राप्त करेंगे, तौभी हमारा कल्याणही होगा; अधिक कीर्तिको रखनेवाले वैरका बदला लेनेकी इच्छायुक्त अपने धर्ममें स्थिर हम लोगोंको सर्वथा युद्धही करना चाहिये; दूसरोंके राज्य छीन लेने पर अपने नि-मित्त युद्ध करना भी प्रशंसाही है निन्दा नहीं ! हे राजन् ! जिसमें मित्र और अ-पनी हानि हो, वह धर्म नहीं है, क्यों-कि उससे अधर्म बढता है, हे तात ! जिस प्रकारसे मरे हुएको सुख और दुःख

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥ २२ ॥
यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदाऽर्थं सूर्यस्याऽन्धः प्रभामिव ॥२३॥
यस्य चाऽऽत्मार्थमेवाऽर्थः स च नाऽर्थस्य कोविदः ।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ॥ २४ ॥
अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥ २५ ॥
सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते॥२६॥
तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाऽम्भसः क्षये ॥२७ ॥
तस्माद्धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्याऽरणिर्यथा॥२८॥
सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चाऽर्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥ २९ ॥
द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।

छोड देते हैं, तैसेही धर्ममें दुर्बल नित्य अधर्मी पुरुषको धर्म और अर्थ छोड देते हैं ! (१८—२२)

जिसका धर्म धर्महीके लिये है, वह पण्डित नहीं किन्तु क्लेशका भागी है, और वह धर्म इस प्रकार नहीं जानता जैसे अन्धा सूर्यकी किरणको । जिसका धन केवल अपनेही वास्ते है, वह अर्थका पण्डित नहीं है, जैसे वनमें गौकी रक्षा करनेवाला नौकर। जो निन्दित पुरुष अत्यन्त लोभी महालोभ करता है, और धर्म तथा कामको नहीं देखता है, वह ब्राह्मणके मारनेवालेके समान मारडालनेके योग्य है। जो निरन्तर कामही को देखता है, अर्थ और धर्मपर दृष्टि नहीं देता,उसके मित्र, अर्थ और धर्म सब नष्ट हो जाते हैं। (२३—२६)

उस अर्थ और धर्मसे हीन पुरुषका नाश होजाता है,जैसे पानी नष्ट होनेसे मछली मर जाती है। इस कारण पण्डितलोग धर्म और अर्थको नष्ट नहीं करते हैं,जैसे अरणीसे आग उत्पन्न होती है, वैसेही इससेभी काम उत्पन्न होता है। धर्मसे अर्थ और अर्थसे धर्म होता है,इन दोनों

स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नाऽस्य दृश्यते ॥३० ॥
अर्थार्थी पुरुषो राजन्बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति॥३१॥
न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत्।
उपयोगात्फलस्यैव काष्ठाद्भस्मेव पण्डितैः ॥ ३२ ॥
इमाञ्छकुनकान्राजन्हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद्रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ॥ ३३ ॥
कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रवृत्तिं यो न पश्यति ।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥
व्यक्तं ते विदितो राजन्नाऽर्थो द्रव्यपरिग्रहः।
प्रकृतिं चाऽपि वेत्थाऽस्य विकृतिं चापि भूयसीम्॥३५॥
तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा ।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ॥ ३६ ॥
इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥ ३७ ॥

का ऐसाही सम्बन्ध है जैसे मेघ और समुद्रका। धनकी प्राप्तिमें जो इच्छा होती है,वही संकल्प या काम कहाता है,इसका कुछ शरीर नहीं है। हे राजन! धनकी चाहवाला पुरुष बढनेवाले धर्मको चाहता है, और कामको चाहनेवाला मनुष्य धनको चाहता है, कामके सिवाय और किसी चीजको नहीं देखता, क्यों कि कामसे दूसरा काम सिद्ध नहीं हो सकता। (२७—३१)

पण्डितोंने कहा है, कि जैसे काष्ठसे जलकर भस्मही होती है, वैसे कामसे दूसरा काम सिद्ध नहीं होता क्यों कि कामही स्वयं फल है। हे राजन्! जिस प्रकारसे वधिक पक्षियोंको पकडकर मारता है, वैसेही अधर्मभी प्राणियोंका नाश करता है। जो दुर्बुद्धि काम और लोभके वशमें होकर धर्मकी ओर ध्यान न दे, वह इस लोक और परलोकमें सब प्राणियों द्वारा मरने योग्य है। हे राजन्! आप कामके संग्रहको अच्छी प्रकार जानते हैं,और इसके उत्पत्ति एवं नाशको भी जानते हैं। हे राजन्! उसके नाश और प्राप्तके विच्छेदसे बूढा और मरनेसे जो अनर्थ होता है,सो हम लोगों में प्राप्त है। (३२—३६)

पांचों इन्द्रिय मन और हृदय इनको विषयोंमें चलानेसे जो आनन्द होता है,

स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ।
एवमेव पृथग्दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च　　॥ ३८ ॥
न धर्मपर एव स्यान्न चाऽर्थपरमो नरः　　।
न कामपरमो वा स्यात्सर्वान्सेवेत सर्वदा ॥ ३९ ॥
धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत्　।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः　　॥ ४० ॥
कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत्　।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः　　॥ ४१ ॥
धर्मं चाऽर्थं च कामं च यथावद्वदतां वर　।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान्सेवेत पण्डितः ४२ ॥
मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन्सुखार्थिनाम् ।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ॥४३ ॥
तद्वाऽऽशु क्रियतां राजन्प्राप्तिर्वाऽप्यधिगम्यताम् ।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः　॥ ४४ ॥
विदितश्चैव मे धर्मः सततं चरितश्च ते ।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ॥४५॥

मेरी बुद्धिमें उसेही काम कहते हैं, यह-भी कर्महीका फल है। इस प्रकारसे अर्थ धर्म और कामको विचारकर पुरुषको उचित है, कि अर्थ, धर्म और कामोंमेंसे एकहीकी सेवा न करें, किंतु सदैव सब-को धारण करता रहे। शास्त्रकी यही विधि है, कि दिनके पहले भागमें धर्म, मध्यमें धन और अन्तभागमें कामकी चिन्ता करना चाहिये, ऐसेही सब दिन व्यवहार करना उचित है। और यहभी शास्त्रकी विधि है, कि अवस्थाके पहले भागमें काम मध्यमें धन, और अन्तमें धर्म करना उचित है। (३७-४१)

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ! समय जाननेवाले पण्डितको उचित है, कि अर्थ, धर्म और कामको समयके अनुसार करें। हे महाराज कुरुनन्दन! सुख चाहनेवाले पु-रुषोंके लिये मोक्ष ही सबसे उत्तम पदार्थ है, बुद्धिको स्थिर करके उसहीका उपाय करना चाहिये। हे राजन्! आप शीघ्र ही मोक्षका उपाय कीजिये वा राज्य प्राप्तिमें यत्नवान् हूजिये; क्योंकि रोगीके समान जो नर केवल दुःखहीका साधन है, मैं आपके धर्म और चरित्रको जानता हूं; परंतु आपको योग्य समझकर धर्मसे प्रेरित होकर आपसे मित्र लोग ऐसा

*

दानं यज्ञाः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो राजन्फलवान्प्रेत्य चेह च ॥ ४६ ॥
एष नाऽर्थविहीनेन शक्यो राजन्निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥ ४७ ॥
धर्ममूलं जगद्राजन्नाऽन्यद्धर्माद्विशिष्यते ।
धर्मश्चाऽर्थेन महता शक्यो राजन्निषेवितुम् ॥४८॥
न चाऽर्थो भैक्ष्यचर्येण नाऽपि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन्केवलं धर्मबुद्धिना ॥ ४९ ॥
प्रतिषिद्धा हि ते याञ्चा यया सिद्ध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवाऽर्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥ ५० ॥
भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥ ५१ ॥
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून्समागतान् ।
धार्तराष्ट्रवनं पार्थ मया पार्थेन नाशय ॥ ५२ ॥
उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नाऽवरे स्थातुमर्हसि ॥ ५३ ॥
अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान्सनातनान् ।

कहते हैं। (४२—४५)

हे राजन् ! इसलोक और परलोकमें दान, यज्ञ, पण्डितोंकी पूजा, वेद पढना और साधुता यही उत्तम बलवान धर्म हैं। हे राजन् ! हे पुरुषसिंह ! इन सब धर्मोंको और सब गुण रहनेपरभी धन-हीन पुरुष नहीं कर सकता। राज्य धर्म से होता है, धर्मसे उत्तम और कोई वस्तु नहीं है और धर्म विना अधिक धनके नहीं हो सकता। हे राजन् ! धन भीख मांगने अथवा नपुंसकतासे कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, वह केवल धर्मबुद्धि ही से मिलता है। (४६—४९)

हे पुरुष शार्दूल ! आपको भिक्षा मांगना अनुचित है। क्योंकि यह ब्राह्मणका कर्म है। इससे धन प्राप्त करनेका उपाय कीजिये; क्षत्रियको भीख मांगना बनिये और शूद्रकी जीविका करना अनुचित है। क्षत्रियका धर्म केवल अपना बलही है। हे कुन्तीनन्दन ! अपने धर्मका ग्रहण करके धृतराष्ट्रके पुत्र तथा अन्य आए हुए शत्रुओंका मुझे सङ्ग लेकर नाश की-जिये। विद्वान्, बुद्धिमान महात्माओंमें ऊंचे बनिये, क्योंकि आप नीचताके योग्य

क्रूरकर्माऽभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ५४ ॥
प्रजापालनसंभूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन्धात्रा धर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥
तस्मादपचितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥ ५६ ॥
स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ ५७ ॥
न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद्राजन्न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥ ५८ ॥
जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां पापचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥ ५९ ॥
भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ॥ ६० ॥
एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रून्महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ॥ ६१ ॥
न ह्यर्जुनसमः कश्चिद्युधि योद्धा धनुर्धरः ।

नहीं हैं। हे राजेन्द्र! जाति और सनातन धर्मको जानिये, आप अत्यन्त तेजसे उत्पन्न हुए हैं, जिससे सर्व जगत् डरता है। (५०—५४)

हे महाराज! आपके लिये ब्रह्माने प्रजापालन ही सनातन धर्म बनाया है, वनवास नहीं। हे कुन्तीनन्दन! इस लिये आप हीन होकर जगतमें हंसे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को अपनेही धर्मसे चलना उचित है। हे कुरुनन्दन! अब आप इस शिथिलताको छोडकर क्षत्रियोंका सहृदय बनाकर बलको ग्रहण करके जगतकी धुरको धारण कीजिये। हे राजन्! किसी राजा ने केवल धर्मसे पृथ्वीको नहीं जीता और न लक्ष्मी सुखको प्राप्त किया, जैसे व्याध चारा देकर पक्षियोंको पकडता है, वैसेही अनेक क्षुद्र लोभी लोगोंको भोजन देकर और छल करके राज्य बढाना चाहिये। (५५–५९)

पहले उत्पन्न भये और खूब बडे हुए भाई दैत्योंको देवतोंने छलहीसे जीता था। हे राजशार्दूल! बलवानहीको सब पृथ्वी मिलती है, यह जानकर आप परम छल करकेभी शत्रुओंको जीतिये। हे राजन्! अर्जुनके समान धनुर्धारी और मेरे समान गदाधर कोई पुरुष नहीं है, और

भविता वा पुमान्कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः॥६२॥
सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन्नबलवानपि ।
न प्रमाणेन नोत्साहात्सत्त्वस्थो भव पाण्डव ॥६३॥
सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥ ६४ ॥
अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा ते भूदत्र संशयः ॥६५ ॥
अर्थेन तु समोऽनर्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयनं हि तत्॥ ६६ ॥
एवमेव मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाऽल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ॥ ६७ ॥
अमित्रं मित्रसंपन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः ।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं युवानं कुरुते वशम् ॥ ६८ ॥
सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन्नबलवानपि ।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ६९॥
सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।

न होगा। हे राजन्! हे पाण्डव! अत्यन्त बलवान पुरुषभी बलसे युद्ध कर सकता है, अतएव आप प्रमाण और उत्साहसे शत्रुओंसे सन्धि करनेके विचार में मत पडिये, बलही धनका मूल है, और अनुत्साह इससे उलटा अर्थात् अनर्थ का मूल है, जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्षकी छाया सुखदाई नहीं होती। (६०–६४)

हे कुन्तीनन्दन! धनकी इच्छा करने वाले पुरुषको बीजके समान धनको छो-डनाभी होता है, इसमें आपको कुछभी सन्देह न हो, कि जहां उन्नति न हो तहां अनर्थभी अर्थके समान होता है। वहां प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये, वह प्रतिज्ञा केवल गधेको खुजलानेके समान होती है। हे मनुष्येन्द्र! जो पुरुष इस प्रकार से प्रतिज्ञारूपी थोडे धर्मको छोड देता है, सो बहुत बडे धर्मको प्राप्त होता है, और वही पण्डितभी कहा जाता है। पण्डित लोग मित्र सहित शत्रुको मित्रोंसे भेदकर देते हैं, तब मित्रोंसे पृथक् हुए मूर्ख शत्रुको वशमें कर लेते हैं। (६५-६८)

हे राजन्! बलहीन पुरुषभी बलहीसे युद्ध करता है, क्योंकि उद्यम और प्रिय वाक्यसे राजाके वशमें प्रजा नहीं होती। हे राजन्! जिस प्रकारसे बहुतसी मधुमक्षी

अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥ ७० ॥
यथा राजन्प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः ।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ॥ ७१ ॥
एतच्चाऽपि तपो राजन्पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत्कृतं नः पितामहैः ॥ ७२ ॥
न तथा तपसा राजँल्लोकान्प्राप्नोति क्षत्रियः ।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥ ७३ ॥
अपेयात्किल भा सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ७४॥
भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग्राजन्समागताः ॥ ७५ ॥
इदमभ्यधिकं राजन्ब्राह्मणाः कुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसन्धताम् ॥७६॥
यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि ।
अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नाऽर्थकारणात् ॥७७॥
यदेनः कुरुते किंचिद्राजा भूमिमवाप्नुवन् ।

इकट्ठी होकर मधु लेनेवाले पुरुषको व्याकुल कर देती हैं, उसी प्रकारसे दुर्बल लोगभी इकट्ठे होकर बलवान शत्रुको मार सकते हैं। हे महाराज! जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे प्रजाकी रक्षा और नाश करता है, तैसेही आपभी सूर्यके समान होईये । हे राजन्! विधि पूर्वक प्रजाका पालनभी सनातन तप है, जो हमारे पितामहोंने किया था । (६९—७२)

हे राजन्! अत्यन्त तपस्या करनेसे भी क्षत्रियको वैसी गति नहीं मिलती, जैसे युद्धमें विजय पाने अथवा मरनेसे मिलती है । आपकी इस आपत्तिको देख कर जगतमें यही निश्चय हुआ है, कि सूर्यसे तेज और चन्द्रमासे चांदिनी भी छूट सकती है । हे राजन्! आपकी प्रशंसा और दुर्योधनकी निन्दाके अर्थ अनेक कथा इस जगतमें अलग अलग हो रही हैं । हे राजन्! आपने जो मोह, कृपणता, लोभ, भय और कामके कारण से अत्यन्त नहीं कहा, इसहीको अधिक प्रसन्न होकर ब्राह्मण और कौरव लोग प्रसन्नता पूर्वक मिलकर कह रहे हैं;सत्य-सन्धता इसहीको कहते हैं (७३-७७)

हे राजन्! पृथिवीको प्राप्त करनेमें

सर्वं तन्नुदते पश्चाद्यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ७८ ॥
ब्राह्मणेभ्यो ददद् ग्रामान्गाश्च राजन्सहस्रशः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ॥ ७९ ॥
पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन ।
सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ॥ ८० ॥
श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा ।
सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ॥ ८१ ॥
इति लोके निर्वचनं पुरश्चरति भारत ।
अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते८२॥
इमामवस्थां च गते सहाऽस्माभिररिन्दम ।
हन्त नष्टाः स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ॥ ८३ ॥
स भवान्रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् ।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः॥८४॥
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम् ॥ ८५ ॥
अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ।
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा ॥ ८६ ॥

राजा जो कुछ पाप करता है; सो सबके पीछे अधिक दक्षिणावाले यज्ञोंको करनेसे नष्ट होजाते हैं। जिस प्रकार अन्धकार से चन्द्रमा छूटता है, इसही प्रकारसे राजा भी ब्राह्मणोंको सहस्रों गांव और गौ देकर पापसे छूट जाता है। हे कुरुनन्दन, युधिष्ठिर! पुर और राज्यवासी प्रायः सबही बूढे और बालक मिलकर आपकी प्रशंसा कर रहे हैं। जिस प्रकार कुत्तेके चमडेकी कुप्पीमें दूध,जैसे दोगले में वेद, जैसे चोरमें सत्य और जैसे स्त्री में बल होता है, वैसेही दुर्योधन में राज्य भी है, इस समय स्त्री और बालक भी सबके आगे ऐसाही कहते हैं। (७८—८२)

हे शत्रुनाशन! हमलोगोंके सहित आप इस अवस्थाको प्राप्त हुए, अतएव हम सब मरे हुएके समान हैं; जिनके देखते आप इस उपद्रवमें पडे हैं। हे महाराज! सो आप सब शस्त्रोंसे युक्त रथपर चढ करके ब्राह्मणोंको धन देनेकी इच्छा करके वेग सहित युद्धको चलिये। सब अस्त्रोंके जाननेवाले दृढधनुष्ययुक्त भाईयोंके समेत ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन सुनके इसही समय हस्तिनापुर पर चढाई कीजियें। जिस प्रकार वृत्रासुरके मारने

अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा ।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्तराष्ट्रान्महाबल ॥ ८७ ॥
न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥८८॥
न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ८९ ॥
सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च ।
कथंस्विद्युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥ ९० ॥
शत्रुहस्तगतां राजन्कथंस्विन्नाऽऽहरे महीम् ।
इह यत्नमुपाहृत्य बलेन महताऽन्विताः ॥ ९१ ॥ [१३६४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि
भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच—स एवमुक्तस्तु महानुभावः सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा ।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच—असंशयं भारत सत्यमेतद्यन्मां तुदन्वाक्यशल्यैः क्षिणोषि ।
न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव ममाऽनयाद्धि व्यसनं व आगात् ॥ २॥

वाले इन्द्र अपने भाई मरुतोंके समेत अपने शत्रुओंको जीतते हैं, हे महाबल कुन्तीनन्दन ! वैसेही आपभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर लक्ष्मीको प्राप्त कीजिये । (८३—८७)

गिद्धके पंखोंसे युक्त सांपके समान विषसे भरे हुए गाण्डीव धनुषसे छुटे हुए बाणोंके स्पर्शको जगत्में कौन सह सकता है ? हे भारत ! जगतमें कोई मनुष्य, हाथी, घोडा ऐसा नहीं है, जो वेगसे लगी हुई मेरी गदाकी चोटको सह सके ! क्या लोग सृञ्जय केकय और वृष्णिकुलसिंहकी सहायता लेकर युद्धसे राज्यको प्राप्त नहीं कर सकते हैं ? हे राजन् ! हमलोग श्रीकृष्णका बल लेकर और महासेनाके सहित होकर क्या शत्रुके हाथमें गयी हुई पृथ्वीको नहीं ले सकते हैं ? (८८—९१) [१३६४]

वनपर्वमें तैतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें चौतीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महानुभाव सत्यव्रत, अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर भीमसेनका यह वचन सुननेके पीछे धैर्य के साथ ऐसा कहने लगे । युधिष्ठिर बोले, हे भारत ! तुम जो वचन रूपी बाणोंसे मेरे शरीरको पीडा देते हुए क्षीण

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात् ।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत्सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः ॥ ३ ॥
महामायः शकुनिः पार्वतीयः सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान् ।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ॥ ४ ॥
अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्कामानुकूलानयुजो युजश्च ।
शक्यं नियन्तुमभविष्यदात्मा मन्युस्तु हन्यात्पुरुषस्य धैर्यम् ॥५॥
यन्तुं नाऽत्मा शक्यते पौरुषेण मानेन वीर्येण च तात नद्धः ।
न ते वाचो भीमसेनाऽभ्यसूये मन्ये तथा तद्भवितव्यमासीत् ॥६॥
स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न्यपातयद्व्यसने राज्यमिच्छन् ।
दास्यं च नोऽगमयद्भीमसेन यत्राऽभवच्छरणं द्रौपदी नः ॥ ७ ॥
त्वं चापि तद्वेत्थ धनञ्जयश्च पुनर्द्यूतायाऽऽगतांस्तां सभां नः ।
यन्माऽब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ॥८ ॥
वने समा द्वादश राजपुत्र यथाकामं विदितमजातशत्रो ।
अथाऽपरं चाऽविदितं चरेथाः सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ॥ ९ ॥

करते हो, सो निःसन्देह तुमको उचितही है, मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता, क्योंकि मेरीही दुष्टतासे तुम लोग दुःखमें पडे हो; मैं धृतराष्ट्र पुत्रसे राज्य लेनेकी इच्छा करके जुआ खेलने लगा था; परन्तु दुष्ट कपटी शकुनिने दुर्योधनके सुखकी इच्छासे मुझसे छल किया। वह पापी पर्वत देशीय शकुनी महाछली है। उसने सभाके बीचमें मायारहित मुझको पासेसे जीत लिया। हे भीमसेन! इसही निमित्त तुम वनमें बसे हो; सभामें शकुनिके विषम और सम पासोंको इच्छाके अनुसार देखकर अपने वशमें रहनेकी शक्ति मुझमें न रही, क्योंकि क्रोध पुरुषके धैर्यको नाश कर देता है। (१–५)

हे भीमसेन! शरीर, पुरुषार्थ, अभिमान और वीर्यसे बंधने पर आत्मा वशमें नहीं रह सकता; हम तुम्हारे वचनकी निन्दा नहीं करते, परन्तु यह कहते हैं, कि यह बात ऐसेही होनी थी। हे भीमसेन! उस धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने राज्यकी इच्छा करके हमको इस दुःखमें डाला और दासभी बनाया। जहां द्रौपदी ही शरण हुई थी, तुम और अर्जुनभी इस बातको जानते हो कि हमको सभामें दूसरी बार बुलाकर कहा था, कि हे राजपुत्र! हे अजातशत्रो! अब एकही दावपर यह पण करो कि यदि तुम हारो तो भाइयोंके सहित अपनी इच्छानुसार बारह वर्ष वनमें वास करो, और तेरहवें

त्वां चेच्छ्रुत्वा तात तथा चरन्तमवभोत्स्यन्ते भारतानां चराश्च ।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वं निश्चित्य तत्प्रतिजानीहि पार्थ ॥१०॥
चरैश्चेन्नो विदितः कालमेतं युक्तो राजन्मोहयित्वा मदीयान् ।
ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह तवैव ता भारत पञ्च नद्यः ॥ ११ ॥
वयं चैतद्भारत सर्व एव त्वया जिताः कालमपास्य भोगान् ।
वसेम इत्याह पुरा स राजा मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ॥१२॥
तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे ।
इत्थं तु देशाननुसंचरामो वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ॥ १३ ॥
सुयोधनश्चाऽपि न शान्तिमिच्छन्भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत् ।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्ये चाऽस्य केचिद्वशमन्वगच्छन् ॥१४॥
तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः ।
आर्यस्य मन्ये मरणाद्गरीयो यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत् ॥ १५ ॥
तदैव चेद्वीरकर्माऽकरिष्यो यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः ।
बाहू दिधक्षन्वारितः फाल्गुनेन किं दुष्कृतं भीम तदाऽभविष्यत् ॥१६॥

वर्षमें सब भाइयोंके सहित गुप्त रूपसे रहो, हे भारत ! हे तात! तुमको गुप्तरूपमें रहते हुए हमारे दूत ढूढेंगे, यदि कहीं देख लेंगे, तो पुनः बारह वर्ष इसही प्रकार पुनः वनमें रहना होगा, हे कुन्तीकुमार ! आप निश्चय करके इसको समझ लीजिये। हे भारत! यदि आप हमारे दूतोंको छल कर उनकी पहचानमें न आवेंगे तो हम कौरवोंकी सभामें सत्य कहते हैं, कि वे पांचों नदीयुक्त देश आपहीके होंगे। (९—११)

हे भारत ! यदि हमलोग आपसे हारें तो ऐसेही वनमें वासकर भोग करेंगे, उस राजाने कौरवोंके आगे सभामें मुझसे ऐसा कहा था, तब नीच जुआ हुआ, उसमें हमलोग हार गये और सब वनको निकाले गये; इस प्रकार इन देशोंमें दुःखसे दुःखियोंके समान वनमें घूमते हैं, इतने परभी दुर्योधनको शान्ति प्राप्त न हुई और अपने वशवर्त्ती कुरुवंशियोंको हमारे मारनेकी इच्छासे क्रोधके वशमें होके युद्धको सन्नद्ध किया। उससे पण्डितोंके आगे सन्धि करके कौन राज्यको जीत सकता है, जो धर्मको नाशकर राज्य करता है, उस राज्यसे उत्तम पुरुषका मरना अच्छा है। (१२—१५)

हे वीर! जिस समय उसने वचन रूपी परिघको मारा था, उसी समय तुमको कुछ कर्म करना उचित था, जब तुम्हें मेरा हाथ जलाते हुए अर्जुनने निवारण

प्रागेव चैवं समयक्रियाया: किं नाऽब्रवी: पौरुषमाविदान: ।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्किं मामिदानीमतिवेलमात्थ॥१७॥
भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा ।
यद्याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां संदृश्य तत्क्षान्तमिति स्म भीम१८॥
न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये ।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य पक्तिं फलानामिव बीजवाप: ॥ १९ ॥
यदा हि पूर्वं निकृतो निकृन्तेद्वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा ।
महागुणं हरति हि पौरुषेण तदा वीरो जीवति जीवलोके ॥ २० ॥
श्रियं च लोके लभते समग्रां मन्ये चाऽस्मै शत्रव: संनमन्ते ।
मित्राणि चैनमचिराद्भजन्ते देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम् ॥ २१ ॥
मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥२२॥ [१३८६]

इति श्रीमहाभारते श० वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्याय:॥३४॥

भीम उवाच— संधिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्रिणा ।

किया था,तभी तुम्हे क्या पाप हुआ था ? तुमने प्राप्तकालकी कृपा और पुरुषार्थ को जानकर आपत्तिको स्वीकार करकेभी उस समय क्या नहीं कहा था ? अब समयके पश्चात् हमको अतिशय कठिन वार्ता क्यों बोलते हो। मैं द्रौपदीको दुःखित देखकर जहरके रस पीये हुएके समान तप्त होनेपर भी शान्त हूं। हे भरतवीर! हम कौरवोंकी सभाके बीचमें प्रतिज्ञा करके उसको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं। अतएव तुमको उचित है, कि अपने सुखके समयकी प्रतिज्ञा करो; जैसे माली फलके पकनेके समयको देखता है। (१५-१९)

जब वीर अपने शत्रुको फलपुष्पके सहित द्व होनेपर नाश करता है, तो उसको अपने बलसे महागुण प्राप्त होता है, और वही वीर लोकमें जीवित रहता है; उसही वीरको जगतमें समस्त लक्ष्मी प्राप्त होती है। शत्रु उसहीसे नीचे होते हैं, जैसे देवता इन्द्रकी सेवा करते हैं, तैसेही मित्रलोगभी जीविका पाकर उसकी सेवा करते हैं। मेरी इस सत्य प्रतिज्ञाको सुनो, मैं अमृत,जीवन, राज्य,पुत्र, यश, धन और सब वस्तुओंको धर्मकी एक कला के समान भी नहीं समझता हूं। (२०-२२) [१३८६]

वनपर्वमें चौतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें पैंतीस अध्याय।

भीमसेन बोले, हे महाराज! सन्धि

अनन्तेनाऽप्रमेयेण स्रोतसा सर्वहारिणा ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन्कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ॥ २ ॥
निमेषादपि कौन्तेय यस्याऽऽयुरपचीयते ।
सूच्येवाऽञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥
यो नूनममितायुः स्यादथ वाऽपि प्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥
प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥
शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।
प्रागेव मरणात्तस्माद्राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥
यो न याति प्रसंख्यानमस्पृष्टो भूमिवर्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥
यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं जन्म तस्याऽहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥
हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी ।

होनेके कालकी प्रतीक्षा करना तो ठीक है, परन्तु कालरूपी अप्रमेय पक्षीसे और सर्वनाशक अनन्त प्रवाहसे कौन बच सकता है ? आप प्रत्यक्ष देखते हैं, कि सब मनुष्य कालके बन्धनसे बंधे हैं, और कालभी प्रत्यक्ष है , मनुष्यलोग फूल और फेनके समान अनित्य हैं , हे कुन्तीनन्दन ! जिस प्रकारसे सुरमा सुईके लगनेसेभी गिर जाता है, तैसेही पुरुषकी आयु थोडे समयमेंभी नष्ट होती है । तब पुरुष अपने कार्योंको किसप्रकार कर सकता है ? या तो पुरुष अपने आयुके कालको ठीक जाना हो सो समयकी प्रतीक्षा कर सकता है, हे राजन् ! समयकी प्रतीक्षा करते करते हम लोगोंकी अवस्थामें से तेरह वर्ष कम हो जायंगे और मरने का समय समीप आजायगा, यह आप जानते हैं कि शरीरवालोंको मरना अवश्य है; अतएव मरने के पहलेही राज्यप्राप्तिका यत्न करना अवश्य है । (१–६)

जो भूमिभाररूप पुरुष इस मेरी बात को अनुचित मानता है,सो वैरका बदला न लेकर गायके समान दुःखी होता है । जो पुरुष अल्पबल वीर्य होनेपरभी अपने वैरका बदला नहीं लेता, उस वृथा

हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाहुर्जितं वसु ॥ ९ ॥
हत्वा वै पुरुषो राजान्विकर्तारमरिन्दम ।
अहाय नरकं गच्छेत्स्वर्गेणाऽस्य स संमितः ॥ १० ॥
अमर्षजो हि संतापः पावकाद्दीप्तिमत्तरः ।
येनाऽहमतिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥
अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे ।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाऽऽशये ॥ १२ ॥
योऽयमेको न मनुते सर्वाँल्लोके धनुर्भृतः ।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥
नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः ।
तथैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥
सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः ।
अहमेकश्च संतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥
प्रियमेव तु सर्वेषां यद्ब्रवीम्युत किंचन ।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥
नाऽतः पापीयसी काचिदापद्राजन्भविष्यति ।

जन्मवालेका जन्म वृथाही है। आप के हाथ सुवर्णके स्वामी हैं, और आपकी कीर्ति पृथुके समान है, अतएव युद्धमें शत्रुको मारकर अपने हाथसे जीते हुए धनको भोग कीजिये;हे राजन्! हे शत्रु-नाशन! छली वैरियोंको मारकर जो शीघ्रही नरकमें जाता है, वह नरकभी स्वर्गके समान है। (७–१०)

हे महाराज! क्रोधसे उत्पन्न हुआ दुःख अग्निके दाहसेभी कठिन है,जिससे जलकर मैं न दिनको और न रातको सोता हूं। दुनियामें जो सब लोकके धनुर्धारियोंका अपमान करता है, जो सब धनुष खींचने वालोंमें श्रेष्ठ है, सो अर्जुन अपने स्थान-में दुःखी सिंहके समान पडा रहता है, निश्चय यह अपने हृदयकी अग्निको बडे हाथीके समान हृदयहीमें रखता है। नकुल सहदेव और वीर-प्रसविनी बूढी माता आपहीके प्रियके वास्ते मूर्ख और गूंगेके समान बैठी हैं, सृञ्जयोंके समेत सब बान्धवलोग आपहीका प्रिय चाहते हैं। (११–१५)

केवल मैं और द्रौपदी ही दुःखसे पीडित हूं, मैं जो कुछ करता हूं, सो सब आपका प्रिय ही है। हम सब दुःखसे व्याकुल और युद्धकी इच्छा रखनेवाले

यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥
शीलदोषाद् घृणाविष्ट आनृशंस्यात्परन्तप ।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन्नाऽन्यः कश्चित्प्रशंसति ॥ १८ ॥
श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याऽविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १९ ॥
घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेषु जायथाः ।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥ २० ॥
अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान्यथा वै मनुरब्रवीत् ॥ २१ ॥
क्रूरान्निकृतिसंपन्नान्विहितानशमात्मकान् ।
धार्तराष्ट्रान्महाराज क्षमसे किं दुरात्मनः ॥ २२ ॥
कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ।
बुद्ध्या वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाऽभिजनेन च ॥ २३ ॥
तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं च पर्वतम् ।
छिन्नमिच्छसि कौन्तेय योऽस्मान्संवर्तुमिच्छसि॥ २४॥
अज्ञातचर्या गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ।
दिवीव पार्थ सूर्येण न शक्या चरितुं त्वया ॥ २५ ॥

हैं। हे राजन्! इससे अधिक पापयुक्त आपत्ति और क्या होगी, कि नीच थोडे बलवाले दुष्टलोग हमारे राज्यको छीनकर भोग करते हैं? हे परन्तप! हे राजन्! आप शीलरूपी दोषसे घिनमें पडे हुए लज्जाके वशमें होकर क्लेशोंको सहते हैं, इसकी कोई भी प्रशंसा नहीं करता। हे राजन्! जिसप्रकार वेदपाठी पंडित मूर्ख और मन्दके समान आचरण करता है, तैसेही आपकी बुद्धि भी द्रव्यनाशिनी हो गयी है। यह बुद्धि परमार्थदर्शी क्षत्रियोंकी नहीं होनी चाहिये। तुम घृणासे युक्त ब्राह्मणके समान बने हो, तब क्षत्रियोंमें जन्म तुमने क्यों लिया था? क्योंकि इस जातिमें प्रायः कठोर बुद्धिवाले पुरुष जन्म लेते हैं। (१५–२०)

आपने मनुके कहे हुए राजधर्म सबही सुने हैं, हे महाराज पुरुषसिंह! क्रूर, कपटी,अशांत ऐसे दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रों की क्षमा तू क्यों करता है ? जैसा कोई थोडेसे घाससे हिमपर्वत को छिपानेका प्रयत्न करे, वैसा तू हमें छिपाना चाहता है। जो तू हमें क्षात्र कर्मसे निवृत्त कर रहा है। हे पाण्डुनन्दन! जैसे सूर्य आकाशमें छिप कर नहीं घूम सकता है, वैसे ही जगत् में विदित आप भी अपना रूप

बृहच्छाल इवाऽनूपे शाखापुष्पपलाशवान् ।
हस्ती श्वेत इवाऽज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ॥ २६ ॥
इमौ च सिंहसङ्काशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ।
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ॥ २७ ॥
पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ।
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ॥ २८ ॥
मां चापि राजञ्जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः ।
नाऽज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ॥ २९ ॥
तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ।
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ॥ ३० ॥
न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ।
अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ॥ ३१ ॥
तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन्प्रच्छन्नान्सुबहूंश्चरान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात्सुमहद्भयम् ॥३२॥
अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान्पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥ ३३ ॥

छिपाकर जगत् में नहीं रह सकते हैं, और फूलके समेत महाशाल वृक्ष जैसे बहुत जल वाले देशमें नहीं छिप सकता तैसेही आपभी नहीं छिप सकेंगे। (२१–२६)

जिसप्रकार सफेद हाथी जगत्में नहीं छिप सकता, तैसेही अर्जुन भी छिपा हुआ नहीं रह सकता, यह सिंहके समान बलवान बालक नकुल और सहदेव किस प्रकार छिपकर रहेंगे? हे पार्थ! यह जगत् विदित वीर राजपुत्री उत्तम कीर्तिवाली द्रौपदी कैसे छिप कर रहेगी; हे राजन्! यह समस्त प्रजा मुझको भी बालकपनसेही जानती है; सो मैं अपना छिप कर रहना भी ऐसेही जानता हूं, जैसे मेरु पर्वतको छिपाना। हे राजन्! हमने अनेक राजा और राजपुत्रोंको उनके राज्यों से निकाल दिया है, वह अब दुर्योधन के सङ्गी हुए हैं। (२६—३०)

सो वह भी अब शान्त न होंगे, वह लोग अवश्यही दुर्योधनकी प्रिय कामना से हमारे विपरीत आचरण करेंगे; वह लोग अवश्य हम लोगोंको ढूंढनेके निमित्त छिपे हुए दूतोंको भेजेंगे। जब वे लोग हमको जान लेंगे, तब हमको महाभय होगा, अभीतक हमको वनमें तेरह महीने बीते हैं, सो यही तेरह वर्षके

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतीकानिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥ ३४ ॥
अथवाऽनडुहे राजन्साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ॥ ३५ ॥
तस्माच्छत्रुवधे राजन्क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नाऽन्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते श० वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः३५॥[१४२२]

वैशम्पायन उवाच— भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः संप्रदध्यौ परन्तपः ॥ १ ॥
श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानां च विनिश्चयाः ।
आयत्यां च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति॥२॥
धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम् ।
कथं बलात्करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ॥ ३ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच— एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।

समान समझने चाहिये; पण्डितलोगोंने कहा है, कि जैसे सोमकी प्रतिनिधि पूतिका होती है, वैसेही एक वर्षका प्रतिनिधि एक मास होता है। अथवा साधुओंके वाहन बैलको भोजन देनेसे झूठ बोलनेका पाप नष्ट होता है, अतएव हे महाराज! आप शत्रुओंके मारनेमें यत्न कीजिये, क्योंकि सब क्षत्रियोंको युद्धसे अधिक धर्म कोई नहीं कहा है। [३१—३६] [१४२२]

वनपर्वमें पैंतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छत्तीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, पुरुषोंमें सिंह शत्रुनाशन कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर भीमसेनके ऐसे वचन सुनकर सांस लेकर विचारने लगे, कि मैंने सब राजधर्म और वर्णोंके धर्म निश्चय सुने हैं। वर्तमान और भविष्यमें जो उनको देखता है, वही ठीक देखता है। मैं कठिनतासे जानने योग्य धर्मकी गतिको अच्छी प्रकार जानता हूं, तब मेरुके समान दुर्योधनको किसप्रकार पीस सकता हूं, इस प्रकार एक मुहूर्त मात्र ध्यान करके और अपने मनमें निश्चय करके भीमसेनसे निश्चित बात कहने लगे। (१—४)

युधिष्ठिर बोले, हे महाबाहो! हे

इदमन्यत्समाधत्स्व वाक्यं मे वाक्यकोविद ॥५॥
महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥ ६ ॥
सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चाऽत्र प्रदक्षिणम्॥७॥
यत्तु केवलचापल्याद्बलदर्पोत्थितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥ ८ ॥
भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसन्धश्च वीर्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान्॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः ।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततं चाऽऽततायिनः ॥ १० ॥
राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ॥ ११ ॥
दुर्योधनहिते युक्ता न तथाऽस्मासु भारत ।
पूर्णकोशबलोपेताः प्रयतिष्यन्ति सङ्गरे ॥ १२ ॥
सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः॥१३॥

भारत! हे वचनके अर्थ जाननेवाले भीम! तुमने जो कुछ कहा, सो सब ऐसेही है, परन्तु मेरे इस वचनको सुनो, हे भीमसेन! हे भारत! जो पापके कर्म केवल साहस ही से किये जाते हैं, सो कर्त्ताको दुःखही देते हैं। हे महाबाहो! और जो कर्म खूब विचारके, उत्तम पुरुषोंसे पूछके किये जाते हैं, उसका प्रयोजन अवश्य सिद्ध होता है; परन्तु प्रारब्ध उसमें भी रहती है; तुम जो केवल चञ्चलता और बलके अभिमानसे इस महाकर्मका आरम्भ करना चाहते हो, उसमें मेरा विचार सुनो; देखो, उनकी ओर भूरिश्रवा, शल, बलवान जलसन्ध, भीष्म, द्रोण, कर्ण, बलवान अश्वत्थामा और दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्र यह सबही दुःखसे जीतने योग्य, अस्त्र शस्त्रोंको जाननेवाले, सदैव युद्ध करनेवाले हैं। और हम लोगोंसे दुःखित राजा और राजपुत्र कौरवोंसे मिले हैं, उनसे उनका प्रेम बडा बढ गया है; वह सब लोग जैसा दुर्योधन का हित करेंगे, वैसा हमारा नहीं। (५—१२)

वह लोग धन और बलसे पूर्ण, पुत्र और मन्त्रियोंके समेत सब भोगोंसे संयुक्त

दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे इति मे निश्चिता मतिः १४॥
समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च ।
द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ॥१५॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान्॥१६
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥ १७ ॥
अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥ १८ ॥
अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान्पुरुषसत्तमान् ।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ॥ १९ ॥
न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर ।
अतिसर्वान्धनुर्ग्राहान्सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच — एतद्वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन ॥ २१ ॥

अपनी अपनी मात्राके अनुसार अलग अलग होकर युद्धमें अनेक यत्न करेंगे उनको दुर्योधनने अधिक माना है; अतएव मुझे निश्चय होता है, कि वह लोग युद्धमें अपना प्राणतक भी देदेंगे। यद्यपि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यकी वृत्ति उनमें और हममें समान है, तथापि मेरी बुद्धिमें वह लोग भी अवश्य ही राजपिण्ड देंगे; अतएव वह लोग अपने दुःखसे देने योग्य प्राणको भी युद्धमें दे देंगे। (१२--१६)

हे महाबाहो ! मेरी बुद्धिमें वह लोग सब शस्त्रोंके जाननेवाले हैं। इन्द्रके सहित देवता भी उनको नहीं जीत सकते। उनमें भी कर्ण सदा ही क्रोध करनेवाला, युद्धमें लीन, सब अस्त्रोंका पाण्डित, अभेद्य कवचसे संयुक्त, जीतने योग्य नहीं है। हे भीम ! इन सब महावीरोंको युद्धमें विना जीते हुए सहायहीन तुम दुर्योधनको किस प्रकार मार सकते हो ? हे वृकोदर! मैं इसी बातके शोचसे और कर्णका हस्त लाघव और सब धनुर्धारियोंसे अधिकता विचारता हुआ रात और दिन नहीं सोता हूं। (१७--२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, महाराजके यह वचन सुनकर और सब ठीक समझ

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ २२॥
सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतांवरः ॥ २३ ॥

व्यास उवाच—
युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदयस्थितम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ॥ २४ ॥
भीष्माद् द्रोणात्कृपात्कर्णाद् द्रोणपुत्राच्च भारत ।
दुर्योधनान्नृपसुतात्तथा दुःशासनादपि ॥ २५ ॥
यत्ते भयममित्रघ्न हृदि संपरिवर्तते ।
तत्तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २६ ॥
तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि ॥ २७ ॥
तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम् ।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ॥ २८ ॥
श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ।
येनाऽभिभविता शत्रून्रणे पार्थो धनञ्जयः ॥ २९ ॥
गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।

कर तासान्वित होके भीमसेन चुप हो गये। जहां पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और भीमसेन इस प्रकारसे बात कर रहे थे, तहां सत्यवतीके पुत्र महायोगीश्वर व्यासदेव आये, आकर पाण्डवोंसे यथायोग्य पूजा पाकर कहनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासदेव युधिष्ठिरसे ऐसा कहने लगे। (२१–२३)

व्यासदेव बोले, हे युधिष्ठिर ! हे महाबाहो ! मैं तुम्हारे हृदयकी बातको जानता हूं, यही विचारकर तुम्हारे पास शीघ्रतासे आया हूं। हे भरतर्षभ ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा और राजपुत्र दुःशासनसे जो भय तुम्हारे हृदयमें उत्पन्न हुआ है, हे शत्रुनाशन! उसको मैं विधिपूर्वक कर्मसे नाश करूंगा, तुम उसको सुनकर बुद्धिको स्थिर करके अपने कर्मसे ठीक करो। हे राजेन्द्र ! उसको करके तुम अपने दुःखोंको नाश करो, तब पराशरके पुत्र महात्मा व्यास देव युधिष्ठिरको एकान्तमें ले जाकर उत्तम अर्थ सहित वचनको कहने लगे। (२४–२८)

हे भरतसत्तम ! तुम्हारे परम कल्याण का समय आया है, धनुर्धारी अर्जुन

विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥ ३० ॥
यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाऽभिगच्छतु ॥ ३१ ॥
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान्द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥ ३२ ॥
ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान् ।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः॥३३॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत्कर्म करिष्यति ॥ ३४ ॥
वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद्विचिन्त्यताम् ।
निवासार्थाय यद्युक्तं भवेद्वः पृथिवीपते ॥ ३५ ॥
एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥ ३६ ॥
मृगाणामुपयोगश्च वीरुदोषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून्विप्रान्वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच-- एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान्प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम्॥३८॥

युद्धमें सब शत्रुओंको जीतेंगे। मेरी दी हुई मूर्तिमती सिद्धि जैसी विद्या को ग्रहण करो। इस विद्याका नाम प्रतिस्मृति है, तुमको दुःखी जानकर देता हूं, जिस को प्राप्त करके महाभुज अर्जुन सिद्ध करेगा। अस्त्र शस्त्र लेनेके निमित्त इन्द्र और शिवके पासभी जा सकेगा, हे पाण्डव ! इसके तप और पराक्रमसे अर्जुन वरुण, कुबेर और यम आदिक देवतोंको भी देख सकेगा। (२९-३२)

यह महात्मा नर नामक ऋषि हैं;नारायण सदाही इनके साहायक हैं,ये पुराने, सनातन, अजेय और अच्युत देवता हैं, यह महाबाहु इन्द्र आदि लोकपाल और शिवसे शस्त्र लेकर बडे बडे कर्मको सिद्ध करेंगे। हे पृथिवीनाथ ! हे कुन्तीपुत्र ! किसी दूसरे वनमें, जो आप लोगोंको प्रिय हो, उसमें निवास करें, क्योंकि एक स्थानमें बहुत दिन तक रहना अच्छा नहीं और समस्त ऋषिलोगभी घबडा जाते हैं, हरिन, वृक्ष, और औषधियोंकाभी नाश हो जायगा, क्योंकि तुम अनेक ब्राह्मणोंको भोजन देते हो। (३३-३७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इस प्रकारसे

धर्मराजाय धीमान्स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ ३९ ॥
युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद्ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाऽभ्यसन् ॥४० ॥
स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात्ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ॥ ४१ ॥
तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविशारदाः
ब्राह्मणास्तापसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥ ४२ ॥
ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभाः ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ॥ ४३ ॥
तत्र ते न्यवसन्राजन्कंचित्कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ॥ ४४ ॥
चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥ ४५ ॥ [१४६७]

इति श्रीमहाभारते श० वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे षट्त्रिंशोऽध्यायः॥३६॥

वैशम्पायन उवाच —कस्यचित्त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

सत्यवतीके पुत्र बुद्धिमान व्यासने कहकर पवित्र धर्मराजको विद्या दी और लोकके तत्त्वको जाननेवाले भगवान व्यासदेव युधिष्ठिरको आज्ञा देकर वहीं अन्तर्धान हो गये । महात्मा युधिष्ठिरने केवल मन हीसे उस विद्याको स्मरण कर लिया था, अतएव बराबर स्मरणही करते रहे । तब व्यास देवके वचनसे प्रसन्न होकर द्वैत-वनसे सरस्वतीके तटपर वाले काम्यक वनको चले । (३८—४१)

हे महाराज! उनके सङ्गही जिस प्रकार इन्द्रके पीछे ऋषिलोग चलते हैं, वैसेही शिक्षा जाननेवाले सहस्रों ब्राह्मण उनके पीछे चले । हे भरतर्षभ ! अनन्तर महात्मा पाण्डवलोग अपने मन्त्री और दल बलके समेत काम्यक वनमें निवास करने लगे । हे राजन् ! वे लोग धनुर्वेद का अभ्यास करते हुए वेदको सुनते हुए शुद्धबाणोंसे हरिणोंको मारकर विधि के अनुसार पितर और देवतोंको तर्पण करते हुए कुछ दिन तक वहां वसे । (४२—४५) [१४६७]

वनपर्वमें छतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें सैंतीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे पुरुषसिंह जन-मेजय ! किसी दिन बैठे हुए धर्मराज



ब्राह्मण रूपधारी इंद्र और अर्जुन ।
[म० भा० वनपर्व अध्याय ३७।४६] भा० मु० औंध

संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं पुरुषर्षभ ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिन्दमः ।
धनञ्जयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच— भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च तेऽभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥ ५ ॥
ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत्तेषु वर्तते ॥ ६ ॥
सर्वयोधेषु चैवाऽस्य सदा प्रीतिरनुत्तमा ।
आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत ॥
शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ॥ ७ ॥
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ।
सग्रामनगरा पार्थ ससागरवनाकरा ॥ ८ ॥
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ।

युधिष्ठिरने महात्मा व्यासकी प्रशंसा करके कुछ हंसकर धर्म जाननेवाले अर्जुनको हाथसे छूकर शान्ति पूर्वक ऐसा कहा। महात्मा धर्मराज वनवाससे दुःखित अर्जुनको देखकर मुहूर्त मात्र ध्यान करते रहे; अनन्तर एकान्तमें ऐसा कहने लगे; युधिष्ठिर बोले, हे अर्जुन! इस समय भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण और अश्वत्थामामें चारों चरणसे धनुर्वेद उपस्थित है। वह लोग दैव, ब्राह्म और मानुष अस्त्र प्रयोगोंको यत्न और चिकित्साके समेत पूर्णरूपसे जानते हैं। उन सबलोगोंकी दुर्योधनने खूब सेवा करी है; दुर्योधनने उन सबको विभाग करके सन्तुष्ट किया है, और गुरुके समान मानता है। (१—६)

दुर्योधनकी प्रीति सब योद्धाओंसे अधिक है, आचार्योंको उसने सन्तुष्ट किया है, अतएव वह लोग उसकी शान्ति चाहते हैं। वह लोग युद्धके समयमें अपनी शक्तिको उठा न रखेंगे। इस समयमें खान, वन, समुद्र, नगर और गांवके सहित सब पृथ्वी दुर्योधनके वशमें है। तुम हमारे अत्यन्त प्रिय हो और यह बोझभी तुम्हारेही ऊपर है। हे शत्रुनाशन!

अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिन्दम ॥ ९ ॥
कृष्णद्वैपायनात्तात गृहीतोपनिषन्मया ।
तया प्रयुक्तया सम्यग्जगत्सर्वं प्रकाशते ॥ १० ॥
तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ।
देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ॥ ११ ॥
तपसा योजयाऽऽत्मानमुग्रेण भरतर्षभ ।
धनुष्मान्कवची खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः ॥ १२ ॥
न कस्यचिद्ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम् ।
इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनञ्जय ॥ १३ ॥
वृत्राद्भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम् ।
तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १४ ॥
शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ।
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरन्दरम् ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच— एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ।
दीक्षितं विधिनाऽनेन धृतवाक्कायमानसम् ॥ १६ ॥
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ।
निदेशाद्धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरन्दरम् ॥ १७ ॥

इस समय जो करनेके लायक काम है, सो तुमसे कहते हैं, कि हे तात! कृष्ण-द्वैपायनने मुझे यह मन्त्र दिया है, जिसका प्रयोग करनेसे यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है, हे तात! तुम उसी मन्त्रको लेकर उत्तम समय पाकर उग्र तप करके देवतोंके प्रसादको प्राप्त करो। (७-११)

हे भरतर्षभ! तुम धनुष, कवच और खड्गको धारण करके मुनिके समान होकर अपने जानेका स्थान किसीको न बताते हुए उत्तरकी दिशाको चले जाओ। हे धनञ्जय! इन्द्रके पास सब दिव्यअस्त्र हैं, क्योंकि वृत्रासुरसे डरकर देवतोंने सब शस्त्र इन्द्रको दे दिये थे, तुम उन सब शस्त्रोंको एकही स्थानमें पाओगे। तुम इन्द्रकी उपासना करो, वह तुमको सब शस्त्र देंगे। मैंने तुमको दीक्षित किया, तुम अभी चले जाओ। (१२-१५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने ऐसा कहकर अर्जुनको वह मन्त्र बता दिया और उनको विधिपूर्वक दीक्षा दी, पश्चात् बडे भाई युधिष्ठिरने छोटेभाई वीर अर्जुनको जानेकी आज्ञा

धनुर्गाण्डीवमादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
कवची सतनुत्राणो बद्धगोधांगुलित्रवान् ॥ १८ ॥
हुताग्निर्ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ॥ १९ ॥
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ।
तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम् ॥ २० ॥
अब्रुवन्ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय मनसा यद्यदिच्छसि ॥ २१ ॥
अब्रुवन्ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ।
संसाधयस्व कौन्तेय ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव ॥ २२ ॥
तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ।
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥
कृष्णोवाच— यत्ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद्धनञ्जय ।
तत्तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि ॥ २४ ॥
माऽस्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ।
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्ष्येण जीविका ॥२५ ॥
इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ।

दी, अर्जुन धर्मराजकी आज्ञा पाय इन्द्रके देखनेकी इच्छासे गाण्डीव धनुष्य, अक्षय दो तूणीर ले, कवच, तलत्राण, अंगुलित्राण पहन, हवनकर, द्रव्यसे ब्राह्मणोंकी पूजा कर सांस ले कर धृतराष्ट्रपुत्रों के मारने और चलनेकी इच्छासे महाबाहु अर्जुन धनुष लेकर आकाशकी ओर देखने लगे। कुन्ती-पुत्र अर्जुनको धनुष लेकर जाते हुए देख कर ब्राह्मण सुसिद्ध और अदृश्य देवता कहने लगे, हे कुन्तीपुत्र ! तुम जो चाहते हो, उसे शीघ्र प्राप्त करो, ऐसा कह कर ब्राह्मणलोग अर्जुनको जय आशीर्वाद देने लगे और बोले, कि हे कुन्तीपुत्र ! साधन करो, अवश्य तुम्हारीही विजय होगी। शालके समान कंधावाले वीर अर्जुनको जाते हुए देखकर सबके मनको ग्रहण करके द्रौपदी कहने लगी । (१८-२३)

द्रौपदी बोली, हे कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे उत्पन्न होनेके समयमें तुम्हारे निमित्त कुन्तीने जो कुछ चाहा था, सो सिद्ध हो, और तुम जो कुछ चाहते हो सोभी सिद्ध हो । हम क्षत्रियोंके वंशमें भिक्षासे जीनेवाले कोई उत्पन्न न हों; भैक्ष्यवृत्ति वाले ब्राह्मणोंको नमस्कार है । मुझको

दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन्राजसंसदि ॥ २६ ॥
तस्माद् दुःखादिदं दुःखं गरीय इति मे मतिः ।
यत्तत्परिषदो मध्ये बह्वयुक्तमभाषत ॥ २७ ॥
नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ।
रंस्यन्ते वीर कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः ॥ २८ ॥
नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ।
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि ॥ २९ ॥
त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते ।
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च ॥ ३० ॥
आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ।
बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत्त्वयाऽनघ ॥ ३१ ॥
प्रयाह्यविघ्नेनैवाऽऽशु विजयाय महाबल ।
नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ३२ ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिर्धृतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती ।
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनञ्जय ॥ ३३ ॥
ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः ।
प्रपद्येऽहं वसून्रुद्रानादित्यान्समरुद्गणान् ॥ ३४ ॥

यह बडा दुःख है, कि जो पापी दुर्योधनने गौ कहके हंसी की थी, उससेभी यह अधिक दुःख है, कि उसने जो सभा के मध्य अनेक अयुक्त बात कही थी, उससेभी तुम्हारा वियोग अधिक दुःख जान पडता है, कि आजसे तुम्हारे भाई लोग तुम्हारेही कर्मोंकी कथाको कह कहके समय बितावेंगे। (२४—२८)

कुन्तीनन्दन! हम लोगोंको भोग, धन और जीविकासे सन्तोष नहीं होगा, क्योंकि हमारा सबका सुख तुम्हारेही अधीन है, और तुमही बहुत कालके लिये परदेशी होते हो। हे कुन्तीनन्दन! जीना मरना राज्य और ऐश्वर्य तुम्हारेही अधीन है, जाओ, और कुशलको प्राप्त करो। हे पापरहित! हे महाबल! तुम किसी बलवानसे विरोध मत करना, शीघ्र विजयके निमित्त जाओ; ईश्वर तुम्हे कुशल दे, मैं परमेश्वर और कर्मको नमस्कार करता हूं। ह्री, श्री, कीर्ति, धृति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी और सरस्वती यह सब मार्गमें तुम्हारी रक्षा करें, तुम वृद्धोंके पूजनेवाले और बडे भाईके आज्ञाकारी कुशलसे आओ; इस निमित्त मैं

विश्वेदेवांस्तथा साध्याञ्छान्त्यर्थं भरतर्षभ ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत॥३५ ॥
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चाऽन्ये परिपन्थिनः।
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वाऽऽशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी ॥३६॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन्धौम्यं च पाण्डवः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ ३७ ॥
तस्य मार्गादपाक्रामन्सर्वभूतानि गच्छतः ।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ॥ ३८ ॥
सोऽगच्छत्पर्वतांस्तात तपोधननिषेवितान् ।
दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परन्तपः ॥ ३९ ॥
अगच्छत्पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथाऽनिलः ॥ ४० ॥
हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च ।
अत्यक्रामत्स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ ४१ ॥
इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद्धनञ्जयः ।
अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ॥ ४२ ॥

वसु, रुद्र, सूर्य, विश्वेदेव और साध्योंको शरण जाती हूं, वे तुम्हे शान्ति प्रदान करें, हे कुन्तीनन्दन! आकाश और भूमिमें फिरनेवाले तुम्हारा कुशल करें, दिव्य प्राणी आदिको लेकर और जो विघ्नकारी जन्तु हैं उन सबसे ईश्वर तुम्हारी कुशल करें। (२९—३६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,यश भरी द्रौपदी इस प्रकार अर्जुनको आशीर्वाद देकर चुप हो रही। अनन्तर भाई और धौम्यको प्रदक्षिणा करके महाबाहु अर्जुन उत्तम धनुषको धारण करके चल दिये। इन्द्र योगधारी तेजस्वी बलवान अर्जुनके चलनेसे मार्गके जितने प्राणी थे,सब हट गये। हे जनमेजय! शत्रुनाशन अर्जुन तपस्वियोंसे सेवित अनेक पर्वतोंको देखते हुए दिव्य, पवित्र और देवतोंसे युक्त हिमाचल पर्वत पर पहुंच, महात्मा अर्जुन योगसे युक्त होकर वायुके समान गति धारण करके एकही दिनमें पवित्र हिमाचल पर्वत पर पहुंच गये। (३६-४०)

अनन्तर हिमाचल और गन्धमादनसे पार होकर निद्रासे शून्य रातादिन चलते हुए अनेक कठिन पर्वतोंको पार हुए; अनन्तर जब अर्जुन इन्द्रकील नामक स्थान पर पहुंचे तो आकाशवाणी हुई

तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः ।
अथाऽपश्यत्सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ॥ ४३ ॥
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम् ।
सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ॥ ४४ ॥
कस्त्वं तातेह संप्राप्तो धनुष्मान्कवची शरी ।
निबद्धासितलत्राणः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ४५ ॥
नेह शस्त्रेण कर्तव्यं शान्तानामेष आलयः ।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ॥ ४६ ॥
नेहाऽस्ति धनुषा कार्यं न संग्रामोऽत्र कर्हिचित् ।
निक्षिपैतद्धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ ४७ ॥
ओजसा तेजसा वीर यथा नाऽन्यः पुमान्कचित् ४८॥
तथा हसन्निवाऽभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत् ।
न चैनं चालयामास धैर्यात्सुधृतनिश्चयम् ॥ ४९ ॥
तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन ॥ ५० ॥
एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनञ्जयः ।

कि यहीं ठहरो । उसको सुनकर पाण्डुनन्दन अर्जुन चारों ओर देखने लगे, तो वृक्षकी जडमें बैठे हुए एक तपके तेजसे प्रकाशमान पिङ्गल वर्णयुक्त जटाधारी था,उस महातपस्वीने आगे खडे अर्जुनको देखकर कहा, हे तात ! तुम धनुष कवच, बाण, अंगुलित्राण और तरकस धारण किये क्षत्रियोंके धर्ममें स्थित कौन हो, और यहां क्यों आये हो ? यह स्थान हर्ष और क्रोधसे रहित तपस्वी शान्त ब्राह्मणोंका है, यहां शस्त्रका क्या काम है? यहां धनुषसे कुछ प्रयोजन नहीं, यहां कभी युद्ध नहीं होता । हे तात ! तुम इस धनुषको फेंक दो ; क्योंकि तुम परम गतिको प्राप्त हुए हो । (४१-४७)

हे वीर ! जिस प्रकार कोई दूसरा पुरुष नहीं बोल सकता, तैसेही तेज और बलसे भरा हुआ वह ब्राह्मण किञ्चित हंसते हुए अर्जुनसे बोला, परन्तु अर्जुन का कुछ भी धैर्य और निश्चय उसके कहनेसे चलित न हुआ । अनन्तर वह ब्राह्मण प्रसन्न होकर हंसता हुआ अर्जुन से ऐसा बोला, हे शत्रुनाशन ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं इन्द्र हूं ; जो तुम्हारी इच्छा हो सो वरदान मांगो ; तब कुरुकुलके बढानेवाले शूरवीर अर्जुन

प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ॥ ५१ ॥
ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे ।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५२ ॥
प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव ।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनञ्जय ॥ ५३ ॥
कामान्वृणीष्व लोकांस्त्व प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनञ्जयः ॥ ५४ ॥
न लोभान्न पुनः कामान्न देवत्वं पुनः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ॥ ५५ ॥
भ्रातृंस्तान्विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च ।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥ ५६ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयंश्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ५७ ॥
यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
दाताऽस्मि ते तदा तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥५८॥
क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः ।

इन्द्रकी बात सुनकर ऐसा बोले, हे भगवन्! मेरी यही इच्छा है और यही वरदान मुझको दीजिये, कि मैं आपसे सब शस्त्रोंको प्राप्त करूं। (४८–५२)

तब प्रसन्न होकर हंसते हुए इन्द्र बोले, हे धनञ्जय! इस स्थान पर पहुंच कर शस्त्रोंसे तुम कौनसा कार्य करोगे? दूसरा वरदान मांगो, क्योंकि तुम परमगतिको प्राप्त हुए हो, अतएव जिस लोकमें जानेकी इच्छा हो, कहो। ऐसा सुनकर इन्द्रसे अर्जुन बोले, हे देवराज! लोभ और कामके वशमें होकरभी मैं देवपद अथवा सब देवतोंके राजाके सुखकी भी इच्छा नहीं करता हूं। मैं अपने भाइयोंको वनमें छोड और वैरका बदला विना लिये यदि किसी लोकमें जाकर सुख भोगूं, तो अनेक वर्षोंतक अपकीर्त्तिको प्राप्त हूंगा। (५३–५६)

वृत्रासुरके मारनेवाले सब लोकोंसे पूजित इन्द्र पाण्डुपुत्र की यह बात सुन कर, कोमलता सहित शान्ति पूर्वक ऐसा बोले, हे तात! जब तुम शूलधारी, तीन नेत्रवाले, भूतोंके स्वामी, शिवका दर्शन करोगे, तब हम तुमको सब शस्त्र देंगे। हे कुन्तीनन्दन! अब तुम परमेश्वर शिवके दर्शनका यत्न करो, उनका दर्शन

दर्शनात्तस्य कौन्तेय संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ॥ ५९ ॥
इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामाऽदर्शनं पुनः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥ ६० ॥ [१५२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वण्यर्जुनाभिगमनपर्वणीन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ समाप्तं चाऽर्जुनाभिगमनपर्व ॥

अथ कैरातपर्व ॥

जनमेजय उवाच– भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पार्थस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथाऽस्त्राण्युपलब्धवान् ॥ १ ॥
यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनञ्जयः ।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥ २ ॥
किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम ।
कथं च भगवान्स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ॥ ४ ॥
अत्यद्भुततमं ब्रह्मँल्लोमहर्षणमर्जुनः ।
भवेन सह संग्रामं चकाराऽप्रतिमं किल ॥ ५ ॥
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ।

होनेसे सिद्ध होकर स्वर्गमें आओगे। अर्जुनसे ऐसा कहकर इन्द्र वहां अन्तर्द्धान हो गये। और अर्जुनभी वहीं बैठ कर योग करने लगे। ५७–६० [१५२७]

सैंतीस अध्याय और अर्जुनाभिगमनपर्व समाप्त।

वनपर्वमें अडतीस अध्याय और कैरात पर्व।

राजा जनमेजय बोले, हे भगवन्! हे वेदजाननेवालोंमें श्रेष्ठ! कठिन कर्म करनेवाले अर्जुनको जिस प्रकार शस्त्र प्राप्त हुए उस कथाको मैं विस्तरसे सुनना चाहता हूं। जिस प्रकारसे वह तेजस्वी, पुरुषसिंह, महाबाहु अर्जुन मनुष्य रहित वनमें बेडरके समान गये, वहां रहकर उन्होंने भगवान् शिव और इन्द्रको किस प्रकार प्रसन्न किया? हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ! हे सब जाननेवाले! हम यह सब कथा आपकी कृपासे सुननेकी इच्छा रखते हैं, क्योंकि आप देवता और मनुष्योंकी सब बातोंको जानते हैं। (१—४)

हे ब्राह्मण! हमने सुना है, कि युद्ध करनेवालोंमे श्रेष्ठ युद्धोंमें अपराजित अर्जुनने शिवके सङ्गमें महाघोर, अद्वितीय, लोमहर्षण युद्ध किया था। पुरुषोंमें सिंह वीर कुन्तीपुत्रोंकी दीनता आनन्द और

यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ॥ ६ ॥
शूराणामपि पार्थानां हृदयाणि चकंपिरे ।
यद्यच्च कृतवानन्यत्पार्थस्तदखिलं वद ॥ ७ ॥
न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच —कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां पौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥ ९ ॥
गात्रसंस्पर्शसंबद्धां त्र्यंबकेण सहाऽनघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक्समागमम् ॥ १० ॥
युधिष्ठिरनियोगात्स जगामाऽमितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥ ११ ॥
दिव्यं तद्धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ॥ १२ ॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन्सर्वलोकमहारथः ॥ १३ ॥
त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवाऽन्वपद्यत ॥ १४ ॥

विस्मययुक्त कथाओंको सुनकर बडे बडे शूरवीरोंके हृदयभी कांप गये थे, अर्जुनने जो जो कर्म किया हो, सो सब कहिये, क्योंकि अर्जुनके चरित्रमें थोडाभी बुरा काम नहीं दीख पडता, अतएव उस शूरवीरके सब चरित्रोंको हमसे कहिये । (६—८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे कुरुवंशियोंमें शार्दूल ! महात्मा अर्जुनकी इस अद्भुत कथाको मैं तुमसे कहता हूं, जिस प्रकार गात्रसे संस्पर्श हुएके समान शिवसे समागम हुआ, उस कथाको मैं भली भांति कहता हूं । हे पापरहित ! तुम सुनो । महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे देवराज इन्द्र और शिवको देखनेकी इच्छासे दिव्य धनुष और सोनेकी मूठवाली खड्गको लेकर महाबलवान्, महाबाहु, अप्रमाण पराक्रम वाले अर्जुन कार्यसिद्ध करनेको उत्तरको और हिमाचलके शिखरकी ओर चले । (९—१३)

हे राजन् ! मनको स्थिर करनेवाले सब लोकोंमें विख्यात महारथ अर्जुन निश्चय करके परम योगसे युक्त होकर महा घोर कांटोंसे भरे हुए वनको एकले

नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम्।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ १५ ॥
ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम्।
शंखानां पटहानां च शब्दः समभवद्दिवि ॥ १६ ॥
पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ॥ १७ ॥
सोऽतीत्य वनदुर्गाणि सन्निकर्षं महागिरेः।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥ १८ ॥
तत्राऽपश्यद् द्रुमान्फुल्लान्विहगैर्वल्गुनादितान्।
नदीश्च विपुलावर्ता वैदूर्यविमलप्रभाः ॥ १९ ॥
हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ॥ २० ॥
मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन्प्रीतमनाऽभवत् ॥२१॥
रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा।
तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥ २२ ॥
दर्भचीरं निवस्याऽथ दण्डाजिनविभूषितः।

ही चले, उन्होंने अनेक फल फूलसे भरे हुए अनेक प्रकारसे पक्षियोंसे भांति भांति के हरिणोंसे भरे हुए सिद्ध और चारणोंसे युक्त वनको देखा। कुन्तीपुत्र अर्जुनके चलनेसे मनुष्यरहित उस वनमें आकाशमें शंख और पटह बजने लगे। आकाशसे पृथ्वीमें फूलोंकी वर्षा होने लगी। बादलोंके समूहने आकाशको सब ओरसे घेर लिया, अर्जुन कठिन कठिन वनोंको पार होकर महापर्वत हिमाचलके शिखर पर पहुंच कर शोभित हुए, वहां उन्होंने फूले वृक्षोंके ऊपर मीठे शब्द करनेवाले पक्षियों और हीरेके समान निर्मल जलवाली महावेगवती अनेक नदियोंको देखा, उनके तटपर हंस, कारण्डव, सारस, कोकिला, मयूर और क्रौञ्च आदि पक्षियों के आनन्दमय शब्द सुने। (१४-२०)

महारथ अर्जुन उस मनोहर वनमें पवित्र ठण्डे और निर्मल जलवाली नदियोंको देखकर महा प्रसन्न हुए, तब उस रमणीय वनमें रमते हुए और उग्र तपको करते हुए महा तेजस्वी अर्जुनने इस प्रकार निवास किया, कि तिनकेका वस्त्र, हरिणका चमडा और दण्डहीको आभूषण

शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥ २३ ॥
पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ॥ २४ ॥
तृतीयमपि मासे स पक्षेणाऽऽहारमाचरत् ।
चतुर्थे त्वथ संप्राप्ते मासे भरतसत्तमः ॥ २५ ॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत्पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादांगुष्ठाग्रधिष्ठित : ॥ २६ ॥
सदोपस्पर्शनाचाऽस्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥ २७ ॥
ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ॥ २८ ॥
तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः ॥ २९ ॥
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन्दिशः ।
तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ॥ ३० ॥
संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ।

किया । जो पत्ते वृक्षसे गिर जायं उसीको खाने लगे फिर एक महीनेतक तीन तीन दिनमें एक एक फल खाना आरंभ किया, दूसरे महीनेमें उससे दुगने समय अर्थात् छः छः दिनमें एक एक फल खाने लगे, तीसरे महीनेमें पक्ष पक्षमें एक एक फल खाकर विताया । जब चौथा महीना प्राप्त हुआ, तो भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन केवल वायु पीकर रहने लगे । उस समय पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन उर्ध्वबाहु होकर बिना किसी आश्रयके केवल चरण के अंगूठे ही से खडे रहे । (२१—२६)

महात्मा महातेजा अर्जुनकी जटा सदा ही न बान्धनेके कारण बिजली सहित बादलके समान हो गई । तब सब मुनीश्वर लोग पिनाकधारी देव शिवके पास अर्जुनका महातप निवेदन करनेको गये। मुनीश्वर लोग महादेवको प्रणाम करके अर्जुनके तपकी प्रशंसा करके बोले, कि यह महातेजस्वी कुन्तीपुत्र हिमाचलपर बैठकर दिशाओंको आधार करते हुए अपार और उग्र तप कर रहे हैं। हे देवतोंके नाथ ! हम सब उसकी इच्छाको नहीं जानते, आप साधुता पूर्वक उसे निवारण कीजिये, आत्मज्ञानी मुनियोंके

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ३१ ॥
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ।

महादेव उवाच— न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ॥ ३२ ॥
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ॥ ३३ ॥
नाऽस्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य तथाऽऽयुषः ।
यत्त्वस्य कांक्षितं सर्वं तत्करिष्येऽहमद्य वै ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच— तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान्पुनरालयान् ॥ ३५ ॥ [१५६२]

इति श्रीमहाभारते श० वैयासिक्यामारण्यपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशंकरसंवादेऽष्टत्रिंशोध्यायः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच —गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान्सर्वपापहरो हरः ॥ १ ॥
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् ।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवाऽपरः ॥ २ ॥
श्रीमद्धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ॥ ३ ॥
देव्या सहोमया श्रीमान्समानव्रतवेषया ।

यह वचन सुनकर पार्वतीपती जगत्स्वामी शिवने ऐसा कहा। (२७—३२)

श्रीमहादेवजी बोले, हे मुनीश्वरो ! तुम अर्जुनका कुछ दुःख मत करो, जैसे आये हो, तैसेही सुखसे आलस्यरहित होकर शीघ्र चले जाओ। मैं उसके मनके संकल्पको जानता हूं; उसको स्वर्ग ऐश्वर्य और आयु बढनेकी इच्छा नहीं है; जो कुछ उसकी इच्छा है, मैं उसे अभी करता हूं। (३२—३४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, शिवके ऐसे वचन सुनके सत्यवादी मुनि लोग प्रसन्न होकर अपने घरको चले गये। (३५)

वनपर्वमें अडतीस अध्याय समाप्त। [१५६२]

वनपर्वमें उनचालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जब महात्मा सब तपस्वीलोग अपने अपने घरको चलेगये तब सब पापके नाश करनेवाले भगवान शिव सोनेके वृक्षके समान किरातका वेष धारण करके महामेघकी शिखाके समान शरीर बनाकर उत्तम धनुष और सर्पके समान बाणोंको धारण करके देहधारी अग्निके समान वेगसे चले। अपने समान वेषधारी उमा और नाना

नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ॥ ४ ॥
किरातवेषसंछन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।
अशोभत तदा राजन्स देशोऽतीव भारत ॥ ५ ॥
क्षणेन तद्वनं सर्वं निःशब्दमभवत्तदा ।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाऽप्युपारमत् ॥ ६ ॥
स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाऽद्भुतदर्शनम् ॥ ७ ॥
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवाऽर्जुनम् ।
हन्तुं परमदुष्टात्मा तमुवाचाऽथ फाल्गुनः ॥ ८ ॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥ ९ ॥
यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहाऽऽगतम् ।
तस्मात्त्वां पूर्वमेवाऽहं नेताऽद्य यमसादनम् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शंकरः ॥ ११ ॥
मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रनीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद्वाक्यं प्रजहाराऽथ फाल्गुनः ॥ १२ ॥

रूपधारी भूतोंके सहित श्रीमान् शिवजी किरातवेषधारिणी अनेक स्त्रियोंको सङ्ग में लेकर उस वनमें पहुंचे । (१—५)

हे भारत ! हे महाराज ! उस समय उस वनकी शोभा और ही हो गई । क्षणमात्र वह वन शब्दरहित हो गया, उस समय पक्षी और झरनोंका शब्दभी बन्द हो गया, उन्होंने कठिन कर्म करनेवाले अर्जुनके पास आकर अद्भुत दर्शनवाले मूक नामक दनुके पुत्रको देखा । वह राक्षस सूअरका वेष बनाये हुए क्रोधसे दीप्त, मारने की इच्छासे अर्जुनको देख रहा था, तब अर्जुनने गाण्डीव धनुष और सर्पके समान बाण लेकर धनुष पर रोदा चढाके शब्दसे वनको पूरित करते हुए उस राक्षससे कहा, तू जो मेरे मारनेकी इच्छासे यहां आया है, इस लिये पहले मैं ही तुझको यमके घरमें पहुंचाता हूं । (६—१०)

जब किरातरूपी महादेवने दृढ धनुषधारी अर्जुनको देखा, कि यह इसको मारना चाहता है, तो उनको निवारण करके कहने लगे, कि इसके मारनेकी इच्छा पहले मैंने की है, परन्तु अर्जुनने उनके

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः।
प्रमुमोचाऽशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥ १३ ॥
तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥ १४ ॥
यथाऽशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत्तदा ॥ १५ ॥
स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ॥ १६ ॥
स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम्।
किरातवेषसंछन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ॥ १७ ॥
तमब्रवीत्प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥ १८ ॥
न त्वमस्मिन्वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ ।
किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ॥ १९ ॥
मयाऽभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहाऽऽगतः ।
कामात्परिभवाद्वापि न मे जीवान्विमोक्ष्यसे ॥ २० ॥

वचनका निरादर करके उसको बाण मारा; ठीक उसी समयमें उसी को लक्ष्य करके महा तेजस्वी किरातनेभी वज्र और अग्नि की ज्वालाके समान बाण मारा, उन दोनोंके वे दोनों बाण एकही समयमें पर्वतके समान कठिनमुख राक्षसके शरीर में लगे, जिस प्रकार एकही समयमें दो वज्र लगनेसे पर्वतमें शब्द होता है, वैसेही उसके शरीरमें दो बाण लगनेसे शब्द हुआ; वह राक्षस अनेक प्रकाशमान बाणोंके लगनेसे मर गया, और फिर दूसरा शरीर धारण किया, तब शत्रुनाशक अर्जुनने स्त्रियोंके सहित किरात वेशी सोनेके समान वर्णवाले एक पुरुषको देखा। (११-१७)

कुन्तीपुत्रने प्रसन्नचित्तसे हंसकर उससे पूंछा, कि तू कौन है जो इस घोर वनमें स्त्रियोंके झुण्डके समेत फिरता है? हे सोनेके रङ्गवाले पुरुष! तुम क्या इस घोर वनमें घूमते हुए डरते नहीं हो? तुमने हमारे मारे हुए सूअरको क्यों मारा? इस राक्षसको पहिले यहां आने पर मैंने ही मारा था, पीछे तुमने बाण मारा, कामसे वा निरादरसे मारा हो, परन्तु तुम मुझसे जीते हुए अब नहीं बच सकते; क्योंकि तुम

न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाऽद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां नाशयिष्यामि जीवितात्पर्वताश्रय २१ ॥
इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् २२॥
न मत्कृते त्वया वीर भीः कार्या वनमन्तिकात् ।
इयं भूमिः सदाऽस्माकमुचिता वसतां वने ॥ २३॥
त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन्निवसामस्तपोधन ॥ २४ ॥
भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः ।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥ २५ ॥

अर्जुन उवाच— गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाऽग्निसंनिभान् ।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकिः ॥ २६ ॥
एष चापि मया जन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः ।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चाऽऽगतः२७॥

किरात उवाच— मयैष धनुर्निर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥ २८ ॥
ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।

ने जो कर्म किया, यह मृगयासे विरुद्ध है, हे पर्वतके निवासी ! इस हेतुसे तुम को मारकर अभी गिरा दूंगा। (१८–२१)

पाण्डुपुत्रके ऐसे वचन सुनकर किरात ने हंसकर मीठी वाणीसे सव्यसाची अर्जुनसे ऐसा कहा । हे वीर ! हमको इस वनमें देखकर तुम मत डरो ; क्यों कि हम वनवासी हैं, और यह भूमि हमारीही है, इस लिये हमारे ही योग्य है, हे तपोधन ! तुमने दुःख सहकर इस वनमें क्यों वास किया है ? क्योंकि अनेक जन्तुओंके सहित इस वनमें हमारा ही घर है । तुम अग्निके समान तेजस्वी सुखके योग्य और सुकुमार हो, तब इस शून्य वनमें कैसे वास करोगे ?(२२-२५)

अर्जुन बोले, हम अग्निके तुल्य बाण और गाण्डीव धनुषका आश्रय करके अग्निके समान इस वनमें वास करते हैं, यह राक्षस जो मेरे मारने की इच्छासे सूअरका वेष बनाके यहाँ आया था इसको मैंने मारा है । (२६ — २७)

किरात बोले, यह तो मेरे हा धनुषके छुटे हुए बाणोंसे मरकर यमके स्थानको गया है, मेरेही पराक्रमसे यह पृथ्वी पर

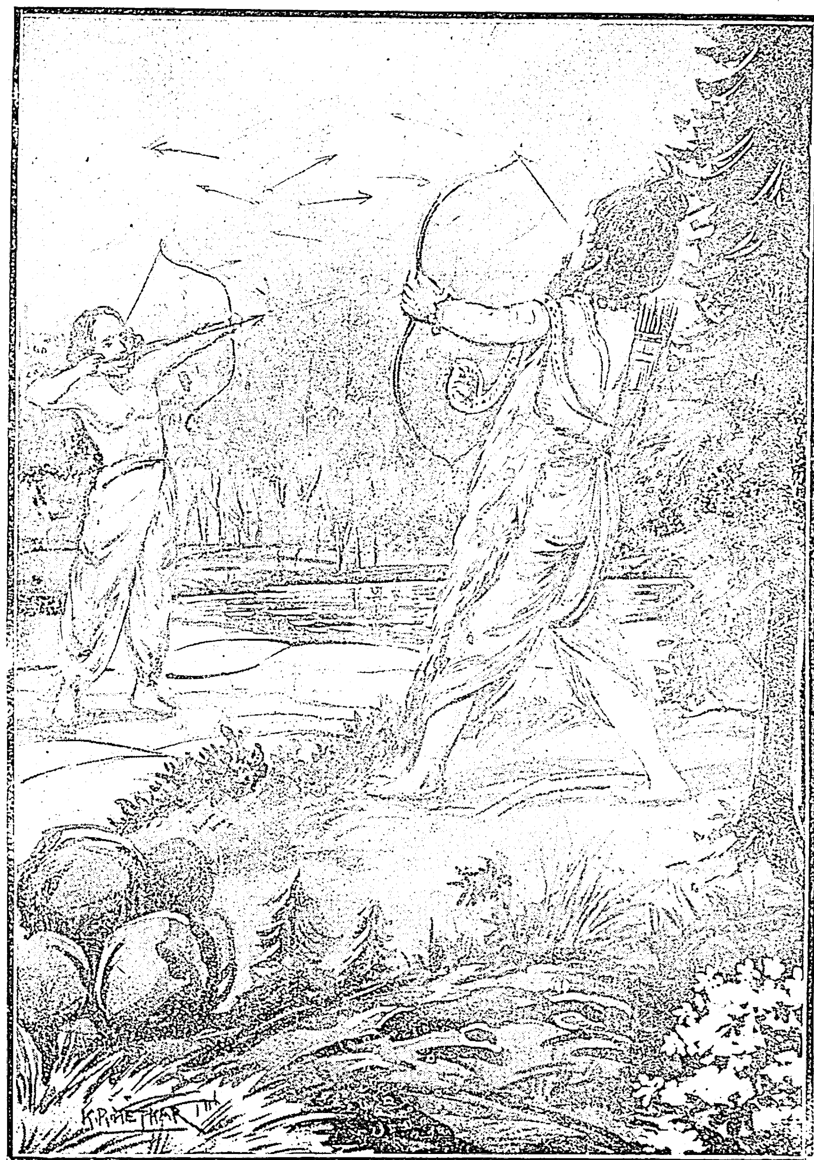
ममैव च प्रहारेण जीविताद्व्यपरोपितः ॥ २९॥
दोषान्स्वान्नाऽर्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन्न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ३०॥
स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीरिव।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ३१॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा किरातस्याऽर्जुनस्तदा।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥ ३२॥
ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान्।
भूयो भूय इति प्राह मन्द मन्देत्युवाच ह॥ ३३॥
प्रहरस्व शरानेतान्नाराचान्मर्मभेदिनः।
इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसाऽर्जुनः ॥ ३४॥
ततस्तौ तत्र संरब्धौ गर्जमानौ मुहुर्मुहुः।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५॥
ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत्।
तत्प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शंकरः ॥ ३६॥
मुहूर्तं शरवर्षं तत्प्रतिगृह्य पिनाकधृक्।

सोया है, पहले मैंनेही इसको लक्ष्य बनाया था, इस लिये यह मेराही धन है; और मेरेही बाणसे मरा है। हे मूर्ख! बलके अभिमानसे बक बक करके अपने दोष दूसरोंको देता है, अब तू कदापि मुझसे जीता हुआ नहीं बचेगा, देख अब मैं वज्रके समान बाणोंको छोडता हूं; तुम खडे रहो। अपनी परम शक्तिसे यत्न करो; और बाणकोभी छोडो। (२८–३१)

किरातके ऐसे वचन सुनकर अर्जुन को महा क्रोध हुआ और बाणोंसे किरात को मारने लगे, किरातभी अर्जुनको "अरे मूर्ख!" ऐसा बार बार कहते हुए उनके बाणोंको सहने लगे और कहने लगे, कि इनसे भी अधिक सन्धिभेदक बाण चलाओ; ऐसा सुनकर अर्जुनने साहससे अनेक बाण मारे। उस समय वह दोनों बार बार युद्ध करते हुए शोभित होने लगे और परस्पर एक दूसरेको सांपके समान विष भरे बाणोंसे मारने लगे। तब अर्जुनने किरात पर बादलके समान बाणोंकी वर्षा करी और शिव भी प्रसन्न चित्तसे बाणोंकी वर्षाको सहने लगे। (३२—३६)

पिनाकधारी शिव एक मुहूर्त्तमात्र उस

महाभारत चित्र माला। चित्र संख्या २८



अर्जुन का किरातवेषधारी शंकर से युद्ध।

[म० भा० वनपर्व अध्याय ३९]   भा० मु० औंध

अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ ३७ ॥
स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनञ्जयः ।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाऽब्रवीत् ३८॥
अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः ।
गाण्डीवमुक्तान्नाराचान्प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ॥ ३९ ॥
कोऽयं देवो भवेत्साक्षाद्रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः ।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ॥४० ॥
न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥४१॥
देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ ४२ ॥
ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान्मर्मभेदिनः ।
व्यसृजच्छतधा राजन्मयूखानिव भास्करः ॥ ४३ ॥
तान्प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः ।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाऽचलः ॥ ४४ ॥
क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ।

बाणवर्षोंको सह करके भी पर्वतके समान अचल हो खडे रहे और शरीरमें एक घाव भी न हुआ । जब अर्जुनने देखा, कि मेरी बाणों की वर्षासे यह छिप गया । तब परम आश्चर्यमें आकर साधु ! साधु ! कहने लगे और ऐसा बोले, कि यह बडे आश्चर्यकी बात है, कि यह हिमाचल शिखरवासी कोमल अङ्गवाला पुरुष गाण्डीव धनुषसे छुटे हुए बाणोंको बिना दुःखके सह रहा है, यह कौन है ? क्या यही साक्षात शिव है ? अथवा कोई यक्ष, राक्षस या देवता हैं ? क्यों कि मेरी धनुषसे छुटे हुए सहस्रों बाणोंको देव पिनाकधारी शिवको छोडकर और कोई भी नहीं सह सकता है । जो हो यदि यह शिवको छोडकर देवता वा कोई यक्षही क्यों नहो, अब मैं इसको कठिन बाणोंसे यमके घरमें पहुंचाऊंगा । (३७-४२)

ऐसा कहकर अर्जुनने प्रसन्नचित्तसे सन्धियोंके तोडनेवाले बाणोंकी इस प्रकार धारा लगादी जैसे सूर्य अपनी किरणोंको सब जगह पहुंचा देता है । किन्तु भगवान् शूलधारी, लोकनाथ, शिव उन बाणोंकोभी प्रसन्नचित्तसे इस प्रकार ग्रहण करने लगे, जैसे शिलाकी वर्षाको पर्वत सहता है । हे राजन् ! तब क्षण भरमें

भीश्चैनमाविशत्तीव्रा तं दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ॥ ४५ ॥
चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम् ।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनाऽस्य खाण्डवे॥४६ ॥
किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः ।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान्ग्रसति सर्वशः॥४७ ॥
हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम् ।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥ ४८ ॥
प्रगृह्याऽथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनाऽवकृष्य च ।
मुष्टिभिश्चाऽपि हतवान्वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ॥ ४९ ॥
संप्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा ।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ॥ ५० ॥
ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत ।
युद्धस्याऽन्तमभीप्सन्वै वेगेनाऽभिजगाम तम् ५१॥
तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि ।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ॥ ५२ ॥
तस्य मूर्धानमासाद्य पफालाऽसिवरो हि सः ।

अर्जुनके बाण समाप्त हो गये। अनन्तर अपने बाणोंको समाप्त देखकर अर्जुनको महाभय होने लगा, तब अर्जुनने उसी भगवान् अग्निका ध्यान किया, जिसने इनको पहले खाण्डव वनमें अक्षय तूणीर दिये थे, और विचारने लगे, कि अब मेरे सब बाण समाप्त हो गये, धनुषसे क्या छोडूं? और यह पुरुष मेरे सब बाणोंको ग्रास किये जाता है। जिस प्रकार भालेसे हाथीको मारते हैं, तैसेही अब मैं भी इसको गाण्डीव धनुषके अगाडीके भागसे मारकर दण्डधारी यमराजके स्थानको पहुंचाऊंगा, ऐसा विचारकर महातेजा अर्जुनने धनुषसे किरातका गला फांसकर उसे रोदेकी फांसीसे खींच करके वज्रके समान बुकोंसे बहुत मारा। (४३—४९)

कुन्तीनन्दन शत्रुनाशन अर्जुन जब इस प्रकार धनुष से युद्ध करने लगे, तब पर्वतके समान किरातने इनके धनुषकोभी ग्रासकर लिया, धनुष नष्ट होनेके पश्चात् युद्ध समाप्त होनेकी इच्छासे अर्जुन खड्ग लेकर वेगसे दौडा जो पर्वत को भी काट सकता था उस तेज खड्गको कुरुनन्दन अर्जुनने अपने भुजाके बलसे भर कर किरातके शिरमें

ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ॥ ५३ ॥
तदा वृक्षान्महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः ।
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ॥ ५४ ॥
मुष्टिभिर्वज्रसंकाशैर्धूममुत्पादयन्मुखे ।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ॥ ५५ ॥
ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः ।
किरातरूपी भगवानर्दयामास पाण्डवम् ॥ ५६ ॥
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत ।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यतः ॥ ५७ ॥
सुमुहूर्तं तु तद्युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥ ५८ ॥
जघानाऽथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली ।
पाण्डवं च विचेष्टन्तं किरातोऽप्यहनद्बली ॥ ५९ ॥
तयोर्भुजविनिष्पेषात्संघर्षेणोरसोस्तथा ।
समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ॥ ६० ॥
तत एनं महादेवः पीड्य गात्रैः सुपीडितम् ।
तेजसा व्यक्रमद्रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥ ६१ ॥

मारा, परन्तु उसके शिरमें लगनेसे वह उत्तम खड्गभी टूट गया, तब अर्जुन शिला और वृक्षोंसे युद्ध करने लगे, परन्तु किरातरूपी भगवान शिव उन शिला और वृक्षोंको भी सहने लगे। (५२—५४)

अनन्तर महाबली अर्जुनके मुखसे मारे क्रोधके धुआं निकलने लगा, अनन्तर अर्जुन दुराधर्ष भगवान किरात रूपी शिवके शरीरमें वज्रके समान मुके मारने लगे। अनन्तर किरातरूपी भगवान शिवभी वज्रके समान दारुण मुकों से अर्जुनको मारने लगे। उस अर्जुन और किरातके युद्धमें दोनोंके मुकोंका शब्द होने लगा जिसके सुननेसे रोम खडे होते थे। वह युद्ध ऐसा हुआ जैसा वृत्रासुर और इन्द्रका हुआ था। तब बलवान अर्जुनने किरातको हृदयसे मारना आरम्भ किया और किरातनेभी चेष्टा रहित अर्जुनको मारा। (५४-५९)

उन दोनोंके हाथ और हृदयके घिसने से शरीरमें अंगारे और धुएके सहित अग्नि निकलने लगी, अनन्तर महादेवजीने पीडित अर्जुनके शरीरको पीडा दी और अपने

ततोऽभिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाऽऽबभौ।
फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ॥ ६२ ॥
निरुद्धवासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना।
पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्व इवाऽभवत् ॥६३॥
स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः।
रुधिरेणाऽऽप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः॥६४॥
शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम्।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनाऽपूजयद्भवम्॥६५॥
तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम्।
अपश्यत्पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिं गतः ॥ ६६ ॥
पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद्भवः।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ॥ ६७ ॥
जातविस्मयमालोक्य ततः क्षीणाङ्गसंहतिम्॥६८॥

भव उवाच— भो भो फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाऽप्रतिमेन ते।
शौर्येणाऽनेन धृत्या च क्षत्रियो नाऽस्ति ते समः॥६९॥
समं तेजश्च वीर्यं च ममाऽद्य तव चाऽनघ ।

तेजसे उनके तेजको खींच कर उनके चित्त को मोहित कर दिया। हे भारत! शरीर के पीडित और देव देव महादेवसे अवरुद्ध होकर अर्जुन पिण्डके समान हो गये। अनन्तर महादेवसे पीडित होकर अर्जुन चेष्टाहीन होकर निर्बलके समान पृथ्वीमें गिर पडे और सांसभी बन्द होगया, परन्तु क्षणमात्रके पश्चात्ही अत्यन्त दुःखित रुधिरसे भरे शरीरवाले अर्जुन चैतन्य होकर उठे, तब शरण देनेवाले भगवान् पिनाकधारी शिवकी शरणमें गये,और मिट्टीकी स्थण्डिल बनाकर उस-पर महादेवकी माला चढाई।(६०–६५)

तब कुन्तीनन्दन अर्जुनने वही माला किरातके शिरपर देखी, तब आनन्दके वशमें होकर अपनी दशाको प्राप्त हुए, और किरातके चरणोंमें गिर पडे, तब क्षीण शरीर आश्चर्ययुक्त अर्जुनसे प्रसन्न होकर मेघके समान गंभीर वाणीवाले शिव कहने लगे। (६६—६८)

श्रीमहादेवजी बोले, हे फाल्गुन! हम तुम्हारे असाधारण काम शूरवीरता और धारणाशक्तिसे प्रसन्न हुए, और जाना, कि तुम्हारे समान क्षत्रिय कोई नहीं है, हे पापरहित! तुम्हारा पराक्रम और तेज मेरे समान है; हे महाभुज! हे महारथ-

प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां भरतर्षभ ॥ ७० ॥
ददामि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान्दिवौकसः ॥ ७१ ॥
प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।
त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ॥ ७२ ॥
वैशम्पायन उवाच— ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥ ७३ ॥
स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरञ्जयः ॥ ७४ ॥
अर्जुन उवाच— कपर्दिन्सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ।
देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर ॥ ७५ ॥
कारणानां च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ।
देवानां च गतिं देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः ॥ ७६ ॥
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः ॥ ७७ ॥
ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ।

श्रेष्ठ ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं । मुझे देखो, मैं तुम्हे दिव्य दृष्टि देता हूं, तुम पूर्व समयके ऋषि हो; तुम युद्धमें सब शत्रुओंको जीतनेवाले हो; तुम्हारे शत्रु चाहे देवताभी हों तौभी तुमसे पराजित होंगे। मैं प्रसन्नतासे तुम्हें यह अस्त्र देता हूं, इस निवारण करनेके अयोग्य शस्त्रको तुमही धारण करनेमें समर्थ हो । (६९—७२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तब त्रिशूलधारी देवोंके देव महादेवको पार्वतीके सहित अर्जुनने देखा । घुटनोंको पृथ्वीमें लगाकर शिरसे प्रणाम करके शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले अर्जुनने महादेवको प्रसन्न किया । (७३—७४)

अर्जुन बोले, कि हे जटाधारी ! हे सब देवतोंके स्वामी ! हे भगनेत्र नाशक! हे महादेव ! हे देवोंके देव ! हे नीलकण्ठ ! मैं आपको सब कारणोंका कारण जानता हूं । आपही त्रिलोचन, सर्वव्यापी तथा सब देवतोंकी गति हैं, आपसेही जगत् उत्पन्न होता है । आप तीनों लोकोंके देवता, असुर और मनुष्योंसे अजेय हो । दक्षके यज्ञनाश करनेवाले आपको नमस्कार है ! कपाल नेत्रवाले

पिनाकगोप्त्रे सूर्याय मार्जालीयाय वेधसे ॥ ७८ ॥
प्रसादये त्वां भगवन्सर्वभूतमहेश्वर ।
गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् ॥ ७९ ॥
प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ।
व्यतिक्रमं मे भगवन्क्षन्तुमर्हसि शंकर ॥ ८० ॥
भगवद्दर्शनाकांक्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ।
दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम् ॥ ८१ ॥
प्रसादये त्वां भगवन्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
न मे स्यादपराधोऽयं महादेवाऽतिसाहसात् ॥ ८२ ॥
कृतो मयाऽयमज्ञानाद्विमर्दो यस्त्वया सह ।
शरणं प्रतिपन्नाय तत्क्षमस्वाऽद्य शंकर ॥ ८३ ॥

वैशम्पायन उवाच– तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ॥ ८४ ॥
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान्हरः ।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः॥ ८५ ॥ [१६४७]

इति महाभा० संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तव एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥३९ ॥

देवदेव उवाच – नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् ।

शर्वको नमस्कार है, वर्षा करनेवाले, शूलपाणीको नमस्कार है । पिनाकधारी सूर्यरूपी पवित्र देहवाले ब्रह्मारूपी आपको मैं प्रसन्न करता हूं; गणेशरूपी जगत्के कल्याण करनेवाले तीनों लोकोंके कारण प्रधान पुरुषसे भी उत्तम सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हे हर ! आपको प्रणाम है। मेरी विपरीत बुद्धिको क्षमा कीजिये। हे भगवन् ! मैं आपके दर्शनकी इच्छासे ही इस पर्वत पर आया हूं। यह पर्वत तपस्वियों का स्थान और आपका प्यारा है, मैं आपको नमस्कार करता हूं । हे महादेव जो मैंने यह साहस किया, वह मेरा दोष नहीं है, क्योंकि मैंने अज्ञानसे आपके साथ युद्ध किया है,हे शंकर! मैं आपकी शरण हूं, मेरा अपराध क्षमा कीजिये ।७५-८३

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि वृषभध्वज महादेव अर्जुनका सुन्दर हाथ पकडके बोले, कि हे तेजस्वी ! तुम शान्त हो । फिर दोनों हाथों से अर्जुनको छातीसे लगाकर शान्त होनेको बोले। (८४-८५

वनपर्वमें उनचालिस अध्याय समाप्त । [१६४७]

वनपर्वमें चालिस अध्याय ।

श्रीमहादेवजी बोले, पूर्व जन्ममें तुम नर

बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान्बहून् ॥ १ ॥
त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे ।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत् ॥ २ ॥
शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ॥ ३ ॥
तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम् ।
मायामास्थाय यद् ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ॥ ४ ॥
तूणौ चाऽप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ ।
भविष्यति शरीरं च नीरुजं कुरुनन्दन ॥ ५ ॥
प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान्सत्यपराक्रमः ।
गृहाण वरमस्मत्तः कांक्षितं पुरुषोत्तम ॥ ६ ॥
न त्वया पुरुषः कश्चित्पुमान्मर्त्येषु मानद ।
दिवि वा वर्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिन्दम ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच--
भगवन्ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद्धोरं पाशुपतं प्रभो ॥ ८ ॥
यत्तु ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम् ।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ॥ ९ ॥

नामक ऋषि थे, नारायण तुम्हारे साथी थे बदरिकाश्रममें हजारों वर्ष तुमने तपस्या की थी। तुममें तेज है, व पुरुषोत्तम विष्णुमें तेज है, तुम्ही दोनोंसे जगत् स्थित है, तुमने इन्द्रके राज्याभिषेकमें मेघके गर्जनके समान टंकार वाली धनुष को ग्रहण करके दानवोंको मारा था। यह गाण्डीव धनुष तुम्हारे ही हाथके योग्य है ; धनुषको मैंने मायाके बलसे व्यर्थ किया था ; तुम्हारे तर्कश बाणोंसे कभी खाली न होंगे। हे कुरुनन्दन ! तुम्हारा शरीर पीडारहित रहेगा। हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं, जो तुम्हारी इच्छा हो, वर मांगो, तुमसे मर्त्य लोकमें वा स्वर्गमें कोई पुरुष श्रेष्ठ न होगा। हे शत्रुओंको दमन करनेवाले ! तुम क्षत्री धर्ममें प्रधान गिने जाओ गे। (१—७)

अर्जुन बोले, हे भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न होकर वर देते हैं, तो मैं पाशुपतास्त्र मांगता हूं, जो ब्रह्म शिर नामक भयानक बडा पराक्रमी प्रलयमें जगतको नाश करता है, उसी अस्त्रको मैं लेना चाहता हूं। हे भगवन्!

कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः ।
त्वत्प्रसादान्महादेव जयेयं तान्यथाविधि ॥ १० ॥
दहेयं येन संग्रामे दानवान्राक्षसांस्तथा ।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ॥ ११ ॥
यस्मिञ्छूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
शराश्चाऽऽशीविषाकाराः संभवन्त्यनुमन्त्रिते ॥ १२ ॥
युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ॥ १३ ॥
एष मे प्रथमः कामो भगवन्भगनेत्रहन् ।
त्वत्प्रसादाद्विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ॥ १४ ॥
भव उवाच— ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चाऽसि पाण्डव ॥ १५ ॥
नैतद्वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथ वा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥ १६ ॥
न त्वेतत्सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद्विनाशयेत्सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥ १७ ॥
अवध्यो नाम नाऽस्त्यस्य त्रैलोक्ये सचराचरे ।

कर्ण, भीष्म, कृपाचार्य और द्रोणाचार्यसे युद्ध होनेवाला है, जिससे युद्धमें तुम्हारी कृपासे मैं उनको युद्धमें जीत सकूं, जिसके प्रतापसे मैं युद्धमें दानव, राक्षस, भूत, पिशाच, गन्धर्व और सर्पोंको भस्म कर सकूं। जिसको अभिमंत्रित करनेसे सहस्रों भाले, तेज दर्शानेवाली गदा और विषैले सर्पके समान खड्ग उत्पन्न होते हैं; हम जिससे भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, और सदा ही कठोरवादी कर्णसे युद्ध कर सकें। हे भगवन्! हे भगनेत्रहारी! यह मेरी प्रथम इच्छा है, सो आपकी कृपासे कृतकृत्य होकर समर्थ हूंगा। (८--१४)

श्रीशिवजी बोले, हे विभो! हम तुमको अपना प्यारा पाशुपतास्त्र चलाने और मोक्ष करनेकी क्रियाके समेत देते हैं, क्योंकि तुम उसके योग्य हो। इसको इंद्र, यम, वरुण और वायु भी नहीं जानते मनुष्योंकी तो कथा ही क्या है? हे कुन्तीनन्दन! इस शस्त्रको कदापि कहींभी साहससे किसी पुरुषके ऊपर मत छोडना, क्योंकि थोडे तेजवालेपर छोडनेसे यह सब जगत् को भस्म कर सकता है। चर और अचर जगतमें कोई

मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपात्यते ॥ १८ ॥

वैशंपायन उवाच—तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।

उपसंगम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।

तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवाऽन्तकम् ॥ २० ॥

उपतस्थे च तत्पार्थं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।

प्रतिजग्राह तच्चाऽपि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥ २१ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।

ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥ २२ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।

तस्मिन्मुहूर्ते संप्राप्ते निर्घाताश्चाऽपतन्मुहुः ॥ २३ ॥

अथाऽस्त्रं जाज्वलद्घोरं पाण्डवस्याऽमितौजसः ।

मूर्तिमद्वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥ २४ ॥

स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेणाऽथ फाल्गुनस्याऽमितौजसः ।

यत्किंचिदशुभं देहे तत्सर्वं नाशमीयिवत् ॥ २५ ॥

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेण तदाऽर्जुनः ।

ऐसा नहीं, जो इससे न मर सके, इसके चलानेके समय इसको मन, वचन, नेत्र और धनुषसे चलाना चाहिये। (१-५१८

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कुन्तीनन्दन अर्जुन शिवके ऐसे वचन सुनकर पवित्र हो उनके पास बैठे, और शिवजी बोले, ग्रहण करो। तब शिवजीने मूर्तिधारी कालके समान उस शस्त्रको चलाने और निवृत्त करनेकी गुप्त क्रियाओंके समेत अर्जुनको पढा दिया। वह शस्त्र जिस प्रकार पार्वतिनाथ त्रिनेत्र शिवको आता था, तैसेही अर्जुनको भी आगया, और अर्जुननेभी प्रसन्न चित्तसे ग्रहण किया। उस समय ग्राम, नगर, समुद्र, खान, पर्वत, वन, वृक्ष, और देशोंके समेत पृथ्वी हिलने लगी। उस समय आकाशमें सहस्रों शंख नगारे भेर बजने लगे। उस अस्त्रोपदेशके मुहूर्त में अनेक उत्पात ध्वनि होने लगे। (१८—२३)

महातेजवाले अर्जुनके यहां शस्त्र मूर्त्ति धारण करके वहां आया, इसको सब देव और दानवोंने देखा। श्रीमहादेवजी महाराजने अर्जुनको अपने हाथ से स्पर्श किया, तब उसका जितना पाप था, सब नष्ट होगया। अर्जुनने प्रणाम

प्रणम्य शिरसा राजन्प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥ २६ ॥
ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी महाद्युतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।
धनुर्महद्दितिजपिशाचसूदनं ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥२७॥
ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ॥२८॥[१६७५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि कैरातपर्वणि
शिवप्रस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य संपश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः ।
जगामाऽदर्शनं भानुर्लोकस्येवाऽस्तमीयिवान् ॥ १ ॥
ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा ।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत ॥ २ ॥
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः ।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना ॥ ३ ॥
कृतार्थं चाऽवगच्छामि परमात्मानमाहवे ।
शत्रूंश्च विजितान्सर्वान्निर्वृत्तं च प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

कर हाथ जोडके शिवकी ओर देखा, तब शिवने आज्ञा दी, कि तुम स्वर्गको जाओ। तब पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको देवतोंके स्वामी जितेन्द्रिय महाबुद्धिमान् पर्वतमें सोनेवाले पार्वतीनाथ जगतके उत्पन्न करनेवाले शिवने पिशाच और राक्षसोंके नाश करनेवाला महाधनुष गाण्डीव दिया। तब पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन के सामनेही शिव ऐसी उत्तम बात कहकर सफेद कन्दरावाले पक्षी और महर्षियोंसे सेवित पर्वतको छोडकर आकाशको चले गये। (२४-२८)[१६७५]

वनपर्वमें चालीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकचालीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, जिस प्रकार सब जगत्के देखते हुए सूर्य अस्त हो जाता है, तैसेही भगवान वृषभध्वज पिनाकधारी शिवभी अर्जुनके देखते देखते अन्तर्धान हो गये। हे जनमेजय! तब मैंने साक्षात् शिवको देखा, ऐसा विचार कर अर्जुन बार बार आश्चर्य करने लगे। आहा! मैं धन्य हूं, मैं कृपाका पात्र हूं, जो मैंने साक्षात् तीननेत्रवाले भक्त दुःखनाशक वरदान-दाता शिवको देखा और हाथसे छुआ, अब मैं कृतार्थ हुआ; अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुआ, मैंने युद्धमें सब शत्रुओंको जीत लिया और मेरे सब प्रयोजन सिद्ध हो गये। (१—४)

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्याऽमिततेजसः ।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन्सर्वतो दिशः ॥ ५ ॥
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः ॥ ६ ॥
नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः ।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत् ॥ ७ ॥
अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा ।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः ॥ ८ ॥
विद्योतयन्निवाऽऽकाशमद्भुतोपमदर्शनः ।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः ॥ ९ ॥
तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान्यमः साक्षात्प्रतापवान् ।
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः ॥ १० ॥
दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत् ।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनाऽवभासयन् ॥ ११ ॥
त्रींल्लोकान्गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान् ।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते ॥ १२ ॥
ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः ।
समास्थायाऽर्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम् ॥ १३ ॥

इस प्रकारसे विचारते महा तेजस्वी अर्जुनके पास जलचर जन्तुओंके समेत वैदूर्य रत्नके समान कांति वाले श्रीमान् वरुण सब दिशाओंको प्रकाश करते हुए आये; इन्द्रियजित वरुणके सङ्ग नद, नदी, दैत्य, साध्य, देवता और जलजन्तु भी आये। अनन्तर सोनेके समान वर्ण-वाले यक्षोंके समेत भगवान कुबेर तेजस्वी विमानमें बैठकर वहां आये, उनके आने से आकाश प्रकाशमान हो गया। अर्जुन ने श्रीमान् धनेश्वरको अद्भुत दर्शनवाला देखा। (५—९)

उसके पश्चात् सब लोकोंको नाश करनेवाले श्रीमान् प्रतापवान यमराज भी रूप और विनारूपवाले लोकभावन पितरोंको सङ्ग लेकर वहां आये। यमराज दण्ड धारण किये हुए थे। भगवान् अचिन्त्यरूपवाले नवलोकके नाश करने-वाले सूर्यके पुत्र यमराज तीनों लोकोंको प्रकाश करते हुए गुह्यक, सिद्ध, गन्धर्व और सर्पोंको सङ्ग लेके विमानमें बैठ प्रलयकालके सूर्यके समान तेज धारण करके वहां आये। (१०—१२)

वे सब लोग हिमाचलके प्रकाशमान

ततो मुहूर्ताद्भगवानैरावतशिरोगतः।
आजगाम महेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः ॥ १४ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिवाऽऽश्रितः ॥ १५ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ॥ १६ ॥
अथ मेघस्वनो धीमान्व्याजहार शुभां गिरम्।
यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ १७ ॥
अर्जुनाऽर्जुन पश्यास्माँल्लोकपालान्समागतान्।
दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ॥ १८ ॥
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः।
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ॥ १९ ॥
त्वया च वसुसंभूतो महावीर्यः पितामहः।
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ॥ २० ॥
क्षत्रं चाऽग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम्।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः।
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ॥ २१ ॥

और विचित्र शिखरपर आकर तपस्वी अर्जुनको देखने लगे। उसी क्षणमें सफेद छत्रसे शोभायमान ऐरावतके ऊपर स्थित इन्द्राणी और देवतोंसे युक्त भगवान् इन्द्रभी वहां आये, उनकी शोभा ऐसी जान पडती थी, जैसे तारोंके बीचमें चन्द्रमा। जिस प्रकारसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसेही भगवान इन्द्रभी देवता और तपोधन ऋषियोंसे स्तुति सुनते हुए पर्वतके शिखरपर शोभित हुए। १३-१६

तब दक्षिण दिशामें बैठे हुए सब धर्मके जानने वाले श्रीमान यमराज मेघके समान गंभीर वाणीसे अच्छे वचन बोले, हे अर्जुन! तुम सब आये हुए लोकपालोंको देखो, हम तुमको दिव्य दृष्टि देते हैं, तुम हमारे दर्शन करनेके योग्य हो। हे तात! तुम पहले महाबल नर नामक ऋषि होकर आनन्द करते थे, अब ब्रह्माकी आज्ञासे मनुष्य हो गये हो। हे पापरहित! वसुके अवतार महापराक्रमी धर्मात्मा भीष्म पितामह तुमसे ही युद्धमें मारे जायंगे (१७–२०)

भरद्वाजके पुत्र द्रोणाचार्यसे रक्षित क्षत्रियोंकी सेना महा पराक्रमी दानव

पितुर्ममांऽशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ।
कर्णश्च सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनञ्जय ॥ २२ ॥
अंशाश्च क्षितिसंप्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ।
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ॥ २३ ॥
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथा स्वामरिकर्शन ।
अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ॥ २४ ॥
त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ।
लघ्वी वसुमती चाऽपि कर्तव्या विष्णुना सह ॥२५ ॥
गृहाणाऽस्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनाऽस्त्रेण सुमहत्त्वं हि कर्म करिष्यसि ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच– प्रतिजग्राह तत्पार्थो विधिवत्कुरुनन्दन ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षविनिवर्तनम् ॥ २७ ॥
ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन्प्रभुः ॥ २८ ॥
पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥ २९ ॥

जो मनुष्य बने हैं, हे कुरुनन्दन ! निवातकवच दानव और जो सर्व लोकके तपानेवाला सूर्यके तेजसे महावीर कर्ण उत्पन्न भया, उसकोभी तुमही मारोगे। हे धनञ्जय ! औरभी अनेक देव और दानवोंके अंशसे अवतार भये हैं, हे शत्रुनाशन ! हे कुन्तीनन्दन ! ये सब लोग अपने अपने कर्मके अनुसार तुम्हारे हाथसे युद्धमें मरकर गति पावेंगे। हे फाल्गुन ! तुमने साक्षात् महादेवको युद्धमें प्रसन्न किया है, इस लिये तुम्हारी कीर्त्ति जगत्में अक्षय होकर स्थिर रहेगी। तुम कृष्णके सङ्ग होकर पृथ्वीके भारको उतारोगे,अब यह हमारा असाधारण दण्ड नामक शस्त्र ग्रहण करो; इस अस्त्रसे तुम्हारे बडे भारी कार्य सिद्ध होंगे। (२१-२६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,तब कुरुनन्दन अर्जुनने छोडने और समेटनेकी विधि मन्त्र और सब क्रियाओंके समेत उस अस्त्रको ग्रहण किया। तब मेघके समान श्याम वर्णवाले जलके स्वामी भगवान वरुण पश्चिम दिशामें बैठ कर ऐसा बोले, हे कुन्तीनन्दन ! हे बडे और लालनेत्रवाले ! तुम क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ हो और क्षत्रियोंके धर्ममें रहनेवाले हो, देखो हम जलके स्वामी वरुण हैं,

मया समुद्यतान्पाशान्वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्तनान् ॥ ३० ॥
एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥ ३१ ॥
तस्मादिमान्महासत्त्व मत्प्रसादसमुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥ ३२ ॥
अनेन त्वं यदाऽस्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच--ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥ ३४ ॥
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ पाण्डवेय महाबल ।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ॥ ३५ ॥
सव्यसाचिन्महाबाहो पूर्वदेव सनातन ।
सहाऽस्माभिर्भवाञ्छ्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥३६॥
दर्शनात्ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ ।
अमनुष्यान्महाबाहो दुर्जयानपि जेष्यसि ॥ ३७ ॥
मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम् ।

हम यह निवारण करनेके अयोग्य पाश तुमको देते हैं,तुम इसको विधिके समेत ग्रहण करो। हे वीर ! मैंने इससे तारकामय युद्धमें भारी भारी सहस्रों राक्षसों को मारा था, हे महाबल ! मेरे प्रसाद से इसको ग्रहण करो,तुम्हें क्रोध आनेपर इससे यमभी नहीं छूट सकता है। जब तुम इसको लेकर युद्धमें घुमोगे तो निःसन्देह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी हो जायगी। (२७—३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,कि जब अर्जुन को वरुण और यम दिव्य शस्त्र देचुके तो कैलासवासी कुबेर बोले, हे पाण्डुपुत्र ! हे महाबल ! हे महाबुद्धिमान ! जीतनेके अयोग्य तुमको देखकर हम अत्यन्त प्रसन्न हुए, हे सव्यसाचिन् ! हे महाबाहो ! हे पूर्वदेव सनातन ! पहले कल्पमें हम और तुम सङ्गही रहते थे, हे भरतर्षभ ! तुम्हारा दर्शन करके हम तुम्हें यह दिव्य शस्त्र देते हैं; इसके बलसे दुःखसे जीतने योग्य देव दानवोंको भी युद्धमें जीत सकोगे, हे शत्रुनाशन ! मुझसे इस शस्त्रको तुम शीघ्रही ग्रहण करो, तुम इसके प्रतापसे धृतराष्ट्रपुत्रकी सेनाको

अनेन त्वमनीकानि धार्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ॥ ३८ ॥
तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्धानं प्रियं मम ।
ओजस्तेजोद्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ॥ ३९ ॥
महात्मना शंकरेण त्रिपुरं निहितं यदा ।
तदैतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ॥ ४० ॥
त्वदर्थमुद्यतं चेदं मया सत्यपराक्रम ।
त्वमर्हो धारणे चाऽस्य मेरुप्रतिमगौरव ॥ ४१ ॥
ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत्कुरुनन्दनः ।
कौबेरमभिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥ ४२ ॥
ततोऽब्रवीद्देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिस्वनः॥४३॥
कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद्देवगतिं गतः ॥ ४४ ॥
देवकार्यं तु सुमहत्त्वया कार्यमरिन्दम ।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ॥ ४५ ॥
रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ॥ ४६ ॥
तान्दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान्गिरिमूर्धनि ।

जला दोगे । यह शस्त्र मुझको अत्यन्त प्रिय है, इसका नाम प्रस्वापन है, इससे तेज बल और वीर्य बढते हैं,पहले समय में जब महात्मा शिवने त्रिपुरासुरको मारा था, तब इसको चलाया था, इसीके प्रतापसे सब राक्षस भस्म होगये थे। हे सत्यपराक्रम ! हे मेरुके समान दृढ! यह शस्त्र तुम्हारे लिये उपस्थित है, और तुम ही इसे धारण करनेके योग्य हो॥ ३४-४१

तब महाबाहु महाबल कुरुनन्दन अर्जुनने कुबेरके शस्त्रको विधिपूर्वक ग्रहण किया । तब देवराज इन्द्र बादल और नगाडेके समान गम्भीर वाणीसे अर्जुनको शान्त करते हुए ऐसा बोले, हे कुन्तीपुत्र! तुम सनातन और पुरातन देवता हो, अब देवतोंकी भक्तिसे उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए हो, हे महा-तेजस्वी ! हे शत्रुनाशन! अब तुम स्वर्ग चलनेको सनद्ध हो जाओ, क्योंकि तुम्हें देवतोंका भारी कार्य करना है । हे कौरव ! तुम्हारे निमित्त मातलि के सहित रथ आने वाला है वहां चलकर तुमको हम दिव्य शस्त्र देंगे ।

जगाम विस्मयं धीमान्कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ ४७ ॥
ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान्समागतान् ।
पूजयामास विधिवद्वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥ ४८ ॥
ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनञ्जयम् ।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥ ४९ ॥
ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमथ चात्मानं स मेने पूर्णमानसम् ॥ ५० ॥[१७२५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि कैरातपर्वणि देवप्रस्थान एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ समाप्तं च कैरातपर्व ॥

अथेन्द्रलोकाभिगमनपर्व ॥

वैशंपायन उवाच– गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ॥ १ ॥
ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥
नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान्पाटयन्निव ।
दिशः संपूरयन्नादैर्महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥
असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।

उस पर्वतके ऊपर सब लोकपालोंको इकट्ठे देखकर बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुन आश्चर्य प्रगट करने लगे। (४२–४७)

अनन्तर महातेजस्वी अर्जुनने आये हुए ; लोकपालोंकी वचन-जल और फलोंसे विधिपूर्वक पूजा करी, तब मनके समान गतिवाले देवता लोग अर्जुनका सम्मान करके अपने अपने मार्गोंसे चले गये। उस समय पुरुषसिंह अर्जुनने आनन्दसे शस्त्र प्राप्त करके अपनेको कृतार्थ और पूर्ण आनन्दयुक्त माना। (४८–५०) [१७२५]

एकतालीस अध्याय और कैरातपर्व समाप्त ।

बयालिस अध्याय और इन्द्रलोकाभिगमनपर्व ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, लोकपालों के जानेके पश्चात् शत्रुनाशन अर्जुन इन्द्रके रथका मार्ग देखने लगे, बुद्धिमान् गुडाकेश अर्जुनके विचारते समय मातलियुक्त तेजसे भरा हुआ आकाशको अन्धकारसे शून्य बादलोंको फाडता और मेघके समान शब्दसे दिशाओंको पूरित करता हुआ, इन्द्रका रथ आया; उसमें खड्ग, भयानक शक्ति, उग्र-दर्शनवाली गदा, दिव्य प्रभाव वाले

दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥ ४ ॥
तथैवाऽशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता महामेघस्वनास्तथा ॥ ५ ॥
तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः ।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ॥ ६ ॥
दशवाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।
वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥ ८ ॥
तस्मिन्रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम् ।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवाऽन्वतर्कयत् ॥ ९ ॥
तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याऽथ मातलिः ।
संनतः प्रश्रितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ १० ॥

मातलिरुवाच— भो भोः शक्रात्मज श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य संमतम् ॥ ११ ॥
आह मामरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥ १२ ॥
एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।

प्रास, महातेजवाली बिजली, अशनी, गोलों के समेत यन्त्र, वायुसे चलनेवाली बन्दूक, और जिसमें भारी शरीरवाले कठिन जलते मुख-वाले सफेद अभ्रकके समान हाथी थे, महाशब्दवाले उपलोंके सहित जिसको बडे वेगवाले दस सहस्र घोडे ले चलते थे, जिसके देखनेसे दृष्टि बन्द हो जाती थी। (१–७)

वह रथ मायासे भरा हुआ था, उसमें नील कमलके समान वर्णवाली, सोनेके बांसमें बंधी हुई महातेजवाली ध्वजाको अर्जुनने देखा। अनन्तर तपे हुए सोनेसे भूषित रथमें बैठे हुए सूतको देखकर महाबाहु अर्जुन इन्द्र देवताही जानके वितर्क करने लगे; ऐसे विचारते हुए अर्जुनके पास आकर मातलि नम्र भावसे कहने लगे। (८—१०)

मातलि बोले, हे इंद्रपुत्र ! श्रीमान् इन्द्र आपको देखना चाहते हैं, आप शीघ्रही इस इन्द्रके रथमें चढिये। आपका पिता, देवतोंमें श्रेष्ठ, इन्द्रने ऐसा कहा है, कि कुन्तीपुत्र अर्जुनको सब

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥
अस्माल्लोकाद्देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच— मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ॥ १५ ॥
पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥ १६ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाऽप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ॥ १७ ॥
त्वयि प्रतिष्ठिते साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथाऽऽरोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ॥ १८ ॥

वैशंपायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान्येमे च रश्मिभिः ॥ १९ ॥
ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत्कुरुनन्दनः ॥ २० ॥
ततः पितॄन्यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

देवता लोग देखें। यह देखिये! देवता, ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओंके सहित इन्द्र आपको देखनेकी इच्छासे खडे हैं। अब आप इन्द्रकी आज्ञासे इस लोकसे देव-लोकको चलिये। शस्त्र ग्रहण करके पुनः इसी लोकमें आइये। (११–१४)

अर्जुन बोले,हे मातले! अब तुम इस रथ पर चढो, जिसको महाभाग्यवान राजालोग महादक्षिणायुक्त राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंसे भी नहीं प्राप्तकर सकते हैं। जिस उत्तम रथ पर देवता भी चढ सकते हैं, इस दिव्य रथको महा-तपस्या ओंसे भी कोई देख और छू नहीं सकता, चढनेकी तो कथाही क्या है। हे साधो! जब तुम इस पर चढकर घोडोंको ठीक करोगे,तब मैं भी उत्तम मार्ग पर महात्मा के समान इस रथ पर चढूंगा। (१५-१८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, इन्द्रके सारथी मातलि ऐसे वचन सुनकर शीघ्रता सहित रथ पर चढ और लगाम पकडकर घोडोंको ठीक किया। तब कुरु-नन्दन अर्जुन प्रसन्न चित्त होकर गङ्गामें स्नान कर मन्त्र जपने लगे, अनन्तर विधि और न्याय पूर्वक पितरोंका तर्पण

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकांक्षिणाम्॥२२ ॥
त्वत्प्रसादात्सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ॥ २३ ॥
अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन् ।
गच्छाम्यामन्त्रयित्वा त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि२४ ॥
तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥ २५ ॥
फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ॥ २६ ॥
अमृतास्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः ।
शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्तते नग ॥ २७ ॥
तथा तवाऽङ्के ललितं शैलराज मया प्रभो ।
अप्सरोगणसंकीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ॥ २८॥
सुखमस्म्युषितः शैल तव सानुषु नित्यदा ।
एवमुक्त्वाऽर्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ॥ २९ ॥
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।

करने लगे, पश्चात् पर्वतराजसे प्रार्थना करने लगे, हे पर्वत ! तुम स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले साधु पुण्यात्मा, पुण्य-कर्मा मुनियोंके आश्रय हो । हे शैल ! तुम्हारे प्रसादसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य स्वर्गमें जाकर दुःखराहित होकर देवतोंके सङ्ग आनन्द करते हैं, । हे पर्वतराज ! हे महाशैल ! हे मुनियोंके आश्रय ! हे तीर्थवाले ! हम तुम पर थककर सुखसे रहे । (१९—२४)

अब तुम्हारी आज्ञा लेकर जाते हैं,हमने तुम्हारे नीचेके भागमें अनेक कुंज, नदी, झरने और पुण्यतीर्थ देखे, सुगान्धियुक्त फल खाये, तुमसे निकली सुगान्धिसे भरे हुए, अमृतके समान स्वादवाले झरनोंके जल पीये । हे पर्वत ! हम तुम्हारे यहां वैसेही सुखमें रहे, जैसे पुत्र पिताकी गोदमें । हे शैलराज ! हे प्रभो ! अप्सराओंसे संयुक्त और वेद शब्दसे पूरित तुम्हारे शिखरपर हमने परम सुखसे निवास किया, हे शैल ! हमने तुम्हारी कन्दराओंमें सर्वदा सुखसे विहार किया और अब हम जाते हैं, शत्रुओंके मारने वाले अर्जुन पर्वतसे इस प्रकार आज्ञा

स तेनाऽऽदित्यरूपेण दिव्येनाऽद्भुतकर्मणा ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान्प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ॥ ३१ ॥
ददर्शाऽद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ॥ ३२ ॥
स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ।
तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ॥ ३३ ॥
दीपवद्विप्रकृष्टत्वात्तनूनि सुमहान्त्यपि ।
तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ॥ ३४ ॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्ति स्वयाऽऽर्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥ ३५ ॥
तपसा च जितं स्वर्गं संपेतुः शतसंघशः
गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ॥ ३६ ॥
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाऽप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान्पश्यन्फाल्गुनो विस्मयान्वितः ३७ ॥
पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाऽप्येनमुवाच ह ।

लेकर दिव्य रथके ऊपर ऐसे चढे जैसे सूर्य अपने रथपर प्रकाश करते हुए चढते हैं। (२४—३०)

अद्भुत कर्मयुक्त दिव्यरूप उस रथपर चढकर बुद्धिमान अर्जुन प्रसन्न मनसे आकाश को चले। वहां धर्म करने वाले मनुष्यों के दृष्टिपथसे दूर जाकर उन्होंने आकाशमें देखा, कि अद्भुतरूपवाले सहस्रों विमान घूमते हुए फिरते हैं, वहां न सूर्य न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाश करते हैं। किन्तु पुण्यात्मा लोग पुण्यसे प्राप्त अपने प्रकाशसे आपही प्रकाशित हो रहे हैं, आगे जाकर पाण्डवने देखा कि, वहां जो छोटे और वडे प्रकाशमान तारा लोक दीखते हैं, सो सब रूप धारण किये हुए प्रकाश कर रहे हैं। आगे जाकर देखा, कि राजोंसे ऋषि सिद्ध और युद्धमें मरे हुए वीर लोग अपने तेजसे आपही प्रकाशित हो रहे हैं। आगे जाकर देखा, कि सहस्रों पुरुष अपने पुण्यसे स्वर्गसे चले जाते हैं। आगे जाकर सूर्यके समान तेजवाले सहस्रों गन्धर्वोंको देखा। गुह्यक, ऋषि और अप्सराओंके गणोंके अपने प्रभाव से प्रज्वलित लोकोंको देखकर विस्मित हुए। (३१—३७)

एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ॥ ३८ ॥
यान्दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ।
ततोऽपश्यत्स्थितं द्वारि शुभ्रं वैजयिनं गजम् ॥ ३९ ॥
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ॥ ४० ॥
व्यरोचत यथा पूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अतिचक्राम लोकान्स राज्ञां राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥
एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरीं याममरावतीम् ॥ ४२ ॥ [१७६७]

इति श्रीमहा० संहि० वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि शक्रपुरीदर्शने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥४२॥

वैशम्पायन उवाच—स ददर्श पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥ १ ॥
तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥
नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नाऽनाहिताग्निना ।

मातलि सारथिसे इन सब लोकोंका वृत्तान्त पूछा और उसनेभी प्रसन्न होकर कहा, कि हे कुन्तीपुत्र ! यह सब लोक पुण्यके प्रतापसे स्थित हैं, जिसको आप पृथ्वीपर तारारूपसे देखते थे । इसके अनन्तर अर्जुनने वहां जयशील चार दांतवाले कैलासपर्वतके शिखरके समान ऊंचे ऐरावत हाथीको इन्द्रलोकके द्वार पर देखा । जहां पुण्यात्मा मान्धाता रहते हैं, उस लोककोभी अर्जुनने देखा । इसी रीतिसे स्वर्गलोकको देखते हुए यशस्वी अर्जुनको इन्द्रकी अमरावती पुरी दीख पडी । (३८—४२) [१७६७]

वनपर्वमें बयालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तैतालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले,अर्जुनने सिद्ध और चारणोंसे सेवित और सब ऋतुओंमें फूलनेवाले पवित्र वृक्षोंसे युक्त रमणीय अमरावती पुरीको देखा ! वहां पवित्र पुष्पोंकी पवित्र सुगन्धिसे युक्त पवित्र वायु सेवित हो बुलानेवालोंके समान दिव्य पुष्पोंसे सेवित अप्सराओंसे सेवित दिव्य नन्दनवनको देखा, जो लोग तप और अग्निहोत्रको न करने वाले पुण्यहीन

स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः॥ ४ ॥
नाऽयज्वभिर्नाऽव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नाऽनाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥
नाऽपि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥
स तद्दिव्यं वनं पश्यन्दिव्यगीतनिनादितम्।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥
तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शाऽयुतशस्तदा ॥ ८ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चाऽनुवीजितः ॥ ९ ॥
ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः संपूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥ १० ॥
आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥ ११ ॥
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम् ।

पापी युद्धसे भागनेवाले, यज्ञ व्रत और वेदसे हीन हैं, जिन लोगोंने तीर्थमें स्नान नहीं किया, यज्ञ निन्दक, यज्ञ और दान विमुख,क्षुद्र,यज्ञनाशक कदापि नहीं देख सकते हैं। जिस पवित्र वनको मदिरा पीनेवाले, गुरुकी सेजपर सोनेवाले, मांस खानेवाले और दुरात्मा लोग कदापि नहीं देख सकते हैं। (१—६)

अर्जुनने उस दिव्य गीतोंसे युक्त दिव्य नन्दनवनको देखते हुए इन्द्रकी प्यारी पुरीमें प्रवेश किया। वहां जाकर विशालबाहु अर्जुनने देखा, कि सहस्रों देवोंके विमान मनकी इच्छानुसार घूम रहे हैं,सहस्रों बैठे हैं और सहस्रों जानेको उपस्थित हैं। वहां सहस्रों गन्धर्व और अप्सराओंसे स्तुति सुनते हुए और फूलोंकी सुगन्धिसे भरे हुए वायुसे सेवित होकर अर्जुनने उस नगरीमें प्रवेश किया। वहां अनेक देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षियोंने प्रसन्न चित्तसे पुण्य-कर्मकारी अर्जुनकी पूजा करी, अनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे ऋषियोंके आशीर्वाद दिव्य वाजोंके शब्द सुनते हुए अर्जुनने शंख और नगारोंसे शब्दित उस मार्गमें प्रवेश किया, जो जगत्में तारा देवमार्गके नामसे विख्यात हैं। (७-१२)

इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥
तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाऽश्विनौ तथा ।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः ।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हाहाहूहूः ॥ १४ ॥
तान्सर्वान्स समागम्य विधिवत्कुरुनन्दनः ।
ततोऽपश्यद्देवराजं शतक्रतुमरिन्दमः ॥ १५ ॥
ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात् ।
ददर्श साक्षाद्देवेशं पितरं पाकशासनम् ॥ १६ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा ।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥ १७ ॥
विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैस्तुतिवंदिभिः ।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसंभवैः ॥ १८ ॥
ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाऽभ्यगमद्बली ।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ १९ ॥
ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते ।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥ २० ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा ।

अर्जुनके चारों ओर स्तुति करनेवाले संगमें थे । उस मार्गमें साध्य, अश्विनीकुमार, मरुत,विश्वदेव,सूर्य, वसु, रुद्र,निर्मल ब्रह्मर्षि, दिलीप आदि अनेक राजर्षि, तुम्बुरु,नारद और हाहाहूहू गन्धर्व मिले। कुरुनन्दन अर्जुनने इन सबसे यथायोग्य भेट करी, अनन्तर शत्रुनाशन अर्जुनने इन्द्रको देखा । तब महाबाहु कुन्तीनन्दन अर्जुनने उत्तम रथसे उतरकर अपने पिता देवराज इन्द्रको सोनेके दण्डवाले सफेद छत्रसे शोभित दिव्य गन्ध-भरे हुए पंखेसे सेवित विश्वावसु आदि स्तुति करने वाले गंधर्व और ब्राह्मणोंमें मुख्य ऋक्, यजु, साम वेदके मन्त्रोंसे स्तुति सुनते हुए साक्षात् देखा,तब कुन्तीनन्दन ने उनके पास जाकर सिरसे प्रणाम किया, तब इन्द्रने अपने लम्बे और मोटे हाथोंसे उनको पकडा । (१२–१९)

तब इन्द्रने अपने घरमें देवता और ऋषियोंसे सेवित पवित्र इन्द्रासन पर अर्जुनको बिठलाया और शत्रुनाशन इन्द्रने इनके माथेको सूंघा, अपने गोदमें

अंकमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ॥ २१ ॥
सहस्राक्षनियोगात्स पार्थः शक्रासनं गतः ।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ॥ २२ ॥
ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम् ।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ॥ २३ ॥
प्रमार्जमानः शनकैर्बाहू चाऽस्याऽऽयतौ शुभौ ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ ॥ २४ ॥
वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन् ।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू चाऽऽस्फोटयञ्छनैः ॥ २५ ॥
स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक् ।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चाऽतृप्यत वृत्रहा ॥ २६ ॥
एकासनोपविष्टौ तौ शोभयाञ्चक्रतुः सभाम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥ २७ ॥
तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना ।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥ २८ ॥
घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा ।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा ।

बिठलाया। उस समय विनयसे नम्र अर्जुन इन्द्रकी आज्ञासे पवित्र इन्द्रासन पर दूसरे इन्द्रके समान तेजस्वी बनकर बैठे। तब इन्द्रने पवित्र सुगन्ध भरे हुए हाथसे शान्तिपूर्वक प्रेमसे अर्जुनका उत्तम मुख छूआ, अनन्तर रोदा और बाण खींचनेसे कठोर सोनेके खंभे के समान अर्जुनके लम्बे और सुन्दर हाथोंको छूने लगे (२०–२४)

वज्रके लेनेके चिह्नयुक्त हाथोंसे शान्तिपूर्वक धीरे धीरे अर्जुनके हाथोंको स्पर्श किया। इन्द्र प्रसन्न हुए नेत्रोंसे अर्जुनको देखकर तृप्त नहीं होते थे। वृत्रनाशनके इस कर्मसे मानो अर्जुनको आश्चर्य होता था, वे दोनों सभामें एक आसनपर बैठे हुए ऐसे शोभित हुए, मानो अमावसको सूर्य चन्द्रमा एकही समय उगे हैं। उस समय गानेमें कुशल तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्व, घृताची, मेनका, रंभा, पूर्वचित्ती, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनी, प्रजागरा,

चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वना ॥ ३० ॥
एताश्चाऽन्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
चित्तप्रमादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः ।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥ ३२ ॥ [१७९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमन-
पर्वणीन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायाऽर्घ्यमुत्तमम् ।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम् ।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥
एवं संपूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः ।
उपशिक्षन्महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥
शक्रस्य हस्ताद्दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम् ।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥
गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन्सस्मार पाण्डवः ।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत्सुखी ॥ ५ ॥

चित्रसेना, चित्रलेखा और मीठेस्वर वाली सहा और अनेक अप्सरा आदि लेकर अनेक कमलनयनी अप्सरा लोग सिद्धोंके चित्तको प्रसन्न करनेके निमित्त, पतली कमर और कम्पित स्तनवाली, मन, बुद्धि और चित्तके हरनेवाली कटाक्ष-वाली नाच और मीठे स्वरसे सामवेद के मन्त्रोंको गा रही थीं। (२८-३२)

वनपर्वमें तैंतालिस अध्याय समाप्त [१७९९]

वनपर्वमें चवालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अनन्तर इन्द्रकी इच्छा जानकर देवता और गन्धर्वोंने शीघ्रता सहित अर्घ्यसे अर्जुन की पूजा करी। अनन्तर अर्जुनको पाद्य और आचमनीय देकर इन्द्रके स्थानमें पहुंचा दिया। अर्जुन इस प्रकारसे अपने पिताके स्थानमें सुखसे रहते हुए चलाने और रोकनेकी क्रियाके समेत शस्त्रों को सीखने लगे। इन्द्रका प्यारा, दुःखसे सहने योग्य वज्र नामक शस्त्र, मेघ और मयूरके समान लक्षणवाला महा अशनी शस्त्रको ग्रहण किया। (१—४)

इस प्रकार सुखपूर्वक इन्द्रकी आज्ञासे पांच वर्ष अर्जुन वहां रहे, अनन्तर

ततः शक्रोऽब्रवीत्पार्थं कृतास्त्रं काल आगते ।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ॥ ६ ॥
वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते ।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ॥ ७ ॥
सखायं प्रददौ चाऽस्य चित्रसेनं पुरन्दरः ।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ ८ ॥
गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवाऽऽदिदेश ह ॥ ९ ॥
तथापि नाऽलभच्छर्म तरस्वी द्यूतकारितम् ।
दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च ॥ १० ॥
ततस्तेनाऽतुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित्क्वचित् ।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ॥ ११ ॥
स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान् ।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता भ्रातॄन्स्मरन्मातरं चैव कुन्तीम् ॥ १२ ॥ [१८११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वण्यर्जुनास्त्रादिशिक्षायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच—कदाचिदथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत् ।

अस्त्रोंको सीखकर कुन्तीपुत्र ने अपने भाईयोंको स्मरण किया, तब समय आने पर शस्त्र सीखे हुए अर्जुनसे इन्द्रने कहा, कि हे कुन्तीनन्दन ! अब तुम चित्रसेन गन्धर्वसे नाचना और गाना सीखो और जो बाजे मर्त्य लोकमें नहीं हैं, उनको अच्छे प्रकार सीखो; उससे तुम्हारा कल्याण होगा । ऐसा कहकर इन्द्रने अपने मित्र चित्रसेनको सौंप दिया। अर्जुन उनके पास जाकर सुखपूर्वक रहने लगे । (५–८)

यद्यपि उनसे गीत, नाच और बाजे सीखे, तौभी जुएके दुःखको स्मरण करके आनन्दको न प्राप्त हुए, उनके चित्तमें दुःशासन और सुबलके पुत्रके मारनेका क्रोध भरा ही रहता था, तौभी नाचने गानेमें कभी कभी अत्यन्त प्रेम उत्पन्न होनेके कारण नाचने गाने और बजानेकी विधिको प्राप्त किया । अर्जुनने नाचने गाने बजानेके सब गुण और भेदोंकोभी प्राप्त करनेपर सुख न पाया और निरन्तर शत्रुनाशक अर्जुन अपने भाई और कुन्ती माताका स्मरण करते रहे । (९–१२)

वनपर्वमें चवालिस अध्याय समाप्त । [१८११]

वनपर्वमें पैंतालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, इन्द्रने चित्रसेन

पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ॥ १ ॥
गन्धर्वराज गच्छाऽद्य प्रहितोऽप्सरसां वराम् ।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्रं सोपतिष्ठतु फाल्गुनम् ॥ २ ॥
यथाऽर्चितो गृहीतास्त्रो विद्यया मन्नियोगतः ।
तथा त्वया विधातव्यः स्त्रीषु सङ्गविशारदः ॥ ३ ॥
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात् ।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥ ४ ॥
तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनाऽर्चितस्तथा ।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि प्रहितोऽहमिहाऽऽगतः ।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ॥ ६ ॥
यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ॥ ७ ॥
प्रख्यातो बलवीर्येण संमतः प्रतिभानवान् ।
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान्वीतमत्सरः ॥ ८ ॥
साङ्गोपनिषदान्वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ।
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाऽष्टगुणाश्रयाम् ॥ ९ ॥

गन्धर्वसे कहा, कि अर्जुनके नेत्र उर्वशीसे लगे जान पडते हैं, अतएव तुम अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीको लेकर अर्जुनके पास जाओ, अस्त्र प्राप्त किये हुए और पूजित अर्जुनको स्त्री पुरुषके संयोगसे सुख हो। इन्द्रकी ऐसी आज्ञा सुनकर ऐसाही करूंगा, यह कहकर गन्धर्व राज अप्सराओंमें उत्तम उर्वशीके घर गये। (१—४)

सुखसे बैठी हुई उर्वशीने चित्रसेन को देखकर प्रसन्न चित्तसे उनका स्वागत किया, तब चित्रसेन हंसकर यों बोले, कि हे सुश्रोणि! तुमको यह भली भांति ज्ञात हो, कि मैं देवतोंके स्वामी और तेरे प्रसादसे आनंदित होनेवाले महाराज इन्द्रसे भेजा हुआ यहां आया हूं। जो मनुष्य और देवतोंमें अपने स्वभावहीके गुण लक्ष्मी, शील, रूप, व्रत, दम, बल, वीर्य और तेजमें प्रसिद्ध हैं, जो शरीर विद्या ऐश्वर्यादिसे भरा हुआ है, जो किसीकी निन्दा नहीं करता है, जिसने अङ्ग, उपाङ्ग और उपनिषदोंके सहित चारों वेद और पांचवें पुराणको पढा है, जिसने पढते समय गुरुसे शुश्रूषा

ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसाऽपि च।
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ॥ १० ॥
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः।
सुहृदश्चाऽन्नपानेन विविधेनाऽभिवर्षति ॥ ११ ॥
सत्यवाक्पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः।
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसंगतः ॥ १२ ॥
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः।
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात्॥ १३ ॥
तव शक्राऽभ्यनुज्ञातः पादावद्य प्रपद्यताम्।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रपन्नस्त्वां धनञ्जयः ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा स्मितं कृत्वा संमानं बहु मन्य च।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीत्या चित्रसेनमनिन्दिता ॥ १५ ॥
यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम।
तं श्रुत्वाऽव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥ १६ ॥
महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः संप्रणयेन च।
तस्य चाऽहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा ॥ १७ ॥

सहित आठ गुणवाली बुद्धिको प्राप्त किया है, जिसने ब्रह्मचर्य और वीरता को पाया है, जो इन्द्रके समान स्वर्गकी रक्षा करनेवाला, अभिमानी करके न कहनेवाला, लक्षको देखनेवाला प्रियवादी है,जो अन्न और पीनेकी वस्तुओंको वर्षाने वाला, सत्यवादी, पूजित, रूपवान, अहङ्कार रहित,भक्तों पर कृपा करनेवाला सुन्दर, युद्धमें स्थिर है; जो प्रशंसा करने योग्य अपने गुणोंसे इन्द्र और वरुणके समान है, उस अर्जुन वीरको तुम भी जानती हो, वह तुम्हारे चरणका सेवक बना है। हे कल्याणि ! इस हेतुसे वह दीन भी तुम्हारा संग करके स्वर्ग फलको पावे, अतएव इन्द्रकी आज्ञासे ऐसाही करो। (९--१४)

अनिन्दित उर्वशी चित्रसेनके यह वचन सुनके हंसकर अपना बहुत मान समझ कर प्रेम पूर्वक चित्रसेनसे ऐसा बोली, हे चित्रसेन ! तुमने जो अर्जुनके यह सब गुण कहे, इन सब गुणोंको सुनकर मैं पहिलेहीसे उसके निमित्त कामसे व्याकु-ल हो रही हूं ! अब मैं अर्जुनसे प्रेम करूं इससे अधिक आनन्द और क्या होगा ? मैं इन्द्र और तुम्हारी आज्ञा और अर्जुनके गुणोंसे काममें व्याकुल

गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशीसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ [१८२९]

वैशम्पायन उवाच—ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता ।
उर्वशी चाऽकरोत्स्नानं पार्थप्रार्थनलालसा ॥ १ ॥
स्नानालङ्करणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः ।
धनञ्जयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः ॥ २ ॥
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता ।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ॥ ३ ॥
चित्तसङ्कल्पभावेन स्वचित्तानन्यमानसा ।
मनोरथेन संप्राप्तं रमन्त्येनं हि फाल्गुनम् ॥ ४ ॥
निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे ।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥ ५ ॥
मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुसुमोत्करधारिणा ।
केशहस्तेन ललना जगामाऽथ विराजती ॥ ६ ॥
भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैःकान्त्या सौम्यतयाऽपि च ।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छति ॥७॥

हुई हूं, तुम जाओ, मैं अर्जुनके स्थानमें जाकर अवश्य इस सुखको प्राप्त करूंगी। (१५-१८) [१८२९]

वनपर्वमें पैंतालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छियालिस अध्याय

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कृतकृत्य गन्धर्वको उत्तम हंसनेवाली उर्वशीने विदा करके अर्जुनसे मिलने की इच्छासे स्नान किया और कामके बाण और अर्जुनके रूपसे पीडित उर्वशीने प्रकाशमान उत्तम आभूषण और हृदय प्रिय गन्धमाला धारण करी, अनन्तर कामसे अत्यन्त व्याकुल होकर चित्तसे ही दिव्य बिस्तरके पलङ्ग पर बैठकर चित्तसे संकल्प और मनोरथोंसेही उर्वशी अर्जुनके साथ कल्पनाका विहार करने लगी। (१-४)

अनन्तर जब भारी अन्धकार युक्त रात्रीके समय चन्द्रमा उदय भया तो उत्तम वर्णवाली उर्वशी अर्जुनके स्थानको चली। कोमल गुंथी हुई लम्बी कुमुद आदि फूलोंमे शोभित उस सुन्दरीकी वेणी उस समय अत्यन्त शोभित होती थी; भौंहोंके चलने, मीठी बोली, शोभा और मुखके भोलेपनसे मानों चन्द्रमाको

दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ ।
गच्छन्त्या हारविकचौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ॥ ८ ॥
स्तनोद्वहनसंक्षोभान्नम्यमाना पदे पदे ।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनाऽतीव शोभिता ॥ ९ ॥
अधोभूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम् ।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ॥ १० ॥
ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम् ।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥ ११ ॥
गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलांगुली ।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किंकिणीकिणौ ॥ १२ ॥
सीधुपानेन चाऽल्पेन तुष्ट्याऽथ मदनेन च ।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराऽभवत् ॥ १३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥ १४ ॥
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छती ॥ १५ ॥
ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी ।

लजाती हुई चली,दिव्य चदनादि सुगन्धि और हारसे शोभित उसके दोनों कुच कंपित होते थे, कुच अत्यन्त भारी होनेके कारण चरण चरणपर नीचे होकर चलती थी,और उदरमें त्रिवली रूप भूषण से शोभित उसका मध्य शरीर अत्यन्त शोभा दे रहा था, पहाडके समान भारी ऊंचे और कठोर नितम्ब कर्द्धनीसे शोभित कामदेवके स्थानके ऐसे भान होते थे, जिनको देखकर दिव्य ऋषियोंका मनभी चलित हो जाय, ऐसी सूक्ष्मवस्त्र युक्त जंघा कलङ्करहित सी दिखलाई देती थी, गम्भीर गुल्फवाले चरण तांबे के समान लाल अंगुली छूनेके समान ऊंची पांवपीठ पायजेबके शब्दसे अत्यन्त शोभा दे रही थी,थोडा मद्यपान, सन्तोष और कामदेवके विविध विलासोंसे उर्वशी देखनेके योग्य बनी थी।(५-१३)

स्वर्गमेंभी देखनेके योग्य शरीरवाली वह विलासिनी सिद्ध, चारण, गन्धर्वों को आश्चर्य देती हुई चली; बादलके रङ्गवाले उस पतले वस्त्रोंमें वह ऐसी शोभित हुई, जैसे पतले मेघके बीचमें आकर आकाशमें चन्द्रमाकी कला

भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥ १६ ॥
तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता ।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥ १७ ॥
उपातिष्ठत तद्वेश्म निर्मलं सुमनोहरम् ।
स शङ्कितमना राजन्प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥ १८ ॥
दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः ।
तदाऽभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच— अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे ।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥ २० ॥
फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी ।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥ २१ ॥

उर्वश्युवाच— यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथा चाऽहमिहाऽऽगता ॥ २२ ॥
उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे ।
तवाऽऽगमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥ २३ ॥
रुद्राणां चैव सांनिध्यमादित्यानां च सर्वशः ।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनां च नरोत्तम ॥ २४ ॥
महर्षीणां च संघेषु राजर्षिप्रवरेषु च ।

चलती है । क्षण भर में ही उत्तम हंसने वाली, मन और पवनके समान गतिवाली उर्वशी अर्जुनके स्थानमें पहुंची । वहां द्वारपालोंने उसको आई हुई देखकर जाके अर्जुनसे निवेदन किया, हे नर-श्रेष्ठ ! उत्तम नेत्रवाली उर्वशी आपके मनोहर और निर्मल स्थानमें शङ्कितचित्त होकर इस रात्रिमें आयी है, अर्जुनने उर्वशीको देखते ही लज्जाके मारे अपने नेत्र बन्द कर लिये और प्रणाम करके गुरुके समान पूजा की । (१४—१९)

अर्जुन बोले, हे देवि ! हे अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी ! हम तुमको शिरसा प्रणाम करते हैं, हम तुम्हारे दास उप-स्थित हैं, आज्ञा करो । (२०)

अर्जुनके ऐसे वचन सुनकर उर्वशी संज्ञासे रहित होगयी और गन्धर्वके सब वचन कहने लगी । उर्वशी बोली, हे पुरुषोत्तम ! मुझसे चित्रसेनने जैसा कहा और मैं जिस हेतु यहां आयी हूं सो सब कहती हूं, हे पुरुषश्रेष्ठ ! मनको हरनेवाले इन्द्रके उत्सवमें जहां तुम रुद्र,

सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ॥ २५ ॥
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः ।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ॥ २६ ॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन ।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ॥ २७ ॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह ।
त्वं किलाऽनिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥ २८ ॥
तत्र चाऽवभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम् ।
तव पित्राऽभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ॥ २९ ॥
तथैवाऽप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः ।
अपि चाऽन्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः ॥ ३० ॥
ततः शक्रेण संदिष्टश्चित्रसेनो ममाऽन्तिकम् ।
प्राप्तः कमलपत्राक्ष स च मामब्रवीदिथ ॥ ३१ ॥
त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि ।
प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवाऽऽत्मनश्च ह ॥ ३२ ॥
शक्रस्तुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम् ।

आदित्य, अश्विनीकुमार, वसु, महर्षि समूह, राजर्षिश्रेष्ठ सिद्ध, चारण, और महासर्पोंके समूहके सामने जो तुम्हारे आनेके कारणसे उत्सव हुआ था, जहां सब लोग ऋद्धियोंसे प्रकाशमान, अग्नि, सूर्य, और चन्द्रमाके समान शरीरवाले अपने अपने स्थान और मानके अनुसार बैठे थे, हे इन्द्रनन्दन! हे विशालनेत्र! जहां गन्धर्व लोग बीन बजा रहे थे, और उत्तम मनोहारी गीत गाये जातेथे, जहां उत्तम अप्सरा नाच रही थीं, कुन्तीपुत्र! वहां तुम विना पलक लगाये केवल मेरी ओर देख रहे थे, उस पवित्र देवतोंके समागममें तुम्हारे पिताकी आज्ञा पाकर सब देवता लोग अपने अपने स्थानको गये। (२१-२९)

हे शत्रुनाशक! तिसी प्रकारसे सब अप्सराभी विदा होकर अपने स्थानको गयीं और सबभी विदा होकर अपने अपने स्थानको चले गये। तब इन्द्रकी आज्ञासे चित्रसेन गन्धर्वने मेरे घरमें जाकर ऐसा कहा, कि हे उत्तम वर्ण वाली! तुम्हारे लिये इन्द्रने हमको भेजा है, तुम अपना, मेरा और इन्द्रका प्रियकार्य करो, हे सुश्रोणी! तुम इन्द्रके तुल्य युद्धमें वीर उदार गुणसे भरे हुए

पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येवं तदाऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥
ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ ।
तवाऽन्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिन्दम ॥ ३४ ॥
त्वद्गुणाकृष्टचित्ताऽहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर ममाऽप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच—तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जावृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥
दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥ ३७ ॥
यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणी नाऽत्र कार्या विचारणा ३८ ॥
यच्चेक्षिताऽसि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ॥ ३९ ॥
इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥ ४० ॥
न मामर्हसि कल्याणि अन्यथा ध्यातुमप्सरः ।

अर्जुनको वरण करो, उनकी और तुम्हारे पिताकी आज्ञा पाकर तुम्हारी शुश्रूषा करनेको तुम्हारे स्थानमें आयी हूं । हे पापरहित शत्रुनाशन ! मैं तुम्हारे गुण और कामदेवसे व्याकुल हुई हूं, और मेरीभी यही इच्छा थी। (३०—३५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अर्जुनने उसके ऐसे वचन सुनकर लज्जामें भरकर अपने हाथोंसे कानोंको बन्दकर लिया और ऐसा कहने लगे, हे भामिनि ! हे वरानने ! जो तुम कह रही हो, सो हमारे सुननेके योग्य नहीं है, क्योंकि तुम निश्चय करके हमारी गुरुपत्नीके समान हो, जैसे शची, कुन्ती और माद्री हैं, तुमभी हमको वैसीही हो, हे कल्याणि ! इसमें कोईभी विचार और सन्देहका स्थान नहीं है, मैंने जो तुमको सभामें भली भांति देखा था, उसका कारण सुनो, मैं यह विचारता था, कि यही कौरववंशकी माता हैं। हे फूले हुए कमलके समान नेत्रवाली ! हे शुभे ! हे अच्छे हंसनेवाली ! यही विचारकर मैं तुम्हारे प्रसन्न मुखको देख रहा था। हे कल्याणि ! हे अप्सरा ! तुम मुझको दूसरे प्रकार देखने योग्य नहीं हो। तुम मुझे गुरुसेभी गुरु हो, क्योंकि

गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्धिनी ॥ ४१ ॥

उर्वश्युवाच — अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहाऽर्हसि ॥ ४२ ॥
पूरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहाऽऽगताः।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ॥ ४३ ॥
तत्प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च संतप्तां भक्तां च भज मानद ॥ ४४ ॥

अर्जुन उवाच — शृणु सत्यं वरारोहे यत्त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४५ ॥
यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममाऽनघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥४६ ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्त्रा शशापाऽथ धनञ्जयम् ॥ ४८ ॥

उर्वश्युवाच— तव पित्राऽभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम् ।

हमारा वंश तुमहीसे चला है।(३६–४१)

उर्वशी बोली, हे कुरुनन्दन वीर ! हमारा विवाह किसीसे नहीं हुआ है;इस हेतु तुम मुझको माताके समान कहने योग्य नहीं हो ! क्योंकि पुरुके वंशके पुत्र और पोते अपने तपके बलसे जो यहां आये हैं, सो सब हमसे विहार करते हैं, वे लोग कुछ विचार नहीं करते । हे इच्छापूरन करनेवाले ! कामदेवसे व्याकुल भक्त दुःखिनी मुझको तुम जाने-की आज्ञा मत दो (४२—४४)

अर्जुन बोले, हे उत्तम मुखवाली ! हे अनिन्दिते ! हम जो तुमसे कहते हैं, सो सब दिशाओंके देवता तथा तुमभी सुनो। हे पापरहिते ! मुझको जैसे माद्री, शची, और कुन्ती हैं, तैसेही तुमभी हो, क्योंकि तुमसे हमारा वंश चला है, तुम हमको मातासेभी अधिक हो । हे उत्तम वर्णवाली ! हम तुमको शिरसे प्रणाम करते हैं । हम तुम्हारे दास हैं तुम हमको माताके समान रक्षा करो । (४५–४७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अर्जुनके ऐसे वचन सुनकर उर्वशीको महाक्रोध हुआ और भौंहें टेढी करके कांपती हुई अर्जुन को शाप देने लगी । उर्वशी बोली,

यस्मान्मां नाऽभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम्॥४९ ॥
तस्मात्त्वं नर्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः ।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद्विचरिष्यसि ॥ ५० ॥
एवं दत्वाऽर्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः ॥ ५१ ॥
ततोऽर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिन्दमः ।
संप्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथा तथा ॥
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः ॥ ५२ ॥
तत्र चैवं यथावृत्तं शापं चैव पुनः पुनः ।
अवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः ॥ ५३ ॥
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ।
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ५४ ॥
सुपुत्राऽद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम ।
ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुज ॥ ५५ ॥
यत्तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ।
स चाऽपि तेऽर्थकृत्तात साधकश्च भविष्यति॥ ५६ ॥

मैं तुम्हारे पिताकी आज्ञासे कामके वशमें होकर आपही तुम्हारे घरमें आयी थी और तुमने हमारा सम्मान नहीं किया । इसवास्ते तुमको मैं शाप देती हूं, कि तुम स्त्रियोंके बीचमें मानसे रहित होकर नपुंसकके समान नाचनेवाला बनोगे और सब लोग तुम्हें यह कहेंगे, कि यह पुरुष नहीं है । इसप्रकारसे अर्जुनको शाप देकर फडकते हुए ओठवाली उर्वशी सांस लेती हुई पुनः शीघ्रही अपने घरको लौट आई । (४७—५१)

अनन्तर प्रातःकाल होनेसे शत्रुनाशन पाण्डुपुत्र अर्जुनने शीघ्रतासे चित्रसेन गन्धर्वको बुलाकर रातका सब समाचार जिस प्रकार उर्वशीने शाप दिया था, जैसेका तैसा कह दिया और चित्रसेन गन्धर्वने सब समाचार इन्द्रसे कहा, तब हाथीके वाहनवाले इन्द्रने अर्जुनको एकान्तमें बुलाकर शान्ति पूर्वक हंसते हंसते ऐसे वचन कहे, हे तात ! हे उत्तम ! तुमको पाकर कुन्ती अच्छे पुत्रकी माता कहाई । हे महाभुज! हे मानव ! तुमने अपने धैर्यसे ऋषियों को भी जीत लिया । हे तात ! उर्वशी ने जो तुमको शाप दिया है, उससे तुम्हारा कल्याणही होगा ! हे वीर ! हे

अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ।
वर्षे त्रयोदशे वीर तं तत्र क्षपयिष्यसि ॥ ५७ ॥
तेन नर्तनवेषेण अपुंस्त्वेन तथैव च ।
वर्षमेकं विहृत्यैव ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि ॥ ५८ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत् ॥ ५९ ॥
चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना ।
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ॥ ६० ॥
इदं यः शृणुयाद्वृत्तं नित्यं पाण्डुसुतस्य वै ।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्तते ॥ ६१ ॥
इदममरवरात्मजस्य घोरं शुचि चरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य ।
व्यपगतमददम्भरागदोषास्त्रिदिवगताऽभिरमन्ति मानवेन्द्राः ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वण्युर्वशीशापो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥ [१८९१]

वैशम्पायन उवाच —कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः ।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ १ ॥
स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः ।

पापरहित ! तुम लोगोंका वनवासके तेरहवें वर्षमें पृथिवीमें छिपकर रहना होगा, इस शापका फल वहीं प्राप्त होगा वहीं नपुंसकता और नाचनेके वेषको एकवर्षतक धारण करके पुनः तुम पुरुष होगे। (५२—५८)

आगे शत्रुनाशक अर्जुन इन्द्रके ऐसे वचन सुनकर परम प्रसन्न हुए और शापके सोचको भूल गये। और यशस्वी चित्रसेन गन्धर्वके सङ्गमें रहकर स्वर्गमें महात्मा अर्जुन आनन्द करने लगे। जो पुरुष पाण्डुपुत्र अर्जुनके इस चरित्रको सदा सुनते हैं, उनका चित्त कहीं भी पापके कामोंमें नहीं लगता। देवराज इन्द्रके पुत्र अर्जुनका यह पवित्र चरित्र सुनकर राजा लोग मद, क्रोध, दम्भ आदि सब पापोंसे छूटकर स्वर्गमें आनन्द करते हैं। (५९-६२)[१८९१]

वनपर्वमें छियालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सैंतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कि एक समय इन्द्रके देखनेकी इच्छासे घूमते हुए महर्षि लोमश इन्द्रके घर गये, वहां जाकर महामुनिने इन्द्रको नमस्कार किया

ददर्शाऽर्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ॥ २ ॥
ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३ ॥
तस्य दृष्ट्वाऽभवद्बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम्।
कथं नु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ॥ ४ ॥
किं त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः।
स एवमनुसंप्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ ५ ॥
तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः।
लोमशं प्रहसन्वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ ६ ॥
ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत्ते मनसैतद्विवक्षितम्।
नाऽयं केवलमर्त्यो वै मानुषत्वमुपागतः ॥ ७ ॥
महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित्कारणान्तरात् ॥ ८ ॥
अहो नैनं भवान्वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम्।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन्योऽयं यच्चाऽस्य कारणम् ॥ ९ ॥
नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनञ्जयौ ॥ १० ॥

और उनके आधे आसन पर बैठे हुए अर्जुनको देखा, तब इन्द्रसे दिये हुए आसन पर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ लोमश महर्षियोंसे पूजित होकर बैठे। अनन्तर उन्होंने यह विचारा, कि यह कुन्तीका पुत्र क्षत्री किसप्रकार इन्द्रके आसन पर बैठा है। इसने कौन पुण्य किया था, जिससे लोकोंको जीत लिया, कोनसे पुण्यसे यह देवतोंसे नमस्कार करने योग्य स्थानको प्राप्त किया? (१–५)

वृत्रासुरके नाशक शचीके स्वामी इन्द्रने लोमशके मनकी बात जानकर हंसकरके ऐसा कहा। हे महर्षे! तुम्हारे मनमें जो सन्देह हुआ है, उसका कारण सुनो, जिसको तुम मनुष्य देखते हो यह मनुष्य नहीं है। हे महर्षे! यह महाभुज कुन्तीमें हमारे वीर्यसे उत्पन्न भया है, अस्त्र सीखने और किसी कारण से यहां आया है। हे ब्रह्मन्! हमको आश्चर्य है, कि आप इस पुराने ऋषिको भी नहीं जानते हैं। हम इसका सब वृत्तान्त कहते हैं, आप सुनिये। (६–९)

जो पुराने ऋषियोंमें उत्तम थे, वेही दोनों अत्र कृष्ण अर्जुन हुए हैं, यह

विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी ।
कार्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ॥ ११ ॥
यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनाम विश्रुतम् ॥ १२ ॥
स निवासोऽभवद्विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ १३ ॥
तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती ।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ १४ ॥
उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति ।
विप्रियेषु स्थिताऽस्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ १५ ॥
तर्कयन्ते सुरान्हन्तुं बलदर्पसमन्विताः ।
देवान्न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ॥ १६ ॥
पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः ।
सर्वदेवनिकाया हि नाऽलं योधयितुं हि तान् ॥ १७ ॥
योऽसौ भूमिगतः श्रीमान्विष्णुर्मधुनिषूदनः ।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानाजितो हरिः ॥ १८ ॥
येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ।

दोनों तीनों लोकमें प्रसिद्ध हैं, सोई नर और नारायण ऋषि किसी कार्यके वशसे पुण्यसे भरी हुई पृथ्वीमें अवतार लेकर आये हैं। हे विप्र ! जिस पवित्र आश्रमको देवता और महात्मा मुनि भी नहीं देख सकते हैं, वही पवित्र जगत विदित बदरिकाश्रम इन नरनारायणका स्थान है, जहांसे सिद्ध चारणोंसे सेवित गङ्गा चली हैं। यह दोनों कार्यवश होकर पृथ्वीमें उत्पन्न भये हैं। हे ब्रह्मर्षे! यह दोनों महातेजस्वी महाबलवान भूमिके भारको उतारेंगे। (१०—१४)

जो निवातकवच नामक राक्षस वरदानसे मोहित होकर अत्यन्त उन्नत हुए हैं, और जो हमारे अप्रिय कार्योंमें प्रवृत्त हैं। जो वरदान पाकर देवतोंको मारनेका उपाय करते हैं और देवतोंको कुछ नहीं समझते हैं, जो महाबलवान घोर दनुके पुत्र पातालमें रहते हैं, जिनसे युद्ध करनेमें कोई भी देवतोंका झुण्ड समर्थ नहीं है, सो महात्मा कपिल नामक विष्णु देव थे, वही जीतनेके अयोग्य हरि पृथ्वीमें उत्पन्न हुए हैं, हे विभो ! पहले समयमें सागरको खोदते हुए महा-

दर्शनादेव निहताः सगरस्याऽऽत्मजा विभो ॥ १९ ॥
तेन कार्यं महत्कार्यमस्माकं द्विजसत्तम ।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ॥ २० ॥
सोऽसुरान्दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान् ।
निवातकवचान्सर्वान्नागानिव महाह्रदे ॥ २१ ॥
किं तु नाऽल्पेन कार्येण प्रबोध्यो मधुसूदनः ।
तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ॥ २२ ॥
अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने ।
तान्निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥ २३ ॥
भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम् ।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥
स वाच्यो मम सन्देशाद्धर्मात्मा सत्यसंगरः ।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति २५ ॥
नाऽशुद्धबाहुवीर्येण नाऽकृतास्त्रेण वा रणे ।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥ २६ ॥
गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः ।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ॥ २७ ॥

बलवान सगरके पुत्रोंको दर्शनसे रसातलमें मारा था, वेही महात्मा अर्जुनको संग लेकर युद्धमें हमारा महत् कार्य करेंगे। (१९—२०)

हे द्विजोत्तम ! इसमें कोई सन्देह नहीं, कि वे महातडागमें जाकर सर्पके समान निवातकवच राक्षसोंको दर्शन ही मात्रसे नष्ट कर सकते हैं, परन्तु तेजके समूह मधुनाशक कृष्णको थोडे कार्यके वास्ते जगाना अच्छा नहीं, क्योंकि वे जागकर सब जगत्को भस्म कर देंगे। अतएव यही वीर अर्जुन उनके मारनेमें समर्थ हैं; उनको मारकर यह पृथ्वीमें जायंगे। इस हेतु तुम हमारी आज्ञासे मनुष्य लोकमें जाओ और वहां काम्यक-वनवासी वीर युधिष्ठिरसे भेंट करो और हमारे वचनसे सत्यवादी धर्मात्मा युधिष्ठिरसे यह कहना, कि तुम अर्जुनके निमित्त कुछ सोच मत करो, वह शीघ्रही शस्त्र सीखकर आवेंगे, क्योंकि विना अधिक बाहुबल और शस्त्रोंमें अभ्यासके किये कोईभी भीष्म और द्रोणादिकों को युद्धमें जीतनेको समर्थ नहीं है, अब महाबाहु और महामनस्वी अर्जुन

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिन्दम ॥ २८ ॥
तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः ।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ॥ २९ ॥
भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्यटन्तं महीतलम् ।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ॥ ३० ॥
गिरिदुर्गेषु च सदा देशेषु विषमेषु च ।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ॥ ३१ ॥
एवमुक्ते महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम् ।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ॥ ३२ ॥
यथा गुप्तस्त्वया राजा चरेत्तीर्थानि सत्तम ।
दानं दद्याद्यथा चैव तथा कुरु महामुने ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथेति संप्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः ।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥ ३४ ॥
ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिन्दमम् ।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥ ३५ ॥ [१९२६]

इति श्रीमहा० शत० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशगमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ४७॥

शस्त्रोंको सीखकर दिव्य नांचने गाने और बाजेकी विद्याके पार होगये हैं। (२१—२७)

हे नरनाथ! जबतक वह यहां आवें, तबतक आपभी सब भाईयोंके समेत उत्तम तीर्थोंको देखिये। हे शत्रुनाशन! हे राजेन्द्र! पुण्य तीर्थोंको देखकर दुःख और पापसे रहित होकर सुखसे राज्यको भोग करेंगे। हे द्विजश्रेष्ठ! आप तपरूपी बलके समेत पृथ्वीमें घूमते हुए उनकी रक्षा कीजियेगा। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ नीचे ऊंचे दुःखसे जाने योग्य पर्वतोंमें घोर राक्षसलोग रहते हैं, आप उनसे उनको बचाइये। जब इन्द्र ऐसा कह चुके तब अर्जुनभी विनयपूर्वक लोमश ऋषिसे बोले, हे ऋषे! आप अवश्य पाण्डुनन्दन राजाकी रक्षा कीजिये, महाराज जैसे तीर्थोंमें घूम सकें और दानदे सकें, आप वैसाही यत्न कीजिये। (२८-३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, महा तपस्वी लोमश हम ऐसाही करेंगे, यह प्रतिज्ञा करके काम्यक वनकी इच्छासे पृथ्वीको चले। काम्यक वनमें जाकर शत्रुनाशन कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरको भाई और

जनमेजय उवाच---अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्याऽमिततेजसः ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच–शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाऽम्बिकासुतः ।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात्संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— श्रुतं मे सूत कार्त्स्न्येन कर्म पार्थस्य धीमतः ।
कच्चित्तवाऽपि विदितं याथातथ्येन सारथे ॥ ३ ॥
प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः ।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ४ ॥
यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद्योद्धा यस्य धनञ्जयः ॥ ५ ॥
अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान् ।
कोऽर्जुनस्याऽग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्जरातिगः ॥ ६ ॥
मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः ।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ॥ ७ ॥
तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः ।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद्रथी ॥ ८ ॥

तपस्वियोंके सङ्ग बैठे हुए देखा। (३४-३५)

वनपर्वमें सैंतालिस अध्याय समाप्त। [१९२६]

वनपर्वमें अढतालीस अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, प्रिय ! अपार तेजवाले अर्जुनका यह अद्भुत कर्म सुनकर महा बुद्धिमान धृतराष्ट्रने क्या किया? श्रीवैशम्पायन बोले, हे राजन् ! ऋषियोंमें श्रेष्ठ व्यासदेवसे अर्जुनकी इन्द्रलोक-यात्रा सुनकर अम्बिकाके पुत्र राजा धृतराष्ट्र सञ्जयसे ऐसा कहने लगे। (१-२

धृतराष्ट्र बोले, हे सूत ! हे सारथे ! मैंने बुद्धिमान अर्जुनका सब कर्म सुना। कहो तुमनेभी कहीं कुछ सत्य सत्य सुना है ? मूर्ख बुद्धिवाला दुर्मति केवल स्त्री प्रसंगमें निश्चयवाला मेरा पापी पुत्र समस्त पृथ्वीका नाश करेगा । जिस महात्मा युधिष्ठिरकी वाणी सदाही सत्य है, जिसकी ओर लडनेवाला अर्जुन है, वही युधिष्ठिर तीनों लोकका राजा होगा। पङ्खवाले तेजधारयुक्त तेज बाणोंको चलाते समय अर्जुनके आगे युद्धमें मृत्यु भी नहीं ठहर सकता है, मेरे दुष्टात्मा पुत्र सबही मृत्युके वशमें हुए हैं, जिनका युद्ध अजेय पाण्डवोंसे होनेवाला है । (३-७

मैं जानता हूं, कि गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनके समान कोईभी लडनेवाला

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे ।
महान्स्यात्संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम् ॥९॥
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ।
अमर्षी बलवान्पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥ १० ॥
संभवेत्तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम् ।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद्यशः ॥ ११ ॥
अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः ।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेतेषां फाल्गुनस्य वा ॥ १२ ॥
न तु हन्ताऽर्जुनस्याऽस्ति जेता वाऽस्य न विद्यते ।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मां चैव प्रतिसंहितः ॥ १३ ॥
त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
जिगाय पार्थिवान्सर्वान्राजसूये महाक्रतौ ॥ १४ ॥
शेषं कुर्याद्गिरेर्वज्रो निपतन्मूर्ध्नि संजय ।
न तु कुर्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात किरीटिना ॥१५॥

योद्धा नहीं है। मैं रात्रि दिन यही सोचता रहता हूं, कि कौनसा वीर रथपर चढकर अर्जुनसे लडेगा ? यदि भीष्म और द्रोणाचार्य हम लोगोंसे कर्णके समेत फिर जायं तो जगतमें महासन्देह होगा और हमारी जयभी नहीं होगी और यदि यह उनसे लडेंभी तौभी विजयमें सन्देहही है; क्योंकि कर्ण दयालु और आचार्य प्रमादी है,और गुरु द्रोणाचार्य बूढे हैं। उधर अर्जुन पूरा पराक्रमी, उद्योगी, बलवान और महा क्रोधी है। सब पाण्डव लोगोंसे महायुद्ध होकर हमारी हानि होगी, क्योंकि ये सब अस्त्र जानने वाले वीर और यशस्वी हैं। (८—११)

वह लोग युद्धमें जीतने योग्य नहीं हैं; इस हेतुसे सब राज्यकी इच्छा करते हैं। अब मुझे यह निश्चय होगया, कि जबतक अर्जुन वा यह सब न मारे जायंगे, तबतक शान्ति न होगी। परन्तु अर्जुनको मारने और जीतनेवाला जगतमें कोई नहीं है। किस प्रकार उसका यह क्रोध शान्त हो और हमसे सन्धि हो? उस इन्द्रके समान वीरने खाण्डव वनमें अग्निको सन्तुष्ट किया था, उसीने राजसूय यज्ञमें सब राजोंको जीता था।(१२–१४)

हे सञ्जय ! हे तात ! जिस प्रकार वज्र पहाडोंका नाश करता है, वैसेही अर्जुनके छोडे हुए बाण मेरे सब पुत्रोंको नाश करेंगे। जैसे सूर्यकी किरण जगत

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम् ।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान् १६॥
अपि तद्रथघोषेण भयार्ताः सव्यसाचिनः ।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ॥ १७ ॥
यदुद्वमन्प्रवपंश्चैव बाणान्स्थाताऽऽततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा भवेद्यथा तद्वदपारणीयः ॥ १८॥ [१९४४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

सञ्जय उवाच— यदेतत्कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते ॥ १ ॥
मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः ।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥२ ॥
दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः ।
कर्णस्य च महाराज न स्वप्स्यन्तीति मे मतिः ॥ ३ ॥
श्रुतं हि मे महाराज यथा पार्थेन संयुगे ।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥ ४ ॥
कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम् ।

को जलाती है, वैसेही अर्जुनके हाथसे छूटे हुए बाण मेरे पुत्रोंका नाश कर देंगे। मुझको अभीसे अर्जुनके रथके शब्दसे डरी हुईके समान अपनी सेना दीखती है। जब बाणोंको निकालते और चलाते हुए अर्जुन युद्धमें खडा रहेगा तब वह परमेश्वर निर्मित सर्वविनाशी कालके समान दिखाई देगा और उस समय वह अजेय होगा। (१५—१८) [१९४४]

वनपर्वमें अडतालीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें उनचास अध्याय ।

सञ्जय बोले, हे राजन् ! हे पृथ्वीनाथ ! आपने जो दुर्योधनके विषयमें कहा सो सब सत्य है, यह कदापि झूठ नहीं होगा। यशस्विनी धर्मपत्नी द्रौपदी को सभामें आयी हुई देख कर तेजस्वी पाण्डव महाक्रोधके वशमें हुए हैं, दुःशासनके उन कठोर विग्रहकारी वचनों और कर्णकी वाणियोंको स्मरण करके पांडव सोयेंगे नहीं। हे महाराज! मैंने यह सुना है, कि ग्यारह रूपधारी शिवको अर्जुनने महायुद्धमें धनुषसे प्रसन्न किया है, जटाधारी, सब देवतोंके स्वामी भगवान शिव उनकी भक्ति जाननेकी इच्छासे आपही

जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान्स्वयम् ॥ ५ ॥
तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरच्युतम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥ ६ ॥
नैतदुत्सहते चाऽन्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात् ।
साक्षाद्दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥ ७ ॥
महेश्वरेण यो राजन्न जीर्णोह्यष्टमूर्तिना ।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ॥ ८ ॥
आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥ ९ ॥
यत्र प्रस्फुरमाणोष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत् ।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥ १० ॥
ऊरू भेत्स्यामि ते पाप गदया भीमवेगया ।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥ ११ ॥
सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चाऽमिततेजसः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ १२ ॥
मन्ये मन्युसमुद्भूताः पुत्राणां तव संयुगे ।

किरातका वेष धारण करके युद्ध करनेको आये थे। (१--५)

अनन्तर कौरवश्रेष्ठ सिंहपराक्रमी अच्युत अर्जुनसे मिलनेको सब लोकपाल आये थे, उन्होंने सब अस्त्र उनको दिये हैं, हे महाराज ! अर्जुनको छोडकर और कोई भी पुरुष जगत्में ईश्वरके साक्षात् दर्शन नहीं कर सकता, हे राजन् ! जो आठ मूर्तिवाले शिवसे भी युद्धमें नहीं हारे, उस अर्जुनसे लडनेको समर्थ कोई भी वीर नहीं दीखता। यह आपत्ति सभामें द्रौपदीको खींचनेवाले, पाण्डवोंको क्रोधित करनेवाले तुम्हारे पुत्रोंने उत्पन्न की है। (६--९)

यह आपत्ति घोर, कठिन और रोम को खडी करनेवाली है। जब दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी जंघा दिखाई थी, तब क्रोधसे फडकते हुए ओठवाले भीमसेनने सत्यवाणी कही थी, कि, रे पापी ! मैं तेरह वर्ष बीते घोर वेगवाली गदासे दुष्ट द्यूत करनेवाले तेरी जङ्घाको तोडूंगा। वे सब लोग शस्त्र चलानेमें श्रेष्ठ महातेजस्वी सब शस्त्रोंको जानने-वाले देवतोंसे भी हारने योग्य नहीं हैं। मुझको निश्चय है, कि वे लोग अपनी स्त्रीको सभामें देखकर बडे क्रोधित

अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति आर्यामर्षसमन्विताः॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच--- किं कृतं सूत कर्णेन वदता परुषं वचः ।
पर्याप्तं वैरमेतावद्यत्कृष्णा सा सभां गता ॥ १४ ॥
अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन्मन्दचेतसः ।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नाऽवतिष्ठते ॥ १५ ॥
ममापि वचनं सूत न शुश्रूषति मन्दभाक् ।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतसम् ॥ १६ ॥
ये चाऽस्य सचिवा मन्दा कर्णसौबलकादयः ।
ते तस्य भूयसो दोषान्वर्धयन्ति विचेतसः ॥ १७ ॥
स्वैरमुक्ता ह्यपि शराः पार्थेनाऽमिततेजसा ।
निर्दहेयुर्मम सुतान्किं पुनर्मन्युनेरिताः ॥ १८ ॥
पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः ।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ॥ १९ ॥
यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः ।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ॥२०॥
इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह सञ्जय ।
महादेवेन बाहुभ्यां यत्समेत इति श्रुतिः ॥ २१ ॥

हुए हैं, सो युद्धमें तुम्हारे पुत्रोंका नाश करेंगे। (१०—१३)

धृतराष्ट्र बोले, हे सूत! कठोर बात बोलनेवाले कर्णने क्या बुरा काम किया, जो द्रौपदीको सभामें बुलाकर यह वैर उत्पन्न किया। मेरे पापी पुत्र अब भी बैठे रहें हैं, क्योंकि उनका बडा भाई दुर्योधन विनयके समेत स्थिर नहीं है; दुष्ट दुर्योधन मुझको आंख और चेष्टासे रहित देख करभी मेरे वचनको नहीं सुनता, और जो कर्ण, शकुनि, आदि मूर्ख और पापी मन्त्री हैं, सो उसके दोषोंको निरन्तर बढातेही चले जाते हैं। सामान्य रूपसेभी यदि अर्जुन बाणोंको छोडे, तो मेरे पुत्र भस्म हो सकते हैं, और क्रोधकी तो कथाही क्या है। (१४–१८)

अर्जुनके हाथ और महाधनुषसे छूटे हुऐ दिव्यमन्त्रसे मन्त्रित बाण देवतोंकोभी नाश कर सकते हैं, जिसके साक्षात् तीनलोकके नाथ कृष्ण मन्त्री रक्षा करनेवाले और मित्र हैं, वह किसको नहीं जीत सकता? हे सञ्जय! यह बडे आश्चर्यकी बात है, जो सुनते हैं कि अर्जुनने अपने हाथसे महादेवसे

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत्कृतं पुरा।
फाल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ॥ २२ ॥
सर्वथा न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते॥ २३ ॥ [१९६६]
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि
धृतराष्ट्रखेद एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

जनमेजय उवाच—यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने।
प्रव्राज्य पाण्डवान्वीरान्सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ १ ॥
कथं च राजपुत्रं तमुपेक्षेताऽल्पचेतसम्।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान्कोपयानं महारथान् ॥ २ ॥
किमासीत्पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम्।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु नो भवान् ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—वानेयं च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान्।
ब्राह्मणानां निवेद्याऽग्रमभुञ्जन्पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥
तांस्तु शूरान्महेष्वासांस्तदा निवसतो वने।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन्साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥

युद्ध किया, और सब लोगोंके देखते हुए कृष्णकी सहायतासे जो अग्निको सन्तुष्ट किया था, सो तुम जानतेही हो। मुझे निश्चय है, कि मेरे पुत्र शकुनि आदि अपने मन्त्रियोंके समेतभी भीम, अर्जुन और कृष्णके क्रोधित होनेपर स्थिर न रह सकेंगे। (१९—२३)

वनपर्वमें उनचास अध्याय समाप्त। [१९६६]

वनपर्वमें पचास अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, हे महामुने! राजा धृतराष्ट्रने वीर पाण्डवोंको वनको निकालकर जो कुछ सोच किया, सो सब व्यर्थही था, क्योंकि महारथ पाण्डवलोग क्रोधसे पीडित होकर क्रोध करानेवाले अल्पबुद्धि राजपुत्र दुर्योधन पर कैसे क्षमा कर सकते थे। अब आप हमसे यह कहिये, कि पाण्डवलोग वनमें रहकर क्या भोजन करते थे? क्या वह लोग नगरकी वस्तु खाते थे, अथवा वनमें उत्पन्न हुई? (१-३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, वनमें उत्पन्न हुए अन्न और शुद्ध बाणोंसे मारे हुए हरिण ब्राह्मणोंको भोजन कराकर पुरुषसिंह पाण्डव उन्हींको खाते थे, महाबाणधारी महावीर पाण्डव लोगोंको वनमें बसते हुए जानकर अग्निहोत्री और

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
दश मोक्षविदां तत्र यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
रुरून्कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चाऽन्यान्वनेचरान् ।
बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥
न तत्र कश्चिद्दुर्वर्णो व्याधितो वाऽपि दृश्यते ।
कृशो वा दुर्बलो वाऽपि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ॥८॥
पुत्रानिव प्रियान्भ्रातॄञ्ज्ञातीनिव सहोदरान् ।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
पतींश्च द्रौपदी सर्वान्द्विजातींश्च यशस्विनी ।
मातृवद्भोजयित्वाऽग्रे शिष्टमाहारयत्तदा ॥ १० ॥
प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो यमौ प्रतीचीमथ वाऽप्युदीचीम् ।
धनुर्धरा मांसहेतोर्मृगाणां क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥ ११ ॥
तथा तेषां वसतां काम्यके वै विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम् ।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयुरधीयतां जपतां जुह्वतां च॥ १२ ॥ [१९८८]

इति श्रीमहा० शत०वैयासिक्यामारण्यके पर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः५०

वैशम्पायन उवाच—तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम् ।

अनग्निहोत्री अनेक ब्राह्मण उनके सङ्ग रहते थे, महाराज युधिष्ठिर अपने पवित्र बाणोंसे अनेक खाने योग्य वनमें रहनेवाले हरिणोंको मार कर वेदपाठी महात्मा सहस्रों ब्राह्मण और दश मोक्ष जाननेवाले महात्माओंको भोजन देते थे। (४—७)

पहले ब्राह्मणोंको तृप्त करके तब आप भोजन करते थे, उनके समाजमें कोई भी बुरे रङ्गवाला, रोगी, दुबला,बलहीन, दुःखी और डराऊ नहीं दीखता था! महाराज धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों को प्यारे पुत्रके समान और जातिबांधवोंको अपने भाईयोंके समान पालते थे। यशस्विनी द्रौपदी अपने सब पतियोंको माताके समान भोजन कराकर पीछे आप भोजन करती थी। पूर्वकी ओर राजा, दक्षिणकी ओर भीमसेन और पश्चिम तथा उत्तरकी ओर नकुल और सहदेव धनुषको लेकर सदाही हरिणोंका नाश करनेको जाते थे, इस प्रकार उन चारों पाण्डवोंने अर्जुनके विना पढ़ते, जीतते और यज्ञ करते पांच वर्ष बिताये। (८–१२) [१९८८]

वनपर्वमें पचास अध्याय समाप्त

वनपर्वमें एकावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्

चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाऽभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
अब्रवीत्सञ्जयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ॥ २ ॥
न रात्रौ न दिवा सूत शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम् ।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ॥ ३ ॥
तेषाममसत्त्ववीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम् ।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥
देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती ।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥
दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥
भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि ।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥ ७ ॥
निःशेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य सञ्जय ।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥
द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ ।

उनके मनुष्योंसे अधिक और अद्भुत चरित्र सुनकर राजा धृतराष्ट्र चिन्ता, शोक और क्रोधसे व्याकुल होगये । हे पुरुषसिंह ! हे जनमेजय ! अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र लम्बी और गर्म सांस लेकर सञ्जयसे मन्त्रणा करते हुए ऐसे बोले, हे सूत ! रात और दिनका एक एक क्षणमात्रभी मुझको शान्ति प्राप्त नहीं होती है ; मैं रातदिन उस जुएकी अनीतिहीको स्मरण करता हूं । उन सब भाइयोंका न सहने योग्य तेज, धैर्य, धारणा शक्ति और परस्परकी प्रीति ऐसी है, जो पुरुषोंमें नहीं होती । (१–४)

तिनमें भी देवतोंके पुत्र देवतोंके समान तेजस्वी नकुल और सहदेव युद्धमें दृढ धनुषवाले, दूरतक बाण फेंकनेवाले, सदाही युद्धमें स्थिर रहनेवाले, जल्दी बाण चलानेवाले, महाक्रोधी, शीघ्रता करनेवाले हैं । वे दोनों जब भीम और अर्जुनको अगाडी करके युद्धमें आवेंगे, तो सिंह और अश्विनी कुमारके समान उनके वेगको कोई भी न सह सकेगा । हे सञ्जय ! मैं अपनी सेनाका अभीसे नाश देख रहा हूं।मुझे यह निश्चय है,कि वह दोनों वीर महारथ और युद्धमें असामान्य हैं; वे दोनों द्रौपदीके उस दुःखको

वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥
युधि सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥
रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन ।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥
तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः ।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाऽशनेः ।
गदावेगं च भीमस्य नाऽलं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥
ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः ।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥ १४ ॥

सञ्जय उवाच— व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः ।
समर्थेनाऽपि यन्मोहात्पुत्रस्ते न निवारितः ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हि निर्जितान्द्यूते पाण्डवान्मधुसूदनः ।
त्वरितः काम्यके पार्थान्समभावयदच्युतः ॥ १६ ॥
द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।

देखकर कदापि क्षमा न करेंगे। (५–९)

महा धनुषधारी वृष्णिवंशी और महा तेजस्वी पाञ्चालदेशी क्षत्रिय लोग जब सत्यवादी, महात्मा कृष्णसे रक्षित होकर पाण्डवोंको सङ्गमें लेकर युद्धमें आवेंगे, तो मेरे पुत्रोंके समेत मेरी सब सेना नष्ट होजायगी। हे सूतनन्दन! राम और कृष्ण शिक्षित वृष्णिवंशी सेनाके वेगको कोईभी नहीं सह सकता है। उनलोगोंके बीचमें जब महा पराक्रमी धनुषधारी भीम वीरोंके नाश करने वाली, पाताल पर्यन्त फोडनेवाली गदाको लेकर युद्धमें घूमेगा, तैसेही गाण्डीव धनुषका बिजलीके समान घोर शब्द और भीमकी गदाका वेग कोईभी राजा सहनेको समर्थ न होगा, उस समय मैं अपने मित्रोंकी बातोंका स्मरण करूंगा, जो दुर्योधनके वशमें होकर पहिले मैंने नहीं करी थी। (९–१४)

सञ्जय बोले, हे महाराज! आपने यह बडी भारी भूल करी है, जो सामर्थ रहने परभी अपने पुत्रको मोहसे जुएसे नहीं रोका। जब अच्युत मधुनाशक श्रीकृष्णने सुना, कि पाण्डव लोग जुएमें हार गये, तो तुरन्त ही काम्यक वनमें पाण्डवोंके पास आये, धृष्टद्युम्न आदि

विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ॥ १७ ॥
तैश्च यत्कथितं राजन्दृष्ट्वा पार्थान्पराजितान् ।
चारेण विदितं सर्वं तन्मयाऽऽवेदितं च ते ॥ १८ ॥
समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः ।
सारथ्ये फाल्गुनस्याऽऽजौ तथेत्याह च तान्हरिः ॥१९॥
अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तदा गतान् ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥
या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह ।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ॥ २१ ॥
यत्र सर्वान्महीपालाञ्छस्त्रतेजोभयार्दितान् ।
सवङ्गाङ्गान्सपौण्ड्रोड्रान्सचोलद्राविडान्ध्रकान् ॥ २२ ॥
सागरानूपकांश्चैव ये च प्रान्ताभिवासिनः ।
सिंहलान्बर्बरान्म्लेच्छान्ये च लङ्कानिवासिनः ॥ २३ ॥
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान् ।
पह्लवान्दरदान्सर्वान्किरातान्यवनाञ्छकान् ॥ २४ ॥
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान्सैन्धवांस्तथा ।
जागुडान्रामठान्मुण्डान्स्त्रीराज्यमथ तङ्गणान् ॥ २५ ॥

द्रुपदके पुत्र, विराट, धृष्टकेतु और महारथ कैकय लोग यह सब युधिष्ठिरके पास वनमें गये थे। उन्होंने पाण्डवोंको हारा हुआ देखकर जो कुछ उनसे कहा सो मैंने दूतोंसे सुना है। (१७—१८)

युधिष्ठिरने कृष्णसे कहा कि आप युद्धमें अर्जुनके सारथीका काम कीजियेगा और कृष्ण भगवानने कहा, कि हम ऐसा ही करेंगे, पाण्डवोंको उस दशामें देखकर कृष्णको महा क्रोध हुआ, और हरिणके चमडेको पहने हुए युधिष्ठिरसे ऐसा बोले, हे महाराज! पहले मैंने जो राजसूय यज्ञके समयमें इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंकी लक्ष्मी देखी थी, सो दूसरे राजोंको दुर्लभ है। जिस महायज्ञमें शस्त्र, भय और तेजसे पीडित अङ्ग, वङ्ग, पौण्ड्र, उड्र, चोल, द्राविड और आन्ध्रक आदि राजा, समुद्रवासी वहुत जलवाले देश-निवासी और सब देशोंके राजा, सिंहल तथा बर्बरके उत्तम राजा, लङ्काके राजा तथा और म्लेच्छ लोग, पश्चिमके सब राजा, समुद्रके बीचमें रहनेवाले राजा, पह्लव, दरद, सब किरात, यवन, शक, हार, हूण, चीन,

केकयान्मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि ।
अद्राक्षमहमाहूतान्यज्ञे ते परिवेषकान् ॥ २६ ॥
सा ते समृद्धिर्यैराप्ता चपला प्रतिसारिणी ।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ॥ २७ ॥
रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा ।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाऽऽहुकेन च ॥ २८ ॥
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च ।
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत ॥
दुःशासनं सौबलेयं यश्चाऽन्यः प्रतियोत्स्यते ॥ २९ ॥
ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन् ।
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम्॥ ३० ॥
अथैनमब्रवीद्राजा तस्मिन्वीरसमागमे ।
शृण्वत्स्वेतेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च ॥ ३१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन ।
अमित्रान्मे महाबाहो सानुबन्धान्हनिष्यसि ॥ ३२ ॥
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव ।

तुषार, सैन्धव, जागुड,रामठ, मुण्ड,स्त्री-राज्य,तङ्गण,केकय,मालव और काश्मीर आदि अनेक महाराजोंको उस अभिषेकमें आये हुए मैंने देखाथा । (१९—२६)

हे महाराज! वह आपकी चलनेवाली और चञ्चल लक्ष्मी जिन्होंने ली है, मैं आपसे आज्ञा लेकर उनको छीन लाऊंगा। हे कौरव्य ! मैं, बलराम , भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, उग्रसेन, महावीर धृष्टद्युम्न और शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु यह सब मिलकर, अभी युद्धमें दुर्योधन, कर्ण, दुःशासनऔर शकुनि आदि सबको मार कर लक्ष्मीको प्राप्त करेंगे । हे भारत ! तब आप अपने सब भाइयोंके समेत धृतराष्ट्रकी लक्ष्मीको प्राप्त करके हस्तिनापुरमें बसते हुए सब पृथ्वीका राज्य कीजिये । (२७ — ३०)

अनन्तर उस वीरसमाजमें जहां महावीर धृष्टद्युम्न आदि अनेक वीर बैठे थे, वहां उनको सुनानेके लिये राजा युधिष्ठिर ऐसा कहने लगे । युधिष्ठिर बोले, हे जनार्दन ! हम तुम्हारी सच्ची प्रतिज्ञाको स्वीकार करते हैं, हे महाबाहो ! आप हमारे शत्रुओंको सेनाके समेत मारेंगे, परन्तु मैंने राजोंके बीचमें

प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम् ॥ ३३ ॥
तद्धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः ।
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते समयामासुरञ्जसा ॥ ३४ ॥
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ।
पाञ्चालीं प्राहुराक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३५ ॥
दुर्योधनस्तव क्रोधाद्देवि त्यक्ष्यति जीवितम् ।
प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि ॥ ३६ ॥
ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा ।
मांसानि तेषां खादन्तो हरिष्यन्ति वृकद्विजाः॥ ३७ ॥
पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा ।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टाऽसि सभातले ॥ ३८ ॥
तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले ।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चाऽसकृत् ३९॥
परिक्लिष्टाऽसि यैस्तत्र यैश्चाऽसि समुपेक्षिता ।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ४०॥
एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभाः ।

तेरह वर्ष पर्यन्त वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा की है, सो आप तेरह वर्षके पश्चात् इस अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजियेगा। (३१-३३)

धर्मराजके ऐसे वचनको सुनकर धृष्टद्युम्न आदि सभासदोंने क्रोधयुक्त कृष्णको शीघ्रही समयानुसार मीठे वचन कहकर शान्त किया और सब वीरोंने श्रीकृष्णके सामने द्रौपदीसे यह प्रतिज्ञा की, कि हे देवि ! तुमको दुःख देनेके कारण दुर्योधन अपने प्राणको त्याग करेगा। हे देवि ! तुम शोच मत करो और हमारी प्रतिज्ञाको सत्य मानो, जिन लोगोंने तुमको जुएमें हरी हुई देखकर हंसा है, उनके मांस सियार और पक्षी खायंगे; जिन्होंने तुम्हारे बाल पकडकर सभामें खीचा है, उनके सिरोंको गिद्ध और सियार खीचेंगे; और उनके रुधिरको पीयेंगे। हे पाञ्चालि ! तुम अपनी दृष्टिसे देखोगी, कि जिन्होंने तुमको दुःख दिया है, उनके शरीरोंको पृथ्वीमें मांस खानेवाले पक्षी खींचते फिरते हैं, और मांस खा रहे हैं; और जिन्होंने देखा है, उन सबके मरे हुए सिरोंका रुधिर भूमि पीयेगी। (३४-४०)

हे भरतर्षभ ! उन सब महातेजस्वी

सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाऽहतलक्षणाः ॥ ४१ ॥
ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥ ४२ ॥
रामश्च कृष्णश्च धनञ्जयश्च प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः पञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ॥ ४३ ॥
एतान्सर्वांल्लोकवीरानजेयान्महात्मनः सानुबन्धान्ससैन्यान् ।
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात्क्रुद्धान्सिंहान्केसरिणो यथैव ॥ ४४॥
धृतराष्ट्र उवाच- यन्माब्रवीद्विदुरो द्यूतकाले त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो महाभयो भविता शोणितौघः॥ ४५ ॥
मन्ये तथा तद्भवितेति सूत यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥ ४६॥ २०३४

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणीन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि
धृतराष्ट्रविलाप एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१॥ समाप्तमिन्द्रलोकाभिगमनपर्व ॥

अथ नलोपाख्यानपर्व ॥

जनमेजय उवाच—अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।

शूरवीर सब लक्षणोंसे भरे वीरोंने इस प्रकार धर्मराजके सामने ऐसी प्रतिज्ञा की है। अनन्तर धर्मराजने उन सबको तेरह वर्षके पश्चात् युद्धके निमित्त निमन्त्रण दिया, वे सब महारथ लोग श्रीकृष्णको अगाडी करके युद्धमें आवेंगे । बलराम, कृष्ण, अर्जुन प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकी, भीमसेन, नकुल, सहदेव, काश्मीरके राजाके पुत्र, पांचाल-राजके पुत्र और मत्स्य देशका राजा, ये सब लोकमें प्रसिद्ध वीर और अजेय हैं। ये महात्मा लोग महासेनाके सहित धर्मराज की सहायता करेंगे। कौन ऐसा वीर है, जो इन केशरी सिंहके समान क्रोधित वीरोंके आगे युद्धमें अपनी जीवनकी इच्छा कर सके? (४१—४४)

धृतराष्ट्र बोले, मुझसे जो विदुरने जुएके समय कहा था, कि हे नरनाथ! यदि आप पाण्डवोंको जुएमें हराइयेगा तो निश्चय कुरुवंशका अन्तकाल होगा, और पृथ्वीमें रुधिरकी महाधारा बहेगी। हे सूत! मुझसे विदुरने पहले जो कहा था, निश्चय वैसाही होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि तेरह वर्ष बीतने पर पाण्डवोंसे और हमसे महायुद्ध होगा। (४५—४६) [२०३४]

वनपर्वमें एकावन अध्याय और इन्द्रलोकाभिगमन पर्व समाप्त ।

*

युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
न्यवसन्कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥ २ ॥
ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।
दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ॥ ३ ॥
धनञ्जयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ।
तद्वियोगार्दितान्सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे ॥ ४ ॥
धनञ्जयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥
निदेशात्ते महाराज गतोऽसौ भरतर्षभः ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन्प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ ६ ॥
यस्मिन्विनष्टे पञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः ॥ ७ ॥
योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून्क्लेशान्विचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद्बीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ८ ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।

वनपर्वमें बावन अध्याय और नलोपाख्यान पर्व।

राजा जनमेजय बोले, महात्मा अर्जुन जब शस्त्र लेनेकी इच्छासे इन्द्रलोकको गये तो युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया?

श्रीवैशम्पायनजी बोले, जब महात्मा अर्जुन शस्त्र लेनेकी इच्छासे इन्द्रलोकको गये, तो पाण्डवलोक द्रौपदीके सहित दुःखी होकर काम्यक वनमें वास करने लगे। एक दिन निराली घासपर एकान्त में बैठे हुए द्रौपदीके सहित भरतकुलके श्रेष्ठ पाण्डवलोग रोते हुए शोकसे पीडित होकर अर्जुनके वियोगसे महादुःखित भये। (२—४)

अर्जुनके वियोग और राज्यके नाशसे महादुःखित पाण्डव युधिष्ठिरसे महाबाहु भीमसेन ऐसा बोले, हे महाराज! जिसमें हमलोगोंके प्राण स्थिर हैं, सो पुरुषसिंह अर्जुन आपकी आज्ञासे तप करनेको गया है, जिसके नाश होनेसे पुत्रोंके समेत पाञ्चाललोग हम सात्यकी और श्रीकृष्ण निःसन्देह सबही मर जायंगे। जो महात्मा अर्जुन आपकी आज्ञासे वनमें जाकर अनेक क्लेशों को सह रहा है, उससे अधिक दुःख और क्या होगा? जिसके बाहुबलका आश्रय करके हम सब महात्मालोग

मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ ९ ॥
यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः ।
नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ १० ॥
ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ ११ ॥
वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान्परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ १२ ॥
भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ॥ १३ ॥
क्षात्रं धर्मं महाराज त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥ १४ ॥
राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद्राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ॥ १५ ॥
प्राग्द्वादशसमा राजन्धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात्पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥ १६ ॥
व्यूढानीकान्महाराज जवेनैव महामते ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशांपते ॥ १७ ॥

अपनेको युद्धमें अजेय और पृथ्वीको प्राप्त ही समझते हैं, जिस धनुर्धारीके भरोसे मैंने सभामें शकुनिके सहित सब धृतराष्ट्र पुत्रोंको नहीं मारा, सो हम सब लोग श्रीकृष्णसे रक्षित बाहुबली होनेपर-भी केवल आपकी आज्ञा पालनेके निमित्त इन सब क्लेशोंको सह रहे हैं ।(९--११)

हम सबलोग श्रीकृष्णको सङ्ग लेकर कर्ण आदिको मारकर अपने बाहुबलसे जीती हुई पृथ्वीका राज्य करेंगे, केवल आपहीके जुएरूपी दोषसे इस आपत्तिमें पडे हैं । और दुर्योधन आदि मूर्ख बडे बलवान बने हैं । हे महाराज ! आपको क्षत्रियोंके धर्मकी ओर देखना चाहिये । हे महाराज! वनमें रहना क्षत्रियोंका धर्म नहीं है,पण्डितोंने राज्य ही क्षत्रियोंका धर्म और परम धर्म कहा है, क्षत्रधर्मका जाननेवाला तू राजा होकर उस मार्गका नाश न कर । हे महाराज ! अर्जुनको वनसे बुलाकर और श्रीकृष्णको सङ्ग लेकर इस बारह वर्षके पहलेही धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारना उचित है । (१२-१५)

हे महाराज! हे महामते! हे प्रजानाथ! मैं सेनाका उत्तम व्यूह बनाकर धृतराष्ट्र

सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान्ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वाऽन्यः प्रतियोत्स्यसे ॥ १८॥
मया प्रशमिते पश्चात्त्वमेष्यसि वनं पुनः ।
एवं कृते न ते दोषा भविष्यन्ति विशांपते ॥ १९ ॥
यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिन्दम ।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ २० ॥
एवमेतद्भवेद्राजन्यदि राजा न बालिशः ।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद्भवान्धर्मपरायणः ॥ २१ ॥
निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २२ ॥
तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण ह ॥ २३ ॥
तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो ।
संवत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २४ ॥
यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ।
त्रयोदशसमाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २५ ॥

के पुत्रोंको वेगसे यमलोकको भेजूंगा। शकुनिके सहित धृतराष्ट्रके सब पुत्र, कर्ण, दुर्योधन या और जो युद्ध करनेको आवेंगे, उन सबको मैं एकलाही मारूंगा दुर्योधन, कर्ण तथा उनके पक्षके सब वीरों और शकुनिकोभी मार डालूंगा। हे महाराज! जब मैं इन सबको मार चुकूंगा, तब आप वनसे नगरको आईयेगा। ऐसा करनेसे आपको कुछ दोष नहीं होगा, हे तात! हे शत्रुनाशन! फिर हमलोग अनेक यज्ञोंसे सब पापोंको नाश करके उत्तम स्वर्गको लाभ करेंगे। (१७-२०)

हे महाराज! यदि आप बालकोंके समान हठी और दीर्घसूत्र (आलसी) और धर्मपरायण न हों, तो यह सब काम ऐसेही हो सकता है। ऐसा कहा है, कि छलियोंको छलहीसे मारना चाहिये, क्योंकि छलीके सङ्ग छल करनेसे पाप नहीं होता। हे महाराज! हे भारत! धर्मज्ञ लोगोंने धर्म विषयमें कहा है, कि एक रात दिन एक वर्षके बराबर है। हे महाराज! हे नाथ! वेदमेंभी ऐसाही लिखा है, कि दुःखमें एक दिन रात एक वर्षके समान बीतता है। यदि आप वेदको प्रमाण मानते हैं, तो जान लीजिये, कि तेरह वर्षका

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिन्दम ।
एकाग्रं पृथिवीं सर्वां पुरा राजन्करोति सः ॥ २६ ॥
द्यूतप्रियेण राजेन्द्र तथा तद्भवता कृतम् ।
प्रायेणाऽज्ञातचर्यायां वयं सर्वे निपातिताः ॥ २७ ॥
न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान्सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ॥ २८ ॥
अधिगम्य च सर्वान्नो वनवासमिमं ततः ।
प्रव्राजयिष्यति पुनर्निकृत्याऽधमपूरुषः ॥ २९ ॥
यद्यस्मानधिगच्छेत पापः स हि कथंचन ।
अज्ञातचर्यामुत्तीर्णान्दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ॥ ३० ॥
द्यूतेन ते महाराज पुनर्द्यूतमवर्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूते नैवाऽपनेष्यति ॥ ३१ ॥
स तथाऽक्षेषु कुशलोऽनिश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज वनेषु वसतीः पुनः ॥ ३२ ॥
यद्यस्मान्सुमहाराज कृपणान्कर्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥ ३३ ॥
निकृत्या निकृतिप्रज्ञो हन्तव्य इति निश्चयः ।

समय बीत गया । (२१—२५)

हे राजन् ! हे शत्रुनाशन ! कालको वितानेसे सेनाके समेत दुर्योधनका मारना कठिन होगा, क्योंकि वह सब पृथ्वीके राजोंको अपनी ओर कर लेगा; हे राजेन्द्र ! जुएके प्यारे आपने जुआ खेला और हम सब लोगोंको इस अज्ञात वासके आपत्तिमें डाला । हम उस देशको नहीं देखते, कि जहां वह दुष्टात्मा दुर्योधन दूतोंके द्वारा हम लोगोंको न जान सकै । हम लोगोंको जानकर वह दुरात्मा छलसे पुनः वनवासको भेजेगा, हे महाराज ! यदि किसी प्रकारसे वह पापी हमको उस समय न जान सके, तो इस आपत्तिके पार गये हुए आपको जुएमें जीत लेगा, और आप जुएमें बुलानेसे अवश्यही जायंगे, वह दुष्ट पासोंकी विद्यामें बडा प्रवीण है, फिरभी हम लोगोंको वनहीमें घर बनाना होगा । (२६-३२)

हे महाराज ! यदि हम लोगोंको आप जीवन भर दुःखी बनाना चाहें, तो सब वेद धर्मोंको देखिये । हे महाराज! यह निश्चय है, कि छलीको छलहीसे

अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ॥ ३४ ॥
यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच सान्त्वयन्राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ॥ ३६ ॥
असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम् ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ३७ ॥
यत्त्वमाभाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ॥ ३८ ॥
अन्तरेणाऽपि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥ ३९ ॥
एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥ ४० ॥
तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा संप्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ४१ ॥
आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥ ४२ ॥

मारना चाहिये, मैं आपकी आज्ञा पाकर शक्तिके अनुसार मन्दबुद्धि दुर्योधनको वैसेही मार डालूंगा, जैसे अग्नि एक स्थानमें भडककर सबको जला देती है। आप मेरे वचनोंको सत्य मानिये। ३३-३५

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेनके ऐसे वचन सुनकर उनको शान्तकर उनका माथा सूंघकर ऐसे वचन कहे, हे महाबाहो! इसमें कोई सन्देह नहीं, कि तुम अर्जुनको सङ्ग लेकर तेरहवर्षके पश्चात् दुर्योधनको मारोगे! हे कुन्तीनन्दन! तुम जो कहते हो, कि समय आगया सो झूंठ बोलनेकी मेरी शक्ति नहीं है। हे दुर्द्धर्ष कुन्तीपुत्र! यह समय बीतने के पश्चात् तुम पापी छली दुर्योधनको नाश करना। (३६—३९)

जहां धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेनसे ऐसा कह रहे थे; तहां महाभाग बृहदश्व आये। महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने उन धर्म करने वाले मुनिको वहां आये हुए देखकर शास्त्रविधिके अनुसार मधुपर्क आदिसे उनकी पूजा करी; उनको सुखसे बैठा हुआ देखकर बैठे

अक्षद्यूते च भगवन्धनं राज्यं च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥ ४३ ॥
अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥४४॥
पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन्महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥ ४५ ॥
अहं वने दुर्वसतीर्वसन्परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन्सुदारुणाः ॥ ४६ ॥
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥४७॥
यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाऽभवम् ॥ ४८ ॥
कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितम् ॥ ४९ ॥
अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित् ॥ ५० ॥
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ५१ ॥

हुए महाबाहु युधिष्ठिर अनेक दीन वचन कहने लगे । (४०—४२)

हे भगवन् ! छल बुद्धिवाले पाशोंके पण्डितोंने मुझे बुलाकर मेरे धर्मराज्यको छीन लिया, छल को न जाननेवाले धर्मात्मा मेरी प्राणसेभी अधिक प्यारी स्त्रीको पापमें निश्चयवालोंने छलसे सभामें बुलाया । दूसरी बार मुझको जुएमें जीतकर हरिणके चमडेके वस्त्र पहिनाकर इस घोर महा वनमें भेज दिया, मैं इस वनमें दुःखी होकर रहता हुआ अब जुएकी अनेक बातोंको स्मरण करता हूं । जुएके अधिकारमें कही हुई बातोंको सुनकर और अपने हृदयके भावोंको स्मरण करके रात्रि भर चिन्ता ही करता हूं। जिस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनमें हमारे प्राण बसते हैं, उस महात्माके विना मैं निर्बलके समान होगया हूं । शस्त्र सीख कर आये हुए प्रियवादी गंभीर आलसरहित, दयावान अर्जुन को मैं कब देखूंगा ? मेरी बुद्धिमें मेरे समान दुःखी राजा कोई नहीं है । क्या मेरे समान मन्दभाग्य कोई है ? क्या आपने किसीको ऐसा देखा है ?

बृहदश्व उवाच— यद्ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित्।
अल्पभाग्यतरः कश्चित्पुमानस्तीति पाण्डव ॥ ५२ ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत्पृथिवीपते ॥ ५३ ॥
वैशम्पायन उवाच— अथैनमब्रवीद्राजा ब्रवीतु भगवानिति।
इमामवस्थां संप्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ ५४ ॥
बृहदश्व उवाच— शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत्पृथिवीपते ॥ ५५ ॥
निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥ ५६ ॥
स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम्।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत्सह ॥ ५७ ॥
न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः।
वने निवसतो राजञ्छिष्यन्ते स्म कदाचन ॥ ५८ ॥
भवान्हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसंमितैः।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नाऽर्हसि शोचितुम् ॥५९॥

क्या सुना है? (४३–५१)

बृहदश्व बोले, हे पाण्डव! हे राजन्! आप जो कहते हैं, कि मेरे समान कोई भी कहीं मन्दभाग्य नहीं हुआ; हे पापरहित! यदि आप सुननेकी इच्छा करें, तो उस राजाकी कथा कहूं, जो पृथ्वीमें आपसे भी अधिक मन्दभाग्य हुआ है। (५२-५३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज युधिष्ठिरने उनके ऐसे वचन सुनकर कहा, कि मैं अपने समान दशाको प्राप्त हुए राजाकी कथा सुननेकी बहुत इच्छा रखता हूं; आप कहिये। बृहदश्व बोले, हे पाण्डव! हे अच्युत! आप भाइयोंके समेत सावधान होकर, जो राजा आपसे भी ज्यादा दुःखी हुआ है, उसकी कथा सुनिये। (५४–५५)

निषध देशमें वीरसेन नामक एक विख्यात राजा हुआ था। उसके पुत्रका नाम नल था; वह धर्म और धनका पण्डित था। हमने सुना है, कि उसको भी पुष्करने छलसे जुएमें जीत लिया था, वह भी स्त्रीके सहित महा दुःखी होकर वनमें बसा था। हे राजन्! वनमें रहने के समय दास, रथ, भाई और मित्र कोई भी उसके सङ्ग न थे, आप तो देवतोंके समान भाई और ब्रह्मतुल्य ब्राह्मणश्रेष्ठोंके

युधिष्ठिर उवाच— विस्तरेणाऽहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्ममाऽख्यातुमर्हसि ॥ ६० ॥ [२०९४]

इति श्रीमहा० शतसाहस्र्यां० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२ ॥

बृहदश्व उवाच— आसीद्राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली ।
उपपन्नो गुणैरिष्टैरूपवानश्वकोविदः ॥ १ ॥
अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा ।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः ।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ॥ ३ ॥
ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः ।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥ ४ ॥
तथैवाऽऽसीद्विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाऽप्रजः ॥ ५ ॥
स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत्सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद्ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ॥ ६ ॥
तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।

सहित वनमें वास करते हैं, इससे आप सोचनेके योग्य नहीं हैं। युधिष्ठिर बोले, हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ! मैं महात्मा नलके चरित्रको विस्तारसे सुनना चाहता हूं, आप कहिये। (५२–६०) [२०९४]

वनपर्वमें बावन अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तिरपन अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, वीरसेनके पुत्र सब गुणसे भरे, रूपवान, घोडेकी विद्याके पण्डित, और बलवान नल नामक राजा हुए, उन्होंने इन्द्रके समान सब राजोंके शिर पर निवास किया, जैसे सूर्य अपने तेजसे सबके ऊपर रहते हैं। वे ब्राह्मणों के पूजक, वेदके जाननेवाले, वीर निषधदेशके राजा, जुएके प्यारे, सत्यवादी, महासेनाके स्वामी, और श्रेष्ठ स्त्रियोंके प्यारे, उदार, इन्द्रियजित, रक्षा करनेवाले, धनुर्द्धारियों में श्रेष्ठ नल साक्षात् मनुके समान थे, वैसेही विदर्भ देशमें महापराक्रमी शूर, सब गुणोंसे युक्त राजा भीम थे। (१—५)

परन्तु राजा भीमको कुछ सन्तान नहीं थी, उन्होंने सन्तानके निमित्त अनेक उत्तम यत्न किये, हे भारत! एक दिन उनके पास दमन नामक महर्षि आये, धर्मजाननेवाले राजा भीमने स्त्रीके

महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्चसम् ॥ ७ ॥
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान्महायशाः ॥ ८ ॥
दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान्गुणैः सर्वैर्भीमान्भीमपराक्रमान् ॥ ९ ॥
दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥ १० ॥
अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृतम् ।
शतं शतं सखीनां च पर्युपासच्छचीमिव ॥ ११ ॥
तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामिनी यथा ॥ १२ ॥
अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवाऽऽयतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग्रूपवती क्वचित् ॥ १३ ॥
मानुषेष्वपि चाऽन्येषु दृष्टपूर्वाऽथवा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥ १४ ॥
नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत्स्वयम् ॥ १५ ॥

सहित उन तेजस्वी ऋषिकी सत्कार पूर्वक राणीको सङ्ग लेकर सेवा की। तब दमनऋषिने स्त्री सहित राजाको यह वरदान दिया, कि 'तुम्हारे एक कन्यारत्न और महायशस्वी उदार तीन पुत्र होंगे' अनन्तर वैसेही हुआ। राजाने पुत्र और पुत्रीके नाम रखे; कन्याका नाम दमयन्ती, पुत्रोंके नाम दम, दान्त और दमन हुए। यह सब लोग तेजस्वी, सब गुणोंमें पूर्ण, महा पराक्रमी हुए। (५-९)

सुमध्यमा दमयन्ती रूप, तेज, यश, लक्ष्मी और सौभाग्यसे लोकोंमें विख्यात हुई। एक समय सुन्दर शरीरवाली दमयन्ती सब भूषण पहनकर सखियोंके बीचमें वर्षाकी बिजलीके समान शोभित थी; वह विशालनेत्रा अत्यन्त रूपवती होनेके कारण लक्ष्मीके समान शोभित हुई। उसके समान रूपवती देव, यक्ष, और मनुष्योंमें किसीने भी न देखी और न सुनी। वह सुन्दरी बाला देवतोंके चित्तकोभी प्रसन्न करती थी; और पुरुषोंमें सिंह नलभी पृथ्वीमें अपनेसे रूपवान किसीको नहीं देखते थे; मानों साक्षात कामदेवहीने रूप धारण

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥ १६ ॥
तयोरदृष्टः कामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान् ।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत हृच्छयः ॥ १७ ॥
अशक्नुवन्नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥ १८ ॥
स ददर्श ततो हंसाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥ १९ ॥
ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन्करिष्यामि तव प्रियम् ॥२०॥
दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध ।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः ।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥ २२ ॥
विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदाऽन्तिके ।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान्खगान् ॥ २३ ॥

किया है । (१०—१५)

दमयन्तीकी सखियोंने दमयन्तीके आगे आनन्दसे नलके रूपका और कई पुरुष नलके आगे दमयन्तीके रूपका वर्णन किया करते थे । हे कुन्तीपुत्र ! इस प्रकारसे उन दोनोंमें विना रूप देखेभी केवल गुण सुनके अत्यन्त प्रेम बढ गया, और सङ्गही कामदेवभी बढने लगा । तब नल अपने हृदयसे कामदेवको सहनेमें असमर्थ होकर रणवासके समीपके बागमें एकलाही रहने लगे । अनन्तर उन्होंने उस वनमें सोनेके पंखवाले हंसोंको देखा और उनमें से एकको पकड लिया ; तब उस हंसने नलसे कहा, कि हे राजन् ! मैं तुम्हारा बहुत प्यारा काम करूंगा, अतएव तुम मुझको मारना मत । हे नैषध! मैं दमयन्तीके पास जाकर तुम्हारी वार्त्ता इस प्रकारसे कहूंगा, कि जिससे वह तुमको छोड कर कदापि दूसरे पुरुष की इच्छा न करेगी । (१६–२१)

राजाने हंसकी यह बात सुनकर उसे छोड दिया, वे सब हंस आकाशको उडके विदर्भ पहुंचे । वहां जाकर दमयन्तीके घरमें उतरे तब सखियोंके समेत दमयन्ती उन विचित्ररूपी पक्षियों

सा तानद्भुतरूपान्वै दृष्ट्वा सखिगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥ २४ ॥
अथ हंसा विससृपुः सर्वतः प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान्हंसान्समुपाद्रवन् ॥ २५ ॥
दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाऽब्रवीत् ॥ २६ ॥
दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत्स्वयम् ॥ २७ ॥
तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ।
सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ॥ २८ ॥
वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ।
दृष्टवन्तो न चाऽस्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ॥ २९ ॥
त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः ।
विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान्भवेत् ॥ ३० ॥
एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशांपते ।
अब्रवीत्तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नले वद ॥ ३१ ॥

को देखके प्रसन्न होकर शीघ्रता सहित पकडनेको दौडी। तब सब हंस उन कन्याओंके झुण्डमें इधर उधरको भागने लगे। तब एक एक हंसके पीछे एक एक कन्या हो गई। (२२—२५)

जिस हंसके पीछे दमयन्ती दौडी वह पास हो गया और वहां मनुष्यों की बोली बनाकर दमयन्तीसे ऐसा बोला, हे दमयन्ति! निषध देशमें नल नामक राजा अश्विनीकुमारके समान रूपवान हैं, मानों साक्षात कामदेवने मूर्त्ति धारण करी है। उसके समान सुन्दर कोईभी पुरुष नहीं है, हे उत्तम रङ्गवाली! हे सुमध्यमे! यदि तू उनकी स्त्री बने तो तेरा जन्म और रूप सफल हो। (२६—२८)

हमने सब देवता, गन्धर्व, मनुष्य, राक्षस और सर्पोंको देखा है, परन्तु उनके ऐसा सुन्दर कोईभी नहीं मिला; तुमभी स्त्रियोंमें रत्न हो और नलभी पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, उत्तम से उत्तम ही का मिलना उत्तम है। हे राजन्! हंसकी ऐसी बात सुनकर दमयन्तीने हंससे कहा, कि तुम नलसे जाकरभी ऐसाही कह दो। हे

तथेत्युक्त्वाऽण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशांपते ।
पुनरागम्य निषधान्नले सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३२ ॥ [२१२६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसदमयन्तीसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

बृहदश्व उवाच— दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत ।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥ १ ॥
ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा ।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ॥ २ ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना ।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाऽथ हृच्छयाविष्टचेतना ॥ ३ ॥
न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ॥ ४ ॥
तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः ।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीजनः ॥ ५ ॥
न्यवेदयत्तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ॥ ६ ॥
चिन्तयामास तत्कार्यं सुमहत्स्वां सुतां प्रति ।

प्रजानाथ ! विदर्भ राजकन्याकी बात स्वीकार करके हंस वहांसे चले और नलसे आकर सब कह दिया। (२९-३२) २१२६

वनपर्वमें तिरपन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें चौवन अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे भारत ! हंसकी वाणी सुनतेही दमयन्ती अपनी स्वस्थ दशामें न रही, उसी दिनसे चिन्तासे व्याप्त, दीन, दुर्बल होगई, मुखका रङ्ग बदल गया; बार बार सांस लेने लगी, उन्मत्तके समान केवल ऊपर हीको देखने लगी, केवल ध्यानहीमें रहने लगी; शरीरका रंग पीला होगया, कामदेवने हृदयमें स्थान बनाया, उसका सेज, भोग और आनन्दमें कहींभी चित्त न लगने लगा; निद्राने दिन और रात नेत्रको छोड दिया; केवल हाय हाय करके रोने लगी । (१–४)

दमयन्तीकी इस शोचनीय दशाको देखकर उसकी सखियोंने चिन्होंसे जान लिया और विदर्भराजको उसकी सब दशा कह सुनाई । राजा भीमने सखियोंके मुखसे अपनी पुत्रीकी यह सब दशा सुनकर उसके महा कार्यका विचार किया।

किमर्थं दुहिता मेऽद्य नाऽतिस्वस्थेव लक्ष्यते ॥ ७ ॥
स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मना कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ॥ ८ ॥
स संनिमन्त्रयामास महीपालान्विशांपतिः ।
अनुभूयतामयं वीराः स्वयंवर इति प्रभो ॥ ९ ॥
श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात्॥१० ॥
हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम् ।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः ॥ ११ ॥
तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम् ।
यथार्हमकरोत्पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः ॥ १२ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ ॥ १३ ॥
नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ ॥ १४ ॥
तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम् ।
पप्रच्छाऽनामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः ॥ १५ ॥

मेरी पुत्री आज कल अत्यन्त अस्वस्थ के समान क्यों दीखती है, अनन्तर राजाने देखा, कि इसको यौवन अवस्था प्राप्त हुई; अब इसका स्वयंवर अवश्य करना चाहिये । (५—८)

अनन्तर राजाने सब राजोंको निमन्त्रण दिया और कहला भेजा, कि हे वीर लोगो ! इस स्वयंवरको आकर देखिये, सब राजालोग भीमकी आज्ञा सुन दमयन्तीका स्वयंवर जान हाथी घोडे और रथोंके शब्दसे पृथ्वीको पूर्ण करते हुए विचित्र माला और आभूषणों कर कोईभी करके देखने योग्य सेनाको सङ्ग ले विदर्भ नगरमें आये । महाबाहु राजा भीमने उन आये हुए सब महात्मा राजोंकी यथायोग्य पूजा करी, वे सब लोग पूजा पाकर वहां ठहरे । (९-१२)

इसी बीचमें देवऋषियोंमें मुख्य महात्मा पर्वत और नारद घूमते हुए इन्द्रलोकमें गये । यह दोनों महाबुद्धिमान महाव्रतधारी मुनि पूजायुक्त इन्द्रके भवनमें गये, अनन्तर भगवान इन्द्रने इन दोनोंकी पूजा करके कुशल और सर्वगत आनन्द पूछा । (१३—१५)

नारद उवाच— आवयोः कुशलं देव सर्वत्रगतमीश्वर ।
लोके च मघवन्कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो ॥ १६ ॥

बृहदश्व उवाच — नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा ।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः ॥ १७ ॥
शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः ।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक् ॥ १८ ॥
क नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम् ।
आगच्छतो महीपालान्दयितानतिथीन्मम ॥ १९ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत ।

नारद उवाच— शृणु मे मघवन्येन न दृश्यन्ते महीक्षितः ॥ २० ॥
विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता ।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः ॥ २१ ॥
तस्याः स्वयंवरः शक्र भविता न चिरादिव ।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २२ ॥
तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः ।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन ॥ २३ ॥

नारद बोले, हे देव ! हे ईश्वर ! हे मघवन् ! हम लोग सदाही कुशली रहते हैं ; हे विभो ! सब जगतके राजा लोग भी आनन्दसे हैं । (१६)

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, नारदके ऐसे वचन सुनकर वृत्रासुरके मारने वाले इन्द्र ऐसा कहने लगे ; हे मुने ! जो क्षत्री लोग, पृथ्वीके स्वामी, प्राण देकर युद्ध करनेवाले हैं ; जो युद्धमें विना भागे हुए शस्त्रसे प्राण देते हैं; यह लोक जिस तरह मेरे लिये अक्षत है, उनको भी है ; उन अपने प्यारे शूर वीर क्षत्रियोंको जो पाहुने होकर मेरे यहां आते थे, आजकल नहीं देखता हूं; वे सब धर्मज्ञ क्षत्री कहां हैं ? इन्द्रके वचन सुनकर नारद कहने लगे । (१७-२०)

नारद बोले, हे मघवन् ! जिस कारणसे क्षत्री नहीं दीखते सो आप सुनिये, विदर्भराजकी पुत्री जिसका नाम दमयन्ती है,जिसके समान रूपवती स्त्री पृथ्वीमें कोई नहीं है, इन्द्र ! उसका स्वयं-वर शीघ्रही होनेवाला है। वहीं सब राजा और राजपुत्र जाते हैं; हे बलवृत्रनाशक! उसीको प्राप्त करनेकी अधिक इच्छासे सब राजा और राजपुत्र गये हैं, क्योंकि वह मनुष्यलोकमें रत्न है ! (२०—२३)

एतस्मिन्कथ्यमाने तु लोकापालाश्च साग्निकाः ।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः ॥ २४ ॥
ततस्ते शुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत् ।
श्रुत्वैव चाऽब्रुवन्हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ॥ २५ ॥
ततः सर्वे महाराज सगणाः सहवाहनाः ।
विदर्भानभिजग्मुस्ते यतः सर्वे महीक्षितः ॥ २६ ॥
नलोऽपि राजा कौन्तेय श्रुत्वा राज्ञां समागमम् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ॥ २७ ॥
अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम् ।
साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसंपदा ॥ २८ ॥
तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम् ।
तस्थुर्विगतसंकल्पा विस्मिता रूपसंपदा ॥ २९ ॥
ततोऽन्तरिक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः ।
अब्रुवन्नैषधं राजन्नवतीर्य नभस्तलात् ॥ ३० ॥
भो भो निषधराजेन्द्र नल सत्यव्रतो भवान् ।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ॥ ३१ ॥[२१५७]

इति श्रीमहा० शत० वैयासिक्यामारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणिन्द्रनारदसंवादे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

उसी समय इन्द्रके पास समस्त लोकपाल और देवतोंमें श्रेष्ठ अग्नि देव भी आगये उन्होंने भी नारदके सब वचनोंको सुनकर वहां जानेका निश्चय किया । हे महाराज ! अनन्तर वे सब लोग अपने अपने साथियोंको लेके वाहनों पर चढकर उस विदर्भ नगरको आये, जहां सब राजा लोग थे। (२४-२६)

हे कुन्तीनन्दन ! राजा नल भी सब राजोंको आए हुए सुनकर दमयन्तीकी इच्छासे प्रसन्न चित्तसे स्वयंवरमें आये। मार्गमें आते देवतोंने पृथ्वीमें स्थित नलको ऐसा देखा, कि मानो साक्षात् कामदेवही सम्पदाओंके सहित रूप धारण करके आया है, लोकपालोंने उन्हे सूर्यके समान तेजस्वी देखकर और उनके रूपसे विस्मित होकर अपनी इच्छाको छोड दिया । तब सब देवतोंने अपने अपने विमानोंको रोक कर पृथ्वीमें आकर नलसे कहा, हे नैषध! हे राजेन्द्र ! आप सत्यव्रतधारी हो ; सो हमारी सहायता करो, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! हमारे दूत बनो। (२७-३१) [२१५७]

वनपर्वमें चौवन अध्याय समाप्त ।

बृहदश्व उवाच— तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत ।
अथैतान्परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ १ ॥
के वै भवन्तः कश्चाऽसौ यस्याऽहं दूत ईप्सितः ।
किंच तद्वो मया कार्यं कथयध्वं यथातथम् ॥ २ ॥
एवमुक्ते नैषधेन मघवानभ्यभाषत ।
अमरान्वै निबोधाऽस्मान्दमयन्त्यर्थमागतान् ॥ ३ ॥
अहमिन्द्रोऽयमग्निश्च यथैवाऽयमपां पतिः ।
शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ॥ ४ ॥
त्वं वै समागतानस्मान्दमयन्त्यै निवेदय ।
लोकपाला महेन्द्राद्याः समायान्ति दिदृक्षवः ॥ ५ ॥
प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्व ह ॥ ६ ॥
एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
एकार्थं समुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ॥ ७ ॥
कथं तु ज्ञातसंकल्पः स्त्रियमुत्सहते पुमान् ।

वनपर्वमें पचपन अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे भारत ! देवतोंके ऐसे वचन सुनकर नलने देवतोंसे प्रतिज्ञा की, कि हम आप लोगोंका दूत कार्य करेंगे, अनन्तर हाथ जोडकर बोले, आप लोग कौन हैं ? और जिसके पास मुझको भेजना चाहते हैं, वह कौन है ? और यहभी कहिये कि हम आप लोगोंका क्या काम करेंगे ? नलके ऐसे वचनको सुन कर इन्द्र बोले, कि हम लोग देवता हैं, और दमयन्तीके निमित्त यहां आये हैं । हम इन्द्र, यह अग्नि, और यह वरुण हैं ; हे महाराज ! यह सब पुरुषोंका नाश करनेवाले यमराज हैं ; तुम दमयन्तीसे हमलोगोंके आनेका समाचार ऐसे कहना कि इन्द्रआदिक सब लोकपाल तुम्हारे देखनेको आये हैं । वह लोग तुमको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं । इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम इनमेंसे जिनको तुम्हारी इच्छा हो, उसी एकको पति बनालो । (१-६)

इन्द्रके ऐसे वचन सुनकर नल हाथ जोडकर बोले, आपलोग एक प्रयोजन के लिये आये हुए मुझको भेजनेके योग्य नहीं हैं, हे लोकपालो ! अपने मनमें सङ्कल्प की हुई स्त्रीको किस प्रकार छोड सकता हूं, और दूसरेके

परार्थमीदृशं वक्तुं तत्क्षमन्तु महेश्वराः ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः— करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध ।
न करिष्यसि कस्मात्त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ॥ ९ ॥

बृहदश्व उवाच— एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत् ।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥ १० ॥
प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाऽभ्यभाषत ।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम्॥ ११ ॥
ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम् ।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥ १२ ॥
अतीव सुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम् ।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ॥ १३ ॥
तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम् ।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥ १४ ॥
ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः परमाङ्गनाः ।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥ १५ ॥
प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः ।

निमित्त ऐसे वचनोंको कैसे कह सकता हूं ? देवतालोग बोले, हे नैषध ! आपने पहले कहा था, कि हम इस कार्यको करेंगे, सो अब करनाही होगा, जाइये देर मत कीजिये । (७—९)

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, निषधराज देवोंके ऐसे वचन सुनकर बोले, हे देवलोगो ! दमयन्तीका स्थान बहुत रक्षित है, सो मैं वहां कैसे जा सकूंगा ? इन्द्रने कहा कि हम तुमको पहुंचा देंगे । हे युधिष्ठिर! नल उनके वचनको स्वीकार करके दमयन्तीके स्थानमें गये। वहां सखियोंके समेत दमयन्तीको देखा, वह अपने शरीरकी शोभा और तेजसे प्रकाशमान हो रही थी, वह उत्तम वर्णवाली, बहुत सुकुमारी, पतलीकमर और अच्छे नेत्रवाली इस प्रकार विराज मान थी, मानो अपने तेजसे चन्द्रमा का निरादर कर रही है।उस उत्तम हंसनेवाली को देखनेसेही नलके शरीरमें कामदेव बढने लगा;परन्तु सत्य कहने के अभिप्रा-यसे उस ने काम को रोका। (१०-१४)

अनन्तर दमयन्तीकी सखी नलको देखकर उसके तेजसे घबडाकर अपने अपने आसनोंसे उठीं, और परम सन्देह को प्राप्त हुईं और प्रीति तथा आश्चर्यके

न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ॥ १६ ॥
अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः ।
कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति॥ १७ ॥
न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन ।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गनाः ॥ १८ ॥
अथैनं स्मयमानं तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥ १९ ॥
कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्धन ।
प्राप्तोऽस्यमरवद्वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ॥ २० ॥
कथमागमनं चेह कथं चाऽसि न लक्षितः ।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।

नल उवाच—
नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहाऽऽगतम् ॥ २२ ॥
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥ २३ ॥
तेषामेव प्रभावेण प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाऽप्यवारयत् ॥ २४ ॥

सहित नलकी सब प्रशंसा करने लगीं, परन्तु कोई उनसे बोल न सकीं । केवल मनहीमें पूजा करने लगी । इस महात्मा के रूप, तेज और धैर्यकी धन्य है, यह कोई देवता, यक्ष, गन्धर्व है, अथवा न जाने कौन है । वे सब उत्तम स्त्रियां उसके तेजसे घबराकर और लज्जाके वशमें होकर नलसे कुछभी न कह सकीं।१५-१८

अनन्तर हंसते हुए वीर नलसे हंसकर बात करनेवाली आश्चर्यवती दमयन्ती बोली,हे पापरहित! हे उत्तम शरीर वाले! हे मेरे कामदेवके बढानेवाले! तुम कौन हो ? और यहां देवतोंके समान आप क्यों आये हो ? आते हुए तुमको किसीने क्यों नहीं देखा ? क्योंकि मेरे स्थानकी बहुतही रक्षा है, और राजाकी आज्ञाभी कठोर है । विदर्भराजपुत्री के ऐसे वचन सुनकर नल कहने लगे१९-२२

नल बोले, हे कल्याणि ! मैं नल हूं। देवतोंका दूत बनकर यहां आया हूं। इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम आपको प्राप्त करना चाहते हैं,तुम किसी एक देवताको पति बनालो, उन्हीकी शक्तिसे मैं छिपकर यहां आया हूं, मुझको यहां आते न

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि॥ २५ ॥[२१८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

बृहदश्व उवाच— सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन्किं करवाणि ते ॥ १ ॥
अहं चैव हि यच्चाऽन्यन्ममाऽस्ति वसु किंचन ।
तत्सर्वं कुरु विश्रब्धं तव प्रणयमीश्वर ॥ २ ॥
हंसानां वचनं यत्तु तन्मां दहति पार्थिव ।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः संनिपातिताः ॥ ३ ॥
यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥ ५ ॥
येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम् ।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ॥ ६ ॥

किसीने देखा, न किसीने रोका, हे भद्रे! हे शुभे! इसी लिये मुझको देवतोंने भेजा है। अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो तैसा करो। (२३—२५) [२१८२]

वनपर्वमें पचपन अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छप्पन अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, दमयन्ती नलके वचन सुनतेही देवतोंको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने लगी, और नलसे कहने लगी, कि हे राजन्! आप मुझसे विवाह कीजिये, कहिये मैं आपका कौन कार्य करूं। हे महाराज! मैं और मेरा जो कुछ धन है, सो सब आपहीका है। हे नाथ! आप विश्वासपूर्वक मुझसे विवाह कीजिये। वीर! हे राजन्! हंसोंकी बात मेरे चित्तको दुःख दे रही है, मैंने केवल आपहीके बुलानेकी इच्छासे इन सब राजोंको बुलाया है। हे मानव! यदि आप भक्तिवाली मुझको ग्रहण नहीं कीजियेगा, तो मैं विष, अग्नि, जल अथवा रस्सी प्रयोगसे मर जाऊंगी। (१–४)

दमयन्ती के वचन सुनकर नल बोले कि, देवतोंको छोडकर मनुष्यकी इच्छा क्यों करती हो? मैं महात्मा ईश्वर लोकपालोंकी चरणधूलिके समान भी

विप्रियं ह्याचरन्मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ॥ ७ ॥
विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा ।
भूषणानि तु मुख्यानि देवान्प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ॥ ८ ॥
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः ।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत्पतिम् ॥ ९ ॥
यस्य दण्डभयात्सर्वे भूतग्रामाः समागताः ।
धर्ममेवाऽनुरुध्यन्ति का तं न वरयेत्पतिम् ॥ १० ॥
धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम् ।
महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत्पतिम् ॥ ११ ॥
क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे ।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु ॥ १२ ॥
नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाऽथ वारिणा ॥ १३ ॥
देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते ।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

नहीं हूं; अतएव, तुम अपने चित्तको उन्हींमें लगाओ, क्योंकि देवतोंका द्वेष करके पुरुष नष्ट हो जाता है, अतएव हे सुन्दरि! तुम हमारी रक्षा करो, किसी उत्तम देवताको पति बनाओ, तुम निर्मल वस्त्र, विचित्र माला और भारी आभूषण प्राप्त करके आनन्द करना, जो अग्नि सब देवतोंका स्वामी है, जो इस सब पृथ्वीको जला सकता है, कौन स्त्री उसको पति नहीं करना चाहती? (५-९)

जिसके दण्डके भयसे सब प्राणी धर्म करनेकी इच्छा करते हैं, उसको पति बनानेकी किसको इच्छा नहीं होगी ? धर्मात्मा, महात्मा, दैत्य और दानवोंको मारनेवाले सब देवतोंके स्वामी इन्द्रको पति बनानेकी इच्छा किस स्त्री को न होगी ? यदि तुम्हारी इच्छा हो तो शङ्का रहित होकर लोकपालोंमें श्रेष्ठ वरुणको पति बनाओ, इस मेरे वचनको मित्रके वचनके समान मानो । (१०-१२)

नलके ऐसे वचन सुनकर दमयन्ती शोककी आंसुओंसे नेत्रोंको भरकर देवतोंको नमस्कार करके बोलने लगी ' मैं आपहीको अपना पति बनाती हूं, मेरे इस वचनको आप सत्य मानिये ।' (१३-१४)

तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
दौत्येनाऽऽगत्य कल्याणि तथा भद्रे विधीयताम् ॥१५॥
कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः ।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे ॥ १६ ॥
एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः ।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १७ ॥
ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ॥ १८ ॥
उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर ।
येन दोषो न भविता तव राजन्कथंचन ॥ १९ ॥
त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः ।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः ॥ २० ॥
ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर ।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशांपते ।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ॥ २२ ॥
तमपश्यंस्तथाऽऽयान्तं लोकपाला महेश्वराः ।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन्वृत्तान्तं सर्वमेव तम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार कहकर हाथ जोडे और कांपनेवाली दमयंतीसे नल बोले, कल्याणी मैं दूत बनकर आया हूं, हे भद्रे ! मैं जो तुमसे कहता हूं, सो मानलो। दूसरोंके लिये यहां आकर यह स्वार्थका साधन उचित नहीं। विशेषकर देवोंको वचन दिया है। अतः स्वार्थ और धर्म दोनों सिद्ध हो ऐसा करो। (१५—१७)

अनन्तर उत्तम हंसनेवाली दमयन्ती रोती हुई धीरे धीरे राजा नलसे बोली, हे नरनाथ ! हे राजन् ! मैंने एक पाप-रहित उपाय ठीक किया है, जिसके करनेसे आपको कुछ दोष न होगा, हे श्रेष्ठ ! मेरे स्वयंवरमें सब राजा इन्द्र आदिक देवता और आपभी बैठियेगा, हे नरव्याघ्र ! हे नरश्रेष्ठ ! सब लोक-पालोंके आगे मैं आपहीको वर करूंगी, ऐसा करनेसे आपको कुछ दोष न होगा। विदर्भराजपुत्री निषधराज नलसे जब ऐसा कह चुकी, तब राजा नल उसी स्थानको चले गये, जहां देवता लोग थे। महेश्वर और लोकपाल इन्हे फिरते

कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन्दमयन्ती शुचिस्मिता।
किमब्रवीच्च नः सर्वान्वद भूमिपतेऽनघ ॥ २४ ॥

नल उवाच— भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम्।
प्रविष्टः सुमहाकक्षं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम् ॥ २५ ॥
प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान्नरः।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा ॥ २६ ॥
सख्यश्चाऽस्या मया दृष्टास्ताभिश्चाऽप्युपलक्षितः।
विस्मिताश्चाऽभवन्सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः ॥ २७ ॥
वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना।
मामेव गतसंकल्पा वृणीते सा सुरोत्तमाः ॥ २८ ॥
अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः।
त्वया सह नरव्याघ्र मम यत्र स्वयंवरः ॥ २९ ॥
तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध।
एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ॥ ३० ॥
एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुपाहृतम्।
मया शेषे प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥३१॥ [२२१३]

इति श्रीमहा०शत०वैयासिक्यासारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्तृकदेवदौत्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः५६

देखके सब वृत्तान्त पूंछने लगे। हे पाप-रहित राजन्! तुमने क्या उत्तम हंसने वाली दमयन्तीको देखा है? कहो उसने हम लोगोंको क्या कहा है? (२२-२४)

नल बोले, मैं आप लोगोंकी आज्ञासे दमयन्तीके उस भवनमें गया, जिसकीरक्षा बहुतसे पहरेवाले करते थे, और जो चारों ओर वृद्धोंसे घिरा हुआ है, आपही लोगों के प्रतापसे विदर्भ राजपुत्री दमयन्ती के सिवाय मुझे वहां कोई न देख सका, पश्चात् मैंने सखियोंको देखा और उन्होंनेभी मुझे पहिचाना। हे देवपति-गण! वह सब मुझे देखकर आश्चर्य करने लगीं। हे देवगण! मैंने प्रसन्नमुखी दम-यन्तीके सामने आपलोगोंकी कथाको कहा। वह आपलोगोंके संकल्पको सुनके मुझेही व्याहनेके वास्ते उद्यत हुई और बोली, हे निषधराज! आप और देवता सब मिलके मेरे स्वयंवरकी सभामें आ-ना। मैं उनके समीप आपको वरूंगी। हे महाभुज! ऐसा करनेसे आपको कोई दोष नहीं होगा। हे लोकपालगण! मैंने सब ठीक वहांकी बात कहदी, अब जो आपलोगोंकी इच्छा हो वही ठीक

बृहदश्व उवाच——अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा ।
आजुहाव महीपालान्भीमो राजा स्वयंवरे ॥ १ ॥
तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः ।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ॥ २ ॥
कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम् ।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाऽचलम् ॥ ३ ॥
तत्राऽऽसनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः ।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥
तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
संपूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥
देवगन्धर्वपतयो ददृशुर्विस्मयान्विताः ।
पौरजानपदाश्चैव ये तत्राऽऽसन्समाहिताः ॥ ६ ॥
तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः ।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ७ ॥
सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च ।

है। (२५—३१) [२२१३]

वनपर्वमें छप्पन्न अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सतावन अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, पश्चात् राजा भीमने शुभकाल, पवित्र मुहूर्त और तिथिमें राजा लोगोंको स्वयंवरकी सभामें बुलाया। राजा लोग उसे जानकर काम बाणसे पीडित हो, दमयन्तीको पाने की इच्छासे शीघ्रता के साथ स्वयंवर की सभामें आये। जिस रीतिसे सिंहका झुण्ड पर्वतमें जाता है,उसी प्रकारसे वह लोग तोरण और बन्दनवारसे सजे हुए सोनेके खंभोंसे शोभायमान रङ्गमण्डप में पहुंचे। उत्तम मणिजटित कुण्डलोंको धारण किये, सुगन्धसनी मालाओंको पहने राजालोग अनेक प्रकारके आसनोंपर आकर बैठे तो सभाकी शोभा बहुतही मनोहर जान पडने लगी। नाग लोगोंसे भरी हुई भोगवती पुरीके समान वा सिंहोंसे पूर्ण पहाडकी गुफाके समान वह भूपालोंसे पूरित सभा शोभाको प्राप्त होने लगी। (१—६)

देव और गंधर्वोंके अधिपति तथा अन्य नागरिकोंने भी उस पुरीका सौन्दर्य आश्चर्यसे अवलोकन किया। परिघके समान मोटी और मनोहर विशाल भुजा पांच फणाधारी सर्पके समान भान होती थीं। इस प्रकार जैसे अन्तरिक्षमें तारागण

मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ८ ॥
दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ९ ॥
तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताऽभून्न चचाल च पश्यताम् ॥ १० ॥
ततः संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान्पञ्च तुल्याकृतीनिह ॥ ११ ॥
तान्समीक्ष्य ततः सर्वान्निर्विशेषाकृतीन्स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाऽभ्यजानान्नलं नृपम् ॥ १२ ॥
यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ॥ १३ ॥
सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याऽथ तर्कयामास भाविनी ।
कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ॥ १४ ॥
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ।
श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ॥ १५ ॥
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ।

शोभायमान होते हैं, वैसेही सुंदरकेश युक्त तथा उत्तम आंख नाक और भौंहों से युक्त राजा लोगोंके मुखकी शोभा दीख पडने लगी। इसके अनन्तर सुन्दर मुखवाली दमयन्ती अपने रूप और लावण्यसे राजा लोगोंके नेत्र और मनको खींचती हुई राजसभामें आई। उन सब महात्मा राजालोगोंकी दृष्टि दमयन्तीके जिस अङ्गपर पडी, वहीं रह गयी, अर्थात् वहांसे और जगह न जासकी। (८-१०)

हे भारत ! इसके पश्चात् सभामें बैठे राजालोगोंके नाम और कुलोंका वर्णन होनेके पश्चात् दमयन्तीने एकही स्वरूप के पांच पुरुषोंको सभामें बैठे देखा और उन सबको एकही आकृति और रङ्गका देख कर सन्देहमें पडी और राजा नल को न पहचान सकी। वह सुन्दरी उन पांचोंमेंसे जिसको देखती थी, उसीको नल समझती थी, उसको इससे बहुतही शोक हुआ और बुद्धिसे तर्क करने लगी, कि मैं किस प्रकारसे देवतोंको पहचानूं और कैसे राजा नलको समझूं ? हे भारत ! विदर्भ राजा नन्दिनी ऐसा विचार कर बहुतही व्याकुल हुई। (११--१४)

उसने जो पहले देवतोंके लक्षण सुने थे, उनको याद करके मनमें कहने लगी, कि वृद्धोंसे जो मैंने देवतोंके चिन्ह सुने हैं, उनमें से एक भी इन देवतोंमें नहीं

तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्याऽपि न लक्षये ॥ १६ ॥
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः।
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ॥ १७ ॥
वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा।
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ॥ १८ ॥
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १९ ॥
मनसा वचसा चैव यथा नाऽभिचराम्यहम्।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २० ॥
यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २१ ॥
यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याऽऽराधने मया।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २२ ॥
स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः।
यथाऽहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥ २३ ॥
निशम्य दमयन्त्यास्तत्करुणं प्रतिदेवितम् ।

दीखते ; ऐसे वारंवार चिन्ताकरके निश्चय किया, कि मुझे इस समय देवतोंकी शरणमें जानेके अतिरिक्त और कोई उपाय अपने कल्याणका नहीं सूझता। तब कांपनेवाली दमयन्तीने हाथ जोडकर वाणीसे और मनसे देवतोंको नमस्कार करके कहा, कि मैंने जिस समयसे हंसों की वाणी सुनी थी, तबही निषध-देशके राजा नलको पति बनानेका सङ्कल्प किया था। हे देवता लोगो! आप सत्यके प्यारे हैं, मेरे सत्यकी रक्षा कीजिये नलको मुझे बतला दीजिये। (१८-१९)

मैंने याद मनसे भी व्यभिचारकी इच्छा न की हो, तो मेरे सत्यकी रक्षा करनेको देवता लोग नलको बतला दें। जिन देवतोंने नलको मेरा पति बना दिया है, वही देवतालोग सत्यकी रक्षा करनेके वास्ते नलको मुझे बता दें, और मैंने नलको पानेकेवास्ते ही यह स्वयंवर रचा है। यदि यह सत्य हो, तो देवता लोग मुझे नलको बतादें। महेश्वर लोकपाल अपने अपने रूपको धारण कर लें, तो मैं पुण्यकीर्त्ति राजा नलको पहचान लूं। (२०--२३)

देवतालोग विदर्भ-राजपुत्रीके शोक और विलापसे भरे वाक्योंको सुनकर

निश्चयं परमं तथ्यमनुरागं च नैषधे ॥ २४ ॥
मनोविशुद्धिं बुद्धिं च भक्तिं रागं च नैषधे।
यथोक्तं चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ॥ २५ ॥
साऽपश्यद्विबुधान्सर्वानस्वेदान्स्तब्धलोचनान् ।
हृषितस्रग्रजोहीनान्स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥ २६ ॥
छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥ २७ ॥
सा समीक्ष्य तु तान्देवान्पुण्यश्लोकं च भारत ।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ॥ २८ ॥
विलज्जमाना वस्त्रान्तं जग्राहाऽऽयतलोचना ।
स्कन्धदेशेऽसृजत्तस्य स्रजं परमशोभनाम् ॥ २९ ॥
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी ।
ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ॥ ३० ॥
देवैर्महर्षिभिस्तत्र साधु साध्विति भारत ।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ॥ ३१ ॥
दमयन्तीं तु कौरव्य वीरसेनसुतो नृपः ।
आश्वासयद्वरारोहां प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ३२ ॥
यत्त्वं भजासि कल्याणि पुमांसं देवसंनिधौ ।

और राजा नलमें उसकी सच्ची प्रीति, शुद्ध प्रेम, मनकी शुद्धि और भक्तिको जानकर अपने अपने रूपको धारण कर लिया, पश्चात् दमयन्तीने देवता लोगोंको छाया रहित, पसीना रहित, पलकके खोलने और बन्द करनेसे रहित नेत्रवाले, न मुर्झानेवाली माला पहने देखा और राजा नलको छाया-सहित, मुर्झानेवाली माला पहने, पसीनायुक्त, पलक मारते नेत्रयुक्त, भूमिमें स्थित देखा। (२४-२७)

हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! दमयन्ती देवता लोगोंको और राजा नलको पहचान कर लज्जायुक्त और प्रसन्न हुई। हे भारत ! सुन्दरवर्णवाली दमयन्तीने जब उसे पति बना लिया, राजा लोगोंने महा हाहाकार आरंभ किया, और देवता एवं महर्षिगण साधुसाधु कहके राजा नलकी प्रशंसा करने लगे। (२८-३१)

हे कुरुनन्दन ! वीरसेनके पुत्र नलने दमयन्तीको धीरज देके कहा, हे कल्याणि ! तुमने देवता लोगोंको छोडके मुझे वर किया, इस कारण आजसे

तस्मान्मां विद्धि भर्तारमेतत्ते वचने रतम् ॥ ३३ ॥
यावच्च मे धरिष्यन्ति प्राणा देहे शुचिस्मिते ।
तावत्त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥
दमयन्ती तथा वाग्भिरभिनन्द्य कृताञ्जलिः ॥ ३४ ॥
तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ।
तानेव शरणं देवाञ्जग्मतुर्मनसा तदा ॥ ३५ ॥
वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाऽष्टौ वरान्ददुः ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चाऽनुत्तमां शुभाम् ।
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ॥ ३७ ॥
अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः ।
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ॥ ३८ ॥
यमस्त्वन्नरसं प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम् ।
अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ॥ ३९ ॥
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ।
वरानेवं प्रदायाऽस्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ॥ ४० ॥
पार्थिवाश्चाऽनुभूयाऽस्य विवाहं विस्मयान्विताः ।

मुझे अपना आज्ञाकारी पति समझना । हे मन्दहासिनी ! मैं तुमसे सत्य कहता हूं, कि जबतक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे, तबतक मैं तुम्हारा रहूंगा । दमयन्तीनेभी हाथ जोडके राजा नलसे ऐसीही विनंती करी, उन दोनोंने परस्पर ऐसे प्रीतिमान होकर अग्नि आदि देवोंको मनसे नमस्कार किया । (३२-३५)

भीमपुत्री और नलका विवाह होनेके अनन्तर बडे प्रतापी लोकपाल और देवतोंने राजा नलको आठ वर दिये । इंद्रने यज्ञमें प्रत्यक्ष दर्शन देने और शुभ गति पानेका वर दिया । अग्निदेवने यह वर दिया कि जहां इच्छा करोगे वहीं अग्नि प्रत्यक्ष होगा और अग्नि सदृश लोक प्राप्त होंगे । यमने वर दिया, कि अन्नके उत्तम रसको जानोगे तथा धर्ममें तुम्हारी मति रहेगी।वरुणने कहा,कि जहां इच्छा करोगे वहीं जल तुम्हें प्राप्त होगा, एवं सुगन्ध भरी एक माला भी दी। इस प्रकार लोकपालोंने दो दो वर दान दिये । तदनन्तर लोकपाल स्वर्गको चले गये । (३६-४०)

राजालोग नल और दमयन्तीके विवाहको देखकर विस्मित और प्रसन्न होके

दमयन्त्याश्च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ ४१ ॥
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ।
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ॥ ४२ ॥
उष्य तत्र यथाकामं नैषधो द्विपदां वरः ।
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ॥ ४३ ॥
अवाप्य नारीरत्नं तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ।
रेमे सह तया राजञ्छच्येव बलवृत्रहा ॥ ४४ ॥
अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ।
अरञ्जयत्प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ॥ ४५ ॥
ईजे चाऽप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ।
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान्क्रतुभिश्चाऽऽप्तदक्षिणैः ॥ ४६ ॥
पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ।
दमयन्त्या सह नलो विजहाराऽमरोपमः ॥ ४७ ॥
जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतं चापि इन्द्रसेनां च कन्यकाम् ॥ ४८ ॥
एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः ।
ररक्ष वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥ ४९ ॥ [२२६२]

इति श्रीमहा० शत० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीस्वयंवरे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ५७

अपने अपने स्थानको चले जानेके अनन्तर महात्मा राजा भीमने प्रसन्न चित्त होके नल और दमयन्तीके विवाहकी शेष रीति समाप्त की। मनुष्यश्रेष्ठ निषधराजने अपनी इच्छाके अनुसार कुछदिनतक वहां निवास करके राजा भीमसे आज्ञा लेकर अपने नगरको प्रस्थान किया। हे राजन्! जैसे देवराज इन्द्र शचीके साथ विलास करते हैं, वैसेही राजा नल दमयन्तीके साथ विलास करने लगे, सूर्यके समान प्रतापी राजा नल प्रजाका धर्मपूर्वक प्रतिपालन करते हुए उनके मनको प्रसन्न रखने लगे। (४१—४५)

वह बुद्धिमान राजा नहुषके पुत्र ययातिके समान अश्वमेध तथा और और दक्षिणायुक्त यज्ञोंको करने लगे, एवं स्वर्गपति इन्द्रके समान वन और उपवन आदि मनोहर स्थानोंमें दमयन्तीके सहित विहार करने लगे। उस महात्मा राजा और दमयन्तीसे एक कन्या और पुत्र उत्पन्न हुए, पुत्रका नाम इन्द्रसेन और कन्याका नाम इन्द्रसेना रखा गया।

बृहदश्व उवाच— वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥
अथाऽब्रवीत्कलिं शक्रः संप्रेक्ष्य बलवृत्रहा।
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क यास्यसि ॥ २ ॥
ततोऽब्रवीत्कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
गत्वा हि वरयिष्ये तां मनो हि मम तां गतम् ॥ ३ ॥
तमब्रवीत्प्रहस्येन्द्रो निवृत्तः स स्वयंवरः।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः।
देवानामन्त्र्य तान्सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥
देवानां मानुषं मध्ये यत्सा पतिमविन्दत।
तत्र तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥
एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः।
अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥
का च सर्वगुणोपेतं नाऽऽश्रयेत नलं नृपम्।

हे पृथ्वीनाथ ! वह नरनाथ समय समय पर यज्ञ और विहार करते हुए धनभरी पृथ्वीका पालन करने लगे। (४६-४७)

वनपर्वमें सतावन अध्याय समाप्त। [२२६२]

वनपर्वमें अठावन अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, भीमपुत्री दमयन्तीके राजा नलको वर करनेके पश्चात् महा तेजस्वी लोकपालगण स्वर्गको जाते थे, तब उन्होंने रास्तेमें द्वापरके सहित कलियुगको आते देखा। बल और वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्रने उसे देखके कहा, कि हे कलियुग ! तुम द्वापरके सहित कहांको जाते हो ? पश्चात् कलियुगने इन्द्रसे कहा, कि मेरा मन दमयन्तीके ऊपर प्रसन्न है, इस लिये उसके स्वयंवरमें जाके उसे लूंगा। इन्द्रने हंसकर उससे कहा, कि वह स्वयंवर हो गया। भीमपुत्रीने हम लोगोंके सामने राजा नलको पति बनाया ! (१—४)

इन्द्रके ऐसे कहतेही कलियुगने क्रोध करके सब देवतोंसे पुकारके कहा, कि लोकपाल देवतोंको छोडके उसने मनुष्यको पति बनाया, इसी निमित्त उसको कठिन दण्ड देनाही न्याय्य है। कलियुगकी इस बातको सुनकर सब देवता लोगोंने उत्तर दिया, कि दमयन्तीने हमारी आज्ञाके अनुसारही नलको पति बनाया है, कहो तो कौन ऐसी स्त्री है

यो वेद धर्मानखिलान्यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥
योऽधीते चतुरो वेदान्सर्वानाख्यानपञ्चमान् ।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः ॥ ९ ॥
अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ।
यस्मिन्दाक्ष्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः॥ १० ॥
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ।
एवंरूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ॥ ११ ॥
आत्मानं स शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ।
एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ॥ १२ ॥
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे ।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ॥ १३ ॥
ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत् ।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ॥ १४ ॥
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान्समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥१५॥ [२२७७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिदेवसंवादेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८॥

सब गुणसे भरे नलको पति बनाना न चाहती हो। जिसने सम्पूर्ण व्रत किये हैं, चारों वेदोंको इतिहासके सहित पढा है,जिसके घरमें यज्ञोंके द्वारा देवतालोग नित्यही तृप्त होते हैं, जो कभी हिंसा नहीं करता, सत्यवादी, दृढ प्रतिज्ञावाला लोकपालोंके समान पराक्रमी, जो पुरुष सिंह राजा, सत्यमें, धैर्यमें, ज्ञानमें तपस्या दम और शममें,सर्वदाही स्थिर रहता है, हे कलियुग! ऐसे पुरुषको जो दण्ड देनेकी इच्छा करता है, वही मूर्ख दण्ड भोगता है, तथा अपने आपको विनाश करता है।हे कलियुग!ऐसे गुणयुक्त पुरुषको जो दण्ड देनेकी इच्छा करे वह अगाध नरक कुण्डमें डूबता है। (८–१३)

देवता लोग कलियुग और द्वापरसे ऐसे वचन कहके स्वर्गको चले गये। तत्पश्चात् कलियुगने द्वापरसे कहा, हे द्वापर! नल पर जो मेरा क्रोध हुआ है, उसे मैं नहीं रोक सकता। मैं उसे राज्य से भ्रष्ट और दमयन्तीसे पृथक् कर दूंगा, तुम पासेमें बैठकर मेरी सहायता करने की चेष्टा करो। (१३-१५) [२२७७]

वनपर्वमें अठावन अध्याय समाप्त।

बृहदश्व उवाच-- एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥ १ ॥
स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथाऽस्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥ २ ॥
कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्त नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥ ३ ॥
स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ॥ ४ ॥
अक्षद्यूते नलं जेता भवान्हि सहितो मया ।
निषधान्प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ॥ ५ ॥
एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ॥ ६ ॥
आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद्भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥
न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महात्मनः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ॥ ८ ॥

वनपर्वमें उनसठ अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, पश्चात् कलियुग द्वापरसे ऐसी प्रतिज्ञा करके निषध राजके पास आया और नलके दोषोंको देखनेके वास्ते बहुत दिनों तक नगरमें निवास करता रहा, बारह वर्षके पश्चात् कलियुगने राजा नलका एक दोष देखा, कि राजा नलने एक समय मूत्रत्याग करके विना पैर धोये आचमन करके सन्ध्योपासन किया, कलियुग उसका यह दोष देखकर उसके शरीरमें प्रवेशकर गया। वह एक रूपसे नलके शरीरमें घुसकर दूसरे रूपसे राजा नलके भाई पुष्करके पास गया और बोला, हे पुष्कर! तुम नलके साथ जूआ खेलो, तुम मेरी सहायतासे जुएमें नलको जीतोगे । इस लिये नलको जीत कर निषध देशका राज्य करो । (१-५)

कलियुगके ऐसे वचन सुनके पुष्कर नलके संमुख गया और कलियुगभी श्रेष्ठ फांसा बनके पुष्करके समीप चला गया, परवीरघाती पुष्कर वीर नलके पास जाके वारंवार कहने लगा, आओ भाई! हम तुम दोनों इस श्रेष्ठ फांसे से जुआ खेलें । महात्मा राजा नल दमयन्तीके सामने वारंवार पुष्करके बुलानेको न सह सके और उस समयको जुएके योग्य

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स्म नलस्तदा ॥ ९ ॥
तमक्षमदसंमत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिन्दमम् ॥ १० ॥
ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन्निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥
ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ॥ १२ ॥
निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥
ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता ।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥
राजन्पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः ।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ॥
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत ॥ १५ ॥
तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ।

समझा । कलियुगके प्रतापसे राजा नल उस समय जुएमें प्रवृत्त होकर पुष्करसे क्रम क्रमसे सोना चांदी सवारी वस्त्र दाव पर रख रख हारने लगे । (६---९)

शत्रुनाशी राजा नल जुएमें ऐसे मतवाले हुए, कि कोई मित्र उनको उस कर्मसे रोक न सका । हे भारत ! नगर निवासी और मन्त्री लोग राजाको जुए से रोकनेकेवास्ते राजभवनमें आये । अनन्तर सारथी ने महाराणी दमयन्तीसे प्रार्थना करी, कि हे देवि ! मन्त्रीगण और नगरनिवासी लोग द्वारपर खडे हैं, इस लिये आप महाराजसे विनंती कीजिये, कि महाराजके धर्म और अर्थको चाहनेवाली प्रजा महाराजके दुर्व्यसनको नहीं सह सकती; इस लिये द्वारपर खडी है । (१०—१३)

तब भीमपुत्री शोकसे व्याकुल होकर सब बात महाराजसे कहनेको गई और बोली, हे महाराज ! मन्त्रीगणके सहित नगरकी प्रजा राजभक्तिसे पूर्ण होके आपके दर्शन करनेके वास्ते राज-भवनके द्वार पर खडी है आपको उन्हें दर्शन देना उचित है । सुन्दर अंग वाली दमयन्तीने बार बार विलाप करके राजाको विनय सुनाई; परन्तु कलियुगके

आविष्टः कलिना राजा नाऽभ्यभाषत किंचन ॥ १६ ॥
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ।
नाऽयमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान् ॥ १७ ॥
तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।
युधिष्ठिर बहून्मासान्पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥ [२२९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूत एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

बृहदश्व उवाच— दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥
भयशोकसमाविष्टा राजन्भीमसुता ततः ।
चिन्तयामास तत्कार्यं सुमहत्पार्थिवं प्रति ॥ २ ॥
सा शङ्कमाना तत्पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम् ।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम् ।
हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥ ४ ॥
बृहत्सेने व्रजाऽमात्यानानाय्य नलशासनात् ।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद्वसु ॥ ५ ॥

वशमें होनेसे विनय करती हुई दमयन्तीको राजाने उत्तर न दिया। तब वह मन्त्री और पुरवासी यह कहते हुए कि "यह वह राजा नल नहीं हैं।" दुःखित और लज्जित होके अपने घर चले गये। हे युधिष्ठिर! नल और पुष्करका जुआ कई महीनों तक होता रहा; किन्तु नल ही उसमें हारे। (१४-१८) [२२९५]

वनपर्वमें उनसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें साठ अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, उत्तम कीर्त्तिवाले, महाराज नलको अच्छी दशावाली दमयन्तीने पागलके समान जुएमें उन्मत्त देखा, हे राजन्! भीमपुत्री भय और शोकसे व्याकुल होकर राजाके कल्याणकी चिन्ता करने लगी। उस पाप करनेवाले राजाका प्रिय चाहनेवाली दमयन्ती सर्वस्व हारे राजा नलके पास जाकर शंकाके सहित बृहत्सेना नामक आज्ञाकारिणी सदा हित करनेवाली उत्तम वचन कहनेवाली, भक्तिमती दासीसे ऐसा बोली, हे बृहत्सेने! तू जा और नलकी आज्ञासे सब मन्त्रियोंको लेआ और पूछ की धन कितना गया और कितना शेष है। १-५

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम् ।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ॥ ६ ॥
तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः ।
न्यवेदयद्भीमसुता न च तत्प्रत्यनन्दत ॥ ७ ॥
वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा ।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
निशम्य सततं चाऽक्षान्पुण्यश्लोकपराङ्मुखान् ।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ९ ॥
बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात् ।
सूतमानय कल्याणि महत्कार्यमुपस्थितम् ॥ १० ॥
बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम् ।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ११ ॥
वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया गिरा ।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ १२ ॥
जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग्वृत्तः सदा त्वयि ।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणैव जीयते ।

तब वे सब मन्त्री नलकी आज्ञा सुनकर हमाराभी भाग्य है, यह जान वहां आये, किन्तु नल दूसरी प्रकृतिवाले हो गये, तब उस दासीने जाकर दमयन्तीसे सब कह दिया, परन्तु दमयन्ती प्रसन्न न हुई। वह अपने वचनको न ग्रहण करनेवाले अपने पतिको उस अवस्थामें देखकर लज्जित हो फिर अपने घरको गई, वहां जाकर सुना, कि पासे नलसे विमुख हो गये, और राजा सब कुछ हार गये। तब दमयन्तीने धायसे पुनः कहा, हे बृहत्सेने ! तू शीघ्र जा और राजा नलकी आज्ञासे सारथीको बुलाला, हे कल्याणि ! बडा घोर समय आया है, बृहत्सेना दमयन्तीके वचन सुनकर उत्तम पुरुषोंके सहित वार्ष्णेयको बुलाने आई। (६—९)

आये हुए वार्ष्णेयसे देश कालके जाननेवाली अनिन्दिता दमयन्ती मीठे वचनसे ऐसा बोली। हे सूत ! तुमको यह स्मरण है, कि राजा तुम्हारे सङ्ग सदाही अच्छा आचरण करते थे, आपत्तिमें पडे हुए उस राजाकी सहायता करो। देखो पुष्करके सङ्ग जुआ खेलनेमें ज्यों ज्यों धन

तथा तथाऽस्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्धते ॥ १४ ॥
तथा च पुष्करस्याऽक्षाः पतन्ति वशवर्तिनः ।
तथा विपर्ययश्चाऽपि नलस्याऽक्षेषु दृश्यते ॥ १५ ॥
सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च ।
ममापि च तथा वाक्यं नाऽभिनन्दति मोहितः १६॥
नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः ।
यत्तु मे वचनं राजा नाऽभिनन्दन्ति मोहितः ॥ १७ ॥
शरणं त्वां प्रपन्नाऽस्मि सारथे कुरु मद्वचः ।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद्विनशेदपि ॥ १८ ॥
नलस्य दयितानश्वान्योजयित्वा मनोजवान् ।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १९ ॥
मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा ।
अश्वांश्चेमान्यथाकामं वस वाऽन्यत्र गच्छ वा ॥ २० ॥
दमयन्त्यास्तु तद्वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः ।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ २१ ॥
तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते ।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥ २२ ॥
हयास्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम् ।
इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ॥ २३ ॥

हारते हैं, त्यों त्यों इनकी इच्छा जुएमें बढती जाती है, और पुष्करकी इच्छासे नलके पासे उलटे पडते हैं। (१०-१५)

राजा मोहके वशमें होकर जैसे अपने पुरुषोंकी बात नहीं सुनते, तैसेही मेरी बातको भी नहीं मानते, हे सारथे! मैं जानती हूं कि महात्मा नलका दोष नहीं है, मैं तुम्हारी शरणमें हूं, मेरी रक्षा करो; क्योंकि मेरा मन शुद्ध नहीं होता है। अतएव इन लडकी लडकोंको कुण्डिन नगरमें पहुंचा आओ, इन बच्चे, रथ और घोडोंको मेरे बापके यहां छोडकर तुम वहीं रहना, या जहां इच्छा हो वहीं चला जाना। (१६-२०)

नलके सारथी वार्ष्णेयने दमयन्तीके वचन सुनके नलके मुख्य मन्त्रियोंसे कह सुनाई! हे राजन्! उन्होंने निश्चयकर उसको वैसीही आज्ञा दी। तब सारथी लडकी लडकेको रथपर चढाकर विदर्भ पुरको चला गया। लडकी, लडके, घोडे और

आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन्नलं नृपम् ।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ॥ २४ ॥
ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः ।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपते ॥२५॥ [२३२०]

इति श्रीमहा०शत०पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कुण्डिनं प्रति कुमारकुमारीप्रख्यापने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

बृहदश्व उवाच— ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः ।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चाऽन्यद्वसु किंचन ॥ १ ॥
हृतराज्यं नलं राजन्प्रहसन्पुष्करोऽब्रवीत् ।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥ २ ॥
शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया ।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३ ॥
पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना ।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ ४ ॥
ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान् ।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ॥ ५ ॥
एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः ।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥६॥

रथको वहीं छोडकर राजा भीमकी आज्ञाले नलके शोकसे व्याकुल हो पैरों अयोध्यामें आया और राजा ऋतुपर्णके यहां सारथीकी नौकरी करने लगा। (२१-२५)

वनपर्वमें साठ अध्याय समाप्त। २३१९]

वनपर्वमें इकसठ अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, वार्ष्णेय सूतके जानेके पश्चात राजा नल जो कुछ धन था, पुष्करसे हार गये। तब राज्य हारे हुए नलसे पुष्कर बोला, कि फिर जुआ खेलो। अब तुमको क्या धन शेष है? तुम्हारा सब धन हमने जीत लिया; परन्तु एक दमयन्तीही तुम्हारी रह गई है। यदि तुम अच्छा जानो, तो उस कोभी जुएपर लगा दो। पुष्करके वचन सुनते ही नलका हृदय क्रोधसे फटने लगा, परन्तु कुछ कह न सके। तब महाक्रोधी, महायशस्वी नलने पुष्करको देख अपने सब आभूषण उतार दिये। केवल एक धोतीही पहने रह गये, ऐसा देख उनके मित्रोंको महाशोक हुआ। १-६

अनन्तर सब राजलक्ष्मीको छोडकर वनको चले, दमयन्ती भी एक धोती पहनकर उनके पीछे चली। वह दमयन्ती

दमयन्त्येकवस्त्राऽथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥ ७ ॥
पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे ।
नले यः सम्यगातिष्ठेत्स गच्छेद्वध्यतां मम ॥ ८ ॥
पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च ।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
स तथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः ।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ॥ १० ॥
पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन् ।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात् ॥ ११ ॥
क्षुधया पीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि ।
अपश्यच्छकुनान्कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ॥ १२ ॥
स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली ।
अस्ति भक्ष्यो ममाऽद्याऽयं वसु चेदं भविष्यति १३॥
ततस्तान्परिधानेन वाससा स समावृणोत् ।
तस्य तद्वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा ॥ १४ ॥
उत्पतन्तः खगा वाक्यमेतदाहुस्ततो नलम् ।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम् ॥ १५ ॥

को सङ्ग ले तीन दिन नगरके बाहर रहे। अनन्तर पुष्करने नगरमें ढंढोरा दिलवा दिया, कि जो नलके साथ अच्छा वर्ताव रखेगा, उसको हम मार डालेंगे। पुष्करके ऐसे वचन सुनकर और उसका क्रोध नल पर देखकर किसी नगरनिवासीने नलका सत्कार न किया। (६-९)

सत्कारके योग्य राजा सत्कारको न पाकर तीन दिन पर्यन्त केवल जल पीकर नगरके समीप रहे। जब भूखसे अत्यन्त व्याकुल हुए, तो फल मूल तोड कर खाने लगे। अनन्तर दमयन्तीको सङ्ग ले वनको चले। एक दिन बहुत समय बीतने पर राजा नल भूखसे अत्यन्त व्याकुल हुये, और सोनेके पत्तेके समान रङ्गवाले पक्षियोंको देखा। बलवान नलने विचार किया कि यह हमारे खाने योग्य हैं, और धन भी है। तब अपने वस्त्रसे नलने उनको ढंक दिया (१०-१४)

वे सब पक्षी नलका वस्त्र लेकर आकाशको उड गये, और आकाशमें जाकर नङ्गे, दीन, नीचेको मुख किये पृथ्वीमें

वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे तव वासो जिहीर्षवः ।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि॥ १६॥
तान्समीपगतानक्षानात्मानं च विवाससम् ।
पुण्यश्लोकस्तदा राजन्दमयन्तीमथाऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
येषां प्रकोपादैश्वर्यात्प्रच्युतोऽहमनिन्दिते ।
प्राणयात्रां न विन्देयं दुःखितः क्षुधयाऽन्वितः॥ १८॥
येषां कृते न सत्कारमकुर्वन्मयि नैषधाः ।
इमे ते शकुना भूत्वा वासो भीरु हरन्ति मे ॥ १९ ॥
वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतनः ।
भर्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः ॥ २० ॥
एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् ।
अवन्तीमृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम् ॥ २१ ॥
एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा ।
आश्रमाश्च महर्षीणां बहुमूलफलान्विताः ॥ २२ ॥
एष पन्था विदर्भाणामसौ गच्छति कोसलान् ।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ॥ २३ ॥
एतद्वाक्यं नलो राजा दमयन्तीं समाहितः ।

बैठे नलसे ऐसा बोले, रे दुर्बुद्धे ! हम वेही पाशे हैं, जिनको तुमने खेला था, तुमको वस्त्र सहित देखकर हम प्रसन्न नहीं हुए थे, अब हमको बहुत आनन्द हुआ । उन पाशोंको अपने पास और अपनेको नङ्गा देख राजा नल दमयन्ती से कहने लगे । हे अनिन्दिते ! जिन पाशोंके कोपसे मैं राज्य और ऐश्वर्यसे नष्ट हुआ, और जिनके करनेसे मैं अत्यन्त भूखसे व्याकुल हूं, परन्तु प्राण नहीं निकलते, हे भीरु ! जिनके करनेसे किसी नगर निवासीने मेरा सत्कार न किया वेही आज पक्षी होकर मेरा वस्त्र भी छीनते हैं । हे देवि ! मैं परम दुःखको प्राप्त, और मूर्छित तेरा पति हूं । मेरा वचन तेरा हितकारी है । (१४—२०)

यह देखो, अनेक मार्ग ऋक्षवान पर्वत और उज्जैनको जा रहे हैं । यह लोग इस पहाडके पार होते हैं । यह देखो यही समुद्र में जानेवाली पयोष्णी नदी और विन्ध्याचल है । फल और मूलोंसे भरे हुए इन ऋषियोंके आश्रमोंको देखो । यह मार्ग विदर्भ देशको जाता है, और यह कोसलदेशका मार्ग है । हे उत्तम ! इसके

उवाचाऽसकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ॥ २४ ॥
ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥ २५ ॥
उद्विजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः।
तव पार्थिव संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥ २६ ॥
हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम्।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां निर्जने वने ॥ २७ ॥
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत्सुखम्।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ॥ २८ ॥
न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥
नल उवाच — एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्याऽऽर्तस्य भेषजम् ॥३०॥
न चाऽहं त्यक्तुकामस्त्वां किमलं भीरु शङ्कसे।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते ॥ ३१ ॥
दमयन्त्युवाच— यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि।

आगे दक्षिण देश है, और यह दक्षिण का मार्ग है। हे भारत! सावधान दुःख से पीडित राजा नलने दमयन्तीसे अनेक वार ऐसे वचन कहे। (२१–२४)

तब दमयन्ती रुकते हुए कण्ठसे रोती हुई दुःखसे व्याकुल होकर निषध-राजसे दीनता भरे हुए वचन बोली, हे महाराज! आपके वचनकी चिन्ता करके मेरा हृदय घबडाता है, और सब शरीर बार बार गिरे जाते हैं। हे महाराज! राज्य वस्त्र और धनसे हीन आपको इस निर्जनमें एकला छोडकर कैसे चली जाऊं? हे महाराज! इस घोर वनमें चलते चलते जब आप थक जायंगे, भूख प्यास और चिन्तामें व्याकुल होंगे, तब मैं आपके सुखके निमित्त आपके परिश्रमको दूर करूंगी! सत्य कहती हूं, कि वैद्योंके मतमें दुःखरोगकी औषध स्त्रीके समान और नहीं है। (२५—२९)

राजा नल बोले, हे सुमध्यमे! हे दमयन्ती! यह बात सत्य है, कि दुःखी पुरुषके लिये स्त्रीके समान और औषधि नहीं है, हे अनिन्दिते! मेरी इच्छा तुम्हें छोडनेकी कदापि नहीं है, मैं अपने प्राणको छोड सकता हूं, परन्तु तुम्हें नहीं! हे भीरु! तुम शङ्का मत करो। (३०-३१)

तत्किमथ विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३२ ॥
अवैमि चाऽहं नृपते न तु मां त्यक्तुमर्हसि ।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ॥ ३३ ॥
पन्थानं हि ममाऽभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम ।
अतोऽनिमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरोपम ॥ ३४ ॥
यदि चाऽयमभिप्रायस्तव ज्ञातीन्व्रजेदिति ।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान्यदि मन्यसे ॥ ३५ ॥
विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद ।
तेन त्वं पूजितो राजन्सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥३६॥ [२३५६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणिनलोपाख्यानपर्वणि नलवनयात्रायामेकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

नल उवाच— यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः ।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन ॥ १ ॥
कथं समृद्धो गत्वाऽहं तव हर्षविवर्धनः ।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः ॥ २ ॥
बृहदश्व उवाच— इति ब्रुवन्नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः ।

दमयन्ती बोली, हे महाराज ! यदि आप मुझे छोडनेकी इच्छा नहीं करते हैं, तो विदर्भ नगरकामार्ग क्यों बताते हैं? हे नरनाथ ! मैं जानती हूं कि आप मुझको नहीं छोडेंगे, परन्तु आपका चित्त किसीने छीन लिया है, इससे छोड सकते हैं । हे पृथ्वीनाथ ! हे नरोत्तम ! आप मुझको कठिन मार्ग दिखलाते हैं । हे देवतुल्य ! इसीसे मुझको शोक बढता है, यदि आपकी यह इच्छा हो कि यह अपने बापके यहां चली जाय, तो मैं और आप सङ्गही चलेंगे । यदि आपको अच्छा लगे तो ऐसाही कीजिये । हे माननीय ! मेरे पिता विदर्भराज आपकी बहुत सेवा करेंगे और उनसे पूजित होकर आप मेरे घरमें सुख से रहेंगे । ३२-३६

वनपर्वमें इकसठ अध्याय समाप्त (२३५६)

वनपर्वमें बासठ अध्याय ।

राजा नल बोले, हे दमयन्ती ! यह ठीक है, कि जैसा तुम्हारे पिताका राज्य तैसा मेरा राज्य, परन्तु दुःखमें वहां कदापि न जाऊंगा । मैं अत्यन्त ऋद्धिके सहित वहां जाकर तुम्हारे पिताके आनन्दको बढाता था, अब राज्यादिकसे भ्रष्ट होकर वहां जाके तुम्हारे शोकको कैसे बढाऊंगा ? (१-२)

सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम् ॥३॥
तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कंचिदुपेयतुः ॥ ४ ॥
तां सभामुपसंप्राप्य तदा स निषधाधिपः ।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले ॥ ५ ॥
स वै विवस्त्रो विकचो मलिनः पांसुगुण्ठितः ।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले ॥ ६ ॥
दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयाऽपहृता ततः ।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी ॥ ७ ॥
सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशांपते ।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते यथा पुरा ॥ ८ ॥
स तद्राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः ।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान् ॥ ९ ॥
किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा ॥ १० ॥
मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखमाप्नोति मत्कृते ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! राजा नल ऐसा कहते हुए, आधे वस्त्र-वाली कल्याणी दमयन्तीको बार बार शान्त करने लगे । वह दोनों भूख और प्याससे व्याकुल होकर एकही वस्त्र ओढे हुए इधर उधर घूमते हुए किसी स्थान में पहुंचे और थक कर वहीं ठहर गये। निषधदेशके महाराज उस स्थान में पहुंचकर विदर्भ राजपुत्रीके सहित पृथ्वी ही में सो गये। वह महाराज वस्त्र और बिछौनेसे हीन धूलमें भरे हुए थ-काईसे व्याकुल होकर पृथ्वीही में सो गये । (३–६)

अनन्तर कल्याणी, तपस्विनी, कोमलाङ्गी दमयन्तीभी दुःखसे व्याकुल होकर अत्यन्त निद्राके वशमें हो गई । हे प्रजा-नाथ ! दमयन्ती तो सोगई; परन्तु नलको शोकसे व्याकुल होनेके कारण पहलेके समान निद्रा न आई। वह राज्य-नाश, सब बन्धुओंसे छूटना और वनमें रहना इत्यादि चिन्तासे व्याकुल होगये । नल शोचने लगे, क्या मेरा कुछ कार्य करना अथवा न करना अच्छा होगा ? क्या मेरा मरना अथवा दमयन्तीको छोडना अच्छा होगा ? क्योंकि यह मेरी प्यारी मेरेही करनेसे इतने दुःखमें पडी

मद्विहीना त्वियं गच्छेत्कदाचित्स्वजनं प्रति ॥ ११ ॥
मयि निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुव्रता ।
उत्सर्गे संशयः स्यात्तु विन्देतापि सुखं क्वचित् ॥ १२॥
स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप ॥ १३ ॥
न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद्धर्षयितुं पथि ।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता ॥ १४ ॥
एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्तत ।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्जने ॥ १५ ॥
सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाऽप्येकवस्त्रताम् ।
चिन्तयित्वाऽध्यगाद्राजा वस्त्रार्धस्याऽवकर्तनम् ॥ १६॥
कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया ।
विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्यचरत्तदा ॥ १७ ॥
परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत ।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ॥ १८ ॥
तेनाऽर्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परन्तपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद्गतचेतनाम् ॥ १९ ॥

है । क्या मेरे छोडनेसे यह अपने बापके यहां चली जायगी ? निःसन्देह यह पतिव्रता मेरेही कारण दुःख पा रही है, छोडनेमेभी सन्देह है । कदाचित कहीं इसे सुख मिलही जाय! (७—१२)

हे नरनाथ ! नलने वार वार विचार कर निश्चय किया कि दमयन्तीके छोडनेहीमें कल्याण है । इस पतिव्रता मेरी भक्त, यशोंमें भरी हुई महा भाग्यवती को मार्गमें कोईभी अपने वशसे ग्रहण नहीं कर सकता है । राजा नलकी बुद्धि को दुष्ट कलियुगने इस प्रकार फेर दिया और उसने निश्चय कर लिया कि दमयन्तीको छोडनाही ठीक है । राजाने अपनेको वस्त्रहीन और उस को एक वस्त्र ओढे देख उसका आधा वस्त्र फाड लिया । वस्त्र फाडते समय राजाने विचारा कि मैं अपने प्यारीका आधा वस्त्र कैसे फाडूं ? कदाचित यह जाग जाय ! (१३—१७)

ऐसा विचारते हुए राजा उस स्थान में इधर उधर घूमने लगे । हे राजन् ! अनन्तर राजा नलने वहांके खड्गको लेकर दमयन्तीका आधा वस्त्र काट

ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ॥ २० ॥
यां न वायुर्न चाऽऽदित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥ २१ ॥
इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ॥ २२ ॥
कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥ २३ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे धर्मेणाऽसि समावृता ॥ २४ ॥
एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाऽप्रतिमां भुवि ।
कलिनाऽपहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ॥ २५ ॥
गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनाऽपकृष्यते ॥ २६ ॥
द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याऽभवत्तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ॥ २७ ॥

लिया और उसको पहनकर विदर्भ राजपुत्री दमयन्तीको अचेत सोतेही छोड चल दिया। थोडी दूर जाकर मोहसे व्याकुल हो फिर लौटे और दमयन्तीको देख निषध देशके महाराज खूब रोये, और विचारने लगे, जिस दमयन्तीको सूर्य और वायुभी नहीं देख सकते थे, वह मेरी प्यारी आज अनाथके समान भूमिमें सोरही है। हाय यह उत्तम हंसने वाली, सुन्दर मुखवाली जब अपने आधे वस्त्रको फटा हुआ देखेगी तब इसकी क्या दशा होगी। यह अवश्य उन्मत्त हो जायगी। भीमराजपुत्री, उत्तम पतिव्रता मुझसे अलग होकर इस हरिन और सांपोंसे भरे हुए घोर वनमें एकली कैसे घूमेगी ? हे महाभागे ! तुम धर्मसे भरी हो, इस लिये सूर्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, वायु और वरुण तुम्हारी रक्षा करें। (१८–२४)

हे महाराज ! कलिसे बुद्धिनाश होने के कारण राजा नल जगतमें असमान रूपवाली अपनी प्यारी स्त्री वनमें छोडकर चल दिये! राजा नल बार बार बाहर जाकर कलि और प्रेमके वशमें लौट आते थे। उस समय उनका हृदय फटकर दो टुकडा हुआ जाता था; जैसे

अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ॥ २८ ॥
नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत्तद्विगणयन्नृपः ।
जगामैकां वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः॥२९॥ [२३८५]

इति श्रीमहा०शत०वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपरित्यागे द्विषष्टितमोऽध्यायः॥६२॥

बृहदश्व उवाच— अपक्रान्ते नले राजन्दमयन्ती गतक्लमा ।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥
अपश्यमाना भर्तारं शोकदुःखसमन्विता ।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥
हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन्किं जहासि माम् ।
हा हताऽस्मि विनष्टाऽस्मि भीताऽस्मि विजने वने॥३॥
ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि ।
कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ॥ ४ ॥
कथमुत्सृज्य गन्ताऽसि दक्षां भार्यामनुव्रताम् ।
विशेषतोऽनपकृते परेणाऽपकृते सति ॥ ५ ॥
शक्यसे ता गिरः सम्यक्कर्तुं मयि नरेश्वर ।

कोई झूलमें झूलता है, वैसेही नल आते और जाते थे। अन्तको कलियुगके वशमें होकर राजानल प्यारी स्त्रीको वनमें सोती हुई छोड बहुत रोते हुए चले गये । हे राजन्! नष्ट बुद्धिवाले,कलियुगके वशमें होकर दुःखी राजा नल अपनी स्त्रीको शून्य वनमें एकली छोड चले गये । (२८-२९) [२३८५]

वनपर्वमें बासठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तिरसठ अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे राजन् ! नलके जानेके पश्चात परिश्रम दूर होनेसे उत्तम मुखवाली दमयन्ती जागी और पुरुष रहित वनमें अपने पतिको न देख कर बहुत डरी । शोक और दुःखसे व्याकुल होकर, हे महाराज ! हे महाराज! हे नैषधेश्वर ! हे नैषधेश्वर ! कह कह कर चिल्लाने लगी । हा नाथ ! हा महाराज! हा स्वामी ! आपने क्यों मुझको छोड दिया? मैं इस पुरुषरहित वनमें व्याकुल हुई हूं ? हाय मैं मरी ! हे महाराज ! आप धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं। सत्य वचन कह कर अब इस शून्य वनमें दक्ष, भक्तिमती, एकली, सोती हुई अपनी स्त्रीको छोडकर कैसे चले गये ? (१–५)

हे महाराज ! मैंने आपका कोई भी

यास्तेषां लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥
नाऽकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुषर्षभ ।
यत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७ ॥
पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान्पुरुषर्षभ ।
भीताऽहमतिदुर्धर्ष दर्शयाऽऽत्मानमीश्वर ॥ ८ ॥
दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध ।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ९ ॥
नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवंगतामिह ।
विलपन्तीं समागम्य नाऽऽश्वासयसि पार्थिव ॥१० ॥
न शोचाम्यहमात्मानं न चाऽन्यदपि किंचन ।
कथं नु भविताऽस्येक इति त्वां नृप शोचिमि ॥११ ॥
कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्शितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन्भविष्यसि ॥१२ ॥
ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥१३ ॥
मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।

दोष नहीं किया था, हे महाराज! हे नरनाथ! आपने जो लोकपालों के आगे वचन कहे थे, उनको सत्य करना आपको उचित है। हे पुरुषसिंह! ईश्वरने विना समय मनुष्यकी मृत्यु नहीं बनाई है, इसी कारणसे आपकी प्यारी स्त्री आपसे छुटने पर भी अबतक जीती है, हे पुरुषसिंह! हे दुर्द्धर्ष! बस हंसी पर्याप्त होगई। अब मैं इस वनमें बहुत डरी हूं, शीघ्र दर्शन दीजिये। हे नैषधराज! आप मुझको देखते हैं; परन्तु पूछनेसे क्यों नहीं बोलते? आप लताओंसे निकलकर मुझसे बात क्यों नहीं करते। (५-९)

हे महाराज! आप निर्लज्जके समान मुझ एकलीको रोती हुई देखकर क्यों धैर्य नहीं देते? हे राजेन्द! मुझे अपनी अथवा और किसी वस्तुकी कुछ शोच नहीं है, परन्तु आप एकले किस दशामें पडे हैं, यही शोच है। हे महाराज! भूख, प्यास और थकाईसे व्याकुल होकर जब आप सन्ध्यासमय किसी वृक्षकी जडमें बैठेंगे वहां मुझको न देख कर आपकी क्या दशा होगी? (१०—१२)

अनन्तर दमयन्ती महा शोक से व्याकुल होकर इधर उधर दौडने लगी।



दमयंती वनवास ।

(भा०मु०औंध) (म० भा० वन० अ० ६३)

मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥ १४ ॥
अतीव शोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निःश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ॥ १५ ॥
यस्याऽभिशापाद्दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद्दुःखमप्यधिकं भवेत् ॥ १६ ॥
अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान्नलम् ।
तस्माद्दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥ १७ ॥
एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्तारं वने श्वापदसेविते ॥ १८ ॥
उन्मत्तवद्भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ॥ १९ ॥
तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥
सहसाऽभ्यागतां भैमीमभ्याशपरिवर्तिनीम् ।
जग्राहाऽजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥ २१ ॥
सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नाऽऽत्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥ २२ ॥

कभी गिरती, कभी भयसे व्याकुल होकर छिपती, कभी रोती और कभी आक्रोश करती थी । इस प्रकार शोकसे व्याकुल होकर पतिव्रता भीमपुत्री बार बार ऊंचे सांस लेकर रोती हुई ऐसा कहने लगी । जिस के कारण नैषध राजाको इतना दुःख हुआ है वह हमसे भी अधिक दुःखभोग में पडेगा । जिस पापीने महात्मा निष्पाप नलको इतना दुःख दिया है, वहभी मेरे पापसे जन्म भर दुःखीही रहे । (१३-१७)

वह महाराज नलकी स्त्री इस प्रकार रोती हुई उस सिंहादि जन्तुओंसे भरे हुए वनमें अपने पति को ढूंढने लगी । उस समय भीमपुत्री उन्मत्तके समान रोती हुई बार बार हाय महाराज ! हाय महाराज ! ऐसा कहती हुई उस वनमें घूमने लगी । कुररीके समान रोती हुई, शोचती हुई, घूमती हुई उस भीमपुत्रीको आकर भूख और प्यासस व्याकुल बडे शरीरवाले अजगरने ग्रहण किया । १८-२१

अजगरके ग्रास होते समय दमयन्ती ने शोकसे व्याकुल अपना कुछ शोच न करके राजा नलका शोक किया, और बोली

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणाऽनेन विजने किमर्थं नाऽनुधावसि ॥ २३ ॥
कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
कथं भवाञ्जगामाऽद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ॥ २४ ॥
पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ॥ २५ ॥
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ॥ २६ ॥
ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन्गहने वने ।
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाऽभिससार ह ॥ २७ ॥
तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणाऽऽयतेक्षणाम् ।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगतः ॥ २८ ॥
मुखतः पातयामास शस्त्रेण निशितेन च ।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ॥ १९ ॥
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह ।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ॥ ३० ॥
कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथं चाऽभ्यागता वनम् ।
कथं चेदं महत्कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भामिनि ॥ ३१ ॥

हे नाथ ! हाय इस वनमें यह अजगर मुझको अनाथके समान खाता है, आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते हैं? हे नाथ! हे नैषध ! आप मेरे विना अब कैसे हैं? आप मुझे छोडकर कैसे चले गये ? हे महाराज ! जब आप इस पापसे छूटकर अपने धन, राज्य और बुद्धिको प्राप्त करेंगे, तब भूख प्याससे व्याकुल आपके परिश्रमको कौन दूर करेगा? हे राजशार्दूल ! हे पापरहित ! आप मुझे छोडकर क्या सुख पाते हैं ? (२२–२६)

इस प्रकार रोती हुई दमयन्तीके वचन सुनकर उस घोर वनमें आया हुआ व्याधा वेगसे उसकी ओर दौडा। उस कमलनैनीको अजगरसे ग्रस्त देखकर व्याधा और भी वेगसे दौडकर वहां पहुंचा और उसने अपने तीक्ष्ण शस्त्रसे सर्पको सिरसे काट दिया। अनन्तर वह सर्प विना प्राणका होकर पृथ्वीमें लौट गया। उस व्याधाने दमयन्तीको सांपके मुखसे छुडाके स्नान कराकर कुछ खिलाकर और धैर्य देकर पूछा, हे मृगनैनी! तू किसकी स्त्री है, और इस घोर वनमें क्यों आई है? हे भामिनि ! तू इस घोर आपत्तिमें

दमयन्ती तथा तेन पृच्छयमाना विशांपते ।
सर्वमेतद्यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ॥ ३२ ॥
तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ३३ ॥
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ॥ ३४ ॥
तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भाविनी ॥ ३५ ॥
दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ॥ ३६ ॥
स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः ।
दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ३७ ॥
दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता ।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ॥ ३८ ॥
यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथाऽयं पततां क्षुद्रः परासुर्मृगजीवनः ॥ ३९ ॥
उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः ।

कैसे पड गई ? (२७—३१)

हे भारत! दमयन्तीने उसके ऐसे वचन सुनकर अपना सब वृत्तान्त पूरा कह सुनाया । अनन्तर उस आधे वस्त्रवाली पीनस्तनी,सुश्रोणी,अनिन्दित शरीरवाली पूर्णचन्द्रमाके समान मुखवाली, घूंघर वाले बालोंवाली और टेढी भौंहवाली दमयन्तीको देख व्याधा कामदेवके वशमें होगया । अनन्तर कामसे व्याकुल व्याधा दमयन्तीको सुन्दरी जान मीठी वाणीसे शान्त करता हुआ बोला, और पतिव्रता दमयन्तीभी उस दुष्टको कामसे व्याकुल देख तीव्र क्रोधसे व्याकुल होगई।३२-३६

वह दुष्टात्मा क्षुद्र, पापबुद्धि, जलती हुई, अग्निके समान दुर्द्धर्ष दमयन्तीसे काम चेष्टा करनेका यत्न करने लगा।अनन्तर दुःखसे भरी पति और राज्यसे पृथक् हुई दमयन्तीने उस दुष्टको उपदेशके अयोग्य जानकर क्रोधसे भरकर शाप दिया, हे क्षुद्रव्याध ! यदि मैंने निषधराजके सिवा अपने चित्तसेभी दूसरेको पति बनानेकी इच्छा न करी हो, तो तू अभी प्राणहीन हो पृथ्वीमें गिर जा । दमयन्तीके वचन सुनतेही

व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ॥४०॥ [२४२९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वण्य-
जगरग्रस्तदमयन्तीमोचने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

बृहदश्व उवाच— सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ॥ १ ॥
सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षगणैर्युतम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ॥ २ ॥
शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेंगुदकिंशुकैः ।
अर्जुनारिष्टसंच्छन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः ॥ ३ ॥
जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम् ।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम् ॥ ४ ॥
बदरीबिल्वसंच्छन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकिबिभीतकैः ॥ ५ ॥
नानाधातुशतैर्नद्धान्विविधानपि चाऽचलान् ।
निकुञ्जान्परिसंघुष्टान्दरीश्चाऽद्भुतदर्शनाः ॥ ६ ॥
नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ।
सा बहून्भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ७ ॥

व्याध जले हुए वृक्षके समान विना प्राणका होकर पृथ्वीमें गिर पडा । (३७—४०) [२४२९]

वनपर्वमें तिरसठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें चौसठ अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे महाराज ! कमलनैनी दमयन्तीने उस व्याधको मारकर भयसे व्याकुल हो मनुष्यशून्य झिंगुरोंके शब्दसे भरे हुए, सिंह, हाथी, व्याघ्र, रीछ,महिष आदिकोंसे भरे, अनेक प्रकारके पक्षियोंसे संयुक्त म्लेच्छ और चोरोंसे सेवित, शाल, वांस,धाय, पीपल, तेंदू, इंगुदी, कचनार, बहेडा, नीम, हिलनेवाला ढाक, जामुन, आंम, लोध, वेल, वेत, पद्माक्ष, आंवला, कदम्ब, पारसपीपर, गुलर, वैर, वेलवगर्द, चिरोंजी, ताड, खजूर,हड, बहेडा आदि वृक्षोंसे भरे हुए, अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित पर्वत, अति सघन कुञ्ज, विचित्र गुफा, नदी,तडाग, अनेक प्रकारकी बावडी पक्षी और हरिणोंको देखती हुई वनमें घूमने लगी । और घोर रूपवाले अनेक पिशाच सर्प और राक्षसोंको देखने लगी, उसने थोडे और

पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः ।
सरितो निर्झरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ॥ ८ ॥
यूथशो ददृशे चाऽत्र विदर्भाधिपनन्दिनी ।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान् ॥ ९ ॥
तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता ।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा ॥ १० ॥
नाऽबिभ्यत्सा नृपसुता भैमी तत्राऽथ कस्यचित् ।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता ॥ ११ ॥
विदर्भतनया राजन्विललाप सुदुःखिता ।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाऽऽश्रिता ॥ १२ ॥
दमयन्त्युवाच— व्यूढोरस्क महाबाहो नैषधानां जनाधिप ।
क नु राजन्गतोऽस्यद्य विसृज्य विजने वने ॥ १३ ॥
अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्तसे ॥ १४ ॥
यत्त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ मत्समक्षं महाद्युते ।
स्मर्तुमर्हसि कल्याण वचनं पार्थिवर्षभ ॥ १५ ॥
यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप ।

बहुत जलवाले तालाव, पर्वतोंके समूह, अद्भुत दर्शनवाले झरने, और नदियोंको देखा। (१-८)

अनन्तर विदर्भराजनन्दिनीने अनेक भैंसे,शूअर,रीछ और वनसर्पोंके झुण्ड के झुण्ड देखे। तेज,यश और परम लक्ष्मी से भरी हुई दमयन्ती इस प्रकार नलको खोजती हुई वनमें एकली घूमने लगी। पतिके शोकसे पीडित विदर्भ-राजपुत्री इस प्रकार घोरवनमें घूमती हुई किसीसे भी न डरी। एक दिन विदर्भ-राजपुत्री एक शिलाके ऊपर बैठकर अपने पतिके शोकसे व्याकुल हो इस प्रकार रोने लगी। (९-१२)

दमयन्ती बोली, हे निषधराज ! ऊंचे कन्धेवाले महाबाहो ! आप मुझको निर्जन वनमें छोड कर कहां चले गये? हे नरव्याघ्र ! आप भारी दक्षिणावाले अश्वमेधादि यज्ञ करके मुझसे झूठ क्यों बोले ? हे वीर ! हे नरश्रेष्ठ ! महातेजस्विन् ! हे राजशार्दूल ! हे कल्याण ! आपने जो मुझसे कहा था,उसका स्मरण कीजिये। हे पृथ्वीनाथ ! जो कुछ हंसोंने आपसे कहा था और आपने जो

मत्समक्षं यदुक्तं च तदवेक्षितुमर्हसि ॥ १६ ॥
चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः ॥ १७ ॥
तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्तुं नरेश्वर ।
उक्तवानसि यद्वीर मत्सकाशे पुरा वचः ॥ १८ ॥
हा वीर नल नामाऽहं नष्टा किल तवाऽनघ ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ १९ ॥
कर्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः ।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि ॥ २० ॥
न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियाऽस्तीत्यब्रवीः सदा ।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप ॥ २१ ॥
उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप ।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २२ ॥
कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप ।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत् ॥ २३ ॥

कुछ कहा था, उसका स्मरण कीजिये। हे नरव्याघ्र! यह निश्चय है कि अङ्ग और उपाङ्ग तथा विस्तारके सहित चारों वेद पढनेका फल एक ओर और एकला सत्य एक ओर होता है। हे शत्रुनाशन! हे नरनाथ! हे वीर! इस लिये, आप अपने पहले कहे हुए वचनोंको सत्य कीजिये। (१३--१८)

हाय वीर नल! मैं आपसे छूट गई। हे पाप रहित! इस घोरवन में आकर आप हमसे क्यों नहीं बोलते हैं? यह देखिये भूखसे व्याकुल भयानक शरीर वाला घोर वनोंका राजा मुझे खाना चाहता है, आप क्यों नहीं मेरी रक्षा करते हैं? हे कल्याण महाराज! आप पहले मुझसे कहा करते थे, कि तेरे सिवा मेरी प्यारी और कोई नहीं है। अब उन पहले कहे वचनोंको झूठ न कीजिये। हे नरनाथ! मैं आपकी प्यारी स्त्री इस घोर वनमें उन्मत्तके समान रोती फिरती हूं। आप सदा ही मुझको चाहते थे, अब मैं आपको देखना चाहती हूं तो क्यों नहीं बोलते हैं? हे पृथ्वीनाथ! आज सामान्य स्त्रियोंके समान एक वस्त्रसे युक्त, रोती हुई, दुर्बल, दीन, पीले वर्णवाली, मलिन, अनाथ के समान एकली वनमें घूमती हुई मुझसे क्यों नहीं बोलते हैं? (१९--२३)

यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन ।
न मानयसि मामार्य रुदन्तीमरिकर्शन ॥ २४ ॥
महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती ।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २५ ॥
कुलशीलोपसंपन्न चारुसर्वाङ्गशोभन ।
नाऽद्य त्वां प्रतिपश्यामि गिरावस्मिन्नरोत्तम ॥ २६ ॥
वने चाऽस्मिन्महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते ।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप ॥२७ ॥
प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन ।
कं नु पृच्छामि दुःखार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता॥ २८ ॥
कच्चिद्दृष्टस्त्वयाऽऽरण्ये संगत्येह नलो नृपः ।
को नु मे वाऽद्य प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन्प्रस्थितं नलम्॥२९॥
अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम् ।
यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम् ॥ ३० ॥
अयं स इति कस्याऽद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम् ।
अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ॥ ३१ ॥

हे आर्य ! शत्रुनाशन ! हे विशाल-नेत्र ! जैसे कोई हरिणी अपने झुण्डसे छूट एकली होकर दुःखी होती है मेरी भी वही दशा हुई है। हे शत्रुनाशक ! आर्य ! मैं रोरही हूं तथापि क्यों मेरी सहायता नहीं करते हो ? महाराज ! इस महावनमें मैं एकली पतिव्रता दमयन्ती आपको पुकार रही हूं, आप मुझसे क्यों नहीं बोलते हैं ? उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हे शील भरे ! सुन्दर ! पुरुष श्रेष्ठ ! आज मैं इस पर्वतमें तुमको नहीं देखती । हे निषधराज ! इस महाघोर सिंह और व्याघ्रोंसे भरे हुए वनमें सोते हुए बैठे हुए वा चलते हुए तेरे शोकसे अति दुःखी होकर कौनसे पुरुषसे आपको पूंछ ? (२४—२८)

हे मेरे शोकके बढानेवाले पुरुषश्रेष्ठ ! मैं तुम्हे देखनेको व्याकुल हुई हूं, मैं किससे पूंछू कि तुमने इस वनमें कहीं राजा नलको देखा है ? मैं किससे कहूं, कि तुमने इस वनमें कहीं सुन्दर रूपवाले, महात्मा शत्रुझुण्डके नाशक, कमलनेत्र उस नलको कहीं देखा है कि जिसको मैं ढूंढती हूं ? मुझसे ऐसी मीठी वाणी कौन कहेगा कि जिसको तुम ढूंढती हो, वह नल यही है । यह चार दांतवाला

शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशंकिता।
भवान्मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन्कानने प्रभुः ॥ ३२ ॥
विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम् ।
निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्याऽमित्रघातिनः ॥ ३३ ॥
पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्शिताम् ।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३४ ॥
अथवा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि ।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद्विमोचय ॥ ३५ ॥
श्रुत्वाऽऽरण्ये विलपितं न मामाश्वासयत्ययम् ।
यामिमां स्वादुसलिलामापगां सागरंगमाम् ॥ ३६ ॥
इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः ।
विराजद्भिरिवाऽनेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३७ ॥
नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम् ।
अस्याऽऽरण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ॥ ३८ ॥
सिंहशार्दूलमातंगवराहर्क्षमृगायुतम् ।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३९ ॥

वनका राजा, बडे ओठवाला शार्दूल मेरे आगे ही चला आता है, देखो मैं शंका रहित होकर इसके सामने जाती हूं। (२८–३१)

हे मृगोंके राजा ! हे सिंह ! तुम इस वनका प्रभु और मृगोंके राजा हो, मैं विदर्भराजकी पुत्री शत्रुओंके नाश करनेवाले महाराज नलकी स्त्री दमयन्ती हूं। हे सिंह! पतिको ढूंढनेवाली एकली शोकसे पीडित मेरे समीप आकर कहो क्या तुमने कहीं नलको देखा है ? यह सुनकर मुझे बहुत धैर्य होगा। हे मृगेन्द्र ! यदि आप नलका समाचार मुझे न दे-सकें, तो मुझको खाही जाइये, जिससे मैं इस महादुःखसे छूट जाऊं। (३२-३५)

देखो इस वनमें मुझको रोती हुई देखकरभी यह सिंह मुझे कुछ नहीं समझता। यह समुद्रमें जानेवाली, मीठे जलसे भरी हुई नदी और यह पवित्र ऊंचे शिखावाला पर्वत अनेक रङ्गोंसे रंगे हुए मनोहर सुन्दर शिलाओंके समूहोंसे शोभित है। अनेक धातुओंसे भरे हुए पत्थरोंसे विराजमान ऐसा जान पडता है, मानो इस वनकी ध्वजा है। सिंह, शार्दूल, हाथी, सूअर, रीछ, सहस्रों हरिन, अनेक प्रकारके अनेक पाक्षियोंके शब्द

किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम् ।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम ॥ ४० ॥
सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम् ।
गिरिराजमिमं तावत्पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ४१ ॥
भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत ।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ४२ ॥
प्रणमे त्वाऽभिगम्याऽहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४३ ॥
राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४४ ॥
राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४५ ॥
ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान्वीर्यसंपन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४६ ॥
सम्यग्गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥
निषधेषु महाराजः श्वशुरो मे नरोत्तमः ।

से पूरित कचनार, अशोक, बकुल, पुन्नाग, साल, अमलतास और पीपल आदि फूल भरे हुए वृक्षोंसे शोभित पक्षियोंके सहित नदी और शिखरोंसे भरे हुए इस पर्वतराजहीसे मैं राजाका समाचार पूछती हूं। (३६-४१)

हे भगवन्! हे पर्वतश्रेष्ठ! दिव्यदर्शन! विश्रुत ! शरण देनेवाले ! कल्याणरूप पर्वत ! आपको नमस्कार है। आप मुझको राजपुत्री, राजाकी बहु और राजाकी स्त्री प्रख्यात दमयन्ती जानिये, महारथ विदर्भ देशके राजा चारोंवर्णकी रक्षा करनेवाले भीम मेरे पिता हैं, वह दक्षिणावाली अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंके करनेवाले, शत्रुओंकी लक्ष्मीको छीननेवाले, सुन्दर, भारी शरीर और नेत्रवाले, ब्राह्मणोंके भक्त, उत्तम चरित्रवाले, सत्यवादी, सबका प्रिय चाहनेवाले, शीलवान,बलवान, महालक्ष्मीमान,धर्मज्ञ, पवित्र, उत्तम प्रकारसे विदर्भ देशके रक्षक जो राजा भीम हैं, मुझको उन्हीकी पुत्री जानिये। (४२-४७)

मैं जो आपके पास आई हूं, सो निषध देशके महाराज अपने नामके सदृश

गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४८ ॥
तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान्सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह ॥ ४९ ॥
नलो नामाऽरिहा श्यामः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद्वाग्मी पुण्यकृत्सोमपोऽग्निमान् ॥ ५० ॥
यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक्चैव प्रशासिता ।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्यामिहाऽऽगताम् ॥ ५१ ॥
त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ॥ ५२ ॥
समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः ।
कच्चिद् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन्वा नलो नृपः ॥ ५३ ॥
गजेन्द्रविक्रमो धीमान्दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्त्ववान्वीरो भर्ता मम महायशाः ॥ ५४ ॥
निषधानामधिपतिः कच्चिद् दृष्टस्त्वया नलः ।
किं मां विलपतीमेकां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ॥ ५५ ॥
गिरा नाऽऽश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ।
वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसन्ध महीपते ॥ ५६ ॥

गुणवाले राजा वीरसेनकी बहु हूं, उन राजाके बेटे, वीर, श्रीमान सत्य--पराक्रम, राजा नल जो अपने बाप दादाके राज्यको पालते हैं, जो सब शत्रुओंके नाशक, श्यामसुन्दर, ब्राह्मणोंके भक्त, वेदके जाननेवाले, पण्डित, धर्मकर्ता, सोम पीनेवाले, अग्निहोत्री, यज्ञकर्ता, दाता, योद्धा, पृथ्वीके उत्तम शासनकर्ता, और जो पवित्र कीर्तिके नामसे प्रसिद्ध हैं, आपके यहां आई हुई मुझको उनही की श्रेष्ठ स्त्री जानिये। (४८--५१)

हे पर्वतसत्तम ! लक्ष्मी और पतिसे छूटी हुई, नाथरहित, दुःखसे व्याकुल पतिको ढूंढती हुई मैं यहां आई हूं, हे पर्वतश्रेष्ठ! तुमने अपने इन ऊंचे ऊंचे शिखरोंसे कहीं राजा नलको देखा है ? मेरा प्यारा पति गजेन्द्रके समान पराक्रमी, बुद्धिमान, विशालबाहु, क्षमावान, निषधदेशके महाराज नलको कहीं तुमने देखा है ? हे पर्वत श्रेष्ठ ! अपनी पुत्रीके समान दुःखसे व्याकुल हुई मुझको वचन कह कर क्यों नहीं धीरज देते हो ? (५१-५६)

हे वीर ! हे तेजस्वी हे धर्मज्ञ ! हे पृथ्वीनाथ! यदि आप कहीं इस वनमें छिपे

यद्यस्यस्मिन्वने राजन्दर्शयाऽऽत्मानमात्मना ।
कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम् ॥ ५७॥
श्रोष्यामि नैषधस्याऽहं वाचं ताममृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ॥ ५८ ॥
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।
भीतामाश्वासयत मां नृपते धर्मवत्सल ॥ ५९ ॥
इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी ।
दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ ६० ॥
सा गत्वा त्रीनहोरात्रान्ददर्श परमाङ्गना ।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ॥ ६१ ॥
वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥ ६२ ॥
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च ।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ॥ ६३ ॥
वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाऽऽश्रममण्डलम् ॥ ६४ ॥
नानामृगगणैर्जुष्टं शाखामृगगणायुतम् ।
तापसैः समुपेतं च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ॥ ६५ ॥

हों तो मुझे दिखाई क्यों नहीं देते? हाय! मैं मीठी, बादलके समान गंभीर, अमृत के समान मेरे शोकका नाश करने वाली, " दमयन्ती" ऐसी वाणी नैषधके मुखसे कब सुनेंगी? हे पृथ्वीनाथ! भयसे व्याकुल मुझको अब धैर्य दीजिये। (५६-५९)

हे महाराज ! वह राजपुत्री दमयन्ती पर्वतश्रेष्ठसे ऐसे वचन कहकर पुनःउत्तर की ओर चली । वह सुन्दरी निरन्तर तीन दिन और रात चलतीही रही; तब उसने सुन्दर वनसे शोभित अनेक ऋषियोंके आश्रमोंको देखा । उनमें पवित्र तौलकर खानेवाले, इन्द्रियजित, संयमी, वसिष्ठ,भृगु और अत्रि आदि समान अनेक ऋषि रहते थे। उसने उस आश्रमको जल-भक्षी, वायुभक्षी, पत्रभक्षी, जितेन्द्रिय, महाभाग,स्वर्गमार्ग देखनेकी इच्छावाले, वल्कलके वस्त्रवाले मुनियोंसे शोभित देखा। वह आश्रम तपस्वियोंके वास करने से अत्यन्त मनोहर था। उस अनेक पक्षी हरिन और बन्दरोंसे युक्त तपस्वियोंसे भरे हुए आश्रमको देखतेही दमयन्ती

सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ॥ ६६ ॥
सा विवेशाऽऽश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ॥ ६७ ॥
साऽभिवाद्य तपोवृद्धान्विनयावनता स्थिता।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसोत्तमैः ॥ ६८ ॥
पूजां चाऽस्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ॥ ६९ ॥
तानुवाच वरारोहा कच्चिद्भगवतामिह।
तपःस्वग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चाऽनघाः ॥ ७० ॥
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च।
तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ॥ ७१ ॥
ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि।
दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ॥ ७२ ॥
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वासिहि मा शुचः।
अस्याऽरण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ॥ ७३ ॥
अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते।

के चित्तमें स्थिरता हुई! (६०-६५)

अच्छी भृकुटी अच्छे बाल, अच्छे कुच, अच्छी कमर, अच्छे दांत और अच्छे मुखवाली तेजस्विनी, कमलनैनी, वीरसेनके पुत्रकी प्यारी, स्त्रियोंमें रत्न, तपस्विनी दमयन्ती उस आश्रममें गई। वह जाकर तपस्वी मुनियोंको प्रणाम कर नम्र भावसे खडी रही। सब तपस्वी श्रेष्ठोंने उसका स्वागत किया, उसकी यथायोग्य पूजा करके सब मुनियोंने बिठलाया और कहा, कि हम तुम्हारा कौन कार्य करें? (६६-६९)

यह सुनकर उत्तम मुखवाली दमयन्ती, बोली हे तपस्वियो! हे पाप रहितो! कहो तुम्हारे मृग और पक्षी तो कुशल से हैं? आपलोगोंके अग्निहोत्र कर्म और अपने अपने धर्म कार्य तो कुशलसे होते हैं न? उन्होंने कहा, हे यशस्विनी! हम सब कुशलसे हैं। हे सुन्दरि! कहो तुम कौन हो? और क्या चाहती हो? हम सब तुम्हारे रूप और तेजको देखकर परम आश्चर्यको प्राप्त हुए हैं, धैर्य धरो, घबराओ मत। हे अनिन्दिते! हे कल्याणि! क्या तुम इस वनकी अथवा

साऽब्रवीत्तान्नृषीन्साऽहमरण्यस्याऽस्य देवता ॥ ७४ ॥
न चाऽप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता ।
मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ॥ ७५ ॥
विस्तरेणाऽभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः।
विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ॥ ७६ ॥
तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः।
निषधाधिपतिर्धीमान्नलो नाम महायशाः ॥ ७७ ॥
वीरः संग्रामजिद्विद्वान्मम भर्ता विशांपतिः ।
देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ॥ ७८ ॥
गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः ।
सत्यवान्धर्मवित्प्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान्परपुरञ्जयः ।
नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ॥ ८० ॥
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ।
आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ८१ ॥
सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ।
स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ ८२ ॥

इस पर्वतकी या इस नदीकी देवी हो ? (७०–७४)

दमयन्ती बोली, हे ब्राह्मणो ! मैं न इस वनकी न इस पर्वतकी और न इस नदीकी देवी हूं । हे तपद्रव्यवाले ऋषियो ! मुझको मानुषी जानो; मैं अपने वृत्तान्तको विस्तारसे कहती हूं, आपलोग सुनिये । विदर्भ देशमें भीमनामक राजा हैं, हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैं उन्हीकी पुत्री हूं, और निषध देशके राजा बुद्धिमान, यशस्वी, वीर, युद्धजेता, प्रजानाथ नल मेरे पति हैं । वह देवतोंकी पूजामें रत, ब्राह्मणोंके प्यारे, निषधवंशके रक्षक, महा तेजस्वी, महा बलवान, सत्यवादी, धर्मज्ञ, पण्डित, सत्यसन्ध, शत्रुनाशन, ब्राह्मणोंके भक्त, देवतोंमें तत्पर, लक्ष्मीवान, शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले, राजोंमें श्रेष्ठ, इन्द्रके समान तेजस्वी, विशालनेत्र, चन्द्रमुख, शत्रुनाशन, महा यज्ञोंके कर्त्ता, वेद और वेदाङ्गोंके पारगामी, युद्धमें शत्रुनाशन, सूर्य चन्द्रमाके समान तेजस्वी, महाराज नल मेरे पति हैं । (७४-८२)

उन धर्मपरायण महाराजको किसी छली, अनार्य, पापी जुएके जाननेवाले

आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः ।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्हृतं राज्यं वसूनि च ॥ ८३ ॥
तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै ।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥ ८४ ॥
सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा ।
पल्वलानि च सर्वाणि तथाऽरण्यानि सर्वशः ॥ ८५ ॥
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम् ।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ॥ ८६ ॥
कच्चिद्भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृपः ।
भवेत्प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ॥ ८७ ॥
यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन्प्रपन्ना भृशदारुणम् ।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ॥ ८८ ॥
यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम् ।
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ८९॥
को नु मे जीवितेनाऽर्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ।
कथं भविष्याम्यद्याऽहं भर्तृशोकाभिपीडिता ॥ ९० ॥
तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम् ।
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ॥ ९१ ॥

ने बुलाकर उनका राज्य और सब धन जुएमें जीत लिया। उस राजोंमें सिंह नलकी स्त्री पतिके दर्शन चाहनेवाली मुझे विख्यात दमयन्ती जानो। मैं वन, पर्वत, तडाग, नदी पल्वल और सब वनोंमें अपने युद्धके जीतनेवाले, महात्मा शस्त्र जाननेवाले पति नलको ढूंढती दुःखसे व्याकुल फिरती हूं, कहिये आपके इस रम्य तपोवनमें निषध देशके राजा नल आये हैं? हे ब्राह्मण! जिसके निमित्त मैं इस घोर आपत्तिमें पडकर इस घोर सिंह और शार्दूलोंसे भरे हुए वनमें घूम रही हूं, हे ब्राह्मणो! यदि मैं कुछ दिन राततक राजा नलको न देखूंगी तो अपने शरीरको छोडकर परम पदको प्राप्त करूंगी। उस पुरुषसिंहके विना जीनेसे मेरा क्या प्रयोजन है? मैं अपने पतिके शोकसे पीडित कब तक जीऊंगी? (८३–९०)

भीमपुत्री दमयन्तीको वनमें इस प्रकार रोती हुई एकली देखकर सत्यदर्शी तपस्वी लोग ऐसा कहने लगे। हे कल्या-

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे ।
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ॥ ९२ ॥
निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम् ।
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ॥ ९३ ॥
विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम् ।
तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासतमरिन्दमम् ॥ ९४ ॥
द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ।
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम्॥ ९५ ॥
एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ।
तापसान्तर्हिताः सर्वे साग्निहोत्राश्रमास्तथा ॥ ९६ ॥
सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत्तदा ।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ॥ ९७ ॥
किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाऽभवत् ।
क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ॥ ९८ ॥
क्व सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता ।
क्व नु ते ह नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ॥ ९९ ॥
ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।

णि ! हे शुभे ! अब तुम्हारा कल्याण होनेवाला है, हमलोग तपसे देखते हैं, कि तुम निषध देशके अधिपती शत्रुनाशन राजानलको शीघ्रही देखोगी। हे भीमपुत्री! धर्मज्ञों में श्रेष्ठ, सुखी, सब पापोंसे छूटे हुए, सब रत्नोंसे युक्त, शत्रुओंको भय देनेवाले, मित्र शोकनाशन, कल्याणसे भरे हुए, अपने पति राजा नलको उसी देश में राज्य करते हुए शीघ्र ही देखो गी। (९१—९५)

वह ब्राह्मणलोग नलकी प्यारी राज पुत्री दमयन्तीसे ऐसा कहकर अपने आश्रम और अग्निशालाके सहित अन्तर्धान हो गये। सुन्दर शरीरवाली राजा वीरसेनकी वहू दमयन्ती बहुत आश्चर्यमें आकर विचारने लगी कि क्या मैंने यह स्वप्न देखा था? यह क्या आश्चर्य हुआ? वह मुनि और उनका आश्रम कहां गया? वह पक्षी और पुष्पोंसे शोभित मनोहर जलवाली नदी कहां गई ? और वे उत्तम फूलोंसे भरे हुए, हृदयके प्यारे पर्वत कहां गुप्त होगये ? उत्तम हंसनेवाली भीमराजकी पुत्री कुछ समय तक ऐसा विचार करके अपने पतिके

भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाऽभवत् ॥ १०० ॥
सा गत्वाऽथाऽपरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
विललापाऽश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाऽशोकतरुं ततः ॥ १०१ ॥
उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने ।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहगैरनुनादितम् ॥ १०२ ॥
अहो बताऽयमगमः श्रीमानस्मिन्वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान्पर्वतराडिव ॥ १०३ ॥
विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित्त्वं दृष्टवान्नृपम् ॥ १०४ ॥
नलं नामाऽरिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥ १०५ ॥
एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनाऽर्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥ १०६ ॥
यथा विशोका गच्छेयमशोक नग तत्कुरु ।
सत्यनामा भवा'ऽशोक अशोकः शोकनाशनः॥ १०७॥
एवं साऽशोकवृक्षं तमार्ता वै परिगम्य ह ।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥ १०८ ॥

शोकसे व्याकुल और विवर्ण मुखवाली होगई। (९६–१००)

आसुवोंसे पूर्ण नेत्रवाली दमयन्ती आगे चलकर एक अशोक वृक्षको देख रोती हुई विलाप करने लगी, वह वृक्ष फूलोंसे भरा नवीन पत्तोंसे भरा, पक्षियोंसे शोभित था। उसको देख दमयन्ती विचारने लगी, आहा! इस वनमें यह वृक्ष शोभासे भरा हुआ, फल और पुष्पोंसे पूर्ण, पर्वतके समान शोभित है। हे अशोक! हे प्रियदर्शन! मुझको शोक रहित करो। तुमने शोक और भयसे रहित राजा नलको कहीं देखा है? वही शत्रुओंका नाश करनेवाला राजा नल दमयन्तीका प्यारा पति है, उस निषध देशके राजा मेरे प्यारेको तुमने कहीं देखा है? वह एक वस्त्रधारी, कोमल दुःखसे पीडित, वीर इसी वनमें आयेथे; हे अशोकवृक्ष! जैसे मैं शोक रहित हो जाऊं वैसाही यत्न करो। तुम्हारा नाम अशोक है। हमारे शोकको नाश करके यथार्थनामा बनो। (१०१–१०७)

वह उत्तम स्त्री दमयन्ती अशोकसे ऐसे वचन कहती हुई महाघोरवनमें

सा ददर्श नगान्नैकान्नैकाश्च सरितस्तथा ।
नैकांश्च पर्वतान्रम्यान्नैकांश्च मृगपक्षिणः ॥ १०९ ॥
कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाऽद्भुतदर्शनाः ।
ददर्श तान्भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥ ११० ॥
गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
ददर्शाऽथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ १११ ॥
उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम् ।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रादिनीं वेतसैर्वृताम्॥ ११२ ॥
प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम् ।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ॥ ११३ ॥
सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥ ११४ ॥
उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ॥ ११५ ॥
तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद्भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरा जग्मुः केचित्तत्र विचुक्रुशुः ॥ ११६ ॥
प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चाऽपरे ।
अकुर्वत दयां केचित्पप्रच्छुश्चापि भारत ॥ ११७ ॥

पहुंची। उसने उस वनमें जाकर अनेक पर्वत, वृक्ष, नदी, तथा मृग और अनेक पक्षिओंको देखा, गुफा, पर्वतके नीचे स्थान और विचित्र नदियोंको देखा, उत्तम हंसनेवाली दमयन्ती नलको ढूंढती इस प्रकार दूर चलकर एक स्थानमें पहुंची। उसने वहां जाकर देखा कि एक हाथी घोडे और रथोंसे युक्त बडा भारी जनसमूह शीतजलवाली, सुन्दर, दोनों ओर वेतवाली,उत्तम जलपूर्ण चौडी नदीको तैरता है। जो नदी सारस, कुमरी, चकवोंके शब्दसे शोभित थी। (१०८–११३)

नलकी स्त्री यशस्विनी दमयन्ती उस जनसमूह को देख उसकी ओर जा, उसके बीचमें पहुंची, जिस समय वह उन्मत्तके समान शोकसे व्याकुल आधे वस्त्रको धारण किये दुर्बल, विवर्ण मुखवाली, मलिन और बिखरे केशवाली उस सेनाके मध्यमें पहुंची तो उसको देख कोई पुरुष इधर उधर भयसे भागने लगे, कोई चिन्ता करने लगे, कोई हंसने लगे,

काऽसि कस्याऽसि कल्याणि किं वा मृगयसे वने।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह काचित्त्वमसि मानुषी ॥११८॥
वद सत्यं वनस्याऽस्य पर्वतस्याऽथवा दिशः।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥११९॥
यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष वाऽस्माननिन्दिते ॥१२०॥
यथाऽयं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत्।
यथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत्१२१ ॥
तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीडिता ॥ १२२ ॥
सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चाऽत्र केचन।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ॥ १२३ ॥
मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम्।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥ १२४ ॥
विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः।
नलो नाम महाभागस्तं मार्गाम्यपराजितम् ॥ १२५ ॥
यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम्।

कोई उसकी निन्दा करने लगे। हे भारत! कोई कृपाकर उसका समाचार पूछने लगे, कि हे कल्याणि! तुम कौन और किसकी हो? इस वनमें क्या ढूंढती हो? हम तुमको देखकर भयसे व्याकुल हुए हैं। क्या तुम मानुषी हो? हे कल्याणि! हम तुम्हारी शरण हैं, तुम सत्य कहो, क्या तुम इस वन अथवा पर्वत दिशाओंकी देवी हो? हे अनिन्दिते! तुम यक्षी या राक्षसी अथवा देवी हो? तुम हमारा कल्याण करो। हे कल्याणि! जैसे हमारा झुण्ड सुखसे चला जाय और हमारा कल्याण हो, वही यत्न तुम करो। (११४—१२१)

सब झुण्डके ऐसे वचन सुनकर पतिशोकसे पीडित राजपुत्री साध्वी दमयन्ती झुण्डपति, बूढे, बालक और जो उनमें थे उन सबसे ऐसा बोली। तुम सब मुझको राजाकी पुत्री, राजा की बहु और राजाकी स्त्री जानो। मैं अपने पतिका दर्शन चाहती हूं। विदर्भ देशका राजा भीम मेरा पिता है और निषध देशका राजा महाभाग नल मेरा पति है, मैं उसी अपराजित नलको ढूंढती

नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥ १२६ ॥
तामुवाचाऽनवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ॥ १२७ ॥
अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥ १२८ ॥
कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन्वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ॥ १२९ ॥
ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥ १३० ॥
साऽब्रवीद्वणिजः सर्वान्सार्थवाहं च तं ततः ।
क नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ १३१ ॥
सार्थवाह उवाच—सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥१३२॥ [२५५७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि-
दमयन्तीसार्थवाहसंगमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

बृहदश्व उवाच —सा तच्छ्रुत्वाऽनवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।
जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ॥ १ ॥

फिरती हूं । यदि तुमने पुरुषसिंह, शत्रु-नाशन, मेरे प्यारे नलको कहीं देखा हो तो शीघ्र कहो । (१२२—१२६)

उस सुन्दर अङ्गवालीके ऐसे वचन सुन, शुचि-नामक झुण्डपति अपने झुण्ड-के सहित ऐसा बोला । हे कल्याणि ! हे शुचिस्मिते ! मैं झुण्डका स्वामी हूं, मेरे वचन सुनो । हे यशस्विनी ! इस मनुष्यरहित वनमें हाथी, गैंडा, भैंसा; शार्दूल, रीछ और हरिनोंको तो सर्वत्र देखता हूं, परन्तु मैंने नल नामक पुरुषको कहीं नहीं देखा. इस घोरवनमें मैंने तुम्हारे सिवा और किसी मनुष्यको नहीं देखा, अब यक्षोंके राजा भगवान मणि-भद्र हमसे प्रसन्न हों । अनन्तर उस बनिये और झुण्ड से दमयन्ती बोली, कि यह पुरुषोंका झुण्ड कहां जाता है, यह मुझसे कहो । सार्थवाह बोला, राजपुत्री ! यह बनियोंका झुण्ड चेदी देशके राजा सुबाहुके राज्यको लाभके निमित्त जा रहा है । (१२७–१३२) [२५५७]

वनपर्वमें चौसठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें पैंसठ अध्याय

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, सुन्दर अङ्ग

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥ २ ॥
ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।
बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ॥ ३ ॥
निर्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥ ४ ॥
संमते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।
उवास सार्थः सुमहान्वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥ ५ ॥
अथाऽर्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ॥ ६ ॥
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।
अथाऽपश्यत सार्थं तं सार्थजान्सुबहून्गजान् ॥ ७ ॥
ते तान्ग्राम्यगजान्दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा ।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ॥ ८ ॥
तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत् ।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृंगाणां पततां क्षितौ ॥ ९ ॥

वाली दमयन्ती उसके वचन सुन अपने पतिके दर्शनकी इच्छासे उसीके सङ्ग आगेको चली। अनन्तर बहुत समय बीतनेपर महाघोर वनमें उन सब बनियोंने चारोंओर पद्मोंसे भरा हुआ, मनोहर, बहुत घास और इन्धनसे संयुक्त फूलोंसे शोभित अनेक प्रकारके पक्षिओंसे सेवित निर्मल, मीठे, मनोहारी और ठण्डे जलसे भरे हुए सौगन्धिक नामक तडागको देखा; और वाहनोंके थकनेके कारण उन्होंने वहीं ठहरनेकी इच्छा की (१—४)

अनन्तर उन्होंने अपने झुण्डपतिकी आज्ञा लेकर उसी उत्तम वनमें तडागके पश्चिम ओर निवास किया। अनन्तर आधी रातके समय जब शब्द शान्त होगया और वह थके हुए बठोही सो रहे, तब मदरूपी झरनोंसे व्याकुल पर्वतकी नदीमें जल पीनेकी इच्छासे एक हाथिओंका झुण्ड आया, उसने उस झुण्डमें अनेक हाथियोंको देखा, वे उन पाले हुए हाथिओंको देख मारनेकी इच्छासे वेगसे मदमें भरे हुए उनकी ओर दौडे, जैसे पर्वतके शिखर टूटके पृथ्वीमें गिरते हैं, वैसेही वे हाथीभी दौडे। उन हाथियोंका वेग महा दुःसह हुआ।(५-९)

स्पन्दनामपि नागानां मार्गो नष्टा वनोद्भवाः ।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पाद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ॥ १० ॥
ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले ।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ॥ ११ ॥
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा बहवोऽभवन् ।
केचिद्दन्तैः करैः केचित्केचित्पद्भ्यां हता गजैः ॥ १२ ॥
निहतोष्ट्राश्वबहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्परहतास्तदा ॥ १३ ॥
घोरान्नादान्विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ॥ १४ ॥
एवंप्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाऽऽक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन्विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥ १५ ॥
आरावः सुमहांश्चाऽऽसीत्त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताऽधुना ॥ १६ ॥
रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।
सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्या वचनं मम ॥ १७ ॥
एवमेवाऽभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात्तदा ।

उस समय हाथियोंके दौडनेसे और वृक्षोंके गिरनेसे वनका मार्ग नष्ट हो गया ! अनन्तर तडागका मार्ग रुकनेसे उन हाथियोंने बनियोंको मारना आरंभ किया । पृथ्वीमें सोते हुए, शरणकी इच्छा करते हुए लोग महा हाहाकार करने लगे । नींदसे व्याकुल बटोही लोग वनके कुञ्जोंकी ओर दौडने लगे, कोई हाथियोंके दांतसे, कोई सूंड और कोई चरणोंसे मरने लगे । अनेक ऊंट, घोडे और पुरुषोंसे भरे हुए उस झुण्डके पुरुष रात्रिमें इधर उधर दौडनेके कारण एक से एक मिलकर मरने लगे । वे लोग घोर शब्द करते हुए पृथ्वीमें गिरने लगे । कोई वृक्षोंपर चढ कर भीतिसे गढोंमें गिर गये । (१०--१४)

हे राजन् ! प्रारब्धसे उस हाथियोंके झुण्डने उस भारी पुरुषदल को इस प्रकार नष्ट कर दिया । तीनों लोकको भयभीत करनेवाला महाघोर शब्द उस पुरुषदल से उठा, मानो कहीं आग लग रही है, शीघ्र दौडो हमको बचाओ, यह रत्नों के ढेर नष्ट होते हैं, इनको ले जाओ, यह धन सबोंका है, मैं झूठ नहीं कहता

पुनरेवाऽभिधास्यामि चिन्तयध्वं सकातराः ॥ १८ ॥
तस्मिंस्तथावर्तमाने दारुणे जनसंक्षये।
दमयन्ती च बुबुधे भयसंत्रस्तमानसा ॥ १९ ॥
अपश्यद्वैशसं तत्र सर्वलोकभयंकरम्।
अदृष्टपूर्वं तद्दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ॥ २० ॥
संसक्तवदनाश्वासा उत्तस्थौ भयविह्वला।
ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात्केचिदविक्षताः ॥ २१ ॥
तेऽब्रुवन्सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम्।
नूनं न पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ॥ २२ ॥
यथा यक्षाधिपः श्रीमान्न वै वैश्रवणः प्रभुः।
न पूजा विघ्नकर्तॄणामथवा प्रथमं कृता ॥ २३ ॥
शकुनानां फलं वाऽथ विपरीतमिदं ध्रुवम्।
ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ॥ २४ ॥
अपरेत्वब्रुवन्दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः।
यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ॥ २५ ॥
प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम्।
तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ॥ २६ ॥

हूं। हे डरे हुए लोगो! मैं तुमसे कहता हूं फिर सोचो। ऐसेही कहते हुए, सब लोग भयसे व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगे।(१५—१८)

जब इस प्रकार महाघोर पुरुष नाश का समय आया, तो भय से व्याकुल दमयन्तीभी जागी, उस कमलनैनी बालाने ऐसी आपत्ति पहले कभी नहीं देखी थी। उस सब लोक भयंकर आपत्तिको देखकर जंभाई और सांस लेती हुई, भयसे व्याकुल होकर उठी, उसमें जो बचे थे, वे सब रुधिरसे भींगे हुए, भयसे व्याकुल हुए,ऐसा कहने लगे,यह किसके कर्मका फल है, निश्चय हम लोगोंने महायशस्वी मणिभद्र और श्रीमान भगवान यक्ष नाथ कुबेरकीभी पूजा नहीं करी अथवा! विघ्नकारियोंकी पूजाभी हमने पहले नहीं की, अथवा यह शकुनोंका विपरीत फल है, अथवा ग्रहही विरुद्ध हुए हैं, यह संकट और कैसा आपडा है। और यह जो उन्मतके समान स्त्री अमानुष घोररूप बनाकर हमारे सङ्ग आई, जिसको हमने पहिले ही भयानक माया बताया था सो निश्चय



जंगली हाथियोंका हमला और दमयन्तीका शोक.

(भा. मु. औंध) (म. भा. वन. अ. ६५)

म
श्री-
पृ

राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयंकरी ।
तस्याः सर्वमिदं पापं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ २७ ॥
यदि पश्याम तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम् ।
लोष्टभिः पांसुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ॥ २८ ॥
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किल कृत्यकाम् ।
दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ॥२९॥
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद्यत्र काननम् ।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ॥ ३० ॥
अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान् ।
नाऽनुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ३१ ॥
न स्मराम्यशुभं किंचित्कृतं कस्यचिदण्वपि ।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ३२ ॥
नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत् ।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ॥ ३३ ॥
भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः ।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः ॥३४ ॥
निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते ।

कोई राक्षसी वा भयंकर पिशाचिनी है; इसमें कोई सन्देह नहीं, कि यह उसीके पापका फल है। (१९—२७)

यदि हम उस अनेक दुःखदायिनीको देखें तो अवश्यही लाठी ढेला तिनके काठ और मुक्कोंसे मारडालें। वही हमारे दलके नाश करनेवाली है! दमयन्ती उनके कठोर और रूखे वचन सुनकर अपने शरीरके बचानेकी इच्छासे उस दुःखको स्मरण करती हुई लज्जा और भयसे भरकर वनकी ओर भागी और विचारने लगी, हाय मेरे ऊपर ब्रह्माका कैसा घोर क्रोध हुआ है कि जिससे कल्याण प्राप्ति नहीं होती, यह कौनसे कर्मका फल है? मैं अपने कर्मको अच्छी प्रकार स्मरण करती हूं, परन्तु मैंने कभी मन वचन और कर्मसे थोडा भी पाप नहीं किया है, न जाने कौन से कर्मका फल है? निश्चय मेरे पूर्व जन्मका यह महापाप उदय हुआ है, जिससे इस प्रकार दुर्दशामें पडी हूं। पतिके राज्यका नाश, मित्रोंसे वियोग, पति और सन्तानोंसे छूटना, नाथसे रहित होना, बहुत सांपोंसे भरे हुए वनमें वास

अथाऽपरेद्युः संप्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ॥ ३५ ॥
देशात्तस्माद्विनिष्क्रम्य शोचन्ते वैशसं कृतम्।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च नराधिप ॥ ३६ ॥
अशोचत्तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम्।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये संप्राप्तोऽयं जनार्णवः ॥ ३७ ॥
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत्।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्याऽपि वै मया ॥ ३८ ॥
नाऽप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम्।
या नाऽहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥ ३९ ॥
न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते।
न च मे बालभावेऽपि किंचित्पापकृतं कृतम् ॥ ४० ॥
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम्।
मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ॥ ४१ ॥
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्याऽर्थाय देवताः।
नूनं तेषां प्रभावेण वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥ ४२ ॥
एवमादीनि दुःखार्ता सा विलप्य वराङ्गना।

यह क्या आपत्ति है? (२८—३५)

अनन्तर जब दूसरा दिन हुआ तो उस दलमें जो मरनेसे बचे थे, वे उस दुःखको शोचते हुए उस वनसे भागे और पिता पुत्र तथा मित्रोंका शोच करने लगे। हे नरनाथ! विदर्भराजपुत्री वहाँ शोच करने लगी कि, न जानूं मैंने कौनसा पाप किया है। देखो, इस निर्जन वनमें एक आदमिओंका महाझुण्ड मुझको मिला था, मेरे मन्दभाग्यके कारण उसकोभी हाथिओंके झुण्डने मारडाला, अवश्य अभी मुझको और भी दुःख भोगना शेष है। मैंने बूढोंसे सुना है, कि बिना समयके कोई पुरुष नहीं मरता। इसीसे इन हाथियोंनेभी मुझको नहीं मारा। (३५—३९)

मैंने बाल्यावस्थामें भी मनसे और कर्मसे कोई पाप नहीं किया, जिसका फल यह दुःख हुआ है, इससे जान पडता है, कि विना प्रारब्ध पुरुषको कुछ फल-प्राप्त नहीं होता। मुझे निश्चय होता है, कि स्वयंवरमें जो लोकपाल लोग आये थे, मैंने नलके अर्थ उनका निरादर किया था, अवश्य उनही देवतोंके प्रभावसे मुझे यह वियोग हुआ है। वह दुःखसे भरी हुई पतिव्रता,

प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ॥ ४३ ॥
हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद्राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ४४ ॥
गच्छन्ती साऽचिराद्बाला पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ॥ ४५ ॥
अथ वस्त्रार्धसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
तां विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ॥४६ ॥
उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ।
प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ॥ ४७ ॥
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात् ।
सा तैः परिवृताऽगच्छत्समीपं राजवेश्मनः ॥ ४८ ॥
तां प्रासादगताऽपश्यद्राजमाता जनैर्वृताम् ।
धात्रीमुवाच गच्छैनामानयेह ममाऽन्तिकम् ॥ ४९ ॥
जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी ।
तादृग्रूपं च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ॥ ५० ॥
उन्मत्तवेषा कल्याणी श्रीरिवाऽऽयतलोचना ।

सुन्दरी दमयन्ती इस प्रकार रोती हुई विलाप करने लगी । (४०--४३)

अनन्तर मरनेसे जो बचे थे, उनमेंसे थोडे वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंने शरत्कालकी चन्द्रमाकी कलाके समान दमयन्तीको मार्गमें देखा । अनन्तर वह बाला दमयन्ती बहुत कालतक चलती चलती एक दिन सन्ध्या समय चेदिदेशके राजा सत्यदर्शी सुबाहुके नगरके समीप पहुंची, और एकही वस्त्र पहने हुए उस उत्तम नगरमें गई । (४४— ४६)

उस विह्वल, दुर्बल, दीन, खुले केश वाली, मलिन दमयन्तीको उन्मत्तके समान आते हुए सब नगरवासियोंने देखा । उस नगरमें प्रवेश करती हुई दमयन्तीके पीछे खेलनेवाले नगरके लडके चले, वह उनके सहितही राजाके स्थानके समीप पहुंची (४६—४८)

लडकोंसे घिरी हुई दमयन्तीको महालमें बैठी हुई राजमाताने देखके धायसे कहा, कि तू इसको हमारे घरमें बुला ला, देखो इस शरण चाहनेवाली बालाको यह लडके दुःख दे रहे हैं, इसके रूपसे मेरा घर चांदना हुआ जाता है; यह विशालनैनी लक्ष्मीके समान रूप वाली कल्याणी, उन्मत्तके समान फिर रही है।

सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
आरोप्य विस्मिता राजन्दमयन्तीमपृच्छत।
एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ॥ ५२ ॥
भासि विद्युदिवाऽभ्रेषु शंस मे काऽसि कस्य वा।
न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ॥ ५३ ॥
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ॥ ५४ ॥
मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम्।
सैरन्ध्रीं जातिसंपन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ॥५५॥
फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम्।
असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ॥ ५६ ॥
भक्ताऽहमपि तं वीरं छायेवाऽनुगता पथि।
तस्य दैवात्प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥ ५७ ॥
द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान्।
तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥ ५८ ॥
आश्वासयन्ती भर्तारमहमप्यगमं वनम्।

वह धाय सब लडकोंको दूरकर दमयन्तीको उत्तम, महलमें लेगई, उससे आश्चर्य सहित राजमाताने पूछा कि, हे दिव्यस्वरूपे ! तुम इस आपत्तिमें पडकरभी ऐसी उत्तम शोभाको धारण करती हो, जैसे बादलोंमें बिजली चमकती है, हमसे कहो कि तुम कौन और किसकी हो ? भूषणोंसे रहितभी तुम्हारा स्वरूप मानुषीके ऐसा नहीं दीखता। तुम्हारा कोईभी सहाय नहीं है ? क्या तुम पुरुषोंसे नहीं घबराती हो ? (४९—५४)

राजमाताके ऐसे वचन सुनकर दमयन्ती बोली, मैं पतिव्रता, मानुषी, अन्तःपुरके रहनेवाली, अपनी इच्छासे निवास करनेवाली दासी हूं, केवल फल मूल खाकर जहां सन्ध्या हो वहां रह जाती हूं, मेरा पति असंख्य गुणोंसे भरा हुआ और मेरा प्रिय है, मैं भी उस वीरकी वैसीही भक्त हूं, और नित्यही छायाके समान उनके पीछे चलती हूं ! प्रारब्धसे उनको जुएकी अत्यन्त इच्छा हुई, वह जुए में सब कुछ हार गये, और अकेले वनको चल दिये, मैंभी उन व्याकुल और उन्मत्तके समान अपने वीर पतिके सङ्गही उनको धैर्य बंधाती हुई सङ्गही वनको चली। (५४–५९)

स कदाचिद्वने वीरः कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ॥ ५९ ॥
क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत् ।
तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥ ६० ॥
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा ।
ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित् ॥ ६१ ॥
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान्मामनागसम् ।
तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥ ६२ ॥
साऽहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम् ।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु ।
राजमाताऽब्रवीदार्ता भैमीमार्तस्वरां स्वयम् ॥ ६४ ॥
वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ॥ ६५ ॥
अपि वा स्वयमागच्छेत्परिधावन्नितस्ततः ।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ॥ ६६ ॥
राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥ ६७ ॥

एक दिन वह वीर वनमें भूखसे अत्यन्त व्याकुल हुए और उस एक वस्त्रकोभी इसी कारणसे खो बैठे। अनन्तर मैं उस विमना, नङ्गे और चेतना रहित पतिके सङ्गही एक वस्त्र धारण किये हुए वनमें घूमने लगी और कई राततक नहीं सोई, अनन्तर एक दिन मुझको सोती हुई छोड मेरा आधा कपडा फाड वह कहीं को चले गये। अब मैं वियोगसे जलती हुई, अपने पतिको ढूंढती हुई, उस अपने प्यारेको कमलकी गुठलीके समान अपने हृदयमें देखती हुई फिर रही हूं। उन देवतोंके समान रूपवाले प्राणनाथको कहींभी नहीं पाती हूं। (५९—६३)

उस रोती हुई आंसुवोंसे पूर्ण आंखवाली दमयन्तीके ऐसे वचन सुन राजमाता बोली। हे कल्याणि! हे भद्रे! तुम यहीं निवास करो, मेरा तुमसे परम प्रेम है, तुम्हारे पतिको मेरे पुरुष ढूंढेंगे अथवा इधर उधर घूमता हुआ वह आपही यहां आजायगा। हे भद्रे! तुम यहां रहकर अपने पतिको प्राप्त करोगी ६४-६६

राजमाताके वचन सुन दमयन्ती

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम् ।
न चाऽहं पुरुषानन्यान्प्रभाषेयं कथंचन ॥ ६८ ॥
प्रार्थयेद्यदि मां कश्चिद्दण्ड्यस्ते स पुमान्भवेत् ।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ॥ ६९ ॥
भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम् ।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ॥ ७० ॥
अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित् ।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ॥ ७१ ॥
सर्वमेतत्करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम् ।
एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशांपते ॥ ७२ ॥
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत ।
सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ॥ ७३ ॥
वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम् ।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ॥ ७४ ॥
ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत् ।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ॥ ७५ ॥
सा तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत ।

बोली, हे वीरजननी ! यदि आप मुझसे यह सब प्रण करें तो मैं रह सकती हूं। मैं जूंठा नहीं खाऊंगी, पैर नहीं धोऊंगी और यदि कोई मेरी इच्छा करे तो वह आपसे प्राणदण्ड पावें ! यह मेरा प्रण है। और अपने पतिके ढूंढनेके लिये ब्राह्मणोंको मैं रोज देखा करूं। यदि आप यह सब स्वीकार करें तो मैं निःसन्देह यहां रह सकती हूं। इसके अन्यथा मेरा निवास हृदयमेंभी संभव नहीं है। (६७—७१)

यह सुन राजमाता प्रसन्न हो बोली, जो तुम्हारा प्रण है,सो सब मैं ऐसेही करूंगी ! हे राजन् ! राजमाता दमयन्तीसे ऐसा कहकर अपनी पुत्री सुनन्दासे बोली, हे सुनंन्दे ! यह सैरन्ध्री साक्षात् देवरूपिणी है, और तुम्हारी समान अवस्थावालीभी है, इस हेतु तुम इसको अपनी सखी बनालो। इसके सङ्ग रहकर तुम प्रसन्नचित्तसे सदाही आनन्द करो। सुनन्दा माताके वचन सुन परम प्रसन्नहुई और अपनी सब सखियोंके सहित दमयन्तीको सङ्ग ले अपने स्थानको गई। दमयन्ती वहां सब भोगोंको प्राप्त करके

सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगाऽवसत्तदा ॥ ७६ ॥ [२६३३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीचेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ३५॥

बृहदश्व उवाच— उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशांपते ।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने ॥ १ ॥
तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित् ।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चाऽसकृत् ॥ २ ॥
मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम् ।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम् ॥ ३ ॥
स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा ।
उवाच मां विद्धि राजन्नागं कर्कोटकं नृप ॥ ४ ॥
मया प्रलब्धो महर्षिर्नारदः सुमहातपाः ।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप ॥ ५ ॥
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित् ।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात् ६॥
तस्य शापान्न शक्तोऽस्मि पदाद्विचलितुं पदम् ।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हसि मां भवान् ॥ ७ ॥

राजपुत्रीसे पूजित हो, आनन्दसे रहने लगी। (७१—७६)[२६३३]

वनपर्वमें पांसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छासठ अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे प्रजानाथ युधिष्ठिर! राजा नल दमयन्ती को छोड कर महावनमें घूमने लगे,अनन्तर एक-स्थानमें जलती हुई आगको देखा और उसके बीचमेंसे उसने यह शब्द सुना। हे नल ! पुण्यश्लोक! शीघ्र आओ,दौडो। यह सुनतेही कुछ भय मत करो ऐसा कह कर नल उस आगके बीचमें घुस गया और वहां जाकर देखा कि एक सर्पोंका राजा कुण्डलाकार बैठा था। (१–३)

नलको देखतेही वह नाग हाथ जोड कर कांपता हुआ ऐसा बोला, कि हे नरनाथ ! मेरा नाम कर्कोटक नाग है। मैंने महातपस्वी महर्षि नारदका दर्शन किया, था, उन्होंने क्रोधमें भरके मुझ को शाप दिया,कि जबतक राजा नल यहां न आवें, तबतक तू स्थावरके समान यहीं पडा रह,जब तू उनको देखगाही तब मेरे शापसे छूटेगा। हे महाराज! मैं उनके शा-पसे एक चरणभी नहीं चल सकता हूं।

सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः ।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम् ॥ ८ ॥
एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाऽङ्गुष्ठमात्रकः ।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद्देशं दावविवर्जितम् ॥ ९ ॥
आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना ।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत् ॥ १० ॥
पदानि गणयन्गच्छ स्वानि नैषध कानिचित् ।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत्परम् ॥ ११ ॥
ततः संख्यातुमारब्धमदशद्दशमे पदे ।
तस्य दष्टस्य तद्रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ १२ ॥
स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः ।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः ॥ १३ ॥
ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन्नलमब्रवीत् ।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति ॥ १४ ॥
यत्कृते चाऽसि निकृतो दुःखेन महता नल ।
विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति ॥ १५ ॥

आप मेरी रक्षा कीजिये, मैं आपको कल्याणका उपदेश करूंगा । मेरे समान कोईभी नाग नहीं हैं; मैं आपका मित्र हूंगा, अब मैं हलका बन जाता हूं, तुम मुझको उठाकर शीघ्र ले चलो ।(४-८)

ऐसा कहकर वह नागराज अंगूठेके समान शरीरवाला हो गया। नल उसको उठाकर अग्निरहित देशमें लेगये;वह सांप अग्निसे छूटा। जब नलने उसके छोडनेकी इच्छा की,तो वह सर्प आकाशमें जाकर कहने लगा कि, हे नल ! अपने चरणोंको गिनगिनकर कुछ दूर चलो, हे महाबाहो! हम तुम्हारे वास्ते कुछ कल्याणका उपदेश करेंगे । जब नल अपने पैरोंको गिनने लगा, तब उस नागने दशवें चरणपर नलको काट लिया, उसके काटतेही नलका वह सुन्दर स्वरूप नष्ट हो गया । नलने अपने शरीरको कुरूप देख महा आश्चर्य किया! अनन्तर रूपधारी सर्पको देखा । (९--१३)

तब कर्कोटक नाग नलको शान्त करता हुआ ऐसा कहने लगा, जिसमें पुरुषलोग तुमको न जान सकें, इसीलिये तुम्हारे रूपको मैंने नष्ट कर दिया है, हे नल ! तुम जिसके कारणसे छलमें पडकर इस दुःखको भोग रहे हो, मेरे विष

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत्त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत्त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ॥ १६ ॥
अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥ १७ ॥
न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥ १८ ॥
राजन्विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
सङ्ग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥
गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाऽक्षनैपुणः ॥ २० ॥
अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।
स तेऽक्षहृदयं दाता राजाऽश्वहृदयेन वै ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान्मित्रं चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाऽक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ॥ २२ ॥
समेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।

से वही कलि दुःख पावेगा । हे महाराज ! मेरे विष से भरे तेरे शरीरमें कलि जबतक तुमको नहीं छोडेगा, तबतक महा दुःख सहैगा । हे महाराज ! जिसने तुमको विना अपराधके दुःख दिया है, वह स्वयंही दुःख पावेगा, तुमने हमारी रक्षा की है, तुमने अपने क्रोधसे उसकी हानि नहीं चाही, अब तुमको सिंहादि तीक्ष्ण दाढवाले और शत्रुओंसेभी कुछ भय नहीं होगा। (१४-१८)

हे नरनाथ ! मेरे प्रसादसे तुमको वेद जाननेवालोंसेभी भय नहीं होगा । हे राजन् ! मेरे विषकी पीडाभी तुमको नहीं होगी । तुम युद्धमें निरन्तर जीततेही रहोगे, हे राजन् ! अब तुम इस दिशाको चले जाओ और अपना नाम बाहुक सूत बताना, राजा ऋतुपर्णके पास जाना, क्योंकि वह जुएकी विद्यामें बहुत निपुण हैं । हे निषधराज ! वह रम्य नगरी अयोध्याका राजा है । तुमसे घोडेकी विद्या सीखकर तुमको जुएकी विद्या सिखला देगा । इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण तुम्हारे मित्रभी हो जायंगे । तब तुम पाशोंकी विद्याको जान जाओगे, तो परम कल्याणको प्राप्त होंगे । (१८-२२)

तब तुम अपने पुत्र और राज्यको प्राप्त करोगे, मैं तुमसे सत्य कहता हूं,

राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥
स्वं रूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं विवासयेः ॥ २४ ॥
अनेन वाससा छन्नः स्वंरूपं प्रतिपत्स्यसे।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥ २५ ॥
एवं नलं च संदिश्य वासो दत्त्वा च कौरव।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ २६ ॥ [२६७९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटकसंवादे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

बृहदश्व उवाच— तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद्दशमेऽहनि ॥ १ ॥
स राजानुपातिष्ठद्बाहुकोऽहमिति ब्रुवन्।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥ २ ॥
अर्थकृच्छ्रेषु चैवाऽहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥ ३ ॥
यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन्यच्चैवाऽन्यत्सुदुष्करम्।
सर्वं यतिष्ये तत्कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥ ४ ॥

मनमें कुछ शोक मत करो! हे राजन्! जब तुम अपने रूपको चाहो तो इस वस्त्रको ओढकर मेरा स्मरण करना, इस वस्त्रके ओढते ही तुम अपने रूपको प्राप्त हो जाओगे, ऐसा कहकर उसने नलको दो दिव्य वस्त्र दिये। हे कौरव! हे राजन्! नागराज नलसे ठीक ऐसा कहकर और वस्त्र देकर वही अन्तर्द्धान हो गये। (२३–२६) [२६७९]

वनपर्वमें छासठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सदसठ अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, नागके अन्तर्द्धान होनेके पश्चात् राजा नल वहांसे चले और दसवे दिन राजा ऋतुपर्णके नगरमें पहुंचे और राजाके पास जाकर ऐसा बोले, मेरा नाम बाहुक है, घोडोंके हाकनेकी विद्यामें मेरे समान पृथ्वीमें कोई नहीं है, बडे कठिन धनक्षयके समयमें मैं मन्त्र दे सकता हूं और भोजन बनानाभी सबसे अच्छा जानता हूं, जगत्में जितनी शिल्पविद्या हैं, उन सबको अच्छी प्रकार जानता हूं, औरभी जो कठिन कर्म हैं, सबको कर सकता हू। हे ऋतुपर्ण! आप हमको नौकर रख

ऋतुपर्ण उवाच— वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत्करिष्यसि ।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥ ५ ॥
स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम ।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शताः ॥ ६ ॥
त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ॥ ७ ॥
बृहदश्व उवाच— एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत्तत्र पूजितः ।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥ ८ ॥
स वै तत्राऽवसद्राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन् ।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥ ९ ॥
क्व नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी ।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साऽद्योपतिष्ठति ॥ १० ॥
एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत् ।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥ ११ ॥
आयुष्मन्कस्य वा नारी याभेवमनुशोचसि ।

लीजिये । (१—४)

ऋतुपर्ण बोले, हे बाहुक! तुम्हारा कल्याण हो, तुम हमारे यहां रहो, रथके शीघ्र चलानेमें सदाही बुद्धि रहती है। हे सूत ! तुम ऐसा उपाय करो जिससे मेरे रथके घोडे शीघ्र चल सकें, तुम आज से मेरी घुडशाल के स्वामी हुए, आजसे तुमको दश सहस्र सोनेकी मुद्रा प्रति मास मिला करेगी, वार्ष्णेय और जीवल तुम्हारी आज्ञामें रहा करेंगे। हे बाहुक ! इन दोनोंके सङ्ग आनन्द करते हुए तुम मेरे यहां रहो। (५–७)

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, कि राजाके ऐसे वचन सुन,सत्कार पाकर राजा नल वार्ष्णेय और जीवलके सङ्ग अयोध्यामें निवास करने लगे। राजा नल वहां निवास करते हुए सदा दमयन्तीहीकी चिन्ता करते रहते थे, सन्ध्याके समय नित्य यह बात कहा करते थे, "वह तपस्विनी भूख, प्यास और थकाईसे व्याकुल होकर कहां सोती होगी ? और उस मन्दभाग्यका स्मरण करती हुई कौनसे स्थानमें सोती होगी ?" नलको यह बात प्रति दिन कहते सुनकर, एकदिन जीवलने पूछा, कि हे बाहुक ! तुम रातको किसका नित्य स्मरण करते हो? सो मैं सुननेकी इच्छा रखता हूं, हे आयुष्मन् ! तुम किसकी स्त्रीका स्मरण

तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
आसीद्बहुमता नारी तस्याऽदृढतरं वचः ।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ॥ १३ ॥
विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १४ ॥
निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स्म गायति ॥ १५ ॥
स विभ्रमन्महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ।
वसत्यनर्हस्तद्दुःखं भूय एवाऽनुसंस्मरन् ॥ १६ ॥
सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ।
त्यक्ता तेनाऽल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ॥ १७ ॥
एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति ॥ १८ ॥
श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ।
त्यक्ता तेनाऽल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ॥ १९ ॥
इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ।
अज्ञातवासं न्यवसद्राज्ञस्तस्य निवेशने ॥ २० ॥ [२६७८]

इति श्रीमहाभारते०वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७॥

करते हो? (८—१२)

प्रश्नको सुनकर नल बोले, कि किमी मन्दबुद्धिवाले पुरुषकी एक बहुत प्यारी स्त्री थी, उसका वचन चंचल था। कभी वह मूर्ख पुरुष किसी प्रयोजनसे उस स्त्रीसे बिछुड गया; बिछुडनेके पश्चात् वह मूर्ख दुःखसे पीडित होकर शोकसे जलता हुआ रात दिन निद्रारहित घूमता है, और रात्रिमें उसका स्मरण करके इस श्लोकको गाया करता है, वह समस्त पृथ्वीको घूमकर कुछ जीविका प्राप्त करके उसीका स्मरण करता हुआ दुःखमें अयोग्य होने परभी पुनः पुनः उसीका स्मरण करता है; क्योंकि वह स्त्री महादुःखके समयभी उसके सङ्ग महावनको चली गई थी। उस पापीने उसको वन में अकेली छोड दिया। यदि प्रारब्धवश दुःखसे जीतीभी होगी, तो वह अकेली मार्गोंको न जाननेवाली उस दुःख सहनेके अयोग्य बाला भूख और प्याससे व्याकुल होकर सिंहों से भरे हुए घोर वनमें घूमती होगी। हे आर्य! इस प्रकारसे उस मन्दभाग्य मन्दबुद्धिने अपनी स्त्रीको छोड दिया। इस प्रकार राजा

बृहदश्व उवाच— हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये प्रेष्यतां गते ।
द्विजान्प्रस्थापयामास नलदर्शनकांक्षया ॥ १ ॥
सन्दिदेश च तान्भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम् ।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ॥ २ ॥
अस्मिन्कर्मणि संपन्ने विज्ञाते निषधाधिपे ।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ॥ ३ ॥
अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसंमितम् ।
न चेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ॥ ४ ॥
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।
इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतोदिशम् ॥ ५ ॥
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ।
नैव क्काऽपि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ॥ ६ ॥
ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद्राजवेश्मनि ॥ ७ ॥
पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।

नल दमयन्तीका स्मरण करते हुए उस राजाके घरमें छिपकर रहने लगे । (१२–२०) [२६७९]

वनपर्वमें सदसठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्व अडसठ अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले,जब राजा नल अपनी स्त्रीके सहित वनको चले गये, तो राजा भीमने नलके दर्शनकी इच्छासे अनेक ब्राह्मणोंको भेजा । बहुत धन देकर कह दिया कि तुम लोग नल और मेरी पुत्री दमयन्तीको हेरो; इस कर्मके सिद्ध हो जाने पर अर्थात् नलका पता लग जाने पर तब जो कोई दोनोंको यहां ले आवेगा वह अग्रहार पावेगा, और उसको नगरके समान गांव मिलेगा । यदि नल वा दमयन्तीको यहां न ला सके और केवल पताही लगा दे, तो भी एक सहस्र गौ का मूल्य पावेगा । (१--५)

ऐसे वचन सुन ब्राह्मण लोग प्रसन्न हो सब ओर को चल दिये । वे लोग नगर और राज्योंमें स्त्रीके सहित नलको ढूंढने लगे परन्तु कहींभी नल वा दमयन्तीका पता न पाया । अनन्तर सुदेव नामक ब्राह्मण उनको ढूंढता चेदिपुरीमें जा निकला । उसने वहां राजाके स्थान में दमयन्तीको देखा, कि राजाके पुण्याह वाचनके समय सुनन्दाके सहित बैठी

मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाऽप्रतिमेन ताम् ॥
निबद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ॥ ८ ॥
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥ ९ ॥

सुदेव उवाच—
यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना ।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् १०॥
पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ॥ ११ ॥
चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ।
इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ १२ ॥
विदर्भसरसस्तस्माद्दैवदोषादिवोद्धृताम् ।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १३ ॥
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ।
पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ॥ १४ ॥
विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १५ ॥

थी, परन्तु वह असाधारण रूप मन्द होनेसे दमयन्ती ऐसे जान नहीं पडती थी जैसे धूएंसे छिपे हुए सूर्यकी किरण। उस विशाल नैनीको अधिक दुर्बल और मलिन देख सुदेव ब्राह्मणने अनेक कारणोंसे निश्चय किया कि यही दमयन्ती है। (५—९)

सुदेव बोला, कि जैसा इस स्त्रीको मैंने पहले देखा था वैसीही अबभी है। आज इस लोकसुन्दरीको लक्ष्मीके समान देखकर मैं कृतार्थ हो गया। यह पूर्णचन्द्रमाके समान रूपवाली, श्यामवर्ण वाली, सुन्दर पयोधरवाली, सब दिशाओंको अपने तेजसे अन्धकाररहित कर रही है; यही उत्तम कमलसमान बडे नेत्रवाली साक्षात् रतीके समान है; यही चद्रमाकी किरणके समान सबलोगोंकी प्यारी है; यही विदर्भरूप तडागसे दैवके दोषसे मनरूपी कीचडसे भरी हुई साक्षात मृणालिनी (कमलकी डण्डीके)समान है,इसका रूप पतिके शोकसे दीन होनेसे ऐसा जान पडता है, जैसे राहुसे ग्रसित चद्रमा सहित पूर्णमासीकी रात्रि हो, अथवा सूखी हुई नदीका तट। (१०-१४)

अहा! इसका रूप कैसा होगया है ? जैसे टूटे पत्रवाले कमलोंसे भरी हुई,

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
दह्यमानामिवाऽर्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १६ ॥
रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥ १७ ॥
कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च ।
देहं धारयतीं दीनां भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ॥ १८ ॥
भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ॥ १९ ॥
दुष्करं कुरुतेऽत्यन्तं हीनो यदनया नलः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनाऽपि सीदति ॥ २० ॥
इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममाऽपि व्यथते मनः ॥ २१ ॥
कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ।
भर्तुः समागमात्साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ॥ २२ ॥
अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ।

डरे हुए पक्षियोंवाली, हाथीकी सूंडसे टुटी हुई कमलनीका रूप हो; रत्नगठित स्थानोंमें रहनेके योग्य, यह सुकुमारी, कोमलाङ्गी, इस समय ऐसी आपत्तिमें पडी है, जसे सूर्यकी किरणसे जली हुई कमलकी मृनाली (डण्डी) रूप और उदारतासे भरी हुई, भूषणोंके योग्य दमयन्ती इस समय बिना भूषणोंके, आकाशमें नीले बादलोंसे छाई हुई चद्रमाकी किरणके समान शोभित हो रही है, यह काम, भोग और प्यारे बन्धुओंसे रहित होकरभी केवल पतिके दर्शनकी इच्छासे अपने दुःखी जीवनको धारणकर रही है, बिना आभूषणोंकेभी स्त्रीको पतिही आभूषण है, यह सुन्दरी होनेपर भी बिना पतिके शोभित नहीं होती। (१५-१९)

यदि इसको त्यागकर नल जीता है, और इसके शोकसे व्याकुल न हो तो बडे कठोर कर्मको कर रहा है। इस नीलकेशी, कमलनैनी, सुखके योग्य दमयन्तीको दुःखिनी देखकर मेरा मनभी दुःखसे व्याकुल हुआ जाता है, यह सुन्दरी साध्वी अपने पतिसे मिलकर इस दुःखके पार कब जायगी? जैसे रोहिणी चन्द्रमासे मिलकर सुखी होती है, तैसे यह कब होगी? निश्चय राजा नल इससे मिलकर अपने छुटे हुए राज्य और

राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ॥ २३ ॥
तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम् ।
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ २४ ॥
युक्तं तस्याऽप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् । ॥ २५ ॥
अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ॥ २६ ॥

बृहदश्व उवाच— एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपागम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद्राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहाऽऽगतः ॥ २८ ॥
कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ॥ २९ ॥
त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवाऽऽसते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ॥ ३० ॥

बृहदश्व उवाच— अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।

पृथ्वीको पाकर प्रसन्न होंगे । शील वय और कुलसे युक्त दमयंती को नल और नलकेलिये दमयंती प्राप्त होने योग्य है। राजा नलही इस कमलनैनीके योग्य है। मुझे उचित है, कि उस अप्रमेय बलवान राजा नलकी स्त्रीको धीरज दूं; क्योंकि यह अपने पतिके दर्शनकी अत्यंत इच्छा रखती है, मैं इस पूर्णचन्द्रमुखी, दुःख न देखनेवाली, दुःखसे व्याकुल, शोकवती, दमयन्तीको आश्वासित करूंगा। (२० —२६)

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, सुदेव ब्राह्मण अनेक कारणोंसे अपने मनमें निश्चय कर और उसको लक्षणोंसे पहचान दमयन्तीके पास जाकर ऐसा बोला। हे विदर्भराजनन्दिनि ! मैं तुम्हारे भाईका प्यारा मित्र सुदेव नामक ब्राह्मण हूं, राजा भीमके वचनसे तुम्हें यहां ढूंढनेको आया हूं। हे रानी ! तुम्हारे माता पिता और वहां रहनेवाले चिरंजीव तुम्हारे दोनों बालक कुशलसे हैं, परन्तु केवल तुम्हारेही निमित्त तुम्हारे भाईलोग निर्बलके समान होगये हैं, और तुम्हें ढूंढनेवाले सैकडों ब्राह्मण पृथ्वीमें घूम रहे हैं। (२७—३०)

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे युधिष्ठिर !

पर्यपृच्छत तान्सर्वान्क्रमेण सुहृदः स्वकान् ॥ ३१ ॥
रुरोद च भृशं राजन्वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ॥ ३२ ॥
ततो रुदन्तीं तां दृष्ट्वा सुनन्दां शोककर्शिताम् ।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ॥ ३३ ॥
जनित्र्याः कथयामास सैरन्ध्री रुदते भृशम् ।
ब्राह्मणेन सहागम्य तां वेद यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥
अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चाऽन्तःपुरात्तदा ।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाऽभवत् ॥ ३५ ॥
ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशांपते ।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ॥ ३६ ॥
कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना ।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ॥ ३७ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः
तत्त्वेन हि ममाऽऽचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ॥३८॥
एवमुक्तस्तया राजन्सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥ ३९ ॥ [२७१८]

इति श्रीमहा०वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसुदेवसंवादेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

दमयन्तीने सुदेवको पहचानकर क्रमसे अपने सब बन्धुओंका समाचार पूछा, अनन्तर अपने भाईके मित्र, ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, सुदेवको देखकर शोकसे व्याकुल दमयन्ती बहुत रोई । अनन्तर उसको रोती हुई, और सुदेवसे एकान्तमें कुछ बात करती हुई देखकर सुनन्दा शोकसे व्याकुल होगई, और अपनी मांसे कहने लगी, कि आज एक ब्राह्मणके सङ्ग बात करती हुई सैरिन्ध्री बहुत रोरही है। यदि तू जान सके तो जान । (३१-३४)

अनन्तर चेदिराजकी माता रनवासमे निकलकर उस स्थानपर पहुंची जहां दमयन्ती ब्राह्मणसे बात कर रही थी, हे राजन् ! अनन्तर राजमाताने सुदेव को एकान्तमें बुलाकर पूछा, कि यह सुन्दरी किसकी पुत्री और किसकी स्त्री है, अपने बन्धु और पतिसे कैसे अलग होगई ? हे ब्राह्मण ! तुम इस पतिव्रताके सब चरित्रको जानते हो, सो सब मैंभी सुननेकी इच्छा रखती हूं, इस देवरूपिणीका सब वृत्तान्त हमसे कहो। हे राजन्! ब्राह्मणों

सुदेव उवाच— विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥ १ ॥
राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ॥ २ ॥
स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कस्यचित् ॥ ३ ॥
ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम्।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ॥ ४ ॥
अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ॥ ५ ॥
श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ६ ॥
चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः।
प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नाऽतिविराजते ॥ ७ ॥
न चाऽस्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम्।
असंस्कृतमभिव्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम् ॥ ८ ॥

में सुदेवने राजमाताके ऐसे वचन सुनकर सुखसे बैठकर दमयन्तीका सब वृत्तान्त इस प्रकार कहना आरम्भ किया॥३४-३९

वनपर्वमें अडसठ अध्याय समाप्त। [२७१८]

वनपर्वमें उनहत्तर अध्याय।

सुदेव बोले, कि महा तेजस्वी धर्मात्मा भीम नामक विदर्भके राजा हैं। यह कल्याणी उन्हींकी पुत्री है। निषध देश के राजा वीरसेनके पुत्र बुद्धिमान् पवित्र-कीर्ति राजा नलकी स्त्री है, उस महा-राजाको भाईने जुएमें हराके राज्यसे नि-काल दिया, वह दमयन्तीके संगही वन को चले गये, अब न जाने कहां है। सो हम लोग दमयन्तीके निमित्त पृथ्वी में घूमते हैं, आज हमने इसको तुम्हारे स्थानमें पाया, मानुषियोंमें इसके समान रूपवाली कोई नहीं है। (१--५)

इसके भौहोंके बीचमें जो मसा दीख-ता है, सो जन्म ही से है, मैंने इस सु-न्दरीके पद्मतुल्य मुखपर यह छिपा हुआ मसा देखा, यह मैलसे ऐसा छिप गया है, जैसे मेघसे चन्द्रमा; ब्रह्माने ऐश्वर्य-के निमित्त यह इसका चिह्न बना दिया है। प्रतिपदाकी मन्दकान्ति चद्रमाकी कला शोभित नहीं होती है। इसका रूप शरीरमें मैलके भरनेसेभी अभी नष्ट नहीं

अनेन वपुषा बाला पिप्लुनाऽनेन सूचिता ।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशांपते ।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ॥ १० ॥
स मलेनाऽपकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत ।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ॥ ११ ॥
पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत ।
रुदन्त्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः ॥ १२ ॥
उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत् ।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनाऽनेन सूचिता ॥१३ ॥
अहं च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ॥ १४ ॥
भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे ॥ १५ ॥
यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भाविनि ।
यथैव च ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव ॥ १६ ॥
तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशांपते ।

हुआ है, देखो स्नानादि न करने परभी यह सोनेके समान प्रकाशित हो रही है। यह देवी इस शरीरसे केवल इस मसेसे-ही पहचानी जाती है । जैसे किसी वस्तु-से ढकी हुई आग उष्णतासे पहचानी जाती है । (५–९)

हे राजन् सुदेवके ऐसे वचन सुनकर राजमाताने दमयन्तीके मुखका मैल दूर करके उसके मसेको देखा । मैलके दूर होनेसे उसका मुख ऐसा शोभित होने लगा जैसे मेघरहित आकाशमें चन्द्रमा । हे भारत ! राजमाता और सुनन्दा उस मसेको देखकर दमयन्तीसे लपटकर कुछ समयतक रोती रहीं । अनन्तर आंसुवों-को पोंछकर राजमाता धीरेसे ऐसा बोली, इस चिह्नसे मैंने पहचान लिया, तू मेरी बहनकी पुत्री है,हे सुन्दरी ! मैं और तु-म्हारी माता दशार्ण देशके राजा महात्मा सुदामाकी पुत्री हैं,उसने तुम्हारी माता-को राजा भीमसे और मुझको राजा सु-बाहुसे ब्याहा था । तुम जब मेरे पिताके घरमें उत्पन्न हुई थी तबही मैंने तुम्हें देखा था । हे भामिनी ! जैसा तुम्हारे पिताका घर और ऐश्वर्य है, वैसा मेरे

प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥
अज्ञायमानाऽपि सती सुखमस्म्युषिता त्वयि ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाणा सदा त्वया ॥ १८ ॥
सुखात्सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः ।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥
दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ ॥ २० ॥
यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि ।
विदर्भान्यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥ २१ ॥
बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप ।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्याऽनुमते ततः ॥ २२ ॥
प्रास्थापयद्राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना ।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ॥ २३ ॥
ततः सा न चिरादेव विदर्भानगमत्पुनः ।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ॥ २४ ॥

घरकोभी जानो । (१०–१६)

दमयन्ती उसके वचनको सुन अत्यन्त प्रसन्न हुई। हे राजन्!अनन्तर दमयन्ती अपनी मौसीको प्रणाम करके ऐसा बोली, मैं छिपकरभी तुम्हारे घरमें सुखसे रही; तुमने मेरे सब मनोरथोंको पूर्ण किया; तुमने मेरी सदा रक्षा करी। हे माता! मुझको यह निश्चय है, कि अब मुझको इस सुखसे अधिक सुखका स्थान नहीं मिलेगा, अब मैं बहुत दिनसे परदेशमें घूमती हूं। अब मुझे आज्ञा दो, मेरे दोनों बालक पिता और मातासे रहित दुःखसे व्याकुल वहां न जाने कैसे रहते हैं। यदि तुम मेरा कुछ प्रिय काम करना चाहती हो, तो मैं विदर्भ देशके जानेकी इच्छा करती हूं, अतएव शीघ्र वाहनको आज्ञा दो। (१७–२१)

हे राजन् ! दमयन्तीकी मौसीने प्रसन्न होकर कहा, कि बहुत अच्छा। अनन्तर अपने पुत्रकी आज्ञासे भारी सेनासे रक्षित करके पालकी में बिठलाकर श्रीमती दमयन्तीको विदर्भ देशको भेज दिया। हे भरतश्रेष्ठ ! उसके सङ्गही खानेपीने और पहननेकी वस्तु भेजी। अनन्तर दमयन्ती वहांसे चलकर थोडेही दिनके पश्चात् विदर्भ नगरमें पहुंच गई। सब बन्धुलोग उसको देखकर बहुत प्रसन्न हुए, और उसका सन्मान करने लगे।

सर्वाङ्कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान्दारकौ च तौ ।
मातरं पितरं चोभौ सर्वं चैव सखीजनम् ॥ २५ ॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी ।
परेण विधिना देवी दमयन्ती विशांपते ॥ २६ ॥
अतर्पयत्सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः ।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥ २७ ॥
सा व्युष्टा रजनी तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी ।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २८ ॥

दमयन्त्युवाच— मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नरवीरस्य चैतस्य नलस्याऽऽनयने यत ॥ २९ ॥
दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता ।
बाष्पेणाऽऽपिहिता राज्ञी नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ॥३०॥
तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा ।
हाहाभूतमतीवाऽऽसीद्भृशं च प्ररुरोद ह ॥ ३१ ॥
ततो भीमं महाराजं भार्या वचनमब्रवीत् ।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ॥ ३२ ॥
अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप ।

यशस्विनी देवी दमयन्तीने बान्धव, दोनों बालक, माता पिता और सब सखीवर्गको सुखी देखकर परम विधिसे देवता और सब ब्राह्मणोंकी पूजा करी। २२–२६

राजा भीमने सुदेव ब्राह्मणको सहस्र गौ गांव और बहुत द्रव्य देकर प्रसन्न किया। यह दान राजाने अपनी पुत्रीको देखतेही दिया। हे राजन्! थकी हुई दमयन्तीने उस रात्रिको अपने पिता हीके घरमें विताया।अनन्तर सुन्दर दमयन्ती अपनी मातासे कहने लगी। दमयन्ती बोली, हे माता! मैं तुमसे सत्य कहती हूं कि यदि तुम मेरा जीना चाहती हो तो पुरुषोंमें वीर नलके ढूंढनेका यत्न करो। (२७-२९)

दमयन्तीके ऐसे वचन सुनकर उसकी माता अत्यन्त दुःखित हुई,रोने लगी, कुछभी उत्तर न देसकी, रानीकी ऐसी दशा देखकर सब रनवासमें हाहाकार होने लगा और सब अत्यन्त रोने लगे। अनन्तर राजा भीमसे रानीने कहा, कि तुम्हारी पुत्री दमयन्ती अपने पतिका शोच करती है, हे राजन्! उसने लज्जाको त्यागकर मुझसे आप ऐसा कहा है, कि

प्रयतन्तु तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ॥ ३३ ॥
तया प्रदेशितो राजा ब्राह्मणान्वशवर्तिनः ।
प्रास्थापयद्दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ॥ ३४ ॥
ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद्ब्राह्मणास्तदा ।
दमयन्तीमथो सृत्वा प्रस्थितास्ते तथाऽब्रुवन् ॥ ३५ ॥
अथ तानब्रवीद्भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः ।
ब्रूयास्त जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः ॥ ३६ ॥
क नु त्वं कितव छित्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ ३७ ॥
सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाऽभिसंवृता ॥ ३८ ॥
तस्या रुदन्त्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ ३९ ॥
एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद्यथा मयि ।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ॥ ४० ॥
भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी हि पतिना सदा ।
तन्नष्टमुभयं कस्माद्धर्मज्ञस्य सतस्तव ॥ ४१ ॥

तुम्हारे दूत लोग नलके ढूंढनेका यत्न करें। (३०—३३)

यह सुनकर राजा भीमने अपने वश में रहनेवाले ब्राह्मणोंको आज्ञा दी, कि तुम लोग राजा नलके ढूंढनेका यत्न करो। राजाने उनको सब ओर भेज दिया। अनन्तर दमयन्तीने उनसे ऐसा कहा कि तुमलोग सब राज्योंमें जाकर बार बार इसी वचनको कहना, कि " हे प्यारे! तुम छलसे मेरे वस्त्रको फाडकर निर्जन वनमें प्यारी और पीछे चलनेवाली मुझे वनमें सोती हुई छोडकर कहां चले गये? तुमने जैसे उसको देखा था, वह बाला वैसेही आधा वस्त्रपहरे अत्यन्त दुःखसे जलती हुई अबतकभी वैसीही है। हे वीर! हे राजन्! उस रोती हुई अपने शोकसे व्याकुल स्त्रीको प्रसन्न करो और उसके वचनका उत्तर दो।" (३४—३९)

इसीके समान औरभी तुम अनेक वचन कहना, कि जिससे वे हमारे ऊपर कृपा करें। जैसे वायुके सङ्ग होकर अग्नि वनको जलाता है, तैसेही मेरा शरीरभी विरहसे जलता है। और यहभी कहना कि स्त्री सदाही पतिसे रक्षा और

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान्सदा ।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शंके मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ४२ ॥
तत्कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः ॥ ४३ ॥
एवं ब्रुवाणान्यदि वः प्रतिब्रूयात्कथंचन ।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चाऽसौ क नु वर्तते ॥ ४४ ॥
यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात्प्रतिवचो नरः ।
तदादाय वचस्तस्य ममाऽऽवेद्यं द्विजोत्तमाः ॥ ४५ ॥
यथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात् ।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ४६ ॥
यदि वाऽसौ समृद्धः स्याद्यदि वाऽप्यधनो भवेत् ।
यदि वाऽप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ॥४७॥
एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतोदिशम् ।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ॥ ४८ ॥
ते पुराणि सुराष्ट्राणि ग्रामान्घोषांस्तथाऽऽश्रमान् ।

पोषण करने योग्य है, सो धर्म जानने-वाले आप इन दोनों बातोंको किस लिये नष्ट करते हैं? आप तो पण्डित कुलीन और दयावान, सदासे प्रसिद्ध हैं, मुझे शंका होती है, कि मेरेही भाग्यसे आपने यह निर्दय कार्य किया। हे नरव्याघ्र! हे पुरुषर्षभ! आप मेरे उपर कृपा कीजिये, क्योंकि मैंने आपहीसे सुना है, कि "दया करनाही परम धर्म है।" (४०—४३)

ऐसा कहनेपर यदि तुमलोगोंसे कोई कुछ कहे तो उसका पता लगाना कि यह कौन है, और यहां क्या करता है? हे ब्राह्मणश्रेष्ठो! यदि तुम्हारे वचन सुनकर कोई कुछ उत्तर दे तो उसका वही वचन स्मरण करके मुझसे आकर कहना तुम लोग आलस्य रहित होकर ऐसा उपाय करना, कि जिसमें वह पुरुष ऐसा न जाने कि यह लोग-दमयन्तीकी आज्ञासे इन वचनोंको कहते फिरते हैं, और तुम शीघ्र हमारे पास आना। चाहे वह धनवान वा निर्धन अथवा असमर्थ ही क्यों न हो, उसका सब समाचार जान लेना। (४४—४७)

वे ब्राह्मण दमयन्तीके वचनोंको सुनकर दुःखी नलके ढूढनेको सब ओर चले गये। हे राजन्! वे ब्राह्मणलोग नगर, राज्य, गांव और आश्रमोंमें वेही वचन कहते हुए नलको ढूंढने लगे,

अन्वेषन्तो नलं राजन्नाऽधिजग्मुर्द्विजातयः ॥ ४९ ॥
तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशांपते ।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥ ५० ॥ [२७६८]

इति श्रीमहाभारते० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

बृहदश्व उवाच— अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः ।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
नैषधं मृगमाणेन दमयन्ति मया नलम् ।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ २ ॥
श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने ।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥ ३ ॥
तच्छ्रुत्वा नाऽब्रवीत्किञ्चिदृतुपर्णो नराधिपः ।
न च पारिषदः कश्चिद्भाष्यमाणो मयाऽसकृत् ॥ ४ ॥
अनुज्ञातं तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत् ।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥ ५ ॥
सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः ।
शीघ्रयानेषु कुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ॥ ६ ॥
स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः ।
कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥ ७ ॥

परन्तु कहींभी न पाया। हे प्रजानाथ! दमयन्तीने जैसे उन वचनोंको कहा था, वे ब्राह्मणलोगभी वैसेही सबको सुनाने लगे। (४८—५०) [२७६८]

वनपर्वमें उनहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें सत्तर अध्याय।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, बहुतकाल बीतनेपर पर्णाद नामक ब्राह्मण लौटकर विदर्भ नगरमें जाय दमयन्तीसे ऐसा वचन बोला। हे भीमपुत्री! मैंने ढूंढते ढूंढते भङ्गासुरीके पुत्र राजा ऋतुपर्णके यहां राजा नलको देखा। हे महाभागे महाजनोंके बीचमें मैंने तुम्हारे वचन सुनाये, सुनकर राजा ऋतुपर्ण कुछभी न बोले और कोईभी उनका सभासद कुछभी न बोले, परन्तु राजाकी आज्ञा लेकर एक बाहुक नामक राजाका नौकर एकान्तमें जाकर मुझसे कहने लगा। (१—५)

वह उस राजाका सूत है, और छोटे हाथवाला कुरूप था, परन्तु भोजनोंके उत्तम बनाने और रथके शीघ्र हांकनेमें बहुतही चतुर है; रोकर बार बार सांस

वैषम्यमपि संप्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ ८ ॥
रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान्धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ ९ ॥
विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत्सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ १० ॥
प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ ११ ॥
सत्कृताऽसत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम् ।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ १२ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहाऽऽगतः ।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥ १३ ॥
एतच्छ्रुत्वाऽश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशांपते ।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥
अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन ।
त्वत्संनिधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥ १५ ॥

लेता हुआ मुझ से कुशल पूछकर ऐसा बोला, जो कुलीन स्त्री दुःखोंमें पडकेभी अपनेहीसे अपनी रक्षा करती हैं, निःसन्देह उन्ही पतिव्रताओंने स्वर्गको जीत लिया है; उत्तम स्त्रीलोग पतिसे छूटनेपरभी क्रोध नहीं करती हैं; और उसके चरित्रोंको कहकर प्राणोंको धारण करती हैं; उस मूर्खने सुखोंसे भ्रष्ट होकर तो उसको छोड दिया; इससे उसको क्रोध करना उचित नहीं। भोजन चाहने वाले जब उसके वस्त्रको पक्षी लोग लेकर उड गये और वह दुःखोंसे जलने लगा तो उस निर्दोषी पर क्रोध करना उचित नहीं, चाहे वह सत्कारको पाती हो या न पाती हो तौभी राज्यसे भ्रष्ट लक्ष्मीसे हीन और दुःखोंसे पीडित पति पर क्रोध करना अनुचित है। (६-१२)

उसके यह वचन सुनकर मैं शीघ्रही यहां चला आया। अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो, और राजासेभी निवेदन कर दीजिये। हे प्रजानाथ! पर्णाद के वचन सुनकर रोती हुई दमयन्ती अपनी माताको एकान्तमें बुलाकर ऐसा बोली। हे माता! यह बात तुम राजासे मत कहियो, मैं तुम्हारे सामने ब्राह्मणश्रेष्ठ सुदेवको बुलाती हूं, यदि तुम मेरा प्यारा

यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम् ।
तथा त्वया प्रकर्तव्यं मम चेत्प्रियमिच्छसि ॥ १६ ॥
यथा चाऽहं समानीता सुदेवेनाऽऽशु बान्धवान् ।
तेनैव मङ्गलनाऽऽशु सुदेवो यातु मा चिरम् ॥ १७ ॥
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः ।
विश्रान्तं तु ततः पश्चात्पर्णादं द्विजसत्तमम् ॥ १८ ॥
अर्चयामास वैदर्भी धनेनाऽतीव भाविनी ।
नले चेहाऽऽगते तत्र भूयो दास्यामि ते वसु ॥ १९ ॥
त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति ।
यद्भर्त्राऽहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥ २० ॥
स एवमुक्तोऽथाऽऽश्वास्य आशीर्वादैः सुमङ्गलैः ।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ॥ २१ ॥
ततः सुदेवमानाय्य दमयन्ती युधिष्ठिर ।
अब्रवीत्संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥ २२ ॥
गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम् ।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि संपतन्निव कामगः ॥ २३ ॥
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम् ।

काम करना चाहती हो, तो ऐसा उपाय करो, कि जिसमें इस बातको मेरे पिता न जानें; जैसे सुदेवने मुझको बान्धवोंसे मिला दिया, तैसेही यह पुनःभी जायं, देर न करें। हे माता ! अयोध्या नगरीमें राजा नल ठहरे हैं, उनको लेनेको सुदेव ही जांय। (१३—१८)

अनन्तर पर्णादका श्रम दूर होनेके पश्चात् सुन्दरी दमयन्तीने उनको बहुत धन देकर प्रसन्न किया और कहा कि नलके आनेपर तुमको औरभी धन दूंगी। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे इस कार्यसे शीघ्रही अपने पतिसे मिलूंगी; तुमने यह हमारा बडा कार्य किया जो दूसरेसे नहीं हो सकता था, ब्राह्मणने उसके वचन सुन दमयन्तीको बहुत धीरज दिया; और अच्छे आशीर्वादसे प्रसन्न करके धन और मानसे कृतार्थ होकर अपने घरको गया। (१८-२१)

हे युधिष्ठिर ! अनन्तर दुःख और शोकसे भरी हुई दमयन्तीने अपनी माताके आगे सुदेवको बुलाकर ऐसा कहा। हे सुदेव ! तुम अयोध्यामें मनके समान शीघ्र जाकर वहांके राजा ऋतुपर्णसे ऐसा

तत्र गच्छान्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥
तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति ।
यदि संभावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम ॥ २५ ॥
सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति ।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ॥ २६ ॥
एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत् ।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥ २७ ॥ [२७९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि
दमयन्तीपुनःस्वयंवरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

बृहदश्व उवाच— श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
विदर्भान्यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥ २ ॥
एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह ।
व्यदीर्यत मनो दुःखात्प्रदध्यौ च महामनाः ॥ ३ ॥
दमयन्ती वदेदेतत्कुर्याद्दुःखेन मोहिता ।

कहना कि भीमकी पुत्री दमयन्ती पुनः अपना स्वयंवर करना चाहती है, वहां सब राजा और राजपुत्र जा रहे हैं, हे शत्रुनाशन ! मैने दिन गिन लिये हैं, वह स्वयंवर कलहीको होगा, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो शीघ्र जाओ; क्योंकि दूसरे दिनका सूर्य निकलतेही वह पतिको वरण कर लेगी । वीर नल अभीतक जीते हैं, वा मर गये इसका कुछ पता नहीं है। हे महाराज ! दमयन्तीके वचनको स्वीकार कर सुदेव अयोध्यामें पहुंचा और राजा ऋतुपर्णसे सब बात कह सुनाई। (२२-२७)

वनपर्वमें सत्तर अध्याय समाप्त । [२७९५]

वनपर्वमें इकत्तर अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! सुदेवके ऐसे वचन सुनकर राजा ऋतुपर्ण बाहुकसे मीठे वचनोंसे शान्तिपूर्वक ऐसा बोले, हे घोडोंके तत्त्व जानने वाले बाहुक ! दमयन्तीका स्वयंवर है, सो हम एकही दिनमें विदर्भ नगर पहुंचना चाहते हैं, कहो यह हो सकता है ? (१—२)

हे कौन्तेय ! राजाके ऐसे वचन सुन राजा नलका हृदय फटने लगा, परन्तु महामना नल धीरज धारण करके स्थिर रह गये, और ऐसा विचारने लगे, कि

अस्मदर्थे भवेद्वाऽयमुपायश्चिन्तितो महान् ॥ ४ ॥
नृशंसं बत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी ।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ॥ ५ ॥
स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्यात्सा विवासाद्गतसौहृदा ॥ ६ ॥
मम शोकेन संविग्ना नैराश्यात्तनुमध्यमा ।
नैवं सा कर्हिचित्कुर्यात्सापत्या च विशेषतः ॥ ७ ॥
यदत्र सत्यं वाऽसत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ॥ ८ ॥
इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं जनाधिपम् ॥ ९ ॥
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप ।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥ १० ॥
ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन्स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिनृपाज्ञया ॥ ११ ॥
स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।

क्या दमयन्ती ऐसा कह सकती है? क्या सच ही वह स्वयंवर करती है? या उस दुःखसे मोहित स्त्रीने हमारे ही लिये यह बडा उपाय रचा है? हाय बडे दुःखकी बात है,कि तपस्विनी कृपण दमयन्तीभी मुझ क्षुद्र पापबुद्धिसे छूटकर दूसरा पति करना चाहती है। स्त्रियोंका स्वभाव बडा चञ्चल होता है, और मेरा दोषभी घोर था। अथवा हो सकता है, कि इतने दिन अलग रहनेसे दमयन्तीको मेरा प्रेम न रहा हो। वह पतलीकमरवाली मेरे शोकसे घबडा रही होगी, परन्तु मुझसे निराश होने परभी वह ऐसा कर्म नहीं कर सकती,विशेषतः सन्तान रहते। इसमें जो सत्य वा झूठ होगा वहां जाकर सब निश्चय जान लूंगा, ऋतुपर्णका इच्छासे मैं अपना कार्य सिद्ध करूंगा।३-८

ऐसा विचारकर, दीन मनवाले बाहुकने हाथ जोडकर राजा ऋतुपर्णसे ऐसा कहा, हे महाराज! मैंने आपके वचन को माना; अब मैं आपके सहित एक ही दिनमें विदर्भ नगर पहुचूंगा। हे युधिष्ठिर! अनन्तर राजा ऋतुपर्णकी आज्ञा से बाहुकने घुडसालमें जाकर घोडोंकी परीक्षा करी। राजा ऋतुपर्णने कहा, कि शीघ्रता करो। उनकी ऐसी आज्ञा सुन,

अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
अध्यगच्छत्कृशानश्वान्समर्थानध्वनि क्षमान् ।
तेजोबलसमायुक्तान्कुलशीलसमन्वितान् ॥ १३ ॥
वर्जिताँल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान्महाहनून् ।
शुद्धान्दशभिरावर्तैः सिन्धुजान्वातरंहसः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा तानब्रवीद्राजा किंचित्कोपसमन्वितः ।
किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम् ॥ १५ ॥
कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम ।
महानध्वा च तुरगैर्गन्तव्यः कथमीदृशैः ॥ १६ ॥
वाहुक उवाच— एको ललाटे द्वौ मूर्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः ।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ॥ १७ ॥
एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान्नात्र संशयः ।
यानन्यान्मन्यसे राजन्ब्रूहि तान्योजयामि ते ॥ १८ ॥
ऋतुपर्ण उवाच— त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलो ह्यसि बाहुक ।
यान्मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥ १९ ॥
ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान् ।

नलने बार बार विचारकर घोडोंकी अच्छी प्रकार परीक्षा करी। अनन्तर मार्ग चलनेमें समर्थ दुबले दुबले घोडोंको बाहर निकाल लाये। (९--१३)

वे घोडे तेज बल और शीलसे भरे हुए, अच्छे कुलके उत्पन्न, बुरे लक्षणोंसे रहित, मोटी नाक, भारी ओठवाले, दश भौरियोंसे सहित, सिन्धु देशके उत्पन्न हुए और वायुके समान शीघ्र जानेवाले थे। उनको देखकर राजा कुछ क्रोध करके बोले, कि तू यह क्या करना चाहता है? हम तुमसे धोखा खाने योग्य नहीं हैं। ये थोडे बलवाले घोडे हम लोगोंको कैसे लेजा सकते हैं?और इनसे हम इतनी-दूर कैसे पहुंचेंगे ? (१३—१६)

बाहुक बोले, जिस घोडेके माथेमें एक, सिरमें दो, कांखमें और हृदयमें दो दो भौरी हों, वही घोडा बलवान और चलनेमें असाधारण होता है; निश्चय ये घोडे एकही दिनमें विदर्भ नगर पहुचेंगे, अथवा जिन घोडोंको आप आज्ञा दें उन्हींको मैं जोतूं। ऋतुपर्ण बोले,हे बाहुक! तुम घोडोंके तत्त्व जाननेमें निपुण हो, जिनको तुम समर्थ जानो उनहींको शीघ्र जोत लाओ। (१७—१९)

अनन्तर रथविद्यामें निपुण नलने कुल

योजयामास कुशलो जवयुक्तान्रथे नलः ॥ २० ॥
ततो युक्तं रथं राजा समारोहत्त्वरान्वितः।
अथ पर्यपतन्भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥ २१ ॥
ततो नरवरः श्रीमान्नलो राजा विशांपते।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥ २२ ॥
रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥ २३ ॥
ते चोद्यमाना विधिवद्बाहुकेन हयोत्तमाः।
समुत्पेतुरथाऽऽकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥ २४ ॥
तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान्वहतो वातरंहसः।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान्विस्मयं परमं ययौ ॥ २५ ॥
रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत्।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥ २६ ॥
किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥ २७ ॥
शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित्।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥ २८ ॥

और शीलसे भरे हुए उत्तम चार घोडों को रथमें जोता। अनन्तर राजा ऋतुपर्ण शीघ्रता सहित उस रथपर चढे। उनके चढतेही चारों घोडे पृथ्वीपर बैठ गये। तब श्रीमान् पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा नलने उन तेजस्वी घोडोंको चुचकारा, और लगाम पकडकर ठीक किया;तब वे घोडे तेज और बलसे भर गये। अनन्तर नलने घोडोंको हांका। जब वे अत्यन्त वेगसे चलने लगे, तो वार्ष्णेय सूतको हांकनेके स्थानपर बैठा दिया। अनन्तर बाहुकके हांकनेसे वे घोडे ऋतुपर्णको आश्चर्ययुक्त करते हुए रथको लेकर आकाश में पहुंच गये। (२०—२४)

उन घोडोंको वायुके समान चलते हुए देखकर श्रीमान् अयोध्याके राजा परम आश्चर्य करने लगे। उस सारथी वार्ष्णेयने बाहुकके उस रथके शब्दको सुनकर, लगाम पकडनेकी रीति देखकर तथा बाहुककी अश्वविद्या देखकर विचारा, क्या यह इन्द्रका सारथी मातली है? क्योंकि वीर बाहुकमें भी वैसेही सब लक्षण दीखते हैं। अथवा घोडोंके कुलके तत्त्वको जाननेवाले साक्षात्

उताऽऽहोस्विद्भवेद्राजा नलः परपुरञ्जयः ।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥ २९ ॥
अथ चेह नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः ।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥ ३० ॥
अपि चेदं वयस्तुल्यं बाहुकस्य नलस्य च ।
नाऽयं नलो महावीर्यस्तद्विद्यश्च भविष्यति ॥ ३१ ॥
प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ता शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥ ३२ ॥
भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति ।
प्रमाणात्परिहीणस्तु भवेदिति मतिर्मम ॥ ३३ ॥
वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः ।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये बाहुकमन्ततः ॥ ३४ ॥
एवं विचार्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत् ।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥ ३५ ॥
ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो बाहुकस्य हयज्ञताम् ।
चिन्तयन्मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ॥ ३६ ॥

शालिहोत्र हैं । उन्होंनेही यह उत्तम पुरुषका शरीर धारण किया है; अथवा शत्रुओंके जीतनेवाले यह साक्षात् नलही हैं ? जान पडता है, कि महाराजहीने यह रूप धारण किया है, क्योंकि जिस विद्याको महाराज नल जानते थे, उसीको बाहुकभी जानता है,और राजा नल और बाहुककी बुद्धिभी समानही दीखती है; तथा नल और बाहुककी अवस्थाभी एकही जानपडती है । यदि यह महापराक्रमी नल नहीं हैं, तो उनहीके सिखाये हुए कोई हैं । (२५-३१)

अनेक महात्मालोग इस पृथ्वीपर अपने रूपको छिपाकर दैवविधानको ग्रहण करके शास्त्रकी विधिके अनुसार घूमते हैं; अतएव, इनके शरीरको कुरूप देखकर मेरी बुद्धिका भेद नहीं होना चाहिये; परन्तु प्रमाणहीन होनेसे बुद्धिभी नष्ट हो सकती है । देखो इसकी अवस्था नलहीके समान है । अन्तको मैं निश्चय कह सकता हूं कि सब गुणोंसे भरे हुए नलहीने अपना नाम बाहुक रख लिया है । (३२—३४)

हे महाराज ! राजा नलके सारथी वार्ष्णेयने ऐसा विचारकर अपने हृदयमें निश्चय कर लिया कि राजा नल येही

ऐकाग्र्यं च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत् ।
परं यत्नं च संप्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥ ३७ ॥ [२८३२]

इति श्रीमहा० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भगमन एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

बृहदश्व उवाच— स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणाऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १ ॥
तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमधोऽपश्यद्भ्रष्टं परपुरञ्जयः ॥ २ ॥
ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥ ३ ॥
निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान्महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेनं मे पटमानयतामिह ॥ ४ ॥
नलस्तं प्रत्युवाचाऽथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाऽऽहर्तुं शक्यते पुनः ॥ ५ ॥
एवमुक्ते नलेनाऽथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन्फलवन्तं बिभीतकम् ॥ ६ ॥
तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।

हैं। अनन्तर राजा ऋतुपर्ण बाहुककी अश्वविद्याको देखकर वार्ष्णेय सारथीके सहित बहुतही प्रसन्न हुये। उस एकाग्रता,उत्साह, घोडोंका पकडना और परम यत्नको देखकर राजा अत्यन्तही प्रसन्न हुए। (३५-३७) [२८३२]

वनपर्वमें एकाहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें बाहत्तर अध्याय

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! अनन्तर वह रथ पक्षीके समान आकाशमें चलता हुआ शीघ्रही नदी, पर्वत,वन और तडागोंके पार हो गया, इस प्रकार चलते हुए रथपर बैठे हुए शत्रुनाशन राजाऋतुपर्णने अपने दुपट्टेको पृथ्वीमें गिरा हुआ देखा, अनन्तर राजाने बहुत शीघ्र प्रसन्न होकर नलसे कहा कि मैं अपना दुपट्टा लेना चाहता हूं, हे महाबुद्धे ! तुम इन बहुत शीघ्र चलनेवाले घोडोंको इतने समयतक रोको कि जबतक वार्ष्णेय मेरे दुपट्टे को उठा लावे। (१-४)

नलने ऋतुपर्णसे कहा, कि आपका दुपट्टा बहुत दूर गिरा है; उसको कोई लानेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि वह चार कोश पीछे रह गया। ऐसे कहे हुए राजा ऋतुपर्णने उस वनमें एक फल और

समाऽपि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥ ७ ॥
सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नाऽस्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठाऽस्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥ ८ ॥
वृक्षेऽस्मिन्यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ॥ ९ ॥
एकपत्राधिकं चाऽत्र फलमेकं च बाहुक ।
पञ्चकोट्योऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ॥ १० ॥
प्रचिनु ह्यस्य शाखे द्वे याश्चाऽप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥ ११ ॥
ततो रथमवस्थाप्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन्कत्थसे शत्रुकर्शन ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षमेतत्कर्ताऽस्मि शातयित्वा बिभीतकम् ।
अथाऽत्र गणिते राजन्विद्यते न परोक्षता ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये बिभीतकम् ।
अहं हि नाऽभिजानामि भवेदेव न वेति वा ॥ १४ ॥
संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप ।
मुहूर्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन्यच्छतु वाजिनाम् ॥ १५ ॥

फूले हुए बहेडेके वृक्षको देखा। उसको देखकर राजाने शीघ्रता सहित बाहुक को कहा, कि हे सूत ! तुम मेरी अङ्क विद्याकी कुशलताको देखो, सब कोई सब विद्याको नहीं जानता, एक पुरुष में सब ज्ञान नहीं रहते हैं। (५-८)

हे बाहुक ! इस वृक्षमें जितने फल और पत्ते हैं;और नीचे जितने गिर गये हैं; वे ऊपरके पत्तों और फलोंकी अपेक्षा एकसौ एक अधिक हैं। हे बाहुक ! दोनों शाखाओंमें पांच करोड पत्ते हैं, इन दोनों शाखाओंसे जो छोटी शाखा चली हैं, उन सबमें दो हजार एक सौ उनचास फल हैं ! (९-११)

तब बाहुकने रथको रोककर राजासे कहा, हे राजन् ! आप परोक्षकी बातको कहते हैं,मैं इस बहेडेके वृक्षको काटकर आपकी बातका निश्चय करूंगा, क्योंकि इस गणित विद्यामें परोक्षवाद नहीं है। हे महाराज ! मैं आपके आगेही इस वृक्षको काटता हूं, क्योंकि मैं नहीं जानता कि यह सत्य है, वा झूठ ? हे नरनाथ ! मैं आपके सामने वृक्षको काटता हूं, कुछ देरतक वार्ष्णेय घोडोंकी लगाम पकडे

तमब्रवीन्नृपः सूतं नाऽयं कालो विलम्बितुम्।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥ १६ ॥
प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथवा त्वरते भवान्।
एष याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥१७॥
अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन्कुरुनन्दन।
त्वमेव यन्ता नाऽन्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ॥१८॥
त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान्हयकोविद।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥
कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक।
विदर्भान्यदि यात्वाऽद्य सूर्यं दर्शयिताऽसि मे ॥ २० ॥
अथाऽब्रवीद्बाहुकस्तं संख्याय च बिभीतकम्।
ततो विदर्भान्यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ॥ २१ ॥
अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह।
एकदेशं च शाखायाः समादिष्टं मयाऽनघ ॥ २२ ॥
गणयस्वाऽश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह।
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥ २३ ॥

रहे। (१२-१५)

तब राजाने नलसे कहा, कि हे सूत ! यह समय देर करनेका नहीं है। परम यत्नवान् बाहुकने कहा, कि कुछ थोडी देर आप ठहरिये, अथवा यही आपका शुभ मार्ग है वार्ष्णेयको सारथी बनाकर चले जाइये। (१६-१७)

हे कुरुनन्दन ! बाहुकके ऐसे वचन सुनकर राजाने उससे सान्त्वनापूर्वक कहा, कि हे बाहुक ! जगत्में तुमही एक सारथी हो, दूसरा नहीं। हे हयकोविद! तुम्हारेही कर्त्तव्यसे मैं विदर्भ नगरको जा रहा हूं। मैं तुम्हारी शरण हूं, तुम विघ्न मत करो, यदि तुम सूर्यके रहते विदर्भ नगरमें मुझे पहुंचाओगे, तो जो तुम कहोगे सोई तुम्हारा काम करूंगा। १८-२०

बाहुकने कहा कि मैं इस वृक्षके पत्तोंका निश्चय करके अगाडी चलूंगा। आप मेरे इस वचनको स्वीकार कीजिये। अनन्तर राजाने इच्छा न रहतेभी कहा कि अच्छा गिनो। हे पापरहित ! मैं वृक्षकी एक शाखाके काटनेकी आज्ञा देता हूं। हे अश्वतत्त्वज्ञ ! तुम एक शाखाके पत्ते गिनकर प्रसन्न हो।(२१-२३)

अनन्तर नलने रथसे उतरकर शीघ्रही उस वृक्षको काटडाला और उसके फलों

ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि तु ॥ २४ ॥
अत्यद्भुतमिदं राजन्दृष्टवानस्मि ते बलम् ।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां ययैतज्ज्ञायते नृप ॥ २५ ॥
तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृप ।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ॥ २६ ॥
बाहुकस्तमुवाचाऽथ देहि विद्यामिमां मम ।
मत्तोऽपि चाऽश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद्वचः ॥ २८ ॥
यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।
निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक ॥ २९ ॥
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ।
तस्याऽक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ॥ ३० ॥
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात्सततमुद्वमन् ।
कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः॥ ३१ ॥
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ।

को गिना, राजाने जितने बतलाये थे, ठीक उतनेही पाया। तब आश्चर्य करके राजासे कहने लगे, हे राजन् मैंने यह आपका बल अद्भुत देखा। हे नरनाथ! मैं इस विद्याको यथावत सीखना चाहता हूं। (२३-२५)

शीघ्र चलनेकी इच्छावाले राजाने कहा, कि तुम मुझको जुवा और गिननेकी विद्यामें निपुण जानो! बाहुक बोले, हे पुरुषर्षभ! यह विद्या मुझे सिखला दीजिये और मुझसे घोडेकी विद्या सीख लीजिये। राजा ऋतुपर्णने भारी काम और घोडेकी विद्याके लोभसे उसके वचन को स्वीकार कर लिया। अनन्तर राजाने कहा कि हे बाहुक! यह जुवेकी हृदय विद्या तुम हमसे यथावत ग्रहण करो, और घोडेकी विद्या तुम्हारेही हृदयमें रहे। ऐसा कह ऋतुपर्णने नलको जुएकी सब विद्या सिखला दी। (२६—३०)

जुएका तत्त्व सीखतेही नलके शरीरसे कलियुग निकल गया वह मुख से कर्कोटक सांपका विष वमन करता था, उस कलिके शरीरसे वह शापाग्निही बाहर आने लगा। उस कलिने राजा नलको

ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत्कलिः ॥ ३२ ॥
तं शप्तुमैच्छत्कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ।
तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ॥ ३३ ॥
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ।
इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माऽशपत्पुरा ॥ ३४ ॥
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ।
अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ॥ ३५ ॥
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि शृणु चेदं वचो मम ॥ ३६ ॥
ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद्भविष्यति ॥ ३७ ॥
भयार्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे ।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत्कोपमात्मनः ॥ ३८ ॥
ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश बिभीतकम् ।
कलिस्त्वन्यैस्तदाऽदृश्यः कथयन्नैषधेन वै ॥ ३९ ॥

बहुत देर तक विवेकहीन बनाकर बडा दुःख दियाथा। उक्त प्रकार शरीर विषहीन होनेके बाद कलीने भी अपना रूप प्रकट किया। तब निषधराज नलने क्रोध करके कलिको शाप देना- चाहा। (३०—३३)

अनन्तर कालियुगने हाथ जोडकर डरते हुए ऐसा कहा, हे महाराज! आप क्रोधको शान्त कीजिये,मैं आपको बहुत बढाऊंगा। आपसे छूटते समय इन्द्रसेनकी माताने मुझको शापदिया था, उससे मैं बहुत पीडित हुआ हूं। हे अपराजित! मैंने आपके शरीरमें कर्कोटक नागके विषसे रात जिन जलते हुए महा दुःखसे वास किया है; मैं आपकी शरण हूं; आप मेरे वचन सुनिये; जगतमें जो कोई आलस्य रहित होकर आपका चरित्र वर्णन करेगा; उसको मुझसे उत्पन्न हुआ दुःख कदापि न होगा। यदि शरण आये भयसे पीडित मुझको आप शाप न देंगे, तो मेरा कहा हुआ वचन सत्य होगा। (३३—३७)

राजा नलने ऐसा सुनकर अपने क्रोधको शान्त किया। तब कालियुग भयसे पीडित होकर उसी बहेडेके वृक्षमें घुस गया, परन्तु कालियुग और राजा नल की इन बातों को किसीने भी न सुना और न कालियुगको किसीने देखा।

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।
संप्रणष्टे कलौ राजा संख्यायाऽस्य फलान्युत ॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसाऽथ परेण वै ॥ ४० ॥
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ।
बिभीतकश्चाऽप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ॥ ४१ ॥
हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ।
नलः संनोदयामास प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ४२ ॥
विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ।
नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद्गृहम् ॥ ४३ ॥
ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत्पृथिवीपतिः ।
विमुक्तः कलिना राजन्रूपमात्रवियोजितः ॥४४॥ [२८७६]

इति श्रीमहा०वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिनिर्गमे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

बृहदश्व उवाच— ततो विदर्भान्संप्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम् ।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥
स भीमवचनाद्राजा कुण्डिनं प्राविशत्पुरम् ।
नादयन्रथघोषेण सर्वाः स विदिशो दिशः ॥ २ ॥

अनन्तर शत्रुनाशन निषधराज तेजस्वी नल सब दुःखोंसे रहित हो फलोंको गिन कलियुगको दूरकर परमतेज और आनन्दसे पूर्ण हो रथपर चढ शीघ्रता सहित घोडोंको हांकने लगे । उस दिन से कलियुगके प्रविष्ट होनेसे वहेडेका वृक्ष नीच होगया । (३७—४१)

अनन्तर वे घोडे फिरभी पक्षियोंके समान उडने लगे । महा यशस्वी राजा नलने अपने अन्तःकरणसे घोडोंको विदर्भ देशकी ओर चलाया, राजा नलके जानेके पश्चात् कलियुगभी वृक्षसे निकल अपने स्थानको चला गया। हे राजन् ! राजा नलभी कलियुगके निकलनेसे सुखी होगये, परन्तु केवल कुरूपहीसे दुःखी रहे । (४२–४४) [२८७६]

वनपर्वमें बाहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें तिहत्तर अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, अनन्तर सत्य पराक्रम राजा ऋतुपर्ण सन्ध्या समय विदर्भ नगरके द्वारपर पहुंचे, और द्वारपालोंने यह समाचार राजा भीमको दिया । राजा ऋतुपर्ण, राजा भीमकी आज्ञा पाकर कुण्डिनपुरमें गये, उस समय नलने रथमेंसे ऐसा शब्द निकाला जिससे दशों दिशा पूर्ण होगई । उस रथके

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ॥ ३ ॥
दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥ ४ ॥
परं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम् ।
नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ॥ ५ ॥
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ॥ ६ ॥
प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः ।
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ॥ ७ ॥
तच्छ्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन्मेघनाद इवोत्सुकाः ॥ ८ ॥
दमयन्त्युवाच-- यथाऽसौ रथनिर्घोषं पूरयन्निव मेदिनीम् ।
ममाऽऽह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥ ९ ॥
अथ चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनंक्ष्यामि न संशयः ॥ १० ॥
यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाऽद्याऽहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ॥ ११ ॥

शब्दको सुनकर नलके घोडे ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे पहले नलको देखकर होते थे। (१-३)

दमयन्तीने नलके उस रथ शब्दको ऐसा सुना जैसे वर्षा कालमें मेघ गर्जता है। दमयन्तीको रथका महाशब्द सुनकर परम आश्चर्य हुआ। जैसे नलके हांकनेसे शब्द होता था, तैसेही घोडोंका शब्द यहभी था। उस महाराजके रथके शब्दको महलोंपर बैठे हुए मोर और अपने स्थानोंमें बंधे हुए हाथी और घोडोंने सुना, सुनतेही मोर और हाथी घोडे उधरहीको मुह करके ऐसा शब्द करने लगे; जैसे मेघके गर्जनेसे करते हैं। (४-८)

दमयन्ती बोली, यह रथका शब्द पृथ्वीको पूर्ण करता हुआ मेरे हृदयको प्रसन्न कर रहा है, निश्चय यही राजा नल हैं। अब यदि राजा नलके चन्द्रमाके समान मुखको न देखूंगी, यदि उस असंख्य गुणवाले वीरको न प्राप्त करूंगी, तो निःसन्देहही मर जाऊंगी। यदि आज उस वीरके कोमल हाथोंके बीचमें प्रवेश न करूंगी, तो निःसन्देह पृथ्वीमें

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥
यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः ।
नाऽभिगच्छति राजेन्द्रो विनंक्ष्यामि न संशयः ॥१३॥
न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यपकारताम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ॥ १४ ॥
प्रभुः क्षमावान्वीरश्च दाता चाऽप्यधिको नृपैः ।
रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ॥ १५ ॥
गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात्प्रियविनाकृतम् ॥ १६ ॥
एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ।
आरुरोह महद्वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ॥ १७ ॥
ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ॥ १८ ॥
ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ।
हयांस्तानवमुच्याऽथ स्थापयामास वै रथम् ॥ १९ ॥

न रहूंगी । यदि आज मेघके समान गंभीर वाणीवाले निषधराजको न पाऊंगी, तो सोनेके समान अग्निमें जल मरूंगी । यदि आज सिंहके समान तेजस्वी, मतवाले हाथी के समान बली राजा नल मुझको न प्राप्त होंगे, तो अवश्यही प्राण देदूंगी । (९—१३)

मैं उनके असत्यभाषण, उनका अपकार तथा उपहासमेंभी उनका वृथा भाषण स्मरण नहीं करती हूं । हमारा निषधराज समर्थ, क्षमावान, वीर, दाता, और सब राजोंसे बडा है; और वह नीच कर्मको नहीं करता, तथा दूसरी स्त्रियोंके सङ्ग नपुंसकके समान है । मैं रात दिन उसके गुणोंको स्मरण करती हुई समय विताती हूं । उस प्यारेके विना मेरा हृदय शोकसे फटा जाता है । (१४—१६)

हे राजन् ! दमयन्ती इस प्रकार रोती हुई चेतना रहितसी हो गई । अनन्तर नलके देखनेकी इच्छासे ऊंची अटारीपर चढ गई । तब नगरके बीचकी सडकमें वार्ष्णेय सारथीके सहित रथमें बैठे हुए राजा ऋतुपर्ण और बाहुकको देखा । बाहुक और वार्ष्णेय रथसे उतरे, घोडोंको रथसे अलग करके रथको स्थापन किया । (१७—१९)

सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ।
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ २० ॥
तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः ।
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ॥ २१ ॥
स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः ।
न च किंचित्तदाऽपश्यत्प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ॥ २२ ॥
स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ।
अकस्मात्सहसा प्राप्तं श्रीमन्तं न स्म विन्दति ॥२३॥
किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ।
नाऽभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ॥ २४ ॥
ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान्सत्यपराक्रमः ।
राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कंचन ॥ २५ ॥
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ।
ततो विगणयद्राजा मनसा कोसलाधिपः ॥ २६ ॥
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ।
राजाऽपि च स्मयन्भीमो मनसा समचिन्तयत् ॥ २७॥
अधिकं योजनशतं तस्याऽगमनकारणम् ।
ग्रामान्बहूनतिक्रम्य नाऽध्यगच्छद्यथातथम् ॥ २८ ॥

महाराज ऋतुपर्णभी रथसे उतरकर महा पराक्रमी भीमसे मिलनेको चले। राजा भीमने उनका बहुत आदर और सत्कार किया,राजा ऋतुपर्ण उनसे आदर पाकर मनोहर कुण्डिनपुरमें रहे और बार बार स्वयंवरकी सामग्री को देखने का यत्न करने लगे, परन्तु कुछ न जान पडा। अनन्तर राजा भीमने उनको बुलाय और स्त्रियोंकी करतूतको न जाननेवाले राजा भीमने ऋतुपर्णसे कहा कि आपका स्वागत हो, महाराज ! किस निमित्त यहां आये हैं सो कहें। राजा भीम यह नहीं जानते थे, कि यह हमारी पुत्रीके निमित आये हैं। (२०--२४)

बुद्धिमान सत्यपराक्रम राजा ऋतुपर्ण ने भी किसी राजा और राजपुत्रको वहां न देख स्वयंवरका कोई समाचार न जान, राजा भीमसे ऐसा कहा कि मैं केवल आपको प्रणामही करनेको आया हूं। राजा भीम भी आश्चर्य युक्त होकर मनमें चिन्ता करने लगे, कि चार सौ कोससे भी अधिक दूर पर इनका स्थान

अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्याऽऽगमनकारणम् ।
पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद्भविष्यति ॥ २९ ॥
नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ।
विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः ॥ ३० ॥
स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ।
राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत् ॥ ३१ ॥
ऋतुपर्णे गते राजन्वार्ष्णेयसहिते नृपे ।
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत् ॥ ३२ ॥
स मोचयित्वा तानश्वाननुपचर्य च शास्त्रतः ।
स्वयं चैतान्समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ३३ ॥
दमयन्त्यपि शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ।
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं बाहुकं च तथाविधम् ॥ ३४ ॥
चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिःस्वनः ।
नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम् ॥ ३५ ॥
वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ।
तेनाऽद्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत् ॥ ३६ ॥
आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा ।

है, इतने दूरसे अनेक गांवोंको नांघकर थोडे कार्यके निमित्त यह क्यों आये ? अवश्य यह कारण नहीं है, जो हो प्रातः काल सबही जान जायंगे। विचारकर ऋतुपर्णसे बोले, आप बहुत थके हुए हैं, अब विश्राम कीजिये। ऐसा कह कर उनको विसर्जन किया। (२५-३०)

राजा ऋतुपर्ण भी भीमसे सत्कार पाकर प्रसन्न हुए। अनन्तर राजसेवकोंके सहित उस स्थानको गये जो उनके ठहरनेको ठीक किया गया था। राजा ऋतुपर्णके जानेके पश्चात् बाहुक भी वार्ष्णेयके सहित रथ लेकर रथशालामें गये। वहां जाकर रथसे घोडोंको खोल कर शास्त्रके अनुसार घोडोंकी सेवा करके घोडोंको प्रसन्न करके आप रथके समीप बैठ रहे। (३१—३३)

दमयन्तीने भी रथमें ऋतुपर्ण और वार्ष्णेयको देखकर शोकसे व्याकुल होकर शोचा, कि यह कौनसे सारथीके रथका शब्द हुआ ? यह शब्द तो नलहीके रथका है परन्तु निषधराजको नहीं देखती। जान पडता है, कि वार्ष्णेयने भी इस विद्याको सीख लिया है, इसीसे इस रथ

यथाऽयं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥ ३७ ॥
एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशांपते।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ॥ ३८ ॥ [२९१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि भीमपुरीप्रवेशे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

दमयन्त्युवाच— गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥ १ ॥
अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥ २ ॥
अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥ ३ ॥
ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुद्ध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥ ४ ॥
ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत्।
दमयन्त्यपि कल्याणि प्रासादस्था ह्युपैक्षत ॥ ५ ॥
केशिन्युवाच— स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम्।

का महाशब्द नलके रथके समानही हुआ है; अथवा राजा ऋतुपर्ण भी उनही गुणोंसे भरे हैं, जो राजा नलमें थे; क्योंकि इस रथका शब्द नलके रथके समान हुआ है।हे राजन्! सुन्दरी दमयन्तीने इस प्रकार अनेक तर्क वितर्क करके राजा नलके ढूंढनेको एक दूती भेजी।(३४-३८)

वनपर्वमें तिहत्तर अध्याय समाप्त [२९१४]

वनपर्वमें चौहत्तर अध्याय।

दमयन्ती बोली, हे केशिनि! तुम जाकर देखो, कि यह विरूप छोटे हाथोंवाला सूत कौन है, जो रथके समीप बैठा है? हे भद्रे! हे अनिन्दिते! तुम इस पुरुषके पास जाकर यथायोग्य सावधान होकर मीठे वचनसे कुशल पूछना; मुझे बहुत शङ्का होती है कि महाराज नल यही हैं। तुम इस प्रकार बात बना कर कहना कि इसका मन और हृदय सन्तुष्ट हो, और बातोंके अन्तमें वही पर्णादकी बात कहना। हे सुश्रोणि! हे अनिन्दिते! वह जो कुछ उत्तर दे, उसको तुम ध्यान देकर सुनना। (१—४)

दूती उसके वचनको सुनकर बाहुकसे जाकर बोली और कल्याणी दमयन्ती भी अटारीपर चढकर देखने लगी। केशिनी बोली, हे मनुष्येन्द्र कहिये आप कुशलसे

दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥
कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चाऽऽगताः ।
तत्त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ ७ ॥

बाहुक उवाच— श्रुतः स्वयंवरो राज्ञा कोसलेन महात्मना ।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ॥ ८ ॥
श्रुत्वैतत्प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः ।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच— अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः ।
त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥ १० ॥

बाहुक उवाच— पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः ।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ ११ ॥
अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः ।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच— अथ जानाति वार्ष्णेयः क नु राजा नलो गतः ।
कथं च त्वयि वा तेन कथितं स्यात्तु बाहुक ॥ १३ ॥

तो हैं ? हे पुरुषसिंह ! आगे दमयन्तीने आपसे जो अच्छे वचन कहे हैं सो सुनिये । आप लोग अपने घरसे कब चले थे ? और यहां क्यों आये हैं ? यह सब सत्य सत्य कहिये, विदर्भराज पुत्री सुनना चाहती है । (५ —७)

बाहुक बोले, कि महात्मा कोशलराज राजा ऋतुपर्णने आज प्रातःकाल किसी ब्राह्मणसे यह सुना था, कि दमयन्ती कलही दूसरा स्वयंवर करना चाहती है । इसी निमित्त चारसौ कोस चलनेवाले वायुके समान शीघ्रगामी घोडोंको रथमें जोतकर महाराज यहां आये हैं और मैं इनका सारथी हूं । केशिनी बोली, यह जो तुम्हारे संग तीसरा पुरुष है, यह किसका सारथी और कौन हैं ? तुम कौन और किसके सूत हो ? यह कर्म तुमने कहां सीखा था ? (८-१०)

बाहुक बोले; यह पुण्यश्लोक राजा नलका सारथी है, हे भद्रे ! इसका नाम वार्ष्णेय है; राजा नलके भाग जानेसे अब ऋतुपर्णके यहां नौकर है। मैंभी घोडोंकी विद्यामें निपुण हूं, राजा ऋतुपर्णने मुझको सारथी और भोजन बनानेके काममें प्रतिष्ठित किया है । केशिनी बोली, हे बाहुक ! क्या वार्ष्णेय जानता है, कि राजा नल कहां हैं और तुमसे यह सब बात उसने कैसे कही? (११-१३

बाहुक उवाच — इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः ।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥ १४ ॥
न चाऽन्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि ।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन्नष्टरूपो महीपतिः ॥ १५ ॥
आत्मैव तु नलं वेद या चाऽस्य तदनन्तरा ।
न हि वै स्वानि लिंगानि नलः शंसति कर्हिचित् ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच— योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा ।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥ १७ ॥
क्व नु त्वं कितव छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ १८ ॥
सा वै यथा समादिष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना दिवा रात्रौ वस्त्रार्धेनाऽभिसंवृता ॥ १९ ॥
तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु मे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ २० ॥
तस्यास्तत्प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते ।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥ २१ ॥
एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत्पुरा तत्पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ २२ ॥

बाहुक बोले, यह तो उत्तम राजा नलके बालकोंको यहां पहुंचाकर इच्छानुसार चला गया था, इसे निषधराजका समाचार क्या मालूम है? हे यशस्विनी! महाराज नल अपने चिन्होंको नहीं प्रकट करते हैं । नल अपनेको आपही जानता है अथवा जो उसकी पत्नी है वह जानती है ! (१४–१६)

केशिनी बोली, जो ब्राह्मण अयोध्यामें पहले गया था, उसने जाकर स्त्रीके यह वचन वहां बार बार सुनाये थे, कि "हे वीर! आप छलसे मेरे आधे वस्त्रको फाडकर प्रीतिवाली अपनी प्यारी मुझको वनमें सोते हुए छोडकर कहां चले गये ? आपने उसको जैसी आज्ञा करी थी, वैसे ही वह आपका मार्ग देख रही है, वह विरहसे जलती हुई उसी आधे वस्त्रको ओढे हुए है । राजन् ! उस दुःखसे सदा रोती हुईके ऊपर कृपा कीजिए। हे वीर! उसके वचनका उत्तर दो । हे महामते ! उसी वचनको तुम अपने मुखसे कहो, अनिन्दिता दमयन्ती सुनना चाहती है।"

बृहदश्व उवाच— एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितं चाऽऽसीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥ २३ ॥
स निगृह्याऽऽत्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः ।
बाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥
बाहुक उवाच— वैशम्यमपि संप्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः॥२५॥
रहिता भर्तृभिश्चाऽपि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान्धारयन्ति वरस्त्रियः ॥२६ ॥
विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत्सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ २७ ॥
प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ २८ ॥
सत्कृताऽसत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ २९ ॥
एवं ब्रुवाणस्तद्वाक्यं नलः परमदुर्मनाः ।
न बाष्पमशकत्सोढुं प्ररुरोद च भारत ॥ ३० ॥

तुमने जो उसका उत्तर दिया था, राजपुत्री वहभी सुनना चाहती है। १७-२२

श्रीबृहदश्व मुनि बोले,हे कुरुनन्दन! केशिनीके ऐसे वचन सुनकर राजा नल का हृदय फटने लगा, और आंखे आंसुवोंसे भर गई, राजा नल अपने दुःखको सम्हालकर रुकते हुए कण्ठसे रोते हुए ऐसा कहने लगे। बाहुक बोले, "जो पतिव्रता कुलीन स्त्री दुःखोंमें पडकेभी अपनी रक्षा अपनेहीसे करती हैं, निःसन्देह वह स्वर्गको जीत लेती हैं । कुलीन स्त्रियां पतिसे दूर रह करभी क्रोध नहीं करती हैं, उत्तम स्त्रियां अपने पतिके चारित्रोंको कहकर प्राणोंको धारण करती हैं। यदि दुःखमें पडे हुए मूर्ख राज्य और सुखसे छूटे हुए भोजन चाहनेवाले पक्षियोंसे छीने वस्त्रवाले दुःखसे जलते हुए पतिने उसको छोडभी दिया, तो उसपर क्रोध करना उचित नहीं! ऐसी अवस्थामें कोईभी सुन्दरी पतिपर क्रोध नहीं कर सकती। राज्य और लक्ष्मीसेही नहीं बल्कि सुखोंसेभी भ्रष्ट, भूक और प्याससे व्याकुल पतिपर कोईभी स्त्री क्रोध नहीं कर सकती है,चाहे वह पतिसे सत्कार पाये हो वा न पाये हो।" इस प्रकार केशिनीसे वचन कहते हुए नल

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
तत्सर्वं कथितं चैव विकारं तस्य चैव तम् ॥ ३१ ॥ [२९४७]

इति श्रीमहा० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकेशिनीसंवादे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः॥७४॥

बृहदश्व उवाच— दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा ।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके ।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥ २ ॥
यदा च किंचित्कुर्यात्स संलक्ष्यं तत्र भामिनि ।
तत्र संचेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् ॥ ३ ॥
न चाऽस्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि ।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ॥ ४ ॥
एतत्सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय ।
निमित्तं यत्त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ५ ॥
यच्चाऽन्यदपि पश्येथास्तच्चाऽऽख्येयं त्वया मम ।
दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाऽथ च केशिनी ॥ ६ ॥
निशम्याऽथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत् ।

परम दुःखी हुए। अपने आंसूको रोक न सके और अधिक रोने लगे । हे भारत! तब केशिनीने दमयन्तीके पास जाकर सब बात कह सुनाई और उसकी चेष्टाभी सुना दी । (२३—३१)[२९४४]

वनपर्वमें चौहत्तर अध्याय समाप्त

वनपर्वमें पचहत्तर अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे राजन् ! नलके वचन सुनकर दमयन्तीको अत्यन्त शोक हुआ, और नलके प्रति शङ्का करके केशिनीसे बोली, हे केशिनी ! तू फिर जा और बाहुककी परीक्षा कर । उसके सब चरित्र देख और उससे बातचीत करती रह । हे भामिनि ! वह जो कुछ काम करे उसके कारणको खूब विचार करना, वह जो काम करे उसको भली भांति देखना । हे केशिनी ! वह तुझसे यदि बहुत हठसेभी आग और पानी मागे तौभी मत देना । यह सब उनकी बातें देख और जानकर उनका सब कारण चाहे दैव वा मानुष हो मुझसे सब कहना औरभी उसमें जो असंख्य गुण तुझे जान पडें वह सब मुझसे आकर कहना । (१--६)

दमयन्ती के वचन स्वीकार करके केशिनी पुनः बाहुकके पास गई और उस

सा तत्सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥ ७ ॥
निमित्तं यत्तदा दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ।
केशिन्युवाच—— दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित् ॥ ८ ॥
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ।
ह्रस्वमासाद्य संचारं नाऽसौ विनमते क्वचित् ॥ ९ ॥
तं तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ।
संकटेऽप्यस्य सुमहान्विवरो जायतेऽधिकः ॥ १० ॥
ऋतुपर्णस्य चाऽर्थाय भोजनीयमनेकशः ।
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं बहु च पाशवम् ॥ ११ ॥
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ।
ते तेनाऽऽवेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाऽभवंस्ततः ॥ १२ ॥
ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ।
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् ॥ १३ ॥
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताऽहमिहाऽऽगता ॥ १४ ॥
अन्यच्च तस्मिन्सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ।
तदग्निमपि संस्पृश्य नैवाऽसौ दह्यते शुभे ॥ १५ ॥

के सब लक्षण देख और सुनके दमयन्ती के पास आई और जो कुछ देखा था, सो सब कारणोंके सहित कह सुनाया। ६-७

केशिनी बोली, हे दमयन्ती ! मैंने ऐसा पुरुष पहले कभी न देखा और न सुना था। यह सब जल और स्थलमें परम शुद्धिसे रहता है; छोटे द्वारमेंभी नीचा होकर नहीं जाता, परन्तु उसमेंभी सुखहीसे प्रवेश करता है। बहुत छोटा रहने परभी जिसके वास्ते बडा मार्ग हो जाता है। राजाने ऋतुपर्णके निमित अनेक प्रकारके भोजनकी सामग्री और अनेक पशुओंके मांस भेजे थे, और प्रक्षालनकेलिये उनको घडे भी भेजे थे, सो बाहुकके देखतेही वे घडे सब जलसे भर गये। तब बाहुकने उसी जलसे सब वस्तुओंको धोया। अनन्तर उसने एक मुठ्ठी तिनके लेकर सूर्यको दिखाया, तब उनमें अग्नि जल उठी। यह सब आश्चर्य भरे उसके काम देखकर यहां आई हूं। (८—१४)

हे शुभे ! और भी मैंने उनमें एक आश्चर्य देखा, कि अग्नि छूनेसे उनका शरीर नहीं जलता और जल उसकी इच्छासे

छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ।
अतीव चाऽन्यत्सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम् ॥ १६॥
यत्स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ।
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नाऽन्यथा ॥१७॥
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि ।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाऽहं द्रुतमागता ॥ १८ ॥

बृहदश्व उवाच— दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम् ।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥ १९ ॥
सा शङ्कमाना भर्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः ।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥ २० ॥
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् ।
महानसाच्छ्रितं मांसमानयस्वेह भाविनि ॥ २१ ॥
सा गत्वा बाहुकस्याऽग्रे तन्मांसमपकृष्य च ।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात्प्रियकारिणी ॥
दमयन्त्यै ततः प्रादात्केशिनी कुरुनन्दन ॥ २२ ॥
सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ।
प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद् भृशदुःखिता ॥२३॥

शीघ्र बहता है । इससेभी अधिक एक आश्चर्य उसमें देखा, कि फूल उठाकर वह अपने हाथसे धीरे धीरे मलने लगा, परन्तु पुष्प मलने परभी वैसेही रहे; वरन ज्यों ज्यों मलता था, त्यों त्यों सुगन्धि बढती जाती थी, यह सब अद्भुत बात देखकर मैं तुम्हारे पास दौडी हुई आई हूं । (१६—१८)

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, दमयन्तीने उसके वचन सुनकर कर्म और चेष्टासे जान लिया, कि नल आगये । उसने अपने पतिके लक्षण बाहुकमें पाकर शङ्कासे भर कर रोते हुए मीठी वाणीसे केशिनीसे कहा; हे भामिनि ! तू पुनः जा और उन्मत्त बाहुकने जो मांस बनाया है, उस मेंसे जो कुछ चौकेके बाहर गिरा हो उसको यहां लेआ । (१९—२१)

वह दमन्तीकी प्यारी केशिनी वहां गई और गिरा हुआ मांस जो अत्यन्त उष्ण था उसे शीघ्रही ले आई । हे कुरुनन्दन ! उसने मांस दमयन्तीको दे दिया; दमयन्तीने पहले अनेक बार नलका पकाया हुआ मांस खाया था, अतएव उस स्वादको जानती थी,

वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ।
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत ॥ २४ ॥
इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ।
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याऽङ्कमानयत् ॥ २५ ॥
बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ।
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ २६ ॥
नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत्तदा ।
उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ २७ ॥
इदं च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः ।
अतोऽदृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम् ॥ २८ ॥
बहुशः संपतन्तीं त्वां जनः शङ्केत दोषतः ।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे यथासुखम् ॥२९॥ [२९७४]

इति श्रीमहा०वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कन्यापुत्रदर्शने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥७५ ॥

बृहदश्व उवाच— सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥१ ॥

अनन्तर उसको खाकर दमयन्तीने निश्चय जान लिया कि यह सारथी नहीं नलही हैं । तब बहुत रोने लगी,अनन्तर पानी से मुखको धोकर बहुत दुःख करके अपनी लडकी और लडकेको केशिनीके सङ्ग नलके पास भेजा ।(२२—२४)

हे भारत ! नलने इन्द्रसेन और इन्द्रसेना को देख कूदकर दोनोंको लपटा लिया । अनन्तर उन्हें अपनी गोदमें बैठा लिया । देवतोंके समान दोनों बालकोंको अपनी गोदमें बिठलाकर दुःखसे भरे हुए बाहुक ऊंचे स्वरसे रोने लगे । अनन्तर अपने इस विकारको दिखलाकर राजा नल लडकोंको अलग करके केशिनीसे बोले, हे भद्रे ! यह दोनों बालक मेरे बालकोंके समान हैं, इसी लिये इन दोनोंको देखकर मैं रोने लगा । हे भद्रे ! तुमको यहीं बार बार आते देख लोग हममें किसी दोषकी शंका न करें, क्योंकि हम परदेशी अतिथि हैं; इस लिये तुम्हारी जहांको इच्छा हो तहां चली जाओ । (२५—२९) [२९७४]

वनपर्वमें पचहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छिहत्तर अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे राजन्! केशिनीने बुद्धिमान पुण्यश्लोक नलका सब समाचार दमयन्तीसे कह दिया। दमयन्ती

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम् ।
मातुः सकाशं दुःखार्ता नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ २ ॥
परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया ।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥
स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वाऽनुज्ञातुमर्हसि ।
विदितं वाऽथवाऽज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ॥ ४ ॥
एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत् ।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात्स पार्थिवः ॥ ५ ॥
सा वै पित्राऽभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः ॥ ६ ॥
तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः ।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाऽश्रुपरिप्लुतः ॥ ७ ॥
तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा ।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥ ८ ॥
ततः काषायवसना जटिला मलपंकिनी ।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद्धर्मज्ञो नाम बाहुक ।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥ १० ॥

ने वह सब समाचार सुनकर दुःखसे भरे नलके दर्शनकी इच्छासे केशिनीको अपनी माताके पास भेजा, कि मैंने नलकी शंकासे बाहुककी सब परीक्षा करी, अब केवल रूपहीमें सन्देह रह गया है, सो मैं आप जाकर परीक्षा करना चाहती हूं। हे मातः ! या तो उसको यहां बुला दीजिये चाहे पिता जानें वा न जानें, इस कार्यको कीजिये। (१–४)

पुत्रीके ऐसे वचन सुनकर रानीने राजाको सब कह सुनाया, तब राजाने अपनी पुत्रीके उस अभिप्रायको जाना और राजाकी आज्ञा पाकर नलको वहां बुलाया, जहां दमयन्ती रहती थी। राजा नल दमयन्तीको देखतेही शोक और दुःखसे भर गये और आंसूसे भीज गये। सुन्दरी दमयन्तीने नलको उस अवस्था में देखकर महा शोक किया। (५-८)

हे महाराज ! अनन्तर कषाय-वस्त्र पहने, जटाधारिणी, मैलसे भरी हुई दमयन्ती बाहुकसे ऐसा बोली, हे बाहुक ! तुमने पहले कभी कोई ऐसा धर्मज्ञ पुरुष

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम् ।
अपहाय तु को गच्छेत्पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥ ११ ॥
किन्नु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः ।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान्निद्रयार्दिताम् ॥ १२ ॥
साक्षाद्देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया ।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान्कथम् ॥ १३ ॥
अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा ।
भविष्यामीति सत्यं तु प्रतिश्रुत्य क्व तद्गतम् ॥ १४ ॥
दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिन्दम ।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद्बहु ॥ १५ ॥
अतीव कृष्णसाराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत् ।
परिस्रवन्नलो दृष्ट्वा शोकार्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
मम राज्यं प्रणष्टं यन्नाऽहं तत्कृतवान्स्वयम् ।
कलिना तत्कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥ १७ ॥
यत्त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाऽभिहतः पुरा ।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ॥१८॥

सुना है, जो अपनी स्त्रीको वनमें सोती हुई छोड कर चला जाय ? पवित्रकीर्ति राजा नलके सिवा ऐसा कौन होगा जो निरपराधिनी थकाईसे पीडित अपनी प्यारी स्त्रीको शून्य वनमें छोडकर चला जाय ? मैंने उस राजाका मूर्खता वश न जाने कौन अपराध किया था, जिससे वह मुझको वनमें सोती हुई छोड गया ? मैंने साक्षात् देवतोंको छोडकर उसको स्वयंवर में पहले वरण किया था, न जानूं पुत्रवाली, भक्तिवती मुझको उसने कैसे छोड दिया ? देवतोंके सामने अग्निको साक्षी देकर उसने कहा था, कि मैं तेरा हूं। परन्तु न जाने वह प्रतिज्ञा कहां को चली गई ? (९—१४)

हे शत्रुनाशन युधिष्ठिर ! राजा नल दमयन्तीके ऐसे वचन सुन शोकसे भरी आंसुओंसे अपने मुखको बार बार भिगोने लगे ; अत्यन्त काली आंखोंसे अधिक आंसू बहाती हुई शोक पीडित दमयन्तीसे नल ऐसा बोले, हे भीरु ! जिस कर्मसे मेरा राज्य नष्ट हुआ है, वह मैंने नहीं किया था, और जिससे तुमको छोडा था, वह कर्मभी कलियुगनेही किया था, जिसको रात दिन मुझको शोचते हुए वनवासके समय दुःखिनी तुमने

स मच्छरीरे त्वच्छापाद्दह्यमानोऽवसत्कलिः ।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाऽऽहितः ॥ १९ ॥
मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः ।
दुःखस्याऽन्तेन चाऽनेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥२०॥
विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चाऽऽगतः ।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत्प्रयोजनम् ॥ २१ ॥
कथं तु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम् ।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥ २२ ॥
दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात् ।
भैमी किल स भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥ २३ ॥
स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवाऽऽत्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥ २४ ॥
दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

दमयन्त्युवाच— न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥ २६ ॥

शापसे नष्ट किया था, वही कलियुग तुम्हारे शापसे जलता हुआ मेरे शरीरमें वास करता था, वह तुम्हारी शापकी अग्निसे जलनेके कारण अग्निके अंदर रहने वाले अग्निके समान होकर मेरे शरीरमें वास करता था। (१५—१९)

हे शुभे ! मेरे पुरुषार्थ और तपस्यासे उसका पराजय हुआ अब हमारे इस दुःखका अन्त हुआ ऐसाही समझो। हे विपुलश्रोणि ! जब वह पापी मेरे शरीर से निकल गया तो मैं तुम्हारेही निमित्त यहां आया हूं, और मेरा कुछभी प्रयोजन नहीं था। स्त्री अनुरक्त और व्रतधारी पतिको छोडकर दूसरा पति कैसे कर सकती है ? हे भीरु ! यह काम तुम्ही ऐसीसे हो सकता है, क्योंकि राजा की आज्ञासे सब पृथ्वीमें दूत लोग यह कहते फिरते हैं, कि भीमपुत्री अपनी इच्छासे कामके अनुकूल अपने योग्य दूसरा पति वरण करेगी। इसही बातको सुनकर राजा ऋतुपर्ण यहां आये हैं। (२०–२४)

दमयन्ती रोते हुए नलकी यह बात सुन हाथ जोडकर डरसे कांपती हुई यों कहने लगी, दमयन्ती बोली, हे कल्याण ! हे नरनाथ ! आप मुझमें दोषकी

तवाऽभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥ २७ ॥
ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान्पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत्कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ॥ २८ ॥
तेन वाक्ये कृते सम्यक्प्रतिवाक्ये तथाऽऽहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधाऽऽनयने तव ॥ २९ ॥
त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥ ३० ॥
स्पृशेयं तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
यथा नाऽसत्कृतं किंचिन्मनसाऽपि चराम्यहम् ॥ ३१ ॥
अयं चरति लोकेऽस्मिन्भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३२ ॥
यथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३३ ॥
चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३४ ॥
एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै ।

शङ्का करनेके योग्य नहीं हैं,क्योंकि मैंने देवतोंको परित्याग कर आपको पति बनाया है। आपहीके निमित्त ब्राह्मणलोग सब ओर गये हैं, उन्होंने मेरे वचनको जिस रूपसे दशोंदिशाओंमें गाया है। हे राजन् ! उनहीमेंसे एक विद्वान् पर्णाद नामक ब्राह्मणने राजा ऋतुपर्णके घर अयोध्यापुरीमें आपको देखा,उसने आपसे जो कहा और आपने जो उसको उत्तर दिया उससे आपके बुलानेमें मुझको यह उपाय जान पडा। (२५–२९)

हे पृथ्वीनाथ ! आपके सिवा पृथ्वीमें कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो एक दिनमें घोडोंके द्वारा चारसौ कोस चल सके। हे नरनाथ ! मैं अपने सत्यसे आपके चरण छूकर कसम खाती हूं, कि मैंने घूमते हुए मनसेभी कुछ पाप नहीं किया, यदि मैंने कभी कुछ पाप किया हो तो यह लोकमें घूमनेवाले वायु मेरे प्राणको नाश करें, यदि मैंने पाप किया हो तो यह सब जगतमें घूमनेवाले सूर्य मेरे प्राणको नाश करें,यदि मैंने कुछ पाप किया हो तो यह चन्द्रमा जो सबके मनमें साक्षीके समान घूमते हैं,यह मेरे प्राणको नाश करें । ये

विब्रुवन्तु यथासत्यमेतद्देवास्त्यजन्तु माम् ॥ ३५ ॥
एवमुक्तस्तथा वायुरन्तरिक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥
राजञ्छीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः ।
साक्षिणो रक्षिणश्चाऽस्या वयं त्रीन्परिवत्सरान् ॥३७॥
उपायो विहितश्चाऽयं त्वदर्थमतुलोऽनया ।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ॥ ३८ ॥
उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते ।
नाऽत्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ॥३९॥
तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥ ४० ॥
तदद्भुततमं दृष्ट्वा नलो राजाऽथ भारत ।
दमयन्त्यां विशङ्कां तामुपाकर्षदरिन्दमः ॥ ४१ ॥
ततस्तद्वस्त्रमरजः प्रावृणोद्वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं वपुः ॥ ४२ ॥

तीनों देवता सब लोग को धारण करते हैं, यह सत्य कहें, यदि मैंने झूट कहा हो तो यह मुझको छोड दें । (३०—३५)

जब दमयन्तीने ऐसा कहा तो आकाशमें घूमनेवाले वायु बोले, कि हे नल ! हम तुमसे सत्य कहते हैं, कि इसने कुछ भी पाप नहीं किया, हे राजन् ! दमयन्तीका सुन्दर शीलसमुद्र रक्षित ही है । हे नल ! इसने कुछभी पाप नहीं किया इसके तीनवर्षके हमलोग साक्षी हैं, हे राजन् ! इसने यह भारी उपाय आपहीके निमित्त किया है, क्योंकि तुम्हारे सिवाय कोईभी चार सौ कोस एक दिनमें नहीं चल सकता है, हे पृथ्वीनाथ ! आप दमयन्तीसे, और दमयन्ती आपसे मिली अब आपको कुछभी सन्देह नहीं करना चाहिये, अब स्त्रीको संग लेकर जाईये । (३६—३९)

पवनके ऐसे कहतेही आकाशसे फूल बरसने लगे, देवतोंने नगाडे बजाये, और उत्तम पवन चलने लगा, हे भारत! राजा नलने यह अद्भुत बात देखकर दमयन्तीसे शंकाओंको छोड दिया और उसको ग्रहण किया, अनन्तर राजा नलने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उस शुद्ध वस्त्रको ओढा, उसके धारण करतेही नलने अपने पहले रूपको पाया । (४०—४२)

स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥ ४३ ॥
भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चाऽपि यथावत्प्रत्यनन्दत ॥ ४४ ॥
ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासाऽऽयतेक्षणा ॥ ४५ ॥
तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम् ।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ॥ ४६ ॥
ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाऽकथयत्प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ॥ ४७ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ॥ ४८ ॥
ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥ ४९ ॥
गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसंकल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ॥ ५० ॥
स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया ।

अनिन्दिता दमयन्तीने पतिको अपने रूपसें देखकर उससे लपटकर उच्च स्वर से रोना आरंभ किया । राजा नलभी अपनी स्त्रीसे लपट गये, अनन्तर पहले रूपसे शोभित होकर अपने पुत्रोंको लपटा कर आनन्दित किया, अनन्तर सुन्दररूपवाली विशाल नैनी दुःखसे भरी हुई दमयन्तीने नलके सिरको अपनी छातीसे लगाकर बहुत देरतक स्वांस लिया, तैसेही शोकसे भरे हुए पुरुषसिंह नलनेभी सुन्दर हंसनेवाली मैलसे भरी हुई दमयन्तीको लपटाकर बहुत देर निवास किया । (४३–४६)

अनन्तर दमयन्तीकी माताने प्रसन्न होकर नल और दमयन्तीका सब वृत्तान्त राजा भीमसे कह सुनाया । हे राजन् ! तब राजा भीमने कहा, कि मैं भोरको शौचसे पवित्र होकर दमयन्तीके सहित सुखसे बैठे हुए नलको देखूंगा । हे राजन् ! अनन्तर नल और दमयन्तीने बहुत आनन्दसे उस रातको वनकी पुरानी कथा कहते कहते बिता दिया, वे दोनों परस्पर आनन्दकी इच्छासे प्रसन्न होकर राजा भीमके स्थानमें रहने लगे । (४७–५०)

सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान्परमां मुदम् ॥ ५१ ॥
दमयन्त्यपि भर्तारमासाद्याऽऽप्यायिता भृशम् ।
अर्धसंजातशस्येव तोयं प्राप्य वसुन्धरा ॥ ५२ ॥
सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥५३॥ [३०२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्तीसमागमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

बृहदश्व उवाच— अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः काले ददर्श वसुधाधिपम् ॥ १ ॥
ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
ततोऽ दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ॥ २ ॥
तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत्परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ॥ ३ ॥
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ।
तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि ॥ ४ ॥

राजा नल इस चौथे वर्षमें अपनी स्त्रीको पाकर और सब कामोंको सिद्ध करके परम आनन्दको प्राप्त हुए, दमयन्ती भी अपने पतिको प्राप्तकरके इस प्रकार आनन्दमें मग्न हुई, जैसे आधा अन्न उत्पन्न होनेके समय पानीको प्राप्त करके पृथ्वी आनन्दित होती है, भीमपुत्री दमयन्ती अपने पतिको प्राप्त होनेसे सब दुःखोंको शान्त करके निद्राको छोड आनन्दसे भर कर अपने मनको बढाकर ऐसी शोभित हुई, जैसे चन्द्रमा निकलनेसे रात्रि। (५१—५३)[३०२७]

वनपर्वमें छिहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें सतहत्तर अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, उस रात्रिको विताकर प्रातःकाल होतेही राजा नलने उत्तम वस्त्र और भूषण पहन कर दमयन्तीके सङ्ग राजा भीमको देखा, नलने देखतेही विनयपूर्वक अपने श्वसुरको प्रणाम किया, तब सुन्दरी दमयन्तीनेभी अपने पिताको दण्डवत करी। राजा भीमने अत्यन्त प्रसन्न हो कर राजा नलको लपटा लिया और पुत्रके समान यथायोग्य पूजा करके उनको बहुतही धीरज दिया, राजा नलको पतिव्रता दमयन्तीके सहित देखकर राजा भीमने उनकी बहुत पूजा करी । राजा नलनेभी उस पूजाको विधिपूर्वक ग्रहण किया और

परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत्प्रत्यवेदयत् ।
ततो बभूव नगरे सुमहान्हर्षजः स्वनः ॥ ५ ॥
जनस्य संप्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथागतम् ।
अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ॥ ६ ॥
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः ।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गोपकल्पिताः ॥ ७ ॥
अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च ।
ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम् ॥ ८ ॥
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः ।
तमानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम् ॥ ९ ॥
स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसंमितः ।
स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मितानन: ॥ १० ॥
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदतां वरः ।
दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभिनन्दितः ॥ ११ ॥
कच्चित्तु नाऽपराधं ते कृतवानस्मि नैषध ।
अज्ञातवासे वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ॥ १२ ॥

आपनेभी राजाकी यथोचित सेवा की । (१—५)

उस दिन उस नगरमें चारों ओर महा आनन्दके शब्द होने लगे । इस प्रकारसे नलके आनेके दिन सब पुरुषोंने बहुत आनन्दउत्सव किया, नगर पताका और ध्वजाओंसे सजाया गया, राजमार्ग (बडी बडी सडकें) जलसे छिडकी गई, दोनों ओर फूलोंसे शोभित किये गये, सब नगरवासियोंने अपने अपने द्वारपर बन्दन-वार और फूलोंकी माला लगा दीं, देवतोंके सब स्थानोंमें उत्सव होने लगे । राजा ऋतुपर्णने भी यह सुना कि बाहुक नलही था, उसको दमयन्तीसे मिला सुनकर ऋतुपर्णको बहुत आनन्द हुआ । (५-९)

अनन्तर राजा ऋतुपर्णने नलसे मिल कर अपना अपराध क्षमा कराया, बुद्धिमान राजा नलनेभी अनेक हेतु दिखलाकर राजा ऋतुपर्णका अपराध क्षमा किया । कहनेवालोंमें श्रेष्ठ तत्त्वके जाननेवाले राजा ऋतुपर्ण राजा नलसे आदर पाकर आश्चर्यसे ऐसा कहने लगे, हे निषधराज ! हे पृथ्वीनाथ ! आप प्रारब्धहीसे अपने कुटुम्बसे मिले हैं; कहिये जब आप छिपकर मेरे घरमें रहते थे,

यदि वाऽबुद्धिपूर्वाणि यदि बुद्ध्यापि कानिचित् ।
मया कृतान्यकार्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

नल उवाच — न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव ।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥ १४॥
पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि संबन्धी च जनाधिप ।
अत ऊर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥
सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।
न तथा स्वगृहे राजन्यथा तव गृहे सदा ॥ १६ ॥
इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति ।
तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ॥ १७ ॥
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥
गृहीत्वा चाऽश्वहृदयं राजन्भाङ्गासुरिर्नृपः ।
निषधाधिपतेश्चापि दत्वाऽक्षहृदयं नृपः ॥
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ॥ १९ ॥
ऋतुपर्णे गते राजन्नलो राजा विशांपते ।

तब मैंने आपका कोई अपराध तो नहीं किया ? अथवा यदि मैंने कभी कुछ जानकर वा विना जाने आपका कुछ अपराध किया हो, तो आप उसे क्षमा कीजिय । (९—१३)

राजा नल बोले, हे राजन् ! आपने मेरा कुछ अपराध नहीं किया, और यदि कियाभी हो, तो मैं क्षमा करता हूं, क्योंकि आप हमारे पहलेसे सम्बन्धी और मित्र हैं। हे नरनाथ! आपको उचित है, कि अब हमसे औरभी प्रीति बढावें, मैंने सब कामोंको प्राप्त करके आपके घरमें ऐसे निवास किया है, जैसे पहले अपने घरमेंभी नहीं किया था; यह घोडोंकी विद्या जो मुझमें है, सो आपहीकी है, हे राजन् ! यदि आप चाहैं, तो इसको सीख लीजिये, राजा नलसे ऐसा कहकर घोडे की विद्या ऋतुपर्ण को सिखा दी । (१४—१८)

ऋतुपर्णनेभी उस विद्याको विधिपूर्वक ग्रहण किया, भङ्गासुरीके पुत्र राजा ऋतुपर्णने अश्वविद्याके तत्त्वको ग्रहण करके राजा नलको जुवेका तत्त्व सिखा दिया और दूसरा सारथी लेकर अपने घरको चले गये। हे राजन् ! ऋतुपर्णके जानेके पश्चात् राजा नल कुण्डिन पुरमें कुछ

नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवाऽवसत् ॥२०॥ [३०४७]

इति श्रीमहा० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेशगमने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ७७॥

बृहदश्व उवाच— स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः ।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान्प्रति ॥ १ ॥
रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः ।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥ २ ॥
स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः ।
प्रविवेशाऽथ संरब्धस्तरसैव महामनाः ॥ ३ ॥
ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः ।
उवाच दीव्याव पुनर्बहुवित्तं मयाऽऽर्जितम् ॥ ४ ॥
दमयन्ती च यच्चाऽन्यन्मम किंचन विद्यते ।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ॥ ५ ॥
पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः ।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ॥ ६ ॥
जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु ।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ॥ ७ ॥
न चेद्वाञ्छसि त्वं द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम् ।

दिन रहे ! (१४–२०) [३०४७]

वनपर्वमें सतहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें अठहत्तर अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, हे राजन् ! निषधराज नल एक महीना वहां रहकर राजा भीमकी आज्ञासे थोडे मनुष्योंके सहित निषध देशको चले । एक सुन्दर रथ, सोलह हाथी, पचास घोडे और छःसौ पैदल उनके संग थे, राजा नल अपने वेगसे पृथ्वीको कंपाते हुए शीघ्र ही अपने देशमें पहुंचे । (१–३)

वीरसेनके पुत्र महा मनस्वी राजा नल पुष्करके पास जाकर ऐसा बोले, कि मैंने बहुत धन कमाया है, पुनः जुआ खेलो, दमयन्तीके सहित और मेरा जो कुछ धन है सो सब एकही दांवपर लगा देता हूं, हे पुष्कर तुमभी अपने सब राज्यको एकही वार लगा दो । मैंने यह निश्चय कर लिया है, कि एकही दांवमें प्राणतक लगा देने चाहिये । अतएव पुनः जुआ खेलो, यह सदाका धर्म है; कि जुए में दूसरे का धन वा राज्य जीतकर दूसरे दांव पर उसीको पुनः लगा देना चाहिये। यदि तुम्हारी जुआ

द्वैरथेनाऽस्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥ ८ ॥
वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथातथा ।
येन केनाऽप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥ ९ ॥
द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर ।
कैतवेनाऽक्षवत्यां तु युद्धे वा नाम्यतां धनुः ॥ १० ॥
नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव ।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥
दिष्ट्या त्वयाऽर्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध ।
दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ॥१२॥
दिष्ट्या च ध्रियसे राजन्सदारोऽद्य महाभुज ।
धनेनाऽनेन वै भैमी जितेन समलंकृता ॥ १३ ॥
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाऽप्सराः ।
नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध॥ १४ ॥
देवने न मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः ।
जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि ।

खेलने की इच्छा न हो तो युद्ध रूप जुआ खेलो, हे राजन् ! एक रथपर तुम चढो और एक पर मैं, या तुम मुझे मार डालो, या मैं तुम्हें, क्योंकि यह हमारे पुरखोंकी आज्ञा है, कि वंशके राज्यको जैसे हो तैसे प्राप्त करना चाहिये। हे पुष्कर ! अब इन दोनों बातोंमेंसे एकको निश्चय कर लो ।चाहे जुआ खेलो, चाहे युद्धमें धनुषको खींचो। (४—१०)

राजा नलके ऐसे वचनको सुनकर पुष्कर हंसने लगा, और निश्चयही अपनी जीत समझके बोला, हे नैषध ! तुमने प्रारब्धहीसे जुएके निमित्त इस धनको प्राप्त किया है,तथा दमयन्तीका पूर्वसंचित दुष्कर्म समाप्त हुआ यहभी अच्छा हुआ है। हे राजन् ! हे महाभुज ! इस जीते हुए धनके सहित दमयन्ती भूषणों के समेत अब मुझको ऐसे मिलेगी, जैसे स्वर्गमें इन्द्रको अप्सरा। हे राजन् ! मैं नित्यही तुम्हारा स्मरण करता था और मार्गभी देखता था, क्योंकि मुझे शत्रुओंके साथ जुआ खेलनेसे सुख नहीं मिलता ऐसा नहीं है। अब मैं सुन्दर मुखवाली अनिन्दिता दमयन्तीको जुएमें जीतकर कृतकृत्य हूंगा क्योंकि वह सदासे मेरे हृदयमें वास करती है। (११-१६)

श्रुत्वा तु तस्य ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ॥ १६ ॥
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः ।
स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ॥ १७ ॥
पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि ।
ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ॥ १८ ॥
एकपाणेन भद्रं ते नलेन स पराजितः ।
स रत्नकोशनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ॥ १९ ॥
जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥ २० ॥
वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम् ।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥ २१ ॥
न त्वया तत्कृतं कर्म येनाऽहं विजितः पुरा ।
कलिना तत्कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुध्यसे ॥ २२ ॥
नाऽहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन ।
यथासुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृजामि ते ॥ २३ ॥
तथैव सर्वसंभारं स्वमंशं वितरामि ते ।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥ २४ ॥

पुष्करके ऐसे सम्बन्ध रहित और निरर्थक वचन सुनकर राजा नलको महाक्रोध हुआ और खड्ग निकाल कर उसका सिर काटनेको उपस्थित हुए। महाक्रोधसे लालनेत्र करके राजा नल बोले, विना ही जुआ खेले इतना क्यों बकता है? जुआ जीत कर बकना। तब नल और पुष्करका जुआ होने लगा अनन्तर राजा नलने एकही दांवमें पुष्करका राज्य, धन, प्राण और रत्न सब कुछ जीत लिया ।.(१६–१९)

अनन्तर पुष्करको जुएमें जीत, राजा नल हंसकर पुष्करसे बोले, हे राजोंमें नीच! अब यह सब राज्य मेरा होगया, अब इसमें कुछ बाधा नहीं रही, तेरी शक्ति नहीं है जो दमयन्तीको देख सके। हे मूर्ख! अब तू अपने कुटुम्बके सहित उसी दमयन्तीका दास बन गया। रे मूढ! तूने जो पहले मुझको जीता था, वह तेरा कर्म नहीं था वह कलियुगका काम था, दूसरेका दोष तुझे नहीं देना चाहता, अतएव मैं तेरे प्राणको छोड देता हूं, तू सुखसे जीता रह, जो कुछ तेरा अंश और कार्य था सो सब तुझही

*

सौहार्दं चापि मे त्वत्तो न कदाचित्प्रहास्यति ।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शत ॥ २५ ॥
एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः ।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥
सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम् ।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २७ ॥
कीर्तिरस्तु तवाऽक्षय्या जीव वर्षायुतं सुखी ।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ॥ २८ ॥
स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृपः ।
प्रययौ पुष्करो हृष्टः स्वपुरं स्वजनावृतः ॥ २९ ॥
महत्या सेनया सार्धं विनीतैः परिचारकैः ।
भ्राजमान इवाऽऽदित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥
प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम् ।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ॥ ३१ ॥
प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः ॥ ३२ ॥
पौरा जानपदाश्चापि संप्रहृष्टतनूरुहाः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखा जनाः ॥ ३३ ॥

दे देता हूं। हे वीर ! मैं तुमसे वैसाही प्रीति रखूंगा, तुम्हारा प्रेम मेरी ओरसे कम न होगा। हे पुष्कर! तुम मेरे भाई हो, सौवर्षतक जीते रहो। (२०—२५)

सत्यपराक्रम राजा नलने अपने भाईको ऐसे प्रसन्न करके बार बार गलेसे लगाकर उसको अपने नगरमें जाने की आज्ञा दी। पुष्करने राजा नलसे इस प्रकार प्रसन्न होकर हाथ जोड प्रणामकर ऐसा कहा, हे राजन्! आपकी कीर्ति अक्षय हो, आप सुखसे सहस्र वर्षतक जीते रहें क्योंकि आप मेरे प्राण और पृथ्वीको छोडते हैं। ऐसा कहकर राजासे सत्कार पाकर पुष्कर प्रसन्न होकर अपने पुरुषोंके सहित अपने नगरको चला, राजा नलने सेना और उत्तम नौकरोंके सहित सूर्यके समान तेजस्वी नीरोग और धनवान पुष्करको विदा करके लक्ष्मी और शोभासे भरे हुए अपने नगरमें प्रवेश किया। (२६—३१)

वहां जाकर निषधराजने अपने नगरवासियोंको प्रसन्न किया, नगरवासियोंकाभी रोवां रोवां प्रसन्न हो गया और मन्त्री आदि सब पुरवासी हाथ जोडकर

अथ स्म निर्वृता राजन्पुरे जनपदेऽपि च ।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ॥३४॥ [३०८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्करपराभवपूर्वकं राज्यप्रत्यानयनेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

बृहदश्व उवाच— प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे संप्रवृत्ते महोत्सवे ।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥ १ ॥
दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा ।
प्रस्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥ २ ॥
आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः ।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥ ३ ॥
तथा प्रकाशतां यातो जम्बुद्वीपे स राजसु ।
पुनः शशास तद्राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ॥ ४ ॥
ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाऽऽप्तदक्षिणैः ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद्वक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ५ ॥
दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरञ्जयः ।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥ ६ ॥
एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते ।

ऐसा बोले, हे राजन् ! आज हम इस नगरमें ऐसे प्रसन्न हुए जैसे इन्द्रको पाकर देवता। (३२–३४) [३०८१]

वनपर्वमें अठहत्तर अध्याय समाप्त

वनपर्वमें उनासी अध्याय ।

श्रीबृहदश्व मुनि बोले, राजन् ! जब सब नगर शान्त हो गया, और वह उत्सव समाप्त हुआ तो राजाने बहुत सेना भेजकर दमयन्तीको वहीं बुला लिया, दमयन्तीको शत्रुनाशन पिताने अत्यन्त सत्कार करके बिदाकर दिया। दमयन्तीके पिता पराक्रमी और महात्मा थे, तब पुत्रके सहित दमयन्ती अपने नगरमें आई तो राजा नल ऐसे आनन्द करने लगे जैसे नन्दनवनमें इन्द्र। महा यशस्वी राजा नल जम्बूद्वीपके राजोंमें प्रकाश करने लगे और फिर अपने राज्यका शासन पहलेके समान करने लगे। दक्षिणाओंके सहित अनेक यज्ञ करीं, हे राजेन्द्र ! वैसेही आपभी थोडेही दिनमें अपने मित्रोंसे मिलियेगा। (१—५)

हे नरश्रेष्ठ ! हे पुरुषर्षभ ! जुआ खेलकर शत्रुनाशन राजा नलने स्त्रीके सहित इस प्रकार महा दुःख पाया था,

दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाऽभ्युदयः पुनः ॥ ७ ॥
त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव ।
रमसेऽस्मिन्महारण्ये धर्ममेवाऽनुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥
अक्षाणां हृदये प्राप्ते ऋतुपर्णस्य संनिधौ ।
नलेन याचितं राज्ञा कलिना च प्रतिश्रुतम् ॥ १० ॥
कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥ ११ ॥
य इदं पठते नित्यं य इदं शृणुयान्नरः ।
न तस्य विद्यते राजन्भयं वै कलिकारकम् ॥ १२ ॥
धर्मनित्यस्य युक्तस्य सदाऽऽर्जवरतस्य च ।
दान्तस्य च वदान्यस्य कलिः पुंसः करोति किम्॥ १३ ॥
इतिहासमिमं चाऽपि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशांपते ॥ १४ ॥
अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १५ ॥
श्रुत्वेतिहासं नृपते समाश्वसिहि मा शुचः ।

हे पृथ्वीनाथ ! राजा नलने तो वनमें एकले रहकर ऐसा दुःख पाया और फिर आनन्दभी किया । हे पाण्डव ! तुम तो अपने भाई और द्रौपदीके सहित इस वनमें आनन्द करते हुए धर्मकी चिन्ता करते हो । आपके सङ्ग तो वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले अनेक ब्राह्मण हैं, इसमें तुमको कौन दुःख है । (६—९)

ऋतुपर्णराजासे जुएकी रहस्य विद्या प्राप्त करनेके पश्चात् नलराजाने जो मांगा वह कलिने दिया। कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल और राजर्षि ऋतुपर्णकी कथा कलियुगको नाश करती है । (यही वर कलिने नलको लिया) हे प्रजानाथ ! जो इसका पाठ अथवा श्रवण करते हैं उनको कलिका भय नहीं होता । धर्मनिष्ठ, जितेंद्रिय, सरलस्वभावी, दानी और सदय पुरुषका कलि क्या कर सकता है ? आपके समान पुरुषोंको उचित है, कि इसको सुनकर धीरज धारण करें। पुरुषार्थ स्थिर नहीं है, यह विचारकर आप उदय और हानिकी कुछ चिन्ता

व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ॥ १६ ॥
विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नाऽऽत्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो बुधाः ॥१७॥
ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नाऽलक्ष्मीस्तान्भजिष्यति॥१८॥
अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥ १९ ॥
पुत्रान्पौत्रान्पशूंश्चापि लभते नृषु चाऽग्र्यताम् ।
आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥ २० ॥
भयात्त्रस्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत्तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ २१ ॥
वेदाऽक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २३ ॥
ततोऽक्षहृदयं प्रादात्पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाऽश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥ २४ ॥

न कीजिये, हे नरनाथ ! इतिहासको सुनकर धैर्य धरिये शोच मत कीजिये। आप दुःखमें पडकर शोच करनेके योग्य नहीं हैं। (१०—१६)

बुद्धिमान पुरुष प्रारब्ध लौटने और पुरुषार्थ नष्ट होनेपर रोते नहीं हैं, जो कोई इस नलके इतिहासको कहेंगे या सुनेंगे, वे कभी दरिद्री न होंगे, उनको अनेक प्रकारके धन मिलेंगे। और उन लोगोंको सब कोई धन्य कहेंगे । इस उत्तम पुराणके सुननेसे पुरुषको पुत्र, पौत्र, उत्तम प्रतिष्ठा, पशु, आरोग्यता प्राप्त होते हैं, और प्रेम बढता है। जो तुम डरसे डरते हो, कि दुर्योधन मुझे पुनः जुएमें बुलावेगा और जीत लेगा, सो यह डर तुम्हारा मैं दूरकर देता हूं। हे कुन्तीनन्दन! हे राजन्! मैं जुएके तत्त्वको जानता हूं, सो प्रसन्न होकर तुम्हें देता हूं। (१७–२२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तब राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त होकर कहा, कि हे भगवन् ! मैं यथार्थ रूपसे जुएके तत्त्वको जानना चाहता हूं। अनन्तर बृहदश्व मुनिने महात्मा पाण्डवको जुएका

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषित्सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः संपतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥ २६ ॥
इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥ २७ ॥
यथा धनञ्जयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः ।
मुनिरेकचरः श्रीमान्धर्मो विग्रहवानिव ॥ २८ ॥
तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने ।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥ २९ ॥
दह्यमानेन तु तदा शरणार्थी महावने ।
ब्राह्मणान्विविधज्ञानान्पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥ [१११३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने ऊनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥ समाप्तं च नलोपाख्यानपर्व ॥

अथ तीर्थयात्रापर्व ॥

जनमेजय उवाच– भगवन्काम्यकात्पार्थे गते मे प्रपितामह ।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १ ॥

तत्त्व सिखा दिया, और स्नान करनेको अश्वशिर नामक तीर्थमें चले गये । उन के जानेके पश्चात् युधिष्ठिरने आए हुए तपस्वी ब्राह्मणों और तीर्थ और वनोंसे आये हुए महात्माओंसे सुना कि बुद्धिमान अर्जुन वायु भक्षण करके उग्र तपस्या कर रहे हैं, दृढ व्रतवाले अर्जुन जैसा तप करते हैं, वैसा किसीनेभी तप नहीं किया निश्चय व्रतवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन ऐसे तपस्वी हुए हैं; मानो साक्षात् श्रीमान् धर्मही शरीर धारण करके तपस्या कर रहे हैं । (२३–२८)

पाण्डुनन्दन कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने प्यारे भाई अर्जुनको इस प्रकार महा वनमें तपस्या करते हुए सुनकर जलते हुए हृदयसे शरणकी इच्छा करके अनेक विविध ज्ञान जाननेवाले ब्राह्मणों से पूछने लगे । (२९—३०)[३१११]

उनासी अध्याय और नलोपाख्यान पर्व समाप्त ।

वनपर्वमें अस्सी अध्याय और तीर्थयात्रा पर्व ।

राजा जनमेजय बोले, हे भगवन् ! जब मेरे परदादे अर्जुन काम्यक वनसे चले गये तब उनके विना पाण्डवोंने क्या किया ? क्योंकि मुझे जान पडता

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित् ।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥ २ ॥
तेनेन्द्रसमवीर्येण सङ्ग्रामेष्वनिवर्तिना ।
विनाभूता वने वीराः कथमासन्पितामहाः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—गते तु पाण्डवे तात काम्यकात्सत्यविक्रमे ।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥ ४ ॥
आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः ।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥ ५ ॥
वनं तु तदभूत्तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥
तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान्बहुविधान्मृगान् ॥ ८ ॥
नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिन्दमाः ।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥
सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।

है, कि जैसे देवतोंकी गति विष्णु हैं, वैसेही पाण्डवोंकी गति सेनाओंके जीननेवाले महा धनुर्धारी अर्जुन थे, मेरे प्रपितामह लोग उस इन्द्रके समान पराक्रमी, युद्धसे न हारनेवाले, वीर अर्जुन के विना वनमें कैसे रहे? (१—३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे तात! जब काम्यक वनसे सत्यपराक्रम अर्जुन चले गये, तो पाण्डव लोग शोक और दुःखसे व्याकुल हो गये। सूत्र टूटे हुए माला के समान अथवा पंख कटे हुए पक्षीके समान वे सब पाण्डव व्याकुल हो गये। उस कठिन कर्मकारी अर्जुनके विना वह वन ऐसा हो गया जैसे कुबेरके विना चैत्ररथ (कुबेरका बाग)। (४-६)

हे जनमेजय! अर्जुनके विना पुरुषसिंह पाण्डव दुःखसे उस वनमें वास करने लगे। हे भरतश्रेष्ठ! वे महारथी पाण्डव पराक्रमसे दिन दिन ब्राह्मणोंके निमित्त पराक्रम करनेवाले अनेक हरिणों को मारते थे। शत्रुनाशन पाण्डवलोग नित्यही यज्ञके निमित्त हरिणोंको मार कर ब्राह्मणोंको खिलाते थे। (७-९)

हे राजन्! अर्जुनके जानेके पीछे पुरुष

अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन्धनञ्जये ॥ १० ॥
विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥
योऽर्जुनेनाऽर्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ।
शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ॥ १२ ॥
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ।
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १३ ॥
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नाऽतिभाति मे ॥ १४ ॥
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाऽशनिस्वनः ।
न लेभे शर्म वै राजन्स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥
तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

भीम उवाच— मनःप्रीतिकरं भद्रे यद्ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥
यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।

सिंह पाण्डवलोग अप्रसन्न होकर उस वनमें वसने लगे। एकदिन अपने मध्यम पति अर्जुनको स्मरण करती हुई द्रौपदी घबराये हुए युधिष्ठिरके पास आकर ऐसा बोली। जो दो हाथवाला अर्जुन सहस्र हाथवाले अर्जुनके समान है, उसके विना यह वन मुझको नहीं सोहाता; एक अर्जुनके विना मुझे यह पृथ्वी शून्य दीखती है; और यहभी बहुत आश्चर्य है,कि यह फूले फले वृक्ष अर्जुनके विना वैसे सुन्दर नहीं दीखते; उस नीले मेघके समान सुन्दर, मतवाले हाथीके समान चलनेवाले, कमलनेत्र अर्जुनके विना यह काम्यक वन मुझे नहीं सोहता। जिसके धनुषका शब्द वज्रके समान सुनाई पढता था, उस अर्जुनके विना मुझे सुख नहीं मिलता। (१०-१५)

हे महाराज ! द्रौपदीका ऐसा वचन सुनकर शत्रुनाशन भीमसेन बोले,हे सुमध्यमे ! हे भद्रे ! तुम जो कहती हो, सो बात हमारे ही मनकी है,उसके सुननेसे हमारा मन ऐसा प्रसन्न होता है, जैसे अमृतके पीनेसे। जिसके हाथ लम्बे, मोटे, मुद्गरके समान कठोर, रांदे की

मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ॥ १८ ॥
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाऽम्बरम् ॥ १९ ॥
यमाश्रित्य महाबाहुं पञ्चालाः कुरवस्तथा ।
सुराणामपि यत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।
पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणाऽऽवृता इव ॥ २२ ॥
ततोऽब्रवीत्साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ॥ २३ ॥

नकुल उवाच— यस्मिन्दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २४ ॥
उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ॥ २५ ॥
राज्ञे तित्तिरकल्माषाञ्छ्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद्भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २६ ॥
तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।

ठेटसे युक्त, धनुष और खड्गके धारण करनेवाले, सोनेके बाजूबन्दोंसे शोभित पांच फनवाले सांपके समान हैं, उस पुरुषसिंहके विना वह वन ऐसा दीखता है, जैसे विना सूर्यके आकाश। जिसके हाथोंके बलके आश्रयसे कुरूवंशी और पाञ्चाललोग इकट्ठे हुए देवतोंकी सेनासेभी नहीं डरते हैं, जिस महात्माके हाथोंके आश्रयसे हमलोग शत्रुओंको जीते हुए और पृथ्वीको प्राप्तही समझते हैं, उस वीर अर्जुनके विना इस काम्यक वनमें हम रहनेको समर्थ नहीं हैं। हमको सब दिशा अन्धेरेसे भरी हुई दीखती हैं। (१८—२२)

तब पाण्डुपुत्र नकुल रोते हुए ऐसा कहने लगे। नकुल बोले, जिस अर्जुनके युद्धमें दिव्य कामोंको देखकर देवता भी प्रशंसा करते हैं, उसके विना वनमें कैसे चित्त लगेगा? जिस महा तेजस्वीने उत्तर दिशामें जाकर महाबल गन्धर्वराजको जीत कर उत्तम घोडे प्राप्त किये थे, जिसने उनही तित्तिरके समान रङ्गवाले तेजस्वी, वायुके समान चलनेवाले घोडोंको राजसूय महायज्ञमें अपने प्यारे भाईको

काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २७ ॥

सहदेव उवाच— यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २८ ॥
यः समेतान्मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य संमते ॥ २९ ॥
तस्य जिष्णोर्बृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ ३० ॥
वनादस्माद्विवासं तु रोचयेऽहमरिन्दम।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३१ ॥ [३१४२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वण्यर्जुनानुशोचनेऽशीतितमो ऽध्यायः ॥ ८० ॥

वैशम्पायन उवाच—धनञ्जयोत्सुकानां तु भ्रातॄणां कृष्णया सह।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽभ्यजायत ॥ १ ॥
अथाऽपश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम्।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्मया हुतार्चिषमिवाऽनलम् ॥ २ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट्।

प्रेमसे दिये थे, उस भीमके छोटे भाई, दृढ धनुवाले देवतुल्य अर्जुनके विना इस काम्यक वनमें रहनेकी हमारी इच्छा नहीं है। (२३—२७)

सहदेव बोले, जिस महारथने, पहले राजसूय यज्ञमें युद्धसे जीते हुए अनेक धन और कन्याओंको राजाको समर्पण किया था, और जिस महा तेजस्वीने कृष्णकी सम्मतिसे युद्धमें सब यादवोंको जीतकर सुभद्राको ग्रहण किया था, उस अर्जुनके आसनको शून्य देखकर मेरा हृदय कभी भी शान्त नहीं होता। हे महाराज! हे शत्रुनाशन! उस वीरके विना यह वन हमको अच्छा नहीं लगता, इस लिये हमारी इच्छा इस वनको छोड देनेकी है। (२८—३१)

वनपर्वमें अस्सी अध्याय समाप्त। [३१४२]

वनपर्वमें एकासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, इस प्रकार द्रौपदीके सहित अपने भाईयोंको अर्जुनके दर्शनकी इच्छावाला जान और उनकी बातें सुनते हुए धर्मराज युधिष्ठिर बैठे थे, इतनेहीमें तेजकी लक्ष्मीसे प्रकाशमान, जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी देवर्षि नारदजीको देखा। उनके देखतेही धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंके

प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजां चक्रे महात्मने ॥ ३ ॥
स तैः परिवृतः श्रीमान्भ्रातृभिः कुरुसत्तमः ।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४ ॥
यथा च वेदान्सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन् ।
न जहौ धर्मतः पार्थान्मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥
प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः ।
आश्वासयद्धर्मसुतं युक्तरूपमिवाऽनघ ॥ ६ ॥
उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनाऽर्थः किं ददानि ते ॥ ७ ॥
अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा नारदं देवसंमितम् ॥ ८ ॥
त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात्तव सुव्रत ॥ ९ ॥
यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ॥ १० ॥
प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः ।

समेत खडे हो गये, और महात्मा नारदजीकी यथा योग्य पूजा करी। कुरुकुल श्रेष्ठ, श्रीमान्, प्रकाशमान्, राजा युधिष्ठिर अपने भाईयोंके सहित ऐसे शोभित हुए, जैसे देवतोंके सहित इन्द्र। जैसे सावित्री वेदोंको और मेरुपर्वत को सूर्यकी किरण नहीं छोडती हैं, तैसेही द्रौपदीभी धर्म सहित अपने पतियोंके सङ्गही रहती थी। (१—५)

हे पापरहित! भगवान नारदजीने उस पूजाको ग्रहण किया, और समयानुसार धर्मराजको समुझाने लगे। धर्मराज महात्मा युधिष्ठिरसे नारदजी बोले, कि हे धनुर्द्धारियोंमें श्रेष्ठ! आपकी क्या इच्छा है? कहिये हम आपको क्या दें? ऐसा सुन धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंके सहित देव समान नारदजीको प्रणाम कर हाथ जोड ऐसा बोले। हे सुव्रत! हे महाभाग! जब सब लोकोंसे पूजित आप मुझसे प्रसन्न हुए, तो आपकी कृपासे मैं अपने सब कार्योंको सिद्धही समझता हूं। हे पापरहित! यदि आप भाइयोंके सहित मेरे ऊपर अनुग्रह करना चाहते हैं, तो मेरे सन्देहको यथायोग्य नाश कीजिये। जो पुरुष तीर्थयात्राके निमित्त संपूर्ण पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है,

किं फलं तस्य कार्त्स्न्येन तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ११ ॥

नारद उवाच— शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता।
पुलस्त्यस्य सकाशाद्वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ १२ ॥
पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिभिः सह ॥ १३ ॥
शुभे देशे तथा राजन्पुण्ये देवर्षिसेविते।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ॥ १४ ॥
स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥
कस्यचित्त्वथकालस्य जपन्नेव महायशाः।
ददर्शाऽद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥
स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ॥ १७ ॥
उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥
शिरसा चाऽर्घमादाय शुचिः प्रयतमानसः।
नाम संकीर्तयामास तस्मिन्ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १९ ॥

उसको क्या फल होता है ? यह आप पूर्ण रीतिसे कहिये। (६–११)

नारद बोले, हे राजन् ! आप सावधान होकर सुनिये, जिस प्रकार बुद्धिमान भीष्मने पुलस्त्य मुनिसे सुना था, सो मैं कहता हूं। पहले धर्मचारियोंमें श्रेष्ठ भीष्म पितरोंके व्रतको धारण कर के मुनियोंके सहित गङ्गातीरपर वसते थे। हे राजन् ! देव और ऋषियोंसे सेवित पवित्र और पुण्यदेश गङ्गाके द्वार में महा तेजस्वी भीष्म देवता, पितर और ऋषियोंको शास्त्र विधिके अनुसार तर्पण करते हुए निवास करते थे। (१२—१५)

एक दिन महा यशस्वी भीष्मने जप करनेके समय अद्भुत स्वरूपवाले पुलस्त्य मुनिको देखा। उन्होंने महातपस्वी पुलस्त्यको तेजसे प्रकाशित देखकर परम आनन्द प्राप्त किया और महा आश्चर्य माना। हे भारत ! वहां आये हुए पुलस्त्य मुनिको देख धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्म ने विधिपूर्वक उनकी पूजा करी, पवित्र होकर अपने मनको स्थिरकर उनको अर्घ दे, शिरसे प्रणाम कर, ब्रह्मर्षियों में श्रेष्ठ पुलस्त्यको इस प्रकार अपना

भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत ।
तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ॥ २० ॥
एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद्युधिष्ठिर ॥ २१ ॥
तं दृष्ट्वा नियमेनाऽथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम् ।
भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठ मुनिः प्रीतमनाऽभवत् ॥ २२ ॥[३१६४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
पार्थनारदसंवाद एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

पुलस्त्य उवाच— अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च ।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ॥ १ ॥
यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याऽऽश्रितोऽनघ ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २ ॥
अमोघदर्शी भीष्माऽहं ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दाताऽस्मि तेऽनघ ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच— प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान्प्रभुम् ॥ ४ ॥

नाम सुनाया। (१६—१९)

हे सुव्रत ! आपका कल्याण हो, मैं आपका दास भीष्म हूं, आज आपका द-र्शन होनेसे मेरे सब पाप छूट गये। हे महाराज ! हे युधिष्ठिर ! धर्मधारियोंमें श्रे-ष्ठ भीष्म ऐसा कह हाथ जोड चुप हो बैठ गये। कुरुकुलश्रेष्ठ भीष्मको वेदपा-ठ और नियमसे दुर्बल देख पुलस्त्यमुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए।(२०-२२)[३१६३]

वनपर्वमें एकासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें बिआसी अध्याय।

श्रीपुलस्त्य मुनि बोले, हे धर्मज्ञ ! तु-म्हारे इस परिश्रम, इन्द्रिय निग्रह और सत्यसे हम परम सन्तुष्ट हुए हैं। हे महा-भाग ! हे पापरहित ! तुम्हारा यह धर्म और पिताकी भक्ति देखकर हम बहुत प्रसन्न हुए हैं। हे पुत्र ! हे भीष्म ! हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! हे पापरहित ! हम तीनों कालको देखते हैं, तुम जो कहोगे सोई तुमको देंगे, कहो हम तुम्हारा कौन काम करें ! (१—३)

भीष्म बोले, हे महाभाग ! सबलोगों से पूजित ! जब आप हमसे प्रसन्न हुए, तो हम अपने सब कार्योंको सिद्ध-ही समझते हैं, आपके देखनेसे सब कार्य सिद्ध हुए। हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! यदि

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर।
संदेहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥
अस्ति मे हृदये कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसंनिभ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥
पुलस्त्य उवाच— हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम्।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत्फलम् ॥ ८ ॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ९ ॥
प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येनकेनचित्।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १० ॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेंद्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ११ ॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ १२ ॥
ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम्।

आप हमारे ऊपर कृपा करते हैं, तो हमारे सन्देहको नाश कीजिये। हमारे हृदयमें तीर्थोंके विषयमें कुछ धर्म विषयक सन्देह हैं, उनको हम सुनना चाहते हैं, आप कहिये, हे देवतुल्य! हे ब्राह्मण ऋषे! जो पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है, उसको क्या फल होता है? सो आप निश्चय करके कहिये। (४—७)

पुलस्त्य मुनि बोले, हे पुत्र! हम तुमसे तीर्थके फलको कहते हैं, सावधान मनसे सुनो, यह ऋषियोंके सुनने योग्य है। जिसके हाथ, पांव, मन, विद्या, तप और कीर्ति वशमें होती हैं, वही तीर्थोंके फलको भोगता है; जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जो प्राप्त हो उसपर संतुष्ट रहता है, जिसको अहङ्कार नहीं होता, वही तीर्थके फलको भोगता है, जो छल और कार्योंके आरंभसे हीन, थोडा खानेवाला, इन्द्रियजित और सब पापोंसे रहित होता है, वही तीर्थोंके फलको भोगता है। ८-११

हे राजेन्द्र! जो क्रोधसे रहित! सत्य और शीलसे भरा हुआ, पक्का व्रतधारी, अपने समान सब प्राणियोंको देखनेवाला हो वही, तीर्थोंके फलको

फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १३ ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः ॥ १४ ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित ।
नाऽर्थन्यूनैर्नाऽवगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥ १५ ॥
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ॥ १६ ॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥ १७ ॥
अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ १८ ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ १९ ॥
नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥२० ॥
दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।

भोगता है। जो यज्ञ ऋषियोंने देवतोंके निमित्त कहा है, जिनका फल इस लोक और परलोक में होता है, उन यज्ञों को दरिद्री पुरुष नहीं कर सकता; क्योंकि यज्ञमें अनेक सामग्री और बहुत वस्तुओंका विस्तार चाहिये। उन यज्ञोंको राजाही लोग कर सकते हैं और कहीं कहीं धनवान् पुरुषभी करनेमें समर्थ होते हैं; परन्तु थोडे धनवाले; सहाय रहित, एकले, साधनहीन, पुरुष नहीं कर सकते। (१२ –१५)

हे नरनाथ ! हे योद्धोंमें श्रेष्ठ ! जो विधि दरिद्रोंके लिये यज्ञ फलके समान कही हैं, उसको सुनिये। हे भरतसत्तम ! यह ऋषियोंका परम गुप्त मत है, कि पवित्र तिर्थोंमें जाना यज्ञोंसेभी अधिक फलदायक है, तीन रात्री उपोषण न करके, तीर्थ यात्रा न करके, गऊदान न करके जो रहता है वह दरिद्र होता है। भारी भारी दक्षिणावाली अग्निष्टोमादि यज्ञ करनेसे जो फल होते हैं, सो इन तीर्थोंमें जानेसेभी होते हैं।(१६-१९)

देवश्रेष्ठ ब्रह्माका तीर्थ पुष्कर नामक मर्त्यलोकमें है, वह तीनलोकमें विख्यात है, महाभागी पुरुषको वहां जाना उचित है; हे महामते ! पुष्कर तीर्थमें तीनों

सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसन्ध्यं कुरुनन्दन ॥ २१ ॥
आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहिता विभो ॥ २२ ॥
यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महताऽन्विताः ॥ २३ ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ २४ ॥
तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान्कमलासनः ॥ २५ ॥
पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महताऽन्विताः ॥ २६ ॥
तत्राऽभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥ २७ ॥
अप्येकं भोजयेद्विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनाऽसौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥ २८ ॥
शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम् ।
तद्वै दद्याद्ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ।

सन्ध्याओंके समय दश करोड तीर्थ इकट्ठे होते हैं, वहां सूर्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुत, गन्धर्व और अप्सरा सदाही निवास करते हैं। हे महाराज! जहां देवता, दैत्य और ब्रह्मऋषिलोग महा पुण्यके सहित तप करके दिव्य योगको प्राप्त होते हैं, उस पुष्करका जो मनस्वी पुरुष मनसेभी ध्यान करता है, वह सब पापोंसे पवित्र होकर स्वर्गमें जाकर पूजित होता है। (२०—२४)

हे महाराज! उस तीर्थमें सब लोकोंके पितामह परम प्रीतिके सहित सदाही निवास करते हैं। हे महाभाग! पुष्करमें पहले देवता और ऋषिलोग पवित्र पुण्यके सहित तप करके परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। पितर और देवतोंकी पूजा करनेवाला पुरुष यदि उसमें स्नान करे, तो अश्वमेध यज्ञसे दश गुन फलको पाता है। यदि पुष्करमें रहनेवाले एक एक ब्राह्मणकोभी भोजन करावे, तो उस कर्मके प्रतापसे इसलोक और परलोकमें आनन्द करता है, शाक, मूल, फल या जो कुछ आप खाय, वही ब्राह्मणको श्रद्धा सहित खिलावे, उसी

तेनैव प्राप्नुयात्प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ॥ २९ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ।
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥ ३० ॥
कार्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ।
प्राप्नुयात्स नरो लोकान्ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ॥ ३१ ॥
सायंप्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ।
उपस्पृष्टं भवेत्तेन सर्वतीर्थेषु भारत ॥ ३२ ॥
जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ॥ ३३ ॥
यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ।
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ॥ ३४ ॥
उष्ट्वा द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ।
क्रतून्सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ ३५ ॥
यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ।
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ॥ ३६ ॥
त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ॥ ३७ ॥

कर्मके फलसे बुद्धिमान पुरुष अश्वमेधके फलको प्राप्त करता है। (२८—२९)

हे राजसत्तम ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कोई हो, उस तीर्थमें स्नान करके फिर गर्भमें नहीं आता, विशेष करके जो कार्तिककी पूर्णमासीको पुष्करमें स्नान करता है, उसको अक्षय ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। हे भारत ! जो सन्ध्या और प्रातःकाल हाथ जोडकर पुष्करका स्मरण करता है। उसे सर्व तीर्थ स्पर्श करनेका फल होता है। चाहे पुरुष वा स्त्री हो उसने जन्म भरमें जो पाप किया हो, वह सब पुष्करमें स्नान करतेही नष्ट हो जाते हैं। जैसे सब देवतोंमें पहले विष्णु हैं, वैसेही सब तीर्थोंमें आदि पुष्कर हैं। (३०—३४)

राजन् ! जो पवित्र और इन्द्रियजित होकर बारह वर्ष पुष्करमें रहे, वह सर्व क्रतुको पाता है, और ब्रह्मलोकमें वसता है। जो सौ वर्षतक अग्निहोत्र करै, और जो एक कार्तिकी पौर्णमासीमें पुष्कर वास करे, उन दोनोंको समान ही फल होता है। तीन श्वेत शृंग और तीन पुष्करादि झरने सिद्ध हैं, किन्तु इसका

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥ ३८ ॥
उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ॥ ३९ ॥
जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ॥ ४० ॥
तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ॥ ४१ ॥
जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत्तन्दुलिकाश्रमम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ४२ ॥
आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत ॥ ४३ ॥
शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम्।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ॥ ४४ ॥
धर्मारण्यं हि तत्पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४५ ॥
अर्चयित्वा पितॄन्देवान्नियतो नियताशनः।

कारण हम नहीं जानते। पुष्कर में जाना, तप करना, दान करना बहुत कठिन है, जो थोडा भोजन करने वाला इन्द्रियों को वशमें करके प्रदक्षिणके पश्चात् बारह रोजतक पुष्करमें रहता है, वह जम्बुमार्गमें जाता है, देवता ऋषि और पितरोंसे सेवित मार्गमें जाकर सब काम पाकर अश्वमेधके फलको प्राप्त करता है। (३९—४०)

हे राजन्! वहां पांच रात्रि निवास करनेसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है और उसकी दुर्गति न होकर उत्तम सिद्धि मिलती है। जंबुमार्गसे होकर तिंदुकाश्रममें जो जाता है उसको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, जो पितर और देवतोंकी पूजा करनेवाला अगस्त्य सरमें जाकर तीन रात रहता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। जो शाक और फलोंको खाता है, उसे कुमार भाव प्राप्त होता है। हे भरतर्षभ! वहांसे लक्ष्मीसे भरे हुए लोकपूजित कण्वमुनिके आश्रममें जाय। उसका नाम धर्मारण्य है, वह पवित्र स्थान और आदिस्थान है जहां जाते ही पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है; वहां

सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥ ४६ ॥
प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत् ।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ॥ ४७ ॥
महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥ ४८ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः ।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ४९ ॥
तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत् ।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ॥ ५० ॥
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः ॥ ५१ ॥
नर्मदां स समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
तर्पयित्वा पितॄन्देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५२ ॥
दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाऽधिरोहति ॥ ५३ ॥
चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।

इन्द्रियजित और अल्पाहारी होकर यदि पितर और देवतोंकी पूजा करे तो सब काम पूर्ण होते हैं, और यज्ञका फल मिलता है । (४१—४६)

उसकी प्रदक्षिणा करके ययातिपतन नामक तीर्थमें जाय, वहां जातेही अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। वहांसे अल्पाहारी और जितेन्द्रिय होकर महाकाल तीर्थमें जाय, वहां कोटि तीर्थका स्पर्श होनेसे अश्वमेधका फल मिलता है। आगे धर्म जाननेवाला पुरुष भद्रवट नामक तीर्थमें जाय । यह स्थान पार्वतीनाथ शिवका है और तीनों लोकोंमें विख्यात है । वहां पुरुषोंमें श्रेष्ठ यात्रीको शिवके दर्शन करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है, और शिवके प्रसादसे लक्ष्मीके सहित, शत्रुओंसे रहित, वृद्धिसे भरा हुआ गाणपत्य पद मिलता है । (४७—५१)

वहांसे चलकर तीनों लोकोंमें विख्यात नर्मदा नदी पर जाय वहां देवता और पितरोंको तर्पण करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है । आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर दक्षिण समुद्रके तट पर जाय, वहां जानेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है और चढनेको विमान प्राप्त होता है । आगे जितेन्द्रिय और जिताहार होकर चर्मण्वती (चम्बल)

रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५४ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥
तत्राऽऽश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥
पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥ ५७ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥ ५८ ॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥ ५९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।
ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ॥ ६० ॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद्भरतर्षभ ॥ ६१ ॥
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत्पितृदेवताः ॥ ६२ ॥

नदीके तट पर जाय; वहां जानेसे रन्तिदेवकी कही हुई आग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है। हे धर्मज्ञ ! हे युधिष्ठिर वहांसे हिमाचलके पुत्र अर्बुदमें जाय, जहां पहले पृथ्वीमें छेद था, वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात वसिष्ठमुनिका आश्रम है, वहां एक रात रहनेसे हजार गौ दानका फल मिलता है। (५२–५६)

हे नरश्रेष्ठ ! यदि जितेन्द्रिय होकर वहां पिङ्ग तीर्थका स्पर्श करे तो सौ कपिल गौदानका फल पावे। हे राजन् ! वहांसे उत्तम प्रभास तीर्थमें जाय, जहां भगवान् अग्नि आपही निवास करते हैं। हे वीर ! वायुका सारथी ज्वलन जो देवतोंका मुख है, जो मनुष्य पवित्र हो मनको स्थिर कर वहां स्नान करे, और तीन रोज वास करे, वह अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल पाता है। वहांसे सरस्वती और समुद्रके सङ्गमको जाय, तो उसे सहस्र गौदानका फल होता है, और स्वर्ग मिलता है। हे भरतर्षभ! तथा वह अग्निके समान तेजसे भरा होता है। वहां मनको स्थिर करके समुद्रमें स्नान करे, तीन दिन वहीं

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति ।
वरदानं ततो गच्छेत्तीर्थं भरतसत्तम ॥ ६३ ॥
विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६४ ॥
ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥ ६५ ॥
तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिन्दम ॥ ६६ ॥
त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सान्निध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥ ६७ ॥
सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ६८ ॥
तर्पयित्वा पितॄन्देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ६९ ॥
शंकुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर ।
अश्वमेधाद्दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ७० ॥

निवास करके पितर और देवतोंका तर्पण करे तो अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और चन्द्रमाके समान तेजस्वी होता है । (५७-६३)

हे भरतसत्तम ! वहांसे वरदान तीर्थ को जाय । हे युधिष्ठिर ! विष्णुने उसी स्थानमें दुर्वासाको वर दिया था । वरदान तीर्थमें स्नान करके सहस्र गोदानका फल पाता है । आगे पुरुष जिताहार होकर द्वारिका पुरीको जाय, वहां पिण्डारक तीर्थमें स्नान करे तो बहुत सुवर्ण प्राप्त होता है, हे महाभाग ! हे शत्रुनाशन ! उस तीर्थमें अब भी पद्मके समान मुद्रा दिखाई देती हैं । हे कुरुनन्दन ! यह परम आश्चर्य है कि वहां त्रिशूल चिन्होंसे युक्त पद्म दीखते हैं । हे पुरुषर्षभ ! वहां महादेव निवास करते हैं । (६३-६७)

हे भारत ! वहांसे सिन्धु और समुद्रके सङ्गममें जाय, वहां मनको स्थिर करके समुद्रमें स्नान करे और पितर देवता तथा ऋषियों का तर्पण करे । यहां स्नान करनेसे अपने तेजसे प्रकाशित वरुण लोक मिलता है । हे युधिष्ठिर ! वहां शंकुकर्णेश्वर महादेव की पूजा करनेसे महात्मा लोग कहते हैं कि अश्वमेधसे

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ७१ ॥
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम्।
तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ॥ ७२ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम्।
जन्मप्रभृति यत्पापं तत्स्नातस्य प्रणश्यति ॥ ७३ ॥
दमी चाऽत्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥
गत्वा तत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना।
पुरा शौचं कृतं राजन्हत्वा दैतेयदानवान् ॥ ७५ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम्।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ॥ ७६ ॥
स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः।
तर्प्य देवान्पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥ ७७ ॥
तीर्थं चाऽत्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां संमतो भवेत् ॥७८॥
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम्।

दशगुण फल होता है। (६८–७०)

हे भरतर्षभ! हे कुरुवरश्रेष्ठ! आगे प्रदक्षिणा करके तीन लोकमें विख्यात दमी नामक तीर्थमें जाय; वह सब पापोंका नाश करनेवाला है, वहीं ब्रह्मादिक देवता शिवकी पूजा करते हैं। वहां स्नानकर जल पी देवतोंसे वेष्टित शिवकी पूजाकर पुरुष जन्म भरके पापोंसे छूटता है। हे पुरुषव्याघ्र! हे नरश्रेष्ठ! इसी स्थानपर सब देवतोंने दमीकी स्तुति की थी। वहां स्नान करनेसे अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। हे राजन्! पहले लोककर्ता विष्णुने दैत्य और दानवोंको मारकर इसी स्थानपर पवित्रता पाई थी। (७१—७५)

हे धर्मज्ञ! वहांसे वसुधारा नामक तीर्थको जाय, उसकी सब देवता लोग स्तुति करते हैं, वहां जानेहीसे अश्वमेधका फल मिलता है। हे कुरुश्रेष्ठ! सावधान और जितेन्द्रिय होकर स्नान करना चाहिये, वहां देवता और पितरोंको तर्पण करनेसे विष्णुलोक मिलता है। हे भरतर्षभ! इस तीर्थमें वसुओंका तडाग है, वहां स्नान और पान करनेसे

तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥ ७९ ॥
भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ८० ॥
कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥
रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद्विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ॥ ८२ ॥
अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्च यज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ॥ ८३ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥ ८४ ॥
देव्याः पुत्रो भवेद्राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८५ ॥
श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८६ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।

पुरुष वसुओंका प्यारा हो जाता है । हे नरश्रेष्ठ ! आगे सिन्धूत्तम नामक तीर्थमें जाय, वहां स्नान करनेसे सब पापोंका नाश और बहुत सुवर्ण मिलता है । (७६–७९)

हे महाराज ! आगे पवित्र और शीलवान पुरुष भद्रतुङ्ग नामक तीर्थपर जाय । वहां जानेसे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, और परम गति प्राप्त होती है । आगे कुमारिका तीर्थ जो इन्द्रतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है, जिसकी सिद्ध लोग सेवा करते हैं, वहां स्नान करनेसे पुरुषको शीघ्र स्वर्ग मिलता है । वहीं सिद्ध सेवित रेणुका तीर्थ है, उसमें स्नान करने से ब्राह्मण चन्द्रमाके समान निर्मल हो जाता है । आगे जितेन्द्रिय और जिताहार होकर पञ्चनद तीर्थपर जाय; वहां जाने से क्रमसे कथित पांच यज्ञका फल प्राप्त होता है । (८०—८३)

हे राजेन्द्र! वहांसे उत्तम भीमा स्थानपर जाय, वहां स्नान करनेसे पुरुष देवीका पुत्र होता है, उसका रङ्ग तपे हुए सोने के समान हो जाता है; वहां जानेसे लाख गौदानका फल होता है । वहांसे तीनलोकमें विख्यात श्रीकुण्ड तीर्थपर जाय, वहां ब्रह्माको नमस्कार करनेसे

अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥ ८७ ॥
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८८ ॥
वितस्तां च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ॥ ८९ ॥
काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ९० ॥
तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥ ९१ ॥
ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु सन्ध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ९२ ॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन्यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितॄणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ९३ ॥
ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किंनरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ॥९४॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।

सहस्र गोदानका फल होता है। हे धर्मज्ञ! वहांसे उत्तम विमल तीर्थ को जाय, जहां अबतकभी सोने और चांदीके रङ्ग-वाली मछली दीखती हैं, वहां स्नान करनेसे पुरुषको इन्द्रलोक मिलता है, वह पुरुष सब पापोंसे छूटकर मोक्षको पाता है। (८४—८८)

आगे वितस्ता नदीमें जाकर स्नान करे और वहां पितर तथा देवतोंका तर्पण करे। हे भारत! इस तीर्थमें स्नान करनेसे वाजपेय यज्ञका फल होता है। हे महाराज! वहांसे काश्मीर देशको जाय, वहां तक्षक नागका वन जो वितस्ता नामसे प्रसिद्ध है वह सब पापोंका नाश करनेवाला है, उसमें जाकर स्नान करे, ऐसा करनेसे वाजपेय यज्ञका फल मिलता है, और सब पापोंसे छूटकर मुक्ति हो जाती है। वहां से तीन लोकों में प्रसिद्ध वडवा तीर्थमें जाय, यहां विधि-पूर्वक सायंकालकी सन्ध्यामें स्नान करे, वहांपर शक्तिके अनुसार अग्निको चरु दे। पण्डित लोग कहते हैं, कि पितरोंके निमित्त वहां जो दान किया जाय सो अक्षय होता है। (८९—९३)

हे नरनाथ! गन्धर्व, ऋषि, पितर, देवता, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर,

नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्त्रिकीम् ॥ ९५ ॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वश्चरुं च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ॥ ९६ ॥
ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।
यथाभिलषितानन्यान्कामान्दत्त्वा महीपते ॥ ९७ ॥
तत्रैवाऽन्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥ ९८ ॥
गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान्सप्तार्चिषे चरुः ॥ ९९ ॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाऽऽविशेत् ।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०० ॥
मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०१ ॥
अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥ १०२ ॥
त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, पुरुष, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्मा इन्होंने जितेंद्रिय हो सहस्रवर्ष पर्यंत उत्तम दीक्षा ली । और उसी स्थानमें विष्णुका भोग लगाकर विष्णु को प्रसन्न करते हैं । उसी स्थानपर इन लोगोंने ऋग्वेदकी सात सात ऋचा पढकर विष्णुकी स्तुति की थी, और विष्णुजीने उनके ऊपर प्रसन्न होके उनको वहीं आठ सिद्धि दी थी । औरभी उनकी इच्छानुसार अनेको सिद्धि देकर भगवान विष्णु वहीं अन्तर्द्धान हो गये थे, जैसे मेघोंमें बिजली । हे भारत! इसी लिये उस तीर्थका नाम सप्तचरू है । (९४-९८)

वहां पर अग्निको चरु देनेसे लाख गो दान, हजार राजसूय यज्ञ, और हजार अश्वमेध यज्ञोंका फल होता है । हे राजेन्द्र! वहां से चलकर रुद्रतीर्थ को जाय, वहां महादेवकी पूजा करनेसे अश्वमेधका फल मिलता है । आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर मणिमान तीर्थको जाय, वहां एक रात रहनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है । हे राजेन्द्र ! वहांसे लोक विख्यात देविका तीर्थमें जाय । हे भरतर्षभ ! वहीं पर सब ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे । (९९-१०२)

*

देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यच्चर्य महेश्वरम् ॥१०३॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १०४ ॥
कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत ॥१०५॥
यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्मवालुकम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥ १०६ ॥
अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती देविका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥ १०७ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥
दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ॥ १०८ ॥
गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिन्दम ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥ १०९ ॥
ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ॥ ११० ॥
चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ।

वहां तीनों लोकमें विख्यात शूलपाणि रुद्रके स्थान हैं । देविकातीर्थ में स्नान और महेशको पूजनेके बाद यथा शक्ति चरू निवेदन करनेसे सर्वकामसमृद्ध यज्ञका फल मिलता है। वहां रुद्र देवका सर्व देवों से सेवित कामाख्य तीर्थ है। उस तीर्थमें स्नान करके पुरुष को शीघ्र ही सिद्धि मिलती है, वहां यज्ञ करें और करावें,वहां की ब्रह्मवालू,फूल और जलको छूनेसे पुरुष मरनेके पश्चात् शोचसे रहित होता है, अर्थात् मोक्ष पाता है। देव और ऋषियोंसे सेवित पवित्र देवीका वह स्थान दो कोस चौडा और दसकोश लम्बा है। (१०३---१०७)

हे धर्मज्ञ । वहांसे क्रमके अनुसार दीर्घसत्र तीर्थ पर जाय, जहां ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और महा ऋषिलोग दीक्षित हो कर बडे बडे यज्ञको करते हैं। हे राजेन्द्र ! हे शत्रुनाशन ! हे भारत ! दीर्घसत्र तीर्थमें आनेहीसे राजसूय और अश्वमेधका फल है,आगे जिताहार नियमधारी पुरुष विनशन तीर्थमें जाय जहां मेरुके पृष्ठपर अन्तर्द्धान हुई सरस्वती आगे चमस शिवोद्भेद और नागोद्भेद तीर्थमें

स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १११ ॥
शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ॥ ११२ ॥
शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ॥ ११३ ॥
सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते ।
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकीं सदा ॥ ११४ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत्सदा ।
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद्भरतर्षभ ॥ ११५ ॥
कुमारकोटीमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ ११६ ॥
गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ॥ ११७ ॥
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ।
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्क्षया ॥ ११८ ॥
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ।

दीखती हैं, चममोद्भेद तीर्थमें स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। शिवोद्भेदमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है, और नागोद्भेदमें स्नान करनेसे पुरुषको नागलोक मिलता है। (१०८-११२)

हे राजेन्द्र ! आगे दुर्लभ शशयान तीर्थमें जाय, हे भारत ! जहां शशरूपसे प्रतिच्छन्न पुष्कर प्रतिवर्ष कार्तिकीमें सरस्वतीमें दीखते हैं। हे भरतर्षभ ! हे पुरुषसिंह! वहां स्नान करनेसे पुरुष सदा चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो जाता है तथा सहस्र गोदान का फलभी पाता है। हे कुरुनन्दन! वहांसे देवता और पितरोंकी पूजा करनेवाला नियमधारी पुरुष कुमार कोटी तीर्थमें जाकर स्नान करे, वहां स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है, और उसके कुलकाभी उद्धार हो जाता है। (११३—११७)

हे धर्मज्ञ ! वहांसे सावधान होकर रुद्रकोटि तीर्थमें जाना चाहिये, जहां पहले मुनियोंका समूह शिवके दर्शनकी इच्छासे आया था, और उन्होंने वहां अत्यन्त प्रसन्न होकर हम पहले शिवजीका दर्शन करेंगे, हम पहले शिवजीका दर्शन करेंगे, ऐसा विवाद किया था, हेराजन्!

एवं संप्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ॥ ११९ ॥
ततो योगीश्वरेणाऽपि योगमास्थाय भूपते।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ॥ १२० ॥
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ॥ १२१ ॥
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम्।
भक्त्या परमया राजन्वरं तेषां प्रदिष्टवान् ॥ १२२ ॥
अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ॥ १२३ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १२४ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम्।
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ॥ १२५ ॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
अभिगच्छन्ति राजेंद्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ॥ १२६ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद्बहु सुवर्णकम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १२७ ॥
ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप।

हे भारत! वे लोग ऐसाही विवाद करते हुए आगे को चले। (११८—११९)

हे महाराज! तब योगेश्वर शिवजीनेभी महात्मा ऋषियोंके क्रोधको अप्रकाश करनेके निमित्त सब ऋषियोंके आगे अपने अनेक स्वरूप बनाया और उनको सब ऋषि अलग अलग देखकर कहने लगे, कि शिवको हमने पहले देखा। अनन्तर उन महात्मा मुनियोंकी परम भक्तिसे शिव प्रसन्न हुए और ऐसा वरदान दिया कि आजसे तुमलोगोंका धर्म बढेगा। हे पुरुषव्याघ्र! उस रुद्रकोटि तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुष पवित्र होता है, और अश्वमेधका फल मिलता है, तथा कुलकाभी उद्धार हो जाता है। (१२०—१२४)

हे राजेन्द्र! वहांसे लोकविख्यात सरस्वतीके सङ्गमको जाय, जहां चैत्र शुक्ल चतुर्दशीके दिन विष्णुकी उपासना करनेके लिये ब्रह्मादिक देवता और तपस्वी ऋषिलोग आते हैं। हे महाराज! वहां स्नान करके बहुत सुवर्णको पाता है, और ब्रह्मलोकको जाता है और सब पापोंसे शुद्ध होजाता है। हे नरनाथ!

तत्राऽवसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१२८॥ [३२९२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

पुलस्त्य उवाच— ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात्सर्वजन्तवः ॥ १ ॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ३ ॥
दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ ४ ॥
तत्र मासं वसेद्वीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ५ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥ ६ ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥

वहां ऋषियोंके यज्ञ समाप्त हुए थे, वहां रहनेसे हजार गोदानका फल होता है। (१२५—१२८) [३२९२]

वनपर्वमें बिआसी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें तिरासी अध्याय ।

श्रीपुलस्त्यमुनि बोले, हे राजेन्द्र! वहां से प्रशंसित कुरुक्षेत्रको जाय, जहांके दर्शनहीसे सब प्राणी पापोंसे छूट जाते हैं, जो कोई सदा यही कहता रहे, कि मैं कुरुक्षेत्रको जाऊंगा, वहां वसूंगा, वह सब पापोंसे छूट जाता है, वायुसे उडती हुई वहांकी धूलभी यदि पापीके शरीर से लग जाय तो सब पापोंसे छुडाकर परम गतिको पहुंचाती है। सरस्वतीसे दक्षिण और दृषद्वतीसे उत्तर कुरुक्षेत्रमें जो पुरुष वसते हैं, वह सब स्वर्गवासी हैं। हे युधिष्ठिर! वहां धीर पुरुष एक महीना रहे, जहां ब्रह्मादिक देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और सर्पलोग निवास करते हैं। (१—६)

हे भारत! वहींसे वे लोग महा पवित्र ब्रह्मक्षेत्रको जाते हैं। हे युधिष्ठिर! जो मनसेभी कुरुक्षेत्रकी इच्छा करते हैं,

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८ ॥
ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ॥ १० ॥
तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ ११ ॥
ततःपारिप्लवं गच्छेत्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥१२ ॥
पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥ १३ ॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ॥ १४ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ॥ १५ ॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।

वे सब पापोंसे छूटकर ब्रह्मलोकको जाते हैं। हे कुरुनन्दन! श्रद्धायुक्त कुरुक्षेत्रमें जानेसे पुरुषको अश्वमेध और राजसूय का फल होता है, वहां मचक्रुक नामक यक्ष द्वारपालको नमस्कार करनेसे हजार गोदानका फल होता है, हे धर्मज्ञ! वहांसे अति उत्तम सतत नामक विष्णुके स्थानको जाय, हे राजेन्द्र! वहां सदाही नारायण वास करते हैं, वहां तीन लोकके कर्ता विष्णुको प्रणाम करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है, और विष्णुलोकभी प्राप्त होता है। (६–११)

हे भारत! वहांसे चलकर तीनलोक विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय, वहां जानेसे अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञ का फल प्राप्त होता है। हे नरनाथ! वहांसे पृथिवीतीर्थ में जाकर हजार गोदानका फल लाभ करे। आगे तीर्थसेवी पुरुष शालूकिनी तीर्थमें जाय, वहां दशाश्वमेधमें स्नान करनेसे दश अश्वमेध का फल प्राप्त होता है। आगे सर्पोंके उत्तम तीर्थ सर्पदेवीमें जाय वहां जानेसे अग्निष्टोमका फल और नागलोक मिलता है। हे धर्मज्ञ! वहांसे तरन्तुक नामक

ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ॥ १६ ॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥ १७ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ॥ १८ ॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ॥ १९ ॥
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २० ॥
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ॥ २१ ॥
ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥
तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाऽभिगम्य राजेन्द्र सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥२३॥
कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥ २४ ॥

द्वारपाल तीर्थ को जाय वहां एक रात्रि रहनेसे हजार गोदानका फल होता है। वहांसे पञ्चनद(पञ्जाब) देश में जाकर कोटीतीर्थ में स्नान करे वहां अश्वमेधका फल होता है। आश्विनी कुमार तीर्थमें जानेसे पुरुष रूपवान होजाता है। (१२–१७)

वहांसे उत्तम वाराह तीर्थमें जाय, जहां वाराह रूपधारी विष्णुने वास किया था। हे नरश्रेष्ठ! वहां स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। हे राजेन्द्र! वहांसे जयन्तीमें जाकर सोमतीर्थ का स्नान करे, वहां पुरुषको राजसूय यज्ञका फल मिलता है, यहां एकहंस तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल होता है। हे नराधिप! आगे तीर्थ सेवी पुरुष कृतशौच तीर्थमें जाय वहां जानेसे कमलको प्राप्त होता है और पवित्र होजाता है, वहांसे महात्मा शिवके मुञ्जवट नामक स्थानको जाय, वहां एकरात रहनेसे गणेशका पद मिलता है,वहीं विख्यात यक्षिणी तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे पुरुष सब कामोंको प्राप्त होता है। (१८—२३)

संमितं पुष्कराणां च स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत्सुमहात्मना ॥ २५ ॥
कृतकृत्यो भवेद्राजन्नश्वमेधं च विन्दति ।
ततो रामह्रदान्गच्छेत्तीर्थसेवी समाहितः ॥ २६ ॥
तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥ २७ ॥
पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ॥ २८ ॥
ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ।
पितर ऊचुः— राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥ २९ ॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥ ३० ॥
एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन्स गगने स्थितान् ॥ ३१ ॥
भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादमिच्छेयं तपआप्यायनं पुनः ॥ ३२ ॥

हे भरतर्षभ ! वहीं कुरुक्षेत्रका द्वार है आगे प्रदक्षिणा करके वहां स्नान करे, आगे पुष्कर संमित तीर्थमें स्नान करे वहां पितर और देवतोंका तर्पण करे, वह जमदग्निके पुत्र महात्मा परशुरामने किया था,हे राजन् ! वहां जानेसे पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, और अश्वमेध का फल मिलता है। आगे तीर्थसेवी पुरुष सावधान होकर रामसरमें स्नानकरै, हे राजेन्द्र ! तेजस्वी परशुरामने वहीं शीघ्रता सहित क्षत्रियोंको मारकर पांच तडाग बनाये हैं। (२४—२७)

हे पुरुषव्याघ्र ! यह बात विदित है, कि उन्हीं तडागोंको परशुरामने रुधिरसे भर कर अपने पितर और पूर्व पितरोंका तर्पण किया था, तब उनके पितर उनसें प्रसन्न होकर बोले, हे राम ! हे महाभाग ! हे भार्गव ! हे विभो ! हे महातेजस्वी ! हम तुम्हारे इस पितृभक्ति और पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हुए। हे महाभाग ! तुम्हारा कल्याण हो, जो तुम्हारी इच्छा हो वरदान मांगो. हे राजेन्द्र ! शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ परशुरामने आकाशमें खडे हुए पितरोंके ऐसे वचन सुनकर हाथ जोडकर कहा, यदि आप मुझसे प्रसन्न हुए हैं और मेरे ऊपर

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाऽप्यहम् ॥ ३३ ॥
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ॥ ३४ ॥
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ॥ ३५ ॥
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ॥ ३६ ॥
ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन्संतर्पयिष्यति ॥ ३७ ॥
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ॥ ३८ ॥
एवं दत्त्वा वरान्राजन्रामस्य पितरस्तदा ।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवाऽन्तर्हितास्ततः ॥ ३९ ॥
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ॥ ४० ॥

कृपा करना चाहते हैं, तो मैं आपकी प्रसन्नता चाहता हूं और पुनः आपलोगों के तर्पण करनेकी इच्छा रखता हूं और यहभी वरदान मांगता हूं कि, मैंने जो क्रोधमें भरकर क्षत्रियोंका नाश किया है,आप लोगोंकी कृपासे उस पापसे छूट जाऊं और मेरे यह तालाव जगत् विख्यात तीर्थ होजायं । (२८—३४)

परशुरामके ऐसे उत्तम वचन सुनकर पितरलोग परम प्रसन्न होकर आनन्दके सहित बोले, हमारे आशीर्वादसे तुम्हारा तप बढै और तुमने क्रोधमें भरकर जो क्षत्रियोंका नाश किया है, तुम उस पापसे छूट गये क्योंकि वे लोग अपने कर्मसे मरे हैं; और तुम्हारे यह तालाव निःसन्देह तीर्थ होजायंगे । जो कोई तुम्हारे इन तीर्थोंमें स्नान करके अपने पितरोंका तर्पण करेगा उसको पितर लोग प्रसन्न होकर जगत्में दुर्लभ कामनाको देंगे और सनातन स्वर्गमें पहुंचावेंगे । पितर लोग इस प्रकार परशुरामको वरदान देकर रामसे वार्तालाप कर वहां अन्तर्धान होगये । हे राजेन्द्र ! महात्मा भृगुवंशी परशुरामके तीर्थोंमें इस प्रकार स्नान करके ब्रह्मचारी और व्रतधारी हो परशुरामकी पूजाकर बहुत

रामसभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद्बहु सुवर्णकम् ।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ॥ ४१ ॥
स्ववंशमुद्धरेद्राजन्स्नात्वा वै वंशमूलके ।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ॥ ४२ ॥
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ॥ ४३ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४४ ॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान् ॥ ४५ ॥
श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितॄन्देवान्विन्दते श्रियमुत्तमाम् ॥ ४६ ॥
कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितॄन्स्वान्दैवतान्यपि ॥४७॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।
सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥ ४८ ॥
अर्चयित्वा पितॄन्देवानुपवासपरायणः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ ४९ ॥

सुवर्णको प्राप्त करता है । (३४-४१)

हे कुरूद्वह ! वहांसे वंशमूलक तीर्थमें जाय, वहां स्नान करनेसे वंशका उद्धार होता है, वहांसे कायशोधन तीर्थमें जाय, हे भरतसत्तम ! उसमें स्नान करनेसे निःसन्देहही शरीर शुद्ध हो जाता है । शरीर शुद्ध होनेसे उत्तम और शुभ लोकोंकी प्राप्ति होती है । हे धर्मज्ञ ! वहांसे तीनलोक विख्यात लोकोद्धार तीर्थ में जाय, जहां पहले जगत्कर्ता विष्णुने लोकोंका उद्धार किया था । हे राजन् ! उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुष अपने लोगोंका उद्धार करता है, वहांसे मन स्थिर करके श्रीतीर्थमें स्नान करें, वहां देवता और पितरोंकी पूजा करनेसे उत्तम लक्ष्मी मिलती है (४१-४६)

आगे ब्रह्मचारी हो मनको स्थिरकर कपिला तीर्थमें जाय वहां स्नान करके पितर और देवतोंकी पूजा करे तो सहस्र कपिला गौके दानोंका फल मिलता है, सूर्य तीर्थमें मन स्थिर करके पितर और देवतोंकी पूजा करे तो अग्निष्टोम यज्ञ-

गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥
शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
यच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ५२ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः ॥ ५३ ॥
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥ ५४ ॥
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ ५५ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ।
ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥ ५६ ॥
काशीश्वरस्य तीर्थे च स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ५७ ॥
मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।

का फल और सूर्य लोक मिलता है । आगे गोभवन तीर्थमें जाकर तीर्थसेवी पुरुष क्रमसे स्नान करे, तो हजार गोदानका फल पाता है । (४७-५० ।

हे कुरुनन्दन ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष शंखिनी तीर्थको जाय, वहां देवोंके स्थानमें स्नान करनेसे उत्तम रूप मिलता है । हे राजेन्द्र ! वहांसे द्वारपाल अरन्तुक स्थानको जाय, यह तीर्थ सरस्वती में महात्मा यक्षराजका स्थान है । हे राजन् ! उसमें स्नान करनेसे पुरुषको अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है ,हे राजेन्द्र ! वहांसे उत्तम पुरुष ब्रह्मावर्त (विठुर) तीर्थको जाय, वहां स्नान करनेसे पुरुषको ब्रह्मलोक मिलता है, हे राजेन्द्र! वहांसे उत्तम सुतीर्थकको जाय, वहांपर सदाही पितर और देवता निवास करते हैं । पितर और देवतोंका पूजक पुरुष वहां स्नान करे, तो उसे अश्वमेधका फल और पितरलोक मिलता है। (५१-५६)

हे राजेन्द्र ! अम्बुमतिके काशीश्वर तीर्थमें स्नान करे, तो सबदुःखोंसे छूटकर ब्रह्मलोकको जाता है, हे राजन् ! वहीं मातृतीर्थमें स्नान करना चाहिये ।

प्रजा विवर्धते राजन्नतन्वीं श्रियमश्नुते ॥ ५८ ॥
ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥ ५९ ॥
पुनाति दर्शनादेकं स्नानादेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन्पूतो भवति भारत ॥ ६० ॥
तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥ ६१ ॥
प्रीतिं गच्छंति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ॥ ६२ ॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥
दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन्व्याधेन शरपीडिताः ॥ ६५ ॥
विगाह्य तस्मिन्सरसि मानुषत्वमुपागताः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥

उसमें स्नान करनेसे सन्तान और भारी धन बढता है! आगे नियमधारी जिताहारी पुरुष शीतवनमें जाय, हे महाराज ! उसमें महा तीर्थ है, जो अन्य पुरुषोंको दुर्लभ है, हे नरनाथ ! वह जाते हुएही देखने मात्रसे पुरुषको पवित्र कर देता है। अन्य स्नानसे पवित्र करता है। हे भारत ! उसमें बाल धोनेसे पुरुष पवित्र होता है। (५६–६०)

हे महाराज ! वहां जो तीर्थ है, उसका नाम श्वाविल्लोमापह है। उसमें विद्वान् तीर्थ परायण मुनिलोग स्नान करके परम प्रसन्न होते हैं। हे राजेन्द्र ! पवित्र आत्मावाले मुनीश्वर उस तीर्थमें प्राणायामोंके द्वारा अपने लोमोंको दूर करके पवित्र हो मोक्ष पाते हैं, हे पुरुषसिंह उसही स्थानमें दशाश्वमेध नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे पुरुष मोक्ष पाते हैं। (६१—६४)

हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर विख्यात मानुष तीर्थमें जाय, जहां व्याधके बाणोंसे पीडित हरिन सर लगनेसे तैरते हुए मनुष्य होगये थे, उस तीर्थमें ब्रह्मचारी और सावधान चित्त होकर

सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।
मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ॥ ६७ ॥
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता ।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः ॥ ६८ ॥
देवान्पितॄन्समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत् ।
एकस्मिन्भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ॥ ६९ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितॄन्वै दैवतानि च ।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ७० ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत ॥ ७१ ॥
तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव ।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ॥ ७२ ॥
ब्रह्माणमधिगत्वा च शुचिः प्रयतमानसः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ७३ ॥
कपिष्ठलस्य केदारं समासाद्य सुदुर्लभम् ।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ७४ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम् ।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामधिगम्य वृषध्वजम् ॥ ७५ ॥

स्नान करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूटकर स्वर्गमें जाता है, हे पृथ्वीनाथ ! मानुष तीर्थसे एककोस पूर्वकी ओर सिद्धसेवित आपगा नाम नदी है, वहां जाकर जो पुरुष देवता और पितरोंके उद्देश्य से सवई का भोजन देता है उसे बहुत फल होता है, वहां एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे करोड ब्राह्मणोंका फल होता है, वहां स्नान देवता और पितरोंकी पूजा करनेसे और एक रात रहनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। (६९-७०)

हे भारत! वहांसे चलकर ब्रह्मोदुम्बर नामक ब्रह्माके उत्तम स्थानपर जाय, हे राजेन्द्र ! हे नरनाथ वहां सप्तऋषियोंके और महात्मा कपिलके कुण्डमें स्नान करके पवित्र हो मनको स्थिरकर ब्रह्माके दर्शन करने चाहिये,उनका दर्शन करनेसे सब पाप छूटकर ब्रह्मलोक मिलता है । हे राजेन्द्र ! वहांसे जाकर दुर्लभ कपिष्ठल कुण्डमें स्नानकरे तो सर्व पाप दग्ध होकर अंतर्धान हो जाते हैं। हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर लोक विख्यात शरक

लभेत सर्वकामान्हि स्वर्गलोकं च गच्छति ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन ॥ ७६ ॥
रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते ।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥ ७७ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ॥ ७८ ॥
किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते ।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत ॥ ७९ ॥
कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८० ॥
सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम् ॥ ८१ ॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत ।
नारदेनाऽभ्यनुज्ञातो लोकान्प्राप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ८२ ॥
शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ८३ ॥
ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

तीर्थपर जाय, वहां कृष्णपक्षकी चतुर्दशीमें शिवका दर्शन करनेसे सब कामोंको प्राप्त करके स्वर्गको जाता है। हे कुरुनन्दन! स्वर्गतीर्थमें तीन करोड तीर्थ इकट्ठे हैं। (७१—७६)

वहां रुद्रकोटि कुए और तालावोंमें स्नान करना चाहिये। हे भरत सत्तम! वहीं इलास्पद नामक तीर्थ है, वहां स्नान, पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे पुरुष की दुर्गति नहीं होती और वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है। हे पृथ्वीनाथ! किन्दान और किञ्जप्य नामक तीर्थोंमें स्नान करनेसे जप और दानका अनन्त फल मिलता है। हे भारत! जितेन्द्रिय और श्रद्धावान होकर पुरुष कलशी तीर्थ में स्नान करें तो वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है। (७७—८०)

हे भरतश्रेष्ठ! शरक तीर्थके पूर्वकी ओर महात्मा नारदका तीर्थ है, जिसका प्रसिद्ध नाम अम्बाजन्म है, उस तीर्थमें स्नान करके प्राण छोडनेसे नारदकी आज्ञासे पुरुष उत्तम लोकोंको जाता है, शुक्लपक्ष की दशमीको पुण्डरीक तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे पुण्डरीक यज्ञका फल

तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी ॥ ८४ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८५ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन्फलकीवनमाश्रिताः ॥ ८६ ॥
तपश्चरन्ति विपुलं बहुवर्षसहस्रकम् ।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८७ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ॥ ८८ ॥
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥८९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति ॥ ९० ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥ ९१॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ९२ ॥

मिलता है । महाराज ! वहांसे त्रिविष्टप नामक लोक विख्यात तीर्थको जाय, वहां पाप नाशिनी वैतरिणी नामक प्रसिद्ध नदी बहती है, उसमें स्नान करके शूलधारी शिवकी पूजा करनेसे सब पापोंसे छूट पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है । (८१-८५)

हे राजेन्द्र ! वहांसे उत्तम फलकीवन में जाय, वहां सदाही देवता लोग रहते हैं, वे लोक सहस्रों वर्षतक महा तप करते हैं, वहां दृषद्वती नदीमें स्नान करके देवता और पितरोंकी पूजा करनेसे अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है, हे भरतसत्तम ! यह सब देवतों का तीर्थ है । आगे पाणिखात तीर्थमें स्नान करके पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे पुरुषको हजार गो दानका फल मिलता है । हे भारत ! वहां स्नान करने मे अग्निष्टोम, अतिरात्र और राजसूय यज्ञोंका फल तथा ऋषिलोक मिलता है । (८५-९०)

हे राजेन्द्र ! वहांसे उत्तम मिश्रक तीर्थ में जाय । हे राजशार्दूल ! हमने सुना है, कि महात्मा व्यासने ब्राह्मणोंके निमित्त उस तीर्थमें सब तीर्थको मिला दिया

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९३ ॥
गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितृन्देवांश्च पूरुषः ॥ ९४ ॥
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।
कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ॥ ९५ ॥
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ॥ ९६ ॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ॥ ९७ ॥
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ॥ ९८ ॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९९ ॥
अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥ १०० ॥

है, जिस पुरुषने मिश्रकमें स्नान किया, मानो उसने सब तीर्थमें स्नान कर लिया, वहांसे चलकर नियमधारी जिताहारी पुरुष व्यासके वनमें जाय, वहां मनोजव तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल होता है । आगे पवित्र पुरुष मधुवटी में जाकर वहां देवीतीर्थमें स्नान करै, वहां देवता और पितरोंकी पूजा करनेसे देवीकी आज्ञासे हजार गोदानके फलको पाता है। हे भारत ! जो दृषद्वती और कौशिकीके सङ्गममें आहारको जीतकर स्नान करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ।(९१-९६)

आगे व्यास स्थली नामक तीर्थमें जाय जहां बुद्धिमान व्यासने पुत्रशोकसे व्याकुल होकर शरीर छोडनेकी इच्छा करी थी, और देवतोंने पुनः उठाया था, हे राजेन्द्र ! उस स्थानमें जानेसे हजार गोदानका फल होता है । आगे किंदत्त नामक कुएंपर जाकर तिल दान करनेसे सब ऋणोंसे छूट कर मोक्षको प्राप्त करता है । हे महाराज ! वेदी तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल मिलता है । हे पुरुषसिंह ! आगे अहः और सुदिन नाम दो तीर्थ लोक विख्यात हैं,उनमें स्नान करनेसे सूर्यलोक

मृगधूमं ततो गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ॥ १०१ ॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०२॥
ततो वामनकं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् १०३ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलंपुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ॥ १०४ ॥
पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते ॥ १०५ ॥
अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्याऽमराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेन स्वर्गलोके महीयते ॥ १०६ ॥
शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १०७ ॥
श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०८ ॥
ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह ।

मिलता है । (९९—१००)

आगे मृगधूम नामक लोक विख्यात तीर्थमें जाय । हे राजन् ! वहां गङ्गामें स्नान करने से और शिव की महा पूजा करनेस अश्वमेध यज्ञका फल होता है। देवीके तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल मिलता है, वहांसे तीनों लोकमें विख्यात वामनक तीर्थमें जाय, वहां विष्णुपदमें स्नान करके जो पुरुष वामनकी पूजा करता है, वह, सब पापोंसे शुद्ध हो विष्णु लोकको जाता है, कुलम्पुन तीर्थमें स्नान करनेसे कुल पवित्र होता है । आगे मरुतोंके पवन तडागमें स्नान करनेसे विष्णुलोक मिलता है । (१०१—१०५)

देवतोंके तीर्थमें स्नान करके इन्द्रकी पूजा करनेसे देवतोंके प्रतापसे स्वर्गलोक मिलता है । हे नरवरश्रेष्ठ ! हे पुरुष व्याघ्र ! शालिहोत्र और शालिसूर्य नामक तीर्थोंमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे गोदानका फल होता है । हे नरश्रेष्ठ ! हे भरतसत्तम! सरस्वतीके श्रीकुञ्ज नामक तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। हे कौरव ! वहांसे

ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ॥ १०९ ॥
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ॥ ११० ॥
ऋषीणामवकाशः स्याद्यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन्कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १११ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ११२ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ॥ ११३ ॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।
ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ॥ ११४ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्सोमलोकमवाप्नुयात् ।
सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ॥ ११५ ॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन्कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ॥ ११६ ॥
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ॥ ११७ ॥
ततस्तस्मिन्प्रनृत्ते तु स्थावरं जङ्गमं च यत् ।

नैमिषकुञ्जको जाय । हे राजेन्द्र ! वहां नैमिषारण्यवासी तपस्वी लोग तीर्थ यात्राके अभिप्रायसे पहले कुरुक्षेत्रको जाते थे, हे भरतसत्तम ! जिस सरस्वती कुञ्जमें ऋषियोंको बडा सन्तोष प्राप्त होता है, उस कुञ्जमें स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। (१०९-१११)

वहांसे कन्या तीर्थ पर जाना चाहिये, कन्या तीर्थमें स्नान करनेसे दो हजार गोदानका फल मिलता है। वहांसे ब्रह्माके तीर्थपर जाय, उस तीर्थमें स्नान करके कनिष्ट वर्णका मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है, और शुद्धात्मा ब्राह्मण परम गतिको पाता है, हे नरश्रेष्ठ ! वहांसे सोम तीर्थमें जाय, सोम तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य चन्द्रलोकमें जाता है। हे नरपाल ! वहांसे सप्त सारस्वततीर्थमें जाय, जहां जगत्प्रसिद्ध महर्षि मङ्कणक नामक ऋषि रहते हैं। (११२-११६)

पहले समयमें मङ्कणक ऋषिके हाथ में कुशका कांटा लगनेसे शाकका रस निकला था, वह ऋषि शाकरसको देख

प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥ ११८ ॥
ब्रह्मादिभिः सुरैः राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ।
नाऽयं नृत्येद्यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ११९ ॥
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ॥ १२० ॥
भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाऽद्य मुनिपुङ्गव ॥ १२१ ॥
ऋषिरुवाच— तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन्कराच्छाकरसं स्रुतम् ॥१२२ ॥
यं दृष्ट्वा संप्रनृत्तोऽहं हर्षेण महताऽन्वितः ।
तं प्रहस्याऽब्रवीद्देव ऋषिं रागेण मोहितम् ॥ १२३ ॥
अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम् ।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ॥ १२४ ॥
अंगुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वांगुष्ठस्ताडितोऽनघ ।
ततो भस्मक्षताद्राजन्निर्गतं हिमसन्निभम ॥ १२५ ॥
तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन्स मुनिः पादयोर्गतः ।

कर बडा प्रसन्न हुआ और नाचने लगा, उसे नाचता देखकर चर और अचर जो कुछ वहांपर थे सब नाचने लगे, तब ब्रह्मादिक देवतोंने महादेवसे विनंती करी, कि महाराज ! आप ऐसा उपाय कीजिये जिससे वह ऋषि न नाचे, महादेव उस नाचते हुए ऋषिके पास आये और देवतोंकी हितकामनासे ऋषिसे बोले, हे धर्मज्ञ महर्षे ! तुम किस वास्ते नाचते हो ? कौन सा तुमको आनन्द मिला है ? (११७—१२१)

ऋषि बोले, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! तुम क्या नहीं देखते हो, कि धर्ममार्गमें स्थित मेरे हाथसे शाकका रस निकला, जिसको देखकर मैं बडे आनन्दके साथ नाच रहा हूं, हंसकर महादेव उस ऋषिसे बोले, हे ब्राह्मण ! मैं तो इसे देखकर कुछ आश्चर्य नहीं मानता, हे नरश्रेष्ठ ! ऐसा कहके बुद्धिमान महादेवने अपनी अंगुलीसे अपने अंगूठेको ताडन किया तो उस भसके क्षतपने अंगूठेमेंसे वर्फके समान सफेद पदार्थ निकला, उसको देखकर वह ब्राह्मण बहुत लाज्जित हुआ और पैरोंमें गिरा, कहने लगा, मैं रुद्रदेव

नाऽन्यदेवात्परं मेने रुद्रात्परतरं महत् ॥ १२६ ॥
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक्।
त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १२७ ॥
त्वमेव सर्वान्ग्रससि पुनरेव युगक्षये ।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ॥ १२८ ॥
त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह ॥ १२९ ॥
त्वत्प्रसादात्सुराः सर्वे मोदन्तीहाऽकुतोभयाः ।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत् ॥ १३० ॥
त्वत्प्रसादान्महादेव तपो मे न क्षरेत वै ।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत् ॥ १३१ ॥
तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात्सहस्रधा ।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने ॥ १३२ ॥
सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम्।
न तेषां दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च ॥ १३३ ॥
सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ १३४ ॥

से उत्तम किसीको नहीं जानता, देव और दानवोंकी तुम्ही गति हो, हे शूलधारी ! तुम्हीं इस चराचर जगत्को प्रलयमें नाश करते हो, तुमको देवता लोगभी नहीं जान सकते हैं मेरी क्या कथा है । हे पाप रहित! सब ब्रह्मादिक देवता तुमहीको देखते हैं, हे लोकेश ! तुमही सब लोकोंके कर्ता, करानेवाले और सर्वरूप हो। तुम्हारे ही आश्रयसे सब देवता लोग भय रहित होकर आनन्द करते हैं, ऐसे स्तुति करके ऋषि महादेवसे बोले, हे महादेव! तुम्हरी कृपासे मेरा तप नष्ट न हो। (१२२-१३१)

ब्रह्मर्षिके वचन सुन महादेव प्रसन्न होकर बोले, हे ब्राह्मण ! हमारे प्रसादसे तुम्हारा तप सहस्र गुणा बढै, हे महामुने! हम आजसे तुम्हारे सहित इस आश्रममें वास करेंगे, जो पुरुष सप्त सारस्वत तीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेगें, उनको इसलोक और परलोकमें कोई वस्तु दुर्लभ न होगी, वे लोग निःसन्देह सरस्वती के लोकमें जायंगे । ऐसा कहकर महादेव वहीं अन्तर्धान हो गये । (१३१-१३४)

ततस्त्वौशनसं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ १३५ ॥
कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसन्ध्यं किल भारत ।
सांनिध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया ॥ १३६ ॥
कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३७ ॥
अग्नितीर्थं ततो गच्छेत्तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १३८ ॥
विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ॥ १३९ ॥
ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १४० ॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नाऽस्त्यत्र संशयः ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १४१ ॥
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ १४२ ॥
अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत्किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ॥ १४३ ॥

हे भारत वहांसे तीनलोक विख्यात औशनस तीर्थ में जाय, जहां शुक्रके हितकी इच्छासे ब्रह्मादिक देवता तपस्वी ऋषि और भगवान कार्तिकेय नित्य नित्य त्रिकाल निवास करते हैं। हे पुरुषव्याघ्र ! वहांसे सब पाप नाशन कपालमोचन तीर्थ में जाय वहां स्नान करनेसे सब पाप छूट जाते हैं, हे पुरुष-सिंह ! वहांसे अग्नितीर्थ में जाय, वहां स्नान करनेसे अग्निलोक मिलता है और कुलका उद्धार होता है। हे भरत-सत्तम ! वहीं विश्वामित्रका तीर्थ है उसमें स्नान करनेसे पुरुष ब्राह्मण हो जाता है, ब्राह्मणके यहां जन्म लेकर पवित्र हो मनको स्थिरकर उसमें स्नान करनेसे ब्रह्मलोकमें जाता है, और निःसन्देह सात पुरुषोंको पवित्र करता है। १३५-१४१

हे राजेन्द्र ! हे नरपाल ! वहांसे तीन लोक विख्यात कार्तिकेयके पृथूदक तीर्थ में जाय वहां नहाकर पितर और देवतों की पूजा करें, पुरुष या स्त्रीने जाने या विना जाने मनुष्य बुद्धिसे जो कुछ

तत्सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ।
अश्वमेधफलं चाऽस्य स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १४४ ॥
पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात्सरस्वती ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ १४५ ॥
उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं तपेत ॥ १४६ ॥
गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ।
एवं संनियतं राजन्नभिगच्छेत्पृथूदकम् ॥ १४७ ॥
पृथूदकात्तीर्थतमं नाऽन्यत्तीर्थं कुरूद्वह ।
तन्मेध्यं तत्पवित्रं च पावनं च न संशयः ॥ १४८ ॥
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ॥ १४९ ॥
मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५० ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ।
सरस्वत्यारुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १५१ ॥
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।

पाप किया हो वह सब वहां स्नान करने हीसे नष्ट हो जाता है। हे भारत ! उसमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और स्वर्गलोक मिलता है। ऋषियोंने कुरुक्षेत्रको पवित्र कहा है, कुरुक्षेत्रसे सरस्वती, सरस्वतीसे तीर्थ और तीर्थोंसे भी पृथूदक तीर्थ पवित्र है। (१४१ — १४५)

जो जप करता हुआ उत्तम पृथूदक-तीर्थमें प्राण छोडता है वह मरनेके दुःखको फिर नहीं भोगता । हे राजन्! सनत्कुमार और महात्मा व्यासने ऐसाही कहा है,अतएव नियमधारी पुरुष पृथूदक तीर्थमें जाय, हे कुरुकुलश्रेष्ठ! पृथूदकसे अच्छा तीर्थ कोई नहीं है, वह बुद्धिको बढाता है और पवित्र करता है। हे नरश्रेष्ठ ! महात्मा लोगोंने कहा है, कि पृथूदक तीर्थमें स्नान करनेसे पापी पुरुष भी स्वर्गको चले जाते हैं। (१४६-१४९)

हे राजन् ! हे भरतसत्तम! वहीं मधुस्रव नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करने से हजार गौका फल होता है। हे राजेन्द्र ! वहांसे क्रमके अनुसार पवित्र लोक विख्यात सरस्वती और आरुणाके संगममें जाय,वहां तीन दिन व्रत करके

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः १५२ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ।
अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ॥ १५३ ॥
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ।
व्रतोपनयनाभ्यां चाऽप्युपवासेन वाऽप्युत ॥ १५४ ॥
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ॥१५५॥
क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद्विद्वान्दृष्टमेतत्पुरातनैः ॥ १५६ ॥
समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १५७ ॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ॥ १५८ ॥
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५९ ॥
दानं वाऽप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ॥ १६० ॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।

रहनेसे ब्रह्महत्यासे छूट जाता है, अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है। हे भरतसत्तम! वहां स्नान करनेसे पुरुषके सात पुरुषा पवित्र होते हैं। हे कुरुकुलश्रेष्ठ! वहीं अर्धकील नामक तीर्थ है, उन तीर्थको ब्राह्मणोंके हितकी इच्छासे दर्भीने बनाया था, वहां व्रत और उपनयन अथवा उपवास करनेसे, क्रिया और मन्त्रोंसे युक्त होनेसे पुरुष ब्राह्मण हो जाता है,और जो मन्त्र और क्रियासे हीन पुरुष भी हों वेभी स्नान करनेसे चीर्णव्रती और विद्वान हो जाते हैं,यह पुराने आदमियोंका देखा हुआ है। हे नरश्रेष्ठ! उस तीर्थमें दर्भीने चारों समुद्र मिला दिये हैं, वहां स्नान करनेसे पुरुषकी दुर्गति नहीं होती और उस पुरुषको चार हजार गोदानका फल होता है। (१५०—१५८)

हे धर्मज्ञ! वहांसे शतसहस्र नामक तीर्थ को जाय, वहीं लोक विख्यात सहस्रक नामक तीर्थ है, उन दोनों हीमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल होता है, वहां जो कुछ दान वा व्रत करते हैं, वह हजार गुणी होजाते हैं।

सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १६१ ॥
विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥ १६२ ॥
ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥ १६३ ॥
यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥ १६४ ॥
तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥ १६५ ॥
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ।
तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ॥ १६६ ॥
कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १६७ ॥
स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १६८ ॥
ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप ।

हे राजेन्द्र ! वहांसे उत्तम रेणुका तीर्थमें जाय, वहां पितर और देवतोंकी पूजा करनेवाला पुरुष स्नान करे, तो सब पापोंसे शुद्ध होकर अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है। आगे क्रोध और इन्द्रियोंको जीतकर विमोचन तीर्थका स्पर्श करे वहां स्नान करनेसे दान लेनेके सब पाप छूट जाते हैं। (१५८—१६२)

आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर पञ्चवटी तीर्थमें जाय, वहां जानेसे बहुत पुण्य होता है, और सत्पुरुषोंका लोक मिलता है, जहां साक्षात् योगेश्वर वृषवाहन शिव निवास करते हैं, उनकी पूजा करनेसे और वहां जानेहीसे पुरुष सिद्ध हो जाता है। आगे अपने तेजसे प्रकाशित तैजस वारुणतीर्थमें जाय जहां ब्रह्मादिक देवता और तपोधन मुनियोंने मिलकर देवतोंके सेनापति स्वामीकार्तिकको अभिषेक किया था, हे कुरुकुलश्रेष्ठ! तैजस तीर्थसे पूर्वकी ओर कुरु तीर्थ है,उसमें ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर स्नान करनेसे सब पापोंसे शुद्ध हो पुरुष ब्रह्मलोक को जाता है। (१६३—१६७)

आगे नियमधारी और जिताहारी होकर स्वर्गद्वार तीर्थ में जाय, वहां जाने

तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १६९ ॥
तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः ॥ १७० ॥
सान्निध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १७१ ॥
तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ॥
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७२ ॥
नारायणं चाऽभिगम्य पद्मनाभमरिन्दम ।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति ॥ १७३ ॥
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥ १७४ ॥
ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १७५ ॥
पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ १७६ ॥
गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।

से स्वर्गलोक और ब्रह्मलोकमें जाता है । हे नरनाथ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष अनरक तार्थ को जाय, हे राजन्! वहां स्नान करनेसे पुरुष दुर्गतिमें नहीं पडता। हे राजन्! वहां साक्षात् ब्रह्मा नारायणादि सब देवतोंके सहित निवास करते हैं। हे राजेन्द्र ! हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! वहीं पार्वतीका स्थान है, उनके दर्शन करनेसे पुरुष दुर्गतिमें नहीं पडता है। हे राजन् ! वहीं साक्षात् पार्वतीनाथ शिवके दर्शन करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है। (१६८—१७२)

हे शत्रुनाशन ! वहांसे जाकर पद्मनाभ नारायणके दर्शन करे, उनके दर्शन करनेसे पुरुष प्रकाशमान होकर विष्णुलोकको जाता है। आगे सब देवतोंके तीर्थमें स्नान करे, हे पुरुषसिंह! ऐसा करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है। हे नरनाथ! तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुरको जाय, वहीं प्रदक्षिणा करनेसे हजार गोदान का फल होता है। हे राजन् ! आगे पावन तीर्थ में जाय, वहां जाकर पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। हे भरतर्षभ ! वहीं गङ्गाह्रद नामक कुवां है, हे पृथ्वीनाथ ! उसमें

तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तीर्थकूपे महीपते ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्स्वर्गलोकं प्रपद्यते ॥ १७७ ॥
आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम् ।
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत ॥ १७८ ॥
ततः स्थाणुवटं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात ॥१७९॥
बदरीपाचनं गच्छेद्वसिष्ठस्याऽऽश्रमं गतः ।
बदरीन्भक्षयेत्तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १८० ॥
सम्यग्द्वादश वर्षाणि बदरीन्भक्षयेत्तु यः ।
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत्तुल्यो नराधिप ॥ १८१ ॥
रुद्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ॥ १८२ ॥
एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः ।
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ॥ १८३ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
आदित्यस्याऽऽश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ॥१८४ ॥
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम् ।

तीन करोड तीर्थ पडे हैं। हे राजन्! उसमें स्नान करनेसे पुरुषको स्वर्गलोक प्राप्त होता है। (१७३-१७७)

हे राजन्! आगे आपगानदीमें स्नान और शिवकी पूजा करनेसे गणेशका पद मिलता है, और कुलका उद्धार होता है आगे तीन लोकमें विख्यात स्थाणुवटको जाय, वहां स्नान करनेसे और एक रात्री रहनेसे शिवलोक मिलता है। आगे बदरीपाचन तीर्थ में जाय, वहां वशिष्ठमुनि का आश्रम है, वहां तीन दिन व्रत करके बेर खाना चाहिये, और जो पुरुष बारह वर्ष निरन्तर बेरही खाता रहै उसको उतनाही फल होता है, जितना उस तीर्थ में तीन दिन व्रत करनेसे, हे नराधिप! तीर्थ सेवी मनुष्य रुद्रमार्गसे जाकर अहोरात्र निवास करनेसे इंद्रलोकमें महत्त्व को प्राप्त होता है। तदनंतर एकरात्र तीर्थ में जा कर वहां रहकर जो सत्य बोले और नियमधारी होय तो ब्रह्मलोक मिलता है। (१७८—१८३)

हे राजेन्द्र! वहांसे तीनलोक विख्यात तेजराशि महात्मा सूर्यके स्थान को जाय वहां स्नान करके सूर्यकी पूजा करनेसे

आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १८५ ॥
सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप ।
सोमलोकमवाप्नोति नरो नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ १८६ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ।
तीर्थं पुण्यतमं राजन्पावनं लोकविश्रुतम् ॥ १८७ ॥
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥१८८ ॥
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नाऽत्र संशयः ।
ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ॥ १८९ ॥
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नियतो नियताशनः ।
लभेत्कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १९० ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहतीमपि ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ १९१ ॥
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महताऽन्विताः ।
संनिहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥ १९२ ॥
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ॥ १९३ ॥

पुरुष सूर्यलोकको जाता है, और अपने कुलका उद्धार करता है,हे नरनाथ! तीर्थ सेवी पुरुष आगे जाकर सोम तीर्थ में स्नान करे, उसमें स्नान करनेसे पुरुषको निःसन्देह चन्द्रलोक मिलता है। हे धर्मज्ञ! वहांसे दधीच मुनिके आश्रमपर जाय। हे राजन्! यह तीर्थ तीनलोकों में विख्यात और परम पवित्र है, इसी सुप्रसिद्ध तीर्थ में तपस्याके निधि अङ्गिरामुनि निवास करते थे, उस। तीर्थ में स्नान करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञ का फल होता है, और निःसन्देह सारस्वत गति प्राप्त होती है। (१८४-१८९)

वहांसे नियमधारी ब्रह्मचारी जिताहारी पुरुष कन्या तीर्थ में जाकर तीन दिन व्रत करे, ऐसा करनेसे दिव्य सौ कन्या और स्वर्गलोक मिलता है। हे धर्मज्ञ! वहांसे सन्निहती तीर्थ को जाय, जहां बहुत पुण्यवान ब्रह्मादिक देवता और तपोधन मुनि महीने महीने आते हैं, सूर्य ग्रहणमें सन्निहती तीर्थमें स्नान करनेसे सौ अश्वमेधका फल होता है,और सब इच्छा पूर्ण होती है। हे नरनाथ ! जितने पृथ्वी और आकाशमें तीर्थ हैं, वे सब

नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ।
उदपानानि वाप्यश्च पुण्यान्यायतनानि च ॥ १९४ ॥
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप ।
मासि मासि नरव्याघ्र संनिहत्यां न संशयः ॥ १९५ ॥
तीर्थं सन्निहनादेव सन्निहत्येति विश्रुता ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ॥ १९६ ॥
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १९७ ॥
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत्फलम् ।
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः ॥ १९८ ॥
यत्किंचिद्दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
स्नातमात्रस्य तत्सर्वं नश्यते नाऽत्र संशयः ॥ १९९ ॥
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।
अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ॥ २०० ॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद्बहुसुवर्णकम् ।
गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥ २०१ ॥
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ॥ २०२ ॥

नदी, कुण्ड, तडाग, झरने; तलैया और बावडी तथा अन्य तीर्थ में निःसन्देह अमावसके दिन प्रति मास कुरुक्षेत्र में आते हैं, इसी निमित्त कुरुक्षेत्रका दूसरा नाम सन्निहिती है, पुरुष उसमें स्नान-कर और जल पी ब्रह्मलोक में जाता है।(१९०-१९६)

सूर्यग्रहणकी अमावसमें जो कोई वहां श्राद्ध करता है, उसका फल सुनो; उत्तम रीतिसे करी हुई हजार अश्वमेध यज्ञोंका फल उस पुरुषको केवल स्नान और श्राद्ध करनेसे मिलता है। पुरुष वा स्त्रीने जो कुछ पापकिया हो,सो निःसंदेह स्नान करनेसे नष्ट हो जाता है। और पद्म के रङ्गवाले विमान पर बैठकर ब्रह्मलोक को जाता है। आगे द्वारपाल मचक्रुक नामक यक्ष को प्रणाम करके कोटितीर्थ में स्नान करनेसे बहुत सुवर्ण मिलता है। हे धर्म जाननेवाले भरत सत्तम! वहीं गङ्गाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचारी और सावधान होकर स्नान करनेसे पुरुषको राजसूय और अश्वमेध

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥ २०३ ॥
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद्वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ २०४ ॥
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ २०५ ॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २०६ ॥
ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
तस्मिन्वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथंचन॥ २०७॥
तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥ २०८ ॥ [३५००]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

पुलस्त्य उवाच— ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ॥ १ ॥
तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।

यज्ञका फल मिलता है। (१९७-२०२)

पृथ्वीमें नैमिषारण्य आकाशमें पुष्कर और कुरुक्षेत्र तीनों लोकमें श्रेष्ठ है। कुरुक्षेत्रकी धूल जो वायुसे उडती है, उससे भी महापापी पुरुष मोक्ष पा सकता है। सरस्वतीके दाक्षिण और दृषद्वतीके उत्तर कुरुक्षेत्रमें जो पुरुष निवास करते हैं, वे स्वर्ग वासी हैं, जो पुरुष एकवारभी कहै कि मैं कुरुक्षेत्रको जाऊंगा और वहां निवास करूंगा वह सब पापोंसे छूट जाता है। कुरुक्षेत्र पवित्र,ऋषियोंसे सेवित और ब्रह्मवेदी है, उसमें जो पुरुष रहते हैं वे सोचने योग्य नहीं हैं। तरन्तुक,अरन्तुक परशुराम के तडाग और मचक्रुक तीर्थका जो बीच है, उसी पवित्र भूमिका नाम कुरुक्षेत्र है,इसीको समन्तपञ्चकभी कहते हैं यह ब्रह्मा की उत्तर वेदी है। २०३-२०८

वनपर्वमें तिरासी अध्याय समाप्त । [३५००]

वनपर्वमें चौरासी अध्याय ।

श्रीपुलस्त्य मुनि बोले, हे महाराज वहांसे उत्तम धर्म तीर्थ पर जाय, जहां महाभाग धर्मने उग्र तपको किया था और उन्होंहीने इस पवित्र तीर्थ को अपने नामसे विख्यात किया है, वहां

तत्र स्नात्वा नरो राजन्धर्मशीलः समाहितः ॥ २ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नाऽत्र संशयः।
ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ।
सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ॥ ४ ॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किन्नराश्च महोरगाः ॥ ५ ॥
तद्वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ॥ ६ ॥
प्लक्षादेवी स्मृता राजन्पुण्यादेवी सरस्वती।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ॥ ७ ॥
अर्चयित्वा पितॄन्देवानश्वमेधफलं लभेत।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥
षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ॥ ९ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत्पुरातने।
सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयक्षां च भारत ॥ १० ॥

स्नान करनेसे धर्मावान और सावधान पुरुष अपने सात कुलोंको पवित्र करता है। हे राजेन्द्र! वहांसे ज्ञानपावन तीर्थ में जाय, वहां जानेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल और मुनिलोक मिलता है, हे राजन्। वहांसे सौगन्धिक वनको जाय वहां ब्रह्मादिक देवता, तपोधन ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर, और सर्प लोग निवास करते हैं, पुरुष वहां प्रवेश करने से सब पापोंसे छूट जाता है। (६–७)

हे राजन्! वहांसे नदियोंमें श्रेष्ठ प्लक्षा देवी नामक पवित्र सरस्वतीमें स्नान करे, वह जल एक बिलसे निकलता है, वहां पितर और देवतोंकी पूजा करने से अश्वमेधका फल मिलता है, वहीं अत्यन्त दुर्लभ ईशानाध्युषित नामक तीर्थ वल्मीकसे छः शम्या (यज्ञमें एक नापनेके लिये दण्ड बनाया जाता है उसको शम्या कहते हैं) की दूरीपर है, जानेसे पुरुष को हजार कपिला दान और अश्वमेधका फल मिलता है। हे पुरुषव्याघ्र! हमने यह पुरातन पुस्तकों में देखा है, कि इस तीर्थमें जाकर सुगन्धा, शतकुंभा पञ्चयक्षा

अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते।
त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ११ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥ १२ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १३ ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥ १४ ॥
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ॥ १५ ॥
ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम्।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ १६ ॥
त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः ।
शाकाहारस्य यत्किंचिद्वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ॥ १७ ॥
तत्फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।
ततो गच्छेत्सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १८ ॥
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत्पुरा ।

आदि तीर्थोंमें जानेसे स्वर्ग लोक मिलता है, हे राजन् ! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करके देवता और पितरोंकी पूजा करनेसे मरनेके पश्चात् निःसन्देह गणेशका पद मिलता है। (९–१२)

हे राजेन्द्र ! वहांसे दुर्लभ तीनलोकोंमें विख्यात उत्तम शाकंभरी देवीके स्थानपर जाय, जहां दिव्य हजार वर्षतक व्रतधारिणी भगवतीने एक एक महीनेमें शाक खाके तप किया था। हे भारत ! देवीकी भक्तिसे पूरित तपोधन मुनीश्वर वहां आये, भगवतीने उसी शाकसे उनका भी सत्कार किया, उसी दिनसे उस देवीका नाम शाकंभरी हुआ। शाकंभरी देवीमें जाकर पुरुष पवित्र सावधान और ब्रह्मचारी होके तीन दिन शाक खाय, जो पुरुष बारह वर्षतक शाक खाकर रहे उसका जो फल होता है, वही फल वहां तीन रोज शाक खानेसे होता है। (१३ –१८)

हे भारत! आगे तीनलोकमें विख्यात सुवर्ण तीर्थ में जाय, वहां पहले विष्णुने शिवको प्रसन्न करनेके निमित्त

वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ॥ १९ ॥
उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ॥ २० ॥
त्वन्मुखं च जगत्सर्वं भविष्यति न संशयः।
तत्राऽभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥ २१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति।
धूमावतीं ततो गच्छेत्त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ २२ ॥
मनसा प्रार्थितान्कामाँल्लभते नाऽत्र संशयः।
देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ॥ २३ ॥
तत्राऽऽरोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ॥ २४ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ।
धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ २५ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ॥ २६ ॥
स्वर्गद्वारेण यत्तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ॥ २७ ॥

तप किया था और देवदुर्लभ वरदानों को पाया था। हे भारत! शिवने प्रसन्न होकर विष्णुसे कहा था, कि तुम सब लोकोंके प्यारे होकर कृष्णावतार धारण करोगे। इसमें कुछ सन्देह नहीं, कि सब जगत् तुमहीको प्रधान मानेगा। हे राजेन्द्र! वहां जाकर शिवकी पूजा करनेसे अश्वमेधका फल और गणेशका पद मिलता है, हे राजेन्द्र! आगे धूमावतीमें जाकर तीन दिन व्रत करे, ऐसा करनेसे निःसन्देह मनोवाञ्छा सिद्ध होती है। (१८—२३)

हे धर्मज्ञ! देवीके दहनी ओर रथावर्त (चक्र) तीर्थ है, वहां जितेन्द्रिय और श्रद्धावान होकर उस चक्रके ऊपर चढै तो शिवके प्रसादसे परम गतिको प्राप्त होता है। हे भरतकुलसिंह! उसकी प्रदक्षिणा करके सब पाप नाश करनेवाले धारा तीर्थ में जाय, वहां बुद्धिमान पुरुष स्नान करे। हे पुरुषसिंह! हे नरनाथ! ऐसा करनेसे वह पुरुष सोचसे रहित होजाता है। हे राजेद्र! वहांसे महापर्वत को प्रणाम करके जो स्वर्गद्वारके समान गङ्गाद्वार नामक तीर्थ है वहां जाय,

पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २८ ॥
सप्तगंगे त्रिगंगे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।
देवान्पितृंश्च विधिवत्पुण्ये लोके महीयते ॥ २९ ॥
ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३० ॥
कपिलावटं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३१ ॥
नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ॥ ३३ ॥
ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः ।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥

वहां सावधान होकर कोटि तीर्थ में स्नान करनेसे पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है, और कुलका उद्धार होता है, वहां एक रात रहनेसे हजार गोदानका फल होता है । (२३—२८)

आगे सप्त गङ्गा त्रिगङ्गा और शक्रावर्त्त तीर्थ में जाय, उन पवित्र तीर्थोंमें विधिवत् पितर और देवतोंको तर्पण करनेसे उत्तम लोक मिलते हैं । वहांसे चलकर कनखलमें स्नान करै वहां तीन दिन रहनेसे पुरुषको अश्वमेधका फल और स्वर्गलोक मिलता है । हे नरनाथ! वहांसे तीर्थ सेवी पुरुष कपिलावटको जाय, वहां एकरात रहनेसे हजार गोदानका फल होता है । हे राजेंद्र ! आगे महात्मा नागराज कपिलके तीर्थ में जाय, यह तीर्थ तीनों लोकमें विख्यात है, हे नरनाथ ! हे कुरुश्रेष्ठ ! उस नाग तीर्थ में स्नान करनेसे हजार कपिला गोदान का फल होता है । (२९—३३)

आगे शान्तनुके उत्तम तीर्थ ललितक तीर्थ में जाय, हे राजन् ! वहां स्नान करनेसे पुरुषको दुर्गति नहीं होती । जो पुरुष गङ्गा और यमुनाके सङ्गममें स्नान करता है उसको दश अश्वमेधका फल होता है और कुलका उद्धार हो जाता है । हे

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धं लोकविश्रुतम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३६ ॥
रुद्रावर्तं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्स्वर्गलोके च गच्छति ॥ ३७ ॥
गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे ।
स्नात्वाऽश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥३८ ॥
भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि ।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ ३९ ॥
ततः कुब्जाम्रके गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४० ॥
अरुन्धतीवटं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
सामुद्रमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ४१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विन्द्यात्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ४२ ॥
ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ४३ ॥
यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् ।

राजेन्द्र! वहांसे लोकविख्यात सुगन्ध तीर्थमें जाय, वहां जानेसे पुरुष सब पापोंसे छूट ब्रह्मलोकको जाता है। हे नरनाथ! वहांसे तीर्थ सेवी पुरुष रुद्रावर्त्त तीर्थ को जाय वहां स्नान करनेसे स्वर्गलोक मिलता है। हे नरश्रेष्ठ! आगे सरस्वती और गंगाके सङ्गममें जाय, वहां स्नान करनेसे अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। वहांसे आगे चल कर विधि पूर्वक भद्रकर्णेश्वर महादेवकी पूजा करे, ऐसा करनेसे पुरुषको दुर्गति नहीं होती और स्वर्गलोक मिलता है। (३३–३९)

हे राजेद्र! आगे तीर्थ सेवी पुरुष कुब्जाम्रक तीर्थमें जाय, वहां जानेसे हजार गोदानका फल और स्वर्गलोक मिलता है। हे नरनाथ! आगे तीर्थसेवी पुरुष अरुन्धतीवट तीर्थ में जाय, वहां ब्रह्मचारी होकर समुद्रके जलका स्पर्श करे, वहां तीन रात रहनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और सहस्र गोदानका फल मिलता है, और कुलका उद्धार होजाता है। आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर ब्रह्मावर्त्त तीर्थ को जाय वहां जानेसे अश्वमेधका फल और चन्द्रलोक मिलता है, वहांसे

अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ ४४ ॥
दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४५ ॥
सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४६ ॥
अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४७ ॥
ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत ।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ ४८ ॥
ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः ।
देवान्पितॄंश्चाऽर्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ॥ ४९ ॥
यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत ॥ ५० ॥
गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ५१ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः ।

उस स्थान पर जाय जहांसे यमुना निकली है, और यमुनाके जलसे स्पर्श करनेसे अश्वमेधका फल और स्वर्गलोक मिलता है। (४०—४४)

आगे तीनलोक पूजित दर्वीसंक्रमण तीर्थ में जानेसे अश्वमेधका फल और स्वर्गलोक मिलता है, वहांसे उस स्थानमें जाय, जहांसे सिन्धुनदी निकली है, वहां पर सिद्ध और गन्धर्व रहते हैं, वहां पांच रात रहनेसे बहुत सुवर्ण मिलता है। आगे पुरुष परम दुर्गम वेदी तीर्थ में जाय, वहां जानेसे अश्वमेधका फल और स्वर्गलोक मिलता है। वहांसे ऋषिकुल्या में जाय, वहांसे वासिष्ठी और वासिष्ठतीर्थ में जानेसे सर्व वर्ण ब्राह्मण होते हैं। ऋषिकुल्या में स्नान करनेसे पुरुषके सब पाप छूट जाते हैं। हे नरनाथ! यदि शाक खाकर वहां एक महिना रहे और पितर तथा देवतोंकी पूजा करे तो ऋषिलोक मिलता है, वहांसे भृगुतुङ्ग तीर्थ में जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। (४५—५०)

आगे वीर प्रमोक्ष तीर्थमें जानेसे सब पाप छूट जाते हैं। हे भारत! यदि उस तीर्थमें मघा और कृत्तिका नक्षत्रमें जाय तो अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका

तत्र सन्ध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ॥ ५२ ॥
उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते ।
महाश्रमे वसेद्रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ॥ ५३ ॥
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ।
षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ॥ ५४ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद्बहुसुवर्णकम् ।
दशाऽपरान्दश पूर्वान्नरानुद्धरते कुलम् ॥ ५५ ॥
अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ॥ ५६ ॥
अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत्पुरातनैः ॥ ५७ ॥
ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ५८ ॥
ततस्तु नैमिषं गच्छेत्पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ॥ ५९ ॥
नैमिषं मृगयाणस्य पापस्याऽर्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥

फल मिलता है, वहीं विद्या तीर्थमें सन्ध्या समयमें जाकर वहां स्नान करनेसे सब प्रकारके ज्ञान होते हैं, उसी सर्व पापनाशक महाआश्रममें रातको रहे, वहां एक काल आहार त्याग करनेसे पुरुष को उत्तम लोक मिलते हैं, दिनके छटे भागमें भोजन करके एक महीना महालय तीर्थमें रहनेसे सब पापोंसे शुद्ध होता है, और बहुत सुवर्ण मिलता है और दश पहले और दश अगाडीके वंशोंका उद्धार होता है। (५१-५५)

आगे ब्रह्माके स्थान वेतसिकामें जाय, तो अश्वमेधका फल होता है और शुक्राचार्यकी गति मिलती है। आगे सिद्धोंसे सेवित सुन्दरिका तीर्थमें जाय, वहां जानेसे पुरुषका रूप सुन्दर हो जाता है। यह पूर्व पुरुषोंने निश्चय जाना है। आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर ब्राह्मणी तीर्थमें जाय, वहां जानेसे पद्म वर्ण विमान पर बैठकर पुरुष ब्रह्मलोकको जाता है। (५६—५८)

वहांसे पवित्र ऋषिसेवित नैमिषक्षेत्र में जाय, वहां देवताके साथ ब्रह्मा सदा वास करते हैं। नैमिषारण्यको ढूंडनेसे

तत्र मासं वसेद्धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ॥६१ ॥
कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ ६२ ॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ॥ ६३ ॥
स मोदेत्सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम ॥ ६४ ॥
गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत्सदा ॥ ६५ ॥
सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नाऽत्र संशयः ॥ ६६ ॥
ततश्च बाहुदां गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥ ६७ ॥
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव ।
ततः क्षीरवतीं गच्छेत्पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ॥ ६८ ॥

आधा पाप और जानेसे सब पाप नष्ट हो जाता है, वहांपर तीर्थ सेवी धीर पुरुष एक महीना रहे क्योंकि पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं वे सब नैमिषारण्यमें रहते हैं । हे भारत ! यदि जिताहार और नियमधारी होकर वहां स्नान करे तो गोमेध यज्ञका फल होता है, हे भरतसत्तम ! जो पुरुष निराहार होकर नैमिषारण्यमें मरता है, उसके कुलके सात पुरुषोंका उद्धार होजाता है, और महात्मालोग ऐसाभी कहते हैं कि वह सब लोकोंमें जाकर आनन्द करता है । हे भरतसत्तम ! नैमिषक्षेत्र नित्य पुण्यप्रद और पवित्र है । (६१-६४)

आगे वहांसे गङ्गोद्भेद तीर्थ में जाय, वहां जाकर पुरुषको तीन रात्र उपोषित रहनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है, और ब्रह्मरूप होजाता है । आगे सरस्वती नदी में जाकर पितर और देवतों की पूजा करनेसे निःसन्देह सरस्वती लोक मिलता है, वहांसे चलकर ब्रह्मचारी और सावधान हो कर बाहुदा नदीमें स्नान करे, वहां एक रात रहनेसे स्वर्गलोक मिलता है । हे कौरव ! वहां रहनेसे देवसत्र नामक यज्ञका फल होता है, वहांसे पुण्यात्मा मुनियोंसे

पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात् ।
विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६९ ॥
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ।
गोप्रतारं ततो गच्छेत्सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥ ७० ॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
देहं त्यक्त्वा महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥ ७१ ॥
रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ॥ ७२ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ॥ ७३ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ।
शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः ।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥ ७५ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ७६ ॥
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप ।

भरी हुई पवित्र क्षीरवती नदीको जाय, वहां पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे वाजपेयका फल होता है, वहांसे ब्रह्मचारी और सावधान होकर विमलाशोकको जाय, वहां एक रात रहनेसे स्वर्गलोक मिलता है। (६९—७०)

वहांसे सरयूके उत्तम तीर्थ गोप्रतार (गुप्तारघाट) को जाय, हे महाराज ! जहांसे राम अपने नौकर सेना और वाहनोंके सहित स्वर्गको गये थे, हे महाराज ! उस तीर्थके तेज और रामकी कृपासे तथा निश्चयसे उस गुप्तार घाटमें स्नान करनेसे सब पापोंसे शुद्ध होकर स्वर्गलोक मिलता है। हे कुरुनन्दन ! आगे गोमतीके राम तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल होता है और कुलका उद्धार हो जाता है। हे भरतकुलसिंह ! वहीं शतसाहस्रक तीर्थ है, यदि जिताहारी और नियमधारी होकर उसका स्पर्श करे तो पुरुषको हजार गोदानका फल होता है। (७०—७५)

हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर उत्तम भर्तृस्थानको जाय तो पुरुषको अश्वमेध

गोसहस्रफलं विद्यात्तेजस्वी च भवेन्नरः ॥ ७७ ॥
ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ॥ ७८ ॥
अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
दर्शनाद्देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ ७९ ॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः ।
मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥ ८० ॥
गोमतीगङ्गयोश्चैव संगमे लोकविश्रुते ।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ८१ ॥
ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गमनादेव भारत ॥ ८२ ॥
तत्राऽक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ॥ ८३ ॥
महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
अक्षयान्प्राप्नुयाल्लोकान्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ८४ ॥
ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।

यज्ञका फल होता है। हे नरनाथ ! यदि कोटि तीर्थमें स्नान करके स्वामी-कार्तिककी पूजा करे, तो हजार गोदानका फल होता है, और वह पुरुष तेजस्वी-भी होजाता है, वहांसे काशीपुरीको जाय, और वहां शिवकी पूजा करे और कपिल कुण्डमें स्नान करे, तो राजसूय यज्ञका फल होता है। हे कुरुनन्दन ! वहांसे अविमुक्तेश्वर तीर्थमें जाय, उन देवका दर्शन करतेही पुरुष ब्रह्महत्यासे छूट जाता है; वहीं प्राण छोडनेसे मोक्ष होती है। (७६–८०)

हे राजेन्द्र ! आगे दुर्लभ मार्कण्डेय तीर्थ को जाय, तथा लोकविख्यात गङ्गा और गोमतीके सङ्गममें जाय, वहां जानेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है और कुलका उद्धार होजाता है, वहांसे ब्रह्मचारी और सावधान होकर गयाको जाय, वहां जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है, वहीं तीनलोक विख्यात अक्षयवट तीर्थ है, वहां पितरोंके निमित्त जो कुछ दान किया जाता है, सो अक्षय हो जाता है। वहां महानदीमें स्पर्श करके पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे अक्षय लोक होजाता है, आगे धर्मवनमें जाकर ब्रह्मसरमें स्नान करे वहां एक रात रहने

ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥ ८५ ॥
ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः।
यूपं प्रदक्षिणीकृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥ ८६ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम्।
एकरात्रोषितो राजन्प्रयच्छेत्तिलधेनुकाम् ॥ ८७ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम्।
तत्र चिह्नं महद्राजन्नद्यापि सुमहद्भृशम् ॥ ८८ ॥
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम्।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥ ८९ ॥
तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम।
यत्किंचिदशुभं कर्म तत्प्रणश्यति भारत ॥ ९० ॥
ततो गृध्रवटं गच्छेत्स्थानं देवस्य धीमतः।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥ ९१ ॥
ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम्।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥ ९२ ॥
उद्यन्तं च ततो गच्छेत्पर्वतं गीतनादितम्।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥ ९३ ॥

से ब्रह्मलोक मिलता है, उस तालावमें ब्रह्माने उत्तम यज्ञस्तम्भ बनाया था, उसकी प्रदक्षिणा करनेसे वाजपेय यज्ञका फल होता है। (८०-८६)

हे राजेन्द्र! वहांसे लोक विख्यात धेनुक तीर्थ में जाय, वहां एक रात रहकर तिलकी गाय बनाकर दान करना चाहिये, ऐसा करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट चन्द्रलोकको जाता है। हे राजन्! उस स्थानमें अबतक भी विचित्र गऊका चिन्ह बछडेके सहित बना है, और वह चिह्न पर्वतपर चरती हुई सवत्सगोका है। हे भारत! वहीं बछडे सहित गऊकी पादुका अभीतक दीखती है। हे नृपसत्तम! हे राजेन्द्र! वहां उनका स्पर्श करनेसे जो कुछ पाप किया है, वह सब नष्ट हो जाता है। (८७-९०)

हे राजेन्द्र! वहांसे गृध्रवटको जाय, वह ज्ञानवान् महादेवका स्थान है, वहां भस्मसे स्नान करके शिवको दर्शन करने चाहिये, उससे ब्राह्मणको बारहवर्ष तक व्रत करनेका फल मिलता है और अन्यवर्णोंके लोग सब पापोंसे छूट जाते हैं। वहांसे गीत शब्द युक्त उद्यत नामक पर्वतको जाय,

तत्र सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तेन ह्युपास्ता भवति सन्ध्या द्वादशवार्षिकी ॥ ९४ ॥
योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ ।
तत्राऽभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकटात् ॥ ९५ ॥
कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः ।
पुनात्यासप्तमं राजन्कुलं नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ ९६ ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ ९७ ॥
ततः फल्गुं व्रजेद्राजंस्तीर्थसेवी नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ॥ ९८ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः ।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ९९ ॥
तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा ।
पितृन्देवांस्तु संतर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ॥ १०० ॥
मतङ्गस्याऽऽश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः ।
तं प्रविश्याऽऽश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ॥१०१॥
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।

हे भरतकुलसिंह! वहां सावित्रीकी पादुका दीखती हैं। वहां व्रतधारी ब्राह्मण संध्योपासना करे, वहां एक दिन संध्या करनेसे बारहवर्षकी सन्ध्याका फल होता है, योनिद्वार नामक तीर्थ में जानेसे पुरुष जन्मके दुःखसे छूट जाता है, जो पुरुष एकमास तक गयामें रहता है, निस्सन्देह उसके कुलके सात पुरुषोंका उद्धार होता है। (९१-९६)

हे राजेन्द्र! बहुत पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये,कदाचित् उनमें एक पुत्र-भी गयाको चला जाय और अश्वमेध करे अथवा काले बैलको छोड दे,तो उद्धार हो जायगा। हे राजन्! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष फल्गुको जाय, वहां जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल और महासिद्धि मिलती है, हे युधिष्ठिर! हे राजेन्द्र! हे महाराज! वहांसे सावधान पुरुष धर्मप्रस्थको जाय,वहां सदाही धर्म वास करते हैं,वहां कुएं के पानीसे स्नान करनेसे पुरुष पवित्र होता है, पितर और देवतोंका तर्पण करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट स्वर्गको जाता है, वहीं पर आत्मदर्शी महामुनि मतङ्गका आश्रम है,उस सुन्दर

धर्मं तत्राऽभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात ॥ १०२ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम् ।
तत्राऽभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ ॥ १०३ ॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।
ततो राजगृहं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ॥ १०४ ॥
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते ।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ॥ १०५ ॥
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १०६ ॥
तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत ।
दृष्टस्याऽशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम्॥ १०७ ॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ॥ १०८ ॥
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम् ।
अभिगत्वाऽऽश्रमं राजन्विन्दते श्रियमात्मनः ॥१०९ ॥
तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

श्रम और शोकके नाश करनेवाले आश्रममें जानेसे पुरुषको गोमेध यज्ञका फल मिलता है, वहां धर्मका स्पर्श करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है। (९७—१०२)

हे राजेन्द्र! हे पुरुषसिंह! वहांसे ब्रह्माके उत्तम स्थानको जाय वहां ब्रह्माकी पूजा करनेसे अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंके फल होते हैं। आगे तीर्थसेवी पुरुष राजगृह तीर्थको जाय वहां तीर्थोंका स्पर्श करनेसे पुरुषको कक्षीवानके समान आनन्द होता है, वहां पवित्र पुरुष यक्षिणीका नैवेद्य लगाके भोजन करे, तो यक्षिणीके प्रसादसे पुरुषकी ब्रह्महत्या छूट जाती है, मणिनाग तीर्थमें जानेसे हजार गोदानका फल होता है। हे राजेन्द्र! मणिनाग तीर्थकी उत्पन्न हुई वस्तुओंको जो पुरुष खाता है, उसको सर्प काटनेका विष नहीं चढता, वहां एक रात रहनेसे हजार गोदानका फल होता है। (१०३–१०८)

वहांसे ब्रह्मर्षि गोतमके प्यारे वनमें जाय, वहां अहल्या ह्रदमें स्नान करनेसे मोक्ष मिलती है, गौतमके आश्रममें जानेसे पुरुष अपनी शोभाको प्राप्त करता है। हे धर्मज्ञ! वहां तीनलोकोंमें विख्यात

तत्राऽभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥ ११० ॥
जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः ।
तत्राऽभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१११॥
ततो विनशनं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ।॥ ११२ ॥
गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ ११३ ॥
ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ११४ ॥
ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम् ।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नाऽत्र संशयः ॥ ११५ ॥
कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ११६ ॥
अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ११७ ॥
दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप ।
न दुर्गतिमवाप्नोतिवाजिमेधं च विन्दति ॥ ११८ ॥

एक तडाग है, उसमें स्नान करनेसे अश्वमेधका फल होता है, वहांसे आगे राजर्षि जनकका कुवां है, उसकी देवता लोगभी पूजा करते हैं,उसमें स्नान करनेसे विष्णुलोक मिलता है, वहांसे सब पाप नाश करनेवाले विनशन तीर्थ को जाय, वहां जानेसे वाजपेय यज्ञका फल और चन्द्रलोक मिलता है, हे धर्मज्ञ ! वहांसे चलकर सब तीर्थोंके जलसे उत्पन्न गण्डकी नदीको जाय, वहांके जानेसे वाजपेय यज्ञका फल और सूर्यलोक मिलता है,वहांसे तीन लोक विख्यात विशल्या नदीको जाय,तो अग्निष्टोम यज्ञका फल और स्वर्गलोक मिलता है।(१०८-८१४)

हे धर्मज्ञ ! वहांसे अधिवङ्ग नामक तपोवनको जाय, वहां जानेसे निःसन्देह गुहाकोंमें आनन्द करता है, वहांसे सिद्ध सेवित कम्पना नदीको जानेसे पुण्डरीक यज्ञका फल और स्वर्गलोक मिलता है। हे पृथ्वीनाथ ! माहेश्वरी धारामें जानेसे अश्वमेधका फल मिलता है और कुलका उद्धार होता है। हे नरनाथ ! देवपुष्करिणीमें जानेसे दुर्गति नहीं होती और अश्वमेधका फल होता है। ११४-११८

अथ सोमपदं गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ११९ ॥
तत्र कोटी तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ॥ १२० ॥
ह्रियमाणा हृता राजन्विष्णुना प्रभविष्णुना ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ॥ १२१ ॥
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च ॥ १२२ ॥
सदा संनिहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ १२३ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते ।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः ॥ १२४ ॥
अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ १२५ ॥
तत्रोपदानं धर्मज्ञ सर्वपापमोचनम् ।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा ॥ १२६ ॥
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।

अनन्तर ब्रह्मचारी और सावधान पुरुष सोमपद तीर्थको जाय, वहां माहेश्वर पदमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है, हे राजेन्द्र ! हमने सुना है, कि वहां करोड तीर्थ इकट्ठे हैं, पहले उन तीर्थोंको दुरात्मा राक्षस लेगया था तब जगत्कर्ता विष्णुने कच्छप रूप धारण करके उससे छीनकर वहीं स्थापन कर दिये हैं । हे युधिष्ठिर ! उस तीर्थ कोटि में स्नान करनेसे पुण्डरीक यज्ञका फल और विष्णुलोक मिलता है । हे राजेन्द्र! वहांसे नारायणके स्थानको जाय, हे भारत ! वहां सदा विष्णु वास करते हैं, जहां ब्रह्मादिक देवता, तपोधन ऋषि, आदित्य, वसु और रुद्र विष्णुकी उपासना करते हैं, वहांपर अद्भुत कर्मवाले शालिग्राम नामक विष्णु निवास करते हैं, उस अव्यय, वरदान देनेवाले, लोकनाथ विष्णुके दर्शन करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और विष्णुलोक मिलता है । (११९—१२५)

हे राजेन्द्र ! वहां अल्प दानसे भी सब पाप नष्ट होते हैं, उस कुएमें चारों समुद्र वास करते हैं, वहां जलका स्पर्श

अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम् ॥ १२७ ॥
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप ।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः ॥ १२८ ॥
जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः ।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ॥ १२९ ॥
ईप्सिताँल्लभते कामानुपवासान्न संशयः ।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम् ॥ १३० ॥
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।
कुशिकस्याऽऽश्रमं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनम् ॥ १३१ ॥
कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम् ।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ १३२ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १३३ ॥
अथ ज्येष्ठीलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १३४ ॥
तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम् ।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥ १३५ ॥

करनेसे पुरुषकी दुर्गति नहीं होती, वहीं वरदान देनेवाले अव्यय महादेवका स्थान है, उनका दर्शन करनेसे पुरुष ऐसा शोभित होता है, जैसे मेघसे छूटकर चन्द्रमा ! आगे जातिस्मर तीर्थका स्पर्श करनेसे और स्थिर चित्त तथा पवित्र होकर स्नान करनेसे पुरुषको जातिस्मरत्व प्राप्त हो जाता है, वहांसे माहेश्वरपुरमें जाकर शिवकी पूजा करनी चाहिये, वहां व्रत करनेसे मनकी इच्छा पूरी होती है, वहांसे सब पापोंके नाश करने वाले वामन तीर्थको जाना चाहिये, वहां विष्णुके दर्शन करनेसे पुरुषकी दुर्गति नहीं होती । (१२६—१३१)

वहांसे कुशिकके आश्रमको जाय, यह स्थान सब पापोंका नाश करनेवाला है, वहां सब पापोंका नाश करनेवाली कौशिकी नदीमें स्नान करनेसे पुरुषको राजसूय यज्ञका फल मिलता है । हे राजेन्द्र ! वहांसे चम्पकारण्यको जाय, वहां एक रात रहनेसे हजार गोदानका फल होता है, वहांसे अत्यन्त दुर्लभ ज्योष्ठिल तीर्थमें जाकर एकरात रहनेसे हजार गोदानका फल होता है, वहां पार्वतीके

त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ॥ १३६ ॥
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत ॥ १३७ ॥
तदक्षयमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ।
ततो निर्वीरमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १३८ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निर्वीरासंगमे नराः ॥ १३९ ॥
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम् ।
तत्राऽऽश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४० ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ १४१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ॥ १४२ ॥
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः।
तत्र मासं वसेद्वीर कौशिक्यां भरतर्षभ ॥ १४३ ॥

सहित महातेजस्वी शिवके दर्शन करनेसे पुरुषको मित्रावरुणका लोक मिलता है, वहां तीन रात उपोषित रहनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। (१३१-१३६)

वहांसे कन्यासंवेद्य तीर्थमें जाय, वहां नियतभोजी और स्थिर मन होकर रहनेसे मनु प्रजापतिका लोक मिलता है, हे भरतर्षभ! उत्तम व्रतधारी ऋषियोंने कहा है,कि कन्यासंवेद्यमें जो थोडा दानभी देता है, वह अक्षय होता है, वहांसे तीन लोक विख्यात निर्वीर तीर्थमें जाय, वहां जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल और विष्णुलोक मिलता है। हे नरशार्दूल! जो पुरुष निर्वीरा सङ्गममें कुछ दान देते हैं, वह दुःख रहित इन्द्रलोकमें जाते हैं, वहीं तीन लोकमें विख्यात वसिष्ठ मुनिका आश्रम है,उसमें स्नान करनेसे वाजपेय यज्ञका फल होता है (१३६—१४१)

वहांसे देव और ऋषिसेवित देवकूट तीर्थमें जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल और कुलका उद्धार होता है। हे राजेन्द्र! वहांसे कौशिक मुनिके तडागको जाय, जहां कुशिकपुत्र विश्वामित्र मुनिको महा सिद्धि प्राप्त हुई थी। हे भरतर्षभ! हे वीर! वहां कौशिकीमें एक महिना

अश्वमेधस्य यत्पुण्यं तन्मासेनाऽधिगच्छति ।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे　　　॥ १४४ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ।
कुमारमभिगम्याऽथ वीराश्रमनिवासिनम् ॥ १४५ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नाऽस्त्यत्र संशयः ।
अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्॥ १४६ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ।
अभिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम्　॥ १४७ ॥
पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ॥ १४८ ॥
पितामहस्य सरसः प्रस्नुता लोकपावनी ।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता　॥ १४९ ॥
यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति ।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया　　॥ १५० ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः ।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम्॥ १५१ ॥
समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत् ।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत्　॥ १५२ ॥

रहनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है, सब तीर्थोंसे उत्तम उस महा तडाग पर रहनेसे पुरुषको दुर्गति नहीं होती और बहु सुवर्ण प्राप्त होता है। वीराश्रम में वास करके कुमारका दर्शन करनेवाले को अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। वहांसे तीन लोक विख्यात अग्निधारा तीर्थ पर जाय उसमें स्नान करनेसे अग्नि-ष्टोम यज्ञका फल होता है। १४१-१४७

वहांसे पर्वतके समीप ब्रह्म सरमें जा कर अनादि देव, वर देनेवाले विष्णुके दर्शन करना चाहिये, ब्रह्मसरमें स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है, उसही ब्रह्मसरसे निकल कर लोकपावन त्रैलोक्य में प्रसिद्ध कुमार धारा है, उसमें स्नान करने से पुरुष समझ लेता है कि मैं कृतार्थ हुआ, वहां छटे कालका व्रत करनेसे पुरुष ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। हे धर्मज्ञ! वहांसे तीर्थ सेवी पुरुष तीन लोक विख्यात महादेवी गौरीके शिखर पर जाय, वहां शिखर पर चढके स्तनकुण्डमें स्नान करनेसे वाजपेय यज्ञका

तत्राऽभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥ १५३ ॥
ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १५४ ॥
नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम् ।
नरमेधस्य यत्पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ॥ १५५ ॥
कालिकासंगमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १५६ ॥
उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः ।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥ १५७ ॥
कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत्पुरातनैः ॥ १५८ ॥
प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति ॥ १५९ ॥
ऋषभद्वीपमासाद्य देवक्रुञ्चनिषेवितम् ।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ॥ १६० ॥
औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम् ।

फल होता है, वहां स्नान तथा पितर और देवतोंकी पूजा करनेवाले पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल और इन्द्रलोक मिलता है। (१४७—१५३)

आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर ताम्रारुण तीर्थ को जानेसे अश्वमेध यज्ञ का फल और ब्रह्मलोक मिलता है। हे नरनाथ! नन्दिनीमें देवकुएंमें स्नान करनेसे नरमेध यज्ञका फल मिलता है, आगे कालिका कौशिकी और अरुणाके सङ्गममें स्नान करके तीन दिन व्रत करने से पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है, वहां-से पण्डित उर्वशी तीर्थ सोमाश्रम और कुम्भकर्णाश्रमको जानेसे पुरुष जगत्में पूजाके योग्य हो जाता है, आगे व्रतधारी होकर कोकामुख तीर्थ में जाय, वहां जानेसे पुरुष को पूर्वजन्मस्मरण होजाता है, यह पुराने पुरुषोंने देखा है। १५४ १५८

ब्राह्मण प्राचीन नदीमें स्नान करनेसे पवित्रात्मा हो जाता है, और सब पापोंसे छूटकर इन्द्रलोकमें जाता है, वहांसे पवित्र ऋषभद्वीपमें जाकर सरस्वतीका स्पर्श करनेसे पुरुष विमानमें चढकर शोभित होता है। हे महाराज! वहांसे मुनि

तत्राऽभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १६१ ॥
धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥ १६२ ॥
अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ।
दण्डार्तमभिगत्वा तु गोसहस्रफलं लभेत ॥१६३॥ [३६६३]

इति श्रीमहाभारते०शत०वैया० तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

पुलस्त्य उवाच— अथ सन्ध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम् ।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नाऽत्र संशयः ॥ १ ॥
रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन्कृतं पुरा ।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ २ ॥
करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ॥ ३ ॥
गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च संगमे ।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४ ॥
गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः ।
त्रिरात्रमुषितो राजन्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

सेवित औदालक तीर्थ में जाय, वहांसे ब्रह्मर्षि सेवित धर्मतीर्थमें जानेसे वाजपेय यज्ञका फल मिलता है और विमानमें बैठकर पुरुषको पूजा मिलती है, वहांसे चम्पामें जाकर गङ्गामें स्नान करे और दण्डार्त तीर्थ में जाय, तो हजार गोदानका फल होता है। (१५९-१६३) [३६६३]

वनपर्वमें चौरासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें पचासी अध्याय ।

पुलस्त्य मुनि बोले, हे राजेन्द्र! उत्तम संध्यासमयमें संवेद्य तीर्थ में जाकर स्नान करनेसे पुरुषको निःसन्देह विद्या मिलती है। हे राजन्! जिस तीर्थ को पहले रामने अपने प्रभावसे किया था, उस लौहित्य तीर्थ में जानेसे पुरुषको बहुत सुवर्ण मिलता है। आगे करतोया नदीमें जाकर तीन दिन व्रत करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल होता है, यह नियम प्रजापतिका किया हुआ है। हे राजन्! पण्डित लोग कहते हैं, कि गङ्गा और समुद्रके सङ्गममें स्नान करनेसे दस अश्वमेधयज्ञोंका फल होता है, हे राजन्! पुरुष गङ्गाके दूसरे पारमें जाकर स्नान करता है, और वहां तीन रोज वास करता है, तो वह पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है। (१—५)

ततो वैतरणीं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनीम् ।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥ ६ ॥
प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ॥ ७ ॥
शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः संगमे नियतः शुचिः।
तर्पयित्वा पितृदेवानग्निष्टोमफलं लभेत ॥ ८ ॥
शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभेदे कुरुनन्दन ।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ९ ॥
ऋषभं तीर्थमासाद्य कोशलायां नराधिप ।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १० ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ११ ॥
कोशलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ।
वृषभैकादशफलं लभते नाऽत्र संशयः ॥ १२ ॥
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप ॥ १३ ॥
ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा भरतसत्तम ।

वहांसे सब पापोंके नाश करनेवाली वैतरणी नदी पर जाय, वहां विरज तीर्थ में स्नान करनेसे चन्द्रमाके समान निर्मल हो जाता है, उसका सब पाप नष्ट हो जाता है, हजार गोदानका फल मिलता है, और कुलका उद्धार होता है, वहांसे शोण और ज्योतिरथ्या नदीके सङ्गममें जाय, वहां पवित्र होकर पितर और देवतोंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है। हे राजन्! आगे उस स्थानमें जाय, जहां शोण और नर्मदा अलग हुई हैं, वहां वंसोंके झुण्ड का स्पर्श करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है। हे नरनाथ! आगे कोशला नदीमें जाकर ऋषभ तीर्थ में स्नान करे, वहां तीन दिन उपोषित रहने से वाजपेय यज्ञका फल होता है, वहां जानेसे हजार गोदानका फल होता है,और कुलका उद्धार हो जाता है। (६-११)

वहांसे कोशल नदीमें जाकर कालतीर्थ का स्पर्श करे तो निःसन्देह ग्यारह बैल छोडनेका फल होता है। हे राजन्! पुष्पवतीको स्पर्श करके तीन दिन उपोषित रहने से सहस्र गोदान का फल और कुलका उद्धार होता है, वहांसे बदरिका नामक तीर्थ में स्नान करे, हे

दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १४ ॥
तथा चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ।
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५ ॥
लपेटिकां ततो गच्छेत्पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ।
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते ॥ १६ ॥
ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७ ॥
मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ।
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १८ ॥
श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ।
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम् । ॥ १९ ॥
श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ।
न्यवसत्परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह ॥ २० ॥
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ।
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति ॥ २१ ॥
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये देवतपूजितम् ।

भरत सत्तम ! उस में स्नान करनेसे पुरुषको दीर्घ आयु और स्वर्ग मिलता है, वहांसे चलकर चम्पामें जाय, वहां गङ्गामें स्नान करके दण्ड तीर्थका दर्शन करनेसे हजार गोदानका फल होता है, वहांसे पवित्र पुण्योंसे भरीहुई लेटिकामें जाय, वहां जानेसे वाजपेय यज्ञका फल होता है, और सब देवता लोग उसकी पूजा करते हैं । (१२--१६)

वहांसे परशुरामके आश्रम महेन्द्र पर्वत पर जाय, वहां राम तीर्थ में स्नान करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल होता है । हे कुरुनन्दन ! हे कुरु-श्रेष्ठ ! वहींपर मतङ्गकेदार नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल होता है, वहांसे श्रीपर्वतमें जाकर नदीके तीरपर स्नान और शिवपूजन करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है, महातेजस्वी शिव पार्वतीके सहित वहीं निवास करते थे और देवतोंके सहित ब्रह्मा वहीं निवास करते थे, वहां पुरुष पवित्र और स्थिर मन होकर देवह्रदमें स्नान करे तो अश्वमेध यज्ञका फल और परम सिद्धि मिलती है । (१७-२१)

वहांसे पाण्ड्य देशमें जाकर देव पूजित ऋषभ नामक पर्वत पर जाय तो

वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ॥ २२ ॥
ततो गच्छेत कावेरीं वृताम्प्सरसां गणैः ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २३ ॥
ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत्।
तत्तोयं स्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २४ ॥
अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ २५ ॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ॥ २६ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषा पन्नगास्तथा ।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ॥ २७ ॥
तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ॥ २८ ॥
उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः ।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ॥ २९ ॥
त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ ३० ॥

वाजपेय यज्ञका फल और स्वर्गमें आनन्द मिलता है, वहांसे अप्सरागणोंसे सेवित कावेरी नदीको जाय, हे राजन् ! उसमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल होता है, वहांसे चलकर समुद्रके तीरपर जाकर कन्या तीर्थ का स्पर्श करे, हे राजेन्द्र ! उस जलके स्पर्श करने हीसे सब पाप छूट जाते हैं। आगे तीन लोक विख्यात समुद्रके बीचमें स्थित सर्वलोक पूजित गोकर्ण तीर्थको जाय, वहां ब्रह्मादिक देवता तपोधन ऋषि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, बडे बडे सर्प, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी समुद्र और पर्वत आकर उमापति शिव-की उपासना करते हैं। (२३—२७)

वहां शिव की पूजा करके तीन दिन व्रत करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और गणेशका पद मिलता है, यदि वहां बारह दिन रहें, तो पुरुष परम पवित्र हो जाता है, वहांसे तीनलोक पूजित गायत्री के स्थानमें जाय, वहां तीन दिन रहनेसे हजार गोदानका फल होता है, हे नरनाथ ! हे राजन् ! यहां ब्राह्मणों-का प्रत्यक्ष परीक्षण होता है। कि यदि

गायत्रीं पठते यस्तु योनिसंकरजस्तथा ।
गाथा च गाथिका चापि तस्य संपद्यते नृप ॥ ३१ ॥
अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति ।
संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ॥ ३२ ॥
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजायते ।
ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ३३ ॥
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ।
ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ॥ ३४ ॥
गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम् ।
वेणायाः संगमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ३५ ॥
वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ३६ ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात्स्वर्गलोकं च गच्छति ।
कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ३७ ॥
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।

कोई सङ्करजाति का उत्पन्न हुआ पुरुष अच्छी रीतिसे भी गायत्री पढे तौभी वह गायत्री स्वरसे हीन, छन्दरहित गांवके गीतके समान उच्चारण होती है! औरभी उदाहरण है, कि यदि ब्राह्मणके सिवा कोई दूसरा वर्ण वहां जाकर गायत्री पढे तो उसको स्मरण नहीं होती। (२८ — ३२)

वहांसे चलकर दुर्लभ संवर्त मुनिकी बावडी में स्नान करे, वहां स्नान करने से पुरुष सुन्दर और ललित होजाता है, वहांसे वेणा नदीमें जाकर यदि तीन रात व्रत करे तो पुरुषको मोर और हंस सहित विमान मिलता है, वहांसे सदाही सिद्धोंसे सेवित गोदावरी नदीको जाय, वहां स्नान करनेसे गोमेध यज्ञका फल और वासुकीका उत्तम लोक प्राप्त होता है। वहां वेणा नदीके सङ्गममें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है। (३२—३५)

वरदासङ्गममें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल होता है, आगे ब्रह्मस्थानमें जाकर त्रिरात्र व्रत करनेसे हजार गोदानका फल और स्वर्ग लोक मिलता है, आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर कुशप्लवन नामक तीर्थमें जाय, वहां तीन दिन उपोषित रहकर स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है। ३२-३८

ततो देवह्रदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे ॥ ३८ ॥
जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ।
यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ॥ ३९ ॥
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद्गमनादेव भारत ।
ततः सर्वह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ४० ॥
ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम् ।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ४१ ॥
दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत् ।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ॥ ४२ ॥
शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ४३ ॥
ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम् ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४४ ॥
सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः ।
महत्पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ४५ ॥
ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः ।

वहांसे वनमें जाकर कृष्णवेणाके जल से उत्पन्न हुए देवह्रद तीर्थमें स्नान करे, वहां जातिस्मर ह्रदमें स्नान करनेसे पुरुषको अपने पूर्व जन्मका स्मरण होजाता है, वहीं पर इन्द्र सौ यज्ञकरके स्वर्ग को गये हैं। हे भारत! वहां जातेही अग्निष्टोम यज्ञका फल होता है, तब सर्वह्रद तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल होता है, वहांसे चलकर पवित्र बावडी और नदियोंमें श्रेष्ठ पयोष्णीपर जाकर पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे हजार गोदानका फल मिलता है, हे भारत! हे राजन्! वहांसे चलकर पुण्यप्रद दण्डकारण्य में जाय, वहां स्नान करनेसे हजार गोदानका फल मिलता है, वहांसे शरभङ्ग और महात्मा शुकके आश्रम पर जानेसे पुरुषकी दुर्गति नहीं होती और कुल पवित्र होजाता है। (३९--४३)

वहांसे परशुराम सेवित शूर्पारक तीर्थमें जाय, वहां राम तीर्थमें स्नान करनेसे बहुत सुवर्ण मिलता है, आगे जिताहारी और संयमी होकर सप्तगोदावर तीर्थमें स्नान करे, वहां स्नान करने से पुरुषको महापुण्य और स्वर्गलोक मिलता है, आगे जितेन्द्रिय और नियम

देवसत्रस्य यत्पुण्यं तदवाप्नोति मानवः ॥ ४६ ॥
तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वेदानध्यापयत्तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ॥ ४७ ॥
तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः ।
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ॥ ४८ ॥
ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह ।
येन यत्पूर्वमभ्यस्तं तत्सर्वं समुपस्थितम् ॥ ४९ ॥
ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ॥ ५० ॥
पितामहश्च भगवान्देवैः सह महाद्युतिः ।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ॥ ५१ ॥
ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत्तदा ।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५२ ॥
आज्यभागेन तत्राऽग्निं तर्पयित्वा यथाविधि ।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ॥ ५३ ॥
तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ५४ ॥

से भोजन करनेवाला होकर देवतोंके मार्गमें जानेसे पुरुषको देवसत्रका पुण्य मिलता है । (४४—४६)

आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर तुङ्गकारण्यको जाय, वहीं पर पहले सारस्वत मुनि वेद पढाते थे, जब वेद नष्ट हो गये तब अङ्गिरा मुनिके पुत्र सुखपूर्वक ऋषियोंके वस्त्रोंमें बैठ गये, तहां विधिपूर्वक यथोचित उन्होंने ओंकारको उच्चारण किया, ऐसा करते ही सब मुनियोंको यह पाठ याद हो गया, वहीं देवता, ऋषि, वरुण, अग्नि, प्रजापति, विष्णु शिव और सब देवोंके सहित महा तेजस्वी भगवान ब्रह्माने महा तेजस्वी भृगु ऋषिको यज्ञ करनेको विठलाया था तब भगवान भृगु मुनिने विधिपूर्वक ऋषियोंके कार्योंको शास्त्रोक्त रीतिसे पुनराधान किया । वहां विधि पूर्वक आज्यभागसे अग्निको सन्तुष्ट करके सब देवता और ऋषि अपने अपने स्थानको चले गये । (४७—५३)

हे राजन् ! उस तुङ्गक नामक वनमें जातेही पुरुष या स्त्रियोंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, उस स्थानमें नियमधीर

तत्र मासं वसेद्धीरो नियतो नियताशनः।
ब्रह्मलोकं व्रजेद्राजन्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५५ ॥
मेधाविकं समासाद्य पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ ५६ ॥
अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम्।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५७ ॥
यो स्नातः स्नापयेत्तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ५८ ॥
ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते।
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ५९ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ६० ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम्।
तत्र नित्यं महासेनो गुहः संनिहितो नृपः ॥ ६१ ॥
तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिद्धयति।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत ॥ ६२ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः।

धीर पुरुष थोडा भोजन करके यदि एक महीना रहे तो ब्रह्मलोकमें जाता है, और कुलका उद्धार करता है। वहांसे मेधाविक तीर्थको जाय, वहां पितर और देवतोंका तर्पण करे तो अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है, और स्मरण शक्ति तथा धारणा शक्ति बढती है, यहीं पर कालञ्जर नामक पर्वत है, यहां देवह्रद तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल होता है। जो कोई कालञ्जर पर्वतमें जाकर आप स्नान करे अथवा दूसरेको स्नान करावे तो निःसन्देह स्वर्गलोकको जाता है। (५४—५८)

वहांसे पर्वतों में श्रेष्ठ चित्रकूटको जाय, वहां सब पापोंको नाश करनेवाले मन्दाकिनी में स्नान करके पितर और देवतोंकी पूजा करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और मोक्ष मिलती है। हे धर्मज्ञ ! वहांसे अत्यन्त उत्तम भर्तृस्थान को जाय, वहां देवतोंके सेनापति स्वामी कार्तिक सदाही निवास करते हैं। हे नृपश्रेष्ठ ! वहां जानेहीसे सिद्धिलाभ होती है, आगे कोटि तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल होता है,

अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ॥ ६३ ॥
तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ॥ ६४ ॥
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६५ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥ ६६ ॥
तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६७ ॥
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ।
ततो मुञ्जवटं गच्छेत्स्थानं देवस्य धीमतः ॥ ६८ ॥
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ६९ ॥
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥ ७० ॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसंमताः ॥ ७१ ॥

उसकी प्रदक्षिणा करके ज्येष्ठ स्थानको जाय, वहां महादेवकी पूजा करनेसे पुरुष चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो जाता है। (५९—६३)

हे भरतर्षभ! हे महाराज युधिष्ठिर! हमने सुना है कि उस कुएंमें चारों समुद्र वसते हैं। हे राजेन्द्र! पितर और देवोंकी पूजा करनेवाला नियमधारी पुरुष वहां स्नान करनेसे पवित्र होकर मोक्षको प्राप्त होता है, हे राजेन्द्र! वहांसे शृङ्गवेरपुरको जाय, वहीं दशरथ कुमार रामचन्द्र गङ्गापार हुए थे। हे महाबाहो! उस स्थानमें ब्रह्मचारी और सावधान होकर गंगास्नान करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है और वाजपेयको प्राप्त होता है। (६४—६८)

हे महाराज! वहांसे मुंजवटको जाय, वह बुद्धिमान शिवका स्थान है, वहां शिवकी पूजा और प्रदक्षिणा करनेसे गणेशका स्थान मिलता है और वहां गङ्गास्नान करनेसे सब पापोंसे छूट जाते हैं। हे राजेन्द्र! वहांसे ऋषि पूजित प्रयागको जाय, वहां ब्रह्मादिक देवता, दिशा दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, लोकपूजित

सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७२ ॥
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रधरास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ॥ ७३ ॥
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी ॥ ७४ ॥
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ७५ ॥
यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ॥ ७६ ॥
प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा ॥ ७७ ॥
तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः ।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर ॥ ७८ ॥
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः ।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः ॥ ७९ ॥
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ॥ ८० ॥

पितर, सनत्कुमार आदिक महाऋषि, अङ्गिरादिक निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण सिद्ध, चक्रचर (सूर्यादिक आकाशचारी), नदी, समुद्र, गन्धर्व अप्सरा और प्रजापतिके सहित भगवान विष्णु निवास करते हैं। प्रयागमें तीन अग्निकुण्ड हैं, उनके बीचमें सब तीर्थोंके सहित अत्यन्त वेगवती गङ्गा और तीनलोक विख्यात सूर्यपुत्री यमुना बहती है, वहीं जगत्को पवित्र करनेवाली यमुना गङ्गासे आकर मिली है, जहां गङ्गा और यमुनाके बीचके स्थान पृथ्वीकी जघन है। (६८—७६)

प्रयागको ऋषियोंने पृथ्वीकी योनि तथा उपस्थ कहा है, प्रयाग प्रतिष्ठानपुर (झांसी) कम्बलाश्वतर तीर्थ और भोगवती यह ब्रह्माकी वेदी है, हे युधिष्ठिर! उसमें यज्ञ और वेद मूर्ती धारण करके रहते हैं, हे राजन्! वहां तपस्वी ऋषि ब्रह्माकी उपासना करते हैं, चक्रवर्त्ती नृप और देवता लोग यज्ञ करते हैं। हे भारत! हे राजन्! इसी लिये प्रयाग परम पवित्र

गमनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ ८१ ॥
तत्राऽभिषेकं यः कुर्यात्संगमे लोकविश्रुते ।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८२ ॥
एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता ।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद्भवति भारत ॥ ८३ ॥
न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥ ८४ ॥
दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथाऽपराः।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ॥ ८५ ॥
चतुर्विद्ये च यत्पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसङ्गमे ॥ ८६ ॥
तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्राऽभिषेकं यः कुर्यात्सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ ८७ ॥
तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ॥ ८८ ॥

है, मुनिलोग तीन लोकके तीर्थोंसे प्रयागको अधिक कहते हैं, उस तीर्थमें जानेसे और उसका नाम स्मरण करनेसे पुरुष मृत्युके भय और पापोंसे छूट जाता है। (७७ – ८१)

उस लोक विख्यात गङ्गा और यमुना के सङ्गममें जो स्नान करता है, उसको राजसूय और अश्वमेधका पुण्य फल मिलता है, हे भारत ! यह संस्कार करी हुई देवतोंके यज्ञ करनेकी भूमि है, वहां थोडा दान देनेसे भी बहुत हो जाता है। हे तात ! न वेदके वचनसे और न लोकके वचनसे प्रयागमें मरने-की बुद्धिको त्यागना चाहिये। हे कुरुनन्दन ! जो साठ करोड दस हजार तीर्थ कहे हैं वे सब प्रयागहीमें निवास करते हैं। चारों वेदोंका पठन और सत्य बोलनेका जो कुछ पुण्य होता है, वह पुण्य गङ्गा यमुनाके सङ्गममें स्नान करनेसे पुरुषको मिलता है, वहां राजा वासुकिका स्थान है, उसका नाम भोगव-ती है, उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है। वहीं तीन लोक विख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है। (८१ - ८८)

हे कुरुनन्दन ! प्रयागहीमें गङ्गाके तट

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्राऽवगाहिता।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ॥ ८९ ॥
यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गावसेचनम्।
सर्वं तत्तस्य गङ्गापो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ ९० ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम्।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ॥ ९१ ॥
पुष्करे तु तपस्तप्येद्दानं दद्यान्महालये।
मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गेत्वनाशनम् ॥ ९२ ॥
पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मगधेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ॥ ९३ ॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्ट्वा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥ ९४ ॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत्स पुरुषो राजन्स्वर्गलोके महीयते ॥ ९५ ॥
यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ॥ ९६ ॥

पर दशाश्वमेध नामक तीर्थ है, गङ्गाका जहां स्नान करे वहां ही कुरुक्षेत्रके समान फल होता है, परन्तु कनखलमें विशेष फल है, और प्रयागमें बहुत अधिक फल है, यदि हजारों पाप करके पुरुष गङ्गाजलमें स्नान करता है, तो वह गंगाजल उसके पापको ऐसे नष्ट करता है, जैसे अग्नि इंधनको, सतयुगमें सब तीर्थमें स्नान करनेसे पुण्य होता था, त्रेतामें पुष्कर तीर्थ है, द्वापरमें कुरुक्षेत्र, और कलियुगमें तो गङ्गाही प्रसिद्ध है। पुष्करमें तप करे, महालयमें दान दे और मलय में अग्नि में प्रवेश करे और भृगुतुङ्ग तीर्थमें प्रायोपवेशन करे, पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और मगध देशीय तीर्थोंमें स्नान करनेसे पुरुषके सात पुरखा पवित्र हो जाते हैं। (८९-९३)

गङ्गा कीर्तनहीसे पापोंका नाश करती हैं, दर्शन ही से कल्याणको बढाती है, स्नान करने और जल पीनेसे सात कुलको पवित्र करती हैं। हे राजन्! पुरुषकी हड्डी जब तक गङ्गाजलमें रहती हैं, तबतक वह पुरुष स्वर्गमें रहता है, जो पवित्र तीर्थ और पवित्र देवतोंके स्थानमें जानेसे पुण्य होता है, और उससे स्वर्ग मिलता है वह सब उनका चिर

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥ ९७ ॥
यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम् ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥ ९८ ॥
इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत्कर्णे शिष्यस्याऽनुगतस्य च ॥ ९९ ॥
इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ॥ १०० ॥
महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ १०१ ॥
श्रीमत्स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम् ।
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम् ॥ १०२ ॥
अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात् ।
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात् ॥
शूद्रो यथेप्सितान्कामान्ब्राह्मणः पारगः पठन् ॥ १०३ ॥
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ।

स्याई नहीं होता है, जितना गङ्गास्नान करनेसे होता है। गङ्गाके समान कोई तीर्थ, विष्णुके समान कोई देवता और ब्राह्मणोंके समान कोई पूज्य नहीं है, ऐसा ब्रह्माने कहा है, हे महाराज ! जहां गङ्गा हैं, वह देश तपोवन है, जो देश गंगाके तटपर है, वह सिद्ध क्षेत्र है, यह सत्य बात ब्राह्मण, साधु, पुत्र, मित्र, शिष्य और नौकरके कानमें कह देनी चाहिये । (९४—९९)

यह गङ्गातट धन्य, पवित्र, स्वर्गदायक, उत्तम, पुण्यदायक, रम्य, पवित्र करनेवाला, धर्म बढानेवाला, महाऋषियोंका गुप्त स्थान और पाप नाश करनेवाला, है, ब्राह्मणोंके बीचमें इस मन्त्रको पढनेसे पुरुष निर्मल हो जाता है, और स्वर्ग मिलता है, यह तीर्थों की वंशावली लक्ष्मी, स्वर्ग, पुण्य और बुद्धिकी देनेवाली है, उसका कीर्तन करनेसे शत्रुओंका नाश होता है, अपुत्रको पुत्र और निर्धनको धन मिलता है, इसके पढनेसे राजा भूमिजय करता है, बनियेको धन मिलता है, शूद्रकी इच्छा पूरी होती है, ब्राह्मण पण्डित होजाता है । जो पुरुष पवित्र होकर इस तीर्थ माहात्म्यको सुनता है, वह अपने अनेक जन्मोंको स्मरण

जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १०४ ॥
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ।
मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ १०५ ॥
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ॥ १०६ ॥
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनाऽनेन सुव्रत ।
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन् ॥ १०७ ॥
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ।
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः१०८॥
नाऽव्रती नाऽकृतात्मा च नाऽशुचिर्न च तस्करः ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ १०९ ॥
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ।
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ॥ ११० ॥
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ।
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाऽभितोषिताः ॥ १११ ॥
अवाप्स्यसि त्वं लोकान्वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम्११२॥

करके स्वर्गमें आनन्द करता है, जो तीर्थ जाने योग्य हैं, उनमें जाय, और जो नहीं जाने योग्य हैं, उनमें सब तीर्थ के दर्शनकी इच्छा करनेवाले पुरुष मनहीसे चला जाय। इन तीर्थोंमें वसु,साध्य, सूर्य, मरुत, अश्विनीकुमार देवतों के समान ऋषि और पुण्यात्मा लोग स्नान करते हैं। (१००—१०६)

हे कौरव ! हे उत्तम व्रतवाले युधिष्ठिर ! ऐसेही आपभी इन तीर्थोंमें जाइये। आप नियमोंको धारण करके पुण्योंसे पुण्योंको बढाते हुए तीर्थोंको जाइये; हे राजन् ! जिन तीर्थोंको प्रथम से इन्द्रिय निग्रहवान्, आस्तिक्य बुद्धिवाले, वेदज्ञानी और शास्त्रदर्शी महात्मा लोग जा सकते हैं, उन तीर्थोंको अव्रती दुष्ट अपवित्र और चोर नहीं जा सकते हैं। हे कौरव्य ! उन तीर्थोंमें दुष्ट बुद्धिवाले पुरुष स्नान नहीं कर सकते। सदा धर्म और अर्थके जाननेवाले उन तीर्थोंमें जा सकते हैं। हे राजन् ! आपने धर्मसे पिता, पितामह, प्रपितामह और उनसेभी पहले पुरखा,देव तथा ऋषि लोगोंको सन्तुष्ट किया है। हे इन्द्रसमान!

नारद उवाच— एवमुक्त्वाऽभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ ११३ ॥
भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ।
पुलस्त्यवचनाचैव पृथिवीं परिचक्रमे । ॥ ११४ ॥
एवमेषा महाभागा प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता ।
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी ॥ ११५ ॥
अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति ।
अश्वमेधशतं साग्रं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति ॥ ११६ ॥
ततश्चाऽष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ॥ ११७ ॥
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान् ।
नेता च त्वमृषीन्यस्मात्तेन तेऽष्टगुणं फलम् ॥ ११८ ॥
रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ।
न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन ॥ ११९ ॥
इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम् ।
यः पठेत्कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १२० ॥
ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः ।

आपको वसुओंके लोक मिलेंगे। हे भीष्म ! आपकी महाकीर्ति इस जगत्में बहुत दिनतक रहेगी।(१०६—११२)

नारद मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार भीष्मसे कहकर प्रसन्नता पूर्वक प्रसन्न चित्तसे भगवान पुलस्त्य मुनि भीष्मकी संमतिसे वहीं अन्तर्धान होगये। हे कुरुशार्दूल ! शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ भीष्मभी पुलस्त्यके वचनसे पृथ्वीमें घूमने लगे । हे राजन् ! इस प्रकारसे यह सब पापोंके नाश करनेवाली पुण्योंसे भरी हुई महा भाग्यवती तीर्थयात्रा प्रतिष्ठान पुर में समाप्त हुई। जो पुरुष इस प्रकार से पृथ्वीके तीर्थोंमें घूमता है; उसको मरनेके पश्चात् सैकडों अश्वमेधोंका फल होता है। (११३—११६)

हे कुन्तीनन्दन ! आपको उससे आठ गुण फल होगा, जैसे कुरुवंश सिंह भीष्मको हुआ था; क्योंकि तुम ऋषियोंके अगुआ हो, इसीसे तुमको आठगुण फल होगा; और आज कलके तीर्थ राक्षसोंसे भर गये हैं, हे कुरुनन्दन ! हे राजेन्द्र ! आपके सिवाय उन तीर्थोंमें और कोई नहीं जा सकता है। जो पुरुष इस देवर्षि कथित तीर्थमाहात्म्यको प्रातः कालमें उठकर पढेंगे, उनके सब

आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः॥ १२१ ॥
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ॥ १२२ ॥
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः ।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः ॥ १२३ ॥
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज ॥ १२४ ॥
एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः ।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज ॥ १२५ ॥
मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः॥१२६॥
यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ॥ १२७ ॥
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः ।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १२८ ॥
यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः ॥ १२९ ॥

पाप छूट जायंगे। (११७—१२०)

हे महाराज! उन तीर्थोंमें ऋषियोंके प्रधान बाल्मीकि, कश्यप,आत्रेय, कुण्ड जठर, विश्वामित्र, गौतम, असित,देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक,व्यास, तपस्वियोंमें श्रेष्ठ शुकदेव,मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा,और महा तपस्वी जाबाली इत्यादि अनेक तपो धन महर्षि लोग आपका मार्ग देख रहे हैं। हे महाराज! इनके साथ तीर्थोंमें जाइये। हे महाराज! यह देखिये महा तेजस्वी लोमश ऋषि आपके पास चले आते हैं, आप इनके सङ्गही तीर्थोंको चले जाइये। हे राजन्! क्रमके अनुसार इस तीर्थोंमें आप मुझसेभी मिलेंगे। जैसी राजा महाभिषकी कीर्ति हुई थी, वैसीही आपकीभी होगी। १२१-१२६

हे राजशार्दूल!जैसे राजा ययाति और राजा पुरूरवा धर्मात्मा थे, तैसेही आप भी अपने धर्मसे शोभित हैं। हे राजन्! जैसे राजा भगरिथ और राजा राम विख्यात थे, वैसेही सूर्यके समान तेजस्वी आपभी विराजमान हैं। जैसे मनु इक्ष्वाकु, महा यशस्वी पूरु और पृथु थे, तैसेही

यथा च वृत्रहा सर्वान्सपत्नान्निर्दहत्पुरा।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः ॥ १३० ॥
तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ॥
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा॥१३१ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः।
अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ १३२ ॥
युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवाऽर्थं विचिन्तयन्।
तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥ १३३॥ [३७९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

वैशम्पायन उवाच–भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥ २ ॥
स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः।

आपभी विख्यात हैं। हे महाराज! जैसे वृत्रासुरके मारनेवाले देवराज इन्द्रने सब शत्रुओंको मारकर त्रैलोक्य का राज्य किया था, हे कमलनेत्र! तैसे ही आपभी अपने धर्मसे पृथ्वीको जीत और शत्रुओंको मारकर प्रजाको पालियेगा, जैसे कृतवीर्यके पुत्र अर्जुन प्रसिद्ध हुए थे, तैसेही आपभी धर्मसे प्रसिद्ध हूजियेगा। (१२७—१३१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भगवान् नारद इस प्रकार युधिष्ठिर से कहके युधिष्ठिरकी सम्मति ले वहीं अन्तर्धान होगये। धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर भी उसको सुनकर उसका अर्थ विचार कर ऋषियोंसे उस पुण्यको कहने लगे। (१३२—१३३) [३७९६]

वनपर्वमें पचासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें छियासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिरने बुद्धिमान नारदकी और अपने भाइयोंकी सम्मति जानकर अपने पितामहके समान धौम्य मुनिको बुलाकर ऐसा कहा, कि मैंने सत्यपराक्रम पुरुष सिंह महाबाहु आचारवान् पराक्रमी अर्जुनको अस्त्रोंके लिये भेजा है; वह तपोधन हमारा अत्यन्त भक्त है, और

कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥ ३ ॥
अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन्कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ॥ ४ ॥
त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत्सदा मम ॥ ५ ॥
तथाऽहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ॥ ६ ॥
इंद्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चाऽऽदातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ॥ ८ ॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ये महाबलाः ॥ ९ ॥
स च दिव्यास्त्रवित्कर्णः सूतपुत्रो महारथः ॥ १० ॥
योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः ।
रजोधूमोऽस्त्रसंपातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ॥ ११ ॥

शस्त्रोंके जाननेमें महात्मा कृष्णके समान है। हे ब्राह्मणो ! मैं शत्रुनाशन महातेजस्वी अर्जुन और कृष्णको वैसाही जानता हूं, जैसा कि प्रतापवान व्यास जानते हैं, ये कमलनेत्र कृष्ण और अर्जुन तीन युगोंमें विद्यमान है, भगवान नारद ही इनको ऐसाही जानते हैं, और मुझसे सदा कहा करते हैं; और मैंभी जानता हूं कि ये नरनारायण ऋषिके अवतार हैं। (१–६)

हमने अर्जुनको समर्थ जानकरही भेजा है, हमने यह जान लिया था, कि यह इन्द्रपुत्र अर्जुन इन्द्रसे कम नहीं है, अतएव इन्द्रको दर्शन करने और उनसे शस्त्र लेनेको भेजा है। देखिये भीष्म और द्रोण महारथ हैं, कृपाचार्य और अश्वत्थामा सहजहीमें जीतने योग्य नहीं हैं, यह सब महारथलोग दुर्योधनके सङ्ग युद्धमें आवेंगे; यह सब लोग वेदोंके जाननेवाले और सर्व अस्त्रोंके पण्डित हैं, औरभी जितने महा बलवान पुरुष हैं, वे सब अर्जुनहीसे युद्ध करनेकी इच्छा करते हैं। (६—९)

देखिये यह दिव्य अस्त्रोंके जाननेवाला सूतपुत्र कर्णभी महारथी है, वह सब अस्त्रोंके वेगरूपी वायुसे बलवान्,

निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान् ।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ॥ १२ ॥
तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान् ।
श्वेतवाजिबलाकाभृद्गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः ॥ १३ ॥
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम् ।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ॥ १४ ॥
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात्परपुरञ्जयः ।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते ॥ १५ ॥
अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ।
नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ॥ १६ ॥
ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिन्दमम् ।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ॥ १७ ॥
वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन्द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥ १८ ॥
भवानन्यद्वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥ १९ ॥

बाण हैं ज्वाला जिसकी और जालियोंके शब्दसे युक्त, क्रोध जिसका धूम है, और अस्त्ररूपसे गमनवान् वह प्रलय कालकी महा अग्निके समान कर्ण दुर्य्योधनरूपी वायुसे प्रेरित होकर मेरी सेना समूह रूप तृणको निःसन्देह भस्म कर देगा । उस कर्णरूपी महा अग्निको कृष्ण रूप वायुसे प्रेरित, दिव्य अस्त्र अग्निवाला, सफेद घोडेरूपी बकमाला सहित, गांडीव रूप इन्द्रायुध से युक्त अर्जुन अपने बाणधारा रूपी पानीसे युद्धमें बुझादेगा, अर्जुन इन्द्रसे सब अस्त्रोंको प्राप्त करेगा, वह सब शत्रुओंके नाश-करनेमें समर्थ हैं। मुझे यह निश्चय है, कि विना उसके हम शत्रुओंको नहीं जीत सकते । (१०–१६)

हम लोग उस पाण्डुपुत्र शत्रुनाशन अस्त्रोंसे संपन्न अर्जुनको देखेंगे, क्यों कि वह इस भारको लेकर कुछभी दुःखी नहीं हुए । हे ब्राह्मण ! हम लोग उस वीर अर्जुनके विना इस काम्यक वनमें द्रौपदीके सहित सुख नहीं पाते हैं। अतएव आप कोई ऐसा वन बतलाइये जो उत्तम पवित्र फल और अन्नसे भरा हो, और जो परम रमणीय हो, जिसमें ऋषिलोग रहते हों, जिस

यत्र कंचिद्वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाऽम्बुदम् ॥ २० ॥
विविधानाश्रमान्कांश्चिद्द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥ २१ ॥
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन्रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन्काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ [३८१८]

वैशम्पायन उवाच—तान्सर्वानुत्सुकान्दृष्ट्वा पाण्डवान्दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणानुमतान्पुण्यानाश्रमान्भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ॥ २ ॥
याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन्विशोको भवितासि ह ।
द्रौपद्या चाऽनया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ॥ ३ ॥
श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव ।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम ॥ ४ ॥
पूर्वं प्राचीं दिशं राजन्राजर्षिगणसेविताम् ।

वनमें रहकर हम लोग सत्य-पराक्रम वीर अर्जुनका मार्ग देखें। हमलोग उस को ऐसाही चाहते हैं, जैसा किसान मेघको, अथवा अनेक प्रकारके ऋषियों से सुने हो तलाव और पर्वतोंको हमसे वर्णन कीजिये। हे ब्राह्मण! मुझको विना अर्जुनके इस काम्यक वनमें रहना अच्छा नहीं लगता अतएव मैं दूसरी दिशाको जाना चाहता हूं। (१७-२२)[३८१८]

वनपर्वमें छियासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें सतासी अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कि उन सब पाण्डवोंको उदास और उत्सुक देखकर बृहस्पतिके समान धौम्य मुनि धैर्य देकर ऐसा बोले,हे पापरहित! हे भरतर्षभ! ब्राह्मणोंसे कहे हुए आश्रम,दिशा तीर्थ और पवित्र पर्वतोंको मैं कहता हूं तुम सुनो। हे नरेश्वर! जिनके सुननेसे आप अपने भाई और द्रौपदीके सहित स्वस्थ हूजियेगा, हे पाण्डव! हे नरोत्तम! जिनको सुननेसे आपको बहुत पुण्य होगा और वहां जानेसे सौगुण पुण्य होगा। (१-४)

हे युधिष्ठिर! अब मैं आपसे स्मृतिके

रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥ ५ ॥
तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत ।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक्पृथक् ॥ ६ ॥
यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता ।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ॥ ७ ॥
तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः ।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥ ८ ॥
यदर्थं पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः ।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥ ९ ॥
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत ।
उत्तारयति संतत्या दशपूर्वान्दशावरान् ॥ १० ॥
महानदी च तत्रैव तथा गयाशिरो नृप ।
यत्राऽसौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥ ११ ॥
यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो ।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुनामा महानदी ॥ १२ ॥
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ ।

अनुसार राजर्षिसेवित पूर्व दिशाका वर्णन करता हूं, हे भारत ! उस देवर्षिसेवित पूर्व दिशामें नैमिष नामक वन है, जहां देवोंके पुण्यकारक भिन्न भिन्न तीर्थ हैं; तथा रमणीय, पवित्र देव और ऋषियोंसे सेवित गोमती नदी बहती है; वहीं देवतोंकी यज्ञका स्थान और वहीं यज्ञके निमित्त यमराजने पशुओंको मारा था। उसी पूर्व दिशा में पवित्र राजर्षियोंमे सत्कार किया हुआ गयनामक एक पर्वत है, वहीं पर देवता और ऋषियोंसे सेवित ब्रह्मसर तीर्थ है, हे पुरुषसिंह ! उस स्थानमें जाने के निमित्त पुराने लोग कहते हैं, कि बहुतसे पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये, कोई भी तो गयाको जायगा ! हे राजन् ! चाहे अश्वमेध करे चाहे काले रङ्गका वृष छोडे, चाहे गयाको जाय तो इन तीनों कर्मोंका महा फल है, कि दश अगली और दश पूर्व पीढिओंका उद्धार हो जाता है। (५—१०)

हे नरनाथ ! वहीं महानदी और गयशिर नामक तीर्थ है, वहीं पर ब्राह्मण लोग अक्षयवट बतलाते हैं, जहां पितरोंको पिण्ड देनेसे अक्षय होता है, हे नरनाथ ! वहीं पर पवित्र जलवाली

विश्वामित्रोऽभ्यगाद्यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥ १३ ॥
गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
अयजत्तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १४ ॥
पञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम्।
विश्वामित्रोऽयजद्यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ॥ १५ ॥
यत्राऽनुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ॥ १६ ॥
कान्यकुब्जेऽपिबत्सोममिन्द्रेण सह कौशिकः।
ततः क्षत्रादपाक्रामद्ब्राह्मणोऽस्मीति चाऽब्रवीत्॥ १७ ॥
पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम्।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १८ ॥
यत्राऽयजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम ॥ १९ ॥
अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राऽऽश्रमवरो नृप।
तत्तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥ २० ॥
हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान्।
अगस्त्यपर्वताद्रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ॥ २१ ॥

फल्गु नामक महानदी है। हे भरतर्षभ! उसी दिशामें बहुत फल और मूलवाली कौशिकी नामक नदी है, तपोधन विश्वामित्र वहीं ब्राह्मण बने थे; उसी पूर्व दिशामें पुण्यदायक गङ्गा बहती है, जहां राजा भगीरथने भारी दक्षिणावाली अनेक यज्ञ करी थीं। (११—१४)

हे कौरव्य! पञ्चाल देशमें उत्पलावन नामक तीर्थ है,जहां कुशिक पुत्र विश्वामित्र ने पुत्रके साथ यज्ञ किया था, विश्वामित्र की मनुष्योंसे अधिक वृद्धि देखकर जामदग्न्य परशुरामने उसके वंशकी स्तुति करी थी। कान्यकुब्ज देशमें विश्वामित्रने इन्द्रके साथ सोमपान किया था और क्षत्रियत्वसे मुक्त होकर ब्राह्मण बने थे। हे वीर! पवित्र ऋषि सेवित लोक विख्यात गङ्गा और यमुना का उत्तम सङ्गम है, जहां पहिले भगवान ब्रह्माने यज्ञ करी थी, इसीसे उसका नाम प्रयाग हुआ है। (१५–१९]

हे राजेन्द्र! हे नरनाथ! वहीं पर अगस्त्य मुनिका आश्रम है वहीं तपस्वियों से सेवित तपोवन है। आगे कालञ्जर गिरी पर पवित्र, पर्वतोंमें श्रेष्ठ,

महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ।
अजयत्तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः ॥ २२ ॥
यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद्युधिष्ठिर ।
यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते ।
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ॥ २३ ॥
पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः ।
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ॥ २४ ॥
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः ।
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ॥ २५ ॥
यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम् ।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ॥ २६ ॥
तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव ॥ २७ ॥
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वताश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ॥ २८ ॥ [३८४६]

इति श्रीम० संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ८७

कल्याणदायक अगस्त्य पर्वतसे रम्य हिरण्य बिन्दु नामक पर्वत है, हे कौरव्य! वहीं महात्मा भार्गवका आश्रम महेन्द्र पर्वत है । हे कुन्तीनन्दन! ब्रह्मा ने पहले वहीं यज्ञ करी थी; हे प्रजानाथ! युधिष्ठिर! पहले वहां पवित्र गङ्गा एक तालावमें भरी थीं उस पवित्र कुण्डका नाम ब्रह्मशाला है, वहां पर अनेक पापरहित महात्मा लोग रहते हैं, उसका दर्शन परम पवित्र है, उसके नामको महात्मा लोग मङ्गलदायक और पवित्र बतलाते हैं, वहीं मतंग ऋषिका केदार नामक महान् उत्तम आश्रम है । (२०–२४)

वहीं बहुत फल फूल और जलसे रम्य कुंडोदनामक पर्वत भी है, जहांपर राजा नल प्यासे होकर गये थे और उसके जलको पीकर आनन्दित हुए थे, वहीं तपस्वियोंसे सेवित देववन तीर्थ है, वहां पर्व्वतके शिखर पर बाहुदा नदी और गंगा बहती हैं, उस स्थानमें तीर्थ, नदी, पर्वत और पवित्र आश्रम हैं । हे महाराज ! यह मैंने पूर्व्व दिशाके तीर्थ आपसे कहे। अवशेष तीन दिशाओंके तीर्थोंको सुनिये, उनमें भी अनेक नदी पर्व्वत और पवित्र आश्रम हैं । (२५-२८)

वनपर्वमें सतासी अध्याय समाप्त ।

धौम्य उवाच— दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै ॥ १ ॥
यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ॥ २ ॥
वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ॥ ३ ॥
राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥ ४ ॥
अपि चाऽत्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः ।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥ ५ ॥
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम् ।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे ॥ ७ ॥
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम् ।
पयोष्णा हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ॥ ८ ॥
स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः ।

वनपर्वतमें अठासी अध्याय ।

श्रीधौम्य मुनि बोले, हे भारत! अब मैं दक्षिणाके तीर्थोंकी बुद्धिके अनुसार विस्तार सहित कथा कहता हूं;आप सुनिये, उस दाक्षिणा दिशामें बहुत आश्रम जल और तपस्वियोंके सहित कल्याण देनेवाली गोदावरी नदी बहती है,उसी दक्षिण दिशामें पापके भयको नाश करनेवाली हरिण और पक्षियोंसे शोभित मुनियोंके आश्रमोंसे भरी हुई वेणा और भीमरथी नामक दो नदी बहती हैं।(१-३)

हे राजन्! उसही दिशामें राजर्षि नृगकी नदी है इसका नाम पयोष्णी है, वह अनेक द्विजोंसे सेवित,रमणीय तीर्थोंसे युक्त और बहुत जलसे भरी है, उसी स्थानमें महायोगी और यशस्वी मार्कण्डेय मुनिने यजमान राजा नृगकी वंशावली वर्णन करी है। (४—५)

हमने सुना है, कि पयोष्णी तीरके उत्तमवराह तीर्थपर नृगके यज्ञमें प्रत्यक्षही सोम पीकर इन्द्र और दक्षिणा पाकर ब्राह्मण लोग आनंदित हुए थे। वहीं उठे हुए या पृथ्वीमें पडे हुए अथवा वायुसे चलित जलके स्पर्शसे पुरुषका जन्म भरका पाप नाश होता है, जहां स्वर्गसे भी उंचा निर्मल शिवका शृंग

स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत् ॥ ९ ॥
एकतः सरितः सर्वा गङ्गायाः सलिलोच्चयाः ।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम ॥ १० ॥
माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम् ।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ॥ ११ ॥
प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा ।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ॥ १२ ॥
वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः ।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत ॥ १३ ॥
अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम् ।
अगस्त्यतीर्थं पाण्डयेषु वारुणं च युधिष्ठिर ॥ १४ ॥
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्डयेष्वेव नरर्षभ ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ॥ १५ ॥
यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १६ ॥
शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः ।

है, उसको देखनेसे वा स्वतःकरनसे पुरुष शिवपुरको जाता है । (६-९)

मेरा यह सिद्धान्त है, कि जलसे भरी हुई गंगादिक नदीं और सबतीर्थ एक ओर और पयोष्णी एक ओर होय तो पयोष्णी ही अच्छी हैं; वरुणस्रोत नामक पर्वतमें बहुत फूल और फलोंसे भरा हुआ पवित्र माठरका वन और यूप हैं, हमने सुना है, कि प्रवेणीसे उत्तरकी ओर चलनेसे कण्व मुनिका पवित्र आश्रम मिलता है । और उधर मुनियोंके अनेक वन हैं, हे तात ! उधरही महात्मा जमदग्निकी वेदी शूर्पारक नामक तीर्थ है, वहीं परम रमणीय पाषाणतीर्था और पुनश्चन्द्रा नामक दो नदी हैं। (१०--१३)

हे कौन्तेय ! वहीं अशोक तीर्थ है, उस तीर्थमें मुनियोंके बहुत आश्रम हैं, हे युधिष्ठिर ! आगे पाण्डचदेशमें अगस्त्य और वारुण तीर्थ हैं। हे भरतर्षभ ! उसही पाण्डचदेशमें बहुत पवित्र स्त्री ऐसी है जो विवाहही नहीं करती हैं, वहीं ताम्रपर्णी नामक नदी है । हम उसका वर्णन करते हैं आप सुनिये । हे भारत ! जिस स्थानमें देवता लोगोंने बहुत कल्याणकी इच्छासे आश्रम बना कर तप किया था उसही देशमें तीन लोक

ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ॥ १७ ॥
तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च संपन्नः फलमूलवान् ।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः ॥ १८ ॥
वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान्मणिमयः शिवः ।
अगस्त्यस्याऽऽश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ॥ १९ ॥
सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ।
आश्रमान्सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ॥ २० ॥
चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत ।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ २१ ॥
तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम् ।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ॥ २२ ॥
तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनाऽनुकीर्तितः ।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥ २४ ॥
पुण्या द्वारवती तत्र यत्राऽसौ मधुसूदनः ।

विख्यात गोकर्ण महादेव हैं । हे तात! उधरही कल्याण-दायक, सुन्दर, बहुत ठण्डे जलसे भरा हुआ तडाग है; उसको पापी पुरुष नहीं छूसकते हैं। (१४-१७)

वहीं, घास मूल और फलोंसे भरा हुआ देवतोंके पर्वतके समान अगस्त्य मुनिके शिष्यका आश्रम है । उधरही मणिमय शोभावान कल्याण दायक वैदूर्य पर्वत है, उसी स्थान पर बहुत फल मूल और जलसे शोभित अगस्त्य मुनिका आश्रम है । हे नराधिप! अब हम सुराष्ट्र देशके पवित्र स्थान, आश्रम, नदी और तडागोंका वर्णन करते हैं। हे युधिष्ठिर वहां चमसोद्भेद नामक तीर्थ है,ब्राह्मण लोग उसका बहुत महात्म्य कहते हैं, आगे समुद्रमें देवतोंका प्रभास नामक तीर्थ है, वहां पिण्डारक नामक तीर्थ है, उसमें अनेक ऋषि लोग रहते हैं। उधर ही शीघ्र सिद्धि देनेवाला उज्जयन्त नामक एक महान् पर्वत है। (१८—२२)

हे युधिष्ठिर! उसी स्थानके लिये ब्रह्मर्षियोंमें श्रेष्ठ नारदने यह पुराना श्लोक कहा है; उसको आप सुनिये, "जो पुरुष पक्षी और मृगोंसे भरे हुए सुराष्ट्रदेशमें पवित्र उज्जयन्त पर्वत पर तप करता है, उसको स्वर्ग मिलता है। उसी

साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २५ ॥
ये च वेदविदो विप्रा ये चाऽध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २६ ॥
पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ॥ २७ ॥
अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥ २८ ॥ [३८७४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

धौम्य उवाच— आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
प्रियंग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥ २ ॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च स पितामहाः ॥ ३ ॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः ।

देशमें पवित्र द्वारिकापुरी है, वहां साक्षात् सनातन धर्मरूपी कृष्ण निवास करते हैं। जो ब्राह्मण वेद और ज्ञानको जानते हैं, वे कृष्णको महात्मा और सनातन धर्म बतलाते हैं, कृष्ण पवित्रोंसे परम पवित्र, पुण्योंमें परम पुण्य, मङ्गलोंके मङ्गल, कमलनेत्र, देवतोंके देवता और सनातन हैं, कृष्ण अव्यय (अविनाशी) व्ययात्मा, क्षेत्रज्ञ (जीव)और परमेश्वर हैं, वे ही मधुराक्षसके नाश करनेवाले आचिन्त्यात्मा भगवान कृष्ण द्वारकामें वास करते हैं।(२३-२८)[३८७४

वनपर्वमें अठासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें नवासी अध्याय ।

श्रीधौम्य मुनि बोले, हे राजन्! अब हम पश्चिम दिशाके आनर्त देशमें जो पवित्र और पुण्यसे भरे हुए स्थान हैं, उनको आपसे कहते हैं । हे भारत !उस देशमें प्रियंगु आम्र और नीपके वनोंसे वेष्टित पश्चिमको वहनेवाली नर्मदा नामक नदी है, हे भारत!हे कुरुश्रेष्ठ ! तीनलोकके सब तीर्थ, पवित्र आश्रम, नदी, वन, श्रेष्ठ पर्वत, ब्रह्माके सहित सब देवता, सिद्ध, ऋषि और चारण यह पुण्यसे भरे

स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ॥ ४ ॥
निकेतः श्रूयते पुण्यो तत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥ ५ ॥
वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ६ ॥
तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ७ ॥
बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥ ८ ॥
ह्रादिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन्पुण्या परपुरञ्जय ॥ ९ ॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान्सनातनान् ॥ १० ॥
तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥ ११ ॥
आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याऽऽश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥ १२ ॥

हुए नर्मदाके जलमें स्नान करनेको आते हैं, वहीं विश्रवा मुनिका पवित्र आश्रम है। वहीं पर पुरुषवाहन धनपति कुबेरका जन्म हुआ था। (१ — ५)

उधरही पवित्र कल्याण-दायक, पर्वतोंमें श्रेष्ठ ! वैदूर्य शिखर नामक पर्वत है, जहां हरे पत्तों वाले सदा फूले अनेक वृक्ष हैं, हे महाराज ! हे पृथ्वीनाथ ! उसही पर्वतकी चोटी पर देवता और गन्धर्वोंसे सेवित पवित्र फुल्लपद्म नामक तलाव है । हे राजन् ! उस देव और ऋषियोंसे सेवित पुण्यमय स्वर्गके समान पर्वतमें अनेक आश्चर्य दीखते हैं। उस पर्वतमें राज ऋषियोंके अनेक कुण्ड हैं, हे राजन् ! हे शत्रुनाशन ! वहीं विश्वामित्रकी पवित्र नदी है, उसी नदीके तट पर नहुषके पुत्र राजा ययाति स्वर्गसे गिरे थे; पुनः धर्मार्जित सनातन लोकोंको गये थे । (६ — १०)

वहीं पवित्र तलाव और मैनाक पर्वत है,उधरही बहुत फल और मूलोंसे भरा हुआ असित पर्वत है । हे युधिष्ठिर ! वहीं कक्षसेन मुनिका पवित्र आश्रम है । हे पाण्डव ! उधरही विख्यात

तत्राऽल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ १३ ॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगाद्विजनिषेवितः ।
ततः पुण्यतमा राजन्सततं तापसैर्युता ॥ १४ ॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १५ ॥
पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ १६ ॥
अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १७ ॥
मनसाऽप्याभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १८ ॥ [३८९२]

इति श्रीमहाभा० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायामूननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

धौम्य उवाच— उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो ।

च्यवन मुनिका आश्रम है, वहां पुरुष लोग थोडीही तपस्यासे सिद्ध हो जाते हैं। हे महाराज ! उधरही आत्मदर्शी मुनियोंका जम्बूमार्ग नामक आश्रम है। हे शान्तोंमें श्रेष्ठ ! उधरही बहुत पक्षी और हरिण निवास करते हैं। (११-१४)

हे महाराज ! उधरही सदा मुनियोंसे सेवित केतुमाला और मेध्या नामक नदी हैं। हे पृथ्वीनाथ ! उधरही गङ्गाद्वार है, उसही ओर पवित्र और ब्राह्मणोंसे भरा हुआ प्रसिद्ध सैन्धववन है, उधरही ब्रह्माका पुष्कर नामक तडाग है, वहीं वैखानस, सिद्ध और ऋषियोंका प्रिय आश्रम है; हे कुरुश्रेष्ठ ! हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! वहां निवास करनेके निमित्त ब्रह्माने उसकी स्तुति की है, कि जो मनस्वी पुरुष पुष्करको जानेकी मनसे भी इच्छा करता है, उसके सब पाप नाश होजाते हैं और स्वर्गका आनन्द मिलता है। (१४-१८) [३८९२]

वनपर्वमें नवासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें नव्वे अध्याय ।

श्रीधौम्य मुनि बोले, हे राजशार्दूल! उत्तर दिशामें जो पवित्र स्थान हैं, उनका वर्णन हम आपसे करते हैं, हे वीर ! पृथ्वीनाथ! अब जो हम कथा

कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥ २ ॥
सरस्वती महापुण्या ह्रादिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ ३ ॥
यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥ ४ ॥
पुण्यं चाऽऽख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद्यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ५ ॥
एतस्मिन्नेव चाऽर्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन्गीयमाना द्विजातिभिः॥ ६ ॥
अग्नयः सहदेवेन ये चिता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ७ ॥
तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाऽष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ८ ॥
कामकृद्यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥ ९ ॥
सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।

आपसे कहते हैं उसको सावधान होकर सुनिये, उस कथाके श्रवणसे श्रोताके चित्तमें अच्छी श्रद्धा उत्पन्न होती है। हे पाण्डव। उत्तर दिशामें महा पवित्र ह्रदोंसे युक्त तथा बहुत तीर्थ वाली सरस्वती नदी है, उसी ओर महावेगवती समुद्रगामिनी यमुना नदी है, जहां अत्यन्त पवित्र सुन्दर प्लक्षावतरण तीर्थ है, जहां सारस्वत यज्ञ करके ब्राह्मण अवभृथ स्नान के लिये गमन करते हैं। (१—४)

हे पाप रहित जहां पवित्र कल्याणोंका देनेवाला अग्निशिर नामक तीर्थ है, हे भारत ! जहां सहदेवने शम्या (दण्ड-विशेष) लगाकर यज्ञ किया था। हे युधिष्ठिर ! इसही स्थानमें इन्द्रने यह कथा कही थी, जिसको लोकमें अभीतक ब्राह्मणलोग गाते हैं। हे पुरुषशार्दूल ! यमुनाके तट पर सहदेवने अग्नि स्थापना करी थीं, वहां उन्होंने सैकडों सहस्रों दक्षिणा सहित यज्ञ करे थे, हे राजन् ! उसी स्थानमें महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरतने पैंतीस अश्वमेध करे थे। (५-८)

हे तात! वहांसे आगे प्रसिद्ध ब्राह्मणोंका कार्य्य सिद्ध करनेवाला अत्यंत पवित्र

वालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ १० ॥
दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महामनाः ।
कौन्तेयाऽनन्तयशसः सुव्रतस्याऽमितौजसः ॥ १२ ॥
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
एतावर्णावर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥ १३ ॥
वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ १४ ॥
समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥ १५ ॥
ऋषिर्महान्महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥ १६ ॥
यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात्तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७ ॥
अपि चाऽत्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।

शरभङ्ग मुनिका विख्यात आश्रम है, हे कुन्तीनन्दन ! सरस्वती नदीकी पण्डित लोग सदाही सेवा करते हैं । हे महाराज ! जहां पहले वालखिल्य मुनियोंने यज्ञ करी थीं । हे युधिष्ठिर! उसी देशमें महापुण्यवती दृषद्वती नदी है; हे पुरुषश्रेष्ठ ! उसके तीरपर न्यग्रोध, पुण्यात्मा पुरुषश्रेष्ठ पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष, दाल्भ्य महाशय धरणीस्थ, ये मुनि हैं, और वहीं अनन्त कीर्तिमान्, सुव्रत, अपरिमित तेजस्वी मुनिका आश्रम है, यह आश्रम परम पवित्र और तीनों लोकमें विख्यात है । (९— १३)

हे महाराज ! उसी देशमें नर और नारायण ऋषि निवास करते हैं । हे भरतसत्तम ! यह दोनों वेदके पण्डित और वेदविद्याके जाननेवाले हैं; यह दोनों सदाही पवित्र बडी यज्ञोंको किया करते हैं, आगे विशाखयूप नामक तीर्थ है, जहां पहले इन्द्र वरुण आदि अनेक देवतोंने मिल कर तपस्या करी थी, इसीसे यह आश्रम बहुत पवित्र है, उसी देशमें महाभाग महायशस्वी, महामुनि जमदग्निने रमणीय, पवित्र पलाशक वनमें यज्ञ किये थे, यहां सब नदियोंमें श्रेष्ठ नदियां अपना अपना जल लेकर

इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ॥ १८ ॥
यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान्मधुना समतर्पयन् ॥ १९ ॥
गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥ २० ॥
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत्ख्यायते राजन्ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ २१ ॥
सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ॥ २२ ॥
भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन्स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥ २३॥
यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥ २४ ॥
तस्याऽतियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २५ ॥
उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा ।

जमदग्नि ऋषिके पास आई थीं। १३-१७

हे महाराज ! इस स्थानमें स्वयं विश्वासुने महात्मा जमदग्निके यज्ञको देख कर यह श्लोक गाया था । " महात्मा जमदग्निके देवतोंके उद्देश्यसे किये हुए यज्ञमें नदीयां स्वयंही आयीं और उन्होंने अपने अन्नसे ब्राह्मणोंको तृप्त किया । उसी देशमें गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराओंसे सेवित किरात और किन्नरोंका देश उत्तम पर्व्वत है। हे युधिष्ठिर ! उसी देशमें वेगसे पहाड़को तोड कर गङ्गा निकली है, उस स्थानका नाम गङ्गाद्वार है । (१८-२१)

हे राजन् ! उसी देशमें ब्रह्मऋषियोंसे सेवित सनत्कुमारका स्थान पवित्र कनखल तीर्थ है। उधरही पुरु नामक पर्वत है वहीं राजा पुरूरवा गये थे, हे राजन् ! उधरही महर्षिसेवित भृगुतुङ्ग नामक पर्वत है, वहीं महात्मा भृगुने तप किया था। हे भरतकुलसिंह ! जो भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कालमें स्थिर रहनेवाले सनातन नारायण विष्णु पुरुषोत्तम हैं, उनही महायशस्वी विष्णुकी पवित्र विशाला नामक आश्रम उधरही बदरी समीप है। (२१—२५)

हे राजन् ! उसी देशमें तीनों लोक

सुवर्णसिकता राजन्विशालां बदरीमनु ॥ २६ ॥
ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ॥ २७ ॥
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत्सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ॥ २८ ॥
तत्पुण्यं परमं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ।
तत्परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम् ॥ २९ ॥
शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम् ।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः॥३० ॥
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।
आदिदेवो महायोगी यत्राऽऽस्ते मधुसूदनः ॥ ३१ ॥
पुण्यानामपि तत्पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा ॥ ३२ ॥
एतानि राजन्पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ।
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ॥ ३३ ॥
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।

विख्यात तथा पवित्र आश्रम है, जहां गङ्गाका उष्णजल वहता है, यह जल पहले ठण्डा था । हे राजन् ! बदरिकाश्रमके पास सुवर्णसिकता नामक तीर्थ है, जहां जाकर महाभाग महातेजस्वी ऋषि और देवता लोग परमेश्वर नारायणको प्रणाम करते हैं, जहां परमात्मा सनातन देव नारायण वास करते हैं, वहां सब जगतके पवित्र तीर्थ रहते हैं, वह स्थान पवित्र ब्रह्मतीर्थ और तपका वन है, वह स्थान सब पुरुषोंका परमेश्वर और परमपवित्र है, वहां ही पर साक्षात परमेश्वर निवास करते हैं,जिन को जानकर शास्त्रको देखनेवाले महात्मा लोग सोचसे छूटजाते हैं। वेही सब जगतके उत्पन्न करने वाले सबसे उत्तम और सनातन देव हैं । (२६—३०)

जहां आदि योगी नारायण विराजमान हैं वहां सब देवता, ऋषि, सिद्ध और तपोधन मुनि निवास करते हैं, हे महाराज ! यह स्थान पवित्रोंसे भी अधिक पवित्र है, इस विषयमें आपको कुछ भी शङ्का न होनी चाहिये, हे पृथ्वीनाथ ! इस पृथ्वीमें इतनेही पवित्र तीर्थ हैं । हे महाराज ! हमने जो यह पवित्रतीर्थ आपसे वर्णन किये इन सब में वसु, साध्य,सूर्य, वायु, अश्विनीकुमार और महात्मा देवतोंके समान ऋषि

ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ॥ ३४ ॥
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि ॥ ३५ ॥ [३९२७

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं संभाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राऽऽजगाम ह ॥ १ ॥
तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवाऽऽमराः ॥ २ ॥
समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छाऽऽगमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥ ३ ॥
स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥ ४ ॥
संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वाँल्लोकान्यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्राऽपश्यं सुरेश्वरम् ॥ ५ ॥
तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्याऽर्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ॥ ६ ॥

लोग निवास करते हैं। हे कुन्तीनन्दन! इन तीर्थोंमें आप ब्राह्मण और महाभाग भाइयोंके सहित आनन्दसे घूमिये ३१-३५

वनपर्वमें नव्वे अध्याय समाप्त। [३९२७]

वनपर्वमें एकानव्वे अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे कौरव-नन्दन! जहां धौम्य मुनि युधिष्ठिरसे ऐसा कह रहे थे, उस स्थानमें महातेजस्वी लोमश मुनि आये उनको देखतेही राजा युधिष्ठिर अपने पुरुष और ब्राह्मणोंके सहित इस प्रकार खडे हुए जैसे महाभाग इन्द्रको आते देख स्वर्गमें देवता लोग खडे हो जाते हैं। धर्मराज महाराज युधिष्ठिरने उनकी यथा योग्य पूजा करके उनके घूमने और वहां आनेका प्रयोजन पूछा। (१-३)

महामनस्वी लोमश मुनिने पाण्डुपुत्रका प्रश्न सुनके पाण्डवोंको प्रसन्न करते हुए मीठी वाणीसे यों कहा, हे कुन्ती-नन्दन! मैं अपनी इच्छासे सब लोकोंमें घूमता हूं, अभी इन्द्रके स्थानमें गया था, वहां इन्द्रको देखा, वहीं तुम्हारे भाई वीर अर्जुनको इन्द्रके आधे आसन पर बैठे हुए देखा, हे पुरुषशार्दूल अर्जुन

आसीत्पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान्प्रति ॥ ७ ॥
सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात्पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥ ८ ॥
आख्यास्ये ते प्रियं तात महत्पाण्डवनन्दन ।
ऋषिभिः सहितो राजन्कृष्णया चैव तच्छृणु ॥ ९ ॥
यत्त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो ॥ १० ॥
यत्तद्ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमत् ।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ॥ ११ ॥
तत्समन्त्रंससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ।
वज्रमस्त्राणि चाऽन्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर ॥ १२ ॥
यमात्कुबेराद्वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान्पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥ १३ ॥
विश्वावसोस्तु तनयाद्गीतं नृत्यं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद्यथाविधि ॥ १४ ॥
एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।

को ऐसा देखकर मुझे महा आश्चर्य हुआ, तब इन्द्रने मुझसे कहा कि तुम पाण्डवोंके पास जाओ, सो अब मैं महात्मा इन्द्र और अर्जुनकी आज्ञासे भाइयोंके सहित आपके देखनेको आया हूं, हे पाण्डुनन्दन ! हे तात ! हे राजन् ! जो कुछ मुझे कहना है सो आप द्रौपदी और ऋषियोंके सहित सुनिये । (४-८)

हे नाथ ! हे भरतकुलसिंह ! आपने अर्जुनको जिस अस्त्रके निमित्त भेजा था, वह असाधारण अस्त्र उन्होंने शिवसे ले लिया, उन्होंने अपने तपसे शिव को वहीं बुलाया था, जो अस्त्र महा कठोर तपसे शिवको प्राप्त और अमृतसे उत्पन्न हुआ है वही ब्रह्मसिर अस्त्र अर्जुनको शिवसे मिला है, हे युधिष्ठिर ! अर्जुनने उस शस्त्रको मन्त्र, संहार और प्रायश्चित्तके सहित सीखा है ! हे कुरुनन्दन ! अर्जुनको इन्द्र, वरुण, यम, और कुबेरसे वज्र और दण्ड आदि क सब शस्त्र मिल गये हैं, महापराक्रमी अर्जुनने और भी दिव्य अस्त्र सीखलिये हैं और विश्वावसुपुत्रसे नाचने गाने और बजानेकी विद्याको अच्छी प्रकार सीख लिया

सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्याऽनुजस्तव ॥ १५ ॥
यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ॥ १६ ॥
भवान्मनुष्यलोकेऽपि गमिष्यति न संशयः ।
ब्रूयाद्युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ॥ १७ ॥
आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।
सुरकार्यं महत्कृत्वा यदशक्यं दिवौकसैः ॥ १८ ॥
तपसाऽपि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ १९ ॥
अहं च कर्णं जानामि यथावद्भरतर्षभ ।
सत्यसन्धं महोत्साहं महावीर्यं महाबलम् ॥ २० ॥
महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम् ।
महाधनुर्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम् ॥ २१ ॥
महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम् ।
तथाऽर्जुनमतिस्कन्धं सहजोल्बणपौरुषम् ।
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ॥ २२ ॥

है । (९—१४)

इस प्रकार तुम्हारे छोटे भाईसे छोटा भाई कुन्तीपुत्र अर्जुन अस्त्रविद्या और गन्धर्व विद्याको सीखकर सुखसे स्वर्गमें रहते हैं,और हे युधिष्ठिर ! मुझको देव-राज इन्द्रने जिस निमित्त आपके पास भेजा है, सो सुनिये, मुझसे उन्होंने यों कहा है, कि हे द्विजसत्तम! आप मनुष्य लोकमें जाकर मेरे वचनानुसार युधिष्ठिर से ऐसा कहियेगा कि, आपके भाई अर्जुन शीघ्रही शस्त्रोंको सीख और जो कार्य देवतोंसे नहीं हो सकता है, उस भारी देवकार्यको करके आपके पास आवेंगे, इतनेमें आपभी भाइयोंके सहित तप कीजिये, क्योंकि जगत्में तपके बरा-बर कोई वस्तु नहीं है, तपहीसे परम पद मिलता है। (१५—१९)

हे भरतकुलसिंह ! हम सत्यधारी महा वीर्यवाल, महायुद्धमें असमान पराक्रमी महायुद्धोंके जाननेवाले महा-धनुषधारी, वीर, महा अस्त्रवाले, सुन्दर स्वामीकार्तिक समान, सूर्य्यके पुत्र कर्ण-को अच्छी प्रकार जानते हैं, तैसेही उंचे कन्धोंवाले जन्महीसे महापराक्रमी अर्जुनको भी हम भली भांति जानते हैं। हे वीर ! यह निश्चय है, कि कर्ण

यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिन्दम ।
तच्चाऽप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्युपागते ॥ २३ ॥
यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ।
समहर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम् ॥ २४ ॥
यच्च किंचित्तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।
ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात्ते न तच्छ्रद्धेयमन्यथा॥ २५ ॥[३९५२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

लोमश उवाच— धनञ्जयेन चाऽप्युक्तं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ॥ १ ॥
त्वं हि धर्मान्परान्वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ॥ २ ॥
स भवान्परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ॥ ३ ॥
यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात्स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

अर्जुनसे सोलह भागके समानभी योद्धा नहीं है, जब अर्जुन आवेंगे तब वह भय जो कर्णकी ओरसे आपके हृदयमें है, सबही निकल जायगा । हे शत्रुनाशन! आपके मनमें जो तीर्थयात्रा की इच्छा है, सो निःसन्देह लोमश ऋषि आपसे सब वर्णन करेंगे । हे भारत ! तपकरनेसे और तीर्थोंमें जानेसे क्या क्या फल होते हैं, सो सब महर्षि लोमश आपसे कहेंगे, परन्तु आप उनके वचनोंको झूठा न समझियेगा (२०-२५)[३९५२]

वनपर्वमें एकानब्वे अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें बानब्वे अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! अब अर्जुनने जो कुछ आपसे कहा है सो आप सुनिये, उन्होंने कहा है, कि हे लोमश ! आप मेरे भाई युधिष्ठिरको धर्मकी शोभासे युक्त कीजिये, हे तपोधन ! आप परम धर्म तप और श्रीमान् राजा लोगोंके सनातन धर्मको अच्छी प्रकार जानते हैं, आप परम पवित्र धर्मको उत्तम रीतिसे जानते हैं,इसही लिये पुण्य तीर्थ में पाण्डव जांय यह कार्य आप कीजिये । जिस प्रकार महाराज तीर्थोंमें जायं और गौ दान करें, आप सब प्रकारसे वैसाही यत्न कीजियेगा, और

भवता चाऽनुगुप्तोऽसौ चरेत्तीर्थानि सर्वशः।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ५ ॥
दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाऽप्यंगिरा रविम्।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान्राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः।
त्वयाऽभिगुप्तं कौन्तेयं न विवर्त्तेयुरन्तिकम् ॥ ७ ॥
सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ८ ॥
द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ९ ॥
इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥ १० ॥
नाऽनृजुर्नाऽकृतात्मा च नाऽविद्यो न च पापकृत्।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ ११ ॥
त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसंङ्गरः।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥ १२ ॥

यहभी कहा है कि, घोर वन और दुःख से जाने योग्य स्थानोंमें आप राक्षसोंसे महाराजकी रक्षा कीजियेगा, आपसे रक्षित होकर महाराज सब तीर्थोंमें जा सकेंगे। (१-५)

जिस प्रकार दधीच मुनि इन्द्रके सङ्ग और सूर्यके सङ्ग अङ्गिरा मुनि रहते हैं, हे द्विजोत्तम! तैसेही आपभी पाण्डवोंके सङ्ग रहकर उनकी रक्षा कीजिये, क्योंकि पर्वतोंके समान शरीरवाले अनेक राक्षस लोग वनोंमें निवास करते हैं, राजाको आपसे रक्षित देखकर वे राक्षस कुंती पुत्रके समीप आसकेंगें। सो अब मैं इन्द्रके वचन और अर्जुन के नियोगसे आपके सङ्ग तीर्थोंको जाऊंगा, और वहां सब भयोंसे आपकी रक्षा करूंगा। हे कुरुनन्दन! मैंने सब तीर्थोंको दो दो बार देखा है, अब तीसरी बार आपके सङ्ग चलकर देखूंगा। (६-९)

हे महाराज! हे युधिष्ठिर! यह तीर्थयात्रा पुण्य करनेवाले मनुआदिक राजऋषियोंसे सेवित और भयको नाश करनेवाली है, हे कौरव्य! इन तीर्थों में टेढा, पापी, मूर्ख, पातकी और दुष्टबुद्धि पुरुष स्नान नहीं कर सकता है, आप सत्य बोलनेवाले, धर्मज्ञ और सदासे

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः ।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥ १३ ॥
न हर्षात्संप्रपश्यामि वाक्यस्याऽस्योत्तरं क्वचित् ।
स्मरेद्धि देवराजो यं को नामाऽभ्यधिकस्ततः ॥ १४ ॥
भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनञ्जयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाऽभ्यधिकस्ततः ॥१५ ॥
यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥ १६ ॥
तद्यदा मन्यसे ब्रह्मन्गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः परः ॥ १७ ॥
गमने कृतबुद्धिं तु पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥ १८ ॥
भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृडध्वश्रमायासशीतार्तिमसहिष्णवः ॥ १९ ॥
ते सर्वे विनिवर्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।

धर्मबुद्धि हैं, इन तीर्थोंको करनेसे आप फिरभी सबके सङ्गसे अलग हो जायंगे! हे पाण्डव! हे कुन्तीनन्दन! राजा ययाति और गय आदिक राजा लोग जैसे थे वैसेही तुमभी हो । (१०—१३)

युधिष्ठिर बोले, मैं इतना प्रसन्न हुआ हूं कि आपकी इस बातका कुछ उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि जिसका स्मरण इन्द्र करे, उससे अधिक प्रारब्धी कौन होगा? जिसको आपका दर्शन हो, जिसका भाई अर्जुन हो और जिनका इन्द्र स्मरण करे उससे अधिक प्रारब्धी और कौन होगा, जो भगवान् इन्द्रने मुझको तीर्थ जानेकी आज्ञा दी है, सो तो धौम्य मुनिके वचनसे मैंने पहलेही विचारा हैं। हे ब्राह्मण ! मैंने यह निश्चय कर लिया है कि जिस दिन आप चलनेकी इच्छा करेंगे मैंभी उसी दिन तीर्थ यात्राको चलूंगा । (१४—१७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, युधिष्ठिरके चलनेकी इच्छा देख लोमश मुनि कहने लगे, कि हे महाराज ! आप थोडे पुरुषों को अपने संग लीजिये, क्योंकि थोडे पुरुष रहनेसे सुखसे चलना होगा। युधिष्ठिर बोले, जो यती और ब्राह्मण भीक मांगकर खाते हैं, और जो भूख प्यास मार्गका परिश्रम और शीतके दुःखको नहीं सह सकते; जो ब्राह्मण मीठा

पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानां च विकल्पकाः ॥ २० ॥
तेऽपि सर्वे निवर्तन्तां ये च सूदानुयायिनः ।
मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः ॥२१॥
ये चाऽप्यनुगताः पौरा राजभक्तिपुरःसराः ।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै ॥ २२ ॥
स दास्यति यथा कालमुचिता यस्य या भृतिः ।
स चेद्यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ॥ २३ ॥
अस्मत्प्रियहितार्थाय पांचाल्यो वः प्रदास्यति॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच– ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥ २५ ॥
तान्सर्वान्धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाऽम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद्धनैश्च समतर्पयत् ॥ २६ ॥
ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ।।२७॥[३९७९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

भोजन करते हैं, जो पकेहुए अन्नमें, चटनीमें, पीनेकी वस्तुओंमें, और मांसमें अच्छे बुरेका विचार करते हैं, वे सब लौट जायं और वे लोग भी हमारे संगसे लौट जायं जो रसोई बनानेवालोंके सहायक हैं, जो लोग हमसे यथोचित वृत्ति पाते हैं, वे भी हमारे संगसे लौट जायं, जो राज्यके लोग राजभक्तिके कारण हमारे सङ्ग हैं, वे सब महाराज धृतराष्ट्रके पास चले जायं, वे उन सबका समयके अनुसार जो जिसका वेतन है देंगे, यदि वे महाराज उन पुरुषोंको उचित वेतन न देंगे तो हमारे प्यारे काम करनेवाले पांचाल राजा सब का पालन करेंगे। (१८—२४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उसी समय अनेक राज्यवासी लोग राजाकी आज्ञाके बोझसे पीडित होकर अनेक ब्राह्मण यती और प्रधान लोग हस्तिनापुरको चले गये, उन सबका राजा युधिष्ठिरके प्रेमसे अम्बिकापुत्र महाराज धृतराष्ट्रने अपने यहां रख लिया और धन देकर सन्तुष्ट किया, अनन्तर कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर थोडे ब्राह्मणोंके सहित प्रेम पूर्वक लोमश मुनिके सङ्ग तीन दिन काम्यक वन में और

वैशम्पायन उवाच– ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः ।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥
राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह ।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना ॥ २ ॥
अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव ।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव ॥ ३ ॥
श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर ॥ ४ ॥
भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा ।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छामो वयमप्युत ॥ ५ ॥
भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयामः सुखं फलम् ।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानां च विशांपते ॥ ६ ॥
तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः ।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप ॥ ७ ॥
भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत ।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह ॥ ८ ॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव ।

रहे । (२५–२७) [३९७९]

वनपर्वमें बानव्वे अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें तिरानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिरको चलते हुए देख वनवासी तपस्वी उनके पास आकर ऐसा बोले, हे राजन्! आप भाइयोंके सहित लोमश मुनिको संग लेकर पवित्र तीर्थोंको जानेवाले हैं, हे पाण्डव ! हे महाराज! आपको उचित है, कि हम लोगों को भी सङ्ग ले चलिये, क्यों कि हम आपके विना सिंहादि जन्तुओंसे भरे हुए दुःखसे जाने योग्य घोर अगम्य तीर्थों में नहीं जा सकेंगे । (१ — ४)

हे नरनाथ! हे कौरव! आपके भाई लोग बडे शूरवीर धनुर्धारिओंमें श्रेष्ठ हैं, आप लोगोंसे रक्षा पाकर हम लोग भी तीर्थ कर लेंगे, हम लोग आपहीकी कृपासे तीर्थ, वन और स्थानोंका पवित्र फल पावेंगे । हे नरनाथ! आपकी कृपा-से हम लोग रक्षित होकर तीर्थोंमें स्नान करके पापोंसे छूट पवित्र होंगे; हे नर-नाथ ! आपभी महाराज कृतवीर्यके पुत्र, राजर्षि अष्टक, लोमपाद और चक्रवर्ती

ध्रुवं प्राप्स्यति दुष्प्रापाँल्लोकाँस्तीर्थपरिप्लुतः ॥ ९ ॥
प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान् ।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन् ॥ १० ॥
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ॥ ११ ॥
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित्प्रीतिर्जनाधिप ।
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे॥ १२ ॥
तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा ।
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि ॥ १३ ॥
तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ।
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ॥ १४ ॥
विधिवत्तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ।
धूतपाप्मा सहाऽस्माभिर्लोमशेनाऽऽभिपालितः॥ १५॥
स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ।
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ १६ ॥
बाढमित्यब्रवीत्सर्वांस्तानृषीन्पाण्डवर्षभः ।
लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम् ॥ १७ ॥
ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ।

वीर राजा भरतकी गतिको प्राप्त हुजियेगा, यह लोक परम कठिनतासे प्राप्त होते हैं। (५ — ९)

हे पृथ्वीनाथ ! हम लोग आपके सङ्ग जाकर प्रभास तीर्थ, महेन्द्र आदिक पर्वत, गंगा आदिक नदी और प्लक्ष आदिक वृक्षोंके देखनेकी इच्छा करते हैं, यदि आपको ब्राह्मणोंमें कुछभी प्रेम हो तो महाराज! हमारे इन वचनोंको स्वीकार कीजिये इससे आपका कृत कल्याण होगा, हे महाबाहो वे सब तीर्थ तप नाश करनेवाले राक्षसोंसे भरे हैं। उन सबमें आप हमारी रक्षा करनेके योग्य हैं, जो तीर्थ धौम्यने और बुद्धिमान नारदने कहे थे, वेही महा तपस्वी देवर्षि लोमशनेभी कहे, हे नरनाथ ! आप विधिपूर्वक उन तीर्थोंका दर्शन कीजिये और हम लागोंको भी संग ले लीजिये, लोमश मुनि सबकी रक्षा करेंगे। (१० — १५)

राजा उन मुनियोंके वचन सुनकर आंसुओंसे नहा गये, अनन्तर वीर भीमसेन आदिक भाइयोंकी सम्मति लेकर पाण्डव सिंह युधिष्ठिरने कहा कि बहुत अच्छा, अनन्तर लोमश और पुरोहित धौम्यकी

द्रौपद्या चाऽनवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ॥ १८ ॥
अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ।
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः । ॥ १९ ॥
तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाऽब्रुवन् ॥ २० ॥

ऋषय ऊचुः— युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुताऽऽर्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ॥ २१ ॥
शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥ २२ ॥
मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ॥ २३ ॥
ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः ।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥ २४ ॥
ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥ २५ ॥

आज्ञा लेकर अपने भाई और सुन्दराङ्गी द्रौपदीके सहित महाराजने उस वनसे चलनेका विचार किया, उसी समय महाभाग व्यास, पर्वत और नारद काम्यक वनमें युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे आये, महाराज युधिष्ठिरने उन सबकी पूजा उचित विधिसे करी। (१६-२०)

अनन्तर महाभाग मुनीश्वर लोग युधिष्ठिरसे पूजित होकर ऐसा कहने लगे, ऋषि लोग बोले,हे युधिष्ठिर!हे भीम! हे नकुल! हे सहदेव!आपलोग अपने मनको शान्त कीजिये, मनको पवित्र करके शुद्ध होकर तीर्थोंको जाइये, मुनियोंने कहा है, कि शरीर शुद्ध होनेहीसे मानुष व्रत हो सकता है, ब्राह्मणोंने कहा है, कि मन पवित्र होनेसे जो बुद्धि शुद्ध होती है, उसीको मुनीश्वर लोग देवव्रत कहते हैं, हे नरनाथ! शुद्ध मनही पवित्रताका कारण है, आप लोग अपनी बुद्धिको पवित्र और सबको मित्र बनाकर तीर्थोंको जाइये, जब आपलोग शरीरके नियम और व्रतोंसे शुद्ध होंगे और पूर्वोक्त देवव्रत धारण करेंगे तब तीर्थोंका यथा योग्य फल पावेंगे। (२०—२४)

अनन्तर द्रौपदीके सहित पाण्डवोंने प्रतिज्ञा करी, कि हम ऐसाही करेंगे, तब देवऋषि और ब्राह्मणलोग स्वस्ति पाठ करने लगे, हे राजेन्द्र ! अनन्तर

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च ।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥ २६ ॥
धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः ।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥ २७ ॥
कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः ।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ॥ २८ ॥
इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः ।
महानसव्यापृतैश्च तथाऽन्यैः परिचारकैः ॥ २९ ॥
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः ।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥ ३० ॥ [४००९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच— न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम ।
तथाऽस्मि दुःखसंतप्तो यथा नाऽन्यो महीपतिः ॥ १ ॥
परांश्च निर्गुणान्मन्ये न च धर्मगतानपि ।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥ २ ॥

लोमश उवाच— नाऽत्र दुःखं त्वया राजन्कार्यं पार्थ कथंचन ।

वीर पाण्डवोंने लोमश, व्यास, नारद और पर्वतके चरणोंमें प्रणाम किया, अनन्तर मार्गशीर्ष मास समाप्त होतेही पुष्यमें धौम्य ऋषि और उन वनवासी ऋषियोंके सहित चले, जटा और मृगचर्म-धारी पाण्डवलोग न टूटने योग्य कवच पहन कर चले, उनके सङ्ग पन्दरह रथ थे, और इन्द्रसेन आदिक सारथी रसोइये, सेवक और प्रधान प्रधान कर्म्मचारीभी सङ्ग थे, हे जनमेजय ! वे सब लोग शस्त्र लिये, कवच बान्धे, बाण भरे तूणीर लगाय पूर्वकी ओर मुह करके चले। (२५-३०) [४००९]

वनपर्वमें तिरानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें चौरानव्वे अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे मुनिसत्तम ! यद्यपि हम ऐसे दुःखमें पडे हैं, कि दूसरे राजोंको कभी ऐसा दुःख न हुआ होगा तौभी हम अपनेको उत्तम गुणोंसे हीन नहीं समझते, हे लोमश ! हम जानते हैं, कि हमारे शत्रु लोग अधर्मी और गुणहीन हैं तौभी न जाने उनकी वृद्धि क्यों होती जाती है। १-२

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन् !

वर्द्धधर्मेण वर्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ॥ ३ ॥
वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥
मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ॥ ५ ॥
पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो ।
अरोचयन्सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥ ६ ॥
तीर्थानि देवा विविशुर्नाऽविशन्भारताऽसुराः ।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ॥ ७ ॥
दर्पान्मानः समभवन्मानात्क्रोधो व्यजायत ।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत ॥ ८ ॥
तानलज्जागतह्रीकान्हीनवृत्तान्वृथाव्रतान् ।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात्प्रजहुस्ततः ॥ ९ ॥
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान्नृप ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान्दर्पोपहतचेतसः ॥ १० ॥
दैतेयान्दानवांश्चैव कलिरप्याविशत्ततः ।

हे कुन्तीपुत्र ! अधर्मी पुरुष अधर्महीसे बढते हैं, इसमें आपको कदापि दुःख न करना चाहिये, क्योंकि यह नियम है, कि पुरुष पहले अधर्मसे बढता है, फिर उसे सुख मिलता है, पश्चात् वह शत्रुओंको जीतता है, तब उसके पीछे जडके सहित नष्ट हो जाता है, हे पृथ्वीनाथ ! मैंने अनेक राक्षस और दैत्योंको देखा है, कि पहले वह अधर्मसे बढे और नष्ट होगये । (३ — ५)

हे नाथ ! मैंने पहले देव युगमें देखा था, कि देवतोंने धर्मको धारण किया और राक्षसोंने धर्मको छोडा, हे भारत! देवता लोग तीर्थमें गये और राक्षस लोग न गये, उनको अधर्मका अभिमान पहले ही हो गया था, अहङ्कारसे अभिमान, अभिमानसे क्रोध, क्रोधसे निर्लज्जता, निर्लज्जतासे दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति और दुष्कर्म करनेसे उनका सर्वनाश होगया, उन अधर्म, निर्लज्ज और मिथ्या व्रतधारियोंको क्षमा लक्ष्मी और धर्मने शीघ्र ही छोड दिया, अनन्तर लक्ष्मी देवतोंके यहां और अलक्ष्मी राक्षसोंके यहां वास करने लगीं । (६ — १०)

अनन्तर अभिमानसे नष्ट चित्तवाले

तानलक्ष्मीसमाविष्टान्दानवान्कालिना हतान् ॥ ११ ॥
दर्पाभिभूतान्कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः ।
मानाभिभूतानचिराद्विनाशः समपद्यत ॥ १२ ॥
निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ १३ ॥
अभ्यगच्छन्धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ॥ १४ ॥
प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
तीर्थान्यगच्छन्विबुधास्तेनाऽऽपुर्भूतिमुत्तमाम् ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ॥ १६ ॥
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ।
यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः ।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादंभसश्च ते ॥ १८ ॥
तीर्थाभिगमनात्पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशांपते ॥ १९ ॥

लक्ष्मीहीन दैत्य और दानवोंके यहां कलियुगने वास किया, उन लक्ष्मी रहित, कलिसहित अभिमानसे नष्ट, कृपा और बुद्धिहीन राक्षसोंका शीघ्रही नाश होगया, राक्षस लोगोंका यश हीन होनेसे सर्वनाश होगया, तब देवता लोग समुद्र, नदी और तालाव आदि पवित्र स्थानोंमें तीर्थ करनेको गये क्योंकि देवता लोग धर्मवान थे, हे पाण्डव! देवता लोगोंने तप, यज्ञ, दान और आशिर्वादोंसे अपने सब पापोंको दूर किया और अनेक आनन्दोंको प्राप्त किया इसी प्रकारसे देवता लोग आनन्दके सहित विहार करने लगे, वे तीर्थों में घूमने लगे इसीसे उनको उत्तम लक्ष्मी मिली। (१०—१६)

हे राजेन्द्र! इसी प्रकारसे भाइयोंके सहित तीर्थोंमें स्नान करके उसही लक्ष्मीको प्राप्त कीजियेगा। हे राजन्! यह सनातन मार्ग है। जैसे नृग, शिबि औशीनर, भगीरथ, वसुमना, गय, पुरु, और पुरूरवा आदि राजोंने छल रहित होकर तपस्या करी थी और तीर्थ और महात्माओंके दर्शनसे पवित्र हुए थे, तैसेही आपभी पवित्र हूजियेगा, हे प्रजानाथ!

तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्ध्वा सुविपुलां श्रियम् ।
यथा चेक्ष्वाकुरभवत्सपुत्रजनबान्धवः ॥ २० ॥
मुचुकुन्दोऽथ मांधाता मरुत्तश्च महीपतिः ।
कीर्ति पुण्यामविन्दन्त यथा देवस्तपोबलात् ॥
देवर्षयश्च कात्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः ।
न चिराद्वै विनक्ष्यन्ति दैत्या इव न संशयः॥२२॥ [४०३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

वैशम्पायन उवाच– ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥ १ ॥
ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ॥ २ ॥
तत्र देवान्पितॄन्विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ॥ ३ ॥
कालकोट्यां विषप्रस्थे गिरावुष्य च कौरवाः ।

जिस प्रकारसे उनको लक्ष्मी यश और पुण्य मिले थे वैसेही आपको बहुत लक्ष्मी मिलेगी, जैसे इक्ष्वाकुने पुत्र और बान्धवोंके सहित आनन्द किया था, जैसे मुचुकुन्द, मान्धाता और राजा मरुत्तने पवित्र कीर्तिको लाभ किया था और जैसे तपस्याके बलसे देवता और देवऋषि लोग आनन्द करते हैं, तैसेही आप भी आनन्द कीजियेगा, जैसे राक्षस लोग नष्ट होगये, तैसेही धृतराष्ट्रके पुत्रभी अधर्म और मोहके वशमें होनेसे निःसन्देह शीघ्रही नष्ट होंगे।(१९–२२)

वनपर्वमें चौरानब्वे अध्याय समाप्त।[४०३१]

वनपर्वमें पचानब्वे अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, वीर पाण्डव लोग सब पुरुषोंके सहित इस प्रकार क्रमसे जहां तहां वसते हुए नैमिषारण्य तीर्थमें पहुंचे। हे भारत! हे राजन्! हे जनमेजय! पाण्डव लोगोंने उस तीर्थमें जाकर गोमतीमें स्नान किया और अनेक गौ तथा बहुत धन दान किया। कन्या तीर्थ, अश्वतीर्थ, गोतीर्थ, कालकोटि और विषप्रस्थ पर्वतमें जाकर पितर और देवतोंकी पूजा करी तथा ब्राह्मणोंको बहुत दान देकर तृप्त किया, हे पृथ्वीनाथ! वहांसे चलकर उन लोगोंने

बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ॥ ४ ॥
प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते।
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चाऽऽतस्थुरुत्तमम् ॥ ५ ॥
गङ्गायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः।
विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ॥ ६ ॥
तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः।
जग्मुः पाण्डुसुता राजन्ब्राह्मणैः सह भारत ॥ ७ ॥
तत्र ते न्यवसन्वीरास्तपश्चाऽऽतस्थुरुत्तमम्।
सन्तर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ॥ ८ ॥
ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाऽभिसत्कृतम्।
राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनाऽनुपमद्युतिम् ॥ ९ ॥
सरो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी।
वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ॥ १० ॥
दिव्यं पवित्रकूटे च पवित्रधरणीधरे।
ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत्तीर्थं ब्रह्मसरोऽतुलम् ॥ ११ ॥
अगस्त्यो भगवान्यत्र गतो वैवस्वतं प्रति।
उवास च स्वयं तत्र महाराजः सनातनः ॥ १२ ॥

बाहुदा नदीमें स्नान किया। (१—४)

हे पृथ्वीनाथ! वहांसे देवतोंके यज्ञ स्थान प्रयागमें पहुंचे, वहां जाकर स्नान करके व्रत और उत्तम तप किया, सत्य वादी पाण्डवोंने गङ्गा और यमुनाके सङ्गममें स्नान करके ब्राह्मणोंको बहुत धन दान किया। वहांसे महात्मा पाण्डव लोग मुनि सेवित प्रजापतिकी वेदी पर गये, हे राजन्! हे भारत! उस स्थानमें ब्राह्मणोंके सहित पाण्डवोंने जाकर निवास और उत्तम तप किया, हे राजन्! इस प्रकार ब्राह्मणोंको वन्य अन्नसे सन्तुष्ट करते हुए पाण्डव लोग गयामें पहुंचे, जहां धर्मज्ञ महात्मा राजा गयने पर्वतका संस्कार किया है। (५—९)

हे महातेजस्विन्! वहीं राजर्षि पुण्यात्मा राजा गयने अपने नामसे गयशिर नामक तीर्थ स्थापन किया है, वहीं वेत्र वृक्षोंसे शोभित उत्तम घाटवाली रमणीय फल्गु नामक महा नदी है, जहां पवित्र शिखावाला उत्तम दिव्य पर्वत है, वहीं पर मुनि सेवित उत्तम ब्रह्मसर नामक तीर्थ है, जहांसे भगवान अगस्त्य

सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशांपते ।
यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ॥ १३ ॥
तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ।
ऋषियज्ञेन महता यत्राऽक्षयवटो महान् ॥ १४ ॥
अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ।
ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ।
चातुर्मास्येनाऽयजन्त आर्षेण विधिना तदा ॥ १६ ॥
तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥ १७ ॥
तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद्राजन्नामूर्तरयसं गयम् ॥ १८ ॥
शमठ उवाच— अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत ॥ १९ ॥
यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।

मुनि सूर्यपुत्रयमके पास गये थे, हे पृथ्वीनाथ ! वहीं पर सनातन धर्मराज यमने वास किया । उसके पासही सब नदियोंका एक सोता है, जहां पर साक्षात पिनाकधारी महादेव सदा वास करते हैं, उस स्थान पर रहकर महात्मा युधिष्ठिरने चातुर्मास्य यज्ञ किये, जहां महा अक्षयवट है, जिसका फल अक्षय है । (१० — १४)

जहां यज्ञ करनेसे अक्षय पुण्य होता है,उसी स्थानमें युधिष्ठिरने वहां यज्ञ किया था और सब लोगोंने स्थिर मन होकर व्रतभी करे थे, उस समय उस देश के तपोधन सहस्रों ब्राह्मण युधिष्ठिरके पास आये थे, उस समय महाराज युधिष्ठिरने वेदोक्त विधिके अनुसार चातुर्मास्य यज्ञको समाप्त करके तेज और तपसे भरे हुए सब वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मणों से महात्माओं की सभा में बैठकर पवित्र वार्त्तालाप भी किया था । (१५–१७)

उस सभामें विद्या और व्रतसे पूर्ण ब्रह्मचारी शमठ मुनिने अमूर्त्तरयसके पुत्र राजा गयकी कथा इस प्रकार कही, शमठ बोले, हे भारत! राजा अमूर्त्तरयस के पुत्र राजर्षिश्रेष्ठ राजा गयने जो जो पुण्यकर्म किये थे, सो मैं आपसे कहता हूं आप सुनिये, हे राजन् ! राजा गयने

यत्राऽन्नपर्वता राजञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ २० ॥
घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः ॥ २१ ॥
अहन्यहनि चाऽप्येवं याचतां संप्रदीयते ।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन्भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ॥ २२ ॥
तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न च प्रज्ञायते किंचिद्ब्रह्मशब्देन भारत ॥ २३ ॥
पुण्येन चरता राजन्भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम् ॥ २४ ॥
यत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः ॥ २५ ॥
गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः ।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ॥ २६ ॥
न तत्पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चाऽपरे ।
गयो यदकरोद्यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ॥ २७ ॥
कथं तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ॥ २८ ॥

यहां पर बहुत अन्न और दक्षिणाके सहित यज्ञ की थी, जिसमें पहाडके समान सैकडों अन्नके ढेर लगे थे, जहां घीव और दहीकी सैकडों नहर बह रही थीं, जहां बहु मूल्यवाले पके हुए अन्नोंके प्रवाह बह रहे थे; हे राजन्! वह राजा रोज रोज ऐसाही दान प्रति दिन देता था। हे भारत! जब वह दक्षिणा देते थे तो वेदका शब्द आकाश तक पूरित हो जाता था, उस समय वेदके शब्दके सिवाय और कुछ नहीं सुनाई देता था। (१८-२३)

हे राजन्! उस पवित्र शब्दसे आकाश और दशोंदिशा पूरित होजाती थीं, यह अद्भुत कर्म वे नित्यही करते थे। हे भरतकुल सिंह! जिसके अन्न और पानसे तृप्त होकर सब देशोंमें पुरुष लोग उनहीकी वार्ता करते थे, कि गयके यज्ञमें कौनसे पुरुषकी खानेकी इच्छा रह गई? बचे हुए भोजनके इक्कीस पहाडके समान ढेर पढे हैं, वहां तेजस्वी राजर्षि गयने जैसी यज्ञ करी, वैसी न किसीने की और न करेगा। राजा गय की यज्ञमें देवता लोग ऐसे तृप्त हुए

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥२९॥
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः ।
एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः ॥
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ॥ ३० ॥ [४०६१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गययज्ञकथने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः संप्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ॥ १ ॥
तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः ।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥
आसीद्वा किंप्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः ।
किमर्थं चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥
लोमश उवाच— इल्वलो नाम दैतेय आसीत्कौरवनन्दन।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चाऽनुजः ॥ ४ ॥
स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः ।

कि दूसरी यज्ञमें भोजन करनेकी इच्छा उनको न रही, जैसे बारूके कनके, जैसे आकाशके तारे और जैसे बरसते हुए मेघकी धाराको कोई नहीं गिन सकता, तैसेही राजा गयके दक्षिणाओंको भी कोई नहीं गिन सकता है। हे कुरुनन्दन! इसी प्रकारसे राजा गयने इस तालावके तटपर अनेक यज्ञ करी हैं। (२४-३०)

वनपर्वमें पचानव्वे अध्याय समाप्त। [४०६१]

वनपर्वमें छानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर बहुत दक्षिणा देनेवाले कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर वहांसे चले और अगस्त्याश्रममें पहुंचकर दुर्जया स्थान (जहां अगस्त्यने वातापीको मारा था) में ठहरे, वहीं कहनेवालोंमें श्रेष्ठ धर्मराजने लोमशसे प्रश्न किया, कि अगस्त्य मुनिने इस स्थान पर वातापीको क्यों मारा था? कहिये उस मनुष्योंके नाश करनेवाले राक्षसमें क्या शक्ति थी? और महात्मा अगस्त्य मुनिको किस निमित्त क्रोध हुआ था। (१—३)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे कौरवनन्दन! इस मणिमति पुरीमें पहले समयमें इल्वल नामक राक्षस हुआ था, वातापी उसका छोटा भाई था, उसने एक तपस्वी

पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥ ५ ॥
तस्मै स ब्राह्मणो नाऽदात्पुत्रं वासवसंमितम् ।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥ ६ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महाऽसुरः ।
मन्युमान्भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत्ततः ॥ ७ ॥
मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत्क्षणात् ।
संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ॥ ८ ॥
स चाऽऽह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम् ।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन्स्म प्रत्यदृश्यत ॥ ९ ॥
ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम् ।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ॥ १० ॥
तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम् ।
श्रुत्वाऽतिमायो बलवान्क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ॥ ११ ॥
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः ।
वातापिः प्रहसन्राजन्निश्चक्राम विशांपते ॥ १२ ॥
एवं स ब्राह्मणान्राजन्भोजयित्वा पुनः पुनः ।

ब्राह्मणसे कहा, कि हे भगवन्! आप मुझे आशिर्वाद दीजिये, कि जिससे मेरे इन्द्रके समान बेटा हो, परन्तु उस ब्राह्मणने उसको इन्द्रके तुल्य बेटा न दिया, इससे राक्षसने ब्राह्मणके ऊपर महा क्रोध किया। हे राजन्द्र! उसी दिनसे ब्राह्मण घातकी इल्वल राक्षसने यह उपाय किया, कि अपने भाईको मायासे बकरा बनाया, वह वातापी नामक राक्षस उसी समय बकरा बन गया तब इल्वलने उसको काटकर भोजनमें बनाकर ब्राह्मणों को खिला दिया, उसके खानेसे सब ब्राह्मण मर गये, उसको यह आशीर्वाद था, कि जिस मरे हुए पुरुषका नाम लेकर वह पुकारे सो फिर शरीर धारण करके जीता हुआ बोलने लगता था। (४—९)

अनन्तर एक दिन उसने अपने भाईको बकरा बनाकर उसे भोजनमें सिद्धकर उसी ब्राह्मणको खिला दिया, भोजनके पश्चात् इल्वलने अपने भाई वातापीका नाम लेकर ऊंचे स्वरसे पुकारा तब वह ब्राह्मणकण्टक, बलवान, मायावी वातापी अपने भाईका ऊंचा स्वर सुनकर उस ब्राह्मणका पेट फाडकर उसी समय बाहर निकल आया, हे राजन्! हे प्रजानाथ! वह महा असुर वातापी

हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः ॥ १३ ॥
अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन्काल एव तु ।
पितॄन्ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥ १४ ॥
सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान्भवन्त इव कंपिताः ।
संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ॥ १५ ॥
ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः ।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः ॥ १६ ॥
यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्याऽपत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राऽऽप्नुया गतिम् १७॥
स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥ १८ ॥
ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन्भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्याऽर्थे नाऽपश्यत्सदृशीं स्त्रियम् ॥ १९ ॥
स तस्य तस्य सत्वस्य तत्तदंगमनुत्तमम् ।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥ २० ॥
स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः ।

ब्राह्मणके पेटसे बाहर निकलकर हंसने लगा, हे राजन् ! इस प्रकार वह दुष्ट इल्वल प्रति दिन ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उनका नाश करने लगा। (१०—१३)

एक दिन भगवान् अगस्त्य मुनिने देखा कि सब पितर लोग नीचा मुख किये गढोंमें पडे हैं, तब उन्होंने पूछा कि आप लोगोंकी यह क्या दशा है ? वेदपाठी पितरोंने कांपते हुए कहा, कि हमारी सन्तान नष्ट हो गई इसी लिये हम इस आपत्तिमें पडे हैं। हे अगस्त्य! हम तुम्हारे पितर हैं तुम्हारे कोई पुत्र नहीं हैं इसीसे हम इस गढेमें टंगे हैं यदि तुम पुत्र नहीं उत्पन्न करोगे तो हम नर्कसे न छूटेंगे इस लिये तुम पुत्र उत्पन्न करो। (१४—१७)

सत्यवादी तेजस्वी अगस्त्य मुनिने कहा, कि हे पितर लोगो ! हम आप लोगोंकी आज्ञा पालेंगे, आप लोग अपने मानसिक दुःखको दूर कीजिये, अनन्तर भगवान् अगस्त्यने विचारा कि मैं कौनसी स्त्रीसे विवाह करूं ? उन्होंने पुत्र उत्पन्न करनेके निमित्त कोई स्त्री अपने समान न पाई, उन्होंने जिस जिस प्राणीका जो जो अंग उत्तम हैं उन

निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः॥ २१ ॥
सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत्सौदामिनी यथा।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना ॥ २२ ॥
जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ॥ २३ ॥
अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ॥ २४ ॥
ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम्।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा॥ २५ ॥
तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः।
दास्यः शतं च कल्याणीमुपातस्थुर्वशानुगाः ॥ २६ ॥
सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा॥ २७॥
यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम्।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद्भयात्तस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाऽप्सरसोऽप्यति।

भागोंको लेकर,उन्हीं उन्हीं भागोंसे एक स्त्री रची, उनको रचकर महा तपस्वी अगस्त्य मुनिने उस स्त्रीको तप करतेहुए विदर्भराजको अपने निमित्त दे दिया, हे राजन्! वह कन्या बिजुलीके समान सुन्दर शरीर वाली और उत्तम मुखारविन्दवाली राजाके घरमें उत्पन्न हुई, राजा विदर्भने उसको उत्पन्न हुई देख प्रसन्नतापूर्वक सब ब्राह्मणोंसे कह सुनाया। हे पृथ्वीनाथ! यह सुन सब ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए और उस कन्याका नाम लोपामुद्रा रक्खा। (१८–२४)

हे राजन्! यह सुन्दर रूपवाली कन्या अपने पिताके घरमें ऐसे बढने लगी, जैसे जलमें कमलिनी और अग्निमें ज्वाला। जब वह यौवन अवस्था प्राप्त हुई तो अलङ्कार सहित सौ कन्या और सौ उत्तम दासी उसके संग रहने लगीं। वह तेजस्विनी लोपामुद्रा उन सौ कन्या और सौ दासियोंके बीचमें ऐसी शोभित हुई जैसे आकाशमें रोहिणी, हे महाराज! उस शील और पवित्र आचारसे भरी हुई कन्याको यौवन अवस्था आने परभी महात्मा अगस्त्यके भयसे किसीने अपनी स्त्री न बनाया, उस सत्यवती लोपामुद्राने अपने रूपसे अप्सराओंको

तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ॥ २९ ॥
वैदर्भी तु तथा युक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ३० ॥ [४०९१]

इति श्रीमहा० वैयासिक्यां० पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अगस्त्योपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ९६

लोमश उवाच– यदा त्वमन्यताऽगस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाऽभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥ १ ॥
राजन्निवेशो बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥ २ ॥
एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाऽशक्तः प्रदातुं चैव नैच्छत ॥ ३ ॥
ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥ ४ ॥
तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राऽभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥ ६ ॥

और शीलसे अपने पिता और वंशके पुरुषोंको प्रसन्न किया, अपनी पुत्रीको यौवन अवस्थामें देख विदर्भ राजने विचार किया कि इसे किसको दूं। (२९–३०) [४०९१]

वनपर्वमें छानव्वे अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें सतानव्वे अध्याय ।

श्रीलोमशमुनि बोले, जब अगस्त्य मुनिने देखा कि लोपामुद्रा गृहस्थीके योग्य हुई तो विदर्भ राजके पास जाकर ऐसा बोले । हे राजन् ! पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छासे मैं विवाह करना चाहता हूं, इसी निमित्त आपके यहां आया हूं, आप लोपामुद्राको मुझे दे दीजिये, मुनिके ऐसे वचन सुनकर राजा चेतना रहित होगये और कुछ उत्तर न दे सके, राजाने मुनिको लोपामुद्रा देना स्वीकार न किया, अनन्तर राजाने अपनी स्त्रीसे सब समाचार कह सुनाया और यहभी कहा कि यदि मुनीश्वर क्रोध करेंगे तो सबको भस्म कर देंगे । (१–४)

माता पिताको इस प्रकार दुःखी देख लोपामुद्रा बोली, कि हे पितः ! आप मेरे निमित्त कुछ दुःख मत कीजिये मुझे अगस्त्यको देकर अपना उद्धार कीजिये । हे प्रजानाथ ! पुत्रीके वचन

दुहितुर्वचनाद्राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद्विधिपूर्वं विशाम्पते ॥ ७ ॥
प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत ।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥
ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरूर्वसनान्यायतेक्षणा ॥ ९ ॥
ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवाऽऽयतलोचना ॥ १० ॥
गङ्गाद्वारमथाऽऽगम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्याऽनुकूलया ॥ ११ ॥
सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत्तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामचरत्प्रभुः ॥ १२ ॥
ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशांपते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥ १३ ॥
स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाऽऽजुहाव ताम् ॥१४॥

सुन विदर्भराजने विधिपूर्वक लोपामुद्रा का विवाह अगस्त्यके सङ्ग कर दिया । अगस्त्य मुनिने लोपामुद्रा को प्राप्त करके उससे ऐसे वचन कहे, कि तुम बहुत मूल्यवाले वस्त्र और भूषणोंको उतार दो । उसने अपने पतिके वचन सुनकर सुन्दर और बहुत मूल्यवाले वस्त्र एवं भूषण उतार दिये (५—९)

अनन्तर उस कमलनैनीको लेके लंबे केश शोभायमान जंघावाली लोपामुद्राने वल्कलेके बने हुए वस्त्र और हरिनकी खाल को ओढा, वह विशालनैनी ठीक अपने पतिके समान रूपवाली बन गई । अनन्तर महात्मा अगस्त्य मुनि अपनी अनुकूल स्त्रीके सहित गङ्गाद्वारमें जाकर महाघोर तप करने लगे, लोपामुद्राभी अपने पतिसे परम मान पाकर उसकी सेवा करने लगी, तैसेही भगवान अगस्त्यभी अपनी स्त्रीसे परम प्रेम करने लगे । (१०—१२)

इस प्रकार बहुत समय बीतने पर भगवान् अगस्त्य मुनिने तपसे भरी हुई लोपामुद्राको एक समय ऋतुके पश्चात् स्नान किये हुए देखा, भगवान् अगस्त्य मुनि उसकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, शोभा और रूपसे प्रसन्न होकर

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भाविनी ।
सदा सप्रणया वाक्यं भगवन्तमथाऽब्रवीत् ॥ १५ ॥
असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत ।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥
यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम ।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहाऽर्हसि ॥ १७ ॥
इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम् ।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ॥ १८ ॥
अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी ।
नैवाऽपवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथंचन ॥ १९ ॥

अगस्त्य उवाच— न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम ।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ॥ २० ॥

लोपामुद्रोवाच— ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन ।
क्षणेन जीवलोके यद्वसु किंचन विद्यते ॥ २१ ॥

अगस्त्य उवाच— एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं तपोव्ययकरं तु तत् ।

उससे मैथुन करनेकी इच्छा करने लगे, तब लोपामुद्राने हाथ जोडकर लज्जा में भरकर नम्र भावसे भगवान अगस्त्यसे ऐसे वचन कहे कि निःसन्देह पति सन्तानहीके निमित्त स्त्रीका विवाह करता है, और जो आपकी इच्छा है, सो काम आप मेरे सङ्ग कर सकते हैं, परन्तु हे विप्र ! मैं अपने पिताके घरमें बहुत अच्छे स्थानमें रहती थी आप वैसेही स्थान और शय्या पर मेरे सङ्ग मैथुन करनेको योग्य हैं । मेरी इच्छा है, कि उत्तम भूषणोंसे भूषित, उत्तम मालाधारी आपके सङ्ग मैंभी दिव्य आभूषण पहनकर इच्छानुसार विहार करूं, अन्यथा यह गेरुके रङ्गे कपडे पहनकर मैं आपके संग विहार नहीं करूंगी, हे विप्र ऋषि ! यह वस्त्र और आभूषण समयके योग्य नहीं हैं । (१३—१९)

श्रीअगस्त्य मुनि बोले, कि हे लोपामुद्रे ! हे कल्याणि ! हे सुमध्यमे ! मेरे और तेरे घरमें इतना धन नहीं है, कि जितना तेरे बापके घरमें था । लोपामुद्रा बोली, हे तपोधन ! आप अपने तपके बलसे जगतका जितना धन है, उस सबको एक क्षण भरमें लेआ सकते हैं, । श्रीअगस्त्य मुनि बोले, यह तुम्हारा कहना सत्य है, परन्तु ऐसा करनेसे मेरा तप क्षीण हो जायगा, इस लिये ऐसा

यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ॥ २२ ॥

लोपामुद्रोवाच— अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन ।
न चाऽन्यथाऽहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन ॥ २३ ॥
न चाऽपि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते कथंचन ।
एवं तु मे यथाकामं संपादयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

अगस्त्य उवाच— यद्येष कामः सुभगे तव बुद्ध्या विनिश्चितः ।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिहस्थिता ॥ २५ ॥ [४११६]

इति श्रीमहा० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७॥

लोमश उवाच— ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाऽभ्यधिकं नृपैः ॥ १ ॥
स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम् ।
विषयांते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात्सुसत्कृतम् ॥ २ ॥
तस्मै चाऽर्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छाऽऽगमनेऽर्थिताम् ॥ ३ ॥

अगस्त्य उवाच— वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्याऽन्यान्त्संविभागं प्रयच्छ मे ॥ ४ ॥

उपाय बतलाओ जिसमें मेरा तप नष्ट न हो। (२०—२२)

लोपामुद्रा बोली, हे तपोधन ! मेरी ऋतुका बहुत थोडा समय बाकी रहा है, और दूसरे प्रकारसे मैं तुम्हारे पास आनेकी कदापि इच्छा नहीं करती हूं और तुम्हारे धर्मको भी नष्ट करना नहीं चाहती हूं, इस लिये मैंने जो कहा सो पूर्ण कीजिये। श्रीअगस्त्य मुनि बोले, हे सुभगे! हे कल्याणि! यदि तुमने अपने मन में ऐसा ही निश्चय किया है, तो मैं धन लेनेको जाता हूं, तुम यहां रहो। (२३-२५) [४११६]

वनपर्वमें सतानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें अठानव्वे अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे कौरव ! अनन्तर अगस्त्य मुनि राजा श्रुतर्वा को सब राजों से अधिक जान उन्हींके यहां धन मांगनेको गये, राजा श्रुतर्वाने जब सुना कि अगस्त्य मुनि आये हैं, तो अपने मन्त्रियोंके सहित सीमाके अन्तमें सत्कारपूर्वक उनको लेनेको गये, राजाने विधिपूर्वक उनकी पूजा करके हाथ जोड पूछा कि कहिये आपने कैसे कृपा करी ? श्री अगस्त्य मुनि बोले, हे राजन् ! हम आपके यहां धन मांगनेकी इच्छासे आये हैं, जिससे दूसरेको दुःख न हो इतना-

लोमश उवाच— तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् ।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ ५ ॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ६ ॥
स श्रुतर्वाणमादाय ब्रध्नश्वमगमत्ततः ।
स च तौ विषयस्याऽन्ते प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥ ७ ॥
तयोरर्घ्यं च पाद्यं च ब्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत् ।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥ ८ ॥

अगस्त्य उवाच— वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्ध्यावां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ नौ ॥ ९ ॥

लोमश उवाच— तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीत यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १० ॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ११ ॥
पौरुकुत्स्यं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।

धन आप अपनी शक्तिके अनुसार हमको दीजिये । (१—४)

श्रीलोमश मुनि बोले, तब उस राजा ने अपनी प्राप्ति और व्यय अगस्त्य मुनिसे कह सुनाई और कहा, कि हे विद्वन् ! यदि इसमेंसे आप उचित समझैं तो धन ले जाईये । अनन्तर अगस्त्य मुनिने उसका आय और व्यय समान जानकर किसीको दुःख देना उचित न जाना। अनन्तर राजा श्रुतर्वाको अपने संग ले राजा ब्रध्नश्वके यहां गये । राजा ब्रध्नश्वने इन दोनोंको विधिपूर्वक अपनी सीमापर आकर ग्रहण किया, पूजाकरनेके पश्चात् राजा ब्रध्नश्वने दोनोंसे कहा कि कहिये क्या आज्ञा है, और कैसे आप लोगोंने कृपा करी है ? (५—८)

श्रीअगस्त्य मुनि बोले, हे पृथ्वीनाथ ! हम दोनों आपके यहां धनकी इच्छासे आये हैं, सो शक्तिके अनुसार जिसमें दूसरेको हानि न हो उतना धन आप हम दोनोंको दीजिये । श्रीलोमश मुनि बोले, अनन्तर राजा ब्रध्नश्वने अपनी प्राप्ति और व्ययको पूर्ण दिखलाकर कहा, कि यदि आप लोगोंकी इच्छा हो तो इसीमेंसे ले जाइये । तब सम बुद्धिवाले अगस्त्य मुनिने विचारा कि किसी प्राणीको दुःख देना उचित नहीं।(९-११)

अनन्तर वे तीनों पुरुष धन लेनेकी

अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च ब्रध्नश्वश्च महीपतिः ॥ १२ ॥
त्रसदस्युस्तु तान्दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ॥ १३ ॥
अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः ।
समस्तांश्च ततोऽपृच्छत्प्रयोजनमुपक्रमे ॥ १४ ॥
अगस्त्य उवाच— वित्तकामानिह प्राप्तान्विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ नः॥१५ ॥
लोमश उवाच— तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपाद्ध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १६ ॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ १७ ॥
ततः सर्वे समेत्याऽथ ते नृपास्तं महामुनिम् ।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥ १८ ॥
अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान्भुवि ।
तमतिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं चाऽर्थामहे वसु ॥ १९ ॥
लोमश उवाच— तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम् ।

इच्छासे पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्यु राजाके यहां गये, राजा त्रसदस्युने अगस्त्य मुनि, राजा श्रुतर्वाऔर राजा ब्रध्नश्वको आया हुआ सुन सीमा पर उनके पास जाकर पूजा करी अनन्तर महा मनस्वी इक्ष्वाकु वंशीय राजा त्रसदस्युने तीनोंके आनेका कारण पूछा। श्रीअगस्त्य मुनि बोले, हे पृथ्वीनाथ ! हम सब लोग धनकी इच्छासे आपके यहां आये हैं, सो अपनी शक्ति के अनुसार जिसमें दूसरेको हानि न हो इतना धन आप हमको दीजिये। श्रीलोमश मुनि बोले, तब राजाने अपना लाभ और व्यय पूरा सुना दिया और कहा कि यदि आप लोग उचित समझें, तो इसी धनमेंसे ले जाइये, तब अगस्त्य मुनिने उसका लाभ और व्यय समान देखकर अपने मनमें विचारा कि इस धनमेंसे कुछ लेनेसे सब प्राणियोंको दुःख होगा। (१२—१७)

अनन्तर सब राजोंने परस्पर विचार कर महामुनि अगस्त्यसे कहा कि हे ब्राह्मण ! इस जगत्में इल्वल नामक राक्षसही धनवान है अतएव चालिये, हम सब लोग उसीके पास धन लेनेको चलें, श्रीलोमश मुनि बोले, अनन्तर उन सबने यही निश्चय किया, कि बिना

ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥ २० ॥ [४१३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्यानेऽष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

लोमश उवाच— इल्वलस्तान्विदित्वा तु महर्षिसहितान्नृपान् ।
उपस्थितान्सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ॥ १ ॥
तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत्तदा ।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना तदा ॥ २ ॥
ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः ।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥ ३ ॥
अथाऽब्रवीदगस्त्यस्तान्राजर्षीनृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥ ४ ॥
धुर्यासनमथाऽऽसाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्यवेषद्दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥ ५ ॥
अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरोऽह्वानमकरोत्तस्य चेल्वलः ॥ ६ ॥
ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।

इल्वलके पास चले धन नहीं मिल सकता, तब वे सब लोग इकट्ठे होकर इल्वल राक्षसके पास गये । १८-२० [४१३६]

वनपर्वमें अठानव्वे अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें निनानव्वे अध्याय।

श्रीलोमश ऋषि बोले, जब इल्वल राक्षसने सुना, कि महामुनि अगस्त्यके सहित तीन राजा लोग आते हैं, तो अपने मान्त्रियोंके सहित अपनी सीमापर आकर उनकी पूजा करी। अनन्तर राक्षसोंमें श्रेष्ठ इल्वलने उन चारोंका सत्कार किया, अनन्तर अपने भाईको काटकर खूब अच्छा भोजन बनाया, अनन्तर वे तीनों राजर्षिलोग उस राक्षसको बकरारूप बनकर कटते हुए देख बहुत घबराये और चेतना रहित होगये ? अनन्तर ऋषियोंमें श्रेष्ठ अगस्त्य मुनिने तीनों राजोंसे कहा कि आप लोग कुछ सन्देह न कीजिये मैं इस राक्षसको खाजाऊंगा । (१—४)

अनन्तर महामुनि अगस्त्य धुरी आसनसे बैठे; और इल्वल राक्षस भी हंसता हुआ उनको भोजन परोसने लगा, एकले अगस्त्य मुनिही वातापीके सब मांसको खा गये । खानेके पश्चात् इल्वलने वातापीका नाम लेकर

शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः　　॥ ७ ॥
वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह।
तं प्रहस्याऽब्रवीद्राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः　　॥ ८ ॥
कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥ ९ ॥
प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत्।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः　　॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वर　　॥ ११ ॥
एते च नाऽतिधनिनो धनार्थश्च महान्मम।
यथाशक्त्यविहिंस्याऽन्यान्संविभागं प्रयच्छ नः॥१२॥
ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत्।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥ १३ ॥
अगस्त्य उवाच— गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर　　॥ १४ ॥

पुकारा, अनन्तर महात्मा अगस्त्य मुनि को एक अधोवायु (पाद) हुआ। हे तात ! उसका ऐसा शब्द हुआ जैसे मेघ गर्जता हो। हे राजन् ! इल्वलने फिर पुकारा, कि हे वातापी ! तुम इस ब्राह्मण के पेटसे निकल आओ, तब अगस्त्य मुनिने हंस कर कहा, कि अब वह राक्षस कहां निकल सकता है, वह तो मेरे पेट में पच गया। (७ —९)

इल्वल अपने भाईको पचा हुआ देख बहुत घबराया और मान्त्रियोंके सहित हाथ जोड कर बोला, कहिये आप सब लोग यहां किस प्रयोजनके लिये आये हैं ? हम आपलोगोंका कौन-सा कार्य्य करें ? तब हंसते हुए अगस्त्य मुनि इल्वलसे बोले, हे असुर ! हम तुमको बहुत धनवान समझते हैं और हम धनकी इच्छा रखनेवाले हैं, यह तीनों राजा अधिक धनी नहीं हैं, और मुझको बहुत धनकी इच्छा है, सो तुम अपनी शक्तिके अनुसार जिसमें दूसरों-को दुःख न हो उतना धन हमको दो। तब इल्वल राक्षसने अगस्त्य मुनिसे कहा कि यदि आप यह कह सकें कि मैं आपको कितना धन देना चाहता हूं, तो मैं आपको धन दूं। (९-१३)

श्रीअगस्त्य मुनि बोले, हे असुर ! तेरे मनमें एक एक राजाको दस दस

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ॥ १५ ॥
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ॥ १६ ॥
विरावश्च सुरावश्च तस्मिन्युक्तौ रथे हयौ ॥ १७ ॥
ऊहतुः सवसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ।
सर्वान्राज्ञः सहागस्त्यान्निमेषादिव भारत ॥ १८ ॥
अगस्त्येनाऽभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा ।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

लोपामुद्रोवाच— कृतवानसि तत्सर्वं भगवन्मम कांक्षितम् ।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ॥ २० ॥

अगस्त्य उवाच— तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने ।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥ २१ ॥
सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसंमितम् ।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ॥ २२ ॥

हजार गौ और उतनाही सुवर्ण देनेकी इच्छा है । हे महासुर ! तैंने मुझे इन सबसे दुगुना धन, एक सोनेका रथ और मनके समान वेगवाले दो घोडे देनेका विचार किया है । कहो मैंने जान लिया कि नहीं ? अब तुम जल्दी सोनेका रथ लाओ । तब राक्षस बहुत घबराया और उससे भी अधिक धन अगस्त्य मुनिको दिया, उस रथमें सुराव और विराव नामक दो घोडे लगे थे, वे सब धन और अगस्त्यके सहित तीनोंराजा अगस्त्यके आश्रमको चले । अनन्तर वे तीनों राजा और अगस्त्य मुनि आश्रम पर पहुंचे, वहांसे अगस्त्य की आज्ञानुसार राजालोग अपने अपने घरोंको चले गये, अगस्त्य मुनिने उस धनसे लोपामुद्राकी सब इच्छा पूरी करी । (१४–१९)

लोपामुद्रा बोली, हे भगवन्! आपने मेरी सब इच्छा पूर्ण करी । इस लिये अब मुझमें एक वीर्यवान पुत्रको उत्पन्न कीजिये । श्रीअगस्त्य मुनि बोले हे कल्याणि ! हे सुन्दरि ! हम तुम्हारे चरित्र से बहुत सन्तुष्ट हुए हैं, पुत्र उत्पन्न करनेमें जो मेरा विचार है सो तुमसे कहता हूं सुनो, कहो तुम्हारे हजार पुत्र हों, या हजारके समान सौ हों, या कि हजार समान दस हों, यद्वा हजारके

लोपामुद्रोवाच— सहस्रसंमितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन।
एको हि बहुभिः श्रेयान्विद्वान्साधुरसाधुभिः ॥ २३ ॥
लोमश उवाच— स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः।
समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानया ॥ २४ ॥
तत आधाय गर्भं तमगमद्वनमेव सः।
तस्मिन्वनगते गर्भो ववृधे सप्तशारदान् ॥ २५ ॥
सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत्स महाकविः।
ज्वलन्निव प्रभावेन दृढस्युर्नाम भारत ॥ २६ ॥
सांगोपनिषदान्वेदाञ्जपन्निव महातपाः।
तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महाद्विजः ॥ २७ ॥
स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥ २८ ॥
तथायुक्तं तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा।
एवं स जनयामास भारतापत्यमुत्तमम् ॥ २९ ॥
लेभिरे पितरश्चास्य लोकान्राजन्यथेप्सितान्।
तत उर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याऽऽश्रमो भुवि॥ ३० ॥

समान एकही हो? लोपामुद्रा बोली, हे तपोधन! हमको हजार पुत्रके समान एकही पुत्र हो, क्योंकि हजार दुष्ट पुत्रोंसे एक महात्मा विद्वान् पुत्र अच्छा होता है। (१०—२३)

लोमश बोले, अगस्त्य मुनिने उस वचनको स्वीकार करके श्रद्धावती लोपामुद्राका सङ्ग किया। अनन्तर लोपामुद्राने गर्भको धारण किया और अगस्त्य मुनि वनको चले गये, उनके जानेके पश्चात् लोपामुद्राने सात वर्ष तक गर्भको धारण किया, सातवें वर्ष उसके गर्भसे अग्निके समान तेजस्वी महाकवी दृढस्यु नामक पुत्र उत्पन्न हुए, वे उत्पन्न होतेही अंग और उपांगोंके सहित चारों वेदोंको पढने लगे। अगस्त्यके पुत्र महा तेजस्वी और महातपस्वी हुए, महातेजस्वी दृढस्यु बालक अवस्थाहीमे पिताके घरमें इन्धनका बोझ उठाने लगे थे इसीसे उनका नाम इध्मवाह हुआ। (२३—२८)

हे राजन्! ऐसे उत्तम पुत्रको देख कर मुनि बहुत प्रसन्न हुए। हे भारत! इस प्रकार उन्होंने उत्तम पुत्रको उत्पन्न किया, तब उनके पितर इच्छानुसार लोकोंमें गये, उसी दिनसे इस स्थानका नाम अगस्त्याश्रम है। इस प्रकार प्रह्लाद

प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः ।
तस्याऽयमाश्रमो राजन्रमणीयैर्गुणैर्युतः ॥ ३१ ॥
एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता ।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ॥ ३२ ॥
प्रतार्यमाणा कूलेषु यथा निम्नेषु नित्यशः ।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ॥ ३३ ॥
दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत् ।
पूर्वं शंभोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया ॥
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ॥ ३४ ॥
युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ॥ ३५ ॥
यत्रोपस्पृष्टवान्रामो हृतं तेजस्तदाप्तवान् ।
अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्धं कृष्णया चैव पाण्डव ॥३६ ॥
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि ।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच–स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः ।

गोत्रोत्पन्न वातापी दैत्यको अगस्त्य मुनिने नाश किया, यह गुणोंसे भरा हुआ और रमणीय स्थान उसी अगस्त्य मुनिका है। (२९—३१)

हे युधिष्ठिर! यह पवित्र गङ्गा पृथ्वी में ऐसी विराजमान है, जैसे वायुसे उडती हुई ध्वजा आकाशमें शोभित होती है। हे राजन्! नागराजकी स्त्री के समान शिलातलों में त्रस्त और स्थिर जलमेंही पार होने योग्य यह गंगा नदी है। यह दक्षिण दिशाकी माताके समान रक्षा करती है, यही पहले शिवकी जटासे निकली थी, यह समुद्रकी प्यारी स्त्री है, इस पवित्र नदीमें आप इच्छानुसार स्नान कीजिये। हे युधिष्ठिर ! हे महाराज ! यहीं देव और ऋषिसेवित तीन लोग विख्यात भृगु मुनिका तीर्थ है, जिसका स्पर्श करनेसे रामको गया हुआ तेज प्राप्त हुआ था। हे पाण्डव ! तुम यहां भाइ और द्रौपदीके साथ स्नान करो, यहां स्नान करनेसे जो तेज तुम्हारा दुर्योधनने ले लिया है, सो सब प्राप्त होगा, ऐसेही रामकोभी पुनः तेज मिल गया था। (३२–३७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय! वहां पर महाराज युधिष्ठिरने

स्नात्वा देवान्पितॄंश्चैव तर्पयामास भारत ॥ ३८ ॥
तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद्दीप्ततरं बभौ।
अप्रधृष्यतरश्चाऽऽसीच्छात्रवाणां नरर्षभ ॥ ३९ ॥
अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः ॥ ४० ॥
भगवान्किमर्थं रामस्य हृतमासीद्वपुः प्रभो।
कथं प्रत्याहृतं चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ४१ ॥
लोमश उवाच— शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः।
जातो दशरथस्याऽऽसीत्पुत्रो रामो महात्मनः॥ ४२ ॥
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै ।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ॥ ४३ ॥
ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥ ४४ ॥
कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत्पुनः ।
धनुरादाय तद्दिव्यं क्षत्रियाणां निबर्हणम् ॥ ४५ ॥
जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथस्तदा ।
तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ॥ ४६ ॥

द्रौपदी और अपने भाइयोंके सहित स्नान करके पितर और देवतोंका तर्पण किया, उसमें स्नान करते ही युधिष्ठिर का तेज बहुत बढ गया. और शत्रुओंसे जीतने योग्य न रहे, तब कुरुनन्दन युधिष्ठिरने लोमश मुनिसे प्रश्न किया, कि हे भगवन् ! पहले समयमें परशुरामका तेज क्यों नष्ट होगया था, और फिर उनका तेज क्यों प्राप्त हुआ था ? ३८-४१

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजेन्द्र ! आप परशुराम और रामकी कथाको सुनिये, महात्मा दशरथके पुत्रका नाम राम था, वे रावणके नाश करनेके वास्ते साक्षात् विष्णुका अवतार थे, हमने उनको अयोध्यामें दशरथके घरमें उत्पन्न होते देखा था, और परशुराम भृगुवंशमें ऋचीक नन्दन रेणुकाके गर्भमें उत्पन्न हुए थे, वे क्लिष्टकर्मकारी दशरथपुत्र रामके अनेक कर्म सुनकर आश्चर्ययुक्त होकर अयोध्याको गये, और उस धनुषको अपने संग लिये गये, जिससे उन्होंने क्षत्रियोंका नाश किया था, उन्होंने अपने मनमें विचार लिया था, कि आज वह रामचन्द्रके बलकी परीक्षा करेंगे। (४२-४६)

जब राजा दशरथने सुना कि परशुराम

प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।
स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ॥ ४७ ॥
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत्
कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो ॥ ४८ ॥
समारोपय यत्नेन यदि शक्नोषि पार्थिव ।
इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाऽधिक्षेप्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥
नाऽहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्येण कत्थनम् ॥ ५० ॥
तमेवंवादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ॥ ५१ ॥
ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद्रामस्य कार्मुकम् ॥ ५२ ॥
धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।
ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ॥ ५३ ॥
तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसंत्यशनेरिव ।
अथाऽब्रवीत्तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥ ५४ ॥
इदमारोपितं ब्रह्मन्किमन्यत्करवाणि ते ।

हमारी सीमा पर आये हैं; तब उन्होंने अपने बडे पुत्र रामको उनको लेनेके लिये भेजा, परशुरामने देखा, कि राम अस्त्र शस्त्रोंको धारण किये हुए खडे हैं। हे कौन्तेय! तब परशुरामने हंसकर रामचन्द्रसे ऐसा कहा, हे राजेन्द्र! मैंने बहुत रोजतक इस धनुषको धारण किया है, यदि आपको कुछ सामर्थ्य हो, तो इसको बहुत यत्नसे चढाओ, उनके वचन सुनकर रामने कहा कि हे भगवन्! आप हमारा तिरस्कार करने योग्य नहीं हैं क्यों कि हमभी क्षत्रियोंके धर्ममें कुछ नीच नहीं हैं, विशेषतः इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय तो बाहुबलसे ही प्रसिद्ध हैं। (४७-५०)

उनके ऐसे वचन सुन, परशुराम बोले, कि हे राघव! बकने से कुछ नहीं होगा, यदि शक्ति हो तो धनुषको चढा लो, अनन्तर क्षत्रियोंके नाश करनेवाले परशुरामके हाथसे रामने क्रोधमें भरकर धनुष ले लिया, हे भारत! बलवान् रामने खेलके समान धनुष पर रोदा चढा कर सबको आश्चर्य देते हुए टङ्कार करी, उस वज्रके समान धनुषके शब्दको सुनकर सब प्राणी डरगये, अनन्तर दाशरथी

तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥ ५५ ॥

लोमश उवाच— एतच्छ्रुत्वाऽब्रवीद्रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ ५६ ॥
त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ ५७ ॥
पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ॥ ५८ ॥
आदित्यान्सवसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ ५९ ॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो वालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ॥ ६० ॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ॥ ६१ ॥
चेतामन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ।
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर ॥ ६२ ॥
ततः स भगवान्विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह ।

रामने परशुरामसे कहा, कि हे ब्राह्मण ! हमने यह धनुष चढा लिया, अब कहिये आपका हम कौनसा काम करें। ५१-५५

तब जमदग्निके पुत्र महातेजस्वी परशुरामने रामको एक बाण दिया और कहा कि इसको कानतक खींचो, श्रीलोमशमुनि बोले परशुरामके ऐसे वचन सुन क्रोधमें भरकर राम कहने लगे कि, हे भार्गव ! हमने सुना है, कि आप अभिमानसे भरे हुए हैं, और क्षमाशील हैं, ब्रह्माके प्रसादसे तुम्हें क्षत्रियोंका विशेष तेज प्राप्त हुआ है, निश्चय इसी कारण तुम हमारा धिकार करते हो, देखो हम तुमको दिव्य दृष्टि देते हैं, तुम हमारे रूपको देखो। (५५—५८)

तब परशुरामने रामके शरीरमें सूर्य्य वसु, रुद्र, साध्य, वायु, पितर, अग्नि, तारे, ग्रह, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदी, तीर्थ, ऋषी, वालखिल्य, सनातन ब्रह्मभूत सब देवर्षि, समुद्र, पर्वत, उपनिषदोंके सहित यज्ञ, शरीर धारी सामवेद, धनुर्वेद, मेघोंके समूह, बिजुली और वर्षा देखे। (५९—६२)

तब भगवान रामस्वरूपी विष्णुने

शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ॥ ६३ ॥
पांसुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम् ।
भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ॥ ६४ ॥
स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाऽऽक्षिप्य केवलम् ।
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ॥ ६५ ॥
स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद्विष्णुतेजसम् ॥ ६६ ॥
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत्पुनः ।
भीतस्तु तत्र न्यवसद् व्रीडितस्तु महातपाः ॥ ६७ ॥
ततः संवत्सरेऽतीते ह्रतौजसमवस्थितम् ।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ॥ ६८ ॥

पितर ऊचुः— न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम् ।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥ ६९ ॥
गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम् ।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ॥ ७० ॥
दीप्तोदं नाम तत्तीर्थं यत्र ते प्रपितामहाः ।
भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ॥ ७१ ॥

उस बाणको चढाकर छोड दिया, उसके छोडतेही सब जगत् सूखे वज्र, बिजुली, धूली और मेघोंके वर्षासे पूरित होगया, उसी समय पृथ्वी कांपने लगी, घोर शब्द होने लगे, उसी समय रामने परशुरामका तेज छीन कर उनको विकल कर दिया, बाण रामके हाथसे छूटतेही प्रकाशित होने लगा, उसी समय परशुरामको मूर्छा होगई, थोडे समयके पश्चात् परशुराम चैतन्य हुए, परन्तु उन्होंने अपनेमें विष्णुका तेज न पाया। अनन्तर रामकी आज्ञा से वे महेन्द्र पर्व्वतको चले गये। अनन्तर महातपस्वी परशुराम लज्जित और भीत होकर वहीं वास करने लगे। (६३-६७)

अनन्तर एक वर्ष बीतनेके पश्चात् तेज रहित दुःख सहित, परशुरामसे पितर लोग कहने लगे, पितर बोले, हे पुत्र! तुमने विष्णुके पास जाकर यह काम अच्छा नहीं किया, क्योंकि वे सदासे पूजनीय और माननीय हैं। हे पुत्र! अब तुम पवित्र वधूसर नामक नदीमें स्नान करो, वहां स्नान करनेसे तुम्हें फिर वहीं तेज मिल जायगा, वहां दीप्तोद नामक

तत्तथा कृतवान्रामः कौन्तेय वचनात्पितुः ।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन्पाण्डुनन्दन ॥ ७२ ॥
एतदीदृशकं तात रामेणाऽक्लिष्टकर्मणा ।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ॥ ७३ ॥ [४२०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जामदग्न्यतेजोहानिकथने एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— भूय एवाऽहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः ।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ॥ १ ॥
लोमश उवाच— शृणु राजन्कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम् ।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः ॥ २ ॥
आसन्कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ॥ ३ ॥
ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः ।
समन्तात्पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान्सुरान् ॥ ४ ॥
ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा ।
पुरन्दरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥ ५ ॥

कुण्ड है, वहीं तुम्हारे पडदादा भृगुने महा तप किया था । हे कुन्तीनन्दन ! हे पाण्डुपुत्र ! परशुरामने अपने पितरोंके वचन सुनके वैसाही किया, तब इस तीर्थमें स्नान करनेसे उन्हें फिर वही तेज प्राप्त होगया । हे महाराज ! इस प्रकार शुद्ध कर्म्मवाले परशुरामने स्नान करके रामसे छीने हुए तेजको प्राप्त किया था । (६८—७३) [४२०९]

वनपर्वमें निनानव्वे अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ अध्याय ।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे द्विजोत्तम ! मैं महाऋषि अगस्त्य मुनिके कर्मोंको विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूं । श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन्! यह अद्भुत अमानुषी दिव्य कथा आप सुनिये, हे महाराज ! अनन्तर तेजस्वी अगस्त्यके चरित्रको हम कहते हैं । सतयुगमें महा योद्धा, घोर, परम दारुण, कालकेय नामक राक्षस उत्पन्न हुए थे, उन सबोंने वृत्रासुरको अपना राजा बनाया, फिर अनेक शस्त्र और अस्त्र लेकर इन्द्र आदिक देवतोंके ऊपर चढाई करी, तब देवतोंने भी इन्द्रको अगाडी करके वृत्रासुरके मारनेका यत्न किया । (१–५)

अनन्तर सब देवता लोग ब्रह्माके

कृताञ्जलींस्तु तान्सर्वान्परमेष्ठीत्युवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद्वः कार्यं चिकीर्षितम् ॥ ६ ॥
तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥ ७ ॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै संप्रयाचत ।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनाऽन्तरात्मना ॥ ८ ॥
स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकांक्षिभिः ।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै॥ ९ ॥
स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ।
तस्याऽस्थिभिर्महाघोरं वज्रं संस्क्रियतां दृढम् ॥ १० ॥
महच्छत्रुहणं घोरं षडस्त्रि भीमनिःस्वनम् ।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ॥ ११ ॥
एतद्वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ॥ १२ ॥
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याऽऽश्रमं ययुः ।
सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १३ ॥

पास गये,उनको हाथ जोडे और स्तुति करते हुए देख ब्रह्मा बोले,कि हे देवतो! आप लोगोंने जो कुछ काम करनेकी इच्छा करी है, सो हम सबही समुझ गये हैं, हम वह उपाय बतलाते हैं, जिससे तुम वृत्रासुरको मारोगे। (५—७)

एक उदार बुद्धिवाला दधीच नामक ऋषि है, तुम सब लोग इकट्ठे होकर उसके पास जाकर वर मांगो, वह मुनि परम धर्मात्मा है, इस लिये प्रसन्न होकर तुम्हें वर देंगे, तब तुम सब लोग इकठ्ठे होकर विजयकी इच्छा करके दधीच मुनिसे कहना कि आप तीनों लोकके हितके निमित्त अपनी हड्डी हमको दीजिये, वे अपने शरीरको छोडकर हड्डी तुमको देंगे, तब तुम लोग उन्हीं हड्डियोंसे दृढ और महा घोर वज्र बनाना, वह वज्र महाशत्रुओंका नाश करनेवाला होगा उसमें छःकाने होंगे, उसका शब्द बडा भयानक होगा,उसही वज्रसे इन्द्र वृत्रासुरको मारेंगे, हमने सब उपाय तुमसे कह सुनाया तुम लोग इसको शीघ्रही करो। (७—१२)

देवतालोग ब्रह्माके वचन सुन उनकी आज्ञा ले नारायणको अगाडीकर दधीच के आश्रम पर गये,वह आश्रम सरस्वती

षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवञ्जीवकनादितम् ॥ १४ ॥
महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्राऽनुचरितं शार्दूलभयवर्जितैः ॥ १५ ॥
करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥ १६ ॥
सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ॥ १७ ॥
तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥ १८ ॥
तत्राऽपश्यन्दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥१९॥
तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ २० ॥
ततो दधीचः परमप्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद्वो हितमद्य देवाः स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ॥२१॥

के पर तीर पर अनेक वृक्ष और लताओं से शोभित था, उसमें भौंरे गूंजते फिरते, ज ां कोकिल आदिक अनेक पक्षी और जन्तु बोल रहे थे, भैंसे सूअर, हरिन, चमरी और शार्दूल आदि सब जन्तु विना भय जहां एकही संग चरते थे, जहां मतवारे हाथी हथिनियोंके समेत तलावों में क्रीडा और शब्द कर रहे थे, जहां सिंह और व्याघ्रादिकोंके शब्दसे एक गुञ्जार उठती थी, जहां गुफा और कन्दराओंमें रहनेवाले जन्तुओंके शब्दों से वन गुञ्जार रहा था, जो वन किसी किसी स्थानमें स्वर्गके समान सुन्दर था, उस दधीचके आश्रम पर देवता लोग आये, उन्होंने तेज और लक्ष्मीसे भरे हुए दधीचिको ब्रह्मा और सूर्यके समान प्रकाशमान देखा(१२-१९)

हे राजन् ! देवतोंने उनके चरणमें प्रणाम करके अपना अपना नाम सुनाया और ब्रह्माके कहे हुए वरदानको मांगा । अनन्तर दधीचने बहुत प्रसन्न होकर ऐसा कहा, हे देवतो ! जो वरदान तुम लोगोंने मांगा, हम बहुत प्रसन्न होकर वही तुमको देते हैं, हम अपनी इच्छासे अपने शरीरको छोडते हैं । (२०—२१)

स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः प्राणान्वशी स्वान्सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परासोरस्थीनि तस्याऽथ यथोपदेशम् ॥ २२ ॥
प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवास्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ॥ २३ ॥
चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव भस्मीकुरुष्वाऽद्य सुरारिमुग्रम् ॥ २४ ॥
ततो हतारिः सगणः सुखं वै प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरन्दरस्तद्वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ॥ २५ ॥ [४२३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
लोमशतीर्थयात्रायां वज्रनिर्माणकथनेशततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

लोमश उवाच— ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥ १ ॥
कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ॥ २ ॥
ततो युद्धं समभवद्देवानां दानवैः सह ।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥ ३ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ जितेन्द्रिय महात्मा दधीचने प्राणको उसी समय छोड दिया, तब देवतोंने ब्रह्माके उपदेशके अनुसार उनकी हड्डियोंको ग्रहण किया, देवतोंने प्रसन्न होकर अपने विजय का निश्चय कर लिया, अनन्तर उन्होंने विश्वकर्माको जाकर हड्डी दी और शस्त्र बनानेको कहा, विश्वकर्माने उन हड्डियोंसे बलपूर्वक शस्त्र बनाया, उस शस्त्रका नाम वज्र रक्खा, अनन्तर उस उग्ररूप वज्रको विश्वकर्मा लेकर इन्द्रके पास गये और प्रसन्न होकर ऐसा कहने लगे, हे देव ! इस वज्र शस्त्रसे आप उस उग्र राक्षसको भस्म कीजिये, राक्षसोंके मरनेके पश्चात् आप आनन्दपूर्वक सब बन्धुओंके सहित स्वर्गका राज्य कीजिये। विश्वकर्माके वचन सुन इन्द्रने प्रसन्न होकर वज्रको ग्रहण किया। (२२-२५) [४२३४]

वनपर्वमें एकसौ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ पहिला अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, अनन्तर वज्रधारी इन्द्र बलवान देवतोंसे रक्षित हो, भूमि और आकाश व्यापनेवाले वृत्रासुरसे युद्ध करनेको चले, वृत्रासुरके संग शस्त्रधारी महाशरीरवाले राक्षस ऐसे ऐसे बडे थे, जैसे शिखरधारी पर्वत होते हैं।

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत्सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥ ४ ॥
शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाऽप्यन्तरिक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महाराज वृन्ताद्भ्रष्टैरदृश्यत ॥ ५ ॥
ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाऽद्रयः ॥ ६ ॥
तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन्भयात् ॥७ ॥
तान्दृष्ट्वा द्रवतो भीतान्सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥ ८ ॥
कालेयभयसंत्रस्तो देवः साक्षात्पुरन्दरः ।
जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ॥ ९ ॥
तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः ।
स्वतेजो व्यदधच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ॥ १० ॥
विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः ।

हे भरतश्रेष्ठ! उस समय देवता और दानवोंका एक घडीभर महा घोर लोकभयङ्कर युद्ध हुआ, उस समय वीरलोगोंके हाथसे चलते हुए और शत्रुओं के शरीर पर गिरते हुए खड्गोंका और दूसरे खड्गके लगकर टूटनेका महा घोर शब्द हुआ। (१--४)

हे राजन्! उस समय जो सिर कट कटकर आकाशसे पृथ्वी पर गिरते थे, उनकी शोभा ऐसी मान होती थी, जैसे ताडके फल गिरनेसे शोभा होती है, कालकेय राक्षस लोग सोनेके कवच पहन कर परिघ आदि अस्त्रोंको लेकर देवतों की ओर ऐसे दौडे जैसे जलती आग वाले पर्वत, देवता लोग इनको अभिमानके साथ और वेगसे दौडते हुए देख उनके वेगको न सह सके और भयसे इधर उधर भागने लगे, उनको भयसे इधर उधर भागते हुए और राक्षसोंको बढते हुए देखकर सहस्रनेत्र इन्द्रको महा दुःख हुआ और स्वयं इन्द्रभी वृत्रासुरके भयसे घबराकर नारायणकी शरण गये। (५-९)

सनातन परमेश्वरने इन्द्रको डरा हुआ देख उनमें आपका तेज दिया, उस तेजसे इन्द्रका बहुत बल बढ गया। इन्द्रको विष्णुके तेजसे युक्त देखकर सब देवता और निर्मल महर्षियोंनेभी अपना

सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ११ ॥
स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान्समपद्यत ॥ १२ ॥
ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपं तु ननाद वृत्रो महतो निनादान्।
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥१३॥
ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम्।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच वज्रं महत्तस्य वधाय राजन् ॥ १४ ॥
स शक्रवज्राभिहतः पपात महासुरः काञ्चनमाल्यधारी।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्स मन्दरो विष्णुकराद्विमुक्तः ॥ १५ ॥
तस्मिन्हते दैत्यवरे भयार्तः शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम्।
वज्रं स मेने न कराद्विमुक्तं वृत्रं भयाचापि हतं न मेने ॥ १६ ॥
सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥१७॥
तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः समुद्रमेवाऽविविशुर्भयार्ताः।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं झषाकुलं नक्रसमाकुलं च ॥१८ ॥
तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रुस्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ॥

अपना तेज इन्द्रको दे दिया। इन्द्र विष्णु, देवता और महाभाग ऋषियोंके तेजको प्राप्त करके बहुतही बलवान हुए, जब वृत्रासुरने देखा कि इन्द्र बलसे भर कर हमारे सामने युद्धमें आया है, तो महाशब्दसे गर्जने लगा, उसके घोर शब्दसे पृथ्वी दिशा, आकाश और सब पर्वत हिलने लगे। (१०—१३)

उस घोर शब्दको सुनकर और भय से व्याकुल होकर इन्द्रने उसे मारनेको वज्र छोडा, हे राजन्! वह सोनेकी मालाधारी राक्षस वज्र लगनेसे मरकर महा पर्वतके समान पृथ्वीमें ऐसा गिरा जैसे विष्णुके हाथसे छूटकर मन्दराचल गिरा था। उस महा राक्षसके मरनेके पश्चात् इन्द्र डरसे तालावमें घुसनेको भागे, उन्होंने न अपने हाथमे वज्रको छूटते और न वृत्रासुरको मरते जाना। अनन्तर सब देवता और महर्षियोंने इन्द्रकी प्रसन्न होकर स्तुति की और वृत्रासुरके मरनेसे दुःखी राक्षसोंको मार डाला।(१४-१७)

अनन्तर राक्षस लोग देवतोंके भयसे समुद्रमें घुस गये, जल और जलजन्तुओंसे भरे हुए समुद्रमें जाकर राक्षस लोग तीनों लोक विनाश करनेकी संमति करने लगे, उनमें जो जो बुद्धिमान दैत्य

तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञास्तांस्तानुपायानुपवर्णयन्ति ॥ १९ ॥
तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्घोरामतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्नास्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥ २० ॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते तस्मात्त्वरध्वं तपसः क्षयाय ॥ २१ ॥
ये सन्ति केचिच्च वसुन्धरायां तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ।
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव तेषु प्रनष्टेषु जगत्प्रनष्टम् ॥ २२ ॥
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ।
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं रत्नाकरं वरुणस्याऽऽलयं स्म २३॥ [४२५७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायां वृत्रवधोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

लोमश उवाच— समुद्रं ते समाश्रित्य वरुणं निधिमम्भसः ।
कालेयाः संप्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥
ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥
वसिष्ठस्याऽऽश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।

थे, वे अच्छे उपायोंका विचार करने लगे, वहां पर समय और प्रारब्धके वशसे उन दैत्योंकी संमतिमें यही घोर बात निश्चय ठहरी कि पहले विद्या और तपसे भरे हुए मुनियोंका नाश करना चाहिये, क्योंकि सब लोक तपस्याहीसे स्थिर हैं, अतएव पहले तपनाश करनेका शीघ्र उपाय करना चाहिये । (१८-२१)

जो कोई जगत्में तपस्वी, धर्मज्ञ और धर्मके जाननेवाले हैं, पहले उन्हींका नाश करना चाहिये, क्योंकि उनके मरने हीसे सब जगत्का नाश हो जायगा, उन निर्बुद्धि लोगोंने इस प्रकार जगत्के नाशका निश्चय किया और बहुत प्रसन्न हुए । अनन्तर समुद्रके बीचमें किला बनाकर उसही वरुणके स्थान रत्नाकरमें रहने लगे । (२२—२३) [४२५७]

वनपर्वमें एकसौ पाहिला अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ दूसरा अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे महाराज ! कालेय दैत्य लोग जलके स्थान समुद्रमें रहकर जगत्का विनाश करने लगे । वे राक्षस लोग क्रोधसे भरकर मुनियोंके पवित्र आश्रम और तीर्थों में जाकर क्रोधसे भरकर प्रत्येक रात्रीके समय मुनियोंका नाश करने लगे, उन दुष्टात्माओंने वसिष्ठ मुनिके आश्रममें जाके एक सौ अट्ठासी ऋषियोंको खा लिया

अशीतिः शतमष्टौ च नव चाऽन्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥
च्यवनस्याऽऽश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥
एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चाऽर्णवं दिवा
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिपूदिताः ।
एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान्दानवास्तदा ॥ ६ ॥
निशायां परिबाधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान्बहून् ॥ ७ ॥
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ॥
एवंप्रवृत्तान्दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥ ८ ॥
प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्षिताः ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥ ९ ॥
क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः ।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ॥१०॥
कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥ ११ ॥

और नव तपस्वियोंको और नाशकर दिया, ब्राह्मण सेवित च्यवन मुनिके पवित्र आश्रममें जाकर राक्षस लोग फल मूल भक्षी सौ मुनियोंको खा गये। इसी प्रकार भरद्वाज मुनिके आश्रम पर जाकर नियमधारी, ब्रह्मचारी, वायु भक्षी बीस ऋषिओंको खा गये, इस प्रकार वे लोग रात्रिको मुनियोंको खाकर दिनमें समुद्रमें घुस जाते थे। (१--६)

इस प्रकार भुजबलसे उन्मत्त राक्षस लोग रात्रिमें सब आश्रमोंमें जाकर बाधा करने लगे। वे कालेय लोग काल के वशमें होकर अनेक ब्राह्मणोंका नाश करने लगे। पुरुषश्रेष्ठ! उन मुनियोंके मारनेवाले दैत्यको कोई पुरुष नहीं जानता था, परन्तु मुनिलोग प्रातःकाल होनेसे देखते थे, कि अनेक तपस्वी पृथ्वीमें मरे हुए पडे हैं। मरे हुए मुनि मांस, रूधिर, मज्जा और आंतोंसे रहित पृथ्वीमें पडे रहते थे, उस समय उन मुनियोंकी हड्डीयोंसे पृथ्वी ऐसी शोभित हुई, जैसी शंखोंके ढेरसे, उस समय टूटे हुए कलश स्रुवे तथा भ्र अग्निहोत्रोंसे पृथ्वी भर गई। काले

निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ॥ १२ ॥
एवं संक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपरा भीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥ १३॥
केचिद्गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चाऽपरे तथा ।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात्प्राणान्समुत्सृजन् ॥ १४ ॥
केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥
न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान् ।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥ १६ ॥
जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये ,
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥ १७ ॥
समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे ।
शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ॥ १८ ॥
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम् ।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ॥ १९ ॥
त्वं नः स्रष्टा च भर्ता च हर्ता च जगतः प्रभो ।

राक्षसोंके भयसे पीडित जगत् वेद पाठ वषट्कार; यज्ञ, क्रिया और उत्सवोंसे रहित हो गया । (७-१२)

हे नरनाथ ! इस प्रकार ऐसा कर्म होनेसे पुरुष लोग कम होने लगे, तब भयसे पूरित होकर अपने बचावके निमित्त मनुष्य इधर उधर भागने लगे, कोई गुफामें, और कोई झरनोंमें घुस गये तथा कोई मरनेके भयसे अपने प्राणोंको छोडने लगे, कोई महावीर धनुषधारी परम प्रसन्न होकर राक्षसोंके ढूंढनेमें यत्न करने लगे, परन्तु उनको वे समुद्रवासी राक्षस न मिले, अनन्तर थककर बैठ रहे, बहुतसे नष्टभी होगये । (१३ -- १६)

हे नरनाथ ! इस प्रकार जगतमें आपत्ति आनेसे सब यज्ञ और उत्सव नष्ट होगये, तब देवोंको बहुत दुःख हुआ, तब भयसे व्याकुल होकर इन्द्रादिक देवतोंने सम्मति करी, अनन्तर यह सब शरण देनेवाले देवतोंके देव जगत् पति नारायणकी शरण गये, तब सब देवतोंने अपराजित मधु नाशक नारायणसे ऐसे वचन कहे । (१७-१९)

त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ २० ॥
त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात्पुष्करेक्षण ।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥ २१ ॥
आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥
अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः ।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद्भ्रंशितस्त्वया ॥ २३ ॥
असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः ।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥ २४ ॥
एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते ।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ २५ ॥
तस्मात्त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे ।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ॥२६॥ [४२८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां विष्णुस्तवे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

देवा ऊचुः— तव प्रसादाद्वर्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।

हे प्रभो! हमारे और सब जगत्‌के उत्पन्न करनेवाले पालन करनेवाले और नाश करनेवाले आपही हैं, यह सब चर और अचर जगत् आपही का बनाया हुआ है, हे कमलनेत्र! पहले जब पृथ्वी समुद्र में डूब गई थी, तब आपने सूकरका रूप बनाकर उसका उद्धार किया था। हे पुरुषोत्तम! आपने पहले नरसिंह रूप बनाकर आदि दैत्य महा बलवान हिरण्यकशिपुको मारा था, जिस बली नामक असुरको कोई प्राणी नहीं मार सकता था, उसको आपने वामन रूप धारणकरके तीन लोकसे भ्रष्ट कर दिया था, जो महाशस्त्रधारी यज्ञोंका नाश करने वाला जम्भ नामक राक्षस था, उसकोभी मारा था, हे मधुसूदन! आपने इसको आदि लेकर औरभी अनेक कर्म ऐसे किये हैं, आप डरे हुए देवतोंकी गति हैं। हे देवदेवेश! अब जो कार्य उपस्थित हैं, सो हम लोग आपसे निवेदन करते हैं, आप देवता इन्द्र और सब लोगोंकी महाभयसे रक्षा कीजिये (२०—२६)

वनपर्वमें एकसौ दूसरा अध्याय समाप्त। [४२८३]

वनपर्वमें एकसौ तीसरा अध्याय।

देवतालोग बोले, हे प्रभो! आपकी कृपासे चार प्रकारकी प्रजा बढती हैं,

ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥ १ ॥
लोका ह्येवं विवर्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः ।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ २ ॥
इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम् ।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥ ३ ॥
क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति ।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥ ४ ॥
त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते ।
विनाशं नाऽधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥ ५ ॥
विष्णुरुवाच— विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम् ।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥ ६ ॥
कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः ।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत्सर्वं प्रमाथितम् ॥ ७ ॥
ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता ।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥ ८ ॥
ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम् ।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ॥ ९ ॥

वे बढकर हव्य और कव्योंसे देवतोंकी पूजा करते हैं, इस प्रकार एक दूसरेके आश्रयसे लोग बढते हैं, आपकी कृपा और रक्षा करनेसे सब जन्तु सुखी रहते हैं। अब सब लोगोंको महा भय उपस्थित हुआ है, हम नहीं जानते कि रात्रिमें आकर कौन ब्राह्मणोंको मार जाता है ? ब्राह्मणोंके नाश होनेसे पृथ्वीका नाश और पृथ्वीके नाश होनेसे स्वर्गका नाश हो जायगा। हे महाबाहो ! हे जगत्पते ! केवल आपकी कृपासे सब लोग बच सकते हैं। जब आप रक्षा करेंगे, तब कोईभी नष्ट नहीं होगा। (१-५)

विष्णु बोले,हे देवतो ! प्रजाके नाश का कारण हमने जान लिया, तुम लोगोंसे कहते हैं, तुम लोग सुखी होकर सुनो, जो परम कठोर कालेय नामक राक्षसोंका एक दल प्रसिद्ध है, जिसने वृत्रासुरका आश्रय लेकर सब जगतको दुःख दिया था, वेही लोग इन्द्रसे वृत्रासुरको मरा हुआ देखकर अपने जीवनकी रक्षाके निमित्त समुद्रमें घुस गये हैं, वेही लोग घोर नक्र और ग्राहोंसे

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः संप्रधार्यताम् ॥ १० ॥
अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे।
अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम्॥११॥
एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम्।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याऽऽश्रमं ययुः ॥ १२ ॥
तत्राऽपश्यन्महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम्।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १३ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम्।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १४ ॥

देवा ऊचुः— नाहुषेणाऽभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात्स्वलोकाल्लोककण्टकः ॥ १५ ॥
क्रोधात्प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः।
वचस्तवाऽनतिक्रामन्विन्ध्यः शैलो न वर्धते ॥ १६ ॥
तमसा चाऽऽवृते लोके मृत्युनाऽभ्यर्दिताः प्रजाः।

भरे हुए समुद्रमें रहते हैं, वे ही रात्रिको निकलकर ऋषियोंका नाश करते हैं, उन लोगोंका नाश नहीं हो सकता क्योंकि वे लोग समुद्रके बीचमें रहते हैं, इस लिये तुम लोगोंको समुद्रके नाश करनेका उपाय करना चाहिये, और अगस्त्यके सिवाय समुद्रको कोई नहीं सोख सकता है और विना समुद्र सूखे राक्षसोंका नाश होना असम्भव है। (९—११)

देवता लोग विष्णुके ऐसे वचन सुन ब्रह्माकी आज्ञा ले अगस्त्यके आश्रम पर गये वहां जाकर उन्होंने वरुणके पुत्र महातेजस्वी अगस्त्यको ऋषियोंके सहित बैठा हुआ देखा, देवता लोग मित्रावरुणके पुत्र महात्मा तपके समूह अपने कर्मोंसे प्रशंसनीय अगस्त्यको देख बहुत प्रसन्न हुए और स्तुति करते हुए कहने लगे। (१२–१४)

देवता बोले,जब नहुषके पुत्रसे जगत् अत्यन्त दुःखित हुआ था तब आपहीने शरण दी थी,और उस लोक कण्टकको आपहीने स्वर्गसे गिराया था, पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचल सूर्यके क्रोधसे अत्यान्त बढने लगा था, परन्तु अब आपके वचनको ग्रहण करके नहीं बढता है। जब प्रजा अन्धकार और मृत्युसे नष्ट होने लगती है,तब आपही स्वामी होकर

त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृत्तिं परमां गताः ॥ १७ ॥
अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान्गतिः ।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ॥१८॥ [४३०१]

इति श्रीमहा० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३॥

युधिष्ठिर उवाच—किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्च्छितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ॥ १ ॥
लोमश उवाच— अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम् ।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ २ ॥
तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाऽब्रवीत् ।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ॥ ३ ॥
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
नाऽहमात्मेच्छया शैलं करोम्येवं प्रदक्षिणम् ।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ॥ ५ ॥
एवमुक्तस्ततः क्रोधात्प्रवृद्धः सहसाऽचलः ।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन्परन्तप ॥ ६ ॥

उसकी रक्षा करते हैं ! डरे हुए देवतोंकी सदासे आपही गति हैं। हम लोग आपसे वरदान मांगनेको आये हैं, क्योंकि आप वरदान देनेमें समर्थ हैं। (१७-१८) [४३०१]

वनपर्वमें एकसौ तीसरा अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौथा अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे महामुने ! आप इस कथाको विस्तारपूर्वक कहिये कि, विन्ध्याचल एकदम क्रोध करके इतना क्यों बढ गया था ? इस कथा को सुननेकी मेरी बहुत इच्छा है । श्रीलोमश मुनि बोले, हे महाराज ! जब विन्ध्य पर्वतने देखा कि सूर्य उदय और अस्तके समय सुवर्णमय पर्वतराज मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, तब सूर्यसे कहा, कि हे सूर्य ! जैसे तुम प्रतिदिन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हो, तैसे हमारीभी प्रदक्षिणा किया करो । पर्वतराजके ऐसे वचन को सुन सूर्य बोले, कि हम कुछ अपनी इच्छासे मेरुकी प्रदक्षिणा नहीं करते हैं, वरन जिस परमेश्वरने इस जगतको बनाया है, उसीने हमारे निमित्त यह मार्गभी बना दिया है । (१—५)

सूर्यके ऐसे वचन सुन विन्ध्याचलको महाक्रोध हुआ और सूर्य तथा चन्द्रमा

ततो देवाः सहिताः सर्व एव विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं न च स्म तेषां वचनं चकार ॥ ७ ॥
अथाऽभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं तं चाऽर्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥८॥
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजोऽवृणोत्येष विंध्यः क्रोधवशानुगः ॥ ९ ॥
तं निवारयितुं शक्तो नाऽन्यः कश्चिद् द्विजोत्तम ।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याऽब्रवीद्विंध्यं सदारः समुपस्थितम्॥ ११॥
मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम ।
दक्षिणामभिगन्ताऽस्मि दिशं कार्येण केनचित्॥१२॥
यावदागमनं मह्यं तावत्त्वं प्रतिपालय ।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः ॥ १३ ॥
एवं स समयं कृत्वा विंध्येनाऽमित्रकर्शन ।

के मार्ग रोकनेकी इच्छा करी, अनन्तर सब देवता लोग मिलकर पर्वतोंके महाराज विन्ध्याचलके पास आये, उन्होंने अनेक उपाय करे, कि जिसमें विन्ध्याचल न बढे, परन्तु विन्ध्याचलने उनका कोई भी वचन न माना। अनन्तर वे सब देवता लोग तपस्वी और धर्म धारियोंमें श्रेष्ठ अद्भुत बलवाले आश्रममें बैठे हुए अगस्त्य मुनिके पास जाकर अपना प्रयोजन सुनाने लगे। (६—८)

देवता बोले, हे द्विजोत्तम! यह पर्वतराज विन्ध्याचल अत्यन्त क्रोधके वश में होकर सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रोंके मार्गोंको रोकना चाहते हैं। हे महाभाग! आपके सिवाय इनको और कोई भी नहीं निवारण कर सकता है, इस लिये आपही इनको रोकिये। अगस्त्य मुनि देवतोंके वचन सुनकर अपनी स्त्री के सहित विन्ध्याचलके पास गये, विन्ध्याचल भी उनके दर्शनको आये, तब अगस्त्य मुनिने विन्ध्याचलसे कहा, कि हे पर्वतोंमें श्रेष्ठ! हम किसी विशेषकार्य से दक्षिण दिशाको जाना चाहते हैं, इस लिये तुम हमको मार्ग दो और जबतक मैं उधरसे लोटकर नआऊं तबतक तुम ऐसेही रहकर हमारा मार्ग देखना। हे पर्वतराज! जब मैं इधरसे लौट कर आऊंगा तब तुम अपनी इच्छानुसार

अद्यापि दक्षिणोदशाद्वारुणिर्न निवर्तते ॥ १४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा विंध्यो न वर्धते ।
अगस्त्यस्य प्रभावेण यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १५ ॥
कालेयास्तु यथा राजन्सुरैः सर्वैर्निषूदिताः ।
अगस्त्याद्वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥
त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत् ।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः कमिच्छथ ॥
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ॥ १७ ॥
एवं त्वयेच्छाम कृतं हि कार्यं महार्णवं पीयमानं महात्मन् ।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्कालेयसंज्ञान्सुरविद्विषस्तान् ॥१८ ॥
त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत् ।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत्सुखम् ॥ १९ ॥
एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत्समुद्रं सरितां पतिम् ।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्धं देवैश्च सुव्रत ॥ २० ॥
मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।

बढना। (९—१३)

हे शत्रुनाशन ! अगस्त्य मुनि इस प्रकार विन्ध्याचलसे प्रतिज्ञा करा कर अबतक भी दक्षिण देशसे लौट कर नहीं आये, हमने जिस प्रकार विन्ध्याचल नहीं बढता है, सो सब कथा आपसे कही। जो तुमने हमसे अगस्त्य मुनिका प्रभाव पूछा था, सो हमने कहा अब जिस प्रकार अगस्त्य मुनिके वरदानसे देवतोंने कालेय राक्षसोंका नाश किया सो कथा सुनिये। (१४-१६)

हे महाराज! देवतोंके पूर्वोक्त वचन सुन मित्रावरुणके पुत्र अगस्त्य मुनिने कहा कि तुम लोग हमारे पास क्यों आये हो ? मुनिके ऐसे वचन सुनकर देवता लोग बोले। हे महात्मन् ! हम लोग चाहते हैं, कि आप समुद्रको पीकर हमारा कार्य्य कीजिये, आपके ऐसा करनेसे हम लोग देवतोंके शत्रु कालेय दैत्योंको परिवार के सहित नाश कर देंगे। १७-१८

देवतोंके वचन सुनकर अगस्त्य मुनिने कहा, कि हम ऐसाही करेंगे। अगस्त्य मुनि बोले, कि जिसमें लोकोंका उपकार हो सो आप लोगोंका काम हम सुख पूर्वक करेंगे, ऐसा कहकर अगस्त्य मुनि सिद्ध, ऋषि और देवतोंके सहित नदियोंके पति समुद्रके पास गये। हे उत्तम व्रतधारी ! उनके पीछे

अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २१ ॥
ततोऽभ्यगच्छन्सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ॥ २२ ॥
हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ॥ २३ ॥
अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् २४ ॥ [४३२९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

लोमश उवाच— समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान्देवानृषींश्चैव समागतान् ॥ १ ॥
अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत्क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ३ ॥
पीयमानं समुद्रं तं दृष्ट्वा सेन्द्रास्तदाऽमराः ।

मनुष्य, सर्प, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर चले। महात्मा अगस्त्यके सङ्ग उनका अद्भुत कर्म देखनेकी इच्छासे सब लोग इकठ्ठे होकर घोर शब्दवाले समुद्रके तटपर पहुंचे, उन्होंने समुद्रको ऐसा देखा मानो तरङ्गोंसे नाच रहा है, वायुसे घूम रहा है और फेनोंके समूहोंसे हंस रहा है, जिसकी तरङ्ग कन्दराओंमें भर रही हैं, अगस्त्यके सहित देवता, गन्धर्व, महासर्प, और महाभाग ऋषिलोग ग्राह, मगर और अनेक पक्षियोंसे भरे हुए समुद्रके तट पर पहुंचे। (१९—२४) [४३२९]

वनपर्वमें एकसौ चार अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ पांच अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, कि वरुणके पुत्र भगवान् अगस्त्य मुनि जब समुद्र तट पर पहुंचे, तब सब देवता और ऋषियोंसे कहने लगे, देखो हम सब लोकके हितके निमित्त समुद्रको पीते हैं। आपलोगोंको जो कुछ काम करना हो, सो शीघ्र कीजिये, मित्रावरुणके पुत्र अमर अगस्त्य मुनिने ऐसा कहकर सब जगत्के आगे क्रोधमें भरकर समुद्रको पीलिया, जब इन्द्र आदिक देवतोंने देखा कि अगस्त्य मुनि सब समुद्रको पी

विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाऽप्यपूजयन् ॥ ४ ॥
त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन।
त्वत्प्रसादात्समुच्छेदं न गच्छेत्सामरं जगत् ॥ ५ ॥
स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो महार्णवं निःसलिलं चकार ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि तान्दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्वाः ॥ ७ ॥
ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभिर्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ॥८॥
ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिःस्वनाः।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ॥ ९ ॥
ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ॥ १० ॥
ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः।
निहता बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ११ ॥

गये तो परम आश्चर्य करके स्तुति और पूजा करने लगे। (१–४)

देवता कहने लगे, हे लोकभावन! तुम हमारे रक्षा करनेवाले और धारण करनेवाले हो, तुम लोकोंके स्वामी हो तुम्हारीही कृपासे जगत नष्ट नहीं होता है, इस प्रकार महात्मा अगस्त्यकी देवता लोग पूजा करने लगे और गन्धर्व लोग सब ओर अपने बाजे बजाने लगे, दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगीं,तब अगस्त्य मुनिने समुद्रको जलसे रहित कर दिया, समुद्रको जलसे रहित देखकर महा बलवान देवतोंने परम प्रसन्न होकर दिव्य शस्त्र धारण करके राक्षसोंको मारना आरंभ किया। (५–७)

वेगवान महात्मा स्वर्गवासी बलवान देवतोंसे पीडित होकर दानव लोग उनके बलको न सह सके, इस रीतिसे मारे जाने वाले और भयानक शब्द करने वाले दानवोंने एक घडीभर बडा भयानक युद्ध किया। पहले तो वे लोग तपस्वी मुनियोंके तपसे नष्ट हुए थे, फिर जो कुछ यत्न करके बचभी गये थे उनको देवतोंने नाश कर दिया, सोनेके आभूषण, कुण्डल, और बाजूबन्दधारी दानव लोग मरते समय ऐसे शोभित हुए जैसे फूले हुए टेसू। (८-११)

हे पुरुषश्रेष्ठ! जो कुछ दानव मरनेसे

हतशेषास्ततः केचित्कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमास्थिताः ॥ १२ ॥
निहतान्दानवान्दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥
त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकैः प्राप्तं महत्सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥ १४ ॥
पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत्त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन्पुनरुत्सृज ॥ १५ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान्मुनिपुङ्गवः ।
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ।
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ॥ १६ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ।
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः ॥ १७ ॥
परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुंगवम् ।
प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १८ ॥
त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ॥ १९ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।

बचे, वे सब पृथ्वीको फाडकर पातालमें चले गये। जब दानव लोग नष्ट हो गये, तब अगस्त्य मुनिको स्तुति कर देवता लोग बोले, हे महाबाहो! आपकी कृपासे हम लोगोंने जगतमें बहुत सुख प्राप्त किया, आपहीके तेजसे घोर पराक्रमी कालेय दानवोंका नाश हुआ। हे लोक भावन! आपने जो समुद्रका जल पिया है, उसको फिर छोड दीजिये जिससे समुद्र भर जाय। (१२—१५)

उनके वचन सुन मुनियोंमें श्रेष्ठ, भगवान अगस्त्य मुनि बोले, हे देवतो! वह सब जल हमको पच गया, अब तुम लोग कोई दूसरा उपाय सोचो, आपलोग कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे समुद्र भर जाय। महात्मा अगस्त्य मुनिके ऐसे वचन सुन सब देवता लोगोंको बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ, आपसमें सम्मति करके मुनीश्वरको प्रणामकर सब लोग अपने अपने घरको चले गये। हे महाराज! विष्णुके सहित सब देवता लोग समुद्रको पूरा करनेका विचार करते हुए ब्रह्माके यहां गये; जाकर हाथ जोड समुद्रकी सब कथा

उचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याऽभिपूरणम् ॥ २०॥ [४३४५]

इति श्रीमहा० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०५॥

लोमश उवाच— तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥ १ ॥
महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराज्ञो भगीरथात् ॥ २ ॥
पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन्कारणं चाऽत्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ॥ ४ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

लोमश उवाच— इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः सचाऽपुत्रः प्रतापवान् ॥ ७ ॥

सुना दी। (१६—२० [४३४५]

वनपर्वमें एकसौ पांच अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ छः अध्याय।

श्रीलोमशमुनि बोले, सब लोकके पितामह ब्रह्मा ऐसा बोले, हे देवता लोगो! तुम सब लोग अपने अपने लोकोंको चले जाओ। समुद्र थोडे दिनमें आपही भर जायगा, उसके भरनेका कारण अपने जातिके निमित्त महाराज भगीरथ होंगे। ब्रह्माके वचन सुनकर सब देवता लोग अपने अपने घरको चले गये और समुद्र पूर्ण होनेके समय की प्रतीक्षा करने लगे। (१—३)

युधिष्ठिर बोले, हे मुने! हे ब्रह्मन्! जाति कैसी और कारण क्या? तथा भगीरथके आश्रयसे समुद्र कैसे भर गया था? हे तपोधन! हम इस राजाके उत्तम चरित्रको आपसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महात्मा धर्मराजके ऐसे वचन सुन ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ लोमश मुनि महात्मा समुद्रका महात्म्य इस प्रकार कहने लगे। (४—५)

श्रीलोमश मुनि बोले, इक्ष्वाकुकुल में प्रताप रूप तेज और बलसे भरे हुए सगर नामक राजा हुए। उनके कोई

स हैहयान्समुत्साद्य तालजंघांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन्यान्स्वराज्यमन्वशासत ॥ ८ ॥
तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥ ९ ॥
स पुत्रकामो नृपतिस्तप्यते स्म महत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥ १० ॥
स तप्यमानः सुमहत्तपो योगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥ ११ ॥
शंकरं भवमीशानं पिनाकिं शूलपाणिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १२ ॥
स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थे समयाचत ॥ १३ ॥
तं प्रीतिमान्हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन्वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां संभविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥

पुत्र न थे। उन्होंने हैहयवंशी और तालजङ्घवंशी क्षत्रियों को जीतकर सब राजोंको अपने वशमें किया और अपने राज्यका पालन करने लगे। हे भरतकुलसिंह! उनकी जो स्त्रियां थीं, वे दोनों रूप और यौवनके अभिमानसे भरी रहती थीं। एकका नाम वैदर्भी और दूसरीका नाम शैब्या था। राजा अपनी स्त्रियोंके सहित पुत्रकी इच्छासे कैलास पर्वत पर जाकर महा तप करने लगे। (७-१०)

हे राजेन्द्र! महात्मा राजा सगर महातप और महायोग करने लगे, तब तीन नेत्रधारी त्रिपुरासुरके मारनेवाले शङ्कर जगतके स्वामी, पिनाक और शूलधारी, तीन नेत्रवाले उग्र, सबके स्वामी अनेक रूपधारी पार्वतीनाथ शिव उसके पास आये। महाराजने वरदान देनेवाले शिवको देखतेही अपनी स्त्रियों सहित प्रणाम किया और हमको पुत्र हो, यह वरदान मांगा। (११-१३)

अनन्तर राजोंमें श्रेष्ठ सगरसे प्रेम सहित शिव महाराजने कहा, हे नरनाथ! तुमने हमसे इस समय पुत्र होनेका वरदान मांगा, इस लिये हम प्रसन्न होके तुम्हें यह वरदान देते हैं, कि तुम्हारी

ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां संभविष्यति ॥ १६ ॥
एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ संबभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदाऽलाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥
अथाऽन्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन्मा साहसं कार्षीः पुत्रान्न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥ २२ ॥
ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि भारत ।
महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ॥

केवल एक स्त्रीसे अभिमानसे भरे हुए महा शूरवीर साठ हजार पुत्र होंगे; वे सब लोग एकही दिन एकही स्थानपर नष्ट हो जायंगे । और एक स्त्रीके वंशकी रक्षा करनेवाला महा शूरवीर एक पुत्र होगा । सगरसे ऐसा कहकर भगवान शिवजी वहीं अन्तर्धान होगये और राजा सगरभी अपने नगरको चले गये, अपनी दोनों स्त्रियोंके सहित घरमें जाकर आनन्द करने लगे । (१४–१८)

हे पुरुषश्रेष्ठ ! राजा सगरको कमलनैनी वैदर्भी और शैब्या दोनों स्त्रियोंके गर्भ रह गया, अनन्तर समय पूरा होने पर वैदर्भी स्त्रीने एक तुंबी उत्पन्न करी, और शैब्या स्त्रीके देवतों के समान रूपवाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तब राजा सगरने उस तूम्बीको फेंक देनेका विचार किया । उसी समय आकाशसे गम्भीर स्वरवाली एक वाणी हुई, कि हे राजन् ! आप ऐसा साहस मत कीजिये; इस तूम्बीके भीतर पुत्र हैं और इस तूम्बीके भीतरसे जो बीज निकले, उनकी यत्नसे रक्षा कीजिये; आप इस तूम्बीके बीजोंको घीसे और उष्ण जलसे भरे हुए किसी पात्रमें रखिये, तब आपको साठ हजार पुत्र मिलेंगे; हे महाराज ! शिवजीने

अनेन क्रमयोगेन सा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २३ ॥ [४३६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सगरसंततिकथने षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

लोमश उवाच— एतच्छ्रुत्वाऽन्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तम।
यथोक्तं तच्चकाराऽथ श्रद्दधद्भरतर्षभ ॥ १ ॥
एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान्भागान्विदधे ततः ॥ २ ॥
धात्रीश्चैकैकशः प्रादात्पुत्ररक्षणतत्परः।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याऽप्रतिमतेजसः।
रुद्रप्रसादाद्राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४ ॥
ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः।
बहुत्वाच्चाऽवजानन्तः सर्वाँल्लोकान्सहामरान् ॥ ५ ॥
त्रिदशांश्चाऽप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान्।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६ ॥
बध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥ ७ ॥

जो तुमको साठ हजार पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया था, वे सब इसी तूम्बीमें हैं। (१८—२३) [४३६८]

वनपर्वमें एकसौ छः अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ सात अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन्! जब राजा सगरने यह आकाशवाणी सुनी, तो श्रद्धा पूर्वक वैसाही काम किया; अर्थात् राजाने एक एक बीजको अलग अलग करके उन सब भागोंको घीके बर्तनोंमें पृथक् पृथक् रख दिया और पुत्रोंकी रक्षाके निमित्त एक एक धाय सब बर्त्तनोंके समीप रख दी। फिर बहुत काल बीतनेके पश्चात् महा तेजस्वी महाबली साठ हजार पुत्र हो गये। (१—२)

हे राजन्! ये सगरके सब पुत्र शिवजीकी कृपासे हुए। वे सब बडे कठोर, क्रूर कर्म करनेवाले, और आकाशमें घूमनेवाले हुए। युद्ध करनेवाले महावीर सगरपुत्र देवता गन्धर्व और राक्षसोंको दुःख देने लगे। उनसे पीडित होकर सब जगत्के प्राणी देवतोंके सहित ब्रह्माकी शरणमें गये, सब लोकोंके पितामह ब्रह्माने उन सबसे कहा, कि

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः ।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥ ८ ॥
नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान् ।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥ ९ ॥
एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर ।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १० ॥
ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ॥ ११ ॥
तस्याऽश्वो व्यचरद्भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः ।
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ॥ १२ ॥
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥ १३ ॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम् ।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ १४ ॥
ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम् ।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ॥ १५ ॥

हे देवता लोगो ! तुम सब प्राणियों के सहित अपने अपने स्थान को चले जाओ, थोडेही समयमें सगरके सब पुत्रोंका अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार सर्वनाश हो जायगा। (४-९)

हे पृथ्वीनाथ ! ब्रह्माके ऐसे वचन सुनके ब्रह्माकी आज्ञा ले सब देवता लोग अपने अपने घरको चले गये। हे भरत-कुल सिंह ! बहुत समय बीतनेके पश्चात् बलवान राजा सगरने अश्वमेध यज्ञ करना आरंभ किया और घोडा छोडा, वेही साठ हजार पुत्र उस घोडेकी रक्षा करने लगे। वह घोडा सब भूमिमें घूमने लगा, जब घोर दर्शन वाले जल-रहित समुद्रके तट पर आया तो अत्यन्त यत्नसे रक्षा करने परभी वहीं अन्तर्धान होगया। (९—१३)

हे तात ! जब सगरके पुत्रोंने उस घोडेको न देखा, तो अपने पिताके पास आकर उसके गुप्त होने और छिप जाने के सब वृत्तान्त कह सुनाये। राजा सगर ने आज्ञा दी, कि तुम सब दिशाओंमें घोडेकी खोज करो। हे महाराज ! वे लोग पिताकी आज्ञा सुन सब दिशाओं में और सब पृथ्वीमें घोडेको ढूंढने लगे; परन्तु उन सबने अत्यन्त ढूंढने परभी

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाऽध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥ १६ ॥
आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥ १७ ॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजन्शासनात्तव पार्थिव ॥ १८ ॥
न चाऽश्वमधिगच्छामो नाऽश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥ २० ॥
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नाऽऽगन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥ २१ ॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथाऽपश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥ २२ ॥
समासाद्य बिलं तच्चाऽप्यखनन्सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्हेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ॥ २३ ॥
स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।

घोडे और घोडेके चोरको न पाया। (१४—१६)

तब अपने पिताके पास आ हाथ जोड कहने लगे, कि हे नरनाथ ! हम लोगोंने समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत और वनोंके सहित सब पृथ्वीको आपकी आज्ञानुसार ढूंढा परन्तु न कहीं घोडा और न कहीं घाडेका चोर मिला। यह वचन सुनतेही राजाको क्रोध हुआ। (१७—१९)

हे राजन् ! प्रारब्ध वशसे राजा सगर ने अपने पुत्रोंसे कहा कि तुम लोग घोडेको ढूंढनेको फिर अगम्य देशोंमें जाओ, हे पुत्रो ! विना उन घोडेको लिये तुम लोग यहां मत आना। अपने पिताके वचनको स्वीकार कर दूसरी बार घोडा ढूंढनेके निमित्त सगरके पुत्र सब पृथ्वीमें घूमने लगे। अनन्तर उन्होंने एक स्थान पर पृथ्वीको फटी हुई देखा, तब वे सब वीर लोग उस बिलको खोदने लगे। वह बिल समुद्र था। अनन्तर सगरके पुत्रोंने कुदार और गधालोंसे उस समुद्रको यत्नपूर्वक खोदना आरम्भ किया। (२०—२३)

अगच्छत्परमामार्ति दीर्यमाणः समन्ततः ॥ २४ ॥
असुरोरगरक्षांसि सत्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ॥ २५ ॥
छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगास्थिसंधयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २६ ॥
एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान्कालो न चाऽश्वः समदृश्यत ॥ २७ ॥
ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ॥ २८ ॥
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ॥
तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम् ॥ २९ ॥
ते तं दृष्ट्वा हयं राजन्संप्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ।
संक्रुद्धाः संप्रधावन्त अश्वग्रहणकांक्षिणः ॥ ३० ॥
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ।

उस समय खुदनेसे वरुणके स्थान समुद्रको बडा दुःख हुआ, चारों ओरसे समुद्र खुदनेसे उसमें रहनेवाले असुर, सर्प राक्षस और अनेक प्रकारके जन्तु सगर पुत्रोंसे पीडा पाकर घोर शब्द करने लगे। उस समय सैकडों सहस्रों जन्तु शिर, देह, चर्म्म और सन्धियोंसे नष्ट भ्रष्ट दीखने लगे। इस प्रकार समुद्र खोदते खोदते सगरके पुत्रोंकी बहुत समय बीत गया; परन्तु घोडा कहीं न मिला। अनन्तर सगरके पुत्रोंने महाक्रोध किया, तब उत्तर और पूर्वके कोने में खोदना आरम्भ किया, और पाताल तक खोदते चले गये, वहां देखा कि, घोडा पृथ्वीमें घूम रहा है और उसके पासही ज्वालाके सहित जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी महात्मा कपिलजी भी बैठे हैं। (२४-२९)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन्! वे उस घोडेको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उनके रोम खडे होगये। अनन्तर महात्मा कपिलजीका निरादर करके कालके वशमें होकर महाक्रोधके सहित घोडा पकडनेको दौडे। हे महाराज! उनका यह व्यवहार देख महात्मा कपिल मुनिको महा क्रोध हुआ। जिन

वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुंगवम् ॥ ३१ ॥
स चक्षुर्विवृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ।
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन्स सागरान् ॥ ३२ ॥
तान्दृष्ट्वा भस्मसाद्भूतान्नारदः सुमहातपाः ।
सगरान्तिकमागच्छत्तच्च तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३३ ॥
स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ।
मुहूर्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ॥ ३४ ॥
अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जसुतं तदा ।
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ।
कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ॥ ३६ ॥
तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयाऽनघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान्दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ३८ ॥

लोमश उवाच— असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।

कपिल मुनिको जगत्के पुरुष कृष्ण कहते हैं, उन्होंने अपने नेत्र खोल सगर के पुत्रोंपर अपना तेज छोडा। उसके लगतेही सगरके मन्दबुद्धि पुत्र भस्म होगये; उनके भस्म होतेही महा तपस्वी नारद मुनि सगर राजाके पास गये और उसको वह सब वृत्तान्त कह सुनाया। (३०–३३)

राजा सगरने मुनिके मुखसे वह सब वृत्तान्त सुनकर कुछ समयतक शोक करके शिवके वचनका स्मरण किया। अनन्तर सगरने असमञ्जसके पुत्र अपने पोते अंशुमानको बुलाकर कहा, कि हे तात! हमारे जो परम तेजस्वी साठ हजार पुत्र थे, सो सब हमारी आज्ञानुसार काम करनेके कारण कपिल मुनिके तेजसे नष्ट होगये। और तुम्हारे पिताको हमने पहलेही निकाल दिया है। हे पापरहित! उसके निकाल देनेसे मैंने धर्मकी रक्षा और नगर निवासियोंका हित साधन किया था। (३४-३७)

युधिष्ठिर बोले, हे तपोधन! राजसिंह सगरने दुःखसे छोडने योग्य वीर पुत्रको किस लिये घरसे निकाल दिया था? श्रीलोमश मुनि बोले, कि राजा सगरकी शैब्य नामक स्त्रीसे असमञ्जस

यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ॥३९॥
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ।
ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ॥ ४० ॥
सगरं चाऽभ्यभाषन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ॥ ४१ ॥
असमञ्जोभयाद्घोरात्ततो नस्त्रातुमर्हसि ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ॥ ४२ ॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ॥
यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ॥ ४३ ॥
एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ।
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाऽऽज्ञापितवान्नृपः ॥ ४४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ।
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ॥ ४५ ॥
अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ४६ ॥

नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था, वह नगरवासियोंके दुर्बल लडकोंको गला और शरीर पकडकर नदीमें फेंकने लगा। तब नगरके लोग शोक और भयसे पीडित होकर राजा सगरके पास आ हाथ जोड कहने लगे, कि हे महाराज! आप दूसरे राजोंसे तथा और डरोंसे हम लोगोंकी रक्षा करनेवाले हैं, अतएव असमञ्जसके घोर भयसे हम लोगोंकी रक्षा कीजिये। (३८-४२)

नगर निवासियोंके घोर वचन सुन राजोंमें श्रेष्ठ सगर क्षणमात्र दुःख करके अपने मन्त्रियोंसे बोले, कि तुम लोग हमारे पुत्र असमञ्जसको इसी समय नगरसे निकाल दो। हे मन्त्रियो! यदि आप लोग हमारा कुछ प्रिय कार्य करना चाहते हैं, तो इस कामको शीघ्र ही करें। हे पृथ्वीनाथ! राजा सगरके वचन सुन मन्त्रियोंने असमञ्जसको उस ही समय नगरसे निकाल दिया। हे नरनाथ! महात्मा राजा सगरने प्रजाके हितकी इच्छासे जिस प्रकार अपने पुत्र असमञ्जसको नगरसे निकाल दिया था, सो सब कथा हमने तुमसे कही; अब राजा सगरने महा धनुषधारी अंशुमानसे जो कुछ कहा, सो सब कथा हम

सगर उवाच— पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च ।
अलाभेन तथाऽश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ॥ ४७ ॥
तस्माद्दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ।
हयस्याऽऽनयनात्पौत्र नरकान्मां समुद्धर ॥ ४८ ॥
अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ।
जगाम दुःखात्तं देशं यत्र वै दारिता मही ॥ ४९ ॥
स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह ।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ॥ ५० ॥
स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ५१ ॥
ततः प्रीतो महाराज कपिलोंऽशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ॥ ५२ ॥
स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयं वरकं वव्रे पितॄणां पावनेच्छया ॥ ५३ ॥
तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद्यत्प्रार्थयसेऽनघ ॥ ५४ ॥

आपसे कहते हैं, आप सुनिये ।४२-४६

सगर बोले, हे पुत्र ! तेरे पिताके निकालने, साठ हजार पुत्रोंके मरने और घोडेके न मिलनेसे मेरा शरीर भस्म हुआ जाता है । हे पौत्र ! दुःखसे सन्तप्त और यज्ञमें विघ्न होनेसे दुःखित मेरा घोडा लाकर नरकसे उद्धार करो। अंशुमान महात्मा सगरके वचन सुन एवमस्तु कह परम दुःखके सहित उस स्थानको गये, जहां सगरके पुत्रोंने पृथ्वी खोदी थी; वे उसी मार्गसे पाताल को चले गये । जाकर महात्मा कपिल और घोडेको देखा, उन्होंने तेजके समूह ऋषियोंमें श्रेष्ठ बूढे कपिल मुनि को देख शिरसे प्रणाम किया और अपना प्रयोजन कह सुनाया। (४७-५१)

हे महाराज ! हे भारत ! धर्मात्मा कपिल मुनि अंशुमानसे बहुत प्रसन्न हुए और बोले, कि तुम्हारी जो इच्छा हो वेही वरदान हमसे मांगो । तब उन्होंने यज्ञ पूर्ण होनेकी इच्छासे पहले घोडा मांगा, और दूसरा यह वरदान मांगा कि हमारे पितर लोग पवित्र होजांय । (५२-५३)

तब मुनियोंमें श्रेष्ठ महा तेजस्वी कपिल मुनिने अंशुमान से कहा कि, हे

त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ॥ ५५ ॥
तव चैव प्रभावेण स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ॥
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ॥ ५६ ॥
हयं नयस्व भद्रं ते याज्ञियं नरपुंगव ।
यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ॥ ५७ ॥
अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ॥ ५८ ॥
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
मूर्ध्नि तेनाऽप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथादृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ॥ ६० ॥
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ॥ ६१ ॥
अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ॥ ६२ ॥
पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ।

पापरहित ! तुम्हारा कल्याण हो, तुमने जो कुछ मांगा सो हमने दिया । तुममें सत्य, क्षमा और धर्म स्थिर है, तुमसे सगर पवित्र और पिता पुत्रवान हुए, तुम्हारेही इस प्रभावसे सगरके पुत्र स्वर्ग को जायंगे । हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारा पोता सगरके पुत्रोंको पवित्र करनेके निमित्त शिवजीको प्रसन्न करके स्वर्गसे गङ्गा को लावेगा, तुम्हारा कल्याण हो, इस यज्ञ के घोडेको यहांसे ले जाओ, हे तात ! महात्मा सगर के यज्ञ को समाप्त करो । (५४–५७)

अंशुमान, महात्मा कपिलके ऐसे वचन सुनकर घोडेको ले महात्मा सगरकी यज्ञशालामें आये, और महात्मा सगरके चरणोंमें प्रणाम कर उनके पुत्रोंके मरनेका वृत्तान्त जैसा देखा और सुना था, कह सुनाया । सगरनेभी अंशुमानका माथा सूंघा। अनंतर उन सब वृत्तांतोंको सुनकर उन्होंने अपने पुत्रोंका शोक छोड दिया और अंशुमानका बडा सन्मान कर यज्ञको समाप्त किया । अनन्तर राजा सगरने सब देवतोंकी सम्मतिसे वरुणके स्थान समुद्रको अपना पुत्र बनाया । (५८–६३)

प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ॥ ६३ ॥
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ॥ ६४ ॥
प्रशशास महाराज यथैवाऽस्य पितामहः ।
तस्य पुत्रः समभवद्दिलीपो नाम धर्मवित् ॥ ६५ ॥
तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ॥ ६६ ॥
पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाऽकरोन्नृपः ॥ ६७ ॥
न चाऽवतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान्धर्मपरायणः । ॥ ६८ ॥
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ॥
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ॥ ६९ ॥
तपःसिद्धिसमायोगात्स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ॥ ७० ॥ [४४३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

हे कमलनेत्र ! इस प्रकार राजा सगरने बहुत दिन राज्य करके अपने पोते अंशुमानको राज्यका भार दे स्वर्ग यात्रा करी, धर्मात्मा अंशुमानभी सागरान्त पृथ्वीका वैसेही राज्य करने लगे, जैसे इनके दादा करते थे । राजा अंशुमानके पुत्र दिलीप हुए । दिलीप परम धर्मज्ञ थे, राजा अंशुमान दिलीपको राज्य देकर स्वर्गको चले गये । (६३-६६)

राजा दिलीप अपने पुरुषोंका इस प्रकार मरना सुनकर और उनकी गतिको विचार कर दुःखसे जलने लगे, और गङ्गाके लानेके लिये परम यत्न करने लगे । परन्तु बलके अनुसार बहुत यत्न करने परभी गङ्गाको पृथ्वीमें न ला सके । उनके भगीरथ पुत्र हुए, ये महा श्रीमान् धर्म करनेवाले, सत्यवादी और द्वेष रहित थे, राजा दिलीप भगीरथको राज्य दे आप वनको चले गये । हे भरतर्षभ ! वनमें जाकर राजा दिलीप कुछ समयके पश्चात् सिद्धि और योगके बलसे अपने शरीरको छोडकर स्वर्गको गये । (६६—७०) [४४३८]

वनपर्वमें एकसौ सात अध्याय समाप्त ।

लोमश उवाच— स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥
स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ॥ ३ ॥
आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः।
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥
शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम्।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥
नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम्।
गुहाकन्दरसंलीनसिंहव्याघ्रनिषेवितम् ॥ ६ ॥
शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवञ्जीवककोकिलैः।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥
जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम्।

वनपर्वमें एकसौ आठ अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन्! राजा भगीरथ महा धनुषधारी महारथ और चक्रवर्ती राजा हुए। उनको देखकर सब जगत्के मन और नेत्रोंको आनन्द होता था। महाबाहु भगीरथने जब सुना कि हमारे पितृ लोगोंको महात्मा कपिलने भस्म किया था, और उनको स्वर्ग नहीं मिला, तब दुःखित मन होकर अपना राज्य मन्त्रीको दे आप हिमाचलको चले गये। हे नरनाथ! उन्होंने विचारा, कि हम तपसे निष्पाप होकर गंगाकी आराधना करेंगे। (१-४)

हे नरश्रेष्ठ! उन्होंने जाकर अनेक धातु सहित शृंगोंसे भूषित, वायुसे चले हुए मेघोंसे चारों ओर भींगे हुए, नदी कुञ्ज और नितम्बोंसे शोभित, गुफाओंमें बैठे हुए सिंह और व्याघ्रोंसे सेवित, विचित्र शरीर और अनेक प्रकारके शब्दवाले पक्षियोंसे विराजमान, भौंरे, हंस, सारस, जल कुक्कुट, मोर, शतपत्र, कोयल, चकोर, असितापांग और पुत्राप्रिय आदि पक्षियोंके शब्दोंसे शोभित, तलावोंमें पद्मोंके समूहसे विराजमान,

सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ॥ ९ ॥
किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद् घृष्टपादपम् ॥ १० ॥
विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजङ्गैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥
क्वचित्काननसंकाशं क्वचिद्रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥
स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसंभक्षः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ १३ ॥
संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥
गङ्गोवाच— किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद्ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि ॥ १६ ॥
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।

सारसों के मीठे वचनों से भूषित, पर्व्वतोंमें श्रेष्ठ हिमाचलको देखा जिसकी शिलाओंपर किन्नर और अप्सरा आनन्द कर रहे थे, जहांके वृक्ष दिग्गजोंके दातोंसे चिर गये थे, जहां विद्याधर लोग आनन्द कर रहे थे, जो अनेक रत्न और विषसे भरे हुए दो जीभवाले सर्पोंसे प्रकाशित हो रहा था, जो हिमाचल कहीं सोनेके कहीं चांदीके और कहीं अञ्जनके समान वर्णवाला था, उस पर महाराज भगीरथ पहुंचे। (४—१२)

वहां जाकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगीरथने फल मूल और जल भक्षण करके एक सहस्र वर्षतक घोर तप किया, जब दिव्य सहस्र वर्ष बीत गया सब महानदी गंगाजी अपना स्वरूप धारण करके भगीरथके सन्मुख आई। गंगाजी बोली, हे महाराज! तुम हमसे क्या चाहते हो? जो तुम कहो सो ही हम करें और जो तुम कहो सोही हम दें। (१३—१५)

गंगाजीके ऐसे वचन सुन हिमाचलकी पुत्रीसे भगीरथ बोले, हे वर देनेवाली महानदी! मेरे पितामह लोग घोडेको ढूंढते महात्मा कपिलके समीप गये थे, उन्होंने उनको नष्ट कर दिया;

षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ॥ १८ ॥
यावत्तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाऽभिषिञ्चसि ।
तावत्तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदि ॥ १९ ॥
स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन्सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ॥ २० ॥
लोमश उवाच— एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता ।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २१ ॥
करिष्यामि महाराज वचस्ते नाऽत्र संशयः ।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाद्भुवम् ॥ २२ ॥
न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद्धारयितुं नृप ।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥ २३ ॥
तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम् ।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ॥ २४ ॥
स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया ।
एतच्छ्रुत्वा ततो राजन्महाराजो भगीरथः ॥ २५ ॥

सगर महात्माके साठ हजार पुत्र भगवान् कपिलके क्रोधसे क्षणभरमें भस्म हो गये; इस प्रकार नष्ट हुए सगर पुत्रोंको स्वर्गमें वास भी न मिला; हे महानदी ! जब तक आप उनके शरीरों को अपने जलसे स्नान न करावेंगी, तब तक सगरके पुत्रोंको स्वर्ग न होगा; हे महानदी ! हे महाभागे ! सगरके पुत्र हमारे पुरुषोंको स्वर्गमें पहुंचाइये; यही वरदान हम आपसे मांगते हैं। (१६—२०)

श्रीलोमश मुनि बोले, लोकपूजिता गंगाजीने राजाके वचन सुन प्रसन्न हो भगीरथसे कहा, हे महाराज ! हम निःसन्देह तुम्हारे वचनको करेंगी, परन्तु हमारा वेग बहुत घोर है उसे धारण करनेको पृथ्वीमें कोई समर्थ नहीं है, हे नरनाथ ! उसको नीलकण्ठ शिवजी ही धारण कर सकते हैं ; हे महाबाहो ! तुम वर देनेवाले शिवजीको तपस्यासे प्रसन्न करो, वही महादेव स्वर्गसे गिरी हुई हमको अपने सिर पर धारण करेंगे! वह पितरोंके हितके निमित्त तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे। हे राजन् ! महाराज

कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम् ।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ॥ २६ ॥
अगृह्णाच वरं तस्माद्गङ्गाया धारणे नृप ।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥ २७ ॥ [४४६५]

इति श्रीमहा० पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः १०८॥

लोमश उवाच— भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम् ।
एवमस्त्विति राजानं भगवान्प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
धारयिष्ये महाभाग गगनात्प्रच्युतां शिवाम् ।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥ २ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत् ।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ३ ॥
तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह ।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ॥ ४ ॥
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात् ।
एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ॥ ५ ॥
प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत् ।

भगीरथने गंगाजीके वचन सुन कैलास पर्वतमें जा घोर तपस्या करके शिवजीको प्रसन्न किया । तब राजा भगीरथने अपने पितरोंके स्वर्गमें जानेके निमित्त शिवसे यही वरदान मांगा, कि आप गंगाजीको अपने सिर पर धारण कीजिये । (२१–२७) [४४६५]

वनपर्वमें एक सौ आठ अध्याय समाप्त

वनपर्वमें एक सौ नौ अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे महाराज ! राजा भगीरथके वचन सुन देवतोंकी प्रिय कामनासे भगवान शिवजीने उनके वचनको स्वीकार करके कहा, कि हे महाभाग ! हे राजोत्तम ! हम स्वर्गसे गिरती हुई कल्याण पवित्र देवनदीको तुम्हारे हितके निमित्त धारण करेंगे; हे महाबाहो ! शिवजी भगीरथसे ऐसे वचन कह नानाशस्त्रधारी गणके संग हिमाचल पर पहुंचे । वहां आकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगीरथसे बोले, कि हे महाबाहो ! अब तुम पर्वतराजपुत्री गंगाकी प्रार्थना करो, जब वे नदियोंमें श्रेष्ठ गंगा स्वर्गसे गिरेंगी तो हम धारण करेंगे । (१—५)

शिवजीके वचन सुन अपने मनको स्थिर और विनीत कर भगीरथने गंगा

ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ॥
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात्सहसा च्युता. ॥ ६ ॥
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ।
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ॥ ७ ॥
ततः पपात गगनाद्गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ८ ॥
समुद्धृतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन्गङ्गां गगनमेखलाम् ॥ ९ ॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।
सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन्समुद्रगा ॥ १० ॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पंक्तयः ।
क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित्क्वचित् ॥ ११ ॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाऽव्रजत् ।
क्वचित्सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥ १२ ॥
एवंप्रकारान्सुबहून्कुर्वती गगनाच्च्युता ॥
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाऽब्रवीत् ॥ १३ ॥
दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।

जीका ध्यान किया, उनके ध्यान करतेही और शिवजीको बैठे हुए देख पवित्र जलवाली रमणीय गंगा स्वर्गसे गिरीं। गंगाको गिरते हुए देख देवता, महाऋषि, गन्धर्व, सर्प, और यक्ष लोग देखनेकी इच्छासे आये। उसी समय हिमाचलकी पुत्री गंगा स्वर्गसे गिरीं। जिसमें बडी बडी तरंग उठती थीं, जो मछरी और ग्राहोंसे भरी हुई थीं, हे राजन्! उस आकाशके भूषणभूत गंगाको शिवजीने अपने शिर पर धारण किया। हे राजन्! वह तीन धारासे समुद्रमें जानेवाली गंगाजी शिवजीके शिर पर मोतीकी मालाके समान शोभित होने लगीं। (६-१०)

जो गंगाजी फेनोंसे भरी हुई, जलसे पूर्ण है, सो ऐसी विराजमान हुई, जैसी हंसकी पंक्ति, कहीं भौंरोंसे कुटिल, कहीं कहीं जलसे भरी हुई, उस समय गंगाजीकी फेनरूपी कपडा पहनेसे ऐसी शोभा बढी जैसी सुन्दरी स्त्रीकी। कहीं जलका घोर शब्द होने लगा, इस प्रकार आकाश से गिरती हुई गंगाकी शोभा बढी। अनन्तर पृथ्वीमें आकर गंगाजीने भगीरथसे कहा, कि हे पृथ्वीनाथ! हे महाराज! मैंने तुम्हारे लिये पृथ्वीमें

त्वदर्थमवतीर्णाऽस्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १४ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ॥
प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च ॥ १५ ॥
गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ॥ १६ ॥
समासाद्य समुद्रं च गङ्गया सहितो नृपः ।
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ॥ १७ ॥
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ।
पितॄणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ॥ १८ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ॥ १९ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थं महात्मना ॥ २० ॥
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥ [४४८६]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

औतार लिया है, कहो अब मैं कौनसे मार्गसे चलें ? (११—१४)

राजा भगीरथ गंगाजीके वचन सुन करके अपने पुरखोंको पवित्र जलसे स्नान करनेके निमित्त उधरही चले जिधर महात्मा सगरके साठ हजार पुत्र मरे पडे थे । (१४—१५)

अनन्तर शिवजी भी देवतों के सहित गंगाजीको धारण करके पर्वत श्रेष्ठ कैलासको चले गये। अनन्तर राजा भगीरथने गंगाको समुद्रतक पहुंचा दिया, गंगाने वरुणके स्थान समुद्रको अपने जलसे पूर्ण कर दिया, राजा भगीरथने गंगाको अपनी पुत्री बनाया और मनोरथ पूरा करके अपने पुरखोंको जल दान किया । (१६—१८)

हे महाराज! आपने जो हमसे गंगाका वृत्तान्त पूछा था, सो हमने आपसे सब कहा । इस प्रकार स्वर्ग मर्त और पातालमें जाने वाली गंगा समुद्रको पूर्ण करनेके निमित्त पृथ्वीमें आयी थीं और इस प्रकार महात्मा अगस्त्यने समुद्रको पीया था और इस प्रकार वातापी राक्षसका नाश हुआ था। अब आप जो हम से पूछें सो हम कहें। (१९-२१) [४४८६]

वनपर्वमें एकसौ नौ अध्याय समाप्त ।

वैशम्पायन उवाच— ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ॥ १ ॥
पर्वतं स समासाद्य हेमकूटमनामयम् ।
अचिन्त्यानद्भुतान्भावान्ददर्श सुबहून्नृपः ॥ २ ॥
वाताबद्धा भवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः ।
नाऽशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः ॥ ३ ॥
वायुर्नित्यं ववौ तत्र नित्यं देवश्च वर्षति ।
स्वाध्यायघोषश्च तथा श्रूयते न च दृश्यते ॥ ४ ॥
सायं प्रातश्च भगवान्दृश्यते हव्यवाहनः ।
मक्षिकाश्चाऽदशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः ॥ ५ ॥
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते च नः ।
एवं बहुविधान्भावानद्भुतान्वीक्ष्य पाण्डवः ॥
लोमशं पुनरेवाऽथ पर्यपृच्छत्तदद्भुतम् ॥ ६ ॥
लोमश उवाच— यथा श्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन ।
तदेकाग्रमना राजन्निबोध गदतो मम ॥ ७ ॥
अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः ।

वनपर्वमें एकसौ दस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भरत-कुलसिंह जनमेजय ! तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमसे चलते पाप भयका नाश करनेवाली नन्दा और अपर नन्दा नदी के तट पर पहुंचे, वहांपर सुन्दर हेमकूट नामक पर्वत पर जाकर राजा युधिष्ठिर ने अनेक अद्भुत भावोंको देखा। जहां सहस्रों मेघ और ओले वायुके वशसे स्थिर थे, जिनके भयसे पुरुष ऊपर नहीं जा सकते थे, इसीसे पुरुषोंको महादुःख होता था। जहां सदाही वायु चलता था और सदाही जल बरसता था, जहां कि वेदके मंत्र सुनाई देते थे, परन्तु पढने वालेका रूप नहीं दीखता था, जहां सन्ध्याको और भोरको भगवान अग्निके दर्शन होते थे, जहां तपके विघ्न करनेवाली मक्खी पुरुषोंको काटती थीं, जहां जानेसे चित्तको बहुत ग्लानि होती थी, जहां जानेसे घरके पुरुषकी स्मरण करते थे, महाराज युधिष्ठिरने ऐसी ऐसी अनेक विचित्र बातोंको देख लोमश ऋषिसे इसका कारण पूछा। (१—६)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे शत्रुनाशन! हमने इस विषयको जैसा सुना है, वैसा ही आपसे कहते हैं, आप एकाग्रचित्त

अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ॥ ८ ॥
स वै संभाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद्गिरिमुवाच ह ।
य इह व्याहरेत्कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा ॥ ९ ॥
वातं चाऽऽहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः ।
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्यते ॥ १० ॥
एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा ।
कृतानि]कानिचित्क्रोधात्प्रतिषिद्धानि कानिचित् ११ ॥
नन्दां त्वभिगता देवाः पुरा राजन्निति श्रुतिः ।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ॥ १२ ॥
ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः ।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिं प्रत्यूहरूपकम् ॥ १३ ॥
तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा ।
नाऽशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाऽधिरोहितुम् ॥ १४ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः ।
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग्भव ॥ १५ ॥

होकर सुनिये । इस ऋषभकूट नामक पर्वतमें एक ऋषभ नामक मुनि हुये थे, उनकी कई सौ वर्षकी अवस्था थी; परन्तु वे परम क्रोधी थे । उन्होंने किसीके वचन सुनकर महाक्रोधसे पर्वतसे कहा कि जो कोई यहां आकर कुछ बोलेगा, उसके उपर पाषाण बरसो, अनन्तर मुनिने क्रोध करके वायुसे कहा कि शब्द मत करो, जो यहां बोलेगा उसका मेघका शब्द निवारण करेगा । हे महाराज ! इस प्रकार उस महाऋषिने क्रोधके वशमें होकर अनेक अद्भुत कर्म किये और अनेक कर्मोंको रोक दिया । (७--११)

हे राजन् ! हमने सुना है, कि पहले समयमें देवता लोग नन्दापर गये थे और मनुष्य लोगभी उनके दर्शनकी इच्छासे उनके पीछे गये थे । वहां इन्द्रादिक देवतोंने पुरुषोंको दर्शन देना नहीं चाहा । तब यह विघ्नरूपी दुर्ग बनाया है । यह देश इसके बीचमें है, हे कुन्ती नन्दन ! तबहीसे मनुष्य लोग इस पर्व्वतको देखभी नहीं सकते हैं और चढनेकी तो कथाही क्या है ? हे कुन्तीनन्दन ! विना तप किये हुए, इस महा पर्वतको कोईभी पुरुष नहीं देख सकता है, अतएव तुम मौनधारी हो जाओ । (१२--१५)

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान् ।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥ १६ ॥
कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम् ।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ॥ १७ ॥
देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत ।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ॥ १८ ॥
इहाऽऽप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माऽभिहन्यते ।
कुरुश्रेष्ठाऽभिषेकं वै तस्मात्कुरु सहानुजः ॥ १९ ॥
ततो नन्दाप्लुतांगस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि ।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच–ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः ।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् २१॥
एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चाऽत्र प्रकाशते ॥
आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः॥ २२ ॥
ऋश्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ।

हे भारत ! इसही स्थान पर देवतोंने उत्तम उत्तम यज्ञ किये हैं, जिनके चिह्न अभीतक दीखते हैं, देखो यह ! कुशाके समान दूर्वा, बिछौनेके समान भूमि और यूपके समान अनेक वृक्ष लगे हैं। हे पृथ्वीनाथ ! हे भारत ! यहांपर अबभी अनेक देवता और ऋषि वसते हैं, उनहीके अग्निहोत्रकी अग्नि प्रातःकाल और सन्ध्या समय दीखती है।हे कुन्तीनन्दन! वहां स्नान करनेसे उसही समय पाप नष्ट हो जाता है, इस लिये हे कुरुश्रेष्ठ ! आप अपने भाइयोंके सहित यहां स्नान कीजिये, यहां स्नान करनेके पश्चात् तुमको कौशिकी नदी मिलेगी, जहां विश्वामित्र मुनिने घोर तप किया था। (१६—२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, राजा युधिष्ठिरने अपने पुरुषोंके सहित नन्दामें स्नान किया, वहांसे पवित्र, रम्य, सुन्दर, शीतल जलवाली कौशिकी नदीको चले। श्री लोमश मुनि बोले, हे भरतकुल सिंह! यही पवित्र देवनदी कौशिकी है, यहीं विश्वामित्र मुनिका रमणीय आश्रम है, और यह महात्मा काश्यप मुनिका पवित्र आश्रम है। यहीं जितेन्द्रिय तपस्वी काश्यप मुनिके पुत्र ऋश्यशृङ्गका

तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम् ॥ २३ ॥
अनावृष्ट्यां भयाद्यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥ २४ ॥
मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः ।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराऽद्भुतं महत् ॥ २५ ॥
निर्वर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः ।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— ऋश्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः ।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ॥ २७ ॥
किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः ।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥ २८ ॥
कथंरूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता ।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥ २९ ॥
लोमपादश्च राजर्षिर्यदाऽश्रूयत धार्मिकः ।
कथं वै विषये तस्य नाऽवर्षत्पाकशासनः ॥ ३० ॥
एतन्मे भगवन्सर्वं विस्तरेण यथातथम् ।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋश्यशृंगस्य चेष्टितम् ॥ ३१ ॥

जन्म हुआ था, जिन्होंने अपने तपके प्रभावसे जल बरसाया था, जिनके भयसे अकालमें इन्द्रने वर्षा करी थी, वह काश्यपके पुत्र तेजस्वी ऋश्यशृंग ऋषि हरनीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, यह अद्भुत वार्त्ता लोमपाद राजाके राज्यमें हुई थी, जिनको बहुत धान्य उत्पन्न होनेके पश्चात् राजा लोमपादने अपनी पुत्री शान्ता इस प्रकार दान करी थी जैसे सूर्य्यने सावित्री । (२१—२६)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे ब्रह्मन् ! काश्यप मुनिके वीर्य्य और हरिनीके गर्भसे ऋश्यशृंङ्ग मुनिका जन्म किस प्रकार हुआ ? क्योंकि यह योनि सम्बन्धके विरुद्ध जान पडता है; कैसे कैसे उन्होंने तप किया ? और अकालके समयमें उस बुद्धिमान बालकके भयसे वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्रने क्यों जल बरसाया था ? और जिसने उस हरिनरूपी महामुनिके चित्तको लुभाया था, वह व्रत धारिणी राजपुत्री शान्ता कैसी रूपवती थी, हमने सुना है, कि राज ऋषि महाराज लोमपाद परम धार्मिक थे, तब उनके राज्यमें इन्द्रने क्यों नहीं पानी बरसाया था ? हे भगवान ! इस सब कथाको आप हमसे विस्तारपूर्वक

लोमश उवाच— विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः।
अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ॥ ३२ ॥
शृणु पुत्रो यथा जात ऋश्यशृङ्गः प्रतापवान्।
महाह्रस्य महातेजा बालः स्थविरसंमतः ॥ ३३ ॥
महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ॥ ३४ ॥
तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम्।
अप्सूपस्पृशतो राजन्मृगी तच्चाऽपिबत्तदा ॥ ३५ ॥
सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाऽभवत्ततः।
सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ॥ ३६ ॥
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे
अमोघत्वाद्विधेश्चैव भावित्वाद्दैवनिर्मितात् ॥ ३७ ॥
तस्यां मृग्यां समभवत्तस्य पुत्रो महानृषिः।
ऋश्यशृंगस्तपोनित्यो वन एवाऽभ्यवर्तत ॥ ३८ ॥
तस्यर्षेः शृंगं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः।

और ठीक ठीक कहिये हमको सुननेकी बहुत इच्छा है। (२७—३१)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे महाराज! तपसे आत्मदर्शी प्रजापतिके समान तेजवाले अमोघ वीर्य्य विभाण्डक नामक ऋषिके जिस प्रकार प्रतापवान ऋश्य शृङ्ग पुत्र हुए सो कथा हम आपसे कहते हैं, सुनिये। तेजस्वी काश्यप मुनिके पुत्र शृङ्गी ऋषि बालक होने परभी बूढोंके समान थे, देवतोंके समान तेजस्वी काश्यप मुनि एक बडे तडागके तट पर बैठकर तप करते थे, एक दिन उन्होंने जलमें स्नान करते उर्वशी अप्सरा को देखा, देखतेही उनका वीर्य स्खलित होगया, हे राजन्! उस वीर्य्य को एक हरिणी पी गई, वह हरिणी बहुत प्यासी थी, इस लिये गार्भिणी हो गई। वह हरिणी पहले जन्ममें देवकन्या थी, ब्रह्माके शापसे हरिनी बनी थी और ब्रह्माने यहभी कह दिया था, कि जब तेरे गर्भसे मुनिका जन्म होगा तबही तू इस योनिसे छूटेगी। ३२-३६

ब्रह्माका वचन अमोघ होनेके कारण और होनेवाले कार्यके अवश्य होनेके कारण उस हरिणीके गर्भसे महामुनि ऋश्यशृङ्ग का जन्म हुआ; ऋश्यशृङ्ग तप करनेके निमित्त सदा वनहीमें रहने लगे। हे राजन्! महात्मा ऋष्यशृङ्ग मुनिके

तेनर्श्यशृंग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ॥ ३९ ॥
न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ।
तस्मात्तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ॥ ४० ॥
एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ।
लोमपाद इति ख्यातो ह्यंगानामीश्वरोऽभवत् ॥ ४१ ॥
तेन कामात्कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः ।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्ततो वै जगतः पतिः ॥ ४२ ॥
पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ॥ ४३ ॥
स ब्राह्मणान्पर्यपृच्छत्तपोयुक्तान्मनीषिणः ।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान्पृथिवीपते ॥ ४४ ॥
कथं प्रवर्षेत्पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम् ।
तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः ॥ ४५ ॥
तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह ।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ॥ ४६ ॥
ऋश्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव ।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम् ॥ ४७ ॥

सिर पर एक सींग था; इसी लिये उन का नाम ऋश्यशृङ्ग हुआ । हे नरनाथ! उन्होंने अपने जन्ममें पिताके सिवाय दूसरे पुरुषोंको नहीं देखा था, इस लिये उनकी इच्छा ब्रह्मचारीही होनेमें रही । (३७—४०)

उस समय अङ्गदेशके राजा का नाम लोमपाद था वह राजा दशरथ का मित्र था, उस लोमपाद ने बुद्धिके भ्रम से एक ब्राह्मणको कहा, कि हम तुमको दान देंगे परन्तु फिर नहीं दिया, इस लिये महाराज लोमपादको ब्राह्मणों ने त्याग दिया, प्रारब्ध वश और पुरोहितके दोषसे उसके राज्यमें वर्षा न हुई, तब प्रजाको महा दुःख हुआ, तब राजा लोमपादने जल बरसानेमें समर्थ तपस्वी और महात्मा ब्राह्मणोंसे पूछा, कि जिस उपायसे जल बरसै सो कहिये। तब पण्डित लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार सम्मति बताई । (४१–४५)

उस सभामें एक मुनिने राजासे कहा, कि हे राजेन्द्र! आपसे ब्राह्मण लोग क्रुद्ध होगये हैं, इसका प्रायश्चित कीजिये। हे पृथ्वीनाथ ! आप काश्यप मुनिके

स चेदवतरेद्राजन्विषयं ते महातपाः ।
सद्यः प्रवर्षेत्पर्जन्य इति मे नाऽत्र संशयः ॥ ४८ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचो राजन्कृत्वा निष्कृतिमात्मनः ।
स गत्वा पुनरागच्छत्प्रसन्नेषु द्विजातिषु ॥ ४९ ॥
राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसंजहृषुः प्रजाः ।
ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान्मन्त्रकोविदान् ॥ ५० ॥
ऋश्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये ।
सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाऽच्युतः ॥ ५१ ॥
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः ।
ततश्चाऽऽनाययामास वारमुख्या महीपतिः ॥ ५२ ॥
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः ।
ऋष्यशृंगमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः ॥ ५३ ॥
लोभयित्वाऽभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः ।
ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः ॥ ५४ ॥
अशक्यमूचुस्तत्कार्यं विवर्णा गतचेतसः ।

पुत्र ऋश्यशृङ्गको बुलाइये वह केवल ब्रह्मचारी हैं वे स्त्रियोंके सुखको कुछभी नहीं जानते और वनवासी हैं, यदि महात्मा ऋश्यशृङ्ग आपके राज्यमें आवे तो उसही समय वर्षा होय, इस बातमें कोईभी सन्देह नहीं है । (४६–४८)

हे युधिष्ठिर ! राजा लोमपादने ब्राह्मणोंके ऐसे वचन सुन पवित्र स्थानमें जाकर अपना प्रायश्चित्त किया और ब्राह्मणोंको प्रसन्न कर फिर अपने घरमें आये, जब प्रजाने सुना कि महाराज आगये तो बहुतही आनन्द माना, अनन्तर अंगराज लोमपादने मन्त्र जाननेवाले मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे बूझ ऋश्यशृङ्ग मुनिके बुलानेका यत्न किया, उन्होंने शास्त्र जाननेवाले सब अर्थोंके पण्डित नीति निपुण मन्त्रियोंसे ऋश्यशृंगके बुलानेका उपाय स्थिरकर मुख्य वेश्याओंको बुलाया । (४९–५२)

अनन्तर राजाने प्रवीण वेश्याओंसे कहा, कि तुम किसी यत्नसे ऋषिपुत्र ऋश्यशृंगको यहां ले आओ । हे सुन्दरि ! उनके चित्तको लुभाकर विश्वास देकर हमारे राज्यमें ले आओ । वेश्यावोंको राजा के वचन सुन इधर राजाका और उधर ऋषिके शाप का भय हुआ, अनन्तर सब वेश्याओंने मलीन वर्ण और दुःखित होकर कहा, कि हे महाराज! यह काम होनेके

तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥
प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम् ।
अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५६ ॥
ततः शक्ष्याम्यानयितुमृश्यशृङ्गमृषेः सुतम् ।
तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात्स पार्थिवः ॥ ५७ ॥
धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च ।
ततो रूपेण संपन्ना वयसा च महीपते ॥
स्त्रिय आदाय काश्चित्सा जगाम वनमंजसा ॥ ५८ ॥ [४५४४]

इतिश्री महाभारते० तीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायामृश्यशृंगोपोख्याने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

लोमश उवाच— सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥ १ ॥
नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥ २ ॥
अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥
ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाऽऽश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥ ४ ॥

योग्य नहीं है, तब एक बूढी स्त्री राजासे बोली, कि हे महाराज! मैं उस तपोधन ऋषिके लानेका उपाय करूंगी, परन्तु आप आज्ञा दीजिये, कि जो मेरी इच्छा हो वही करूं, तब मैं ऋषिपुत्र ऋश्यशृङ्गको ला सकेंगी। राजाने उसके मनका सब अभिप्राय जानकर उसको बहुत धन और अनेक प्रकारके रत्न दिये, हे राजन्! वह बूढी स्त्री रूपसे भरी हुई नवीन यौवनवाली स्त्रियोंको संगमें ले शीघ्रही वनको चली गई। (५३-५८) [४५४४]

वनपर्वमें एकसौ दस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ ग्यारह अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे महाराज! उस बूढी स्त्रीने राजाकी आज्ञा मान उनको कार्य्यसिद्धिके निमित्त अपनी बुद्धि और राजाकी आज्ञासे अनेक फूले फले बनाये हुए वृक्षोंसे शोभित अनेक प्रकारके गुल्मोंके सहित मीठे फूल और फलोंसे भरा हुआ, परम रमणीय विचित्र दर्शनवाला एक नावोंका स्थान बनाया, और उस नावको काश्यपऋषिके आश्रमके समीपही बांध दिया और आश्रममें अपने दूतोंको भेज दिया।

ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्यताम् ।
दृष्ट्वाऽन्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद् बुद्धिसंमताम् ॥ ५ ॥
सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य संनिधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥ ६ ॥

वेश्योवाच—कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां कच्चिच वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद्भवान्रमते चाऽऽश्रमेऽस्मिंस्त्वां वै द्रष्टुं सांप्रतमागतोऽस्मि ॥ ७ ॥
कच्चित्तपो वर्द्धते तापसानां पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित्त्वया प्रीयते चैव विप्र कच्चित्स्वाध्यायः क्रियते चर्श्यशृङ्ग ॥ ८ ॥

ऋष्यशृंग उवाच-ऋद्ध्याभवाञ्ज्योतिरिव प्रकाशतेमन्येचाहं त्वामभिवादनीयम्
पाद्यं वै ते संप्रदास्यामि कामाद्यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥ ९ ॥
कौश्यां बृस्यामास्व यथोपजोषं कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क चाऽऽश्रमस्तव किं नाम चेदं व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत्त्वम् ॥ १० ॥

वेश्योवाच—ममाऽऽश्रमः काश्यपपुत्र रम्यस्त्रियोजनं शैलमिमं परेण ।
तत्र स्वधर्मो नाऽभिवादनं मे न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ॥ ११ ॥

एकदिन काश्यप मुनिको आश्रमसे बाहिर जाते देख अपनी बुद्धिमती पुत्रीको सब कार्य समझा उनके पास भेजा। (१-५)

वह बुद्धिमती वेश्या नित्य तप करने वाले मुनिके आश्रममें जाकर काश्यप मुनिके पुत्र शृङ्गीऋषिको देखकर कहने लगी। वेश्या बोली, हे मुने! कहिये आपके आश्रममें कुशल तो है? आपके यहां फल मूल तो उत्पन्न हुए हैं? कहिये आप आनन्दसे विहार तो करते हैं? मैं आज आपको देखनेहीको यहां आई हूं, कहिये आपके आश्रमके तपस्वी लोग तो अच्छे हैं न? कहिये, उनका तप तो आनन्दसे होता है? परम तेजस्वी आपके पिता काश्यप मुनि आपसे प्रेम करते हैं न? हे ऋश्यशृङ्ग! आपका वेदपाठ तो होता है? (६--८)

श्रीऋष्यशृङ्ग मुनि बोले, हम तुमको ज्योतिके समान प्रकाशमान देखकर प्रणाम करनेके योग्य जानते हैं, हम धर्मके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, फल और मूल देते हैं, यह कुशका आसन पडा है, और इस पर यह काले हरिनका चमडा बिछा है, इस पर आप सुखसे बैठिये। हे ब्रह्मन्! आपका कहां आश्रम है? और आपका क्या नाम है? और कौनसा व्रत देवोंके समान तुमने धारण किया है? (९--१०)

वेश्या बोली, हे कश्यप पुत्र! हमारा रमणीय आश्रम इस पर्वतके पास

भवता नाऽभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान्मया ।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन्परिष्वज्यो भवान्मया ॥ १२ ॥
ऋष्यशृंग उवाच—फलानि पक्कानि ददानि तेऽहं भल्लातकान्यामलकानि चैव ।
करूषकानींगुदधन्वनानि पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ॥ १३ ॥
लोमश उवाच-सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य ।
तान्यृश्यशृंगस्य महारसानि भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥ १४ ॥
ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति ।
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥ १५ ॥
सा कन्दुकेनाऽरमताऽस्य मूले विभज्यमाना फलिता लतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा समाश्लिषच्चाऽसकृदृश्यशृङ्गम् ॥ १६ ॥
सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्सुपुष्पितानवनाम्याऽवभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥ १७ ॥
अथर्श्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य पुनः पुनः पीडय च कायमस्य ।
अवेक्षमाणा शनकैर्जगाम कृत्वाऽग्निहोत्रस्य तदाऽपदेशम् ॥ १८ ॥

यहांसे बारह कोस है, हमको प्रणाम करना आपका धर्म नहीं है, और हम जलकाभी स्पर्श नहीं करेंगे, हे ब्रह्मन् ! हम आपको प्रणाम करने योग्य हैं, परन्तु आप हमको प्रणाम करने योग्य नहीं हैं। आपका परम धर्म हमसे लपटनाही है। (११--१२)

श्रीऋश्यशृंग मुनि बोले, हम तुमको पके हुए भिलावें, आमले, इंगुदी, धन्वन और पीपलके फल देते हैं, आप सुखसे भोजन कीजिये। श्रीलोमश मुनि बोले, उस वेश्याने उन सबको परित्याग करके ऋष्यशृंग मुनिको उत्तम उत्तम भोजन दिये। मुनि उसके रूपको देख और भक्षणकर बहुत प्रसन्न हुए, तब उस वेश्याने उनको सुगन्धसे भरी हुई माला विचित्र प्रकाशमान वस्त्र और पीनेको उत्तम उत्तम चीज दई, फिर प्रसन्न होकर हंसने और खेलने लगी। (१३-१५)

अनन्तर एक गेंद लेकर फली हुई लताके समान अनेक हाव भाव दिखाती हुई वहीं खेलने लगी, कभी मुनिके शरीरोंमें अपने शरीरको रगडती और कभी उनसे लपट जाती थी, कभी लज्जा हीन और मतवाली होकर साल, अशोक, और फूले हुए तिलोंके फूलोंसे खेलती थी, इस प्रकार उसने महर्षि काश्यपके पुत्र ऋश्यशृंगको लुभा लिया। अनन्तर ऋश्यशृंगको विकार सहित देख उनके शरीरोंको वार वार मल उनकी

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो विचेतनश्चाऽभवदृश्यशृङ्गः ।
तामेव भावेन गतेन शून्ये विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ॥ १९ ॥
ततो मुहूर्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान्वृत्तसमाधियुक्तो विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ॥ २० ॥
सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ॥ २१ ॥
न कल्प्यन्ते समिधः किन्नु तात कच्चिद् धुतं चाऽग्निहोत्रं त्वयाऽद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः कच्चित्सवत्साऽद्य कृता त्वया च ॥ २२ ॥
न वै यथापूर्वमिवाऽसि पुत्र चिन्तापरश्चाऽसि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाऽद्य किं तु पृच्छामि त्वां क इहाऽद्यागतोऽभूत् २३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मृश्यशृंगोपाख्याने एकदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥ [४५६७]

ऋश्यशृंग उवाच-इहाऽऽगतो जटिलो ब्रह्मचारी न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः स्वतः सुराणामिव शोभमानः ॥ १ ॥

ओर देखती हुई अग्निहोत्रका निमित्त करके धीरे धीरे चली गई। (१६—१८)

उसके जानेके पीछे ऋश्यशृंग कामदेवसे उन्मत्त होगये। एकान्तमें बैठ करके केवल उसहीका ध्यान करने लगे, और रोगीके समान सांस लेने लगे उसही समय पिङ्गलवर्ण नेत्रवाले नखून तक रूओंसे घिरे हुए, वेदपाठी, समाधि करनेवाले कश्यप मुनिके पुत्र विभाण्डक मुनि आये, उन्होंने अपने पुत्रको विपरीत एकान्तमें बैठे ध्यान करते, बार बार स्वास लेते केवल ऊपरको देखते हुए देख बूझा, हे पुत्र ! तुम आज समिधा क्यों नहीं लाते हो? तुमने अपने अग्निहोत्रको आज क्यों भूला दिया? क्या आज तुमने स्रुक और स्रुवेका स्पर्श नहीं किया? क्या तुमने आज गौके पास बछडेको नहीं छोडा? हे पुत्र! हम आज तुमको और दिनके समान न देख कर केवल चिन्तारत देखते हैं, आज तुम इतने दीन क्यों हो? हमारे पीछे आज यहां कौन आया था ? (१९–२३) [४५६७]

वनपर्वमें एकसौ ग्यारह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ बारह अध्याय ।

श्रीऋष्यशृङ्ग मुनि बोले, यहां आज एक जटाधारी आये थे, न बहुत लम्बे और न बहुत छोटे थे, उनका रङ्ग सोनेके समान, नेत्र कमलके समान थे, भूषणोंसे साक्षात् देवता जान पडते थे,

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः सुश्लक्ष्णकृष्णाक्षिरतीवगौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥ २ ॥
आधाररूपा पुनरस्य कण्ठे विभ्राजते विद्युदिवाऽन्तरिक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठादजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥ ३ ॥
विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे कटिश्च तस्याऽतिकृतप्रमाणा ।
तथाऽस्य चीरान्तरतः प्रभाति हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ॥ ४ ॥
अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं विकूजितं पादयोः संप्रभाति ।
पाण्योश्च तद्वत्स्वनवन्निबद्धौ कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥ ५ ॥
विचेष्टमानस्य च तस्य तानि कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः ।
चीराणि तस्याऽद्भुतदर्शनानि नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥ ६ ॥
वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी तां शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ७॥
यथा वनं माधवमासि मध्ये समीरितं श्वसनेनेव भाति ।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥ ८ ॥
सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।

महा रूपवान सूर्यके समान तेजस्वी, चिकने और गोरे शरीरवाले थे, उनके नेत्र काले, जटा सुगन्धसे भरी काली बहुत लम्बी और सोनेकी रस्सियोंसे गुही थीं, उनके कण्ठमें एक भूषण ऐसा प्रकाशित था जैसे आकाशमें बिजुली, और हृदयमें दो पिण्ड थे, वे बहुत मनोहर और रोमरहित थे, उनका नाभिदेश बहुतही सुन्दर था; उनकी कमर अत्यन्त पतली मानो शरीरमें थीही नहीं और उनके वस्त्रोंके भीतर एक सोनेकी करधनी अत्यन्त शोभित थी और एक विचित्र वस्तु उनके पैरमें थी जिसमें शब्द होता था, उनके हाथोंमें बजनेवाली नौगरी इस प्रकार शोभित थीं, जैसी मेरी यह रुद्राक्ष माला । (१—५)

जब वह चलते थे तो वे सब भूषण ऐसे बजते थे, जैसे तालावमें मतवाले हंस बोलते हैं । उनके वस्त्र ऐसे सुन्दर थे, जैसे हमारे नहीं हैं, उनका मुख ऐसा सुन्दर था कि जिसको देखकर मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ, उनकी कोकिलके समान वाणी सुनकर मेरा हृदय व्यथित हो गया । उसका स्वास ऐसा सुगन्धित था जैसे वसन्तऋतुकी वायु । हे तात ! वह ब्रह्मचारी उत्तम गन्ध और वायुसे सेवित होकर बहुत

कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥ ९ ॥
तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं समाहरत्पाणिना दक्षिणेन ।
तद् भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥ १० ॥
तच्चाऽभिहत्वा परिवर्त्ततेऽसौ वातेरितो वृक्ष इवाऽवघूर्णन् ।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवाऽमराणां प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता॥११ ॥
स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं जटासु गृह्याऽभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं चकार तन्मे जनयत्प्रहर्षम् ॥१२ ॥
न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ फलानि चेमानि मयाऽऽहृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च माम‍वोचत्फलानि चाऽन्यानि समाददन्मे ॥१३॥
मयोपयुक्तानि फलानि यानि नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम् ।
न चाऽपि तेषां त्वगियं यथैषां साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ॥१४॥
तोयानि चैवाऽतिरसानि मह्यं प्रादात्स वै पातुमुदाररूपः ।
पत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो ममाऽभवद् भूश्चलितेव चाऽऽसीत्॥१५॥
इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः ।

सुन्दर भान होता था, उनकी जटा अत्यन्त संस्कार करी हुई और माथेके सामने से दोभाग दिखाई देती थीं, उनके कान पर अत्यन्त रूपवाले समान दो आभूषण थे । (६—९)

वे ब्रह्मचारी एक बैगनके फलको दक्षिण हाथमें लेकर बार बार उस भूमिकी ओर फेंकते और अद्भुत रूपसे उछालते थे । हे तात ! उसको बार बार मारकर वे इस प्रकार कांपते थे जैसे वायु लगने से वृक्ष कांपता है, उस देव पुत्रके समान ब्रह्मचारीको देख मेरे हृदयमें परम प्रेम और आनन्द उत्पन्न हुआ है, उसने मेरे शरीरसे अपने शरीरको मिलाकर मेरे मुंह पर अपनी जटाओंको डाला, अनन्तर अपने मुखसे मेरे मुखको मिलाकर कुछ शब्द कहा, उससे मुझको बहुत आनन्द हुआ, मैंने पाद्य और यह फल उनको दिये, परन्तु उन्होंने ग्रहण नहीं किये, और कहा, कि हम व्रत करते हैं, अनन्तर उन्होंने मुझको कुछ खानेकी वस्तु देई मेरे लाये हुए फलमें उनके फलोंके समान स्वाद नहीं थे जैसे उन फलोंके बकले थे, ऐसे इन फलोंके नहीं हैं । (१०–१४)

उस सुन्दर रूपवाले ब्रह्मचारीने मुझ को बहुत स्वादवाला जल पीनेको दिया, जिसके पीतेही मुझको अत्यन्त आनन्द हुआ और मुझे जान पडा, कि पृथ्वी चल रही है, उन्होंने मुझको गन्धसे भरी

यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव स आश्रमं तपसा द्योतमानः ॥ १६ ॥
गतेन तेनाऽस्मि कृतो विचेता गात्रं च मे संपरिदह्यतीव ।
इच्छामि तस्याऽन्तिकमाशु गन्तुं तं चेह नित्यं परिवर्तमानम्॥ १७ ॥
गच्छामि तस्याऽन्तिकमेव तात का नाम सा ब्रह्मचर्या च तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं यथा तपः स चरत्यार्यधर्मा ॥ १८ ॥
चर्तुं तथेच्छा हृदये ममाऽस्ति दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मृश्यशृंगोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥ [४५८६]

विभाण्डक उवाच— रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र रूपेण तेनाऽद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्याण्यभिरूपवन्ति विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ॥ १ ॥
सुरूपरूपाणि च तानि तात प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति तान्युग्ररूपाणि मुनीन्वनेषु ॥ २ ॥
न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा सतां लोकान्प्रार्थयानः कथंचित् ।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते पापाचारास्तापसस्तान्न पश्येत्॥ ३ ॥

हुई, रेशममें गुहीहुई विचित्ररूपवालीमाला दई है, जो तपमे प्रकाशमान ब्रह्मचारी यहां आये थे, उनके जानेसे मेरा चित्त उन्मत्तके समान हो गया है, और शरीर जले जाते हैं, मेरी इच्छा है कि या तो मैंही उनके आश्रमको शीघ्र चला जाऊं या वेही यहां आकर सदा रहैं। हे तात! मैं अब उनके आश्रमको जाता हूं देखूं उन्होंने कौनसा ब्रह्मचर्य धारण किया है? मेरी इच्छा है कि उन आर्यधर्म्मवाले ब्रह्मचारीके सङ्ग रह कर वैसाही तप करूं जैसा वे करते हैं। हे तात! उनके सङ्ग रहने और वैसेही काम करनेकी मेरी इच्छा हृदयको दुःखित कर रही है। (१५-१९)

वनपर्वमें एकसौ बारह अध्याय समाप्त। [४५८६]

वनपर्वमें एकसौ तेरह अध्याय।

श्रीविभाण्डक मुनि बोले, हे पुत्र! अनेक राक्षस लोग ऐसाही अद्भुत रूप धारण करके वनोंमें घूमा करते हैं, वे लोग बहुत बलवान रूपवाले और सदा तपस्यामें विघ्नकारी होते हैं। हे तात! वे परम सुन्दर रूपवाले राक्षस अनेक उपाय करके मुनियोंको लुभा लेते हैं, उन उत्तम रूपवालोंसे लोभित होकर सुख और लोकसे मुनि लोग नष्ट हो जाते हैं। स्थिर मनवाले कल्याणकी इच्छा करनेवाले मुनीश्वर लोग अत्यन्त प्रार्थना करने पर यदि उनकी सेवा करने लगते हैं, तो वे लोग तपमें विघ्न करके मुनिको कामकी ओर झुका देते हैं, इस

असज्जनेनाऽऽचरितानि पुत्र पापान्यपेयानि मधूनि तानि ।
माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति॥ ३ ॥
रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव ।
नाऽऽसादयामास यदा त्र्यहेण तदा स पर्यावबृतेऽऽश्रमाय ॥ ५ ॥
यदा पुनः काश्यपो वै जगाम फलान्याहर्तुं विधिनाऽऽश्रावणेन ।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम सा वेषयोषा मुनिमृश्यशृङ्गम् ॥ ६ ॥
दृष्ट्वैव तामृश्यशृङ्गः प्रहृष्टः संभ्रान्तरूपोऽभ्यपतत्तदानीम् ।
प्रोवाच चैनां भवतोऽऽश्रमाय गच्छाव यावन्न पिता ममैति॥ ७ ॥
ततो राजन्काश्यपस्यैकपुत्रं प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम् ।
प्रमोदयन्त्यो विविधैरुपायैराजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥ ८ ॥
संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु संतारितां नावमथाऽतिशुभ्राम् ।
नौराद्युपादाय तथैव चक्रे नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥ ९ ॥
अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा विभाण्डकस्याऽऽत्मजमेकपुत्रम् ।

लिये उन्हें नहीं देखना चाहिये।(१-३)

हे पुत्र ! यह जो माला तुमको उसने दई थी और पीनेकी वस्तु तुम्हें दी थी, ये सब पापियोंके योग्य हैं, वह जल नहीं बरन मद्य था, यह उत्तम गन्ध और परम प्रकाशवाली माला मुनियोंके योग्य नहीं है। इस प्रकार अपने पुत्रके मनमें उस स्त्रीको राक्षसरूप स्थिर करके उसको ढूंढने लगे, जब तीनदिन ढूंढने पर न पाया तो अपने आश्रमको चले गये, जब चौथे दिन विभाण्डक मुनि वेदोक्त विधिके अनुसार फल लेनेको गये, तब खूब सुन्दर वेष बनाकर वह वेश्या ऋश्यशृङ्ग मुनिको लुभानेके निमित्त आश्रम पर आई, उसको देखतेही ऋश्यशृङ्ग मुनि प्रसन्न होगये और उसी समय पृथ्वीमें गिर पडे और उससे कहने लगे कि तुम जलदी आओ जबतक हमारे पिता यहां न आवें तभीतक तुम और हम आश्रमको जावेंगे। (४-७)

अनन्तर उस वेश्याने काश्यपके पुत्र ऋश्यशृंगको अपने सङ्ग लेकर उस नाव में बिठादिया और उनको अनेक उपायोंसे प्रसन्न करती हुई राजा लोमपादके घरमें पहुंची। अनन्तर उस श्वेत और सुन्दर नावको ऐसे स्थान पर खडा किया, जहांसे आश्रम दीखता था, और उस आश्रमको नाव्याश्रम ऐसा नाम दे दिया। राजा लोमपाद विभाण्डक मुनिके पुत्र ऋश्यशृंगको अपने रनिवासमें ले गये उन्होंने वहां जाकर देखा कि मेघ प्रवेश हुआ, और सब जगत्

ददर्श देवं सहसा प्रविष्टमापूर्यमाणं च जगज्जलेन ॥ १० ॥
स लोमपादः परिपूर्णकामः सुतां ददावृश्यशृङ्गाय शान्ताम् ।
क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ॥ ११ ॥
विभाण्डकस्य व्रजतः स राजा पशून्प्रभूतान्पशुपांश्च वीरान् ।
समादिशत्पुत्रगृद्धी महर्षिर्विभाण्डकः परिपृच्छेद्यदा वः ॥ १२ ॥
स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च ।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे दासाः स्म सर्वे तव वाचिबद्धाः ॥१३॥
अथोपायात्स मुनिश्चण्डकोपः स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा ।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः ॥ १४ ॥
ततः स कोपेन विदीर्यमाण आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम् ।
जगाम चम्पां प्रति धक्ष्यमाणस्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम् ॥ १५ ॥
स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्घोषान्समासादितवान्समृद्धान् ।
गोपैश्च तैर्विधिवत्पूज्यमानो राजेव तां रात्रिमुवास तत्र ॥ १६ ॥
अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ गोपाः ।

जलसे पूर्ण हो गया। (८-१०)

अनन्तर राजा लोमपादने सबकाम सिद्ध करके ऋश्यशृङ्ग मुनिको अपनी शान्ता नामक पुत्री दई और जिसमें उनका क्रोध शान्त हो, इस लिये अनेक गौ और वाहन दिये, अनन्तर राजाने अनेक पशु देकर वीर और पशुपालोंसे कहा, कि जब विभाण्डक मुनि अपने आश्रम से आकर तुमसे अपने पुत्रके समाचार पूछें, तो हाथ जोडकर कहना कि, हे भगवन्! यह सब पशु और वाहन आपके पुत्रही के हैं, हम सब आपके दास और वचनसे बंधे हैं, कहिये आप का कौनसा काम करें। (११-१३)

अनन्तर महाक्रोधी विभाण्डक मुनि मूल और फल ले अपने आश्रम पर आकर अपने पुत्रको ढूंढने लगे, जब न पाया, तो महा क्रोध किया, उन्होंने क्रोध करके विचारा कि अवश्य राजाने कुछ विधान किया है, उस समय मुनिको ऐसा क्रोध हुआ मानो पृथ्वीको फाड डालेंगे। अनन्तर चम्पापुरी, अङ्गराज अङ्गदेश और राजाके नगरोंको भस्म करनेकी इच्छासे चले, मार्गमें काश्यप मुनि अत्यन्त थक गये और भूखसे बहुत व्याकुल हो गये, तब ऋद्धियोंसे भरे हुए अनेक गोपालोंको देखा, उन ग्वालोंने उनकी राजाके समान पूजा करी और विभाण्डक मुनि रातभर उन्हींके सङ्ग रहे।(१४-१६)

ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वं धनं तवेदं विहितं सुतस्य ॥ १७ ॥
देशेषु देशेषु स पूज्यमानस्तांश्चैव शृण्वन्मधुरान्प्रलापान् ।
प्रशान्तभूयिष्ठरजा प्रहृष्टः समाससादाऽङ्गपतिं पुरस्थम् ॥ १८ ॥
स पूजितस्तेन नरर्षभेण ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम् ।
शान्तां स्नुषां चैव ददर्श तत्र सौदामिनीमुच्चरन्तीं यथैव ॥ १९ ॥
ग्रामांश्च घोषांश्च सुतस्य दृष्ट्वा शान्तां च शान्तोऽस्य परः स कोपः ।
चकार तस्यैव परं प्रसादं विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ॥ २० ॥
स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षिरुवाच सूर्याग्निसमप्रभावः ।
जाते च पुत्रे वनमेवाऽव्रजेथा राज्ञः प्रियाण्यस्य सर्वाणि कृत्वा॥२१॥
स तद्वचः कृतवानृश्यशृङ्गो ययौ च यत्राऽस्य पिता बभूव ।
शान्ता चैनं पर्यचरन्नरेन्द्र खे रोहिणी सोममिवाऽनुकूला ॥ २२ ॥
अरुन्धती वा सुभगा वसिष्ठं लोपामुद्रा वा यथा ह्यगस्त्यम् ।
नलस्य वै दमयन्ती यथाऽभूद्यथा शची वज्रधरस्य चैव ॥ २३ ॥

मुनीश्वरने उनसे अत्यन्त सत्कार पाकर पूछा कि ये सब गौ और गोपाल किसके हैं ? उन्होंने कहा कि यह सब धन आपहीका है, आपहीके पुत्रने उपार्जित किया है। इसी प्रकार विभाण्डक मुनि स्थान स्थान पर पूजा पाते और मीठी वाणी सुनते हुए चले इससे उनका क्रोध भी शान्त होगया। अनन्तर वे राजाके पास नगरमें पहुंचे, राजाने उनकी बहुत पूजा करी, जब विभाण्डक मुनिने अपने पुत्र ऋश्यशृंगको स्वर्गमें इन्द्रके समान राजाके भवनमें विराजमान देखा और अपने पुत्रकी स्त्री शान्ताकोभी बिजुलीके समान रूपवती देखा। (१७—१९)

हे नरनाथ ! विभाण्डक मुनि पुत्रवधु शान्ता, पुत्रके धन घोष और गांवों को देख अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनका क्रोधभी शान्त हो गया, वे राजाकी प्रशंसाभी करने लगे। अनन्तर सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विभाण्डक मुनि अपने पुत्रको वहीं रहनेकी आज्ञा देकर बोले, कि जब तुमको पुत्र उत्पन्न हो जाय और इस राजाके सब काम कर चुको, तब वनही को चले आना। (२०—२१)

अनन्तर ऋश्यशृङ्ग मुनिने वैसाही किया और जहां इनके पिता थे वहींको चले गये। हे नरेन्द्र ! जिस प्रकार आकाशमें रोहिणी चन्द्रमाकी सुन्दरी, अरुन्धती वसिष्ठकी, लोपामुद्रा अगस्त्यकी, दमयन्ती नलकी, वज्रधारण करने

नारायणी चेन्द्रसेना बभूव वश्या नित्यं मुद्गलस्याऽऽजमीढ ।
तथा शान्ता ऋश्यशृङ्गं वनस्थं प्रीत्या युक्ता पर्यचरन्नरेन्द्र ॥ २४ ॥
तस्याऽऽश्रमः पुण्य एषो विभाति महाह्रदं शोभयन्पुण्यकीर्तिः ।
अत्र स्नातः कृतकृत्यो विशुद्धस्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहि राजन् ॥ २५ ॥४६११

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृश्यशृङ्गोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ११३॥

वैशम्पायन उवाच— ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय ।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामाऽऽयतनान्यथ ॥ १ ॥
स सागरं समासाद्य गङ्गायाः संगमे नृप ।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥ २ ॥
ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिङ्गान्प्रति भारत ॥ ३ ॥
लोमश उवाच— एते कलिङ्गाः कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी ।
यत्राऽयजत धर्मोऽपि देवाञ्शरणमेत्य वै ॥ ४ ॥
ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥ ५ ॥
समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।

वाले इन्द्रकी शची और नारायणी तथा इन्द्रसेना मुद्गलकी सेवा करती थीं, तैसेही अनुकूलाचारिणी शान्ता भी प्रीतिके सहित वनवासी ऋष्यशृङ्गकी सेवा करने लगी। हे अजमीढ वंशोत्पन्न युधिष्ठिर! यह पुण्य कीर्तिवाला तालाव उनहीका है। हे राजन्! इसमें स्नान करके कृत कृत्य और शुद्ध होकर दूसरे दूसरे तीर्थोंको चलिये। (२२—२५) [४६११]

वनपर्वमें एकसौ तेरह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ चौदह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर वहांसे कौशिकी पर गये, वहांसे क्रमसे सब तीर्थ और देवस्थानोंमें जाते हुए गङ्गा और समुद्रके संगममें पहुंचे, उन्होंने पांच सौ नदियोंके संगममें स्नान किया, अनन्तर महाराज वीर युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित कलिंग देशकी ओर समुद्रके तटसे चले। (१—३)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे कुन्तीनन्दन! यही कलिङ्ग देश है, यही वैतरणी नदी है; यहीं धर्मने देवतोंकी शरण लेकर यज्ञ करी थी। यह ऋषि और ब्राह्मणों से युक्त और यज्ञिय पर्वतसे शोभित इस नदीके उत्तर तीर है, यह स्वर्ग जाने-

अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥ ६ ॥
अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान्मखे ।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान्सकलान्वशीः ॥८ ॥
ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयाञ्चक्रिरे तदा ॥ ९ ॥
ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
तत्राऽनुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १० ॥
अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः संकल्पयामासुर्भयाद्रुद्रस्य शाश्वतम् ॥११॥
इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः ।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाऽभिप्रकाशते ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य महाभागास्तर्पयाञ्चक्रिरे पितॄन् ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच— उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात् ।

वाले पुरुषोंको विमानके समान है, इसी स्थानमें पहले ऋषियोंने अनेक यज्ञ किये थे। (४—६)

हे राजेंद्र! यहीं पर शिवजीने यज्ञके निमित्त पशुको हरण किया था, अनन्तर उस पशुको लेकर शिवजीने कहा, कि यह हमारा भाग है; जब वह पशु गुप्त हो गया तो, देवतोंने शिवजीसे कहा कि तुम दूसरेके धनको अपना मत बतलाओ सब धर्मको नष्ट मत करो। अनन्तर सब देवतोंने शिवजीकी स्तुति करी; अनन्तर वह यज्ञ समाप्त हुआ। तब देवतोंने इष्टिसे उनका तर्पण और मान किया; तब उन्होंने उस पशु-को छोड विमान पर चढ यात्रा करी। हे युधिष्ठिर! उसी दिनसे शिवका यज्ञ में भाग स्थिर हुआ, और देवतोंने शिव के भयसे यह सङ्कल्प किया कि, शिव-जीको उत्तमसे उत्तम भाग दिया करें। इस स्थानमें जो पुरुष इस कथाको कह कर जलको छूता है, उसको देवलोकका मार्ग दीखने लगता है। (७—१२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर द्रौपदीके सहित महाभाग पाण्डव लोग वैतरणीके पार उतर पितरोंका तर्पण करने लगे। युधिष्ठिर बोले, हे लोमश!

मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥ १४ ॥
सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यामि प्रसादात्तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥ १५ ॥

लोमश उवाच– त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्व विशाम्पते ॥१६॥
एतत्स्वयंभुवो राजन्वनं दिव्यं प्रकाशते ।
यत्राऽयजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥ १७ ॥
यस्मिन्यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने ।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयंभुवा ॥ १८ ॥
अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा ।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥ १९ ॥
न मां मर्त्याय भगवन्कस्मैचिद्दातुमर्हसि ।
प्रदानं मोघमेतत्ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥ २० ॥
विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः ।
प्रसादयाम्बभूवाऽथ ततो भूमिं विशांपते ॥ २१ ॥
ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव ।
पुनरुन्नम्य सलिलाद्वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥ २२ ॥

हम इस जलको स्पर्श करतेही तपके बल से मनुष्य स्वभावसे छूट गये। हे सुव्रत ! अब आपकी कृपासे हमको सब लोक दीखने लगे, जप करनेवाले महात्मा वैखानस मुनियोंका शब्द सुनाई देता है। (१३—१५)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! हे पृथ्वीनाथ ! जो शब्द आपको सुनाई देता है, सो यहांसे तीन लाख योजन पर है, अतएव आप चुप रहिये। हे पृथ्वीनाथ ! हे राजेन्द्र ! यह जो वन दीखता है, सो ब्रह्माका है। इसीमें प्रताप वान विश्वकर्माने यज्ञ किया था, उसी यज्ञमें ब्रह्माने महात्मा कश्यपको पर्वत और वनोंके सहित पृथ्वी दे दी थी। हे कुन्तीनन्दन ! कश्यप मुनिके पास जातेही पृथ्वी रोने लगी और क्रोध करके ब्रह्मासे बोली, हे भगवन् ! आप मुझको किसी पुरुषको मत दीजिये, मैं आपके इस दानको व्यर्थ करनेके लिये रसातलको चली जाऊंगी। (१६—२०)

हे पृथ्वीनाथ ! पृथ्वीको खिन्न हुए देख, भगवान कश्यप मुनि उसको प्रसन्न करने लगे। हे पाण्डव ! पृथ्वी

सैषा प्रकाशते राजन्वेदी संस्थानलक्षणा ।
आरुह्याऽत्र महाराज वीर्यवान्वै भविष्यसि ॥ २३ ॥
सैषा सागरमासाद्य राजन्वेदी समाश्रिता ।
एतामारुह्य भद्रं ते त्वमेकस्तर सागरम् ॥ २४ ॥
अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य ।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्रमेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥ २५ ॥
ओं नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते ।
सान्निध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ॥ २६ ॥
अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो विष्णोरेतस्त्वममृतस्य नाभिः ।
एवं ब्रुवन्पाण्डव सत्यवाक्यं वेदीमिमां त्वं तरसाऽधिरोह ॥ २७ ॥
अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः ।
एवं जपन्पाण्डव सत्यवाक्यं ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥ २८ ॥
अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपाम्पतिः ।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत्।

उनके तपसे प्रसन्न होकर पुनः जलसे निकली और यज्ञकी वेदीके समान शोभित होने लगी, हे राजन् ! इसी लिये यह पृथ्वी वेदीके समान दीखती है आप इस पर बैठिये तो आपको बहुत बल होगा । हे राजन् ! यह वेदी समुद्र मेंसे निकली है, आप इसके ऊपर बैठकर एकलेही समुद्रको पार हो जाइये और हम ऐसा स्वस्ति मन्त्र पढेंगे, जिससे आप इसके ऊपर बैठ सकें । हे आजमीढ ! यह पुरुषके छूनेहीसे समुद्रमें चली जाती है । (२१-२५)

हे देवेश ! आप जगतके रक्षक और स्वामी हैं, हम आपको प्रणाम करते हैं, आप इस खारे जलके समुद्रमें रक्षा कीजिये । अग्नि, मित्र, योनि, जल, देवी, विष्णु ये सब अमृतकी नाभी हैं । हे पाण्डव ! आप इस मन्त्रको पढकर इस वेदी पर बैठिये । हे पाण्डव । पुरुषको उचित है, कि आगे लिखे हुए मन्त्रको पढकर समुद्रमें जाय । मन्त्र यह है, " हे समुद्र ! अग्नि तुम्हारी योनि और यज्ञ तुम्हारा देह है, तुम विष्णुके वीर्यको धारण करते हो, तुम मोक्षके साधन हो । हे पाण्डव ! इस प्रकार सत्यवादी पुरुष नदियोंके पति समुद्रमें जाय । हे कुरुश्रेष्ठ ! इस मन्त्रके विना पढे जलके स्वामी समुद्रको कुशासेभी नहीं छूना

कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ॥३०॥[४६४१]

इति श्रीमहाभारते०तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां महेन्द्राचलगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ११४॥

वैशम्पायन उवाच- स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः ।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥
लोमशस्तस्य तान्सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान् ।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वासिष्ठानथ काश्यपान् ॥ २ ॥
तान्समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
रामस्याऽनुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३ ॥
कदा तु रामो भगवांस्तापसान्दर्शयिष्यति ।
तेनैवाऽहं प्रसङ्गेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥ ४ ॥

अकृतव्रण उवाच- आयन्नेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः ।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥ ५ ॥
चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः ।
अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भविता श्वश्चतुर्दशी ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच- भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम् ।

चाहिये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर महात्मा युधिष्ठिर स्वस्ति मन्त्र सुनकर समुद्रमें गये, और लोमशकी आज्ञानुसार महेन्द्र पर्वत पर एक रात्रि रहे। (२६—३०) [४६४१]

वनपर्वमें एकसौ चौदह अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ पन्द्रह अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिरने वहां एक रात वास करके भाइयोंका बहुत सत्कार किया और लोमश मुनिने युधिष्ठिरसे वहांपर भृगु वंशी, अंगिरावंशी, वसिष्ठवंशी और कश्यपवंशी ऋषियोंका वर्णन किया। उन ऋषियोंके पास जाकर राजर्षि युधिष्ठिरने हाथ जोडके प्रणाम किया। परशुरामके अनुचर अकृतव्रण वीरसे कुशल प्रश्न किया, आप कब भगवान परशुरामका दर्शन ऋषियोंको करावेंगे? उसी प्रसङ्गमें मैं भी भृगुवंशी रामके दर्शन करना चाहता हूं। (१—४)

अकृतव्रण बोले, अन्तर्यामी भगवान परशुरामने आपको आते हुए जान लिया है, आपमें परशुरामकी बडी प्रीति है, वह आपको शीघ्रही दर्शन देंगे। चतुर्दशी और अष्टमीको ऋषिलोग परशुरामका दर्शन करते हैं, आजकी रात्रि बीतने पर कल चतुर्दशी होगी। (५-६)

युधिष्ठिर बोले, आप महा बलवान्

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥ ७ ॥
स भवान्कथयत्वद्य यथा रामेण निर्जिताः ।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥ ८ ॥
अकृतव्रण उवाच— हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ॥ ९ ॥
रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसंमितम् ।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्तवीर्यस्य भारत ॥ १० ॥
रामेण चाऽर्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः ।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ॥ ११ ॥
दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा ।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ १२ ॥
अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः ।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
ममर्द देवान्यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः ।
भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ॥ १४ ॥
ततो देवाः समेत्याऽऽहुर्ऋषयश्च महाव्रताः ।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥
भगवन्भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो ।

जमदग्नि-पुत्र परशुरामके सङ्ग रहनेवाले हैं, आपने उनके पहले कर्मोंको प्रत्यक्ष देखा है, सो आप अब यह कहिये कि परशुरामने क्षत्रियोंको युद्धमें क्यों और कैसे जीता? (७—८)

अकृतव्रण बोले, हे राजशार्दूल ! मैं आपसे महा उत्तम इतिहास भृगुवंशी जमदग्निके पुत्र परशुरामके चरित्रोंका वर्णन करता हूं, कि कैसे हैहयवंशी कृत-वीर्यके पुत्र अर्जुन को परशुरामने मारा था। हे पाण्डव ! उस अर्जुनके हजार हाथ थे। दत्तात्रेयकी कृपासे उसको सुवर्णका विमान और सब ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था, उनके रथकी गति कहीं नहीं रुकती थी, वह रथ पर चढके सर्वत्र घूमता था। वरदानके अभिमानसे देवता, यक्ष और ऋषियोंको तथा संपूर्ण प्राणियोंको चारों ओर पीडा देने लगा। (९—१४)

तब सब देवतोंने इकट्ठे होके देवतोंके देवता असुरारि सत्यपराक्रमी विष्णुसे विनय की। हे भगवन् ! संसारकी रक्षाके वास्ते अर्जुनको मारिये, वह हैहय

विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः ॥
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम् ॥ १६ ॥
ततस्तु भगवान्देवः शक्रेण सहितस्तदा ।
कार्तवीर्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत ॥ १७ ॥
यत्तद्भूतहितं कार्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम् ।
संप्रतिश्रुत्य तत्सर्वं भगवाँल्लोकपूजितः ॥ ॥ १८ ॥
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाऽऽश्रममण्डलम्
एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः ॥ १९ ॥
कान्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवः सुमहाबलः
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह ॥ २० ॥
वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा ।
ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत ॥ २१ ॥
तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
उचितं नः कुले किंचित्पूर्वैर्यत्संप्रवर्तितम् ॥ २२ ॥
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ॥ २३ ॥
न चापि भगवान्वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने ॥ २४ ॥

वंशका स्वामी दिव्य विमान पर बैठके शचीके स्वामी इन्द्रको दुःख देता है । ऐसा सुनके भगवान विष्णु कार्त्तवीर्य अर्जुनके नाश करनेका इन्द्रसे विचार करने लगे। देवपति इन्द्रने संसारके कल्याणका विचार बताया; उसको सुनके संसारके पूजने योग्य विष्णु अपने पवित्र आश्रम बदरिकारण्य को चले गये । (१६--१९)

हे युधिष्ठिर ! उसी समयमें एक महाबली राजा कन्नौज देशमें था । जिसका गाधी नाम जगत्में प्रसिद्ध था। वह राजा वनमें बसनेके वास्ते गया और वन हीमें उसके अप्सराके समान एक कन्या उत्पन्न हुई, भृगुवंशी ऋचीकने उस कन्याको राजासे मांगा। गाधी ऋचीकसे बोले, हे सत्यव्रती ब्राह्मण! हमारे कुलके अनुसार पुरुषोंने रीत बांध दी है कि, जो तुम हजार स्यामकर्ण श्वेतवर्णवाले और महा वेगवान घोडे मुझे देओ, तो मैं अपनी कन्याका तुमसे विवाह करूं, परंतु यह मैं आपको कैसे मांगूं ! तथापि आप जैसे

ऋचीक उवाच—एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुरानां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुताऽस्तु ते ॥ २५ ॥

अकृतव्रण उवाच—स तथेति प्रतिज्ञाय राजन्वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ॥ २६ ॥
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं प्रतिदीयताम् ।
तस्मै प्रादात्सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ॥ २७ ॥
तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः ।
गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ॥ २८ ॥
ततो गाधिः सुतां चाऽस्मै जन्याश्चाऽऽसन्सुरास्तदा ।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ॥ २९ ॥
धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः ।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥ ३० ॥
तं विवाहे कृते राजन्सभार्यमवलोककः ।
आजगाम भृगुश्रेष्ठः पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ॥ ३१ ॥
भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम् ।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥ ३२ ॥

महात्माको ही कन्या देनी है। १९-२४

ऋचीक बोले, कि मैं आपको एक हजार स्यामकर्ण श्वेतवर्ण और वेगवान् घोडे दूंगा, आपकी कन्या मेरी स्त्री हो। अकृतव्रण बोले, हे युधिष्ठिर ! ऐसी प्रतिज्ञा करके ऋचीकने वरुणसे जाकर कहा, एक हजार पाण्डु रङ्गके श्यामकर्ण वेगवान घोडे मुझे दीजिये, मैं इन्हें देकर अपना विवाह करूंगा। वरुणने ऋचीकको एक हजार स्यामकर्ण घोडे दिये। कन्नोज देशमें गङ्गाके तटपर जहां वे घोडे आकर खडे हुए, उसका नाम अश्वतीर्थ हुआ। तब राजा गाधीने अपनी सत्यवती नामकी कन्या ऋचीकको देदी। (२५—२९)

हे राजन् ! इस विवाहमें देवता लोग बरात आये थे। देवतोंको देख, हजार घोडे दे, ऋचीक मुनि धर्मके सहित उस कन्यासे विवाह करके स्वेच्छासे विहार करने लगे। हे राजन् ! भृगुवंशश्रेष्ठ भृगु मुनिने जब सुना कि ऋचीकका ब्याह होगया, तो उनको देखनेको आये। अपने पुत्रको स्त्रीके सहित देखके बहुत प्रसन्न हुए। जब ऋचीक मुनिने देखा कि हमारे पिता आये, तो दोनों स्त्री पुरुष खडे होगये और प्रीतिके सहित

ततः स्नुषां स भगवान्प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥ ३३ ॥
सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात् ।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ॥ ३४ ॥
भृगुरुवाच —— ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै ।
आलिंगेतां पृथग्वृक्षौ साऽश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ॥ ३५ ॥
चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च ।
विश्वमावर्तयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ॥ ३६ ॥
प्राशितव्यं प्रयत्नेन तेत्युक्त्वाऽदर्शनं गतः ।
आलिंगने चरौ चैव चक्रतुस्ते विपर्ययम् ॥ ३७ ॥
ततः पुनः स भगवान्काले बहुतिथे गते ।
दिव्यज्ञानाद्विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ॥ ३८ ॥
अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चाऽऽलिंगनं कृतम् ॥ ३९ ॥

देव पूजित पिताकी पूजा करी; उनको बिठलाकर दोनों हाथ जोडके खडे रहे। (२९—३२)

तब भगवान भृगु मुनिने प्रसन्न होकर बहूसे कहा, हे सुभगे ! तुम्हारी जो इच्छा हो हमसे सोई वरदान मांगो, हम देनेको उपस्थित हैं। सत्यवतीने अपने स्वसुरको प्रसन्न करके कहा, कि हे भगवन् ! आप हमको यह वरदान दीजिये कि हम और हमारी माता पुत्रवती हों। (३३—३४)

श्रीभृगुमुनि बोले,जिस दिन तुम्हारा और तुहारी माताका ऋतुस्नान हो और पुंसवनका दिन आवे,उस दिन तुम्हारी माता पीपलसे और तुम गूलरके वृक्षसे लपट जाना। हे भद्रे ! हम तुमको यह दो चरु देते हैं, मैंने विराटरूप भगवानकी उपासना करके इनको पाया है; इन दोनोंमें यह तुम खाना और यह अपनी माताको देना। ऐसा कहके भृगु मुनि अन्तर्धान हो गये। (३५--३७)

अनन्तर जब उन दोनों स्त्रियोंका ऋतुकाल आया तो वृक्षके आलिंगन और प्रसादके पात्रोंमें उलट पुलट हो-गया, अनन्तर भगवान भृगुने बहुत समय व्यतीत होनेके पश्चात् दिव्य दृष्टिसे यह सब बात जानली, और फिर उसी स्थान पर आये। महा तेजस्वी भगवान भृगुने अपनी पुत्रवधू सत्यवती से कहा, हे भद्रे ! तुमने अपनी खीर

विपरीतेन ते सुभ्रूर्मात्रा चैवाऽसि वञ्चिता ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥ ४० ॥
क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥ ४१ ॥
ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक्कामं पौत्रो भवेदिति ॥ ४२ ॥
एवमस्त्विति सा तेन पाण्डव प्रतिनन्दिता ।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ॥ ४३ ॥
तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम् ।
स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याऽध्ययनेन च ॥ ४४ ॥
बहूनृषीन्महातेजाः पाण्डवेयाऽत्यवर्तत ।
तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यगाद्भरतर्षभ ॥
चतुर्विधानि चाऽस्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ॥४५॥ [४६८६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

अकृतव्रण उवाच— स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः ।

नहीं खाई और वृक्षके लपटनेमेंभी उलटा हुआ । हे सुभ्रु ! तुमको तुम्हारी माताने ठग लिया, इस लिये तुम्हारा पुत्र होगा तो ब्राह्मण परन्तु उसकी वृत्ति क्षत्रियोंकी ऐसी होगी और तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्री होकर ब्राह्मणका धर्म करेगा, यद्यपि वह महा बलवान होगा परन्तु कर्म साधुओंका करेगा। ३७-४१

तब सत्यवतीने अपने श्वसुरको-बारबार प्रसन्न किया और कहा कि हे भगवन् ! चाहे हमारा पोता ऐसाही हो, परन्तु पुत्र ऐसा न हो । हे पाण्डव भृगुने कहा कि ऐसाही होगा । तब सत्यवती बहुत प्रसन्न हुई, समय आने पर सत्यवतीको पुत्र उत्पन्न हुआ; उनका नाम जमदग्नि हुआ । भृगुवंशवर्द्धन वह पुत्र परम तेजस्वी और वीर्यवान हुए, उन्होंने बडे होकर सब वेदोंको पढा । सूर्यके समान तेजस्वी जमदग्नि अपने कर्मोंके द्वारा अनेक ऋषियोंसे बढ गये । हे पाण्डव ! हे भरत कुलसिंह ! उन्होंने समस्त धनुर्वेदको पढा और चारों प्रकारके अस्त्र सीखे। ४२-४५ [४६८६]

वनपर्वमें एकसौ पन्द्रह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ सोलह अध्याय ।

अकृतव्रण बोले, महा तपस्वी जमदग्नि

तपस्तेपे ततो वेदान्नियमाद्वशमानयत् ॥ १ ॥
स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम् ।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥ २ ॥
रेणुकां त्वथ संप्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः ।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ॥ ३ ॥
तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः ।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥ ४ ॥
फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै ।
रेणुका स्नातुमगमत्कदाचिन्नियतव्रता ॥ ५ ॥
सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम् ।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ॥ ६ ॥
क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥ ७ ॥
व्यभिचाराच्च तस्मात्सा क्लिन्नाऽम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाऽऽश्रमं त्रस्ता तां वै भर्ताऽन्वबुध्यत ॥ ८ ॥
स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद्ब्राह्मया लक्ष्म्या विवर्जिताम्।
धिक्शब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥

ने चारों वेद पढकर महा तप किया। अनन्तर वे प्रसेनजित् नामक राजाके यहां गये; वहां जाकर उन्होंने राजाकी पुत्री रेणुकासे ब्याह किया, भार्गव-पुत्र जमदग्नि रेणुका स्त्रीको प्राप्त करके अपने आश्रम पर आये और आज्ञाकारिणी स्त्रीके सहित तप करने लगे। रेणुकाके गर्भसे परशुरामके सहित पांच पुत्र हुए, उन सबमें छोटे परंतु गुणोंमें श्रेष्ठ परशुराम थे। (१—४)

किसी समय जब सब लडके वनको फल लेनेके लिये चले गये, तब व्रत-धारिणी रेणुका स्नान करनेको गई; वहां पर मृतिकावतके पुत्र राजा चित्ररथको पद्ममाला धारण किये स्त्रियोंके सहित इच्छानुसार जलमें क्रीडा करते देख और उनको अत्यन्त धनवान देख रेणुकाकी इच्छा उनसे व्यभिचार करने की हुई। उनको देखतेही रेणुका जलहीमें स्खलित होगई। अनन्तर डरसे कांपती हुई वह अपने आश्रमको आई, पर यह सब समाचार उनके पतिने जान लिया। (५—८)

महा तेजस्वी वीर्यवान जमदग्निने

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान्नाम नामतः।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥ १० ॥
तानानुपूर्व्याद्भगवान्वधे मातुरचोदयत्।
न च ते जातसंस्नेहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ॥ ११ ॥
ततः शशाप तान्क्रोधात्ते शप्ताश्चेतनां जहुः।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ॥ १२ ॥
ततो रामोऽभ्ययात्पश्चादाश्रमं परवीरहा।
तमुवाच महाबाहुर्जमदग्निर्महातपाः ॥ १३ ॥
जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥ १४ ॥
ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः।
कोपोऽभ्यगच्छत्सहसा प्रसन्नश्चाऽब्रवीदिदम्॥ १५ ॥
ममेदं वचनात्तात कृतं ते कर्म दुष्करम्।
वृणीष्व कामान्धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥ १६ ॥
स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै।

उसको स्खलित, ब्राह्मतेज और वीर्यसे रहित देखकर बहुत धिक्कार दिया। उसी समय रेणुकाके बडे बेटे रुमण्वान् आये, उनके पीछे सुषेण, वसु और विश्वावसुभी आगये। भगवान जमदग्निने उन सबको क्रमसे रेणुकाके मारने की आज्ञा दी, परन्तु उन सबने माता के स्नेहसे कुछभी उत्तर न दिया। तब भगवान जमदग्निने क्रोध करके उन सबको शाप दिया। शाप सुनतेही वे सब अचेतन मृग और पक्षियोंके समान मूर्ख होगये। (९—१२)

उसी समय शत्रुओंके नाश करनेवाले परशुराम आश्रममें पहुंचे, महातपस्वी जमदग्निने उनसे कहा कि हे पुत्र! अपनी इस पापिनी माताको मार डालो और इसका कुछभी दुःख मत करो। परशुरामने उसी समय फरसा लेकर अपनी माताका सिर काट डाला। हे महाराज! यह देखकर महात्मा जमदग्निका क्रोध उसी समय शान्त होगया और प्रसन्न होकर बोले, हे तात! हे धर्मज्ञ! तुमने हमारे वचनसे यह कर्म किया है, इस लिये तुम्हारे हृदयमें जितनी इच्छा हो उतना वरदान मुझसे मांगो। (१३—१६)

परशुरामने अपने पितासे यह वरदान मांगे कि हमारी माता जी जाय,

पापेन तेन चाऽस्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ॥ १७ ॥
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।
ददौ च सर्वान्कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ॥ १८ ॥
कदाचित्तु तथैवाऽस्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो ।
अथाऽनूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ॥ १९ ॥
तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समार्चयत् ।
स युद्धमदसंमत्तो नाऽभ्यनन्दत्तथाऽर्चनम् ॥ २० ॥
प्रमथ्य चाऽऽश्रमात्तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात् ।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ २१ ॥
आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम् ।
गां च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥ २२ ॥
स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत् ।
तस्याऽथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥ २३ ॥
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून्परिघसंनिभान् ।
सहस्रसंमितान्राजन्प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २४ ॥

उसको हमारे मारनेका स्मरण न रहे, हमारे भाई पूर्वके समान अपनी अवस्था में आजावें, युद्धमें हमारे समान कोई वीर न हो, और हमारी आयु बहुत हो। हे भारत! महा तपस्वी जमदग्निने प्रसन्न होकर परशुरामको सब वरदान दिया। (१७-१८)

हे पृथ्वीनाथ! किसी दिन इनके पुत्र फिर ऐसेही वनको चले गये थे, उसी समय अनूप देशके स्वामी वीर कृतवीर्यके पुत्र वहां आये। उनके आश्रम पर पहुंचनेसे रेणुकाने उनकी पूजा करी, परन्तु वे युद्धके मदसे उन्मत्त थे, इस लिये उस पूजासे प्रसन्न न हुए। उन्होंने उस आश्रमके बडे बडे वृक्षोंको तोड डाला, भूमिको नष्ट भ्रष्ट कर दिया। कार्त्तवीर्यने अपने बलसे उनके यज्ञीय गौके बछडोंको गौके बडा आक्रोश करने पर भी छीन लिया। जब परशुराम अपने आश्रम पर आये तो जमदग्निने सब कथा कह सुनाई। परशुरामने रोती हुई गऊका शब्द सुनकर महा क्रोध किया। (१९-२२)

अनन्तर विचित्र धनुष धारण करके कालके वशवर्त्ती कार्त्तवीर्यके पीछे दौडे; भगवान शत्रुनाशन परशुरामने तीक्ष्ण बाणोंसे कार्त्तवीर्यके परिघके समान हजार हाथोंको काट डाला। हे राजन्!

अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा।
अर्जुनस्याऽथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ॥ २५ ॥
आश्रमस्थं विना रामं जमदग्निमुपाद्रवन्।
ते तं जघ्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ॥
असकृद्राामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत् ॥ २६ ॥
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर।
पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिन्दमाः ॥ २७ ॥
अपक्रान्तेषु वै तेषु जमदग्नौ तथागते।
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः ॥ २८ ॥
स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम्।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥ २९ ॥ [४७१५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

राम उवाच — ममाऽपराधात्तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः ॥ १ ॥
धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे।

परशुरामने युद्धमें पराक्रम करके कृतवीर्यके पुत्र अर्जुनको युद्धमें मारडाला। इसके पश्चात् अर्जुनके वंशवाले क्षत्री परशुरामसे बैर रखने लगे। (२३-२५)

एक दिन परशुरामके पीछे उन लोगोंने आश्रममें आके परशुरामके पिता तपस्वी, तेजस्वी, वीर्यवान और युद्ध न करनेवाले जमदग्निको मारडाला। हे युधिष्ठिर! जिस समय कार्त्तवीर्यके पुत्र जमदग्निको मारने लगे, उस समय वे बार बार परशुरामका नाम लेकर चिल्लाने लगे। जब शत्रुनाशन अर्जुनके पुत्र अपने बाणोंसे जमदग्निको मारकर चले गये, और जमदग्निभी स्वर्गको मरकर गये, तब भृगुनन्दन परशुराम समिधा लेकर अपने आश्रम पर पहुंचे। अपने पिता को इस प्रकार मरा हुआ देख दुःखमें भरकर रोने और चिल्लाने लगे। (२६—२९) [४७१५]

वनपर्वमें एकसौ सोलह अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ सतरह अध्याय।

श्रीपरशुराम बोले, हे तात! मेरेही अपराधसे उन क्षुद्र, मूर्ख कार्त्तवीर्यके पुत्रोंने आपको वनमें हरिनके समान बाणोंसे मारा है; हे तात! आप तो धर्मके जाननेवाले उत्तम मार्गमें चलनेवाले

मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः ॥ २ ॥
किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः ।
अयुध्यमानो वृद्धः सन्हतः शरशतैः शितैः ॥ ३ ॥
किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च ।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वाऽनपत्रपाः ॥ ४ ॥
लालप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ॥ ५ ॥
ददाह पितरं चाऽग्नौ रामः परपुरञ्जयः ।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ॥ ६ ॥
संक्रुद्धोऽतिबलः संख्ये शस्त्रमादाय वीर्यवान् ।
जघ्निवान्कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः ॥ ७ ॥
तेषां चाऽनुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
तांश्च सर्वानथाऽमृद्नाद्रामः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥ ९ ॥
स तेषु तर्पयामास भृगून्भृगुकुलोद्वहः ।

और सब प्राणियोंके हितू थे, आपकी मृत्यु इस प्रकार क्यों हुई ? उन दुष्टोंने कौनसा पाप नहीं किया, जिन्होंने तप करते हुए, युद्ध न करनेवाले, बूढे, आपको, सैकडों तीक्ष्ण बाणोंसे मारडाला? वे निर्लज्ज लोग धर्म जाननेवाले और युद्ध न करनेवाले आपको मारकर अपने मन्त्री और बान्धवोंसे क्या कहेंगे। (१-४)

हे नरनाथ! इस प्रकार महा तेजस्वी परशुरामने बहुत रोकर अपने पिताका प्रिय कार्य करनेवाले, शत्रुनाशन परशुरामने अपने पिताका और्ध्वदेहिक संस्कार करके अग्निमें जलाया और सब क्षत्रियोंके नाश करनेकी प्रतिज्ञा करी। अनन्तर महा बलवान परशुरामने अत्यन्त क्रोध कर अनेक शस्त्रोंको धारण कर कालके समान रूप धारणकरके कार्तवीर्यके पुत्रोंको नाश करने लगे। हे क्षत्रिय सिंह! कार्तवीर्यपुत्रों के सङ्ग और जो क्षत्री आये थे, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामने उनकाभी नाश कर दिया, इस प्रकार महात्मा परशुरामने इक्कीसवार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर दिया, और समन्त पञ्चक तीर्थमें जाकर क्षत्रियोंके रुधिरसे पांचतलावोंको भर दिया। (५--९)

साक्षाददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत् ॥ १० ॥
ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ॥ ११ ॥
वेदीं चाऽप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने ।
दश व्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशांपते ॥ १२ ॥
तां कश्यपस्याऽनुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा ।
व्यभजंस्ते तदा राजन्प्रख्याताः खाण्डवायनाः ॥१३॥
स प्रदाय महीं तस्मै काश्यपाय महात्मने ।
अस्मिन्महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥ १४ ॥
एवं वैरमभूत्तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः ।
पृथिवी चापि विजिता रामेणाऽमिततेजसा ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान्विप्रान्धर्मराजं च सानुजम् ॥ १६ ॥
स तमानर्च्य राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥ १७ ॥

भृगुवंशी परशुरामने उनहीं तलावों-में अपने पितरोंका तर्पण किया; वहीं उन्होंने साक्षात् ऋचीकका दर्शन किया ऋचीक मुनिने परशुरामको उस कर्मसे रोका; तब प्रतापवान परशुरामने यज्ञ करके इन्द्रको प्रसन्न किया, और यज्ञ करानेवालोंको सब पृथ्वी दे दी! उसी यज्ञमें परशुरामने महात्मा कश्यपको एक सोनेकी चौकी दी थी, जो चालीस हाथ लम्बी और छत्तीस हाथ चौडी थी। हे राजन्! अनन्तर कश्यप मुनिकी सम्मतिसे जिन ब्राह्मणोंने उस चौकी-को टुकडे टुकडे करके बांट लिया, वे ब्राह्मण खाण्डवायन नामसे प्रसिद्ध हुए। अनन्तर कश्यपको सब भूमि दानकर अब अनन्त पराक्रमी परशुराम इसी महेन्द्र पर्वतपर रहते हैं इस प्रकार परशुराम और जगत्के रहने वाले क्षत्रियोंसे वैर हुआ था, और इस प्रकार महा तेजस्वी परशुरामने पृथ्वीको जीता था। (१०–१५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पश्चात् चतुर्दशीके दिन महा तेजस्वी परशुराम ने ब्राह्मण और भाइयोंके सहित धर्मराज युधिष्ठिरको दर्शन दिया। महाराज युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित परशुरामकी पूजा करी। हे राजेन्द्र! राजोंमें श्रेष्ठ धर्मराजने ब्राह्मणोंकी भी पूजा करी।

अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥ १८ ॥[४७३३]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ११७॥

वैशम्पायन उवाच- गच्छन्स तीर्थानि महानुभावः पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा ।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि क्वचित्क्वचिद्भारत सागरस्य ॥ १ ॥
स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः ।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥ २ ॥
तत्रापि चाऽऽप्लुत्य महानुभावः संतर्पयामास पितॄन्सुरांश्च ।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ ३ ॥
ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम् ।
अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ ४ ॥
तत्राऽर्जुनस्याऽग्र्यधनुर्धरस्य निशम्य तत्कर्म नरैरशक्यम् ।
संपूज्यमानः परमर्षिसंघैः परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥ ५ ॥
स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च ।

परशुरामने युधिष्ठिरकी पूजाको ग्रहण-कर फिर उनकी पूजा करी और कहा कि आप एक रात्रि यहां निवास कीजिये, तब सब एक रात वहां रहे । फिर दक्षिणकी ओर चले । (१६-१८) ४७३३

वनपर्वमें एकसौ सतरह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ अठारह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर महानुभाव महाराज युधिष्ठिर पवित्र तीर्थोंमें घूमते समुद्रके तटपर ब्राह्मणोंसे सेवित अनेक तीर्थोंको देखने लगे । हे भारत ! वहांसे उत्तम चरित्रवाले पाण्डुके पुत्र सूर्यपुत्र यमसे उत्पन्न राजा युधिष्ठिर भाइओं के साथ तीर्थस्नानकर अत्यन्त पवित्र समुद्रगामिनी प्रशस्ता नाम नदी पर पहुंचे । हे परीक्षितनन्दन ! वहांभी उन्होंने स्नान करके पितर और देवतोंका तर्पण किया । सब ब्राह्मणोंको बहुत धन देकर समुद्रगामिनी गोदावरी की ओर चले, अनन्तर पाप रहित महाराज वीर युधिष्ठिर द्राविड देशमें जाकर समुद्रके तटपर अत्यन्त पुण्ययुक्त अगस्त्य तीर्थ और महा पवित्र नारी तीर्थ में पहुंचे, वहां पर उन्होंने धनुषधारियोंमें अग्र गण्य अर्जुनके उन कर्मोंको सुना जिसको मनुष्य लोग नहीं कर सकते हैं । वहां पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी महर्षियोंने बहुत पूजा करी, इससे वे बहुत प्रसन्न हुए । (१—५)

हे पृथ्वीनाथ ! हे जनमेजय ! इस

संपूजयन्विक्रममर्जुनस्य रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः ॥ ६ ॥
ततः सहस्राणि गवां प्रदाय तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ॥ ७ ॥
स तानि तीर्थानि च सागरस्य पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन्।
क्रमेण गच्छन्परिपूर्णकामः शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ ८ ॥
तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद।
तप्तं सुरैरत्र तपः पुरस्तादिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥
स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य वेदीं ददर्शाऽऽयतपीनबाहुः।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसंघैः समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ १० ॥
ततो वसूनां वसुधाधिपः स मरुद्गणानां च तथाऽश्विनोश्च।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणामिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ॥ ११ ॥
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य पतेरपां साध्यगणस्य चैव।
धातुः पितॄणां च तथा महात्मा रुद्रस्य राजन्सगणस्य चैव॥ १२ ॥
सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव पुण्याश्च ये चाऽप्यमरास्तथाऽन्ये।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां ददर्श राजा सुमनोहराणि॥ १३ ॥

प्रकार द्रौपदी और भाइयोंके सहित पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरने सब तीर्थोंमें स्नान किया और अर्जुनका पराक्रम सुनके बहुत प्रसन्न हुए। समुद्रके तटवाले उन तीर्थोंमें महाराज युधिष्ठिरने एक सहस्र गोदान किया; अनन्तर अर्जुनके गोदान संबंधी कथा कहने लगे। हे राजन्! समुद्रके तटके अनेक तीर्थोंको देखते देखते अत्यन्त पवित्र शूर्पारक तीर्थमें पहुंचे। वहां जानेसे उनके काम पूर्ण होगये। वहांसे कुछ दूर समुद्रके तटपर चलकर उस जगत् प्रसिद्ध वनमें पहुंचे जहां अनेक देवतोंने तप किया था, और अनेक धर्मपरायण राजोंने यज्ञ किये थे। (६–९)

वहां दृढ लम्बे और पुष्ट हाथ वाले महाराज युधिष्ठिरने धनुषधारियोंमें अग्रगण्य ऋचीक पुत्रकी वेदीको देखा, उस पवित्र वेदीके चारों ओर अनेक ऋषि लोग बैठे थे और पुण्य करनेवाले महात्मा उनकी पूजा करते थे। वहांसे पृथ्वीनाथ महात्मा महाराज युधिष्ठिर वसु, वायु, आश्विनीकुमार, यमराज, सूर्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु, परमेश्वर, आदित्य, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, साध्यगण, ब्रह्मा, पितर, गण सहित रुद्र, सरस्वती और सिद्धगणोंके आश्रम तथा अन्यभी जो पवित्र देव और उनके

तेषूपवासान्विबुधानुपोष्य दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥ १४ ॥
स तेन तीर्थेन तु सागरस्य पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भिस्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ १५ ॥
तत्राऽभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः सहानुजैर्देवगणान्पितॄंश्च ।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा ते चापि विप्राः सह लोमशेन ॥ १६ ॥
स द्वादशाहं जलवायुभक्षः कुर्वन्क्षपाहःसु तदाऽभिषेकम् ।
समंततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ १७ ॥
तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥ १८ ॥
ते वृष्णयः पाण्डुसुतान्समीक्ष्य भूमौ शयानान्मलदिग्धगात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्तनादम् ॥ १९ ॥
ततः स रामं च जनार्दनं च कार्ष्णिं च सांबं च शिनेश्च पौत्रम् ।

मनोहर स्थान थे, उन सबको देखने लगे। (१०-१३)

उन सब तीर्थोंमें महाराजने अनेक ब्राह्मणोंसे व्रत कराकर बहुत रत्न दान दिया और आपनेभी सब तीर्थोंमें स्नान किया और फिर शूर्पारक तीर्थमें पहुंचे। वहांसे समुद्रके तट होकर चलते और सब तीर्थोंके दर्शन करते हुए जगत् प्रसिद्ध ब्राह्मण और मरुतगणोंसे कहे हुए। प्रभास तीर्थमें पहुंचे। वहां जाकर अपने भाइयोंके सहित विशाल और लाल नेत्रवाले महाराज युधिष्ठिरने स्नान किया; फिर द्रौपदी और सब ब्राह्मणोंने लोमश मुनिके सहित स्नान किया; अनन्तर महाराजने पितर और देवतोंका तर्पण किया। वहां पर धर्म धारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने बारह दिन निवास किया, और वहां सबेरे और शामको स्नान करके तथा चारों और अग्नि प्रदीप्त करके जल और वायु भक्षण करके बारह दिन तपस्या की। (१४—१७)

जब यह समाचार द्वारकामें पहुंचा, तब वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और बलरामने भी सुना, कि स्वयं महाराजही अग्नि तापकर तप कर रहे हैं, उसी समय अपनी सेनाको सङ्ग लेकर अजमीढ वंशोत्पन्न युधिष्ठिरके दर्शनको आये। वहां जाकर वृष्णि वंशियोंने देखा कि पाण्डव लोग मैलसे भरे हुए शरीरवाले पृथ्वीमें बैठे हैं। दुःखके अयोग्य द्रौपदीको दुःखमें पडी देख तब लोग ऊंचे स्वरसे रोने लगे। अनन्तर

अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां चक्रे यथा धर्ममहीनसत्वः ॥ २० ॥
ते चापि सर्वान्प्रतिपूज्य पार्थास्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।
युधिष्ठिरं संपरिवार्य राजन्नुपाविशन्देवगणा यथेन्द्रम् ॥ २१ ॥
तेषां स सर्वं चरितं परेषां वने च वासं परमप्रतीतः ।
अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं निवेशनं हृष्टमनाः शशंस ॥ २२ ॥
श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीतास्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव ।
नेत्रोद्भवं संमुमुचुर्महार्हा दुःखार्जितं वारि महानुभावाः ॥ २३ ॥ [९७५६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां प्रभासे यादवपाण्डवसमागमेऽष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

जनमेजय उवाच— प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा ।
किमकुर्वन्कथाश्चैषां कास्तत्राऽऽसंस्तपोधन ॥ १ ॥
ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
वृष्णयः पाण्डवान्वीराः सुहृदश्च परस्परम् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच— प्रभासतीर्थं संप्राप्य पुण्यतीर्थं महोदधेः ।
वृष्णयः पाण्डवान्वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः ।

महापराक्रमी महाराज युधिष्ठिरने बलराम, श्रीकृष्ण, कृष्णके पुत्र साम्ब, और सात्यकी आदि वृष्णिवंशिओंकी यथायोग्य धर्मके अनुसार पूजा की । (१८-२०)

अनन्तर उन सब लोगोंने भी उस पूजाको ग्रहण करके पाण्डवोंका सत्कार किया । फिर जैसे इन्द्रके चारों ओर देवता लोग बैठते हैं, तैसेही युधिष्ठिरको घेरकर यादवलोग बैठ गये । अनन्तर महाराजने वनवासका सब चरित्र और अर्जुनकी इन्द्र लोक यात्रा आनन्दित होकर कह सुनाई । यह सुनकर और पाण्डवोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर महानुभाव यादव लोग अपनी आंखोंसे आंसू बहाने लगे । २१-२३) [४७३६]

वनपर्वमें एकसौ अठारह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ उन्नीस अध्याय ।

राजा जनमेजय बोले, हे तपोधन महानुभाव पाण्डव लोग जब प्रभास तीर्थमें पहुचे और जब यदुवंशी उनके दर्शनको आये तो उनका क्या वार्तालाप हुआ ? क्योंकि सब शास्त्रोंको जानने वाले महातमा पाण्डव और यादव लोग परस्पर बहुतही प्रेम रखते थे । (१-२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! समुद्रके तीर प्रभास क्षेत्रकी पवित्र भूमि

वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥ ४ ॥

बलदेव उवाच — न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय जंतोरधर्मश्च पराभवाय ।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥ ५ ॥
दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति न चास्य भूमिर्विवरं ददाति ।
धर्मादधर्मश्चरितो वरीयानितीव मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥ ६ ॥
दुर्योधने चापि विवर्धमाने युधिष्ठिरे चाऽसुखमात्तराज्ये ।
किं त्वत्र कर्तव्यमिति प्रजाभिः शंका मिथः संजनिता नराणाम् ७॥
अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो धर्मे धृतः सत्यधृतिःप्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच सुखाच पार्थो धर्मादपेतस्तु कथं विवर्धेत् ॥ ८ ॥
कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः ।
प्रवाज्य पार्थान्सुखमाप्नुवन्ति धिक्पापबुद्धीन्भरतप्रधानान् ॥ ९ ॥
किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः पितॄन्समागम्य परत्र पापः ।
पुत्रेषु सम्यक्चरितं मयेति पुत्रानपापान्व्यपरोप्य राज्यात् ॥ १० ॥

में वीर यादव लोग महाराजके चारों ओर बैठे; उन सबके बीचमें गौके दूध, कुन्द के पुष्प, चन्द्रमा और मृणालके समान सुन्दर रूपवाले हलधारी वनमालासे विराजमान श्रीबलरामजी श्रीकृष्णसे कहने लगे। (३—४)

बलदेवजी बोले, हे कृष्ण! धर्म करने से किसीकी उन्नति और अधर्म करनेसे अवनति नहीं होती, क्योंकि देखो महात्मा युधिष्ठिर जटा और भोजपत्रके वस्त्र धारण करके वनवासका दुःख सह रहे हैं, और दुर्योधन पृथ्वीका राज्य करता है, पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती ? इसीसे मूर्ख अधर्मको धर्मसे अच्छा समझते हैं। राज्य पाकर दुर्योधनको बढते और महाराजको दुःख पाते देख आज सब प्रजाओंमें चारों ओर यही शङ्का फैल रही है, कि अब क्या करना होगा। (५—७)

बडे आश्चर्यकी बात है, कि धर्मराज धर्म करनेवाले, सत्यवादी और महादानी महाराज युधिष्ठिर तो राज्यसुखसे भ्रष्ट हों, और अधर्मीकी वृद्धि हो; हम नहीं जानते कि भरतकुलके प्रधान पाण्डवोंको घरसे निकाल भीष्म, द्रोण, वृद्ध राजा धृतराष्ट्र किस प्रकार सुख भोग रहे हैं ? पाप रहित पाण्डवोंको वनको निकाल राजोंमें प्रधान पापी धृतराष्ट्र परलोकमें जाकर पितरोंकी सभामें बैठ, कैसे कहेंगे कि हमने सब लडकोंके सङ्ग समानही आचरण किया था ? (८—१०)

नाऽसौ धिया सम्प्रतिपश्यति स्म किं नाम कृत्वाऽहमचक्षुरेवम् ।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु प्रव्राज्य कौन्तेयमिति स्म राज्यात् ॥११॥
नूनं समृद्धान्पितृलोकभूमौ चामीकराभान्क्षितिजान्प्रफुल्लान् ।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः कृत्वा नृशंसं बत पश्यति स्म॥ १२॥
व्यूढोत्तरांसान्पृथुलोहिताक्षान्मिसान्स्म पृच्छन्स शृणाति नूनम् ।
प्रास्थापयद्यत्स वनं सशंको युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ॥ १३॥
योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य मुञ्चंति सैन्यानि शकृत्समूत्रम्॥ १४॥
स क्षुत्पिपासाध्वकृशास्तरस्वी समेत्य नानायुधबाणपाणिः ।
वने स्मरन्वासमिमं सुघोरं शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ॥ १५॥
न ह्यस्य वीर्येण बलेन कश्चित्समः पृथिव्यामपि विद्यतेऽन्यः ।
स शीतवातातपकर्शिताङ्गो न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ॥ १६॥
प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा वृकोदरः सानुचरान्रणेषु ।

इस पृथिवीके सब राजों में मैं अंधा किस कारणसे बना हूं और अब कुंतीपुत्र धर्मराज को वनमें भेजकर मुझे क्या अवस्था प्राप्त होगी यह उस धृतराष्ट्रके मनमें आता ही नहीं। हमको निश्चय होता है कि अब वह पुत्रोंके सहित शीघ्रही पितृलोककी भूमिमें जाकर वहांके सुवर्णके समान फूले हुए वृक्षोंको शीघ्र ही देखेगे। जिसने उंचे कन्धेवाले विशालनेत्रवाले युधिष्ठिरको शस्त्र और भाइयोंके सहित निःशङ्क होकर वनको निकाल दिया है, अवश्य उस धृतराष्ट्रकी ऊपर कही दशा होगी। (११--१३)

जो विशालबाहु भीमसेन शस्त्रोंके विनाही शत्रुओंकी महासेना का विनाश करते हैं, जिनका शब्द सुनतेही शत्रुओंकी सेना विष्ठा और मूत्र परित्याग करने लगती है, वेही अनेक शस्त्र और बाणोंके धारण करनेवाले वेगवान भीमसेन आज भूख, प्यास और मार्गकी थकाईसे दीन हो रहे हैं, ये शस्त्रास्त्र धारण करके वनमें अपनी अवस्थाका स्मरण करते हैं, हमें निश्चय है, कि ये उस वंशका सर्वनाश कर देंगे, क्योंकि इनके समान पृथ्वीमें कोईभी नहीं है, सो भीम शीत और वायुसे दुःखित होकर क्या युद्धमें अपने शत्रुओं का नाश न करेंगे ? (१४–१६)

जिन महारथ और वेगवान भीमसेनने एक रथसे पूर्वदेशके सब राजोंको सेनाके सहित जीत लिया था, वेही आज

स्वस्त्यागमद्योऽतिरथस्तरस्वी सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः ॥ १७ ॥
यः सिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्समागतान्दाक्षिणात्यान्महीपान् ।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य तरस्विनं तापसवेषरूपम् ॥ १८ ॥
यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः ।
सोऽयं वने मूलफलेन जीवञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः ॥ १९ ॥
सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो वेदीतलादुत्पतिता सुता या ।
सेयं वने वासमिमं सुदुःखं कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ॥ २० ॥
त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य देवेश्वरस्याप्यथवाऽश्विनोश्च ।
एषां सुराणां तनयाः कथं नु वने चरन्त्यस्तसुखाः सुखार्हाः ॥ २१ ॥
जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते ।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥ २२ ॥[४७७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
लोमशतीर्थयात्रायां बलरामवाक्य ऊनविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

सात्यकिरुवाच— न राम कालः परिदेवनाय यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे ।
समाचरामो ह्यनतीतकालं युधिष्ठिरो यद्यपि नाऽऽह किंचित् ॥ १ ॥

मुनियोंके वस्त्र पहनकर वनमें दुःख सह रहे हैं, जिस वेगवान सहदेवने दक्षिण देशके और सिन्धु नदीके तटवासी सब राजोंको एकलेहीने जीत लिया था, वेही आज मुनियोंका वेष धारण करके वनमें दुःख सह रहे हैं, जो युद्धमें उन्मत्त महा बलवान सहदेवने पश्चिमके सब राजोंको एकही रथसे जीत लिया था, वही आज जटाधारी मलिनरूपी होकर फल मूल खाय वनमें वास करते हैं। (१७—१९)

जो महारथ द्रुपदके यज्ञकुण्डसे निकली थी, सो पतिव्रता द्रौपदी दुःख सहने में अयोग्य होनेपरभी वनमें दुःख सह रही है। ये सुख के योग्य दुःखके अयोग्य तीन वर्गमें मुख्य, वायु इन्द्र और अश्विनीकुमारके पुत्र पाण्डव लोग स्त्रीके सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सङ्ग किस प्रकार दुःख सह रहे हैं? दुर्योधन को बढते हुए देख पर्वतोंके सहित पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती है। (२०—२२) [४७७८]

वनपर्वमें एकसौ उन्नीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ तीस अध्याय।

सात्यकी बोले, हे राम! अब यह समय दुःख करनेका नहीं है, और न समय बीतने पर कुछ उपाय हो सकता है, यद्यपि युधिष्ठिर हम लोगोंसे कुछ

ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके ते नाऽऽत्मना कर्म समारभन्ते।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः शिब्यादयो राम यथा ययातेः २॥
येषां तथा राम समारभन्ते कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा नाऽनाथवत्कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ॥ ३ ॥
कस्मादिमौ रामजनार्दनौ च प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ।
वसन्त्यरण्ये सह सोदरीयैस्त्रैलोक्यनाथानभिगम्य पार्थाः ॥ ४ ॥
निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ॥ ५ ॥
त्वं ह्येव कोपात्पृथिवीमपीमां संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा।
सधार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः ॥ ६ ॥
भ्राता च मे यः स सखा गुरुश्च जनार्दनस्याऽऽत्मसमश्च पार्थः।
यदर्थमैच्छन्मनुजाः सुपुत्रं शिष्यं गुरुं चाऽप्रतिकूलवादम् ॥ ७ ॥
यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्करोति कर्माग्र्यमपारणीयम्।
तस्याऽस्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रैर्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय ॥ ८ ॥

नहीं कहते हैं, तथापि यह नियम है, कि जो लोग नाथसहित होते हैं, वे अपनेसे कोई काम नहीं करते हैं, उनके कार्य सहायक लोग ऐसेही सिद्ध करते हैं, जैसे ययातिके कार्योंको शिबि आदि-ने करे थे, हे राम! उन लोगोंके सब कार्य स्वामी लोग अपनीही इच्छासे करने लगते हैं, परन्तु ये पुरुष श्रेष्ठ पाण्डव लोग सनाथ होने परभी अनाथके समान दुःख भोग रहे हैं। (१–३)

न जाने बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और साम्ब और हमारे जीतेभी महा राज युधिष्ठिर भाइयोंके सहित वनमें बसते हैं, न जाने तीन लोकके स्वामी श्रीकृष्ण इनके नाथ क्यों कहाते हैं? बस अब इसी समय विचित्र कवच धारण करनेवाली यादवोंकी समस्त सेना हस्तिनापुर पर चढाई करे, इसही समय बान्धवोंके सहित दुर्योधन यादवोंकी सेनासे मरकर यम लोकको जाय, आप अपने क्रोधसे पृथ्वीको वेष्टित कर सक-ते हैं जिस प्रकार इन्द्रने वृत्रासुरको मारा वैसेही शार्ङ्ग धनुषधारी कृष्णभी दुर्योधनका नाश करें। (४–६)

जो हमारे भाई, मित्र और गुरु कृष्णके प्राणके समान अर्जुन हैं, वे भी बैठे रहें; क्योंकि मनुष्य सुपुत्र और शिष्यको शत्रुके मारनेके वास्ते चाहते हैं, इसी लिये मैं दुर्योधनके अस्त्रोंको मेरे उत्तम अस्त्रोंसे निवारण कर तथा

कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः शरोत्तमैरुन्मथिताऽस्मि राम ।
खड्गेन चाऽहं निशितेन संख्ये कायाच्छिरस्तस्य बलात्प्रमथ्य ॥ ९ ॥
ततोऽस्य सर्वाननुगान्हनिष्ये दुर्योधनं चापि कुरूंश्च सर्वान् ।
आत्तायुधं मामिह रौहिणेय पश्यन्तु भैमा युधि जातहर्षाः १० ॥
निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्यानग्निं महाकक्षमिवाऽन्तकाले ।
प्रद्युम्नमुक्तान्निशितान्न शक्ताः सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः ॥ ११ ॥
जानामि वीर्यं च जयात्मजस्य कार्ष्णिर्भवत्येव यथा रणस्थः ।
सांबः ससूतं सरथं भुजाभ्यां दुःशासनं शास्तु बलात्प्रमथ्य ॥ १२ ॥
न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य ।
एतेन बालेन हि शंबरस्य दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम् ॥ १३ ॥
वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहुरेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः ।
को नाम सांबस्य महारथस्य रणे समक्षं रणमभ्युदीयात् ॥ १४ ॥
यथा प्रविश्याऽन्तरमन्तकस्य काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत ।
तथा प्रविश्याऽन्तरमस्य संख्ये को नाम जीवन्पुनराव्रजेच्च ॥ १५ ॥
द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम् ।

उसके सब सैनिकों का युद्धमें पराजय कर शस्त्र और सर्पके समान तथा अग्निके समान बाणोंसे उसका शिर काटूंगा, उस की सब सेनाको अपने तीक्ष्ण खड्गसे काट कर दुर्योधनके सब अनुचरोंको काटकर समस्त कौरवोंका क्षय करूंगा । हे रोहिणीपुत्र ! सब वीरलोग भयानक युद्धमें प्रसन्नता पूर्वक मेरे शस्त्रोंकी चतुरता देखें । (७–१०)

समस्त कुरुवीर प्रलयकालकी अग्निके समान एकले प्रद्युम्नके तीक्ष्णशस्त्रोंको नहीं सह सकते हैं ! प्रद्युम्न कृपाचार्य द्रोणाचार्य, विकर्ण और कर्णको जीत सकते हैं । मैं अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके पराक्रमको जानता हूं । जाम्बवतीके पुत्र साम्बको रणमें जीतनेको कौन समर्थ है ? जो कर्णके समेत दुःशासन-को रणमें जीतनेको समर्थ है । तथा जिसने बालअवस्थामें ही शम्बर दैत्यकी सैन्यको नाश किया था, जिसने वृत्त ऊरू पुष्ट बाहुवाला अश्वचक्रनामक युद्धमें मारा । कौन ऐसा वीर है, जो रणमें रथपर चढ कर उस साम्बसे लडे ? जैसे कालके मुखमें जाकर कोई नहीं बचता ऐसेही साम्बके सन्मुख आकर कोई नहीं बच सकता । (११—१५)

द्रोणाचार्य और भीष्म तथा सोमद-त्तको सेनाके सहित तीक्ष्ण बाणोंसे

सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥ १६ ॥
किं नाम लोकेषु विषह्यमस्ति कृष्णस्य सर्वेषु सदेवकेषु।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणेश्चक्रायुधस्याऽप्रतिमस्य युद्धे ॥ १७ ॥
ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणिर्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु कीर्णांऽकुशैर्वेदिमिवाऽध्वरेषु ॥ १८ ॥
गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाः शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ॥ १९ ॥
सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या समागता सात्वतशूरसेना ।
हत्वा रणे तान्धृतराष्ट्रपुत्राँल्लोके यशस्फीतमुपाकरोतु ॥ २० ॥
ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु यावद्व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥ २१ ॥
अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारिस्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रामेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ॥ २२ ॥
वासुदेव उवाच-असंशयं माधव सत्यमेतद् गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं नेच्छेत्कुरूणामृषभः कथंचित् ॥ २३
न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्युधिष्ठिरो जातु जह्यात्स्वधर्मम्।

जलानेमें कृष्णही समर्थ हैं। उत्तम बाणधारी चक्रपाणि कृष्णको सुर और असुरोंमें कौन अजय है? अनिरुद्ध ढाल तलवार लेके धृतराष्ट्रके पुत्रोंके सिर रणभूमिमें ऐसे काटके गिरावेंगे, जैसे ऋषिलोग कुशा डालते हैं। गद, उल्मुक बाहुक, भानुनीथ, निशठ ये सब कुमार बडेही वीर हैं, ऐसेही सारण और चारुदेष्ण अपने कुलके अनुसार वीरताको रणमें दिखलावें। (१६—१९)

वृष्णिवंश भोजवंश और शूरसेन वंशके वीर लोग युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर यशको बढावें, तब अभिमन्यु सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य करे, और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरने जैसी जुएमें प्रतिज्ञा करी है, उस पालन कर पश्चात् हमारे बाणोंसे जिसके शत्रु काटे गये हैं, वह धर्मराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके पुत्र और कर्णसे रहित पृथ्वीका पालन करें। यही हमारे यशको बढानेवाले कर्तव्य हैं। (२०—२२)

वासुदेव बोले, हे माथुर! तुम्हारे वचनको हम लोग मानते हैं, परन्तु यह कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर पराई जीती हुई पृथ्वीको लेना नहीं चाहते, यह महात्मा काम, क्रोध वा लोभसे अपने धर्मको

भीमार्जुनौ चाऽतिरथौ यमौ च तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ॥ २४ ॥
उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च ।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासेन्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतो ह्ययम् २५॥
यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा सकैकयश्चेदिपतिर्वयं च ।
युध्येम विक्रम्य रणे समेतास्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः ॥ २६ ॥
युधिष्ठिर उवाच-नेदं चित्रं माधव यद्ब्रवीषि सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम्।
कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः कृष्णं च वेदाऽहमथो यथावत् ॥ २७ ॥
यदैव कालं पुरुषप्रवीरो वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ॥ २८ ॥
प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा दृष्टोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताऽप्रमेया द्रष्टाऽस्मि भूयः सुखिनः समेतान् ॥ २९ ॥
तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाऽभिवाद्य वृद्धान्परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मुस्ते चापि तीर्थान्यनुसंविचेरुः ॥ ३० ॥
विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥ ३१ ॥

नहीं छोडेंगे, ऐसेही भीम, अर्जुन नकुल, सहदेव और द्रौपदी भी धर्मको नहीं छोडेंगे। भीम और अर्जुन दोनोही युद्धमें अजेय हैं। माद्रीनन्दन नकुल और सहदेवकी सहायता पाकर क्या वह सम्पूर्ण पृथ्वीको वशमें नहीं कर सकते हैं? जब पाञ्चालपति कैकय देशके राजा, महात्मा चेदिपति और हम सबलोग रणमें लडेंगे तो सब शत्रु नष्ट होजायंगे। (२३- २६)

युधिष्ठिर बोले,हे कृष्ण! मुझको सत्य रक्षणीय है तथा राज्य अत्यन्त प्रिय नहीं है,एकले कृष्णही यथार्थ रूपसे मुझे जानते हैं,और कृष्ण को मैं यथार्थ रूपसे जानता हूं। हे सात्यकी! जब यह पुरुषोत्तम युद्धका समय आया जानेंगे तब तुम युद्धमें दुर्योधनको जीतना,हे दशार्हवीर! आपलोग नरलोकके नाथ विशेष कर मेरे नाथ हैं। इस समय यादव लोग जायं, धर्ममें कोई प्रमाद न करे, मैं फिर आप लोगोंको सुखसे देखूंगा। (२७—२९)

यादव लोग सब लोगोंसे भेट करके वृद्धोंको प्रणाम और बालकोंको प्यार करके अपने घरको चले गये, और पाण्डव लोगभी तीर्थमें विचरने लगे। कृष्णको विदा करके धर्मराज उस पयोष्णी नामकी नदी पर गये जिसे विदर्भ

सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां पयः पयोष्णीं प्रति सोऽध्युवास ।
द्विजातिमुख्यैर्मुदितैर्महात्मा संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः॥३२॥४८१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यादवगमने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

लोमश उवाच— नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरन्दरः ।
तर्पितः श्रूयते राजन्स तृप्तो मुदमभ्यगात् ॥ १ ॥
इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्राजापतिभिरेव च ।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥
आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुः ।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥ ३ ॥
तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम् ।
वानस्पत्यं च भौमं च यद् द्रव्यं नियतं मखे ॥ ४ ॥
चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः ।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ॥ ५ ॥
सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः ।
तस्य स्म यूपान्यज्ञेषु भ्राजमानान्हिरण्मयान् ॥ ६ ॥

राजने सुन्दर बनाया था, और जिस का जल परम पवित्र और सोममिश्रित है, भाई सेवक और लोमश ऋषिके सहित उस तीर्थमें जाके केवल जल पी के व्रत किया। ब्राह्मणोंमें मुख्य महात्मा लोग राजा युधिष्ठिरकी स्तुति करने लगे। (३०-३२) [४८१०]

वनपर्वमें एकसौ वीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ इक्कीस अध्याय।

श्रीलोमश ऋषि बोले, हे राजन् ! इस तीर्थपर राजा नृगने इन्द्र महाराज-को सोम यज्ञसे प्रसन्न किया था। यहीं प्रजापति और इन्द्रादि देवोंने बडे बडे दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किये थे। सुनते हैं, कि यहीं पर देवतोंके और लोकपा-लोंके सहित सात अश्वमेध यज्ञ करके अमूर्तरयपुत्र राजा गयने इन्द्र महाराज को प्रसन्न किया था। सातों यज्ञोंमें जितनी सामग्री थी, सब सुवर्णकी थी, जो पात्र लकडी और मट्टीके बनते थे, वे सब सुवर्ण के थे। उसके यज्ञमें चषाल, यज्ञके खम्भ, सोमरस पीनेके पात्र, स्थाली स्रुक और स्रुवा ये सब सुवर्ण ही के थे, सातों यज्ञमें यह सब सामग्री अलग अलग बनवाई गई थीं। १-५

एक एक यूपमें सात सात चषाल

स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर ।
तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः ॥ ७ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
प्रसंख्यानानसंख्येयान्प्रत्यगृह्णन्द्विजातयः ॥ ८ ॥
सिकता वा तथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥ ९ ॥
तथैव तदसंख्येयं धनं यत्प्रददौ गयः ।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥ १० ॥
भवेत्संख्येयमेतद्धि यदेतत्परिकीर्तितम् ।
न तस्य शक्याः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः ११ ॥
हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा ।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १२ ॥
अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः ।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १३ ॥
स लोकान्प्राप्तवानैन्द्रान्कर्मणा तेन भारत ।
सलोकतां तस्य गच्छेत्पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥
तस्मात्त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽच्युत ।

थे और यज्ञस्तंभ सुवर्णके होनेके कारण वे चमकते थे । उनसे यज्ञको महाशोभा हुई थी । हे युधिष्ठिर ! गयके उन यज्ञोंमें इन्द्रादिक देवता सोमपान करके और ब्राह्मण दक्षिणा पाके प्रसन्न हुए थे । ब्राह्मणोंनें तो असंख्य अनगिनत धन प्राप्त किया था । हे महाराज ! जैसे जगत्‌में बालूके कणिका, आकाशके तारे और वर्षाकी बुन्द अनगिनत होती हैं, ऐसेही राजा नृगने जो दक्षिणामें धन दिया था, वह असंख्य था । यदि ऊपर लिखी वस्तुओंकी संख्या हो, तो उस दक्षिणा देनेवाले राजाकी दक्षिणाके धन का भी प्रमाण हो । (६—११)

विश्वकर्माने जो सोनेकी गाय बनाई थीं, उन्हें देके अनेक देशोंसे आये हुए ब्राह्मणोंको राजा गयने तृप्त किया था। हे पृथ्वीनाथ ! उसके यज्ञमण्डपों से बहुत थोडी पृथ्वी खाली रही थी । हे भरतनन्दन ! उन यज्ञोंके प्रतापसे राजा गयको इन्द्र लोक प्राप्त हुआ, जो कोई इस नदीमें स्नान करता है, वहभी राजा गयकी गतिको पाता है। तुमभी भाइयों

उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह ।
वैदूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ॥ १६ ॥
समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
तत्राऽस्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ॥१७॥
तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च ।
यथायोग्यं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह ॥
तत्र तत्राऽददद्वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ १८ ॥

लोमश उवाच — देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम् ।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ॥ १९ ॥
संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ।
एनमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २० ॥
एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते ।
साक्षाद्यत्राऽपिबत्सोममश्विभ्यां सह कौशिकः॥ २१ ॥
चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः ।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः ॥
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥ २२ ॥

के सहित इसमें स्नान करके पापोंसे छूटोगे। (१२—१५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले हे निष्पाप जनमेजय! राजा युधिष्ठिर पयोष्णी नदी में भाइयोंके सहित स्नान करके वैदूर्य पर्वत और महानदी नर्मदापर पहुंच, वहांभी लोमशऋषिने सब रमणीय तीर्थों और पवित्र स्थानोंके महात्म्य कहे, जिसको सुनके राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए, एवम् ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान किया। (१६—१८)

श्रीलोमश ऋषि बोले, हे राजन्! वैदूर्य पर्वतको देखके और नर्मदा को पार करके राजा लोग देवलोकको प्राप्त होते हैं! हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! यहां द्वापर और त्रेतायुगकी सन्धिके समान काल है, इसमें प्राप्त होनेसे सब पापों का नाश होता है। यह राजा शर्यातिके यज्ञका देश प्रकाशमान है, यहां पर कौशिकमुनिने साक्षात् अश्विनी कुमारोंके सहित सोमपान किया था, महेन्द्रके ऊपर यहीं भृगुवंशी च्यवनने इन्द्रपर क्रोध किया था और उसे स्तम्भ करके अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया

युधिष्ठिर उवाच—कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान्पाकशासनः।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ॥ २३ ॥
नासत्यौ च कथं ब्रह्मन्कृतवान्सोमपीथिनौ।
एतत्सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान्मम ॥ २४ ॥[४८३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१॥

लोमश उवाच— भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥ १ ॥
स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव।
अतिष्ठत चिरं कालमेकदेशे विशांपते ॥ २ ॥
सवल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरिव संवृतः।
कालेन महता राजन्समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥ ३ ॥
तथा स संवृतो धीमान्मृत्पिण्ड इव सर्वशः।
तप्यते स्म तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ॥ ४ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ॥ ५ ॥
तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन्परिग्रहः।

था। च्यवन ऋषिने राजपुत्री सुकन्या से यहीं विवाह किया था। (१९-२२)

राजा युधिष्ठिर बोले, महाराज इन्द्र को च्यवनने कैसे स्तम्भित किया था और वे इन्द्रपर क्यों क्रुद्ध हुए थे, जिस प्रकारसे अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया था, यह सब वृत्तान्त आप मुझसे कहिये। (२३—२४) [४८३४]

वनपर्वमें एकसौ इक्कीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ बाईस अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन्! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन ऋषिने इस तालावके किनारे महातप किया था, वह एकही स्थानमें तप करते हुए बहुत कालतक वीरासनमें बैठनेसे खम्भेके समान अचल होगये थे, लताओंसे उनका शरीर छिप गया था और दीर्घकालसे चींटियोंने उसके शरीर पर वामी बना ली थीं, वामीसे छिपे हुए वह महात्मा मट्टीका पिण्डसा मालूम होते थे तौभी तप किये जाते थे। (१-४)

कुछकालके पीछे राजा शर्याति इस मनोहर तालाव पर विहार करने आये, राजा शर्यातिके चार हजार स्त्रियां थीं

एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ॥ ६ ॥
सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥ ७ ॥
सा वै वसुमतीं तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम्।
वनस्पतीन्विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥ ८ ॥
रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च ।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥ ९ ॥
तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम्।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥ १० ॥
तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः।
क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोबलसमान्वितः ॥ ११ ॥
तामाबभाषे कल्याणीं सा चाऽस्य न श्रृणोति वै।
ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ॥ १२ ॥
कौतूहलात्कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता।
किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदाऽस्य लोचने १३ ॥
अक्रुद्ध्यत्स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान्।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रं समावृणोत् ॥ १४ ॥

और एकही अच्छी भौहोंवाली सुकन्या नाम्नी कन्या थी। हे भारत! वह उत्तम आभूषणोंको पहरे हुए सखियोंके सहित च्यवनकी वामीपर आई, वहांपर मनोहर भूमिको देखकर वनस्पतियोंको चुनती हुई सखियोंके सङ्ग विहार करने लगी। (५–८)

रूप, अवस्था, मद और कामदेवसे भरी हुई उस कन्याने पुष्पोंसे युक्त वन वृक्षोंकी अनेक शाखाओंको तोडा, उस एकान्तमें घूमनेवाली एक वस्त्र पहने हुए सुकन्याको च्यवन ऋषिने बिजुलिके समान घूमती हुई देखा, तपोबलसे युक्त महर्षिने आनन्दित होकर बडी धीमी बोलीसे कुछ कहा, सुकन्याने ऋषिकी कोमल वाणीको कुछभी न सुना, तत्पश्चात् वांमीके भीतर च्यवन मुनिकी चमकती हुई आंखोंको उस कन्याने देखा, बुद्धिके मोहसे सुकन्याने च्यवन ऋषिकी आखोंमें यह क्या है, ऐसा कहते हुए कांटे चुभो दिये, नेत्रोंके फूटनेसे क्रोधी च्यवन ऋषिको बडा क्रोध हुआ, तभी राजा शर्यातिकी सेनाका विष्टा और मूत्र बन्द होगया। ९-१६

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत्स पार्थिवः ॥ १५ ॥
तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनाऽपकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ज्ञातं वा यदि वाऽज्ञातं तद्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।
तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ॥ १७ ॥
सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।
ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ॥ १८॥
पर्यपृच्छत्सुहृद्वर्गं पर्यजानन्न चैव ते ।
अनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ॥ १९ ॥
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाऽब्रवीत ।
मयाऽटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्वमभिज्वलत् ॥ २० ॥
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ॥२१॥
तत्राऽपश्यत्तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥
अज्ञानाद्बालया यत्ते कृतं तत्क्षन्तुमर्हसि ।

सेनाके मूत्र और विष्ठा बन्द होजानेसे सब लोग घबराये, राजाने सब सेनासे पूछा कि तप करनेवाले वृद्ध विशेषतः क्रोधी महात्मा च्यवनका आज किसने अपराध किया ? चाहे ज्ञानसे वा अज्ञानसे जिसने अपराध किया वह शीघ्र कह दे । सैनिकोंने कहा कि महाराज ! हम नहीं जानते किसने अपराध किया है । तब राजाने बहुत क्रोधसे बन्धुबान्धवसे पूछा, उन्होंनेभी कहा महाराज हम नहीं जानते किसने अपराध किया है । तब सुकन्याने सेनाके सब मनुष्य तथा अपने पिताको लोगोंके रोग से दुःखी देखके यह वचन कहा, महाराज ! मैंने वनमें घूमनेके समय एक बामीमें चमकता हुआ कोई जीव देखा था, उसे जुगनुके समान चमकता देखके पास जाके बींध दिया । (१७–२०)

सुकन्याकी बात को सुनके राजा शर्याति शीघ्रतासे बामीके पास गये, वहां जाके तपस्या और अवस्थामें बूढे च्यवनको देखा और सेनाके दुःख निवारणके निमित्त हाथ जोडके प्रार्थना करी, कि हे महर्षे ! कन्याने जो अज्ञान

ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ॥ २३ ॥
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥ २४ ॥
तामेव प्रतिगृह्याऽहं राजन्दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २५ ॥
लोमश उवाच— ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥ २६ ॥
प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान्प्रससाद ह ।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ॥ २७ ॥
सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥ २८ ॥
अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका ।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥ २९ ॥ [४८६३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये द्वाविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

लोमश उवाच— कस्यचित्त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप ।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥ १ ॥

से आपका अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिये, भृगु पुत्र च्यवनने राजासे कहा कि तुम्हारी कन्याने रूप और यौवनकी अभिमानसे मेरे नेत्रोंको फोड़ा तथा मेरा अपमान किया है, इस लिये तुम्हारी कन्याको लेकरही मैं क्षमा करूंगा, हे पृथ्वीनाथ ! मेरे वचनको सत्य समझो । (२१–२५)

श्रीलोमश ऋषि बोले, हे युधिष्ठिर! ऋषिके वचन सुन कर राजा शर्यातिने विना विचारे च्यवनको अपनी कन्या दे दई, उस कन्याको लेके च्यवनने अपने क्रोधको शान्त किया, राजा शर्याति अपनी सेनाके सहित नगरको चले गये। शुभानना, निर्मत्सरा सुकन्या ऋषिको पति पाकर बडी प्रीतिके साथ तप और नियममें स्थित तथा अग्नि और अतिथियों की सेवा करनेवाली होके पतिकी सेवा करने लगी । (२६–२९) [४८६३]

वनपर्वमें एकसौ बाइस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ तेईस अध्याय ।

श्रीलोमश ऋषि बोले, किसी समय घूमते हुए अश्विनी कुमार देवतोंने स्नान किये हुए वस्त्ररहित सुकन्याको देखा,

तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव ।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावाश्विनाविदम् ॥ २ ॥
कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन्किं करोषि च ।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥ ३ ॥
ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां मां च्यवनस्य च ॥ ४ ॥
अथाऽश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु ।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥ ५ ॥
भ्राजसेऽस्मिन्वने भीरु विद्युत्सौदामनी यथा ।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भाविनि ॥ ६ ॥
अनाभरणसंपन्ना परमाम्बरवर्जिता ।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ॥ ७ ॥
सर्वाभरणसंपन्ना परमाम्बरधारिणी ।
शोभसे त्वनवद्याङ्गी न त्वेवं मलपंकिनी ॥ ८ ॥
कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम् ।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥ ९ ॥
असमर्थं परित्राणे पोषणे तु शुचिस्मिते ।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः ॥ १० ॥

इन्द्रकी पुत्रीके समान मनोहर गात्रवाली सुकन्याको देख करके अश्विनीकुमारोंने यह वचन कहे । हे शोभने ! हे वामोरु ! हम तुम्हें जानना चाहते हैं, कि तुम किसकी स्त्री हो और इस वनमें क्या करती हो ? (१-३)

सुकन्याने लज्जित होके कहा, हे देवतोंमें उत्तम अश्विनीकुमारो ! तुम मुझे राजा शर्यातिकी कन्या और च्यवन ऋषिकी स्त्री समझो । अश्विनीकुमारोंने हंसके कहा कि पिताने बूढेके सङ्ग कैसे तुम्हारा विवाह कर दिया, इस वनमें तुम बिजलीके समान शोभायमान हो, तुम्हारे समान रूपवाली स्त्री देवतोंमेंभी हमने नहीं देखी, अलङ्कार और उत्तम वस्त्रोंसे रहितभी तुम इस वनकी शोभाको बढाती हो, सब आभूषणोंसे युक्त उत्तम वस्त्र पहरे जैसे स्त्री शोभित होती है, उनसे भी उत्तम तुम बिना आभूषणोंके शोभित हो, किस कारणसे तुम ऐसे वृद्ध पतिकी सेवा करती हो जो तुम्हारे भरणपोषणमें असमर्थ है, तुम च्यवनको छोड कर

पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः ।
एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौ ताविदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
रताऽहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशंकतम् ।
तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ ॥ १२ ॥
युवानं रूपसंपन्नं करिष्यावः पतिं तव ।
ततस्तस्याऽऽवयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम् ॥ १३ ॥
एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे ।
सा तयोर्वचनाद्राजन्नुपसंगम्य भार्गवम् ॥ १४ ॥
उवाच वाक्यं यत्ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति ।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति ॥ १५ ॥
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः ।
ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह ॥ १६ ॥
अश्विनावपि तद्राजन्सरः प्राविशतां तदा ।
ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा ॥ १७ ॥
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
तुल्यवेषधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः ॥ १८ ॥
तेऽब्रुवन्सहिताः सर्वे वृणीष्वाऽन्यतमं शुभे ।

हम दोनोंमेंसे एकको पति बनाओ, अपने यौवनको वृथा मत गंवाओ। (४-११)

सुकन्या ऐसे वचन सुनके बोली, हे देववैद्यो ! मुझे तुम अपने पति च्यवनमें प्रीति वाली समझो और कदापि ऐसे कठोर वचन मत कहो। तब अश्विनी कुमार बोले, कि हम देवोंके श्रेष्ठ वैद्य हैं, तुह्मारे पतिको रूपयुक्त जवान बना देंगे पश्चात च्यवन को अथवा हम दोनोंमेंसे एक को पति बनाओ। इस प्रणसे तुम अपने पतिको जल्दी बुला लाओ। १३-१४

उनके वचनको सुनके सुकन्या च्यवन ऋषिके पास गई, और अश्विनीकुमारोंके वचनको सुनाया। च्यवनने कहा कि बहुत ठीक है। अश्विनीकुमारोंने कहा कि इस तालावमें स्नान करनेको च्यवन ऋषि जायं, तत्क्षणही रूपकी लालसासे च्यवन ऋषि उस तालावमें घुस गये। अश्विनीकुमार भी उनके पीछे तलावमें घुसे; एक मुहूर्तके पश्चात् वह तीनों दिव्यरूपवाले जवान उत्तम कुण्डल पहने रूप युक्त होकर तालावसे निकले और सुकन्यासे बोले, कि हे उत्तम वर्णवाली ! हे सुन्दरी! हम तीनों में

अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ॥ १९ ॥
यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने ।
सा समीक्ष्य तु तान्सर्वांस्तुल्यरूपधरान्स्थितान् ॥२०॥
निश्चित्य मनसा बुद्ध्या देवी वव्रे स्वकं पतिम् ।
लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपं च वाञ्छितम् २१॥
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः
यथाऽहं रूपसंपन्नो वयसा च समन्वितः ॥ २२ ॥
कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन्भार्यां च प्राप्तवानिमाम् ।
तस्माद्युवां करिष्यामि प्रीत्याऽहं सोमपीथिनौ ॥
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद्ब्रवीमि वाम् ॥ २३ ॥
तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः ।
च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः ॥ २४ ॥ [४८८७]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

लोमश उवाच — ततः शुश्राव शर्यातिर्वयस्थं च्यवनं कृतम् ।
सुहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद्भार्गवाश्रमम् ॥ १ ॥
च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव ।
रेमे सभार्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव ॥ २ ॥

से तेरी जिसे इच्छा हो एकको पति बनाले। हे सुशोभने! जिस पर तेरी प्रीति हो, उनहीको पति बना। १४-१९

सुकन्याने सबको समान रूप और समान अवस्थावाले देखकरभी अपने पतिको ही पति वरण किया। च्यवन ऋषि इच्छित रूप, यौवन और स्त्रीको पाके बहुत प्रसन्न हुए और अश्विनीकुमारोंसे बोले, जैसे तुमने मुझे रूप और युवा अवस्थासे युक्त किया है, वैसेही मैं तुमको देवराज इन्द्रके सामने सोमपान कराऊंगा, यह मैं सत्य कहता हूं। च्यवन ऋषिके ऐसे वचन सुनके अश्विनीकुमार प्रसन्नचित्त होके स्वर्गको चले गये और च्यवन ऋषि तथा सुकन्या आनन्दसे विहार करने लगे। (१९-२४) [४८८७]

वनपर्वमें एकसौ तेईस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौबीस अध्याय।

श्रीलोमश ऋषि बोले, राजा शर्यातिने सुना कि च्यवन ऋषिको यौवन और स्वरूप प्राप्त हुआ है, अपनी सेनाके सहित च्यवन ऋषिके आश्रम पर आये। च्यवन और सुकन्याको देवपुत्रोंके समान देखकर संपूर्ण भूमि प्राप्त होनेके

ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः ।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः ॥ ३ ॥
अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन् ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां संभारानवकल्पय ॥ ४ ॥
ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः ।
च्यवनस्य महाराज तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥
प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत् ।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम् ॥ ६ ॥
तत्रैनं च्यवनो राजन्याजयामास भार्गवः ।
अद्भुतानि च तत्राऽऽसन्यानि तानि निबोध मे ॥ ७ ॥
अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा ।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं स तयोर्ग्रहम् ॥ ८ ॥

इन्द्र उवाच— उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नाऽर्हतः ॥ ९ ॥

च्यवन उवाच— महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन्वृन्दारकमिवाऽजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चाऽन्यान्कथं वै नाऽर्हतः सवम् ।

समान आनंदीत होकर राजा शर्याति स्त्रियोंकेसाथ ऋषिसे आदर पाकर वहां अनेक प्रकारकी उत्तम कथा सुनते कुछकाल तक रहे, च्यवन ऋषि राजा शर्यातिसे बोले, हे राजन् ! तुम सामग्री इकट्ठी करो मैं तुम्हें यज्ञ कराऊंगा। (१-४)

च्यवन ऋषिके वचनको सुनकर बडी प्रसन्नतासे राजाने यज्ञ करना स्वीकार किया, उत्तम दिनमें यज्ञकी सब सामग्री इकट्ठी करके राजा शर्यातिने यज्ञ मण्डप बनवाया। हे राजन् ! भृगुपुत्र च्यवनने उस यज्ञमण्डपमें राजा शर्यातिसे यज्ञ आरम्भ कराया। हे राजन् ! युधिष्ठिर ! उस यज्ञमें जो आश्चर्यकी बात हुई सो मुझसे सुनो। (५—७)

च्यवन ऋषिने अश्विनीकुमारोंको सोम दिया। राजा इन्द्रने च्यवनऋषिको सोम देनेसे निवारण किया। इन्द्र बोले, यह दोनों अश्विनीकुमार स्वर्गमें देवतोंकी दवा करते हैं इस लिये इनको सोमदान करना उचित नहीं है। श्रीच्यवन ऋषि बोले, हे इन्द्र ! यह दोनों बडे महात्मा, बडे उत्साही, रूप और धनसे युक्त हैं, उन्होंने मुझे देवतोंके

अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरन्दर ॥ ११ ॥

इन्द्र उवाच— चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ॥ १२ ॥

लोमश उवाच— एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १३ ॥
ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद्देव इदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥
आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत्सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥
ततोऽस्मै प्राहरद्वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥
तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥ १८ ॥
ततः कृत्याऽथ संजज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात् ।

समान वृद्धावस्था रहित किया है, हे पुरन्दर ! तुम और सब देवता यज्ञभाग पावें, पर ये क्यों न पावें ? यह भी तो देवता हैं । (८—११)

इन्द्र बोले, हे च्यवन ऋषि ! यह दोनों चिकित्सा करने वाले, कामरूपी और मनुष्य लोकमें घूमनेवाले हैं, तब किस रीतिसे सोमको पाने योग्य हैं? लोमश मुनि बोले ज्योंही इन्द्र इस वचनको दूसरीबार कहना चाहते थे, त्योंही भृगुपुत्र च्यवन ने इन्द्रका अनादर करके अश्विनीकुमारोंको सोम प्रदान किया । अश्विनीकुमारोंको सोम देते देख कर बल-नाशक इन्द्रने ऐसे वचन कहे, हे च्यवन ! यदि तुम इन दोनोंको सोम दोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर घोर वज्र मारूंगा । (१२—१५)

ऐसा कहने परभी इन्द्रकी तरफ देखके च्यवनने अश्विनीकुमारोंको सोम प्रदान किया । तब इन्द्रने च्यवन ऋषि के ऊपर वज्र चलाया, च्यवन ऋषिने इन्द्रके हाथको स्ताम्भत कर दिया । च्यवनने मन्त्रसे अग्निको प्रज्वलित करके देवराज इन्द्रको मारने की इच्छासे अग्निमें हवन करने लगे । (१६—१८)

तब उस यज्ञकुण्डसे महापराक्रमी

मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ॥ १९ ॥
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः।
तस्याऽऽस्यमभवद्घोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ॥ २० ॥
हनुरेकाऽऽस्थिता तस्य भूमावेका दिवं गता।
चतस्रश्चाऽऽयता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ॥ २१ ॥
इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः।
प्रासादशिखराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥ २२ ॥
बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसन्निभम् ॥ २३ ॥
लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युचपललोलया।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद्बलात् ॥ २४ ॥
स भक्षयिष्यन्संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत्।
महता घोररूपेण लोकाञ्शब्देन नादयन् ॥२५ ॥ [४९१२]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२४

लोमश उवाच— तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवाऽन्तकम् ॥ १ ॥
भयात्संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन्मुहुः।

मद नामक महा असुर उत्पन्न हुआ, इस महा असुरके शरीरको वर्णन करनेमें सब कोई सुर और असुर असमर्थ हुए, उसका मुख निकली हुई दाढोंसे महा भयङ्कर जान पडता था, उसका एक ओठ पृथ्वी पर और एक आकाशमें लगा था, चार दाढ उसकी सौ सौ योजनकी थीं और दांत दस दस योजनके थे, अटारीके शिखरके समान ऊंचे तथा त्रिशूलके समान तीक्ष्ण दांत थे। पर्वतके समान दोनों हाथ दस हजार योजन लम्बे, नेत्र सूर्य चन्द्रमाके समान और मुख प्रलयकी अग्निके समान था, उसकी बिजलीके समान चपल जीभसे जान पडता था, कि जगत् को अभी चाट जायगा, वह राक्षस बडे क्रोधसे इन्द्रको भक्षण करनेके लिये इन्द्रकी तरफको दौडा, इसके शब्दसे सब जगत भर गया। (१९—२५) [४९१२]

वनपर्वमें एकसौ चौवीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ पच्चीस अध्याय।

श्रीलोमश ऋषि बोले, उस भयानक रूपवाले अन्तकके समान मद राक्षसको मुंह पसारे खानेको आता हुआ देखके इन्द्र

ततोऽब्रवीद्देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥ २ ॥
सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव ।
भविष्यतः सत्यमेतद्वचो विप्र प्रसीद मे ॥ ३ ॥
न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः।
जानामि चाऽहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥ ४ ॥
सोमार्हावश्विनावेतौ यथा चाऽद्य कृतौ त्वया।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥ ५ ॥
सुकन्यायाः पितुश्चाऽस्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति।
अतो मयैतद्विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ॥ ६ ॥
तस्मात्प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि ।
एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ॥ ७ ॥
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरन्दरम्।
मदं च व्यभजद्राजन्पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः ।
तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ॥ ९ ॥
अश्विभ्यां सहितान्देवान्याजयित्वा च तं नृपम्।
विख्याप्य वीर्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ॥ १० ॥

भयसे बहुत व्याकुल हुए, भयसे उनके दोनों हाथ स्तंभित होगये। अपने मुखके अंदरका भाग चाटने लगा। तब इन्द्र च्यवन ऋषिसे ऐसा बोले कि, हे भार्गव! आजसे यह दोनों अश्विनी कुमार सोमरस पीनेके योग्य हुए,इस मेरे वचनको सत्य समझके मेरी रक्षा करो, हे विप्रर्षे! मैं यह जानता हूं, कि तुम्हारा वचन कदापि मिथ्या नहीं होगा, यह अश्विनीकुमार यज्ञमें भाग पाने योग्य हुए, यह तुम्हारा प्रताप प्रकाशित रहेगा, इस सुकन्याके पिताका यश जगतमें प्रसिद्ध हो, इस लिये मैंने तुम्हारे प्रतापका प्रकाश किया, हे भृगुनन्दन! तुम मेरे ऊपर कृपा करो, जैसा तुम चाहते हो वैसाही हो। (१-७)

इन्द्रके ऐसा कहने पर महात्मा भृगु नन्दनका क्रोध शान्त हुआ इन्द्रको मदने छोड दिया। तब च्यवनने उस मदके विभाग किये। अनन्तर वह मद मद्यपानमें, स्त्रियोंमें, जुएमें और शिकार में जा बसा, हे राजन्! युधिष्ठिर! इस रीतिसे मदको स्थगित करके सोमसे इन्द्रको और अश्विनीकुमार तथा अन्य

सुकन्यया सहाऽरण्ये विजहाराऽनुकूलया।
तस्यैतद् द्विजसंघुष्टं सरो राजन्प्रकाशते ॥ ११ ॥
अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितॄन्देवांश्च तर्पय।
एतद् दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्षं च भारत ॥ १२ ॥
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम्।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ॥ १३ ॥
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन्सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत।
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ॥ १४ ॥
अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः।
अत्रोपस्पृश चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ॥ १५ ॥
आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम्।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ॥ १६ ॥
चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते ॥
वैखानसा वालखिल्याः पावका वायुभोजनाः॥ १७ ॥
शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च।

देवतोंको तृप्त करके राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण किया। इस रीति से च्यवन ऋषिने अपने यशको जगतमें फैलाया और सुकन्याके सहित वनमें विहार करने लगे, उनही च्यवन ऋषिका यह तलाव है? इसमें तुम अपने भाइयोंके सहित स्नान करके पितरोंका तर्पण करो। ७-११)

हे भारत! इस तीर्थको देखके फिर सिकताक्ष तीर्थको चलो, सैन्धवारण्यमें चलके छोटी छोटी नदियोंके दर्शन करो, पुष्कर तीर्थमें चलके वहांके जलका स्पर्श करो। महादेवके मन्त्रको जपनेसे तुम्हें परम सिद्धि प्राप्त होगी। हे राजन्! यहां द्वापर और कलियुगकी सन्धिके समान काल है, यह सब पापोंका नाश करनेवाला है, इस सर्व पापप्रणाशनके उदकको स्पर्श करो। यह आर्चीक पर्वत दीखता है, इसमें बुद्धिमान मरुतगण निवास करते हैं। यह सदा फल और उदकसे पूर्ण है। (१२—१६)

हे युधिष्ठिर! यहां देवतोंके अनेक प्रकारके स्थान हैं, यही चन्द्रमा तीर्थ है, जिसकी अनेक ऋषि उपासना करते हैं, वैखानस वालखिल्य और वायुभक्षी पावकगण यहीं रहते हैं। तीन शृङ्ग और तीन झरने यहां परम पवित्र हैं, उनकी

सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ॥ १८ ॥
शांतनुश्चाऽत्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ॥ १९॥
इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान्यजस्व युधिष्ठिर ॥ २० ॥
इह ते वै चरून्प्राश्नन्नृषयश्च विशांपते ।
यमुना चाऽक्षयस्रोता कृष्णश्चेह तपोरतः ॥ २१ ॥
यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चाऽमित्रकर्शन।
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ॥ २२ ॥
एतत्प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ॥ २३ ॥
इह तेऽप्यवसन्राजन्क्षान्ताः परमधर्मिणः।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ॥ २४ ॥
एषा सा यमुना राजन्महर्षिगणसेविता।
नानायज्ञचिता राजन्पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
अत्र राजा महेष्वासो मांधाताऽयजत स्वयम्।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको वदतां वरः ॥ २६ ॥ [४९३८]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये पंचविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

प्रदक्षिणा करके जल स्पर्श कीजिये, राजा शान्तनु, नरपति शुनक और नर नारायण ऋषि यहींसे सनातन स्थानको प्राप्त हुए हैं। यहां देवता लोग और पितर लोग महर्षियोंके साथ सदाही निवास करके तप करते हैं, इस आर्चीक पर्वतमें रहनेवाले उन की तुम पूजा करो।१७-२०

हे पृथ्वीनाथ! यहां पर अनेक ऋषियोंने यज्ञ करके चरूका भक्षण किया है, यहीं अक्षय प्रवाहवाली यमुना है, यहीं श्रीकृष्णने तप किया है। नकुल, सहदेव, द्रौपदी भीम और हम सब आपके सङ्गमें यहां चलते हैं। यह इन्द्रका पवित्र झरना है, यहां धाता विधाता और वरुण ऊपरसे आते हैं। (२१-२३)

हे राजन्! यहां पर शान्त चित्तवाले परम धर्मात्मा कोमल बुद्धिवाले मैत्र लोग निवास करते हैं। हे राजन्! यहीं महर्षि लोगोंसे सेवित यमुना है, जिस पर अनेक प्रकारके पुण्य यज्ञ हुए हैं, यहीं पर महा धनुर्धारी राजा मान्धाता, वक्ताओंमें श्रेष्ठ सोमक और

युधिष्ठिर उवाच— मांधाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
कथं जातो महाब्रह्मन्यौवनाश्वो नृपोत्तमः ॥ १ ॥
कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः ।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ॥ २ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः ।
यथा मांधातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः ॥
जन्म चाऽप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ ३ ॥

लोमश उवाच— शृणुष्वाऽवहितो राजन्राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
यथा मांधातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते ॥ ४ ॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः ।
सोऽयजत्पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ५ ॥
अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः ।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत्स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ६ ॥
अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः ।
मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं वननित्यो बभूव ह ॥ ७ ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्याऽऽत्मानमात्मवान् ।

सृंजय के पुत्रने यज्ञ करी थीं। (२४-२६)

वनपर्वमें एकसौ पचीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ छब्बीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे ब्राह्मण ! राजशार्दूल तीनों लोकोंमें विख्यात राजा मान्धाता युवनाश्वके पुत्र कैसे हुए थे? और किस प्रकारसे ऐसी उत्तम गतिको प्राप्त हुए थे, जिससे तीनों लोक उनके ऐसे वशमें हो गये थे, जैसे विष्णुके हों, हे ब्राह्मण ! मैं उन बुद्धिमान् इन्द्रके समान यज्ञकारी राजा मान्धाताके चरित्र तथा मान्धातृ शब्दका कारण सुनना चाहता हूं, उस अतुल पराक्रमी राजाके जन्मका वृत्तान्त आप कहनेमें कुशल हैं। (१-३)

श्रीलोमश ऋषि बोले, हे राजन् ! आप सावधान होके चरित्र सुनिये, जैसे लोकमें उनका नाम मान्धाता प्रसिद्ध हुआ। इक्ष्वाकु वंशमें युवनाश्व नामक राजा हुए थे, जिन्होंने बहुत दक्षिणावाली यज्ञ करी थीं। एक हजार अश्वमेध करके औरभी बहुतसी यज्ञ करी थीं। यह राजा अपुत्र था इस लिये मन्त्रियोंको राज्य सौंपकर वनको चला गया। शास्त्रमें लिखी विधिके अनुसार योगाभ्यास करने लगा। (४-८)

स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुःखितः ॥ ८ ॥
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाऽऽश्रमं भृगोः ।
तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ॥ ९ ॥
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात् ।
संभृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ॥ १० ॥
तत्राऽतिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः ।
यत्प्राश्य प्रसवेत्तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम् ॥ ११ ॥
तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः ।
रात्रिजागरणाच्छ्रान्तान्सौद्युम्निः समतीत्य तान् १२॥
शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः ।
तं प्रविश्याऽऽश्रमं शांतः पानीयं सोऽभ्ययाचत॥१३॥
तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा ।
नाऽश्रौषीत्कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ॥ १४ ॥
ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः ।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाऽम्भो व्यवासृजत् ॥१५ ॥
स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः ।
निर्वाणमगमद्धीमान्सुसुखी चाऽभवत्तदा ॥ १६ ॥
ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः ।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ॥ १७ ॥
कस्य कर्मेदमिति ते पर्यपृच्छन्समागताः ।
युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ॥ १८ ॥

एक समय राजा भूख और प्याससे व्याकुल हुआ, भृगु ऋषिके आश्रममें गया, उसी रात्रिमें महात्मा भृगु नन्दन ने सौद्युम्न राजाके वास्ते पुत्रेष्टि यज्ञ करी थी, जहां मन्त्रसे पवित्र किये हुए और प्राशनकरनेसे पत्नीको इन्द्रसमान पुत्र देने वाले जलसे भरा हुआ कलश रक्खा था। ऋषि लोग थककर सब सो रहे थे, राजाने जाकर उसी समय ऋषियोंसे जल मांगा, परन्तु सूखे कण्ठका कोमल शब्द ऋषियोंने न सुना, तब राजाने कलशके पास जाकर जल पिया और बहुत शान्त हुआ । (८–१६)

जब ऋषि लोग उठे तो उन्होंने कलशको जलसे खाली देखा और सब लोगोंसे पूछा कि यह किसका कर्म है ?

न युक्तमिति तं प्राह भगवान्भार्गवस्तदा ।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव संभृताः ॥ १९ ॥
मया ह्यत्राऽऽहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम् ।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम । ॥ २० ॥
महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः ।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद्यमसादनम् ॥ २१ ॥
अनेन विधिना राजन्मयैतदुपपादितम् ।
अब्भक्षणं त्वया राजन्न युक्तं कृतमद्य वै ॥ २२ ॥
न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत्कर्तुमतोऽन्यथा ।
नूनं दैवकृतं ह्येतद्यदेवं कृतवानसि ॥ २३ ॥
पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः ।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसंभृताः ॥ २४ ॥
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि ।
विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ॥ २५ ॥
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान् ।
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ॥ २६ ॥
ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः ।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ॥ २७ ॥
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत् ।

राजा युवनाश्वने कहा, कि यह कर्म मेरा है । भृगुने कहा कि यह तुमने अच्छा कर्म नहीं किया, यह जल पुत्र-के वास्ते मन्त्रोंसे शुद्ध किया गया था, मैंने तप करके पुत्रके वास्ते यह जल रखा था, इस लिये, हे अतुल पराक्रम ! तुम्हारे ऐसा प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा जो अपने बलसे इन्द्रकोभी परास्त करे-गा,क्योंकि हम अपने तपोबलको मिथ्या नहीं कर सकते हैं, यह ठीक है, कि प्रारब्ध बहुत बलवान है,मैंने जो अपने तपके बलसे जल मन्त्रित किया था, उसके प्रतापसे तुम्हारे बडा पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होगा, हम लोग तुम्हारे वास्ते अद्भुत पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे, जिससे तुम्हारे इन्द्रके समान पुत्र उत्पन्न होगा और गर्भधारणका दुःखभी तुमको प्राप्त न होगा । (१७-२६)

तब सौ वर्ष पूरे होनेके पश्चात् महा-त्मा राजा युवनाश्वकी बायीं कोख फटी

युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ २८ ॥
ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत् ।
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन्धास्यतीति किम् ॥ २९ ॥
प्रदेशिनीं ततोऽस्याऽऽस्ये शक्रः समभिसंदधे ।
मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिणा ॥ ३० ॥
मांधातेति च नामाऽस्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ३१ ॥
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्धत महातेजाः किष्कून्राजंस्त्रयोदश ॥ ३२ ॥
वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्रस्य सर्वशः ॥ ३३ ॥
आजगवं नाम धनुः शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये ।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ॥ ३४ ॥
सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत ।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन्विष्णुरिव विक्रमैः ॥ ३५ ॥
तस्याऽप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥ ३६ ॥
तस्येयं वसुसंपूर्णा वसुधा वसुधाधिप ।

और सूर्यके समान एक पुत्र उत्पन्न हुआ, परन्तु राजा युवनाश्व मरे नहीं;यह एक बडा अद्भुत कर्म हुआ, महाराज महा तेजस्वी इन्द्र उस पुत्रको देखनेके वास्ते आये। इन्द्रसे देवतोंने कहा, इसे कौन पालेगा, इन्द्रसे अपनी कन अंगुली उस बालकके मुखमें दे दी और कहा, कि मैं इसको पालूंगा। तबही इन्द्रादिक देवतोंने उस बालकका नाम मान्धाता रखा। (२७—३१)

इन्द्रकी कन अंगुलीको पीकर वह बालक बढने लगा, इसका प्रमाण तेरह किष्कु (हाथ) हुआ, उस बालकको ध्यान मात्रसे धनुर्विद्या, वेद विद्या सब प्राप्त हुई,आजगव नामक धनुष्य सींग-के बने बाण, काटनेके अयोग्य कवच, तत्क्षण उसको प्राप्त हुये। इन्द्रने अपने हाथसे उसका अभिषेक किया, राजा मान्धाताने धर्मसे तीनों लोकको ऐसे वशमें किया, जैसे विष्णु तीनों लोकको वशमें रखते हैं, उसका राज्यचक्र कहीं-भी खण्डित नहीं था, अनेक प्रकारके रत्न उस राजर्षिको आपही मिल गये। ३२-३६

उसके राज्यकी पृथ्वी सम्पूर्ण धनों-

तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ३७ ॥
चितचैत्यो महातेजा धर्मान्प्राप्य च पुष्कलान् ।
शक्रस्याऽर्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥ ३८ ॥
एकाहात्पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता ।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥ ३९ ॥
तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत्किञ्चिदनावृतम्॥ ४० ॥
तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥ ४१ ॥
तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥ ४२ ॥
येन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥ ४३ ॥
प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन्कृतात्मना ।
तेनाऽऽत्मतपसा लोकास्तापिताश्चाऽतितेजसा॥ ४४ ॥
तस्यैतद्देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
तस्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥ ४५ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं मांधातुश्चरितं महत् ।
जन्म चाऽग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥४६॥

से भरी थी, उसने अनेक प्रकारके यज्ञ किये, उचित धर्मों तथा यज्ञोंके करनेसे इन्द्रके आधे आसनको उसने प्राप्त किया, उस महा तेजस्वी राजाने सम्पूर्ण पृथ्वी समुद्र और नगरोंके सहित एक दिनमें जीती थी, उसके यज्ञ मण्डपोंसे सब पृथ्वी व्याप्त हुई कहींभी खाली न रही। (३७—४०)

सुनते हैं, कि मान्धाताने दश हजार पद्म गोदान ब्राह्मणोंको दिये थे। बारह वर्षकी अनावृष्टिमें उसने खेती के उत्पन्न करानेकेवास्ते इन्द्रकी ईर्षासे वर्षा की थी, उस राजा मान्धाताने चन्द्रवंशी मेघके समान गर्जते हुए गान्धार देशके राजाको तीक्ष्णबाणोंसे मारा था, उस बुद्धिमान राजाने चारों प्रकारकी प्रजाकी रक्षा की थी, उसने अपने तपके तेजसे तीनों लोकोंको तपाया था, उस सूर्यके समान तेजस्वी राजाका पवित्र कुरुक्षेत्रमें यह यज्ञस्थान है। हे राजन्! यह मैंने आप-

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा ।
पप्रच्छाऽनन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत॥ ४७ ॥ [४९८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
लोमशतीर्थयात्रायां मांधात्रुपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६॥

युधिष्ठिर उवाच—कथंवीर्यः स राजाऽभूत्सोमको वदतांवर ।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

लोमश उवाच—युधिष्ठिराऽऽसीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः ।
तस्य भार्याशतं राजन्सदृशीनामभूत्तदा ॥ २ ॥
स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः ।
कंचिन्नाऽऽसादयामास कालेन महता ह्यपि ॥ ३ ॥
कदाचित्तस्य वृद्धस्य घटमानस्य यत्नतः ।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन्स्त्रीशते समजायत ॥ ४ ॥
तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासते ।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान्विशाम्पते ॥ ५ ॥
ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशत्स्फिचि ।
स दष्टो व्यनदन्नादं येन दुःखेन बालकः ॥ ६ ॥
ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन्भृशदुःखिताः ।

से राजा मान्धाताके चरित्र और श्रेष्ठ जन्मकी कथा कही। (४१-४६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ऐसे लोमशके वचन सुनके कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने फिर सोमकको प्रश्न किया। (४७) ४९८७

वनपर्वमें एकसौ छब्बीस अध्याय समाप्त

वनपर्वमें एकसौ सताईस अध्याय ।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ ! राजा सोमक कैसा पराक्रमी और कैसा कर्म करनेवाला था, यह आप मुझसे ठीक ठीक कहिये। (१)

श्रीलोमश ऋषि बोले, हे युधिष्ठिर ! धर्म परायण सोमक नामक एक राजा था, उसके समान सौ स्त्री थीं उसने पुत्र उत्पन्न करनेके लिये बहुत यत्न किये, पर कोई पुत्र न हुआ। जब राजा बूढा हुआ। तब जन्तु नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। माताओंने उसे लेके उसके चारों ओर बैठी रहीं और कामोपभोगकी ओर ध्यान नहीं दिया। (२-५)

हे पृथ्वीनाथ ! जब उस जन्तुको चींटियोंने काटा, तब उसने भयानक शब्द किया, तब सब माताओंने बहुत दुःखी होके बडा शब्द किया, राजा

प्रवार्य जन्तुं सहसा स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥
तमार्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः ।
अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ॥ ८ ॥
ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥ ९ ॥
त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः ।
प्रविश्याऽन्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिन्दमः ॥ १० ॥
सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्याऽन्तःपुरान्नृपः ।
ऋत्विजा सहितो राजन्सहामात्य उपाविशत् ॥ ११ ॥

सोमक उवाच – धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत् ।
नित्यातुरत्वाद्भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥ १२ ॥
इदं भार्याशतं ब्रह्मन्परीक्ष्य सदृशं प्रभो ।
पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ॥ १३ ॥
एकः कथश्चिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम ।
यतमानासु सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ॥ १४ ॥
वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम ।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चाऽत्रैकपुत्रके ॥ १५ ॥
स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत् ।

सोमकने अपने मन्त्रीगण और पारिषदोंके बीचमें बैठे हुए उसका शब्द सुन लिया, उसी समय क्षत्ताको भेजकर निश्चय किया कि वह काहेका शब्द है? क्षत्ताने पुत्रका जो ठीक वृत्तान्त था सो राजासे आकर कह दिया । (६-९)

राजा सोमक उस बातके सुनतेहीं मन्त्री और ऋत्विजके सहित शीघ्रता से उठके रनिवासमें गये और वहांसे पुत्रको लेके ऋत्विज और अमात्यों के साथ सभामें आबैठे । महाराज सोमक बोले,

एक पुत्रवालेको धिक्कार है, एक पुत्रवाले से विना पुत्रका मनुष्य अच्छा । मैंने परीक्षा करके पुत्रके लिये सौ स्त्रियोंसे विवाह किया, परंतु उनको एक भी पुत्र पैदा नहीं हुआ । किसी प्रकारसे यह एक पुत्र जन्तु उत्पन्न हुआ भी है, तौभी किसी योग्य नहीं, इससे अधिक मुझे क्या दुःख होगा ? मेरी और मेरी स्त्रियोंकी अवस्था व्यतीत होगई, इस कारण हम सबके प्राण इसी जन्तुमें लगे रहते हैं, यदि ऐसा कोई उपाय हो,

महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥ १६ ॥

ऋत्विगुवाच— अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत्।
यदि शक्नोषि तत्कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥ १७ ॥

सोमक उवाच— कार्यं वा यदि वाऽकार्यं येन पुत्रशतं भवेत्।
कृतमेवेति तद्विद्धि भगवान्प्रब्रवीतु मे ॥ १८ ॥

ऋत्विगुवाच— यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद्भविष्यत्यचिरेण ते ॥ १९ ॥
वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥ २० ॥
तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥ २१ ॥ [५००६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२७ ॥

सोमक उवाच— ब्रह्मन्यद्यद्यथा कार्यं तत्कुरुष्व तथा तथा।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥ १ ॥

लोमश उवाच—ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना।

जिसमें मेरे सौ पुत्र उत्पन्न हों, यदि वह कर्म सुलभ वा कठिनभी होगा तौभी मैं अवश्य करूंगा। (१०—१६)

ऋत्विज बोला, कि ऐसा कर्म है, जिससे सौ पुत्र हो सकते हैं, हे सोमक! यदि तुम उसे कर सको तो मैं कहूं? राजा सोमक बोले, कि चाहे करने योग्य हो वा न करने योग्य हो जिससे मेरे सौ पुत्र हों, आप उस कर्मको कहिये। ऋत्विज बोले, हे राजन्! आप जन्तुसे यज्ञ कीजिये तो आपके सौ पुत्र होंगे। जब चर्बीकी होम की जायगी, तब उसके धूवेंको सूंघके तुम्हारी सब स्त्रियोंके पुत्र उत्पन्न होंगे, उस यज्ञमें मरनेसे उसी स्त्री के जिसका यह अब पुत्र है, उसीके फिर उत्पन्न होगा, और इसकी कोखमें सोनेका एक चिन्ह रहेगा। (१७—२१) [५००६]

वनपर्वमें एकसौ सताइस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ अठाइस अध्याय।

राजा सोमक बोले, हे ब्राह्मण! जो जो काम करने चाहिये सो सब आप आरम्भ कीजिये। मैं पुत्रकी इच्छासे आपके वचन करूंगा, श्रीलोमश ऋषि बोले, तब उस ऋत्विजने सोमक के यज्ञ आरम्भ करके जन्तुको मारना चाहा, पर

मातरस्तु बलात्पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ॥ २ ॥
हाहताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः।
रुदन्त्यः करुणं चापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥ ३॥
सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति।
कुररीणामिवाऽऽर्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ॥ ४ ॥
विशस्य चैनं विधिवद्वपामस्य जुहाव सः।
वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ॥ ५ ॥
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ॥ ६ ॥
ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशांपते।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ॥ ७ ॥
जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिव।
स तासामिष्ट एवाऽऽसीन्न तथा ते निजाः सुताः ॥८॥
तच्च लक्षणमस्याऽऽसीत्सौवर्णं पार्श्वे उत्तरे।
तस्मिन्पुत्रशते चाऽग्र्यः स बभूव गुणैरपि ॥ ९ ॥
ततः स लोकमगमत्सोमकस्य गुरुः परम्।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत्परम् ॥ १० ॥
अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः।

जन्तुओंकी माता पुत्रको छीनने लगीं और हाहा करके रो कर कहने लगीं; हा हमारा नाश हुआ, दहना हाथ पकडके जन्तुकी माता खींचती थीं और बायां हाथ ऋत्विज खींचता था, जैसे मृगी रोती है, इस प्रकार सब माता रोती थीं, ऋत्विजने बलसे बालकको खींच कर उसकी चर्बीसे हवन किया, स्त्रियोंने उस गन्धको सूंघके वे भूमिपर मूर्छित होकर गिर गईं यज्ञके प्रतापसे सब स्त्रियोंके गर्भ रह गया। १-६

दशवे महीनेमें राजा सोमकके एकसौ पुत्र उत्पन्न हुए। जन्तु सबसे बडा हुआ, सब माताओंको जैसा जन्तु प्यारा था वैसा और पुत्र कोई नहीं था।उसकी कोखमें सुवर्णका चिन्ह था, जन्तु सब भाइयोंमें अधिक गुणवान था। राजा सोमकका ऋत्विज कुछकाल के पश्चात् मर गया और राजा सोमक भी मरे। (७—१०)

राजा सोमकने नरकमें जाके देखा, कि ऋत्विज नरकमें दुःख भोग रहे हैं,

तमपृच्छत्किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥ ११ ॥
तमब्रवीद्गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम् ।
त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजानमब्रवीत् ।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ॥ १३ ॥
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना

धर्म उवाच— नाऽन्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुंक्ते कदाचन ।
इमानि तव दृश्यंते फलानि वदतां वर ॥ १४ ॥

सोमक उवाच— पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम् ।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ॥ १५ ॥
नरके वा धर्मराज कर्मणाऽस्य समो ह्यहम् ।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ॥ १६ ॥

धर्मराज उवाच— यद्येवमीप्सितं राजन्भुंक्ष्वाऽस्य सहितः फलम् ।
तुल्यकालं सहाऽनेन पश्चात्प्राप्स्यसि सद्गतिम् ॥ १७ ॥

लोमश उवाच— स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः ।

राजा सोमकने ऋत्विजसे पूछा, हे ब्राह्मण ! तुम किस कारणसे नरकमें दुःख भोगते हो ? नरककी अग्निमें जलते हुए उस ब्राह्मणने कहा, हे राजन् ! मैंने जो तुमको यज्ञ कराया था उसी कर्मका यह फल भोगता हूं। राजा सोमकने इस वचनको सुनके धर्मराजसे कहा कि मेरे ऋत्विजको छोड दीजिये अथवा मैं इस अग्निमें प्रवेश करूंगा, मेरे वास्ते यह ब्राह्मण नरककी अग्निमें जल रहा है। (११—१४)

धर्मराज बोले, हे राजन् ! दूसरेके कर्मके फलको दूसरा नहीं भोग सकता है, यह तुम्हारे कर्मके दूसरे लोग देखो तैयार हैं ! राजा सोमक बोले कि मैं इस ब्रह्मवादीको छोडके पुण्य लोकोंमें जाने की इच्छा नहीं रखता, देवतोंके स्थानमें मैं इस ब्राह्मणके सहितही रहनेकी इच्छा रखता हूं, हे धर्मराज ! नरकमें वा स्वर्गमें हम दोनों साथही रहेंगे, क्योंकि हम कर्ममें दोनों समान हैं, पुण्य वा पापका फल हम दोनोंका समानही होगा। (१४—१६)

धर्मराज बोले, कि हे राजन् ! यही इच्छा है तो तुमभी इसके साथ कर्म फलको भोगो, पश्चात् उत्तम गतिको प्राप्त होगे। श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन् ! उस कमलनेत्र राजाने अपने

क्षीणपापश्च तस्मात्स विमुक्तो गुरुणा सह ॥ १८ ॥
लेभे कामाञ्शुभान् राजन्कर्मणा निर्जितान्स्वयम् ।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥ १९ ॥
एष तस्याऽऽश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते ।
क्षान्त उष्याऽत्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥ २० ॥
एतस्मिन्नपि राजेंद्र वत्स्यामो विगतज्वराः ।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥ २१ ॥ [५०२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जंतूपाख्याने अष्टाविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

लोमश उवाच— अस्मिन्किल स्वयं राजन्निष्टवान्वै प्रजापतिः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ॥ १ ॥
अंबरीषश्च नाभाग इष्टवान्यमुनामनु ।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्योऽभिसृष्टवान् ॥ २ ॥
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः ।
देशश्च नाहुषस्याऽयं यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥ ३ ॥
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः ।
स्पर्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ॥ ४ ॥

गुरुके सहित नरक भोग करके पाप रहित हो, नरकको त्याग किया। पश्चात् अपने कर्मसे मिले अति उत्तम सुखोंको प्राप्त किया, गुरुके प्यारे उस राजाने गुरुके सहित स्वर्गमें सुखभोग किया। हे राजन् ! युधिष्ठिर ! यह सामने उस राजाका आश्रम है, यहां पर छःरात्रि निवास करनेसे मनुष्यको उत्तम गति प्राप्त होती है, हे कुरुमुख्य! हम लोग इस आश्रम पर छःरात्रि रहके अपनी थकाई उतारेंगे। (१७-२१) [५०२७]

वनपर्वमें एकसौ अठाईस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ उनतीस अध्याय।

श्रीलोमश ऋषि बोले हे राजन्! इसही स्थानमें स्वयं प्रजापतिने इष्टि नामक सत्र करी थी, उस यज्ञमें पूर्ण एक सहस्र वर्ष लगा था। इस स्थानमें अम्बरीष और नाभाग राजाने यज्ञ करके दश पद्म गौ ब्राह्मणोंको दी थीं। उन्होंने तप और यज्ञसे परम सिद्धिको प्राप्त किया था, इस लिये यह देश पुण्यकर्म्मा यज्ञकारी नहुष पुत्रके नामसे प्रसिद्ध है! हे कुन्ती नन्दन! वह ययाति राजा चक्रवर्ती अनन्त तेजस्वी और इन्द्रसे स्पर्द्धा करने

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाऽऽक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥ ५ ॥
एषा शम्येकपत्रा या सरकं चैतदुत्तमम् ।
पश्य रामह्रदानेतान्पश्य नारायणाश्रमम् ॥ ६ ॥
एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।
प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥ ७ ॥
अत्राऽनुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनंदन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ॥ ८ ॥
युगंधरे दधि प्राश्य उषित्वा चाऽच्युतस्थले ।
तद्वद्भूतलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि ।
एतद्वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमितोऽन्यथा ॥ १० ॥
अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम ।
द्वारमेतत्तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥ ११ ॥
अत्रैव नाहुषो राजा राजन्क्रतुभिरिष्टवान् ।

वाले थे, यह देश उनही की यज्ञ करने का है, देखो इस स्थानमें अनेक अग्नि स्थापन करनेके स्थान शोभित हैं। मानो ये सब ययाति की यज्ञ भूमि में स्नान कर रहे हैं। (१-५)

देखो यह एक पत्तेवाली शमी और यह तालाव कैसा उत्तम है! आगे राम का तालाव और नारायणका आश्रम है, यह देखो यह महातेजस्वी ऋचीकपुत्रने अपने तेजसे विचरते हुए रौप्यानदीके तीरमें सुन्दर मार्ग बना दिया है, देखो यहां जो उलूखल सदृश अलंकार धारिणी पिशाचीने एक श्लोक पढा था सो हम आपसे कहते हैं, हे कुरुनन्दन! आप उसे सुनिये। पिशाची कहती है। हे ब्राह्मणी! क्या तू युगन्धर नामक पर्वत देशमें दही खाकर अच्युत स्थलमें रातको निवास करके और भूतलय स्थानमें स्नान करके यहां पुत्रके सहित रहना चाहती है? एक दिन रहकर यदि दूसरे दिन यहां रहनेकी इच्छा करेगी तो दिनमें तेरी यही दशा होगी जो मेरी है और रात्रिमें इससेभी अधिक दुर्दशा होगी। (६- १०)

हे भरतसत्तम! हे कुन्तीनन्दन! यह कुरुक्षेत्रका द्वार है, हम लोग एक रात्रि यहां निवास करेंगे। हे राजन्! यहीं नहुषपुत्र राजा ययातिने यज्ञ करके

यथातिर्बहुरत्नौघैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात ॥ १२ ॥
एतत्प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम् ।
एतद्वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥
अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः ।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथप्लवम् ॥ १४ ॥
अत्र वै भरतो राजा राजन्क्रतुभिरिष्टवान् ।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ॥ १५ ॥
असकृत्कृष्णसारंगं धर्मेणाऽऽप्य च मेदिनीम् ॥
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ।
प्राप चैवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः ॥ १६ ॥
अत्रोपस्पृश्य राजेंद्र सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।
लोमशं पांडवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥
सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।

अनेक रत्न दान किये थे । इसी स्थानमें उनसे इन्द्र प्रसन्न हुए थे, यह यमुनाके तट पर प्लक्षावतरण नामक उत्तम तीर्थ है, पण्डित लोग इसीको स्वर्गका द्वार बताते हैं । हे तात ! इसी स्थानमें परम ऋषि सारस्वत ब्राह्मणोंने यज्ञ करे थे, इस स्थानमें यूप उलूखल और यज्ञके कलशे मिलते हैं । इस ही स्थानमें अवभृथ स्नानके लिये ब्राह्मण गये थे । हे राजन्! इसी स्थानमें राजा भरतने अनेक यज्ञ किये और अश्वमेध यज्ञ करनेके निमित्त श्यामकर्ण घोडा छोडा था। यहींसे उन्होंने धर्म पूर्वक सब पृथ्वीको प्राप्त किया था। (११—१६)

हे पुरुष व्याघ्र! इसी स्थानमें ऋषियोंमें मुख्य संवर्त्त मुनिसे रक्षित राजा मरुत्तने उत्तम यज्ञ किया था । हे राजेन्द्र ! आप इस जलको स्पर्श कीजिये, तब आपको सब लोक दीखने लगेंगे। जो पुरुष इस जलको स्पर्श करता है, वह सब पापोंसे छूटकर पवित्र हो जाता है । (११—१७)

श्रीवैशम्पायनमुनि बोले, जब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित उस जलमें स्नान किया, तो महर्षि लोग उनकी स्तुति करने लगे, अनन्तर महाराजने लोमशसे कहा, कि हे सत्यविक्रम ! अब हम अपने तपके बलसे

इहस्थः पांडवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥१९॥

लोमश उवाच— एवमेतन्महाबाहो पश्यंति परमर्षयः ।

सरस्वतीमिमां पुण्यां पुण्यैकशरणावृताम् ॥२०॥

यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ।

इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।

ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥ २१ ॥

वेदी प्रजापतेरेषा समंतात्पंचयोजना।

कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥ २२ ॥ [५०४९]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामेकोनत्रिंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

लोमश उवाच— इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत ।

मर्तुकामा नरा राजन्निहाऽऽयांति सहस्रशः ॥ १ ॥

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।

इह ये वै मरिष्यंति ते वै स्वर्गजितो नरः ॥ २ ॥

एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी।

एतद्विनशनं नाम सरस्वत्या विशांपते ॥ ३ ॥

सब लोकोंको देखते हैं, हम यहांसे बैठे पाण्डवोंमें श्रेष्ठ सफेद घोडेवाले अर्जुन को देख रहे हैं। (१८-१९)

श्रीलोमश ऋषि बोले, हे महाबाहो ! आप जो कहते हैं, सो सब सत्य है, इस पुण्यकर्मवाले पुरुषोंसे सेवित पवित्र सरस्वती नदीको महर्षि लोग देखते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ ! इसमें स्नान करनेसे आप सब पापोंसे छूट जायगे। यहीं देव ऋषियोंने अनेक सारस्वत यज्ञ किये हैं। हे कुन्तीनन्दन इस स्थानमें राजर्षि तथा अन्य ऋषियोंनेभी अनेक यज्ञ किये हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! यह वीस कोस लम्बी और बीस कोस चौडी प्रजापति-की वेदी है, इसी स्थानमें महात्मा कुरुने यज्ञ करे थे। (२०-२२)[५०४९]

वनपर्वमें एकसौ उनतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ तीस अध्याय

श्रीलोमश ऋषि बोले हे राजन् ! इस स्थान पर मरनेसे पुरुषोंको स्वर्ग प्राप्त होता था। हे राजन् ! इस स्थानमें सहस्रों पुरुष मरनेको आते हैं, पहले यज्ञ करनेवाले दक्षने यह आशीर्वाद दिया कि जो पुरुष इस स्थानमें मरेगा, वह स्वर्गको जीत लेगा। हे प्रजानाथ ! यह रम्य सरस्वती नदी है और यह पवित्र ओघवती नदी है, यह सरस्वतीके तट-पर विनशन नामक तीर्थ है, हे वीर !

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात्सरस्वती।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥ ४ ॥
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती।
यत्रैनामभ्यवर्तंत सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ॥ ५ ॥
एतत्सिंधोर्महत्तीर्थं यत्राऽगस्त्यमरिंन्दम।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥ ६ ॥
एतत्प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते।
इंद्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥ ७ ॥
एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ८ ॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः।
बध्वाऽऽत्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥ ९ ॥
काश्मीरमंडलं चैतत्सर्वपुण्यमरिन्दम।
महर्षिभिश्चाऽध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ १० ॥
यत्रौत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च।
अग्नेश्चैवाऽत्र संवादः काश्यपस्य च भारत ॥ ११ ॥

यह निषाद देशका द्वार है, और उनही निषादोंके दोषसे सरस्वती पृथ्वीमें चली गई है, निषाद लोग मुझको न पहचाने। (१-४)

यहीं चमसोद्भेद तीर्थ है, जहां सरस्वती प्रगट हुई है। यहीं सरस्वतीके पास सब समुद्रगामिनी और पवित्र नदी आती हैं। हे शत्रुनाशन! यह सिन्धुका महातीर्थ है, यहीं लोपामुद्राने आकर अगस्त्य मुनिसे विवाह किया था। हे सूर्यके समान तेजस्वी! यह प्रभास नामक तीर्थ प्रकाशित हो रहा है, यह तीर्थ इन्द्रका परम प्यारा पवित्र और पापोंका नाशक है, वह विष्णुपद नामक उत्तम तीर्थ दीखता है, यह सब पापोंके नाश करनेवाली, रम्य, विपाशा नामक नदी है, इसी स्थानमें पुत्रशोकसे व्याकुल भगवान वासिष्ठ मुनि अपने शरीरको पाशसे बांधकर गिर गये थे, फिर पाशमुक्त होकर उठे थे, इसी लिये इस नदी का नाम विपाशा है। (५—९)

हे शत्रुनाशन! यह परम पवित्र काश्मीर देश है, यहां पवित्र महर्षि लोग वास करते हैं, आप उसको भाइयोंके सहित देखिये। हे भारत! इसी स्थान में उत्तरके सब ऋषि, नहुष पुत्र ययाति

एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते ।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥ १२ ॥
एष वातिकषंडो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ।
नाऽत्यवर्तत यद् द्वारं विदेहादुत्तरं च यः ॥ १३ ॥
इदमाश्चर्यमपरं देशेऽस्मिन्पुरुषर्षभ ।
क्षीणे युगे तु कौंतेय शर्वस्य सह पार्षदैः ॥ १४ ॥
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः ।
अस्मिन्सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ॥ १५ ॥
यजंते याजकाः सम्यक् परिवारं शुभार्थिनः ।
अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेंद्रियः ॥ १६ ॥
एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शांतवान् ।
अरुंधतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
हृदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ।
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राऽशाम्यदकोपना ॥ १८ ॥
समाधीनां समासस्तु पांडवेय श्रुतस्त्वया ।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुंगं महागिरिम् ॥ १९ ॥

काश्यप और अग्निका संवाद हुआ था, हे महाराज ! यह मानसका द्वार है, यहां श्रीमान रामने एक वर्ष वास किया था, इस सत्य विक्रम देशका नाम वातिक खण्ड है, इसकी सीमा विदेह देशके उत्तरतक है । (१०-१३)

हे कौन्तेय ! हे पुरुषसिंह ! इस देशमें एक बहुत विचित्र बात है, कि जब युगका अन्त होनेको होता है, तब पार्वती और पार्षदोंके सहित कामरूपी शिवके दर्शन यहीं होते हैं । इस तलाव में कल्याण चाहनेवाले, यज्ञ करनेवाले पुरुष अपने परिवारके सहित चैत्रमें शिवका यज्ञ करते हैं, आप इन्द्रियजित और श्रद्धावान होकर इस जलका स्पर्श कीजिये, तो आपके सब पाप नष्ट हो जायंगे और उत्तम लोगोंको प्राप्त हूंजियेगा, इस तीर्थ का नाम उज्ञानक है, जहां स्वामिकार्तिक और अरुन्धतीके सहित भगवान वसिष्ठ मुनि शान्त हुए थे । (१४-१७)

इस तडागका नाम कुशवान है, इस में कुशशयनामक कमल होता है, यह रुक्मिणीका आश्रम है, यहीं क्रोध जीतनेवाली रुक्मिणी शान्त हुई थीं । हे पाण्डव ! तुमने जो समाधियोंका संक्षेप

वितस्तां पश्य राजेंद्र सर्वपापप्रमोचनीम् ।
महर्षिभिश्चाऽध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ॥ २० ॥
जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम् ।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ॥ २१ ॥
तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशांपते ।
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ॥ २२ ॥
जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम् ।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ॥२३॥
ऊरू राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद्भयात् ।
शरणार्थी तदा राजन्निलिल्ये भयपीडितः ॥ २४ ॥ [९०७३]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३०॥

श्येन उवाच— धर्मात्मानं त्वाऽऽहुरेकं सर्वे राजन्महीक्षितः ।
सर्वधर्मविरुद्धं त्वं कस्मात्कर्म चिकीर्षसि ॥ १ ॥
विहितं भक्षणं राजन्पीड्यमानस्य मे क्षुधा ।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ २ ॥

सुना है, अब उनको अपनी दृष्टिसे देखोगे । यह भृगुतुङ्ग नामक पर्वत है । हे राजेन्द्र ! सब पापोंके नाश करनेवाली ऋषि सेवित निर्मल जलसे भरी हुई वितस्ता नदीको देखो । आगे जला, उपजला और यमुना नदीको देखो । हे भारत ! जहां यज्ञ करके उशीनर राजा इन्द्रके तुल्य होगये थे । (१८–२१)

हे पृथ्वीनाथ ! उसकी देव सभामें आकर अग्नि और इन्द्रने परीक्षा करी थी, जिस समय राजोंमें श्रेष्ठ उशीनर यज्ञ कर रहे थे तबही अग्नि और इन्द्र वरदान देनेकी इच्छासे उनकी परीक्षा लेने आये । इन्द्र बाज और अग्नि कबूतर बने । अनन्तर बाजके भयसे व्याकुल शरण चाहनेवाले कबूतररूपी अग्नि राजा उशीनरकी जंघापर बैठ गये और भयसे व्याकुल होने लगे।(२२-२४) [९०७३]

वनपर्वमें एकसौ तीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ एकतीस अध्याय ।

बाज बोला, हे राजन् ! सब जगत्के राजा लोग आपको धर्मात्मा कहते हैं, तब तुमने यह कर्म धर्मविरुद्ध क्यों किया है? हे राजन् ! मैं भूखसे बहुत व्याकुल हूं और यह कबूतर मेरा भोजन है, अतएव तुम धर्मके लोभसे इसकी रक्षा मत करो तुम्हारा धर्म नष्ट हो चुका । (१—२)

राजोवाच— संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज ।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥ ३ ॥
एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याऽभयार्थिनः ।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ॥ ४ ॥
प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते ।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ॥ ५ ॥
यो हि कश्चिद् द्विजान्हन्याद्गां वा लोकस्य मातरम् ।
शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥ ६ ॥

श्येन उवाच— आहारात्सर्वभूतानि संभवन्ति महीपते ।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ७ ॥
शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम् ।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ॥ ८ ॥
भक्ष्याद्वियोजितस्याऽद्य मम प्राणा विशांपते ।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ॥ ९ ॥
प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नंक्ष्यति ।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून्प्राणान्न रक्षसि ॥ १० ॥
धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत् ।

राजा बोले, हे महाद्विज ! तुम्हारे भयसे व्याकुल होकर प्राण बचानेकी इच्छासे यह हमारे पास आया है, हम रक्षा क्यों न करें ? हे बाज ! इसकी प्राणरक्षा करनेमें क्या तुमको धर्म नहीं दीखता है ? देखो यह कबूतर संभ्रान्त और तडपता हुआ मेरे पास आया है, इसका परित्याग करना अच्छा नहीं है। हे बाज ! जो पुरुष ब्राह्मण अथवा लोक-माता गौको मारता है, और जो शरणा गतका त्याग करता है, उन तीनोंको समानही पाप होता है। (३—६)

बाज बोला, हे पृथ्वीनाथ! आहारसे सब जगत्के जन्तु उत्पन्न होते हैं, आ-हारसे बढते हैं, और आहारहीसे जीते हैं। अत्यन्त दुःखसे छोडने योग्य वस्तु-को छोडकर पुरुष कई दिन जी सकता है, परन्तु भोजनको छोडकर जीना असम्भव है, इस लिये भोजन न पानेसे मेरे प्राण शरीरको छोडकर प्रस्थान क-रेंगे। हे धर्मात्मन् ! मेरे मरनेसे मेरी स्त्री और पुत्र सब मर जायंगे। तुम एक कबूतरके प्राणकी रक्षा करके अनेक प्राणोंका नाश करते हो। जिस धर्मसे

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ ११ ॥
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥ १२ ॥
गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन्कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ॥ १३ ॥
राजोवाच- बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम।
सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चाऽस्यसंशयम् ॥१४॥
तथा हि धर्मसंयुक्तं बहुचित्रं च भाषसे।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वां लक्षयाम्यहम् १५ ॥
शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे।
आहारार्थं समारंभस्तव चाऽयं विहंगम ॥ १६ ॥
शक्यश्चाऽप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया।
गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चाऽन्यदिह कांक्षसि ॥ १७ ॥
श्येन उवाच- न वराहं न चोक्षाणं न मृगान्विविधांस्तथा।

धर्मका नाश हो, वह धर्म नहीं वरन कुमार्ग है। हे सत्यविक्रम! जिसमें किसी धर्मका विरोध न हो, वही धर्म कहाता है। (७—११)

हे पृथ्वीनाथ! यदि धर्ममें दो स्थानों पर विरोध हो, उन दोनोंका हलका और भारीपन विचारलें, जिसमें कुछ बाधा न हो उसी धर्मको करें। हे राजन्! धर्म और अधर्मके निश्चय में हलके और भारीपनका पहले निश्चय कीजिये, तब जिसमें कल्याण दीखे सोई काम कीजिये। (१२–१३)

राजा बोले, हे पक्षिश्रेष्ठ! तुम बहुत कल्याणसे भरी हुई बातोंको कहते हो क्या तुम धर्मके निश्चय करनेवाले साक्षात् पक्षिराज गरुड हो? तुम धर्मसे भरी हुई अनेक विचित्र बातोंको कहते हो, इससे हमको जान पडता है, कि कोई बात तुमको अविदित नहीं है, तुम शरणागतका त्याग किस प्रकार अच्छा समझते हो? हे विहङ्गम! तुम केवल अपने भोजनके निमित्त इतना विवाद कर रहे हो, तुम अत्यन्त इससे अधिक भोजन पा सकते हो, गाय, बैल, सूअर, भैंसा वा हरिन अथवा और जो तुम्हारी इच्छा हो, सो ही हम तुमको दे सकते हैं। (१४–१७)

बाज बोला, हे महाराज! मैं सूअर,

भक्षयामि महाराज किं ममाऽन्येन केन चित् ॥ १८ ॥
यस्तु मे देवविहितो भक्षः क्षत्रियपुंगव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ॥ १९ ॥
श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन्सारमज्ञात्वा कदलीस्कंधमासज ॥ २० ॥

राजोवाच— राष्ट्रं शिबीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ॥ २१ ॥
विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।
येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ॥ २२ ॥

श्येन उवाच— उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥ २३ ॥
यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।
तदा देयं तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥ २४ ॥

राजोवाच— अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माऽभियाचसे ।
तस्मात्तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २५॥

बैल हरिन या और किसी जन्तुको नहीं चाहता हूं,मुझे दूसरे जन्तुसे क्या प्रयोजन है? हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! हे पृथ्वीनाथ ! ईश्वरने जो भक्षण मेरे निमित्त भेजा है, मेरे उस कबूतरको मुझे दीजिये। हे राजन् ! बाज कबूतरको खाता है,यह बात सनातन है। तुम तत्व न जानकर केलेके खम्भके समान तत्वरहित धर्मको मत करो। (१८-२०)

राजा बोले, हे खेचर ! मैं इस धनसे भरे हुए शिबिराज्यको तुम्हें देदूंगा अथवा और जो तुम्हारी इच्छा होगी, सोभी दूंगा; परन्तु इस शरण आये पक्षीको न छोडूंगा। हे पक्षिसत्तम ! जिस कर्मसे तुम इस पक्षिके प्राणको छोडो सो कहो, मैं वही करूंगा; परन्तु इस कबूतरको न छोडूंगा। (२१-२२)

बाज बोला, हे राजन् ! उशीनर ! यदि तुमको इस कबूतरमें बहुतही प्रेम है, तो अपने शरीरके मांसको कबूतरकी बराबर तोलो, हे नृपोत्तम ! जब वह इसके समान हो जायगा, तब उसको खाकर मैं बहुत प्रसन्न हूंगा। राजा बोले, हे बाज ! तुमने जो हमसे मांगा सो देना स्वीकार ग्रहण किया, अब हम अपना मांस इस कबूतरके समान तौलकर तुम्हें देते हैं। (२३-२५)

लोमश उवाच— उत्कृत्त्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित्।
तुलयामास कौंतेय कपोतेन समं विभो ॥ २६ ॥
ध्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनाऽत्यतिरिच्यते।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥ २७ ॥
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम्।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥ २८ ॥
श्येन उवाच —इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम्।
जिज्ञासमानौ धर्मं त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ॥ २९ ॥
यत्ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशांपते।
एषा ते भास्वती कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ॥ ३० ॥
यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यंति पार्थिव।
तावत्कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यंति तव शाश्वताः॥३१॥
इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः।
उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणाऽवृत्य रोदसी ॥ ३२ ॥
विभ्राजमानो वपुषाऽप्यारुरोह त्रिविष्टपम्।
तदेतत्सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

श्रीलोमश मुनि बोले, हे पृथ्वीनाथ! हे कुन्तीनन्दन! परम धर्मके जाननेवाले राजा उशीनरने अपने मांसको अपने हाथसे काटा और तराजूपर रखकर तौलने लगे, तौलते समय कबूतर अधिक हुआ, तब राजा उशीनरने पुनः मांस काटकर चढाया, जैसे जैसे राजा मांस चढाते गये तैसे तैसे कबूतर भारी होता जाता था। जब राजाके शरीरमें मांस न रहा तब आपही तराजूपर बैठ गये। (२६—२८)

बाज बोले, हे धर्मज्ञ! हम इन्द्र और यह कबूतर अग्नि हैं, केवल आपके धर्मकी परीक्षा करनेके लिये यज्ञशालामें आये थे। हे प्रजानाथ! तुमने जितना अपने शरीरका मांस काटा है, उतनी ही तुम्हारी कीर्ति जगतमें बढेगी। हे पार्थिव! जबतक लोकमें मनुष्य रहेंगे तबतक तुम्हारी कीर्त्ति जगतमें रहेगी; और तुमभी सनातन स्वर्गमें वास करोगे। ऐसा कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्गको चले गये। (२९–३२)

राजा उशीनरभी अपने कर्मोंको समाप्त करके अपने तेजसे प्रकाशित होकर स्वर्गको चले गये। हे राजन्! उसही महात्मा उशीनरके स्थानको हमारे

पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ।
अत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ॥
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥३४॥[५१०७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीय एकात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१॥

लोमश उवाच——यः कथ्यते मंत्रविदग्धबुद्धिरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्।
तस्याऽऽश्रमं पश्य नरेंद्र पुण्यं सदा फलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥
साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ।
वेत्स्यामि वाणीमिति संप्रवृत्तां सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ २ ॥
अस्मिन्युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ॥ ३ ॥
विदेहराजस्य महीपतेस्तौ विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे बंदिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥ ४ ॥
उपास्स्व कौंतेय सहानुजस्त्वं तस्याऽऽश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य ।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहुर्योऽसौ बंदिं जनकस्याऽथ यज्ञे ॥ ५ ॥

सहित देखो। हे राजन्! इस स्थानमें मनातन मुनि और देवता लोगोंको पुण्यवान् महात्मा ब्राह्मण लोग देखते हैं। (३२—३४) [५१०७]

वनपर्वमें एकसौ इकतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ बत्तीस अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे नरेन्द्र! जो जगत्में मन्त्र जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उद्दालक मुनिके पुत्र श्वेतकेतु प्रसिद्ध हैं आप उनके आश्रमको देखिये, यह परम पवित्र आश्रम अनेक प्रकार के सदा फलनेवाले वृक्षोंसे शोभित हैं। यहां श्वेतकेतुने साक्षात् सरस्वती को मनुष्य रूप धारण किये हुए देखा था, और कहा था, कि हमने जान लिया तुम साक्षात् सरस्वती हो, उस युगमें कहोडपुत्र अष्टावक्र और पहले उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु ये दोनों मामा भानजे हैं, और वेद जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, और दोनोहीं जगप्रसिद्ध हैं (१—३)

अष्टावक्र और श्वेतकेतु ये दोनों राजा जनककी यज्ञशालामें गये थे और दोनों मामा भानजोंने बहुत शास्त्रार्थ किया और वहां एक बंदीका पराजय किया। हे कौन्तेय! आप अपने भाइयोंके सहित इस पवित्र आश्रममें प्रवेश करके इन की उपासना कीजिये, इन्हीं महात्माके पोते अष्टावक्रने जनकके यज्ञमें जाकर

बादी विप्रान्यो बाल एवाऽभिगम्य वादे भंक्त्वा मज्जयामास नद्याम् ६
युधिष्ठिर उवाच—कथंप्रभावः स बभूव विप्रस्तथाभूतं यो निजग्राह बंदिम्।
अष्टावक्रः केन चाऽसौ बभूव तत्सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम् ॥ ७ ॥
लोमश उवाच— उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत्।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ॥ ८ ॥
तं वै विप्रः पर्यचरत्स शिष्यस्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरुः सः।
तस्मै प्रादात्सद्य एव श्रुतं च भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ॥९॥
तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः सोऽधीयानं पितरं चाऽप्युवाच।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ॥ १० ॥
उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः स तं कोपादुदरस्थं शशाप।
यस्मात्कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि तस्माद्वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ११ ॥
स वै तथा वक्र एवाऽभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः।
अस्याऽऽसीद्वै मातुलः श्वेतकेतुः स तेन तुल्यो वयसा बभूव ॥ १२ ॥

वहांके बंदीके साथ शास्त्रका विचार किया था, इन्होंने बाल्यावस्थाहीमें राजा जनककी सभामें जाकर शास्त्रार्थ किया था और बंदीका पराजय करके उसको नदीमें डुबो दिया। (४—६)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे लोमश ! महात्मा अष्टावक्र किसके पुत्र थे, इनका क्या प्रभाव था ? किस प्रकार उन्होंने बन्दीको निग्रह किया था ? यह सब आप हमसे कहिये। (७)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन् ! उद्दालक मुनिके एक कहोड नामक शिष्य थे, वे गुरुकी बहुत सेवा करते और उनहींके घरमें रहते थे। इस प्रकार बहुत दिन पढते रहे। जब उद्दालक मुनिने कहोडकी सेवाको जाना तब उसको सब विद्या दी और सुजातानामक अपनी पुत्रीका उससे विवाह कर दिया। (८—९)

अनन्तर कहोडकी स्त्रीको गर्भ रहा, वह गर्भ अग्निके समान प्रकाशमान था। एक दिन उस बालकने गर्भ ही में से अध्ययनकरनेवाले पितासे कहा कि हे पिता ! तुम समस्त रात्रि पढतेही रहते हो, सो यह सम्यक पठित नहीं होता है। हे महाराज ! शिष्योंके मध्यमें महर्षि कहोडने अपनी निन्दा सुनकर क्रोध किया और उस गर्भके बालकको शाप दिया, कि तू गर्भहीमेंसे बोलता है, इस लिये आठ जगहसे टेढा होगा। अनन्तर कहोड मुनिका जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह आठ जगहसे टेढा था, और इसी

संपीड्यमाना तु तदा सुजाता सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ॥ १३ ॥
कथं करिष्याम्यधना महर्षे मासश्चाऽयं दशमो वर्तते मे ।
नैवाऽस्ति ते वसु किंचित्प्रजाता येनाऽहमेतामापदं निस्तरेयम्॥१४॥
उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो वित्तस्यार्थे जनकमथाऽभ्यगच्छत् ।
स वै तदा वादविदा निगृह्य निमज्जितो बंदिनेहाऽप्सु विप्रः ॥ १५ ॥
उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा ।
उवाच तां तत्र ततः सुजातामष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥ १६ ॥
ररक्ष सा चापि तमस्य मंत्रं जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः ।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने तथाऽष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १७ ॥
ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतुरष्टावक्रं पितुरंके निषण्णम् ।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदंतं नाऽयं तवांऽकः पितुरित्युक्तवांश्च॥१८॥
यत्तेनोक्तं दुरुक्तं तत्तदानीं हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत् ।

लिये उनका नाम अष्टावक्र था। महर्षि उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु अष्टावक्रके मामा अवस्थामें उसके समान थे। (१०-१२)

एक दिन अष्टावक्रके जन्मके पहले जब उनकी माता वर्धमान गर्भसे बहुत दुःखिनी हुई तब अपने पतिको प्रसन्न करके धनकी इच्छासे एकान्तमें ऐसा बोली, हे महर्षे! अब दशम महीना आगया, हम क्या करें, आपके घरमें कुछभी धन नहीं है, जिससे मैं इस आपत्तिसे पार हूं। (१३—१४)

कहोड मुनि अपनी स्त्रीके ऐसे वचन सुन धन लेनेको राजा जनकके यहां गये, वहां बन्दीसे उनका विवाद हुआ, उसने कहोडको विवादमें जीतकर पानी में डुबा दिया। जब उद्दालक मुनिने यह सब समाचार सुना कि हमारे दामादको बन्दीने पानीमें डुबा दिया है, तो उन्होंने अपनी पुत्री सुजातासे कहा, कि तुम यह समाचार अष्टावक्रसे मत कहना। जब अष्टावक्रका जन्म हुआ तब भी उन्होंने इस बातको न सुना अष्टावक्रने उद्दालकको पिता और श्वेतकेतुको भाईके समान जाना। (१५-१७

एक दिन बारह वर्षकी अवस्थामें अष्टावक्र उद्दालक मुनिकी गोदमें बैठे थे, उसी समय श्वेतकेतु आये और उन्होंने अष्टावक्रका हाथ पकड कर खींच लिया, तथा रोते हुए अष्टावक्रसे कहा कि यह तुम्हारे पिताकी गोद नहीं है। अष्टावक्र ने उनके दुष्ट और कठोर वचनोंको सुन कर हृदयमें महादुःख किया और घरमें

गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति ॥ १९ ॥
ततः सुजाता परमार्तरूपा शापाद्भीता सर्वमेवाऽऽचचक्षे ।
तद्वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्राविल्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ २० ॥
गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो बह्वाश्चर्यं श्रूयते तस्य राज्ञः ।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवादमर्थं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ॥ २१ ॥
विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ।
तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः ।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते०आरण्यके०तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३२

अष्टावक्र उवाच–अंधस्य पंथा बधिरस्य पंथाः स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पंथाः ।
राज्ञः पंथा ब्राह्मणेनाऽसमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पंथाः ॥ १ ॥
राजोवाच– पंथा अयं तेऽद्य मयाऽतिदिष्टो येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व ।
न पावको विद्यते वै लघीयानिंद्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥
अष्टावक्र उवाच –प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप संदिदृक्षू कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र ।

जाकर अपनी मातासे पूछा, कि हमारे पिता कहां हैं ? सुजाताने उनके वचन सुन शापसे डरकर सब समाचार कह सुनाया। (१८–२०)

अष्टावक्रने सब समाचार अच्छी प्रकार जान कर रातको श्वेतकेतुसे कहा, कि हमने सुना है, राजा जनक अद्भुत यज्ञ कर रहे हैं, चलो हमभी वहीं चलें। वहां ब्राह्मणोंका विवाद सुनेंगे धन लावेंगे और भोजन करेंगे। वहां जानेसे वेदका शब्द सुनकर हमलोगोंको चतुरता आजायगी। अनन्तर दोनों मामा भानजे राजा जनककी ऋद्धिभरी यज्ञशालाको चले। मार्गमें राजा जनक मिल गये उसने कहा कि हटो बचो। यह सुनकर अष्टावक्र मुनि बोले। (२१–२३) [५१३०]

वनपर्वमें एकसौ बत्तीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ तैंतीस अध्याय।

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, अन्धेको, बहिरेको, स्त्रीको और भार ले चलनेवाले को मार्ग देना चाहिये। राजा और ब्राह्मणोंके मध्यमें ब्राह्मणहीको मार्ग देना चाहिये अर्थात् राजाहीको हटना उचित है। राजा जनक बोले, हम आपको यह मार्ग देते हैं, जिधर इच्छा हो उधर चले जाईये, इन्द्रभी ब्राह्मणोंको प्रणाम करते हैं, क्योंकि अग्नि थोडी भी कम नहीं होती। (१—२)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, हे नरेन्द्र !

प्राप्ताविहावासनिधी प्रवेशं कांक्षावहे द्वारपतेस्तवाऽऽज्ञाम् ॥ ३ ॥
ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहाऽऽवां विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू ।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमानावयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि ॥ ४ ॥
द्वारपाल उवाच– वन्दे समादेशकरावयं स्म निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम् ।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः ॥५॥
अष्टावक्र उवाच—यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल ।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च वेदप्रभावेन समन्विताश्च ॥ ६ ॥
शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम् ।
न बाल इत्येव मन्तव्यमाहुर्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥
द्वारपाल उवाच– सरस्वतीमीरय वेदजुष्टामेकाक्षरं बहुरूपां विराजम् ।
अङ्गाऽऽत्मानं समवेक्षस्व बालं किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ॥ ८ ॥
अष्टावक्र उवाच–न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धिर्यथाऽष्ठीला शाल्मलेः संप्रवृद्धा ।

हम तुम्हारे यज्ञका तमाशा देखनेकी इच्छासे आये हैं, सो हमारी इच्छा है, कि आपका द्वारपाल हमको भीतर जानेको आज्ञा दे । हे इन्द्रद्युम्नके पुत्र! हम यज्ञ देखने और जनकेन्द्रके साथ वचन करनेको आये हैं, सो क्रोधरोगसे जलेजाते हमदोनोंको यह द्वारपाल भीतर नहीं जाने देते । द्वारपाल बोला, तुम दोनों आज्ञाकारियोंको हम प्रणाम करते हैं, आप हमारे वचन सुनिये, यहां कोई बालक ब्राह्मण यज्ञशालामें नहीं जाने पाता है, जो वेदके जाननेवाले और बूढे ब्राह्मण हैं, वही भीतर जाते हैं । (३—५)

अष्टावक्र मुनि बोले, यदि यज्ञशालाके भीतर बूढेही ब्राह्मण जाने पाते हैं, तो हमको भी जाने दो क्योंकि हमभी बूढे व्रतधारी और वेदके प्रभावसे भरे हुए हैं, हम लोग सुश्रूषा सहित जितेन्द्रिय, और ज्ञानागममें निष्ठावान हैं, तुम हमको बालक मत समझो, क्योंकि थोडी अग्निभी स्पर्श करने पर जलानेमें समर्थ होती है । (६—७)

द्वारपाल बोले, हे वत्स! यदि तुम वेदको जानते हो तो एक अक्षरसे विराजमान अनेक रूपवाली वेदमयी वाणीको कहो । क्योंकि इसलोकमें ज्ञानी बहुत दुर्लभ हैं, तुम अपनी मिथ्या प्रशंसा क्यों करते हो ? (८)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, तुमको नहीं मालूम होता कि अधिक बढनेसे कुछ लाभ नहीं होता देखो सेमरका वृक्ष बहुत बढ जाता है, परन्तु उसके फलके भीतर कोई खानेके योग्य वस्तु नहीं होती और अनेक छोटे वृक्षोंके फल कैसे उत्तम

ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो यश्चाऽफलस्तस्य न वृद्धभावः ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच —वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः।

नहि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं कस्माद्बालःस्थविर इव प्रभाषसे॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच —न तेन स्थविरो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।

बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरस्मि संप्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि ।

निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥

द्रष्टाऽस्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः ।

सहवादे विवृद्धे तु बंदिनं चापि निर्जितम् ॥ १४ ॥

पश्यंतु विप्राः परिपूर्णविद्याः सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः

उताहो वाऽप्युच्चतां नीचतां वा तूष्णींभूतेष्वेव सर्वेष्वथाऽद्य ॥ १५ ॥

होते हैं। इस लिये वे छोटेही वृद्ध हुए, तथा बढ हुए फल रहित वृक्ष उन की अपेक्षा कम हुए। (९)

द्वारपाल बोला, देखो छोटे बालक बूढोंहीसे विद्या पढकर ज्ञानी होते हैं, और फिर कालांतरसे वेही बडेभी हो जाते हैं। थोडी अवस्थामें कोई भी ज्ञान नहीं पा सकता है, तब तुम बालक होकर बूढोंके समान क्यों बातें करते हो ? (१०)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, जिसका सिर सफेद होजाता है, उसे बूढा नहीं कहते, जो बालकभी ज्ञानी हो, पण्डित लोग उसको बूढा कहते हैं। अधिक अवस्था, पके बाल, धन और बन्धुओंको पाकर कोई श्रेष्ठ नहीं होता, ऋषियोंने यही कहा है, कि जो वेद जाननेवाला है, वही हम लोगोंमें बूढा है। हे द्वारपाल! हम राजसभामें जाकर बन्दीको देखना चाहते हैं, तुम सुवर्णमालाधारी राजासे जाकर हमारा वृत्तान्त कह दो। (११-१३)

हे द्वारपाल! तुम थोडी देरमें देखोगे, कि हम सभामें जाकर पण्डितोंके सङ्ग विवाद करेंगे और हम अत्यन्त विवाद करके उस सूतको भी जीत लेंगे। आज विद्यासे भरे हुए ब्राह्मण लोग पुरोहित नगरवासी और राजा यह सब लोग हमारी विद्याको देखेंगे। और उस सभामें जब सब प्रतिपक्षी चुप हो जांयगे तब हम छोटे हैं वा बडे इसका ज्ञान हो जायगा। (१४—१५)

द्वारपाल उवाच—कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं विनीतानां विदुषां संप्रवेशम् ।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाऽहं प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १६ ॥
अष्टावक्र उवाच-भो भो राजन् जनकानां वरिष्ठ त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम् ।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात् ॥१७॥
वृद्धान्बन्दी वादविदो निगृह्य श्राद्धे भ्रशानप्रतिशंकमानः।
त्वयाऽभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भिर्जले सर्वान्मज्जयतीति नः श्रुतम् ॥१८॥
सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशे ब्रह्माऽद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि ।
क्वाऽसौ बन्दी यावदेनं समेत्य नक्षत्राणीव सविता नाशयामि ॥१९॥
राजोवाच—आशंससे बन्दिनं वै विजेतुमविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य ।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं दृष्टश्चाऽसौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः ॥ २०॥
आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतुमविज्ञात्वा तु बलं बन्दिनोऽस्य ।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः ॥ २१ ॥
आशंसन्तो बन्दिनं जेतुकामास्तस्याऽन्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः ।

द्वारपाल बोला, हम बडे ज्ञानी और पण्डितोंकी सभामें दश वर्षके लडकेको कैसे ले जांय ? परन्तु किसी उपायसे तुमको वहां ले चलते हैं, किन्तु तुम उत्तम यत्नसे रहना। वहां जाकर अष्टावक्र बोले, हे राजन् ! हे जनक! तुम सम्राट और सब ऋद्धियोंसे पूर्ण हुए हो, तुमने यज्ञके ऐसे कर्म किया है, जैसे पहले राजा ययातिने किया था । हमने सुना है कि तुमने बहुत वादके जानने वाले बन्दीको अपने घरमें रखा है, जो उससे शास्त्रार्थ में हार जाता है, उसी को तुम्हारे काम वाले पुरुष लोग शंका रहित होकर जलमें डुबा देते हैं ! हम ब्राह्मणोंसे यह बात सुनकर यहां अद्वैत ब्रह्म कथन करनेको आये हैं । कहो वह बन्दी कहां है ? जैसे सूर्य तारोंके तेजको नाश करता है, तैसेही हम उसको शान्त कर देंगे । (१६—१९)

राजा जनक बोले, तुम हमारे सामने विनाही बन्दीकी विद्या जाने कहते हो कि हम उसको जीत लेंगे ! विना वादीकी विद्या जाने ऐसे कहना अनुचित है, बडे बडे वेद जाननेवाले लोग उससे विवाद करते हैं । जान पडता है, कि तुम उसके विद्याबलको नहीं जानते हो । बडे बडे पण्डित ब्राह्मण लोक उसके आगे ऐसे दीखते हैं, जैसे सूर्यके सामने तारे । जो लोग बन्दीको जीतनेकी इच्छासे आते हैं, बन्दीको देखतेही उनकी सब शोभा नष्ट हो जाती है । हे तात ! बडे बडे विद्यामत्त

विज्ञानसत्ता निःसृताश्चैव तात कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः ॥ २२ ॥
अष्टावक्रउवाच-विवादितोऽसौ नहि मादृशैर्हि सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य मार्गे भग्नं शकटमिवाऽचलाक्षम् ॥ २३ ॥
राजोवाच— त्रिंशकद्द्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदाऽर्थं स परः कविः ॥ २४ ॥
अष्टावक्र उवाच—चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि।
तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ॥ २५ ॥
राजोवाच— वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम्।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥ २६ ॥
अष्टावक्र उवाच मा स्म ते ते गृहे राजञ्शात्रवाणामपि ध्रुवम्।
वातसारथिरागंता गर्भं सुषुवतुश्च तम् ॥ २७ ॥
राजोवाच— किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति।

लोग उसको देखकर सभासे निकल जाते हैं, तब तुम उसके सामने कैसे ठहरोगे? (२०—२३)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, उसने हमारे समान पण्डितोंसे कभी विवाद नहीं किया है, इसीसे सिंह बन रहा है, और बेडर होकर बकता है। आज हम उसको अवश्य जीतेंगे। हमसे हारने पर उसकी वही दशा होगी, जैसे पहिया टूटनेसे गाडीकी! (२३)

राजा जनक बोले, जिसके एक एक अंशमें तीस तीस अवयव हैं ऐसे द्वादश अंशविशिष्ट, चौबीस पर्वयुक्त और तीन सौ-साठ अरोंसे आन्वित जो वस्तु है, उसके अर्थको जो जानता है, वही परम कवि है। (२४)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, चौबीस पर्व, छः नाभि, बारह प्रधि और तीन सौ साठ आरोंके सहित जो नित्य चलने वाला चक्र है, सो तुम्हारी रक्षा करें। (२५)

राजा जनक बोले, जो शरीर रूपी रथमें दो घोडे जुते हैं, जिनका गिरना बाज वर्क्षके समान भान होता है, देवताओंके बीच उन दोनोंके गर्भको कौन धारण करता है? और वे भी किसे उत्पन्न करते हैं। (२६)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, हे राजन्! वह (दुःख और मृत्यु) आपके घरमें कभी न आवें, वे शत्रुओंहीके घरमेंभी न जावें, वह वायु-सारथि आवेगा और वे दोनों उस गर्भको उत्पन्न करते हैं। (२७)

राजा जनक बोले, कौन ऐसा जन्तु

कस्यास्विद् हृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते ॥ २८ ॥

अष्टावक्र उवाच—मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ २९ ॥

राजोवाच- न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्व न त्वं बालः स्थविरः संमतो मे ।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे तस्माद् द्वारं वितराम्येष बंदी ॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३३ ॥ [५१६०]

अष्टावक्र उवाच-अत्रोग्रसेनसमितेषु राजन्समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
नाऽवैमि बंदिं वरमप्रवादिनां महाजले हंसमिवाऽऽददामि ॥ १ ॥
न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवाऽऽगमः।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः स्थिरो भवस्वेह ममाऽद्य बंदिन् ॥ २ ॥
व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोध आशीविषं सृक्किणी संलिहानम् ।

है, जो सोनेके समय आंख बन्द करके नहीं सोता ? वह कौन है, जो उत्पन्न होके नहीं चलता ? वह कौन है जिसका हृदय नहीं है ? और वह कौन है जो वेगसे बढता है ? (२८)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, मत्स्य सोते हुए आखोंको नहीं बन्द करता, अण्डा उत्पन्न होकर नहीं चलता। पत्थरका हृदय नहीं है, और वेगसे नदी बढती है। (२९)

राजा जनक बोले, हम तुमको मनुष्य नहीं समझते, तुम साक्षात् देवता हो। हमें निश्चय है, कि तुम बालक नहीं; वरन बूढे हो। हमने जान लिया कि तुम्हारे समान वाद करनेवाला कोई नहीं है। इस लिये हम तुमको बता देते हैं, कि वही बन्दी खडा है। (३०) [५१६०]

वनपर्वमें एकसौ तैंतिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौंतीस अध्याय।

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, हे महाराज ! यहां उग्रसेन तुल्य अप्रतिम राजा लोग बैठे हैं, उनके बीचमेंसे हम वादियोंमें श्रेष्ठ बन्दीको महाजलमें हंसके समान नहीं पहचान सकते। हे वादियोंमें अभीमानी बन्दिन् ! आओ तुम हमसे वादमें नहीं बोल सकेगा, तेरी वही दशा होगी जैसे नदी बढकर शान्त होजाती है। अरे वादी ! तू हमारे सामने खडा रह, आज तेरी वही दशा होगी, जो प्रलय कालकी अग्निमें जलकी होती है। तू निश्चय जान कि जैसे सोता हुआ व्याघ्र जागता है, और जैसे विषैला सर्प अपने ओठोंको चाटता है, उस समय उन दोनोंके

पदा हतस्येह शिरोऽभिहत्य नाऽदृष्टो वै मोक्ष्यसे तान्निबोध ॥ ३ ॥
यो वै दर्पात्संहननोपपन्नः सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥
सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा ह्यनडुहो यथा ॥ ५ ॥
यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां नदीषु गंगा प्रवरा यथैव ।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको बंदिं समभ्यानय मत्सकाशम् ॥ ६ ॥
लोमश उवाच-एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्जञ्जातक्रोधो,बन्दिनमाह राजन् ।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥
बंद्युवाच-एक एवाऽग्निर्बहुधा समिध्यते एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति ।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ॥ ८ ॥
अष्टावक्र उवाच-द्वाविंद्राग्नी चरतो वै सखायौ द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च ।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे भार्यापती वै विहितौ विधात्रा ॥ ९ ॥

सिरपर लात मारे और वह अपना बचना चाहे, वैसीही दशा तेरीभी है, जैसे कोई दुर्बल पुरुष अपने बलके अभिमानसे पर्वतमें आघात करता है, पीछेसे उसीके हाथ और नाखूनोंमें घाव होजाते हैं, परंतु पर्वतको कुछभी नहीं होता, तैसेही आज तेरीभी दशा होगी। जैसे मैनाक पर्वतसे अन्य पर्वत और बैलसे बछडे निकृष्ट हैं, वैसेही मिथिलाधिपके निकट अन्य सब राजा हीं निकृष्ट हैं। हे राजन् जनक! जैसे सब देवतोंमें इन्द्र श्रेष्ठ हैं, और जैसे सब नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, तैसेही सब राजाओंमें तुमभी श्रेष्ठ हो, इस लिये शीघ्र उस बन्दीको हमारे सामने बुलाओ। (१—६)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन्! इस प्रकार अष्टावक्र मुनि सभाके बीचमें गर्जने लगे। अनन्तर क्रोध करके बन्दीसे बोले, कि तुम हमारे वचन का उत्तर दो और हम तुम्हारे वचनका उत्तर देंगे। (७)

बन्दी बोले, एकही अग्नि बहु रूपसे प्रज्वलित होती है और एक सूर्य इस सारे विश्वको प्रकाश करता है, एक ही वीर इन्द्र शत्रुओंको नष्ट करता है,तथा एक ही यम पितरों का ईश्वर है। (८)

अष्टावक्र बोले, इन्द्र और अग्नि दो देवता मित्रभावसे विचरते हैं, नारद और पर्वत ये दो देवर्षि हैं, अश्विनीकुमार दो देवता हैं, रथके दो ही चक्र हैं, और विधाताने भार्या और पति दो ही उत्पन्न किये हैं। (९)

बंद्युवाच- त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं त्रयो युक्ता वाजपेयं वहंति ।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाऽऽहुः ॥१०॥
अष्टावक्र ऊवाच-चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहंति ।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ ११ ॥
बंद्युवाच-पंचाग्नयः पंचपदा च पंक्तिर्यज्ञाः पंचैवाऽप्यथ पंचेंद्रियाणि ।
दृष्टा वेदे पंचचूडाप्सराश्च लोके ख्यातं पंचनदं च पुण्यम् ॥ १२ ॥
अष्टावक्र उवाच-षडाधाने दक्षिणामाहुरेके षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम् ।
षडिंद्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ॥ १३ ॥
बंद्युवाच-सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः सप्त च्छंदांसि क्रतुमेकं वहंति ।
सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि सप्ततंत्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १४ ॥

बन्दी बोले, कर्म हेतुसे यह सब प्रजा त्रिविध जन्म ग्रहण करती है, तीनवेद मिलित होकर वाजपेयादि समस्त कर्म प्रतिपादन करते हैं; अध्वर्युगण तीनों कालमें यज्ञकर्मका अनुष्ठान किया करते हैं; स्वर्ग, मर्त्य और नरक ये त्रि-विध लोक हैं; और त्रिविध ज्योति कही हैं। (१०)

अष्टावक्र बोले, ब्राह्मणोंके चारि आ-श्रम हैं; चारों वर्ण इस यज्ञको किया करते हैं; दिशाएं चार हैं, वर्ण भी चार हैं तथा गौके (वाणीके) भी चार पाद हैं । (११)

बन्दी बोले; जिस प्रकार गार्हपत्य दक्षिणाग्नि आहवनीय सभ्य व अवसथ्य ये पञ्चअग्नि, अग्निहोत्र आदि पञ्चयज्ञ और पंक्ति छन्दके प्रत्येक चरणमें पांच अ-क्षर रहते हैं, उसी भांति (श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, और नासिका, ये) पांचों इन्द्रियां (शब्दादि पञ्च-) विषयोंको ग्राहक होती हैं । ये शब्दादि पञ्च-वि-षय-स्रोत उपादेय कहके लोकमें प्रसिद्ध हैं और शरीरान्तर्वर्त्ती चैतन्य प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांचोंके सहारे मानो पञ्चविध शिखामें समन्वित हुए हैं, यह वेदोंमें दीखताहै।१२

अष्टावक्र बोले, कईयोंके मतसे जि-स प्रकार अग्न्याधानकी दक्षिणा छः गौ है, तथा कालचक्र-ऋतु छः हैं और कृ-त्तिका छः समान रूपसे प्रसिद्ध हैं, उस ही भांति श्रोत्रादि पांच और मन एक, मिलकर छः इन्द्रियां हैं तथा वदोंमें सा-द्यस्क यज्ञ भी छः हैं। (१३)

बन्दी बोले, ग्राम्य पशु सात हैं व-न्यभी सात हैं । एक यज्ञके लिये सात छन्द प्रयुक्त होते हैं । सात ऋषि हैं । संमान करनेकी रीतियां भी सात हैं तथा वीणाके भी सात तन्तु हैं । (१४)

अष्टावक्र उवाच-**अष्टौ शाणाः शतमानं वहंति तथाऽष्टपादः शरभः सिंहघाती**
अष्टौ वसून्शुश्रुम देवतासु यूपश्चाष्टाश्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ॥ १५ ॥
बंद्युवाच-**नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।**
नवाक्षरा बृहती संप्रदिष्टा नवैव योगो गणनामेति शश्वत् ॥ १६ ॥
अष्टावक्र उवाच-**दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके सहस्रमाहुर्दश पूर्णं शतानि**
दशैव मासान्बिभ्रति गर्भवत्यो दशैरका दश दाशा दशार्हाः ॥ १७ ॥
बंद्युवाच- **एकादशैकादशिनः पशूनामेकादशैवाऽत्र भवंति यूपाः ।**
एकादश प्राणभृतां विकारा एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १८ ॥
अष्टावक्र उवाच- **संवत्सरं द्वादशमासमाहुर्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि।**
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो द्वादशादित्यान्कथयंतीह धीराः ॥ १९॥

अष्टावक्र बोले, शणसूत्रसे बने अष्टसंख्य गोणी सैकडों परिमाण धारण करते हैं, वैसेही शब्दादि विषय अष्टविध होने पर भी सैकडों संख्यामें गिने जाते हैं। सिंहको मारने वाले शरभके भी आठ पांव होते हैं। देवताओंमें आठ वसु हैं। सबयज्ञोंमें आठही यूप होते हैं। (१५)

बन्दी बोले, जिसप्रकार पितृयज्ञमें अग्नि जलानेके लिये नवधा ऋक् विहित हुआ है, सृष्टि उत्पत्तिमें भी नौ प्रकार हैं, प्रत्येक चरणमें नौ अक्षर रहनेसे वैसे चारि चरणमें एक बृहती छन्द होता है; और एकसे लगाय नौविध अङ्कके मेलसे सब गिनती पूरी होती है। (१६)

अष्टावक्र बोले, दिशाएं दस हैं। पुरुषके लियेभी दसबार सौ दिये हैं अर्थात हजार दिये हैं। स्त्रियां गर्भयुक्त होकर दश महीने तक गर्भ धारण करती हैं, इस तत्त्वज्ञानके उपदेष्टा दस जन हैं विरोधीभी दस हैं। और अधिकारी भी दस जन हैं। (१७)

बन्दी बोले, एकादश इन्द्रियां शब्दादि विषयोंमें अवस्थान करती हैं, इसालिये ये शब्दादि विषय भी एकादश संख्यामें गिने जाते हैं। जीवरूप पशुके बन्धनके निमित्त ये ग्यारह विषय ग्यारह यूपस्वरूप हुए हैं, उक्तशब्दादि ग्रहणजनित हर्ष विषादादि ग्यारह प्रकारके विकार स्वर्गमें देवताओं को भी रोदन कराया करते हैं। (१८)

अष्टावक्र बोले, बारह महीनेका संवत्सर होता है और प्रत्येक चरणमें बारह अक्षर रहनेसे वैसे चारि चरणमें जगती छन्द होता है, प्राकृत यज्ञ द्वादशाहमें पूरा करना होता है, तथा आदित्य भी बारह कहे हैं। (१९)

बंद्युवाच— त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता त्रयोदशद्वीपवती मही च ।
लोमश उवाच— एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी श्लोकस्यार्धं व्याजहाराऽष्टवक्रः।
अष्टावक्र उवाच-त्रयोदशाहानि ससार केशी त्रयोदशादीन्यतिच्छंदांसि चाहुः
ततो महानुदतिष्ठन्निनादस्तूर्ष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानीमष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव॥२१ ॥
तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयुर्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः २२॥
अष्टावक्र उवाच-अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो वादे जित्वा सलिले माजिताःप्राक्।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी प्राप्नोतु गृह्याऽऽशु निमज्जयैनम्॥ २३ ॥
बंद्युवाच— अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञस्तत्राऽऽस सत्रं द्वादशवार्षिकं वै ।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४
ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं द्रष्टुं गता इम आयान्ति भूयः ।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥ २५ ॥

बन्दी बोले, पाण्डितोंने त्रयोदशी तिथिको श्रेष्ठ कहा है और पृथिवीको त्रयोदश द्वीपयुक्ता कहे हैं। (२०)

श्रीलोमश मुनि बोले, महाराज! यह आधाश्लोक कहके बन्दी चुप होगये। अनन्तर अष्टावक्रने उसके अपरार्द्धश्लोक को इस प्रकार कहके पूरा किया। केशीने तेरह दिन यज्ञ किया और अति च्छंदकेभी तेरह अक्षर होते हैं। (२०)

तिसके अनन्तर उस समय सभासदोंने यज्ञदीक्षित-वरुणके पुत्र उस बन्दी को चुप और नीच मुख किये चिन्तायुक्त और अष्टावक्रको वादविचारमें वाक् निपुणता प्रकाश करते देख महाको लाहल ध्वनि किया। (२१)

जब इस प्रकार महाराज जनककी यज्ञशालामें शब्द उठा और यज्ञ समाप्त हुई। तब सब वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने प्रीतिके सहित हाथ जोड कर अष्टावक्रकी पूजा करी। (२२)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, इसी बन्दीने पहले अनेक ब्राह्मणोंको वाद में जीत कर जलमें डुबा दिया है, इस लिये यह भी उसी दशाको प्राप्त हो, अर्थात् जलमें डुबा दिया जाये। (२३)

बन्दी बोले, मैं राजा वरुणका पुत्र हूं, मेरे पिताने द्वादशवर्षकी यज्ञ करी है। हे जनक! तुम्हारेही यज्ञके समय वहांभी यज्ञ हुआ है, इसी लिये मैंने अनेक ब्राह्मणोंको वहां भेजा है, वे सब लोग वरुणकी यज्ञ देखनेको गये थे, और फिर चले आते हैं, हम पूजने

अष्टावक्र उवाच-विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये वाचा जिता मेधया वा विदानाः ।
तां मेधया वाचमथोज्जहार यथावाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥
अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत् ।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु तथा वाचमवचिन्वन्ति संतः ॥ २७ ॥
श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि उताऽऽहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति ।
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ॥२८॥
जनक उवाच-शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपाममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात् ।
अजैषीर्यद्बन्दिनं त्वं विवादे निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ॥ २९ ॥
अष्टावक्र उवाच- नाऽनेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप ।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ॥ ३० ॥

योग्य अष्टावक्र मुनिकी पूजा करते हैं, जिनके प्रतापसे हम पुनः अपने पिताके पास जाते हैं। (२४—२५)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, जो सब ब्राह्मण समुद्रके जलमें डुबाये गये हैं, वे लोग पण्डित होकर भी बन्दीके वाक्य--कौशल अथवा वितर्ककौशलसे ही पराजित हुए हैं; मैंने बन्दी कर्तृक कुतर्कार्णवमें मज्जित उनको वाक्य-मेधाके सहारे जिस प्रकार उद्धार किया है, वैसेही सदसद्विवेकशील पण्डित लोग मेरे उन वचनोंकी परीक्षा करें। जिस प्रकार सदसद् वृत्तज्ञ अग्नि स्वभाव से ही दाहक होकर भी अपने तेजसे सत्याभिसन्धी लोगोंके शरीरको नहीं जलाती है परन्तु पापीके शरीरको अवश्य जलाती है। वैसेही सदसद्विवेकशील पण्डित लोग मन्दवादी बालक वा पुत्रके वाक्य को भी परीक्षा करके ग्राह्य वा अग्राह्य किया करते हैं। हे महाराज जनक! बोध होता है, आप श्लेष्मातक वृक्षके फल या पत्र व्यवहारसे तेजहीन होकर मेरा वचन सुनते हैं, अथवा स्तुति करने वालों की स्तुतिमें आपका अन्तःकरण आमोदित हुआ है; इस निमित्तसे ही आप अंकुशाहत हाथी की भांति उत्तेजित होकर भी मेरा वचन नहीं ग्रहण करते हैं। (२६—२८)

राजा जनक बोले, हे ब्राह्मण! हम तुम्हारी देवरूपी वाणीको सुनते हैं, तुम्हारी वाणी के समान कोई पुरुष नहीं कह सकता है, तुमने जो बन्दीको विवादमें जीत लिया है, इस लिये हम बन्दीको तुम्हें देते हैं, तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो। (२९)

श्रीअष्टावक्र मुनि बोले, हे राजन्! इस बन्दीके जीते रहनेसे मुझे कोई लाभ नहीं है, इस लिये इसका

बंदुवाच— अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो न मे भयं विद्यते मज्जितस्य ।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽयमष्टावक्राश्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच— ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना ।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच— इत्यर्थमिच्छंति सुताञ्जना जननकर्मणा ।
यदहं नाऽशकं कर्तुं तत्पुत्रः कृतवान्मम ॥ ३३ ॥
उताऽबलस्य बलवानुत बालस्य पंडितः ।
उत वाऽविदुषो विद्वान्पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥
शितेन ते परशुना स्वयमेवाऽन्तको नृप ।
शिरांस्यपाहरन्नाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥ ३५ ॥
महदौक्थ्यं गीयते साम चाऽग्र्यं सम्यक्सोमः पीयते चाऽत्र सत्रे ।
शुचीन्भागान्प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः साक्षाद्देवा जनकस्योत राज्ञः ॥३६॥

लोमश उवाच—समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।
अनुज्ञातो जनकेनाऽथ राज्ञा विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ॥ ३७॥

पिता यदि सचमुच वरुण है तो इसको जलमें डुबा दीजिये । (३०)

बन्दी बोला; हम राजा वरुणके पुत्र हैं, इस लिये जलमें डूबनेसे कुछ भय नहीं करते, अब अष्टावक्रभी अपने पिता कहोडको जो बहुत कालसे नष्ट होगये हैं, देखेंगे । (३१)

श्रीलोमश मुनि बोले, अनन्तर वे सब ब्राह्मण लोग महात्मा वरुणसे पूजित होकर जनककी सभामें खडे होगये। (३२)

श्रीकहोड मुनि बोले, हे जनक ! पुरुष लोग इसी लिये अनेक कर्म करके पुत्रकी इच्छा करते हैं, देखो जो कर्म हम न कर सके, सो हमारे पुत्रने किया । हे जनक ! दुर्बलको बलवान, मूर्खको पण्डित और अज्ञानीको भी ज्ञानी पुत्र होसकता है । हे राजन् ! तेज फरसा लेकर स्वयं यमराज युद्धमें आपके शत्रुओंके सिर काटें और तुम्हारा कल्याण हो । हे राजन् ! तुम्हारी यज्ञमें उक्थ नामक श्रेष्ठ साम अच्छी प्रकारसे गाये जाते हैं, सोमपान अच्छी तरहसे चला है और देवता लोग प्रसन्न होकर साक्षात् रूपसे पवित्र भागोंको ग्रहण करके आनंद करते हैं । (३३ — ३६)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन् ! जब ब्राह्मण लोग अत्यन्त तेजको धारण करके प्रगट हुए तब राजा जनककी आज्ञासे बन्दीने उन सब प्रतापी विप्रोंके सामने समुद्रमें प्रवेश किया ।

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा संपूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।
प्रत्याजगामाऽऽश्रममेव चाऽग्र्यं जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ॥ ३८ ॥
ततोऽष्टावक्रं मातुरथाऽन्तिके पिता नदीं समंगां शीघ्रमिमां विशस्व ।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश समैरंगैश्चापि बभूव सद्यः ॥ ३९ ॥
नदी समंगा च बभूव पुण्या यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि ।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व ॥४०॥
अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः ।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्तिर्मया सार्धं चरितास्याजमीढ ॥४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४॥ [५२०१]

लोमश उवाच —एषा मधुबिला राजन्समंगा संप्रकाशते ।
एतत्कर्दमिलं नाम भरतस्याऽभिषेचनम् ॥ १ ॥
अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः ।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समंगायां व्यमुच्यत ॥ २ ॥
एतद्विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ ।

अनन्तर सब ब्राह्मणोंने विधिपूर्वक अष्टावक्रकी पूजा करी और अष्टावक्रने अपने पिताकी पूजा करी । अनन्तर अपने मामा श्वेतकेतुके सहित अपने आश्रम को चले गये । अनन्तर अष्टावक्रके पिता ने अष्टावक्रको गोदमें लिया, फिर कहा कि तुम समङ्गा नदीमें स्नान करो, उस नदीमें स्नान करते ही अष्टावक्रके सब अङ्ग समान होगये । (३७—३९)

हे युधिष्ठिर ! उसी दिनसे यह समङ्गा नदी पवित्र होगई है, इसमें स्नान करने से पाप नष्ट होजाते हैं । आपभी अपनी स्त्री और भाइयोंके सहित इसमें स्नान कीजिये । हे कुन्तीनन्दन ! इस नदीमें आप स्त्री, भाई और ब्राह्मणोंके सहित स्नान करके हमारे सङ्ग भक्ति सहित पवित्र होकर दूसरे पवित्र तीर्थोंको चलिये । (४०–४१) [५२०१]

वनपर्वमें एकसौ चौतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ पैंतीस अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे राजन् ! इस नदीका नाम पहले मधुविला था, वही अब समङ्गा नामसे प्रसिद्ध हुई है, यह कर्दमिल नामक तीर्थ है, यहीं राजा भरतका अभिषेक हुआ था, यहीं समङ्गा नदीमें स्नान करके वृत्रासुरके मारनेके पश्चात् अलक्ष्मीवान इन्द्र सब पापोंसे छूटे थे । हे भरतकुलसिंह ! यह

अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत्पुरा ॥ ३ ॥
एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः ।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ ॥ ४ ॥
एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः ।
एषा प्रकाशते गंगा युधिष्ठिर महानदी ॥ ५ ॥
सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात्पुरा ।
आजमीढाऽवगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे ॥ ६ ॥
अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुंगं च पर्वतम् ।
उष्णीगंगे च कौंतेय सामात्यः समुपस्पृश ॥ ७ ॥
आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते ।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय ॥ ८ ॥
एष रैभ्याश्रमः श्रीमान्पांडवेय प्रकाशते ।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच– कथं युक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान् ।
किमर्थं च यवक्रीतः पुत्रोऽनश्यत वै मुनेः ॥ १० ॥
एतत्सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे ॥ ११ ॥

मैनाक पर्वतके कोनमें विनशन नामक तीर्थ है, यहीं पहले समयमें आदितिने पुत्र होनेके निमित्त ब्रह्मौदन पकाया था। हे पाण्डवो! आपलोग इस पर्वत-राजके ऊपर चढिये, तब सब अयश और अलक्ष्मीसे छूटियेगा। (१–४)

हे राजन् युधिष्ठिर! यह सब ऋषि-योंका प्यारा कनखल तीर्थ है, यह महानदी गंगा बह रही है, पहले समय-में भगवान् सनत्कुमार मुनि यहीं सिद्ध हुए थे, हे अजमीढ वंशोत्पन्न युधिष्ठिर! तुम इसमें स्नान करनेसे सब पापोंसे छूट जाओगे। यह पवित्र तलाव है, यह भृगुतुङ्ग पर्वत है, हे कुन्तीनन्दन! यह उष्णीगङ्ग है, यहां तुम मान्त्रियोंके सहित स्नान करो, यह स्थूलसिरा नामक मुनिका रमणीय आश्रम है, हे कुन्ती-नन्दन! यहां अभिमान और क्रोधको छोड दो। हे पाण्डव! यह श्रीमान् रैभ्य मुनिका आश्रम है जहां भरद्वाज मुनिके पुत्र यवक्रीत नष्ट हो गये थे(५–९)

राजा युधिष्ठिर बोले, प्रतापवान भर-द्वाज मुनि कैसे थे? और उनका पुत्र यवक्रीत क्यों मारा गया था? हम इस

लोमश उवाच— भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ संबभूवतुः ।
तावूषतुरिहाऽत्यंतं प्रीयमाणावनन्तरम् ॥ १२ ॥
रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू ।
आसीद्यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत ॥ १३ ॥
रैभ्यो विद्वान्सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यतुला कीर्तिर्बाल्यात्प्रभृति भारत ॥ १४ ॥
यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहाऽनघः ॥ १५ ॥
पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाऽभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पांडव ॥ १६ ॥
स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास सन्तापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ॥ १७ ॥
तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत्कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १८ ॥
यवक्रीत उवाच —द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ॥ १९ ॥

सब चरितको सुनना चाहते हैं, क्योंकि देवतुल्य ऋषियोंके कर्म सुनने से आनंद होता है। (१०—११)

श्रीलोमश मुनि बोले, भरद्वाज और रैभ्य दोनों मित्र थे, ये आनंद से इस स्थानपर रहते थे रैभ्यके अर्वावसु और परावसु नामक दो पुत्र थे। हे भारत! भरद्वाजके एक यवक्रीत नामक पुत्र था, रैभ्य पुत्रोंके सहित विद्वान थे और भरद्वाज तपस्वी थे, इन दोनोंकी बालकपनसेही बहुत कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध थी। (१२—१४)

पापरहित यवक्रीतने जब अपने पिताको अत्यन्त तपस्वी और सत्कार रहित तथा रैभ्यको पुत्रवान और ब्राह्मणोंसे पूजित देखा तो अत्यन्त सन्ताप करने लगे। फिर क्रोधमें भरकर तेजस्वी यवक्रीतने वेद जाननेके निमित्त घोर तपस्या करी। उस महा तपस्वीने जलती हुई अग्निमें अपने शरीरको तपाया, तब उनके तपसे इन्द्रको भय हुआ। (१५-१७)

हे युधिष्ठिर! अनन्तर इन्द्र यवक्रीतके पास आकर बोले, कि तुम किस लिये इस घोर तपको कर रहे हो? यवक्रीत बोले, हे देवपूजित! ब्राह्मणोंको

स्वाध्यायार्थं समारंभो ममाऽयं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥ २० ॥
कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद्विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच — अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाऽधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२॥

लोमश उवाच— एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाऽकरोद्यत्नं तपस्यमितविक्रमः ॥ २३ ॥
घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत्तपः ।
सन्तापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥ २४ ॥
तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद्देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥
अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद् बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यंति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥ २६ ॥

यवक्रीत उवाच — न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।

विनाही पढे सब वेद आजांय, इसलिये हम इस घोर तपको करते हैं । हे पाकशासन ! हम केवल पढनेहीके निमित्त इस परिश्रमको कर रहे हैं । हे कौशिक ! हम तपके बलसे सब विद्याओंको जानना चाहते हैं, क्योंकि वेदोंको गुरुमुखसे पढनेमें बहुत समय लगता है, इसी लिये हमने यह परम यत्न किया है । (१८–२१)

इन्द्र बोले, हे ब्राह्मण ! जिस मार्गसे तुम जाना चाहते हो, वह मार्ग नहीं है, इससे वह विद्या अच्छी नहीं होगी, तुमारा नाश न हो जाओ तुम गुरुसे पढो । (२२)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे भारत ! ऐसा कहकर इन्द्र चले गये, और अनन्तपराक्रमी यवक्रीत फिर भी घोर तप करने लगे ! हमने सुना है कि, यवक्रीतने बहुत काल तक घोर तप किया और उनके तपसे इन्द्रादिक देवता तप्त होने लगे । उनको इस प्रकार घोर तप करते देख इन्द्रने आकर फिर रोका और कहा कि, जो तुम अपनी बुद्धिके दुराग्रहसे करना चाहते हो सो होना असम्भव है, इससे न तुम्हें और न तेरे पिताको वेद आवेंगे । (२३–२६)

यवक्रीत बोले, हे देवराज ! यदि तुम मेरी इच्छा पूर्ण न करोगे, तो मैं

महता नियमेनाऽहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥
समिद्धेऽग्नावुपकृत्याऽङ्गमङ्गं होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥२८॥

लोमश उवाच —निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥ २९ ॥
तत इन्द्रोऽकरोद्रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः ॥ ३० ॥
यवक्रीतस्य यत्तीर्थमुचितं शौचकर्मणि ।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ॥ ३१ ॥
यदाऽस्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः ।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गंगां समभिपूरयन् ॥ ३२ ॥
वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥ ३३ ॥
तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवंतं निबंधने ।
प्रहसंश्चाऽब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुंगवः ॥ ३४ ॥
किमिदं वर्तते ब्रह्मन्किं च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हि महान्यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः ॥ ३५ ॥

इन्द्र उवाच— बन्धिष्ये सेतुना गंगां सुखः पंथा भविष्यति ।

फिर भी महा नियम धारण करके घोर तप करूंगा। हे देवराज! यदि तुम मेरी इच्छाको पूर्ण न करोगे तो हम अपने शरीरोंको काट कर अग्निमें होम कर देंगे। (२७—२८)

श्रीलोमश मुनि बोले, जब इन्द्रने जाना, कि ये तपसे निवृत्त नहीं होंगे, तब बुद्धिमान् इन्द्रने एक यक्ष्म रोगी, कई सौ वर्षके बूढे तपस्वी ब्राह्मणका वेष बनाया और जिस तीर्थमें यवक्रीत स्नानादि करते थे, उस स्थानमें गंगाके बारूसे पुल बनाने लगे, जब यवक्रीतने इन्द्रका कहना न माना तो इन्द्रने गंगा को बारूसे पूर्ण कर दिया, इन्द्र यवक्रीतको दिखाकर रोज–गंगामें एक मुठी बारू छोडते थे, इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ यवक्रीत ने इन्द्रका यत्न देखकर उनसे हंसकर कहा कि हे ब्राह्मण! तुम यह क्या यत्न करते हो ? क्या यह तुम्हारा यत्न निरर्थक न होगा ? (२९—३५)

इन्द्र बोले, हे तात! इसमें तैरनेसे बटोही पुरुषोंको बहुत दुःख होता है,

क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

यवक्रीत उवाच— नाऽयं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन ।
अशक्याद्विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥ ३७ ॥

इन्द्र उवाच— यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम् ।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ॥ ३८ ॥

यवक्रीत उवाच यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर ।
तथा यदि ममाऽपीदं मन्यसे पाकशासन ॥ ३९ ॥
क्रियतां यद्भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर ।
वरांश्च मे प्रयच्छाऽन्यान्यैरन्यान्भवितास्म्यति॥३० ॥

लोमश उवाच— तस्मै प्रादाद्वरानिन्द्र उक्तवान्यान्महातपाः ।
प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः॥४१ ॥
यच्चाऽन्यत्कांक्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति ।
स लब्धकामः पितरं समेत्याऽथेदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

यवक्रीत उवाच – प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः ।
अति चान्यान्भविष्यावो वरा लब्धास्तथा मया ४३॥

इस लिये हम इस गङ्गाको वालुसे बांध देंगे । तब उत्तम मार्ग होजायगा।(३६)

श्रीयवक्रीत मुनि बोले, हे तपोधन ! इस गंगाके महा वेगको तुम नहीं बांध सकोगे, तुम इस न होने योग्य कामको मत करो । (३७)

इन्द्र बोले, जैसे तुमने न होने योग्य कामका आरम्भ किया है, तैसेही हमनेभी इस कामका आरम्भ किया है । (३८)

श्रीयवक्रीत मुनि बोले, हे देवराज ! जैसे तुम्हारा काम निरर्थक है, तैसेही यदि मेरा कामभी निरर्थक हो तो जो संभवनीय है वही करो और जिससे मैं दूसरोंके आगे बढूं वैसे वर मुझे दो।३९-४०

श्रीलोमश मुनि बोले, यवक्रीतने जो जो वर दान मांगे, सोई सोई इन्द्रने दिये, इन्द्रने कहा कि हे महा तपस्वी ! तुमको और तुम्हारे पिताको इच्छानुसार सब वेदोंका ज्ञान हो जायगा । हे यवक्रीत ! और जो कुछ तुम चाहोगे सोई मांगो । इस प्रकार इन्द्रसे वरदान पाकर यवक्रीत अपने पिताके पास गये और यह बोले । (४१–४२)

यवक्रीत बोले, हमको और हमारे पिताको सब वेदोंका अर्थ दिखाई देगा, हम इन्द्रसे वरदान पाकर सबसे अधिक हो जांयगे । (४३)

भरद्वाज उवाच— दर्पस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान्।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनंक्ष्यसि ॥ ४४ ॥
अत्राऽप्युदाहरंतीमा गाथा देवैरुदाहृताः।
मुनिरासीत्पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४५ ॥
स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम्।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च स ॥ ४६ ॥
तस्य प्रसादो वै देवैः कृतो न त्वमरैः समः।
नाऽमर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥ ४७ ॥
बालधिरुवाच - यथेमे पर्वताः शश्वत्तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः।
अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्याऽऽयुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥
भरद्वाज उवाच – तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा।
स तच्छ्रुत्वाऽकरोद्दर्पमृषींश्चैवाऽवमन्यत ॥ ४९ ॥
विकुर्वाणो मुनीनां च व्यचरत्स महीमिमाम्।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥ ५० ॥
तस्याऽपचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान्।

श्रीभरद्वाज मुनि बोले, हे तात! इच्छानुसार वरदान पानेसे तुमको अभिमान हुआ, इस अभिमानसे दीन होकर तुम्हारा विनाश होगा। इस देवतों की कही हुई कथाका यहीं उदाहरण दिया जाता है। हे पुत्र! पहले समय-में एक वीर्यवान बालधि नामक ऋषि हुए थे उन्होंने पुत्रके शोकसे व्याकुल होकर घोर तप किया था, अनन्तर उसने इन्द्रसे यह वरदान मांगा था, कि हमारा पुत्र अमर हो, परन्तु देवतों ने इस वरदान को न दिया, और कहा कि मनुष्य अपने धर्मोंसे रहित नहीं हो सकता है, इस लिये तुम्हारा पुत्र निमित्त आयुवाल होगा। ४४-४७

बालधि मुनि बोले, हे देवतो! जब तक ये पर्वत सदा स्थिर तथा अक्षय रहेंगे तब तक मेरे पुत्रकी आयु बडी होगी। श्रीभरद्वाज मुनि बोले, कुछ दिन पश्चात् बालधि मुनिको बुद्धिमान और क्रोधी एक पुत्र हुआ जब उस पुत्रने यह सब कथा सुनी तो बडा अभिमान और मुनियोंका निरादर किया, इस प्रकार वह मुनियोंका निरादर करता हुआ पृथ्वी-में घूमने लगा, एक दिन महा तेजस्वी बुद्धिमान धनुषाक्ष मुनिसे भेंट हुई, उनकाभी इसने वैसेही निरादर किया, तब धनुषाक्षने क्रोध करके उसको शाप

भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ॥ ५१ ॥
धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम् ।
निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः ।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ५३ ॥
लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः परमार्तवत् ।
ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ॥ ५४ ॥
न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ ५५ ॥
एवं लब्ध्वा वरान्बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात्तथा भवान् ॥ ५६ ॥
एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चाऽस्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाऽभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः॥ ५७ ॥
स हि क्रुद्धः समर्थश्च पुत्रं पीडयितुं रुषा ।
रैभ्यश्चाऽपि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ ५८ ॥
यवक्रीत उवाच -- एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथञ्चन ।
यथा हि मे भवान्मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥५९॥

दिया, कि तू भस्म होजा, पर वह भस्म नहीं हुआ। (४८--५१)

जब वीर्यवान धनुषाक्ष मुनिने देखा कि यह न मरा। तो उसके आयुके निमित्त पर्वतको भैसोंसे नष्ट कराया, निमित्त नष्ट होनेसे उसका प्राणभी नष्ट होगया, अपने पुत्रको मरा हुआ देख उसके पिता रोने लगे, तब सब मुनियोंने उसको रोते हुए देख जो कुछ कहा सो हम तुमसे कहते हैं, कोई पुरुषभी प्रारब्धको नाश नहीं कर सकता है, इसीसे धनुषाक्ष मुनिने पर्वतको भैसोंसे नाश कराया है, इस प्रकारसे वरों को प्राप्त होकर तपस्वियोंके बालक लोग अभिमानसे भरकर शीघ्रही नाश हो जाते हैं। हे पुत्र! यह रैभ्य और उनके दोनों पुत्र महा तपस्वी हैं, तुम इनसे उचित व्यवहार नहीं करते हो, तुम उनसे अच्छा व्यवहार करो, वे महा तपस्वी और महा क्रोध करके तुम्हें नाश करनेमें समर्थ हैं। (५२-५८)

यवक्रीत बोले, आप दुःख न कीजिये, हम ऐसाही करेंगे, जैसे आप हमको मान्य हैं, तैसेही रैभ्यभी हैं। (५९)

लोमश उवाच——उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत्परया मुदा ॥ ६० ॥ [५२६१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने पंचत्रिंशत्याधिकशततमोऽध्याय ॥ १३५ ॥

लोमश उवाच- चंक्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥
स ददर्शाऽऽश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ॥ २ ॥
यवक्रीस्तामुवाचेदमुपातिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३ ॥
सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वा जगाम ह ॥ ४ ॥
तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिन्दम ॥ ५ ॥
रुदतीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

श्रीलोमश मुनि बोले, पितासे ऐसे मीठे वचन कहकर यवक्रीत अन्य ऋषियोंका तिरस्कार करता हुआ सुखसे और आनन्दसे घूमने लगा। (६०) [५२६१]

वनपर्वमें एकसौ पेंतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ छत्तीस अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, इस प्रकार आनन्दसे घूमते हुए एक दिन यवक्रीत वैशाख महीनेमें रैभ्य मुनिके आश्रममें गये, उस फूले वृक्षोंसे शोभित परम रमणीय आश्रममें रैभ्य मुनिके बेटेकी बहूको किन्नरीके समान घूमते हुए देखा, निर्लज्ज यवक्रीतने कामके वशमें होकर उस लज्जावतीसे कहा, कि तू हमारे पास आ ! वह स्त्री यवक्रीतके चरित्रको जानती थी, इस लिये उसके शाप भयसे डरकर और रैभ्यके तेजका ध्यान करके, वैसाही होगा, कहके जाने लगी। अनन्तर एकान्तमें उसका भोग करके उसे शोकमें डुबोकर चला गया। (१—५)

हे शत्रुनाशन ! उसी समय रैभ्य मुनि भी अपने आश्रममें आगये। उन्होंने परावसुकी स्त्री और अपने पुत्रकी बहूको रोते हुए देख, उसको शान्त करके मीठे वचनसे सब समाचार

सा तस्मै सर्वमाचष्टे यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथाऽऽत्मना ॥ ७ ॥
शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रेस्तद्विचेष्टनम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥ ८ ॥
स तदा मन्युनाऽविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम् ।
अवलुच्य जटामेकां जुहावाऽग्नौ सुसंस्कृतैः ॥ ९ ॥
ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण संमिता ।
अवलुच्याऽपरां चाऽपि जुहावाऽग्नौ जटां पुनः॥ १० ॥
ततः समभवद्रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम् ।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवामहे ॥ ११ ॥
तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति ।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥ १२ ॥
ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना ।
कमण्डलुं जहाराऽस्य मोहयित्वैव भारत ॥ १३ ॥
उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम् ।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ १४ ॥

पूछा। उस सुन्दरीने यवक्रीतका सब हाल उनसे कह सुनाया, और जो उसने कहा था सो भी सुना दिया। यवक्रीत का यह सब समाचार सुनकर रैभ्यका चित्त महा क्रोधसे जलने लगा। (५-८)

महाक्रोधी रैभ्य मुनिने क्रोधसे भरकर अपनी एक जटा उखाडके अग्निमें मन्त्रोंसे हवन करी, उसके हवन होतेही एक सुन्दरी स्त्रीरूपिणी कृत्या उनके पुत्रवधूके समान रूपवाली उस हवन कुण्डसे उत्पन्न हुई, तब मुनीश्वरने दूसरी जटा उखाडके फेर अग्निमें हवन करी, तब हवनकुण्डसे एक विकराल दर्शन और भयानक नेत्रवाला राक्षस उत्पन्न हुआ, उन दोनोंने रैभ्य मुनिसे कहा, कि हम तुम्हारा कौनसा कार्य सिद्ध करें? (९-११)

रैभ्य मुनिने क्रोध करके कहा, कि तुम यवक्रीतको मार डालो। वे दोनों यवक्रीतको मारनेको चले, जब वे यवक्रीत के पास पहुंचे, तो महात्मा रैभ्यकी बनाई हुई स्त्रीने यवक्रीतका कमण्डलु ले लिया और उसको मोहित कर दिया। (१२—१३)

अनन्तर जूंठ मुंह कमण्डलु रहित यवक्रीतको देखकर वह राक्षस त्रिशूल

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद्येन वै सरः ॥ १५ ॥
जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः ।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाऽप्यासन्विशोषिताः॥१६॥
स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह ॥ १७ ॥
स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणाऽन्धेन रक्षिणा।
निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव ॥१८ ॥
निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ १९ ॥
यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत् ।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहाऽवसत् ॥२०॥ [५२८१]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३६॥

लोमश उवाच— भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम्।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

लेकर उनकी ओर दौडा, जब यवक्रीत ने उस राक्षसको हाथमें त्रिशूल लिये और अपने मारनेकी इच्छासे आते हुए देखा तो वहांसे उठ कर तलावकी ओर भागे, वहां जाकर उन्होंने तालावको जलसे रहित देखा, तब वहांसे दौड कर नदी पर गये, उसकोभी सूखी हुई पाया, इस प्रकार सब जगह घूम कर और घोर शूलधारी राक्षससे पीडित होकर अत्यन्त भयसे अपने पिताकी यज्ञशालामें घुसे। (१४—१७)

हे राजन्! उसके द्वार पर रक्षा करनेवाला एक अन्धा शूद्र बैठा था, उसने यवक्रीतको बलसे पकडा, तब ये वहीं खडे रह गये। जब राक्षसने यवक्रीतको शूद्रसे पकडा हुआ देखा, तो एक त्रिशूल उसकी छातीमें मारा, उसके लगनेसे यवक्रीत मर गये। यवक्रीतको मार कर राक्षस पुनः रैभ्य मुनिके पास आया, और उनकी आज्ञासे उस स्त्रीके सहित वहीं रहने लगा। (१८–२०)

वनपर्वमें एकसौ छत्तीस अध्याय समाप्त।[५२८१

वनपर्वमें एकसौ सैंतीस अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे कुन्तीनन्दन! जब महाराज मुनि स्वाध्यायादि आह्निक करके उठे, तब हाथमें कुशा लेकर अपने आश्रमको गये, पहले जब भरद्वाज मुनि अपने आश्रम पर आते थे,

तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः ।
न त्वेतमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाऽग्नयः ॥ २ ॥
वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः ।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाऽब्रवीत् ॥ ३ ॥
किं नु मे नाऽग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम् ।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित्क्षेममिहाऽऽश्रमे ॥ ४ ॥
कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः ।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुद्ध्यति मे मनः ॥ ५ ॥
शूद्र उवाच— रैभ्यं यातो नूनमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः ।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा ॥ ६ ॥
प्रकाल्यमानस्तेनाऽयं शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्न्यगारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः ॥ ७ ॥
ततः स निहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम् ।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा ॥ ८ ॥
भरद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत् ।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः ॥ ९ ॥

तब सब अग्नि उनको देख कर खडी हो जाती थीं, परन्तु उस दिन पुत्रके मरनेके कारण कोई अग्नि नहीं उठीं । महा तपस्वी भरद्वाजने अग्निहोत्रमें विकार देखकर उस घरकी रक्षा करनेवाले शूद्रसे पूछा, कि हे शूद्र ! आज यह सब अग्नि हमारा दर्शन करके क्यों नहीं प्रसन्न होती हैं ? और तुमभी सब दिनके समान प्रसन्न नहीं दीखते, कहो आश्रममें कुशल तो है? मन्दबुद्धि मेरा पुत्र रैभ्यके आश्रममें तो नहीं गया था । तुम सब समाचार शीघ्र कहो । हमारा मन शुद्ध नहीं होता है । (१—५)

शूद्र बोला, वह मन्दबुद्धि तुम्हारा पुत्र अवश्य रैभ्य मुनिके आश्रममें गया था,और उसको बलवान शूलधारी राक्षसने मार डाला, वह पडा है, वह पीडित होकर इस अग्निशाला में आया था, परन्तु मैंने बलसे उसको निवारण किया, वह अपवित्र और जलकी इच्छासे यहां आया था,परन्तु मेरे पकडनेसे उसकी सब आशा नष्ट होगई, तब उस शूलधारी राक्षसने वेगसे दौडकर उसको मार डाला । भरद्वाज मुनि उस शूद्रके ऐसे अप्रिय वचन सुनकर अपने मरेहुए पुत्रको उठाकर बहुत दुःखसे रोने लगे । (६–९)

भरद्वाज उवाच— ब्राह्मणानां किलाऽर्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः ।
द्विजानामनधीता वै वेदाः संप्रतिभान्त्विति ॥ १० ॥
तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥
प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात् ।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम् ॥ १२ ॥
यः स जानन्महातेजा वृद्धस्यैकं ममाऽऽत्मजम् ।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः ॥ १३ ॥
पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा ।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान्भुवि ॥ १४ ॥
यथाऽहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी ।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम् ॥ १५ ॥
सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते ।
ये पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम् ॥ १६ ॥
ये तु पुत्रकृताच्छोकाद्भृशं व्याकुलचेतसः ।
शपन्तीष्टान्सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः ॥ १७ ॥

भरद्वाज बोले, हे तात! तुमने ब्राह्मणोंके निमित्त बडा भारी तप किया था और यह इच्छा करी थी, कि विनाही पढे ब्राह्मणोंको सब वेद आजायं, और अत्यन्त शीलवान होने परभी महात्मा ब्राह्मणोंका अपराधही करते रहे, हे तात! हमने तुमसे कहा था, कि रैभ्यके आश्रमको मत जाना, परन्तु तुम उसी काल और यमराजके समान आश्रमको देखनेको गये, और वह दुष्टबुद्धि महा तेजस्वी रैभ्य मुझ बूढेका एकही पुत्र है, यह जानता हुआभी महाक्रोधके वशमें होगया। (१०-१३)

हे पुत्र! अब मैं तुम्हारे शोक और रैभ्यके कर्मसे अपने प्यारे प्राणको त्यागता हूं, जैसे मैं पुत्रके शोकसे व्याकुल होकर शरीर छोडता हूं तैसेही रैभ्यका बडा पुत्र रैभ्यका शीघ्रही नाश करेगा। वे पुरुष बहुत सुखी हैं, जिसको पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने पुत्रशोकको नहीं देखा, वे सुखसे घूमते हैं, जिनका हृदय पुत्र शोकसे व्याकुल हो गया है, वे अपने प्यारे मित्रोंकोभी शाप देते हैं, तब उनके बराबर पापी और कौन होगा? तुमको मरा हुआ देखकर मैंने अपने प्यारे सखाको शाप

परावसुश्च सुतो दृष्टः शतश्रेष्ठः सखा मया ।
ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥
लोमश उवाच— विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत्सुतम् ।
सुसमिद्धं ततः पश्चात्प्रविवेश हुताशनम् ॥ १९ ॥ [९३००]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने सप्तत्रिंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

लोमश उवाच— एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्युम्नो महीपतिः ।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥
तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू ।
वृतौ सहायौ सत्रार्थं बृहद्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥
तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः ।
आश्रमे त्वभवद्रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥
अथाऽवलोकको ऽगच्छद् गृहानेकः परावसुः ।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥
जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥

दिया है । ऐसी भारी आपत्ति मेरे सिवा और किसको पडेगी ? (१४—१८)

श्रीलोमश मुनि बोले, भरद्वाज मुनिने बहुत विलाप करके अपने पुत्रका दाहकर्म किया, अनन्तर उसी जलती हुई अग्निमें आपभी प्रवेश कर गये । (१९) [९३००]

वनपर्वमें एकसौ सैंतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ अडतीस अध्याय ।

लोमश मुनि बोले, हे महाराज ! उसी समय महा प्रतापवान रैभ्यके यजमान बृहद्युम्न राजाने यज्ञका आरंभ किया, बुद्धिमान बृहद्युम्नने अर्वावसु और परावसु रैभ्यके पुत्रोंको यज्ञमें परस्पर सहायक बनाया । हे कुन्तीनन्दन ! वे दोनों अपने पिताकी आज्ञासे यज्ञ सम्पादनके लिये गये; आश्रममें रैभ्य और परावसुकी स्त्री रही । (१-३)

अनन्तर एक रोज रातको अकेले परावसु अपने आश्रमको आये. आश्रममें एकले अपने घरमें अपनी स्त्रीको देखने गये, तब उन्होंने देखा, कि काले हरिणका चमडा ओढे उनके पिता वनमें बैठे हैं, उन्होंने उस घोर अंधियारी रात्रिमें निद्रामें होकर अपने पिताको न पहचाना, उन्होंने जाना कि यह

मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः ।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥
तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत ।
पुनरागम्य तत्सत्रमब्रवीद्भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥
इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथंचन ।
मया च हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥
सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम् ।
समर्थोऽप्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥
अर्वावसुरुवाच— करोतु वै भवान्सत्रं बृहद्युम्नस्य धीमतः ।
ब्रह्मचर्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थं नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥
लोमश उवाच— स तस्य ब्रह्मचर्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११ ॥
ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ॥ १२ ॥
एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत्त्वामसंशयम् ॥ १३ ॥

कोई हरिण घूमता फिरता है, परावसुने अपने शरीरकी रक्षाके लिये उस हरिण को मार डाला। हे भारत! जब उन्होंने जाना कि यह हमारे पिता थे, तब उनका सब प्रेतकर्म करके उसी यज्ञमें गये और अपने छोटे भाईसे कहा कि, हे तात! हमने हरिनके भ्रमसे पिताको मारडाला और तुम इस यज्ञके भारको कदापि नहीं सम्भाल सकोगे, इस लिये तुम हमारे ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करो, क्योंकि मैं एकला भी इस यज्ञके कर्मको समाप्त कर सकता हूं। (४-९)

अर्वावसु बोले, तुम बुद्धिमान् राजा बृहद्युम्नकी यज्ञका कर्म करो और मैं इन्द्रियोंको वशमें करके तुम्हारे निमित्त ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करता हूं। (१०)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे युधिष्ठिर! इस प्रकार उस ब्रह्महत्याके पापसे पार होकर अर्वावसु मुनि पुनः उस यज्ञमें आये, जब परावसुने अपने भाईको यज्ञ में आते हुए देखा तो आनन्दसे गद्गद होकर राजासे बोले, कि हे राजन्! इस ने ब्रह्महत्या करी है, इसलिये यह यज्ञमें न आने पावे, यदि यह तुमको देख ले-गा, तो निःसन्देह तुमको बहुत दुःख होगा। (१२—१३)

लोमश उवाच— तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विद्पते ।
प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ॥ १४ ॥
न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।
उच्यमानोऽसकृत्प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ॥ १५ ॥
नैव स्म प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयंकृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोक्षितः ॥ १६ ॥
स तथा ब्रुवन्क्रोधात्तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।
तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ॥ १७ ॥
उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाऽऽश्रितः ।
रहस्यवेदं कृतवान्सूर्यस्य द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥
मूर्तिमांस्तं ददर्शाऽथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।
लोमश उवाच— प्रीतास्तस्याऽभवन्देवाः कर्मणाऽर्वावसोर्नृप ॥ १९ ॥
तं ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।
ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ॥ २० ॥
स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।
अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चाऽस्मरणं वधे ॥ २१ ॥

श्रीलोमश मुनि बोले, हे प्रजानाथ ! राजा बृहद्युम्नने पुरोहितके ऐसे वचन सुनकर सब पुरुषोंको आज्ञा दी, कि यह यहां न आने पावे, पुरुषोंसे वारित होने के समय अर्वावसुने बार बार कहा, कि मैंने कोई ब्रह्महत्या नहीं की है, परन्तु किसीनेभी न सुना और सब कहने लगे, कि तू हत्यारा है। तब उसने पुनः कहा कि यह ब्रह्महत्या मेरे भाईने करी थी, परन्तु मैंने प्रायश्चित्त करके उनको भी इस पापसे छुडा दिया। तबभी किसी ने न सुना, तब महा तपस्वी अर्वावसु क्रोधसे व्याकुल और चुप होकर वन को चले गये, वहां जाकर घोर तपसे सूर्यकी आराधना करने लगे। वहां उन्होंने सूर्यके मन्त्रका रहस्यमय वेद किया, अनन्तर साक्षात् अग्रभोजी सूर्यने शरीर धारण करके उनको दर्शन दिये। १४-१९

श्री लोमशमुनि बोले, हे नरनाथ ! अर्वावसुके उस कर्मसे सब देवता प्रसन्न हुए, अनन्तर देवतोंने उन्हें श्रेष्ठ और परावसुको प्रत्याख्यान किया। फिर अग्नि आदिक देवतोंने उसको वरदान दिये, तब उसने यह वरदान मांगा, कि हमारे पिता जीजायं, हमारे भाई निरपराध हों, पिताको उन के

भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठां चाऽपि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ।
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान्ददुः ॥ २२ ॥
ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाऽब्रवीद्यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ॥ २३ ॥
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ॥ २४ ॥
तथा युक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ।

देवा ऊचुः— मैवं कृथा यवक्रीत तथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २५ ॥
अनेन तु गुरून्दुःखात्तोषयित्वाऽऽत्मकर्मणा ।
कालेन महता क्लेशाद्ब्रह्माऽधिगतमुत्तमम् ॥ २६ ॥

लोमश उवाच— यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः सेन्द्रपुरोगमाः।
सञ्जीवयित्वा तान्सर्वान्पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ २७ ॥
आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः ।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ॥ २८ ॥[५३२८]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्यानेऽष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३८

मारनेका स्मरण न रहे, हम और हमारे भाई पापसे छूटे, भरद्वाज और यवक्रीत जीजायं, तथा हम सूर्य संबंधी वेदकी प्रतिष्ठा करें, उस ब्राह्मण श्रेष्ठको देवतोंने यही वरदान दिये। हे युधिष्ठिर! तब वे सब लोग जीगये। (२०-२३)

अनन्तर अग्नि आदिक देवतोंसे यवक्रीत बोले, कि हे देवश्रेष्ठ! हमने विधिवत् वेद पढा और अनेक व्रतभी करे, तब ऐसे तपस्वी मुझको रैभ्यमुनिने इस प्रकार क्यों मारा? सब देवता लोग बोले, हे यवक्रीतमुने! तुम ऐसी बात मत कहो, तुमने विना गुरुके सुखपूर्वक वेदोंको पढा है, और उन्होंने बहुत क्लेशसे गुरुको प्रसन्न करके बहुत काल में वेदोंको पढा है। (२३-२६)

श्रीलोमश मुनि बोले, कि हे राजशार्दूल! इस प्रकार सबको जिवाकर और यवक्रीतसे ऐसा कहकर इन्द्रादिक देवता स्वर्गको चले गये। यह उन्हींका पवित्र आश्रम है, इसके वृक्ष सदा फूले और फले रहते हैं, आप यहां एक रात्रि वसिये तो सब पापसे छूट जाइयेगा। २७-२८

एकसौ अडतीस अध्याय समाप्त। [५३२८]

लोमश उवाच—

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत ।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥ १ ॥
एषा गंगा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राऽग्निर्नित्यमिध्यते ॥ २ ॥
एतद्वै मानुषेणाऽद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम् ।
समाधिं कुरुताऽव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥ ३ ॥
एतद् द्रक्ष्यसि देवानामाक्रीडं चरणाङ्कितम् ।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पर्वतम् ॥ ४ ॥
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम् ।
यत्र माणिवरो यक्षः कुबेरश्चैव यक्षराट् ॥ ५ ॥
अष्टाशीति सहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः ।
तथा किंपुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ॥ ६ ॥
अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते ।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ॥ ७ ॥
तेषामृद्धिरतीवाऽत्र गतौ वायुसमाश्च ते ।
स्थानात्प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥

वनपर्वमें एकसौ उनतालीस अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे भारत ! यह उशीरबीज, मैनाक और श्वेतपर्वतको देखो, हे कौन्तेय ! तुम कालपर्वत के पार हुए हो, हे भरतर्षभ ! यह गङ्गाकी सात धारा शोभित हो रही है ! यह विरजस तीर्थ है, यहां सदाही अग्नि जलती रहती है, इस अद्भुत तीर्थको पुरुष नहीं देख सकता, यहां पर तुम स्वस्थचित्त होकर समाधि लगाओ और इन तीर्थोंको देखो, यह देवतोंके खेलने का स्थान है, यहां चरणका चिह्न लगा है, इस को भी देखो, हे कुन्तीनन्दन ! तुम कालशैल पर्वतके पार हुए हो । (१—४)

अब हम लोग श्वेतगिरि और मन्दराचलमें प्रवेश करते हैं, जहां माणिवर यक्ष और कुबेर रहते हैं, यहां अट्ठासी हजार शीघ्रगामी गंधर्व लोग रहते हैं, और उनसे चौगुने यक्ष और किंपुरुष रहते हैं, वे लोग अनेक रूपोंसे युक्त, नाना विध शस्त्रोंको धारण करके यक्ष राज मणिभद्रकी सेवा करते हैं, उनकी यहां पर बहुत ऋद्धि बढी है, उनकी गति वायुके समान है; जो इन्द्रकोभी स्वर्गसे गिरा सकते हैं । (५—८)

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः ।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥ ९ ॥
कुबेरसचिवाश्चाऽन्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः ।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयतो विक्रमेण च ॥ १० ॥
कैलासः पर्वतो राजन्षडयोजनसमुच्छ्रितः ।
यत्र देवाः समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥ ११ ॥
असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ॥ १२ ॥
तान्विगाहस्व पार्थाऽद्य तपसा च दमेन च ।
रक्ष्यमाणो मया राजन्भीमसेनबलेन च ॥ १३ ॥
स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिंजयः ।
गंगा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥ १४ ॥
मरुतश्च सहाऽश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च ।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ॥ १५ ॥
इन्द्रस्य जांबूनदपर्वताद्वै शृणोमि घोषं तव देवि गंगे ।
गोपाययेमं सुभगे गिरिभ्यः सर्वाजमीढोपचितं नरेन्द्रम् ॥ १६ ॥
ददस्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य ।

हे कुन्तीपुत्र ! ये दुर्गम पर्वत बलवान् राक्षसोंसे रक्षित हैं। तुम यहां उत्तम समाधि करो। हे कुन्तीनन्दन ! जो कुबेरके मन्त्री हैं, तथा भयंकर और शत्रुरूप राक्षस हैं, हमलोग उन सबसे मिलेंगे, तुम अपने बलको ठीक करो, देखो यह चौबीस कोस ऊंचा कैलास पर्वत है, यहां विस्तृत बदारिकाश्रम है, यहां सब देवता लोग आते हैं,हे राजन् ! मुझसे और भीमसेनके बलसे रक्षित होकर आप तप और इन्द्रिय संयमसे इस कुबेरके स्थानको देखिये। जहां असंख्य यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, सुपर्ण और गन्धर्व रहते हैं। (९—१३)

वरुण, युद्धजेता यम, गङ्गा, यमुना, पर्वत, वायु, अश्विनीकुमार, नदी और सब तालाब तथा देव असुर और वसु तुम्हारा कल्याण करें। हे देवि ! हे गङ्गे ! हम तुम्हारे शब्दको इन्द्र संबंधी सोनेके पर्वतसे सुनते हैं, तुम इन पर्वतों में अजमीढ वंशोत्पन्न महाराज युधिष्ठिरकी रक्षा करो। हे सुभगे ! हे पर्वतराजपुत्री ! यह महाराज उन पर्वतोंमें प्रवेश करना चाहते हैं, तुम इनको

उक्त्वा तथा सागरगां सविप्रो यत्तौ भवस्वेति शशास पार्थम् ॥१७॥
युधिष्ठिर उवाच-अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य कृष्णां च सर्वे रक्षत मा प्रमादम्।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य तस्मात्परं शौचमिहाऽऽचरध्वम्॥ १८॥
वैशम्पायन उवाच- ततोऽब्रवीद्भीममुदारवीर्यं कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन।
शून्येऽर्जुनेऽसन्निहिते च तात त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ॥१९॥
ततो महात्मा स यमौ समेत्य मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥२०॥[९३४८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कैलासादिगिरिप्रवेशे ऊनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच– अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर ॥ १ ॥
सन्निवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात्।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व वृकोदर ॥ २ ॥
ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति।

कल्याण दो। (१४-१७)

लोमश मुनिने इस प्रकार समुद्रगामिनी गङ्गाकी प्रार्थना करके राजासे कहा कि अब आप सावधान हो जाईये। युधिष्ठिर बोले, आज लोमश मुनिको अपूर्व भय हुआ है, अतः द्रौपदीके रक्षण सावधानतासे करो। जान पडता है, कि यह देश बहुत दुःखसे प्रवेश करने योग्य है, इस लिये सब लोग अत्यंत शुद्ध होकरके रहैं। (१७-१८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर महाराजने ... भीमसेनको आज्ञा दी, हे भीम! हे महाबली! तुम ... न्त सावधानीसे द्रौपदीकी रक्षा करो, क्योंकि अर्जुनके जानेके पश्चात् द्रौपदी भयके समयमें तुम्हारीही शरण लेती है, इसके पश्चात् महाराजने नकुल और सहदेवका माथा सूंघ कर और शरीरको स्पर्श करके कहा कि तुम लोग कुछ मत डरो, सावधान होकर चलो। १९-२०[९३४८]

वनपर्वमें एकसौ उनतालीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चालीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे भीम! इन स्थानोंमें अनेक बलवान प्राणी छिपे हुए रहते हैं, यहां अग्नि और तपके सहायसे चलना शक्य है। हे कुन्तीनन्दन भीम! यहां बलके आश्रयसे भूख और प्यासको परित्याग करो, तुम अपने बल और कुशलताका आश्रय करो, हे ... तुमने कैलासयात्राके प्रति

बुद्धया प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति ॥ ३ ॥
अथवा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः ॥ ४ ॥
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि ।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वाऽऽयतेक्षण ॥ ५ ॥
त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः ।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः ॥ ६ ॥
ममाऽऽगमनमाकांक्षन् गंगाद्वारे समाहितः ।
वसेह द्रौपदीं रक्षन्यावदागमनं मम ॥ ७ ॥

भीम उवाच—
राजपुत्री श्रमेणाऽऽर्ता दुःखार्ता चैव भारत।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया ॥ ८ ॥
तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्तते तमपश्यतः ।
गुडाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥ ९ ॥
किं पुनःसहदेवं च मां च कृष्णां च भारत।
द्विजाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः ॥१०॥
सूताः पौरोगवाश्चैव यं च मन्येत नो भवान् ।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित् ॥ ११ ॥

लोमश मुनिके वचन सुने, अब बुद्धिसे विचार करो, कि द्रौपदी किस प्रकार चल सकैगी ? अथवा सहदेव, धौम्य, सारथि, रसोइयां, सब नौकर, रथ, घोडे और क्लेश न सहनेवाले सब ब्राह्मणों के सहित तुम लौट जाओ । (१-५)

हे विशालनेत्र भीम ! हम तीनों अर्थात् हम नकुल और लोमश मुनि आहारको जीतकर व्रत करते हुए चले जायंगे, जबतक हम लौटकर आवें, तबतक तुम सावधान होकर द्रौपदीकी रक्षा करते हुए गङ्गाद्वारमें रहकर हमारा मार्ग देखना । (६—७)

भीमसेन बोले, हे महाराज ! राजपुत्री कल्याणी द्रौपदी थकाईसे दुःखित होने परभी केवल अर्जुनके देखनेकी इच्छासे जाती है, और आपभी विना अर्जुनके देख घबरा रहे हैं, वह अर्जुन निद्राके स्वामी और युद्धोंमें अपराजित हैं, तब मुझे सहदेवको और द्रौपदीको आप क्यों छोडते हैं ? ब्राह्मण और नौकरलोगोंको चला जाना चाहिये, सारथी नगरके रहनेवाले या और जिस को आप चाहें लौटा दीजिये, मैं इस

शैलेऽस्मिन्राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च ।
इयं चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता ॥ १२ ॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद्विनिवर्तितुम् ।
तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः ॥ १३ ॥
न जातु विनिवर्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै ।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया ॥ १४ ॥
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद्यास्यामहे सह ।
यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः ॥ १५ ॥
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन्विमना भव ।
अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति ॥ १६ ॥
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन्विमना भव ।
सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ ।
दुर्गे सन्तारयिष्यामि यत्राऽशक्तौ भविष्यतः ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाऽभिवर्धताम् ।
यत्त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीं च यशस्विनीम् ॥ १८ ॥
यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते ।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम् ॥ १९ ॥

राक्षसोंसे भरे हुए घोर पर्वतमे आपको कदापि नहीं छोड सकता हूं । (८—१२)

हे पुरुषव्याघ्र ! यह पतिव्रता राजपुत्री द्रौपदी और सहदेव आपको छोड कर कदापि नहीं लौट सकते हैं, क्योंकि यह आपके भक्त हैं, मैं इनके मनको जानता हूं । हम सब अर्जुनके देखनेको उत्कण्ठित हैं, इसलिये लौट नहीं सकते, यह अनेक कन्दराओंसे भरा हुआ पर्वत यदि रथमें बैठकर चलने योग्य न होगा तो पैरोंही चलेंगे हे राजन् ! हम द्रौपदीको अपने कन्धेपर बिठाके लेचलेंगे, आप कुछ सन्देह मत कीजिये, हमारी बुद्धिमें आता है, कि जहां द्रौपदी नहीं चल सकेगी, तहां ऐसाही करेंगे। आप कुछ सन्देह मत कीजिये, बालक नकुल और सहदेव जहां दुःखसे जाने योग्य मार्गमें नहीं जा सकेंगे, तहां इनको भी मैं ले चलूंगा । (१२—१७)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे भीम ! तुम्हारे बलकी वृद्धि हो, तुम जो यशस्विनी द्रौपदी नकुल और सहदेवको ले चलने का कहते हो, ऐसा बल अन्यमें नहीं

गन्त्वसुतसहस्रे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कृष्णाऽब्रवीद्वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत॥ २१॥

लोमश उवाच— तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतं गन्धमादनम्।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम् ॥ २२॥
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम्॥ २३॥

वैशम्पायन उवाच—एवं संभाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत्।
दहशुर्मुदिता राजन्प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २४॥
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम्।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम्।
सुबाहुश्चापि तान्दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ॥ २५॥
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम्।
ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः ॥ २६॥

है, इस लिये हम आशीर्वाद देते हैं, कि तुम्हारा यह बल, कीर्ति और धर्म बढे, तुम नकुल, सहदेव और द्रौपदीको ले चलना चाहते हो, इसमें तुम्हें कहीं थकाई और निरादर नहीं होगा। (१८—२०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर सुन्दरी द्रौपदी हंसकर महाराजसे कहने लगी, कि हे कुन्तीनन्दन ! आप मेरे लिये कुछ दुःख न कीजिये मैं आपही चलूगी। (२१)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे कुन्तीनन्दन ! उस गन्धमादन पर्वत पर तपस्याके बलसे जा सकते हैं, हम सब तपस्याके बलसे चलेंगे। हे कौन्तेय ! हम, तुम, भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी चलकर अर्जुनको देखेंगे।(२२-२३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जिस समयमें सब लोग प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कह रहे थे, उसही समय हिमाचल पर एक पुरुषोंका समूह दीख पडा, जिसमें अनेक हाथी, घोडे, किरात, तङ्गण, पुलिङ्ग देवता थे। उस झुण्डमें अनेक आश्चर्य दीखते थे, वह देश राजा सुबाहुका था, जब सुबाहुने पाण्डवोंको देखा, तो उनकी बहुत पूजा और अपने राज्य की सीमा तक परम प्रीतिसे पाण्डवोंके सङ्ग गया। (२४—२६)

प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति ।
इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान्पौरोगवांस्तथा ॥ २७ ॥
सूदांश्च पारिबर्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप ।
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ॥ २८ ॥
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः
ते शनैः प्राद्रवन्सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः ।
तस्माद्देशात्सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनंजयम् ॥ २९ [५३७७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

युधिष्ठिर उवाच--- भीमसेन यमौ चोभौ पांचालि च निबोधत ।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान्वनेचरान् ॥ १
दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद्ब्रवामेतरेतरम् ।
अशक्येऽपि व्रजामो यद्धनंजयदिदृक्षया ॥ २ ॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवाऽनलः ।
यच्च वीरं न पश्यामि धनंजयमुपान्तिकात् ॥ ३ ॥
तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम् ।

पाण्डव लोगभी उसकी पूजामे बहुत प्रसन्न हुए और उसके राज्य भरमें सुख से रहे, अनन्तर जब प्रातः काल हुआ तो पाण्डव लोग पैरों ही से हिमाचल को चले, इन्द्रसेन आदि सारथी, नगर निवासी तथा रसोइया, द्रौपदीकी दासी तथा और सब नौकरोंको कुलिन्द देशके राजा सुबाहुकी रक्षामें छोड दिया। महावीर्य महारथ पाण्डव लोग पैरोंही चले, वे लोग धीरे धीरे प्रसन्नता पूर्वक द्रौपदीके सहित अर्जुनको देखनेके लिये उस देशसे निकल गये (२६ २९)

वनपर्वमें एकसौ चालीस अध्याय समाप्त। ५३७७

वनपर्वमें एकसौ एकतालीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे भीम! नकुल, सहदेव और द्रौपदी! तुम सब हमारी बातको सुनो, जो कर्म पुरुष का हुआ है, उसका नाश नहीं होता, देखो हम लोग इस वनमें कैसे घूम रहे हैं? हम लोग अत्यन्त क्लेशित और दुःखित हैं। ऐसी परस्पर बात चीत करते हैं, तथापि दुर्गम मार्गसे अर्जुनके देखनेकी इच्छासे चले जाते हैं, इसीसे जैसे अग्नि लगनेसे रूई जलती है, तसही मेरा शरीरभी जला जाता है, अब तकभी वीर अर्जुन लौटकर नहीं आये। हे वीर!

याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत ॥ ४ ॥
नकुलात्पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ५ ॥
तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकांक्षया ॥ ६ ॥
पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसन्धं धनंजयम्।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ७ ॥
तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ८ ॥
कृतास्त्रं निपुणं युद्धे ऽप्रतिमानं धनुष्मताम्।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठ तेन तप्ये वृकोदर ॥ ९ ॥
चरन्तमरिसंघेषु काले क्रुद्धमिवाऽन्तकम्।
प्रभिन्नमिव मातंगं सिंहस्कन्धं धनंजयम् ॥ १० ॥
यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः ॥ ११ ॥
दुःखेन महताऽऽविष्टस्तं न पश्यामि फाल्गुनम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ॥ १२ ॥

मैं जो दुःखसे व्याकुल हो रहा हूं, सो द्रौपदी केशाकर्षण आदि क्लेशोंको स्मरण करके जला जाता हूं. मैं नकुलसे बडे महा पराक्रमी, अजेय, महाधनुर्द्धारी अर्जुनको न देखनेसे जला जाता हूं। (१ — ५)

हे वृकोदर ! मैं तुम लोगोंके सहित रम्य वन तडाग और तीर्थोंमें अर्जुनके देखनेहीको घूमता हूं। हे वृकोदर ! पांच वर्ष हुआ कि सत्यसन्ध अर्जुनको हमने नहीं देखा, उन स्यामसुन्दर निद्राके स्वामी सिंहके समान तेजस्वी, महाबाहु, सब शस्त्रोंको जाननेवाले, युद्धमें निपुण, असमान धनुषधारी अर्जुन को न देखनेसे हमारा शरीर जला जाता है, वह अर्जुन युद्धमें इस प्रकार घूमते हैं, जैसे प्रलयकालमें क्रोध करके यमराज। वह मतवारे हाथी और सिंहके समान कन्धवाले महावीर हैं। (६ — १०)

वह महावीर धन और पराक्रममें इन्द्रके समान हैं, नकुल सहदेव से बडे सफेद घोडवाले और महा पराक्रमी हैं, वह महा दुःखमें पडे हैं, वह उग्र धनुर्द्धारी अर्जुन अजेय हैं, उनके न देखन-

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा ।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताऽभयस्य च ॥ १३ ॥
स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाऽभिजिघांसतः ।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत्कालविषोपमः ॥ १४ ॥
शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान् ।
दाताऽभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥ १५ ॥
सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता ।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥ १६ ॥
रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन्पुरा मम ।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः ॥ १७ ॥
यस्य बाहुबलाद्वीर सभा चाऽऽसीत्पुरा मम ।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पांडव ॥ १८ ॥
वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि ।
अजेयमजितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥ १९ ॥
संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमाऽपराजितम् ।
अनुयातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ॥ २० ॥
यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरन्दरः ।

से हमारा शरीर जला जाता है, वह सदा ही आपसे हीन पुरुषके बुरी बात सुनाने पर भी उस पर क्षमा करनेवाले, सीधे मार्गवाले पुरुषोंको सुख देने वाले और अभय चाहनेवालेको अभय देनेवाले हैं। यदि छल और मायासे उनको कोई मारना चाहे तो साक्षात् वज्रधारी इन्द्रको भी काल और विषके समान हो जाते हैं, वह महापराक्रमी, महावीर प्रतापवान्, लज्जावान अर्जुन शरण आये हुए शत्रु को भी निर्भय कर देते हैं। (११-१५)

वह हम सब लोगोंका आश्रय युद्धमें शत्रुओंके मारनेवाले सब रत्नोंके लानेवाले और सबके सुखदायक हैं, उसही महापराक्रमीके प्रतापसे हमारे घरमें पहले अनेक रत्न थे जो सब अब दुर्योधनके हुए हैं। हे वीर पाण्डव! जिसके बाहुबल से हमारी रत्नमयी सभा तीनों लोकोंमें विख्यात हुई है, जो पराक्रममें कृष्णके समान और युद्धमें कार्त्तवीर्यके समान हैं, उस युद्धमें अजेय अर्जुनको हम नहीं देखते हैं, जो अर्जुन महापराक्रमी, शत्रुनाशन, अजेय, बलराम कृष्ण और तुम्हारे समान बलवान है,

जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥ २१ ॥
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः ।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २२ ॥
विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः ।
तं सदाऽध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥ २३ ॥
कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिसेविताम् ।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत्तपः ॥ २४ ॥
न च यानवता शक्यो गंतुं देशो वृकोदर ।
न नृशंसेन लुब्धेन नाऽप्रशान्तेन भारत ॥ २५ ॥
तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्धं विप्रैर्महाव्रतैः ॥ २६ ॥
मक्षिकादंशमशकान्सिंहान्व्याघ्रान्सरीसृपान् ।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थ नियतस्तान्न पश्यति ॥ २७ ॥
ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गंधमादनम् ।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनंजयदिदृक्षवः ॥ २८ ॥ [५४०५]

इति श्रीमहा० लोमशतीर्थयात्रायां गंधमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१॥

उसको हम नहीं देखते । (१६—२०)

जो बाहुबल और प्रभावमें इन्द्रके तुल्य, वेगमें वायुके तुल्य और क्रोधमें सनातन मृत्युके समान है, जिनका मुख चन्द्रमाके तुल्य है, हम सब लोग उसी पुरुषसिंह अर्जुनके देखनेको गन्धमादन पर्वतमें प्रवेश करते हैं । हे वीर! हे महाबाहो ! अब हम लोग उस उत्तम पर्वतको देखेंगे। जहां विशाल बदरिकाश्रम तथा नरनारायणका स्थान है, उस पर्वतमें सदा यक्षलोग निवास करते हैं, हमलोग महातप करते हुए पैरोंहीसे राक्षसोंसे सेवित परम रमणीय कुबेरकी पोखरको देखेंगे। (२१—२४)

हे वृकोदर! यह देश वाहनों पर चलने का नहीं है, इस देशमें दुष्ट लोभी और क्रोधी पुरुष नहीं आसकते हैं, हे भीम! हम सब लोग शस्त्रोंको धारण करके महाव्रतधारी ब्राह्मणोंके सहित अर्जुनके ढूढनेको जायंगे । हे कुन्तीनन्दन ! जो अपवित्र पुरुष इस देशमें आता है, उसे मक्खी, मच्छर, सिंह व्याघ्र और अनेक सांप मिलते, हैं, परन्तु शुद्ध पुरुष उनको नहीं देखते, हम लोग अर्जुन के देखनेकी इच्छासे मित भोजन कर के और आत्माको अपने वशमें करके

लोमश उवाच— द्रष्टारः पर्वताः सर्वे नद्यः सपुरकाननाः ।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टं च सलिलं करैः ॥ १ ॥
पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्थाः प्रयास्यति ।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः ॥ २ ॥
अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति ।
ऋषीणां चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ३ ॥
एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी ।
बदरीप्रभवा राजन्देवर्षिगणसेविता ॥ ४ ॥
एषा वैहायसैर्नित्यं वालखिल्यैर्महात्मभिः ।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः ॥ ५ ॥
अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः ।
मरीचिः पुलहश्चैव भृगुश्चैवाऽङ्गिरास्तथा ॥ ६ ॥
अत्राऽऽह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्गणः ।
साध्याश्चैवाऽश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा ॥ ७ ॥
चन्द्रमाः सह सूर्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह ।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन् ॥ ८ ॥

गन्धमादन पर्वतपर जायंगे। (२१-२८)

वनपर्वमें एकसौ एकतालीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ बियालिस अध्याय ।

श्रीलोमश मुनि बोले, हे पाण्डवो ! तुम सबोंने इस जल को स्पर्श किया है, इसलिये अब नदी, पर्वत, नगर, जङ्गल, श्रीमान तीर्थ और सुन्दर जलोंको देख सकोगे, अब यह मार्ग दिव्य गन्धमादन पर्वतको जाता है, इस लिये तुम लोग साधधान और उद्वेग रहित होजाओ, क्योंकि अब पुण्य कर्म वाले दिव्य ऋषि और देवतोंके स्थानमें चलना होगा। हे राजन् ! पवित्रजलवाली, पुण्यकारक यह महानदी बह रही है, हे सौम्य ! यह बदरिकाश्रमसे उत्पन्न हुई है, तथा इसमें सदाही देवता और ऋषिलोग स्नान करते हैं। यह सदाही आकाशगामी महात्मा बालखिल्य और महात्मा गन्धर्वोंसे पूजित और सेवित है। (१—५)

इसी स्थान पर उत्तम स्वरवाले मरीचि और साम गाने वाले पुलह, भृगु और अङ्गिरा साम गान करते हैं, इस स्थान पर देवतोंमें श्रेष्ठ इन्द्र, मरुत ये अपना आह्निक करते हैं तथा साध्य देव अश्विनीकुमारोंके सहित उनकी सेवा करते हैं, इस नदी पर दिन रातमें अपने समय

एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषांकः पर्यधारयत ।
गंगाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत् ॥ ९ ॥
एतां भगवतीं देवीं भवंतः सर्व एव हि ।
प्रयतेनाऽऽत्मना तात प्रतिगम्याऽभिवादत ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः ।
आकाशगंगां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन् ॥ ११ ॥
अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
पुनः प्रयाताः संहृष्टाः सर्वैर्ऋषिगणैः सह ॥ १२ ॥
ततो दूरात्प्रकाशन्तं पांडुरं मेरुसंनिभम् ।
ददृशुस्ते नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतोदिशम् ॥ १३ ॥
तान्प्रष्टुकामान्विज्ञाय पांडवान्स तु लोमशः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः ॥ १४ ॥
एतद्विकीर्णं सुश्रीमत्कैलासशिखरोपमम् ।
यत्पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमां स्थिरम् ॥ १५ ॥
एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः ।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ॥ १६ ॥
पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना ।

पर सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और ग्रह सब आते हैं, हे महाभाग ! इसहीके जलको शिवने सिर पर धारण किया है। यही नदी गङ्गाद्वारमें गई है, इसहीसे लोग स्थिर हैं, हे तात! आप सब लोग मनको वशमें करके इस भगवती गङ्गाके तट पर जाकर प्रणाम कीजिये। (९—१०)

महात्मा लोमशके वचन सुनकर सब पाण्डवोंने नियम पूर्वक आकाशगङ्गाको प्रणाम किया। धर्म करनेवाले पाण्डव-लोग गङ्गाको प्रणाम करके प्रसन्नचित्तसे सब ऋषियोंके सहित अगाडी चले, आगे उन सब लोगोंने दूसरे मेरु पर्वतके समान सफेद और सब ओरको फैला हुआ एक ढेर देखा, पाण्डवोंने उसको देखनेकी इच्छा करी। (११—१४)

तब वचनके जानने वाले महात्मा लोमश कहने लगे, कि हे पाण्डवो ! तुम लोग हमारी बातको सुनो, यह जो श्रीमान् कैलासके शिखरके समान ढेर देखते हो, सो महात्मा नरक दैत्यकी हड्डी हैं, यह पर्वतके पत्थरके ऊपर पडी है, इस लिये पहाडके समान दीखती हैं, यहां पुरातन देव परमात्मा विष्णु

दैत्यो विनिहतस्तेन सुरराजहितैषिणा ॥ १७ ॥
दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्यन्महामनाः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःस्वाध्यायविक्रमात् ॥ १८ ॥
तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च ।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन्स दितेः सुतः ॥ १९ ॥
स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मे च चरितव्रतम् ।
भयाभिभूतः संविग्नः शक्र आसीत्तदाऽनघ ॥ २० ॥
तेन संचिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः ।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ॥ २१ ॥
ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान्हव्यवाहनः ॥ २२ ॥
नष्टतेजाः समभवत्तस्य तेजोभिभर्त्सितः ।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ॥ २३ ॥
प्रांजलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत् ।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ॥ २४ ॥
विष्णुरुवाच — जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात्ततः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ॥ २५ ॥

ने इन्द्रके हितकी इच्छासे नरकासुरको मारा था। (१४—१७)

उस महामनस्वीने दश हजार वर्षतक घोर तपस्या करके अपने बल और विद्यासे इन्द्रके पदको चाहा था, वह दैत्य तपोबल और महाबाहुबलसे दिनदिन बलवान् होता जाता था, और सबको दुःख देता था, हे पापरहित! जब इन्द्रने उसके धर्माचरण और पराक्रमको देखा तो भयसे व्याकुल होकर घबडा गये उन्होंने सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीमान् अविनाशी विष्णुका ध्यान किया, उसी समय विष्णु वहां प्रगट होकर प्रकाशमान होने लगे, तब सब देवता और ऋषियोंने उनकी स्तुति करी, जलते हुए भगवान् अग्नि उनको देखकर तेजसे रहित होगये, वे उनके तेजसे डर गये। (१८—२२)

वर देनेवाले सब देवतोंके स्वामी विष्णुको देखकर वज्रधारी इन्द्रने हाथ जोडकर प्रणाम किया और अपने भयका प्रयोजन कह सुनाया, विष्णु बोले, हे इन्द्र! तुमको जो नरक नामक दैत्य राजसे भय हुआ है, सो हम जानते हैं, वह अपने तपके कर्मसे इन्द्रके स्थानको

सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपःसिद्धमपि ध्रुवम् ।
वियुनज्मि देहाद्देवेंद्र मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २६ ॥
तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत् ।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाऽऽहतः ॥ २७ ॥
तस्यैतदस्थिसंघातं मायाविनिहतस्य वै ।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ॥ २८ ॥
नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता ।
पुनरुद्धरिता तेन वाराहेणैकशृंगिणा ॥ २९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भगवन्विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः ।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ॥ ३० ॥
योजनानां शतं ब्रह्मन्पुनरुद्धरिता तदा ।
केन चैव प्रकारेण जगतो धरणी ध्रुवा ॥ ३१ ॥
शिवा देवी महाभागा सर्वसस्यप्ररोहिणी ।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ॥ ३२ ॥
केन तद्वीर्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः ।
एतत्सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम ।

चाहता है, सो हे देवेन्द्र ! आप थोडी देर शान्त हूजिये, मैं उसको अत्यन्त तपसे सिद्ध होने परभी मार डालूंगा। (२३—२६)

अनन्तर महातेजस्वी विष्णुने उस राक्षसको हाथसे एक तमाचा मारकर उसके सब तेजको नाश कर दिया, वह मर कर पर्वतके समान पृथ्वीपर गिर पडा, यह हड्डियोंका ढेर उसी मरे हुए मायावी का है, अब हम विष्णुका दूसरा चरित्र तुमसे कहते हैं, जिस प्रकार समस्त पृथ्वी नष्ट होकर पातालमें डूब गई थी, और विष्णुने एक दांतवाले शूकर का रूप धारण करके उसका उद्धार किया था। (२७—२९)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे भगवन् ! आप इस कथाको हमसे विस्तारपूर्वक कहिये। किस प्रकार चार सौ कोस तक पृथ्वी समुद्रमें डूब गई थी, और किस प्रकारसे भगवान् विष्णुने उसका उद्धार किया था ? समस्त अन्नोंके उत्पन्न करने वाली, महाभागिनी, स्थिरा, जगतको धारण करनेवाली भगवती पृथ्वी किस-प्रकार सौ योजन नीचे चली गई थीं, और हे द्विजसत्तम ! भगवान् विष्णु का अपार पराक्रम किसने प्रकाश किया

श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ॥ ३३ ॥

लोमश उवाच — यत्तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर ।
तत्सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ॥ ३४ ॥
पुरा कृतयुगे तात वर्त्तमाने भयंकरे ।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ॥ ३५ ॥
यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः ।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाऽच्युत ॥ ३६ ॥
वर्धन्ते पक्षिसंघाश्च तथा पशुगवेडकम् ।
गवाश्वं च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ॥ ३७ ॥
तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परंतप ।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्धन्ते सलिलं यथा ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्संकुले तात वर्त्तमाने भयंकरे ।
अतिभाराद्वसुमती योजनानां शतं गता ॥ ३९ ॥
सा वै व्यथितसर्वांगी भारेणाऽऽक्रांतचेतना ।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ॥ ४० ॥

पृथिव्युवाच — भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तिष्ठेयं सुचिरं त्विह ।
भारेणाऽस्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम् ॥ ४१ ॥

था ? हम इस सब कथाको विस्तार सहित सुनना चाहते हैं । (३०-३३)

श्रीलोमश मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! तुमने जो कथा हमसे पूछी, सो सब हम कहते हैं, तुम सुनो, हे तात ! पहले समयमें जब भयङ्कर सतयुग वर्त्तमान था, तब भगवान आदिदेव विष्णुने स्वतः यमका अधिकार किया था, उस समय न कोई मरता और न कोई उत्पन्न होता था, परन्तु बुद्धिमान विष्णुके उस यमत्वके समयमें पक्षी, पशु, गाय और बकरी बहुत बढ गये । (३४-३७)

हे पुरुषशार्दूल ! इसी प्रकारसे हजारों, लक्षों, करोडों पुरुषभी जगत्में बढ गये । जैसे वर्षामें पानी बढता है, तैसेही प्रजाभी बढने लगी । हे तात ! जब ऐसा भयङ्कर समय आया, तब अत्यन्त बोझसे पीडित पृथ्वी चार कोस नीचेको चली गई । पृथ्वी अत्यन्त भारसे दुःखित होकर दुःखित चित्तसे वरदान देनेवाले भगवान विष्णुके शरणमें गई । (३८—४०)

पृथ्वी बोली, हे भगवन् ! मैं आपकी कृपासे बहुत दिनतक यहीं रहनेकी

समेमं भगवन्भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि ।
शरणागताऽस्मि ते देव प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ४२ ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः।
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ॥ ४३ ॥

विष्णुरुवाच— न ते भीहि भयं कार्यं भारार्ते वसुधारिणि।
अयमेव तथा कुर्मि तथा लघ्वी भविष्यसि ॥ ४४ ॥

लोमश उवाच— स तां विसर्जयित्वा तु वसुधां शैलकुण्डलाम् ।
ततो वराहः संवृत्त एकशृंगो महाद्युतिः ॥ ४५ ॥
रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव ।
धूमं च ज्वलयँल्लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत ॥ ४६ ॥
स गृहीत्वा वसुमतीं शृङ्गेणैकेन भास्वता ।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति सोऽक्षरः ॥ ४७ ॥
तस्यां चोद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
देवाः संक्षुभिताः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ४८ ॥
हाहाभूतमभूत्सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा।

इच्छा करती हूं, क्योंकि बोझसे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण, अब उस कामको नहीं कर सकती हू। हे भगवन्! आप हमारे इस भारको उतारनेमें समर्थ हैं। हे नाथ! मैं तुम्हारी शरण हूं, तुम मेरी रक्षा करो। भगवान् अविनाशी विष्णुने पृथ्वीके वचन सुनकर प्रसन्न हो इन श्रवण योग्य अक्षरोंको कहा। (४१-४३)

श्रीविष्णु भगवान् बोले, हे पृथ्वी! हे रत्नोंको धारण करनेवाली! तुम जो भारसे पीडित हुई हो, इसलिये कुछ शोच मत करो, हम तुम्हारे भारको अभी उतारते हैं, तब तुम हलकी होजाओगी। (४४)

श्रीलोमश मुनि बोले, पर्वतकुण्डल धारिणी पृथ्वीको विदा करके महा तेजस्वी भगवान् विष्णुने एक दांतवाले शूकरका रूप धारण किया; उनके नेत्र जलती हुई आगके समान भयङ्कर होगये। और उनके मुखसे धुआं निकलने लगा, उन्होंने अपने प्रकाशमान एक दांत पर पृथ्वीको रख लिया, अनन्तर अविनाशी विष्णुने चार सौ कोस पृथ्वीका उद्धार किया। जब भगवान् विष्णुने पृथ्वीका उद्धार किया तब सब देवता और तपोधन ऋषिलोग घबराने लगे, उस समय आकाश, पाताल और मर्त्य लोकमें हाहाकार

न पर्यवस्थितः कश्चिद्देवो वा मानुषोऽपि वा ॥ ४९ ॥
ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया ।
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ॥ ५० ॥
उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम् ।
भूत्वा प्राञ्जलयः सर्वे वाक्यमुच्चारयंस्तदा ॥ ५१ ॥
लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलं च चराचरम् ।
समुद्राणां च संक्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ॥ ५२ ॥
सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
किमेतत्किंप्रभावेण येनेदं व्याकुलं जगत् ।
आख्यातु नो भवाञ्शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच—
असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित्कचित् ।
श्रूयतां यत्कृते त्वेष संक्षोभो जायतेऽमराः ॥ ५४ ॥
योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः ।
तस्य प्रभावात्संक्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ॥ ५५ ॥
यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ॥ ५६ ॥
तस्यामुद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ॥ ५७ ॥

होने लगा, उस समय देवता और मनुष्य कोई भी नहीं बैठा था। (४५—४९)

तब अनेक देवता और ऋषि लोग सुख से बैठे हुए, तेजसे भरे ब्रह्माके पास गये, उन देवराज सर्व लोकसाक्षी ब्रह्माके पास जाकर सब देवता हाथ जोडकर बोले, कि समस्त लोक और चराचर भयसे व्याकुल हुए हैं, हे देवनाथ ! सब समुद्र उथल पुथल हो रहे हैं, यह पृथ्वी चारसौ कोस चली गई है, यह क्या कारण है? और किसके प्रभावसे समस्त जगत् व्याकुल हो रहा है ? आप इन सबका कारण हमसे कहिये । इससे हम भीत हैं। (५०—५३)

ब्रह्मा बोले, हे देवतो ! तुम लोगों-को राक्षसोंसे कभी और कहीं भी भय नहीं है, जगत्के भयका कारण हमसे सुनो। जो श्रीमान् सर्वव्यापी अविनाशी विष्णु हैं, उनके प्रभावसे यह समस्त जगत् इस अवस्थाको प्राप्त हुआ है। परमात्मा विष्णुने समस्त पृथ्वी का सौ योजनसे उद्धार किया है, तुम लोग सब

देवा ऊचुः— क्व तद्भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत् ।
तं देशं भगवन्ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ५८ ॥
ब्रह्मोवाच— हन्त गच्छत भद्रं वो नंदने पश्यत स्थितम् ।
एषोऽत्र भगवाञ्श्रीमान्सुपर्णः संप्रकाशते ॥ ५९ ॥
वाराहेणैव रूपेण भगवाँल्लोकभावनः ।
कालानल इवाऽऽभाति पृथिवीतलमुद्धरन् ॥ ६० ॥
एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते ।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम् ॥ ६१ ॥
लोमश उवाच— ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चाऽऽमन्त्र्य चाऽमराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम् ॥ ६२ ॥
वैशम्पायन उवाच–श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय।
लोमशादेशितेनाऽऽशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत् ॥६३॥ [५४६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गंधमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

वैशम्पायन उवाच–ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः ।

संशयोंको छोड कर यह जानलो, कि इसी कारण इस जगत्में संक्षोभ हुआ है। (५४—५७)

देवता बोले, हे भगवन्! विष्णु कौनसे स्थानमें प्रसन्न होकर पृथ्वीका उद्धार कर रहे हैं। आप उस स्थानको हमसे कहिये हम लोग वहां जायंगे। ब्रह्मा बोले, तुम लोग जाओ, वे नन्दन वनमें खडे हैं, वह देखो यहींसे भगवान श्रीमान गरुडध्वज विष्णुका तेज दीखता है, यह लोकपूजित भगवान् विष्णु वराह-रूप धारण करके पृथ्वीका उद्धार कर रहे हैं, इनका रूप इस समय प्रलयकालकी अग्निके समान दीखता है। हे देवता! इनके हृदयमें श्रीवत्सचिन्ह शोभित है, हे देवो! इस अविनाशी भूत को देखो। (५८—६१)

श्रीलोमश मुनि बोले, तब सब देवता ब्रह्माके वचन सुन और उनको प्रणामकर उनके सहित विष्णुके पास जाकर वहां वराहमूर्त्तिका दर्शन करके ब्रह्माको आगे कर सम्भाषण करते हुए यथायोग्य स्थानमें गये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय! लोमश मुनिके वचनको सुनकर पाण्डव लोग प्रसन्न होकर उनकी आज्ञानुसार आगेको चले। (६२–६३) [५४६८]

वनपर्वमें एकसौ बियालिस अध्याय समाप्त।

बद्धगोधांगुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ॥ १ ॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाज्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम् ।
पांचालीसहिता राजन्प्रययुर्गन्धमादनम् ॥ २ ॥
सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च ।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान्ददृशुर्गिरिमूर्धनि ॥ ३ ॥
नित्यपुष्पफलान्देशान्देवर्षिगणसेवितान् ।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः ॥ ४ ॥
चेरुरुच्चावचाकारान्देशान्विषमसंकटान् ।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ॥ ५ ॥
ऋषिसिद्धामरयुतं गंधर्वाप्सरसां प्रियम् ।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ॥ ६ ॥
प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गंधमादनम् ।
चंडवातं महद्वर्षं प्रादुरासीद्विशांपते ॥ ७ ॥
ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीं चाऽन्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत् ॥ ८ ॥
न स्म प्रज्ञायते किंचिदावृते व्योम्नि रेणुना ।

वनपर्वमें एकसौ तैतालिस अध्याय।

श्रीलोमश मुनि बोले, शूरवीर पाण्डव लोग धनुष, तूणीर, बाण, और खड्गको धारण करके तथा अंगुलियोंमें पञ्जा पहनके चले, वे सब धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी पाण्डव लोग सब ब्राह्मणोंको प्रणाम करके द्रौपदीके सहित गन्धमादनको चले, उन्होंने पर्वत पर तालाब, नदी, शिखर, झरने और बहुत छायावाले वृक्षोंको देखा, उन सब देशोंमें अनेक देव ऋषि निवास करते थे, वहां सदा फलनेवाले वृक्ष शोभित थे, वीर पाण्डवोंने आत्मसंयम करके केवल मूल और फलहीका आहार करना आरम्भ किया। (१—४)

अनन्तर अनेक जातिके पक्षी और हरिणोंको देखते हुए नीचे और उंचे देशमें घूमते हुए पर्वत पर पहुंचे, उस पर्वतमें ऋषि, सिद्ध, देवता और किन्नर वास करते थे, तथा वह देश अप्सरोंको अत्यन्त प्रिय था। हे प्रजानाथ! जिस समय महात्मा वीर पाण्डव लोग गन्धमादन पर्वत पर पहुंचे, उस समय महावर्षा और भारी आंधी आई। उस आंधीसे पत्तोंके सहित ऐसी धूल उडी, कि जिससे पृथ्वी आकाश और द्युलोक

न चापि शेकुस्तत्कर्तुमन्योन्यस्याऽभिभाषणम्॥ ९ ॥
न चाऽपश्यंस्ततोऽन्योन्यं तमसाऽऽवृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥ १० ॥
द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥११ ॥
द्यौः स्वित्पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥ १२ ॥
ते यथाऽनंतरान्वृक्षान्वल्मीकान्विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ १३॥
ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय संगम्य तस्थावाश्रित्य पादपम्॥ १४ ॥
धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ॥ १५ ॥
नकुलो ब्राह्मणाश्चाऽन्ये लोमशश्च महातपाः ।
वृक्षानासाद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिलियिरे ॥ १६ ॥
मन्दीभूते तु पवने तस्मिन्रजसि शाम्यति ।

भर गया । (५-८)

उस समय धूल उडनेसे न कोई किसीको देख सकता था और न एक दूसरेसे बात कर सका । हे जनमेजय ! उस समय आंखोंके ! आगे केवल अन्धेरा दीखता था, उस वायुके संग पत्थरके किनके उडके आंखोंमें भरे जाते थे, वायुके वेगसे अनेक वृक्ष टूट टूटकर पृथ्वीमें गिरते थे, तथा औरभी पत्थर आदि का घोर शब्द होने लगा। उस समय वायुसे मोहित पाण्डवोंको ऐसी शङ्का उत्पन्न हुई कि, क्या स्वर्ग पृथ्वीमें गिरेगा ? क्या पृथ्वी फट जायगी ? क्या इस पर्वतके दो टुकडे हो जायंगे ? (९-१२)

पाण्डव लोग भयसे व्याकुल होकर वृक्ष, बिल और नीची पृथ्वीको हाथोंसे टटोलने लगे । अनन्तर महाबल भीमसेन द्रौपदीके सहित अपनी धनुषको धारण करके एक वृक्षके नीचे खडे हुए, महाराज और धौम्य मुनि उस महावन में छिप कर बैठ गये. सहदेव अग्निहोत्र लेकर पर्वतमें छिप गये, नकुल, महा तपस्वी लोमश तथा और ब्राह्मण लोग भयसे व्याकुल होकर इधर उधर वृक्षोंको आश्रयकर छिप रहे।(१३-१६)

महद्भिर्जलधारौघैर्वर्षमभ्याजगाम ह ॥ १७ ॥
भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चचलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥ १८ ॥
ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः ।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥ १९ ॥
तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः ।
प्रादुरासन्सकलुषा फेनवत्यो विशांपते ॥ २० ॥
वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ २१ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ २२ ॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गंधमादनम् ॥ २३ ॥ [५४९१]

इति श्रीमहाभारते० शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां समारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

वैशम्पायन उवाच– क्रोशमात्रं प्रयातेषु पांडवेषु महात्मसु ।

जिस समय वह घोर वायु कुछ मन्द हुआ और वह अन्धकार शान्त हुआ, तब बडी बडी धाराओंमें घोर वर्षा आई। उस वर्षामें मेघोंका चटचट शब्द ऐसे वेगसे हुआ, जैसे वज्र गिरता है। अनन्तर महा प्रकाशवाली बिजली मेघोंमें घूमने लगी, उसके पश्चात् शीघ्र वायुसे प्रेरित होकर चारों ओर पत्थरोंकी धारा बरसने लगी। उन पत्थरोंसे सब पर्वत पूर्ण हो गया। (७–१९)

हे प्रजानाथ! उसके थोडी देर पश्चात् समुद्रतक जाने वाली अनेक नदी फेन और तरङ्गोंके सहित चारों ओरसे बहने लगीं। उन नदियोंमें भारी भारी तरङ्ग और फेन बहने लगे। उस समय नदियोंके तेज प्रवाहमें वृक्षोंके बहनेका महा शब्द हुआ। थोडीही देरमें वायु वर्षा नदी और शब्द सब समाप्त हो गये और सूर्य उदय होगया। हे जनमेजय! तब वे सब लोग इकट्ठे हुए और वायु धीरे चलने लगा। वीर पाण्डव लोग धीरे धीरे गन्धमादनकी ओर फिर चले। (२०–२३) [५४९१]

वनपर्वमें एकसौ ततालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चवालिस अध्याय

श्रीवैशम्पायनमुनि बोले, हे महाराज!

पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥ १ ॥
श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्याच्च पांचाली संमुमोह तपस्विनी ॥ २ ॥
सा कंपमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलंबत ॥ ३ ॥
आलंबमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपंती कदली यथा ॥ ४ ॥
तां पतंतीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥ ५ ॥
नकुल उवाच— राजन्पंचालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रांता निपातिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ॥ ६ ॥
अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम् ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—राजा तु वचनात्तस्य भृशं दुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन् ॥ ८ ॥
तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।

जब महात्मा पाण्डव लोग एक कोस चले तो पैरों चलनेमें अयोग्य पाञ्चाल राजपुत्री तपस्विनी द्रौपदी अत्यन्त कोमला होनेके कारण तथा उस वायु और वर्षाके दुःखसे अत्यन्त थक गई। उस समय वह कमलनैनी दुःखसे कांपने लगी और अपने सुन्दर हाथोंसे अपने जांघोंको दबाने लगी! द्रौपदीने गजके सुण्डके समान दोनों जांघोंको मिला दिया, अनन्तर केलेके समान कांपती हुई वहां गिर पडी। उस सुन्दर मुखारविन्दवाली द्रौपदीको टूटी हुई लताके समान गिरते हुए देख बलवान नकुलने दौडकर संभाला। (१ – ५)

नकुल बोले, हे राजन्! हे भारत! यह कमलनैनी पाञ्चालराजपुत्री द्रौपदी अत्यन्त थककर पृथ्वीमें गिरना चाहती है, आप इसको देखिये, हे महाराज! यह कोमल चालवाली द्रौपदी इस दुःखके योग्य नहीं थी, अब अत्यन्त थक गई है, आप इसको धैर्य दीजिये। ६–७

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले नकुलके वचन सुन महाराज, भीमसेन और सहदेव वेगसे दौडे। महाराजने द्रौपदीके मुखका रङ्ग बदला हुआ और उसको अत्यन्त दुःखिनी देख बहुत दुःख किया

अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी ॥ १० ॥
सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ॥ ११॥
किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ॥ १२ ॥
सुखं प्राप्स्यसि कल्याणि पाण्डवान्प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्ताऽऽयतेक्षणा ॥ १३ ॥
तत्सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्शिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच – तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राऽऽजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥
ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाऽप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ॥ १६ ॥
पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमार्चिभिः ।

और उसको अपनी गोदमें बैठाकर रोने लगे । (८—९)

राजा युधिष्ठिर बोले, हाय यह सुरक्षित स्थानोंमें उत्तम पलङ्ग पर सोनेके और सुख करनेके योग्य सुन्दर वर्णवाली द्रौपदी किस प्रकार पृथ्वीमें गिर गई ? इस सुख भोगने योग्य द्रौपदीके सुकुमार चरण और कमलके समान मुख मेरे दोषसे काला होगया है, मुझ निर्बुद्धिने जुएमें मत्त होकर यह क्या काम किया, जो द्रौपदीको सङ्ग ले इस मृगसे भरे हुए जङ्गलको चला आया। महाराज द्रुपदने यह समझा था, कि यह कमलनैनी, कल्याणी पाण्डवोंकी स्त्री होकर सुख पावेगी, परन्तु मुझ पापीके कुकर्मोंसे आज वही द्रौपदी उन सब बातोंको लजाकर और अत्यन्त थककर पृथ्वीमें पडी सो रही है। १०-१४

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जहां धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार रो रहे थे, तहां धौम्य आदि सब ब्राह्मण लोग आये, वे सब लोग महाराजको आशीर्वाद देकर और प्रशंसा करके उनको समुझाने लगे और विघ्नके नाश करनेवाले, अनेक मन्त्रोंको पढकर उत्तम क्रिया करने लगे। जब महा ऋषियोंने

स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥
सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ १८ ॥
परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामाजिनसंस्तरे ।
पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥ १९ ॥
तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥ २० ॥
पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥ २१ ॥
बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ २२ ॥
भीमसेन उवाच— त्वां राजन्राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात्ते घटोत्कचः ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।

शान्तिके अर्थ वेदके मन्त्र पढ, पाण्डवों ने बार बार शीतल ठण्डे हाथोंसे छाया और ठण्डे पानीके सहित बहुत हवा करी, तब द्रौपदीको कुछ सुख प्राप्त हुआ और धीरे धीरे चैतन्य होगई। (१५—१८)

अनन्तर पाण्डवोंने दीन तपस्विनी को उठाकर मृगछाला पर लिटा दिया, और सब लोग चारों ओर बैठ गये ! नकुल और सहदेव द्रौपदीके उत्तम लक्षणयुक्त लाल कमलवाले चरणोंको धनुषकी ठेठवाले हाथोंसे धीरे धीरे मलने लगे, और महाराज युधिष्ठिर उसको समझाने लगे और भीमसेनसे ऐसा बोले, हे भीम ! हे महाबाहो ! अगाडीके बहुत पर्वत दुःखसे जाने योग्य और हिमसे भरे हुए हैं, उनमें द्रौपदी कैसे चल सकेगी। (१९-२२)

भीमसेन बोले, हे राजेन्द्र ! आप कुछ शोच न कीजिये, मैं आपको, द्रौपदीको, नकुल और सहदेवको अपनी पीठपर चढाकर ले चलूंगा। हे परहित ! मेरा पुत्र घटोत्कच जो हिडम्बाके गर्भसे उत्पन्न हुआ है, वह आकाश गामी मेरे समान बलवान महावीर्यवान् है, सो आपकी आज्ञासे हम सबको ले चल सकता है। (२३—२४)

घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ॥ २५ ॥
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याऽथ पाण्डवान् ।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनंदितः ॥ २६ ॥
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम् ।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ॥ २७ ॥
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्ताऽस्म्यसंशयम् ।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ॥ २८ ॥ [५५१९]

इति श्रीमहा०तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गंधमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४४॥

युधिष्ठिर उवाच—धर्मज्ञो बलवाञ्छूरः सत्यो राक्षसपुंगवः ।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु मा चिरम् ॥ १ ॥
तव बाहुबलेनाऽहमतिभीमपराक्रम ।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम् ।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम् ॥ ३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज धर्मराज भीमसेनका वचन सुनकर उनका समादर करके बोले, कि "ऐसाही होवे" तब धर्मराजकी आज्ञा मान भीमने अपने राक्षसपुत्र घटोत्कचका स्मरण किया, महात्मा घटोत्कच पिताके स्मरण करतेही आ पहुंचा और हाथ जोडकर सब पाण्डवोंको प्रणाम किया। महाबाहु घटोत्कचने ब्राह्मणोंको प्रणाम करके आशीर्वाद पाया। अनन्तर महापराक्रमी अपने पिता भीमसेनसे बोला, मैं आपकी आज्ञानुसार सेवा करनेको आया हूं। हे महाबाहो! आप हमको शीघ्र आज्ञा दीजिये, हम निःसन्देह सब कामोंको करेंगे, भीमसेनने अपने राक्षस पुत्रके वचन सुन उसको अपने शरीरमें लपटा लिया। (२५–२८) [५५१९]

वनपर्वमें एकसौ चौवालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ पैंतालिस अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भीम! यह राक्षसोंमें श्रेष्ठ बलवान, सत्यवादी, हमारा भक्त घटोत्कच हमारा औरस पुत्र (अपने वीर्यसे उत्पन्न) है। अब यह हम लोगोंको शीघ्र ले चले, हे भीम! हे महापराक्रमी! हम तुम्हारे बाहुबलसे रक्षित होकर सुखसे गन्धमादनको चलेंगे। (१—२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पुरुषसिंह भीमने अपने भाईकी आज्ञा सुनकर शत्रुनाशन घटोत्कचको आज्ञा दी।

भीमसेन उवाच—हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव माताऽपराजिता ।
त्वं च कामगमस्तात बलवान्वह तां खग ॥ ४ ॥
स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा ।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः ॥ ५ ॥
घटोत्कच उवाच—धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा ।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताऽद्य सहायवान् ॥ ६ ॥
अन्ये च शतशः शूरा विहङ्गाः कामरूपिणः ।
सर्वान्वै ब्राह्मणैः सार्धं वक्ष्यन्ति सहिताऽनघ ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः ।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ॥ ८ ॥
लोमशः सिद्धमार्गेण जगामाऽनुपमद्युतिः ।
स्वेनैव स प्रभावेण द्वितीय इव भास्करः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणांश्चापि तान्सर्वान्समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद्राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥ १० ॥

भीमसेन बोले. हे हिडम्बानन्दन ! हे तात ! हे आकाशमें चलनेवाले ! देखो यह अपराजिता तुम्हारी माता अत्यन्त थक गई है, और तुम सुखसे इच्छानुसार चल सकते हो, इस लिये तुम इसको कन्धेपर बिठाकर हम सब लोगोंके मध्यभागसे आकाश मार्गसे चलो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम धीरे धीरे चलना, जिसमें द्रौपदीको दुःख न हो। (४—५)

घटोत्कच बोला हम अकेलेही महाराज, धौम्य, द्रौपदी, नकुल और सहदेव को ले जा सकते हैं और जिस परभी आप हमारे सहायक हैं, तब क्या सोच है ? हे पापरहित ! हमारे संगके सैकडों शूरवीर लोग आकाशमें चलने और इच्छानुसार रूप बनानेमें समर्थ हैं, वे हमारे संग सब ब्राह्मणोंको ले चलेंगे। (६—७)

अनन्तर पांडवोंके बीचमें स्थित महावीर घटोत्कचने द्रौपदीको, और अन्य राक्षसोंने पाण्डवोंको अपने कन्धेपर बिठाया और महात्मा महातेजस्वी लोमश योगमार्गसे दूसरे सूर्यके समान प्रकाशित होते हुए आपही आकाशमें चलने लगे। राक्षसराज घटोत्कचकी आज्ञासे भयंकर पराक्रमी राक्षसोंने सब ब्राह्मणोंको अपने कन्धेपर चढा लिया, और सब लोग चल दिये। (८—१०)

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥ ११ ॥
ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं महदध्वानमल्पवत् ॥ १२ ॥
देशान्म्लेच्छजनाकीर्णान्नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥ १३ ॥
विद्याधरसमाकीर्णान्युतान्वानरकिन्नरैः ।
तथा किंपुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समंततः ॥ १४ ॥
मयूरैश्चमरैश्चैव वानरै रुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैश्चैव महिषैश्च समावृतान् ॥ १५ ॥
नदीजालसमाकीर्णान्नानापक्षियुतान्बहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान्वानरैश्चोपशोभितान् ॥ १६ ॥
समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितांस्तथा ।
तेऽवतीर्य बहून्देशानुत्तरांश्च कुरूनपि ॥ १७ ॥
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
तस्याऽभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥ १८ ॥
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदा पुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ॥ १९ ॥

अनेक रमणीय वन और बागोंको देखते हुए ये सब लोग बदरीनारायणकी ओर चले। वे लोग अत्यन्त वेगसे चलने लगे। इस लिये पाण्डवोंको दूर मार्गभी थोडा जान पडा। उन्होंने मार्गमें अनेक रत्नोंकी खान, म्लेच्छोंसे भरे हुए देश, धातुओंसे रङ्गे हुए पर्वत, किन्नर, बन्दर, विद्याधर, किंपुरुष और गन्धर्वोंसे भरे हुए देशोंको देखा, उन्होंने वीर, चमरी, बन्दर, हरिन, सूअर, नीलगाय और भैंसोंसे भरे हुए जङ्गलोंको देखा, अनेक नदी, जाल, अनेक प्रकारसे हरिण, बंदरोंसे शोभित वनको देख, मतवारे पक्षियोंके सहित अनेक वृक्षोंको देखते हुए अनेक देशोंको तथा उत्तर कुरुको भी नांघते हुए बहुत आश्चर्यवाले कैलास पर्वतको देखा। (११—१८)

उसी पर्वतके नीचे नर और नारायणके आश्रमको देखा। उस स्थानमें अनेक सदा फूले फले वृक्ष लगे थे, पाण्डवोंने उस स्थानमें बदरीका विशाल वृक्ष देखा, वह चिकने, कोमल, सुन्दर सुन्दर

स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।
पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ॥ २० ॥
विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ॥ २१ ॥
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥ २२ ॥
अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंछन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥ २३ ॥
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकंटके ॥ २४ ॥
तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ २५ ॥
ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्सहिता द्विजपुंगवैः ॥ २६ ॥
तमसा रहितं पुण्यमनास्पृष्टं रवेः करैः ।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥ २७ ॥
महर्षिगणसंबाधं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समन्वितम् ।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः । ॥ २८ ॥

बडी बडी और ऊंची शाखाओंसे शोभित घन छाया वाला, मीठे और दिव्य मधुस्रावी फलोंसे भरे हुए, दिव्य वृक्षोंसे शोभित महर्षिझुण्डसे सेवित, मदमत्तवारे पक्षियोंके समूहसे पूजित था। (१८-२२)

उस देशमें कोई मच्छर किसीको नहीं काटता था, और अनेक फल मूल तथा जुतरही घाससे पूर्ण था, जहां नित्यही गन्धर्व लोग निवास करते थे, जहां स्वभावसे समानभूमि सुन्दर स्थान और हिमसे मृदुस्पर्श कण्टकरहित पृथ्वी थी, वहां वे सब पाण्डव लोग ब्राह्मणोंके सहित राक्षसोंके कन्धोंसे धीरे धीरे उतरे। हे राजन्! अनन्तर पाण्डवोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके सहित नर नारायणके रमणीय आश्रमको देखा। (२३-२६)

वह स्थान अन्धकार, भूख, शीत, गर्मी, दोष और शोकसे रहित था, वह स्थान परम पवित्र और जहां सूर्यकी किरणोंका प्रवेश नहीं होता ऐसा था। हे महाराज! ब्राह्मणोंकी लक्ष्मीसे युक्त और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित था, उस स्थानमें

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसंमृष्टानुलेपनम् ।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ २९ ॥
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः ।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ॥ ३० ॥
शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३१ ॥
श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम् ।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ॥ ३२ ॥
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन्प्रयतः शुचिः ॥ ३४ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः ।
आशीर्वादान्प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ॥ ३६ ॥
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः ।

धर्मबहिष्कृत कोईभी पापी नहीं जा सकता। जहां अनेक बलि होम हो रहे थे और दिव्य संमार्जन जहां हुआ था, जहां दिव्य फूल शोभायमान थे, जहां अनेक बडी बडी अग्निशाला स्रुवा और शुभ पदार्थ विराजमान थे, जहां बडे बडे जलके कलश और अनेक यज्ञकी सामग्री रखी थीं, जो स्थान सब पुरुषोंको शरण देनेवाला, वेद शब्दसे पूरित, परम रमणीय थकाईका नाश करनेवाला, शोभासे भरा, वर्णन करनेके अयोग्य, देव समान फल मूल खानेवाले हरिणचर्मधारी महात्मा, सूर्य और अग्निके समान, तपसे आत्मदर्शी, मोक्षके जाननेवाले, महर्षि तथा इन्द्रियसंयमवाले यति, महाभागी, वेदवादी, ब्रह्मऋषियों से शोभित था। (२९-३४)

बुद्धिमान महाराज महा तेजस्वी पवित्र राजा युधिष्ठिर सब ब्राह्मणोंके पास पंहुचा। वहांके वासी दिव्य ज्ञानवाले ब्राह्मणोंने जब जाना, कि महाराज युधिष्ठिर आये हैं, तब बहुत प्रेमके सहित सब लोग उनके पास आये, अग्निके समान तेजस्वी महात्मा वेदपाठी ब्राह्मण लोग

उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३७ ॥
स तैः प्रीत्याऽथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः ।
प्रयतः प्रतिगृह्याऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ॥ ३९ ॥
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहाऽनघ ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ॥ ४० ॥
तत्राऽपश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितः ।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥ ४१ ॥
पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ४२ ॥
तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन्ब्राह्मणैः सह ।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ॥ ४३ ॥
आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च बिन्दुसरः शिवम् ॥ ४४ ॥
तस्मिन्विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया ।

महाराजको प्रीतिके सहित आशीर्वाद देने लगे, और पवित्र फल मूल और जलसे उनका सत्कार करने लगे, धर्मराज युधिष्ठिरने उनकी दी हुई पूजाको आनन्दके सहित ग्रहण किया। (३४–३८)

हे पापरहित! अनन्तर वेद-वेदाङ्गके जाननेवाले सहस्रों ब्राह्मण द्रौपदी और अपने भाइयोंके सहित महाराजने उस इन्द्र सदनके समान दिव्य गन्धोंसे भरे हुए मनोहर स्वर्गतुल्य, पवित्र नारायण के आश्रममें प्रवेश किया ! वहां धर्मात्मा युधिष्ठिरने देव ऋषियोंसे पूजित, गङ्गाके तटपर विराजमान नर और नारायण मुनिके आश्रमको देखा। पुरुषसिंह पाण्डव लोग उस आश्रमको देखकर बहुत प्रसन्न हुए, वहां मीठे दिव्य फल और ब्रह्मर्षियोंको देखा, महात्मा पाण्डव लोग उस स्थानको देखकर ब्राह्मणोंके सहित उसी स्थानमें रहने और आनन्दसे क्रीडा करने लगे। (३९–४३)

वहांसे वे लोग अनेक पक्षियोंसे युक्त सोनेके शिखरवाले मैनाक पर्वत और सुखदायक बिन्दुसरको देखने लगे, उस मनोहर, सब समय फूलनेवाले पुष्पोंसे शोभित, फल और फूलोंसे नीचे हुए

मनोज्ञे काननवरे सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वले ॥ ४५ ॥
पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥ ४६ ॥
स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ॥ ४७ ॥
कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४८ ॥
पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः।
ह्लादयन्पाण्डवान्सर्वान्द्रौपद्या सहितान्प्रभो ॥ ४९ ॥
भागीरथीं सुतीर्थां च सीतां विमलपङ्कजाम्।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥ ५० ॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनःप्रीतिविवर्धनीम्।
वीक्षमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ॥ ५१ ॥
तस्मिन्देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयाञ्चक्रिरे तदा ॥ ५२ ॥
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः।
तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ॥ ५३ ॥

वृक्षोंसे विराजमान सहस्रों कोकिलोंके शब्दसे शोभित, चीकने पत्तोंवाले तथा शीतल छायावाले, मनोहर वृक्षोंसे विराजमान वनमें द्रौपदीके सहित विहार करने लगे, पाण्डव लोग विचित्र सुन्दर जलसे भरे हुए, उत्तम कमलोंसे सब ओर शोभित सुन्दर तलावोंको देखते हुए विहार करने लगे। ४४-४८

हे राजन् ! द्रौपदीके सहित पाण्डवोंको प्रसन्न करनेके निमित्त सुगन्धवाला शीतल वायु चलने लगा। महातमा पाण्डव लोग सबको पवित्र करनेवाली, शीतल, निर्मल कमलोंसे युक्त, मणि-रचित घाटवाली दोनों ओर वृक्षोंसे शोभित, दिव्य फूलोंसे भरी हुई, मनकी प्रीतिको बढानेवाली गङ्गाको बदरिकाश्रमके नीचे देखने लगे। (४९-५१)

उस अत्यन्त दुःखसे जाने योग्य, देवऋषियोंसे शोभित देशमें भागीरथीके पवित्र जलसे पाण्डव लोग पितरोंका तर्पण करने लगे। कुरुकुलोत्पन्न कुन्ती-नन्दन पाण्डव लोगोंने अत्यन्त पवित्र होकर उस स्थानमें देवता और ऋषियोंका तर्पण किया और वेदमन्त्रोंको

ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन्पुरुषर्षभाः ।
कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥५४॥ [१५७३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे पंचचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

वैशंपायन उवाच—तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन्वीरा धनञ्जयदिदृक्षवः ॥ १ ॥
ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया ।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत ॥ २ ॥
तदपश्यत पांचाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाऽऽहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥ ३ ॥
तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन्भीमसेनमथाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥ ५ ॥
इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परन्तप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥ ६ ॥

जपा । पुरुषसिंह वीर महा तेजस्वी पाण्डवलोग द्रौपदी और ब्राह्मणोंके सहित उस स्थानमें विहार करने लगे। (५१—५४) [१५७३]

वनपर्वमें एकसौ पैंतालीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ छियालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पुरुषसिंह वीर पाण्डव लोग, उस स्थानमें अत्यन्त पवित्र होकर अर्जुनके देखनेकी इच्छासे छःदिन रहे। एक दिन ईशान्यादिशासे वायु बहने लगा। तब इच्छानुसार एक सहस्र दलका कमल वायुमें उडता हुआ वहां पहुंचा। उस सुन्दर और दिव्य गन्धयुक्त पवित्र कमलको वायुसे उडा हुआ और पृथ्वीमें पडा हुआ द्रौपदीने देखा, सुन्दर सुगन्धयुक्त सुन्दर कमलको सुन्दरी द्रौपदीने देखकर बहुत प्रसन्नतासे भीमसेनसे कहा। (१-४)

हे भीम! इस उत्तम हमारे प्यारे दिव्य गन्धयुक्त कमलको तुम देखो। हे शत्रु नाशन! मैं यह कमल धर्मराजको देना चाहती हूं। तुम हमारी प्रसन्नताके निमित्त इसको काम्यकवनके आश्रममें ले आओ। हे कुन्तीनन्दन!

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत्तदा ॥ ८ ॥
अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद्भीमो महाबलः ॥ ९ ॥
वातं तमेवाऽभिमुखो यतस्तत्पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाऽऽशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥ १० ॥
रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाऽऽशीविषोपमान् ।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ११ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम् ।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः ॥ १२ ॥
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।
द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन्स बाहुबलमाश्रितः ॥ १३ ॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद्बली ।
स तं द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम् ॥ १४ ॥

यदि मैं तुम्हारी प्यारी हूं, तो तुम ऐसे बहुतसे कमल मुझको ला दो, मैं इन सबको अपने आश्रम काम्यक वनको ले जाऊंगी। (५—७)

सुन्दर कटाक्षवाली अनिन्दिता द्रौपदी ऐसे कह उस कमलको लेकर महाराजके पास चली गई, पुरुष सिंह भीमसेन अपनी प्यारी रानीका अभिप्राय जान जिधरसे वायु आता था, उधरहीको चले, उन्होंने यह विचारा, कि जिधरसे वायु आता है, उधरही यह कमल होगा। भीमसेन फूल लेनेकी इच्छासे शीघ्रता सहित चलने लगे, उन्होंने सोनेकी पीठवाली धनुष और सर्पके समान विषभरे बाण लिये, सिंहके समान क्रोधमें भरकर वहांसे मतवाले हाथीके समान चले। (८—११)

उस महा धनुषधारी और महाबाण वाले भीमको सब प्राणी देखने लगे। वायुपुत्र भीमको न थकाई, न ग्लानि, न भय और न कुछ सन्देह होता था। बाहुबलसे भरे हुए, द्रौपदीका प्रिय चाहनेवाले, शोक और भयसे रहित बलवान भीम चलते चलते एक पर्वतके ऊपर पहुंचे। वहां शत्रुनाशी भीमसेनने नीली शिलावाले अनेक वृक्ष लता और

गिरिं चचाराऽरिहरः किन्नराचरितं शुभम् ।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः ॥ १५ ॥
सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ।
सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥ १६ ॥
सक्तचक्षुरभिप्रायान्हृदयेनाऽनुचिन्तयन् ।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च ॥ १७ ॥
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामाऽमितविक्रमः ।
आजिघ्रन्स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम् ॥ १८ ॥
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना ॥ १९ ॥
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २० ॥
स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिन्दमः ॥ २१ ॥
विषमच्छदै रचितैरनुलिप्त इवाऽङ्गुलैः ।

गुच्छोंसे शोभित पर्वतको देखा, वहां अनेक किन्नर लोग निवास करते थे। जहां अनेक धातुओंसे रङ्गे हुए उत्तम उत्तम वृक्ष लगे थे, उस पर्वतका नाम गन्धमादन था, वह सर्वत्र रमणीय होनेसे ऐसा सुन्दर जान पडता था, मानो सब भूषणोंके सहित यह पृथ्वीका हाथ ऊपरको जाता है। (१२–१६)

अनन्तपराक्रमी भीम उन सब चीजोंको देखते और अभिप्रायोंको हृदयमें विचारते कोयल और भौरोंके शब्द-को सुनते सब ऋतुमें फूलनेवाले फूलोंकी सुगन्धिको सूंघते उसकी शोभामें आंख, कान और मनको लगाये मतवारे हाथीके समान झूमते हुए चलने लगे। तब अनेक पवित्र फूलोंकी गन्धोंको लेकर गन्धमादनकी शीतल वायु उनकी सेवा करने लगी, उससे उनका सब परिश्रम दूर हुआ और सब रोवें खडे होगये। (१६–२०)

महा पराक्रमी भीमने पुष्पके लिये गन्धर्व, यक्ष, देवता और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित गन्धमादन पर्वतको देखा, वहांसे भी शत्रुनाशन भीम फूल लेनेको आगे चले। वहांसे आगे चलकर भीमने अनेक धातुओंकी रेखाओंसे शोभित सोने और चांदियोंके रङ्गवाले शिखरोंको ऐसा देखा, कि जैसा अंगुलियोंसे रंग लगाया

चलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ॥ २२ ॥
मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ।
अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम् ॥ २३ ॥
अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ॥ २४ ॥
स्रस्तांशुकमिवाऽक्षोभ्यैर्निम्नगानिःसृतैर्जलैः ।
सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः ॥ २५ ॥
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ।
चालयानः स्ववेगेन लताजालान्यनेकशः ॥ २६ ॥
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान्वायुसुतो ययौ ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ॥ २७ ॥
प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा ।
मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान् ॥ २८ ॥
मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः ।

जाता है । उस पर्वत पर अनेक वृक्ष शोभित थे, नीचे भागमें जो बादल आते जाते थे, उससे ऐसा जान पडता था, मानो यह पर्वत पंख लगाए नाच रहा है । उसमें जो झरनोंके कणका लग गये थे, उससे उनकी शोभा ऐसी जान पडती थी, मानो अनेक मोतियों-के हार लटक रहे हैं, उसमें अनेक गुहा और सुन्दर झरने शोभायमान थे, अनेक नाचती हुई अप्सराओंके पायजेबका शब्द और नाचते हुए मोरोंकी ध्वनि आनन्द बढा रही थी, जिसकी शिला दिग्गजोंके दांत घिसनेसे फट गई थीं, वहां जो नदियोंके जल बह रहेथे, उससे ऐसा जान पडता था, मानो यह इस पहाडका दुपट्टा नीचे गिर गया है, चारों ओर से पास आनेवाले और मुख में घांसका कवल लेके खडे उस पहाडके हरिन निर्भय होकर भीमसेनका तमाशा देखने लगे। उस पहाडके अनेक कुञ्ज भी-मके वेगसे चलायमान होगये।(२१-२६)

श्रीमान् भीमसेन भी प्रसन्न होकर वहां आनन्द करते करते अपनी पत्नीका इष्ट करनेके लिये पर्वत पर चलने लगे। युवा सिंहके समान समर्थ सुन्दरनेत्रवाले सोनेके समान रङ्गवाले विशाल देह मतवारे हाथीके समान बलवान, मतवारे हाथीके समान वेगवान, मतवाले हथी

प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः ॥ २९ ॥
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः ।
नवावतारं रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः ॥ ३० ॥
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ।
संस्मरन्विविधान्क्लेशान्दुर्योधनकृतान्बहून् ॥ ३१ ॥
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः ।
सोऽचिन्तयद्गते स्वर्गमर्जुने मयि चाऽऽगते ॥ ३२ ॥
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः ।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद्बलस्य च ॥ ३३ ॥
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः ।
कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन् ॥३४ ॥
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः ।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ॥ ३५ ॥
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ।
कम्पयन्मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु ॥ ३६ ॥
त्रासयन्गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः ।

के समान लाल नेत्रवाले और अपने बलसे मतवारे हाथीको रोकनेवाले भीमसेन उस पहाड पर वेगसे चलने लगे । उस स्थानमें भीमसेनको पतिके सहित एकाग्र बैठी हुई अदृश्य यक्ष और गन्धर्वोंकी स्त्री देखने लगीं । (२७--३०)

पाण्डुनन्दनको देख वह लोग कहने लगीं, क्या यह साक्षात् रूपका अवतार है ? इस प्रकार दुर्योधनके दिये हुए अनेक दुःखोंको स्मरण करते हुए, और वनवासमें द्रौपदीके प्रियकार्यका निश्चय करते हुए, रमणीय गन्धमादन पर्वतपर भीमसेन विहार करने लगे, उस समय उन्होंने विचारा कि अर्जुन स्वर्गको गये हैं, और मैं फूल लेनेको इधर आया हूं, इस समय महाराज युधिष्ठिर क्या करेंगे, निश्चय पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज प्रेम और थोडा बल होनेके कारण नकुल और सहदेवको न छोडेंगे । हमको किस प्रकार यह फूल शीघ्र मिलेगा ? पुरुष-सिंह भीमसेन ऐसा विचारकर गरुडके समान वेगसे चलने लगे । (३०-३५)

उनकी दृष्टि और मन पर्वतके फूलोंमें लगे रहे, द्रौपदीके वचन का बल ग्रहण करके अपने चरणोंसे पृथ्वीको कंपाते

सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः ॥ ३७ ॥
उन्मूलयन्महावृक्षान्पोथयंस्तरसा बली ।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन्पाण्डुनन्दनः ॥ ३८ ॥
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः ।
विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः ॥
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिना ॥ ३९ ॥
गुहां सन्त्यज्य व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः ।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः ॥ ४० ॥
ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम् ।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चाऽवलोकयन् ॥ ४१ ॥
तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः
तद्वनं सम्परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम् ॥ ४२ ॥
वराहमृगसंघाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ॥ ४३ ॥
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः॥४४॥
तथाऽन्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः ।

हुए अनेक हाथियोंके झुण्डोंको वायुके समान वेगसे डराते हुए महाबलसे सिंह व्याघ्र और हरिणोंको मारते हुए, अनेक वृक्षोंको तोडते और चीरते हुए वेगसे लता और वल्लरियोंको खींचते हुए मतवारे हाथीके समान एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे पर्वतों पर जाने लगे। (३६—३९)

जैसे बिजलीके सहित मेघ गरजता हो, वैसेही भीम भी बहुत गर्जते हुए चलने लगे। उस शब्दसे जाग करके बडे बडे सिंह और भैंसे जमुहाते हुए गुहाओं को छोड भागने लगे। उस शब्दसे डरकर अनेक पक्षी उडने लगे और हरिन दौडने लगे। मतवाले हाथी हाथिनियोंसे परिवेष्टित उस वनको त्याग कर दूसरे वनको भागने लगे। उस शब्दको सुनकर सुअर, हरिण, भैंसे, व्याघ्र, सियार, नीलगाय तथा और भी वनमें रहने वाले जन्तुओंके झुण्ड घोर शब्द करने लगे। (३९—४३)

चकवा चकवी, मोर, चकोर, हंस, जलमुरग, तोते, कोकिल और सारस चेतनरहित होकर इधर उधरको भागने

सिंहव्याघ्राश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाऽद्रवन् ॥ ४५ ॥
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन्भीषणास्वनान् ॥ ४६ ॥
ततो वायुसुतः क्रोधात्स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनाऽन्यान्गजाञ्श्रीमान्सिंहं सिंहेन वा विभुः ॥ ४७ ॥
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत्पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ॥ ४८ ॥
भयाद्विसस्रुजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः ।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ॥ ४९ ॥
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्शब्देनाऽऽपूरयन्दिशः ।
अथाऽपश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ॥ ५० ॥
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।
तमभ्यगच्छद्वेगेन क्षोभयिष्यन्महाबलः ॥ ५१ ॥
महागज इवाऽऽस्रावी प्रभञ्जन्विविधान्द्रुमान् ।
उत्पाट्य कदलीस्तम्भान्बहुतालसमुच्छ्रयान् ॥ ५२ ॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद्बलिनां वरः ।

लगे। बहुतेरे सिंह व्याघ्र हाथी और हथिनी मदसे भरकर भीमकी ओर दौडे, वे सब पशु भयसे व्याकुल होकर विष्ठा और मूत्र परित्याग करने लगे, और मुंह फैलाकर घोर शब्द करने लगे। तब श्रीमान भीमसेनने क्रोध और बलसे भरकर हाथीसे हाथी और सिंहसे सिंहको लडाना आरम्भ किया। बलवान पाण्डुनन्दनने अनेक जन्तुओंको तमाचोंसे मार डाला। सिंह, व्याघ्र और रीछ भीमसेनसे पीडित और भयमे व्याकुल होकर उनको छोडकर भागने लगे और विष्ठा मूत्र परित्याग करने लगे। ४४-४९

उन सबको छोड कर श्रीमान् महाबली पाण्डुनन्दन अपने शब्दसे दिशाओंको पूर्ण करते हुए एक वनमें पहुंचे। महाबाहु भीमसेनने उस गन्धमादनके वनमें एक रमणीय बहुत योजन तक विस्तृत केलेके वनको देखा। महाबलवान भीमसेन उस वनके जन्तुओंको घबराते हुए उस वनमें घुस गये। महाबलवान भीमसेन वृक्षोंको तोडते हुए इस प्रकार चले, जैसे मतवाला हाथी चलता है। उनके चलनेसे ताडके समान बडे अनेक केलेके वृक्ष टूट टूट कर गिरने लगे। नृसिंहके समान अभिमानी महातेजस्वी बली

विनदन्सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ॥ ५३ ॥
ततः सत्वान्युपाक्रामन्बहूनि सुमहान्ति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ॥ ५४ ॥
तेन शब्देन चैवाऽथ भीमसेनरवेण च ।
वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ५५ ॥
तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम्
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ५६ ॥
तानौदकान्पक्षिगणान्निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवाऽनुसरन्रम्यं ददर्श सुमहत्सरः ॥ ५७ ॥
काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाऽक्षोभ्यं तीरात्तीरविसर्पिभिः ॥ ५८ ॥
तत्सरोऽथाऽवतीर्याऽऽशु प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दाममश्चिक्रीड बलवद्बली ॥ ५९ ॥
विक्रीड्य तस्मिन्सुचिरमुत्ततारा‍ऽमितद्युतिः
ततोऽध्यगं तु वेगेन तद्वनं बहुपादपम् ॥ ६० ॥
दध्मौ च शंखं स्वनवत्सर्वप्राणेन पाण्डवः ।

भीमसेन वेगसे उन सब वृक्षोंको इधर उधर फेंकने और घोर शब्द करने लगे। (४९—५३)

अनन्तर बडे बडे जङ्गली जन्तु उस वनसे निकल कर भागने लगे। भैंसे, हरिन, बन्दर और सिंह आदि प्राणियों तथा तालावोंका उल्लङ्घन करके भीमसेन आगे चलने लगे। उन सबके और भीमसेनके घोर शब्दसे वनके रहनेवाले हरिन और पक्षी व्याकुल हो गये। उस हरिन और पक्षियोंके शब्दको सुनकर जलमें डूबनेवाले अनेक पक्षी भींगे पंजोंसे उडने लगे। भरतकुलसिंह भीम उन जलके पक्षियोंको देख उनहीके पीछे चले, और थोडी दूर जाकर एक सुन्दर और बहुत बडे तालाव पर पहुंचे। ५४-५७

उस तालावके चारों ओर सोनेके रङ्ग वाले केलेके वृक्ष लगे थे; वे जब वायुसे हिलते थे तब ऐसा जान पडता था, मानो ये सब इस तालावके पंखे हैं, और इसकी सेवा करते हैं। महाबलवान भीमसेन इस अनेक कमलभरे तडागको शीघ्रही पार होकर जंजीररहित मतवाले हाथीके समान क्रीडा करने लगे। महा तेजस्वी भीम कुछ देर उस तालावमें क्रीडा करके फिर वेगसे अनेक वृक्षोंसे

आस्फोटयच्च बलवान्भीमः सन्नादयन्दिशः ॥ ६१ ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च ।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः ॥ ६२ ॥
तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम् ।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः ॥ ६३ ॥
सिंहनादभयत्रस्तैः कुंजरैरपि भारत ।
मुक्तो विरावः सुमहान्पर्वतो येन पूरितः ॥ ६४ ॥
तं तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः ।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान्कपिः ॥ ६५ ॥
दिवङ्गमं रुरोधाऽथ मार्गं भीमस्य कारणात् ।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः ॥ ६६ ॥
आस्त एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते ।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै ॥ ६७ ॥
माऽत्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं संश्रित्य वानरः ॥ ६८ ॥
प्राजृम्भत महाकायो हनूमान्नाम वानरः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा ॥ ६९ ॥

भरे हुए वनकी ओर चले। आगाडी जाकर बहुत बलसे शंखको बजाया और उस शङ्ख और भीमसेनके घोर शब्द तथा तालकी ध्वनिसे पर्वतकी गुफा गुञ्जार हो उठी। (५८—६२)

उस वज्रके समान घोर शब्द सुनकर पर्वतकी गुफाओंमें सोये हुए सिंह उठे और घोर शब्द करने लगे। हे जनमेजय! सिंहोंके शब्दको सुनकर हाथी डरसे व्याकुल होगये और शब्द करने लगे। इन शब्दोंसे पर्वत पूरित होगया। उस हाथियोंके शब्दको सुनकर और अपने भाई भीमसेनको आता जान, महाकपीश्वर हनुमानने विचारा, कि भीम स्वर्गको न चले जायं, इसलिये स्वर्गके मार्गको अपनी पूंछसे रोककर बैठ रहे। (६३—६६)

केलेके वृक्षोंसे पूरित मार्गको अपने भाईकी रक्षाके निमित्त रोका और आपभी वहीं बैठ कर विचार करने लगे, कि भीम इस ओर न आवें और यदि आवें भी तो शाप अथवा धर्षणा प्राप्त हो। ऐसा विचारकर महाबाहु हनुमानने जमुहाई ली, और उसी केलेके

जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
आस्फोटयच्च लांगूलमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ७० ॥
तस्य लांगूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः ।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः ॥ ७१ ॥
लांगूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः ।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात्पर्यशीर्यत ॥ ७२ ॥
स लांगूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम् ।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु ॥ ७३ ॥
स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम् ॥ ७४ ॥
कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा ॥ ७५ ॥
विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्ष्यं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम् ।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ॥ ७६ ॥
बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात्तनुमध्यकटीतटम् ॥ ७७ ॥
किञ्चिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।

वनमें सो रहे । (६७—६९)

हनुमानकी जमुहाईका ऐसा शब्द हुआ, जैसे कहीं बिजुली गिरती है । पश्चात् उन्होंने वज्रके समान अपनी पूंछको फटकार उस पूंछके शब्दसे पर्वतकी गुफाओंके वज्रके समान घोर शब्दसे पर्वत हिलने लगा, और अनेक शिखर टूटटूट कर पृथ्वी पर गिरने लगे । उस पूंछके शब्दसे मतवाले हाथियोंका शब्द मन्द होगया । यह घोर शब्द समस्त वन और पर्वतोंमें फैल गया । (७०—७३)

उसको सुनतेही भीमसेन के सब रोवें खडे होगये और उसको ढूंढनेको प्रसन्न चित्त भीमसेन उस केलेके वनमें घूमने लगे । अनन्तर महाबाहु भीमसेनने उस वनके बीचमें एक भारी शिलापर सोते हुए वानरराज हनुमानको देखा । उनका तेज, रङ्ग, शब्द और चञ्चलता बिजलीके समान थी, वे कन्धेके ऊपर सिरधरे सोते थे; उनके सिरके बाल बहुत छोटे छोटे थे; कन्धा और शरीर अत्यन्त मोटा होनेके कारण कमर बहुत पतली थी, बडे बडे रोवोंसे भरी हुई पूंछ जो उनके सिर से उंची खडी थी,

लांगूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ॥ ७८ ॥
ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तवर्णं चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ॥ ७९ ॥
अपश्यद्वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् । ॥ ८० ॥
केसरोत्करसंमिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ॥ ८१ ॥
दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवाऽनलम् ।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥ ८२ ॥
तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ ८३ ॥
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन्महावने ।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततो बली ॥ ८४ ॥
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ८५ ॥
हनूमांश्च महासत्व ईषदुन्मील्य लोचने ।

वह ध्वजाके समान जान पडती थी उनके ओंठ बहुत पतले तथा जिह्वा और मुखका रङ्ग लाल था, भौंह चलायमान दांत और दाढ निकले हुए और अगाडीसे तेज तथा मुखके भीतरके सफेद दांतोंसे उनका मुख किरण सहित चन्द्रमाके समान विराजमान था; वालों सहित गला ऐसा दिखाई देता था, मानो फूला हुआ अशोक वृक्ष है। (७४–८१)

उस सोनेके कदली वनमें महातेजस्वी हनुमान अपने तेजसे प्रकाशमान होते हुए, ज्वालाके सहित अग्निके समान विराजमान थे। वह पिङ्गल वर्णवाले नेत्रोंसे शत्रुनाशन भीमकी ओर देख रहे थे। उस महाघोर वनमें बुद्धिमान महाबाहु भीमसेनने भारी शरीरवाले वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमानको स्वर्गका मार्ग रोके हुए हिमाचलके समान देखा। उनको देख महाबलवान भीमसेन भयरहित होकर उनके समीप पहुंचे और वज्रके समान घोर शब्दसे गर्जे। उस शब्दको सुन कर हरिन और पक्षी भयसे व्याकुल हो गये। (८२—८५)

महासाहसी हनुमानने भी अपने पिङ्गल वर्णके नेत्रोंको कुछ खोलकर भीमकी

दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

हनूमानुवाच— किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।
ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता ॥ ८७ ॥
वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः ।
नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ॥ ८८ ॥
क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु ।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ८९ ॥
न त्वं धर्मं विजानासि वृद्धा नोपासितास्त्वया ।
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयासि यन्मृगान् ॥ ९० ॥
ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः ।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ॥ ९१ ॥
क्व च त्वयाऽद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ ।
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ॥ ९२ ॥
विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते ।
देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा ॥ ९३ ॥
कारुण्यात्त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे ।

ओर देखा और निरादरके सहित कहने लगे। हनुमान बोले, मैं रोगसे पीडित होकर सुखसे सोरहा था, तुमने मुझे क्यों जगा दिया ? तुम जाननेवाले हो; इसलिये तुम्हें जन्तुओं पर दया करना उचित है, तिर्थकयोनिमें उत्पन्न हुए प्राणी धर्मको नहीं जानते, परन्तु मनुष्य लोग बुद्धिमान होते हैं, इसी लिये वे लोग जन्तुओं पर दया करते हैं; तुम्हारे समान बुद्धिमान लोग मन वचन और कर्मसे निन्दित तथा धर्मनाशक कार्योंमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? जान पडता है, कि तुम धर्मको नहीं जानते हो, तुमने पण्डितों की सेवा नहीं की, तुम मूर्ख और मन्दबुद्धि हो, इसीसे वनके जन्तुओंको दुःख देते फिरते हो, कहो तुम कौन और किस लिये इस मनुष्य रहित घोर वनमें आये हो?(८६–९१)

हे पुरुषसिंह ! कहो अब कहां जाना चाहते हो ? यह पर्वत जानेके योग्य नहीं है, यह स्वर्गका मार्ग है; इसमें कोई पुरुष विना सिद्धगतिके नहीं जा सकता है. हे समर्थवीर ! हम कृपा कर के तुमको आगे जानेसे रोकते हैं, तुम

नाऽतः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ॥ ९४॥
स्वागतं सर्वथैवेह तवाऽद्य मनुजर्षभ ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ॥ ९५॥
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम् ।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव ॥ ९६ ॥ [७६६९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीखंडप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचाऽमित्रकर्षणः ॥ १ ॥
भीम उवाच— को भवान् किंनिमित्तं वा वानरं वपुराश्रितः ।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ॥ २ ॥
कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥ ३ ॥
स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान्वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥ ४ ॥
हनूमानुवाच— वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम् ।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ॥ ५॥

हमारे वचनको सुनो और धैर्य धरो, तुम यहांसे आगे किसी प्रकार नहीं जा सकते हो । हे पुरुषसिंह ! हम तुमको स्वागत करते हैं, यह अमृतके समान फल और मूल खाओ, अब अगाडीको मत जाओ, नहीं तो वृथा ही प्राण नाश होजायंगे। हे नरश्रेष्ठ ! हमारे इस हितकर वचनको तुम ग्रहण करो। (९२-९६) [७६६९]

वनपर्वमें एकसौ छियालिस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ सेतालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बुद्धिमान वानरराज हनुमानके वचन सुनकर, शत्रुनाशन महावीर भीमसेन कहने लगे । भीम बोले, तुम कौन और किस लिये बन्दरका वेष बनाये यहां बैठे हो ? हम ब्राह्मणोंसे नीचे क्षत्रिय हैं, हम चन्द्रवंशी कौरवकुलमें कुन्तीके गर्भसे वायुके वीर्यसे उत्पन्न और राजा पाण्डुके पुत्र हैं, तथा भीमसेन नामसे प्रसिद्ध हैं, कुरुकुलवीर भीमके वचन सुन हसकर हनुमान कहने लगे । हनुमान बोले, हम बन्दर हैं, तुमको इच्छानुसार मार्ग नहीं देंगे, तुम यहींसे लौट जाओ नहीं तो हमारा तुम्हारा विरोध हो जायगा । १-५

भीमसेन उवाच—वैशसं वाऽस्तु यद्वाऽन्यन्न त्वां पृच्छामि वानर।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम्॥ ६॥
हनूमानुवाच—नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम्।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम्॥ ७॥
भीम उवाच—निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्याऽवतिष्ठते।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नाऽवमन्ये न लङ्घये॥ ८॥
यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम्।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम्॥ ९॥
हनूमानुवाच—क एष हनुमान्नाम सागरो येन लंघितः।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते॥ १०॥
भीम उवाच—भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्वबलान्वितः।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान्वानरपुङ्गवः॥ ११॥
रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः॥ १२॥
स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा।

भीमसेन बोले, हे वानर! चाहे विरोध हो वा मैत्री हो सो हम तुमसे कुछ नहीं पूछते हैं, तुम हमको मार्ग दो और हमसे दुःख न पाओ। (६)

हनुमानजी बोले, हम रोगसे अत्यन्त पीडित हैं, इसलिये नहीं उठ सकते, यदि तुमको अवश्य जाना है, हमको लांघकर चले जाओ। (७)

भीमसेन बोले, निर्गुण परमात्मा सब ज्ञानोंसे जानने योग्य परमेश्वर शरीरमें वास करते हैं, हम उनका निरादर करके तुमको लांघ नहीं सकते, यदि हम प्रमाणोंसे उस भूतभावन परमेश्वरको न जानते होते, तो तुमको और इस पर्वत को ऐसे लांघ जाते जैसे हनुमानने समुद्रको लांघा था। (८—९)

हनुमान बोले, हे नरश्रेष्ठ! हम आप से पूछते हैं कि जिसने समुद्रको लांघा था, वह हनुमान कौन है? यदि आपको समय हो तो कहो। (१०)

भीमसेन बोले, हमारे भाई रामायण में विख्यात श्रीमान् वानरोंके राजा बुद्धि और साहससे भरे हुए प्रशंसनीय गुणोंसे युक्त हनुमान हमारे भाई हैं, उन्हींने रामकी स्त्री सीताके निमित्त चारसौ कोसके चौडे समुद्रको एक छलाङ्गमें लांघा था; वे महातेजस्वी वानरराज हमारे भाई हैं; हम तेज,

बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥ १३ ॥
उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाऽद्य पौरुषम् ।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम् ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच–विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम् ।
हृदयेनाऽवहस्यैनं हनूमान्वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥
हनूमानुवाच–प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयाऽनघ ।
ममाऽनुकम्पया त्वेतत्पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम् ।
मनसाऽचिन्तयद्भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ॥ १७ ॥
पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ॥ १८ ॥
सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाऽशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥ १९ ॥
उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद्भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥ २० ॥
उत्क्षिप्ता भ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।

पराक्रम और बलमें उनहीके समान हैं, इसी लिये तुमको युद्धमें जीत सकते हैं; तुम हमारी आज्ञासे हट जाओ, हमको मार्ग दो या हमारा पराक्रम देखो। यदि तुम हमारी आज्ञाको न मानोगे तो हम तुमको अभी मार डालेंगे। (११–१४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भीमसेनको बल और वीर्यसे अत्यन्त उन्मत्त देख हृदयमें हंसकर हनुमान कहने लगे, हे पापरहित ! आप प्रसन्न हूजिये, हमको पूंछ उठानेकी शक्ति नहीं है, इस लिये मेरे ऊपर कृपा करके पूंछ हटाकर आप चले जाइये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बल अभिमानसे भरे हुए भीमसेनने हनुमानको हीनबल और हीनपराक्रम जाना और अपने मनमें बिचारा, इस क्षुद्रबलवाले बन्दरकी पूंछ पकडकर अभी यमके घरमें पहुंचा दूंगा। महाकपि हनुमानकी पूंछको हंसकर अभिमानके सहित बायें हाथसे उठाने लगे, परन्तु उसे हिला भी न सके। १५-१९

अनन्तर महाबलवान भीमसेनने दोनों हाथोंसे इन्द्रायुधके समान पूंछको उठाना चाहा, परन्तु न उठा सके, बहुत बल करनेसे भीमसेनकी आंखें और मुंह

खिन्नगात्रोऽभवद्भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम् ॥ २१ ॥
यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लांगूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ॥ २२ ॥
प्रणिपत्य च कौंतेयः प्रांजलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥ २३ ॥
सिद्धो वा यदि वा देवो गंधर्वो वाऽथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन्कामया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥ २४ ॥
न चेद्गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद्भवेन्मम ।
शिष्यवत्त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ ॥ २५ ॥
हनूमानुवाच—यत्ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
तत्सर्वमखिलेन त्वं शृणु पांडवनंदन ॥ २६ ॥
अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुना ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान्नाम वानरः ॥ २७ ॥
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ॥ २८ ॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चाऽमित्रकर्षण ।

फैल गये, भौंह फटने लगीं, पसीना आया परन्तु हनुमान की पूंछ न उठी! श्रीमान् भीमसेनने बहुत यत्न किया तौभी न उठा सके। तब लज्जासे मुख नीचे करके हनुमानके पास खडे होगये, और हाथ जोड प्रणाम कर कहने लगे, कि हे कपिशार्दूल ! आप प्रसन्न होइये, हमारी कुवाणियोंको क्षमा कीजिये, यदि हमसे छिपाने योग्य न हो और हम सुनने योग्य हों; तो आप कहिये आप सिद्ध हैं? या देवता हैं? अथवा गन्धर्व्व हैं? यद्वा गुह्यक हैं? आपने यह वानरका रूप क्यों धारण किया है? पापरहित! हम शिष्यके समान आपके शरणागत हैं। (२१—२५)

श्रीहनुमानजी बोले, हे शत्रुनाशन! हमारे जाननेकी जो आप इच्छा करते हैं, सो हम सब कहते हैं, आप सुनिये। हे कमलनयन ! हम केशरीवानरकी स्त्रीके गर्भसे जगत्के आयु वायुके वीर्यसे उत्पन्न हुए हैं, हमारा नाम हनुमान वानर है. सूर्यके पुत्र सुग्रीव और इन्द्रके पुत्र वालि थे, वे दोनों सब वानरोंके राजा थे, वानरोंके यूथपाल इन दोनोंकी सेवा करते थे। हे शत्रुनाशन ये सब महा पराक्रमी थे। (२६–२९)

सुग्रीवेणाऽभवत्प्रीतिरनिलस्याऽग्निना यथा ॥ २९ ॥
निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित्कारणांतरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥ ३० ॥
अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥ ३१ ॥
स पितुः प्रियमन्विच्छन्सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दंडकारण्यमाश्रितः ॥ ३२ ॥
तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनाऽपहृता बलात् ।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना ॥ ३३ ॥
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा ।
वंचयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदाऽनघ ॥ ३४॥ [९७०३]

इति श्रीमहाभारते० लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४७ ॥

हनूमानुवाच— हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन्स राघवः
दृष्टवाञ्शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ १ ॥
तेन तस्याऽभवत्सख्यं राघवस्य महात्मनः ।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान् ॥ २ ॥

हमारा और सुग्रीवका ऐसा प्रेम था जैसा अग्नि और वायुका है; राजा वालि किसी कारणसे सुग्रीवसे अप्रसन्न होगये, तब सुग्रीवने बहुत दिनतक मेरे सहित ऋष्यमूक पर्वत पर निवास किया, उसी समय विष्णुके अवतार दशरथके पुत्र महावीर महापराक्रमी रामचन्द्र पृथ्वीमें घूम रहे थे । धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ राम अपने पिताका प्रिय काम करनेकी इच्छासे स्त्री, भाई और धनुषके सहित दण्डकारण्यमें रहते थे, जनस्थानसे उनकी स्त्रीको छल और बलसे राक्षसराज दुरात्मा बलवान रावण चुरा कर ले गया । हे पापरहित ! उस समय सुवर्ण और रत्नोंके हरिणका रूप बना कर मारीचने पुरुषसिंह रामको छल किया था । (२९—३४) [९७०३]

वनपर्वमें एकसौ सैंतालिस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ अडतालीस अध्याय ।

श्रीहनुमानजी बोले- जब रामकी स्त्री चुराई गई, तब वे उसको ढूंढते हुए ऋष्यमूक पर पहुंचे वहां एक शिखर पर बैठे हुए वानरसिंह सुग्रीवको देखा, अनन्तर महात्मा रघुनाथ राम और सुग्रीवका प्रेम होगया, उन्होंने वालिको मारकर सुग्रीवको राज्य दिया । सुग्रीव

स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे ।
वानरान्प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३ ॥
ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ ।
सीतां मार्गन्महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ ४ ॥
ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना ।
संपातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने ॥ ५ ॥
ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
शतयोजनविस्तारमर्णवं सहसा प्लुतः ॥ ६ ॥
अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम् ।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ ७ ॥
दृष्टवान्भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने ।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम् ॥ ८ ॥
दग्ध्वा लंकामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम् ।
प्रत्यागतश्चाऽहमपि पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै ॥ ९ ॥
मद्वाक्यं चाऽवधार्याऽऽशु रामो राजीवलोचनः ।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बध्वा सेतुं महोदधौ ॥ १० ॥
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम् ।
ततो रामेण वीर्येण हत्वा तान्सर्वराक्षसान् ॥ ११ ॥

ने राजा होकर सैकडों सहस्रों वानर सीताके ढूंढनेको भेजा, हे महाबाहो ! हे पुरुषसिंह ! मैं भी उसी समय करोडों वानरोंके सहित सीताके ढूंढनेको दक्षिणकी ओर गया, तब महात्मा सम्पाति नामक वृद्ध गिद्धने कहा, कि सीता लङ्कामें है, तब मैं उत्तम कार्य करनेवाले रामचन्द्रका कार्य करनेको सौ योजन के चौडे समुद्रको लांघ गया। (१-६)

हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तब मैंने अपने पराक्रमसे मकरोंके स्थान समुद्रको पार होकर देवतोंकी पुत्रीके समान जनकराज पुत्री सीताको लङ्कामें देखा । मैं रामकी प्यारी विदेहराज नन्दिनी दिव्यरूपवाली सीतासे मिल कर अटारी महल और फाटकोंके सहित लङ्काको जलाकर और वहां रामका नाम सुनाकर पुनः लौट आया। कमलनेत्र रामने मेरे वचन पर विश्वास करके अत्यन्त बुद्धिमें समुद्रका पुल बांधा और करोडों वानरोंको संग लेकर समुद्र के पार गये, फिर अपने पराक्रमसे सब राक्षसोंका नाशकर युद्धमें लोकोंके दुःख

रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम् ।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम् ॥ १२ ॥
राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम् ॥ १३ ॥
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः १४॥
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः ।
अध्यावसत्ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः ॥ १५ ॥
ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः ।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ॥ १६ ॥
यावद्राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथाऽस्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिन्दम ।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः१८॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान्रामस्ततः स्वभवनं गतः ॥ १९ ॥
तदिहाऽप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदाऽनघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ २० ॥

देनवाले राक्षसोंके राजा रावणको भाई, पुत्र और बान्धवोंके सहित मार डाला, फिर लङ्कामें राक्षसराज बिभीषणको राजा बनाया, बिभीषण धार्मिक भक्त और अपने दासोंके ऊपर कृपा करनेवाले थे! तब रामने नष्ट वेदकी श्रुतिके समान अपनी स्त्रीको प्राप्त किया। (७-१४)

अनन्तर महायशस्वी राम अपनी पतिव्रता स्त्रीके सहित शीघ्रतासे अयोध्या पुरीमें पहुंचे, शत्रुओंसे जीतनेको अयोग्य अयोध्यामें रघुनन्दनने निवास किया, जिस दिन कमलनेत्र राजोंमें श्रेष्ठ महाराज रामचन्द्र राजगद्दी पर बैठे, उसी दिन मैंने उनसे यह वरदान मांगा था, कि हे शत्रुनाशन राम! जब तक आपकी यह कथा पृथ्वीमें रहे तभी तक मैंभी जीता रहूं, तब उन्होंने कहा, कि ऐसा ही हो। (१४—१७)

हे शत्रुनाशन भीम! तबसे मुझे सीताकी कृपासे सब सुखकी वस्तु यहीं प्राप्त हो जाती हैं। राम ग्यारह सहस्र वर्ष राज्य करके स्वर्गको चले गये। हे

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान्मार्गं तवेमं देवसेवितम् ॥ २१ ॥
धर्षयेद्वा शपेद्वाऽपि मा कश्चिदिति भारत ।
दिव्यो देवपथो ह्येष नाऽत्र गच्छन्ति मानुषाः ॥
यदर्थमागतश्चाऽसि अत एव सरश्च तत्॥ २२ ॥ [५७२५]

इति श्रीमहाभारते० लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४८॥

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ॥ १ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ।
मया धन्यतरो नाऽस्ति यदार्यं दृष्टवानहम् ॥ २ ॥
अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ।
एवं तु कृतमिच्छामि त्वयाऽद्य प्रियमात्मनः ॥ ३ ॥
यत्त्वेतदासीत्प्लवतः सागरं मकरालयम् ।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥ ४ ॥
एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः ।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥ ५ ॥

पापरहित ! तबहीसे अप्सरा और गन्धर्व रामके चरित्रको गाकर मुझे प्रसन्न किया करते हैं, हे कुरुनन्दन ! इस मार्गमें कोई मनुष्य नहीं जा सकता है, इसी लिये तुम्हारे निमित्त मैंने रोका है । हे भारत ! मैंने विचारा कि यह देवतोंका मार्ग है, इसमें कोई मनुष्य नहीं जा सकता है, तुम्हें कोई दुःख न दे, तुम जिस लिये आये हो वह तालाव यही है । (१८–२२) [५७२५]

वनपर्वमें एकसौ अडतालिस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ उनपचास अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, प्रतापवान महाबाहु भीमसेनने हनुमानके वचन सुन कर उनको प्रीतिके सहित प्रणाम किया और प्रसन्न चित्त हो मीठे वचनसे ऐसा कहने लगे, जगतमें हमारे समान धन्य पुरुष कोई नहीं है, क्योंकि हमने आपका दर्शन किया, आपने जो हमको दर्शन दिया, सो बहुत कृपा करी, हे वीर! हम एक इच्छा और रखते हैं, आपने जिस समय जल जन्तुओंके स्थान समुद्रको लांघा था,उस समय जो अनुपम रूप धारण किया था, वही हम देखना चाहते हैं,उसके देखने से हम बहुत प्रसन्न होंगे और आपके वचनका विश्वासभी

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नाऽन्येन केनचित् ।
कालावस्था तदा ह्यन्या न सा वर्त्तते सांप्रतम् ॥ ६ ॥
अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः ।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाऽद्य तद्रूपमस्ति मे ॥ ७ ॥
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्त्तन्ते यथा भावा युगे युगे ॥ ८ ॥
बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयंत्युद्भवंति च ।
तदलं बत तद्रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह ॥
युगं समनुवर्त्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ९ ॥

भीम उवाच— युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे ।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्मवीर्यं भवाभवौ ॥ १० ॥

हनूमानुवाच— कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः ।
कृतमेव न कर्त्तव्यं तस्मिन्काले युगोत्तमे ॥ ११ ॥
न तत्र धर्माः सीदंति क्षीयंते न च वै प्रजाः ।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥ १२ ॥

करेंगे । (१—५)

भीमसेनके वचन सुन तेजस्वी हनुमान हँस कर कहने लगे, उस रूपको देखनेमें तुम अथवा और कोई पुरुष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह समय और वह अवस्था दूसरी थी । वह सब अब नहीं है, सत्ययुगमें त्रेतामें और तथा द्वापरमें औरही हो जाता है । यह समय नाश होनका है, अब हमारा रूप वैसा नहीं है । पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और ऋषि लोग युग युगमें समय के अनुसार वर्त्ताव करते हैं, समयके अनुसारही बल शरीर और प्रभाव न्यून होकर ही उत्पति होती है । हे कुरुनन्दन! उस बल और शरीरको धारण करके अब हम नहीं रहते हैं इस युगके अनुसार वर्त्ताव करते हैं, क्योंकि काल बडा कठिन है, इससे तुम उस रूपके देखने की इच्छा मत करो । (५ – ९)

भीम बोले, हे वीर ! तुम हमसे युगों की संख्या और उनके अलग धर्म, उस समयके पुरुषोंका वीर्य, कार्य उत्पत्ति, विनाश और सुख दुःखोंका वर्णन करो । (१०)

हनुमान बोले, हे तात ! जिस श्रेष्ठ युगमें सब लोग कृतकृत्य और सनातन धर्मानुसार वर्त्ताव करते हैं वह कृतयुग कहलाता है । उस युगमें धार्मिक दुःखी

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
नाऽऽसन्कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ॥ १३ ॥
न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नाऽऽसीच्च मानवी ।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥ १४ ॥
न तस्मिन्युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः ।
नाऽसूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम् ॥ १५ ॥
न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम्।
न भयं नापि सन्तापो न चेर्ष्या न च मत्सरः॥ १६॥
ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ॥ १७ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः।
कृते युगे समभवन्स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १८ ॥
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम् ।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥ १९ ॥

नहीं होता था, और न किसीकी सन्तान मरती थी । इस गुणसेही इसका नाम कृतयुग था । देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस और सर्प इनमें इतर विशेष भाव न था, अर्थात् ये सब ही सब लोगोंके साथ बात चीत करते थे । हे तात! उस सत्ययुगमें बेचना और लेनाभी नहीं था, न ऋक्, यजु और सामवेदोंकी वर्ण क्रिया थी, न पुरुषोंकी कोई क्रिया थी और संकल्प मात्रही से फल प्राप्त होते थे । शस्य फलादिके लिये मनुष्यसाध्य कृषणादि की अपेक्षा नहीं करनी होती थी, संन्यास ही धर्म था । (१३—१४)

उस सतयुगके आदिमें न कहीं रोग न इन्द्रियोंके बलकी हानि थी, न कोई कहीं रोता था, न किसीको अभिमान वा विकार था, न कोई किसीसे लडता था, न किसीसे लडाई झगडा होता था, न कोई किसीसे वैर करता था, न कोई आलसी और न कोई चुगली करनेवाला था, उस समय न भय, न दुःख, न ईर्षा और न डाह था, इसीसे योगीश्वर लोग परम ज्ञानको प्राप्त करके मोक्षको पाते थे । उस समयमें सब जगतकी आत्मा नारायणका सफेद रङ्ग था, उस सतयुगमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र निज वर्णोचित लक्षणसे संयुक्त थे, सब लोग अपना अपना कर्म करते थे। १५-१८

सब लोग समान आश्रय, समान आचार, समान ज्ञान, समान कर्म और

एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः ।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥ २० ॥
चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना ।
अकामफलसंयोगात्प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ २१ ॥
आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः ।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ॥ २२ ॥
एतत्कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम् ।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन्सत्रं प्रवर्तते ॥ २३ ॥
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाऽच्युतः ।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥ २४ ॥
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः ।
त्रेतायां भावसङ्कल्पाः क्रियादानफलोपगाः ॥ २५ ॥
प्रचलन्ति न वै धर्मात्तपोदानपरायणाः ।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन् ॥ २६ ॥
द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते ।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥ २७ ॥

समान समान धर्मवाले थे, सब लोग एकही देवकी उपासना करते थे, अलग अलग धर्म होने परभी सब लोग एकही वेदके आश्रयसे एकही धर्मको करते थे, चारों आश्रमोंके उचित कर्म करके और समय के अनुसार धर्म करके सब लोग मोक्षको प्राप्त करते थे, सतयुगमें चारों वर्णोंका सनातन धर्म चारों चरणसे पृथ्वीमें था। हे तात! यह सतयुग सत्व रज और तमोगुणसे रहित था, हमने सतयुगके धर्म कहे अब त्रेतायुगके सुनो। (१९-२३)

त्रेतायुगका मुख्य धर्म यज्ञ करना था, इसमें एक चरण धर्म कम हो गया था और विष्णुका रङ्ग लाल हो गया था, सब पुरुष क्रिया और धर्म करते थे इसही से सत्य वक्ता होते थे, उस युगमें अनेक प्रकारकी क्रिया, धर्म और यज्ञ होते थे। त्रेता युगमें यज्ञ और विविध धर्म क्रियाओंमें लोग प्रवृत्त हुए इस कारण क्रिया और दानके फलभी ठीक ठीक होते थे, उस त्रेतायुगमें सब लोग अपने धर्मकी क्रियाओंको करते थे, सब तप और दानमें निपुण थे, स्वधर्मसे कभीभी नहीं हटते थे। ऐसे लोग त्रेता युगमें होते थे। (२३—२६)

द्वापर युगमें धर्मके दो चरण रह

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथाऽपरे ।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाऽप्यनृचश्च तथाऽपरे ॥ २८ ॥
एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया ।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ॥ २९ ॥
एकवेदस्य चाऽज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्वस्य चेह विभ्रंशात्सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३० ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन् ।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ॥ ३१ ॥
यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः ।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चाऽपरे ॥ ३२॥
एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः ।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ॥ ३३ ॥
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ॥ ३४ ॥
ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा ।

गये थे, और विष्णुका रङ्ग पीत होगया था। इसी द्वापर युगमें कोई चतुर्वेदी, कोई त्रिवेदी, कोई द्विवेदी, कोई एकवेदी और कोई एक दमसे वेदशून्य हो गया था, इस प्रकार अलग अलग शास्त्र होनेसे सबकी क्रियाभी अलग अलग हो गई थी, सब लोग तप और दानमें प्रवृत्त हो गये थे, उस समय रजोगुण अधिक हो गया था, कोई कोई तो एक वेदको भी नहीं पढ सकता था, इससे वेदोंके अनेक टुकडे हो गये, इस युगमें सत्वगुणका नाश हो गया था, इस से कोई कोई सत्य बोलनेवाला रह गया था, सत्यनाश होनेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो गये, इसी युगमें प्रारब्ध वशसे अनेक काम आदि और दैवी उपद्रव उत्पन्न हो गये, उनसे अत्यन्त पीडित हो कर कोई पुरुष तपस्या, कोई स्वर्ग और काम सिद्ध होनेके लिये अनेक प्रकारके यज्ञोंको करने लगे। हे कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार द्वापर युगमें अधर्म से प्रजा नष्ट हो गयी। (२७-३३)

(अब हम कलियुगके धर्म्म कहते हैं ।)

कलियुगमें धर्मका एकही चरण शेष है, इस युगमें विष्णुका रङ्ग काला हो गया है, आगे वेदकी क्रिया और धर्म सब नष्ट हो जायंगे। छः प्रकारकी इति (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसे, टोडी,

उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा ॥ ३५ ॥
युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः ।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ॥ ३६ ॥
लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः ।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ॥ ३७ ॥
एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते ।
युगानुवर्तनं त्वेतत्कुर्वन्ति चिरजीविनः ॥ ३८ ॥
यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ॥ ३९ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम् ॥४० ॥५७६५

इति श्रीमहा० लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनुमद्भीमसंवादे ऊनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४९॥

भीमसेन उवाच—पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथञ्चन ।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयाऽऽत्मानमात्मना ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच— एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवङ्गमः ।

राजोंकी युद्ध आदि) होंगी । अनेक प्रकारके रोग, आलस्य क्रोधादिक दोष, उपद्रव, मानसिक दुःख और भूख प्यास अधिक हो जायंगे । युग बदलनेसे धर्म बदलता है, धर्म बदलनेसे लोक बदल जाता है, लोकके नाश होनेसे जगत्‌के प्रवर्तक धर्म भावनाओंका नाश होजाता है, यह सब होनेसे प्रार्थना भी निष्फल हो जाती है, यह कलियुग जो थोडे समयसे शुरू होगा, जिसमें चिरजीवी लोग भी युगानुसार ही काम करते हैं । (३४-३८)

हे शत्रुनाशी ! तुम जो हमारे उस रूपको देखनेकी इच्छा करते हो, सो ऐसे निरर्थक कामके करनेकी कौन पुरुष इच्छा करता है ? हे महाबाहो ! तुमने जो हमसे युगोंका नियम पूछा था, सो हमने तुमसे सब कहा, तुम्हारा कल्याण हो, तुम यहांसे चले जाओ । (३९-४०) [५७६२]

वनपर्वमें एकसौ उन पचास अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ पचास अध्याय ।

भीमसेन बोले, हम आपके पहले रूपको विना देखे किसी प्रकारसे नहीं जायंगे. यदि आप हमारे ऊपर कृपा करते हैं, तो उस रूपको हमें दिखलाइये । (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भीमसेने

तद्रूपं दर्शयामास यद्वै सागरलङ्घने ॥ २ ॥
भ्रातुः प्रियमभीप्सन्वै चकार सुमहद्वपुः ।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः ॥ ३ ॥
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः ।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः ॥ ४ ॥
समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः ।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः ॥ ५ ॥
दीर्घलांगूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः ।
तद्रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ॥ ६ ॥
विसिस्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः ।
तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ॥ ७ ॥
प्रदीप्तमिव चाऽऽकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत् ।
आबभाषे च हनुमान्भीमसेनं स्मयन्निव ॥ ८ ॥
एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममाऽनघ ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम् ।
भीम शत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ॥ ९ ॥

के ऐसे वचन सुनकर,वानरराज हनुमान ने हंसकर उनको वह रूप जो उन्होंने समुद्र लांघते समय बनाया था दिखला दिया । अपने भाई भीमसेनकी प्रियकामनासे हनुमानने अपने शरीरका बहुत विस्तार किया, हनुमानका शरीर बहुत बढनेसे उसने वह केलेका वन आच्छादित किया। उस समय अत्यन्त शरीर बढनेसे हनुमान दूसरे पर्वतके समान शोभित होने लगे, उस समय हनुमानके लालनेत्र, तेज दांत, टेडी भौं युक्त मुख,और लम्बी पूंछसे दशो दिशा व्याप्त होगई । (२–६)

कुरुकुलनन्दन भीमसेनने अपने भाई हनुमानका ऐसा रूप देखकर बहुत आश्चर्य किया और बारबार प्रसन्न होने लगे, भीमसेनने सूर्यके समान तेजस्वी सोनाके पहाडके समान शरीरवाले और जलते हुए आकाशके समान हनुमानको देखके अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया । तब भीमसेनका आश्चर्य दिलाते हुए हनुमान कहने लगे,हे पापरहित भीम ! तुम हमारे इतने ही रूपको देख सकते हो, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम और भी अपने शरीरको बढावें ? हे भीम ! शत्रुओंके युद्धमें तेजके सहित शरीर

वैशम्पायन उवाच–तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसन्निभम् ।
दृष्ट्वा हनुमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनुमन्तमवस्थितम् ॥ ११ ॥
दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्याऽस्य ते विभो ।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ॥ १२ ॥
न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १३ ॥
विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान्मनसोऽद्य वै ।
यद्रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥ १४ ॥
त्वमेव शक्तस्तां लंकां सयोधां सहवाहनाम् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥
न हि ते किञ्चिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते ।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् प्लवगोत्तमः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १७ ॥

बढता है । (६—९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे राजन् ! जनमेजय! भीमसेन उस अद्भुत भयानक और विन्ध्याचलके समान हनुमानके रूपको देखकर भ्रान्त होगये और शरीर के सब रोयें खडे होगये तब भीमसेन प्रसन्नचित्तसे हाथ जोडकर हनुमानसे कहने लगे हे महावीर ! हे नाथ ! हमने आपका यह बडा भारी शरीर देखा,अब आप इसे फिर छोटा कर लीजिये,क्योंकि मैं आपके इस प्रमाणरहित शरीरको देखनेमें समर्थ नहीं हूं क्योंकि यह जीतने अयोग्य अतुल उदित हुए सूर्य के समान तेजस्वी और मैनाक पर्वतके समान बडा है। (१०—१३)

हे वीर ! मेरे हृदयमें इस बातका बहुत आश्चर्य होता है, कि आप साथ होते हुए भी रामचंद्रको रावणसे युद्ध करना पडा । क्योंकि आप अकेलेही अपने बाहुबलसे समस्त लंका को वाहन और वीरोंके सहित नाश कर सकते थे । हे वायुपुत्र जगतमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो आपको न मिल सके, अकेले आपहीसे लडनेको स्वजन सहित रावणकी शक्ति नहीं थी। (१४- १६)

श्रीवैशम्पायन मुनिजी बोले.ब दरोंमें

हनुमानुवाच— एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
भीमसेन न पर्याप्तो ममाऽसौ राक्षसाधमः ॥ १८ ॥
मया तु विहते तस्मिन्रावणे लोककण्टके ।
कीर्त्तिर्नश्येद्राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ॥ १९ ॥
तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम् ।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्त्तिश्चाऽऽख्यापिता नृषु ॥ २० ॥
तद्गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ॥ २१ ॥
एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते ।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ॥ २२ ॥
न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम् ।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ॥ २३ ॥
बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ॥ २४ ॥
मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय ।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ हनुमान भीमके ऐसे वचन सुन गम्भीर और मीठी वानीसे बोले, हे महाबाहो ! तुम जो कहते हो सो सब ठीक है, हे भीम ! हे भारत ! वह नीच राक्षस रावण हमारे लडनेमें समर्थ नहीं था; परन्तु यदि मैं ही लोककण्टक रावणको मार डालता तो रघुनन्दनकी कीर्त्तिका नाश हो जाता; इसीसे मैंने उसको छोड दिया था, वीर राम राक्षसोंमें नीच रावणको बान्धवोंके सहित मार कर सीताको अपनी पुरीमें लाये और अपनी कीर्त्तिको स्थापन किया। १७–२०

हे महाबुद्धिमान् ! अब तुम चले जाओ, तुम अपने भाईकी सेवा करना, तुम्हारा मार्गमें कल्याण होगा, वायु तुम्हारी रक्षा करे, हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह सौगन्धिक वनका मार्ग है, आगे जाकर यक्ष और राक्षसोंसे रक्षित कुबेरके बगीचोंको देखोगे । तुम वहां जाकर जल्दी अपने हाथसे फूल मत तोडना, क्योंकि पुरुषोंको उचित है कि देवतोंको विशेष करके माने, हे भरत कुलसिंह ! देवता लोग बलि, होम, नमस्कार, मन्त्र और भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, हे तात! साहस मत करो, अपने धर्मको पालो, अपने धर्ममें स्थित हो कर परम धर्मको जानते

न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ २६ ॥
अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाऽधर्मसंज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः ॥ २७ ॥
आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥
वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः ॥ २९ ॥
पण्याकरवणिज्याभिः कृष्याऽथाऽजाविपोषणैः।
वार्तया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ॥ ३० ॥
त्रयी वार्ता दंडनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम्।
ताभिः सम्यक्प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ॥ ३१ ॥
सा चेद्धर्मकृता न स्यात्त्रयीधर्ममृते भुवि।
दंडनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत् ॥ ३२ ॥
वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयंति वै प्रजाः ॥ ३३ ॥

रहो और उसे प्राप्त करो। (२०—२१)

कोई पुरुष विना धर्मको जाने, और विना बूढोंकी सेवा किये बृहस्पतिके तुल्य होने परभी धर्म और अर्थको नहीं पा सकता। अधर्म जहां धर्मके नामसे प्रसिद्ध होता है और धर्म जहां अधर्मके नामसे पुकारा जाता है उसको अच्छी तरह जान लेना चाहिये, मूर्ख लोग उसमें मोहित हो जाते हैं। आचारसे धर्म उत्पन्न होता है, धर्मसे वेद स्थित है, वेदसे यज्ञ और यज्ञोंसे देवता स्थित हैं, वेदोक्त विधिसे देवता लोग अपना निर्वाह करते हैं और बृहस्पति तथा शुक्रकी कही नीतिसे मनुष्य अपना निर्वाह करता है। (२६—२९)

व्यौपार नौकरी और करग्रहण से आजीविका, तथा कृषि गौ बकरी आदि का पालन करके द्विजाति लोग अपना निर्वाह करते हैं, वेद, दण्डनीति और व्यापार इन तीन विद्याओंके जाननेवाले संसारमें अपनी आजीविका करते हैं, यदि यह व्यवहार वैदिक धर्मको छोडकर हो जांय और जब दण्ड नीति नाश हो जाय तो यह संसार मर्यादारहित हो जाय, वाणिज्य धर्म यदि इस संसारमें न हो तो सब

द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकवर्णिकः ।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥
याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः ।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम् ॥ ३५ ॥
शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते ।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः ॥ ३६ ॥
क्षत्रधर्मोऽत्र कौंतेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम् ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेंद्रियः ॥ ३७ ॥
वृद्धैः संमंत्र्य साद्भिश्च बुद्धिमाद्भिः श्रुतान्वितैः ।
आस्थितः शास्ति दंडेन व्यसनी परिभूयते ॥ ३८ ॥
निग्रहानुग्रहैः सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवंति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः॥ ३९ ॥
तस्माद्देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च ।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ॥ ४० ॥
राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः ।

प्रजा नाशको प्राप्त हो जाय, यही तीनों विद्या मिल कर धर्मको उत्पन्न करती हैं, और धर्मसे प्रजा स्थित हैं । (३०-३३)

द्विजातियोंका परम धर्म सत्य है; यज्ञ करना, वेद पढना और दान करना यह साधारण धर्म है। वेद पढाना, यज्ञ कराना और दान लेना यह ब्राह्मणके विशेष धर्म हैं, प्रजापालन क्षत्रियका, (व्यापारसे) प्रजाका पोषण करना वैश्यका और द्विजातिकी सेवा करना शूद्रोंका विशेष धर्म है, शूद्र लोगोंको मांगना, व्रत होमका करना तथा गुरु कुलमें रहके वेद पढना मना है । हे कुन्तपुत्र ! तुम्हारा धर्म क्षत्रीय अर्थात् प्रजाका पालन करना है, तुम जितेन्द्रिय होकर अपने धर्मकी पूजा करो, वेदको जाननेवाले बुद्धिमान महात्मा वृद्धोंसे सलाह करके प्रजापालन करना राजाका धर्म है, और बुरे व्यसनवाला राजा नष्ट होता है । ३४-३८

बन्धन और कृपाको जब राजा प्रजामें फैलाता है तब संसारमें मर्यादा स्थित रहती है, इस कारणसे देशमें, किलोंमें, शत्रु और मित्रोंकी सेनाओंमें अपने आप्त दूत भेजके जानना चाहिये, कि किसकी बढती और किसकी घटती है । उपायचिंतन,गुप्त दूत;बुद्धि, विचार,

निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम् ॥ ४१ ॥
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च ।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः ॥ ४२ ॥
मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत् ॥४३॥
स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनाऽपि वा ।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम् ॥ ४४ ॥
मन्त्रयेत्सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत् ।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान्मूर्खान्सर्वत्र वर्जयेत् ॥ ४५ ॥
धार्मिकान्धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत क्रूरान्क्रूरेषु कर्मसु ॥ ४६ ॥
स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा ।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम् ॥ ४७ ॥
बुद्ध्या सुप्रतिपन्नेषु कुर्यात्साधुष्वनुग्रहम् ।

पराक्रम, युक्ति, युद्ध, निग्रह, दक्षता यही राजोंके कार्यको सिद्ध करनेवाले होते हैं । साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा से राजाको अपने सब कार्योंको सिद्ध करना चाहिये । राजाको उचित है, कि कहीं अपने विस्तारसे और कहीं छोटा बनकर कार्यको सिद्ध करे । ३९—४२)

हे भरतसत्तम ! विचार हीके आधीन सब नीति है, दूतभी विचारके आधीन हैं अर्थात् विचारसेही सिद्धि होती है । इस वास्ते विद्यावानोंके साथ मन्त्र करना चाहिये, स्त्रियोंसे, बालकोंसे, मूर्खोंसे, लोभियोंसे और अयोग्यसे मन्त्र कभी नहीं करे, जिनमें उन्मादिके लक्षण पाये जाते हैं उनसे भी मन्त्र नहीं करना चाहिये, विद्वानोंसे समर्थोंसे सलाह करे, उनहींसे अपना काम करे, कोमल स्वभाववाले नीतिके जाननेवालों से राजकार्य करावे और मूर्खोंसे कोई काम न करावे, धर्मात्माओंको धर्म काममें, पण्डितोंको धनके काममें, स्त्रियोंमें नपुंसकोंको, क्रूर कामोंमें क्रूर आदमियोंको नियुक्त करे, अपने मनुष्यों से अथवा दूसरे मनुष्योंसे कार्य बिगडने अथवा सुधरनेकी बुद्धि तथा शत्रुओंके बलाबलको जान लेना चाहिये । (४३--४७)

जिन मनुष्योंकी बुद्धि उत्तम हो उन साधुओं पर कृपा करनी चाहिये और

निग्रहं चाऽप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ॥ ४८ ॥
निग्रहे प्रग्रहे सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ४९ ॥
एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ॥ ५० ॥
तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ॥ ५१ ॥
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ।
सम्यक्प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः ॥
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यांति सलोकताम् ॥ ५२ ॥ ५८१७

इति श्रीमहाभारते० लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसेनसंवादे पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः संहृत्य विपुलं तद्वपुः कामतः कृतम् ।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ॥ १ ॥
परिष्वक्तस्य तस्याऽऽशु भ्रात्रा भीमस्य भारत ।
श्रमो नाशमुपागच्छत्सर्वं चाऽऽसीत्प्रदक्षिणम् ॥ २ ॥
बलं चाऽतिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान् ।

जो मर्यादाको तोडनेवाले दुष्ट हों उनको बन्धनमें डालना चाहिये । जब राजा बन्धनमें और कृपा करनेमें प्रवृत होता है तब संसारमें मर्यादा स्थिर रहती है । हे कुन्तीनन्दन ! हमने यह कठिन राजधर्म तुमसे कहा अब सब धर्मोंको विचार कर अपने धर्मको धारण करो । तप, धर्म, इन्द्रिय निग्रह और पूजन से ब्राह्मण लोग स्वर्गको जाते हैं, वैश्य लोग दान, आतिथि पूजा, क्रिया और धर्मसे स्वर्गको जाते हैं, क्षत्री लोग बल और प्रजाके पालनसे स्वर्गको जाते हैं, क्षत्री लोग दण्डके उचित विधानसे काम और क्रोध, तथा द्वेषसे रहित होकर पण्डितोंकी गति को प्राप्त होते हैं । । (४८—५२) [५८१७]

वनपर्वमें एकसौ पचास अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ एकावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! तब हनुमानने अपनी इच्छानुसार अपने उस बडे भारी शरीरको घटा लिया, फिर दोनों हाथ फैलाकर भीमसे मिले । हे भारत ! अपने भाई हनुमानसे मिलतेही भीमसेनकी सब थकाई दूर हो गई और बलवान भीमसेनने जाना कि मुझे बहुत

ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः ॥ ३ ॥
भीममाभाष्य सौहार्द्राद्बाष्पगद्गदया गिरा ।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥ ४ ॥
इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित् ।
धनदस्याऽऽलयाच्चापि विसृष्टानां महाबल ॥ ५ ॥
देशकाल इहाऽऽयातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।
ममाऽपि सफलं चक्षुः स्मारितश्चाऽस्मि राघवम् ॥ ६ ॥
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।
सीतावक्त्रारविंदार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम् ॥ ७ ॥
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयाऽमोघमस्तु ते ॥ ८ ॥
भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत्करोम्यहम् ।
शिलया नगरं वाऽपि मर्दितव्यं मया यदि ॥ १० ॥
बध्वा दुर्योधनं चाऽद्य आनयामि तवान्तिकम् ।

बल बढ गया और मेरे समान कोई उत्तम नहीं है । (१—३)

अनन्तर हनुमानने आंखोंमें आंसू भरकर भीमसे प्रेमके सहित गदगद वाक्य कहा कि हे वीर ! तुम अपने घरको चले जाओ, हमको कारण होनेपर स्मरण किया करना, हमारा यह स्थान किसीकोभी न बताना। हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे महाबल ! देश और कालके अनुसार कुबेर के स्थानसे लौटने वाले देव गन्धर्वोंके यहां आनेका समय हुआ है, तुमको देखने और श्रीरामचन्द्रके स्मरण करनेसे मेरे नेत्र सुफल होते हैं। जगत्के हृदयको सुख देनेवाले, सीता मुखकमल के सूर्य, रावण अन्धकारके दिवाकर, श्रीरामरूपी विष्णुका स्मरण करनेसे हमको आनन्द होता है। (३—७)

हे कुन्तीनन्दन! तेरे साथ मनुष्यका अंगस्पर्श करके जो मेरा दर्शन तुझे हुआ है वह तेरेलिये अमोघ हो। हे भारत ! तुम हमको अपना भाई समझ कर वरदान मांगो, हे महाबल ! यदि तुम कहो तो हम हस्तिनापुर जाकर उन क्षुद्र धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नाश कर दें, यदि तुम कहो तो हम एक शिलासे उस सब नगरको चूर कर दें ? अथवा

यावदेतत्करोम्यद्य कामं तव महाबल ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—भीमसेनस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमंतं प्रहृष्टेनांऽतरात्मना ॥ १२ ॥
कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुंगव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ॥ १३ ॥
सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान्विजेष्यामो वयं परान् ॥ १४ ॥
एवमुक्तस्तु हनुमान्भीमसेनमभाषत ।
भ्रातृत्वात्सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ॥ १५ ॥
चमूं विगाह्य शत्रूणां परशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ॥ १६ ॥
तदाऽहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान् ॥१७॥
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनूमांस्तदा पाण्डवनन्दनम् ॥ १८ ॥
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥१९॥ [५८३६]

इति श्रीमहाभारते तीर्थयात्रा० गंधमा० हनूमद्भीमसंवादे एकपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

दुर्योधनको बांधकर तेरे समीप लावूं इन मेंसे तेरेलिये मैं क्या करूं कह। (८–११

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे राजन् ! भीमसेनने महात्मा हनुमानके वचन सुन, प्रसन्न होकर कहा, हे महाबाहो ! हे वानरराज ! आपने हमारे निमित्त जो कुछ कहा सो सब किया हुआ समझिये, आपका कल्याण हो आप मुझ पर कृपा कीजिये । जिन पाण्डवोंके आप नाथ हैं वह सब सनाथ ही हैं, हे तेजास्विन् ! आपहीके तेजसे हम शत्रुओं को जीतेंगे ! (१२—१४)

भीमसेनके ऐसे कहने पर हनुमान भाईपन और मित्र भावसे भीमसेनसे बोले, कि मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूंगा तुम्हारे शत्रुओंकी सब सेनामें धस कर जब तुम सिंहके समान गर्जन करोगे तब मैं अपनी गर्जनसे तुम्हारी गर्जनको बढा दूगा, अर्जुनकी ध्वजा पर बैठकर भयानक रूपसे गरजूंगा, जिससे तुमलोग शत्रुओंके प्राण सुखसे नाश कर सको, मैं ऐसे यत्नही करूंगा । इस प्रकारसे हनुमान पाण्डुपुत्र भीमसेनसे बात करके भीमसेनको राह बताके वहीं अन्तर्द्धान

वैशंपायन उवाच- गते तस्मिन्हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः ।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद्गन्धमादनम् ॥ १ ॥
अनुस्मरन्वपुस्तस्य श्रियं चाऽप्रतिमां भुवि ।
महात्म्यमनुभावं च स्मरन्दाशरथेर्ययौ ॥ २ ॥
स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया ॥ ३ ॥
फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा ।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च ॥ ४ ॥
मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत ।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा ॥ ५ ॥
हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम् ।
सशष्पकवलैः श्रीमान्पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ ॥ ६ ॥
महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम् ।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद्भीमसेनो व्यगाहत ॥ ७ ॥
कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः ।
याच्यमान इवाऽऽरण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः ॥ ८ ॥

होगये । (१८-१९) [५८३६]

वनपर्वमें एकसौ एकावन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ बावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! वानरोत्तम हनुमानके चले जाने पर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन हनुमानके बतलाये मार्गसे गन्धमादन पर्वत पर इधर उधर घूमने लगे, हनुमानके उस शरीर और अनुपम शोभा और दशरथ पुत्र श्री रामचन्द्रके प्रभाव और महात्म्यको स्मरण करतेहुए भीमसेन वहांसे चले। (१-२)

भीमसेन सौगन्धिकवन देखनेकी इच्छासे मनोहर वन, उपवन, खिले फूलवाले-वृक्ष, तलाव, नदी और भांति भांतिके फूलोंसे भरे छोटे बन और कीचडमें मलीन हाथियोंके झुण्ड बरसाऊ मेघोंके समान देखते हुए चले, चंचल नेत्र वाले हरनियोंके साथ रहनेवाले और मुखमें घांस लेनेवाले हरिनोंसे शोभायमान वनको मार्गमें देखते हुए शीघ्रताके साथ भीमसेन चले । वनके भैंसे, वाराह, और शार्दूलोंसे भरे पर्वतको देखते हुए निडर भावके साथ चले । (३—७)

भांति भांतिके फूलोंकी सुगन्धि और तामेंके रंगवाले कोमल पत्तोंसे पूर्ण वृक्ष हवासे कांपते हुए ऐसे जान पडते

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः ।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥
मज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ॥ १० ॥
परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने ।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ॥ ११ ॥
हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम् ॥ १२ ॥
तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत् ।
अपश्यत्प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति ॥ १३ ॥
तद् दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः ।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम् ॥ १४ ॥[५८५०]

इति श्रीमहाभारते० तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगंधिकाहरणे द्विपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः १५२

वैशम्पायन उवाच—स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम् ।
कैलासशिखराभ्याशे ददर्श शुभकाननाम् ॥ १ ॥

थे मानो भीमसेनसे क्षमा मांगते हों । हाथ जोडे हुए जिन पर उन्मत भौंरे गूंजते हैं, जिनको तीर्थ तथा वन प्रिय है ऐसे मार्गमें स्थित कमलिनियां उन्होंने देखा । मार्गमें पर्वतोंकी प्रफुल्लित शोभा को देखते हुए द्रौपदीके वचनको स्मरण करते हुए भीमसेन बहुत शीघ्र चले । (८—१०)

जाते जाते कुछ दिनके पश्चात् ऐसे वनमें पहुंचे जहां हरिन बहुत सुखसे विचरते थे । उस वनमें एक नदी ऐसी देखी जिसमें सोनेके रङ्गके कमल खिले थे, उस नदीके किनारे पर हंस सारस और चकवे मनोहर शब्द कर रहे थे । वह कमलोंसे भरी हुई नदी ऐसी जान पडती थी, कि मानो पर्वतकी माला है। उस नदीमें महाबली भीमने चित्तको प्रसन्न करनेवाले सूर्यके समान तेजवाले कमलोंका समूह देखा, उसको देखकर अपनी मनसाको सुफल हुई जान मनसे उस द्रौपदीका ध्यान किया जो वनवाससे बहुत दुःखी हुई थी । (११—१४) [५८५०]

वनपर्वमें एकसौ बावन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ तिरपन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि वहां जा कर भीमसेनने सुन्दर वनश्री से शोभित उस मनोहर कमलनी वाले तलावके

कुबेरभुवनाभ्याशे जातां पर्वतसानुषु ।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ॥ २ ॥
हरिताम्बुजसञ्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम् ।
नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ३ ॥
अतीव रम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु ।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥ ४ ॥
तत्राऽमृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम् ।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ॥ ५ ॥
तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम् ।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥ ६ ॥
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः ।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजाद्भिरमलं रजः ॥ ७ ॥
आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥ ८ ॥
सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा ।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ॥ ९ ॥
तां च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।

कैलासके पास जाकर देखा, कि राक्षस उसकी चारों ओरसे रक्षा कर रहे हैं। कुबेरके स्थानके पास पर्वतके झरनोंसे उत्पन्न हुई, मनोहर और घनी छायावाले वृक्षोंसे घिरी हुई, हरे हरे कमलोंमे पूर्ण, सुवर्ण रंगके कमल जिसमें खिले थे, अनेक भांतिके पक्षी जिसमें शब्द कर रहे थे, जिसके समीप तीर्थ बडे सुन्दर थे, जिसमें कीचडका नामभी न था, जिसमें स्वच्छ जल भरा था, पर्वतकी कन्दराओंसे उत्पन्न हुई अद्भुत रूप वाली नदी पर जाकरके अमृत समान शीतल जल कुन्तीपुत्र पाण्डवने देखा और पीया। (१—५)

उस मनोहर दिव्य सुगन्धवाले ऐसे कमलोंसे भरी जिनकी दण्डी लहसुनिये के रंगके समान थी, जिसके समीप हंस और सारस आदिक बोल रहे थे, और जिनसे निर्मल केशर झडती थी, यह पोखर महात्मा कुबेरकी क्रीडाका स्थान थी। इस पर गन्धर्व और अप्सरोंके सहित देवतालोग विहार करते थे, दिव्य ऋषि यक्ष किम्पुरुष और राक्षस इस पोखरकी रक्षा करते थे, विश्रवाके पुत्र

बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत्सरः ॥ १० ॥
तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात् ।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥ ११ ॥
ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम् ।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १२ ॥
सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिन्दमम् ।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥ १३ ॥
अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः ।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत्सम्प्रष्टुमिहाऽर्हथ ॥ १४ ॥
ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम् ।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १५ ॥
मुनिवेषधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे ।
यदर्थमाभिसंप्राप्तस्तदाचक्ष्व महामते ॥ १६ ॥ [५८६६]

इति श्रीमहाभारते० लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

भीम उवाच— पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥ १ ॥

कुबेरसे यह पोखर रक्षित थी, महाबली कुन्तीपुत्र भीमसेन वह देख कर बहुत प्रसन्न हुए । (९—१०)

उस पोखरकी क्रोधवश नाम राक्षस कुबेरकी आज्ञासे रक्षा करते थे, यह सहस्रों विचित्र राक्षस विचित्र शस्त्र और वस्त्र पहिने हुए वहां खडे थे, वे लोग कुन्तीपुत्र महापराक्रमी भीमसेनको मृगचर्म और सुवर्णके आभूषण पहिने, शस्त्र लिये, निडर होकर पुष्प लेनेके लिये आये हुए देखके आपसमें कहने लगे, कि यह पुरुषसिंह शस्त्र लिये और मृगचर्म ओढे जो यहां आया है सो क्या करना चाहता है ? यह जानना चाहिये । (११—१४)

तब वह सब राक्षस महाभुज तेजस्वी भीमके पास जाकर पूछने लगे, कि तुम मुनियोंका वेष धारण किये और शस्त्र लिये जो यहां आये हो सो तुम्हारे क्या प्रयोजन है ? हमसे कहो । (१५—१६) [५८३६]

वनपर्वमें एकसौ तिरपन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ चौवन अध्याय ।

भीमसेन बोले, हे राक्षसो ! मैं राजा पाण्डुका पुत्र धर्मराज युधिष्ठिरका भाई भीमसेन हूं, मैं भाइयोंके सहित इस

अपश्यत्तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥ २ ॥
तस्या मामनवद्यांग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम् ।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥ ३ ॥
राक्षसा ऊचुः — आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मणा ॥ ४ ॥
देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चाऽत्र वृकोदर ।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ॥ ५ ॥
अन्यायेनेह यः कश्चिद्वमन्य धनेश्वरम् ।
विहर्तुमिच्छेद् दुर्वृत्तः स विनश्येन्न संशयः ॥ ६ ॥
तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादितः ।
धर्मराजस्य चाऽऽत्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ॥ ७ ॥
आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च ।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किंचित्पुष्करमीक्षितुम् ॥८॥
भीमसेन उवाच —राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहाऽन्तिके ।

बदरिकाश्रम पर आया हूं, इस बदरिकाश्रममें पाञ्चालराजपुत्री द्रौपदीने वायुसे फेका हुआ एक कमल देखकर वैसेही और कमलोंको चाहा, हे राक्षसो! मैं उन ही मनोहर अंगवाली धर्मपत्नी द्रौपदीके चाहे हुए कमलोंको लेने आया हूं। (१-३)

राक्षस बोले, हे पुरुषश्रेष्ठ! यह कुबेर की क्रीडाका स्थान है, यहां मरण धर्मवाले मनुष्योंको विहार करनेकी आज्ञा नहीं है, हे वृकोदर! यहां पर देवर्षि, यक्ष और देवता लोग यक्षराज कुबेरकी आज्ञा पाकर जल पीते और विहार करते हैं, हे पाण्डव! गन्धर्व लोग और अप्सरा यहां पर विहार कर सकती हैं, यदि कोई अन्यायसे महाराज कुबेरका अनादर करके विहार करनेकी इच्छा करता है, तो वह नष्ट कर दिया जाता है। उस कुबेरका अनादर करके तुम कमल लेना चाहते हो, तब कैसे कहते हो कि हम धर्मराज युधिष्ठिरके भाई हैं, पहले कुबेरकी आज्ञा लेलो, तब इस पोखर पर विहार करना, यदि ऐसा न करोगे, तो इस पोखरके कुछ भी कमल को नहीं देख सकोगे। (४—८)

भीमसेन बोले, हे राक्षसो! मैं धनेश्वर कुबेरको पास तो नहीं देखता हूं,

दृष्ट्वाऽपि च महाराजं नाऽहं याचितुमुत्सहे ॥ ९ ॥
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाऽहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथञ्चन ॥ १० ॥
इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरैः ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥
तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥ १२ ॥
वैशंपायन उवाच—इत्युक्त्वा राक्षसान्सर्वान्भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ॥ १३ ॥
ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मामैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥ १४ ॥
कदर्थीकृत्य तु स तान्राक्षसान्भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥ १५ ॥
गृह्णीत बध्नीत निकृन्ततेमं पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥१६॥
ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।

यदि उन महाराजको देखूं भी तो उनसे कुछ मांगनेकी इच्छा नहीं करता हूं, यह सनातन धर्म है, कि राजा लोग किसी से कुछ मांगते नहीं हैं, मैं क्षात्रिय धर्मको छोडना नहीं चाहता हूं । यह पोखर पर्वतके झर्नोंसे बनी है, यह केवल कुबेरकी ही नहीं है । यह पोखर जैसी महाराज कुबेरकी है, वैसीही सब प्राणियोंकी है; ऐसे पदार्थोंको कोई किसीसे मांगता नहीं है। (९—१२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, ऐसे सब राक्षसोंसे कहकर महाबली और महाक्रोधी भीमसेन उस पोखरमें घुस गये, तब चारों तरफसे राक्षसोंने वचन द्वारा 'ऐसा मत करो' कहा, प्रतापवान् भीमसेनसे ऐसा कहते हुए निर्भर्त्सना करने वाले राक्षसोंको क्रोध आगया, महा पराक्रमी और महा-तेजस्वी भीमसेनने उन सब राक्षसोंको क्षुद्र समझ कर उस तालाबमें स्नान किया। परन्तु राक्षस लोग उनको रोकने लगे, वे लोग क्रोध करके चिल्लाने लगे, कि इसको पकडो, बांधो, काटो, खा जाओ और पकालो। ऐसा कह नेत्रोंको फैला कर और शस्त्रोंको लेलेकर भीमसेनकी ओर दौडे। (१३—१६)

प्रगृह्य तानभ्यपतत्तरस्वी ततोऽब्रवीत्तिष्ठत तिष्ठतेति ॥ १७ ॥
ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यैर्व्याविद्ध शस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा भीमं समन्तात्परिवव्रुरुग्राः॥ १८
वातेन कुन्त्यां बलवान्सुजातः शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः स चैव पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १९ ॥
तेषां स मार्गान्विविधान्महात्मा विहन्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम्।
यथा प्रवीरान्निजघान भीमः परं शतं पुष्करिणीसमीपे ॥ २० ॥
ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद् द्रुतं प्रवीराः सहसा निवृत्ताः ॥२१॥
विदीर्यमाणस्तत एव हन्तुमाकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः ।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः ॥२२॥
स शक्रवद्दानवदैत्यसङ्घान्विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान् ।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि ॥२३॥
ततः स पीत्वाऽमृतकल्पमम्भो भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः ।
उत्पाट्य जग्राह च सोऽम्बुजानि सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति ॥ २४ ॥

भीमसेनभी सोनेसे चित्रित यमदण्ड के समान भारी गदाको लेकर वेगसे उनकी ओर दौडे और कहने लगे, खडे रहो। तीक्ष्ण पराक्रमी राक्षस लोगभी भीमसेनको मारनेकी इच्छासे गदा तोमर और पट्टिश आदि शस्त्रोंको लेकर वेग से भीमसेनकी ओर दौडे, जो भीम वायुके वीर्यसे कुन्तीके गर्भमें उत्पन्न हुए थे, तथा सत्य और धर्म में रत थे, वह वेगवान् पराक्रम में शत्रुओंसे अजेय थे, वही महात्मा उन राक्षसोंके सब बाणोंको काटने लगे, भीमसेनने अपने बाणों से उस पोखरके पास सैकडों राक्षसोंको मार डाला। (१७—२०)

वीर राक्षसोंने जब उनके विद्याबल बाहुबल और वीर्यको देखा, तो असमर्थ होकर भागने लगे, बहुतसे राक्षस उनको मारनेकी इच्छासे संज्ञाहीन होकर आकाशको उडने लगे, अनेक क्रोधसे व्याकुल होकर कैलासके शिखरोंमें छिपने लगे। शत्रुओंके जीतनेवाले भीमसेनने इन्द्रके समान उन राक्षसोंको जीतकर उस पोखरमें जाके अपने लिये कमल तोड लिया, उस पोखरके अमृत समान जलको पीनेसे भीमसेनका बल और वीर्य उत्तम हो गया, फिर उन्होंने उत्तम सुगन्धिवाले अनेक कमलोंको तोड लिया। (२१–२४)

ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः ।
भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये यथावदाचख्युरतीव भीताः ॥ २५ ॥
तेषां वचस्तत्तु निशम्य देवः प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच ।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामात्कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत् ॥२६॥
ततोऽभ्यनुज्ञाप्य धनेश्वरं ते जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः ।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां यथोपजोषं विहरन्तमेकम् ॥२७॥ [५८९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

वैशंपायन उवाच— ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ॥ १ ॥
ततो वायुर्महाञ्शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः ।
प्रादुरासीत्खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन् ॥ २ ॥
पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया ।
निष्प्रभश्चाऽभवत्सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ॥ ३ ॥
निर्घातश्चाऽभवद्भीमो भीमे विक्रममास्थिते ।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च ॥ ४ ॥

राक्षस लोगोंने भीमके बल और भयसे व्याकुल होकर कुबेरके पास जा उनके बल और वीर्यका वर्णन किया। कुबेर उनके वचन सुन हंसकर कहने लगे, हम जानते हैं, कि भीमसेन द्रौपदीके लिये कमल लेनेको आया है। राक्षस लोग कुबेरको आज्ञा लेकर फिर उसी पोखर पर आये। उन्होंने कुरुकुल श्रेष्ठ भीमसेनको उसी पोखरमें इच्छानुसार विहार करते देखा। (२५-२७)

वनपर्वमें एकसौ चौवन अध्याय समाप्त।५८९३]

वनपर्वमें एकसौ पचपन अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे जनमेजय! तब भीमने बहुत श्रेष्ठ दिव्य मलसे रहित अनेक कमलोंको ले लिया, उस समय बडा वायु बहुत वेगसे चलने लगा, इस वायुके साथ रेत उडने लगी, इस का स्पर्श बडा कठोर था और यह युद्धकी सूचना देने लगा। बहुत भय देनेवाली बिजली शब्दके सहित आकाशसे गिरी, सूर्य अन्धकारमें छिपनेके कारण तेजसे रहित हो गये; समस्त जगतमें ऐसा अन्धकार छाया, कि किसी को कुछ न दीखने लगा। जहां भीमसेन अपने पराक्रमसे स्थिर थे, वहां एक मेघगर्जना का घोर शब्द हुआ, समस्त

सलोहिता दिशश्चाऽऽसन्खरवाचो मृगद्विजाः ।
तमोवृतमभूत्सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥
अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे ।
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ।
सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ॥ ७ ॥
यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षांचक्रे समन्ततः ॥ ८ ॥
अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिन्दमः ॥ ९ ॥
प्रपच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।
कच्चित्क भीमः पाञ्चालि किंचित्कृत्यं चिकीर्षति ॥ १० ॥
कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः ।
दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ॥ ११ ॥
तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनास्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥ १२ ॥

पृथ्वी चलायमान होगई, आकाशसे धूल बर्षने लगी, सब दिशा लाल हो-गई, पक्षी और हरिन गधेके समान शब्द करने लगे और भी अनेक घोर उत्पात होने लगे। (१–६)

इन सबको देखकर कहनेवालोंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर कहने लगे, कि न जाने हमसे कौन युद्ध करेगा । हे महायुद्ध करनेवाले पाण्डवो ! तुम्हारा कल्याण हो, युद्ध करनेको तय्यार हो जाओ, हम इन सब लक्षणोंको देखकर जानते हैं, कि अब युद्ध करनेका समय आगया। महाराजने ऐसा कह कर चारों ओर देखा, तो भीमको न पाया, तब शत्रु नाशन महाराजने नकुल सहदेव और द्रौपदीसे पूछा, कि हे द्रौपदी ! युद्धमें घोर कर्म करनेवाले महा पराक्रमी हमारे भाई भीमसेन कहां हैं और क्या करते हैं? क्या उस उत्साही बीरने कोई साहस आरम्भ किया है? हमको यह युद्धके उत्पात अकस्मात् दिखलाई देने लगे हैं, इससे और भय होनेकी शंका है। महा-राजके ऐसे वचन सुन उत्तम हंसनेवाली मनास्विनी, महाराजकी पटरानी द्रौपदी

द्रौपद्युवाच—

यत्तत्सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाऽद्योपपादितम् ॥ १३ ॥
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ॥ १४ ॥
स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः ॥ १५ ॥
उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाऽब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ॥ १६ ॥
वहन्तु राक्षसा विप्रान्यथाश्रान्तान्यथाकृशान् ।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच ॥ १७ ॥
व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ॥ १८ ॥
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने ।
उत्पतेदपि चाऽऽकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ॥ १९ ॥
तमन्वियाम भवतां प्रभावाद्रजनीचराः ।
पुरा स नाऽपराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ॥ २० ॥

कहने लगी । (६—१२)

द्रौपदी बोली, हे महाराज ! वह जो फुल वायुसे उड कर आया था, मैंने उसको देखकर भीमसेनको प्रसन्न करके कहा, कि हे वीर ! यदि आप ऐसे कमल और कहीं देखे, तो उन सबको शीघ्र ले आइये, तो मैं बहुत प्रसन्न होऊंगी । महाबाहु पाण्डुनन्दन भीम मुझे प्रसन्न करनेकी इच्छासे उत्तर और पूर्व कोनेकी ओर उन्ही फुलोंको लेने गये हैं। (१३ — १५)

द्रौपदीके वचन सुन महाराजने नकुल और सहदेवसे कहा, कि जिस मार्गसे भीमसेन गये हों, हम सबकोभी उसी मार्गसे शीघ्र चलना चाहिये, सब राक्षस लोग दुर्बल और थके हुए ब्राह्मणोंको ले चलें । हे घटोत्कच ! हे देवतुल्य ! तुम द्रौपदीको ले चलो, हमको निश्चय होता है, कि भीमसेन बहुत दूर चले गये, क्योंकि वह वायुके समान शीघ्र चल सकते हैं । वह गरुड के समान शीघ्र चलनेवाले हैं, वे चाहें, तो पृथ्वीको लांघें और चाहें तो आकाशको उड जायं और अपनी इच्छानुसार जितना चाहें कूद सकते हैं। हे राक्षसो ! हम तुम लोगोंके पराक्रमसे उनको ढूंढने जाना

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ।
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नालिन्या भरतर्षभ ॥ २१ ॥
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ॥ २२ ॥
ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम् ॥ २३ ॥
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम् ।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान् ॥ २४ ॥
भिन्नकायाक्षिबाहूरून्संचूर्णितशिरोधरान् ।
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ॥२५॥
सक्रोधं स्तब्धनयनं सन्दष्टदशनच्छदम् ।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरे व्यवस्थितम् ॥ २६ ॥
प्रजासंक्षेपसमये दंडहस्तमिवाऽन्तकम् ।
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः । ॥ २७ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ।
साहसं बत भद्रं ते देवानामथ चाऽप्रियम् ॥ २८ ॥

चाहते हैं । भीमसेनने कभी पहले वेद-पाठी सिद्धोंका अपराध नहीं किया है । (१६ — २०)

हे जनमेजय! उन मार्ग जाननेवाले राक्षसोंने प्रसन्नचित्तसे महाराजकी आज्ञाको स्वीकार कर,लोमश मुनिके सहित पाण्डव और अनेक ब्राह्मणोंको अपने ऊपर चढाके कुबेरकी पोखरकी ओर गमन किया । हे राजन्! जब सबने शीघ्रता सहित जाकर उस मनोहर वन, सुगन्धिवाले कमलोंसे भरी हुई पोखर और उसके तटपर बैठे हुए मनस्वी महात्मा भीमसेन को देखा और उनके पास जो विशाल नेत्र वाले यक्ष लोग मरे पडे थे उन को भी देखा । उन मरे हुए यक्षों के सिर हाथ और जङ्घा टूट गई थीं और महात्मा भीमसेन भी उनही के पास बेठे थे । (२१-२५)

भीम क्रोधसे अपने नेत्रोंको खोलते और बन्द करते, ओठोंको चबाते और दोनों हाथोंसे गदाको उठाये हुए बैठे थे । उस समय वह प्रलयकालके यमराज के समान दीखते थे । महाराज युधिष्ठिर उनको देख कर लपट गये और मीठी वाणीसे बोले, कि हे कुन्तीनन्दन ! यह तुमने क्या किया ? तुम्हारा कल्याण हो

पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ॥ २९ ॥
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ॥ ३० ॥
प्रादुरासन्महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ।
ते दृष्ट्वा धर्मराजानं महर्षिं चाऽपि लोमशम् ॥ ३१ ॥
नकुलं सहदेवं च तथाऽन्यान्ब्राह्मणर्षभान् ।
विनयेन नताः सर्वे प्रणिपत्य च भारत ॥ ३२ ॥
सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः ।
विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ ३३ ॥
ऊषुर्नाऽतिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु ॥ ३४ ॥ [५९२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगंधिकाहरणे पंचपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन उवाच–तस्मिन्निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृष्णया सहितान्भ्रातॄनित्युवाच सह द्विजान् ॥ १ ॥
दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च ।

ऐसा अयोग्य साहस देवतोंको प्रिय नहीं है। हे वृकोदर ! यदि तुम हमारी प्रीति चाहते हो, तो ऐसा फिर न करना; ऐसा भीमसे कह कर उन फूलों को लेकर देवतोंके समान पाण्डव वहीं जल क्रीडा करने लगे। (२६— ३०)

उसी समय पोखरसे अनेक शिला- रूप शस्त्रधारी देवतोंके समान रूपवाले उस वनकी रक्षा करनेवाले लोग प्रकट हुए। हे जनमेजय ! वे सब धर्मराज युधिष्ठिर महर्षि लोमश, नकुल, सहदेव तथा अन्य उत्तम ब्राह्मणोंको देखकर विनय पूर्वक प्रणाम करने लगे, महाराजने उनको बहुत शान्त किया, तब वे सब प्रसन्नता पूर्वक वहां बैठे। कुरुकुल- श्रेष्ठ पाण्डवलोग कुबेरकी सम्मतिसे अर्जुनका मार्ग देखते हुए थोडे दिन उस गन्धमादन पर्वत पर रहे। (३०–३४) [५९२७]

वनपर्वमें एकसौ पचपन अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ छप्पन्न अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,एकदिन इस स्थानमें वसते हुए महाराज युधिष्ठिरने द्रौपदी, अपने भाई, और ब्राह्मणोंसे

मनसोऽह्लादनीयानि वनानि च पृथक्पृथक् ॥ २ ॥
देवैः पूर्वं विचीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः संपूजितानि च। ॥ ३ ॥
ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्मविचेष्टितम्।
राजर्षीणां च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः ॥ ४ ॥
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च।
अभिषेकं द्विजैः सार्धं कृतवन्तो विशेषतः ॥ ५ ॥
अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ६ ॥
पर्वतेषु च रम्येषु सर्वेषु च सरस्सु च।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः ॥ ७ ॥
इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः ॥ ८ ॥
गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः।
हिमवान्पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः ॥ ९ ॥
विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः।
दिव्यपुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता ॥ १० ॥

ऐसा कहा, कि हमलोगोंने पवित्र और सुखदायक तीर्थ तथा मनको प्रसन्न करनेवाले वनोंको देखा, इन तीर्थोंको पहिले देवता और महात्मा मुनियोंने स्थापन किया था, इन सबको ब्राह्मण-लोग नियमानुसार पूजते हैं। हमने पहले ऋषियोंके चरित्र और उनके कर्म तथा राजऋषियोंकी अनेक प्रकारकी सुन्दर सुन्दर कथा उनके कल्याणदायक आश्रमोंमें सुनी। हमने ब्राह्मणोंके सहित सब तीर्थोंमें स्नान कर फल और जलसे सब देवतोंकी पूजा की, देश और समय में मिलनेवाले मूल और फलोंसे पितरों के तर्पणभी किया। (१–६)

गङ्गाद्वारसे चलकर अनेक सुन्दर पर्वतों को देखते हुए अनेक पक्षियोंसे शोभित हिमाचल पर्वत को देखा; इला, सरस्वती, सिन्धु, यमुना और नर्मदादि अनेक रमणीय नदियोंमें ब्राह्मणोंके सहित स्नान किया। रमणीय पर्वत, सब तालाब तथा पवित्र समुद्रमें महात्माओं सहित स्नान किया। विशाल नरनारायण के आश्रमका दर्शन, सिद्ध ऋषि और देवतोंसे पूजित दिव्य पोखरको

यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च ।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठा लोमशेन महात्मना ॥ ११ ॥
इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम् ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच--एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाऽशरीरिणी ।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात् ॥ १३ ॥
अनेनैव पथा राजन्प्रतिगच्छ यथागतम् ।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम् ॥ १४ ॥
तस्माद्यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः ॥ १५ ॥
अतिक्रम्य च तं पार्थ ह्यार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः ।
ततो द्रक्ष्यसि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च ॥ १६ ॥
एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः ।
सुखप्रह्लादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ॥ १७ ॥
श्रुत्वा तु दिव्यामाकाशाद्वाचं सर्वे विसिस्मियुः ।
ऋषीणां ब्राह्मणानां च पार्थिवानां विशेषतः ॥ १८ ॥

देखा है । हे ब्राह्मणो ! हमको महात्मा लोमशने क्रमके अनुसार सब स्थानोंके दर्शन कराये, यह सिद्ध सेवित और पवित्र कुबेरका स्थान है । हे भीम! आगे चलने योग्य मार्ग नहीं है, हे भीम ! अब आगे कैसे चलोंगे, इसका विचार करो । (७-१२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जिस समय राजोंके स्वामी महाराज युधिष्ठिर ऐसा कह रहे थे, उसी समय आकाशवाणी हुई, कि हे राजन् ! इस कुबेरके स्थानसे आगे कोई नहीं जा सकता, इस लिये जिस मार्गसे आये हो उसीसे नरनारायणके आश्रम, बदरी नामक प्रसिद्ध तीर्थको चले जाओ; हे कुन्तीनन्दन वहांसे तुम बहुत फूल और फलोंसे रमणीय सिद्ध और चारणोंसे सेवित वृषपर्वाके आश्रमको देखोगे; हे कुन्तीनन्दन वहांसे चलकर सुखपूर्वक आर्ष्टिषेणके आश्रममें रहना; तब कुबेरके स्थानको देखोगे । (१४—१६)

उसी समय पवित्र, दिव्य, गन्धवाले सुख स्पर्श वायुने फूलकी वर्षा की, उन सबने उस आकाशसे आई हुई दिव्य वाणीको सुनकर बहुत आश्चर्य किया । विशेष कर राजा, ब्राह्मण और ऋषियों-

श्रुत्वा तन्महदाश्चर्यं द्विजो धौम्योऽब्रवीत्तदा।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ॥ १९ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद्वचः।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम् ॥ २० ॥
भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः।
पांचाल्या ब्राह्मणाश्चैव न्यवसंत सुखं तदा ॥ २१॥ [५९४८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां पुनर्नारायणाश्रमागमने षट्पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥ ॥ समाप्तं चेदं तीर्थयात्रापर्व ॥

॥ अथ जटासुरवधपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तान्परिविस्रब्धान्वसतस्तत्र पाण्डवान्।
पर्वतेंद्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकांक्षया ॥ १ ॥
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च।
रहितान्भीमसेनेन कदाचित्तान्यदृच्छया ॥ २ ॥
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः।
ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ॥ ३ ॥
इति ब्रुवन्पाण्डवेयान्पर्युपास्ते स्म नित्यदा।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ॥ ४ ॥

को बहुत आश्चर्य हुआ। उस परम आश्चर्यमयी वाणीको सुन धौम्य मुनि बोले, हे भारत! इसका कोई उत्तर देने के योग्य नहीं है। महाराज युधिष्ठिर सब वचनको स्वीकार कर भीमादि भाई द्रौपदी और सब ब्राह्मणोंके सहित बदरिकाश्रम को लौट आये और वहां सुखसे रहने लगे। १७–२१ [५९४८]

वनपर्वमें एकसौ छपन्न अध्याय और तीर्थयात्रा पर्व समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ सतावन अध्याय और जटासुर वध पर्व।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले हे राजन्! जनमेजय! जब भीमसेनके पुत्र घटोत्कच तथा अन्य राक्षस चले गये और पाण्डव लोग ब्राह्मणोंके सहित अर्जुनका मार्ग देखते हुए विश्वास पूर्वक रहने लगे, तब एक दिन भीमसेनके बिना, इच्छानुसार घूमते हुए धर्मराज, नकुल, सहदेव और द्रौपदीको एक राक्षसने वश किया। (१—३)

वह अपनेको मन्त्र और शास्त्रोंके जाननेवाला उत्तम ब्राह्मण कह कर पाण्डवोंके तूणीर और धनुषको तथा द्रौपदीको भी हरण करनेकी अभि-

अंतरं संपरिप्रेप्सुर्द्रौपद्या हरणं प्रति ।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः ॥ ५ ॥
पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः ।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवाऽनलम् ॥ ६ ॥
स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिंदम ।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ॥ ७ ॥
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान् ।
स्नातुं विनिर्गतान्दृष्ट्वा पुष्पार्थं च तपोधनान् ॥ ८ ॥
रूपमन्यत्समास्थाय विकृतं भैरवं महत् ।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ॥ ९ ॥
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन्गृहीत्वा च पाण्डवान् ।
सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ॥ १० ॥
विक्रम्य कौशिकं खड्गं मोक्षयित्वा ग्रहं रिपोः ।
आक्रन्दद्भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥ ११ ॥
तमब्रवीद्धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ॥ १२ ॥

लाषासे पाण्डवोंकी उपासना करता था । (३—५)

इस प्रकार उस दुष्टात्मा पापबुद्धि जटासुर नामक राक्षसने बहुत यत्न किया उसकी इच्छा थी, कि समय पाकर मैं द्रौपदीको हर ले जाऊंगा, हे राजेन्द्र! महाराज युधिष्ठिरने उसको राखसे छिपे हुए अग्निके समान न पहिछाना और उसका पालन करते रहे । हे शत्रुनाशन! एक दिन जिस समय भीमसेन शिकार खेलने, घटोत्कच अपने दासोंके सहित इधर उधर घूमने और लोमशादिक तपोधन महर्षि लोग स्नान करने और फूल लेने गये, उसी समय वह राक्षस भयानक रूप बनाकर पाण्डवोंके पास आया । उसने शस्त्र द्रौपदी महाराज नकुल और सहदेवको लेकर वहांसे चल दिया, परन्तु पाण्डुनन्दन सहदेव बहुत यत्न करके उसके हाथसे अपनी कौशिक नाम तलवार छीनकर खड्ग घुमाते हुए निकल गये और बडे वेगसे अपने खड्ग को कोपसे निकाल कर दौडे, अनन्तर जिधरको भीमसेन गये थे उधरहीको पुकारने लगे । (५—११)

महापराक्रमी सहदेव जिस समय भीमसेनको पुकारते थे, उसी समय

येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मं ते समवेक्षंते रक्षांसि च विशेषतः ॥ १३ ॥
धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् ।
एतत्परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि ॥ १४ ॥
देवाश्च ऋषयः सिद्धाः पितरश्चाऽपि राक्षस ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ १५ ॥
तिर्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः ।
मनुष्यानुपजीवंति ततस्त्वमपि जीवसि ॥ १६ ॥
समृद्ध्या यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति ।
इमं च लोकं शोचंतमनुशोचंति देवताः ॥ १७ ॥
पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ॥ १८ ॥
राष्ट्रस्याऽरक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।
न च राजाऽवमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि ॥ १९ ॥
अणुरप्यपचारश्च नाऽस्त्यस्माकं नराशन ।

महाराजने राक्षससे कहा कि रे मूर्ख ! तेरा धर्म नष्ट हुआ जाता है और तू उसे नहीं देखता । किसी किसी स्थलमें मनुवंशियोंके बीच जो तिर्यक्योनिवाले हैं वे और उनके सिवाय अन्य प्राणी भी तथा विशेष करके राक्षस लोग धर्ममें दृष्टि किया करते हैं, राक्षस लोग धर्मके मूल स्वरूप हैं, राक्षसही लोग उत्तम धर्मको जानते हैं, इन सब बातों की परीक्षा करके तुम्हें धर्म नियम अनुसार यहां पासही निवास करना चाहिये। (११—१४)

रे राक्षस ! देवता, ऋषि, सिद्ध, पितर, गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पशु टेढी योनियोंमें उत्पन्न हुए कीट और चींटी आदि सब मनुष्योंसेही जीते हैं, तुम्हारी जीविका भी मनुष्योंहीसे है; इसलोकके बढनेसे तुम्हारा लोग भी बढता है, इस लोकके दुःखी होनेसे देवताभी दुःखी होते हैं, विधिपूर्वक देव और पितर हव्यकव्य कर्मोंमें पूजित होकर देवताभी प्रसन्न होते हैं; हे राक्षस ! हमभी राष्ट्रके पालक और रक्षक हैं, जब राष्ट्रकी कोई रक्षा करनेवाला न रहा तो सुख और धन कहांसे होगा ! (१५–१९)

रे राक्षस ! राजाका किञ्चितभी निरादर न करना चाहिये, रे मनुष्योंको

विघसाशान्यथाशक्त्या कुर्महे देवतादिषु ॥ २० ॥
गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रमाणप्रवणाः सदा ।
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ॥ २१ ॥
येषां चाऽन्नानि भुंजीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः ।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ॥ २२ ॥
भुक्त्वा चाऽन्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान्जिहीर्षसि ।
एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ॥ २३ ॥
वृथामरणमर्हश्च वृथाऽद्य न भविष्यसि ।
अथ चेद्दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ॥ २४ ॥
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर ।
अथ चेत्त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥
अधर्मं चाऽप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम् ।
एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ॥ २६ ॥
विषमेतत्समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया ।
ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ॥ २७ ॥
स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत् ।

खानेवाला! हमलोक शक्तिके अनुसार देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करके यज्ञसे बचा हुआ भाग खानेवाले हैं; हम कुछभी अधर्म नहीं करते हैं, हम गुरु और ब्राह्मणोंको सदा प्राणके समान मानते हैं। पुरुषको उचित है कि अपने मित्र और विश्वाससहित पुरुषको दुःख न दे; जिसके आश्रयसे रहे और जिसका अन्न खाय उसे दुःख देना न चाहिये। तू हमारे आश्रयसे सुखपूर्वक रहा है और हमने तेरा सन्मानभी किया है, सो तू हमारा अन्न खाकर हमहीको हरण करता है, ऐसा करनेसे तेरी बुद्धि अवस्था और मरण सबही वृथा हो जायंगे; अतएव आज तू ऐसा कर्म करके वृथा मत हो! (२०–२४)

यदि तू महादुष्ट और सब धर्मोंसे रहित हो, तो हमारे शस्त्र हमको दे दे; और युद्ध करके द्रौपदीको लेजा। यदि तू अज्ञानसे इन कर्मोंको करेगा, तो तुझे केवल अपकीर्ति और अधर्मही प्राप्त होगा। रे राक्षस! तू इस मनुष्य जाति में उत्पन्न हुई स्त्रीको लेजाता है, यह काम कुंभसे विष पीनेके समान है। २४-२७

ऐसा कहकर महाराज युधिष्ठिर बहुत भारी होगये, उनके बोझसे वह राक्षस

अथाऽब्रवीद्द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद्गतिरस्य मया हृता।
नाऽतिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ॥ २९ ॥
अस्मिन्मुहूर्ते संप्राप्ते न भविष्यति राक्षसः।
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतसम् ॥ ३० ॥
उवाच वचनं राजन्कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
राजन्किनाम तत्कृत्यं क्षत्रियस्याऽस्त्यतोऽधिकम् ॥ ३१ ॥
यद्युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रुं जयेत वा।
एष चाऽस्मान्वयं चैनं युध्यमानाः परंतप ॥ ३२ ॥
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप।
क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रमः ॥ ३३ ॥
जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम्।
राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद्यदि ॥ ३४ ॥
नाऽहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत।
भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पांडवः ॥ ३५ ॥
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाऽद्येह स्वप्स्यसि।

शीघ्र न चल सका, तब महाराजने द्रौपदी, और नकुल से कहा कि तुम लोग कुछ भय मत करो; मैंने इस मूर्ख राक्षसकी गतिको नाश कर दिया है और महाबाहु भीमसेनभी बहुत दूर नहीं हैं, जब वह यहां आजायंगे तो यह राक्षस जीता न बचेगा। (२८-३०)

हे महाराज ! जब सहदेवने उस मूर्ख राक्षसको देखा, तो महाराज युधिष्ठिर से कहने लगे, कि हे महाराज ! इससे अधिक कौन बात होगी कि जो क्षत्री युद्धके सामने मरे या शत्रुको जीत ले। हे शत्रुनाशन ! या तो हमही इसको जीत लेंगे या यही मुझे जीत लेगा। हे महाबाहु ! हे नरनाथ ! यही युद्धका देश और काल है; हम अभी इसको मार डालेंगे। हे सत्यपराक्रम ! यही क्षत्रियोंके धर्मका समय है, यदि हम युद्ध में मर गये, या मारेंगे तो अच्छी गतिको प्राप्त होंगे। हे महाराज ! यदि सूर्यास्त होनेके पहिले वह राक्षस जीता रह जाय तो हम अपनेको क्षत्री न कहेंगे। ३०-३५

रे राक्षस ! खडा रह ! खडा रह ! हम पाण्डुके पुत्र सहदेव हैं, हम तुमको अभी मारकर पृथ्वीमें सुला देंगे अथवा तूही हमको मारकर द्रौपदीको लेजाना।

तदा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यद्गदाहस्तः सवज्र इव वासवः ।
सोऽपश्यद्भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम् ॥ ३७ ॥
क्षितिस्थं सहदेवं च क्षिपन्तं राक्षसं तदा ।
मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ॥ ३८ ॥
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम् ।
भ्रातॄंस्तान्ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ॥ ३९ ॥
क्रोधमाहारयद्भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत् ।
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ॥ ४० ॥
आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा ।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाऽप्रियम् ॥ ४१ ॥
प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाऽप्रियकारिणम् ।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम् ॥ ४२ ॥
राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत् ।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ॥ ४३ ॥
नूनमद्याऽसि संपक्वो यथा ते मतिरीदृशी ।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाऽद्भुतकर्मणा ॥ ४४ ॥

जब सहदेव ऐसा कह रहे थे, उसी समय इच्छानुसार घूमते हुए, वज्रधर इन्द्रके समान गदा लिये हुए भीमसेन आ पहुंचे, उन्होंने युधिष्ठिर,नकुल और द्रौपदीको राक्षससे पकडे हुए, तथा सहदेवको पृथ्वीमें खडे और राक्षससे बात करते देखा। मूर्ख, कालके वशमें हुए अतएव इधर उधर भ्रमण करने वाले राक्षसकोभी मार्गहीसे भीमसेनने देखा। (३५—३९)

जब उन्होंने देखा कि द्रौपदी और मेरे भाइयोंको राक्षस लिये जाता है,तो क्रोधसे व्याकुल होकर राक्षससे कहने लगे। रे पापी! जब तू शस्त्रोंकी परीक्षा करता था तभी हमने तुझको पहिचान लिया था। परन्तु मैंने तेरे मारनेपर ध्यानही नहीं किया था। इसीसे तू आज तक बचा रहा; हमने विचारा था, कि अनपराधी, अतिथि, ब्राह्मण, प्रिय-वादी और हमारे प्रिय कामोंका करने-वाला है। जो ब्राह्मणरूप धारण किये हुए राक्षसको जानकर मारता है, सोभी नरकमें जाता है और तेरे मरनेका समयभी नहीं आया था। इसीसे तू

बाडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यसि॥४५॥
यं चाऽसि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः॥४६॥
एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः।
भीत उत्सृज्य तान्सर्वान्युद्धाय समुपस्थितः॥४७॥
अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात्प्रस्फुरिताधरः।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलंबितम्॥४८॥
श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे।
तेषामद्य करिष्यामि तवाऽस्रेणोदकक्रियाम्॥४९॥
एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन्।
स्मयमान इव क्रोधात्साक्षात्कालान्तकोपमः॥५०॥
बाहुसंरम्भमेवैक्षन्नभिदुद्राव राक्षसम्।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम्॥५१॥
मुहुर्मुहुर्व्यादददानः सृक्किणी परिसंलिहन्।

बचा रहा; समयकी बडी विचित्र गति है, क्योंकि तुझे द्रौपदीके हर लेजानेकी बुद्धि हुई, निश्चय अब तेरे मरनेका समय आगया। रे राक्षस! तैंने यह कालरूप सूतसे बन्धी हुई बंसीको निगला है, अब तू मछलीके समान मर जायगा; तैंने अपने मनमें निश्चय करके जिस देशको जाना चाहा था, अब तू वहां नहीं जासकेगा। बरन जिस देशको बक और हिडिम्ब गये हैं, उसी मार्गको तू भी जायगा। (३९-४६)

भीमसेनके ऐसे वचन सुन राक्षसको बहुत डर हुआ, तब वह उन सबको छोड युद्ध करनेको खडा होगया और क्रोधसे ओठोंको फरकाता हुआ भीमसेनसे बोला, कि रे पापी! हमको कोई दिशा अगम्य नहीं है परन्तु तेरेही लिये इतनी देर कर रहे थे, जिस जिस राक्षसको तैंने मारा है हमने उन सबका नाम सुना है आज तेरे रुधिरसे उन सबको जलदान करेंगे। (४७-४९)

राक्षसके ऐसे वचन सुन भीम क्रोधसे अपने ओठोंको चाटने लगे, उनका स्वरूप उस समय ऐसा होगया जैसा प्रलय कालमें यमराजका होता है। भीमसेनने अपने हाथोंको स्पर्श करके राक्षसकी ओर देखा, और जब राक्षसने देखा, कि भीम युद्धके लिये मेरी ओर

अभिदुद्राव संरब्धो बालिर्वज्रधरं यथा ॥ ५२ ॥
वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे ।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ॥ ५३ ॥
न्यवारयत्तौ प्रहसन्कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥
आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च ।
इष्टेन च शपे राजन्सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥ ५५ ॥
इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम् ।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥ ५६ ॥
तयोरासीत्संप्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः ।
अमृष्यमाणयोः संख्ये देवदानवयोरिव ॥ ५७ ॥
आरुज्याऽऽरुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
जीमूताविव गर्जन्तौ निनदन्तौ महाबलौ ॥ ५८ ॥
बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ ।
अन्योन्येनाऽभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥ ५९ ॥
तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकांक्षिणोर्यथा ॥ ६० ॥

दौडे आते हैं तो क्रोधसे बार बार ओठोंको चाटता हुआ भीमकी ओर ऐसे दौडा जैसे इन्द्रके पकडनेको बलि दौडा था । (५०—५२)

उस समय जटासु और भीमसेनका घोर बाहुयुद्ध हुआ, तब नकुल और सहदेव क्रोध करके राक्षसकी ओर दौडे परन्तु कुन्तीनन्दन भीमने उनको रोका और कहा, कि तुम लोग देखते रहो हम अकेलेही इस राक्षसको मार डालेंगे । हे राजन्! हम अपने भाई, धर्म, कर्म, और इष्टकी शपथ करते हैं, कि हम अकेले ही इस राक्षसको मारेंगे (५३—५५)

इस प्रकार परस्पर बडाई करते हुए भीमसेन और राक्षस बाहुयुद्ध करने लगे। उन दोनों क्रोधियोंका युद्ध देवता और दानवके समान हुआ, वे दोनों वृक्ष उखाड उखाड कर एक दूसरेको मारने लगे, दोनों महापराक्रमी वीर मेघके समान गर्जने लगे; उन वीरोंके पैर लगनेसे बडे वृक्ष टूटने लगे। एक दूसरेको मारनेकी इच्छासे महायुद्ध करने लगा, उन दोनोंका वृक्षयुद्ध ऐसा हुआ जैसा पहले समयमें स्त्रीकी इच्छा-

आविध्याऽऽविध्य तौ वृक्षान्मुहूर्तमितरेतरम् ।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥
तस्मिन्देशे यदा वृक्षाः सर्व एव निपातिताः ।
मुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥ ६२ ॥
ततः शिलाः समादाय मुहूर्तमिव भारत ।
महाभ्रैरिव शैलेंद्रौ युयुधाते महाबलौ ॥ ६३ ॥
शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम् ।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥ ६४ ॥
अभिद्रुत्य च भूयस्तावन्योन्यबलदर्पितौ ।
भुजाभ्यां परिगृह्याऽथ चकर्षाते गजाविव ॥ ६५ ॥
मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥ ६६ ॥
ततः संहृत्य मुष्टिं तु पंचशीर्षमिवोरगम् ।
वेगेनाऽभ्यहनद्भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥ ६७ ॥
ततः श्रांतं तु तद्रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।
सुपरिश्रांतमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ६८ ॥

वाले सुग्रीव और वालि का हुआ था । (५६—६०)

वे दोनों वृक्षोंको उखाड उखाड और घुमा घुमाकर मारने लगे, तथा वार वार गर्जने लगे, उन्होंने सब वृक्षोंको उखाड उखाड कर जो मारा वे सब मुंजके समान होकर पृथ्वी पर गिर गये; भीम राक्षसको और राक्षस भीमको मारनेकी इच्छा रखते थे इसी लिये एक दूसरेके ऊपर शिला बरसाने लगे। यह युद्ध थोडी देर तक हुआ; शिला फेंकते हुए राक्षस और भीम ऐसे शोभायमान हुए जैसे महा मेघोंके सहित दो पर्वत । (६१--६३)

महाबलवान जटासुर और भीमसेन वज्रके समान भारी शिलाओंको चलाते हुए युद्ध करने लगे, अभिमानसे भरे हुए महापराक्रमी भीम और जटासुर एक दूसरेको अपने हाथसे पकड कर हाथीके समान खींचने लगे, फिर वे दोनों महात्मा मुक्कोंसे युद्ध करने लगे, तब महा कटकट शब्द होने लगा। अनन्तर भीमसेनने पांच फणके सर्पको पकडनेके समान अपने हाथको राक्षसके कण्ठमें पकडकर उसे जमीन पर वेगसे गिरादिया । भीमके आघात

ततः एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः ।
समुत्क्षिप्य बलाद्भीमो विनिष्पिष्य महीतले ॥ ६९ ॥
तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः ।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ७० ॥
संदष्टौष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृक्षादिव च्युतम् ।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धृतम् ॥ ७१ ॥
पपात रुधिरादिग्धं सन्दष्टदशनच्छदम् ।
तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ॥ ७२ ॥[९०२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि जटासुरवधपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५७ ॥ समाप्तं च जटासुरवधपर्व ॥

अथ यक्षयुद्धपर्व ॥

वैशंपायन उवाच—निहते राक्षसे तस्मिन्पुनर्नारायणाश्रमम् ।
अभ्येत्य राजा कौंतेयो निवासमकरोत्प्रभुः ॥ १ ॥
स समानीय तान्सर्वान्भ्रातॄनित्यब्रवीद्वचः ।
द्रौपद्या सहितान्काले संस्मरन्भ्रातरं जयम् ॥ २ ॥

से वह राक्षस बडा घबराया । जब भीमसेनने देखा कि यह राक्षस अब बहुत थक गया है, तो उसको बलसे उठा कर पृथ्वीपर पटक दिया । (६४–६९)

देव समान महाबाहु पाण्डुनन्दन भीमसेनने राक्षसको पृथ्वीपर पटककर उसके सब शरीरको चूर कर दिया; एक मुक्का मारकर उसका शिर शरीरसे अलग करदिया, उस समय उसके दांत आंख बाहर निकल गये । जैसे ताडका फल वृक्षसे गिरता है, तैसेही राक्षसका सिर खूनसे भीगकर पृथ्वीमें गिरगया। महाधनुधारी भीमसेन जटासुरको मारकर महाराज युधिष्ठिरके पास गये । तब सब ब्राह्मण लोग भीमसेनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे, जैसे मरुतगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं । (७०–७२)

वनपर्वमें एकसौ सतावन अध्याय और जटासुरवध पर्व समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ अठावन अध्याय ।

और यक्षयुद्धपर्व ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! जब जटासुर मारा गया, तब महाराज कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर फिर बदरिकाश्रममें आकर रहने लगे । एकदिन महाराजने अपने सब भाई और द्रौपदीको बुलाकर अर्जुनका स्मरण

समाश्वतस्तोऽभिगताः शिवेन चरतां वने ।
कृतोद्देशः स बीभत्सुः पंचमीमभितः समाम् ॥ ३ ॥
प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम् ।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः ॥ ४ ॥
मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम् ।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा ॥ ५ ॥
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ॥ ६ ॥
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि ।
महापुण्यं पवित्रं च सुरासुरनिषेवितम् ॥ ७ ॥
तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः ।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनाऽमिततेजसा ॥ ८ ॥
पञ्च वर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि ।
अत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम् ॥ ९ ॥
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान्सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः ॥ १० ॥

करके कहा, कि हमलोगोंको वनमें विहार करते हुए चार वर्ष बीत गये, अब पांचवा वर्ष आरम्भ हुआ है और इसी वर्षमें अर्जुन आनेको कह गये हैं; हम लोग अर्जुनका मार्ग देखनेको फले हुए पुष्पोंसे शोभित, मतवाले कोकिल, भौंरे मोर और चातक प्रभृति सबसे शोभायमान, व्याघ्र, सुअर, भैंसे, नील गाय हरिन कुत्तेके पैरवाले जन्तु, (भेडिया आदि) सर्प रूरू (हरिन) आदि पशुओंसे सेवित, फूले हुए सौ और हजार दलले कमल और नील-कमल से भरे हुए, देवता और मुनियोंसे सेवित, पवित्र महापुण्य दायक श्वेत-गिरि पर चलकर रहे । (१—७)

यहां भी हमलोगोंको अर्जुनके देखने की इच्छासे निवास करना चाहिये, क्यों कि महातेजस्वी अर्जुन यहीं आनेको कह गये थे, अर्जुनने कहा है, कि " पांच वर्ष तक अस्त्रविद्याके लिये स्वर्गमें रह-कर हम यहीं आवेंगे " हम शत्रुनाशन गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनको देवलोकसे अस्त्रप्राप्तकर आया हुआ यहीं देखेंगे । ऐसा कह महाराजने सब ब्राह्मणोंको अपने पास बुलाया और उन तपस्वियों से सब कारण कह सुनाया । अनन्तर

कारणं चैव तत्तेषामाचचक्षे तपस्विनाम् ।
तानुग्रतपसः प्रीतान्कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणाम् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च ।
सुखोदर्कमिमं क्लेशमचिराद्भरतर्षभ ॥ १२ ॥
क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा गां पालयिष्यसि ।
तत्तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम् ॥ १३ ॥
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परन्तपः ।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाऽभिरक्षितः ॥ १४ ॥
क्वचित्पद्भ्यां ततोऽगच्छद्राक्षसैरुह्यते क्वचित् ।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः ॥ १५ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा बहून्क्लेशान्विचिन्तयन् ।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ॥ १६ ॥
अवेक्ष्यमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ॥ १७ ॥
उपर्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥ १८ ॥

सब पाण्डवोंने महा तपस्वी और प्रसन्न ब्राह्मणोंकी प्रदक्षिणा की, ब्राह्मणों नेभी प्रसन्न होकर कुशल पूर्वक और आनन्दसे रहनेका आशीर्वाद दिया। (८-१२)

ब्राह्मणलोग बोले, हे भरत कुलसिंह! हे धर्मज्ञ ! अब तुम्हारे सुखके दिन आये; अब आप शीघ्रही राज-धर्मके अनुसार उस दुःखको पार होकर पृथ्वी का पालन करेंगे। महाराज उन सब तपस्वियोंके वचनको ग्रहण करके, अपने भाई और ब्राह्मणोंके सहित वहांसे चले। शत्रुनाशन, महातेजस्वी, उत्तम व्रतोंके धारण करनेवाले, महाराज युधिष्ठिर, अपने भाइयोंके सहित लोमशसे रक्षित होकर राक्षसोंको सङ्ग ले, कहीं पैरों और कहीं राक्षसोंपर चढकर चलने लगे। (१२—१५)

महाराज युधिष्ठिर अनेक क्लेशोंको विचारते हुए, सिंह और व्याघ्रोंसे भरी हुई, उत्तर दिशाको चले। मार्गमें कैलास, मैनाक, गन्धमादन पर्वतोंके शिखर, श्वेत पर्वतको तथा शिला समूहोंको देखा, पर्वतोंके ऊपर अनेक सुखदायक नदियोंको देखते हुए सतरहवें दिन हिमाचल पर्वतके ऊपर पहुंचे। हे

ददृशुः पांडवा राजन्गन्धमादनमान्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ॥ १९ ॥
सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥ २० ॥
तमुपागम्य राजर्षि धर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवन्दन्त गतक्लमाः ॥ २१ ॥
अभ्यनन्दत्स राजर्षिः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
पूजिताश्चाऽवसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥ २२ ॥
अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥ २३ ॥
एकैकशश्च तान्विप्रान्निवेद्य वृषपर्वणि ।
न्यासभूतान्यथाकालं बन्धूनिव सुसत्कृतान् ॥ २४ ॥
पारिबर्हं च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ॥ २५ ॥
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।
अतीतानागते विद्वान्कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ २६ ॥
अन्वशासत्स धर्मज्ञः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।

राजन् ! पाण्डवोंने गन्धमादनके समीप हिमाचल पर्वतपर वृषपर्वाके आश्रमको देखा। वह स्थान परम पवित्र अनेक वृक्षोंसे वेष्टित और झरनोंके समीप पुष्पवाले और फले हुए वृक्षोंसे शोभायमान था। (१९—२०)

शत्रुनाशन पाण्डवलोगोंने थकाई दूर करके, राज-ऋषि धर्मात्मा वृषपर्वाके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। राज-ऋषि वृषपर्वाने भरतकुलसिंह पाण्डवोंका पुत्रके समान आदर किया। शत्रु-नाशन पाण्डवलोग वृषपर्वासे सत्कार पाकर सात दिनों तक उनके आश्रममें रहे; आठवें दिन लोकविख्यात वृषपर्वा मुनिको बुलाकर महाराजने जानेकी आज्ञा मांगी और एक एक ब्राह्मणका नाम सुनाकर महाराजने वृषपर्वाको उनको सौंप दिया और समयके अनुसार बन्धुओंके समान उनका सत्कार करनेको कहा पात्र रत्न और भूषणभी पाण्डवोंने रक्षा के निमित्त वृषपर्वाके आश्रममें छोड दिये। (२१—२६)

बीते और आनेवाले समयको जानने वाले विद्वान महात्मा वृषपर्वाने भरत

तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम्	॥ २७ ॥
तान्प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महीपतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पांडवांस्तदा	॥ २८ ॥
अनुसंसार्य कौंतेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च	॥ २९ ॥
नानामृगगणैर्जुष्टं कौंतेयः सत्यविक्रमः ।
पदातिर्भ्रातृभिः सार्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः	॥ ३० ॥
नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु ।
पर्वतं विविशुस्ते तं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः	॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं सलिलोपहितं शुभम् ।
मणिकांचनरूपस्य शिलानां च समुच्चयान्	॥ ३२ ॥
ते समासाद्य पंथानं यथोक्तं वृषपर्वणा ।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान्	॥ ३३ ॥
उपर्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः ।
सुदुर्गमांस्ते सुबहून्सुखेनैवाऽभिचक्रमुः	॥ ३४ ॥
धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः ।
अगच्छन्सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते	॥ ३५ ॥

कुलसिंह पाण्डवोंको पुत्रके समान शासन किया । तब महात्मा पाण्डवलोग वृष पर्वाकी आज्ञा लेकर उत्तरको चले । उनको चलते हुए देख महातेजस्वी महाराज वृषपर्वा ब्राह्मणोंके सहित उनके पीछे चलने लगे और उनकी रक्षा करने के लिये ब्राह्मणोंको कहा। कुछदूर चल कर महाराज वृषपर्वा उनको आशीर्वाद दे और मार्ग बताकर लौट आये।(२६-२९)

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अनेक पशुओंसे भरे हुए वनको देखते हुए भाइयोंके सहित पैरोंही चलने लगे । पाण्डवलोग अनेक वृक्षोंसे भरे हुए पर्वतके स्थानोंमें निवास करते हुए,चौथे दिन उस पर्वतपर पहुंचे। वह पर्वत अनेक बडे बडे मेघोंके समान सुन्दर और जलसे भरा हुआ था, उस के अनेक शिखर मणि और सोनेके समान थे । वृषपर्वा के कथनानुसार वे लोग अनेक पर्वतों को देखते हुए गमन करने लगे। पर्वत के ऊपर अनेक दुर्गम गुफाओंको देखते हुए,तथा उनको सुख से लांघते हुए चले। (३०--३४)

धौम्य, द्रौपदी, पाण्डव और महर्षि लोमश,ये सब सङ्गही चले, वे कोईभी पीछे

ते मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ।
शाखामृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ॥ ३६ ॥
पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम् ।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ॥ ३७ ॥
ततः किंपुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम् ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३८ ॥
विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च ।
गजसंघसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ॥ ३९ ॥
शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम् ।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ॥ ४० ॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनंदनम् ।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥ ४१॥
द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः ।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान्वल्गून्मदकलाञ्शुभान् ॥ ४२ ॥
श्रोत्ररम्यान्सुमधुराञ्शब्दान्खगमुखेरितान् ।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान्सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान् ॥ ४३ ॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान् ।
आम्रानाम्रातकान्भव्यान्नारिकेलान्सतिन्दुकान्॥ ४४ ॥

न रहा। वे लोग अनेक हरिन और पक्षिओं के शब्दसे शोभित अनेक वृक्ष,लता और बन्दरोंसे सेवित, पवित्र, अत्यंत मनोहर, कमलोंसे भरे हुए तालावोंसे शोभित माल्यवान पर्वतपर पहुंचे। महाभाग पाण्डवलोग सिद्ध और चारणोंसे सेवित किम्पुरुष देशमें पहुंचे। आगे प्रसन्न पाण्डवोंने गन्धमादन पर्वतको देखा उसमें अनेक विद्याधर, किन्नरी, हाथी, सिंह और व्याघ्र वसते थे। (३५—३९)

जहां अनेक शरभोंके शब्द चले आते थे, अनेक हरिनलोग सुखसे विहार करते थे। पाण्डवोंने उस नन्दन वनके समान गन्धमादन वनको देखा। वे वीर पाण्डवलोग मन और हृदयको प्रसन्न करनेवाले और शरण देनेवाले वन में घुमे, द्रौपदी और महात्मा ब्राह्मणोंके सहित वीर पाण्डवलोग कानोंको सुख देनेवाले पक्षियोंके मीठे मीठे शब्दोंको सुनते हुए, सब ऋतुमें फलनेवाले फलोंसे भरे वृक्षोंको देखते हुए, फलोंके भारसे पृथ्वीको छूते हुए आंम, अमडा,

मुञ्जातकांस्तथांजीरान्दाडिमान्बीजपूरकान् ।
पनसाँल्लकुचान्मोचान्खर्जूरानम्लवेतसान् ॥ ४५ ॥
पारावतांस्तथा क्षौद्रान्नीपांश्चापि मनोरमान् ।
बिल्वान्कपित्थान्जंबूंश्च काश्मरीर्बदरीस्तथा ॥ ४६ ॥
प्लक्षानुदुम्बरवटानश्वत्थान्क्षीरिकास्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकबिभीतकान् ॥ ४७ ॥
इंगुदान्करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाबलान् ।
एतानन्यांश्च विविधान्गन्धमादनसानुषु ॥ ४८ ॥
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान्स्वादुभिस्तरून् ।
तथैव चंपकाशोकान्केतकान्बकुलांस्तथा ॥ ४९ ॥
पुन्नागान्सप्तपर्णांश्च कर्णिकारान्सकेतकान् ।
पाटलान्कुटजान्रम्यान्मन्दारेन्दीवरांस्तथा ॥ ५० ॥
पारिजातान्कोविदारान्देवदारुद्रुमांस्तथा ।
शालांस्तालांस्तमालांश्च पिप्पलान्हिंगुकांस्तथा॥ ५१॥
शाल्मलीः किंशुकाशोकाञ्शिंशपाः सरलांस्तथा ।
चकोरैः शतपत्रैश्च भृंगराजैस्तथा शुकैः ॥ ५२ ॥
कोकिलैः कलविंकैश्च हारितैर्जीवजीवकैः
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथाऽन्यैर्विविधैः खगैः ॥ ५३ ॥
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाऽप्यधिष्ठितान् ।

बहेडा, नारियल तेन्दु, मुंजाक, अंजीर, अनार, नीम्ब, कटहल, बढहल, मोच, खजूर, अमलबेंत, परावत, क्षौद्र, नीप, (कदम्बादिक) मनोहर बेल, कैथ, जामुन, खंभारी बैर, बरगद, गूलर, पिलखन, पीपल, चक्र, मेलावा, आमला, हैड, गोंदनी, करौंदा, आदि अनेक वृक्षोंको गंधमादन पर देखते हुए और उनके अमृतके समान फलोंको देखते हुए महात्मा पाण्डवलोग चले।(४०-४९)

पाण्डव लोगोंने केतकी, चम्पा, अशोक, मौलसरी, पुन्नाग, सप्तपर्ण, पाटल, कुटज, रम्यमंदार, इन्दीवर, पारिजात, कचनार, देवदारु,शाल, ताड, तेजपात, हींग, साब्बू, सेम्भर अशोक,सीसो और रालके वृक्षोंको देखा । चकोर, शतपत्र, भौंर, तोते, कोयल, बरे हरेवे, जीव, प्यारे पपीहा, तथा और औरभी अनेक पक्षी सब कानको सुख देनेवाले मीठी मीठी बोली बोल रहे थे । जिस वनमें

सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥ ५४ ॥
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कल्हारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥५५ ॥
कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ॥ ५६ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ॥ ५७ ॥
पद्मोदरच्युतरजःकिञ्जल्कारुणरञ्जितैः ।
मंजुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान्कमलाकरान् ॥ ५८ ॥
अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ॥ ५९ ॥
शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डलकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दाममदनाकुलितान्भृशम् ॥ ६० ॥
कृत्वैव केकामधुरं संगीतं मधुरस्वरम् ।
चित्रान्कलापान्विस्तीर्य सविलासान्मदालसान् ॥६१॥
मयूरान्ददृशुर्हृष्टान्नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित्प्रियाभिः सहितान्रममाणान्कलापिनः ॥६२॥
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।
कांश्चिच कुटजानां तु विटपेषूत्कटानिव ॥ ६३ ॥
कलापरुचिराटोपनिचितान्मुकुटानिव ।

कदम्ब चकवी, चकवे, कुमरी, जलकुक्कुट सारस, हंस, बकुले और टीटीरी आदि अनेक पक्षी प्रसन्न होकर जलमें क्रीडा कर रहे थे जहां तडागोंमें कमलके मध्यसे छूटे हुए, केशरके रङ्गसे रङ्गे हुए भौंरे मीठे मीठे स्वरसे गारहे थे; पुरुष सिंह पाण्डवलोगोंने गन्धमादनपर्वत पर कमलके वनोंसे भरे हुए अनेक तालावों को देखा। (५०—५९)

उन्होंने लताके घरोंमें बैठे हुए; मेघके शब्दोंको सुनकर पञ्चम स्वरसे गाते हुए मदसे भरे हुए, विचित्र शिखावाले अनेक मोरोंको मीठे स्वरसे गाते हुए देखा। उनमेंसे कोई मोर प्रसन्न चित्तसे वनको देखता हुआ नाच रहा था। कोई अपनी प्यारी मोरनीके सङ्ग विहार कर रहा था! कोई लता और वल्लियोंके बीचमें बैठा हुआ वनको देख रहा था।

विवरेषु तरूणां च रुचिरान्ददृशुश्च ते ॥ ६४ ॥
सिन्धुवारांस्तथोदारान्मन्मथस्येव तोमरान् ।
सुवर्णवर्णकुसुमान्गिरीणां शिखरेषु च ॥ ६५ ॥
कर्णिकारान्विकसितान्कर्णपूरानिवोत्तमान् ।
तथाऽपश्यन्कुरबकान्वनराजिषु पुष्पितान् ॥ ६६ ॥
कामवश्यौत्सुक्यकरान्कामस्येव शरोत्करान् ।
तथैव वनराजीनामुदारान्रचितानिव ॥ ६७ ॥
विराजमानास्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथाऽनङ्गशराकारान्सहकारान्मनोरमान् ॥ ६८ ॥
अपश्यन्भ्रमराराबान्मञ्जरीभिर्विराजितान् ।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ॥ ६९ ॥
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्यसदृशैरपि ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ॥ ७० ॥
तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान्बकुलानपि ।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥ ७१ ॥
विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ।

कोई इन्द्रजवके वृक्षके ऊपर उद्यत रूपसे बैठा था, कोई आनन्दसे अपनी वाणी को बोलता हुआ वृक्षकी शाखापर मुकुट के समान बैठा था। (५९—६४)

पाण्डवोंने कामदेवके शस्त्रोंके समान सिन्धुवार और अनेक फूले हुए और सोनेके रङ्गवाले फूलोंको देखा। कानके आभूषणके समान फूले हए अनेक ढाकोंको देखा। नवीन वनमें फूले हए, कुरैआके अनेक वृक्षोंको देखा, उन्होंने वनमें विराजमान सफेद और काले तृणको देखा, उन फूलोंकी शोभा कामदेवके बाणोंके समान थी, जिनको देखतेही पुरुष कामदेवके वशमें हो जाते हैं। यह सब फूल वनमें विराजमान थे, कामदेवके बाणके समान आंमकी मञ्जरियों पर भौंरे गुंज रहे थे। (६५—६९)

उस बनमें कोई फूल सोनेके रङ्गवाले और कोई अग्निके समान रंग वाला था, कोई फूला हुआ वृक्ष लाल, कोई मणिके समान रङ्गवाला था। शाल, आवनूस, पाटली, और मौलसरीके वृक्ष पर्वतके शिखरों पर मालाके समान विराजमान थे। उस पर्वत पर निर्मल स्फटिकके समान स्वच्छ पाण्डुर रंगके पंखवाले

कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ७२ ॥
सरांसि बहुशः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु ।
पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ॥ ७३ ॥
एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः ।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ७४ ॥
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चाऽतिमनोरमान् ।
विविशुः पांडवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः॥ ७५ ॥
कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन्सुखस्पर्शेन वायुना ॥ ७६ ॥
ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद्वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादनकाननम् ॥ ७७ ॥
वने ह्यस्मिन्मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥ ७८ ॥
भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नाऽत्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः॥ ७९ ॥
स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमराराबमधुरा नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ॥ ८० ॥
विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।

कलहंस और सारसोंके शब्दसे शोभायमान अनेक तालावोंको देखा। उन तालावोंमें सफेद और नीले कमल तथा सुन्दर और ठण्डा जल भरा था। (७०—७३)

वीर पाण्डव लोग इस प्रकार चारों ओर सुगन्ध से भरे हुए उत्तम रसवाले फल, फूल, मनोहर तलाव, अत्यन्त रमणीय वृक्ष, कमल, उत्पल, पुण्डरीक आदि अनेक फूलोंकी सुगन्धिसे प्रसन्न होते हुए और शीतल वायुसे सेवित होते हुए वनमें पहुंचे। उस वनके आश्चर्यको देख पाण्डवोंके नेत्र बहुत प्रसन्न हुए। तब महाराज युधिष्ठिरने बहुत प्रसन्न होकर भीमसेनसे कहा, कि भीमसेन! देखो यह गन्धमादन पर्वत कैसी शोभासे भरा हुआ है, देखो इस वनमें कैसे रमणीय वृक्ष अनेक प्रकारकी लता, पत्र और फलोंसे भरे हुए विराजमान हैं, ये फूलोंके गुच्छे कोकिलोंके झुण्डके सहित कैसे शोभायमान हैं, इस वनमें वृक्ष कांटावाला अथवा विना फला हुआ

पश्येमां नलिनीं चाऽन्यां कमलोत्पलमालिनीम्॥८१॥
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवाऽपराम् ।
नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ॥ ८२ ॥
उपगीयमाना भ्रमरै राजन्ते वनराजयः ।
पश्य भीम शुभान्देशान्देवाक्रीडान्समन्ततः ॥ ८३ ॥
अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः॥८४॥
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ।
शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम्॥८५॥
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ।
चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥ ८६ ॥
पत्रिणः पुष्पितानेतान्सम्पतन्ति महाद्रुमान् ।
रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ॥ ८७ ॥
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।
हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ॥ ८८ ॥
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।
वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ॥ ८९ ॥

नहीं है, देखो इस तालावमें कमल फूल रहे हैं, इसमें हाथिनियोंके सहित हाथी विहार करते फिरते हैं। (७४-८१)

देखो इसमें अनेक कमल उत्पल और नीले कमल फूल रहे हैं; इन सब फूलोंसे यह पोखर कोमलमाला धारणी लक्ष्मी के समान विराजमान है। इस उत्तम वन में यह अनेक पुष्पोंकी गन्धोंसे शोभित वृक्ष लगे हैं। हे भीम! देखो! इन वृक्षों पर अनेक भौंरे गीत गाते फिरते हैं, यह सब स्थान देवतोंके खेल करनेके हैं। हे वृकोदर ! ये स्थान मनुष्योंके आने योग्य नहीं हैं, अब हमलोग यहां आके अमानुष गति प्राप्त तथा सिद्ध होगये, देखो इन फूलोंसे भरी हुई लता और उत्तम वृक्ष आपसमें कैसे मिले हैं और उन पर जो मोरनियोंके सहित मोर बैठे हैं, उनके शब्दको सुनो। ८१-८६

चकोर, शतपत्र, मतवारे कोकिल और तोते इन सब फूले और फले वृक्षोंपर विराजमान हैं, देखो लाल, पीले और गुलाबी रंगवाले पक्षी इन वृक्षों पर बैठे हुए एक दूसरेको देख रहे हैं, हरी और लाली रंगकी घास पर बैठे हुए सारस

भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्रिणः।
चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः ॥ ९० ॥
एते वैदूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत्सरः।
बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृङ्गपरिच्युताः। ॥ ९१ ॥
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च।
भास्कराभप्रभा भीमाः शारदाभ्रघनोपमाः ॥ ९२ ॥
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः।
क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित्काञ्चनसन्निभाः ॥ ९३ ॥
धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिंगुलकस्य च।
मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ॥ ९४ ॥
शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः।
सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ॥ ९५ ॥
एते बहुविधाः शैलं शोभयंति महाप्रभाः।
गन्धर्वाः सह कांताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ॥ ९६ ॥
दृश्यंते शैलशृंगेषु पार्थ किंपुरुषैः सह।
गीतानां समतालानां तथा साम्नां च निःस्वनः ॥९७॥

सब पुरुषोंकी प्यारी मीठी बोली बोल रहे हैं। चकवा भौंरा और लोहपृष्ठ आदि पक्षी और चार दांतवाले श्वेत हाथी हथनियोंके सहित विहार कर रहे हैं, ये ताडके समान ऊंचे और पर्वतके समान मोटे हाथी इस मणिके समान जलको मथ रहे हैं। (८९—९१)

देखो, यह शिखरों परसे अनेक झरनोंसे जलकी धारा बह रही हैं। देखो शरद् ऋतुके मेघके समान और सूर्यके समान अनेक धातु इस पर्वत पर विराजमान हैं। कहीं अञ्जनके समान काली और कहीं सोनेके समान रङ्गवाली धातु विराजमान हैं, कहीं हरताल, कहीं सिङ्गरफ और कहीं मनःशिला धातु ऐसे विराजमान हैं, जैसे सन्ध्याके मेघ। कहीं खरहेके रुधिरके समान गेरु बह रहा है। कहीं सफेद और काले मेघके समान अनेक धातु प्रातःकालके सूर्यके समान विराजमान हैं। हे भीम! यह अनेक शोभासे भरे हुए धातु इस पर्वतको शोभित कर रहे हैं। (९२—९६)

वृषपर्वा मुनिके कहनेके अनुसार ये गन्धर्व लोग अपनी स्त्रियोंके सहित विहार कर रहे हैं। हे कुन्तीनन्दन! इन पर्वतोंपर किम्पुरुष सम-तालके सहित

श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ।
महागंगामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ॥ ९८ ॥
कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ।
धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ॥ ९९ ॥
गंधर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ।
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समंततः ॥ १०० ॥
उपेतं पश्य कौंतेय शैलराजमरिंदम ।
वैशम्पायन उवाच–ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ १०१ ॥
नाऽतृप्यन्पर्वतेंद्रस्य दर्शनेन परंतपाः ।
उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ॥ १०२ ॥
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ।
ततस्ते तिग्मतपसं कृशं धमनिसंततम्
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥ १०३ ॥ [६१२३]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि गंधमादनप्रवेशेऽष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८॥

वैशम्पायन उवाच–युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन् ॥ १ ॥

गीत गा रहे हैं और साम वेदका शब्दभी आता है। हे भीम! यह शब्द सब प्राणियोंको प्यारा है। हे भीम! उस पवित्र देवनदी गङ्गा को तुम देखो; अनेक कलहंस किन्नर मृग और पक्षी विहार कर रहे हैं, इसमें अनेक धातु और नदी विराजमान हैं। गन्धर्व, अप्सरा, मनोहर वन अनेक प्रकारके सौ सिरवाले सर्पोंसे विराजमान हैं। हे शत्रुनाशन भीम! इन सब वस्तुओंसे विराजमान पर्वत-राजको देखो। (९७—१००)

श्रीवैशम्पायन मुनिजी बोले, शूरवीर शत्रुनाशन पाण्डव लोग जब उस उत्तम गतिको प्राप्त हुए, तबभी प्रसन्न चित्तसे पर्वतराजके दर्शन करनेसे तृप्त न हुए। तब अनेक फले फूले वृक्षोंसे विराजमान राजऋषि आर्ष्टिषेण मुनिके आश्रम पर पहुंचे। अनन्तर उन्होंने महा तपस्वी दुर्बल, मांसरहित और सब धर्मोंके पार जानेवाले आर्ष्टिषेण मुनिका दर्शन किया। (१०१—१०३) [६१२३]

वनपर्वमें एकसौ अठावन अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ उनसाठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनिजी बोले, हे राजन्! महाराज युधिष्ठिरने अपना नाम सुनाकर आर्ष्टिषेण मुनिको सिरसे प्रणाम

ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे ॥ २ ॥
तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पांडवानां पुरोहितः।
यथान्यायमुपाक्रांतस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ ३ ॥
अन्वजानात्स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
पांडोः पुत्रान्कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाऽब्रवीत ॥ ४ ॥
कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ५ ॥
नाऽनृते कुरुषे भावं कच्चिद्धर्मे प्रवर्तसे।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित्पार्थ न सीदति ॥ ६ ॥
कच्चित्ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु ॥ ७ ॥
सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम्।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे ॥ ८ ॥
यथार्हं मानिताः कच्चित्त्वया नन्दन्ति साधवः।
वनेष्वपि वसन्कच्चिद्धर्ममेवाऽनुवर्तसे ॥ ९ ॥
कच्चिद्धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते।

किया। उन मुनिने तपसे सब पापोंको जला दिया था। अनन्तर द्रौपदी, भीमसेन, तपस्वी नकुल और सहदेवने प्रणाम किया, और राजऋषि आर्ष्टिषेण के चारों ओर बैठे। इसके पश्चात् धर्म जाननेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्य मुनिने उन मुनिसे रीतिके अनुसार वार्तालाप किया। अनन्तर महात्मा आर्ष्टिषेण मुनिने अपनी ज्ञान-दृष्टिसे जाना, कि कुरुवंशी पाण्डु राजाके पुत्र आये हैं; तब उन्होंने सबका सत्कार किया। (१–४)

महातपस्वी आर्ष्टिषेणने कुरुकुलसिंह युधिष्ठिरको भाइयोंके सहित बैठाया और कुशल पूछी और बोले, कि हे कुन्तीनन्दन! तुम्हारी वृत्ति धर्ममें है न? तुम माता और पिताकी सेवा तो करते हो? कहो तुम अपने गुरु, बूढे और वैद्योंकी पूजा तो करते हो? तुम्हारी बुद्धि कभी पापकर्ममें तो नहीं जाती? कहो तुम्हारी बुद्धि धर्म करने और पाप छोडनेमें तो है? हे पुरुषश्रेष्ठ! तुम न्यायके अनुसार धर्म करके कहते तो नहीं हो? तुमसे यथार्थ पूजित होकर साधुलोग प्रसन्न तो रहते हैं? कहो वनमें

दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया ॥ १० ॥
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित्पार्थाऽनुवर्तसे ।
कच्चिद्राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव ॥ ११ ॥
स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः ।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचंति च हसंति च ॥ १२ ॥
किं तस्य दुष्कृतेऽस्माभिः संप्राप्तव्यं भविष्यति ।
किं चाऽस्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम् १३ ॥
पिता माता तथैवाऽग्निर्गुरुरात्मा च पंचमः ।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच— भगवानार्य आऽऽहैतद्यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया ॥ १५ ॥

आर्ष्टिषेण उवाच— अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा ।
जुषंते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसंधिषु ॥ १६ ॥
कामिनः सह कांताभिः परस्परमनुव्रताः ।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप ॥ १७ ॥
अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च ।

रहकर धर्म तो करते हो ? (५—९)

हे कुन्तीनन्दन ! कहो तुम्हारे आचरणोंसे धौम्यको दुःख तो नहीं होता? तुम्हारा धर्म, तप, शील, पवित्रता और अलोभ तो ठीक है न ? हे कुन्तीनन्दन! कहो तुम अपने कुलका धर्म करते हो ? हे कुन्तीनन्दन ! जिस मार्गसे राजर्षि लोग गये हैं, तुम उसीसे चलते हो ? हे पाण्डव ! हे पितृनन्दन ! पितरलोग अपने अपने वंशमें उत्पन्न हुए पुत्रोंको देख प्रसन्न और दुःखी होते हैं । वे लोग विचारते हैं कि, हम इसके सुकर्म से सुख और कुकर्मसे दुःख पाते हैं । पिता, माता, अग्नि, गुरु और आत्मा जो पुरुष इन पांचोंकी पूजा करते हैं, उनके दोनों लोक सुधरते हैं । (१०—१४)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे भगवन् ! आपने जो कुछ कहा ठीक है । हम अपनी शक्ति और न्यायके अनुसार सब कर्म करते हैं, यह सब धर्मके काम हैं । श्रीआर्ष्टिषेण मुनि बोले, प्रतिपदा और पूर्णमासीके दिन इस पर्वत पर जल और वायु भक्षण करनेवाले मुनि लोग आकाशसे आकर इकट्ठे होते हैं । हे कुन्तीनन्दन ! किम्पुरुष कामी लोग अपनी पतिव्रता स्त्रियोंके सहित इन पर्वतके

दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १८ ॥
विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः ।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ॥ १९ ॥
अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसंधिषु ।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निःस्वनः ॥ २० ॥
इहस्थैरेव तत्सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः ।
न कार्या वः कथंचित्स्यात्तत्राऽभिगमने मतिः ॥२१ ॥
न चाऽप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः ।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा ॥ २२ ॥
ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत ।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः ॥ २३ ॥
अस्याऽतिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते ॥ २४ ॥
चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमितः परम् ।
अयःशूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन ॥ २५ ॥
अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः ।

शिखरों पर दिखाई देते हैं। कौषिक के बने हुए निर्मल वस्त्र और माला धारण करके अनेक गन्धर्व और अप्सरा लोग यहां आती हैं। हे राजन्! सुन्दर रूपवाले विद्याधर उत्तम मालाओंको धारण करके इस पर्वत पर आते हैं। बडे सर्प और गरुडादिक भी यहां आते हैं। (१५—१९)

प्रतिपदा और पूर्णमासीको इस पर्वत के ऊपर भेर, शङ्ख, मृदङ्ग और नगारोंका शब्द सुनाई देता है। हे पाण्डवो! तुम वहां जानेकी बुद्धि मत करना, यहीं बैठ कर इन सब शब्दोंको सुनना। हे भरतकुलसत्तम! यहांसे आगे मनुष्य लोग नहीं जा सकते हैं, आगे देवतोंके विहार करनेकी जगह है। हे भारत! यहां पर जो पुरुष चपलता करता है, उसका सब जन्तु द्वेष करते हैं और राक्षस लोग उसे मार डालते हैं। (२०—२३)

हे युधिष्ठिर! इस कैलास शिखरके पार सिद्ध और देवऋषि लोग जा सकते हैं। हे शत्रुनाशन युधिष्ठिर! जो चपलता करके यहांसे आगे जाना चाहता है, उसको राक्षस लोग भाले आदिसे मारते हैं। हे तात! इस स्थानपर प्रतिपदा और पूर्णमासीको नरवाहन महाराज कुबेर

इह वैश्रवणस्तात पर्वसन्धिषु दृश्यते ॥ २६ ॥
शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम् ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ॥ २७ ॥
देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च ।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ॥ २८ ॥
उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसंधिषु ।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ॥ २९ ॥
एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसन्धिषु ॥ ३० ॥
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ॥ ३१ ॥
न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथञ्चन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ॥३२॥ [६१५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे ऊनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

जनमेजय उवाच— आर्ष्टिषेणाश्रमे तस्मिन्मम पूर्वपितामहाः ।
पांडोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ॥ १ ॥

अप्सराओंके सहित आकर यहां दर्शन देते हैं। सूर्यके समान तेजस्वी यक्ष और राक्षसोंके स्वामी कुबेरको शिखर पर बैठे हुए सब लोग देखते हैं। (२४-२७)

देवता दानव सिद्ध और कुबेरके विहार करनेका यह स्थान है। हे भरत सत्तम ! हे तात ! इस शिखर पर बैठ कर कुबेर तुम्बुरु गन्धर्वसे गीत और सामवेद सुनते हैं। हे युधिष्ठिर ! इस पर्वतके रहनेवाले सब प्राणी इन सब आश्चर्यको यहींसे बैठकर देखते हैं, तुम लोग मुनियोंके खाने योग्य सुरस फलों को खाकर अर्जुनके आने तक यहीं रहो परन्तु कभीभी चपलता मत करना । हे तात ! तुम यहां सुखसे निवास और विहार करके शेषमें शस्त्रोंसे जीती हुई पृथ्वीका पालन करना। (२८-३२)

एकसौ उनसाठ अध्याय समाप्त।[६१५५]

वनपर्वमें एकसौ साठ अध्याय ।

राजा जनमेजय बोले, हे तपोधन ! आर्ष्टिषेण मुनिके आश्रमपर पहुंचकर मेरे परदादा पाण्डुके पुत्र दिव्य पराक्रमी

कियन्तं कालमवसन्पर्वते गन्धमादने ।
किं च चक्रुर्महावीर्याः सर्वेऽतिबलपौरुषाः ॥ २ ॥
कानि चाऽभ्यवहार्याणि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद् ब्रूहि सत्तम ॥ ३ ॥
विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम् ।
यद्यच्चक्रे महाबाहुस्तस्मिन्हैमवते गिरौ ॥ ४ ॥
न खल्वासीत्पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम ।
कच्चित्समागमस्तेषामासीद्वैश्रवणस्य च ॥ ५ ॥
तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाऽब्रवीत् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच —एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याऽप्रतिमतेजसः ।
शासनं सततं चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवंति फलानि च ।
शुद्धबाणहतानां च मृगाणां पिशितान्यपि ॥ ८ ॥
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च ।
एवं ते न्यवसंस्तत्र पांडवा भरतर्षभाः ॥ ९ ॥
तथा निवसतां तेषां पंचमं वर्षमभ्यगात् ।

महात्मा पाण्डव लोग उस गन्धमादन पर्वतपर कितने दिन रहे और महा पराक्रमी महा वीर्यवाले लोकवीर पाण्डवोंने वहां रहकर कौनसे कर्म किये सो सब हमसे कहिये; महाबाहु भीमसेनने उस हिमालय पर्वतपर रहकर कौन कौन काम किये ? हम उनके पराक्रमको विस्तार पूर्वक सुनना चाहते हैं। हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! उनसे और यक्षोंसे युद्ध तो नहीं हुआ ? भगवान् आर्ष्टिषेणने कहा था, कि कुबेर आते हैं, तो कहिये, कि उनको कुबेरका दर्शन कैसे हुआ ? क्योंकि पाण्डवोंका चरित्र सुननेसे हमारी तृप्ति नहीं होती है। (१—६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! भरतकुलसिंह पाण्डवोंने अपनी हितकारिणी मुनिकी आज्ञाको सुनकर वैसाही किया। वे लोग पवित्र हिमाचलपर रहते हुए मुनियोंके खाने योग्य रसभरे फलोंको और शुद्ध बाणों-से मारे हुए हरिनोंके मांसको और अनेक प्रकारकी मीठी वस्तुओंको खाते हुए

शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधान्युत ॥१०॥
कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः ।
राक्षसैः सह सर्वैश्च पूर्ववेव गतः प्रभो ॥ ११ ॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ।
अगच्छन्बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम् ॥ १२ ॥
तैस्तत्र विहरद्भिश्च रममाणैश्च पांडवैः ।
प्रीतिमंतो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ॥ १३ ॥
आजग्मुः पांडवान्द्रष्टुं शुद्धात्मानो यतव्रताः ।
ते तैः सह कथां चक्रुर्दिव्यां भरतसत्तमाः ॥ १४ ॥
ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम् ।
ऋद्धिमंतं महानागं सुपर्णः सहसाऽहरत् ॥ १५ ॥
प्राकंपत महाशैलः प्राभृज्यंत महाद्रुमाः ।
ददृशुः सर्वभूतानि पांडवाश्च तदद्भुतम् ॥ १६ ॥
ततः शैलोत्तमस्याऽग्रात्पांडवान्प्रति मारुतः ।
अवहत्सर्वमाल्यानि गन्धवंति शुभानि च ॥ १७ ॥
तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पांडवाः ।
ददृशुः पंचवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी ॥ १८ ॥

निवास करने लगे । इस प्रकार सब पाण्डवोंको वहां रहते हुए, पांचवां वर्ष आरम्भ हुआ, उस समय लोमश मुनि अनेक प्रकारकी कथा कहते रहे । हे पृथ्वीनाथ ! घटोत्कच राक्षसोंके सहित " हम उचित समयपर आवेंगे " यह कहकर पहिलेही चला गया । (७-११

महात्मा पाण्डवोंको उस आश्रमपर रहते और अनेक आश्चर्यको देखते हुए अनेक महीने बीत गये । महात्मा पाण्डवोंके विहार करते समय अनेक व्रतधारी पवित्रआत्मा मुनि और चारण लोग उनको देखने आये । भरतकुल-श्रेष्ठ पाण्डवलोगभी उनसे दिव्य वार्तालाप करने लगे । एक दिन महाह्रदमें रहनेवाले समृद्धियुक्त महासांपको गरुड ने पकडा, उसके पकडनेसे पर्वत हिलगया और वृक्ष टूटने लगे । इस आश्चर्यको सब प्राणियोंके सहित पाण्डवोंने देखा । १२—१६)

उसके पश्चात् वायुने पर्वतके शिखरसे सुगन्धसे भरे हुए सुन्दर फूलोंको पाण्डवों की ओर उडाया । उन पांच रङ्गके फूलोंको मित्रोंके सहित पाण्डवोंने और

भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत्।
विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम् ॥ १९ ॥
सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाबलात्।
पंचवर्णानि पात्यंते पुष्पाणि भरतर्षभ ॥ २० ॥
प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथां प्रति।
खाण्डवे सत्यसंधेन भ्रात्रा तव महात्मना ॥ २१ ॥
गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः।
हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तं च गांडिवम् ॥ २२ ॥
तवापि सुमहत्तेजो महद्बाहुबलं च ते।
अविषह्यमनाधृष्यं शक्रतुल्यपराक्रम ॥ २३ ॥
त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः
हित्वा शैलं प्रपद्यंतां भीमसेन दिशो दश ॥ २४ ॥
ततः शैलोत्तमस्याऽग्रं चित्रमाल्यधरं शिवम्।
व्यपेतभयसंमोहाः पश्यंतु सुहृदस्तव ॥ २५ ॥
एवं प्रणिहितं भीम चिरात्प्रभृति मे मनः।
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलपालिता ॥ २६ ॥

यशस्विनी द्रौपदीने देखा। तब उचित समयपर जनरहित स्थानमें सुन्दरशिला पर सुखसे बैठे हुए महाबाहु भीमसेनसे द्रौपदी बोली, हे भरतकुलसिंह! गरुडके पंखोंसे उठे हुए, वायुने महाबलसे यह रङ्गके पांच फूल फेंके हैं। जो सब प्राणियोंके आगे अश्वरथा नदीमें बह रहे हैं। (१७-२१)

तुम्हारे भाई सत्यवादी महात्मा अर्जुनने खाण्डव वनमें गन्धर्व, सांप, राक्षस और इन्द्रकोभी निवारण कर दिया था, और मायावी राक्षसोंको मारकर गाण्डीव धनुषको प्राप्त किया था। हे भीम! तुम्हारा तेज और बाहुबल बहुत बडा है। हे इन्द्रतुल्य पराक्रम! तुमको कोई नहीं जीतसकता और तुम्हारे तेजको कोई नहीं सह सकता; तुम्हारे बाहुबलके पराक्रमसे सब राक्षसलोग डरते हैं! हे भीमसेन! तुम्हारे पराक्रमसे वे राक्षस इस पर्वतको छोडकर दशों दिशा भागजाते हैं, तुम्हारे मित्रलोग सुखदेने वाले मालाधारी इस पर्वतके शिखरको सुख और निर्भयतासे देखें! हे भीम! बहुत दिनसे हमारी इच्छा थी, कि तुम्हारी बाहुरक्षित होकर इस पर्वतके शिखरको देखती। (२२—२६)

ततः क्षिप्तमिवाऽऽत्मानं द्रौपद्या स परंतपः ।
नाऽमृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ॥ २७ ॥
सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारः कनकप्रभः ।
मनस्वी बलवान्हृप्तो मानी शूरश्च पांडवः ॥ २८ ॥
लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कंधः शालपोत इवोद्गतः ॥ २९ ॥
महात्मा चारुसर्वांगः कंबुग्रीवो महाभुजः ।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूणांश्चापि परामृशत् ॥ ३० ॥
स केसरीव चोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः।
व्यपेतभयसंमोहः शैलमभ्यपतद्बली ॥ ३१ ॥
तं मृगेंद्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि बाणकार्मुकधारिणम् ॥ ३२ ॥
द्रौपद्या वर्धयन्हर्षं गदामादाय पांडवः ।
व्यपेतभयसंमोहः शैलराजं समाश्रितः ॥ ३३ ॥
न ग्लानिर्न च कातर्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः ।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ॥ ३४ ॥
तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम् ।

शत्रुनाशन महाबाहु भीमने द्रौपदीके वचन सुन अपने शरीरसे प्रहार प्राप्त उत्तम बैलके समान उसकी इच्छानुसार करनेकी इच्छा की । श्रीमान्, सिंह और शार्दूलके समान गतिवाले, सोनेके समान रङ्गवाले, मनस्वी, बलवान, अभिमानी, शूर, लालनेत्र और ऊंचे कन्धेवाले, मतवाले हाथीके समान बली, सिंहके समान दांतवाले, शालके समान ऊंचे, महात्मा, सर्वाङ्गसुन्दर, शंखके समान कण्ठवाले महाबाहु भीमसेनने स्वर्णपीठ धनुष, खड्ग और तूणीरको धारण किया । (२७-३०)

अनन्तर सिंह तुल्य उद्धत और मतवाले हाथीके समान भय और मोहको छोडकर चले । मतवाले हाथीके समान गतिवाले भीमको धनुष बाण धारण किये सब प्राणियोंने सिंहके समान चलते देखा। पाण्डुनन्दन भीमने द्रौपदीका आनन्द बढानेके निमित्त हाथमें गदा ले शोक और भयको छोड पर्वतके शिखरकी ओर गमन किया । वायुपुत्र भीमको न ग्लानि न डर न परिश्रम और न कभी दुष्टता आती

बहुतालोच्छ्रयं शृंगमारुरोह महाबलः ॥ ३५ ॥
स किन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान् ।
हर्षयन्पर्वतस्याऽग्रमारुह्य स महाबलः ॥ ३६ ॥
ततो वैश्रवणावासं ददर्श भरतर्षभः ।
कांचनैः स्फाटिकैश्चैव वेश्मभिः समलंकृतम् ॥ ३७ ॥
प्राकारेण परिक्षिप्तं सौवर्णेन समंततः ।
सर्वरत्नद्युतिमता सर्वोद्यानवता तथा ॥ ३८ ॥
शैलादभ्युच्छ्रयवता चयाट्टालकशोभिना ।
द्वारतोरणनिर्व्यूहध्वजसंबाहशोभिना ॥ ३९
विलासिनीभिरत्यर्थं नृत्यन्तीभिः समंततः ।
वायुना धूयमानाभिः पताकाभिरलंकृतम् ॥ ४० ॥
धनुष्कोटिमवष्टभ्य वक्रभावेन बाहुना ।
पश्यमानः स खेदेन द्रविणाधिपतेः पुरम् ॥ ४१ ॥
मोदयन्सर्वभूतानि गन्धमादनसंभवः ।
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ॥ ४२ ॥
चित्रा विविधवर्णाभाश्चित्रमंजरिधारिणः ।
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभिनः ॥ ४३ ॥
रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यविभूषितम् ।

थी । महाबली भीमसेन अनेक ताडोंके समान उंचे घोर रूप और एक मार्ग वाले शिखर पर चढ गये उनको देख किन्नर सर्प मुनि और राक्षस प्रसन्न होने लगे । (३१—३६)

वहां चढकर भीमने कुबेरका घर देखा, वह स्थान सोने और स्फटिकका बना हुआ अनेक स्थानोंसे घिरा हुआ था । चारों ओर से सोनेका बना हुआ, रत्नजडी भीत और बागोंसे शोभित था, पर्वतसे भी उंची अनेक अटारी द्वार तोरण और ध्वजाओंसे शोभायमान था, उस स्थानके चारों ओर अनेक विलासिनी नाचती और गाती फिरती थीं। धनुष्य का एक नोक भूमिपर लगानेसे थोडासा बाहु तेढा करके खडा रहा हुआ भीमसेन दुःखसे कुबेरके नगरको देखने लगा । (३७—४१)

सुगन्धिसे भरा हुआ सब प्राणियों-को सुख देनेवाला गन्धमादनका वायु वहां चलने लगा । भीमसेनने उस शिखर पर अनेक वर्णवाले विचित्र सौन्दर्य

राक्षसाधिपतेः स्थानं ददृशे भरतर्षभः ॥ ४४ ॥
गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ ४५ ॥
ततः शंखमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम् ।
ज्याघोषतलशब्दं च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ॥ ४६ ॥
ततः प्रहृष्टरोमाणस्तं शब्दमभिदुद्रुवुः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ॥४७ ॥
गदापरिघनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ॥ ४८ ॥
ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
तैः प्रयुक्तान्महामायैः शूलशक्तिपरश्वधान् ॥ ४९ ॥
भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ।
अन्तरिक्षगतानां च भूमिष्ठानां च गर्जताम् ॥ ५० ॥
शरैर्विव्याध गात्राणि राक्षसानां महाबलः ।
सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम् ॥ ५१ ॥
गदापरिघपाणीनां रक्षसां कायसंभवाम् ।

धारी परम शोभायुक्त अनेक वृक्षोंको देखा, भीमसेनने अनेक रत्नोंसे खिचे हुए विचित्र मालाधारी कुबेरके स्थानको देखा। महाबल भीमसेन अपने हाथमें गदा, धनुष और खड्ग धारणकर प्राणका प्रेम छोड पर्वतके समान स्थिर होकर बैठ गए। अनन्तर शत्रुओंको कंपानेवाले शङ्खको बजाया धनुष और तालोंका घोर शब्द किया। उस शब्दको सुनकर राक्षसोंके रोएं खडे होगये, अनेक गन्धर्व और राक्षस लोग भीमसेनकी ओर दौडे। (४२—४७)

यक्ष और राक्षस लोगोंने अपने हाथोंमें गदा, परिघ, खड्ग, शूल, शक्ति और परश्वध आदि अनेक शस्त्रोंको धारण किया। हे जनमेजय! तब उन राक्षस और भीमसेनका युद्ध होने लगा। भीमसेनने महावेगवाले मायाके सहित राक्षसोंके छूटे हुए शूल शक्ति और परश्वध आदि शस्त्रोंको अपने बाणों से काट दिया, भूमिमें और आकाशमें खडे हुए, तथा गर्जते हुए राक्षसोंके शरीरोंको अपने बाणोंसे काट दिया, उस समय महाबली भीमसेनके ऊपर रुधिरकी वृष्टि होने लगी, गदा और परिघधारी राक्षसोंसे चारों ओर रुधिरकी

कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समंततः ॥ ५२ ॥
भीमबाहुबलोत्सृष्टैरायुधैर्यक्षरक्षसाम् ।
विनिकृत्तानि दृश्यंते शरीराणि शिरांसि च ॥ ५३ ॥
प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पांडवं प्रियदर्शनम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि सूर्यमभ्रगणैरिव ॥ ५४ ॥
स रश्मिभिरिवाऽऽदित्यः शरैरिनिघातिभिः ।
सर्वानाच्छिन्महाबाहुर्बलवान्सत्यविक्रमः ॥ ५५ ॥
अभितर्ज्यमानाश्च रुवंतश्च महारवान् ।
न मोहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ॥ ५६ ॥
यक्षा विकृतसर्वांगा भीमसेनभयार्दिताः ।
भीमआर्तस्वरं चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः ॥ ५७ ॥
उत्सृज्य ते गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान् ।
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्वना ॥ ५८ ॥
तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः ।
सखा वैश्रवणस्याऽऽसीन्मणिमान्नाम राक्षसः ॥ ५९ ॥
अदर्शयदधीकारं पौरुषं च महाबलः ।
स तान्दृष्ट्वा परावृत्तान्स्मयमान इवाऽऽब्रवीत् ॥ ६० ॥

धारा बहने लगी, भीमसेनके बाहुबलसे छूटे हुए बाणोंने राक्षसोंके शिर और शरीरको काटना आरंभ किया।(४८-५३)

उस समय राक्षसोंसे छिपे हुए भीम का रूप ऐसा दीखने लगा जैसा बादलसे घिरे हुए सूर्यका। उनके बाण ऐसे चलते थे जैसे सूर्यकी किरन। सत्य पराक्रमी भीमसेनने अपने बाणोंसे राक्षसोंको छालिया ! राक्षसोंने भीमसेनको बहुत डराया और अनेक प्रकारके बुरे बुरे शब्दभी कहे, परन्तु भीमसेनको कुछभी डर न हुआ। यक्ष लोग भीमके डरसे व्याकुल और बाणोंसे पीडित होकर अपने अपने शस्त्रोंको डाल डालकर घोर शब्द करने लगे। राक्षस और यक्षलोग महा धनुषधारी भीमसेनके भयसे व्याकुल होकर गदा, शूल, शक्ति और परश्वधोंको छोड कर दक्षिणकी ओर भागे। ५४-५८

उनमें महापराक्रमी महाबाहु मणि मान नामक राक्षस कुबेरका मित्र था। वह महाबली और महापुरुषार्थी मणिमा-न राक्षस सब राक्षसोंको युद्धसे भागते देख कर अपना स्वाभिमान दिखाने लगा। और बोला, कि तुम सबलोगोंको

एकेन बहवः संख्ये मानुषेण पराजिताः ।
प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम् ॥ ६१ ॥
एवमाभाष्य तान्सर्वानभ्यवर्तत राक्षसः ।
शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावत्स पांडवम् ॥ ६२ ॥
तमापतंतं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ।
वत्सदंतैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समार्दयत् ॥ ६३ ॥
मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय परिगृह्य महाबलः ॥ ६४ ॥
विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद्भीमसेनः शिलाशितैः ॥ ६५ ॥
प्रत्यहन्यंत ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः ।
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिताः ॥ ६६ ॥
गदायुद्धसमाचारं बुध्यमानः स वीर्यवान् ।
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ॥ ६७ ॥
ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदंडामयस्मयीम् ।
तस्मिन्नेवांतरे धीमान्प्रजहाराऽथ राक्षसः ॥ ६८ ॥
सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्त्वा भीमस्य दक्षिणम् ।
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ॥ ६९ ॥

एक मनुष्यने हरा दिया ! तुम कुबेरसे जाकर क्या कहोगे ? मणिमान राक्षस सब राक्षसोंसे ऐसा कहकर शक्ति, शूल और गदा धारण करके भीमसेनकी ओर दौडा । जब भीमने उसको मतवारे हाथीके समान वेगसे आते हुए देखा, तो उसके हाथमें अत्यन्त तीक्ष्ण तीन बाण मारे । उन बाणोंके लगनेसे महाबली मणिमानको महाक्रोध हुआ और एक भारी गदा भीमसेनको मारी।(६१-६४)

भीमने उस महाघोर गदाको आकाशसे गिरती हुई देख शिलाको काटनेवाले अनेक बाणोंको मारा । परन्तु वे सब बाण उसमें लगकर टूट गये और उसके वेगको रोक न सके। तब महापराक्रमी बलवान भीमसेनने गदायुद्धकी रीतिसे मणिमानकी गदाको व्यर्थ कर दिया । उसी समयमें मणिमानने लोहेकी बनी सोनेके दण्डवाली एक घोर शक्ति भीमसेनको मारी। वह घोर शब्दवाली शक्ति आकर भीमसेनके दहने हाथमें लगी, वह अग्नि-ज्वालावाली घोर शक्ति भीमसेनके

सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्याऽमितपराक्रमः ।
गदां जग्राह कौन्तेयः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥७० ॥
रुक्मपट्टपिनद्धां तां शत्रूणां भयवर्धिनीम् ।
प्रगृह्याऽथ नदन्भीमः शैक्यां सर्वायसीं गदाम्॥७१ ॥
तरसा चाऽभिदुद्राव मणिमंतं महाबलम् ।
दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि ॥ ७२ ॥
प्राहिणोद्भीमसेनाय वेगेन महता नदन् ।
भंक्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः ॥ ७३ ॥
अभिदुद्राव तं हंतुं गरुत्मानिव पन्नगम् ।
सोऽन्तरिक्षमवप्लुत्य विधूय सहसा गदाम् ॥ ७४ ॥
प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्धनि ।
सेन्द्राशनिरिवेंद्रेण विसृष्टा वातरंहसः ॥ ७५ ॥
हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ।
तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम् ॥ ७६ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि सिंहेनेव गवां पतिम् ।
तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः
भीममार्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ॥७७॥[६२३२]

इति श्रीमहाभारते०आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मणिमद्वधे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६०॥

हाथमें लगकर पृथ्वीपर गई।६५—६९

अनन्तर पराक्रमी कुन्तीन्दन महाधनुषधारी भीम उस शक्तिके लगनेसे क्रोधमें भर कर गदा लेकर राक्षसकी ओर दौडे, भीमने सोनेके पत्रसे जडी हुई, शत्रुओंका भय बढानेवाली लोहेकी गदा को हाथमें लेकर घोर शब्द किया और वेगसे दौडकर वह गदा मणिमानको मारा। महाबल मणिमाननेभी एक तीक्ष्ण शूल भीमसेनको मारा, गदा-युद्ध निपुण भीमसेनने उस त्रिशूलको अपनी गदासे तोड डाला। फिर उसके मारने को दौडे, जैसे सांपके मारनेको गरुड दौडता है। (७०—७४)

महापराक्रमी भीमसेनने आकाशमें कूदके गर्जकर वह गदा मणिमानको मारा; वायुके समान वेगवान भीमसेनके हाथसे छूटकर इन्द्रके वज्रके तुल्य वह गदा उस राक्षसके हृदयमें लगी, उसके लगनेसे वह राक्षस पृथ्वी पर गिर कर मर गया। महापराक्रमी भीमने उस राक्षसको ऐसा मारा, जैसे सिंह बैल को

वैशंपायन उवाच– श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमानां गिरेर्गुहाम् ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ १ ॥
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यन्तः सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २ ॥
द्रौपदीमार्ष्टिषेणाय संप्रधार्य महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूराः शैलमारुरुहुस्तदा ॥ ३ ॥
ततः संप्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।
ददृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिंदमाः ॥ ४ ॥
स्फुरतश्च महाकायान्गतसत्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान्महासत्वान्भीमसेनेन पातितान् ॥ ५ ॥
शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान्दानवान्मघवानिव ॥ ६ ॥
ततस्ते भ्रातरं दृष्ट्वा परिष्वज्य महारथाः ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ ७ ॥
तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिशृंगमशोभत ।

मारता है। जब राक्षसोंने उसे मराहुआ देखा, तो सब बचे हुए राक्षस पूर्व दिशाको भाग गये। (७४-७७) [६२३२]

वनपर्वमें एकसौ साठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ एकसठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महाराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, धौम्य और द्रौपदीने जब अनेक प्रकारके घोर शब्द और गुफाओंकी गुञ्जार सुनी, तो चारों ओर देखने लगे। तब भीमसेनको न पाकर सब लोग व्याकुल होगये। अनन्तर द्रौपदीको आर्ष्टिषेण मुनिके आश्रममें छोडके वीर पाण्डवलोग शस्त्रोंको लेकर पहाड पर चढगये। (१—३)

जब महारथ शत्रुनाशन महाधनुष धारी पाण्डवलोगोंने उस शिखरपर भीमसेनको देखा और भीमसेनके हाथ मरे तडफते हुए, बडे शरीरवाले बलवान महावीर्यवान राक्षसोंको पडे देखा, तथा उनके बीचमें भीमको गदा खड्ग और धनुष धारण किये इस प्रकार विराजमान देखा, जैसे दैत्योंको मारकर इन्द्र विराजमान होते हैं, तब महारथ पाण्डवोंने अपने भाई भीमसेनको गलेमें लपटा लिया और उस उत्तम गतिको प्राप्त होकर सब लोग एक स्थानपर बैठ गये। (४—७)

लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ॥ ८ ॥
कुबेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमब्रवीत्पृथिवीपतिः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच- साहसाद्यदि वा मोहाद्भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत्ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषा वधः ॥ १० ॥
राजद्विष्टं न कर्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ॥ ११ ॥
अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।
कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
विरराम महातेजास्तमेवाऽर्थं विचिंतयन् ।
ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ॥ १४ ॥
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ।

उन धनुषधारी महावीरोंके बैठनेसे यह पर्वतका शिखर ऐसा विराजमान हुआ, जैसे महाभाग लोकपालोंके बैठनेसे स्वर्ग। महाराज युधिष्ठिरने कुबेरका स्थान और उन मरे हुए राक्षसोंको देखकर भीमसेनसे कहा, हे भीम तुमने यह काम चाहे साहससे किया हो, या भूलसे किया हो, परन्तु करने योग्य नहीं था। यह काम ऐसाही हुआ, जैसे निरर्थक मुनिकी हत्या। धर्मके जाननेवाले मुनियोंने कहा है, कि राजाके विरुद्ध कोई काम न करना चाहिये। हे भीमसेन! तुमने यह काम देवतोंके विरुद्ध किया। हे कुन्तीनन्दन! जो कोई अर्थ और धर्मका निरादर करके पापकर्ममें अपनी बुद्धिको लगाता है उसको निश्चय पापका फल मिलता है। यदि तुम हमारा प्रिय काम करना चाहते हो, तो फिर ऐसा काम कभी नहीं करना। (८-१२)

श्रीवैशम्पायन मुनिजी बोले, अर्थ और धर्मके जाननेवाले धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने बलवान भाईसे ऐसा कहकर चुप हो गये। परन्तु महा तेजस्वी युधिष्ठिर इसी बातको अपने मनमें विचारते रहे। (१३-१४)

भीमसेके मारनेसे जो राक्षस बचे थे, वे सब मिलकर कुबेरके स्थान परगये,

ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ॥ १५ ॥
भीममार्तस्वरं चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ।
न्यस्तशस्त्रायुधाः क्लांताः शोणिताक्ततनुच्छदाः ॥१६॥
प्रकीर्णमूर्धजा राजन्यक्षाधिपतिमब्रुवन् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्रासयोधिनः ॥ १७ ॥
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ।
प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ॥ १८ ॥
एकेन सहिताः संख्ये रणे क्रोधवशा गणाः ।
प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणां च नराधिप ॥ १९ ॥
शेरते निहता देव गतसत्त्वाः परासवः ।
लब्धशेषा वयं मुक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ॥ २० ॥
मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ।
स तच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ॥ २१ ॥
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद्वचः ।
द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ॥ २२ ॥
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाऽब्रवीत् ।
अथाऽभ्रघनसंकाशं गिरिशृङ्गमिवोच्छ्रितम् ॥ २३ ॥

वे लोग वेगसे चलकर कुबेरके पास पहुंचे, वहां जाकर भीमसेनके भयसे रोने लगे। अस्त्र शस्त्र छोडकर भागे हुए रुधिरसे भींगे, बाल खुलेवाले राक्षस-लोग कुबेरसे कहने लगे । हे धनेश्वर! आपके सब वीर जो गदा, परिघ, खड्ग तोमरोंसे युद्ध करते थे, उन सबको एक मनुष्यने मार डाला । हे देव ! आपके सब सेवकोंको उस पुरुषने पर्वतके ऊपर चढकर मारडाला । हे यक्ष-राक्षसोंके नाथ ! उस एक मनुष्यने महापराक्रमी महाक्रोधी राक्षसों को मारडाला । हे देव ! आपके मित्र मणिमानके सहित वे सब राक्षस निर्बलके समान मरे हुए पडे हैं; हमलोग भाग कर आपके पास आये हैं । जो कुछ उस पुरुषने कर्म किया था, सो हमने आपसे कह सुनाया; अब जो इच्छा हो सो कीजिये । (१५—२१)

कुबेरने उनके वचन सुन बहुत क्रोध किया और लाल नेत्र करके कहने लगे, कि यह क्या हुआ? कुबेरने भीमसेनका दूसरा अपराध जान महाक्रोध किया और बोले, कि हमारा रथ लाओ; अनन्तर

रथं संयोजयामासुर्गन्धर्वैर्हेममालिभिः ।
तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ॥ २४ ॥
तेजोबलगुणोपेता नानारत्नविभूषिताः ।
शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाऽऽशुगाः॥ २५ ॥
हेषयामासुरन्योन्यं हेषितैर्विजयावहैः ।
स तमास्थाय भगवान्राजराजो महारथम् ॥ २६ ॥
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ।
तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वे यक्षा धनाधिपम् ॥ २७ ॥
रक्ताक्षा हेमसंकाशा महाकाया महाबलाः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशतावराः ॥ २८ ॥
ते जवेन महावेगाः प्लवमाना विहायसा ।
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाऽम्बरम् ॥ २९ ॥
तत्केसरिमहाजालं धनाधिपतिपालितम् ।
कुबेरं च महात्मानं यक्षरक्षोगणावृतम् ॥ ३० ॥
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ।
कुबेरस्तु महासत्त्वान्पाण्डोः पुत्रान्महारथान् ॥ ३१ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान्दृष्ट्वा प्रीतोऽभवत्तदा ।

पर्वतके शिखरके समान ऊंचा और मेघके समान गंभीर कुबेरके रथको गन्धर्व और यक्षोंने जोता। उसमें सोनेकी मालाधारी सब गुणोंसे भरे नेत्रवाले, तेज, बल और गुणोंसे युक्त, रत्नोंसे विभूषित, बहुत शीघ्र चलनेवाले सुन्दर घोडे जोते गये, वे घोडे विजयके शगुन दिखाते हुए शब्द करने लगे; भगवान कुबेर रथपर बैठ कर देवता और गन्धर्वोंसे स्तुति सुनते हुए चले। (२१—२७)

महातेजस्वी महात्मा यक्षराज कुबेरको चलते हुए देख लाल नेत्र महाबलवान सोनेके समान रङ्गवाले बडे शरीरवाले एक सहस्र राक्षसलोग शस्त्रोंको धारण करके और कवच पहनकर उनके संग चले। वे सब राक्षसलोग वेगसे आकाशमें कूदते हुए, मानो आकाशको खींचने लगे। इस प्रकार गन्धमादनकी ओर चले, उस कुबेरसे रक्षित घोडोंका शब्द सुन और यक्ष तथा राक्षसोंके सहित महात्मा कुबेरको आते पाण्डवोंने देखा; सुन्दर कुबेरको देखतेही पाण्डवोंके रोंवें खडे होगये। (२८ — ३१)

देवकार्यं चिकीर्षन्स हृदयेन तुतोष ह ॥ ३२ ॥
ते पक्षिण इवाऽऽपेतुर्गिरिश‍ृङ्गं महाजवाः ।
तस्थुस्तेषां समभ्याशो धनेश्वरपुरःसराः ॥ ३३ ॥
ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान्प्रति भारत ।
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारमवास्थिताः ॥ ३४ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम् ।
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित् ॥ ३५ ॥
अपराद्धमिवाऽऽत्मानं मन्यमाना महारथाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य धनेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सद्यासनवरं श्रीमत्पुष्पकं विश्वकर्मणा ।
विहितं चित्रपर्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः ॥ ३७ ॥
तमासीनं महाकाया शंकुकर्णा महाजवाः ।
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३८ ॥
शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाऽप्सरसां गणाः ।
परिवार्योपतिष्ठन्त तथा देवाः शतक्रतुम् ॥ ३९ ॥
कांचनीं शिरसा बिभ्रद्भीमसेनः स्रजं शुभाम् ।

कुबेरनेभी महारथ और महा पराक्रमी पाण्डवोंको धनुष और खड्ग धारण किये हुए। देखा, तब कुबेर उनसे बहुत प्रसन्न हुए। कुबेर देवतोंके कामकी इच्छा करके पाण्डवोंसे प्रसन्न होगये। हे राजन्! उसी समय उस पर्वतके शिखरपर कुबेरके संग चलनेवाले महापराक्रमी पक्षीके समान उडते हुए अनेक राक्षस थे। जब उन्होंने कुबेरको प्रसन्न चित्तसे पाण्डवोंके पास खडे हुए देखा, तो वे लोगभी क्रोधरहित होकर खडे होगये। महात्मा पाण्डवोंने हाथ जोडके कुबेरको प्रणाम किया। धर्म जानने वाले युधिष्ठिर महारथ नकुल और सहदेव अपनेको अपराधी जान हाथ जोडे। (३२—३६)

कुबेरभी शोभासे भरे हुए, विश्वकर्माके बनाये विचित्र पुष्पक विमानमें बैठे; उनके बैठते ही बडे शरीरवाले महावेगवान यक्ष और राक्षस लोगभी चारों ओर बैठ गये। सैकडों हजारों अप्सरा और गन्धर्व उनके चारों ओर बैठ गये। उस समय कुबेर देवतोंके सहित इन्द्रके समान शोभा पाने लगे; अपने शिरपर सोनेकी माला धारण किये, फांसी खड्ग और धनुषको अपने

पाशखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ॥ ४० ॥
भीमसेनस्य न ग्लानिर्विक्षतस्याऽपि राक्षसैः ।
आसीत्तस्यामवस्थायां कुबेरमपि पश्यतः ॥ ४१ ॥
आददानं शितान्बाणान्योद्धुकाममवस्थितम् ।
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ॥ ४२ ॥
विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम् ।
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं भ्रातृभिः सह ॥ ४३ ॥
न च मन्युस्त्वया कार्यो भीमसेनस्य पाण्डव ।
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ॥ ४४ ॥
व्रीडा चाऽत्र न कर्तव्या साहसं यदिदं कृतम् ।
दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ॥ ४५ ॥
न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ ।
कर्मणा भीमसेनस्य मम तुष्टिरभूत्पुरा ॥ ४६ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत ।
नैतन्मनसि मे तात वर्तते कुरुसत्तम ॥ ४७ ॥
यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि ।

हाथ में लिये भीमसेनभी कुबेरकी ओर देखने लगे । (३७–४०)

राक्षसोंके युद्धमें घाव लगनेपरभी भीमसेनको कुछ थकाई और दुःख नहीं हुआ था । कुबेरको देखते समयभी उनको कुछ भय नहीं था; जब कुबेरने तीक्ष्ण बाण धारण किये युद्धकी इच्छासे खडे भीमसेनको देखा तो युधिष्ठिरसे कहने लगे । हे कुन्तीनन्दन ! तुम सब प्राणियोंके कल्याणको चाहनेवाले हो; इसलिये अपने भाइयोंके सहित बेडर होकर इस पर्वतके शिखरपर निवास करो । हे पाण्डव ! तुम भीमसेनके ऊपर कुछ क्रोध मत करना, इन सब राक्षसोंका काल आगया था, इसीसे मर गये । तुम्हारा भाई केवल निमित्त होगया है । भीमसेनने जो यह कर्म किया है, तुम इससे कुछ लज्जा मत करो ! देवतोंने पहलेही यक्ष और राक्षसोंका नाश विचारा था । हे भरतकुलसिंह ! मुझे भीमके ऊपर कुछ क्रोध नहीं है, मैं इनके कर्मसे पहलेभी बहुत प्रसन्न हुआ था । (४१–४६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर कुबेर भीमसेनसे बोले, हे कुरु

मामनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ॥ ४८ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाऽहं प्रीतिमांस्त्वयि ।
शापादद्य विनिर्मुक्तो घोरादस्मि वृकोदर ॥ ४९ ॥
अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा ।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित्तस्यैषा निष्कृतिः कृता ॥ ५० ॥
दृष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पांडवनंदन ।
न तवाऽत्राऽपराधोऽस्ति कथंचिदपि पांडव ॥ ५१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तवैतच्छापकारणम् ॥५२ ॥
इदं चाऽऽश्चर्यभूतं मे यत्क्रोधात्तस्य धीमतः ।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ॥ ५३ ॥
धनेश्वर उवाच— देवतानामभून्मन्त्रः कुशावत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राऽहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ॥ ५४ ॥
यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ।
अध्वन्यहमथाऽपश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ ५५ ॥

सत्तम ! हे तात! तुमने जो कर्म किया, हमारे मनमें उसका कुछ विचार नहीं है । हे भीम ! तुमने जो द्रौपदीके निमित्त हमारा और देवतोंका अनादर करके यह साहस कर्म किया, उससे हमारा यक्ष तथा राक्षसोंका अपमान हुआ--तुमने जो अपने बलसे यह कर्म किया इससे हम बहुत प्रसन्न हुए। हे वृकोदर! एक समय हमारे किसी अपराधके कारण महा--ऋषि अगस्त्य क्रुद्ध हुए थे और उन्होंने हमको घोर शाप दिया था। आज हम उस घोर शापसे छूटगये; हे पाण्डव ! पहलेसेही हमारा दुःख निर्दिष्ट था, उसमें तुम्हारा कुछ अपराध नहीं। (४७—५१)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भगवन्! महात्मा अगस्त्यने आपको शाप क्यों दिया था, इस कथाको हम विस्तार पूर्वक सुनना चाहते हैं, हमको यह बहुत आश्चर्य मालूम होता है, कि बुद्धिमान अगस्त्यके क्रोधसे आप अपने अनुचरोंके सहित भस्म न हो गये। (५२—५३)

कुबेर बोले, हे नरेश्वर ! कुशावती स्थानमें देवतोंकी एक सभा हुई थी; उस सभामें मैंभी तीन सौ महापद्म यक्षोंके सहित गया था, मेरे सङ्ग जो यक्ष थे वे शस्त्रधारी और अनेक घोर रूपवाले थे, मुझे मार्गमें मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य

उग्रं तपस्तप्यमानं यमुनातीरमाश्रितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं पुष्पितद्रुमशोभितम् ॥ ५६ ॥
तमूर्ध्वबाहुं दृष्ट्वैव सूर्यस्याऽभिमुखे स्थितम् ।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ॥ ५७ ॥
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्मणिमान्नाम मे सखा ।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च पार्थिव ॥ ५८ ॥
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्धनि ।
स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव ॥ ५९ ॥
मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ।
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर ॥ ६० ॥
तस्मात्सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात् ।
त्वं चाऽप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मतिः ।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्बिषाद्विप्रमोक्ष्यसे ॥ ६१ ॥
सैन्यानां तु तवैतेषां पुत्रपौत्रबलान्वितम् ।
न शापं प्राप्स्यते घोरं तत्तवाज्ञां करिष्यति ॥ ६२ ॥
एष शापो मया प्राप्तः प्राक्तस्मादृषिसत्तमात् ।

मिले। वे यमुनाके तीर पर फले हुए वृक्ष और अनेक पक्षियोंसे शोभित वन-में तेजके समूह अग्निकी समान प्रकाश-मान बैठे थे। वे सूर्यकी ओर मुख किये बाहू ऊपर कर घोर तप कर रहे थे। (५४—५७)

हे पृथ्वीनाथ ! मेरे मित्र राक्षसोंके राजा श्रीमान् मणिमानने मूर्खता अज्ञान अभिमान और भूलसे वहां थूक दिया, वह थूक आकाशसे गिरकर महर्षि अगस्त्यके शिर पर गिरा, वे अपनी दृष्टिसे दशोंदिशाओंको भस्म करते हुए मुझसे बोले, हे धनेश्वर ! तेरे दुष्टात्मा मित्रने तेरे आगे जो मेरा निरादर किया है, उसका फल तुमको शीघ्रही मिलेगा, यह तुम्हारा दुर्बुद्धि मित्र इस सब सेना के सहित एक मनुष्यके हाथसे मारा जायगा, इन सबके मरनेसे तुम्हें भी बहुत क्लेश होगा, तुम भी उस सैन्यके नाश करनेवाले मनुष्यको देखकर शापसे मुक्त होगा। जो तुम्हारी आज्ञाका पालन करेगा, वह अपने पुत्र, पौत्र और सेना के सहित इस शापसे बचेगा। हे महा-राज ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने पहिले यह शाप मुझे दिया था, आज तुम्हारे भाई भीमने उस शापसे हमें छुडा

स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोक्षितः ॥६३॥ [६२९५]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरदर्शने, एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

धनद उवाच— युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानानामेष पंचविधो विधिः ॥ १ ॥
धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नराः कृतयुगेऽभवन् ॥ २ ॥
धृतिमान्देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीं चिरम् ॥ ३ ॥
य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥ ४ ॥
देशकालान्तरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम् ।
संप्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ॥ ५ ॥
यस्तु केवलसंरम्भात्प्रपातं न निरीक्षते ।
पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवाऽनुवर्तते ॥ ६ ॥
कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्याणामविशेषवित् ॥ ७ ॥

दिया। (५८—६३) [६२९५]

वनपर्वमें एकसौ एकसठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ बासठ अध्याय ।

कुबेर बोले, हे युधिष्ठिर ! धृति, दक्षता, देश, समय और पराक्रम यही लोकमें कार्य करनेके पांच हेतु हैं। हे भारत ! धृतिशील और यत्नोंमें कुशल, अपने अपने कर्मोंको करनेवाले, पराक्रम और विधानके जाननेवाले पुरुष सतयुग में होते थे। बुद्धिमान देश कालके जाननेवाले धर्मों और सब विधानोंका पण्डित क्षत्री बहुत काल तक पृथ्वीका राज करता है। हे क्षत्रिय श्रेष्ठ ! हे वीर! हे कुन्तीनन्दन ! जो पुरुष इस प्रकार सब कामोंमें बर्त्ताव रखते हैं, उनको इस लोकमें यश और परलोकमें उत्तम गति मिलती है। (१ — ४)

देखो वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्र देश कालके अनुसार पराक्रम करके वसुओं के सहित स्वर्गमें देवतोंके राजा हो गये, जो मूर्ख केवल क्रोधके वशमें होकर कर्मको नहीं देखता है, वह केवल पापके फलही को भोगता है। जो समय और कर्मको नहीं जानता है, वह कर्मोंके न जाननेवाला मूर्ख दोनों लोकमें नष्ट हो जाता है। जो मूर्ख वृथा क्रोध करता

वृथाचारसमारंभः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
साहसे वर्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम् ॥ ८ ॥
सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ।
अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्षणः ॥ ९ ॥
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ।
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम् ॥ १० ॥
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ।
अलकाः सह गंधर्वैर्यक्षाश्च सह किन्नरैः ॥ ११ ॥
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः ।
रक्षिष्यंति महाबाहो सहितं द्विजसत्तमैः ॥ १२ ॥
साहसादनुसंप्राप्तः प्रतिबुध्य वृकोदरः ।
वार्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृतां वर ॥ १३ ॥
अतः परं च वो राजन्द्रक्ष्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यंति वो राजन्रक्षिष्यंते च वः सदाः ॥ १४ ॥
तथैव चाऽन्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।
आहरिष्यंति मत्प्रेष्याः सदा वः पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥
यथा जिष्णुर्महेंद्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।

है, उसका इस लोकमें और परलोक में नाश हो जाता है। जो केवल साहसके वशमें होकर पाप करता है और जो दुष्टात्मा सब कर्म करनेकी इच्छा करता हैं, उसको निश्चयही पाप होता है।(५-८)

हे पुरुषसिंह! यह तुम्हारा भाई भीमसेन धर्मको न जाननेवाला, अभिमानी, बालबुद्धि, क्रोधी और भय-रहित है, तुम इसको अपनी आज्ञामें रखो। हे महाबाहु ! हे मनुष्येन्द्र ! तुम राजऋषि आर्ष्टिषेणके आश्रम पर जाकर कृष्णपक्ष के पुन्दरह दिन शोक और भयसे रहित होकर रहो। अलका निवासी गन्धर्व किन्नर यक्ष और वनवासी लोग हमारी आज्ञासे तुम्हारी और तुम्हारे साथ रहनेवाले द्विजोंकी रक्षा करेंगे। हे धर्म जानने वालोंमें श्रेष्ठ ! हे राजन् ! यह तुम्हारा भाई भीमसेन जो केवल साहसही से युद्ध करता है तुम इसको रोको। (९—१३)

हे राजन्! आजसे वनवासी लोग तुम्हें देखेंगे; तुम्हारी रक्षा करेंगे; ये लोग तुम्हारे लिये अन्न, स्वादु जल तथा और भी अनेक प्रकारकी वस्तु ला दिया करेंगे। हे युधिष्ठिर ! जैसे इन्द्रके अर्जुन,

धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः॥ १६॥
आत्मजावात्मसंपन्नौ यमौ चोभौ यथाऽश्विनोः।
रक्ष्यास्तद्वन्ममाऽपीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ॥ १७॥
अर्थतत्त्वविधानज्ञः सर्वधर्मविधानवित्।
भीमसेनादवरजः फाल्गुनः कुशली दिवि ॥ १८॥
याः काश्चन मता लोके स्वर्ग्याः परमसंपदः।
जन्मप्रभृति ताः सर्वाः स्थितास्तात धनंजये॥ १९॥
दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम्।
एतान्यपि महासत्वे स्थितान्यमिततेजसि ॥ २०॥
न मोहात्कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम्।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयंति नरा नृपु ॥ २१॥
स देवपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्तिवर्धनः।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ॥ २२॥
योऽसौ सर्वान्महीपालान्धर्मेण वशमानयत्।
स शांतनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः ॥ २३॥
प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गांडीवधन्वना।
सम्यक्चाऽसौ महावीर्यः कुलधुर्येण पार्थिवः॥ २४॥

वायुके भीम, धर्मके तुम, अश्विनीकुमारके नकुल और सहदेव योगसे उत्पन्न हुए पुत्र हैं और वे लोग जैसे तुम्हारी सबकी रक्षा करते हैं, तैसेही हम भी तुम्हारी रक्षा करेंगे। (१४—१७)

अर्थके तत्त्वज्ञ और सब धर्मोंके जानने वाले भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन स्वर्गमें कुशलसे हैं। हे तात! जो स्वर्गकी सम्पदा इस लोकमें दुर्लभ हैं वे सब जन्म भरसे अर्जुनमें स्थित हैं, महातेजस्वी अर्जुनमें दम (इन्द्रियोंको जीतनेकी शक्ति) दान, बल, बुद्धि, लज्जा, धृति शक्ति और उत्तम तेज हैं। हे पाण्डव! महा बलवान अर्जुन कभी भूलसेभी बुरा काम नहिं करता है; कोई पुरुष उसे झूठा नहीं कहता है। (१८—२१)

हे भारत! महात्मा कुरुवंशकी कीर्त्ति बढानेवाले अर्जुनको देवता और गन्धर्वभी मानते हैं। अब वह इन्द्रके घरमें शस्त्रविद्या सीखते हैं। हे कुन्तीनन्दन! जिसने धर्मसे सब राजोंको अपने वशमें किया था वही महातेजस्वी शान्तनु

पितॄन्देवानृषीन्विप्रान्पूजयित्वा महातपाः ।
सप्त मुख्यान्महामेधानाहरद्यमुनां प्रति ॥ २५ ॥
अधिराजः स राजंस्त्वां शांतनुः प्रपितामहः ।
स्वर्गजिच्छक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच–एतच्छ्रुत्वा तु वचनं धनदेन प्रभाषितम् ।
पांडवाश्च ततस्तेन बभूवुः संप्रहर्षिताः ॥ २७ ॥
ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभः ।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदरः ॥ २८ ॥
ततोऽब्रवीद्धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम् ।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नंदिवर्धनः ॥ २९ ॥
स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसताऽमित्रतापनाः ।
कामान्न परिहास्यंति यक्षा वो भरतर्षभाः ॥ ३० ॥
शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुनरेष्यति ।
साक्षान्मघवता सृष्टः संप्राप्स्यति धनंजयः ॥ ३१ ॥
एवमुत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम् ।

तुम्हारे भाई गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनके कर्मोंसे प्रसन्न हो रहे हैं, महात्मा और महाबलवान अर्जुन अपने कुल में श्रेष्ठ हैं। तुम्हारे प्रपितामह सब राजोंके राजा महाराज शान्तनुने पितर देवता, ऋषि और ब्राह्मणोंकी पूजा करके यमुनाके तटपर सात अश्वमेधयज्ञ की थी। वही महाराज आज स्वर्गमें हैं और तुम्हारी कुशल पूछते हैं। (२२-२६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुबेरके ऐसे वचन सुन पाण्डव लोग बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर कुरुकुलसिंह भीमने शक्ति, गदा, खड्ग और धनुषको रोदेसे रहित करके चलनेकी इच्छा की और कुबेर को प्रणाम किया। तब शरणागत की रक्षा करनेवाले कुबेरने शरणागत भीमसे कहा कि तुम अपने शत्रुओंको मारनेवाले और मित्रोंके आनन्द बढानेवाले हो। हे भरतकुलसिंह पाण्डवो! तुम लोग जब अपने रमणीय आश्रमोंमें रहोंगे, तब यक्षलोग तुम्हारी रक्षा करेंगे। हे शत्रुओं के नाश करनेवालो! तुम्हारा कोई काम कभी नष्ट न होगा। अर्जुनभी शीघ्र ही शस्त्रोंको सीख साक्षात् इन्द्रके घरसे आवेंगे। (२७—३१)

गुह्यकोंके राजा कुबेर उत्तम कर्मवाले युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अन्तर्द्धान हो

अस्तं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिपः ॥ ३२ ॥
तं परिस्तोमसंकीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः ।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३३ ॥
पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति ।
बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यथा ॥ ३४ ॥
ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः ।
प्रकर्षंत इवाऽभ्राणि पिबंत इव मारुतम् ॥ ३५ ॥
ततस्तानि शरीराणि गतसत्वानि रक्षसाम् ।
अपाकृष्यंत शैलाग्राद्धनाधिपतिशासनात् ॥ ३६ ॥
तेषां हि शापकालः स कृतोऽगस्त्येन धीमता ।
समरे निहतास्तस्माच्छापस्यांतोऽभवत्तदा ॥ ३७ ॥
पांडवाश्च महात्मानस्तेषु वेश्मसु ताः क्षपाः ।
सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्वराक्षसैः ॥ ३८ ॥ [६३३३]

इति श्रीमहाभारते० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः १६२

वैशम्पायन उवाच—ततः सूर्योदये धौम्यः कृत्वाऽऽह्निकमरिन्दम ।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ १ ॥
तेऽभिवाद्याऽऽर्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह ।

गये । उनके पीछे रत्न विभूषित अनेक पुष्पमालासे विराजमान विमानों पर चढकर अनेक यक्ष और राक्षस कुबेरके स्थानको चले, पक्षियोंके शब्दके समान घोडोंका शब्द ऐसा होता था, जैसा इन्द्रके नगरमें ऐरावतका शब्द होता है । वह कुबेरके घोडे मेघको चीरते और वायुको पीते शीघ्रतासे आकाश को चले । तब कुबेरकी आज्ञासे मरे हुए राक्षसोंके शरीर पर्वतसे उठाके फेंके गये, बुद्धिमान अगस्त्य मुनिने जो राक्षसोंको शाप दिया था, उसका अन्त इस युद्धमें हुआ । महात्मा पाण्डवोंने उस स्थानमें उस रात्रिको व्यतीत किया । राक्षसोंने उनका बहुत सन्मान किया । (३२–३८) [६३३३]

वनपर्वमें एकसौ बासठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ तिरसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनमुनि बोले, हे शत्रुनाशन जनमेजय ! सूर्य उदय होने पर धौम्य ऋषि आर्ष्टिषेण मुनिके सहित नित्यक्रिया समाप्त करके पाण्डवोंके पास गये । पाण्डवोंने आर्ष्टिषेण और धौम्य को प्रणाम करके हाथ जोडके

ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ॥ २ ॥
ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
असौ सागरपर्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति ।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽतिविराजते ॥ ४ ॥
इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः ।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चैव शोभितम् ॥ ५ ॥
एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च ।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ॥ ६ ॥
अतश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै प्रजाः ।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः ॥ ७ ॥
यमस्तु राजा धर्मज्ञः सर्वप्राणभृतां प्रभुः ।
प्रेतसत्वगतिं ह्येनां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ८ ॥
एतत्संयमनं पुण्यमतीवाऽद्भुतदर्शनम् ।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्यापरमया युतम् ॥ ९ ॥
तं प्राप्य सविता राजन्सत्येन प्रतितिष्ठति ।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
एतं पर्वतराजानं समुद्रं च महोदधिम् ।

सब ब्राह्मणोंकी पूजा की। (१-२)

तब धौम्य मुनिने युधिष्ठिरका दहना हाथ पकड कर और पूर्व दिशाको देख कर कहा, हे महाराज! इस समुद्रपर्यन्त की भूमिको घेरे हुए यह पर्वतराज मन्दराचल विराजमान है। हे पाण्डव! पर्वत और वनोंसे शोभायमान इस दिशा की इन्द्र और कुबेर रक्षा करते हैं, बुद्धिमान और सब धर्मोंको जाननेवाले लोग इसी दिशामें इन्द्र और कुबेरका स्थान बतलाते हैं। इसी कारणसे धर्मको जाननेवाले ऋषि, सिद्ध, साधु और देवता लोग उदय होते सूर्यकी उपासना करते हैं। (३—७)

धर्मको जाननेवाले और सब प्राणियोंके स्वामी राजा यम मृतलोगोंके गम्य इसी दक्षिण दिशामें निवास करते हैं। यह संयमन नामक परम पवित्र और अद्भुत प्रेतराजका ऋद्धिसिद्धिसे भरा स्थान है। सूर्य जब इस पर जाते हैं तो सत्यसे स्थिर होते हैं और पर्वतराज पर जाकर अस्त होते हैं, बुद्धिमान लोग उसे

आवसन्वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ॥ ११ ॥
उदीचीं दीपयन्नेव दिशं तिष्ठति वीर्यवान् ।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः ॥ १२ ॥
यस्मिन्ब्रह्मसदश्चैव भूतात्मा चाऽवतिष्ठते ।
प्रजापतिः सृजन्सर्वं यत्किञ्चिज्जङ्गमागमम् ॥ १३ ॥
यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान्मानसान्दक्षसप्तमान् ।
तेषामपि महामेरुः शिवं स्थानमनामयम् ॥ १४ ॥
अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरेवोदयन्ति च ।
सप्त देवर्षयस्तात वसिष्ठप्रमुखास्तदा ॥ १५ ॥
देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
यत्राऽऽत्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः ॥ १६ ॥
यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवम् ।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते ।
देवापि यं न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ॥ १८ ॥
अत्यर्कानलदीप्तं तत्स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।
स्वयैव प्रभया राजन्दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥ १९ ॥

अस्ताचल कहते हैं इस पर्वतराज और समुद्रमें निवास करते हुए महाराज वरुण प्रजाकी रक्षा करते हैं। (८–११)

उस उत्तर दिशामें महा वीर्यवान कल्याणकारी मेरु है इसीमें ब्रह्मको जाननेवाले जीव प्राप्त होते हैं, इसी पर्वतराजमें प्रजापतिकी सभा है, इसी पर्वतराजमें प्रजापतिने प्रथम स्थावर जंगमात्मक सृष्टि रची थी। दक्ष आदि ब्रह्माके मानसिक सात पुत्रभी इसी पर्वतराज मेरुपर निवास करते हैं, हे राजन्! वसिष्ठादि सप्तऋषि इसी पर्वतपर उदय होके इसी पर्वत पर अस्त होते हैं। १२-१५

वह देखो धूलसे रहित मेरुका शिखर है इसीपर देवलोकके सहित ब्रह्मा निवास करते हैं। जिनको सब प्राणियोंकी गति कहते हैं; वही अनादि अनन्त नारायण ब्रह्माके स्थानसे परम प्रकाशमान हैं, उनके तेज भरे स्थानको देवतालोग भी नहीं देख सकते हैं। जहां सूर्य और अग्निको प्रकाश नहीं होता जो अपने तेजसे अत्यन्त प्रकाशमान हैं, जिसको देवताभी नहीं देख सकते हैं, वही महात्मा विष्णुका स्थान है। पूर्वदिशामें

प्राच्यां नारायणस्थानं मेरावति विराजते।
यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः ॥ २० ॥
भासयन्सर्वभूतानि सुश्रियाऽभिविराजते।
नाऽत्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः ॥ २१ ॥
प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां कुरुसत्तम।
न तं ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति पाण्डव॥२२॥
स्वयं प्रभुरचिन्त्यात्मा तत्र ह्यतिविराजते।
यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम् ॥ २३॥
परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः।
योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः ॥ २४ ॥
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत।
स्वयंभुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम् ॥ २५ ॥
स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम्।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत्प्रणमाऽत्र युधिष्ठिर ॥ २६ ॥
एनं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥ २७ ॥

नारायणका स्थान मेरुपर्वत पर अत्यन्त शोभायमान है, जिसमें प्राणियोंके स्वामी अपनेसे आप उत्पन्न होनेवाले और सम्पूर्ण जगतको प्रकाश करनेवाले विराजमान हैं। (१६—१९)

हे कुरुसत्तम! इस स्थानमें ब्रह्मऋषि ही नहीं पहुंचते हैं तो और ऋषि कैसे पहुंचेंगे? यहां केवल यतियोंका ही प्रवेश है। हे पाण्डव! यहां कोई तारा प्रकाश नहीं होते हैं; अचिन्त्य आत्मा भगवान विष्णु यहीं निवास करते हैं, इस स्थानमें यति लोग नारायणकी भक्ति करके वहां पहुंचते हैं। परम तपस्यासे युक्त, शुभकर्मोंसे अंतःकरणकी शुद्धि करनेवाले, योगाभ्याससे सिद्ध बने हुए, अज्ञान और मोहसे रहित महात्मा लोग; वहां जाकर उस सनातन देवदेव स्वयंभु महान आत्मा को प्राप्त हो कर पश्चात्, हे भरत कुलोत्पन्न! इस लोक को प्राप्त नहीं होते। यह स्थान अक्षय अव्यय और अविनाशी है। हे युधिष्ठिर! तुम इसे प्रणाम करो। (२२–२६)

हे युधिष्ठिर! इस मेरु पर्वतको सूर्य और चन्द्रमा प्रति दिन प्रदक्षिण करते हैं, हे निष्पाप कुरुनन्दन! जितने तारागण हैं इस पर्वतराजको प्रदक्षिण

ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वशः ।
परियान्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम् ॥ २८ ॥
एतं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन्भगवानपि ।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽभिप्रदक्षिणम् ॥ २९ ॥
अस्तं प्राप्य ततः संध्यामतिक्रम्य दिवाकरः ।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशमेष विभावसुः ॥ ३० ॥
स मेरुमनुवृत्तः सन्पुनर्गच्छति पांडव ।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रत ॥ ३१ ॥
स मासान्विभजन्काले बहुधा पर्वसन्धिषु ।
तथैव भगवान्सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥ ३२ ॥
एवमेतं त्वतिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः ।
भावयन्सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ॥ ३३ ॥
तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भावयञ्जगत् ।
मार्गमेतदसंबाधमादित्यः परिवर्तते ॥ ३४ ॥
सिसृक्षुः शिशिराण्येव दक्षिणां भजते दिशम् ।
ततः सर्वाणि भूतानि कालोऽभ्यर्च्छति शैशिरः॥३५॥
स्थावराणां च भूतानां जंगमानां च तेजसा ।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः स विभावसुः ॥ ३६ ॥
ततः स्वेदक्लमौ तन्द्री ग्लानिश्च भजते नरान् ।

करते हैं। सब नक्षत्रोंको अपने साथ खींचता हुआ भगवान् सूर्य अंधकारको नाश करता हुआ इस पर्वत की प्रदक्षिणा करता है। सन्ध्यासमय अस्ताचल पर अस्त होकर दिवाकर उत्तर दिशामें प्राप्त होता है। मेरुको प्रदक्षिण करके प्रातःकाल फिर पूर्वदिशासे सब प्राणियों का हित करनेवाला सूर्य गतिसे मासादि कालका विभाग करता है। (२७—३२)

ऐसेही भगवान् चन्द्रमा सब तारागणके सहित गमन करते है; मेरु पर्वत से चढकर सब प्राणियोंको प्रकाश देते हुए मन्दराचलको जाते हैं। सूर्य अपने किरणोंसे अन्धकारको नाश करके जगत को प्रकाश करता हुआ नित्यगतिसे इस मार्गका आक्रमण करता है। पश्चात् सर्दी उत्पन्न करनेके लिये सूर्य दाक्षिणकी ओर झुकता है इससे सब प्राणियोंको सर्दीके दिन प्राप्त होते हैं। जब सूर्य सब स्थावर और जङ्गम प्राणियोंका तेज

प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णं च निषेव्यते ॥ ३७ ॥
एवमेतदनिर्देश्यं मार्गमावृत्य भानुमान् ।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान्भावयन्प्रजाः ॥ ३८ ॥
वृष्टिमारुतसन्तापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान् ।
वर्धयन्सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ ३९ ॥
एवमेष चरन्पार्थ कालचक्रमतन्द्रितः ।
प्रकर्षन्सर्वभूतानि सविता परिवर्तते । ॥ ४० ॥
सन्तता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव ।
आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ॥ ४१ ॥
विभजन्सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत ।
अहोरात्रं कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः ॥४२॥ [६३७५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मेरुदर्शने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

वैशम्पायन उवाच– तस्मिन्नगेन्द्रे वसतां तु तेषां महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम् ।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषामाकांक्षतां दर्शनमर्जुनस्य ॥ १ ॥

खींच लेते हैं, तभी प्राणियोंको आलस और जमुआई आदि आती हैं; इसीसे सब प्राणियोंको निद्रा आती है। (३२-३७)

इस प्रकार अंतरिक्ष मार्गका आक्रमण करता हुआ सूर्य फिर प्रजाओंके कल्याण के लिये पर्जन्य वृष्टि करता है। जिस ऋतुमें भगवान् सूर्य तेजको खींचते हैं उस ऋतुको ग्रीष्मऋतु कहते हैं । फिर अपनी किरणोंसे भगवान् सूर्य जल वर्षाते हुए सब प्रजाका पालन करते हैं वर्षा, वायु और धूपसे स्थावर, जङ्गम प्राणियोंको सुख पहुंचाते हुए सूर्य सदा गमन आगमन किया करते हैं । हे कुन्तीनन्दन ! इस रीतिसे कालका विभाग करते और प्राणियों को सुख देते सूर्य विचरते रहते हैं, सूर्यकी गति सदा ऐसीही रहती है। यह कभी स्थिर नहीं होती है । प्राणियोंका तेज लेकर फिर उन्हीको फिर देते हैं, सब प्राणियोंकी आयु और रात दिन पल घडी आदिका विभाग सूर्यकी गतिहीसे होता है। (३८-४२) ६३७५

वनपर्वमें एकसौ तिरसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अर्जुनके दर्शनकी इच्छासे उस पर्वत पर रहते हुए उत्तम व्रतधारी महात्मा पाण्डवोंको बहुत प्रसन्नता और आनन्द हुआ। उन

तान्वीर्ययुक्तान्सुविशुद्धकामांस्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान् ।
संप्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मुर्गन्धर्वसंघाश्च महर्षयश्च ॥ २ ॥
तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनःप्रसादः परमो बभूव यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ॥ ३ ॥
मयूरहंसस्वननादितानि पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य ।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना गिरेः परं हर्षमवाप्य तस्थुः ॥ ४ ॥
साक्षात्कुबेरेण कृताश्च तस्मिन्नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः ।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ॥ ५ ॥
क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान्सुचित्रमाल्यावृतजालशोभान् ।
मणिप्रकीर्णांश्च मनोरमांश्च यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ॥ ६ ॥
अनेकवर्णैश्च सुगन्धिभिश्च महाद्रुमैः संततमभ्रजालैः ।
तपःप्रधानाः सततं चरन्तः शृंगं गिरेश्चिन्तयितुं न शेकुः ॥ ७ ॥
स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनां च तथा प्रभावात् ।
विभक्तभावो न बभूव कश्चिदहोनिशानां पुरुषप्रवीर ॥ ८ ॥
यमास्थितः स्थावरजंगमानि विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः ।

बलवान शुद्ध इच्छा करनेवाले, सत्य बोलनेवाले, धारणाशील पाण्डवोंके पास अनेक आनन्दित गन्धर्व और ऋषि लोग आये, जैसे स्वर्गमें जानेसे मरुद्गण प्रसन्न होते हैं, तैसेही अनेक फले हुए वृक्षोंसे युक्त उस पर्वत पर रहनेसे महात्मा पाण्डवभी प्रसन्न हुए। (१-३)

पर्वतके शिखरोंको मयूर और हंसोंके शब्दसे तथा फूले हुए वृक्षोंसे विराजमान देखते हुए पाण्डव वहां रहने लगे। साक्षात कुबेरकी उस उत्तम पर्वत पर हंस और सारसादिक पक्षियोंसे युक्त कमलोंसे भरी हुई उत्तम तटवाली पोखर बनी थी। जैसे राजा कुबेरके विहार करनेके स्थान चाहिये तैसेही ऋद्धियोंसे भरे हुए अनेक मणियोंसे युक्त फूलोंकी मालासे विराजमान वह स्थान मनोहर बना था। (४-६)

पाण्डव लोग अनेक रंगवाले सुगन्धसे भरे हुए मेघोंके जलसे छाये हुए अनेक वृक्षोंको देखते हुए उस पर्वतके शिखर पर रह कर तप करने लगे। हे पुरुषप्रवीर ! उस पर्वत पर रहते हुए पाण्डवोंको पर्वत और औषधियोंके तेजसे दिन और रातमें कुछ भेद नहीं जान पडा। पुरुषसिंह पाण्डव लोगोंने जिसमें स्थावर और जंगम रहते हैं, जिस तेजस्वीको विभावसु कहते हैं, उस

तस्योदयं चास्तमनं च वीरास्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ॥ ९ ॥
रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते तथोदयं चाऽस्तमनं च वीराः।
समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ॥ १० ॥
स्वाध्यायवंतः सततक्रियाश्च धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च।
सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य सत्यव्रतस्याऽऽगमनप्रतीक्षाः ॥ ११ ॥
इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनंजयेन।
इति ब्रुवंतः परमाशिषस्ते पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा विचित्राणि गिरौ वनानि किरीटिनं चिंतयतामभीक्ष्णम्।
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां संवत्सरेणैव समानरूपः ॥ १३ ॥
यदैव धौम्यानुमते महात्मा कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः।
तदैव तेषां न बभूव हर्षः कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ॥ १४ ॥
भ्रातुर्नियोगात्तु युधिष्ठिरस्य वनादसौ वारणमत्तगामी।
यत्काम्यकात्प्रव्राजितः सजिष्णुस्तदैव ते शोकहता बभूवुः ॥१५ ॥
तथैव तं चिंतयतां सिताश्वमस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम्।
मासोऽथ कृच्छ्रेण तदा व्यतीतस्तस्मिन्नगे भारत भारतानाम् ॥१६॥
उषित्वा पंच वर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने।

सूर्यके उदय और अस्तको देखा। ७-९

वीर पाण्डवोंने सूर्यके उदय और आगमनको देखा, तथा उनके तेजसे सब दिशाओंको व्याप्त देखा, वेदपाठी सदा क्रिया करनेवाले धर्म और पवित्रतामें निरत सत्यवादी पाण्डव लोग वहीं रह कर महारथ सत्यव्रत अर्जुनका मार्ग देखने लगे। पाण्डवोंने यह विचारा, कि हम लोग इसी स्थान पर शीघ्र अर्जुनसे मिलके प्रसन्न होंगे; इस लिये वे लोग वहीं रह कर तप और योग करने लगे। (१०—१२)

अर्जुनकी चिन्ता करते हुए और पर्वतोंके विचित्र वनोंको देखते हुए उनके दिन और रात वर्षके समान बीतने लगे। जब महात्मा अर्जुन धौम्यकी आज्ञासे जटा बना कर वनको गये थे, उसी दिनसे पाण्डव लोगोंको प्रसन्नता नहीं हुई थी। उन लोगोंका चित्त जिस दिन मतवाले हाथीके समान चलनेवाले अर्जुन अपने भाई युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार काम्यक बनसे चले थे, उसी दिनसे पाण्डव लोग शोकसे व्याकुल हो गये थे। हे भारत! जब अर्जुन अस्त्रोंकी इच्छासे इन्द्रके पास गये थे तब पाण्डवोंको एक एक दिन एक एक महीनेके समान

अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥ १७ ॥
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ॥ १८ ॥
यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च ।
तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ॥ १९ ॥
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गंधमादनम् ॥ २० ॥ [६३९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वण्यर्जुनाभिगमने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६४ ॥ समाप्तं च यक्षयुद्धपर्व ॥

अथ निवातकवचयुद्धपर्व ।

वैशम्पायन उवाच—ततः कदाचिद्धरिसंप्रयुक्तं महेंद्रवाहं सहसोपयातम् ।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां हर्षोऽर्जुनं चिंतयतां बभूव ॥ १ ॥
स दीप्यमानः सहसाऽन्तरिक्षं प्रकाशयन्मातलिसंगृहीतः ।
बभौ महोल्केव घनांतरस्था शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा ॥ २ ॥
तमास्थितः सन्ददृशे किरीटी स्रग्वी नवान्याभरणानि बिभ्रत् ।
धनंजयो वज्रधरप्रभावः श्रिया ज्वलन्पर्वतमाजगाम ॥ ३ ॥

बीतने लगा था । (१३—१६)

अर्जुन पांच वर्ष इन्द्रके स्थानमें रहे थे और उनसे सब अस्त्रोंको सीखा । जब अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, वायु, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, परमेष्ठी, प्रजापति, यम, धाता, सूर्य, विश्वकर्मा और कुबेरके शस्त्रोंको प्राप्त कर चुके, तब इन्द्रको प्रणाम और उनकी प्रदक्षिणा करके उनकी आज्ञा लेकर परम प्रीतिके सहित अर्जुन प्रसन्न होकर गन्धमादन पर आये । (१७—२०) [६३९५]

वनपर्वमें एकसौ चोसठ अध्याय और यक्ष युद्ध पर्व समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ पैंसठ अध्याय और निवात—कवच युद्ध पर्व ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, एकदिन अर्जुनकी चिन्ता करते समय पाण्डवोंने बिजलीके समान प्रकाशमान घोडोंके सहित आते हुए एक रथको देखा, उस को देखते ही वह लोग बहुत प्रसन्न हुए। वह रथ मातली सारथीके सहित आकाश को प्रकाश करता हुआ, ऐसा शोभित होने लगा, जैसे बादलोंके बीचमें विना घूंए-की मसाल शोभित होती है । हृदयमें माला और नवीन आभूषणोंको धारण किये उसमें इन्द्रके समान पराक्रमवाले

स शैलमासाद्य किरीटमाली महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात् ।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमानजातशत्रोस्तदनंतरं च ॥ ४ ॥
वृकोदरस्यापि च वंद्य पादौ माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां प्रह्वोऽभवद्भ्रातुरुपह्वरे सः ॥ ५ ॥
बभूव तेषां परमः प्रहर्षस्तेनाऽप्रमेयेण समागतानाम् ।
स चापि तान्प्रेक्ष्य किरीटमाली ननन्द राजानमभिप्रशंसन् ॥ ६ ॥
यमास्थितः सप्त जघान पूगान्दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता ।
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्वाः ॥ ७ ॥
ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टाः सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वान्यथावच्च दिवौकसस्ते पप्रच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः ॥ ८ ॥
तानप्यसौ मातलिरभ्यनंदत्पितेव पुत्राननुशिष्य पार्थान् ।
ययौ रथेनाऽप्रतिमप्रभेण पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ॥ ९ ॥
गते तु तस्मिन्वरदेववर्ये शक्रात्मजः शक्ररिपुप्रमाथी ।
शक्रेण दत्तानि ददौ महात्मा महाधनान्युत्तमरूपवन्ति ॥ १० ॥
दिवाकराभाणि विभूषणानि प्रियः प्रियायै सुतसोममात्रे ।
ततः स तेषां कुरुपुङ्गवानां तेषां च सूर्याग्निसमप्रभाणाम् ॥ ११ ॥

अपने तेजसे प्रकाशमान अर्जुन बैठे थे। इस प्रकार वह रथ पर्वतपर पहुंचा।(१-३)

तब माला और मुकुटधारी बुद्धिमान अर्जुनसे पहले धौम्य फिर युधिष्ठिर और पीछे भीमसेनके चरणोंको छूकर प्रणाम किया। उसी समय नकुल और सहदेवने अर्जुनको प्रणाम किया। फिर अर्जुन द्रौपदीसे मिलकर अनन्तर युधिष्ठिरके पास नम्र भावसे बैठे। अनन्तर पराक्रमवाले युधिष्ठिर अर्जुनसे मिलकर प्रसन्न हुए और अर्जुनने भी अपने भाई की बहुत प्रशंसा कर उनको प्रसन्न किया, जिसपर चढकर नमुचिके मारने वाले इन्द्रने दैत्योंके सात गणोंको नाश किया था, महा पराक्रमी पाण्डवोंने उस इन्द्रके रथको प्रदक्षिणा की।(४-७)

प्रसन्नचित्त पाण्डवोंने मातलीका सत्कार इन्द्रके समान किया और सब देवतोंका यथा योग्य कुशल पूछा, मातलीने भी पाण्डवोंको पुत्रके समान शिक्षा दी। फिर असमान तेजवाले रथपर चढकर इन्द्रके पास चले गये। उनके जानेके पश्चात् पुरुष और देवतोंमें श्रेष्ठ इन्द्रके पुत्र राक्षसोंके मारनेवाले अर्जुन ने युधिष्ठिरको इन्द्रके दिये हुए उत्तम रूपवाले धन दिये। अनन्तर सूर्यके समान

विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये सर्वं यथावत्कथयांबभूव ।
एवं मयाऽस्त्राण्युपशिक्षितानि शक्राच्च वाताच्च शिवाच्च साक्षात् १२॥
तथैव शीलेन समाधिनाऽथ प्रीताः सुरा मे सहिताः सहेंद्राः ।
संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा तेभ्यः समाख्याय दिवि प्रवासम् ॥१३॥
माद्रीसुताभ्यां सहितः किरीटी सुष्वाप तामावसतिं प्रतीतः॥१४॥ [६४०९]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनसमागमे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६५॥

वैशम्पायन उवाच—ततो रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरवंदत धनंजयः ॥ १ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिःस्वनः ।
बभूव तुमुलः शब्दस्त्वंतरिक्षे दिवौकसाम् ॥ २ ॥
रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत ।
पृथग्व्यालमृगाणां च पक्षिणामिव सर्वशः ॥ ३ ॥
ते समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विमानैः सूर्यसङ्काशैर्देवराजमरिन्दमम् ॥ ४ ॥
ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।

प्रकाशवाले अनेक आभूषण अपनी प्यारी द्रौपदीको दिये। (८—११)

अनन्तर सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान प्रकाशवाले कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डव और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ मुनियोंके बीचमें बैठकर सब पहिली कथाओंको कहने लगे, कि मैंने इस प्रकार इन्द्र, वायु, और साक्षात शिवसे अस्त्र सीखे। मैंने अपने शील और समाधिके बल इन्द्रके सहित देवतोंको प्रसन्न किया, इस प्रकार शुद्धकर्मवाले अर्जुनने अपने स्वर्गमें रहनेकी कथा संक्षेपसे कही, अनन्तर नकुल और सहदेवके सहित उस स्थानमें आनन्दसे सो रहे। (१२-१४)[६४०९]

वनपर्वमें एकसौ पैंसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ छासठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब रात बीत गयी, तब अर्जुनने अपने भाईयोंके सहित महाराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया, उसी समय आकाशमें सब प्रकारके देवतोंके बाजेका शब्द सुना। हे भारत! उसी समय रथके पहियोंके शब्द आने लगे। इसी शब्दके संग सांप हरिन और पक्षियोंका शब्दभी आने लगा, पीछे सूर्यके समान प्रकाशमान विमानों पर बैठे हुए गन्धर्व और अप्सरा इन्द्रको घेरके जाने लगीं। उसी समय उत्तम घोडोंसे युक्त, सोनेके बने

मेघनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ५ ॥
पार्थानभ्याजगामाऽथ देवराजः पुरन्दरः।
आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ॥ ६ ॥
तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्देवराजमुपागमत ॥ ७ ॥
पूजयामास चैवाऽथ विधिवद्भूरिदक्षिणः।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ८ ॥
धनञ्जयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरन्दरम्।
भृत्यवत्प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ॥ ९ ॥
आघ्राय तं महातेजाः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
धनञ्जयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमन्तिके ॥ १० ॥
जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम्।
हर्षेण महताऽऽविष्टः फाल्गुनस्याऽथ दर्शनात् ॥ ११ ॥
बभूव परमप्रीतो देवराजं च पूजयन्।
तं तथाऽदीनमनसं राजानं हर्षसंप्लुतम् ॥ १२ ॥
उवाच वचनं धीमान्देवराजः पुरन्दरः।
त्वमिमां पृथिवीं राजन्प्रशासिष्यसि पाण्डव।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ १३ ॥

हुए, मेघके समान शब्दवाले रथ पर चढ कर अपने तेजसे प्रकाशमान इन्द्र पाण्डवोंके पास आये, सहस्र नेत्रवाले इन्द्र पाण्डवोंके पास आकर रथसे उतरे। (१ — ६)

महात्मा देवराज इन्द्रको देख धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित उनके पास गये। बहुत दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिरने विधिके अनुसार यथा योग्य इन्द्रकी पूजा की। महातेजस्वी धनञ्जय भी इन्द्रको प्रणाम करके उनके पास दासके समान खडे हो गये, महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने इन्द्रके पास खडे हुए पापरहित जटाधारी अर्जुनका माथा सूंघा। (७ — ११)

अर्जुनको देखनेसे अत्यंत हर्षित हो कर युधिष्ठिर इन्द्रकी प्रशंसा करने लगे। इन्द्रकी पूजा करके बहुत प्रसन्न और अदीन राजासे बुद्धिमान इन्द्र बोले, हे कुन्ती नन्दन ! हे पाण्डव ! हे राजन् ! तुम इस सब पृथ्वीका राज्य करोगे। तुम्हारा कल्याण हो, तुम फिर काम्यक

अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन सर्वाणि मत्तः प्रयतेन राजन् ।
कृतप्रियश्चाऽस्मि धनंजयेन जेतुं न शक्यस्त्रिभिरेष लोकैः॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १५ ॥
धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम् ।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः ॥ १६ ॥
संवत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः ।
स जीवेद्धि निराबाधः सुसुखी शरदां शतम् ॥१७॥[६४२६]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणीन्द्रागमने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६॥

वैशम्पायन उवाच—यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह संगतः ।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ॥ १ ॥
अभिवाद्यमानं तं मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥
कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव ।
कथं चाऽस्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः ॥३ ॥
सम्यग्वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि पाण्डव ।
कच्चित्सुराधिपः प्रीतो रुद्रो वाऽस्त्राण्यदात्तव ॥ ४ ॥

वनको चले जाओ। हे राजन्! पाण्डुनन्दन अर्जुनने बहुत यत्न करके हमसे सब शस्त्रोंको सीखा है, इस तीन लोकमें इनको जीतनेवाला कोई नहीं है। (११—१४)

सहस्र नेत्रवाले इन्द्र कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर महाऋषियोंसे स्तुति सुनते हुए प्रसन्नतासहित स्वर्गको चले गये। जो विद्वान् कुबेरके घरमें रहनेवाले पाण्डव और इन्द्रके इस समागमको ब्रह्मचारी व्रतधारी होकर एकवर्ष तक पढता है, वह रोगरहित और सुखी होकर सौ वर्ष जीता रहता है। (१५-१७)

वनपर्वमें एकसौ छासठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ सदसठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनिजी बोले, हे जनमेजय! जब इन्द्र चले गये, तब अपने भाई और द्रौपदीके सहित अर्जुनने महाराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया। महाराज प्रसन्न होकर अर्जुनका माथा सूंघ कर गदगद वाणीसे कहने लगे, हे अर्जुन! तुमने इतना समय स्वर्गमें क्योंकर विताया? तुमने इन्द्र और शिवको कैसे प्रसन्न किया? तुमने किस प्रकार शस्त्रोंको प्राप्त किया? हे

यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान्वा पिनाकधृक् ।
यथैवाऽस्त्राण्यवाप्तानि यथैवाऽऽराधितश्च ते ॥ ५ ॥
यथोक्तवांस्त्वां भगवाञ्शतक्रतुररिन्दम ।
कृतप्रियस्त्वयाऽस्मीति तस्य ते किं प्रियं कृतम् ॥ ६ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते ।
यथा तुष्टो महादेवो देवराजस्तथाऽनघ ॥ ७ ॥
यच्चापि वज्रपाणेस्तु प्रियं कृतमरिन्दम ।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनञ्जय ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच— शृणु हंत महाराज विधिना येन दृष्टवान् ।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तं च शंकरम् । ॥ ९ ॥
विद्यामधीत्य तां राजंस्त्वयोक्तामरिमर्दन ।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रास्थितो वनम् ॥ १० ॥
भृगुतुंगमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः ।
एकरात्रोषितः कंचिदपश्यं ब्राह्मणं पथि ॥ ११ ॥
स मामपृच्छत्कौन्तेय क्वाऽसि गंता ब्रवीहि मे ।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनंदन ॥ १२ ॥
स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम ।

शत्रुनाशन ! भगवान् इन्द्रने हमारे आगे कहा, कि हम अर्जुनसे बहुत प्रसन्न हैं। तुमने कौनसा उनका प्रिय कार्य किया? हे महातेजस्वी! हे पाप-रहित! हम उन सब कथाओंको विस्तार पूर्वक सुनना चाहते हैं। हे धनञ्जय! हे शत्रुनाशन! तुमसे इन्द्र और शिव कैसे प्रसन्न हुए थे? तुमने इन्द्रका कौनसा प्रिय कार्य किया था? तुम इन सब कथाओंको हमसे कहो। (१—८)

अर्जुन बोले, हे महाराज ! हम इन सब कथाओंको तुमसे कहते हैं, हमने जैसे भगवान् शिव और इन्द्रको प्रसन्न किया था सो आप सुनिये। हे शत्रुनाशन ! आपकी बताई हुई विद्याको पढकर आपकी आज्ञानुसार तप करनेकी इच्छासे मैं वनको चला। मैं काम्यक वनसे चल कर भृगुतुङ्ग पर्वत पर पहुंचा और वहां तप करने लगा, एक दिन वहां रहने पर दूसरे दिन एक ब्राह्मण मिले। हे कुन्ती-नन्दन ! उन्होंने मुझसे पूछा तुम कहां जानेको चाहते हो; तब मैंने उनसे सब सत्य सत्य कह दिया। हे राजन् ! उसने मेरी सत्यवाणीको सुनकर प्रीतिके

अपूजयत मां राजन्प्रीतिमांश्चाऽभवन्मयि ॥ १३ ॥
ततो मामब्रवीत्प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत ।
तपस्वी न चिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ॥ १४ ॥
ततोऽहं वचनात्तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम् ।
तपोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ॥ १५ ॥
द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः ।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पांडवनंदन ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वबाहुश्चतुर्थं तु मासमस्मि स्थितस्तदा ।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाऽभवत ॥ १७ ॥
पंचमे त्वथ संप्राप्ते प्रथमे दिवसे गते ।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपं समागमत् ॥ १८ ॥
निघ्नन्प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि ।
संमार्जञ्जठरेणोर्वीं विवर्तंश्च मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥
अनु तस्याऽपरं भूतं महत्कैरातसंस्थितम् ।
धनुर्बाणासिमत्प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ॥ २० ॥
ततोऽहं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
अताडयं शरेणाऽथ तद्भुतं लोमहर्षणम् ॥ २१ ॥

सहित मेरी पूजा की और मुझसे अत्यन्त प्रेम किया। (९-१३)

अनन्तर प्रसन्न होकर मुझसे कहने लगे, हे भारत ! तप करो; तपस्याके बलसे तुम शीघ्रही शिवको देखोगे, तब मैं उनके वचनसे हिमाचल पर चढ गया, वहां जाकर एक महीने तक फल और मूल खाकर तपस्या करने लगा। दूसरे महीनेकोभी मैंने केवल जल खाकर बिताया। हे पाण्डुनन्दन ! मैं तीसरे महीनेमें निराहार होकर तप करने लगा, मैंने चौथे महीनेमें ऊर्ध्ववाहु हो कर बिता दिया, परन्तु मेरे प्राण उस महीनेमें भी नहीं निकले, यह बडा आश्चर्य हुआ, पांचवे महीनेका एक दिन बीतनेपर एक प्राणी शूकरका रूप बनाकर मेरे पास आया। (१४—१८)

वह अपने मुख और खुरोंसे पृथ्वीको खोदने और छातीसे रगडने लगा, तथा बार बार घूमने लगा, उसके पीछेही एक किरात धनुष बाण और खड्गको धारण किये अनेक स्त्रियोंके सहित मेरे पास आया, उसी समय मैंने अक्षय तूणीर और धनुषको धारण करके भयानक

युगपत्तं किरातस्तु विकृष्य बलवद्धनुः।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ॥ २२ ॥
स तु मामब्रवीद्राजन्मम पूर्वपरिग्रहः।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ॥ २३ ॥
एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव।
स धनुष्मान्महाकायस्ततो मामभ्यभाषत ॥ २४ ॥
ततो गिरिमिवाऽत्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः।
तं चाऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ॥ २५ ॥
ततः शरैर्दीप्तमुखैर्यन्त्रितैरनुमन्त्रितैः।
प्रत्यविध्यमहं तं तु वज्रैरिव शिलोच्चयम्। ॥ २६ ॥
तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा।
तानि चाऽस्य शरीराणि शरैरहमताडयम् ॥ २७ ॥
पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ॥२८ ॥
अणुर्बृहच्छिरा भूत्वा बृहच्चाणुशिराःपुनः।
एकीभूतस्तदा राजन्सोऽभ्यवर्तत मां युधि ॥ २९ ॥
यदाऽभिभवितुं बाणैर्न च शक्नोमि तं रणे।

शूकरको एक बाणसे मारा, उसी समय उस किरातने भी अपने धनुषको खींच कर मेरे हृदयको कंपाते हुए उस सूअर को एक कठोर बाण मारा। (१९-२२)

हे राजन्! तब उस किरातने मुझ से कहा कि सूअरको मैंने पहिले मारना चाहा था, तुमने मृगयाधर्मके विरुद्ध उसको क्यों मारा? अब हम इन कठिन बाणोंसे तुम्हारे अभिमानको नाश करदेते हैं; खडे रहो, ऐसा कह कर उस बडे शरीरवाले धनुष धारीने मुझे कठोर बाण मारे, मैंने भी उसको अपने बाणों की वर्षासे छा लिया, अनन्तर मैंने प्रकाशमान और मन्त्रयुक्त बाणोंसे उस को ऐसा छा लिया, जैसे इन्द्र वज्रसे पर्वतको। (२३—२६)

थोडी देरमें उसके एक शरीरके सैंकडों और हजारों शरीर होगये, मैंने उन सबको अपने बाणोंसे मारना आरंभ किया, हे महाराज! फिर सब शरीर मिल कर एकही किरात होगया। मैं फिर उसको बाण मारने लगा, कभी वह बडे शरीर और छोटे सिर वाला और कभी वह छोटे शरीर बडे सिर वाला होकर मुझसे युद्ध

ततो महास्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ॥ ३० ॥
न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तस्मिन्प्रतिहते चाऽस्त्रे विस्मयो मे महानभूत ॥ ३१ ॥
भूय एव महाराज सविशेषमहं ततः ।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ॥ ३२ ॥
स्थूणाकर्णमथो जालं शरवर्षमथोल्बणम् ।
शलभास्त्रमश्मवर्षं समास्थायाऽहमभ्ययाम् ॥ ३३ ॥
जग्रास प्रसभं तानि सर्वाण्यस्त्राणि मे नृप ।
तेषु सर्वेषु जग्धेषु ब्रह्मास्त्रं महदादिशम् ॥ ३४ ॥
ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयते ।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्धयत् ॥ ३५ ॥
ततः संतापिता लोका मत्प्रसूतेन तेजसा ।
क्षणेन हि दिशः खं च सर्वतो हि विदीपितम् ॥ ३६॥
तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत ।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन्भयं मां महदाविशत् ॥ ३७ ॥
ततोऽहं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
सहसाऽभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ॥ ३८ ॥

करने लगा । हे भरतकुलसिंह । जब मैं उसको अपने बाणोंसे जीतनेमें असमर्थ हुआ तब मैंने वायुके अस्त्र चलानेकी इच्छा करी; परन्तु यह अस्त्र भी उसे न मार सका, यह देख मुझे महा आश्चर्य हुआ । (२७—३१)

हे महाराज ! फिर मैंने विशेष रूपसे उस किरात पर अपने शस्त्र चलाये । कभी स्थूणाकर्ण और कभी शलभास्त्र वारुणास्त्र शरवर्ष, पाषाणास्त्र आदि घोर बाणोंके जालसे उसको छा लिया, मैंने कभी पतंगे कभी पत्थरोंकी वर्षा की । हे महाराज ! उसने मेरे सब शस्त्रोंको ग्रासकर लिया । अनन्तर मैंने ब्रह्मशिर अस्त्र चलाया । मेरे उस महा अस्त्रके चलतेही उसकी वृद्धि होने लगी और मेरे बाणोंसे वह बढने लगे । अनन्तर उस मेरे अस्त्रके तेजसे सब आकाश और दिशा प्रकाशमान हो गयीं, हे राजन् ! महातेजस्वी किरातने वह ब्रह्मशिर अस्त्र भी शान्त कर दिया । (३१—३७)

उसके व्यर्थ होतेही मुझको बहुत भय लगा, पर मैंने अक्षय तूणीर और धनुष लेकर फिर उस किरात पर

हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च।
मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥
व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समागतैः।
अपारयंश्च तद्भूतं निश्चेष्टमगमं महीम् ॥ ४० ॥
ततः प्रहस्य तद्भूतं तत्रैवांऽतरधीयत।
सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ॥ ४१ ॥
एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद्रूपमास्थितः।
दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमंबरम् ॥ ४२ ॥
हित्वा किरातरूपं च भगवांस्त्रिदशेश्वरः।
स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ॥ ४३ ॥
अदृश्यत ततः साक्षाद्भगवान्गोवृषध्वजः।
उमासहायो व्यालधृग्बहुरूपः पिनाकधृक् ॥ ४४ ॥
स मामभ्येत्य समरे तथैवाऽभिमुखं स्थितम्।
शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परन्तप ॥ ४५ ॥
ततस्तद्धनुरादाय तूणौ चाऽक्षय्यसायकौ।
प्रादान्ममैव भगवान्वरयस्वेति चाऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥
तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते।

बाण चलाये, परन्तु वह उन बाणोंको भी खागया। जब मेरे सब अस्त्र और शस्त्र नाश होगये, तब मैंने उससे बाहुयुद्ध किया। कभी तमाचे और कभी मुक्कोंसे मैंने उस किरातको मारा, उस समयके पश्चात् मैं मूर्च्छित होकर पृथ्वीमें गिर गया। हे महाराज! वह किरात इसके पश्चात हंसकर स्त्रियोंके सहित अन्तर्द्धान होगया। तब मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। (३८—४१)

हे महाराज! इसके पश्चात् भगवान शिवने दूसरा रूप बनाया और अद्भुत वस्त्र धारण करके मेरे पास आये! देवतोंके स्वामी भगवान शिवने किरातका रूप छोडकर अपना दिव्यरूप धारण किया और मेरे पास आकर खडे हो गये, मैंने देखा कि भगवान शिव पार्वतीके सहित सर्प और पिनाक धनुष को धारण किये खडे हैं। शूलधारी भगवान शिवने मुझसे युद्धमें प्रसन्न होकर कहा, कि हे शत्रु नाशन! मैं तुमसे प्रसन्न हूं। (४२—४५)

तब उन्होंने दो अक्षय तूणीर और धनुष मुझको दिया और कहा, कि जो

मनोगतं वीर यत्ते तद् ब्रूहि वितराम्यहम् ॥ ४७ ॥
अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत्ते मनोगतम् ।
ततः प्रांजलिरेवाऽहमस्त्रेषु गतमानसः ॥ ४८ ॥
प्रणम्य मनसा शर्वं ततो वचनमाददे ।
भगवान्मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम ॥ ४९ ॥
अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवेषु कानिचित् ।
ददानीत्येव भगवानब्रवीत्त्र्यम्बकश्च माम् ॥ ५० ॥
रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पांडव ।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं महत् ॥ ५१ ॥
उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम् ।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुषेषु कथंचन ॥ ५२ ॥
जगद्विनिर्दहेदेवमल्पतेजसि पातितम् ।
पीड्यमानेन बलवत्प्रयोज्यं स्याद्धनञ्जय ॥ ५३ ॥
अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेत् ।
तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम् ॥ ५४ ॥

तुम्हारी इच्छा हो वरदान मांगो। श्रीशिवजी बोले, हे कुन्तीनन्दन ! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं; कहो हम तुम्हारा कौन काम करें। हे वीर ! अमरताके विना जो तुम्हारी इच्छा हो, सो मांगो। तब अस्त्रोंकी इच्छा करने वाले मैंने हाथ जोडकर उनको शिर से प्रणाम करके अस्त्रोंका वरदान मांगा, तब मैंने हंसकर भगवान शिवजीसे कहा, कि हे भगवन् ! मैं सब देवतोंके पास जो अस्त्र हैं वह जानना चाहता हूं। (४६–५०)

तब भगवान शिवजीने मुझसे कहा कि हमने तुमको यह वरदान दिया; यह मेरा रुद्रास्त्र है, हे पाण्डव ! सो हम तुमको देते हैं। तब शिवने हमको पाशुपत अस्त्र दिया। तब भगवान् महादेवने मुझसे प्रसन्न होकर कहा कि इस शस्त्रको कभी भी किसी मनुष्यके ऊपर न चलाना, इसके हीनबल वालेपर चलाते ही सब जगत् भस्म हो जायगा। हे धनञ्जय ! जब तुमको कोई बलवान शत्रु पीडा दे, तबही इसको चलाना, तथा अस्त्रोंका प्रतिकार करनेके समय इसको चलाना। (५०–५४)

इस शस्त्रको कोई नाश नहीं करता, इस शस्त्रके समान कोई दूसरा शस्त्र नहीं है। हे महाराज ! जब मुझसे

मूर्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे।
उत्सादनममित्राणां परसेनानिकर्तनम् ॥ ५५ ॥
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः।
अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम् ।
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवांतरधीयत ॥ ५६ ॥ [६४८२]

इति श्रीमहाभारते० निवातकवचयुद्धपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६७॥

अर्जुन उवाच — ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत।
प्रसादाद्देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ॥ १ ॥
व्युषितो रजनीं चाऽहं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः।
अपश्यं तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ॥ २ ॥
तस्मै चाऽहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम्।
भगवंतं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ॥ ३ ॥
स मामुवाच राजेंद्र प्रीयमाणो द्विजोत्तमः।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नाऽन्येन केनचित् ॥ ४ ॥
समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः।
द्रष्टाऽस्यनघ देवेंद्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ॥ ५ ॥

श्रीशिवजी प्रसन्न हुए, तब वह शस्त्र मूर्त्ति धारण करके मेरे आगे आ खडा हुआ। वह अस्त्र शत्रुओंका नाश करने वाला और सेनाओंका काटनेवाला है। वह अस्त्र बडा घोर कठोर और राक्षसों का नाश करनेवाला है, तब मैं शिव-जीकी आज्ञासे वहीं रहने लगा और मेरे देखतेही श्रीशिवजी वहीं अन्तर्द्धान होगये। (५४—५६) [६४८२]

वनपर्वमें एकसौ सदसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ अडसठ अध्याय।

अर्जुन बोले, हे महाराज ! मैं उस रात्रिभर प्रसन्न होकर वहीं रहा। महात्मा शिवने मेरे ऊपर बडी कृपा की। जब प्रातःकाल हुआ, तब मैंने प्रातःकाल की संध्या की; फिर उसी ब्राह्मणको देखा जिसको पहले देखा था, तब मैंने उससे सब कथा कह सुनायी। मैंने उससे कहा, कि हमको साक्षात् शिवके दर्शन हुए हैं। हे राजेन्द्र ! तब उस ब्राह्मणश्रेष्ठने मुझसे प्रसन्न होकर कहा, कि तुमने शिवका ऐसा दर्शन किया, जैसे पहले और किसीने नहीं किया था, हे पापरहित ! तुम इसी स्थानमें यम आदि लोकपालोंके सहित इन्द्रको देखोगे और वे तुमको अनेक शस्त्र देंगे। १—५

एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
अगच्छत्स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्यसन्निभः ॥ ६ ॥
अथाऽपराह्णे तस्याऽह्नः प्रावात्पुण्यः समीरणः ।
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्निव सपत्नहन् ॥ ७ ॥
दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च ।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन्समीपतः ॥ ८ ॥
वादित्राणि च दिव्यानि सुघोराणि समन्ततः ।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ॥ ९ ॥
गणाश्चाऽप्सरसां तत्र गंधर्वाणां तथैव च ।
पुरस्ताद्देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ॥ १० ॥
मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन् ।
महेन्द्रानुचरा ये च ये च सद्मनिवासिनः ॥ ११ ॥
ततो मरुत्वान्हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलंकृतैः ।
शचीसहायस्तत्राऽऽयात्सह सर्वैस्तदाऽमरैः ॥ १२ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ॥१३॥
दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजं च यथास्थानमवस्थितम् ॥ १४ ॥

हे राजन् ! वह ब्राह्मण ऐसा कहकर हमसे लपट गया । अनन्तर वह सूर्यके समान ब्राह्मण अपनी इच्छानुसार चला गया, उसी दिन दोपहरके पश्चात् पवित्र वायु बहने लगा, मुझे ऐसा जान पडा कि यह लोक नवीन होगया । मेरे पास हिमाचल पर्वतके ऊपर दिव्य सुगन्धोंसे भरी हुई अनेक नवीन माला प्रगट होने लगी, उसके पश्चात् मेरे चारों ओर दिव्य और बहुत शब्दवाले बाजे बजने लगे । उसके पश्चात् मैंने इन्द्रकी मनोहर स्तुति सुनी, अनन्तर देवतोंके राजा इन्द्रके आगे अनेक गन्धर्व और अप्सरा गीत गाने लगीं । (६—१०)

विमानपर चढे हुए मरुतगण इन्द्रके अनुचर और स्वर्गमें रहनेवाले देवता मेरे पास आये, पीछे भूषणोंसे भूषित घोडोंसे युक्त रथपर बैठे हुए शची और सब देवतोंके सहित इन्द्र आये । हे महाराज ! उसी समय अपने तेजसे प्रकाशमान मनुष्यवाहन कुबेरने भी मुझे दर्शन दिये; मैंने दक्षिणकी दिशामें बैठे यमको

ते मामूचुर्महाराज सांत्वयित्वा नरर्षभ ।
सव्यसाचिन्निरीक्षाऽस्माँल्लोकपालानवस्थितान् ॥१५॥
सुरकार्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शंकरम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समंततः ॥ १६ ॥
ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदाऽस्त्राणि महांति विधिवद्विभो ॥ १७ ॥
गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिंदम ॥ १८ ॥
मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान्स्वर्गं गंतव्यं फाल्गुन त्वया ॥ १९ ॥
पुरैवाऽऽगमनादस्माद्वेदाऽहं त्वां धनञ्जय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ॥ २० ॥
त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं महत्तप्तं स्वर्गं गंताऽसि पांडव ॥ २१ ॥
भूयश्चैव च तप्तव्यं तपश्चरणमुत्तमम् ।

देखा; वरुण और इन्द्रको भी अपने अपने स्थानों पर बैठे देखा। हे महाराज! हे पुरुषसिंह! तब उन सब देवतोंने मुझे प्रसन्न करके कहा, हे सव्यसाची! हम सब लोकपाल तुम्हारे पास आये हैं, तुम हमारे दर्शन करो। तुमने देवतोंके कामके लिये शिवका दर्शन किया है, हम लोगोंसे भी शस्त्रोंको ग्रहण करो। (११—१६)

हे महाराज! तब मैंने प्रसन्न होकर उन सब देवतोंको प्रणाम किया और उनसे अनेक प्रकारके शस्त्रोंको लिया। हे शत्रु नाशन! जब मैं सब अस्त्रोंको ग्रहण कर चुका। तब सब देवता लोगोंने मुझे आज्ञा दी और वे अपने स्थान पर चले गये, देवतोंके राजा इन्द्र भी अपने उत्तम प्रकाशवाले रथ पर चढकर मुझसे बोले, कि हे अर्जुन! तुमको भी स्वर्गको चलना चाहिये। हे धनञ्जय! तुम्हारे आनेके पहिलेही हम सब बातोंको जान गये थे। हे भरतकुलसिंह! इसके पश्चात् हम तुमको अपना दर्शन देंगे। (१७ — २०)

हे पाण्डव! तुमने पहले बहुत तीर्थों में अनेकबार स्नान किया है तथा तपभी बहुत किया है, इससे स्वर्गमें गमन होगा, तुमको फिरभी उत्तम तप करना उचित है। हे शत्रुनाशन! तुमको

स्वर्गं त्ववश्यं गंतव्यं त्वया शत्रुनिषूदन ॥ २२ ॥
मातलिर्मन्नियोगात्त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानां मुनीनां च महात्मनाम् ॥२३॥
ततोऽहमब्रवं शक्रं प्रसीद भगवन्मम ।
आचार्यं वरयेयं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ॥ २४ ॥
इन्द्र उवाच— क्रूरकर्माऽस्त्रवित्तात भविष्यसि परंतप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पांडवाऽऽप्नुहि ॥ २५ ॥
ततोऽहमब्रुवं नाऽहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोक्ष्यामि विनाऽस्त्रप्रतिघातनात् ॥ २६ ॥
तानि दिव्यानि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चाऽस्त्रजितान्पश्चाल्लभेयं सुरपुंगव ॥ २७ ॥
इन्द्र उवाच— परीक्षार्थं मयैतत्ते वाक्यमुक्तं धनंजय
ममाऽऽत्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ॥ २८ ॥
शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत ।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽपि वरुणात्समरुद्गणात् ॥ २९ ॥

अवश्यही स्वर्गमें चलना होगा । हमारी आज्ञासे मातली आवेंगे और तुमको ले जायंगे, तुमको महात्मा मुनीश्वर और देवता लोग जानते हैं । तब मैंने इन्द्रसे कहा, हे भगवन् ! हे देवतोंके स्वामी! आप हमसे प्रसन्न हूजिये हम शस्त्रविद्याके लिये आपको अपना गुरु बनाते हैं। (२१-२४)

इन्द्र बोले, हे शत्रुनाशन ! हे तात! तुम सब शस्त्रोंको जाननेवाले और निष्ठुर कर्म करनेवाले होगे । हे पाण्डव ! जिस काम के लिये तुम अस्त्रोंकी इच्छा करते हैं वह आपका सब मनोरथ पूर्ण होगा। तब मैंने कहा कि, हे शत्रुनाशन ! हम अस्त्र प्रतिघातके विना इन दिव्य अस्त्रोंको मनुष्यों पर कभी न चलावेंगे, मैं कभीभी महाअस्त्रोंके चलाये विना इन अस्त्रोंको नहीं चलाऊंगा । हे देवनाथ ! आप उन सब अस्त्रोंको हमें दीजिये, इसके पश्चात् मैं उन लोकोंको जाऊंगा, जिनको अस्त्र जाननेवाले जाते हैं। (२५-२७)

इन्द्र बोले, हे धनञ्जय ! मैंने जो यह सब, कहा, सो तुम्हारी ही परीक्षा के लिये कहा, तुम हमारे पुत्र हो, इस लिये यह तुमने जो कहा सो सब ठीक ही है । हे भारत ! तुम हमारे घरमें चल कर सब अस्त्रोंको सीखो, वहां तुमको वायु, अग्नि, वसु, वरुण और

साध्यं पैतामहं चैव गंधर्वोरगरक्षसाम् ।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ॥ ३० ॥
मद्गतानि च जानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह ।
एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तत्रैवांऽतरधीयत ॥ ३१ ॥
अथाऽपश्यं हरियुजं रथमैंद्रमुपस्थितम् ।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ॥ ३२ ॥
लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाऽथ मातलिः ।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ॥ ३३ ॥
संसिध्यस्व महाबाहो कुरु कार्यमनंतरम् ।
पश्य पुण्यकृताँल्लोकान्सशरीरो दिवं व्रज ॥ ३४ ॥
देवराजः सहस्राक्षस्त्वां दिदृक्षति भारत ।
इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामंत्र्य शैशिरम् ॥ ३५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम् ।
चोदयामास स हयान्मनोमारुतरंहसः ॥ ३६ ॥
मातलिर्हयतत्त्वज्ञो यथावद्भूरिदक्षिणः ।
अवैक्षत च मे वक्त्रं स्थितस्याऽथ स सारथिः॥ ३७ ॥

मरुत गण अस्त्र सिखावेंगे। तुम साध्य, पितामह, गन्धर्व, नाग, यक्ष, राक्षस, वैष्णव, नैर्ऋत और हमारे सब शस्त्र सीखोगे। हे कुरुनन्दन! जितने शस्त्र मुझको आते हैं, उन सबको तुम सीख लो। ऐसा कह कर इन्द्र वहीं अन्तर्द्धान हो गये। (२८–३१)

नंतर हमने उत्तम घोडोंसे युक्त इन्द्रके रथको देखा वह रथ दिव्य मायामय और मातलीसे युक्त था। हे महातेजस्वी महाराज! जब सब लोकपाल चले गये, तब मातलीने मुझसे कहा, कि तुमको देवराज इन्द्र देखना चाहते हैं। महाबाहु! अब तुम चलनेको उपस्थित हो। उसके पश्चात् सब काम करना, तुम इसी शरीरसे स्वर्गको चलो और पुण्यकर्मोंसे मिलने वाले लोकोंको देखो। हे भारत! सहस्र नेत्रवाले इन्द्र तुमको देखना चाहते हैं। (३२–३५)

जब मातलीने ऐसा कहा, तब मैं वन और हिमाचलसे आज्ञा ली। अनन्तर मैं उस रथ की प्रदक्षिणा करके रथपर चढ स्वर्गको चला और मातलीनेभी उन वायुके समान चलनेवाले घोडोंको हांका। घोडोंकी विद्याको जाननेवाले कुशल मातलीने रथमें बैठे हुए मेरे मुखको

तथा भ्रांते रथे राजन्विस्मितश्चेदमब्रवीत् ।
अत्यद्भुतमिदं त्वयि विचित्रं प्रतिभाति मे ॥ ३८ ॥
यदास्थितो रथं दिव्यं पदान्न चलितः पदम् ।
देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः ॥ ३९ ॥
विचलन्प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ ।
त्वं पुनः स्थिर एवाऽत्र रथे भ्रांते कुरूद्वह ॥ ४० ॥
अतिशक्रमिदं सर्वं तवेति प्रतिभाति मे ।
इत्युक्त्वाऽऽकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान्॥४१॥
दर्शयामास मे राजन्विमानानि च भारत ।
स रथो हरिभिर्युक्तो ह्यूर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ ४२ ॥
ऋषयो देवताश्चैव पूजयंति नरोत्तम ।
ततः कामगमाँल्लोकानपश्यं वै सुरर्षिणाम् ॥ ४३ ॥
गंधर्वाप्सरसां चैव प्रभावममितौजसाम् ।
नंदनादीनि देवानां वनान्युपवनानि च ॥ ४४ ॥
दर्शयामास मे शीघ्रं मातलिः शक्रसारथिः ।
ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ॥ ४५ ॥
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलंकृताम् ।

देखा। हे राजन्! मातली बोले, कि यह मुझको परम आश्चर्य दीख रहा है, कि इस दिव्य रथमें स्थित होकर तुम्हारा निजस्थानसे एक पदभी विचालित नहीं होता है, भरतर्षभ! घोडोंके प्रथमोत्पतन कालमें देवराजको भी विचालित भावापन्न देखा गया है; किन्तु तुम ऐसे भ्रमणशील रथमें यथास्थानमें ही बैठे हो; इससे तुम्हारे ये सब कार्य इन्द्रको भी अतिक्रम किये हैं, ऐसाही मुझे बोध होता है। (३६—४१)

ऐसा कह कर मातलीने आकाशमें रथ हांका और स्वर्गमें पहुंचा। हे महाराज! मातलीने मार्गमें मुझे अनेक विमान दिखाये तब वह रथ घोडोंके सहित आकाशमें चलने लगा, तब ऋषि और देवता लोग उस रथकी पूजा करने लगे, तब मैंने इच्छानुसार चलनेवाले अनेक ऋषियोंके स्थानोंको देखा। मैंने महातेजस्वी गन्धर्व और अप्सरोंके प्रभावोंको देखा; देवतोंके नन्दन आदिक बागभी देखे। इन्द्रके सारथी मातलीने मुझको अमरावती और इन्द्रके घरको दिखाया। वह अमरावतीपुरी दिव्य काम

न तत्र सूर्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः ॥ ४६ ॥
न बाधते तत्र रजस्तत्राऽस्ति न जरा नृप ।
न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यं चोपलक्ष्यते ॥ ४७ ॥
दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन ।
न क्रोधलोभौ तत्राऽऽस्तां सुरादीनां विशांपते ॥४८॥
नित्यतुष्टाश्च ते राजन्प्राणिनः सुरवेश्मनि ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ४९ ॥
पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः ।
शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगंधी जीवनः शुचिः ॥ ५० ॥
सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ।
मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ॥ ५१ ॥
विमानगामिनश्चाऽत्र दृश्यंते बहवोऽबरे ।
ततोऽपश्यं वसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ॥ ५२ ॥
आदित्यानश्विनौ चैव तान्सर्वान्प्रत्यपूजयम् ।
ते मां वीर्येण यशसा तेजसा च बलेन च ॥ ५३ ॥
अस्त्रैश्चाऽप्यन्वजानंत संग्रामे विजयेन च ।
प्रविश्य तां पुरीं दिव्यां देवगन्धर्वपूजिताम् ॥ ५४ ॥

के देनेवाले वृक्षोंसे शोभित थी।४२-४६

वहां न सूर्यका प्रकाश, न गर्मी, न सर्दी, न थकाई, न धूल, न बुढापा, न शोक, न दीनता, और न दुर्बलता थी। हे शत्रुनाशन! वहां देवतोंको ग्लानिभी नहीं थी, न क्रोध, न लोभ था। हे राजन् ! उस अमरावती पुरीके सब प्राणी सदा सन्तुष्ट रहते हैं। वहांके वृक्ष सदा फलनेवाले और हरे पत्तोंसे युक्त रहते हैं, वहांकी पोखर अनेक प्रकारके सुगन्धवाले कमलोंसे भरी हुई, पवित्र और सुगन्धवाले वायुसे युक्त रहते हैं। वहांकी भूमि अनेक रत्नोंसे खिचे हुए फूलोंसे विराजमान थी। ४७-५१

वहां अनेक हरिन और पक्षी मीठे मीठे स्वरोंसे शब्द कर रहे थे। अनेक देवता लोग विमानोंमें बैठे हुए आकाशमें घूम रहे थे; तब मैंने वसु, रुद्र, साध्य और मरुत लोगोंको देखा। मैंने अश्विनीकुमार और सूर्य आदि सब देवतोंकी पूजा की। उन्होंने भी मुझे वीर्य, यश, तेज, बल, शस्त्र और विजयमें निपुण जानकर मेरी पूजा करी और कहा कि, देव और गन्धर्व पूजित

देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृतांजलिः ।
ददावर्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददतां वरः ॥ ५५ ॥
बहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः ।
तत्राऽहं देवगंधर्वैः सहितो भूरिदक्षिणैः ॥ ५६ ॥
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे शिक्षाणोऽस्त्राणि भारत ।
विश्वावसोश्च वै पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत्सखा ॥ ५७ ॥
स च गांधर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप ।
ततोऽहमवसं राजन्गृहीतास्त्रः सुपूजितः ॥ ५८ ॥
सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः ।
शृण्वन्वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलम् ।
पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यंतीर्भरतर्षभ ॥ ५९ ॥
तत्सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत ।
अत्यर्थं प्रतिगृह्याऽहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ॥ ६० ॥
ततोऽतुष्यत्सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः ।
एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद्दिवि ॥ ६१ ॥
कृतास्त्रमभिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः ।

अमरावतीपुरीमें प्रवेश करो, तब मैं हाथ जोड कर देवतोंके राजा हजार नेत्रवाले इन्द्रके पास गया । उन्होंनेभी प्रसन्न होकर मुझे अपना आधा आसन दिया । इन्द्रने बहुत आदरके सहित हमारे शरीरको स्पर्श किया । (५२–५६)

मैं वहां देवता और गन्धर्वोंके सहित निवास करने लगा और शस्त्रोंको सीखने लगा । वहां विश्वावसुका पुत्र चित्रसेन मेरा मित्र हो गया । हे राजन् ! उसी ने मुझे नाचने और गानेकी सब विद्या सिखा दी । मैं जब सब शस्त्रोंको सीख चुका, तब आदर सहित स्वर्गमें रहने लगा । मैं इन्द्रके घरमें रहता हुआ, अपनी इच्छानुसार सब सुखोंको भोगने लगा । मैंने उत्तम गीत और बाजोंके शब्द सुने तथा नाचती हुई उत्तम उत्तम अप्सराओंको भी देखा । (५६—५९)

हे भारत ! उन सब बातोंको तुच्छ समझा और केवल शस्त्र सीखनेहीको उत्तम समझता रहा, तब इस कामसे इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए । हे राजन् ! इस प्रकारसे मैंने इस समयको स्वर्गमें बिताया, जब इन्द्रको यह विश्वास हो गया, कि इनको सब शस्त्रोंकी विद्या आगई,

संस्पृश्य मूर्ध्नि पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६२ ॥
न त्वमद्य युधा जेतुं शक्यः सुरगणैरपि ।
किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः ॥ ६३ ॥
अप्रमेयोऽप्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा ।
अथाऽब्रवीत्पुनर्देवः संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ ६४ ॥
अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद्भविष्यति ।
अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ ६५ ॥
ब्रह्मण्यश्चाऽस्त्रविच्चाऽसि शूरश्चाऽसि कुरूद्वह ।
अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पंच च ॥ ६६ ॥
पंचभिर्विधिभिः पार्थ विद्यते न त्वया समः ।
प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिं च धनंजय ॥ ६७ ॥
प्रायश्चित्तं च वेत्थ त्वं प्रतीघातं च सर्वशः ।
ततो गुर्वर्थकालोऽयं समुत्पन्नः परंतप ॥ ६८ ॥
प्रतिजानीष्व तं कर्तुं ततो वेत्स्याम्यहं परम् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन्देवराजमिदं वचः ॥ ६९ ॥
विषह्यं यन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत् ।
ततो मामब्रवीद्राजन्प्रहस्य बलवृत्रहा ॥ ७० ॥

तब उन्होंने अपने हाथसे मेरे शिरको स्पर्श करके कहा, कि हे, वीर ! तुमको अब युद्धमें देवताभी नहीं जीत सकते हैं ! और अजितेन्द्रिय मनुष्योंकी तो बातही क्या है। तुम अप्रमेय और युद्धों में जीतनेके अयोग्य हो, तुम्हारे समान कोई अस्त्र जाननेवाला नहीं होगा, क्योंकि तुम सदा सावधान, निपुण, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणोंके पूजनेवाले और शस्त्रोंको जाननेवाले हो। (६०–६६)

तुमने पन्द्रह शस्त्रोंको प्राप्त किया है। हे कुन्तीनन्दन ! पांचों विधियोंमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। तुम शस्त्रों को चलाना और लौटाना दोनों बातोंको जानते हो, तुम प्रायश्चित्तके विधानको भी जानते हो। हे शत्रु नाशन ! तुम दूसरेके बाणोंसे हारे हुए अपने बाणको तेज कर सकते हो। इस समयमें तुम कुछ गुरुका काज करो। हम जानते हैं, कि तुम इस काम को कर सकोगे इसीसे तुमसे कहते हैं। (६६—६९)

तब मैंने देवराज इन्द्रसे कहा, कि जो काम मेरे करने योग्य हैं, उसको

नाऽविषह्यं तवाऽस्तीति त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
निवातकवचा नाम दानवा मम शत्रवः ॥ ७१ ॥
समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत ।
तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ॥ ७२ ॥
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति ।
ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ॥ ७३ ॥
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम् ।
बबन्ध चैव मे मूर्ध्नि किरीटमिदमुत्तमम् ॥ ७४ ॥
स्वरूपसदृशं चैव प्रादादङ्गविभूषणम् ।
अभेद्यं कवचं चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ॥ ७५ ॥
अजरां ज्यामिमां चापि गाण्डीवे समयोजयत् ।
ततः प्रायामहं तेन स्यन्दनेन विराजता ॥ ७६ ॥
येनाऽजयद्देवपतिर्बलिं वैरोचनिं पुरा ।
ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ॥ ७७ ॥
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशांपते ।
दृष्ट्वा च मामपृच्छन्त किं करिष्यसि फाल्गुन ॥ ७८ ॥

आप हुआही समझिये । तब बल और वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्रने हंस कर मुझसे कहा, कि कोई काम ऐसा नहीं है कि जिसको तुम न कर सको, आज कल मेरे शत्रु, निवातकवच बहुत बढ गये हैं । वे लोग समुद्रके बीच दुर्ग बना कर रहते हैं । इनकी संख्या तीन करोड है और उनका रूप, बल तथा तेज समानही है । हे कुन्तीनन्दन ! तुम वहां जाकर उन सबको जीतो; इससे तुम्हारे गुरु प्रसन्न होंगे । (६९-७३)

तब मोरके समान रंगवाले घोडोंको मातलीने रथमें जोडा । उस महातेजवाले दिव्य रथको इन्द्रने मुझे दिया और इस दिव्य किरीटको अपने हाथसे मेरे सिर पर बांधा, इन्द्रने मुझे अपने समान आभूषण और उत्तम रूपवाले इस अभेद्य कवचको पहिराया ! मेरी गाण्डीव धनुष पर इस न टूटनेवाले रोदेकोभी चढा दिया; तब मैं उस सुन्दर रथ पर बैठ कर वहांसे चला, इसी रथ पर बैठ कर पहले इन्द्रने विरोचनके पुत्र बलिको जीता था । (७३-७७)

उस रथके शब्दसे सब देवता सचेत होगये और उन्होंने मुझहीको इन्द्र मान लिया और मेरे सङ्ग चले । मुझको देख

तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्ताऽस्मि संयुगे ।
निवातकवचानां तु प्रस्थितं मां वधैषिणम् ॥ ७९ ॥
निबोधत महाभागाः शिवं चाऽऽशास्त मेऽनघाः ।
तुष्टुवुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरन्दरम् ॥ ८० ॥
रथेनाऽनेन मघवा जितवाञ्शम्बरं युधि ।
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ॥ ८१ ॥
बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदान्यपि ।
रथेनाऽनेन दैत्यानां जितवान्मघवा युधि ॥ ८२ ॥
त्वमप्यनेन कौन्तेय निवातकवचान्रणे ।
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवा वशी ॥ ८३ ॥
अयं च शंखप्रवरो येन जेताऽसि दानवान् ।
अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ॥ ८४ ॥
प्रदीयमानं देवैस्तं देवदत्तं जलोद्भवम् ।
प्रत्यगृह्णं जयायैनं स्तूयमानस्तदाऽमरैः ॥ ८५ ॥
स शंखी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः ।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ॥ ८६ ॥ [५६६८]

इति श्रीमहाभारते॰आरण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनवाक्येऽष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६८॥

कर देवतोंने पूछा, कि हे अर्जुन ! तुम कौन काम करनेको जातेहो ? तब मैंने सब युद्धका समाचार उससे कह सुनाया मैं कहने लगा, कि हे महाभाग पाप रहित देवतो ! मैं निवातकवच दैत्यों-को मारने जाता हूं, तुमलोग हमें आशीर्वाद दो । तब सब देवतोंने प्रसन्न होकर मेरी वैसी स्तुति की जैसी इन्द्रकी करते हैं । (७७—८०)

देवता बोले, कि इन्द्रने इसी रथपर चढकर शम्बर दैत्यको मारा था और इसी पर चढकर नमुचि,बल,वृत्र,प्रह्लाद और नरकासुरको मारा था । इन्द्रने इस रथपर चढकर सहस्रों, लाखों, करोडों और अर्बों दैत्योंको मारा है । हे कुन्ती-नन्दन ! तुमभी इस रथपर चढकर युद्धमें निवातकवच दैत्योंको अपने पराक्रमसे मारोगे; ऐसेही इन्द्रभी युद्धमें दैत्योंको मारा करते हैं । यह सब शङ्खोंमें श्रेष्ठ शङ्ख है, इसीसे तुम सब दैत्योंको जीतोगे । महात्मा इन्द्रने पहले समयमें इसी शङ्खसे सब लोकोंको जीत लिया था । सब देवतोंकी स्तुति सुन-कर इस देवदत्त शङ्खको ग्रहण किया ।

अर्जुन उवाच — ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः
अपश्यमुदधिं भीममपां पतिमथाऽव्ययम् ॥ १ ॥
फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्च समुत्थिताः ।
ऊर्मयश्चाऽत्र दृश्यंते वल्गन्त इव पर्वताः ॥ २ ॥
नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समंततः ।
तिमिंगिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिंगिलाः॥ ३ ॥
मकराश्चाऽत्र दृश्यंते जले मग्ना इवाऽद्रयः ।
शंखानां च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ॥ ४ ॥
दृश्यंते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः ।
तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसंघाः प्लवंत्युत ॥ ५ ॥
वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तमुदीक्ष्य महावेगं सर्वाभोनिधिमुत्तमम् ॥ ६ ॥
अपश्यं दानवाकीर्णं तद्दैत्यपुरमंतिकात् ।
तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले ॥ ७ ॥
रथं तं तु समालक्ष्य प्राद्रवद्रथयोगवित् ।
त्रासयन्रथघोषेण तत्पुरं समुपाद्रवत् ॥ ८ ॥

मैं कवच, शङ्ख, बाण और धनुषको धारण करके युद्धकी इच्छासे घोर दानवोंके स्थानको चला । (८१-८६)[६५६८]

वनपर्वमें एकसौ अडसठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ उनहत्तर अध्याय ।

अर्जुन बोले, हे महाराज ! मैं महाऋषियोंसे स्तुति सुनता हुआ समुद्रपर पहुंचा; मैंने घोररूपवाले जलके स्वामी भयानक उदधि देखा । उसमें फेनके सहित बडी बडी तरङ्ग उठती ऐसी जान पडती थीं, मानो पर्वत बह रहे हैं । समुद्रमें सहस्रों नाव रत्नोंसे भरी हुई खडी थीं । उसमें बडी बडी मछरी, कच्छप, मगर और पर्वतके समान बडे बडे ग्राह घूम रहे थे । जलमें डूबे हुए सहस्रों शङ्ख ऐसे दीख पडते थे, जैसे रात्रिमें पतले मेघसे ढके हुए तारे दीखते हैं; समुद्रमें सहस्रों रत्न दिखाई देते थे । (१ — ५)

उसमें बडा घोर वायु उठता था और सब उत्तम समुद्रका वेग दिखाई देता था । मैंने समुद्रके बीचमें दानवोंसे भरा हुआ एक नगर देखा, वहां जातेही रथयोगको जाननेवाले मातली पातालको चले; उस समय उनके रथके शब्दसे सब प्राणी कांपने लगे । मेघके समान रथके

रथघोषं तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाऽम्बरे ।
मन्वाना देवराजं मामाविग्ना दानवाऽभवन् ॥ ९ ॥
सर्वे संभ्रांतमनसः शरचापधराः स्थिताः ।
तथाऽसिशूलपरशुगदामुसलपाणयः ॥ १० ॥
ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः।
संविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ॥ ११ ॥
ततः शंखमुपादाय देवदत्तं महास्वनम् ।
परमां मुदमाश्रित्य प्राधमं तं शनैरहम् ॥ १२ ॥
स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत् ।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहांत्यपि ॥ १३ ॥
ततो निवातकवचाः सर्व एव स्वलंकृताः ।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विचित्रायुधपाणयः ॥१४ ॥
आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ॥ १५ ॥
शतघ्नीभिर्भुशुंडीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलंकृतैः ।
प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन्सहस्रशः ॥ १६ ॥
ततो विचार्य बहुशो रथमार्गेषु तान्हयान् ।
प्राचोदयत्समे देशे मातलिर्भरतर्षभ ॥ १७ ॥

शब्दको सुनकर राक्षसोंने जाना कि इन्द्र आते हैं। तब वे सब उद्विग्न होगये। ८-९

सब दानव सावधान होकर धनुष और बाणको धारण करके खडे होगये। उनलोगोंने अत्यन्त डरकर खड्ग, शूल, फर्सा, गदा और मुशल धारण करके अपने नगरके द्वारोंको बन्द कर दिया, उन लोगोंने इस प्रकार अपनी रक्षा की, कि कोईभी न दीखने लगा। तब मैंने प्रसन्न होकर महा शब्दवाले देवदत्त शंखको धीरे धीरे बजाया, उस शब्दके आकाशमें जानेसे घोर गुञ्जार उठी, उस शब्दसे बडे बडे समुद्रके जन्तु डरके समुद्रमें छिपने लगे। (१०—१३)

तब निवातकवच लोग अनेक विचित्र शस्त्रोंको धारण करके तथा उत्तम उत्तम भूषणोंको धारण करके मेरे आगे आये। वे लोग लोहेके भाले, गदा, मूशल, पट्टिश, खड्ग, और चक्रको धारण करके लडनेको आये। शतघ्नी, भुशुण्डी और खड्गको धारण करके सहस्रों राक्षस लोग बाहर निकले। हे भरतकुल-

तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम् ।
नाऽन्वपश्यं तदा किंचित्तन्मेऽद्भुतमिवाऽभवत् ॥ १८ ॥
ततस्ते दानवास्तत्र वादित्राणि सहस्रशः ।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यनादयन् ॥ १९ ॥
तेन शब्देन सहसा समुद्रे पर्वतोपमाः ।
आप्लवंत गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ॥ २० ॥
ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन् ।
विमुंचतः शितान्बाणान् शतशोऽथ सहस्रशः॥ २१॥
स संप्रहारस्तुमुलस्तेषां च मम भारत ।
अवर्तत महाघोरो निवातकवचांतकः ॥ २२ ॥
ततो देवर्षयश्चैव दानवर्षिगणाश्च ये ।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ॥ २३ ॥
ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः ।
अस्तुवन्मुनयो वाग्भिर्यथेंद्रं तारकामये ॥ २४ ॥[६५९२]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि युद्धारंभे ऊनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९॥

अर्जुन उवाच– ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत ।

सिंह ! तब मातलीने मार्गकी सब विचार कर रथको समान भूमिमें स्थापन किया। (१४–१७)

उन शीघ्र चलनेवाले घोडोंके हांकने से और शीघ्र चलनेसे उनकी गतिको कोई नहीं जान सका , यह देख मुझे बडा आश्चर्य हुआ। तब उन दानवोंने सहस्रों प्रकारके बाजे बजाये और अपने घोर शब्दसे सब दिशाओं को पूरित करने लगे। उस शब्दको सुन कर समुद्रमेंसे पर्वतके समान सहस्रों मछरी मरकर उछलने लगीं, तब सैकडों हजारों दानव लोग तीक्ष्ण बाणोंको छोडते हुए मेरी ओर दौडे। (१७–२१)

हे भारत ! उस समय मेरा और उन दानवोंका घोर युद्ध हुआ, उस घोर युद्धमें अनेक निवातकवच मरने लगे । तब देवर्षि दानवऋषि सिद्ध और ब्रह्मऋषियोंके झुण्ड आकाशसे उस घोर युद्धको देखने आये, वे लोग मेरी जीत चाह कर मीठी और अनुकूल वाणीसे मेरी स्तुति करने लगे, ऐसे ही तारकासुर के युद्धमें मुनियोंने इन्द्रकी स्तुति की थी। (२२–२४) [६५९२]

वनपर्वमें एकसौ उनहत्तर अध्याय समाप्त।

अभ्यद्रवन्मां सहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ॥ १ ॥
आच्छाद्य रथपंथानमुत्क्रोशंतो महारथाः ।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २ ॥
ततो परे महावीर्याः शूलपट्टिशपाणयः ।
शूलानि च भुशुंडीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ॥ ३ ॥
तच्छूलवर्षं सुमहद्गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ॥ ४ ॥
अन्ये मामभ्यधावंत निवातकवचा युधि ।
जितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ॥ ५ ॥
तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
गांडीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ॥ ६ ॥
ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः ।
ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते संप्रचोदिताः ॥ ७ ॥
मार्गान्बहुविधांस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः ।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान् ॥ ८ ॥
शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन्युक्ता महारथे ।
शांता मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ॥ ९ ॥

वनपर्वमें एकसौ सत्तर अध्याय ।

अर्जुन बोले, हे महाराज ! तब वे सब निवातकवच लोग शस्त्रोंको धारण करके मेरी ओर दौडे, महारथ निवातकवचोंने गर्ज कर मेरे रथके मार्गको रोक दिया और मेरे चारों ओर खडे होकर मेरे ऊपर शस्त्र बरसाने लगे। अनेक महाबलवान दानव लोग मेरे ऊपर शूल पट्टिश और भुशुण्डी चलाने लगे। वह शूल, गदा और शक्तियोंकी घोर वर्षा उनके हाथोंसे छूट कर मेरे रथ पर गिरने लगी, बहुत निवात कवच राक्षस युद्धमें मेरी ओर दौडे। वे लोग कालके समान रूप वाले घोर शस्त्रोंको धारण किये मेरी ओर आये। (१-५)

मैंनेभी युद्धमें एक एक राक्षसोंके शरीरमें शीघ्र चलनेवाले तीक्ष्ण बाणोंको गाण्डीव धनुष पर चढा कर मारे। मेरे तीक्ष्ण बाणोंने उन सब राक्षसोंको युद्धमें विमुख कर दिया। तब मातलीने उन शीघ्र चलनेवाले घोडोंको हांका, वे वायुके समान शीघ्र चलनेवाले घोडे अनेक मार्गोंसे मातलीके हांकनेके अनुसार चलते हुए अनेक राक्षसोंकी नाश

तेषां चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च ।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ॥ १० ॥
गतासवस्तथैवाऽन्ये प्रगृहीतशरासनाः ।
हता सारथयस्तत्र व्यकृष्यंत तुरंगमैः ॥ ११ ॥
ते दिशो विदिशः सर्वे प्रतिरुध्य प्रहारिणः ।
अभ्यघ्नन्विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ॥ १२ ॥
ततोऽहं मातलेर्वीर्यमपश्यं परमाद्भुतम् ।
अश्वांस्तथा वेगवतो यद्यत्नादधारयत् ॥ १३ ॥
ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान्रणे ।
चिच्छेद सायुधान्राजञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥
एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन् ।
प्रीतिमानभवद्वीरो मातलिः शक्रसारथिः ॥ १५ ॥
वध्यमानास्ततस्तैस्तु हयैस्तेन रथेन च ।
अगमन्प्रक्षयं केचिन्न्यवर्तन्त तथाऽपरे ॥ १६ ॥
स्पर्धमाना इवाऽस्माभिर्निवातकवचा रणे ।
शरवर्षैः शरार्तं मां महद्भिः प्रत्यवारयन् ॥ १७ ॥

करने लगे, मातलीने उस रथके पहिये के नीचे दबाकर सैकडों राक्षसोंको मारा । वे राक्षस लोग छोटे जन्तुओंके समान उस पहियेके नीचे दबने लगे। घोडोंके खुर, रथके पहिये, और मेरे बाणोंके प्रयोगसे सैकडों दानव मरने लगे । (९—१०)

कोई धनुष धारण किये ही मर गया; किसका सारथी मरा तो वह आपही घोडोंको हांकने लगा । उन शस्त्र चलानेवाले दानवोंने चारों ओरसे मुझे घेर कर शस्त्र चलाये । तब तो मेरा मन घबरा उठा, उस समय मैंने मातलीके विचित्र बलको देखा । उन्होंने बहुत यत्नसे शीघ्र चलनेवाले घोडोंको स्थिर किया, तब मैंने उन राक्षसोंको शस्त्रोंके सहित सहस्रों दलके और विचित्र शस्त्रोंसे काट डाला । हे शत्रु-नाशन ! मेरे इस अद्भुत कर्मको देखकर इन्द्रके सारथी धीर मातली बहुत प्रसन्न हुए । (११–१५)

इस प्रकार उन अस्त्रों, उस रथ और घोडोंसे कईयोंका नाश हुआ और शेष युद्धसे भाग गये । पश्चात हमारे से स्पर्धा करनेवाले निवातकवच दानव लोग हमारा डाह करते हुए पहिलेसे

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमंत्रितैः ।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥
ततः संपीड्यमानास्ते क्रोधाविष्टा महारथाः ।
अपीडयन्मां सहिताः शक्तिशूलासिवृष्टिभिः ॥ १९ ॥
ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतेजसम् ।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत ॥ २० ॥
ततः खड्गत्रिशूलेन तोमरांश्च सहस्रशः ।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तानहमच्छिदम् ॥ २१ ॥
छित्वा प्रहरणान्येषां ततस्तानपि सर्वशः ।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद्दशभिर्दशभिः शरैः ॥ २२ ॥
गांडीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपंक्तयः ।
निष्पतंति महाबाणास्तन्मातलिरपूजयत् ॥ २३ ॥
तेषामपि तु बाणास्ते बहुत्वाच्छलभा इव ।
अवाकिरन्मां बलवत्तानहं व्यधमं शरैः ॥ २४ ॥
वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः ।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समंतात्पर्यवारयन् ॥ २५ ॥

ही पीडित बने हुए ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । तब मैंने सहस्र और सैकडों दानवोंको अपने हलके और विचित्र बाणोंसे मारा, मैंने उन बाणोंको ब्रह्मास्त्र मन्त्रसे मन्त्रित करके चलाया था, तब वे महारथ लोग मेरे बाणोंसे पीडित होकर क्रोधसे व्याकुल हो गये । वे लोग इकठे होकर शक्ति और शूलोंसे मुझे मारने लगे । (१८—१९)

हे भारत ! तब मैंने इन्द्रके प्यारे महातेजस्वी माधव नामक अस्त्रको चलाया, तब मैंने उस शस्त्रके बलसे उन राक्षसोंके छोडे हुए सहस्रों खड्ग, त्रिशूल, और तोमरोंको काट दिया। उनके सब शस्त्रोंको काट कर मैंने क्रोधसे उन एक एक राक्षसोंके शरीरमें दस दस बाण मारे, उस समय गाण्डीव धनुषसे भौंरोंके समान बाण छूट रहे थे, ऐसा देख मातली मेरी प्रशंसा करने लगा और उन दानवोंके बाणभी ऐसेही छूट रहे थे, मातली उनको भी प्रशंसा करने लगे, तब मैंने अपने बाणोंसे उन सबको काटना आरम्भ किया । (२०—२४)

वे राक्षस मुझसे पीडित होकर फिर इकठे हुए और चारों ओरसे मेरे ऊपर बडे बडे बाण बरसाने लगे । तब मैंने

शरवेगान्निहत्याऽहमस्त्रैरस्त्रविघातिभिः ।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः ॥ २६ ॥
तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजंति स्म शोणितम् ।
प्रावृषीवाऽभिवृष्टानि शृंगाण्यथ धराभृताम् ॥२७॥
इंद्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः ॥ २८ ॥
शतधा भिन्नदेहास्ते क्षीणप्रहरणौजसः ।
ततो निवातकवचा मामयुध्यंत मायया ॥ २९ ॥[६६२१]

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचवधे सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७०॥

अर्जुन उवाच — ततोऽश्मवर्षं सुमहत्प्रादुरासीत्समंततः ।
नगमात्रैः शिलाखंडैस्तन्मां दृढमपीडयत् ॥ १ ॥
तदहं वज्रसंकाशैर्महेंद्रास्त्रप्रचोदितैः ।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शरजालैर्महाहवे ॥ २ ॥
चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राऽश्मचूर्णान्यपतन्पावकप्रकरा इव ॥ ३ ॥
ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममांतिके ॥ ४ ॥

अपने बाणोंसे उनके सब बाणोंको काट दिया, फिर शीघ्र चलनेवाले प्रकाशमान बाण उनके शरीरोंमें मारे, बाण लगनेसे उनके शरीर कट गये और रुधिर बहने लगा, उस समय उनकी शोभा ऐसी दिखाई देती थी, जैसी वर्षाकालमें पर्वतोंके शिखरोंकी। इन्द्रके वज्रके समान कठोर और सीधे चलनेवाले मेरे बाणोंसे राक्षस लोग घबडा गये, मेरे बाणोंसे उनके शरीरोंके सौ सौ टुकडे हो गये, उनके बल और तेज क्षीण हो गये। तब वे लोग मुझसे मायायुद्ध करने लगे। (२५—२९) [६६२१]

वनपर्वमें एकसौ सत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ इकहत्तर अध्याय ।

अर्जुन बोले, हे महाराज ! तब मेरे ऊपर चारों ओरसे पर्वतके समान शिला बरसने लगीं, उनसे मुझको बहुत पीडा हुई। मैंने सबको वज्रके समान कठोर महेन्द्रास्त्र युक्त वेगवाले घोरबाणोंसे काट दिया। जब शिलाओंकी वर्षा कट गयी, तब अग्नि बरसने लगी, उसके सङ्गही आगके पतङ्गोंके समान पत्थरका चुरा बरसने लगा। जब वह वर्षा बन्द हुई,

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन्सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ ५ ॥
धाराणां च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥
धारा दिवि च संबद्धा वसुधायां च सर्वशः ।
व्यामोहयंत मां तत्र निपतंत्योऽनिशं भुवि ॥ ७ ॥
तत्रोपदिष्टमिंद्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत्तेन तज्जलम् ॥ ८ ॥
हतेऽश्मवर्षे च मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुं च भारत ॥ ९ ॥
ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ॥ १० ॥
तस्यां प्रतिहतायां ते दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन्विविधां मायां यौगपद्येन भारत ॥ ११ ॥
ततो वर्षं प्रादुरभूत्सुमहल्लोमहर्षणम् ।
अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाऽश्मनाम् ॥ १२ ॥
सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि ।

तो बहुत पानी बरसने लगा, उन आकाशसे गिरती हुई सहस्रों जल धाराओंसे दिशा छागयी । (१—५)

जलधारा गिरने, घोर वायुके शब्द और मेघोंके गर्जनसे दैत्योंको कुछभी न दीख पडा । वे धारा आकाश और पृथ्वीमें छा गयी थीं । इससे मुझे बहुत भ्रम हुआ, वे निरन्तर बरसने लगीं; तब मैंने इन्द्रके बताये हुए दिव्य प्रकाशमान और घोर शोषण अस्त्रको चलाया । उसके चलतेही वह जल सूख गया। जब मैंने पत्थर, वायु, अग्नि और जलको नष्ट कर दिया, तब दानवोंने फिर माया को प्रकाश किया और अग्नि तथा वायु बरसाने लगे । तब मैंने जल अस्त्रसे उस अग्निको बुझा दिया और पर्वत अस्त्रसे वायुके वेगको नाश कर दिया । ६-१०)

हे महाराज ! जब मैंने इन सब मायाको नष्ट कर दिया, तब युद्धमें मतवारे सब दानवोंने मिलकर अनेक माया प्रगट की; तब अग्नि, वायु और पर्वतोंके अनेक अस्त्र मेरे ऊपर बरसने लगे, वे सब शस्त्र महाघोर रूपवाले और भयानक थे, वह मायामयी शस्त्रकी वर्षा मुझे

अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत्समन्ततः ॥ १३ ॥
तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च ।
हरयो विमुखाश्चाऽऽसन्प्रास्खलच्चापि मातलिः॥ १४ ॥
हस्ताद्धिरण्मयश्चाऽस्य प्रतोदः प्रापतद्भुवि।
असकृच्चाऽऽह मां भीतः क्वाऽसीति भरतर्षभ ॥ १५ ॥
मां च भीराविशत्तीव्रा तस्मिन्विगतचेतसि ।
स च मां विगतज्ञानः संत्रस्तमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
सुराणामसुराणां च संग्रामः सुमहानभूत् ।
अमृतार्थं पुरा पार्थ स च दृष्टो मयाऽनघ ॥ १७ ॥
शंबरस्य वधे घोरः संग्रामः सुमहानभूत् ।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ॥ १८ ॥
तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया ।
वैरोचनेर्महायुद्धं दृष्टं चापि सुदारुणम् ॥ १९ ॥
एते मया महाघोराः संग्रामाः पर्युपासिताः ।
न चापि विगतज्ञानो भूतपूर्वोऽस्मि पांडव ॥ २० ॥
पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम् ।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ॥ २१ ॥

युद्धमें बहुत पीडा देने लगी; अनन्तर सब ओर घोर अन्धकार फैल गया। उस घोर और कठोर अन्धकारसे सब जगत् छा गया। तब मेरे घोडे युद्धमें विमुख हुए और मातलीभी घवडा गये; उनके हाथसे सोनेका कोडा पृथ्वीमें गिर पडा और उन्होंने घवडाकर मुझसे कहा, कि हे अर्जुन! तुम कहां हो? (११-१५)

उनको घवडाया हुआ देख, मुझको बहुत भय लगा, डरे हुए मुझसे ज्ञानरहित मातली बोले, कि हे कुन्तीनन्दन! हे पापरहित! पहले समयसे अमृतके लिये देव दानवोंका जो घोर युद्ध हुआ था, मैंने उसको देखा था जिस समय शम्बरासुर मारा गया था; उस समयभी महायुद्ध हुआ था; तबभी मैंही इन्द्र का सारथी था; वृत्रासुरके युद्धमेंभी मैंनेही घोडोंको हांका था। इसी प्रकार मैंने बलि और इन्द्रके घोर युद्धकोभी देखा है। ये सब युद्ध महाघोर थे और मैं सबमें था; परन्तु ज्ञानरहित कभी नहीं हुआ था। हे पाण्डव! जान पडता है, कि ब्रह्माने प्रलय करनेकी इच्छा की है, क्योंकि यह युद्ध विना जगत्के नाश

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
मोहयिष्यन्दानवानामहं मायाबलं महत् ॥ २२ ॥
अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम् ।
अस्त्राणां च प्रभावं वै धनुषो गांडिवस्य च ॥ २३ ॥
अद्याऽस्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम् ।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव ॥ २४ ॥
एवमुक्त्वाऽहमसृजमस्त्रमायां नराधिप ।
मोहनीं सर्वभूतानां हिताय त्रिदिवौकसाम् ॥ २५ ॥
पीड्यमानासु मायासु तासु तास्वसुरोत्तमाः ।
पुनर्बहुविधा मायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः । ॥ २६ ॥
पुनः प्रकाशमभवत्तमसा ग्रस्यते पुनः ।
भवत्यदर्शनो लोकः पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥
सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः ।
व्यचरत्स्यंदनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणे ॥ २८ ॥
ततः पर्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि ।
तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्वं यमसादनम् ॥ २९ ॥
वर्तमाने तथा युद्धे निवातकवचांतके ।
नाऽपश्यं सहसा सर्वान्दानवान्मायया वृतान् ॥ ३० ॥ [३६९११]

इति श्रीमहाभारते० निवातकवचयुद्धपर्वणि मायायुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

किये समाप्त न होगा । (१९—२१)

मातलीके ऐसे वचनको सुनकर मैंने अपनेको आपही धीरज दिया और दानवोंके मायाबलको भुलाता हुआ मातलीसे बोला, हे सूत! तुम कुछ मत डरो; खडे रहो । हमारे बाहुबल शस्त्र और धनुषकी शक्तिको देखो; हम इसी समय इस सब राक्षसोंकी घोर माया और उग्र तमको नाश कर देंगे। हे महाराज! मैंने ऐसा कहकर देवतोंके लिये सब प्राणियोंको मोहने वाली अस्त्रको प्रगट किया। २२—२५

मेरी उस मोहनास्त्रसे महातेजस्वी दानव लोग पीडित होकर अनेक प्रकारकी माया करने लगे । कभी जगत् गुप्त होता था और कभी जलमें डूब जाता था। प्रकाश होनेसे मातली घोडोंको ठीक करके उस घोर संग्राममें घूमने लगे। तब वे दानव मुझको देखकर जलने लगे । मैंने अन्तर पाकर कितनोंहीको मार डाला । इस प्रकार जब निवातकवचोंका

अर्जुन उवाच— अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयंति स्म मायया ।
अदृश्येनाऽस्त्रवीर्येण तानप्यहमयोधयम् ॥ १ ॥
गांडीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः ।
अच्छिन्दन्नुत्तमांगानि यत्र यत्र स्म तेऽभवन् ॥ २ ॥
ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि ।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन्पुरमात्मनः ॥ ३ ॥
व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने ।
अपश्यं दानवांस्तत्र हतान्शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च ।
शतशः स्म प्रदृश्यंते गात्राणि कवचानि च ॥ ५ ॥
हयानां नांऽतरं ह्यासीत्पदाद्विचलितुं पदम् ।
उत्पत्य सहसा तस्थुरंतरिक्षगमास्ततः ॥ ६ ॥
ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम् ।
अदृश्या ह्यभ्यवर्तंत विसृजंतः शिलोच्चयान् ॥ ७ ॥
अंतर्भूमिगताश्चाऽन्ये हयानां चरणान्यथ ।
व्यगृह्णन्दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ॥ ८ ॥

युद्ध हो रहा था, तब एकवार सब दानव गुप्त होगये। (२९—३०) [६६८१]

वनपर्वमें एकसौ इकत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ बाहत्तर अध्याय ।

अर्जुन बोले, हे महाराज ! वे दैत्य लोग मुझसे गुप्त होकर युद्ध करने लगे। और अनेक प्रकारकी मायाभी करने लगे। मैंनेभी अदृश्य शस्त्रके बलसे युद्ध किया, मेरी गाण्डीव धनुषसे छुटे हुए बाण राक्षसोंको काट काट पृथ्वीपर गिराने लगे। मैंने अपने बाणोंको दिव्य मन्त्रित करके छोडा। निवातकवच लोग मुझसे पीडित होकर मायाको छोड अपने नगरको भाग गये। जब दानवलोग भागे और सर्वत्र प्रकाश हुआ तब मैंने देखा, कि सैकडों, सहस्रों राक्षस मरे पडे हैं। (१ — ४)

उनके पासही सहस्रों भूषण, शस्त्र, कवच और गात्रभी कटे पडे हैं। घोडे एकचरणभरभी नहीं चल सकते थे, तब वे असुर आकाशमें उड कर खडे होगये। तब निवातकवच लोगभी आकाशमें छा गये और वहींसे गुप्त होकर शिला वर्षाने लगे। उनमेंसे कोई दानव पृथ्वीमें खडे होकर मेरे घोडोंके पैर और रथके पहियोंको खींचने लगे। वे मेरे घोडे

विनिगृह्य हरीनश्वान्रथं च मम युध्यतः ।
सर्वतो मामविध्यंत सरथं धरणीधरैः ॥ ९ ॥
पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथाऽपरैः ।
स देशो यत्र वर्तामि गुहेव समपद्यत ॥ १० ॥
पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्ति मातलिस्तदलक्षयत् ॥ ११ ॥
लक्षयित्वा च मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनाऽर्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ॥ १२ ॥
ततोऽहं तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदीरयम् ।
देवराजस्य दयितं भीममस्त्रं नराधिप ॥ १३ ॥
अचलं स्थानमासाद्य गांडीवमनुमन्त्र्य च ।
अमुंचं वज्रसंस्पर्शानायसान्निशिताञ्शरान् ॥ १४ ॥
ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ॥ १५ ॥
ते वज्रवेगविहता दानवाः पर्वतोपमाः ।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन्पृथिवीतले ॥ १६ ॥
अंतर्भूमौ च येऽगृह्णन्दानवा रथवाजिनः ।

और पहियोंको पकडकर मुझे चारों ओर से पहाडोंसे मारने लगे। उन्होंने इतने पहाड वर्षाये कि जिस स्थानमें मैं खडा था, वह गुहाके समान हो गया, मैं उन पर्वतोंसे छिपने और घोडोंके पकडे जाने से बहुत पीडित हुआ। इसको मातलीने जान लिया। (९—११)

तब मातलीने डरे हुए मुझसे कहा, कि हे अर्जुन! तुम डरो मत। इस समय तुम वज्रअस्त्रको छोडो। हे महाराज! मैंने उसके वचन सुन इन्द्रके प्यारे घोर वज्रको छोडा, मैं ऐसे स्थानपर खडा हुआ, जो चलने योग्य नहीं था। वहांसे मैंने अपनी धनुषको मन्त्रित करके वज्र के समान अत्यन्त तीक्ष्ण अनेक बाणों को छोडा। उन वज्रके समान बाणों ने दानवोंकी माया और दानवोंको नाश कर दिया, वे बाण उनके शरीरोंमें वज्र के समान प्रवेश कर गये। वे सब दानव लोग उस वज्रके वेगसे मर कर आपसमें मिल मिल कर पृथ्वीमें गिरने लगे। (१२—१६)

जो दानव भूमि में प्रवेश कर मेरे रथ और घोडोंको पकडे रहे, मेरे बाण

अनुप्रविश्य तान्बाणाः प्राहिण्वन्यमसादनम् ॥ १७ ॥
हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥ १८ ॥
न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः ।
मम चाऽदृश्यत तदा तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ १९ ॥
ततो मां प्रहसन्राजन्मातलिः प्रत्यभाषत ।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्यं यदीक्षते ॥ २० ॥
हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषां तु सर्वशः ।
प्राक्रोशन्नगरे तस्मिन्यथा शरदि सारसाः ॥ २१ ॥
ततो मातलिना सार्धमहं तत्पुरमभ्ययाम् ।
त्रासयन्रथघोषेण निवातकवचस्त्रियः ॥ २२ ॥
तान्दृष्ट्वा दशसाहस्रान्मयूरसदृशान्हयान् ।
रथं च रविसंकाशं प्राद्रवन्गणशः स्त्रियः ॥ २३ ॥
ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः ।
शिलानामिव शैलेषु पतन्तीनामभूत्तदा ॥ २४ ॥
वित्रस्ता दैत्यनार्यस्ताः स्वानि वेश्मान्यथाविशन् ।
बहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च । ॥ २५ ॥

उनके हृदयमें घुस गये और उन्हें यमके घर पहुंचा दिया, उस समय उन पर्वत के समान राक्षसोंके शरीरोंसे पृथ्वी ऐसी भर गई थी, मानो अनेक पर्वत पडे हुए हैं। उस युद्धमें मेरे घोडे सारथी और मेरी कुछभी हानि न हुई, यह देख कर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। तब मातलीने हंसकर मुझे कहा, कि हे अर्जुन! जो बल तुममें है, सो देवतोंमेंभी नहीं है। (१७—२०)

जब सब राक्षस मर गये, तब स्त्रियां इस प्रकार रोने लगीं जैसे शरद ऋतुमें सारस बोलते हैं। तब मैं मातलीके संग नगर के भीतर गया, मेरे रथके शब्दको सुन निवात कवचोंकी स्त्रियां डरने लगीं। उन मयूरके समान रंगवाले दश हजार घोडे और सूर्यके समान रथको देख कर स्त्रियोंके सहस्रों झुण्ड इधर उधर भागने लगे। उन डरी हुई भागती स्त्रियोंके भूषणोंके शब्दसे ऐसा जान पडने लगा जैसा पर्वतसे गिरती हुई शिलाओंका शब्द होता है, कोई डरी हुई स्त्री अपने सुवर्ण कुंभोंसे शोभित रत्नजटित घरोंमें घुस गयीं! (२१—२५)

तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम् ।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः ॥ २६ ॥
इदमेवंविधं कस्माद्देवा नाऽऽवासयंत्युत ।
पुरंदरपुराद्धीदं विशिष्टमिति लक्षये ॥ २७ ॥

मातलिरुवाच— आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम् ।
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः ॥ २८ ॥
तपस्तप्त्वा महत्तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम् ।
इदं वृत्तं निवासाय देवेभ्यश्चाऽभयं युधि ॥ २९ ॥
ततः शक्रेण भगवान्स्वयंभूरिति चोदितः ।
विधत्तां भगवानत्रमात्मनो हितकाम्यया ॥ ३० ॥
तत उक्तो भगवताऽऽदिष्टमत्रेति भारत ।
भविताऽन्तस्त्वमप्येषां देहेनाऽन्येन शत्रुहन् ॥ ३१ ॥
तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव ।
न हि शक्याः सुरैर्हन्तुं य एते निहतास्त्वया ॥ ३२ ॥
कालस्य परिणामेन ततस्त्वमिह भारत ।
एषामन्तकरः प्राप्तस्तत्त्वया च कृतं तथा ॥ ३३ ॥

मैंने उस विचित्र और देवतोंके नगर से भी श्रेष्ठ नगरको देख मातलीसे पूछा, इस उत्तम नगरमें देवतालोग क्यों नहीं वास करते हैं? क्योंकि यह नगर अमरावती से भी अच्छा दीखता है। मातली बोले, हे कुन्तीनन्दन! पहले यह नगर हमारा और इन्द्रका स्थान था, परन्तु निवातकवचोंने यहांसे हमलागोंको निकाल दिया था। उन्होंने पहले अपने तपसे ब्रह्माको प्रसन्न किया। फिर उस स्थानमें रहनेके लिये और देवतोंसे अजेय होनेका वरदान मांगा। (२६-३०)

तब भगवान् ब्रह्माको इन्द्रने कहा, कि अपना हित होनेके लिये इनके नाशका उपाय भगवान को ही सोचना चाहिये। यह इन्द्रका भाषण श्रवण करके भगवान ब्रह्मदेव इन्द्रसे बोले, कि हे शत्रुनाशी! तुमही दूसरा शरीर धारण करके इन सबका नाश करोगे। इसीलिये इन्द्रने इन दानवोंका नाश करनेको सब शस्त्र तुम्हे दिया। जिन दानवोंको तुमने मारा है, उनको देवताभी नहीं मार सकते थे। हे भारत! कालके आनेसे तुम्हीं इन सबका नाश करनेको यहां आये और जैसा ब्रह्माने कहा था वैसाही

दानवानां विनाशाय अस्त्राणां परमं बलम्।
ग्राहितस्त्वं महेंद्रेण पुरुषेंद्र तदुत्तमम् ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच— ततः प्रशाम्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान्।
पुनर्मातलिना सार्धमगच्छं देवसद्म तत् ॥ ३५ ॥ [६८८६]

इति श्रीमहाभारते ०निवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचयुद्धे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

अर्जुन उवाच— निवर्तमानेन मया महद् दृष्टं ततोऽपरम्।
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम् ॥ १ ॥
रत्नद्रुममयैश्चित्रैः सुस्वरैश्च पतत्त्रिभिः।
पौलोमैः कालकंजैश्च नित्यहृष्टैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥
गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम्।
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥
द्रुमैः पुष्पफलोपेतैः सर्वरत्नमयैर्वृतम्।
तथा पतत्त्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ॥ ४ ॥
असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः।
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ॥ ५ ॥

किया। दानवोंके मारनेके लिये इन्द्रने तुमको सब शस्त्र सिखाये हैं। अर्जुन बोले, तब मैं सब दानवोंको मार और उस नगरको शान्तकर फिर मातलीके सहित स्वर्गको चला। (३१-३५) [६६८६]

वनपर्वमें एकसौ बाहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ तिहत्तर अध्याय।

अर्जुन बोले, हे महाराज! जब मैं स्वर्गको लौटा आता था, उसी समय एक बडा आश्चर्य दिखाई दिया। मुझे सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान प्रकाशवाला इच्छानुसार घूमता हुआ एक नगर दिखाई दिया, उसमें अनेक रत्नोंके वृक्षोंपर बैठे हुए पक्षी मीठे स्वर सुना रहे थे। उसके भीतर सदा प्रसन्न रहनेवाले पुलोम और कालकञ्ज वंशी दानव निवास करते थे। उस नगरके चार द्वार थे, परन्तु चारोंही बडे दुःखसे जाने योग्य थे। उसकी अटारी और महल बहुत सुन्दर थे। वह नगर रत्नोंसे जडा हुआ दिव्य और विचित्र दिखाई देता था, उसके चारों ओर फूले और रत्नोंसे जडे वृक्ष विराजमान थे। उन वृक्षोंपर मनोहर और दिव्य पक्षी बोल रहे थे। (१—४)

उस नगरके चारों ओर अनेक राक्षस लोग प्रसन्नतासहित शूल खड्ग और मूशल लिये माला धारण किये घूम रहे

तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां परमाद्भुतदर्शनम्।
अपृच्छं मातलिं राजन्किमिदं वर्ततेऽद्भुतम् ॥ ६ ॥

मातलिरुवाच—
पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी।
दिव्यं वर्षसहस्रं ते चेरतुः परमं तपः ॥ ७ ॥
तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयंभूरददद्वरम्।
अगृह्णीतां वरं ते तु सुतानामल्पदुःखताम् ॥ ८ ॥
अवध्यतां च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः।
पुरं सुरमणीयं च खचरं सुमहाप्रभम् ॥ ९ ॥
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्धर्षममरैरपि।
महर्षियक्षगंधर्वपन्नगासुरराक्षसैः ॥ १० ॥
सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम्।
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ॥ ११ ॥
तदेतच्च पुरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम्।
पौलोमाध्युषितं वीर कालकंजैश्च दानवैः ॥ १२ ॥
हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत्।
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः ॥ १३ ॥
त एते मुदिता राजन्नवध्याः सर्वदैवतैः।

थे। मैंने उस विचित्र दैत्यनगरको देखकर मातलीसे पूछा, कि यह किसका नगर है। मातली बोले, पुलोमा और कालका नामक दो असुर स्त्रियां हुई थीं, उन्होंने देवतोंके सहस्र वर्षतक घोर तप किया। जब उनका तप समाप्त हुआ, तब ब्रह्मा उन्हें वर देनेको आये। उन्होंने यह वरदान मांगा, कि हमारे पुत्रोंको दुःख न हो, हमको देवता, राक्षस और सर्प न मार सकें और हमारा महातेजस्वी रमणीय नगर आकाशमें घूमा करे। हमारे सब रत्न पूर्ण नगरको देवता, यक्ष, महर्षि, गन्धर्व, सांप, असुर और राक्षसभी न जीत सकें। (५-१०)

तब ब्रह्माने कालकेय दानवोंके निमित्त उस नगरको सब उपभोगके पदार्थोंसे युक्त सब गुणोंसे युक्त और दुःख रोगोंसे रहित बनाया था। हे वीर! वहीं वह नगर आकाशमें देवतोंसे खाली घूमता था। इसमें पुलोम वंशी और कालकञ्ज वंशी दानव रहते थे। इस नगरकी रक्षा पुलोमवंशी और कालकञ्ज वंशी करते थे। इस नगरका नाम हिरण्यपुर जगत्में प्रसिद्ध था, यह दानव

निवसंत्यत्र राजेंद्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः ॥ १४ ॥
मानुषान्मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणा पुरा ।
एतानपि रणे पार्थ कालकंजान्दुरासदान् ।
वज्रास्त्रेण नयस्वाऽऽशु विनाशं सुमहाबलान् ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच–
सुरासुरैरवध्यं तदहं ज्ञात्वा विशांपते ।
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत्पुरमञ्जसा ॥ १६ ॥
त्रिदशेशाद्विषो यावत्क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम् ।
न कथंचिद्धि मे पापा न वध्या ये सुरद्विषः ॥ १७ ॥
उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमंतिकात् ।
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः ॥ १८ ॥
ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणांबराः ।
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः ॥ १९ ॥
ततो नालीकनाराचैर्भल्लैः शक्त्यृष्टितोमरैः ।
प्रत्यघ्नन्दानवेंद्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः ॥ २० ॥
तदहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम् ।
शस्त्रवर्षं महद्राजन्विद्याबलमुपाश्रितः ॥ २१ ॥
व्यामोहयं च तान्सर्वान्रथमार्गैश्चरन्रणे ।

इस नगरमें निर्भय और मृत्युके डरसे रहित होकर रहते थे। ब्रह्माने प्रथम वर देते समय कह दिया था, कि इन दानवोंकी मनुष्योंसे मृत्यु होगी। ११-१५

हे अर्जुन! वज्रास्त्रसे इन महाबलवान् दानवोंका नाश करो। अर्जुन बोले, हे राजन्! तब मैंने उन दानवोंको देवता और राक्षसोंसे मारनेके अयोग्य समझ कर आनंदित होकर मातलीसे कहा, हे सूत! शीघ्रही इस नगरमें चलो, जितने इन्द्रके शत्रु हैं, उनको मैं शस्त्रसे मारूंगा। देवोंके शत्रु मेरेसे अवध्य नहीं होंगे। (१५-१७)

तब मातली मुझे दिव्य रथके सहित शीघ्रताके साथ हिरण्यपुरमें ले गये। वह दानव मुझको देखकर विचित्र आभूषण और वस्त्र पहिनकर रथोंपर चढ मेरे सम्मुख आये, तब सर्पके समान बाण, भाले, बरछी, तोमर आदि शस्त्रोंसे दानव लोग मुझे बडे क्रोधके साथ मारने लगे। हे महाराज! तब मैं भी अस्त्रविद्याके बलसे उनके शस्त्रोंको निवारण करने लगा। मैंने रथकी चाल और बाणोंकी वर्षासे दानवोंको ऐसा

तेऽन्योन्यमभिसंमूढाः पातयंति स्म दानवान् ॥ २२ ॥
तेषामेवं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम् ।
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्न्यहनं शतसंघशः ॥ २३ ॥
ते वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत्पुनः ।
खमुत्पेतुः सनगरा मायामास्थाय दानवीम् ॥ २४ ॥
ततोऽहं शरवर्षेण महता कुरुनंदन ।
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम् ॥ २५ ॥
तत्पुरं खचरं दिव्यं कामगं सूर्यसप्रभम् ।
दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम् ॥ २६ ॥
अंतर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते ।
पुनस्तिर्यक्प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥
अमरावतिसंकाशं तत्पुरं कामगं महत् ।
अहमस्त्रैर्बहुविधैः प्रत्यगृह्णं परंतप ॥ २८ ॥
ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रनुदितेन च ।
न्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत्पुरं पुरुषर्षभ ॥ २९ ॥
विक्षतं चाऽऽयसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः ।
महीमभ्यपतद्राजन्प्रभग्नं पुरमासुरम् ॥ ३० ॥
ते वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः ।
पर्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ॥ ३१ ॥

मोहित किया, कि वे आपसमेंही लडने लगे । (१८-२२)

उन मोहित हुए दानवोंके सिर मेरे बाणोंसे कटकर गिरने लगे। जब दानव मरने लगे, तब सब दानवीमायासे अपने नगर सहित उड गये । तब मैंने बाणोंकी वर्षासे उनके मार्गको रोक दिया, वह आकाशमें उडनेवाला नगर सूर्यके समान वरदानके प्रतापसे दानवों की इच्छानुसार पृथ्वीमें या आकाशमें सुखसे रहता था, कभी आकाशको चला जाता था, कभी तिरछा जाता था, और कभी जलमें डूब आता था। (२३-२७)

वह नगर अमरावतीके समान इच्छाचारी था । उसे मैंने बाणोंकी वर्षासे रोक लिया । हे नरेश्वर ! दैत्य-सहित उस नगरको दिव्यास्त्र युक्त बाणोंके जालसे घेर लिया विशेष ध्यान करनेवाले मेरे लोहेके बाणोंसे वह नगर छिन्न भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पडा ।

ततो मातलिरारुह्य पुरस्तान्निपतन्निव ।
महीमवातरत्क्षिप्रं रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ॥ ३२ ॥
ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम् ।
युयुत्सूनां मया सार्धं पर्यवर्तन्त भारत । ॥ ३३ ॥
तान्यहं निशितैर्बाणैर्व्यधमं गार्ध्रराजितैः ।
ते युद्धे संन्यवर्तन्त समुद्रस्य यथोर्मयः ॥ ३४ ॥
नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिंत्य तत् ।
ततोऽहमानुपूर्व्येण दिव्यान्यस्त्राण्ययोजयम् ॥ ३५ ॥
ततस्तानि सहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम् ।
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नञ्छनकैरिव ॥ ३६ ॥
रथमार्गान्विचित्रांस्ते विचरंतो महाबलाः ।
प्रत्यदृश्यंत संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥
विचित्रमुकुटापीडा विचित्रकवचध्वजाः ।
विचित्राभरणाश्चैव नंदयंतीव मे मनः ॥ ३८ ॥
अहं तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रचुदितै रणे ।
नाऽशक्नुवं पीडयितुं ते तु मां प्रत्यपीडयन् ॥ ३९ ॥
तैः पीडयमानो बहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ।

हे राजन् ! मेरे बाणोंसे वे दानवभी व्याकुल होकर चक्कर खाने लगे । तब मातलीने रथको पृथ्वीपर उतारा, मैंने पृथ्वीपर आकर उन युद्ध करनेवाले दानवोंके साठ हजार रथ देखे, वह सब मुझसे लडनेके वास्ते खडे थे। २८-३३)

मैंने ऐसे तीक्ष्ण बाणोंसे जिनमें पक्षियोंके पङ्ख लगे थे, दानवोंको आच्छादित कर लिया, वह लोग युद्धमें ऐसे उमडे, जैसे समुद्रकी तरङ्ग उमडती हैं। मैंने यह समझा कि, यह लोग मानुष अस्त्रोंसे युद्धमें जीतने योग्य नहीं हैं, तब दिव्य अस्त्रोंको क्रमसे चलाना आरम्भ किया । अद्भुत युद्ध करनेवाले सहस्रों रथियोंको मेरे अस्त्रोंने आघात किये। तब नाना प्रकारकी रथकी गतिसे संचार करनेवाले वे राक्षस सैंकडो और सहस्रों प्रतीत होने लगे । उनके विचित्र मुकुट, कवच, ध्वज और आभूषण देख कर मेरा मन प्रसन्न हुआ। ३४-३९

मैंने बहुत अस्त्र फेंके परन्तु दानव लोगोंको उन अस्त्रोंसे कुछभी पीडा न हुई और मैं दानवोंके शस्त्रोंसे पीडित हो गया और मुझे बहुत कष्ट मालूम

व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चाऽगान्महन्मम ॥ ४० ॥
ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रयतो रणे।
स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समचोदयम् ॥४१॥
यत्तद्रौद्रमिति ख्यातं सर्वामित्रविनाशनम्।
ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम् ॥ ४२ ॥
त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्धजम्।
लेलिहानैर्महानागैः कृतचीरममित्रहन् ॥ ४३ ॥
विभीस्ततस्तदस्त्रं तु घोरं रौद्रं सनातनम्।
दृष्ट्वा गांडीवसंयोगमानीय भरतर्षभ ॥ ४४ ॥
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायाऽमिततेजसे।
मुक्तवान्दानवेन्द्राणां पराभावाय भारत ॥ ४५ ॥
मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन्रूपाण्यासन्सहस्रशः।
मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणां च विशांपते ॥ ४६ ॥
ऋक्षाणां महिषाणां च पन्नगानां तथा गवाम्।
शरभाणां गजानां च वानराणां च संघशः ॥ ४७ ॥
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च।
शालावृकाणां प्रेताणां भुरुंडानां च सर्वशः ॥ ४८ ॥
गृध्राणां गरुडानां च चमराणां तथैव च।
देवानां च ऋषीणां च गन्धर्वाणां च सर्वशः ॥ ४९ ॥

होने लगा। तब मैं चित्तसे महादेवकी शरण गया, जगतका कल्याण हो, ऐसा कह कर मैंने शत्रुओंको नाश करनेवाला भयानक रुद्रास्त्र छोडा, उस बाणको गाण्डीव धनुष पर चढाते समय मैंने देखा कि, तीन सिर, नौ नेत्र, छः हाथ वाला पुरुष जिसके सूर्य और जलती हुई अग्निके समान केश हैं; और भयानक सर्पोंके वस्त्र बनाये था, मेरे सम्मुख खडा है, मैंने घोर-रूपी भयानक महादेवको नमस्कार करके राक्षस श्रेष्ठोंका पराभव करनेकी इच्छासे दानवेन्द्रोंके ऊपर शस्त्र छोडा। ४०-४५

हे भारत! उस शस्त्रके छोडते ही सहस्रही रूप प्रगट हो गये। हे पृथ्वीनाथ! उस समय युद्धमें हरिन सिंह व्याघ्र, रीछ, भैंसे, सांप, गौ, शार्दूल, हाथी, झुण्डके झुण्ड, बन्दर, ऋषभ, सूअर, बिल्ली, ऊदाबिलाव, प्रेत, भूत, गिद्ध, गरुड, चमरीगाय, देवता, ऋषि,

पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम्।
गुह्यकानां च संग्रामे नैर्ऋतानां तथैव च ॥ ५० ॥
झषाणां गजवक्त्राणामुलूकानां तथैव च।
मीनवाजिस्वरूपाणां नानाशस्त्रासिपाणिनाम् ॥ ५१ ॥
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम्।
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा ॥ ५२ ॥
सर्वमासीज्जगद्व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते।
त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः ॥ ५३ ॥
अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः।
अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा नाशमागताः ॥ ५४ ॥
अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः।
अद्रिसारमयैश्चाऽन्यैर्बाणैरपि निबर्हणैः ॥ ५५ ॥
न्यहनं दानवान्सर्वान्मुहूर्तेनैव भारत।
गांडीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान्गतासून्नभसश्च्युतान् ॥ ५६ ॥
दृष्ट्वाऽहं प्रणमं भूयास्त्रिपुरघ्नाय वेधसे।
तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान्दिव्याभरणभूषितान् ॥ ५७ ॥
निशम्य परमं हर्षमगमद्देवसारथिः।

गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, असुर, गुह्यक, हरिन हाथीके समान मुहवाली मछरी, उल्लू, साधारण मछरी, घोडेके समान मुहवाली मछरी, अनेक शस्त्र धारण किये धनुष, गदा, मुदगरधारी राक्षस तथा और भी अनेक रूप धारण किये जन प्रगट हुए। उन सबसे जगत व्याप्त होगया। (४६—५३)

उसी समय तीन सिर, चार दांत चार मुंह और चार हाथवाले, अनेक रूप वाले, मांस, मेदा और अस्थियोंसे युक्त प्राणियोंसे वधको प्राप्त होकर बहुत राक्षस नष्ट होने लगे। उस समय वज्र अग्नि और सूर्यके समान तेजवाले मेरे बाण चलने लगे। मैंने पर्वतके समान कठोर बाणोंसे क्षणभरमें सब दानवोंको मार डाला। हे भारत! तब मैंने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे मरे हुए राक्षसोंको देख त्रिपुरासुरको मारनेवाले शिवजीको प्रणाम किया। मैं शिवजीके बाणोंसे मरे हुए दिव्य भूषणोंसे भूषित राक्षसोंको देखकर आनन्दित हुआ। इन्द्रके सारथी मातली इन बातोंको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। (५३—५८)

तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम् ॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ।
उवाच वचनं चेदं प्रीयमाणः कृतांजलिः ॥ ५९ ॥
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत्साधितं त्वया ।
न ह्येतत्संयुगे कर्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः ॥ ६० ॥
सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत्खगं महत् ।
त्वया विमथितं वीर स्ववीर्यतपसो बलात् ॥ ६१ ॥
विध्वस्ते स्वपुरे तस्मिन्दानवेषु हतेषु च ।
विनदंत्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद्बहिः ॥ ६२ ॥
प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य इव दुःखिताः ।
पेतुः पुत्रान्पितॄन्भ्रातॄन्शोचमाना महीतले ॥ ६३ ॥
रुदत्यो दीनकंठ्यस्तु निनदंत्यो हतेश्वराः ।
उरांसि परिनिघ्नंत्यो विस्रस्तस्रग्विभूषणाः ॥ ६४ ॥
तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ।
न बभौ दानवपुरं पतत्विट्कं हतेश्वरम् ॥ ६५ ॥
गन्धर्वनगराकारं हतनागमिव ह्रदम् ।
शुष्कवृक्षमिवाऽरण्यमदृश्यमभवत्पुरम् ॥ ६६ ॥

देवतोंसेभी दुःसाध्य कर्म करते देख इन्द्रके सारथी मातलीने मेरी बहुत प्रशंसा की और बहुत प्रसन्न होकर हाथ जोडकर कहा, कि हे अर्जुन ! तुमने जो कर्म किया, उसको देवता और राक्षस भी नहीं कर सकते थे; इस कर्मको साक्षात् देवतोंके राजा इन्द्रभी नहीं कर सकते थे; यह आकाशमें चलनेवाला नगर देवता और राक्षसोंसेभी अवध्य था। हे वीर ! तुमने इस कामको अपने तप और वीर्यके बलसे किया है।(५८-६१)

राक्षसोंके मरने और नगरके नष्ट होने पर अनेक स्त्री बाल खोले दुःखसे भरी हुई कुररीके समान रोती हुई नगरके बाहर निकलीं, कोई पतिके लिये रोती रोती पृथ्वीपर लोटने लगीं । वे दीन शब्दसे रोती हुई सिरोंको पीटने लगीं; सब भूषण पृथ्वीपर गिरगये । उस समय वह नगर तेज और दानवोंसे रहित होकर शोक और कुरूपतासे भरगया; इसलिये उसकी शोभाभी नष्ट हो गयी । जिस प्रकार गंधर्व नगर, जैसे हाथीके विना तालाव और जैसे सूखे वृक्षोंवाला वन शोभित नहीं होता है, तैसेही वह

मां तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ।
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात् ॥ ६७ ॥
हिरण्यपुरमुत्सृज्य निहत्य च महासुरान् ।
निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम् ॥ ६८ ॥
मम कर्म च देवेंद्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ।
सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते ॥ ६९ ॥
हिरण्यपुरघातं च मायानां च निवारणम् ।
निवातकवचानां च वधं संख्ये महौजसाम् ॥ ७० ॥
तच्छ्रुत्वा भगवन्प्रीतः सहस्राक्षः पुरंदरः ।
मरुद्भिः सहितः श्रीमान्साधु साध्वित्यथाऽब्रवीत् ॥७१॥
ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनःपुनः ।
अब्रवीद्विबुधैः सार्धमिदं स मधुरं वचः ॥ ७२ ॥
अतिदेवासुरं कर्म कृतमेव त्वया रणे ।
गुर्वर्थश्च कृतः पार्थ महाशत्रून्घ्नता मम ॥ ७३ ॥
एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाऽऽजौ धनंजय ।
असंमूढेन चाऽस्त्राणां कर्तव्यं प्रतिपादनम् ॥ ७४ ॥
अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ।

नगर, दीखने लगा । (६२—६६)

अनन्तर मुझको प्रसन्नचित्त और सब कामको समाप्त देखकर मातलीने शीघ्रही इन्द्रके घर पहुंचा दिया। मैं हिरण्य पुरके सब राक्षसोंको मार निवात-कवचों का नाशकर इन्द्रके पास गया। मेरे सब कर्मोंको मातलीने इन्द्रसे विस्तार पूर्वक कहा । हे महातेजस्विन् ! मैंने जैसे हिरण्यपुरका नाश किया था, जैसे मायाको निवारण किया था और जैसे महातेजस्वी निवात कवचोंको मारा था सो सब कथा मातलीने इन्द्रसे कही । (६७—७०)

इस कथाको सुनकर सहस्र नेत्रवाले इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और मरुत-गणोंके सहित श्रीमान इन्द्र मेरी बहुत प्रशंसा करने लगे । अनन्तर देवराज इन्द्रने मुझे प्रसन्न करके ये मीठे वचन कहे, हे शत्रुनाशन ! जो कर्म तुमने किया इसको देवता और असुरभी नहीं कर सकते थे; हे धनञ्जय ! मेरे महान शत्रुओंका तुमने जो नाश किया है, इससे तुमारे गुरुका मनोरथ पूर्ण हुआ है । अब युद्धमें स्थिर होकर सदा ऐसेही कर्म करना ।

सयक्षासुरगंधर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः ॥ ७५ ॥
वसुधां चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम् ।
पालयिष्यति धर्मात्मा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ७६॥ [६७६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि हिरण्यपुरदैत्यवधे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय:॥ १७३॥

अर्जुन उवाच — ततो मामतिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम् ।
देवराजो विगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठंति भारत ।
न त्वाऽभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ॥ २ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः ।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नाऽर्हंति षोडशीम् ॥ ३ ॥
इदं च मे तनुत्राणं प्रायच्छन्मघवान्प्रभुः ।
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजं चैव हिरण्मयीम् ॥ ४ ॥
देवदत्तं च मे शंखं पुनः प्रादान्महारवम् ।
दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ॥ ५ ॥
ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।

तुम सावधान होकर युद्धमें सब शस्त्रोंको चलाना, क्योंकि तुमसे देवता, दानव, राक्षस, यक्ष, असुर, पक्षी और सर्पादि कोईभी नहीं लड सकता है, हे कुन्ती-नन्दन ! तुम्हारे बलसे जीति हुई पृथ्वी को महाराज धर्मात्मा युधिष्ठिर पालन करेंगे। (७१-७६) [६७६२]

वनपर्वमें एकसौ तिहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौहत्तर अध्याय।

अर्जुन बोले, जब इन्द्रको यह विश्वास हो गया, कि ये शत्रुओंको जीत सकेंगे, और जब उन्होंने मेरे शरीरमें बाणोंके घाव देखे, तो एक दिन देवराज इन्द्र मुझसे बोले, कि हे भारत ! अब तुमने सब दिव्य अस्त्रोंको सीख लिया, अब पृथ्वीपर कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो तुमको किसी प्रकारसेभी जीत सके; हे पुत्र ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और शकुनी सब राजोंको संग लेकर भी युद्ध करें तौभी तुम्हारे सोलहवे भागके समान नहीं होंगे। (१ – ३)

अनन्तर भगवान् इन्द्रने मुझे यह अभेद्य कवच; सोनेकी दिव्य माला और बहुत शब्दवाला देवदत्त शंख दिया, फिर इन्द्रने अपने हाथसे यह किरीट मेरे सिर पर बांधा, फिर दिव्य वस्त्र

प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहंति च ॥ ६ ॥
एवं संपूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप।
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गंधर्वशिशुभिः सह ॥ ७ ॥
ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह।
समयोऽर्जुन गन्तुं ते भ्रातरो हि स्मरंति ते ॥ ८ ॥
एवमिन्द्रस्य भवने पंच वर्षाणि भारत ।
उषितानि मया राजन्स्मरता द्यूतजं कलिम् ॥ ९ ॥
ततो भवंतमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम्।
गन्धमादनपादस्य पर्वतस्याऽस्य मूर्धनि ॥ १० ॥
युधिष्ठिर उवाच—दिष्ट्या धनंजयाऽस्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत।
दिष्ट्या चाऽऽराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः॥११॥
दिष्ट्या च भगवान्स्थाणुर्देव्या सह परंतप।
साक्षाद् दृष्टः स्वयुद्धेन तोषितश्च त्वयाऽनघ ॥ १२ ॥
दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ।
दिष्ट्या वर्धामहे पार्थ दिष्ट्यासि पुनरागतः ॥ १३ ॥
अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनीम्।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥ १४ ॥

और बडे बडे सुन्दर आभूषण दिये। हे महाराज! मैं इस प्रकार पूजित होकर इन्द्रके पवित्र घरमें गन्धर्व-पुत्रोंके सहित रहा। (४–७)

एक दिन देवतोंके सहित बैठे हुए इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझसे कहा, कि हे अर्जुन! अब तुम्हारे जानेका समय हो गया, अब तुम्हारे भाई तुमको स्मरण करते होंगे। हे महाराज! मैं इस प्रकार जूएके कलह को स्मरण करता हूआ पांच वर्ष तक इन्द्रके घरमें रहा; फिर इस गन्ध मादन पर्वतके शिखरपर भाइयोंके सहित बैठेहुए आपका दर्शन किया। (८–१०)

युधिष्ठिर बोले, हे धनञ्जय! तुमने प्रारब्धसे सब शस्त्रोंको प्राप्त किया प्रारब्ध से देवतोंके राजा भगवान इन्द्रको प्रसन्न किया; हे शत्रुनाशन पापरहित अर्जुन! तुमने प्रारब्धसे पार्वति सहित शिवको अपने युद्धसे प्रसन्न किया, तुमको प्रारब्धसे लोक-पालोंके दर्शन हुए, प्रारब्ध से हमारी उन्नति होती है और प्रारब्ध हीसे तुम लौट कर आये हो। (११-१३)

अब मैं सब नगरोंके सहित पृथ्वी और धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अपने वशमें

इच्छामि तानि चाऽस्त्राणि द्रष्टुं दिव्यानि भारत।
यैस्तथा वीर्यवंतस्ते निवातकवचा हताः ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच— श्वः प्रभाते भवान्द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः।
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनंजयः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः रजनीं तामुवास ह ॥१७ ॥ [६७७९]

इति श्रीमहाभारते० निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शनसंकेते चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७४॥

वैशम्पायन उवाच–तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उत्थायाऽवश्यकार्याणि कृतवान्भ्रातृभिः सह ॥ १॥
ततः संचोदयामास सोऽर्जुनं मातृनन्दनम्।
दर्शयाऽस्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ॥ २ ॥
ततो धनंजयो राजन्देवैर्दत्तानि पाण्डव ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥ ३ ॥
यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः ।
गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणुत्रिवेणुमत् ॥ ४ ॥
पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनंजयः ।
दिव्येन संवृतस्तेन कवचेन सुवर्चसा ॥ ५ ॥

समझता हूं। हे भारत ! अब हम उन शस्त्रोंको देखना चाहते हैं,जिनसे तुमने बलवान निवातकवच दानवोंको मारा था। अर्जुन बोले, हे महाराज ! मैं प्रातःकाल आपको उन सब शस्त्रोंको दिखाऊंगा जिनसे मैंने निवातकवचोंको मारा था। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,अर्जुन इस प्रकार अपने आनेकी सब कथा कह कर भाइयोंके सहित सोगये । १४–१७

वनपर्वमें एकसौ चौहत्तर अध्याय समाप्त। ६७७९

वनपर्वमें एकसौ पचत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,हे राजन् ! जनमेजय ! उस रातके बीतने पर महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित उठे और नित्य कर्म करके अर्जुनसे बोले, हे कुन्तीनन्दन ! जिन अस्त्रोंसे तुमने दानवोंको मारा है, उन सबको हमें दिखाओ। (१—२)

हे भारत ! हे राजन् ! तब पाण्डुनन्दन अर्जुन देवतोंके दिये हुए सब अस्त्र महाराजको दिखाने लगे। यथा योग्य पवित्र होकर बहुत तेजवाले दिव्य कवचको पहिनकर सुन्दर तीन पर्वत और बांस आदि ही जिसके पहिये

धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं सवारिजम् ।
शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्यान्महाभुजः ॥ ६ ॥
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे ।
अथ प्रयोक्ष्यमाणेषु दिव्येष्वस्त्रेषु तेषु वै ॥ ७ ॥
समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समकंपत सद्रुमा ।
क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ॥ ८ ॥
शैलाश्चापि व्यदीर्यंत न ववौ च समीरणः ।
न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ॥ ९ ॥
न वेदाः प्रतिभांति स्म द्विजातीनां कथंचन ।
अंतर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय ॥ १० ॥
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्यवारयन् ।
वेपमानाः प्रांजलयस्ते सर्वे विकृताननाः ॥ ११ ॥
दह्यमानास्तदाऽस्त्रैस्ते याचन्ति स्म धनंजयम् ।
ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धा ये च महर्षयः ॥ १२ ॥
जंगमानि च भूतानि सर्वाण्येवाऽवतस्थिरे ।
देवर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः ॥ १३ ॥
यक्षराक्षसगंधर्वास्तथैव च पतत्त्रिणः ।
खेचराणि च भूतानि सर्वाण्येवाऽवतस्थिरे ॥ १४ ॥

आदि हैं ऐसे मनःकल्पित भूरथ पर चढ कर विराजमान होने लगे। (१—५)

अनन्तर कुन्ती नन्दन महाबाहु अर्जुन गाण्डीव धनुष और देवदत्त शंख को धारण करके विराजमान हुए; फिर क्रमसे दिव्य अस्त्रोंको दिखाने लगे। जिस समय अर्जुनने उन अस्त्रोंका प्रयोग किया और पैरही पैर पृथ्वीपर घूमने लगे, उस समय वहां वृक्षोंके सहित पृथ्वी कांप उठी; समुद्र और नदी उमडने लगीं, पर्वत गिरने लगे, वायुका चलना, सूर्यका तेज और अग्निका जलना बन्द हो गया। हे जनमेजय! द्विजोंका वेदका पढना भूलने लगा, भूमिवासी सब प्राणी व्याकुल होकर अर्जुनको निवारण करने लगे। (६—११)

सब उन शस्त्रोंसे कांपने लगे और हाथ जोडकर अर्जुनसे जीवन प्रार्थना करने लगे। उन शस्त्रोंको चलते हुए देख देव, ब्रह्मर्षि, सिद्ध और महर्षिलोग अर्जुनको रोकने लगे। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व पक्षी और आकाश संचारी सब भूत वहां

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः ।
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा ॥ १५ ॥
ततो वायुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः समन्वितः ।
अभितः पाण्डवं चित्रैरवचक्रे समन्ततः ॥ १६ ॥
जगुश्च गाथा विविधा गंधर्वाः सुरचोदिताः ।
ननृतुः संघशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
तस्मिंश्च तादृशे काले नारदश्चोदितः सुरैः ।
आगम्याऽऽह वचः पार्थं श्रवणीयमिदं नृप ॥ १८ ॥
अर्जुनाऽर्जुन मा युंक्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत ।
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यंते कथंचन ॥ १९ ॥
अधिष्ठाने न वा नाऽऽर्तः प्रयुंजीत कदाचन ।
प्रयोगेषु महान्दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन ॥ २० ॥
एतानि रक्ष्यमाणानि धनंजय यथागमम् ।
बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यंति न संशयः ॥ २१ ॥
अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्याऽपि पाण्डव ।
भवंति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ॥ २२॥
अजातशत्रो त्वं चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे ।
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने ॥ २३ ॥

आये। उसके पश्चात् सब लोकपालोंके सहित ब्रह्मा और सब गणोंके सहित शिव वहां आये। (११—१५)

अनन्तर दिव्य सुगन्धिसे युक्त पुष्पों से युक्त वायु अर्जुनके चारों ओर चलने लगा; गन्धर्व लोग देवतोंकी आज्ञासे अनेक गीत गाने लगे और अप्सरा नाचने लगीं। हे राजन् ! उसी समय देवतोंके भेजे हुए नारदने जाकर अर्जुनसे कहा, कि हे अर्जुन! इस दिव्य अस्त्रोंको मत चलाओ; हे भारत ! इनको विना स्थानके कभी नहीं चलाना चाहिये और स्थान पाकरभी इन्हे विना महादुःख पडे नहीं चलाना चाहिये; हे भारत ! इनके चलनेसे महादोष होता है। १६-२०

यदि तुम इनको रक्षासे रखोगे तो समय पर ये बहुत सुख देनेवाले और बलवान होंगे, यदि रक्षासे न रक्खोगे तो यह सब लोगोंका नाश कर देंगे, तुम फिर कभी ऐसा मत करना। हे युधिष्ठिर! जब अर्जुन शत्रुओंके मारनेके लिये युद्धमें इन शस्त्रोंको चलावेंगे, तब

वैशम्पायन उवाच—निवार्योऽथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम् ।
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ॥ २४ ॥
तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः ।
तस्मिन्नेव वने हृष्टास्त ऊषुः सह कृष्णया ॥ २५ ॥ [६८०४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५ समाप्तं च निवातकवचयुद्धपर्व ।

अथाऽऽजगरपर्व ।

जनमेजय उवाच-तस्मिन्कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे प्रत्यागते भवनाद्वृत्रहंतुः।
अतः परं किमकुर्वंत पार्थाः समेत्य शूरेण धनंजयेन ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—वनेषु तेष्वेव तु ते नरेंद्रा सहाऽर्जुनेनेंद्रसमेन वीराः ।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये धनेश्वराक्रीडगता विजह्रु ॥ २ ॥
वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन्क्रीडांश्च नानाद्रुमसन्निबद्धाः ।
चचार धन्वी बहुधा नरेंद्रः सोऽस्त्रेषु यत्तः सततं किरीटी ॥ ३ ॥
अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः ।
न प्राणिनां ते स्पृहयंति राजञ्शिवश्च कालः स बभूव तेषाम्॥४॥
समेत्य पार्थेन यथैकरात्रमूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः ।

तुम देखलेना । (२१—२३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय ! अर्जुनको निवारण कर सब देवता अपने अपने घर चले गये। देवतोंके जानेके पश्चात् वीर पाण्डव लोग प्रसन्न चित्तसे द्रौपदीके सहित उसी वनमें रहने लगे। (२४–२५) [६८०४]

वनपर्वमें एकसौ पचहत्तर अध्याय और निवातकवचयुद्धपर्व समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ छिहत्तर अध्याय और आजगर पर्व ।

राजा जनमेजय बोले,हे वैशम्पायन! जब महारथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुन इन्द्रके यहांसे शस्त्रोंको सीख कर लौट आये तब पाण्डवोंने क्या किया? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,हे राजन् जनमेजय ! इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनके सहित नरनाथ पाण्डव लोग उसी वनमें रहने लगे और उस कुबेरके स्थान रम्य पर्वत पर विहार करने लगे। शस्त्रोंके जाननेवाले नरराज धनुषधारी अर्जुन उन अनुपम स्थान और वृक्षोंको देखते हुए विहार करने लगे। राजपुत्र पाण्डवोंको कुबेरकी कृपासे स्थान मिले; वे लोग किसी प्राणीके ऐश्वर्य की इच्छा नहीं करते थे। वह समय उनके आनन्दका था। अर्जुनसे मिल कर पाण्डव

पूर्वाश्च षट् ता दश पांडवानां शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ॥ ५ ॥
ततोऽब्रवीद्वायुसुतस्तरस्वी जिष्णुश्च राजानमुपोपविश्य ।
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पावेकांतमास्थाय हितं प्रियं च ॥ ६ ॥
तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां चिकीर्षमाणास्तदनुप्रियं च ।
ततो न गच्छाम वनान्यपास्य सुयोधनं सानुचरं निहंतुम् ॥ ७ ॥
एकादशं वर्षमिदं वसामः सुयोधनेनाऽऽत्तसुखाः सुखार्हाः ।
तं वंचयित्वाऽधमबुद्धिशीलमज्ञातवासं सुखमाप्नुयामः ॥ ८ ॥
तवाऽऽज्ञया पार्थिव निर्विशंका विहाय मानं विचरन्वनानि ।
समीपवासेन विलोभितास्ते ज्ञास्यंति नाऽस्मानपकृष्टदेशान् ॥ ९ ॥
संवत्सरं तत्र विहृत्य गूढं नराधमं तं सुखमुद्धरेम ।
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं तस्मै नरेंद्राऽधमपूरुषाय ॥ १० ॥
सुयोधनाया-नुचरैर्वृताय ततो महीमावस धर्मराज ।
स्वर्गोपमं देशमिमं चरद्भिः शक्यो विहंतुं नरदेवशोकः ॥ ११ ॥

लोग चार वर्ष तक वहां रहे, यह चार वर्षका समय उनके एक रात्रिके समान बीता । इस रीतिसे वनमें सुखसे रहते हुए पहले छः और अबसे चार सब मिलाके दस वर्ष व्यतीत हुए । (२–५)

तब बलवान भीम और अर्जुन तथा इन्द्रके समान नकुल, सहदेवने एकान्तमें राजाके पास बैठ कर प्यारे और हित के वचन कहे । हे कुरुराज ! हम लोग आपकी प्रतिज्ञाको सत्य करने और आपके प्रिय करने ही की इच्छासे वनको छोड कर दुर्योधनको मारने नहीं गयेथे। हे महाराज ! हम लोग अत्यन्त सुखके योग्य होने पर भी वनके अनेक दुःख को सह रहे हैं; हमको वनमें रहते हुए ग्यारहवां वर्ष आरंभ होगया; अब हम लोग उस अधम बुद्धिरहित दुर्योधनको वञ्चना करके अज्ञातवासको बिता कर सुख पावेंगे । (६—८)

हे महाराज ! जब हमलोग आपकी आज्ञासे शंकारहित होकर पासके वनको छोड छिपकर दूर देशमें घूमेंगे, तब वे लोग नहीं जानेंगे कि पाण्डव लोग कहां हैं, इसलिये वे लोग हमको जान नहीं सकेंगे, हम एकवर्ष छिपे हुए रहकर उस मूर्ख दुर्योधनसे सुखोंको छीन लेंगे; हे नरदेव ! हे धर्मराज ! आप उस अधम पुरुष दुर्योधन से अपने वैरका बदला लेकर फल और पुष्पों के सहित इस पृथ्वीको प्राप्त कीजियेगा, और दुर्योधनको उसके संगिओंके सहित मार डालियेगा । हे नरेश्वर ! यह देश

कीर्तिस्तु ते भारत पुण्यगंधा नश्येद्धि लोकेषु चराचरेषु ।
तत्प्राप्य राज्यं कुरुपुंगवानां शक्यं महत्प्राप्तुमथ क्रियाश्च ॥ १२ ॥
इदं तु शक्यं सततं नरेंद्र प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात् ।
कुरुष्व बुद्धिं द्विषतां वधाय कृतागसां भारत निग्रहे च ॥ १३ ॥
तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन्समेत्य साक्षादपि वज्रपाणिः ।
न हि व्यथां जातु करिष्यतस्तौ समेत्य देवैरपि धर्मराज ॥ १४ ॥
तवाऽर्थसिद्ध्यर्थमपि प्रवृत्तौ सुपर्णकेतुश्च शिनेश्च नप्ता ।
तथैव कृष्णोऽप्रतिमो बलेन तथैव चाऽहं नरदेववर्य ॥ १५ ॥
तवाऽर्थसिद्ध्यर्थमभिप्रपन्नो यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः ।
तथैव चाऽहं नरदेववर्य यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ॥ १६ ॥
त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः शमं करिष्याम परान्समेत्य ।

वैशम्पायन उवाच-ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा तेषां च धर्मस्य सुतो वरिष्ठः १७॥
प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः ।
आमंत्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः ॥ १८ ॥

स्वर्गके समान है, हम लोग यहां रह कर दुःखको नाश कर सकते थे; हे भारत ! यदि आप दुर्योधनको न जीतेंगे तो आपकी पवित्र कीर्ति नष्ट हो जायगी और जब आप कुरुराज्यको लेलीजियेगा तो फिर उन्ही क्रियाओंको कर सकियेगा।९-१२

हे नरेश्वर ! हे भारत ! आप जो इस समय प्राप्त कर रहे हैं वह कुबेर से हर समय प्राप्तकर सकते हैं, अब आप अपराधी शत्रुओंके मारने और पकडनेका उपाय कीजिये । हे धर्मराज ! आपके घोर तेजको साक्षात इन्द्रभी नहीं सह सकते हैं,और देवोंके साथ भी युद्ध हुआ तथापि उनसे कोई कष्ट नहीं होंगे । हे नरदेववर्य ! आपके हित करनेके निमित्त साक्षात श्रीकृष्णजी और सात्यकी तैयार हैं, तथा यह अर्जुन बलमें असाधारण है और मैं भी युद्धमें सामान्य नहीं हूं, यादवोंके सहित श्रीकृष्ण और बलमें अनुपम अर्जुन तथा अप्रतिम बली मैं युद्ध करने को उपस्थित हूं, हे नरदेव ! ये वीरोंमें श्रेष्ठ नकुल और सहदेव सब शस्त्रोंमें निपुण हैं । हम सब लोग युद्धको जाननेवाले हैं, हम सब युद्धमें आपके वैरियोंको मारेंगे।(१३-१७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! धर्म और अर्थके जाननेवाले महातेजस्वी धर्मपुत्र महाराज महात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंकी संमति जान कुबेरके स्थानकी प्रदक्षिणा की; नदी

यथागतं मार्गमवेक्ष्यमाणः पुनर्गिरिं चैव निरीक्षमाणः ।
ततो महात्मा स विशुद्धबुद्धिः संप्रार्थयामास नगेंद्रवर्यम् ॥ १९ ॥
समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भिर्जित्वा सपत्नान्प्रतिलभ्य राज्यम् ।
शैलेंद्र भूयस्तपसे जितात्मा द्रष्टा तवाऽस्मीति मतिं चकार॥ २०॥
वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम् ।
उवाह चैतान्गणशस्तथैव घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥ २१ ॥
तान्प्रस्थितान्प्रीतमना महर्षिः पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान् ।
स लोमशः प्रीतमना जगाम दिवौकसां पुण्यतमं निवासम्॥ २२॥
तेनाऽऽर्ष्टिषेणेन तथाऽनुशिष्टास्तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि ।
महांति चाऽन्यानि सरांसि पार्थाः संपश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्याजगरपर्वणि
गंधमादनप्रस्थाने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥ [६८२७]

वैशम्पायन उवाच-नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं दिशां गजैः किन्नरपक्षिभिश्च ।
सुखं निवासं जहतां हि तेषां न प्रीतिरासीद्भरतर्षभाणाम् ॥ १ ॥

तालाव सब राक्षस और स्थानोंसे आज्ञा मांगी। अनन्तर जिस मार्गसे आयेथे उसी मार्गको देखते हुए और फिर पर्वतकी ओर देखते हुए वह महात्मा धर्मराज उस पर्वतकी स्तुति करने लगे। अनन्तर मृदु बुद्धि महात्मा धर्मराजने पर्वतकी प्रार्थना की, कहा कि हे पर्वतराज! हम सब कर्मोंको समाप्त कर अपने भाइयों के सहित शत्रुओंको जीतकर जब राज्य प्राप्त करेंगे तब जितेन्द्रिय तप करनेके लिये तुम्हे देखनेको फिर आवेंगे। १४-२०

ऐसा कह कुरुवंशके स्वामी महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाई और सब ब्राह्मणोंके सहित उसी मार्गसे चलने लगे जिस मार्गसे आये थे, घटोत्कच इन सब को अपने ऊपर चढा कर पर्वतों पर चलने लगे। महात्मा महा ऋषि लोमश उन सबको चलते देख पिताके समान शिक्षा देकर स्वर्गको चले गये। महात्मा आर्ष्टिषेणकी शिक्षा सुन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव लोग रमणीय तपोवन तीर्थ और बडे बडे तालावोंको देखते हुए वहांसे चले। (२१-२३) [६८२८]

वनपर्वमें एकसौ छिहत्तर अध्याय।

वनपर्वमें एकसौ सतहत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! जिस समय भरतकुलसिंह पाण्डव लोग उस झरने, दिग्गज, किन्नर और पक्षियोंसे विराजमान पर्वतके सुख निवासको छोडकर चलने लगे तो

ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः कैलासमालोक्य महान्बभूव ।
कुबेरकांतं भरतर्षभाणां महीधरं वारिधरप्रकाशम् ॥ २ ॥
समुच्छ्रयान्पर्वतसंनिरोधान्गोष्ठान्हरीणां गिरिसेतुमालाः ।
बहून्प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र ॥ ३॥
तथैव चाऽन्यानि महावनानि मृगद्विजानीकपसेवितानि ।
आलोकयंतोऽभिययुः प्रतीतास्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्र्याः ॥४॥
वनानि रम्याणि नदीः सरांसि गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि ।
एते निवासाः सततं बभूवुर्निशानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥ ५ ॥
ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य व्यतीत्य कैलासमचिंत्यरूपम् ।
आसेदुरत्यर्थमनोरमं ते तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ॥ ६ ॥
समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ते प्रत्यर्चितास्ते न च वीतमोहाः ।
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं गिरौ यथावद्वृषपर्वणस्ते ॥ ७ ॥
सुखोषितास्तस्य त एकरात्रं पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे ।
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां सुखेन वीराः पुनरेव वासम् ॥ ८ ॥
ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावा नारायणस्थानगताः समग्राः ।
कुबेरकांतां नलिनीं विशोकाः संपश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम् ॥ ९ ॥

उनका चित्त प्रसन्न न हुआ; परन्तु जब कुबेरके स्थान मेघके समान स्वच्छ कैलासको देखा तब बहुत प्रसन्न हुए । ऊंचे ऊंचे पर्वतोंके शिखर सिंहोंके स्थान अनेक झूले झरने और नीचे ऊंचे स्थानों को देख बहुत प्रसन्न हुए और अनेक पक्षी और हाथियोंसे भरे हुए वनोंको देखकर प्रसन्न होते हुए खड्ग और धनुषधारी मनुष्यश्रेष्ठ पाण्डवलोग चलने लगे। १-४

भरतकुलसिंह पाण्डवलोग रम्य वन, नदी, तालाव,पर्वतकी गुफा और झरनों में निवास करते हुए चलने लगे। वे लोग दुर्गमें तथा रहनेके लिये कठिण और आचिन्त्यरूप कैलास पर्वतके ऊपर रहनेके पश्चात् उसे छोडकर आश्रमोंमें श्रेष्ठ और मनोहर वृषपर्वाके आश्रममें पहुंचे। वहां उन सबको राजऋषि वृषपर्वाने पूजा और पाण्डव लोगभी शोकसे रहित हो गये और सब कथा विस्तारपूर्वक कही और अपने पर्वतमें रहनेका वर्णन किया। महात्मा पाण्डव लोग देवऋषियोंसे भरे हुए उस आश्रममें सुखपूर्वक एक रात रहे,वहांसे चल कर बदरिकाश्रममें पहुंचे। महानुभाव पाण्डव लोग बदरिकाश्रम में ठहरे । वहां उन्होंने शोकरहित होकर कुबेरकी पोखरको देखा, वहां

तां चाऽथ दृष्ट्वा नलिनीं विशोकाः पांडोः सुताः सर्वनरप्रधानाः ।
ते रेमिरे नंदनवासमेत्य द्विजर्षयो वीतमला यथैव ॥ १० ॥
ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा यथागतेनैव पथा समग्राः ।
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां किरातराज्ञो विषयं सुबाहोः ॥ ११ ॥
चीनांस्तुषारान्दरदांश्च सर्वान्देशान्कुलिंदस्य च भूमिरत्नान् ।
अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं पुरं सुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ॥ १२ ॥
श्रुत्वा च तान्पार्थिवपुत्रपौत्रान्प्राप्तान्सुबाहुर्विषये समग्रान् ।
प्रत्युद्ययौ प्रीतियुतः स राजा तं चाऽभ्यनंदन्वृषभाः कुरूणाम् ॥१३॥
समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते सुतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वे ।
सहेंद्रसेनैः परिचारकैश्च पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ॥ १४ ॥
सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं सूतान्समादाय रथांश्च सर्वान् ।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ॥ १५ ॥
तस्मिन्गिरौ प्रस्रवणोपपन्नहिमोत्तरीयारुणपांडुसानौ ।
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रुस्तदा निवासं पुरुषप्रवीराः ॥ १६ ॥

अनेक देवता और सिद्ध निवास करते थे। (५—९)

महात्मा पाण्डुके पुत्र सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव लोग सुखसे उसे देख कर इस प्रकार विहार करने लगे, जैसे निर्मल ब्रह्मर्षिलोग नन्दनवनमें विहार करते हैं। अनन्तर पुरुष वीर पाण्डव लोग सुख सहित चलते चलते एक महीनेमें किरात-राज सुबाहुके राज्यमें पहुंचे।अनन्तर चीन तुषार,दरद और कुलिन्द देशके पृथ्वी से उत्पन्न हुए रत्नोंसे युक्त प्रदेश तथा हिमालयका दुर्गम देशसे राजा सुबाहुके नगरमें पहुंचे। (१०—१२)

जब राजा सुबाहुने सुना कि पाण्डु-पुत्र हमारे राज्यमें पहुंच गये, तब वह अत्यन्त प्रसन्न होकर इनके पास आये। कुरुकुलसिंह पाण्डवोंने भी उनका आदर किया। पाण्डवलोग राजा सुबाहु, विशोक आदि सब पुत्र, इन्द्रसेन आदि परिचारक तथा भोजन बनाने-वालोंसे मिलकर प्रसन्न हुए। हे राजन्! वे लोग राजा सुबाहुके यहां सुखसे एक रात रहे, वहींसे अनुचर सहित घटो-त्कचको विदा किया। फिर सारथी सहित रथोंको लेकर यामुन पर्वतपर पहुंचे, वहां जो झरने बहते थे और जो बर्फ पडा था, उनकी शोभा लाल और श्वेत रंगके कारण ऐसी दीख पडती थी मानो ये पर्वतके दुपट्टे हैं! वहांसे चल कर पुरुषवीर पाण्डवलोग विशाख यूप

वराहनानामृगपक्षिजुष्टं महावनं चैत्ररथप्रकाशम् ।
शिवेन पार्था मृगयाप्रधानाः संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ॥ १७ ॥
तत्राऽऽससादाऽतिबलं भुजंगं क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम् ।
वृकोदरः पर्वतकंदरायां विषादमोहव्यथितांतरात्मा ॥ १८ ॥
द्वीपोऽभवद्यत्र वृकोदरस्य युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
अमोक्षयद्यस्तमनंततेजा ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम् ॥ १९ ॥
ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः ।
तस्माद्वनाचैत्ररथप्रकाशाच्छ्रिया ज्वलंतस्तपसा च युक्ताः ॥ २० ॥
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः ॥ २१ ॥
समीक्ष्य तान्द्वैतवने निविष्टान्निवासिनस्तत्र ततोऽभिजग्मुः ।
तपोदमाचारसमाधियुक्तास्तृणोदपात्रावरणाश्मकुट्टाः ॥ २२ ॥
प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च तथा बदर्यः खदिराः शिरीषाः ।

पर्वतपर पहुंचे और वहां जाकर निवास किया । (१३—१६)

उस वनमें अनेक शूकर और हरिन रहते थे, इस वनकी शोभा साक्षात चैत्ररथके समान दीखती थी । पाण्डव लोग सुखसे शिकार खेलते हुए एक वर्षतक उस वनमें रहे । एकदिन एक गुफामें भीमसेनको महाउग्र रूप और महाबलवान एक भूखा सांप मिला, उसको देखतेही भीम दुःख और मोहसे व्याकुल होगये । उस समय धर्मधारियों में श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरने भीमसेन को बचाया था । अनन्तर तेजस्वी महाराजने उस सर्परूपी ग्राहसे घिरे हुए भीमकी रक्षा की । (१७-१९)

धर्म और तेजसे प्रकाशमान पाण्डव लोगोंने उस चैत्ररथ वनके समान वनमें उस बारहवें वर्षको बिता दिया । उसके पश्चात् मरुभुमि देशके समीप गये । धनुर्वेदको जाननेवाले पाण्डवलोग सरस्वतीके तटपर गये और वहां कुछ रोज रहनेकी इच्छा की । उसके पीछे द्वैतवनमें पहुंचे । (२०—२१)

द्वैत वनके निवासी उनको अपने वनमें आया देखकर सब उनसे भेट करने आये । तप, दम, आचार और समाधिसे युक्त और वे बैठनेके लिये तृण और जलपान का ही केवल स्वीकार करने वाले और खानेके लिये पत्थरोंसे अन्न कूटने वाले तपोधन पाण्डवोंके पास आये । बड, बहेड, रोहतक, बेत, बेर, खैर सिरस, बेल, अर्जुनवृक्ष, पील्रु, शमी,

बिल्वेङ्गुदाः पीलुशमीकरीराः सरस्वतीतीररुहा बभूवुः ॥ २३ ॥
तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकान्तामागारभूतामिव देवतानाम् ।
सरस्वतीं प्रीतियुक्ताश्चरन्तः सुखं विजह्रुर्नरदेवपुत्राः ॥ २४ ॥ [६८५१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्याजगरपर्वणि
पुनर्द्वैतवनप्रवेशे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

जनमेजय उवाच—कथं नागायुतप्राणो भीमो भीमपराक्रमः ।
भयमाहारयत्तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ॥ १ ॥
पौलस्त्यं धनदं युद्धे य आह्वयति दर्पितः ।
नलिन्यां कदनं कृत्वा निहन्ता यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥
तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिसूदनम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—बह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम् ।
प्राप्तानामाश्रमाद्राजन्राजर्षेर्वृषपर्वणः ॥ ४ ॥
यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः ।
ददर्श तद्वनं रम्यं देवगंधर्वसेवितम् ॥ ५ ॥
स ददर्श शुभान्देशान्गिरेर्हिमवतस्तदा ।

कुरीलादि सरस्वतीके तटपरके सब वृक्ष पाण्डवोंके वहां जानेसे अति शोभायमान होगये । नरदेव पाण्डव लोग बडी प्रीतिके साथ देवतोंके स्थानके समान यक्ष गन्धर्व सेवित सरस्वती नदीपर सुखसे विहार करने लगे । (२२-२४) ६८५१

वनपर्वमें एकसौ अडसठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ उनहत्तर अध्याय ।

राजा जनमेजय बोले, हे मुनि ! दश हजार हाथीके समान बलवाले महापराक्रमी भीमसेनने किस प्रकारसे अजगरके भयसे तीव्र क्लेश पाया था । जो अभिमानमें आकर पुलस्त्यके पुत्र कुबेरको युद्धमें पुकारते थे, जिन्होंने राक्षसोंको मारकर कुबेरके पोखरसे कमल लिये थे, वही अजगरसे ग्रस्त हुए और शत्रुनाशी भीमसेनको आप कहते हैं, कि वह डर गये। इससे उस कथाके सुननेकी मेरी बडी अभिलाषा है । (१–३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! महाधनुषधारी पाण्डवलोग राजऋषि वृषपर्वाके स्थानसे जब उस विचित्र वनमें रहने लगे, तब सब दिन धनुष और खड्ग लेकर भीमसेन उस देव और गन्धर्वोंसे सेवित मनोहर वनमें घूमने गये । उन्होंने हिमाचल पर्वतके शुभ

देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ॥ ६ ॥
चकोरैरुपचक्रैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः ।
कोकिलैर्भृंगराजैश्च तत्र तत्र निनादितान् ॥ ७ ॥
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः ।
उपेतान्बहुलच्छायैर्मनोनयननंदनैः ॥ ८ ॥
स संपश्यन्गिरिनदीर्वैदूर्यमणिसंनिभैः ।
सलिलैर्हिमसंकाशैर्हंसकारंडवायुतैः ॥ ९ ॥
वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः ।
हरिचंदनमिश्राणि तुंगकालीयकान्यपि ॥ १० ॥
मृगयां परिधावन्स समेषु मरुधन्वसु ।
विध्यन्मृगाञ्शरैः शुद्धैश्चचार स महाबलः ॥ ११ ॥
भीमसेनस्तु विख्यातो महांतं दंष्ट्रिणं बलात् ।
निघ्ननागशतप्राणो वने तस्मिन्महाबलः ॥ १२ ॥
मृगाणां सवराहाणां महिषाणां महाभुजः ।
विनिघ्नंस्तत्रतत्रैव भीमो भीमपराक्रमः ॥ १३ ॥
स मातंगशतप्राणो मनुष्यशतवारणः ।
सिंहशार्दूलविक्रांतो वने तस्मिन्महाबलः ॥ १४ ॥
वृक्षानुत्पाटयामास तरसा वै बभंज च ।

देशोंको देखा, जहां देवर्षि सिद्ध अप्सरा लोग विचरते थे। चकोर, चकवे, जीवका, कोकिल और मोर आदि अनेक पक्षियोंसे शोभित वृक्षोंको देखा, वे वृक्ष, सदा फलने और फूलनेवाले तथा हिमके स्पर्शसे शीतल थे। उनकी छाया मन और नेत्रोंको सुख दे रही थी।(४-८)

इस प्रकार हीरेके समान निर्मल नदीके जलोंको देखते हुए भीम घूमने लगे। उन नदियोंके तटोंपर हंस और सारस विराजमान थे जहां मेघोंके समान सघन देवदारु, हरिचन्दन, राल और अगरके वनको देखने लगे, वहां महाबलवान भीमसेन शुद्ध बाणोंसे हरिनोंको मारते हुए निर्जन स्थानोंमें घूमने लगे महापराक्रमी महाबाहु भीमसेन अपने बलसे हरिन, शूकर और भैंसोंको मारने लगे। (९—१३)

दशहजार हाथीके समान बलवाले अनेक मनुष्योंको युद्धमें रोकनेवाले सिंह और शार्दूलके समान पराक्रमी भीमसेन घूमने लगे। वे अपने बलसे वृक्षोंको

पृथिव्याश्च प्रदेशान्वै नादयंस्तु वनानि च ॥ १५ ॥
पर्वताग्राणि वै मृद्गन्नादयालश्च विज्वरः।
प्रक्षिपन्पादपांश्चाऽपि नादेनाऽऽपूरयन्महीम् ॥ १६ ॥
वेगेन न्यपतद्भीमो निर्भयश्च पुनः पुनः।
आस्फोटयन्क्ष्वेडयंश्च तलतालांश्च वादयन् ॥ १७ ॥
चिरसंवद्धदर्पस्तु भीमसेनो वने तदा।
गजेंद्राश्च महासत्वा मृगेंद्राश्च महाबलाः ॥ १८ ॥
भीमसेनस्य नादेन व्यमुंचंत गुहा भयात्।
क्वचित्प्रधावंस्तिष्ठंश्च क्वचिच्चोपाविशंस्तथा ॥ १९ ॥
मृगप्रेप्सुर्महारौद्रे वने चरति निर्भयः।
स तत्र मनुजव्याघ्रो वने वनचरोपमः ॥ २० ॥
पद्भ्यामभिससारैव भीमसेनो महाबलः।
स प्रविष्टो महारण्ये नादान्नदति चाऽद्भुतान् ॥ २१ ॥
त्रासयन्सर्वभूतानि महासत्वपराक्रमः।
ततो भीमस्य शब्देन भीताः सर्पा गुहाशयाः ॥२२॥
अतिक्रांतास्तु वेगेन जगामाऽनुसृतः शनैः।
ततोऽमरवरप्रख्यो भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
स ददर्श महाकायं भुजंगं लोमहर्षणम्।

तोडते और चीरते सब वनको अपने शब्दसे पूरित करने लगे; भीमसेन सुखी होकर पर्वतके शिखरको तोडते इधर उधर घूमने लगे। वे कभी वेगसे कूदते, कभी दौडते कभी उछलते और कभी अपने हाथोंके शब्दसे ताड वृक्षोंको कंपाते विहार करने लगे। १४-१७

अभिमानी भीमसेनके वनमें घूमनेसे महाबलवान हाथी और महापराक्रमी सिंह भयसे गुफाओंसे निकल निकल भागने लगे। भीम कहीं दौडते, कहीं बैठते और कहीं धीरे धीरे चलते थे। पुरुष-सिंह भीम वनमें रहनेवालोंके समान निर्भय होकर उस घोर वनमें हरिनोंको ढूंढने लगता था। महाबली भीमसेन पैदलही वनमें जाने लगा और महारण्य में प्रविष्ट होकर बडा शब्द करने लगा जिससे सब प्राणियोंको भय हुआ। तथा उनके शब्दसे गुहाशायी सर्प भी भयभीत हुए। वेगसे अतिक्रमकारी भीमसेन उनके पीछे चले। १८-२३

अनंतर देवतोंके समान महा-बलवान

गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनाऽऽवृत्य कंदरम् ॥ २४ ॥
पर्वताभोगवर्ष्माणमतिकायं महाबलम् ।
चित्रांगमंगजैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ॥२५ ॥
गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता ।
दीप्ताक्षेणाऽतिताम्रेण लिहानं सृक्किणी मुहुः ॥ २६ ॥
त्रासनं सर्वभूतानां कालांतकयमोपमम् ।
निःश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयंतमिव स्थितम् ॥ २७ ॥
स भीमं सहसाऽभ्येत्य पृदाकुः कुपितो भृशम् ।
जग्राहाऽऽजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ॥ २८ ॥
तेन संस्पृष्टगात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा ।
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य हि ॥२९ ॥
दशनागसहस्राणि धारयंति हि यद्बलम् ।
तद्बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ॥ ३० ॥
स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः ।
विस्फुरञ्शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ३१ ॥
नागायुतसमप्राणः सिंहस्कंधो महाभुजः ।
गृहीतो व्यजहात्सत्वं वरदानविमोहितः ॥ ३२ ॥

भीमसेनने एक बडे भारी शरीरवाले भयानक सर्पको देखा, वह सर्प एक पर्वतकी खोहमें गुफाको अपने शरीरसे रोके हुए बैठा था । उस महाबलवान् सर्पका शरीर पर्वतके समान बडा था । उसका रङ्ग विचित्र हलदीके समान था, चार दाढोंसे युक्त, तेजस्वी लाल नेत्र युक्त उसका मुख पर्वतकी गुहाके समान था और वह जिह्वाओंको चाटते रहा था । वह सब प्राणियोंको डरानेवाला काल और यमके समान भयानक सर्प जिह्वासे होठोंको चाट रहा था, उसके स्वासके संग निकले हुए विषसे सब जन्तु डर रहे थे । (२३—२७)

वह घोर सर्प क्रोध करके भीमको निकट पाके वेगसे भीमके दोनों हाथोंमें लपट गया । उस सर्पके काटतेही भीम को मूर्च्छा आगई यह अगस्त्यके वर-दानसे हुआ । भीमसेनका जो बल दश हजार हाथियोंके समान था, जो भीमकी भुजा और सब पुरुषोंसे अधिक थीं, वही तेजस्वी भुजा सर्पके वशमें हो गई । भीम पराक्रम करने पर भी उससे छूट न सके । उसके वरदानके वशमें होकर

स हि प्रयत्नमकरोत्तीव्रमात्मविमोक्षणे।
न चैनमशकद्वीरः कथंचित्प्रतिबाधितुम् ॥ ३३ ॥ [६८८४]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वण्याजगरपर्वण्यजगरग्रहणेऽष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७८॥

वैशम्पायन उवाच—स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशं गतः।
चिंतयामास सर्पस्य वीर्यमत्यद्भुतं महत् ॥ १ ॥
उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ॥ २ ॥
पांडवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनंतरः।
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ॥ ३ ॥
सिंहाः केसरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा।
समागताश्च शतशो निहताश्च मया युधि ॥ ४ ॥
राक्षसाश्च पिशाचाश्च पन्नगाश्च महाबलाः।
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ॥ ५ ॥
किं नु विद्याबलं कि नु वरदानमथो तव।
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ॥ ६ ॥
असत्यो विक्रमो नृणामिति मे धीयते मतिः।

दश हजार हाथीके बलको भीम भूल गये। उन्होंने अपने छूटनेके लिये बहुत यत्न किया, परन्तु छूट न सके। (२८—३३) [६८८४]

वनपर्वमें एकसौ अठहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ उनासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! जब तेजस्वी भीमसेन सर्पके वशमें होगये, तब उसके विचित्र और अद्भुत बलको विचारने लगे और बोले, कि हे पन्नग! हे सर्पश्रेष्ठ! तुम कौन हो? और हमसे कौनसा काम करना चाहते हो? हम राजा पाण्डुके पुत्र महाराज धर्मराज युधिष्ठिरके छोटेभाई भीम हैं, हममें दश सहस्र हाथीका बल था; परन्तु न जाने तुमने कैसे हमको वशमें कर लिया, मैंने युद्धमें सैकडों सिंह, केशरी, व्याघ्र, भैंसे और हाथियोंको मारडाला। (१—४)

मैंने युद्धमें अनेक महाबलवान राक्षस पिशाच और सर्पोंको मारा है; मेरे पराक्रमको कोईभी नहीं सह सकता है; हे सर्पश्रेष्ठ! तुमको क्या कोई विद्याबल है? अथवा किसीने तुमको वर दान दिया है? क्योंकि मैं अत्यन्त पराक्रम करने पर भी तुमसे छूट नहीं सकता हूं,

यथेदं मे त्वया नाग बलं प्रतिहतं महत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच–इत्येवंवादिनं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम् ।

भोगेन महता गृह्य समन्तात्पर्यवेष्टयत् ॥ ८ ॥

निगृह्यैनं महाबाहुं ततः स भुजगस्तदा ।

विमुच्याऽस्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

दिष्टस्त्वं क्षुधितस्याऽद्य देवैर्भक्षो महाभुज ।

दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम्॥१०॥

यथा त्विदं मया प्राप्तं सर्पत्वमरिंदम ।

तथाऽवश्यं मयाऽऽख्याप्यं तवाऽद्य शृणु सत्तम॥११॥

इमामवस्थां संप्राप्तो ह्यहं कोपान्महर्षिणाम् ।

शापस्याऽन्तं परिप्रेप्सुः सर्वं तत्कथयामि ते ॥ १२ ॥

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।

तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशधरः सुतः ॥ १३ ॥

तपोभिः क्रतुभिश्चैव विद्ययाऽभिजनेन च ।

त्रैलोक्यैश्वर्यमतुलं प्राप्तं मे विक्रमेण च ॥ १४ ॥

अथ सर्वनृपोन्मादी मदो मां समुपाविशत् ।

सहस्रमृषिमुख्यानामुवाह शिबिकां मम ॥ १५ ॥

मेरी बुद्धिमें आता है, कि मनुष्योंका पराक्रम झूठा है, क्योंकि तुमने मेरे दश हजार हाथीके बलको छीन लिया।(५-७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब आक्लिष्ट कर्म करनेवाले भीमने ऐसा कहा, तो सर्पने उनको अपने शरीर द्वारा चारों ओरसे लपेट लिया और महाबाहु भीमसेनके दोनों पुष्ट भुज छोडकर सर्प कहने लगा, हे महाभुज ! आज तुमको हमारे खानेके लिये देवतोंने भेज दिया है, प्रारब्धहीसे तुम हमारे पास आये हो;पुरुषोंको अपने प्राण बहुत प्यारे हैं; हे भीम ! जैसे हम सर्पयोनिमें प्राप्त हुए सो तुमसे कहते हैं तुम सुनो। (८-११)

हम ऋषियोंके कोपसे इस दशाको प्राप्त हुए हैं; हम अपने शापका अन्त विचारते हुए यहां रहते हैं; हम तुम्हारे पुरखा आयुके पुत्र हैं, हमारा नाम राजऋषि नहुष है; तुमने भी हमारा नाम सुनाही होगा । नाना प्रकारकी तपस्या यज्ञयाग, विद्या और उत्तम कुलके कारण त्रैलोक्यमें अनुपम ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हुआ था। इससे सब राजाओंके नाशका हेतु मद मुझमें उत्पन्न हुआ। और सहस्रों ऋषियों

ततो विभ्रंशितश्चाऽहमगस्त्येन महात्मना ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तः पश्य दैवमिदं मम ॥ १६ ॥
न दैवं प्रज्ञया तात न बलोत्साहशक्तिभिः ।
न सहायबलैश्चापि कश्चिदप्यातिवर्तते ॥ १७ ॥
अथ प्रज्ञा च शौर्यं च सम्पदः कारणं भवेत् ।
प्रज्ञावतां च शूराणां न कदाचिदसंपदः ॥ १८ ॥
यदा प्राज्ञाश्च शूराश्च दृश्यन्ते दुःखजीविनः ।
भीरुमूर्खाश्च सुखिनस्तस्माद्दैवं हि कारणम् ॥ १९ ॥
सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ॥ २० ॥
त्वां चेदवध्यं दायादमतीव प्रियदर्शनम् ।
अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ॥ २१ ॥
न हि मे मुच्यते कश्चित्कथंचित्प्रग्रहं गतः ।
गजो वा महिषो वाऽपि षष्ठे काले नरोत्तम ॥ २२ ॥
नाऽसि केवलसर्पेण तिर्यग्योनिषु वर्तता ।
गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ॥ २३ ॥

को मैं अपनी पालकी उठानेके काममें लगाने लगा। पश्चात् महात्मा अगस्त्य ऋषिके शापसे मैं भ्रष्ट हो कर इस अवस्थाको प्राप्त हुआ। यह मेरा दैव है देखो। हे तात! बुद्धि, बल, उत्साह शक्ति, सहाय्यकोंकी शक्ति आदिसे दैवका अतिक्रमण करना कठिण है। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो बुद्धि और शौर्य ही संपत्तिका कारण है बुद्धिमान शूर पुरुषोंको विपत्ति कभी प्राप्त नहीं होनी चाहिये। जिस कारण बुद्धिमान और शूर दुःखी दिखाई देते हैं और भीरु तथा मूढ सुख भोगते हैं तो उसका कारण दैव है। हम ब्राह्मणोंके निरादर और अगस्त्य मुनिके शापसे इस दशाको पहुंचे हैं, देखो प्रारब्ध बडा बलवान है, हम अपने वंशमें उत्पन्न हुए अत्यन्त सुन्दर रूपवाले तुमको खाना चाहते हैं। यह प्रारब्धहीका फल है। (१२—२१)

हे नरोत्तम! दिनके छठे भागमें चाहे हाथी हो, चाहे भैंसा हो जो मेरे पास आता है, वह छूट नहीं सकता। हे कौरवश्रेष्ठ ! तुम केवल तिर्यक् योनिवाले सर्पहीसे नहीं पकडे गये हो, वरन मुझको एक वरदान भी है। जब मैं इन्द्रके

पतता हि विमानाग्र्यान्मया शक्रासनाद् द्रुतम् ।
कुरु शापांतमित्युक्तो भगवान्मुनिसत्तमः ॥ २४ ॥
स मामुवाच तेजस्वी कृपयाऽभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन्कस्माचित्कालपर्ययात् ॥ २५ ॥
ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात्स्मृतिः ।
स्मार्तमस्ति पुराणं मे यथैवाऽधिगतं तथा ॥ २६ ॥
यस्तु ते व्याहृतान्प्रश्नान्प्रतिब्रूयाद्विभागवित् ।
स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः ॥ २७ ॥
गृहीतस्य त्वया राजन्प्राणिनोऽपि बलीयसः ।
सत्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याऽऽशु भविष्यति॥२८॥
इति चाऽप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम् ।
मयि संजातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ॥ २९ ॥
सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ ।
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकांक्षी महाद्युते ॥ ३० ॥
तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजंगमम् ।
न च कुप्ये महासर्प न चाऽऽत्मानं विगर्हये ॥ ३१ ॥

लोकसे विमानसे नीचे गिरने लगा था, तब मैंने भगवान मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे कहा था, कि हे भगवन्! मेरे शापका अन्त बताइये; तब महा तेजस्वी अगस्त्य ने कृपासे पूरित होकर कहा, कि हे राजन्! तुम्हारे शापका अन्त कुछकालके पश्चात् होगा, तब मैं स्वर्गसे पृथ्वी पर गिर गया। परन्तु मेरी स्मरण-शक्ति कम नहीं हुई; मुझको अबभी पुरानी पुरानी स्मृति पुराण याद हैं। (२२-२६)

अगस्त्य मुनिने मुझसे कहा था, कि जब सब विद्याओंको जाननेवाले पुरुष तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देंगे, तभी तुम इस शापसे छूटोगे। हे राजन्! जिसको तुम पकडोगे वह कैसाही बलवान क्यों न हो, तौभी बल रहित हो जायगा। मैंने कृपालु दयावान महात्मा ऋषियोंके वचन सुने, तब वे ब्राह्मण अन्तर्द्धान हो गये। तबसे महा दुष्कर्मी मैं इस अपवित्र नरक में पडा हूं। हे महा तेजस्वी! मैं इस सर्प योनिको धारण करके अपने समय को देख रहा हूं। (२७-३०)

ऐसा सुन उस सर्पश्रेष्ठसे भीम बोले हे सर्प! हम कुछ क्रोध नहीं करते हैं और न अपनी कुछ निन्दा करते हैं,

यस्माद्भावी भावी वा मनुष्यः सुखदुःखयोः ।
आगमे यदि वाऽपाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ३२ ॥
दैवं पुरुषकारेण को वंचयितुमर्हति ।
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ॥ ३३ ॥
पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्यव्यपाश्रयम् ।
इमामवस्थां संप्राप्तमनिमित्तमिहाऽद्य माम् ॥ ३४ ॥
किं तु नाऽद्याऽनुशोचामि तथाऽऽत्मानं विनाशितम् ।
यथा तु विपिने न्यस्तान्भ्रातॄन्राज्यपरिच्युतान् ॥३५॥
हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससंकुलः ।
मां समुद्वीक्षमाणास्ते प्रपतिष्यंति विह्वलाः ॥ ३६ ॥
विनष्टमथ मां श्रुत्वा भविष्यंति निरुद्यमाः ।
धर्मशीला मया ते हि बाध्यंते राज्यगृद्धिना ॥ ३७ ॥
अथवा नाऽर्जुनो धीमान्विषादमुपयास्यति ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ॥ ३८ ॥
समर्थः स महाबाहुरेकोऽपि सुमहाबलः ।
देवराजमपि स्थानात्प्रच्यावयितुमंजसा ॥ ३९ ॥
किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।

क्योंकि होने और न होनेवाले सुख दुःख में तथा पाप और पुण्यमें मनुष्यके मन को ग्लानि नहीं होनी चाहिये। क्योंकि प्रारब्धसे होने वाले कामको कोई प्रयत्न से रोक नहीं सकता है। मैं प्रारब्धको बलवान और पुरुषार्थको व्यर्थ समझता हूं। देखो प्रारब्धके बल और बाहुबलके अभिमानसे मैं इस दुर्दशामें व्यर्थही पड गया। मैं अपने लिये उतना सोच नहीं करता हूं, जितना राज्यसे निकाले हुए वनवासी अपने भाइयोंके लिये। (३१-३५)

यह हिमाचल अत्यन्त दुःखसे आने योग्य तथा यक्ष और राक्षसोंसे भराहुआ है, मेरे भाई मुझे ढूंढने को घबराये होंगे; जब वे मुझको मरा हुआ सुनेंगे, तो राज्यप्राप्तिका उद्यमभी छोड देंगे, क्योंकि वे सब लोग धर्मात्मा हैं और राज्यकी इच्छा करनेके कारण मेरेसे उनको बाधा होगी। अथवा बुद्धिमान अर्जुन दुःख नहीं करेंगे, क्योंकि वे सब अस्त्रोंके जाननेवाले तथा यक्ष और राक्षसोंसे भी अजेय हैं। महाबाहु और महा पराक्रमी अर्जुन अकेले ही इन्द्रको भी स्वर्गसे निकाल सकते हैं, उनके

विद्विष्टं सर्वलोकस्य दंभमोहपरायणम् ॥ ४० ॥
मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
याऽस्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः ॥ ४१ ॥
तस्याः कथं त्वनाथाया मद्विनाशाद्भुजंगम ।
अफलास्ते भविष्यंति मयि सर्वे मनोरथाः ॥ ४२ ॥
नकुलः सहदेवश्च यमौ च गुरुवर्तिनौ ।
मद्बाहुबलसंगुप्तौ नित्यं पुरुषमानिनौ ॥ ४३ ॥
भविष्यतो निरुत्साहौ नष्टवीर्यपराक्रमौ ।
मद्विनाशात्परिद्यूनाविति मे वर्तते मतिः ॥ ४४ ॥
एवंविधं बहु तदा विललाप वृकोदरः ।
भुजंगभोगसंरुद्धो नाऽशकच्च विचेष्टितुम् ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिरस्तु कौंतेयो बभूवाऽस्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान्घोरानुत्पातान्परिचिंतयन् ॥ ४६ ॥
दारुणं ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता ।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याऽऽश्रमस्य ह ॥४७॥
एकपक्षाक्षिचरणा वर्तिका घोरदर्शना ।

आगे सब लोकोंका शत्रु कपट और मोहसे भरा हुआ और छलसे जुआ खेलने वाला दुर्योधन क्या है। (३६–४०)

मैं अपनी बूढी माताका बहुत शोक करता हूं, वह अपने पुत्रोंको शत्रुओंसे बडा ऐश्वर्य प्राप्त हो ऐसी इच्छा धारण करती है। हे सर्प! जब मैं मर जाऊंगा तो वह क्या करेंगी, उनके सब मनोरथ मेरे मरनेसे नष्ट हो जायंगे। नकुल और सहदेव मेरे पराक्रमसे रक्षित होकर अपनेको वीर मानते हैं, मेरे मरनेसे उनका वीर्य, बल और उत्साह नष्ट हो जायगा, मेरी बुद्धिमें आता है, कि मेरे मरनेसे वे दोनों किसी योग्य न रहेंगे। सांपके शरीरसे बंधे हुए भीमने इस प्रकार बहुत विलाप किया। परन्तु छूट न सके। (४१—४५)

उसी समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अनेक अशगुन देखे, तब वे बहुत घबडाये। उनकी दाहिनी ओर खडी होकर सियारी घोर शब्दसे रोनेलगी और उस आश्रमसे दीप्त दिशाकी ओर खडी होकर अनेक सियारी भयानक शब्दसे रोने लगीं। एक पंख, एक चरण और एक आंखवाले अनेक भयानक पक्षी अपने मुखसे रुधिरको

रक्तं बभंती ददृशे प्रत्यादित्यमभास्वुरा ॥ ४८ ॥
प्रववौ चाऽनिलो रूक्षश्चंडः शर्करकर्षणः ।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ॥ ४९ ॥
पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति शंसति ।
मुहुर्मुहुः स्फुरति च दक्षिणोऽस्य भुजस्तथा ॥ ५० ॥
हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परितप्यति ।
सव्यस्याऽक्ष्णो विकारश्चाऽप्यनिष्टः समपद्यत ॥ ५१ ॥
धर्मराजोऽपि मेधावी मन्यमानो महद्भयम् ।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ॥ ५२ ॥
शशंस तस्मै पांचाली चिरयातं वृकोदरम् ।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ॥ ५३ ॥
द्रौपद्या रक्षणं कार्यमित्युवाच धनञ्जयम् ।
नकुलं सहदेवं च व्यादिदेश द्विजान्प्रति ॥ ५४ ॥
स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाऽऽश्रमात्प्रभुः ।
मृगयायास कौन्तेयो भीमसेनं महावने ॥ ५५ ॥
स प्राचीं दिशमास्थाय महतो गजयूथपान् ।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्निताम् ॥ ५६ ॥

गिराते हुए सूर्यकी ओर घूमने लगे। उस समय धूलसे भरा हुआ घोर वायु बहने लगा। सब हरिन और पक्षी बाईं ओरको बोलते हुए जाने लगे। पीछेसे काला कौआ जाओ जाओ कहने लगा और दहना हाथ पांव फरकने लगा। हृदय और बायां चरण जलने लगा और दहने नेत्रमें अशुभ चिह्न होने लगे। (४६—५१)

हे जनमेजय! बुद्धिमान धर्मराज बहुत भयसे व्याकुल होकर द्रौपदीसे पूछने लगे, कि भीमसेन कहां हैं? तब द्रौपदीने कहा, कि भीमसेनको गये बहुत देर हुई है। यह सुन महा बाहु युधिष्ठिर धौम्यमुनिके सहित चले और अर्जुनसे बोले, कि तुम द्रौपदीकी रक्षा करना तथा नकुल और सहदेवसे कहा कि तुमलोग ब्राह्मणोंकी रक्षा करना। महात्मा धर्मराज उन्हींके चरणोंके चिह्न पर चलते हुए भीमको ढूंडने लगे। (५२—५५)

वे वहांसे पूर्वकी ओर चले; वहां उन्होंने मतवाले हाथियोंको मरे पडे देखा और वहीं भीमसेनके चरणोंके

ततो मृगसहस्राणि मृगेंद्राणां शतानि च ।
पतितानि वने दृष्ट्वा मार्गं तस्याऽऽविशन्नृपः ॥ ७७ ॥
धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थं वातरंहसः ।
ऊरुवातविनिर्भग्ना द्रुमा व्यावर्जिताः पथि ॥ ७८ ॥
स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे ।
रूक्षमारुतभूयिष्ठे निष्पत्रद्रुमसंकुले ॥ ७९ ॥
ईरिणे निर्जले देशे कंटकिद्रुमसंकुले ।
अश्मस्थाणुक्षुपाकीर्णे सुदुर्गे विषमोत्कटे । ॥ ८० ॥
गृहीतं भुजगेंद्रेण निश्चेष्टमनुजं तदा ॥ ८१ ॥ [६९४५]

इति श्रीमहाभारते० आजगरपर्वणि युधिष्ठिरभीमदर्शन ऊनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७९॥

वैशम्पायन उवाच–युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम् ।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
कुंतीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान् ।
कश्चाऽयं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ॥ २ ॥
स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
कथयामास तत्सर्वं ग्रहणादिविचेष्टितम् ॥ ३ ॥

चिह्नोंको देखा; फिर हजारों सहस्रों हरिन और सेकडों सिंहोंको मरा पडा हुआ देखा। वह महाराज भी उसी मार्गसे चले। महापराक्रमी भीमके वायुसमान चलनेसे उनकी जंघासे उठे हुए वायुसे मार्गके वृक्ष टूटके गिरे थे, महात्मा धर्मराज उन्हीके चरण चिह्न पर चलते हुए एक पर्वतकी खोहमें पहुंचे। वहां सूखी वायु चल रही थी और किसी वृक्षपर पत्ता नहीं था। वह स्थान जलसे रहित और कटीले वृक्षोंसे भरा हुआ था। वहां की पृथ्वी तथा उस कठिन स्थानमें पत्थरोंके टुकडे और छोटे छोटे वृक्ष भरे थे। वहीं उन्होंने उसी सुदुर्ग ऊषर स्थान में सर्पसे पकडे हुए अपने भाई भीमसेनको निश्चेष्ट हुए देखा। (७६-८१) [६९४५]

वनपर्वमें एकसौ उनासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ अस्सी अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! युधिष्ठिरने सर्पसे पकडे हुए अपने प्यारे भाईसे ऐसे वचन कहे। हे कुन्तीपुत्र ! तुम इस आफतमें कैसे पड गये? और यह पर्वतके समान शरीरवाला सर्प कौन है? भीमने बडे भाईको देखकर सब कथा अपने पकडे जानेकी कह सुनाई। (१—३)

भीम उवाच— अयमार्य महासत्त्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान् ।
नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मुच्यतामयमायुष्मन्भ्राता मेऽमितविक्रमः ।
वयमाहारमन्यं ते दास्यामः क्षुन्निवारणम् ॥ ५ ॥

सर्प उवाच— आहारो राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः ।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत् ॥ ६ ॥
व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत् ।
स मे भक्ष्यो भवेत्तात त्वं चापि विषये मम ॥ ७ ॥
चिरेणाद्य मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाऽहमेनं विमोक्ष्यामि न चाऽन्यमभिकांक्षये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान्यदि ।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः ॥
किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजंगम ॥ ९ ॥
किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद्भुजंगम ।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद्भवानिमम् ॥ १० ॥

सर्प उवाच— नहुषो नाम राजाऽहमासं पूर्वस्तवाऽनघ ।

भमिसेन बोले, हे आर्य ! यह महाबलवान् प्राणी नहुष नामक राजर्षि हैं, इन्होंने मुझे खानेको पकडा है। महाराज युधिष्ठिर बोले, हे आयुष्मन् ! तुम हमारे अत्यन्त पराक्रमी भाईको छोडदो, हम तुम्हारी क्षुधानिवारणा करनेके लिये दूसरा भोजन देंगे। सर्प बोला, यह राजपुत्र हमारे मुखमें आचुके हैं, इसलिये हम इन्हीको खायंगे, तुम चले जाओ, यहां खडा होना योग्य नहीं है, यहां रहनेसे तुमभी कल हमारे भोजन बनोगे। हे महाबाहो ! यह हमारा प्रण है, कि जो हमारे पास आता है, उसको हम खाजाते हैं। हे तात! तुमभी हमारे पास आये हो और तुम्हारा भाई प्रारब्धहीसे हमारे पास आगये हैं, अब हम दूसरे आहारकी इच्छा नहीं करते हैं। (४-८)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! तुम देव हो, या दैत्य हो, या सर्प हो जो हो सत्य कहो, तुमसे मैं युधिष्ठिर पूछ रहा हूं; हे सर्प ! तुमने भीमसेनको क्यों पकडा है ? तुम कौनसे भोजनसे प्रसन्न हो सकते हो ? हम तुम्हारी प्रसन्नता के लिये कौनसा भोजन ले आवें, जिससे तुम भीमसेनको छोडोगे (९-१०

सर्प बोले, हे पापरहित ! हम तुम्हारे

प्रथितः पंचमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ॥ ११ ॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ॥ १२ ॥
तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत्तदा ।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ॥ १३ ॥
ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान् ।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ॥ १४ ॥
न तु मामजहात्प्रज्ञा यावदद्येति पाण्डव ।
तस्यैवाऽनुग्रहाद्राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
षष्ठे काले मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाऽहमेनं विमोक्ष्यामि न चाऽन्यदपि कामये ॥ १६ ॥
प्रश्नानुचारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम ।
अथ पश्चाद्विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजंगम ॥ १८ ॥
वेद्यं च ब्राह्मणेनेह तद्भवान्वेत्ति केवलम् ।

पुरुखा नहुष नामक राजर्षि हैं । नरनाथ ! हम चन्द्रमासे पांचवीं पीढीमें आयुके पुत्र हैं, हमने अपने पराक्रम, तप, यज्ञ और वेद पाठसे तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको प्राप्त किया था, उस राज्यको प्राप्त करके मुझे बहुत अभिमान होगया। मेरी पालकीमें सहस्र ब्राह्मण लगते थे, मैंने उस ऐश्वर्यसे उन्मत्त होकर ब्राह्मणों का अपमान किया। हे पृथिवीपते ! मैं उसी अपमानके कारण भगवान अगस्त्यके शापसे इस दशाको प्राप्त हुआ हूं। (११–१४)

हे पृथ्वीनाथ ! हे पाण्डव ! इस दशामें पडने परभी मेरी बुद्धि नष्ट नहीं हुई । यहभी उन्हीं महात्मा अगस्त्यकी कृपा है । मैंने दिनके छठे भागमें भोजन के लिये तुम्हारे भाईको पकडा है, इस लिये मैं इसको नहीं छोडूंगा और न दूसरा भोजन लूंगा । यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो तो मैं तुम्हारे भाई भीम को छोड दूं । (१५—१७)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! तुम अपने प्रश्नोंको कहो, हम शक्तिके अनुसार तुम्हे प्रसन्न करनेके लिये उनका उत्तर देंगे, जिस विषयको ब्राह्मण जान सकते हैं, उन्हींको तुम जानते हो।

सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ १९ ॥

सर्प उवाच— ब्राह्मणः को भवेद्राजन्वेद्यं किं च युधिष्ठिर।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच— सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यंते यत्र नागेंद्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ २१ ॥
वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत्।
यत्र गत्वा न शोचंति भवतः किं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

सर्प उवाच— चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
वेद्यं यच्चाऽत्र निर्दुःखमसुखं च नराधिप।
ताभ्यां हीनं पदं चाऽन्यन्न तदस्तीति लक्षये ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २५ ॥

हे सर्प ! तुम्हारे वचनोंको सुन सुन हम उत्तर देंगे। (१८—१९)

सर्प बोले, हे युधिष्ठिर! ब्राह्मण किसे कहते हैं? जगत्में कौन वस्तु जानने योग्य है? तुम हमारे इन दो प्रश्नोंका उत्तर दो, तो हम तुमको बहुत बुद्धिमान जानेंगे। राजा युधिष्ठिर बोले,हे नागेन्द्र! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अक्रूरता, तप और दया हो उसे ब्राह्मण कहते हैं। हे सर्प! जहां जाकर पुरुष शोकसे रहित हो जाते हैं, जिसमें सुख और दुःख नहीं है, वही एक ब्रह्म जानने योग्य है। तुम्हारी और क्या विवक्षित है। (२०-२२)

सर्प बोले, हे युधिष्ठिर ! इस जगत्में ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं, ये चारों अपौरुषेय वेदको प्रमाण मानते हैं,यदि किसी शूद्रमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अहिंसा और दया हो, तो क्या वह भी ब्राह्मणही हो जायगा? तुमने जो कहा, कि ब्रह्ममें सुख और दुःख नहीं है और वही ब्रह्म जानने योग्य है, तो तुम एक ऐसे प्राप्त होने योग्य स्थानको कहो, कि जो सुख और दुःखसे रहित हो क्योंकि हमको ऐसा कोई पद नहीं दीख पडता। (२३-२४)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! जो ये लक्षण शूद्रमें हैं, और ब्राह्मणोंमें नहीं है तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। हे सर्प!

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥
यत्पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च ।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदं नाऽस्तीति चेदपि ॥२७ ॥
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते ।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २८ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनं नास्ति पदं क्वचित् ।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥ २९ ॥

सर्प उवाच— यदि ते वृत्ततो राजन्ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन्कृतिर्यावन्न विद्यते ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच—जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥ ३१ ॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥ ३२ ॥

जिसमें ये लक्षण हों वह शूद्र ब्राह्मण है और यदि ये लक्षण ब्राह्मणमें न हों तो वह ब्राह्मणभी शूद्रही है। हे सर्प! जो तुमने कहा, कि "कोई वस्तु सुख दुःखसे रहित जानने योग्य नहीं है और कोई पद ऐसा नहीं है जिसमें सुख और दुःख नहीं हो।" हे सर्प! ऐसा बोध होता है कि सुख दुःखसे रहित कोई वस्तु नहीं है, सो जैसे गर्मीमें सर्दी और सर्दीमें गर्मी नहीं है, तैसे कोई पद सुख दुःखसे रहित नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार शीतता और उष्णता के विना कोई अनिर्वचनीय पदार्थका रहना स्वीकार किया जाता है, उसी भांति सुखदुःखसे रहित कोई अनिर्वचनीय ज्ञेय वस्तुका रहना अवश्य स्वीकार होगा; हमारी ऐसीही विवेचना होती है, तुम चाहे जैसी विवेचना करो।२५–२९

सर्प बोले, हे राजन्! यदि तुम चरित्रहीसे ब्राह्मणता मानते हो, तो जबतक चरित्रका कार्य न हो तबतक जाति वृथाही है? (३०)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे महासर्प! हे महा बुद्धिमान्! मेरी बुद्धिमें जगत्के जितने मनुष्य हैं; सबहीमें वर्णसङ्कर है। इससे उनकी जातिकी परीक्षा होनी बहुतही कठिन है। हम देखते हैं, कि दूसरे वर्णकी स्त्रीसे दूसरे वर्णका पुरुष सन्तान उत्पन्न करता है; वचन, मैथुन जन्म और मरण सब पुरुषोंका समानही

इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ३३ ॥
प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
तत्राऽस्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥३४॥
तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत ॥ ३५ ॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते।
संकरस्त्वत्र नागेंद्र बलवान्प्रसमीक्षितः ॥ ३६ ॥
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान्भुजगोत्तम ॥ ३७ ॥
सर्प उवाच— श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर।
भक्षयेयमहं कस्माद्भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ ३८ ॥ [६९८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्याजगरपर्वण्य-जगरयुधिष्ठिरसंवादेऽशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

युधिष्ठिर उवाच— भवानेतादृशो लोके वेदवेदांगपारगः।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद्गतिरनुत्तमा ॥ १ ॥

होता है। यह 'ये यजामहे' वेदवाक्य प्रमाण है और हमको मानने योग्य है, इसीसे पण्डित सब चरित्रको प्रधान मानते हैं। जब लडका उत्पन्न होता है, उनका नाल काटा जाता है उससे पहिले-ही जातिकर्म किया जाता है, उस कर्ममें उस बालककी माता सावित्री और पिता आचार्य होता है। भगवान् स्वायम्भू मनुनेभी अपनी स्मृतिमें ऐसाही कहा है,कि जब तक बालक वेद न पढे, तब तक वह शूद्रवत रहता है। ३१–३५

हे नागेन्द्र! सब वर्णोंकी संस्कार आदि क्रिया की जाने परभी यदि उनमें सच्चरित्रता न रहे, तो सङ्करत्वको बलवान निश्चय करे। हे सर्प! इसलिये जिसमें सुसंस्कृत चरित्र दिखाई दे उसे ही पहिले मैंने ब्राह्मण कहके वर्णन किया है। सर्प बोले, हे युधिष्ठिर! हमने तुम्हारे सब वचन सुने अब हम तुम्हारे भाई भीमसेनको नहीं खायंगे। (३६–३८) [६९८३]

वनपर्वमें एकसौ अस्सी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ एकासी अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, आप इस लोकमें वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले हैं,सो हमसे कहिये,कि कौन कर्म करनेसे

सर्प उवाच——पात्रे दत्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच— दानाद्वा सर्प सत्याद्वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥ ३ ॥
सर्प उवाच— दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम् ॥ ४ ॥
कस्माचिद्दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेंद्र किंचिद्दानं विशिष्यते ॥ ५ ॥
एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥ ६ ॥
एवमेतद्भवेद्राजन्कार्यापेक्षमनंतरम् ।
यदभिप्रेतमन्यत्ते ब्रूहि यावद्ब्रवीम्यहम् ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम् ।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे ॥ ८ ॥
सर्प उवाच——तिस्रो वै गतयो राजन्परिदृष्टाः स्वकर्मभिः ।
मानुषं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा ॥ ९ ॥

मनुष्यको उत्तम गति होती है ? सर्प बोले, हे भारत ! पात्रको दान देना, प्यारे वचन कहना, सत्य बोलना और किसीको दुःख न देना इन्हीं कर्मोंसे पुरुष स्वर्गको जाते हैं। (१-२)

युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! दान, अहिंसा और प्यारी वाणी इन चारोंमें कौन अधिक कौन कम है ! सर्प बोले, हे युधिष्ठिर ! दान, सत्य, अहिंसा और मीठी-वाणी इन सबकी बडाई और छोटाई केवल कार्यके अनुसार होती है। कहीं दानसे सत्य और सत्यसे दान अधिक होजाता है। हे पृथ्वीनाथ ! हे महा धनुर्धर ! कहीं अहिंसासे मीठी वाणी और कहीं मीठी वाणीसे अहिंसा बढ जाती है। हे राजन् ! हमने यह सब कहा अब और जो तुम्हारी इच्छा हो सो कहो, हम तुमसे कहेंगे। (३-७)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! शरीर नष्ट होनेके पीछे स्वर्ग किस प्रकार मिलता है और कर्मका फल अवश्य प्राप्त होता है, उसका क्या प्रमाण है, इन सब विषयोंको तुम हमसे कहो। सर्प बोले, हे राजन् ! मैंने अपने कर्मोंसे तीन दशा देखी। मैं पहले मनुष्य था फिर देवता हुआ, फिर सर्प होगया।

तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतंद्रितः।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥ १० ॥
विपरीतैश्च राजेंद्र कारणैर्मानुषो भवेत्।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चाऽत्र वक्ष्यते ॥ ११ ॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ॥ १२ ॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।
गवादिभ्यस्तथाऽश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ॥ १३ ॥
सोऽयमेता गतीस्तात जंतुश्चरति कार्यवान्।
नित्ये महति चाऽत्मानमवस्थापयते द्विजः ॥ १४ ॥
जातो जातश्च बलवान्भुक्ते चाऽऽत्मा स देहवान्।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजालक्षणभावनः ॥ १५ ॥
युधिष्ठिर उवाच-- शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगंधयोः।
तस्याऽधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम् ॥ १६ ॥
किं न गृह्णासि विषयान्युगपत्त्वं महामते।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ॥ १७ ॥

निश्चय ही पुरुष मनुष्य लोकमें दान और अहिंसादिक कर्म करके स्वर्गके सुखको भोगता है। हे राजेन्द्र ! हे तात ! उसका उस कर्मके विपरीत करनेसे मनुष्य वा किसी नीच योनिमें जन्म होता है। हम इसे विशेष वर्णन करते हैं। (८—११)

काम, क्रोध, लोभ और हिंसा करनेसे मनुष्य मनुष्यतासे नष्ट होकर तिर्यक् योनियोंमें जन्म लेता है। नीच योनियोंसे पृथक होना मनुष्यत्वके लिये ही हैं। गाय और घोडे आदिमें भी देव भाव दीख पडता है। हे तात ! जन्तु इस प्रकार तीन गतियोंको प्राप्त होता है, ब्राह्मण लोग केवल नित्य परमात्माका ध्यानही करते हैं। हे तात! जीवात्मा बार बार जन्म लेकर सुख और दुःखको भोगता है, परंतु फलके लिये देहयुक्त होकर निस्पृह मनुष्य प्रजाका अर्थात् संसारका हेतु जानता है। (१२ — १५)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्धका आधार क्या है? हे महामते! इन पांचोंको बुद्धि एकहीवार क्यों नहीं ग्रहण कर सकती है, तुम यह सब हमसे कहो।(१६-१७)

सर्प उवाच—— यदात्मद्रव्यमायुष्मन्देहसंश्रयणान्वितम् ।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुंक्ते यथाविधि ॥ १८ ॥
ज्ञानं चैवाऽत्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे ॥ १९ ॥
मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान् ।
विषयायतनस्थेन भूतात्मा क्षेत्रनिःसृतः ॥ २० ॥
तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जंतोर्विधीयते ।
तस्माद्युगपदत्राऽस्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥ २१ ॥
स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरंतरमाश्रितः ।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥ २२ ॥
बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः ।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिर उवाच---मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम् ।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ॥ २४ ॥
सर्प उवाच———बुद्धिरात्मानुगातीव उत्पातेन विधीयते ।
तदाश्रिता हि सा ज्ञेया बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत् ॥ २५॥

सर्प बोले, हे चिरंजीव ! जो आत्मा सब इन्द्रिय तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे युक्त है सोई कर्मके अनुसार सब फलोंको भोगता है। उसको भोग करनेके आधार ज्ञान, बुद्धि, मन और इन्द्रिय हैं। हे तात! भूतात्मा विषय क्षेत्रसे चलकर विषयमें स्थिर हुए मनसे प्रेरित होकर इन सब विषयोंको क्रमसे भोगता, इस लिये वह विषयोंहीमें रहता है। हे पुरुषव्याघ्र ! इन सबका कारण मनही है और मनमें एकहीबार दो ज्ञान नहीं आ सकते हैं। इससे इन सब विषयोंका एकवार ज्ञान नहीं होता। हे राजन् ! वह परमात्मा दोनों भ्रुकुटियोंके बीचमें रहता है और बुद्धिको कर्मोंमें प्रेरित करता है। हे युधिष्ठिर ! बुद्धिके पीछे जो ज्ञान होता है, पण्डितलोग उसेही वेदना शक्ति कहते हैं। हे राजशार्दूल ! हमने यह क्षेत्रज्ञकी विधि कही।१८-२३

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे सर्प ! तुम हमसे बुद्धि और मनका लक्षण कहो ? क्योंकि अध्यात्म विद्या जाननेवालोंको उसका जानना बहुत आवश्यक है। सर्प बोले, हे युधिष्ठिर ! बुद्धि आत्माके पीछे चलनेवाली है यह सिद्ध है। इस लिये आत्माके आश्रयसे वह है

बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि ।
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद्भवेत् ॥ २६ ॥
एतद्विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदंतरम् ।
त्वमप्यत्राऽभिसंबुद्धः कथं वा मन्यते भवान् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव ।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मात्समनुपृच्छसि ॥ २८ ॥
सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत्स्वर्गवासिनम् ।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ।
कथं च सर्पतां यातो भवान्व्याख्यातुमर्हसि ॥ २९ ॥

सर्प उवाच —सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ॥ ३० ॥
सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ।
पतितः प्रतिसंबुद्धस्त्वां तु संबोधयाम्यहम् ॥ ३१ ॥
कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप ।

ऐसा समझकर आत्मज्ञानके लिये उसीका आश्रय करो। विषयोंमें इन्द्रियों के संयोग हेतुसे बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है; मन पहले हीसे उत्पन्न है। बुद्धि कार्यसे उत्पन्न होती है और मन उत्पन्न हुआ ही होता है इस प्रकार जिस गुणका धारण बुद्धि करती है उसका धारण मन भी करता है। हे तात! मन और बुद्धिमें इतनाही भेद है। हे युधिष्ठिर! इन विषयोंको तुम कैसा मानते हो, सो कहो। (२४—२७)

युधिष्ठिर बोले, हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ! तुम्हारी बुद्धि बहुत श्रेष्ठ है, तुम सब जानने योग्य विषयोंको जानते हो, तब मुझसे क्यों पूछते हो? हे सर्प! मुझको एक बडा भारी सन्देह हुआ है, कि अद्भुत कर्मकारी सब जाननेवाले तुम स्वर्गवासी हुए थे, ऐसे स्थलमें तुमको मोह क्यों हुआ और सर्पयोनि में आप कैसे आये यह कहो। (२८–२९)

सर्प बोले, हे युधिष्ठिर! महा शूरवीर और बुद्धिमान को भी ऐश्वर्य बढनेसे अभिमान हो जाता है, मेरा ऐसा मत है, कि सुखमें रहनेसे सब लोग मोहमें पडते हैं। हे युधिष्ठिर! हम उसी ऐश्वर्यमें पडकर अभिमानके वशमें हो गये, और उस अभिमानके कारणसे पृथ्वीमें गिराये गये। हे महाराज! हे शत्रुनाशन! तुमने हमारा बहुत उपकार किया, आज तुम महात्मासे

क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया संभाष्य साधुना ॥ ३२ ॥
अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन्पुरा ।
अभिमानेन मत्तः सन्कञ्चिन्नाऽन्यमचिन्तयम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मर्षिदेवगंधर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
करान्मम प्रयच्छंति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥ ३४ ॥
चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम ॥ ३५ ॥
ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम ।
स मामपनयो राजन्भ्रंशयामास वै श्रियः ॥ ३६ ॥
तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन्स्पृष्टो मया मुनिः ।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ॥ ३७ ॥
ततस्तस्माद्विमानाग्र्यात्प्रच्युतश्च्युतलक्षणः ।
प्रपतन्बुबुधे त्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् ॥ ३८ ॥
अयाचं तमहं विप्रं शापस्यांऽतो भवेदिति ।
सर्प उवाच— प्रमादात्संप्रमूढस्य भगवन्क्षंतुमर्हसि ॥ ३९ ॥

बात करनेसे हमारा शाप नष्ट हो गया । (३०—३२)

मैं जब दिव्य विमान पर बैठ कर आकाशमें घूमता था तब अभिमानके वशमें होकर कुछभी नहीं विचारता था, ब्रह्मर्षि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्पलोग तथा औरभी तीनलोकमें निवास करनेवाले प्राणीलोग मुझे कर देते हैं । हे पृथ्वीनाथ ! मैं जिसको अ-पने नेत्रोंसे देखता हूं, उसीका तेज मैं हरण करता हूं, यह मेरी दृष्टिका बल है । हे राजेन्द्र ! हजार ब्रह्मर्षि मेरी पालकीको ले चलते थे, इस प्रकार अनीतिमान होनेके कारण मैं लक्ष्मीसे भ्रष्ट हुआ । (३३-३६)

एक दिन महामुनि अगस्त्य मेरी पालकीमें लगे थे, तो मैंने उनको अपने पांवसे स्पर्श किया, तब उन्होंने क्रोधा-न्ध होकर मुझे शाप दिया, कि तू सर्प होकर स्वर्गसे गिरजा । तब मैंने अपने-को उस विमानसे गिरते हुए और सब लक्षणोंसे रहित होते देखा । उस समय मैं सर्प बना और मेरा मुख नीचेको हो गया । तब मैंने अगस्त्य मुनिसे कहा, कि मेरा शाप नष्ट हो । मैं सर्परूप धारण करके बोला कि, हे भगवन् ! मैंने यह कर्म भूलसे किया, इस लिये आप क्षमा कीजिये । (३७—३९)

ततः स मामुवाचेदं प्रपतंतं कृपान्वितः ।
युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात्त्वां मोक्षयिष्यति ॥ ४० ॥
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ।
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
ततो मे विस्मयो जातस्तद् दृष्ट्वा तपसो बलम् ।
ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाऽहमचूचुदम् ॥ ४२ ॥
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप ॥ ४३ ॥
अरिष्ट एष ते भ्राता भीमसेनो महाबलः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥ ४४ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वाऽऽजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः ।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिरोपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागत् ॥ ४६ ॥
ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४७ ॥
तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चाऽस्य ये त्रयः ।

तब उन्होंने कृपा करके मुझसे कहा, कि हे नरनाथ ! इस शापसे तुमको धर्मराज युधिष्ठिर छुडावेंगे, तुम जब इस अभिमान रूपी घोर पापके फलको भोग चुकोगे, तब पुण्य फल भोगोगे । मैंने उनके तपस्याके बलको देख बहुत आश्चर्य किया । इसी हेतु ब्रह्म और ब्राह्मणत्व विषयक प्रश्न हमने तुमसे किया, सो सत्य, दम, इन्द्रिय जीतना, तप, दान, अहिंसा और धर्मको नित्य मानना यही मनुष्यकी साधना हैं; हे नरनाथ ! जाति और कुल साधक नहीं है । महा बलवान तुम्हारे भाई भीमसेन सुखसे रहे, तुम्हारा कल्याण हो, हम अब स्वर्गको जाते हैं । (४०—४४)

श्रीवैशम्पायन मुनिजी बोले, महाराज नहुष ऐसा कहकर उस सर्पके शरीर को छोड और देव शरीर धारण कर स्वर्गको चले गये। श्रीमान् धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिरभी भीमसेन और धौम्य मुनिके सहित अपने आश्रमको लौट आये । अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंसे उस कथाको कह सुनाया । उसको सुन सब ब्राह्मण और अर्जुन,

आसन्सुव्रीडिता राजन्द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ४८ ॥
ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पांडवानां हितेप्सया।
नैवमित्यब्रुवन्भीमं गर्हयंतोऽस्य साहसम् ॥ ४९ ॥
पांडवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम्।
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजन्हुश्च मुदा युताः ॥ ५० ॥ [७०३३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्याजगरपर्वणि भीममोचने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८१ समाप्तं चेदमाजगरपर्व।

अथ मार्कण्डेयसमास्यापर्व।

वैशम्पायन उवाच—निदाघांतकरः कालः सर्वभूतसुखावहः।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥ १ ॥
छादयंतो महाघोषाः खं दिशश्च बलाहकाः।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तदा ॥ २ ॥
तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः।
अपेतार्कप्रभाजालाः सविद्युद्विमलप्रभाः ॥ ३ ॥
विरूढशष्पा धरणी मत्तदंशसरीसृपा।
बभूव पयसा सिक्ता शांता सर्वमनोरमा ॥ ४ ॥
न स्म प्रज्ञायते किंचिदंभसा समवस्तृते।

नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदीने बहुत लज्जा किया। ब्राह्मण लोग पाण्डवों के कल्याणके निमित्त भीमसेनसे कहने-लगे, कि ऐसा फिर कभी न करना। वे लोग भीमके दुःसाहसकी निन्दा करने लगे। पाण्डव लोगोंनें महाबली भीम-सेनको भयसे छूटा हुआ देख बहुत आनन्द किया। (४९—५०) [७०३३

एकसौ एकासी अध्याय और आजगरपर्व समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ बयासी अध्याय और मार्कण्डेयसमास्या पर्व।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उसी स्थान पर निवास करते हुए पाण्डवोंके सब प्राणियोंको सुख देनेवाला, उष्णता ना-शक वर्षा काल आगया। बडे गर्जनेवाले मेघोंने आकाशको छा लिया, वे काले काले मेघ रात और दिन बरसने लगे। वर्षाकालमें रहनेवाले सूर्यके तेजको रोकनेवाले मेघ निर्मल बिजलीके तेजसे चमकने लगे। पृथ्वीमें धानके खेत हरे होगये। सर्प आदि जन्तु उन्मत्त होकर घूमने लगे, जलसे भरनेके कारण पृथ्वी सबको प्यारी लगने लगी, पृथ्वी में इतना जल भर गया, कि जिससे

समं वा विषमं वाऽपि नद्यो वा स्थावराणि च ॥ ५ ॥
क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाऽऽशुगाः ।
सिंधवः शोभयांचक्रुः काननानि नपात्यये ॥ ६ ॥
नदतां काननांतेषु श्रूयंते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥
स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपतंति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥ ८ ॥
तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥ ९ ॥
क्रौंचहंससमाकीर्णा शरत्प्रमुदिताऽभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ॥ १० ॥
विमलाकाशनक्षत्रा शरत्तेषां शिवाऽभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पांडवानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥
दृश्यंते शांतरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसंघैश्च सोमेन च विराजिताः ॥ १२ ॥
कुमुदैः पुंडरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ॥ १३ ॥

नीचा ऊंचा जल और थल कुछभी न जान पडने लगा। (१ – ५)

उस समय उमडे जलसे भरी हुई बडी बडी नदियोंकी तरङ्ग बाणके समान शीघ्र चलने लगीं और सब नदी तथा वन शोभासे भर गये। उस समय जल से भीगनेके कारण वनोंमें सूअर, हरिन और पक्षिओंके अनेक शब्द सुनाई देने लगे। पपीहा,मोर,और कोकिल उन्मत्त होकर नाचने और गाने लगे। मत-वाले मेडक आनन्दसे शब्द करने लगे। इस प्रकारके मेघोंके शब्दसे भरी हुई वर्षा ऋतु पाण्डवोंने उसी वनमें बिता दी। (६—९)

अनन्तर सारस और हंसोंको आनन्द देनेवाली शरत् ऋतु आगयी। उसके आते ही सब वन प्रसन्न दीखने लगा। नदि-योंके पानी और आकाशके तारे निर्मल होगये। इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंने हरिन और पक्षियोंसे भरी हुई कल्याण-दायिनी शरत् ऋतुको देखा। उस ऋतुमें धूलसे रहित मेघोंसे शीतल चन्द्रमा और तारोंसे विराजमान रात्रि दीखने लगी। सब पोखरोंमें कमल

आकाशनीकाशतटां तीरवानीरसंकुलाम्।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ॥ १४ ॥
ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम्।
पश्यंतो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥
तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसंधौ स्म शारदी।
तत्रैव वसतामासीत्कार्तिकी जनमेजय ॥ १६ ॥
पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पांडवाः।
तत्सर्वं भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ॥ १७ ॥
तमिस्राभ्युदये तस्मिन्धौम्येन सह पांडवाः।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥ १८ ॥ [७०९१]

इति श्रीमहाभारते० मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि काम्यकवनप्रवेशे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८२ ॥

वैशम्पायन उवाच—काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ॥ १ ॥
ततस्तान्परिविश्वस्तान्वसतः पांडुनंदनान्।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समंतात्पर्यवारयन् ॥ २ ॥

कुमद खिल गये, सब नदी शीतल और निर्मल जलसे भरी हुई दीखने लगीं। (१०-१३)

आकाशके समान निर्मल तटवाली और वेंतके वृक्षोंसे विराजमान पवित्र सरस्वती अत्यन्त सुन्दरी होगयी। महाधनुषधारी वीर पाण्डव लोग निर्मल जलसे भरी हुई सुन्दर सरस्वती नदीको देखते हुए आनन्दसे विहार करने लगे। हे जनमेजय! उन महात्माओंको शरत् कालकी कार्त्तिकी पूर्णमासी उसी स्थान पर आगयी। पुण्य कर्म करनेवाले महातपस्वी ब्राह्मणोंके सहित भरत कुल-श्रेष्ठ पाण्डवलोग उसी स्थानपर उत्तम योग करने लगे। जब कार्तिकका कृष्ण-पक्ष आरम्भ हुआ, उसी दिन पाण्डव-लोग धौम्य मुनि, सारथी और नगर निवासियोंको सङ्ग ले काम्यक वनको चले गये। (१४—१८)[७०९१]

वनपर्वमें एकसौ बिआसी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ तिरासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनमुनि बोले, हे राजन् जन-मेजय! युधिष्ठिर आदि सब पाण्डव लोग द्रौपदीके सहित काम्यक वनमें पहुंचे। वहां मुनियोंसे बहुत सत्कार पाकर द्रौपदीके साथ रहने लगे। जब विश्वास युक्त पाण्डव लोग उस वनमें रहने लगे, तो अनेक ब्राह्मणलोग उनके पास आने

अथाऽब्रवीद् द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा ।
स एष्यति महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः ॥ ३ ॥
विदिता हि हरेर्बुद्धिरिहाऽऽयाताः कुरूद्वहाः ।
सदा हि दर्शनाकांक्षी श्रेयोन्वेषी च वो हरिः ॥ ४ ॥
बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान्समेष्यति ॥ ५ ॥
तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः ॥ ६ ॥
मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया ।
उपायाद्देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ॥ ७ ॥
अवतीर्य रथात्कृष्णो धर्मराजं यथाविधि ।
ववंदे मुदितो धीमान्भीमं च बलिनां वरम् ॥ ८ ॥
पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः ।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत् ॥ ९ ॥
स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम् ।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिंदमः ॥ १० ॥

लगे । एक दिन एक अर्जुनके प्यारे मित्र ब्राह्मणने कहा, कि हे अर्जुन ! महाबुद्धिमान महाबाहु जितेन्द्रिय श्री कृष्णजी तुम्हारे पास आवेंगे, क्योंकि उन्होंने आपलोगोंके यहां आनेका समाचार सुन लिया है । कृष्ण सदा आपलोगोंके दर्शन और कल्याणको चाहते हैं । वेदपाठ और तपको करनेवाले महातपस्वी चिरकालजीवी मार्कण्डेयभी आप मुनिलोगोंके पास शीघ्रही आवेंगे। (१-५)

जिस समय वह ब्राह्मण ऐसा कह रहा था, उसी समय शैब्य और सुग्रीव घोडोंसे युक्त रथपर बैठे हुए, महारथ कृष्ण दिखायी दिये। जैसे शचीके सहित इन्द्र आते हैं, तैसेही सत्यभामाके सहित देवकीनन्दनभी पाण्डवोंको देखने आये। बुद्धिमान कृष्णने रथसे उतरकर प्रसन्न हो युधिष्ठिर और बलवान भीमसेनको प्रणाम किया । धौम्यकी पूजा की तथा नकुल और सहदेवने कृष्णको प्रणाम किया, कृष्ण अर्जुनसे मिले और द्रौपदीको शान्त किया । (६—९)

दशार्हदेशके स्वामी कृष्णने अपने प्यारे अर्जुनको बहुत दिनपर आया हुआ देख बार बार कण्ठसे लगाया । इसी

तथैव सत्यभामाऽपि द्रौपदीं परिषस्वजे ।
पांडवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११॥
ततस्ते पांडवाः सर्वे सभार्याः सपुरोहिताः ।
आनर्चुः पुंडरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान्धनंजयेनाऽसुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा समेत्य साक्षाद्भगवान्गुहेन ॥ १३ ॥
ततः समस्तानि किरीटमाली वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत्पुनरन्वपृच्छत्कथं सुभद्रा च स चाऽभिमन्युः ॥१४॥
स पूजयित्वा मधुहा यथावत्पार्थं च कृष्णां च पुरोहितं च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन्युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ॥ १५ ॥
धर्मः परः पांडव राज्यलाभात्तस्याऽर्थमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्त्वयाऽयं च परश्च लोकः ॥१६ ॥
अधीतमग्रे चरता व्रतानि सम्यग्धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः ॥१७॥
न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवाऽस्ति कामान्न किंचित्कुरुषे नरेंद्र ।

प्रकार कृष्णकी प्यारी पटराणी सत्यभामाभी पाण्डवोंकी प्यारी पटराणी द्रौपदीसे मिली । तब पाण्डवोंने पुरोहित और स्त्रीके सहित कृष्णकी पूजा की और उनसे कुशल प्रश्न पूछा ! श्रीमान विद्वान् महात्मा कृष्ण अर्जुनसे मिलकर ऐसे शोभित हुए जैसे भगवान शिव साक्षात स्वामिकार्त्तिकसे मिलकर शोभित होते हैं । (१० — १३)

पश्चात् वनका सब वृतान्त श्रीकृष्णसे कहनेके नंतर सुभद्रा और अभिमन्यु कैसे हैं यह वारंवार अर्जुनने पूछा । श्रीकृष्णजीने पाण्डव, द्रौपदी और धौम्य पुरोहितकी पूजा करके महाराज युधिष्ठिरके पास बैठकर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा, हे राजन् ! हे पाण्डव ! राज्य मिलने से उत्तम धर्मही करना उचित है, उसका मूल कारण केवल तपही कहा है । आपने सत्य और सरलतासे इह लोक और परलोकको जीत लिया । १४–१६

आपने सब वेदोंको पढा, सब व्रतोंको किया और धनुर्वेदको विधि पूर्वक समस्त पढा, तथा क्षत्रियोंके धर्मसे धन उपार्जन करके सब बडे बडे यज्ञभी किया । हे नरेन्द्र ! आपकी इच्छा कभी ग्राम्य धर्मोंमें नहीं होती; आप कामके वशमें होकर कोई काम

न चार्थलोभात्प्रजहासि धर्मं तस्मात्प्रभावादसि धर्मराजः ॥ १८॥
दानं च सत्यं च तपश्च राजञ्श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च ।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगानेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते ॥ १९॥
यदा जनौघः कुरुजांगलानां कृष्णां सभायामवशामपश्यत् ।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं सहेत तत्पांडव कस्त्वदन्यः ॥ २० ॥
असंशयं सर्वसमृद्धकामः क्षिप्रं प्रजाः पालयिताऽसि सम्यक् ।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता ॥ २१ ॥
धौम्यं च भीमं च युधिष्ठिरं च यमौ च कृष्णां च दशार्हसिंहः ।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः २२ ॥
प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं दशार्हभर्ता सहितः सुहृद्भिः ।
दिष्ट्या समग्राऽसि धनंजयेन समागतेत्येवमुवाच कृष्णः ॥ २३ ॥
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधानास्तवाऽऽत्मजास्ते शिशवः सुशीलाः ।
सद्भिः सदैवाऽऽचरितं सुहृद्भिश्चरंति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ॥ २४ ॥
सद्भिः सदैवाऽऽचरितं सुहृद्भिश्चरंति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ॥
राज्येन राष्ट्रैश्च निमंत्र्यमाणाः पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च ।

नहीं करते, आप कभी लोभके वशमें होकर धर्मको छोडते नहीं हैं। इसीसे सब मनुष्य आपको धर्मराज कहते हैं। (१७—१८)

हे पार्थ ! हे राजन्! आपकी बुद्धि, दान, सत्य, तप, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा, और धैर्य की ओर अधिक है यद्यपि आपने राष्ट्रको प्राप्त करके धन और भोगोंको प्राप्त किया है। तथापि आपकी इच्छा सदा धर्ममें रहती है। हे पाण्डव ! जिस समय कुरुवंशियोंकी सभामें सब पुरुषोंने द्रौपदीके उस दुःख को देखा, उस अधर्मको आपके सिवाय और कौन क्षमा कर सकता था। आप निस्सन्देह सब समृद्धिको प्राप्त करके शीघ्रही प्रजाको पालन करेंगे। जिस समय आपकी प्रतिज्ञा समाप्त होगी, उसी समय हम सब लोग कौरवोंको जीतनेका यत्न करेंगे। (१९–२१)

दशार्हदेशके स्वामी श्रीकृष्णने धौम्य, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और द्रौपदीसे कहा कि, आपलोगोंकी प्रारब्धहीसे अर्जुन शस्त्र सीख कर आये हैं। दशार्ह देशके स्वामी श्रीकृष्णने बंधुओंके सहित बैठी हुई द्रौपदीसे कहा, कि तुम प्रारब्धहीसे अर्जुनसे मिली हो। हे याज्ञसेनि ! हे कृष्णे ! तुम्हारे सुशील पुत्रोंकी इच्छाभी धनुर्वेद सीखनेमें अधिक रहती है, तुम्हारे पुत्र सदा अपने सज्जन बन्धुओंके आचरणोंको करते हैं। (२२–२४)

न यज्ञसेनस्य न मातुलानां गृहेषु बाला रतिमाप्नुवंति ॥ २५ ॥
आनर्तमेवाऽभिमुखाः शिवेन गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवाऽऽत्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य न दैवतेभ्यः स्पृहयंति कृष्णे ॥ २६ ॥
यथा त्वमेवाऽर्हसि तेषु वृत्तं प्रयोक्तुमार्या च यथैव कुंती ।
तेष्वप्रमादेन तथा करोति तथैव भूयश्च तथा सुभद्रा ॥ २७ ॥
यथाऽनिरुद्धस्य यथाऽभिमन्योर्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः ।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे तवाऽऽत्मजानामपि रौक्मिणेयः ॥२८॥
गदाऽसिचर्मग्रहणेषु शूरानस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग्विनेता विनयेदतंद्रीस्तांश्चाऽभिमन्युः सततं कुमारः ॥२९ ॥
स चापि सम्यक्प्रणिधाय शिक्षां शस्त्राणि चैषां विधिवत्प्रदाय ।
तवात्मजानां च तथाऽभिमन्योः पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः ॥३०॥
यथा विहारं प्रसमीक्षमाणाः प्रयांति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयांति तत्र रथाश्च यानानि च दंतिनश्च ॥ ३१ ॥
अथाऽब्रवीद्धर्मराजं तु कृष्णो दशार्हयोधाः कुकुरांधकाश्च ।

हे द्रौपदी ! वे लोग राज्यसे आमन्त्रित होकर और तुम्हारे पिता और तुम्हारे भाइयोंसे सत्कार पाकरभी अपने मामाके यहां प्रसन्न नहीं हैं । वे धनुर्वेद में प्रीति रखनेके कारण सीधे द्वारिकाकी ओर सुख करके आते हैं और वहां आकर वे देवतोंकी भी इच्छा नहीं करते हैं । हे द्रौपदी ! जैसे तुम उनको मानती हो, तैसे सुभद्राभी मानती है, और जैसे सुभद्रा मानती है,तैसेही कुन्तीभी उनके ऊपर प्रसन्न हैं, जैसे वे प्रसन्न हैं,तैसे ही ये लोग उनके ऊपर कृपाभी करते हैं । प्रद्युम्न जैसे अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानुको शिक्षा देते हैं तेसेही तुम्हारे पुत्रोंकोभी शिक्षा देते हैं । (२५–२८)

तुम्हारे पुत्र गदा खड्ग तथा ढाल धारण करनेमें निपुण हैं, उनको आलस्य रहित कुमार अभिमन्यु रथ और घोडा चलानेकी विद्या सिखावेंगे, प्रद्युम्न भी तुम्हारे पुत्र और अभिमन्युको अच्छी प्रकार शिक्षा देंगे और शस्त्रोंको सिखा कर उनके पराक्रमसे प्रसन्न होंगे। हे याज्ञसेनी ! तुम्हारे पुत्र आनन्दसे सब विहार करनेके लिये जब बारह जाते हैं तब इनके संग कई एक रथ कई एक हाथी और कई एक घोडाभी जाते हैं । (२९—३१)

अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरसे कृष्णने कहा कि हे धर्मराज ! दशार्ह देशके कुमार और कुकुरान्धक वंशी सूरवीर

एते निदेशं तव पालयंतास्तिष्ठंतु यत्रेच्छसि तत्र राजन् ॥ ३२ ॥
आवर्ततां कार्मुकवेगवाना हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवाऽर्थेषु नरेंद्र यत्ता ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा ॥ ३३ ॥
प्रस्थाप्यतां पांडव धार्तराष्ट्रः सुयोधनः पापकृतां वरिष्ठः ।
सानुबंधः ससुहृद्गणश्च सौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम् ॥ ३४ ॥
कामं तथा तिष्ठ नरेंद्र तस्मिन्यथा कृतस्ते समयः सभायाम् ।
दाशार्हयौधैस्तु हतारियोधं प्रतीक्षतां नागपुरं भवंतम् ॥ ३५ ॥
व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम् ।
ततः प्रसिद्धं प्रथमं विशोकः प्रपत्स्यसे नागपुरं सराष्ट्रम् ॥ ३६ ॥
ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन ।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः कृतांजलिः केशवमित्युवाच ॥ ३७ ॥
असंशयं केशव पांडवानां भवान्गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः ।
कालोदये तच्च ततश्च भूयः कर्ता भवान्कर्म न संशयोऽस्ति ॥ ३८॥
यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु ।

क्षत्री लोग केवल आपकी आज्ञाका मार्ग देख रहे हैं; हे राजन्! जहां आपकी आज्ञा हो वहांही ये लोग रहें। हे राजन्! आपके शत्रुओंकी सेना बलरामके धनुषमे छूटे हुए बाणोंसे नष्ट हो। हे नरेन्द्र! मथुराकी सब सेना हाथी, घोडे और रथके सहित जहां आपकी आज्ञा हो वहां रहें; हे धर्मराज! पापियोंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन उसी मार्गको जाय जिसको भूमिका पुत्र और शाल्व गया है। (३२-३४)

हे नरेन्द्र! आपने जो सभामें प्रतिज्ञा की थी, जब तक वह समाप्त न हो तब तक जहां आपकी इच्छा हो रहिये; फिर तो यादवोंके बाणोंसे नष्ट हुए और अपने शत्रुओंसे रहित हस्तिनापुरको देखेंहीगे; हे महाराज! इस समयको क्रोध और पापसे रहित होकर कहीं इच्छानुसार बस कर बिता लीजिये; फिर तो शोक रहित होकर राज्यके सहित प्रसिद्ध हस्तिनापुरको जाइयेहीगा। (३५—३६)

महात्मा कृष्णके ऐसे वचन सुन युधिष्ठिरने उनकी बहुत प्रसंसा की और हाथ जोड कर कहने लगे, कि हे केशव! निस्सन्देह आपही पाण्डवोंकी गति और पाण्डव लोग आपहीके शरण हैं, निस्सन्देह समय आने पर आप इन सब कर्मोंको ऐसेही करेंगे। हम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वनमें बारह वर्ष बिता

अज्ञातचर्यां विधिवत्समाप्य भवद्गताः केशव पांडवेयाः ॥ ३९ ॥
एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां सत्ये स्थिताः केशव पांडवेयाः ।
सदानधर्माः सजनाः सदाराः सर्वांयवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः॥४०॥
वैशम्पायन उवाच—तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत ।
अथ पश्चात्तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ॥ ४१ ॥
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कंडेयो महातपाः ।
अजरश्चाऽमरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः ॥ ४२ ॥
व्यदृश्यत तथायुक्तो यथा स्यात्पंचविंशकः ।
तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ॥ ४३ ॥
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पांडवैः ।
तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम् ॥ ४४ ॥
ब्राह्मणानां मतेनाऽऽह पांडवानां च केशवः ।
कृष्ण उवाच— शुश्रूषवःपांडवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः ॥ ४५ ॥
द्रौपदी सत्यभामा च तथाऽहं परमं वचः ।
पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान्सनातनान्॥ ४६ ॥
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कंडेय विचक्ष्व नः ।

चुके । हे केशव ! अब हम लोग तेरहवें वर्षको विधिपूर्वक छिप कर बितावेंगे फिर पाण्डवोंको आपही शरण हैं । हे कृष्ण!आपकी सदा ऐसीही बुद्धि चाहिये; पाण्डव लोग स्त्री पुत्र और बान्धवोंके सहित दान और धर्मको पालते हैं और सब आपहीके शरण हैं ।(३७—४०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,हे भारत! जिस समय धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णसे ऐसा कह रहे थे, उसी समय कई सहस्र वर्षोंके बूढे हुए, महात्मा,धर्मात्मा, जरा और मरणसे रहित, रूप और उदारता से भरे हुए, महात्मा मार्कण्डेय दिखाई दिये । उस समय उनका स्वरूप ऐसा था, जैसे पचीस वर्षके पुरुषका । उन कई हजार वर्षके बूढे तपस्वीको आये हुए देख सब ब्राह्मण और श्रीकृष्णके सहित पाण्डवोंने उनकी पूजा की। (४१-४४)

अनन्तर जब मुनि पूजा पाकर साव-धान होकर बैठ गये, तब ब्राह्मण और पाण्डवोंकी संमतिसे श्रीकृष्ण बोले, कि हे मुने ! सब पाण्डव, ब्राह्मण,द्रौपदी, सत्यभामा और हम आपके उत्तम वचनोंके सुननेकी इच्छा रखते हैं,हे मार्कण्डेय आप हमसे सदाचार राजा और स्त्रियोंकी तथा मुनियोंकी पवित्र

वैशम्पायन उवाच—तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः ॥ ४७ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा पांडवानवलोककः ।
तमभ्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः ॥ ४८ ॥
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः ।
नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान् ॥ ४९ ॥
मार्कंडेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ।
उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः ॥ ५० ॥
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत्ते पांडवेषु विवक्षितम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कंडेयो महातपाः ॥ ५१ ॥
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति ।
एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पांडवाः सह तैर्द्विजैः ॥ ५२ ॥
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम् ।
वैशम्पायन उवाच—तं विवक्षंतमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम् ॥ ५३ ॥
कथासंजननार्थाय चोदयामास पांडवः ।
भवान्दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ५४ ॥
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः ।

कथाओंको कहिये। (४६–४७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,जिस समय ये सब लोग एक स्थान पर बैठे थे, उसी समय पाण्डवोंको देखनेकी इच्छा से पवित्र देवर्षि नारदभी आपहुंचे। उन महात्माको आते देख पुरुषसिंह बुद्धिमान पाण्डवोंने विधि पूर्वक पाद्य और अर्घसे पूजन की। देवर्षि नारदनेभी उसी क्षणमें मार्कण्डेयसे कहा,आप कुछ कथा कहिये। समयके जाननेवाले नारद प्रसन्न होकर बोले, कि, हे ब्रह्मर्षि ! पाण्डव लोग जो कथा सुनना चाहते हैं सो कथा आप कहिये। (४७–५१)

नारदके ऐसे वचन सुन महामुनि मार्कण्डेय बोले, आप लोग क्षण भर चुप रहिये, इसके पीछे हम बहुत कुछ कहेंगे। महात्मा सनातन मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुन पाण्डव लोग सब ब्राह्मणोंके सहित चुप होकर मार्कण्डेयका मुह ऐसा देखने लगे; जैसे दोपहरके समय सूर्य को देखते हैं। (५१–५३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! कुरुराज युधिष्ठिरने जब देखा, कि अब महामुनि कुछ कहना चाहते हैं, तब हाथ जोड कर कथा पूछने लगे। हे मुने ! आप पुराने देवता, दैत्य, महात्मा मुनि

सेव्यश्चोपासितव्यश्च सतो नः कांक्षितश्चिरम् ॥५५॥
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ।
भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम्॥५६॥
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तान्वृद्धयतः प्रेक्ष्य सर्वशः ।
कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याऽप्यशुभस्य वा ॥ ५७ ॥
सफलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः ।
कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर ॥ ५८ ॥
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथवा पुनः ॥ ५९ ॥
देही च देहं संत्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ॥ ६० ॥
ऐहलौकमेवेह उताहो पारलौकिकम् ।
क्व च कर्माणि तिष्ठंति जंतोः प्रेतस्य भार्गव ॥ ६१ ॥
मार्कंडेय उवाच—त्वयुक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद्वदतां वर ।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि ॥ ६२ ॥
अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।
यथेहाऽमुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६३ ॥
निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ।

और सब राजऋषियोंके चरित्रोंको जानते हैं; हमारे पूजनीय सेवनीय और सदाके प्यारे देवकीनन्दन श्रीकृष्णभी हमलोगों से मिलनेको यहां आगये हैं। (५३-५६)

अपनेको सुखसे भ्रष्ट और धृतराष्ट्रके पुत्रोंको धनवान तथा प्रभुतावान देख-कर मेरी बुद्धि भ्रमती है, हे मुने! अच्छे और बुरे कर्मोंका करनेवाला पुरुष है और वही फलको भोगता है तो ईश्वर किस तरहसे कर्त्ता हुआ? हे ब्रह्म जानने वालोंमें श्रेष्ठ! सुख दुःखरूपी कर्मके फलको जीव इसी जन्ममें भोगता है, वा दूसरे जन्ममें? जीव शरीरको त्याग कर शुभ वा अशुभ कर्मोंको भोगता वा इसी शरीरसे भोगता है? हे भृगुवंशी! सुख और दुःखोंका फल यहां मिलता है वा परलोकमें? और प्राणीके कर्म यहां रहते हैं वा परलोकमें? (५६-६१)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे कहने वालोंमें श्रेष्ठ! तुम्हारा यह प्रश्न संसारकी स्थितिके वास्ते है, तुम तो सब ज्ञानको जानतेही हो; जिस रीतिसे जीव इस लोक और परलोकमें सुखको भोगता है, वह मैं तुमसे कहता हूं, एकाग्र-चित्त

ससर्ज धर्मतंत्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ॥ ६४ ॥
अमोघफलसंकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुसत्तम ॥ ६५ ॥
सर्वे देवैः समायांति स्वच्छंदेन नभस्तलम् ।
ततश्च पुनरायांति सर्वे स्वच्छंदचारिणः ॥ ६६ ॥
स्वच्छन्दमरणाश्चाऽऽसन्नराः स्वच्छन्दचारिणः ।
अल्पबाधा निरातंकाः सिद्धार्था निरुपद्रवाः ॥ ६७ ॥
द्रष्टारो देवसंघानामृषीणां च महात्मनाम् ।
प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दांता विगतमत्सराः ॥ ६८ ॥
आसन्वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिणः ।
ततः कालांतरेऽन्यस्मिन्पृथिवीतलचारिणः ॥ ६९ ॥
कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः ।
लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देहैस्ततो नराः ॥७० ॥
अशुभैःकर्मभिः पापास्तिर्यङ्‍निरयगामिनः ।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ७१ ॥

होकर सुनो। प्रथम उत्पन्न प्रजापतिने जीवोंके शरीर शुद्ध और निर्मल और धर्म करने योग्य बनाये थे; हे कुरुसत्तम! उस समय सब मनुष्यही ऐसे होते थे जिनके संकल्प कभी निष्फल न जाते थे। सत्य बोलने वाले सत्यव्रत तथा ब्रह्म में लीन पुण्यात्मा पुराने मनुष्य होते थे। (६२—६५)

सब मनुष्य देवतोंके संग स्वतंत्र आकाश में विचरते थे, वह लोग स्वतंत्रता से आकाशसे भूमिमें आते थे। उन लोगोंका मरना अपने अधीन था, वे स्वच्छन्दसे विचरते थे। थोडी बाधावाले, रोग रहित और उपद्रव रहित तथा सिद्ध मनोरथ वाले होते थे। देवता और महात्मा मुनियोंके दर्शन करने वाले, सब धर्मोंको प्रत्यक्ष करनेवाले, जितेन्द्रिय, मद मत्सरसे रहित, सहस्र वर्षकी अवस्थावाले, सहस्र पुत्रवाले पुरुष होते थे। (६६—६९)

उसके अनन्तर मनुष्यलोग कालान्तरमें पृथ्वीतलमात्र में विचरनेवाले, तथा काम और क्रोधसे भरकर माया और छलसे जीते हैं, अन्त में लोभ मोहसे पीडित होकर शरीरको छोडते हैं, वे अशुभ और पाप कर्म करनेसे पापयोनियोंमें जन्म लेते हैं, वे लोग संसारमें बार बार दुःख पाते हैं, उनकी

मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ।
सर्वाभिशंकिनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः ॥ ७२ ॥
अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ।
दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ॥ ७३ ॥
भवंत्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः ।
नाथंतः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः ॥ ७४ ॥
जंतोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः ।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क्व तिष्ठति ॥ ७५ ॥
क्वस्थस्तत्समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत् ।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राऽप्यनुनयं शृणु ॥ ७६ ॥
अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत् ॥ ७७ ॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
संभवत्येव युगपद्योनौ नाऽस्त्यंतराऽभवः ॥ ७८ ॥
तत्राऽस्य स्वकृतं कर्म च्छायेवाऽनुगतं सदा ।

बुद्धि संकल्प ज्ञान और शक्ति थोडी होती हैं. वे लोग सबको दुःख देनेवाले और सबसे शंका रखनेवाले होते हैं, वे लोग प्रायः पाप लक्षणयुक्त होते हैं,वेही लोग नीच कुलमें उत्पन्न होते हैं, वेही लोग दुष्टात्मा और दुःखदाई होते हैं और वेही लोग थोडी अवस्था और दुष्टकर्म करनेवाले, उनके फल भोगनेवाले और सब विषयोंकी इच्छावाले होते हैं,वे पापी नास्तिक और अस्थिर मनवाले होते हैं। (६९–७४)

हे कुन्तीनन्दन! “ मरे हुए पुरुष की गति कर्मके अनुसार कैसी होती है? प्राज्ञ और बुद्धि रहित पुरुषके संचित कर्म किसी योनिमें प्राप्त होते हैं, और जीव किसी योनिमें रह कर अपने फलोंको भोगता है,चाहे धर्म हो चाहे अधर्म हो” ऐसा जो आपका प्रश्न है, इस प्रश्नका सिद्धान्त हमसे सुनो। मनुष्यके शरीरको परमेश्वर बनाता है, मनुष्य उसी शरीरसे पाप और धर्मका संचय करता है, जब अवस्थाका अन्त हो जाता है, तब शरीर निर्बल हो जाता है, उस समय जीव इस शरीरको छोड दूसरी योनिमें जन्म लेता है, इस प्रकार जन्म लेते लेते अन्तर नहीं मिलता है; इसी प्रकार यह जीव निरन्तर जन्म लेता है।(७५–७८)

इसका किया हुआ कर्म छायाके

फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाऽथ जायते ॥ ७९ ॥
कृतांतविधिसंयुक्तः स जंतुर्लक्षणैः शुभैः ।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ ८० ॥
एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् ॥ ८१ ॥
मनुष्यास्तप्ततपसः सर्वागमपरायणाः ।
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ ८२ ॥
सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षांता दांताः सुतेजसः ।
शुचियोन्यंतरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः ॥ ८३ ॥
जितेंद्रियत्वाद्वशिनः शुक्लत्वान्मंदरोगिणः ।
अल्पाबाधपरित्रासाद्भवंति निरुपद्रवाः ॥ ८४ ॥
च्यवंतं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वशः ।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यंते ज्ञानचक्षुषा ॥ ८५ ॥
ऋषयस्ते महात्मानः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यांति सुरालयम् ॥ ८६ ॥

समान सङ्ग ही रहता है,चाहे वह पाप-कर्म हो वा पुण्यकर्म उसका फल अवश्य ही होता है। ज्ञानियोंकी दृष्टिसे यह निश्चय है कि प्राणी मरनेके पश्चात् यमके नियमोंसे बंधा जाता है तथा शुभ और अशुभ फलके विषयमें स्वतंत्र नहीं होता।हे युधिष्ठिर!हमने यह मूर्खों-की गति तुमसे कही, अब ज्ञानियोंकी उत्तम गतिको सुनो। (७९-८१)

सब वेदको पढनेवाले मनुष्य, तथा तप करनेवाले, व्रत और गुरुवोंकी पूजा करके और सत्य बोलनेवाले क्षमा, दान और तेजसे भरे हुए मनुष्य दूसरी शुभ योनियोंमें जन्म लेनेसेभी उत्तम लक्षण युक्त होते हैं, वे मनुष्य इन्द्रियोंको अपने बशमें रखते हैं इसलिये स्वतंत्र होते हैं, और शुभ योनिमें जन्म होनेके कारण रोगरहित होते हैं, इससे उनको बाधा और त्रास कम होते हैं, इससे उनको कुछ उपद्रव नहीं होता है, वे लोग अपनी ज्ञान-दृष्टिके द्वारा मरते उत्पन्न होते और किसी योनिमें जन्म लेतेही अपनी आत्माको जान लेते हैं। वे दूसरी आत्माकोभी जान सकते हैं; वे महात्मा ऋषिलोग शास्त्र और बुद्धिसे सब कामको सिद्ध करते हैं, वे लोग इस कर्मभूमिमें जन्म लेकर फिर स्वर्गको जाते हैं। (८२—८६)

किंचिद्दैवाद्धठात्किंचित्किंचिदेव स्वकर्मभिः ।
प्राप्नुवंति नरा राजन्मा तेऽस्त्वन्या विचारणा ॥ ८७ ॥
इमामन्योपमां चापि निबोध वदतां वर ।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर ॥ ८८ ॥
इह चैकस्य नाऽमुत्र नाऽमुत्रैकस्य नो इह ।
इह चाऽमुत्र चैकस्य नाऽमुत्रैकस्य नो इह ॥ ८९ ॥
धनानि येषां विपुलानि संति नित्यं रमंते सुविभूषितांगाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नाऽसौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥ ९० ॥
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयंति देहान् ।
जितेंद्रियाः प्राणिवधे निवृत्तास्तेषामसौ नाऽयमरिघ्न लोकः ॥ ९१ ॥
ये धर्ममेव प्रथमं चरंति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजंते तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ९२ ॥
येषां न विद्या न तपो न दानं न चापि मूढाः प्रजने यतंति ।

हे राजन्! तुमको इसमें कुछ सन्देह न होना चाहिये; यह बात ठीक है, कि कर्मकी फल कुछ प्रारब्ध कुछ हठसे और कुछ अपने कर्मोंसे मिलता है। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ! यहां हम तुमसे एक उपमा कहते हैं उसको सुनो; हे युधिष्ठिर! हम इस मनुष्य लोकहीमें कल्याणको श्रेष्ठ मानते हैं। हे युधिष्ठिर! कोई पुरुष ऐसे होते हैं जिन्हें इस लोकमें सुख होता है, कोई ऐसे होते हैं; जिन्हें परलोकमें सुख होता है, कोई ऐसे होते हैं, जिन्हें दोनोंलोकमें सुख होता है और कोई मनुष्य ऐसेभी होते हैं, जिन्हें किसी लोकमें सुख नहीं होता है। (८७-८९)

हे शत्रुनाशन! देखो जो लोग धनवान हैं, वे अनेक आभूषणों को पहनकर इसलोकमें आनन्द करते हैं, परन्तु इस लोकमें देह सुखमें ही आसक्त होनेके कारण उनको परलोकमें सुख नहीं मिलता और जो लोग तप, योग तथा वेदपाठ करके अपने शरीरको निर्बल कर देते हैं, उनको इसलोकमें कुछ सुख नहीं होता परन्तु परलोकमें सुख मिलता है। जो लोग इसलोकमें पहिले धर्म करते हैं, फिर उसी धर्मसे धन उपार्जन करते हैं, पीछे उसी धनसे पुत्र और स्त्रीके सहित यज्ञादि उत्तम उत्तम कर्म करते हैं, उनको इस लोकमें और परलोकमें दोनों जगह सुख मिलता है। (८९-९२)

जो मूर्खलोग न विद्या पढे न तप करें न दान करें और न सन्तान बढानेका

न चाऽनु गच्छंति सुखान्न भोगांस्तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ९३ ॥
सर्वे भवंतस्त्वतिवीर्यसत्वा दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः ॥ ९४ ॥
कृत्वैव कर्माणि महांति शूरास्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन्प्रेतगणांश्च सर्वान्संतर्पयित्वा विधिना परेण ॥ ९५ ॥
स्वर्गं परं पुण्यकृतां निवासं क्रमेण संप्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद्विशंका तव कौरवेंद्र दृष्ट्वाऽऽत्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम् ॥ ९६ ॥ [७१४७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यकेपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मार्कण्डेयसमागमे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयं महात्मानमूचुः पांडुसुतास्तदा ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ॥ १ ॥
एवमुक्तः स भगवान्मार्कंडेयो महातपाः ।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २ ॥
मार्कण्डेय उवाच— हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः ।
कुमारो रूपसंपन्नो मृगयां व्यचरद्बली ॥ ३ ॥

उपाय करें उन्हें इस लोक और परलोक में कहीं कुछ सुख नहीं मिलता। आप सबलोग महाबलवान दिव्य वीर्ययुक्त और सब शत्रुओंके मारनेवाले हैं। आपलोगोंने देवतोंके कार्योंके निमित्त परलोकसे आकर इसलोकमें अवतार लिया है, और इसलोकमें आकर अनेक विद्याओंको पढा है। हे सूरवीरो! आपलोग इस लोकमें तप, आचार युक्त और विहारशील हो करके विधिपूर्वक देव ऋषि, और पितरोंका तर्पण करते हैं। इसलिये अपने कर्मोंके अनुसार आप सब लोग पुण्यात्माओंके निवासस्थान स्वर्गको जायंगे। हे कौरवेन्द्र! आप अपने सब क्लेशको देखकर कुछ शङ्का मत कीजिये। (९३—९६) [७१४७]

वनपर्वमें एकसौ तिरासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौरासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महात्मा मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुनकर पाण्डवलोग बोले, हमलोग ब्राह्मणोंके महात्म्यको सुनना चाहते हैं, आप कहिये। पाण्डवोंके ऐसे वचन सुन महातपस्वी सब शास्त्रोंके जाननेवाले मार्कण्डेय मुनि कहने लगे। (१—२)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे महाराज! हैहयवंश चलानेवाले शत्रुनाशक रूपवान बलवान परपुरञ्जय नामक

चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
कृष्णाजिनोत्तरासंगं ददर्श मुनिमंतिके ॥ ४ ॥
स तेन निहितोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ।
व्यथितः कर्म तत्कृत्वा शोकोपहतचेतनः ॥ ५ ॥
जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः ।
तेषां च तद्यथावृत्तं कथयामास वै तदा ॥ ६ ॥
तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ॥ ७ ॥
कस्याऽयमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः।
जग्मुश्चाऽरिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याऽऽश्रमसंजसा ॥ ८ ॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम् ।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाऽऽहरत् ॥ ९ ॥
ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः॥ १०॥

राजकुमार शिकार खेलने गये; उस वृक्ष और तिनकेसे भरे जङ्गलमें घूमते हुए राजकुमारने एक कुटीमें बैठे हुए काले हरिनका चमडा ओढे एक मुनिको देखा, राजाने उसे हरिन जानकर मार डाला, पीछे उसके शोकसे राजा बहुत व्याकुल हो गये और अपने कर्मसे बहुत पछताने लगे। (३–५)

कमलनेत्र राज-कुमार वहांसे चलकर विख्यात हैहयवंशी राजोंके पास जाकर पहुंचे और उनसे सब वृत्तान्त कह सुनाया। हे तात! उन्होंनेभी मूल फल खानेवाले मुनिका मरना सुन और कुमारको देख बहुत दुःख किया। वे सब लोग यह कहने लगे, कि यह मुनिपुत्र किसका पुत्र है। ऐसा कह उसके वंशवालोंको चारों ओर ढूंढने लगे, ढूंढते ढूंढते शीघ्रही कश्यपगोत्र अरिष्टनेमी मुनिके आश्रममें पहुंचे। (६—८)

उन सबने महात्मा व्रतधारी अरिष्टनेमी मुनिको प्रणाम किया और उनके पास बैठे; और मुनिनेभी उनकी पूजा करना चाहा परन्तु उन सबने महात्मा से कहा, कि हे महात्मा! हम लोग आपसे पूजा लेने योग्य नहीं हैं, क्योंकि हम लोगोंने एक ब्राह्मणको मार डाला है, यह कर्म हमने अपने कर्मके दोषसे किया है। (९—१०)

तानब्रवीत्स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ।
क्व चाऽसौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम्॥ ११॥
ते तु तत्सर्वमखिलमाख्यायाऽस्मै यथातथम् ।
नाऽपश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ॥ १२ ॥
अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः ।
तानब्रवीत्तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजय ॥ १३ ॥
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः ।
पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ॥ १४ ॥
ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ।
महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ॥ १५ ॥
मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान् ।
किमेतत्तपसो वीर्यं येनाऽयं जीवितः पुनः ॥ १६ ॥
श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत ।
स तानुवाच नाऽस्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ॥ १७ ॥
कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः ।
सत्यमेवाऽभिजानीमो नाऽनृते कुर्महे मनः ।

उन सबके ऐसे वचन सुन मुनिने कहा कि आप लोगोंने कौनसे ब्राह्मणको कहां मारडाला है, आप हमसे यह सब वृत्तांत कहो, फिर हमारे तपका बल देखो । उन सबने सब कथा मुनिसे कह सुनायी, परन्तु उस मरे हुए शरीरको वहां न देखा, तब वे उस मुनिको ढूंढने लगे, परन्तु न पानेसे बहुत लज्जित हुए । अनन्तर वह लोग स्वप्नवत् गत चेतनकी भांति अरिष्टनेमी मुनिके पास आये, तब कश्यपवंशी अरिष्टनेमी मुनि बोले, कि जिस मुनिको तुमने मारा है, वह तप और विद्यासे भरा हुआ हमारा ही पुत्र था, क्या वह यही है ? (११-१४)

हे पृथ्वीनाथ ! उस मरे हुए मनुष्य को उन सब क्षत्रियोंने देख परम आश्चर्य माना और कहनेलगे यह क्या आश्चर्यकी बात है; यह मरा हुआ ब्राह्मण कैसे जी गया ? क्या यह तपका बल है, कि जिससे यह फिर जी गया ? हे ब्राह्मण ! यदि यह कथा हमारे सुननेके योग्य हो तो कहिये, हम सुनना चाहते हैं। १५-१७

मुनि बोले, हे राजन् ! हम लोगोंके ऊपर मृत्युकी सामर्थ्य कभी नहीं चल सकती । हम इसका कारण हेतु और उपयोगसे सहित संक्षेपमें तुमसे कहते हैं,

स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १८ ॥
यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १९ ॥
अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
संभोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २० ॥
शांता दांताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २१ ॥
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ।
एतद्वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः ॥ २२ ॥
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद्भयमस्ति वः ।
एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम् ॥ २३ ॥
स्वदेशमगमन्हृष्टा राजानो भरतर्षभ । ॥ २४ ॥ [७१७१]

इति श्रीमहाभारते०मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्यकथने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४॥

मार्कण्डेय उवाच— भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे ।

हम लोग सदा सत्यहीको अपने चित्तमें रखते हैं। झूठ कभी नहीं बोलते। हम लोग सदा अपनेही धर्मको करते हैं। इस लिये हमको मृत्युका भय नहीं है। जो ब्राह्मणोंके लिये सुखदायक कर्म हैं, हमलोग उसीको कहते हैं; पापकी बात कभी नहीं करते हैं; इसीसे हमको मृत्यु का भय नहीं है। (१८—२०)

हमलोग अन्न और जलसे अतिथियों की पूजा करते हैं; तथा अपने परिवार-वर्गको खूब भोजन कराकर बचे हुए अन्नको खाते हैं, इसीसे हमको मृत्यु का भय नहीं है। हम लोग इन्द्रियोंको वशमें करके क्षमा, दान, शील और तीर्थ सेवन करते हैं, तथा पवित्र और तेजस्वी स्थानोंमें योगसिद्ध महापुरुषोंके संसर्गमें निवास करते हैं, इसीसे हम को मृत्यु का भय नहीं है। हे महात्मा क्षत्रियो! हमने यह सब विधान आप लोगोंसे संक्षेपसे कहा, अब आपलोग मत्सरहीन होके चले जाओ, पापसे कुछ भय मत करो। हे युधिष्ठिर! उन सब राजोंने उन मुनिके वचन सुन 'जो आज्ञा' कह उनकी पूजा की। अनन्तर वे सब प्रसन्न होकर अपने देशमें चले गये। (२१—२४) [७१७१]

वनपर्वमें एकसौ चौरासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ पचासी अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! अब आप हमसे ब्राह्मणों का

वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ॥ १ ॥
तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम्।
भूयोऽर्थं नाऽनुरुध्यत्स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ॥ २ ॥
स विचिंत्य महातेजा वनमेवाऽन्वरोचयत्।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥
प्राप्स्यामः फलमत्यंतं बहुलं निरुपद्रवम्।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥ ४ ॥
तं भार्या प्रत्युवाचाऽथ धर्ममेवाऽनुतन्वती।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ॥ ५ ॥
स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम्।
तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ॥ ६ ॥
भृत्यान्सुतान्संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम्।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥ ७ ॥
अत्रिरुवाच— कथितोऽसौ महाभागे गौतमेन महात्मना।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ॥ ८ ॥
किं त्वास्ति तत्र द्वेष्टारो निवसंति हि मे द्विजाः।

दूसरा महात्म्य सुनो। महाराज वैन्य नामक राजर्षिने जब अश्वमेधके लिये दीक्षा ली थी, तब उनके पास धन लेने की इच्छासे जाना अत्रि मुनि ने सोचा। हमने सुना है, कि मार्गमें चलते उनको यह इच्छा हुई, कि बहुत धन लेना अच्छा नहीं है, क्योंकि धर्मही का नाश धनसे होता है। अतः महा तेजस्वी अत्रिने ऐसा विचारकर वनको जानेकी इच्छा की। फिर अपनी स्त्री और पुत्रों को बुलाकर कहा, कि तुम लोग वन को चलो, वहां चलने से सब उपद्रव रहित और बहुत सुख 'मोक्ष' मिलेगी। (१–४)।

यह सुन उनकी स्त्री धर्मके सहित बोली, कि तुम महात्मा वैन्यके पास जाकर बहुतसा धन मांगो, वह राजर्षि यज्ञ कर रहे हैं, वे तुमको बहुत धन देंगे, धन लाकर नौकर और पुत्रोंको बांट कर फिर जहांको इच्छा हो तहां चले जाना, धर्म जाननेवाले मनु प्रभृति पुरुषोंने इसीको परम धर्म कहा है। (५–७)

अत्रि बोले, हे महाभागे! मुझसे महात्मा गौतमने कहा है, कि राजऋषि वैन्य धर्म और सत्यव्रतमें स्थिर हैं; परंतु

यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ॥ ९ ॥
तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम् ।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम् ॥ १० ॥
गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव ।
गावश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चाऽर्थसंचयम् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा जगामाऽऽशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ॥ १२ ॥
वाक्यैर्मंगलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद्वचः ।

अत्रिरुवाच— राजन्धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ॥ १३ ॥
स्तुवंति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नाऽस्ति धर्मवित् ।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः ॥ १४ ॥

गौतम उवाच — मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेंद्रो वै प्रजापतिः ॥ १५ ॥
अथाऽत्रिरपि राजेंद्र गौतमं प्रत्यभाषत ।
अयमेव विधाता हि यथैवेंद्रः प्रजापतिः ।

वहांके ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मणका द्वेष करते हैं। मैंने जबसे गौतम मुनिके वचन सुने हैं, तभीसे वहां जानेकी इच्छा त्याग दी है, मैं जब वहां जाऊंगा, तो वे सब कल्याण काम अर्थ और धर्मसे भरी हुई मेरी वाणीके उत्तरमें निरर्थक वाणी कहेंगे। हे महाप्राज्ञे ! यदि तुमको यही प्रिय है, तो मैं जाऊंगा। राजा वैन्य मुझको बहुत दान और गौ देंगे। ८-११

महा तपस्वी अत्रि अपनी स्त्रीसे ऐसा कह कर राजा वैन्यकी यज्ञको चले, वहां जाकर राजा वैन्यकी स्तुति करने लगे। अपने कुशल भरे वचनोंसे राजाकी पूजा करते अत्रि मुनि बोले, हे राजन् ! तुम धन्य हो, तुम जगतके स्वामी हो। तुम भूमिमें आदि राजा हो, मुनि लोग तुम्हारी स्तुति करते हैं, तुम्हारे सिवाय और कोई मनुष्य धर्मको नहीं जानता है। (१२-१४)

उनके वचन सुनकर महा तपस्वी गौतम क्रोध करके बोले, हे अत्रि ! तुम ऐसे वचन कभी नहीं कहना, हमारे आदिराजा इन्द्र हैं, वेही प्रजापति हैं और वेही आदि राजा हैं। जान पडता है, कि तुमको बुद्धि नहीं है, इसीसे तुम ऐसा कहते हो। हे युधिष्ठिर ! गौतम ऋषिके वचन सुन अत्रि कहने लगे, कि हमने जो कहा सो सत्य कहा, जैसे इन्द्र

त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवाऽस्ति ह ॥ १६ ॥

गौतम उवाच— जानामि नाऽहं मुह्यामि त्वमेवाऽत्र विमुह्यसे ।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि ॥ १७ ॥
न वेत्थ परमं धर्मं न चाऽवैषि प्रयोजनम् ।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥ १८ ॥
विवदंतौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छंत कथं त्विमौ ॥ १९ ॥
प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि ।
उच्चैः समभिभाषंतौ केन कार्येण धिष्ठितौ ॥ २० ॥
ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ॥ २१ ॥
अथाऽब्रवीत्सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान् ।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ॥ २२ ॥
वैन्यं विधातेत्याहाऽत्रिरत्र नौ संशयो महान् ।
श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन्द्रुतम् ॥ २३ ॥

राजा हैं, तैसे येभी हैं, तुमही भ्रममें पडकर भूलते हो। हम जानते हैं, कि तुमको ज्ञान बुद्धि कुछ नहीं है। (१६-१७)

गौतम बोले, हे अत्रि! हम सब जानते हैं, तुमही भूलते हो, तुम इस सभामें बैठकर राजाको प्रसन्न करनेको स्तुति करते हो, तुम परम धर्मको नहीं जानते हो, और प्रयोजन को नहीं समझते हो। तुम मूर्ख और बालक हो, तुमको कोई किस कारणसे बडा कह सकता है? (१८—१९)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, जिस समय सब मुनियोंके आगे ये दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उसी समय यज्ञमें बैठे हुए सब मुनिलोग कहने लगे, कि ये लोग किस लिये विवाद कर रहे हैं? इन दोनोंको किसने सभामें आने दिया? ये यज्ञके किस अधिकारमें नियुक्त हैं? ये लोग ऊंचे शब्दसे क्यों बोल रहे हैं? तब सब धर्मके जाननेवाले काश्यप कहने लगे, कि तुम दोनों जिस प्रयोजनके लिये विवाद करते हो, सो हमसे कहो। (२०—२१)

तब सभामें बैठे हुए सब मुनियोंसे गौतम बोले, कि हे ब्राह्मणो! हम दोनों तुमसे प्रश्न करते हैं, तुम सुनो। अत्रि कहते हैं, कि राजा वैन्य ब्रह्मा हैं, मुझको इसमें बहुत सन्देह है। उनके वचन

सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ।
स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः ।
प्रत्युवाचाऽथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥ २४ ॥
सनत्कुमार उवाच—ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
संयुक्तौ दहतः शत्रून्वनानीवाऽग्निमारुतौ ॥ २५ ॥
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च ।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ॥ २६ ॥
प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नाऽर्चितुमर्हति ॥ २७ ॥
पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः ।
स्वर्णेता सहाजिद्बभ्रुरिति राजाऽभिधीयते ॥ २८ ॥
सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः ।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥ २९ ॥
आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा ।
तथैव भूपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ॥ ३० ॥

सुन महात्मा मुनिलोग शीघ्रही वहांसे चले और संशय निवृत्तिके लिये धर्मके जाननेवाले सनत्कुमार मुनिके पास पहुंचे और अपनी सब कथा कह सुनाई, महात्मा सनत्कुमारने उनके वचन सुन धर्म और अर्थके सहित उत्तर दिया । (२२—२४)

सनत्कुमार बोले, जैसे अग्नि और वायु मिलकर वनको भस्म कर देते हैं; तैसेही ब्राह्मण और क्षत्री मिलकर शत्रुओंका नाश करते हैं । राजाही धर्म और प्रजापति है यह प्रसिद्ध है, राजाहीको इन्द्र, शुक्र, धाता और बृहस्पति कहते हैं; जो क्षत्री राजा जगतका पालक है, उसको प्रजापति और जो सबपर अधिकार चलाता है उसको सम्राट् कहते हैं । जो इन सब शब्दोंसे राजाकी स्तुति करता है उसकी कोई निन्दा नहीं करता है । पहले समयमें राजालोग धर्मके उत्पत्ति-स्थान, युद्ध जीतनेवाले, प्रसन्न, शीघ्र स्वर्ग देनेवाले, शीघ्र विजय करनेवाले और विष्णुके नामसे प्रसिद्ध थे । राजा सत्यके उत्पत्ति स्थान, पहली बातोंको जाननेवाले, सत्य और धर्मके प्रवर्तक राजाको अधर्मसे डरे हुए, मुनियोंने धर्मका रक्षक बनाया है; जैसे सूर्य अपने तेजसे अन्धकारको नाश करता है, तैसेही राजाभी अपने

ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात् ।
उत्तरः सिद्ध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥ ३१ ॥
मार्कण्डेय उवाच– तत स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः ।
तमत्रिमब्रवीत्प्रीतः पूर्वं येनाऽभिसंस्तुतः ॥ ३२ ॥
यस्मात्पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाऽब्रवीः ।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे संमितं श्रेष्ठमेव च ॥ ३३ ॥
तस्मात्तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च ।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ॥ ३४ ॥
दशकोटीर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश ।
एतद्ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ॥ ३५ ॥
तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याऽभिसत्कृतः ।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥ ३६ ॥
प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।
तपः समभिसंधाय वनमेवाऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥ [७२०८]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये पंचाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५॥

मार्कण्डेय उवाच– अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय ।

तेजसे अधर्मका नाश करता है। २९–३०

शास्त्र देखनेसे भी ऐसाही जान पडता है, कि राजा सबसे प्रधान है और राजा ऐसा शब्द कहनेसेभी राजाही प्रधान जान पडता है। मार्कण्डेय मुनि बोले, हे युधिष्ठिर! उत्तर सिद्धपक्ष सुनकर राजा वैन्य बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर उन्होंने अत्रिसे कहा, कि हे विप्रश्रेष्ठ! मुनिने मुझे सर्वदेवसम्मित और मनुष्यों में श्रेष्ठ कहा, इसलिये हम तुमको उत्तम धन देते हैं। हम तुमको उत्तम वस्त्र और आभूषण धारण किये एक सहस्र श्यामा दासी देते हैं, दस करोड सोनेकी मुद्रा और दसभार सोना देते हैं, हे मुने! हम सत्य कहते हैं तुम सर्वज्ञ हैं। (३१––३५)

महाऋषि अत्रिनेभी उस सब धनको न्याय पूर्वक ग्रहण किया। फिर महातपस्वी तेजस्वी अत्रि अपने घरको चले गये। वहां जाकर महात्मा अत्रिने अपने घरपर जाकर वह सब धन पुत्रोंको बांट दिया, फिर तप करनेकी इच्छासे वनको चले गये। (३६-३७)

वनपर्वमें एकसौ पचासी अध्याय समाप्त [७२०८]

वनपर्वमें एकसौ छियासी अध्याय।

श्रीमार्कण्डेयमुनि बोले, हे शत्रु-

पृष्टया मुनिना वीर श्रृणु तार्क्ष्येण धीमता ॥ १ ॥
तार्क्ष्य उवाच-किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे कथं कुर्वन्न च्यवते स्वधर्मात् ।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥ २ ॥
कथं वाऽग्निं जुहुयां पूजये वा कस्मिन्काले केन धर्मो न नश्येत् ।
एतत्सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि यथा लोकान्विरजाः संचरेयम् ॥ ३ ॥
मार्कण्डेय उवाच-एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
तार्क्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४ ॥
सरस्वत्युवाच- यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।
स वै पारं देवलोकस्य गंता सहामरैः प्राप्नुयात्प्रीतियोगम् ॥ ५ ॥
तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः ।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः ॥ ६ ॥
तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो न हीयमानाः पृथगप्सरोभिः ।
सुपुण्यगंधाभिरलंकृताभिर्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥ ७ ॥

शन युधिष्ठिर ! इसी ब्राह्मण महात्म्यके विषयमें बुद्धिमान तार्क्ष्यने सरस्वतीसे प्रश्न किया था । उस प्रश्नका सरस्वतीने जो उत्तर दिया, सो हम आपसे कहते हैं । (१)

तार्क्ष्य बोले, हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! ऐसा कौन कल्याणदायक कर्म है; जिसके करनेसे मनुष्य अपने धर्मसे नष्ट न हो, तुम हमारे इस प्रश्नका उत्तर दो, जिससे हमारा धर्म नष्ट न हो । हे सुभगे ! कौनसे समयमें और किस प्रकारसे अग्नि-होत्र करना चाहिये, कौन कर्म करनेसे मेरा धर्म नष्ट न हो, तुम हमसे उस कर्मको कहो जिसके करनेसे हम रजोगुणरहित होकर सुखसे लोकोंमें घूम सकें । (२—३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, जब तार्क्ष्य मुनिने प्रेम सहित सरस्वतीसे प्रश्न किया, तब उत्तमबुद्धियुक्त धार्मिक तार्क्ष्य मुनिसे सरस्वती कहने लगीं । (४)

सरस्वती बोलीं, जो मनुष्य पवित्र और सावधान होकर वेद पढता है तथा ब्रह्मको जानता है, वही दिव्य स्वर्गको जाता है और देवतोंके सहित आनन्द करता है । उस स्वर्गलोकमें रमणीय सुन्दर बडी बडी पवित्र जलसे भरी हुई पोखर हैं, जिनको देखतेही सब शोक नष्ट हो जाते हैं, जिसमें कुछभी कीचड नहीं है, जहां सोनेके बने अनेक कमल विराजमान हैं, जिन पोखरोंमें उत्तम मत्स्य विहार कर रहे हैं, उन्ही पोखरोंके तटपर धर्मात्मालोग उत्तम सुगन्ध और

परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवंति दत्वाऽनडुहं सूर्यलोकं व्रजन्ति ।
वासो दत्वा चान्द्रमसं तु लोकं दत्वा हिरण्यममरत्वमेति ॥ ८ ॥
धेनुं दत्वा सुप्रभां सुप्रदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावंति रोमाणि भवंति तस्यास्तावद्वर्षाण्याप्नुते देवलोके ॥ ९ ॥
अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति हलस्य वोढारमनंतवीर्यम् ।
धुरंधरं बलवन्तं युवानं प्राप्नोति लोकान्दशधेनुदस्य ॥ १० ॥
ददाति यो वै कपिलां सचैलां कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहाऽथ भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः॥ ११ ॥
यावंति रोमाणि भवंति धेन्वास्तावत्फलं भवति गोप्रदाने ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र ॥ १२ ॥
सदक्षिणां कांचनचारुशृंगीं कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवंति ॥ १३॥
स्वकर्मभिर्दानवसंञ्निरुद्धे तीव्रांधकारे नरके संपतंतम् ।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥ १४ ॥

अनेक आभूषण धारण किये, सोनेके समान रङ्गवाली अनेक अप्सराओंके सङ्ग विहार करते हैं। (५—७)

जो पुरुष गोदान करते हैं, सो उत्तम लोकको जाते हैं। बैल दान करनेसे सूर्यलोक, वस्त्रदान करने से चन्द्रलोक और सोना देनेसे देवलोक प्राप्त होता है। जो पुरुष सुन्दर रङ्गवाले बछडे और दूधके सहित उत्तम गौ दान देता है, उस गौके जितने रोम रहते हैं, उतने वर्ष देवलोकमें रहता है। जो पुरुष हलमें चलने योग्य बहुत बलवान धुर में जुडने योग्य नवीन बैलका दान करता है, उसे दस गौ दानका फल मिलता है। (८—१०)

जो पुरुष कांसेकी दोहनी द्रव्य और वस्त्रके सहित कपिला गौ दान करता है, उसको वही गौ उन्ही गुणोंके सहित कामना सिद्ध करनेवाली होकर मिलती है। जितने गौके रोवें हैं, गौ दान देनेवाले पुरुषको उतनेही फल मिलते हैं। जो पुरुष गौदान करता है, उसके पुत्र पौत्र और सप्त कुलका उद्धार हो जाता है। जो दक्षिणा कांसेकी दोहनी धन और वस्त्रके सहित सोनेके बनवा कर तिलकी गौदान करता है उसको सुखसे वसु लोक मिलता है। (११—१३)

हे राजन् ! जो पुरुष गौदान करता है, उसको वह गौ दानवोंसे घिरे हुए घोर अन्धकारसे भरे नरक रूपी महा

यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ १५ ॥
यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य हव्यं त्वग्नौ नियतः साधुशीलः ।
सप्तावरान्सप्त पूर्वान्पुनाति पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः ॥ १६ ॥
तार्क्ष्य उवाच—किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणमाचक्ष्व मे पृच्छतश्चाऽनुरूपे।
त्वयाऽनुशिष्टोऽहमिहाऽद्य विद्यां यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम्॥ १७ ॥
सरस्वत्युवाच–न वाऽशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणिर्नाऽब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपाश्चित् ।
बुभुत्सवः शुचिकामा हि देवा नाऽश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषंति॥ १८ ॥
नाऽश्रोत्रियं देवहव्ये नियुंज्यान्मोघं पुरा सिंचति तादृशो हि ।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य न वै तादृग्जुहुयादग्निहोत्रम् ॥ १९ ॥
कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्दधानाः सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं पश्यंति देवं परमं चापि सत्यम्॥ २० ॥
तार्क्ष्य उवाच--क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे कर्मोदये बुद्धिमति प्रविष्टाम् ।

समुद्रसे नौका बन कर उद्धार करती है। जो पुरुष ब्राह्मणको कन्या दान करता है वा पृथ्वीदान करता है , अथवा और भी विधियुक्त अनेक प्रकारके दान करता है, उसे सुखसे इन्द्रलोक प्राप्त होता है । जो शीलवान पुरुष नियमपूर्वक सात वर्ष अग्नि-होत्र करता है, वह सात अगले और सात पिछले पुरुषोंका उद्धार करता है । (१४—१६)

तार्क्ष्य मुनि बोले, हे सरस्वती ! अग्नि-होत्रका सनातन नियम क्या है ? कहो,हम इस विद्याको तुमसे पढकर प्राचीन अग्निहोत्र व्रतको धारण करेंगे। १७

सरस्वती बोलीं, अपवित्र, अवेदज्ञानी और मूर्खको अग्निहोत्र न करना चाहिये, क्योंकि देव पवित्रताको चाहते हैं, वे अपवित्र और अश्रद्धा-वालेसे दी हुई आहुतिको नहीं ग्रहण करते । अग्निहोत्र करनेवालेको उचित है, कि अश्रोत्रिय से अग्निहोत्र कर्म न करावे, क्योंकि यह कर्म व्यर्थ होता है । हे कश्यपमुनि! जिस ब्राह्मणका कुल और शील कुछ नहीं जाना जाता है, उसे भी अश्रोत्रिय कहते हैं इस लिये उससे यज्ञ न करावे; जो हर्षरहित लोग श्रद्धा और सत्यव्रतके सहित अग्निहोत्र कर्म करते हैं, तथा उसीसे बचे हुए अन्नको खाते हैं, उनको उत्तम सुगन्धयुक्त गोलोक और देवलोक प्राप्त होता है और परम सत्य देवको भी देखते हैं। (१८—२०)

तार्क्ष्य बोले, हे दिव्यरूपिणी ! हम अपनी बुद्धिको स्थिर करके तुमसे

प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ॥ २१॥
सरस्वत्युवाच—अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।
त्वत्संयोगादहमेतदब्रुवं भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥ २२ ॥
तार्क्ष्य उवाच—न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।
रूपं च ते दिव्यमनंतकांति प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि ॥ २३ ॥
सरस्वत्युवाच—श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयंति ।
तैरेव चाहं संप्रवृद्धा भवामि चाप्यायिता रूपवती च विप्र ॥ २४ ॥
यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च तवैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥ २५ ॥
तार्क्ष्य उवाच—इदं श्रेयः परमं मन्यमाना व्यायच्छंते मुनयः संप्रतीताः ।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं मोक्षं परं यं प्रविशंति धीराः ।
सांख्या योगाः परमं यं विदंति परं पुराणं तमहं न वेद्मि ॥ २६ ॥
सरस्वत्युवाच—तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम् ।

पूछते हैं कि तुम कौन हो ? तुम हमको बुद्धिमें प्रविष्ट ब्रह्मरूपिणी और देवी जान पडती हो । सरस्वती बोलीं, हे कश्यप ! मैं ब्राह्मणोंके अग्निहोत्र आदि सत्यकर्मसे प्रकट परापर विद्यारूपा सरस्वती हूं, तुम्हारे सन्देह नाश करनेको आई हूं, मैं यहां जो तुमसे कहती हूं सो सब सत्य है । (२१—२२)

तार्क्ष्य बोले, हमने तुम्हारे समान कोई तेजस्वी स्त्री नहीं देखी! तुम साक्षात लक्ष्मीके समान हो । हे सुभगे ! तुम्हारा रूप और शोभा दिव्य है और तुम्हरी दैवी बुद्धि है । (२३)

सरस्वती बोलीं, हे मनुष्यश्रेष्ठ विद्वान विप्र ! यज्ञमें इन सब वनस्पतिमय, लौह मय और पार्थिव वस्तुओंका उपयोग होता है और ऋत्विक लोग जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु उत्पादित करते हैं, मैं उसीसे संवर्द्धित आप्यायित तथा रूपवती होती हूं । तुमने जो मुझे प्रज्ञावती तथा मेरा दिव्यरूप दर्शन किया, उससे बोध होता है, कि तुम्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त हुई है । (२४—२५)

तार्क्ष्य बोले, धीर मुनि लोग सम्यक विश्वासी होकर जिसे परम श्रेय विवेचना कर इन्द्रियनिग्रहादि करके जिसमें प्रवेश करते हैं, आप उस शोकातीत परमश्रेष्ठ पदार्थ मोक्ष स्वरूपका मेरे निकट वर्णन करिये । ज्ञानी लोग जिसे पुरातन परम पदार्थको श्रेष्ठ जानते हैं, मैं उसे नहीं जानता । (२६)

सरस्वती बोलीं स्वाध्यायशील वेद

स्वाध्यायवंतो व्रतपुण्ययोगैस्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः॥ २७ ॥
तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगंधः सहस्रशाखो विपुलो विभाति ।
तस्य मूलात्सरितः प्रस्रवंति मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः ॥ २८ ॥
शाखां शाखां महानद्यः संयांति सिकताशयाः ।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥ २९ ॥
यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेंद्राः सह मरुद्गणाः ।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत्पदं परमं मम ॥ ३० ॥ [७२३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः स पांडवो विप्रं मार्कंडेयमुवाच ह ।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ १ ॥
मार्कंडेय उवाच—विवस्वतः सुतो राजन्महर्षिः सुप्रतापवान् ।

जाननेवाले लोग तपोधन स्वाध्याय और व्रत पुण्ययोगसे जिसे प्राप्त होकर शोक रहित और विमुक्त होते हैं, वही परसे भी परतर प्रसिद्ध पुरातन परब्रह्म है। उस परब्रह्ममें भोगस्थानरूप अनन्त शाखायुक्त शब्दादि विषयरूप पुण्यगन्धमय अपरिच्छिन्न वेतसवृक्ष प्रकाशित है। उसके अविद्यारूप मूलसे भोगवासनारूपी निरन्तर प्रवाहवती नदियां उत्पन्न होती हैं। वे स्वयंरमणीय पुण्यगन्धा नदियां मधुकी भांति मधुर और जलकी तरह तृप्तिकर भोगज सुखोंको प्रस्रवण करती हैं। भूने जौकी तरह अंकुर-उत्पादन-शक्तिहीन, पिष्टककी भांति अनेक छिद्र युक्त, मांसवत् हिंसालभ्य, शाककी भांति अल्पसार, पायसकी तरह मुखरोचक तथा पाकमें गुरुतर और कीचडकी भांति चित्तको मलिन करनेवाली जो वारूकी तरह परस्पर असंश्लिष्ट पुत्र वित्तादि वासनारूपी महानदियां हैं, वे विविध विषय भोगस्थान स्वरूप उक्त वेतसवृक्षकी शाखा शाखामें प्रवाहित हुआ करती हैं। इन्द्र अग्नि और मरुतगण जिसकी प्राप्तिके लिये यज्ञसे यजन करते हैं, वह परब्रह्मही मेरा प्राप्य स्थान है; मैं विद्या रूपी सरस्वती हूं। (२७-३०) [७२३८]

वनपर्वमें एकसौ छियासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ सतासी अध्याय

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! तब महाराज युधिष्ठिरने मार्कण्डेय ऋषिसे कहा, कि आप हमसे वैवस्वतमनुका चरित्र कहिये । (१)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! हे नर शार्दूल ! सूर्यके पुत्र महाऋषि

बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २ ॥
ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां स नराधिप ।
एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत्तपः ॥ ४ ॥
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ ५ ॥
तं कदाचित्तपस्यंतमार्द्रचीरजटाधरम् ।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
भगवन्क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भयो भयं मम ।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥ ७ ॥
दुर्बलं बलवंतो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः ।
आस्वदंति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी ॥ ८ ॥
तस्माद्भयौघान्महतो मज्जंतं मां विशेषतः ।
त्रातुमर्हसि कर्ताऽस्मि कृते प्रतिकृतं तव ॥ ९ ॥
स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाऽभिपरिप्लुतः ।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात्तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ॥ १० ॥

महाप्रतापवान और प्रजापतिके समान तेजस्वी मनु हुए और वे तेज, बल, लक्ष्मी और तपसे सूर्य और ब्रह्मासेभी अधिक हो गये । हे पृथ्वीनाथ ! उन्हों ने बदरिकाश्रममें जाकर ऊर्ध्वबाहु हो एक चरणसे खडे होकर घोर तप किया, उन्होंने दश सहस्र वर्ष तक अपनी जिह्वा शिर और नेत्रोंको स्थिर करके घोर तप किया। (१–५)

एक दिन चीरिणी नदी के तीरपर भीगे वस्त्र और जटाधारी मनुके पास जाकर एक मत्स्य बोला, हे भगवन् ! मैं बहुत छोटा मत्स्य हूं, इससे मुझे बडे मत्स्योंसे बहुत डर लगता है। हे सुव्रत! तुम उन सब मत्स्योंसे हमारी रक्षा करो, हमको उन मत्स्योंसे जीना बहुत दुर्लभ है और हमारी यह सदाकी वृत्ति है, कि एक बलवान् मत्स्य दूसरे दुर्बल मत्स्य को खा जाता है, इस लिये तुम हमको इस घोर दुःखसे छुडाओ, मैंभी इस उपकारका बदला तुमको दूंगा। (६–९)

मनु उसके वचन सुन कृपासे-पूर्ण हो गये और उसको अपने हाथसे पकड लिया, तब मनुने उसको एक चन्द्रमा

उदकांतमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।
अलिंजरे प्राक्षिपत्तं चंद्रांशुसदृशप्रभे ॥ ११ ॥
स तत्र ववृधे राजन्मत्स्यः परमसत्कृतः ।
पुत्रवत्स्वीकरोत्तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ॥ १२ ॥
अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।
अलिंजरे यथा चैव नाऽसौ समभवत्किल ॥ १३ ॥
अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाऽभ्यभाषत ।
भगवन्साधु मेऽद्याऽन्यत्स्थानं संप्रतिपादय ॥ १४ ॥
उद्धृत्याऽलिंजरात्तस्मात्ततः स भगवान्मनुः ।
तं मत्स्यमनयद्वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥ १५ ॥
तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय ।
अथाऽवर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान्बहून् ॥ १६ ॥
द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नाऽसौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचनः॥ १७ ॥
विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशांपते ।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाऽभ्यभाषत ॥ १८ ॥
नय मां भगवन्साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।
गंगां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥ १९ ॥

के किरणके समान निर्मल पानीसे भरे हुए पात्रमें छोड दिया। हे राजन्! वह मत्स्य मनुके स्नेहसे सत्कृत होकर उसी पात्रमें बढने लगा। मनुभी उसको अपने पुत्रके समान पालने लगे। कुछकाल में वह मत्स्य बहुत बडा हो गया और उस बरतनमें उसका शरीर न समाया। तब वह बोला, कि हे भगवन्! आप मेरे लिये कोई दूसरा स्थान बताइये। (१०—१४)

भगवान् मनुने उस मत्स्यको उस बरतनसे उठाकर एक बडी भारी बावडी में डाल दिया। हे शत्रु नाशन! बहुत वर्ष बीतनेसे वह मत्स्य वहांभी बहुत बढ गया। हे कमलनेत्र! वह बावडी आठ कोस लम्बी चार कोस चौडी थी; परन्तु वह मत्स्य इतना बढा कि उसमें भी चल फिर न सका। हे प्रजानाथ! उसने एक दिन मनुसे फिर कहा, कि हे पिता! हे तात! हे भगवन्! अब तुम मुझको समुद्रकी प्यारी स्त्री गङ्गामें डाल दो अथवा और आपको जैसी

निर्देशो हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयाऽनघ ॥ २० ॥
एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद्भगवान्वशी ।
नदीं गंगां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥ २१ ॥
स तत्र ववृधे मत्स्यः किंचित्कालमरिंदम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
गंगायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ॥ २३ ॥
उद्धृत्य गंगासलिलात्ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत्पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥ २४ ॥
सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।
आसीद्यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखस्य वै ॥ २५ ॥
यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाऽब्रवीत् ॥ २६ ॥
भगवन्हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालं तु यत्कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥ २७ ॥
अचिराद्भगवन्भौममिदं स्थावरजंगमम् ।

इच्छा हो, वह कीजिये । हे पापरहित ! मैं छल और कपटको छोड कर आपही की आज्ञा में रहना चाहता हूं, क्योंकि मैं आपहीके कारणसे इतना बडा हुआ हूं । (१५-२०)

भगवान इन्द्रियजित मुनिने मत्स्यके वचन सुन मत्स्यको गङ्गामें डाल दिया। हे शत्रु नाशन ! वह गङ्गामेंभी बढने लगा तब उसने एक दिन फिर मनुसे कहा, कि हे नाथ ! हे भगवन् ! मैं गङ्गामें चल फिर नहीं सकता हूं, इस लिये आप प्रसन्न होकर हमको समुद्रमें छोड दिजिये । तब मनुने उसको गङ्गा से उठाकर समुद्रमें छोड दिया । हे कुन्तीनन्दन! जिस समय मनु उस मत्स्य को लेकर समुद्रको चले । तब वह महान होनेपर भी सुखसे लेने योग्य हुआ । उसके सुगन्ध भरे वायुसे मनु बहुत प्रसन्न हुआ । (२१-२५)

जब मनुने उसे समुद्रमें डाला, तब वह हंस कर बोला, कि हे भगवन् ! आपने हमारी समयके अनुसार रक्षा की है इस लिये आपको जो काम करने हैं, सो हम कहते हैं सुनिये । हे भगवन् !

सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥ २८ ॥
संप्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात्त्वां बोधयाम्यद्य यत्ते हितमनुत्तमम् ॥ २९ ॥
त्रसानां स्थावराणां च यच्चेंगं यच्च नेंगति ।
तस्य सर्वस्य संप्राप्तः कालः परमदारुणः ॥ ३० ॥
नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ॥ ३१ ॥
बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।
तस्यामारोहयेर्नावि सुसंगुप्तानि भागशः ॥ ३२ ॥
नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृंगी विज्ञेयस्तेन तापस ॥ ३३ ॥
एवमेतत्त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम् ।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्तुं मया विना ॥ ३४ ॥
नाऽभिशंक्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो ।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ॥ ३५ ॥
जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।

हे महाभाग ! थोडेही दिनमें इस सब चर और अचर जगतकी प्रलय होगी, यह समय सब लोगोंके नष्ट होनेका आया है,इस लिये हम आपको हितकी बात सुनाते हैं । (२६–२९)

यह समय स्थावर और जङ्गमके नाश करनेका आया है, इसलिये आप एक नाव बनाइये और उसमें दृढ रस्सी बान्धिये । हे महामुने! जब प्रलयका समय आवेगा, तब आप सप्तऋषियोंके सहित उसी नावमें चढियेगा और उसी नावमें सब जगतके वस्तुओंके बीजोंको रक्षा पूर्वक क्रमसे रख लीजियेगा । हे मुनिजनप्रिय ! हे तापस ! आप उस नावमें बैठ कर हमारा मार्ग देखना । तब हम आवेंगे, आप हमारे सिर पर सींग देख कर हमको पहचान लेना । हे मुने ! हमने आपसे सब कह दिया । अब हम जाते हैं, आप बिना मेरी सहायता उस घोर जलको तैर नहीं सकते हैं; हे विभो ! आप मेरे वचनमें शङ्का मत कीजियेगा । (३०—३५)

मत्स्यके वचन सुन मनुने कहा, कि हम ऐसाही करेंगे । अनन्तर वे दोनों परस्पर आज्ञा लेकर इच्छानुसार चले गये । हे महाराज ! उनके पश्चात् मनुने

ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ॥ ३६ ॥
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिंदम ॥ ३७ ॥
चिंतयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते ।
स च तच्चिंतितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरंजय ॥ ३८ ॥
शृंगी तत्राऽऽजगामाऽऽशु तदा भरतसत्तम ।
तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे ॥ ३९ ॥
शृंगिणं तं यथोक्तेन रूपेणाऽद्रिमिवोच्छ्रितम् ।
वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि ॥ ४० ॥
मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन्शृंगे न्यवेशयत् ।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरंजय ॥ ४१ ॥
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणांभसि ।
स च तांस्तारयन्नावा समुद्रं मनुजेश्वर ॥ ४२ ॥
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवांऽभसा ।
क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन्महोदधौ ॥४३॥
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरंजय ।
नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ॥ ४४ ॥

उसके कहनेके अनुसार सब जगतकी वस्तुमात्रके बीज इकट्ठा किया । फिर एक सुन्दर नावमें बैठ कर घोर तरङ्ग-वाले समुद्रमें तरने लगे । अनन्तर मनुने उस मत्स्यका ध्यान किया । मनुके ध्यान करतेही वह मत्स्य एक सींग धारण करके मनुके पास पहुंचा । ३५-३९

हे भरतसत्तम ! हे प्रजानाथ ! हे शत्रुनाशन ! हे पुरुषव्याघ्र ! उस महासमुद्रमें उस सींगवाले मत्स्यको मनुने पर्वत के समान शरीर धारण किये हुए देखा। तब मनुने उस रस्सीको मत्स्यके सींगमें बांध दिया । हे पुरुषशार्दूल ! जब मनुने उसके सींगमें वह रस्सी बांधी, तब वह वेगसे उस नावको समुद्रमें खींचने लगा। हे नरनाथ ! मत्स्यके खींचनेसे वह समुद्रमें तैरने लगी । उस समय वह नाव समुद्रकी तरङ्गसे नाचने लगी और उसके शब्दसे शब्द करने लगी । वह वायुके वेगसे समुद्रमें चपला स्त्रीकी भांति घूमने लगी । हे शत्रु नाशन ! उस समय नावकी ऐसी दशा हुई, जैसे चपला स्त्री नाचती है । (३९-४३)

उस समय दिशा और पृथ्वी कुछ

सर्वमांभसमेवाऽऽसीत्त्वं द्यौश्च नरपुंगव ।
एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
अदृश्यंत सप्तर्षयो मनुर्मत्स्यस्तथैव च ।
एवं बहून्वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ॥ ४६ ॥
चकर्षाऽतन्द्रितो राजंस्तस्मिन्सलिलसंचये ।
ततो हिमवतः शृंगं यत्परं भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
तत्राऽऽकर्षत्ततो नावं स मत्स्यः कुरुनंदन ।
अथाऽब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन्प्रहसञ्शनैः ॥ ४८ ॥
अस्मिन्हिमवतः शृंगे नावं बध्नीत मा चिरम् ।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ॥ ४९ ॥
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृंगे हिमवतस्तदा ।
तच्च नौबंधनं नाम शृंगं हिमवतः परम् ॥ ५० ॥
ख्यातमद्यापि कौंतेय तद्विद्धि भरतर्षभ ।
अथाऽब्रवीदनिमिषस्तानृषीन्सहितांस्तदा ॥ ५१ ॥
अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाऽधिगम्यते ।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयाऽस्मान्मोक्षिता भयात् ॥५२॥

नहीं दीखती थीं । हे नरश्रेष्ठ! उस समय आकाश और सब दिशा जलमय दीखती थीं । हे भरतकुलसिंह ! जब जगत जलसे डूब गया था उस समय केवल सप्तऋषि मनु और वह मत्स्य दिखाई देते थे; इस प्रकार वे सब बहुत वर्षोंतक समुद्रमें घूमते रहे और वह मत्स्यभी उन सबको आलस्य रहित होकर समुद्र में खींचता रहा । हे कुरुनन्दन ! इस प्रकार नावको खींचते खींचते वह हिमाचलके सबसे ऊंचे शिखर पर पहुंचा, वहां पहुंच कर उसने कुछ हंसकर ऋषियोंसे कहा, आप लोग बहुत शीघ्र इस नावको हिमाचलके शिखरमें बांध दीजिये, विलम्ब करना उचित नहीं है । (४४—४८)

यह सुन उन मुनियोंने बहुत शीघ्र उस नावको हिमाचलके शिखरसे बांध दिया । जिस हिमाचलके शिखरमें उस मत्स्यके कहनेसे नाव बांधी गई थी उसका नाम अबतक नौबंधनही है । हे कुन्तीनन्दन ! अनन्तर उस मत्स्यने ऋषियोंसे कहा, कि मुनि लोग हमहीको प्रजापति कहते हैं, हमारा ही नाम ब्रह्मा है, हमने मत्स्यरूप धारण करके आप लोगोंको इस भयसे छुडाया है;अब मनु

मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्ग यच्च नेङ्गति ॥ ५३ ॥
तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति ।
मत्प्रसादात्प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥ ५४ ॥
इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनाऽदर्शनं गतः ।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ॥ ५५ ॥
प्रमूढोऽभूत्प्रजासर्गे तपस्तेपे महत्ततः ।
तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ५६ ॥
सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद्यथावद्भरतर्षभ ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥
आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया ।
य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः ।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः स्वर्गं लोकमियान्नरः ॥ ५८ ॥[७२९६]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि मत्स्योपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८७

वैशम्पायन उवाच-ततः स पुनरेवाऽथ मार्कण्डेयं यशस्विनम् ।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
नैके युगसहस्रांतास्त्वया दृष्टा महामुने ।

सब जगतके देवता, असुर, मनुष्य तथा और भी चराचर सृष्टिको बनावेंगे, उग्र तप करनेसे इनको सृष्टि करनेकी बुद्धि उत्पन्न होगी और हमारी कृपासे ये सृष्टि करनेमें भूलेंगे नहीं। (४९--५४)

ऐसा कहकर मत्स्य अन्तर्द्धान होगया। तब वैवस्वत मनुने सृष्टि बनानेकी इच्छा की, परन्तु बना न सके। तब उन्होंने घोर तप किया, उसके पीछे उन्होंने सृष्टि बनाना आरम्भ किया। हे भरतकुलसिंह! वैवस्वत मनुने सृष्टिको बनाया। हे युधिष्ठिर! यह उपाख्यान मत्स्यपुराण नामसे वर्णित हुआ है। हमने यह पवित्र कथा तुमसे कही, जो इस मनुके चरित्रको आदिसे अन्ततक पढता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और सुख तथा धनसे पूर्ण होकर परलोकमें सुख पाता है। (५४-५८)[७२९६]

वनपर्वमें एकसौ सतासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ अठासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! इस कथाको सुन धर्मराज युधिष्ठिरने तपस्वी मार्कण्डेयसे फिर प्रश्न किया। हे महामुने! आपने अनेक

न चाऽपीह समः कश्चिदायुष्मान्दृश्यते तव ॥ २ ॥
वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम ॥ ३ ॥
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन्देवदानववर्जिते ।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥ ४ ॥
प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे ।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ॥ ५ ॥
चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत्परमेष्ठिना ।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्याऽऽपस्ततस्ततः॥ ६ ॥
त्वया लोकगुरुः साक्षात्सर्वलोकपितामहः ।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥ ७ ॥
स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।
घोरेणाऽऽविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ॥ ८ ॥
नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं सांपराये‌ऽभिपठ्यसे ।
भगवाननेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत्॥ ९ ॥
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।
रत्नालंकारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा ॥ १० ॥

सहस्र युग देखे हैं, आपके समान महात्मा ब्रह्माको छोडकर और कोई बूढा नहीं है । हे ब्राह्मण ! इस देवता दानवादि रहित,आकाश रहित जगत्‌में प्रलय कालमें तुमही ब्रह्माके पास जाते हो; जब प्रलय बीत जाती है और ब्रह्मा जागते हैं, तब तुमही उनकी बनायी सृष्टिको देखते हो । (१—४)

हे विप्र ! ब्रह्माने चार प्रकारकी सृष्टि बनायी है । ब्रह्माने वायु और जलको सब दिशामें फैला दिया है । हे द्विजश्रेष्ठ ! आपने समाधि लगा कर सब लोकके पितामह साक्षात ब्रह्माकी उपासना करी है; आपने अनेक बार अपने शरीरको बनाया है; आपने घोर तप करके मरीचि आदि ऋषियोंको जीत लिया है । (५—८)

आप नारायणके पास रहनेवाले अर्थात् भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं । जब पुरुष शरिरको छोड स्वर्गमें जाता है, तबभी आपकी स्तुति करता है, आपने अपने योगकी शक्तिसे जगत् बनाने-वाले कामरूपी विष्णुके हृदयकमलको खोलकर अनेक बार देखा है। आपने पहली सृष्टिमें

तस्मात्त्वां बालको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी ।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात्परमेष्ठिनः ॥ ११ ॥
यदा नैव रविर्नाऽग्निर्न वायुर्न च चंद्रमाः ।
नैवांऽतरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किंचन ॥ १२ ॥
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजंगमे ।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥ १३ ॥
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम् ।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥ १४ ॥
एतत्प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम ।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम् ॥ १५ ॥
अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्सर्वलोकेषु नित्यदा ॥ १६ ॥
मार्कंडेय उवाच— हंत ते वर्त्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाऽव्ययाय च ॥ १७ ॥
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ॥ १८ ॥

परम वैराग्य करके विष्णुके हृदयको देखा है । इसीसे आपको बुढापा और शरीरको नाश करनेवाली मृत्यु दुःख नहीं देती है; हे विप्रश्रेष्ठ! आपको यह सब ब्रह्माके प्रसादसे प्राप्त हुआ है। ९-११

जिस समय अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और पृथ्वी कुछ विशेष नहीं थी, जब समस्त जगतमें जल छा गया था, जिस समय देवता और असुरोंके सहित सब चर और अचर नष्ट हो जाता है, जब अनेक महासर्प नष्ट होते हैं, जिस समय कमलगर्भमें रहनेवाले ब्रह्मा निद्राके वशमें होकर अपने शरीरको भूल जाते हैं, तब अकेले आपही उनके पास खडे रहते हैं।हे द्विजोत्तम! आपने यह सब दशा अपने आंखोंसे देखी है; इस लिये हम कारणोंके सहित सब कथा आपसे सुनना चाहते हैं । हे द्विजोत्तम ! जगत् में कोई ऐसी बात नहीं, जिसको आप न जानते हों; इस लिये हम आपसे कथा सुनना चाहते हैं। (१२—१६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हम आपसे यह सब कथा कहनेके पहले आपही उत्पन्न होने वाले पुराण अव्यय भेद-रहित सूक्ष्म निर्गुण और सगुण ब्रह्मको प्रणाम करते हैं । हे पुरुषव्याघ्र ! वे येही

एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत्प्रभुः ।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते ॥ १९ ॥
अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ॥ २० ॥
यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम ॥ २१ ॥
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ।
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ॥ २२ ॥
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ॥ २३ ॥
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च ततः परम् ।
तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ॥ २४ ॥
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।
सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ॥ २५ ॥
तस्य वर्षशतं संधिः संध्यांशश्च ततः परम् ।
संधिसंध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥ २६ ॥
क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तति कृतं युगम् ।

पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण हैं; येही जगत्के कर्ता, नाश करनेवाले और सब जगतकी आत्मा हैं; येही सबसे बडे आश्चर्य और विचित्र नामोंसे प्रसिद्ध हैं, परम पवित्र येही अनादि, अनन्त, सब प्राणियोंके कारण और जगत्के कर्ता हैं और येही पराक्रमके मूल हैं, हे सबको जानते हैं और इनको वेद भी नहीं जानते हैं। (१७-२१)

हे राजसत्तम ! येही सब आश्चर्योंके स्थान हैं। हे पुरुषव्याघ्र ! जब सृष्टिका आदि होता है, उस समय दैववर्ष परिमाणसे चार सहस्र वर्ष तक सतयुग रहता है, उसकी सन्धि चार सौ वर्षकी है और उतनाही सन्ध्यांश है। तीन सहस्र वर्षका त्रेतायुग होता है और उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश भी तीन तीन सौ वर्षकी होती है। द्वापर युग दो सौ वर्षका तथा उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश भी दो दो सौ वर्षकी होती है, कलियुगका परिमाण एक सहस्र वर्ष है; उसके सन्ध्या और सन्ध्यांश भी सौ सौ वर्षके होते हैं। (२१-२६)

सन्ध्या और सन्ध्यांशका परिमाण

एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता ॥ २७ ॥
एतत्सहस्रपर्यंतमहो ब्राह्ममुदाहृतम् ।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते ॥ २८ ॥
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः ।
अल्पावशिष्टे तु तदा युगांते भरतर्षभ ॥ २९ ॥
सहस्रांते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः ।
यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ॥ ३० ॥
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन्काले प्रवर्तते ।
ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ॥ ३१ ॥
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयंति गते युगे ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दंडाजिनविवर्जिताः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यंति कलौ युगे ।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ॥ ३३ ॥
विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।
बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥ ३४ ॥

समान ही है। कलियुग बीतनेसे सतयुग आता है। यह द्वादश सहस्र वर्षोंकी युक्त संख्या हमने आपसे कही, इसी द्वादश सहस्र वर्षके एकसहस्र आवर्तनोंको ब्रह्माका दिन भी कहते हैं; इसी समयमें ब्रह्मा सब जगतको बनाते हैं। हे पुरुष सिंह! इसके पीछे जो समय होता है उसमें ब्रह्मा सब जगत् को अपने स्थानमें विसर्जन करते हैं, इसी समयको प्रलय कहते हैं। हे कुन्तीनन्दन! जब इस प्रलयके होनेको थोडे दिन रह जाते हैं अर्थात् एक सहस्र वर्ष रह जाते हैं, तब सब पुरुष झूठ बोलने लगते हैं। २६-३०

हे कुन्तीनन्दन! उस समय यज्ञ, दान, व्रतादि कर्मोंके स्थानों पर उनके प्रतिनिधिभूत छोटे कर्म चलने लगते हैं, उस समय ब्राह्मण लोग शूद्रोंके कर्म करने लगते हैं। और शूद्र लोग धन उपार्जन करने लगते हैं; अथवा शूद्र लोग क्षत्रियोंका कर्म करके जीविका पालन करते हैं। हे तात! कलियुगमें ब्राह्मण लोग यज्ञ, वेद पाठ, दण्ड और मृगचर्म से रहित हो जायंगे, वे लोग सर्वभक्षी और जपसे रहित हो जायंगे। शूद्र मन्त्रको जपने लगेंगे! हे पृथ्वीनाथ! जब ऐसा घोर समय आवेगा, तब जानना कि अब प्रलय होनेवाली है। ३०-३४

उस समय जगत्के सब राजा म्लेच्छ

मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।
आंध्राः शकाः पुलिंदाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥ ३५ ॥
कांबोजा बाह्लिकाः शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम ।
न तदा ब्राह्मणः कश्चित्स्वधर्ममुपजीवति ॥ ३६ ॥
क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।
अल्पायुषः स्वल्पबलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥
अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ।
बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥ ३८ ॥
युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चाऽऽर्यवादिनः॥ ३९ ॥
युगांते मनुजव्याघ्र भवंति बहुजंतवः ।
न तदा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशांपते ॥ ४० ॥
रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः ।
बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।
मुखेभगाः स्त्रियो राजन्भविष्यंति युगक्षये ॥ ४१ ॥

हो जायंगे, वे लोग झूठ बोल बोल अन्याय और पापसे राज्य करेंगे । हे पृथ्वीनाथ! आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाह्लिक, शूर और आभीर लोग राजा होंगे । हे नरोत्तम ! उस समय कोई ब्राह्मण अपने धर्मका पालन नहीं कर सकेगा, इसी प्रकार क्षत्री और वैश्यभी अपने अपने कर्मोंको छोड देंगे । कलि युगके पुरुष थोडे बल, थोडे पराक्रम, थोडे वीर्य, थोडी अवस्था, थोडा उत्साह थोडा शरीर और थोडे साहसवाले होंगे । (३५ – ३८)

अनेक नगर मनुष्योंसे शून्य हो जायंगे । सब ओर हरिन और सर्पही दिखाई देंगे । कलियुगमें सब लोग कहते फिरेंगे, कि हमने भी वेद पढा है, हमने भी वेद पढा है । शूद्र लोग ब्राह्मणोंको गर्वोक्ति और ब्राह्मणलोग शूद्रोंको नम्रतासे कहेंगे । हे पुरुषसिंह ! युगके अन्तमें ऐसे बहुत विपरीत जन्तु उत्पन्न होंगे । हे पृथ्वीनाथ ! उस समय नासिका सब सुगन्धियोंको नहीं सूंघ सकेगी । रसोंमें इतना स्वाद नहीं रहेगा । मनुष्योंको बहुत सन्तान होंगी, परन्तु सबके छोटे शरीर होंगे और कोई भी शील और आचारको नहीं करेगा । (३८—४१)

उस समयमें स्त्रीलोग मुखसे मैथुन

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियो राजन्भविष्यंति युगक्षये ॥ ४२ ॥
अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यंति जनाधिप ।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः ॥ ४३ ॥
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम् ।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णंति वै द्विजाः ॥ ४४ ॥
लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः ।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चंचूर्यंते द्विजैर्दिशः ॥ ४५ ॥
करभारभयाद्भीता गृहस्थाः परिमोषकाः ।
मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ॥ ४६ ॥
मिथ्या च नखरोमाणि धारयंति तदा द्विजाः ।
अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः ॥ ४७ ॥
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः ।
इह लौकिकमीहंते मांसशोणितवर्धनम् ॥ ४८ ॥
बहुपाषंडसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः ।
आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यंति युगक्षये ॥ ४९ ॥

करेंगी; सब पुरुष अन्न बेचनेवाले, ब्राह्मण लोग वेद बेचनेवाले और स्त्री-लोग योनि बेचनेवाली हो जायंगी। हे पृथ्वीनाथ! गाय बहुत कम दूध देने लगेंगी; वृक्षों पर फल बहुत कम आवेंगे, तथा कौवे बहुत बढ जायंगे, ब्राह्मण लोगों के वधसे पापी और मिथ्यावादी राजाओंसे प्रतिग्रह ग्रहण करने लगेंगे। ब्राह्मण लोग लोभ और मोहसे भरे हुए धार्मिक चिह्नधारी होकर भिक्षाके लिये दशों दिशामें घूमने लगेंगे। (४२–४६)

गृहस्थ लोग राजकरसे पीडित होकर वञ्चनापूर्वक अर्थसंग्रह करने लगेंगे। द्विज लोग कपटसे मुनियोंका वेष बनाकर व्यौपारसे उपजीविका करेंगे। कलियुगमें ब्राह्मण लोग वृथाही बाल और नाखूनोंको बढावेंगे; धनके लोभसे अनेक लोग ब्रह्मचारी होंगे; कोई आश्रम ठीक नहीं रहेगा। सब लोग मदिरा पीने लगेंगे, सब लोग गुरुके शैया पर विहार करने लगेंगे; उस समयके पुरुष केवल मांस और रुधिरके बढाने हीको अपना कर्म समझेंगे। हे पुरुषव्याघ्र! उस समयके पुरुष अनेक पाखण्डोंसे पूर्ण और पराये अन्नकी प्रशंसा करने-

यथर्तुवर्षी भगवान्न तथा पाकशासनः ।
न चापि सर्वबीजानि सम्यग्रोहंति भारत ॥ ५० ॥
हिंसाभिरामश्च जनस्तथा संपद्यते शुचिः ।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चाऽनघ ॥ ५१ ॥
तदा च पृथिवीपाल यो भवेद्धर्मसंयुतः ।
अल्पायुः स हि मंतव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ॥५२॥
भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीयते जनैः ।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवंत्युत ॥ ५३ ॥
धर्मिष्ठाः परिहीयंते पापीयान्वर्धते जनः ।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥ ५४ ॥
अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥ ५५ ॥
नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ।
अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरंत्युत ॥ ५६ ॥
संचयेन तथाऽल्पेन भवंत्याढ्यमदान्विताः ।
धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ॥ ५७ ॥

वाले होंगे । कलियुगमें आश्रमोंकी व्यवस्था ऐसी होगी । (४६—४९)

उस युगके आनेसे ठीक समय पर इन्द्र वर्षा नहीं करेंगे और बीज भी अच्छी प्रकारसे उत्पन्न नहीं होंगे, ब्राह्मणादिक सब वर्ण हिंसा करने लगेंगे; उस समय सब ओर पापहीका फल दिखाई देने लगेगा । हे पृथ्वीनाथ ! उस समय जो धर्म करेंगा, वही थोडे दिन जीयेगा । इस लिये सब जान जायंगे कि धर्म कुछ वस्तु नहीं है; उस समय सब लोग छल करके असत्य तोलसे विक्रय करेंगे । बनिये लोग अनेक प्रकारके छल करेंगे, धर्मज्ञोंकी हानि और पापियोंकी वृद्धि होगी। धर्म हीन और अधर्म बलवान हो जायगा । (५१—५५)

धर्म करनेवाले पुरुष थोडे दिन जीनेवाले और दरिद्री होंगे; अधर्मी लोग दीर्घायु और धनवान होंगे, उस युगके अन्तमें अधर्मी लोग नगरोंमें आनन्द करेंगे । वे लोग अनेक अधर्मोंसे प्रजाको ठगेंगे । थोडा धन इकट्ठा होनेसे भी उन लोगोंको बहुत अभिमान होगा । उस समयके पुरुष विश्वाससे रखे हुए धन का भी अपहार करेंगे,वे पापी लोग

हर्तुं व्यवसिता राजन्पापाचारसमन्विताः ।
नैतदस्तीति मनुजा वर्तंते निरपत्रपाः ॥ ५८ ॥
पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥ ५९ ॥
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥ ६० ॥
भवंति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।
आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ॥ ६१ ॥
क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।
तरुणानां च यच्छीलं तद्वृद्धेषु प्रजायते ॥ ६२ ॥
विपरीतास्तदा नार्यो वंचयित्वाऽर्हतः पतीन् ।
व्युचरंत्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ॥ ६३ ॥
वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयंति नरान्नृप ।
भर्तारमपि जीवंतमन्यान्व्यभिचरन्त्युत ॥ ६४ ॥
तस्मिन्युगसहस्रांते संप्राप्ते चाऽऽयुषः क्षये ।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ॥ ६५ ॥
ततस्तान्यल्पसाराणि सत्वानि क्षुधितानि वै ।
प्रलयं यांति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ६६ ॥

दूसरेके धन लेनेका बहुत उपाय करेंगे, वे निर्लज्ज लोग अपनी बातको कहेंगे, कि यह हमारी कही नहीं है। पुरुषोंको खानेवाले जन्तु, पक्षी और हरिन लोग नगरोंके बागोंमें और स्मशानोंमें विहार करने लगेंगे। (५६–६०)

दस अथवा बारह वर्षका लडका सात अथवा आठ वर्षकी लडकीसे सन्तान उत्पन्न करेगा, सोलहवां वर्ष आनेसे पुरुष बूढे हो जायंगे, उनकी अवस्था बहुत कम होगी। हे महाराज! उस समयके बूढे तरुण और तरुण बूढेके समान हो जायंगे। उस समयकी स्त्रियां अपने उत्तम पतिको धोखा देकर दास और पशुओंके संग विहार करेंगी। हे नरनाथ! वीरोंकी स्त्री भी दूसरे पुरुषोंका आश्रय लेंगी, वे लोग अपने जीते पतिको छोड दूसरोंसे व्यभिचार करेंगी। (६१—६५)

हे महाराज! जब ऐसा घोर युगका अन्त आवेगा, तब अनेक वर्षों तक जल नहीं वर्षेगा। हे पृथ्वीनाथ! उस समय

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ॥ ६७ ॥
यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चाऽऽर्द्रं च भारत।
सर्वं तद्भस्मसाद्भूतं दृश्यते भरतर्षभ ॥ ६८ ॥
ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ॥ ६९ ॥
ततः स पृथिवीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम्।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥ ७० ॥
निर्दहन्नागलोकं च यच्च किंचित्क्षिताविह।
अधस्तात्पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ॥ ७१ ॥
ततो योजनकोटीनां सहस्राणि शतानि च।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥ ७२ ॥
सदेवासुरगंधर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद्विभुः ॥ ७३ ॥
ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः।
उत्तिष्ठंति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥ ७४ ॥
केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित्कुमुदसन्निभाः।

वे थोडे पराक्रमवाले जीव भूखसे व्याकुल होकर मर जायंगे। उस समय बहुत प्रकाशमान सात सूर्य उदय होंगे, वे सब समुद्र और नदियोंके जलको सुखा देंगे। हे भरतकुलसिंह! इस समय जो लाल और हरे तिनके और काठ दिखाई देते हैं, वे सब भस्म हो जायंगे, उस समय सब जगतको जलाने वाली आग सूर्यसे सुखाये हुए जगत्में बर्षेगी; वह इस पृथ्वीको भस्म करके पातालको जायगी, वहां दानव और यक्षोंको भय देगी।। (६५—७०)

नाग लोग और पृथ्वीको जला कर इन सबके नीचे चली जायंगी और वहां भी क्षण भरमें सब वस्तुओंको भस्म कर देगी। तब सैंकडो हजारो करोडो योजन तक एक अशुभ वायु चलेगी। वह वायु और अग्नि सबको भस्म कर देगी। वही अग्नि देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसोंके सहित सब जगत को जलावेगी। उसके पश्चात् बिजलीके सहित हाथियोंके समान शरीर अद्भुतरूपी मेघ आकाशमें उठेंगे। (७१-७४)

उनमें कोई नील कमल के समान

केचित्किंजल्कसंकाशाः केचित्पीताः पयोधराः ॥ ७५ ॥
केचिद्धारिद्रसंकाशाः काकांडकनिभास्तथा ।
केचित्कमलपत्राभाः केचिद्धिंगुलसप्रभाः ॥ ७६ ॥
केचित्पुरवराकाराः केचिद्गजकुलोपमाः ।
केचिदंजनसंकाशाः केचिन्मकरसन्निभाः ॥ ७७ ॥
विद्युन्मालापिनद्धांगाः समुत्तिष्ठंति वै घनाः ।
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः ॥
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवंति नभस्तलम् ॥ ७८ ॥
तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥ ७९ ॥
ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ ।
सर्वतः प्लावयंत्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥ ८० ॥
वर्षमाणा महत्तोयं पूरयंतो वसुंधराम् ।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयंति च पावकम् ॥ ८१ ॥
ततो द्वादश वर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे ।
धाराभिः पूरयंतो वै चोद्यमाना महात्मना ॥ ८२ ॥
ततः समुद्राः स्वां वेलामतिक्रामन्ति भारत ।

रूप वाले, कोई लाल कमलके समान, कोई काले कमलके समान और कोई पीले होंगे; कोई हल्दिके समान सुन्दर कोई कौवेके अण्डेके समान रूपवान कोई कमलके पत्तेसे सुन्दर और कोई सिंगरिफके समान रंगवाले होंगे। कोई मेघ बडे नगरके समान, कोई हाथियोंके झुण्डके समान शरीरवाले, कोई अञ्जनके समान काले और कोई मगरके समान होंगे। हे महाराज! उस समय कोई बिजलीकी मालासे शोभायमान शरीर-वाले घोर शब्द करते हुए मेघ निकलते हैं; तब वह मेघ सम्पूर्ण आकाश मण्डल में छा जाते हैं, उनसे यह पृथ्वी सम्पूर्ण पर्वत और वनोंके सहित पूरित होकर जलसे भरजाती है। (७५–७९)

हे पुरुषश्रेष्ठ! तब वह घोर शब्द करनेवाले मेघ परमेश्वरकी आज्ञासे चारों ओरसे पृथ्वीको डुबा देते हैं, बहुत जल वर्षाते हुए सम्पूर्ण पृथ्वी को भरदेते हैं, वह घोर भयानक जल अग्निको भी नाश कर देता है। परमेश्वरके भेजे हुए वह मेघ बारह वर्ष तक जल वर्षाकर प्रलय करते हैं, हे भारत! तब समुद्र अपनी

पर्वताश्च विदीर्यंते मही चाऽप्सु निमज्जति ॥ ८३ ॥
सर्वतः सहसा भ्रांतास्ते पयोदा नभस्तलम् ।
संवेष्टयित्वा नश्यंति वायुवेगपराहताः ॥ ८४ ॥
ततस्तं मारुतं घोरं स्वयंभूर्मनुजाधिप ।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत॥ ८५ ॥
तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजंगमे ।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ॥ ८६ ॥
निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।
अनंतरिक्षे लोकेऽस्मिन्भ्रमाम्येकोऽहमाहतः ॥ ८७ ॥
एकार्णवे जले घोरे विचरन्पार्थिवोत्तम ।
अपश्यन्सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः ॥ ८८ ॥
ततः सुदीर्घं गत्वाऽहं प्लवमानो नराधिप ।
श्रांतः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतंद्रितः ॥ ८९ ॥
ततः कदाचित्पश्यामि तस्मिन्सलिलसंचये ।
न्यग्रोधं सुमहांतं वै विशालं पृथिवीपते ॥ ९० ॥
शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप ।
पर्यंके पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ९१ ॥
उपविष्टं महाराज पद्मेंदुसदृशाननम् ।

मर्यादा छोडकर पर्वतोंको डुबाने लगता है । सब पर्वत विदीर्ण होते हैं, पृथ्वी जलमें डूब जाती है । वह भ्रान्त मेघ वायुके वेगसे इधर उधरको नाश होते हैं । (८० – ८४)

हे नरनाथ! तब उस भयानक पवन-को ब्रह्मा पीकर कमल पर सो रहते हैं । उस महा प्रलयके घोर समयमें चर, अचर, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, मनुष्य पशु, पक्षी और वृक्षादि नष्ट होजाते हैं । तब मैं अकेला केवल एकार्णवमें घूमा करता हूं । हे राजसत्तम ! उस समुद्र पूरित घोर जलमें प्राणियोंको विना देखे मैं बहुत विकल हुआ । तब बहुत दूर तक तैरता हुआ चला गया; दूर तक जाने परभी कहीं पर आश्रय न मिला । (८५–८९)

तब मैं थक कर बैठ गया; तब मैंने एक समय उस जलमें बडाभारी विशाल वड देखा । हे पृथ्वीनाथ! उस वृक्षकी एक बहुत लम्बी शाखामें दिव्य आ-भूषण पहिने हुए फूले कमलके समान

फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥ ९२ ॥
ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत् ।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥ ९३ ॥
तपसा चिंतयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप ॥ ९४ ॥
अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः ।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवाऽऽवासः स तदा प्रतिभाति मे॥९५॥
ततो मामब्रवीद्बालः स पद्मनिभलोचनः ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान्वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥ ९६ ॥
जानामि त्वां परिश्रांतं ततो विश्रामकांक्षिणम् ।
मार्कंडेय इहाऽऽस्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥ ९७ ॥
अभ्यंतरं शरीरं मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।
आस्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥९८ ॥
ततो बालेन तेनैव मुक्तस्याऽऽसीत्तदा मम ।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥ ९९ ॥
ततो बालेन तेनाऽऽस्यं सहसा विवृतं कृतम् ।
तस्याऽहमवशो वक्त्रे दैवयोगात्प्रवेशितः ॥ १०० ॥

नेत्रवाले और कमलके समान मुखवाले एक बालकको देखा; हे पृथ्वीपाल ! उस बालकको देख कर हमको बडाही आश्चर्य हुआ, कि संसारके नाशके समय यह बालक कैसे बचा । हे प्रजानाथ ! मैं यद्यपि योगदृष्टिसे भूत भविष्यत वर्त्तमानको देखता था तौभी उस बालकको न जान सका । (९०-९४)

तब अलसीके फूलके समान श्रीवत्समणि पहरे हुए साक्षात लक्ष्मीपतिके समान वह मुझे मालूम हुआ । तब वह कमलनेत्र बालक मुझसे कहने लगा, हे भार्गव ! मैं तुमको जानता हूं, कि तुम थके हुए मार्कण्डेय मुनि विश्राम चाहते हो । हे मार्कण्डेय ! जब तक विश्राम करना चाहिये, तब तक हमारे यहां आकर विश्राम करो, पश्चात् मेरे शरीरमें प्रवेश करके आनन्दसे रहो, हम तुम पर प्रसन्न हैं । (९५—९८)

हे राजन् ! तब उस बालकके ऐसे वचन सुनके मुझे अपने अधिक जीने और अपने मनुष्यपने पर मेरे मनमें निर्वेद आया । तब उस बालकने अपने मुखको बहुत फैलाया, मैं बेवश होकर

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम्॥ १०१॥
गंगां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम्।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चंद्रभागां सरस्वतीम् ॥ १०२॥
सिंधुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत ॥ १०३॥
नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम्।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ॥ १०४॥
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम्।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किंपुनामपि ॥ १०५॥
एताश्चाऽन्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम।
परिक्रामन्प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥ १०६॥
ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम्।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ॥ १०७॥
तत्र पश्यामि गगनं चंद्रसूर्यविराजितम्।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥ १०८॥
पश्यामि च महीं राजन्काननैरुपशोभिताम्।
यजंते हि तदा राजन्ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ॥ १०९॥
क्षत्रियाश्च प्रवर्तंते सर्ववर्णानुरंजनैः।

उसके मुहमें घुस गया। तब मैंने उसके पेटमें जाकर देखा, कि सम्पूर्ण पृथ्वी समेत नगर और वन विराजमान हैं; गङ्गा, यमुना, सतलज,सीता, कौशिकी चम्बल, वेत्रवती, चन्द्रभागा, सरस्वती, सिन्धु, व्यासा,गोदावरी, वस्वोकसारा, ताम्रा, वेणा, पवित्र जलवाली सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी, इरामा, वितस्ता, कावेरी, शोणभद्र, विशल्या, किम्पुना,हे महाराज! जिन नदीयोंको मैंने पृथ्वीमें देखा था,उन सब नदियों को उस महा त्मा बालकके पेटमें देखा। (९९-१०६)

हे शत्रुनाशन! अनेक जल जन्तुओं से भरे रत्नोंकी खान समुद्र को भी मैंने वहां देखा, उस बालकके पेटमें आकाश में प्रकाशमान सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि को देखा, हे राजन्! अनेक वनोंसे शोभायमान ऐसी पृथ्वीको देखा,जिस- में सहस्रों ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे,अनेक क्षत्रिय लोग प्रजापालनमें तत्पर थे,

वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयंति नराधिप ॥ ११० ॥
शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।
ततः परिपतन्राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥ १११ ॥
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजताचितम् ॥११२॥
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मंदरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम् ॥ ११३ ॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम्॥ ११४ ॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ।
एते चाऽन्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ॥ ११५ ॥
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वेरत्नविभूषिताः ।
सिंहान्व्याघ्रान्वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ॥११६॥
पृथिव्यां यानि चाऽन्यानि सत्त्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन्पर्यचरं तदा ॥ ११७ ॥
कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन्दिशः ।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान्देवगणानहम्॥ ११८॥
साध्यान्रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान्गुह्यकान्पितरस्तथा ।
सर्पान्नागान्सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥ ११९ ॥

वैश्य खेतीमें लगे हुए थे; शूद्र लोग द्विजातियोंकी सेवामें लगेथे।१०७-१११

उसके पेटमें कुछ दूर आगे चलके हिमाचल पर्वतको देखा। हेमकूट, निषध, चांदीसे भरे हुए श्वेतगिरी को देखा। हे राजन् ! गन्धमादन पर्वत को, मन्दराचलको, नीलगिरी, महापर्वत मेरुको भी देखा। महेन्द्र पर्वतको, विन्ध्याचलको, मलयागिरिको, पारिपात्र पर्वतको इनको आदि लेके और जितने पर्वत हैं सबको उस बालकके पेटमें देखा। यह सब पर्वत अनेक रत्नोंसे भरे हुए विराजमान थे। (११२-११६)

हे राजन् ! सिंह, व्याघ्र शूकर आदि अनेक प्रकारके जीव जन्तुओंको उसके पेटमें देखा। मैं उसके पेटमें इधर उधर विचरने लगा। हे नरसिंह ! उसकी कोखमें घूमते मैंने इन्द्रादिक सम्पूर्ण देवताओंको देखा। साध्य, रुद्र, आदित्य गुह्यक, पितर,

गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।
दैत्यदानवसंघांश्च नागांश्च मनुजाधिप ॥ १२० ॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ।
यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजंगमम् ॥ १२१ ॥
सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः।
त्वरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥ १२२ ॥
अंतःशरीरे तस्याऽहं वर्षाणामधिकं शतम् ।
न च पश्यामि तस्याऽहं देहस्यांऽतं कदाचन ॥ १२३ ॥
सततं धावमानश्च चिंतयानो विशांपते ।
आसादयामि नैवांऽतं तस्य राजन्महात्मनः ॥ १२४ ॥
ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत्तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥ १२५ ॥
ततोऽहं सहसा राजन्वायुवेगेन निःसृतः।
महात्मनो मुखात्तस्य निवृत्तात्पुरुषोत्तम ॥ १२६ ॥
ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशांपते ।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥ १२७ ॥
तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।

सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विनिकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि, यक्ष, दैत्यों, और दानवोंके समूहोंको मैंने वहां देखा। (११६ — १२०)

हे नरनाथ ! मैंने वहां पर सिंहिकाके पुत्र देव-शत्रु, केतु आदिक तथा जङ्गल के सब चर अचरको जो इस लोकमें देखा था, उन सबोंको महात्मा बालकके पेटमें देखा। इस जगत्को देखते हुए मैं फलाहार करके जीने लगा। हे राजन्! उस बालकके पेटमें मैं इसी तरह कई सौ वर्ष तक घूमता रहा। परन्तु उसके शरीरका अन्त न मिला। हे पृथ्वीनाथ! मैं उसके शरीरमें घूमता और सोचता था, कि इस पुरुषके शरीरका अन्त कहां है, परन्तु मुझे उसका अन्त न मिला। तब मैं उसी वर देनेवाले देवताको विधि पूर्वक मन और कर्मद्वारा शरणमें गया। (१२१ — १२५)

हे नरनाथ ! तब मैं उस महात्माके सांसके सङ्ग बाहर आपडा। हे पृथ्वी-नाथ ! उस वटकी शाखा पर सम्पूर्ण जगत्को लेकर वह बालक विराजमान था। मैंने बाहर आकर श्रीवत्समणिसे

आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥ १२८ ॥
ततो मामब्रवीद्बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान्पीतवासा महाद्युतिः ॥१२९ ॥
अपीदानीं शरीरेऽस्मिन्मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं परिश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ॥ १३० ॥
मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥ १३१ ॥
तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरंगुलीभिर्विराजितौ ॥ १३२ ॥
प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवंदितौ।
दृष्ट्वाऽपरिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥ १३३ ॥
विनयेनांऽजलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥ १३४ ॥
तमहं प्रांजलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम् १३५॥
आस्येनाऽनुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलान्सर्वान्समस्ताञ्जठरे हि ते ॥ १३६ ॥
तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।

आभूषित उस तेजवाले बालक को देखा तब उसने महा शोभायमान पीतवस्त्रधारी प्रसन्नमुखसे कहा, हे मार्कण्डेय ! तुम मेरे शरीरमें घूमनेसे बहुत थक गये हो; हे राजन् ! तब मेरी एक मुहूर्तके पश्चात् नयी दृष्टि उत्पन्न हुई । तब मैंने अपने को मोहसे छुटा हुआ और सचेत देखा । (१२६ — १३१)

उसके तांबेके समान लाल प्रतिष्ठित कोमल उंगलियोंसे शोभायमान दोनों चरणोंको सिर पर रख कर प्रणाम किया और उस अतुल प्रतापी बालकके प्रभावको जाना । विनयपूर्वक हाथ जोडकर उनके सामने खडा हुआ और प्रणाम करके प्रश्न किया, कि हे देव ! मैं आपको और आपकी उत्तम मायाको जानना चाहता हूं । मैं आपके मुखमें होकर शरीरके भीतर चला गया था; वहां मैंने आपके पेटमें सम्पूर्ण जगत्को देखा था । (१३२ — १३६)

हे देव ! आपके शरीरमें देवता, दानव, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, नाग

यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत्स्थावरजंगमम् ॥ १३७ ॥
त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ॥ १३८ ॥
निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।
इच्छामि पुंडरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाऽहमनिंदितम् ॥१३९ ॥
इह भूत्वा शिशुः साक्षात्किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१४० ॥
किमर्थं च जगत्सर्वं शरीरस्थं तवाऽनघ ।
कियंतं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥ १४१ ॥
एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥ १४२ ॥
महद्ध्येतदचिंत्यं च यदहं दृष्टवान्प्रभो ।
इत्युक्तः स मया श्रीमान्देवदेवो महाद्युतिः ।
सांत्वयन्मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ १४३॥ [७४३९]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८॥

देव उवाच— कामं देवापि मां विप्र न हि जानंति तत्त्वतः ।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥ १ ॥

आदि सब चराचर विराजमान हैं। हे देव ! आपकी कृपासे मेरी स्मृति नष्ट नहीं होती है; मैं आपके शरीरसे निकलकर शीघ्रतासे बाहर आया हूं और आपको जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं ? हे कमलनयन ! आप बालक होकर और सब जगतको पीकर इस जगह क्यों सोते हैं ? आप यह सब वृत्तान्त मुझसे कहिये । (१३८-१४१)

हे शत्रुनाशन! किस कारणसे सम्पूर्ण जगत् आपके शरीरमें है; और कितने काल तक आप इस स्थान पर रहेंगे, मैं इन ब्राह्मणोंको जाननेके वास्ते पूछना चाहता हूं , आप विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। जो मैंने आपके शरीरमें देखा यह बहुत विचित्र है। हे राजन् युधिष्ठिर ! मेरे ऐसे वचन सुन कर वह प्रकाशमान देवोंके देव ऐसे वचन मुझे समझाते हुए बोले। (१४२—१४३)

वनपर्वमें एकसौ अठासी अध्याय समाप्त। ७४३९

वनपर्वमें एकसौ नवासी अध्याय ।

देव बोले, हे ब्राह्मण ! मुझे यथार्थ रूपसे देवता लोग भी नहीं जानते हैं; किन्तु तुम्हारी प्रीतिसे मैं इस जगदुत्पत्ति

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः ।
ततो दृष्टोऽसि ते साक्षाद्ब्रह्मचर्यं च ते महत् ॥ २ ॥
अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया ।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत्त्वयनं सदा ॥ ३ ॥
अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः ।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥ ४ ॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाऽहं सुराधिपः ।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥ ५ ॥
अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाऽहं द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चंद्रादित्यौ च लोचने ।
द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथाऽपः स्वेदसंभवाः॥७ ॥
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः ।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ८ ॥
यजंते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् ।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकांक्षिणः ॥ ९ ॥
यजंते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया ।

के वृत्तान्तको सुनाता हूं; हे विप्रर्षे ! तुम पितृभक्त हो और मेरी शरण आये हो; विशेषतः तुमने ब्रह्म-चर्य भी बहुत किया है । हे विप्रर्षे ! पुराने कर्म करनेवालोंने जलकी नार संज्ञा लिखी है । वह नार जिसका स्थान हो उसे नारायण कहते हैं । हे ब्राह्मण मैंही नारायण सनातन, अक्षय तथा सम्पूर्ण जगतका उत्पन्न करनेवाला और नाश करनेवाला हूं, मैं ही विष्णु, मैं ब्रह्मा, मैं देवतोंका स्वामी इन्द्र, मैं कुबेर और मैं ही प्रेतोंका स्वामी राजा यम हूं । १-५

हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं शिव, चन्द्रमा, कश्यप, और प्रजापति तथा धाता विधाता और यज्ञ हूं । मेरा मुख अग्नि, पैर पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा नेत्र, अन्तरिक्ष शिर, दिशा कान, जल पसीना, दिशा सहित आकाश शरीर, वायु मन है । हे ब्राह्मणोत्तम ! मैंने भारी दक्षिणा वाली सैकडों यज्ञ की हैं; वेदके जाननेवाले मुझ यज्ञस्थितकी पूजा करते हैं; पृथ्वीमें क्षत्रिय राजा लोग स्वर्गकी इच्छासे मेरे लिये यज्ञ करते हैं, ऐसेही वैश्य लोग स्वर्ग जीतने

चतुःसमुद्रपर्यंतां मेरुमंदरभूषणाम् ॥ १० ॥
शेषो भूत्वाऽहमेवैतां धारयामि वसुंधराम् ।
वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ॥ ११ ॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणाऽसीत्समुद्धृता ।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाऽहं द्विजसत्तम ॥ १२ ॥
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैव विसृजाम्यहम् ।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः ॥१३॥
पादौ शूद्रा भवंतीमे विक्रमेण क्रमेण च ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ॥ १४ ॥
मत्तः प्रादुर्भवंत्येते मामेव प्रविशंति च ।
यतयः शांतिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ॥ १५ ॥
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसंगा वीतकल्मषाः ।
सत्त्वस्था निरहंकारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ॥ १६ ॥
मामेव सततं विप्राश्चिंतयंत उपासते ।
अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः ॥ १७ ॥
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः ।
तारारूपाणि दृश्यंते यान्येतानि नभस्तले ॥ १८ ॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ।

की इच्छासे मुझे पूजते हैं । (६–१०)

मैं चारों समुद्रों तक मेरु पर्वतसे भूषित भूमिको शेषरूपसे धारण करता हूं । मैं ही पहले वाराह रूप धारण करके जलमें डूबती हुई पृथ्वीको मेरे प्रभावसे निकाल लाया था । हे द्विज-सत्तम ! मैं ही वडवानल होकर सम्पूर्ण जलको पी जाता हूं और फिर उगल देता हूं । ब्राह्मण मेरा मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य जंघा, और शूद्र चरण हैं । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद भिन्न भिन्न क्रमसे मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और फिर मुझहीमें लय हो जाते हैं । (१०—१५)

परमस्थानवाले अपने आत्माको आहुति करनेवाले और काम, क्रोध, राग, द्वेषसे रहित, अहङ्कारशून्य, अध्यात्म-विद्याको जाननेवाले यति ब्राह्मण मेरी ही उपासना करते हैं । मैं ही प्रयलकी अग्नि प्रयलका वायु और प्रलयका सूर्य हूं । हे ब्राह्मणोत्तम ! यह जितने प्रका-शमान तारा दीखते हैं, उन सबको

रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम् ॥ १९ ॥
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे ।
मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये ॥ २० ॥
कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥ २१ ॥
प्राप्नुवंति नरा विप्र यत्कृत्वा कर्म शोभनम् ।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जंतुषु ॥ २२ ॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
मयाभिभूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥ २३ ॥
सम्यग्वेदमधीयाना यजंते विविधैर्मखैः ।
शांतात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवंति द्विजातयः ॥ २४ ॥
प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन्नरैर्दुष्कृतकर्मभिः ।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ २५ ॥
तस्मान्महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गयोगैर्निषेवितम् ॥ २६ ॥
यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ २७ ॥
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।

मेरा रोंआ समझो । रत्नखान समुद्र और चारों दिशाको मेरा ओढना और बिछावन समझो । यह सब वस्तु मैंनेही देवतोंकी कार्यसिद्धिके लिये रची हैं । १५-२०

हे द्विजसत्तम ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, भय, यह सब मेरेही रोंये हैं । जिन उत्तम कर्मोंको करनेसे मनुष्योंको स्वर्ग मिलता है, वह सब तप, दान, सत्य और अहिंसा मेरी बनाई और मेरे ही शरीरमें रहनेवाली हैं । मेरी इच्छासे जगत्के सब प्राणी चेष्टा करते हैं, अपने मनसे नहीं । भली भांति वेदको पढने वाले शान्तआत्मा क्रोधको जीतनेवाले द्विजाति लोग जो अनेक प्रकारकी यज्ञ करते हैं, उन्हींको मैं प्राप्त होता हूं । २१-२४

बुरे कर्म करनेवाले, लोभी, कृपण, अपने आत्माके शत्रु मुझे नहीं पा सकते हैं । योगमार्ग से प्राप्त होने वाले महाफल को जितेन्द्रिय लोगही प्राप्त होते हैं, मूढ नहीं होते । हे द्विजश्रेष्ठ! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब तब मैं अवतार लेता हूं । जब हिंसा करने

राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पत्स्यंति दारुणाः ॥ २८ ॥
तदाऽहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २९ ॥
सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया ॥ ३० ॥
कर्मकाले पुनर्देहमविचिंत्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबंधकारणात् ॥ ३१ ॥
श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम ।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥
त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन्काले भवंति च ।
अंतकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वाऽतिदारुणः ॥ ३३ ॥
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजंगमम् ।
अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ॥ ३४ ॥
आविर्भूः सर्वगोऽनंतो हृषीकेश उरुक्रमः ।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम् ॥ ३५ ॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम् ।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममाऽऽत्मा मुनिसत्तम ।

वाले देवोंके मारनेके अयोग्य भयानक राक्षस उत्पन्न होते हैं, तब मैं पुण्यात्मा सुकर्मियोंके घरमें मनुष्य शरीर धारण करके उत्पन्न होता हूं और सब को शांत करता हूं। मनुष्य, सुर, असुर, गन्धर्व, सर्प और राक्षसोंको बना कर मेरी मायासे उन सबका नाश कर देता हूं, फिर सृष्टिकालमें अचिन्त्य शरीर धारण करता हूं। २८-३१

इसमें केवल मनुष्योंके शरीरमर्यादा बांधनाही कारण है। सतयुगमें मेरा स्वरूप श्वेत, त्रेतामें पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला रहता है। उस कलिकालमें अधर्मके तीन भाग रहते हैं। जब अन्त काल प्राप्त होता है, तब मैं अकेला घोर कालका रूप धारण कर तीनों लोकोंके सम्पूर्ण चराचरको नाश कर देता हूं। तीन मार्गवाला, संसारमें व्यापक, सब लोकोंको सुख देनेवाला प्रकट होता हूं। मैं ही सर्वव्यापी, अंत रहित, इन्द्रियोंका अधिपति और महा आक्रमी हूं! हे ब्राह्मण! मैंही इस कालचक्रको चला रहा हूं, मैं सब भूतोंको शान्त करने वालेको उद्योगमें लगाने वाला हूं। ३१-३६

हे मुनियोंमें उत्तम! सब भूतोंमें मेरा

सर्वभूतेषु विप्रेंद्र न च मां वेत्ति कश्चन ॥ ३६ ॥
सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयंति च सर्वशः ।
यच्च किंचित्त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ॥ ३७ ॥
सुखोदयाय तत्सर्वं श्रेयसे च तवाऽनघ ।
यच्च किंचित्त्वया लोके दृष्टं स्थावरजंगमम् ॥ ३८ ॥
विहितः सर्वथैवाऽऽसौ ममाऽऽत्मा भूतभावनः ।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ॥ ३९ ॥
अहं नारायणो नाम शंखचक्रगदाधरः ।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात् ॥ ४० ॥
तावत्स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन् ।
एवं सर्वमहं कालमिहाऽऽस्से मुनिसत्तम ॥ ४१ ॥
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ।
मया च दत्तो विप्राग्य्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा ॥ ४२ ॥
असकृत्परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजंगमम् ॥ ४३ ॥
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ।
अभ्यंतरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम ॥ ४४ ॥

आत्मा सम्यक् व्याप्त है, किन्तु मुझको कोई भी यथार्थ रूपसे नहीं जानता है। हे विप्रेन्द्र! मैं ही सबमें व्यापक हूं, संसारमें सब भक्त मेरी पूजा करते हैं। हे द्विज! तुमने जो मेरे शरीरमें दुःख पाया, वह सब तुम्हारे वास्ते सुख और कल्याण देनेवाला होगा। जो तुम संसारमें स्थावर, जङ्गम देखते हो, यह सब मेरी ही आत्मा है। मेरे शरीरका आधा भाग ब्रह्मा है और शङ्ख, चक्र तथा पद्म धारी मैं नारायण हूं। (३६—४०)

हे विप्रर्षे! जब तक चारों युग हजार बार बीतते हैं, तबतक मैं सब प्राणियोंको मोहित करके सोता हूं। हे मुनिसत्तम! उसी प्रलयकालसे मैं यहां सो रहा हूं। यद्यपि मैं बालक नहीं हूं, तौ भी बालकरूप मैं तबतक रहूंगा जब तक ब्रह्मा न जागे। हे ब्राह्मणोत्तम! मैं ब्रह्मरूपी हूं, मैंने तुम्हे वरदान दिया है। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हुआ हूं। तुम जो स्थावर जङ्गमको जलमें डुबा हुआ देखकर घबराये थे, इसलिये मैंने शरीरके भीतर तुम्हें जगत् दिखलाया। (४१-४४)

जब तुम मेरे शरीरके भीतर गये थे,

दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नाऽवबुध्यसे ।
ततोऽसि वक्त्राद्विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया ॥ ४५ ॥
आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः ॥४६ ॥
यावत्स भगवान्ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।
तावत्त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥ ४७ ॥
ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे ।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥ ४८ ॥
आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च ।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजंगमम् ॥ ४९ ॥
मार्कण्डेय उवाच--इत्युक्त्वाऽन्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः ॥५० ॥
एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन्प्राप्ते युगक्षये ।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ॥ ५१ ॥
यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र संबंधी ते जनार्दनः ॥ ५२ ॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौंतेय स्वच्छंदमरणं मम ॥ ५३ ॥

तब सम्पूर्ण जगतको देखकर घबडा गये थे और थक गये थे, इस लिये हमने शीघ्रतासे तुमको बाहर निकाल दिया। मैंने अपने उस स्वरूपको तुमसे वर्णन किया जिसे देवता और असुर नहीं जान सकते हैं। हे विप्रर्षे ! जब तक ब्रह्मा न जागें, तब तक सुखपूर्वक तुम यहीं विश्राम करो। जब सब लोकोंके पितामह ब्रह्मा जागेंगे तब फिर मैं सृष्टिका आरम्भ करूंगा। (४४—४८)

आकाश,पृथ्वी, ज्योति, वायु और जल जो कुछ लोकमें चाहिये सबको मैं बनाऊंगा। मार्कण्डेय मुनि बोले, हे प्यारे ! वह अद्भुत देव ऐसा कहकर अन्तर्द्धान होगये। मैंने वहां पर और अनेक प्रकार की सृष्टि देखी। हे राजन् ! उस प्रलयमें मैंने बहुत आश्चर्य देखा। हे सब धर्म कर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ ! जिस कमलनेत्र देवताको उस समय देखा था, ये वही जनार्दन तुम्हारे सम्बन्धी हैं, इन्हीके वरदानसे मेरी स्मृति नष्ट नहीं होती है। (४९-५३)

हे कुन्तीनन्दन ! इन्हीकी कृपासे मरना मेरे आधीन है और मेरी आयु

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिंत्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥ ५४ ॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविंदः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥ ५५ ॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥ ५६ ॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥ ५७ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तास्ते पार्थौ यमौ च पुरुषर्षभौ ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ॥ ५८ ॥
स चैतान्पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना ।
सांत्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि ॥५९॥[७४९८]

इति श्रीमहाभारते० मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९॥

वैशम्पायन उवाच–युधिष्ठिरस्तु कौंतेयो मार्कंडेयं महामुनिम् ।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम्॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच– आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर ।
मुने भार्गव यद्भूतं युगादौ प्रभवाप्ययम् ॥ २ ॥

बडी हुई । यह वही वृष्णिवंशी पुराण-पुरुष व्यापक अचिन्त्यात्मा महाभुज क्रीडा करनेवाले, कृष्ण हैं । यही धाता, विधाता, जगत्के धारण करनेवाले, गोविन्द, प्रजापति और प्रभु हैं । इनको देखकर मुझे स्मरण आगया, कि यही आदिदेव व्यापक जयशाली पीत वस्त्र धारी विष्णु हैं, यही सब प्राणियोंके माता पिता लक्ष्मीपति हैं ! हे कुरुश्रेष्ठ! तुम इन्हीं शरणागतवत्सलकी शरणमें जाओ । (५३–५७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! कुन्तीपुत्र पाण्डव मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुनकर कृष्णको नमस्कार करने लगे, कृष्णने भी पुरुषसिंह पाण्डवोंको शान्त किया । (५८–५९) [७४९८]

वनपर्वमें एकसौ नवासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ नव्वे अध्याय

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने महामुनि मार्कण्डेय से जगत्की होनेवाली गति और अपने कर्त्तव्यको फिर पूछा । राजा युधिष्ठिर बोले, हे भार्गव ! हे महामुने ! तुम्हारा वृत्तान्त बहुत आश्चर्यको देनेवाला है;

अस्मिन्कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम ।
समाकुलेषु धर्मेषु किं नु शेषं भविष्यति ॥ ३ ॥
किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः ।
किमायुषः किंवसना भविष्यंति युगक्षये ॥ ४ ॥
कां च काष्ठां समासाद्य पुनः संपत्स्यते कृतम् ।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥ ५ ॥
इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाऽभ्यभाषत ।
रमयन्वृष्णिशार्दूलं पांडवांश्च महानृषिः ॥ ६ ॥
मार्कंडेय उवाच– शृणु राजन्मया दृष्टं यत्पुरा श्रुतमेव च ।
अनुभूतं च राजेंद्र देवदेवप्रसादजम् ॥ ७ ॥
भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तांतं भरतर्षभ ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे ॥ ८ ॥
कृते चतुष्पात्सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः ।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ॥ ९ ॥
अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः ।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥ १० ॥
त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।

इस कलियुगमें धर्म नाश होनेपर क्या होगा? मनुष्य कैसे पराक्रमी कैसे आहार, विहारवाले, कितनी अवस्थावाले और कैसे वस्त्रवाले होंगे। युगके नाशमें मनुष्य कैसे होंगे तथा कौनसी अवधिको पाकर फिर सतयुग आवेगा? हे मुनि! विस्तार पूर्वक आप मुझसे कहिये, यह मुझे बहुत आश्चर्य मालूम देता है। इस प्रकारसे मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय युधिष्ठिरके वचन सुन करके वृष्णिवंशी कृष्ण और पाण्डवोंसे कहने लगे। (१—६)

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! प्रथम जो मैंने देखा, सुना तथा अनुभव किया है, और हे राजेन्द्र! देवादिदेव विष्णु की कृपासे संसारका भविष्यत् वृत्तान्त जैसा मैं जानता हूं, उसके अनुसार कलियुगका वृत्तान्त कहता हूं सुनो। सतयुगके मनुष्योंमें कपट और उपाधिसे रहित धर्म वृषके चारों पैरोंसे विद्यमान था। हे भरतर्षभ! त्रेतायुगमें धर्मके तीन भाग थे और एक भाग अधर्मसे नष्ट हो गया था; द्वापरमें आधे धर्मको अधर्मने नष्ट कर दिया; हे भरतसत्तम! कलि युगकी सन्धिमें धर्मके तीन अंश

तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ॥ ११ ॥
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।
आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पांडव ॥ १२ ॥
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे ।
राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
व्याजैर्धर्मं चरिष्यंति धर्मवैतंसिका नराः ।
सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पंडितमानिभिः ॥ १४ ॥
सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ।
आयुषः प्रक्षयाद्विद्या न शक्ष्यंत्युपजीवितुम् ॥ १५ ॥
विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
लोभक्रोधपरा मूढाः कामासक्ताश्च मानवाः ॥ १६ ॥
वैरबद्धा भविष्यंति परस्परवधैषिणः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यंतः परस्परम् ॥ १७ ॥
शूद्रतुल्या भविष्यंति तपःसत्यविवर्जिताः ।
अंत्या मध्या भविष्यंति मध्याश्चांऽत्या न संशयः ॥ १८ ॥
ईदृशो भविता लोको युगांते पर्युपस्थिते ।
वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषकाः ॥ १९ ॥
भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यंति युगक्षये ।

नष्ट हो गये और कलियुगमें चौथा अंश धर्मका मनुष्योंमें रहता है। (७-१२)

हे पाण्डव! सुनो । मनुष्योंका आयु, पराक्रम, बुद्धि,बल और तेज युग युगमें ह्रास हुआ करता है । हे युधिष्ठिर ! कलियुगके ब्राह्मण, शूद्र सबही कपटसे धर्म करते हैं, सबही धर्मको बेचनेवाले होते हैं । पण्डित मानी वही सत्यको घटा देते हैं, और सत्यकी हानिसे मनुष्योंकी अवस्था थोडी होती है । आयुके क्षीण होनेसे विद्या का अवलंब नहीं कर सक्ते हैं। कलियुगके विद्याहीन मनुष्य अज्ञानसे लोभी होते हैं। काम और क्रोधसे पूरित वैरसे भरे हुए एक दूसरेको मारनेकी इच्छा करनेवाले तथा परस्पर संकर करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्रोंके समान तप और सत्यसे रहित हो जायंगे । (१२-१८)

नीच उत्तम और उत्तम नीच हो जायंगे । हे राजन् ! युगके अन्तमें सब लोग ऐसे हो जायंगे । वस्त्र सनके बनने लगेंगे और धान्य क्षुद्रजाति श्रेष्ठ

मत्स्यामिषेण जीवंतो दुहंतश्चाऽप्यजैडकम् ॥ २० ॥
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यंति युगक्षये ॥ २१ ॥
अन्योन्यं परिमुष्णंतो हिंसयंतश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यंति युगक्षये ॥ २२ ॥
सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यंति चौषधीः ।
ताश्चाऽप्यल्पफलास्तेषां भविष्यंति युगक्षये ॥ २३ ॥
श्राद्धे दैवे च पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यंतीह परस्परम् ॥ २४ ॥
पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रांतानि भोज्यानि भविष्यंति युगक्षये ॥ २५ ॥
न व्रतानि चरिष्यंति ब्राह्मणा वेदनिंदकाः ।
न यक्ष्यंति न होष्यंति हेतुवादविमोहिताः ॥
निम्नेच्छीहां करिष्यंति हेतुवादविमोहिताः ॥ २६ ॥
निम्ने कृषिं करिष्यंति योक्ष्यंति धुरि धेनुकाः ।
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यंति मानवाः ॥ २७ ॥
पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।

होंगे;पुरुष केवल अपनी स्त्री ही की प्यार करेंगे । मछलीका व्यवहार करके जीयेंगे, बकरी तथा भेडोंको दुहेंगे; गौ नष्ट हो जायेंगी । जो व्रतको धारण करनेवाले हैं, वेभी लोभी हो जायंगे, आपसमें एक दूसरेकी चोरी करेंगे । मारामारी करेंगे, जप नहीं करेंगे, नास्तिक हो जायंगे, चोर हो जायंगे, नदियोंके किनारेपर औषधियोंको बोवेंगे और वेभी थोडी फलवाली होंगी । (१८–२३)

जो हव्य कव्यमें प्रतिग्रह रहित व्रतधारी ब्राह्मण हैं, वेभी लोभके वश होकर ऐसेही कर्म से उपजीवन करेंगे । पितापुत्रका अन्न भोजन करनेवाले और पुत्र पिताका अन्नके भोजन करनेवाले होंगे । भोजनका व्यवहार बहुत उलट पुलट हो जायगा; ब्राह्मण लोग व्रत नहीं करेंगे वेदकी निन्दा करेंगे । कुतर्कोंसे मोहित होकर यज्ञ होम कुछ नहीं करेंगे, तथा निन्द्य विषयोंमें ही इच्छा करेंगे, किसान लोग नीची भूमिमें खेती करेंगे, हलमें गौको जोडेंगे; एक वर्षके बछडेको हलमें जोतेंगे । (२४–२७)

हे राजन् ! पिता पुत्रको और पुत्र

निरुद्वेगो बृहद्वादी न निंदामुपलप्स्यते ॥ २८ ॥
म्लेच्छभूतं जगत्सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम् ।
भविष्यति निरानंदमनुत्सवमथो तथा ॥ २९ ॥
प्रायशः कृपणानां हि तथा बंधुमतामपि ।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यंतीह मानवाः ॥ ३० ॥
स्वल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः ।
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः ॥ ३१ ॥
परिग्रहं करिष्यंति मायाचारपरिग्रहाः ।
समाह्वयंतः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः ॥ ३२ ॥
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पंडितमानिनः ।
भविष्यंति युगस्याऽन्ते क्षत्रिया लोककंटकाः ॥ ३३ ॥
अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहंकारदर्पिताः ।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यंति युगक्षये ॥ ३४ ॥
आक्रम्याऽऽक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च ।
भोक्ष्यंते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ॥ ३५ ॥
न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते ।
स्वयंग्राहा भविष्यंति युगांते समुपस्थिते ॥ ३६ ॥
राजानश्चाऽप्यसंतुष्टाः परार्थान्मूढचेतसः ।

पिताको मार कर वे मनमें खिन्न नहीं होंगे, परंतु बडी बातें करने लगेंगे और लोगोंमें निन्दित नहीं होंगे, सम्पूर्ण पृथ्वी म्लेच्छोंसे भर जायगी, सब क्रिया और यज्ञसे रहित हो जायंगे। सब लोग आनन्दसे और उत्सवसे रहित हो जायंगे। प्रायः मनुष्य कृपण होंगे, भाई और विधवाओंसे धन हरेंगे; थोडे वीर्य और बलवाले, करकश, लोभ मोहसे भरे, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होनेवाले मनुष्य होंगे; कपट व्यवहारसे पूरित, जूआ खेलनेवाले और पापी राजा होंगे। (२८–३२)

हे कुन्ती-पुत्र ! परस्पर वैरवाले, पण्डित मानी और लोककण्टक क्षत्री कलियुगमें होते हैं; प्रजाकी रक्षासे हीन लोभी अहंकारी, पाखण्डी, केवल दण्ड देनेवाले क्षत्री होते हैं। हे भारत ! साधु लोगोंको दबा कर उनके धन और स्त्रीको दुष्ट लोग हरते हैं। न कोई कन्यादान मांगता है और न कोई कन्या दान देता है। युगके अन्तमें आपही सब परस्पर

सर्वोपायैर्हरिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ॥ ३७ ॥
म्लेच्छीभूतं जगत्सर्वं भविष्यति न संशयः ।
हस्तो हस्तं परिमुषेद्युगांते समुपस्थिते ॥ ३८ ॥
सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पंडितमानिभिः ।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः ॥ ३९ ॥
भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः ।
न विश्वसंति चाऽन्योन्यं युगांते पर्युपस्थिते ॥ ४० ॥
एकाहार्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम् ।
अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्त्तते ॥ ४१ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यंति जनाधिप ।
एकवर्णस्तदा लोके भविष्यति युगक्षये ॥ ४२ ॥
न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
भार्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यंति संक्षये ॥ ४३ ॥
ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान्देशान्संश्रयिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ॥ ४४ ॥
स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशांपते ।

विवाह करते हैं। राजा लोग असन्तोषी सब उपायोंसे पराये धनको छीननेवाले, युगके अन्तमें होते हैं। हे राजन्! युगके अन्तमें सब जगत् म्लेच्छ हो जायगा, एक हाथ दूसरे हाथकी वस्तुको चोरावेगा। (३३—३८)

सब लोग सत्यको छिपावेंगे, सब लोग अपनेको पण्डित मानेंगे, बालकोंकी बुद्धि बूढोंकीसी और बूढेकी बालक की सी हो जायगी। जब युगका अन्त आवेगा, तब डरपोक लोग अपनेको वीर कहेंगे और वीर लोग डरपोक होकर बैठेंगे। एक दूसरेका विश्वास नहीं करेगा, सबोंका आहार एक ही होगा। सम्पूर्ण जगत् लोभ और मोहसे भर अधर्मकी वृद्धि और धर्मका नाश हो जायगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कोईभी श्रेष्ठ नहीं रहेगा, सब शूद्र हो जायंगे। (३९-४२)

युगके अन्त समयमें केवल एकही वर्ण रह जायगा। पुत्र पिताको और पिता पुत्रको नाश करेंगे, स्त्री पतिकी सेवा नहीं करेंगी, जिस देशमें गेहूं, आदि अन्न उत्पन्न होगा लोग उस देशान्तरको चले जायंगे। हे राजन्! युगके अन्तमें स्त्री और पुरुष सब इच्छाचारी हो जायंगे,

अन्योन्यं न सहिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ॥ ४५ ॥
म्लेच्छभूतं जगत्सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर ।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यंति दैवतानीह मानवाः ॥ ४६ ॥
न कश्चित्कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित्कस्यचिद्गुरुः ।
तमोग्रस्तस्तदा लोके भविष्यति जनाधिप ॥ ४७ ॥
परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश ।
ततः प्राणान्विमोक्ष्यंति युगांते समुपस्थिते ॥ ४८ ॥
पंचमे वाऽथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते ।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यंति नरास्तदा ॥ ४९ ॥
पत्यौ स्त्री तु तदा राजन्पुरुषो वा स्त्रियं प्रति ।
युगांते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ॥ ५० ॥
अल्पद्रव्या वृथालिंगा हिंसा च प्रभविष्यति ।
न कश्चित्कस्यचिद्दाता भविष्यति युगक्षये ॥ ५१ ॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यंति युगक्षये ॥ ५२ ॥
म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु ।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नाऽत्र संशयः ॥५३॥

कोई भी एक दूसरेकी बातको नहीं सुनेगा । हे युधिष्ठिर ! सब जगत् म्लेच्छ हो जायगा । कोई मनुष्य देवतोंकी पूजा श्रद्धासे नहीं करेगा, हे नरनाथ ! कोई न किसीका गुरु होगा न किसीका चेला होगा, सब जगत् अन्धकारमय हो जायगा । (४२–४७)

युगके अन्तमें मनुष्यकी परम आयु सोलह वर्षकी होजायगी । तब युगके अन्तमें सब प्राणी नष्ट हो जायंगे, पांचवें या छठें वर्षमें कन्याको पुत्र होगा। सातवें वा आठवें वर्षके मनुष्य पुत्र उपजावेंगे । हे राजन् ! युगके अन्तमें पति स्त्रीसे और स्त्री पतिसे सन्तोष न पावेंगे। हे राजन् ! युगके अन्तमें थोडे धनवाले मनुष्य होंगे, वृथा इन्द्रियवाले हिंसा करनेवाले और न कोई किसीका दानी होगा । देश अन्नोंके दुकानोंसे भर जायंगे । चौराहे वेद विक्रयी ब्राह्मणोंसे भर जायंगे और स्त्रियां भगविक्रयवाली हो जायंगी । (४८–५२)

सब लोग म्लेच्छाचारी हो जायंगे, सब भक्ष्य खायंगे, सब कठोर कर्म करने वाले हो जायंगे । हे राजन् ! इसमें कुछ

क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वंचनम् ।
युगांते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात्करिष्यति ॥ ५४ ॥
ज्ञानानि चाऽप्यविज्ञाय करिष्यंति क्रियास्तथा ।
आत्मच्छंदेन वर्तन्ते युगांते समुपस्थिते ॥ ५५ ॥
स्वभावात्क्रूरकर्माणश्चाऽन्योन्यमभिशंसिनः ।
भवितारो जनाः सर्वे संप्राप्ते तु युगक्षये ॥ ५६ ॥
आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यंति निर्व्यथाः ।
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम् ॥५७॥
तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यंति नरा नृप ।
ब्राह्मणांश्च हनिष्यंति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः ॥ ५८ ॥
हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः ।
त्रातारमलभंतो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥ ५९ ॥
जीवितांतकराः क्रूरा रौद्राः प्राणिविहिंसकाः ।
यदा भविष्यंति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥ ६० ॥
आश्रयिष्यंति च नदीः पर्वतान्विषमाणि च ।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ॥ ६१ ॥
दस्युभिः पीडिता राजन्काका इव द्विजोत्तमाः ।

भी सन्देह नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ ! वे द्रव्यके लोभसे देने और लेनेके समय सब सबको ठगेंगे, हे राजन् ! युगका अन्त आनेपर ज्ञानको बिना जाने लोग आपही सब क्रिया करेंगे। अपनी रुचि के अनुसार बरतेंगे, स्वभावहीसे सब लोग कुकर्म करेंगे, तौभी परस्पर सब आपसमें प्रशंसा करेंगे । हे राजन् ! कलियुगके मनुष्य बाग और वृक्षोंको वृथाही नष्ट करेंगे; हे राजन् ! सबको अपने जीनेकी शंका रहेगी। (५३-५७)

सब लोग लोभसे भरे ब्राह्मणोंको मारेंगे और उनके धनसे भोग करेंगे। ब्राह्मण लोग शूद्रोंके डरसे हाहाकार मचावेंगे; कोई जगत्में उनकी रक्षा करने वाला न होगा। वे इधर उधर मारे फिरेंगे, हे राजन् ! जब जीवोंके नाश करनेवाले भयानक प्राणियोंके हिंसक मनुष्य होंगे तब युगका अन्त होगा। हे कुरुकुलनाथ! भयसे घूमनेवाले द्विज लोग नदी और दुर्गम पहाडोंपर भयके मारे छिपेंगे। हे कुरुश्रेष्ठ ! दुष्टोंसे पीडित होकर द्विज लोग कौवेके समान सदा शंकित तथा हीन वृत्तिको आश्रय करके रहेंगे। तथा

कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ॥ ६२ ॥
धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ।
विकर्माणि करिष्यंति शूद्राणां परिचारकाः ॥ ६३ ॥
शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यंति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यंति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ॥ ६४ ॥
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
एडूकान्पूजयिष्यंति वर्जयिष्यंति देवताः ॥ ६५ ॥
शूद्राः परिचरिष्यंति न द्विजान्युगसंक्षये ।
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ॥ ६६ ॥
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ॥ ६७ ॥
भविष्यति युगे क्षीणे तद्युगांतस्य लक्षणम् ।
यदा रौद्रा धर्महीना मांसादाः पानपास्तथा ॥ ६८ ॥
भविष्यंति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।
पुष्पं पुष्पे यदा राजन्फले वा फलमाश्रितम् ॥ ६९ ॥
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।
अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ॥ ७० ॥
अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यंति तदा क्रियाः ।
विरोधमथ यास्यंति वृषला ब्राह्मणैः सह ॥ ७१ ॥

दुष्ट राजोंकी करभारसे पीडित हो जायंगे । (५८ — ६२)

हे महीपाल ! युगके अन्तमें ब्राह्मण लोग शूद्रोंके नौकर बनकर और धैर्य को त्याग कर अनेक कुकर्म करेंगे, शूद्र धर्म उपदेश करेंगे और ब्राह्मण उनके श्रोता तथा उपासक होंगे। यह सब लोक विपरीत हो जायंगे, हड्डियोंकी बनी हुई कुटियोंकी लोग पूजा करेंगे और देवतोंको त्याग देंगे; शूद्र लोग ब्राह्मणोंकी सेवा न करेंगे। ऋषियोंके आश्रममें, ब्राह्मण और देवतोंके स्थानमें, अटारियोंमें, नागोंके स्थानोंमें हड्डियें भर जायंगे, भूमि देवगृहसे भूषित न रहेगी । (६३ — ६७)

हे राजन् ! युगके अन्तमें यह लक्षण होंगे । सब लोग मांस खाने और मदिरा पीने लगेंगे । फूलमें फूल और फलमें फल होने लगेंगे तथा अकालमें मेघ वर्षेंगे, मनुष्योंकी क्रियामें क्रम न रहेगा, शूद्र ब्राह्मणोंसे वैर करेंगे, पृथ्वी म्लेच्छोंसे

महीं म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ।
करभारभयाद्विप्रा भजिष्यंति दिशो दश ॥ ७२ ॥
निर्विशेषा जनपदास्तथा विष्टिकरार्दिताः ।
आश्रमानुपलप्स्यंति फलमूलोपजीविनः ॥ ७३ ॥
एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति ।
न स्थास्यंत्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः ॥ ७४ ॥
आचार्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनंतरम् ।
अर्थयुक्त्या प्रवात्स्यंति मित्रसंबंधिबांधवाः ॥ ७५ ॥
अभावः सर्वभूतानां युगांते संभविष्यति ।
दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च ॥ ७६ ॥
ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा ।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः ॥ ७७ ॥
षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति ।
तुमुलाश्चापि निर्हादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः ॥ ७८ ॥
कबंधांतर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा ।
अकालवर्षी भगवान्भविष्यति सहस्रहक् ॥ ७९ ॥
सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगांते पर्युपस्थिते ।

भर जायगी, ब्राह्मण लोग कर भारसे पीडित होकर इधर उधर भाग जायंगे सब देश एक हो जायंगे। (६८-७३)

कर और अवेतन मजदूरीसे व्याकुल रहेंगे आश्रमोंमें जाकर सब लोग फल मूल खाकर जीयेंगे। हे राजन्! जब लोग इस रीतिसे होंगे तब मर्यादा-रहित हो जायंगे, तब युगका अन्त समझना। शिष्य गुरुका उपदेश नहीं सुनेंगे, गुरुका अप्रिय कार्य करेंगे, दरिद्र आचार्योंकी लोग निन्दा करेंगे। मित्र, सबंधी और बान्धव द्रव्यवानोंमें ही प्रेम करेंगे, युगके अन्तमें सब प्राणियोंका अभाव हो जायगा; दिशा जलने लगेंगी, तारे प्रकाश रहित हो जायंगे, प्रकाशित ज्योति आदि उलटी हो जायंगी, वायु भयानक उलटा चलने लगेगा, अनेक उल्कापात भयको बढाने वाले हुआ करेंगे। (७३-७७)

छः और सूर्योंके सहित यह सूर्य प्रकाशित होंगे, भयानक शब्द होंगे, दिशा जलने लगेंगी, उस कालमें उदय और अस्तके समय राहुमें सूर्य छिपेगा। भगवान् इन्द्र अकाल वर्षा करेंगे, खेतसे अन्न उत्पन्न नहीं होगा, स्त्री अपने पतियोंको कटु बात

अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः ॥ ८० ॥
भर्तृणां वचने चैव न स्थास्यंति ततः स्त्रियः ।
पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यंति युगक्षये ॥ ८१ ॥
सूदयिष्यंति च पतीन्स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः ।
अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति ॥ ८२ ॥
युगांते हुतभुक्चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाऽध्वगाः ॥ ८३ ॥
न लप्स्यंते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ।
निर्घातवायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ॥ ८४ ॥
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ।
मित्रसंबंधिनश्चापि संत्यक्ष्यंति नरास्तदा ॥ ८५ ॥
जनं परिजनं चापि युगांते पर्युपस्थिते ।
अथ देशान्दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ॥ ८६ ॥
क्रमशः संश्रयिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ।
हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ॥ ८७ ॥
विक्रोशमानश्चाऽन्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति ।
ततस्तुमुलसंघाते वर्तमाने युगक्षये ॥ ८८ ॥
द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ।
ततः कालांतरेऽन्यस्मिन्पुनर्लोकविवृद्धये ॥ ८९ ॥

कहेंगी, गाली देंगी, पतियोंके वचनोंको न मानेंगी, रोना ही उनको प्रिय होगा। पुत्र माता पिताओंको मारेंगे, स्त्री पतिको परित्याग कर देंगी। (७८ — ८२)

हे महाराज! विना योग के ही राहु सूर्यको ग्रहण करेगा। युगके अन्तमें बहुत अग्नि सर्वत्र लगेगी, मार्ग चलनेवालोंको मार्गमें याचना करने पर भी अन्न और पानी नहीं मिलेगा, न ठहरनेको स्थान मिलेगा, वह रात्रिको मार्गमें विश्राम करेंगे, कौव्वे, नाग, पक्षी, मृग भयानक और रूखे शब्द करेंगे। मित्र और सम्बन्धियोंको मनुष्य छोड देंगे, जन्मभूमि और देशको त्याग देंगे, और नगरोंमें जा बसेंगे। (८२–८७)

हा पुत्र! हा प्यारे! ऐसे एक दूसरेके लिये रोते हुए मनुष्य पृथ्वी पर घूमेंगे। युगनाशकी ऐसी भयानक अवस्थामें क्रमसे ब्राह्मणादि लोगोंका उत्कर्ष होने लगेगा। कुछ कालके पश्चात् दैवकी

भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ।
यदा सूर्यश्च चंद्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ॥ ९० ॥
एकराशौ समेष्यंति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ॥ ९१ ॥
प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यंत्यनुलोमगाः ।
क्षेमं सुभिक्ष्यमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥ ९२ ॥
कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः ।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ९३ ॥
संभूतः संभलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे ।
मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च ॥ ९४ ॥
उपस्थास्यंति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ।
स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ॥ ९५ ॥
स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ।
उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयांतकृदुदारधीः ॥ ९६ ॥
संक्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः ।
स सर्वत्र गतान्क्षुद्रान्ब्राह्मणैः परिवारितः ।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान्द्विज ॥९७॥ [७२९८]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने नवसाधिकशततमोऽध्यायः ॥१९०॥

कृपासे फिर संसारकी वृद्धि होगी। जब सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति पुष्य नक्षत्र में आवेंगे, तब फिर सतयुग होगा। उस प्रारम्भ समयमें मेघ समय पर वर्षेंगे, नक्षत्र प्रकाशित होंगे, सब ग्रह आकाशमें अपनी शुद्ध गतिसे चलेंगे; रोग जाता रहेगा, सुकाल होगा। ८७-९२

हे राजन्! उस समयमें कल्कि विष्णुयशा नामक ब्राह्मण उत्पन्न होगा, वह महाबली, पराक्रमी, महा बुद्धिमान होगा। सम्भल गांवके एक ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न होगा, उसे शस्त्र और वाहन आपसे आप प्राप्त होगा, उसके पास बडे बडे योधा अस्त्र शस्त्र लिये आपही आजायंगे, वह धर्मसे जगत्को जीत कर एक चक्रवर्त्ती राजा होगा। वह इस व्याकुल हुए जगत्को प्रसन्न करेगा, वह तेजस्वी उदारबुद्धि ब्राह्मण जगतकी रक्षा करेगा, ब्राह्मणोंसे वेष्टित वह कलियुगका अन्त करेगा और सब दुष्ट म्लेच्छोंका नाश करेगा। (९३–९८)

वनपर्वमें एकसौ नव्वे अध्याय समाप्त। ७५९५

मार्कंडेय उवाच – ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम्।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत्कल्पयिष्यति ॥ १ ॥
स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयं भुवि हिताः शुभाः ।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ॥ २ ॥
तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः ।
विप्रैश्चोरक्षयश्चैव कृते क्षेमं भविष्यति ॥ ३ ॥
कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च ।
स्थापयन्द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ॥ ४ ॥
संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान् ।
कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ॥ ५ ॥
हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः ।
विक्रोशमानान्सुभृशं दस्यून्नेष्यति संक्षयम् ॥ ६ ॥
ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत ।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ॥ ७ ॥
आरामाश्चैव चैत्याश्च तडागावसथास्तथा ।
पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च ॥ ८ ॥
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यंति कृते युगे ।

वनपर्वमें एकसौ एकानब्वे अध्याय ।

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! इस तरहसे दस्युओंका नाश करके अश्वमेध यज्ञ करके वह सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर देगा, हित और पवित्र मर्यादाको स्थापित करके वह आप रमणीय वनको चला जायगा, संसारके मनुष्य उसीके उपदेशके अनुसार सुकर्म करेंगे ब्राह्मणोंसे चोरोंका नाश होनेसे जगतमें फिर कल्याण होगा। काला मृगचर्म ब्रह्मचारी ओढेंगे, त्रिशूल आदि शस्त्र क्षत्री लोग धारण करेंगे। वह ब्राह्मणश्रेष्ठ कल्कि अपने जीते हुए देशमें धर्म को स्थापन करके ब्राह्मणोंसे प्रशंसा पाकर ब्राह्मणोंकी सम्मान करके पृथ्वी परसे शत्रुओंका नाश करके विचरेंगा। (१—५)

डाकू लोग हाय मा, हाय बाप, हाय प्यारे ऐसा भयानक शब्द करके कल्किके हाथसे मारे जायेंगे; तब हे भारत! अधर्मका नाश और धर्मकी वृद्धि होगी। उस सतयुगमें सब मनुष्य क्रियावान होंगे। बाग, तलाव, पोखर देवतोंके स्थान, यज्ञ और क्रिया आनन्द

ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ॥ ९ ॥
आश्रमाः सहपाषंडाः स्थिताः सत्यजनाः प्रजाः ।
प्रयंति सर्वबीजानि रोप्यमाणानि चैव ह ॥ १० ॥
सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति ।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ॥ ११ ॥
जप्ययज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः ।
पालयिष्यंति राजानो धर्मेणेमां वसुंधराम् ॥ १२ ॥
व्यवहाररता वैश्या भविष्यंति कृते युगे ।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः ॥ १३ ॥
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च ।
एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ॥ १४ ॥
पश्चिमे युगकाले च यः स ते संप्रकीर्तितः ।
सर्वलोकस्य विदिता युगसंख्या च पांडव ॥ १५ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा ।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १६ ॥
एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना ।
दृष्टाश्चैवाऽनुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ॥ १७ ॥
इदं चैवाऽपरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत ।

पूर्वक सतयुगमें सब लोग करेंगे । ब्राह्मण साधु, मुनि, तपस्वी, और पूर्वयुगमें जो लोग पाखण्डी होते थे, वे सब प्रजाके लोग इस युगमें सत्य बोलनेवाले होंगे । पृथ्वीमें बोये हुए बीज अच्छे फल देंगे । (९—१०)

सब ऋतुओंमें खेती उत्तम होगी । सब मनुष्य दान, तपस्या, व्रतमें लगे रहेंगे; ब्राह्मण लोग जप, यज्ञ और धर्म कामोंमें चित्त लगाये रहेंगे, वैश्य लोग व्यापार करेंगे । हे राजन् ! ब्राह्मण छः कर्मोंके करनेवाले, क्षत्रिय बलवान, शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाले होते हैं । यह धर्म सतयुग, त्रेता, द्वापरमें रहते हैं । कलियुगका धर्म पहिलेही कह चुका हूं । हे पाण्डव ! सब युगोंकी संख्या तुमको मालूम होगयी।(११-१५)

वह मैंने तुमसे इसके भूत और भविष्यत सब कहा, इस तरहसे मैंने संसारकी गति दीर्घ आयु होनेके कारण आपही देखी और भोगी है, उसीके अनुसार तुमसे वर्णन की । हे अक्षय

धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥ १८ ॥
धर्मे त्वयाऽऽत्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर ।
धर्मात्मा हि सुखं राजन्प्रेत्य चेह च नंदति ॥ १९ ॥
निबोध च शुभां वाणीं वा प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन ॥ २० ॥
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान्प्रतिज्ञया ।
वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ॥ २१ ॥
उवाच वचनं धीमानपरमं परमद्युतिः ।
कस्मिन्धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने ॥ २२ ॥
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः ।
मार्कण्डेय उवाच—दयावान्सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ॥ २३ ॥
सत्यवादी मृदुर्दांतः प्रजानां रक्षणे रतः ।
चर धर्मं त्यजाऽधर्मं पितृन्देवांश्च पूजय ॥ २४ ॥
प्रमादाद्यत्कृतं तेऽभूत्सम्यग्दानेन तज्जय ।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान्भव ॥ २५ ॥
विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ।

धार्मिक वर! धर्म सन्देह मिटानेके वास्ते भाइयोंके सहित मेरे वचनको सुनो । हे धर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुमको अपना चित्त नित्य धर्महीमें लगाना चाहिये; क्योंकि धर्मात्मा इस लोक और परलोकमें सुखी रहते हैं । हे पापरहित! मैं तुमसे कल्याणकारी वचन कहता हूं, उनको समझो; ब्राह्मणका कभी अपमान तुम मत करना । ब्राह्मण क्रोध करने पर प्रतिज्ञा पूर्वक संसारका नाश कर सकता है । (१८ — २१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पुरुषश्रेष्ठ बुद्धिमान तेजस्वी महाराज युधिष्ठिर मार्कण्डेयका वचन सुनकर बोले, हे मुनि ! हम प्रजाकी रक्षा करनेके लिये कौनसे धर्मको करें, वह कौनसा कर्म है, जिसमें मेरा धर्म नष्ट न हो ? (२१ — २२)

मार्कण्डेय मुनि बोले हे राजन् ! तुम कृपावान सब प्राणियोंके हिताभिलाषी, मत्सर रहित, सत्यवादी, मीठे, जितेन्द्रिय, प्रजाकी रक्षामें तत्पर रहकर धर्म करो; अधर्मोंको त्यागो; देवता और पितरोंकी पूजा करो; जो कुछ कि तुमने प्रमादसे पाप किया हो उन्हें दानसे जीतो; अभिमान करना वृथा है; सदा लोगोंके इच्छानुसार रहो, सपूर्ण पृथ्वीको जीत-

एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः ॥ २६ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदतीतानागतं भुवि ।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः ॥ २७ ॥
प्राज्ञास्तात न मुह्यंति कालेनाऽपि प्रपीडिताः ।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ॥ २८ ॥
मुह्यंति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः ।
मा च तत्र विशंकाऽभूद्यन्मयोक्तं तवाऽनघ ॥ २९ ॥
अशंक्यं मद्वचो ह्येतद्धर्मलोपो भवेत्तव ।
जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ॥ ३० ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत्समाचर ।
युधिष्ठिर उवाच—यत्त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ॥ ३१ ॥
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ।
न मे लोभोऽस्ति विप्रेंद्र न भयं न च मत्सरः ॥ ३२ ॥
करिष्यामि हि तत्सर्वमुक्तं यत्ते मयि प्रभो ।
वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कंडेयस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
संहृष्टाः पांडवा राजन्सहिताः शार्ङ्गधन्वना ।
विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्राऽऽसन्समागताः ॥ ३४ ॥

कर आनन्दसे भोगो; यह मैंने तुमसे भूत और भविष्यत धर्म कहा।(२३-२६

हे प्यारे ! पृथ्वीमें तुमसे कोई भूत और भविष्यत छिपा नहीं रहा, इस लिये अपने हृदयमें क्लेशको धारण मत करो। हे तात ! बुद्धिमान लोग कालसे दुःखी होकर भी मोहको प्राप्त नहीं होते । हे महाभुज ! यह सब देवतोंका समय है; इसमें सब प्रजा कालकी श्रेणीसे मोहित होती है;तुम मेरे कहे धर्ममें शंका मत करना । मेरे वचन शंकारहित हैं; मेरे वचनोंमें शंका करनेसे तुम्हारा धर्म लोप होगा । हे भरतर्षभ ! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो; इस लिये मनसे कर्मसे वचनसे मेरे कहे कर्मको करो।(२७-३१)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! जो आपने कानोंको सुख देनेवाले उत्तम वचन कहे, मैं आपकी इस आज्ञाको ऐसीही करूंगा, हे विप्रेन्द्र! मुझे लोभ, भय और मत्सर नहीं है। (३१—३३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बुद्धिमान मार्कण्डेय ऋषिके ऐसे वचन सुनकर कृष्ण और पाण्डव लोग बहुत प्रसन्न हुए; विप्रर्षियोंमें श्रेष्ठ जो लोग

तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कंडेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः स्मपर्यंत पुराणस्य निवेदनात् ॥ ३५ ॥ [७६३०]

इति श्रीमहाभारते०मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशासन एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१॥

वैशम्पायन उवाच—भूय एव ब्राह्मण महाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत्पांडवेयो मार्कंडेयम् १ अथाऽऽचष्ट मार्कंडेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानां चरितम् ॥२॥अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः परीक्षिन्नाम मृगयामगमत् ॥३॥तमेकाश्वेन मृगमनुसरंतं मृगो दूरमपाहरत्॥४॥अध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन्देशे नीलं गहनं वनखंडमपश्यत् ५तच विवेश ततस्तस्य वनखंडस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ॥ ६॥अथाऽऽश्वस्तः स बिसमृणालमश्वायाऽग्रतो निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश। ततः शयानो मधुरं गीतमशृणोत् ॥ ७ ॥स श्रुत्वाऽचिंतयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ॥ ८॥ अथाऽपश्यत्कन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वतीं गायंतीं च । अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ॥९ ॥ तामब्रवीद्राजा कस्यासि भद्रे

वहां आये थे, बुद्धिमान मार्कण्डेय की उत्तम और पुरानी कथा सुनकर सब विस्मित हुए। (३३—३५)[७६३०]

वनपर्वमें एकसौ एकानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ बानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! मार्कण्डेय मुनिसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर फिर ऐसा बोले, कि आप और कुछ ब्राह्मण-महात्म्य वर्णन कीजिये। मार्कण्डेय बोले, ब्राह्मणोंके अपूर्व चरित्र सुनो। इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न हुए अयोध्याके राजा परीक्षित एक समय शिकार खेलने गये। वह अकेले घोडे पर चढे हुए एक हरिणके पीछे दूरको चले गये। चलते चलते मार्गमें राजाको बहुत प्यास लगी और थकाई भी आगयी; राजाने बहुत सघन वनका टुकडा देखा। (१–५)

राजा उस वनके टुकडेके बीचमें चले गये, वहां पर उन्होंने एक बडा मनोहर तालाव देखा और घोडेके सहित उसमें नहाके तब राजा स्वस्थ होकर कमलोंकी डंटी (नाल) घोडेके आगे डालकर पोखरके किनारे बैठ गये। तब राजाने सोनेके समय मीठे स्वरके गीत सुने, गीतोंको सुनकर राजा सोचने लगे, कि यहां मनुष्य नहीं, पर गीत किसका है। इसके पश्चात् राजाने एक परम मनोहर रूपवाली कन्याको फूल चीनते हुए देखा, वह कन्या राजाके समीप आई; राजाने उस

का वा त्वमिति । सा प्रत्युवाच कन्याऽस्मीति तां राजोवाचार्थी त्वयाऽहमिति ॥ १० ॥ अथोवाच कन्या समयेनाऽहं शक्या त्वया लब्धुं नाऽन्यथेति राजा तां समयमपृच्छत् । कन्योवाच नोदकं मे दर्शयितव्यमिति ॥ ११ ॥ स राजा तां बाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परीक्षित्क्रीडमानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं संगम्य तया सहाऽऽस्ते ॥ १२ ॥ ततस्तत्रैवाऽऽसीने राजनि सेनाऽन्वगच्छत् ॥ १३ ॥ सा सेनोपविष्टं राजानं परिवार्याऽतिष्ठत्पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिबिकया प्रायादघट्टितया स स्वं नगरमनुप्राप्य रहसि तया सहाऽऽस्ते ॥ १४ ॥ तत्राऽभ्याशस्थोऽपि कश्चिन्नाऽपश्यदथ प्रधानामात्योऽभ्याशचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत् ॥ १५ ॥ किमत्र प्रयोजनं वर्तते इत्यथाऽब्रुवंस्ताः स्त्रियः ॥ १६ ॥ अपूर्वमिव पश्याम उदकं नाऽत्र नीयत इत्यथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुपुष्पफलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं गूढां सुधासलिलपूर्णां स रहस्युपगम्य रा-

कन्यासे पूछा, कि तुम कौन और किसकी कन्या हो? वह बोले, मैं कन्या हूं। राजा बोले, मैं तुमको लेना चाहता हूं। (९—१०)

तब कन्याने कहा, तुम इस समय एक प्रतिज्ञा करके मुझे ले सकते हो, मैं यह सत्य कहती हूं। राजाने कहा, कौनसे समय तक प्रतिज्ञापूर्वक ले सकता हूं? कन्याने कहा, जबतक मुझे जल न दीखे। राजाने कहा ठीक है। राजाने उससे विवाह करके परम आनन्दके साथ मौनी होकर एकान्तमें उससे क्रीडा की। राजाके वहीं बैठे बैठे सेना आगई और उस सेनाने राजाको चारों ओरसे घेर लिया, पश्चात् विश्रामको प्राप्त हुआ राजा उसी स्त्रीके साथ पालकी में मृदु शय्यापर बैठ कर चला और अपने नगरको प्राप्त होकर एकान्तमें उसीके साथ रहने लगा। (११ — १४)

राजा उसकी क्रीडामें ऐसे मग्न हुए, कि किसीको उनके दर्शनभी न होते थे। एक दिन प्रधान-मन्त्रीने उनके समीपचारिणी स्त्रियोंसे पूछा कि क्या करना चाहिये? स्त्रियोंने कहा कि मैं अद्भुत लीला देखती हूं, कि राजाके क्रीडास्थानमें जल नहीं जाता। तब प्रधान मन्त्रीने एक बाग ऐसा बनवाया जिसमें पुष्प और फूलोंसे भरे वृक्ष थे किन्तु जल नहीं था। मौक्तिक जालके बीचमें एक अमृतके समान जलसे भरी हुई बावडी बनाई थी। तब एकान्तमें जाकर राजमन्त्रीने कहा, महाराज! एक विचित्र वन

जानमब्रवीत् ॥ १७ ॥ वनमिदमुदारकं साध्वत्र रम्यतामिति ॥ १८ ॥ स तस्य वचनात्तयैव सह देव्या तद्वनं प्राविशत्स कदाचित्तस्मिन्कानने रम्ये तयैव स व्यवाहरदथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्तकागारमपश्यत् १९ ॥ तत्प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ॥ २० ॥ दृष्ट्वैव च तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्याऽवातिष्ठत् ॥ २१॥ अथ तां देवीं स राजाऽब्रवीत्साध्ववतर वापीसलिलमिति । सा तद्वचः श्रुत्वाऽवतीर्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुद्मज्जत् ॥ २२ ॥ तां स मृगयमाणो राजा नाऽपश्यद्वापीमथ निःस्राव्य मंडूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास स राजा ॥ २३॥ सर्वत्र मंडूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी स मां मृतमंडूकोपायनमादायोपतिष्ठेदिति ॥ २४ ॥ अथ मंडूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान्भयमाविवेश ते भीता मंडूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन्॥२५॥ ततो मंडूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्यगच्छदुपेत्य चैनमुवाच ॥२६॥मा राजन्क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नाऽर्हसि मंडूकानामनपराधिनां वधं कर्तुमिति श्लोकौ चाऽत्र भवतः ॥ २७ ॥

जलरहित बना है, आप उसमें चलके विहार कीजिये। (१५–१८)

राजा मन्त्रीके वचनसे उस वनमें गये। एक दिन राजाको विहार करते करते प्यास लगी और बहुत थक गये, तब राजाने उस माधवीलताकुञ्जको देखा तब राजा उस स्त्रीके सहित उस घरमें गये और स्वच्छ जलसे भरी उस बावडी को देखा और उसके किनारे पर रानीके सहित बैठ गये, रानीको कहने लगे देखो, यह क्या सुन्दर जल है, इसमें तुम स्नान करो। रानी राजाके वचन सुनके उस जलमें प्रविष्ट हुई और फिर न निकली। (१९ — २२)

राजाने उस बावडीका सब जल निकलवाकर उसे बहुत ढूंढा पर वह कहीं न मिली, किन्तु उस बावडीके एक गढेमें मेढकको देखा। उस मेढकको देखकर राजाने आज्ञा दी कि सब मेढकोंको मार डालो। जो कोई मेढकको मार लावेगा उसको राज्यसे धन मिलेगा। जब मेढकोंका भयानक वध आरंभ हुआ, तो मेढक भयको मारे दशों दिशाको भागने लगे और मेढकराजसे जाकरके अपने दुःखको कहा। (२३—२५)

मेढकराजने तपस्वीका रूप धारण करके राजाके पास जाकर कहा, हे राजन्! क्रोधके वशमें न हो, कृपा करो,

मा मंडूकाञ्जिघांस त्वं कोपं संधारयाऽच्युत ।
प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ॥ २८ ॥
प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसि ।
अलं कृत्वा तवाऽधर्मं मंडूकैः किं हतैर्हि ते ॥ २९ ॥

तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजाऽथोवाच ३० न हि क्षम्यते तन्मया हनिष्याम्येतानेतैर्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता । सर्वथैव मे वध्या मंडूका नाऽर्हसि विद्वन् मामुपरोद्धुमिति ॥ ३१ ॥ स तद्वाक्यमुपलभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मंडूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम तस्या हि दौःशील्यमेतद्बहवस्तया राजानो विप्रलब्धाः पूर्वा इति ॥ ३२ ॥ तमब्रवीद्राजा तयाऽऽस्म्यर्थी सा मे दीयतामिति ॥ ३३ ॥ अथैनां राज्ञे पिताऽदादब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति ॥ ३४ ॥ स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात्त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्मादब्रह्मण्यानि तवाऽपत्यानि भविष्यन्त्यनृतिकत्वात्तवेति ॥ ३५ ॥ स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोक-

निरपराधी मेढकोंको मत मारो। यहां पर पुराणके दो श्लोक हैं। हे राजन्! तुम क्रोधको छोडो मेढकोंको न मारो, अविवेकी पुरुषका धन नष्ट हो जाता है, मेढकोंके मारनेसे तुम्हारी स्त्रीका शोक दूर नहीं होगा। इस अधर्म करनेसे तुम्हारा कोई हित नहीं होगा। (२८—२९)

ऐसे शोकसे भरे हुए वचन राजाने सुनकर कहा, हे विद्वन्! इन दुष्टोंने मेरी स्त्रीको खा लिया है, इस लिये मैं इनपर क्षमा नहीं कर सकता हूं, मेढक मेरे मारनेके योग्य हैं, आप न रोकिये। राजाके वचन सुन मेढकराज बहुत व्याकुल हुआ और कहने लगा। महाराज! कृपा कीजिये, मैं आयु नामक मेढकोंका राजा हूं, वह मेरी शोभना नामक कन्या थी, यह उसीकी दुष्टता है; इसी तरह उसने अनेक राजोंको ठगा है। (३०—३२)

राजाने मेढकराजसे कहा, कि उस कन्याको तुम मुझे देदो। मेढकराजने कन्यादान राजाको दे दिया और कन्यासे कहा, कि तुम इस राजाकी सेवा करो; ऐसा कहकर अपनी कन्याको मेढकराजने शाप दिया, कि जिस कारणसे तैंने बहुत राजाको ठगा है, इसलिये तेरे प्रमादसे तेरी सन्तान ब्राह्मणभक्त न हो। राजा परीक्षित उस स्त्रीको पाकर ऐसा आनान्दित हुआ, मानो तीनलोकका राज्य

अथैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षेण बाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याऽभिपूज्य मंडूकराजमब्रवीदनुगृहीतोऽस्मीति ॥ ३६॥ स च मंडूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥ ३७ ॥ अथ कस्यचित्कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः संबभूवुः शलो दलो बलश्चेति ततस्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥ ३८ ॥ अथ कदाचिच्छलो मृगयामनुचरन्मृगमासाद्य रथेनाऽन्वधावत् ॥३९॥ सूतं चोवाच शीघ्रं मां वहस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ॥ ॥ ४० ॥ न क्रियतामनुबंधो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं ग्रहीतुं यद्यपि रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति ततोऽब्रवीद्राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ हन्मि च त्वामिति । स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेवशापभीतश्च सन्नाचख्यौ राज्ञे । ततः पुनः स राजा खड्गमुद्यम्य शीघ्रं कथयस्वेति तमाह हनिष्ये त्वामिति । स तदाऽऽह राजभयभीतः सूतो वामदेवस्याऽश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥४१॥ अथैनमेवंब्रुवाणमब्रवीद्राजा वामदेवाश्रमं प्रयाहीति स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत्

उसे मिला, आनन्दकी आंसू आंखोंमें भरकर मेढकराजसे बोला, कि आपने मुझे कृतार्थ किया। मेढकराजभी अपनी कन्याको उपदेश देकर चले गये। ३३-३७

कुछ कालके पीछे उस राजाको उसी कन्यासे तीन पुत्र उत्पन्न हुए एकका नाम शल, दूसरेका दल, तीसरेका बल उनमेंसे बडे शलको राजा राज्य देकर तपस्या करनेकी इच्छासे वनको चले गये। एक समय राजा शल रथमें बैठकर शिकार खेलनेको गया, दौडते हुए मृगको देखकर राजाने सारथीको कहा कि शीघ्र मेरे रथको इसके पीछे ले चलो। राजाके वचन सुनकर सारथी बोला हे राजन्! यदि तुम्हारे रथमें वामी घोडे जुते होते, तो भी आप इस मृगको नहीं पकड सकते हो; आग्रह मत करो। तब राजाने सूतसे कहा; कि बतला वामी घोडे कहा हैं? नहीं तो मैं तुम्हें मार डालूंगा। (३८-४१)

राजाके ऐसे वचन सुनके सूत डरा और वामदेव ऋषिके शापसे डर कर कुछ न बोला। तब राजाने खड्ग उठाकर सूतसे कहा, कि जलदी बतला नहीं तो मैं तुझको मारता हूं। तब सूत बहुत डर कर बोले, हे महाराज? वामदेव ऋषिके घोडे, मनके समान चलनेवाले हैं। ऐसा सुनकर राजाने सूतसे कहा, वामदेव मुनिके आश्रम पर चल, वामदेव ऋषिके आश्रमपर जाकर राजा ऋषिसे

॥ ४२ ॥ भगवन्मृगो मे विद्धः पलायते संभावयितुमर्हसि वाम्यौ मे दातुमिति तमब्रवीद्दृषिर्ददानि ते वाम्यौ कृतकार्येण भवता ममैव वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति स च तावश्वौ प्रतिगृह्याऽनुज्ञाप्य ऋषिं प्रायाद्वामीप्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रतिगच्छंश्चाऽब्रवीत्सूतमश्वरत्नाविमावयोग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याऽश्वावन्तःपुरेऽस्थापयत् ॥ ४३ ॥ अथर्षिश्चिन्तयामास तरुणो राजपुत्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते न प्रतिनिर्यातयत्यहो कष्टमिति ॥ ४४ स मनसा विचिंत्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥ गच्छाऽऽत्रेय राजानं ब्रूहि यदि पर्याप्तं निर्यातयोपाध्यायवाम्याविति स गत्वैवं तं राजानमब्रवीत्तं राजा प्रत्युवाच राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवंविधानां किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्यं साधु गम्यताम् ॥ ४६ ॥ स गत्वैतदुपाध्यायायाऽऽचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानमभिगम्याऽश्वार्थमचोदयन्न चाऽददद्राजा ४७॥ वामदेव उवाच-प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं कृतं हि ते कार्यमाभ्यामशक्यम्।

बोले, हे भगवन् ! मेरे बाणसे विंधा हुआ मृग भागा जाता है, आप मुझे घोडे दीजिये । (४१–४२)

ऋषिने कहा, अच्छा देता हूं, परन्तु अपना काम करके शीघ्र मुझे लौटा देना । राजा ऋषिसे घोडे लेके ऋषिके आज्ञानुसार उनको रथमें जोड कर मृग को मारने चले, चलते चलते राजाने सूतसे कहा कि यह घोडे रत्नके समान हैं इस लिये ब्राह्मणके पास रहने योग्य नहीं हैं, वामदेवको यह घोडे नहीं देना चाहिये, ऐसा कह कर मृगको पकड लिया और अपने नगरको चला आया और घोडे वहीं रख लिया। तब ऋषिने विचारा, कि राजपुत्र युवा है । अपने कल्याण को नहीं सोचता, मेरे घोडों को लेकर रमण करता है। (४३—४४)

एक महीना पूरा होनेके पश्चात् अपने शिष्यको वामदेवने कहा, हे आत्रेय ! राजासे जाकर कहना, कि तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया, अब घोडे देदो। आत्रेय ने राजासे जाकर ऐसाही कहा। राजाने आत्रेयको उत्तर दिया, कि यह रत्नके समान घोडे राजोंके योग्य हैं, ब्राह्मणोंको घोडोंसे क्या काम, आप जाइये। आत्रेयने आकर वामदेवसे राजाके वचन कह दिये। राजाकी अप्रिय बातोंको सुनकर वामदेवको बडा क्रोध हुआ और आपही राजा के पास जाकर घोडे मागे, पर राजाने न दिये । (४५—४७)

मा त्वाऽवधीद्वरुणो घोरपाशैर्ब्रह्मक्षत्रस्यांतरे वर्तमानम् ॥ ४८ ॥
राजोवाच -अनड्वाहौ सुव्रतौ साधुदांतावेतद्विप्राणां वाहनं वामदेव ।
ताभ्यां याहि त्वं यत्र कामो महर्षे छंदांसि वै त्वादृशं संवहंति ॥ ४९ ॥
वामदेव उवाच-छंदांसि वै मादृशं संवहंति लोकेऽमुष्मिन्पार्थिव यानि संति।
अस्मिंस्तु लोके मम यानमेतदस्मद्विधानामपरेषां च राजन् ॥ ५० ॥
राजोवाच-चत्वारस्त्वां वा गर्दभाः संवहंतु श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः ।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ५१
वामदेव उवाच -घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहुरेतद्राजन्यदिहाजीवमानः ।
अयस्मया घोररूपा महांतश्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः ।
मया प्रयुक्तास्त्वद्वधमीप्समाना वहंतु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ॥ ५२ ॥
राजोवाच- ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव वाचा हंतुं मनसा कर्मणा वा ।
ते त्वां सशिष्यमिह पातयंतु मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलासिहस्ताः ॥५३ ॥
वामदेव उवाच-ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन्पुनर्ददानीति प्रपद्य मे त्वम् ।

वामदेव बोले, हे राजन् ! तुमने इन घोडोंसे अपना अशक्य काम पूरा कर लिया; अब मुझे देदो, ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें भेद उत्पन्न करनेवाले तुमको वरुण अपने फांसीसे गलेमें न बांधे वैसा करो। राजा बोले, हे महर्षे वामदेव! ये बहुत सीधे और स्वरूपवान दो बैल ब्राह्मणोंकी सवारीके योग्य हैं, इन्हें तुम लेकर जहां इच्छा हो जाओ, छन्दही आपके सरीखे ब्राह्मणको वहते हैं। वामदेव बोले, हे राजन् ! परलोकमें यदि छन्दही हमको वहते हैं, तोभी इस लोकमें यह मेरी और इतरोंकी सवारी हैं; इस लिये मुझे देदो। राजा बोले, हे वामदेव ! मैं तुम्हे चार गधे देता हूं; उन पर चढकर जहां चाहो वहां जाओ, अथवा यह खच्चरी वा वायुके समान चालवाली अश्वीको लेलो. परन्तु यह दोनों वामी घोडे क्षत्रियोंके योग्य हैं, इस लिये मेरे समझो। (४८--५१)

वामदेव बोले हे राजन् ! ब्राह्मणोंके द्रव्य पर जीने वाले क्षत्रियोंका यह कर्म घोर पापकारी है। इस लिये चार भयानक राक्षसोंको मैं आज्ञा देता हूं, कि वे तुम्हें त्रिशूल धारण करके मारडालेंगे। राजा बोले, हे वामदेव ! जो मन वाणी और कर्मसे मेरे वधके लिये उद्युक्त तुम ब्राह्मणको जानते हैं, वह अब मेरी आज्ञासे तीक्ष्ण खड्ग धारण करनेवाले वीर शिष्य सहित तुम्हें मारडालेंगे। वामदेव बोले, हे राजन् ! यह घोडे मेरे हैं, 'तुमको फिर दे दूंगा' ऐसा कहके तुम

प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात् ५४

राजोवाच—न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता न त्वाऽनुशास्म्यद्यप्रभृति ह्यसत्यम् ।
तवैवाऽऽज्ञां संप्रणिधाय सर्वां तथा ब्रह्मन्पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ५५ ॥

वामदेव उवाच—नाऽनुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति वाचा राजन्मनसा कर्मणा वा ।
यस्त्वेवं ब्रह्म तपसाऽन्वेति विद्वांस्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ॥ ५६ ॥

मार्कंडेय उवाच-एवमुक्ते वामदेवेन राजन्समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः ।
तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम् ॥ ५७ ॥

इक्ष्वाकवो यदि ब्रह्मन्दलो वा विधेया मे यदि वैश्य विशोऽपि ।
नोत्स्रक्ष्येऽहं वामदेवस्य वाम्यौ नैवंविधा धर्मशीला भवन्ति ॥ ५८ ॥

एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानैर्हतो जगामाऽऽशु महीं क्षितीशः ।
ततो विदित्वा नृपतिं निपातितमिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिंचन् ॥ ५९ ॥

राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः ।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देयमेवं राजन्सर्वधर्मेषु दृष्टम् ॥ ६० ॥

बिभेषि चेत्त्वमधर्मान्नरेंद्र प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाऽद्य वाम्यौ ।

घोडे लाये थे, पर तुम जो जीना चाहते हो तो मेरे घोडे मुझे देदो ।(५२–५४)

राजा बोले हे द्विज ! ब्राह्मणोंको शिकार खेलना नहीं होता; मैं असत्य वादी तुमको दण्ड नहीं दूंगा और आपकी आज्ञामें रहूंगा, इसीसे मैं उत्तम लोक को प्राप्त होऊंगा । वामदेव बोले, हे राजन् ? ब्राह्मणोंको मन और वचन सेभी दण्ड नहीं दिया जाता । जो श्रेष्ठ विद्वान ब्राह्मण जाति की सेवा करता है सेवारूप तपसे वही इस लोकमें जीते रहते हैं । (५५–५६)

श्री मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! वामदेवके ऐसे बोलतेही घोररूपी राक्षस हाथमें त्रिशूल लिये आकर राजाको मारने लगे । तब राजाने कहा, कि हे ब्रह्मन् ! यदि इक्ष्वाकु वंशके लोग, दल, मैं और मेरे प्रजाजन मेरी आज्ञामें रहेंगे तो सत्य कहता हूं कि मैं वामदेवके घोडे नहीं दूंगा । पराक्रमवाले पुरुष अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोडते। ऐसे कहतेही कहते राक्षसों ने राजाको मार डाला । इक्ष्वाकुवंशियोंने राजा शलको मरा हुआ देख, उसके छोटे भाई दलको राज्याभिषेक किया । (५७ — ५९)

तब वामदेवने राज्यमें आकर कहा, कि ब्राह्मणोंका धन देदो, क्योंकि यह सब धर्मोंमें लिखा है, कि ब्राह्मणोंका धन कभी नहीं रखना चाहिये, हे राजेन्द्र! यदि तुम अधर्मसे डरते हो तो मेरे

एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात् ॥ ६१ ॥
एकं हि मे सायकं चित्ररूपं दिग्धं विषेणाऽऽहर संगृहीतम् ।
येन विद्धो वामदेवः शयीत संदश्यमानः श्वभिरार्तरूपः ॥ ६२ ॥
वामदेव उवाच-जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाऽहं जातं महिष्यां श्येनजितं नरेंद्र।
तं जहि त्वं मद्वचनात्प्रणुन्नस्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ॥ ६३ ॥
मार्कण्डेय उवाच—एवमुक्तो वामदेवेन राजन्नंतःपुरे राजपुत्रं जघान ।
स सायकास्तिग्मतेजा विसृष्टः श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं बभाषे ॥ ६४ ॥
राजोवाच-इक्ष्वाकवो हंत चरामि वः प्रियं निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य ।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ॥ ६५ ॥
वामदेव उवाच-यत्त्वमेनं सायकं घोररूपं विषेण दिग्धं मम संदधासि ।
न त्वेतं त्वं शरवर्यं विमोक्तुं संधातुं वा शक्ष्यसे मानवेंद्र ॥ ६६ ॥
राजोवाच-इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम् ।
न चाऽस्य कर्तुं नाशमभ्युत्सहामि आयुष्मान्वै जीवतु वामदेवः ॥ ६७
वामदेव उवाच-संस्पृशयैनां महिषीं सायकेन ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् ।

घोडे जलदी दे दो। वामदेवके वचन सुनके राजा दलने क्रोध करके सूतसे कहा, कि मेरा विषसे भरा हुआ बाण लेआ जिससे विंधकर वामदेव गतप्राण होकर पृथ्वीमें गिर जायगा और इसको सिआर खायेंगे। वामदेव बोले, हे राजन्! मैं जानता हूं कि तुमको दस वर्षका पुत्र है, वह तेरी पटरानीसे उत्पन्न हुआ है, श्येनजित जिसका नाम है, मेरे घोर वचनसे प्रेरित होकर इस घोर बाणसे अपने प्यारे पुत्रको मार। (६०-६३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, वामदेवके ऐसे वचन सुनकर राजाने उस बाणको छोडा और उस बाणने रणवासमें जाकर उसके राजपुत्रको मारडाला। तब वह बहुत क्रोध करके बोला, हे इक्ष्वाकुवंशीय राजगण! मैं तुम्हारे कल्याणके लिये अभी इस ब्राह्मणको मार डालता हूं, मेरा महातेजस्वी दूसरा बाण लाओ और मेरे पराक्रमको देखो। वामदेव बोले, जो इस विषसे बुझे बाणको मेरे ऊपर चलाना चाहता है, इस लिये तूं इस बाणको मेरे ऊपर नहीं चला सकेगा तथा धनुषमें जोडना भी नहीं सकेगा। ६४-६६

राजा बोले, हे इक्ष्वाकुवंशियो! तुम मुझे देखो कि मैं बाण नहीं चला सकता हूं, अब यह ब्राह्मण वामदेव दीर्घआयु हो और जीता रहे। वामदेव बोले, हे राजेन्द्र! तू इस बाणसे अपनी स्त्रीको स्पर्शकर, तब तेरा कल्याण होगा।

ततस्तथा कृतवान्पार्थिवस्तु ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ॥ ६८ ॥
राजपुत्र्युवाच-यथा युक्ता वामदेवाऽहमेनं दिने दिने संदिशंती नृशंसम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सूनृतानि तथा ब्रह्मन्पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ६९ ॥
वामदेव उवाच-त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे वरं वृणीष्वाऽप्रतिमं ददानि ते।
प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिंद्यं ॥ ७० ॥
राजपुत्र्युवाच-वरं वृणे भगवंस्त्वेवमेवं विमुच्यतां किल्बिषादद्य भर्ता ।
शिवेन चाऽध्याहि सपुत्रबांधवं वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्र्य॥ ७१ ॥
मार्कंडेय उवाच-श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्यास्तथाऽस्त्विति प्राह कुरुप्रवीर ।
ततः स राजा मुदितो बभूव वाम्यौ चास्मै प्रददौ संप्रणम्य ७२[७७०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि मंडूकोपाख्याने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृषिः
केन दीर्घायुरासीद्बको मार्कंडेयस्तु तान्सर्वानुवाच॥ १ ॥ महातपा
दीर्घायुश्च बको राजर्षिर्नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ २ ॥

राजाने वैसाही किया, तब राजाकी पट रानी मुनिसे बोली, कि हे वामदेव ! मैं प्रतिदिन इस निर्लज्ज पतिको अच्छा उपदेश करती रहती थी । ब्राह्मणोंकी सेवाके वास्ते कहती रहती थी, इस कारण से मुझे उत्तम लोक प्राप्त हो। (६७-६९)

वामदेव बोले, हे सुलोचने ! तूने दोनों राजकुलको पवित्र किया, जो तेरी इच्छा हो सो वर मांग, मैं तुझे दूंगा । हे राजपुत्री ! तू अपने कुलके मनुष्योंकी और इक्ष्वाकुकुलके राज्यकी रक्षा कर । रानी बोली, हे भगवन् ! मैं यही वर मांगती हूं कि मेरा पति पापसे छूट जाय । राजाका पुत्र और भाइयोंके सहित कल्याण हो । हे ब्राह्मणोत्तम ! मैं यही वर मांगती हूं । (७० — ७१)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले रानीके ऐसे वचन सुनके वामदेवने कहा ऐसेंही हो । राजा दलभी वामदेवका वचन सुनकर प्रसन्न हुआ और वामी घोडे देकर वामदेवको प्रणाम किया । (७२) [७७०२]

वनपर्वमें एकसौ बाणवे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ तिरानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! युधिष्ठिर ब्राह्मण और ऋषि लोग, फिर मार्कण्डेय मुनिसे पूछने लगे कि हे महा मुनि! बककी दीर्घ अवस्था क्यों हुई ? श्रीमार्कण्डेय मुनि उन लोगोंसे कहने लगे, कि राजर्षि बक दीर्घ आयु थे; इसमें कुछ सन्देह नहीं है । (१—२)

एतच्छ्रुत्वा तु कौंतेयो भ्रातृभिः सह भारत ।
मार्कंडेयं पर्यपृच्छद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
बकदाल्भ्यौ महात्मानौ श्रूयेते चिरजीविनौ ।
सखायौ देवराजस्य तावृषी लोकसंमतौ ॥ ४ ॥
एतदिच्छामि भगवन्बकशक्रसमागमम् ।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ५ ॥
मार्कण्डेय उवाच—वृत्ते देवासुरे राजन्संग्रामे लोमहर्षणे ।
त्रयाणामपि लोकानामिंद्रो लोकाधिपोऽभवत् ॥ ६ ॥
सम्यग्वर्षति पर्जन्ये सस्यसंपद उत्तमाः ।
निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥ ७ ॥
मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः ।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिषूदनः ॥ ८ ॥
ततस्तु मुदितो राजन्देवराजः शतक्रतुः ।
ऐरावतं समास्थाय ता पश्यन्मुदिताः प्रजाः ॥ ९ ॥
आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ।
नगराणि समृद्धानि खेटाञ्जनपदांस्तथा ॥ १० ॥
प्रजापालनदक्षांश्च नरेंद्रान्धर्मचारिणः ।
उदपानं प्रपावापीतडागानि सरांसि च ॥ ११ ॥

हे भारत ! ऐसा सुनके धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंके सहित मार्कण्डेय मुनिसे पूछने लगे; हे भगवन् ! बक और दाल्भ्य नामक महात्मा चिरजीवी सुने जाते हैं, यह दोनों राजऋषि इन्द्रके मित्र हैं। यह मैं सुनना चाहता हूं, कि राजा इन्द्रसे और इनसे कैसे समागम हुआ और उन्होंने कैसे सुख दुःख सहे, आप मुझसे सब कहिये। (३–५)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, कि भयानक देवासुरसंग्रामके समाप्त होनेपर इन्द्र महाराज तीनों लोकोंके स्वामी हुए उस समयमें मेघ ठीक बरसते थे, भूमिसे अन्न बहुत उत्पन्न होते थे। प्रजा धर्मात्मा निरोग सुख और सम्पत्तिसे भरी थी। सब मनुष्य अपने धर्ममें स्थिर और प्रसन्न चित्तसे रहते थे। सब प्रजाको सुखी देखकर राजा इन्द्र प्रसन्न हुए, एक दिन ऐरावत हाथीपर चढकर प्रजाको देखने के लिये चले। (६—९)

चित्र विचित्र आश्रम, नदी, नगर ऋद्धि सिद्धिसे भरे हुए देश, प्रजापालन

नानाब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ।
ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजन्कुलक्रतुः ॥ १२ ॥
तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप ॥ १३ ॥
तत्राऽऽश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ।
तत्राऽऽश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ॥ १४ ॥
बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाऽभवत् ।
पाद्यासनार्घ्यदानेन फलमूलैरथाऽर्चयत् ॥ १५ ॥
सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः ॥ १६ ॥
शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन्किं दुःखं चिरजीविनाम् ॥१७॥
बक उवाच—अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विना भवः ।
असद्भिः संप्रयोगश्च तद्दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १८ ॥
पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ।
परेष्वायत्तता कृच्छ्रं किं नु दुःखतरं ततः ॥ १९ ॥
नाऽन्यद्दुःखतरं किंचिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः संपरिभूयते ॥ २० ॥

में निपुण राजा, बावडी, तलाब पोखर और ब्राह्मणोंसे सेवित तीर्थोंको देखते हुए पृथ्वीपर उतरे । राजन् ! पूर्वदिशा में मनोहर अनेक वृक्षोंसे पूरित समुद्र के तटपर एक देश देखा, उसमें अनेक मृग और पक्षियोंसे पूर्ण एक मनोहर पवित्र आश्रममें बक रहते थे। (१०-१४)

बकने महाराज इन्द्रको देखकर बहुत प्रीति करी । अर्घपाद्य और आसन देकर इन्द्रकी पूजा की । जब महाराज इन्द्र सुखसे बैठ गये, तब इन्द्रने बकसे प्रश्न किया, हे पाप रहित मुने ! तुम्हारी अवस्थाके एक लाख वर्ष बीत गये हैं; मुझसे कहो कि अधिक जीने वाले मनुष्योंको क्या दुःख होता है । (१५-१७)

बक बोले, अप्रियोंके साथ रहना, प्रियोंका विरह और दुष्टोंके संग व्यवहार कराना यही चिरजीविके दुःखके कारण हैं । स्त्री, पुत्र, जातिवाले और मित्रोंका नाश और अन्य लोगोंके अधीन रहना इससे अधिक क्या दुःख होगा? हे देवराज ! धनहीन पुरुषका दूसरों-

अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगं च पश्यंति चिरजीविनः ॥ २१ ॥
अपि प्रत्यक्षमेवैतत्तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ॥ २२ ॥
देवदानगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवंति विपर्यासं किं नु दुःखतरं ततः ॥ २३ ॥
कुले जाताश्च क्लिश्यंते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्राऽवमताः किं नु दुःखतरं ततः ॥ २४ ॥
लोके वैधर्म्यमेतत्तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च हृष्यंते क्लिश्यंते प्राज्ञकोविदाः ॥ २५ ॥
बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ।
इंद्र उवाच -- पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ॥ २६ ॥
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ।
बक उवाच -- अष्टमे द्वादशे वाऽपि शाकं यः पचते गृहे ॥ २७ ॥
कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ।
यत्राऽहानि न गण्यंते नैनमाहुर्महाशनम् ॥ २८ ॥

से पराभूत होना इससे अधिक दुःख नहीं है, दीर्घजीवी लोग कुलहीनोंके कुल की वृद्धि और कुलीनोंका कुलक्षय और अनेक प्रकारके संयोग वियोग देखते हैं।१८-२१

हे इन्द्र! तुम इसको जानते हो, कि कुलहीनोंके कुलकी वृद्धि और नाश कैसे होती है। देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, राक्षस, और सर्पोंके विपरीत स्थिति को देखना बहुत बडा भारी दुःख है; उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए अनेक मनुष्योंको छोटे कुलवालोंके वशमें हो कर दुःखी देखकर और धनाढ्योंसे अपमानित दरिद्रोंको देखके किसे दुःख नहीं होता ? लोकमें बहुत ही विपरीत धर्म देखते हैं। ज्ञान रहित मनुष्य सुखी और विद्वान् दुःखी देख पडते हैं; हे देवेन्द्र! मनुष्य जन्ममें अनेक क्लेश और अनेक दुःख हैं। (२२—२५)

इन्द्र बोले, हे महाभाग! हे ऋषियोंसे सेवित! आप मुझसे यह भी कहिये कि दीर्घ-जीवियोंको क्या सुख मिलते हैं। बक मुनि बोले, हे देवेन्द्र! हे भगवन्! कुमित्रके आश्रय न करके दिनके आठवें या द्वादसवें भागमेंभी जो अपने घरमें साग पका खाते हैं; इससे अधिक सुख क्या होगा ? क्योंकि उन-

अपि शाकंपचानस्य सुखं वै मघवन्गृहे ।
आर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कंचन　　॥ २९ ॥
फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।
परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः　॥ ३० ॥
सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् ।
श्ववत्कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति　॥ ३१ ॥
धिगस्तु तस्य तद्भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ।
यो दत्वाऽतिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥
शिष्टान्यन्नानि यो भुंक्ते किं वै सुखतरं ततः ।
अतो मृष्टतरं नाऽन्यत्पूतं किंचिच्छतक्रतो　॥ ३३ ॥
दत्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुंक्ते तेनैव नित्यशः ।
यावतो ह्यंधसः पिंडानश्नाति सततं द्विजः　॥ ३४ ॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ।
यदेनो यौवनकृतं तत्सर्वं नश्यते ध्रुवम्　॥ ३५ ॥

में बैठनेसे दिनकी गिनती नहीं जान पडती है तथा उसको अधिक खाने वाला कोई नहीं कहता है । जो अपने बलसे उत्पन्न हुए सागको अपने घरमें खाता है, उसके बराबर कोई सुखी नहीं है । (२६—२९)

और जो दूसरेके आश्रयसे रहता है उसके बराबर दुःखी कोई नहीं है;अपने घरमें बैठ कर साग और फल खाना भी बहुत उत्तम है; परन्तु दूसरेके घरमें अपमानित होकर उत्तम भोजन करना भी उत्तम नहीं है, महात्माओंने कहा है, कि दूसरेके घरमें उत्तमसे उत्तम परम स्वादु भोजन करना भी वैसाही है, जैसे कुत्तेको टुकडा डाल देते हैं । दुसरेके यहां भोजन करनेवालेको महात्माओंने कुत्ता और रुधिर पीनेवाला कहा है । उस पापी दुष्टको धिक्कार है । (३०–३२)

जो अतिथि और पितरोंको विना दिये खा लेता है। जो मनुष्य अपने घर में पितर और अतिथिको देकर पवित्र अन्न खाते हैं, उनके बराबर कोई सुखी नहीं है । हे इन्द्र ! अपने अन्नके समान स्वादु और पवित्र और कोई अन्न नहीं है । जो गृहस्थ अपने घरमें अतिथिको देके भोजन करता है, वह अतिथि जितना ग्रास खाता है, उस गृहस्थ को उतनेही सहस्र गौदानका फल होता है और उसने यौवनावस्थामें जो पाप किया है सो सब नष्ट हो जाता है । ३२–३५)

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम् ।
यद्वारि वारिणा सिंचेत्तद्धयेनस्तरते क्षणात् ॥ ३६ ॥
एताश्चाऽन्याश्च वै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः ।
बकेन सह देवेंद्र आपृच्छ्य त्रिदिवं गतः ॥ ३७ ॥ [७७३२]

इति श्रीमहाभारते० मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहाभाग्ये बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः १९३

वैशम्पायन उवाच—ततः पांडवाः पुनर्मार्कंडेयमूचुः ॥ १ ॥ कथितं ब्राह्मण-महाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषामह इति तानुवाच मार्कं-डेयो महर्षिः श्रूयतामिति इदानीं राजन्यानां महाभाग्यमिति। कुरूणा-मन्यतमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभिगम्य निवृत्य रथस्थमेव रा-जानमौशीनरं शिबिं ददर्शाऽभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयः पूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वाऽन्योन्यस्य पंथानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादुरासीत्किमिदं भवंतौ परस्परस्य पं-थानमावृत्य तिष्ठत इति ॥ २ ॥ तावूचतुर्नारदं नैतद्भगवन्पूर्वकर्मकर्त्रा-

जो अतिथिको भोजन कराकर दक्षि-णा देता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, अतिथि जिस समय भोजन करके कुल्ला करते हैं, गृहस्थके सब पाप उसी समय नष्ट हो जाते हैं। हे युधिष्ठिर! इन्द्रने बक मुनिसे इस कथाको आदिसे लेकर अनेक उत्तम कथा कही सुनी, फिर उनकी आज्ञा लेकर स्वर्गको चले गये। (३६—३७) [७७३५]

वनपर्वमें एकसौ तिरानब्बे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ चौरानब्बे अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महात्मा मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुन पाण्डवोंने फिर प्रश्न किया, कि हे भगवन्! हमने महाभाग ब्राह्म-णोंके चरित्र सुने, अब आप महात्मा राजाओंके चरित्र कहिये। महा-ऋषि मार्कण्डेय बोले, कि अब आप लोग म-हात्मा राजाओंके चरित्र सुनिये। कुरु-वंशमें एक सुहोत्र नामक राजा हुए थे, वे एकदिन महर्षियोंके दर्शन करनेको गये उन्होंने मार्गमें बैठे हुए राजा उशी-नरके पुत्र राजा शिबिको अपने आगे खडा हुआ देखा। उन दोनोंने परस्पर अवस्था और गुणके अनुसार पूजा की। उन दोनोंमें अपनेको दूसरेके समान जाना; इस लिये एकने दूसरेको मार्ग न दिया; तब वहां भगवान नारद आये और कहने लगे, कि आप लोग एक दूसरेके मार्ग रोके क्यों खडे हैं? (१—२)

तब वे दोनों नारदसे कहने लगे, कि

द्भिर्विशिष्टस्य पंथा उपदिश्यते समर्थाय वा आवां च सख्यं परस्परेणोपगतौ तत्रावयोर्मान्योऽस्युत्कृष्टश्चापरोत्तरं परिश्रष्टम् । नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत् ॥ ३ ॥

क्रूरः कौरव्य मृदवे मृदुः क्रूरे च कौरव ।
साधुश्चाऽसाधवे साधुः साधवे नाऽऽप्नुयात्कथम् ॥ ४ ॥
कृतं शतगुणं कुर्यान्नास्ति देवेषु निर्णयः ।
औशीनरः साधुशीलो भवतो वै महीपतिः ॥ ५ ॥
जयेत्कदर्यं दानेन सत्येनाऽनृतवादिनम् ।
क्षमया क्रूरकर्माणमसाधुं साधुना जयेत् ॥ ६ ॥

तदुभावेव भवंतावुदारौ च इदानीं भवद्भ्यामन्यतमः सोऽपसर्पेतु एतद्वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो बभूव एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यः शिबिं प्रदक्षिणं कृत्वा पंथानं दत्वा बहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ ॥७॥ तदेतद्राज्ञो महाभाग्यमप्युक्तवान्नारदः ॥ ८ ॥ [७७४७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

हे भगवन् ! पहले कर्म करनेवाले महात्माओंने कहा है, कि जो उत्तम हो अथवा समर्थ हो उसी को मार्ग देना चाहिये और हम लोग परस्पर समभानापन्न हो गये हैं; इस लिये विचारसे हमें जान नहीं पडता, कि कौन किसे मार्ग दे । उनके वचन सुन नारदने सुहोत्रको सम्बोधन करके यह तीन श्लोक पढे । (३)

हे कौरव ! क्रूर कोमलसे क्रूरता, कोमल क्रूरसे कोमलता, साधु असाधुसे साधुता करते हैं और साधु साधुसे उत्तम कर्म क्यों नहीं कर सकते हैं ? देवतोंमें क्या यह नियम नहीं है, कि किये हुए कामके बदले सौगुना उपकार करे, अवश्य है । तुम दोनोंमें उशीनरके पुत्र शिबि साधु शीलवान हैं । मनुष्यको उचित है कि कृपण को दानसे, झूठेको सत्यसे, दुष्टको क्षमासे और कठोरको सीधे कर्मसे जीते । तुम दोनों उदार हो; अब तुम लोगोंमें जो श्रेष्ठ हो, वह पहले चला जाय । ऐसा कह नारद चुप हो गये । (४-७)

तब राजा सुहोत्रने उशीनरके पुत्र राजा शिबिको प्रदक्षिणा की और उनके बहुत सुकर्मोंकी प्रशंसा कर मार्ग देके चले गये । हमने यह नारदका कहा हुआ राजन्यमाहात्म्य कहा । (७-८)[७७४७]

वनपर्वमें एकसौ चौरानब्वे अध्याय समाप्त

मार्कण्डेय उवाच-इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राज्यस्थः पौरजनावृत आसांचक्रे । गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्याऽब्रवीद्धो राजन्गुर्वर्थं भिक्षेयं समया-दिति राजोवाच ॥ १ ॥ ब्रवीतु भगवान्समयमिति ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच— चिद्वेषणं परमं जीवलोके कुर्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः ।
तं त्वां पृच्छामि कथं तु राजन्दद्याद्भवान्दयितं च मेऽद्य ॥ ३ ॥

राजोवाच— न चाऽनुकीर्तयेदद्य दत्वा अयाच्यमर्थं न च संश्रृणोमि ।
प्राप्यमर्थं च संश्रुत्य तं चापि दत्वा सुसुखी भवामि ॥ ४ ॥
ददामि ते रोहिणीनां सहस्रं प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानः ।
न मे मनः कुप्यति याचमाने दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम् ॥ ५ ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ । प्राप्तवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥ [७७५३]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरिते पंचनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९५॥

वैशम्पायन उवाच- भूय एव महाभाग्यं कथयतामित्यब्रवीत्पाण्डवः ॥ १ ॥

वनपर्वमें एकसौ पचानव्वे अध्याय ।

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! अब हम दूसरे चरित्र कहते हैं। नहुषपुत्र महाराज ययाति हुए। वे अपने राज-सिंहासन पर अपने नगरनिवासियोंसे घिरके बैठे थे उसी समय एक ब्राह्मण आया और कहने लगा, कि हे राजन्! हम गुरुके लिए आपसे एक प्रतिज्ञारूपी भीख मांगते हैं, राजा बोले, कहो क्या प्रतिज्ञा चाहते हो ? (१-२)

ब्राह्मण बोले, हे राजन्! इस लोकमें भिक्षा मांगनेसे बहुत शत्रुता होती है, सो हम आपसे पूछते हैं, कि आप हमारी प्यारी वस्तुको कैसे दीजियेगा ? राजा बोले, मैं दान देनेके पश्चात् उसका वर्णन नहीं करता, फलानी वस्तु देने योग्य नहीं यह भी मैं सुनता नहीं हूं, जो वस्तु प्राप्त होने योग्य हो उसे देकर भी मैं बहुत प्रसन्न होता हूं, मैं तुम्हे एक हजार गौ दूंगा क्योंकि मुझे मांगनेवाला ब्राह्मण बहुत प्रिय लगता है, मुझे मांगनेवाले पर क्रोध कभी नहीं होता, जिस वस्तुको देता हूं उसका सोच नहीं करता, ऐसा कह कर राजाने उस ब्राह्मणको सहस्र गौवें दे दिया। ब्राह्मणको भी गौ मिले। (३ - ६)

वनपर्वमें एकसौ पचानव्वे अध्याय समाप्त। ७७५३

वनपर्वमें एकसौ छानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय ! ऐसा सुन फिर युधिष्ठिर बोले कि हे मार्कण्डेय ! आप हमसे फिर राजाओंके भाग्य वर्णन कीजिये। श्रीमार्कण्डेय

अथाऽऽचष्ट मार्कण्डेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीति-मार्गरतावस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ॥ २ ॥ सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपांशु व्रतमभ्यजानात्कुप्यमदेयं ब्राह्मणस्य ॥३ ॥ अथ तं सेदुकं ब्राह्मणः कश्चिद्वेदाध्ययनसंपन्न आशिषं दत्त्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ॥ ४ ॥ अश्वसहस्रं मे भवान्ददात्विति । तं सेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ ५ ॥ नास्ति संभवो गुर्वर्थं दातुमिति ॥६॥ स त्वं गच्छ वृषदर्भसकाशम्। राजा परमधर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व स ते दास्यति तस्यैतदुपांशुव्रत-मिति ॥ ७॥ अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत्। स राजा तं कशेनाऽताडयत् ॥ ८॥ तं ब्राह्मणोऽब्रवीत्किं हिंस्यनागसं मामिति ॥९॥ एवमुक्त्वा तं शपंतं राजाऽऽह विप्र किं यो न ददाति तुभ्यमुताऽऽहोस्विद्ब्राह्मण्यमेतत् ॥ १० ॥ ब्राह्मण उवाच— राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेषितो भिक्षितुमागतः। तेनाऽनुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि ॥ ११ ॥ राजोवाच— पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य

मुनि बोले, हे महाराज! वृषदर्भ और सेदुक नामक दो राजा हुए; वे दोनोंही नीति मार्गमें रत तथा अस्त्र और उपास्त्रको जाननेवाले थे, तिनमें राजा सेदुकको यह ज्ञान हुआ, कि राजा वृष-दर्भ का बाल्यावस्थासे यह व्रत था कि ब्राह्मणको सोने और चांदीके सिवाय कुछ नहीं देना चाहिये । एकदिन एक वेदपाठी ब्राह्मण राजा सेदुकके पास आया और आशीर्वाद देकर गुरुके निमित्त भिक्षा मांगी । (१–४)

ब्राह्मण बोला, हे राजन् ! आप हम को एक सहस्र घोडे दीजिये। उनसे राजा सेदुक बोले, हमारी शक्ति हजार घोडे देनेकी नहीं है, इस लिये आप राजा वृषदर्भके पास जाइये, वह राजा बहुत धर्मके जाननेवाले और ब्राह्मणोंके भक्त हैं, आप उनसे भिक्षा मांगिये, वह अवश्य देंगे उनका यही प्रण है, अनन्तर वह ब्राह्मण राजा वृषदर्भके पास गया और उनसे हजार घोडे मांगे परन्तु राजाने उसे कोडेसे पीटा । (५–८)

ब्राह्मणने उनसे कहा, कि तुम निर-पराध मुझको क्यों मारते हो; अनन्तर उस ब्राह्मणने राजाको शाप देना चाहा; तब राजाने कहा हे विप्र ! जो अपना धन दूसरेको न दे उसको शाप देना क्या ब्राह्मणका कर्म है । ब्राह्मण बोले, हे राजाधिराज ! मुझको आपके पास राजा सेदुकने भीख मांगनेको भेजा था, उनकी आज्ञासे मैंने आपसे भीख मांगी राजा बोले, हे ब्राह्मण ! हमको आज

बलिरागमिष्यति । यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात्
॥ १२ ॥ इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात् । अधिकस्या-
श्वसहस्रस्य मूल्यमेवाऽदादिति ॥ १३ ॥[७७३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
सेदुकवृषदर्भचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

मार्कण्डेय उवाच— देवानां कथा संजाता महीतलं गत्वा महीपतिं
शिबिमौशीनरं साध्वेनं शिबिं जिज्ञास्याम इति । एवं भो इत्युक्त्वा
अग्नीन्द्रावुपातिष्ठेताम् ॥ १ ॥ अग्निः कपोतरूपेण तमभ्यधावदामिषा-
र्थमिंद्रः श्येनरूपेण ॥ २ ॥ अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्यो-
त्सङ्गं न्यपतत ॥ ३ ॥ अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत् । प्राणरक्षार्थं
श्येनाद्भीतो भवंतं प्राणार्थी प्रपद्यते॥ ४ ॥ वसु ददातु अंतवान्पार्थि-
वोऽस्य निष्कृतिं कुर्याद्घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ॥ ५ ॥ अथ कपोतो
राजानमब्रवीत् । प्राणरक्षार्थं श्येनाद्भीतो भवंतं प्राणार्थी प्रपद्ये अंगै-
रंगानि प्राप्याऽर्थी मुनिर्भूत्वा प्राणांस्त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥ स्वाध्यायेन

जो कुछ करमें मिलेगा सो कल प्रातः कालमें सब तुमको देदेंगे, जिसको हमने कोडेसे मारा है, उसको हम प्रसन्न क्यों न करेंगे? ऐसा कहकर राजाने उस ब्राह्मणको एक दिनमें जितना धन प्राप्त किया सब दे दिया । वह धन एक सहस्र घोडोंसे अधिक था । (९–१३)

वनपर्वमें एकसौ छानव्वे अध्याय समाप्त ।७७३६

वनपर्वमें एकसौ सतानव्वे अध्याय।

मार्कण्डेय मुनि बोले महाराज और एक इतिहास सुनिये । एक समय देवतोंने विचारा कि हम लोग पृथ्वीपर चलकर राजा उशीनरके पुत्र शिबिकी परीक्षा करें ऐसे कहके अग्नि और इन्द्र वहां आये, अग्निने कबूतरका रूप धारण किया और मांस खानेकी इच्छा करके इन्द्र बाजका रूप धारण करके उसके पीछे दौडे, कबूतर दिव्य सिंहासन पर बैठे हुए राजाकी गोदमें जा पडे, तब पुरोहित राजासे बोले, कि हे राजन् ! बाजके डरसे यह कबूतर रक्षाके लिये आपकी गोदमें आपडा है ,आप इसे प्राणदान दीजिये,आप धन दे कर निष्कृति दान कीजिये, क्योंकि कबूतरका गिरना बहुत बुरा है । (१—५)

तब कबूतर राजासे बोला, कि हे राजन् ! मैं बाजसे डरकर प्राण रक्षाके लिये आपके पास आया हूं, मैं मुनि हूं, ऋषि हूं, कबूतर होकर प्राण रक्षाके लिये आया हूं, आपही मेरे प्राण हैं, मैं

कर्शितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि । तपसा दमेन शुश्रूषयाऽऽचार्यस्याऽप्रति-
कूलभाषिणम् ॥ एवं युक्तमपापं मां विद्धि ॥ ७ ॥
गदामि वेदान्विचिनोमि छन्दः सर्वे वेदा अक्षरशो मे अधीताः ।
न साधु दानं श्रोत्रियस्य प्रदानं मा प्रादाः श्येनाय न कपोतोऽस्मि ॥८॥
अथ श्येनो राजानमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पर्यायेण वसतिर्वा भवेषु सर्गे जातः पूर्वमस्मात्कपोतात् ।
त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं मा त्वं राजन्विघ्नकर्ता भवेथाः ॥ १० ॥
राजोवाच- केनेदृशी जातु परा हि दृष्टा वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता ।
यां वै कपोतो वदते यां च श्येन उभौ विदित्वा कथमस्तु साधु ॥११॥
नाऽस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले नाऽस्य बीजं रोहति काल उप्तम् ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे न त्राणं लभेत्त्राणमिच्छन्स काले॥१२
जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयते सदा न वासं पितरोऽस्य कुर्वते ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे नाऽस्य देवाः प्रतिगृह्णंति हव्यम्॥१३॥

वेद पढनेवाला ब्रह्मचारी हूं, तपस्वी, इन्द्रियोंको जीतनेवाला, आचार्यका प्रिय करनेवाला और पाप रहित हूं, वेदको स्वरसे पढता हूं, छन्दोंको जानता हूं, सम्पूर्ण वेदोंका मैंने अक्षर अक्षर पढा है, मैं वेदपाठी हूं इस लिये मुझको दान देना अच्छा नहीं है, आप मुझे बाजको मत दें, अपने अङ्गोंको त्यागकर कबूतरके अङ्गोंमें प्राप्त होकर तुम्हारे पास प्राण रक्षाके लिये आया हूं, मैं वास्तविक कपोत नहीं हूं। (६-८)

तब बाज राजासे बोला, हे राजन्! संसारकी गति ऐसी है, कि कभी कोई किसीका पुत्र और वही उसका पिता हो जाता है, हो सकता है कि यह कबूतर पूर्व सृष्टिमें तुम्हारा रक्षक था, अब तुम इस का रक्षक बनके मेरे भोजनमें विघ्न मत करो। राजा बोले, ऐसी बात कबूतर और बाजको बोलते हुए किसी ने नहीं देखा था। यह दोनों कौन हैं, इनको जानकर कोई काम करना चाहिये, जो डरे हुए शरणागतको शत्रु को देता है, उसके राज्यमें जल नहीं बरसता, बोया हुआ अन्न उत्पन्न नहीं होता, समयके ऊपर यदि वह किसीसे रक्षा चाहे, तो रक्षा नहीं मिलती है, उसके बालक थोडी ही अवस्थामें मर जाते हैं, उसके माता पिता अधिक काल तक नहीं जीते। (९—१३)

जो डरे हुए शरणागतको शत्रु को देता है, उसकी हवि देवता लोग ग्रहण नहीं करते हैं, वह उदारता-रहित हो

मोघमन्नं विंदति चाऽप्रचेताः स्वर्गाल्लोकाद्भ्रश्यति शीघ्रमेव।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ॥ १४॥
उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन अस्मात्कपोतात्प्रति ते नयंतु।
यस्मिन्देशे रमसेऽतीव श्येन तत्र मांसं शिबयस्ते वहंतु ॥ १५॥
श्येन उवाच—नोक्षाणो राजन्प्रार्थयेयं न चाऽन्यदस्मान्मांसमधिकं वा कपोतात्।
देवैर्दत्तः सोऽद्य ममैष भक्षस्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात् ॥ १६॥
राजोवाच— उक्षाणं वेहतमनूनं नयंतु ते पश्यंतु पुरुषा ममैव।
भयाहितस्य दायं ममांतिकात्त्वां प्रत्याम्नायंतु त्वं ह्येनं मा हिंसीः १७॥
त्यजे प्राणानैव दद्यां कपोतं सौम्यो ह्ययं किं न जानासि श्येन।
यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य नाऽहं कपोतमर्पयिष्ये कथंचित्॥१८॥
यथा मां वै साधुवादैः प्रसन्नाः प्रशंसेयुः शिबयः कर्मणा तु।
यथा श्येन प्रियमेव कुर्यां प्रशाधि मां यद्वदेस्तत्करोमि ॥ १९॥
श्येन उवाच—ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद्राजन्यावन्मांसं
कपोतेन समम्। तथा तस्मात्साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुश्च शिबयः

जाता है, और उसका अन्न नष्ट हो जाता है, स्वर्गलोकसे शीघ्र पतित होता है, जो डरे हुए शरणागतको शत्रुको देता है, उसपर इन्द्रादिक देवता वज्र मारते हैं। हे बाज! शिबी तुम्हें वृषभका मांस और भात पकाकर खिलावेंगे और जिस देशमें तेरा मन रमता हो वहां वह मांस आपके लिये पहुचायेंगे। बाज बोला, हे राजन्! मैं बैलके मांससहित भात खाना नहीं चाहता और इस कबूतरसे अधिक मांस भी नहीं चाहता, देवतोंने मेरे वास्ते आज यह भोजन भेजा है, इस लिये इसे तुम मुझे दे दो, क्योंकि और पक्षी नहीं मिलता है। (१३ — १६)

राजा बोले, हे बाज! तुम बैल वा वंध्या गौको मुझसे लेजाओ परन्तु उस डरे हुए दुबले पतले कबूतरको मत मारो, हे बाज! यह कबूतर सोमयुक्त क्रतुकी भांति प्रतिपालन योग्य है, यह मुझे निश्चय बोध होता है। मैं प्राणको दे सकता हूं पर इस शुभ गुणयुक्त कबूतरको मत मारो, तुम जानते हो कि यह कबूतर बडा महात्मा है, तुम मुझे क्लेश मत दो, हम कबूतरको नहीं देंगे, जिस रीतिसे मेरी शिबिदेशके निवासी प्रशंसा करें वैसेही तुमको कहना चाहिये, कहो मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूं? (१७–१९)

बाज बोला हे राजन्! इस कबूतरके बराबर अपनी दहिनी जंघाका मांस मुझे दो, तो यह कबूतर छुटे, शिबिदेशी

कृतं च प्रियं स्यान्ममेति ॥२०॥ अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांस-
पेशीं तुलयाऽधारयत् । गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २१ ॥ पुनरन्य-
मुच्चकर्त गुरुतर एव कपोतः । एवं सर्वं समवकृत्य शरीरं तुलायामा-
रोपयामास तत्तथापि गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २२ ॥ अथ राजा
स्वयमेव तुलामारुरोह । न च व्यलीकमासीद्राज्ञ एतद्वृत्तांतं दृष्ट्वा
त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येनः अथ राजा अब्रवीत् ॥ २३ ॥

कपोतं विद्युः शिबयस्त्वां कपोत पृच्छामि ते शकुने को नु श्येनः ।
नाऽनीश्वर ईदृशं जातु कुर्यादेतं प्रश्नं भगवन्मे विचक्ष्व ॥ २४ ॥

कपोत उवाच–वैश्वानरोऽहं ज्वलनो धूमकेतुरथैव श्येनो वज्रहस्तः शचीपतिः
साधु ज्ञातुं त्वामृषभं सौरथेय नौ जिज्ञासया त्वत्सकाशं प्रपन्नौ॥ २५ ॥
यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय प्रादाद्भवानसिनोत्कृत्य राजन् ।
एतद्वो लक्ष्म शिवं करोमि हिरण्यवर्णं रुचिरं पुण्यगन्धम् ॥ २६ ॥
एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी सुरर्षीणामथ संमतो भृशम् ।
एतस्मात्पार्श्वात्पुरुषो जनिष्यति कपोतरोमेति च तस्य नाम ॥ २७

तुम्हारी प्रशंसा करें और मेराभी प्रिय कार्य हो। तब राजाने अपनी दहिनी जांघका मांस काटकर तराजूपर रखा, पर कबूतर भारी हुआ। फिर और मांस काटकर चढाया, तौभी कबूतर भारी हुआ। ऐसेही राजाने अपने सब शरीरका मांस काटकर चढाया; परन्तु कबूतर भारी हुआ, तब राजा आपही तराजूपर बैठ गया, राजाका यह चरित्र बुरा नहीं हुआ। राजाके इस वृत्तान्तको देखकर ' शिबिराजसे कपोतकी रक्षा हुई ' ऐसा कहके बाज अन्तर्द्धान हो गया। (२०–२३)

राजा कबूतरसे बोले, कि शिबिदेश-वासी जानें कि तुम कौन हो और बाज कौन था, क्योंकि ईश्वरके सिवाय कोई ऐसा काम नहीं कर सकता, हे भगवन्! आप मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये। कबूतर बोला, हे राजन्! मैं धूमकेतु अग्नि हूं और वज्रधारी इन्द्र बाज हैं, हे सुरथाके पुत्र! हम तुम्हारे शीलको जानने के लिये यहां आये थे, जो तुमने तलवारसे काटकर मेरे वास्ते मांस दिया है, यह मैं तुम्हारे अंगका चिह्न शुभ मनोहर बनाये देता हूं। (२३—२६)

यह सब सुवर्णका हो जायगा और सुगन्धियुक्त होगा, तुम यशके साथ इन प्रजाओंका पालन करो; देवता, ऋषि तुम्हारा आदर करेंगे, तुम्हारे कटे हुए स्थानसे कपोतरोम नामक पुत्र उत्पन्न

कपोतरोमाणं शिबिरौद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यसि नृप वृषसंहननं यशोदी-
प्यमानं द्रष्टाऽसि शूरमृषभं सौरथानाम् ॥ २८ ॥ [७७९४]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९७॥

वैशम्पायन उवाच—भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत्पांडवो मार्कंडेयम्। अथाचष्ट मार्कण्डेयः। अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वे राजानः प्रागच्छन् १ भ्रातरश्चाऽस्य प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनर इति स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायात्ते च नारदमागच्छंतमभिवाद्याऽऽरोहतु भग-वान्रथमित्यब्रुवन् ॥ २ ॥ तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह । अथ तेषामेकः सुरर्षिं नारदमब्रवीत् । प्रसाद्य भगवंतं किंचिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ॥३॥ पृच्छेत्यब्रवीदृषिः। सोऽब्रवीदायुष्मंतः सर्वगुणप्रमुदिताः। अथाऽऽयुष्मं-तं स्वर्गस्थानं चतुर्भिर्यातव्यं स्यात्कोऽवतरेत् । अयमष्टकोऽवतरेदित्य-ब्रवीदृषिः ॥४ ॥ किंकारणमित्यपृच्छत्। अथाऽऽचष्टाऽष्टकस्य गृहे मया उषितं स मां रथेनाऽनुप्रावहदथापश्यमनेकानि गोसहस्राणि वर्णशो

होगा। कपोतरोम बहुत बडा तेजस्वी और तुम्हारे कुलका यश बढानेवाला होगा। (२७—२८) [७७९४]

वनपर्वमें एकसौ सतानव्वे अध्याय ।

वनपर्वमें एकसौ अठानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महाराज युधिष्ठिरने मार्कण्डेय मुनिसे फिर प्रश्न किया, कि आप हम से फिर राजाओं का चरित्र कहिये। मार्कण्डेय मुनि बोले, विश्वामित्रके पुत्र राजा अष्टककी अश्वमेध यज्ञमें सब राजा लोग और उनके भाई प्रतर्दन वसुमना, और औशीनर शिबि आये थे। जब राजाका यज्ञ समाप्त हुआ, तब वे अपने भाइयोंके साथ रथ पर बैठ कर चले और मार्गमें आते हुए नारदको प्रणाम करके बोले, कि हे भगवन्! आप इस रथ पर चढिये, नारद मुनि उनके वचन सुनकर रथपर चढे। तब राजाके एक भाईने नारदसे कहा, कि हे भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करके कुछ पूछना चाहता हूं। (१—३)

नारद बोले पूछो। राजाके भाईने कहा, कि हम सब लोग आयु और गुणसे पूर्ण हैं सो बहुत समय तक रहने योग्य स्वर्ग को जाते हैं; सो आप कहिये कि हम सबमेंसे पहले पृथ्वीपर कौन गिरेगा? नारद बोले पहले अष्टक गिरेगा। राजाके भाईने पूछा, इसका कारण क्या है? नारद बोले, एक समय हम अष्टकके घरमें रहते थे, उसी समय एक दिन मैं और अष्टक रथमें बैठ कर घूमनेको

विविक्तानि तमहमपृच्छं कस्येमा गाव इति सोऽब्रवीत् । मया नि-सृष्टा इत्येतास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन । एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्या-तव्यं सांप्रतं कोऽवतरेत् ॥ ५ ॥ प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः । तत्र किं कार-णं । प्रतर्दनस्यापि गृहे मयोषितं स मां रथेनाऽनुप्रावहत् ॥ ६ ॥ अथैनं ब्राह्मणोऽभिक्षेताऽश्वं मे ददातु प्रत्यानिवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीद्ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद्ब्राह्मणस्त्वरितमेव स ब्राह्मणस्यैवमु-क्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत् ७ अथाऽन्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् तथैव चैनमुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यददादथ प्रायात्पुनरपि चाऽन्योऽप्य-श्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत्त्वरितोऽथ तस्मै अपनह्य वामं धुर्यमददत् ॥ ८ ॥ अथ प्रायात्पुनरन्य आगच्छदश्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीद्दानियातो दास्यामि त्वरितमेव मे दीयतामित्यब्रवीद्ब्राह्मणस्तस्मै दत्त्वाऽश्वं रथ-धुरं गृह्णता व्याहृतं ब्राह्मणानां सांप्रतं नास्ति किंचिदिति ॥ ९ ॥ य एष ददाति चासूयति च तेन व्याहृतेन तथाऽवतरेत् । अथ द्वाभ्यां

गये थे, वहां मैंने एक सहस्र गौ इकठी देखकर अष्टकसे पूछा कि यह सहस्र गौ किसकी हैं; इन्होंने कहा, कि मेरी हैं और हमने इनको उत्सर्ग कर छोड दिया है । अष्टकने अपनी बहुत प्रशंसा की, इसीलिये यह पहले स्वर्गसे गिरेगा । राजाके भाई बोले, कि जो हम तीनों स्वर्गको जायं तो पहले कौन गिरेगा ? (४--५)

नारद बोले कि सबसे पहले प्रतर्दन गिरेगा; इसका यह कारण है कि मैं पहले इसके घर पर रहा था, एकदिन इसके रथपर चढकर घूमने गया, तब एक ब्राह्मण मिला और उसने कहा, कि तुम अपने घोडे मुझे देदो, इसने कहा कि मैं जब घर लौट आउंगा तब तुमको घोडे दे दूंगा । तब ब्राह्मणने कहा कि अभी दो । तब इन्होंने दहना घोडा देदिया, इतने ही में दूसरा ब्राह्मण घोडा मांगनेको आगया, तब इन्होंने बायां घोडा भी देदिया, उसी समय तीसरा घोडा मांगनेवाला एक और ब्राह्मण आया, उसी समय प्रतर्दन ने तीसरा घोडा भी देदिया; उसी समय चौथा घोडा मांगनेवाला ब्राह्मण भी मिला; तब इसने कहा घर चल कर देंगे, उन्होंने कहा, कि अभी दो । तब इन्हों ने वह घोडा भी उसको दे दिया और हाथसे रथको खींचने लगा, और कहा, कि अब हमारे पास कुछ नहीं है जो ब्राह्मण मांगेंगे । जो देकर असूया करता है, वह स्वर्गसे गिराया जाता है।

यातव्यमिति कोऽवतरेत् ॥१०॥ वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥११॥
किं कारणमित्यपृच्छदथाऽऽचष्ट नारदः। अहं परिभ्रमन्वसुमनसो गृह-
स्वस्तिवाचनमासीत्पुष्परथस्य प्रयोजनेन तत्राहम-
मुपस्थितः ॥१२॥
न्वगच्छं स्वस्ति वाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः ॥ १३ ॥
तमहं रथं प्राशंसमथ राजाऽब्रवीद्भगवता रथः प्रशस्तः। एष भगवतो
भगवतो रथ इति ॥१४॥ अथ कदाचित्पुनरप्यहमुपस्थितः पुनरेव च
रथप्रयोजनमासीत्। सम्यगयमेष भगवन इत्येवं राजाऽब्रवीदिति
पुनरेव च तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शय-
न्मामभिप्रेक्ष्याऽब्रवीत्। अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि
सुष्ठु संभावितानि एतेन द्रोहवचनेनाऽवतरेत् ॥ १५॥ अथकेन यात-
व्यं स्यात्कोऽवतरेत्पुनर्नारद आह शिबिर्यायादहमवतरेयं अत्र किं
कारणमित्यब्रवीत् असावहं शिबिना समो नास्मि यतो ब्राह्मणः क-
श्चिदेनमब्रवीत् ॥ १६॥ शिबे अन्नार्थ्यस्मीति तमब्रवीच्छिबिः किं क्रि-
यतामाज्ञापयतु भवानिति॥१७॥ अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीद्य एष ते पुत्रो

इसीसे यह पहले गिरेगा । राजाके भाई ने प्रश्न किया, कि यदि हम दोनों स्वर्गको जायं तो पहले कौन गिरेगा? (६-१०)

नारदने कहा, कि पहले वसुमना गिरेगा, उन्होंने कहा, कि क्यों ? नारद ने कहा, कि मैं पहले समयमें घूमता हुआ वसुमनाके घरमें गया था । वहां पुष्परथके वास्ते स्वस्तिवाचन हुआ। जब ब्राह्मण लोग स्वस्तिवाचन कर चुके, तब ब्राह्मणोंको पुष्परथ दिखाया गया। मैंने उस रथकी प्रशंसा की, राजाने कहा हे भगवन्! आपने रथकी प्रशंसा की, यह आपका ही रथ है । फिर एक बार मैं रथके प्रयोजनसे राजाके घर गया, तब भी राजाने यही कहा कि आपका ही रथ है । तब मैंने तीसरी बार स्वस्ति वाचन किया, तब राजाने ब्राह्मणोंके संमुख मुझसे कहा, कि आपने पुष्परथ- की प्रशंसा अच्छी प्रकारसे की । इसी हेतु रथ प्रदान न करके वृथा प्रशंसा वचनके कारण यह पहले गिरेगा।११-१५

राजाका भाई बोला, आपके सङ्ग एकही जा सकता है;सो कौन जायगा? नारदने कहा कि शिबि जायगा और मैं उतरता हूं राजाने कहा, इसमें क्या कारण है ? नारदने कहा, कि मैं शिबिके समान नहीं हूं। क्योंकि किसी ब्राह्मणने इससे कहा था, कि मैं अन्न मांगता हूं। उस ब्राह्मणसे शिबिने कहा महाराज ! कहिये मैं क्या करूं ? तब इनसे उस

बृहद्गर्भो नाम एष प्रमापतव्य इति तमेनं संस्कुरु अन्नं चोपपादय ततोऽहं प्रतीक्ष्य इति। ततः पुत्रं प्रमाथ्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणमभ्यमृगयत् ॥ १८॥ अथाऽस्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एष ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोशागारमायुधागारं स्त्र्यगारमश्वशालां हस्तिशालां च क्रुद्ध इति १९॥ अथ शिबिस्तथैवाऽविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत्सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किंचिद्व्याजहार विस्मयादधोमुखश्चाऽऽसीत् ॥२० ॥ ततः प्रासादयद्ब्राह्मणं भगवन्भुज्यतामिति । मुहूर्तादुद्वीक्ष्य शिबिमब्रवीत् ॥२१॥ त्वमेवैतदशानेति तथाऽह तथेति शिबिस्तथैवाऽविमना शिरस्त्वा कपालमभ्युद्धार्य भोक्तुमैच्छत् ॥ २२॥ अथाऽस्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात्। अब्रवीच्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किंचिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणोऽपि तं महाभागं सभाजयत् ॥ २३ स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्यदग्रे तिष्ठन्तं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलंकृतं सर्वं च तमर्थं विधाय ब्राह्मणोन्तरधीयत ॥ २४ ॥ तस्य

ब्राह्मणने कहा, हे राजन्! तुम्हारा बृहद्गर्भ नामक पुत्र है,उसे काटकर पकाओ मैं भूखे बैठा हूं,तब राजाने पुत्रको काटकर पकाया और थालीमें परसकर रखा तथा ब्राह्मणको खोजने लगे; जब राजा ब्राह्मणको खोजते थे तभी आकर किसीने राजासे कहा,कि वह ब्राह्मण तुम्हारे नगर, घर, धनके स्थान, शस्त्रके स्थान, घुडशाल और हाथीखानेको बडे क्रोधसे जला रहा है। (१६—१९)

तब राजा शिबिने नगरमें जाकर ब्राह्मणसे कहा, हे भगवन्! अन्न तैयार है; उस समय शिबिके मुखका वर्ण वैसाही था; पर ब्राह्मणने लज्जासे शिर नीचे कर लिया और कुछ उत्तर न दिया। तब शिबिने हाथ जोडकर ब्राह्मण को प्रसन्न किया, कि महाराज! भोजन कीजिये, एक मुहूर्तके बाद ब्राह्मण राजा शिबिसे बोला, हे राजन्! तुमही इसको खाओ;राजाने कहा, बहुत अच्छा। ऐसा कहकर ज्योंही मांस खानेको उठाया, तभी ब्राह्मणने राजाका हाथ पकड लिया और बोला, हे राजन्! तुमने क्रोधको जीत लिया, ब्राह्मणके वास्ते तुम सब कुछ दे सकते हो। ऐसा कहकर ब्राह्मणने राजाकी पूजा की। (२०—२३)

राजाने आंख उठाकर देखा तो संमुख राजकुमार खडा है। उत्तम सुगन्धि लगाये हुए, उत्तम वस्त्र पहने लडकेको देख कर ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो

राजर्षेर्विधाता तेनैव वेषेण परीक्षार्थमागत इति । तस्मिन्नन्तर्हिते अ-
मात्या राजानमूचुः । किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति२५
शिबिरुवाच--नैवाऽहमेतद्यशसे ददानि न चाऽर्थहेतोर्न च भोगतृष्णया ।
पापैरनासेवित एष मार्ग इत्येवमेतत्सकलं करोमि ॥ २६ ॥
सद्भिः सदाऽध्यासितं तु प्रशस्तं तस्मात्प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे ।
एतन्महाभाग्यवरं शिबेस्तु तस्मादहं वेद यथावदेतत् ॥ २७ ॥ [७८२१]
इति श्रीमहाभारते०मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्यमहाभाग्ये शिबिचरितेऽष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः१९८॥

वैशम्पायन उवाच--मार्कण्डेयमृषयः पांडवाः पर्यपृच्छन्नस्ति कश्चिद्भवतश्चिर-
जाततर इति ॥ १ ॥ स तानुवाचाऽस्ति खलु राजर्षिरिंद्रद्युम्नो नाम
क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात्प्रच्युतः कीर्तिर्मे व्युच्छिन्नेति स मामुपातिष्ठदथ
प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ॥ २ ॥ तमहमब्रुवं कार्यचेष्टाकु-
लत्वान्न वयं वासायनिका ग्रामैकरात्रवासिनो न प्रत्यभिजा-
नीमोऽप्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेनाऽत्मनः समारम्भा-
मोऽर्थानामनुष्ठानम्॥३॥ अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः

गया। नारद बोले, कि ब्रह्माने इस रीतिसे राजा शिबिकी परीक्षा ली थी, उस ब्राह्मणके अन्तर्द्धान होनेपर मन्त्रीने राजासे पूछा आपने क्या जानकर ऐसा किया था? राजा शिबि बोले, कि हम इस कर्मको यश, अर्थ और भोगकी इच्छासे नहीं करते हैं । हम केवल यह जानते हैं, कि, इस कर्मको पापी लोग नहीं कर सकते; इसी लिये करते हैं; पण्डितलोग सदा अच्छा कर्म करते हैं, और हमारी बुद्धिभी सदा अच्छेही कर्ममें लगती है । शिबिके इस परम चारित्रको हमने तुमसे कहा । (२४ — २७) [७८२१]

वनपर्वमें एकसौ अठानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें एकसौ निनानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! जनमेजय ! समस्त ऋषियों और पाण्डवोंने मार्कण्डेय मुनिसे पूछा, कि आपसे अधिक जीनेवाला कोई है ? उन्होंने कहा, कि राजा इन्द्रद्युम्न मुझसेभी अधिक जीनेवाले हैं । वे पुण्य नष्ट होनेसे जब स्वर्गसे गिराये गये; मेरे पास आये थे और कहा था,मेरी कीर्ति नष्ट हुई, क्या तुम हमको जानते हैं ? तब हमने उनसे कहा,कि हम पुण्य संपादन करनेके लिये जपादि कार्योंमें व्यग्र होनेके कारण एक घरमें निवास करने वाले नहीं हैं,तीर्थाटनके समय सब गावोंमें केवल एकरात निवास करते हैं;और बराबर तपसे अपने शरीरको सुख देते हैं, इस लिये हम

प्रतिवसति। स मत्तश्चिरजातो भवन्तं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाऽध्वनि हिमवांस्तत्राऽसौ प्रतिवसतीति ॥ ४ ॥ ततः स मामश्वो भूत्वा तत्राऽवहद्यत्र बभूवोलूकः। अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति ॥५॥ स मुहूर्तमिव ध्यात्वाऽब्रवीदेनं नाऽभिजानामि भवन्तमिति स एवमुक्त इंद्रद्युम्नः पुनस्तमुलूकमब्रवीद्राजर्षिः ॥६॥ अथास्ति कश्चिद्भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विंद्रद्युम्नं नाम सरस्तस्मिन्नाडीजंघो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत इंद्रद्युम्नो मां चोलूकमादाय तत्सरोऽगच्छद्यत्राऽसौ नाडीजंघो नाम बको बभूव ॥ ७ ॥ सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिंद्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति स एवं मुहूर्तं ध्यात्वाऽब्रवीन्नाऽभिजानाम्यहमिंद्रद्युम्नं राजानमिति। ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद्भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति। स मत्तश्चिरजाततरः स यदि कथंचिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ॥ ८ ॥ ततः

नहीं जानते हैं, कि यह कौन हैं। मुझसेभी पुराना एक प्रावारकर्ण नामक उल्लू हिमाचलमें रहता है, वह मुझसेभी बूढा है, तुम उसके पास जाओ; वह बहुत दूर हिमाचल पर रहता है। १-४

तब वह इन्द्रद्युम्न घोडा हो गया और मैं उसपर चढकर उसके पास गया। तब राजा इन्द्रद्युम्नने उस उल्लूसे पूछा, कि तुम हमको जानते हो? तब उसने थोडी देर विचार कर कहा, कि हम तुमको नहीं जानते हैं; फिर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने उस उल्लूसे कहा, कि कहो तुम्हारे पास कोई तुमसेभी ज्यादे बूढा है? तब उसने कहा, कि हमसेभी बूढा नाडीजंघ नामक बकुला है, वह इन्द्रद्युम्न नामक तलावमें रहता है, सो हमसे बहुत बूढा है, तुम उसके पास जाओ और उससे पुछो। तब इन्द्रद्युम्न, मैं और वह उल्लू उस सरोवर में गये जहां नाडीजङ्घ नामक बकुल रहते थे। (५-७)

तब हमलोगोंने उससे पूंछा कि तुम राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हो? उसने थोडी देर विचारकर कहा कि हम राजा इन्द्रद्युम्नको नहीं जानते हैं, तब हमने उससे पूंछा कि कोई तुमसे अधिक बूढाभी है? उसने कहा कि इसी तालावमें एक अकूपार नामक कछुआ रहता है वह हमसेभी अधिक बूढा है। तुम लोग उसके पास जाकर पुछो कदाचित् वह तुमको जानता हो। (८)

स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास। अस्माकमभिप्रेतं भवंतं किंचिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात्सरस उत्थायाऽभ्यगच्छद्यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरसस्तीरे आगतं चैनं वयमपृच्छाम भवानिंद्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ॥ ९ ॥ स मुहूर्तं ध्यात्वा बाष्पसंपूर्णनयन उद्विग्नहृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्रांजलिरब्रवीत्किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्रकृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः ॥१० ॥ सरश्चेदमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरतिक्रममाणाभिः कृतम्। अत्र चाऽहं प्रतिवसामीति ॥ ११ ॥ अथैतत्सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनंतरं देवलोकाद्देवरथः प्रादुरासीद्वाचश्चाऽश्रूयंतेंद्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्तिमानस्यव्यग्रो याहीति ॥ १२ ॥ भवंति चाऽत्र श्लोकाः —

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥
अकीर्तिः कीर्त्यते लोके यस्य भूतस्य कस्यचित्।
स पतत्यधमाँल्लोकान्यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ॥ १४ ॥
तस्मात्कल्याणवृत्तः स्याद्नंताय नरः सदा।

तब उस बकुलेने हमलोगोंसे और उस कछुएसे परिचय करा दिया। हम लोगोंने जाकर कहा, कि हम लोग तुम से कुछ पूछनेको आये हैं; तुम बाहर आओ, ऐसा सुनकर कछुआ तलावसे बाहर निकला। जहां हम लोग खडे थे, तलावके उसी किनारे आया। हम लोगोंने उसे आते देखकर पूछा, कि तुम राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हो? उसने एक मुहूर्त्त ध्यान करके आखोंमें आंसू भर कर उद्विग्नचित्त होकर हाथ जोड कर कांपते हुए कहा, कि क्या मैं इन्हें नहीं जानता हूं? इन्होंने हजार यज्ञ की थी, जो इन्होंने दक्षिणामें गौवें दी थीं उस चंक्रमणसेही यह तालाव बना है, जिसमें मैं रहता हूं। (९—११)

जब यह कछुवेने कहा, इसको सुन कर देवलोकसे रथ आया और शब्द हुआ, हे इन्द्रद्युम्न! तुम्हारे वास्ते स्वर्ग तैय्यार है, जहां चाहो वहां जाओ तुम कीर्तिवाले हो, इस विषयके ये श्लोक हैं— पुण्य कर्मका शब्द जबतक स्वर्ग और पृथ्वीपर रहता है; तबतक वह स्वर्गमें रहता है; जिस किसी प्राणीका अपयश जगतमें जबतक रहता है, तबतक वह नीचलोकमें रहता है; इस

विहाय चित्तं पापिष्ठं धर्ममेव समाश्रयेत् ॥ १५ ॥

इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाऽब्रवीत्तिष्ठ तावद्यावदिमौ वृद्धौ यथा स्थानं प्रतिपादयामीति ॥ १६ ॥ स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितो यथोचितं स्थानं प्रतिपेदे तन्मयाऽनुभूतं चिरजीवितेनेदृशमिति पांडवानुवाच मार्कंडेयः ॥ १७ ॥ पांडवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिंद्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्च्युतं स्वे स्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणाऽपि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात्कृच्छ्रात्पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति ॥ १८ ॥ [७८३९]

इति श्रीमहाभारते०मार्कण्डेयसमास्यापर्वणीन्द्रद्युम्नोपाख्यान ऊनशताधिकशततमोऽध्यायः ॥१९९॥

वैशम्पायन उवाच– श्रुत्वा स राजा राजर्षिरिंद्रद्युम्नस्य तत्तदा ।
मार्कंडेयान्महाभागात्स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् ।
कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्वा दानं महामुने ॥ २ ॥
इंद्रलोकं त्वनुभवेत्पुरुषस्तद्ब्रवीहि मे ।
गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थाविरेऽपि वा ॥

कारणसे मनुष्योंको सदा उत्तम कर्म करना चाहिये और बुरे कर्मोंसे चित्तको हटाकर उत्तम कर्मोंमें लगाना चाहिये। (१२ – १५)

इसको सुनकर राजा बोले, तबतक तुम यहीं रहो, जब तक हम इन दोनों बुढोंको इनके स्थानपर न पहुंचा आवें। वह राजा मुझे और प्रावारकर्ण उल्लूको स्थानों पर पहुंचा कर उस रथ पर चढ कर अपने योग्य स्थानपर चले गये। हे पांडवो! ऐसे मैंने चिरजीवितामें वृत्तान्त देखे हैं। पाण्डव बोले, आपने बहुत अच्छा किया, जो स्वर्गसे गिरे राजा इन्द्रद्युम्नको फिर स्वर्ग में पहुंचाया। मार्कण्डेय ऋषि फिर पाण्डवोंसे कहने लगे, कि इसी रीतिसे देवकीनन्दन कृष्णने नरकमें पडे हुए राजा नृगको कष्टसे छुडाकर स्वर्गमें पहुंचाया था। (१६—१८) [७८३९]

वनपर्वमें एकसौ निनानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दो सौ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिर राजा इन्द्रद्युम्नका वृत्तान्त महात्मा मार्कण्डेय मुनिसे सुनकर फिर उनसे पूछने लगे, हे मुने! पुरुष कौनसी अवस्था में दान देकर इन्द्रलोकको प्राप्त होता है। बा लडकपनमें वा युवा अवस्थामें वा गृह-

यथा फलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश ।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ॥ ४ ॥
परपाकेषु येऽश्नंति आत्मार्थं च पचेत्तु यः ।
पर्यश्नंति वृथा यत्र तदसत्यं प्रकीर्त्यते ॥ ५ ॥
आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतं च यत् ।
व्यर्थं तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा ॥ ६ ॥
गुरौ चाऽनृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके ।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके ॥ ७ ॥
ब्रह्मबंधुषु यद्दत्तं यद्दत्तं वृषलीपतौ ।
स्त्रीजनेषु च यद्दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ॥ ८ ॥
परिचारकेषु यद्दत्तं वृथा दानानि षोडश ।
तमोवृतस्तु यो दद्याद्भयात्क्रोधात्तथैव च ॥ ९ ॥
भुंक्ते च दानं तत्सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा ।
ददद्दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ॥ १० ॥

स्थाश्रममें जैसे फल होता है, वह सब आप मुझसे कहिये। (१–३)

मार्कण्डेय मुनि बोले, चार प्रकारके जन्म और सोलह प्रकारके दान वृथा हैं, पुत्रहीनका जन्म वृथा है, जो धर्मसे हीन हैं, उनका जीवन वृथा है, पराये घरमें जो खाता है, जो अपने वास्ते पकाते हैं,जो दूसरोंको दिये विना खाते हैं अथवा अकारण असत्य बोलते हैं उनका जन्म भी वृथा है। आरूढ पतित ब्राह्मणको दिया हुआ तथा अन्याय से संपादित द्रव्यका दान वृथा है। धर्मसे पतित ब्राह्मणोंको दान देना और चोरको दान देना वृथा है, झूठ बोलनेवाले गुरुको दान देना, पापीको और कृतघ्नको दान देना, ग्रामयाजक (जो नौग्रहादिकके पूजन कराते हैं,) वेद बेचनेवालेको, शूद्रोंके पुरोहितको दान देना वृथा है। ब्राह्मणोंमें जो नीच हैं, उनको दान देना, जिन्होंने वेश्या रखी है उनको दान देना, स्त्रियोंको दान देना, सपेरोंको दान देना, नौकरोंको दान देना यह सोलह दान वृथा हैं। (४–९)

जो अज्ञानसे, भयसे वा क्रोधसे दान को देता है, वह उसका फल गर्भस्थित होकर प्राप्त होता है। अन्य कोई अगर्हित दान द्विजातियोंको देनेसे उसका

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव ।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे ।
केन विप्रा विशेषेण तारयंति तरंति च ॥ १२ ॥

मार्कंडेय उवाच—जपैर्मंत्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयंति तरंति च ॥ १३ ॥
ब्राह्मणांस्तोषयेद्यस्तु तुष्यंते तस्य देवताः ।
वचनाचापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥
पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च ।
अनंतं पुण्यलोकं तु गंताऽसि त्वं न संशयः ॥ १५ ॥
श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः ।
ब्राह्मणा एव संपूज्याः पुण्यस्वर्गमभीप्सता ॥ १६ ॥
श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः ।
दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुंडगोलकौ ॥ १७ ॥
वर्जनीयाः प्रयत्नेन कांडपृष्ठाश्च देहिनः ।
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेंधनम् ॥ १८ ॥

फल दाता वृद्धावस्थामें भोगता है । इस वास्ते सब अवस्थाओंमें ब्राह्मणोंको दान स्वर्गकी इच्छासे देना चाहिये । (९-११)

राजा युधिष्ठिर बोले, चारों वर्णके दान लेनेवाले ब्राह्मण कौन विशेष कर्म से स्वयं तरते हैं और दूसरोंको तराते हैं ? मार्कण्डेय मुनि बोले, जप, मन्त्र, होम और वेद-पाठसे मनुष्य तरता और तारता है, जो मनुष्य ब्राह्मणोंको प्रसन्न करते हैं, उनसे सब देवता प्रसन्न होते हैं, ब्राह्मणोंके वचनसे स्वर्ग प्राप्त होता है; पितर और देवतोंकी पूजासे और ब्राह्मणोंकी सेवासे तुमको अक्षय पुण्यलोक प्राप्त होगा । (१२—१५)

इसमें कुछ सन्देह नहीं है, जिसको स्वर्गमें जानेकी इच्छा हो, उसे चाहिये कि जब कफसे कण्ठ घिर जाय और चेतनारहित हो जाय तब ब्राह्मणोंकी पूजा करे। श्राद्धके समयमें बुरे वर्णवाले, बुरे नाखून वाले, कुष्ठरोगी, छली, कपटी, कुण्ड (जो स्त्री के पति रहते हुए और से उत्पन्न हुआ है) और गोलक (जो विधवा जारसे पुत्र उत्पन्न करे) तथा जो ब्राह्मण होकर क्षात्र वृत्तिसे जीविका करता है, उनको श्राद्धमें भोजन न कराना चाहिये । जो श्राद्ध निन्दित होता है,

ये ये श्राद्धे न युज्यंते मूकांधबधिरादयः ।
तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥ १९ ॥
प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर ।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं यस्तारयति शक्तिमान् ॥ २० ॥
तस्मिन्देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता ।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं तारयेद्यः स शक्तिमान् ॥ २१ ॥
न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नाऽनुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यंति यथा ह्यतिथिभोजने ॥ २२ ॥
तस्मात्त्वं सर्वयत्नेन यतस्वाऽतिथिभोजने ।
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ॥ २३ ॥
प्रयच्छंति तु ये राजन्नोपसर्पंति ते यमम् ।
देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम् ॥ २४ ॥
आकल्पपरिचर्या च गात्रसंवाहनानि च ।
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते ॥ २५ ॥
कपिलायाः प्रदानात्तु मुच्यते नाऽत्र संशयः ।
तस्मादलंकृतां दद्यात्कपिलां तु द्विजातये ॥ २६ ॥

वह करनेवालेको अग्निके समान भस्म करता है। (१६-१८)

श्राद्धमें गूंगे, अन्धे, आदिक जो निषिद्ध हैं,उन्हें श्राद्धमें वेदपाठी ब्राह्मणोंके संग भोजन कराने से दोष नहीं होता। दानभी जिसे देना चाहिये यह कहता हूं। हे युधिष्ठिर! जो शक्तिमान, जो देनेवालेको और आपको तारते हैं, उनको देना चाहिये, जो वेद जाननेवाले ब्राह्मण हों; उनको दान देना चाहिये, वही दाताको तारते हैं, और अपनाभी निस्तार करते हैं, जैसे अग्नि अतिथिको भोजन करानेसे संतुष्ट होते हैं, वैसा होम करनेसे, स्नान करनेसे, अग्निहोत्र करनेसेभी नहीं होते। (१९—२२)

हे युधिष्ठिर! इस कारणसे अतिथिको भोजन करानेमें तुम सदा यत्न करो,अतिथिको जो स्थान, भोजन, पांव धोनेके जल और पावोंके लिये घी देते हैं, वह यमराजके यहां नहीं जाते हैं। देवताका स्थान निर्माल्यादि दूर करके स्वच्छ करने, ब्राह्मणोंके जूठ उठाने, शरीर दबाने और गन्धादि लगानेसे जो पुण्य होता है, वह गौदानसेभी अधिक होता है,कपिला गौके दान सब गौ-दानोंसे अधिक हैं, इसवास्ते कपिलाको आभूषण पहनाकर

श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाऽग्निहोत्रिणे ।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥ २७ ॥
एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत ।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥ २८ ॥
एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन ।
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात्त्रिपुरुषं कुलम् ॥ २९ ॥
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु ।
सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति ॥ ३० ॥
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ।
अनड्वाहं तु यो दद्याद्बलवंतं धुरन्धरम् ॥ ३१ ॥
स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति ।
वसुंधरां तु यो दद्याद्द्विजाय विदुषात्मने ॥ ३२ ॥
दातारं ह्यनुगच्छंति सर्वे कामाभिवांछिताः ।
पृच्छंति चात्र दातारं वदंति पुरुषा भुवि ॥ ३३ ॥
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांसुपादावगुंठिताः ।
तेषामेव श्रमार्तानां यो ह्यन्नं कथयेद्बुधः ॥ ३४ ॥
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नाऽत्र संशयः ।

ब्राह्मण को देनी चाहिये । (२३-२६)

वेदपाठी, दरिद्र, गृहस्थ, अग्निहोत्र करनेवाले, तथा उपकारी ब्राह्मणोंको दान देना चाहिये, हे भारत ! ऐसोंको दान देना चाहिये । धनवानको धनदान न करे, धनवानको दान देनेसे कोई भी फल नहीं होता है । एक गौ एक हीको दान देनी चाहिये अनेकको नहीं। यदि दान की हुई गौ पुनः क्रयसे दी जाती है, तो वह कुलके तीन पुरुषोंका नाश करती है । दान देनेवालेको और ब्राह्मण दोनोंको निस्तार नहीं करती । जो अस्सीरत्ती परिमित शुद्ध सुवर्णका दान करता है, उसको सौ सुवर्णके मुद्रा दान करनेके फल होता है । (२७-३१)

जो बलवान धूरेमें लगाने योग्य बैलको दान करता है, वह दुःखोंको तर के स्वर्गलोकको जाता है, जो पण्डित ब्राह्मणको पृथ्वी दान देता है, उसके पीछे सर्व कामना पूरी होती हैं और जगतके मनुष्य उसका यश गाते हैं । मार्गमें चलते चलते जिनके शरीर थक गये हैं, पैरों पर धूल चढ गई हो, उन थके हुओंको जो अन्न मिलनेके स्थानको

तस्मात्त्वं सर्वदानानि हित्वाऽन्नं संप्रयच्छ ह ॥ ३५ ॥
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते ।
यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रेषु संस्कृतम् ॥ ३६ ॥
स तेन कर्मणाऽऽप्नोति प्रजापतिसलोकताम् ।
अन्नमेव विशिष्टं हि तस्मात्परतरं न च ॥ ३७ ॥
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च संवत्सरो मतः ।
संवत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३८ ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ॥ ३९ ॥
येषां तटाकानि महोदकानि वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्वचना भवंति ॥ ४० ॥
धान्यं श्रमेणाऽऽर्जितवित्तसंचितं विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः ।
वसुंधरा तस्य भवेत्सुतुष्टा धारां वसूनां प्रतिमुंचतीव ॥ ४१ ॥
अन्नदाः प्रथमं यांति सत्यवाक्तदनंतरम् ।
अयाचितप्रदाता च समं यांति त्रयो जनाः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ।

कहता है उसको भी अन्न देनेके समान फल होता है; इसमें कुछ सन्देह नहीं, इसवास्ते तुम अन्य दानोंको छोडकर अन्न दानही करो। (३१–३५)

जो पका हुआ अन्न ब्राह्मणको देता है उसके समान फल जगतमें कोई नहीं पाता है, इस दान कर्मसे प्रजापति लोकको प्राप्त होता है। अन्नही सब जगतमें उत्तम है उससे अधिक कोई वस्तु नहीं। अन्नको प्रजापति और संवत्सर कहते हैं; संवत्सर का अर्थ यज्ञ है और यज्ञहीसे सब जगत स्थिर है। इस वास्ते सब चराचरके जीव धारण करने वाला अन्न है अन्नसे उत्तम कोई पदार्थ नहीं है। (३६–३९)

जो लोग बावडी, तलाव, कूवे और धर्मशाला बनवाते हैं, अन्न दान करते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, उनका नामभी यम नहीं लेते। बडे परिश्रमसे उत्पन्न किया अन्न और इकट्ठा किया धन जो सुशील ब्राह्मणोंको देता है, उसको सम्पूर्ण पृथ्वी रत्नसे भरी रत्न देती है, प्रथम अन्न देनेवाले फिर सत्य बोलनेवाले उनके पीछे विना मांगे देनेवाले वे तीन क्रमसे एकही स्थानमें जाते हैं। (४०–४२)

मार्कंडेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ॥ ४३ ॥
यमलोकस्य चाऽध्वानमंतरं मानुषस्य च ।
कीदृशं किं प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने ।
तरंति पुरुषाश्चैव येनोपायेन शंस मे ॥ ४४ ॥
मार्कंडेय उवाच—सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् ।
कथयिष्यामि ते राजन्धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ४५ ॥
षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप ।
यमलोकस्य चाऽध्वानमंतरं मानुषस्य च ॥ ४६ ॥
आकाशं तदपानीयं घोरं कान्तारदर्शनम् ।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च ॥ ४७ ॥
विश्रमेद्यत्र वै श्रांतः पुरुषोऽध्वनि कर्शितः ।
नीयते यमदूतैस्तु यमस्याऽऽज्ञाकरैर्बलात् ॥ ४८ ॥
नराः स्त्रियस्तथैवाऽन्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव ॥ ४९ ॥
हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यांति वै नराः ।
सन्निवार्याऽऽतपं यांति च्छत्रेणैव हि च्छत्रदाः ॥ ५० ॥
तृप्ताश्चैवाऽन्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाऽप्यनन्नदाः ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! बडे आश्चर्यमें आकर राजा युधिष्ठिर भाइयोंके सहित मार्कण्डेय मुनिसे फिर पूछने लगे, कि हे महामुने! मनुष्य लोकसे यमलोक कितनी दूर है, उसका कैसा मार्ग है और उसको पुरुष किस उपायसे तर सकता है? (४३–४४)

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन! हे धर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ! यह प्रश्न सबसे गुप्त और पवित्र है और ऋषि लोग इसका आदर करते हैं। मैं इसको तुमसे वर्णन करता हूं। हे नरनाथ! मनुष्य लोकसे छियासी हजार योजन यमलोक है। वहां आकाश शून्य है। वह मार्ग जल रहित है; घोर वनसे भरा है; उस मार्गमें न छाया है न वृक्ष हैं जहां बैठकर मनुष्य अपनी थकाई उतारे। यमकी आज्ञानुसार दूत बलसे मनुष्योंको खींचते हैं। मनुष्य, स्त्री, और पक्षी आदि सब प्राणी वहां दुःखी होते हैं। (४५–४९)

जिन्होंने ब्राह्मणोंको घोडे दान दिये हैं, वे सुखसे चलते हैं, जिन्होंने छाते दान किये हैं, उनको वहां छाता मिलता है, जिन्होंने अन्न दान किये हैं, वे भूखसे

वाससिनो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यांत्यवस्त्रदाः ॥ ५१ ॥
हिरण्यदाः सुखं यांति पुरुषास्त्वभ्यलंकृताः ।
भूमिदास्तु सुखं यांति सर्वैः कामैः सुतर्पिताः ॥ ५२ ॥
यांति चैवाऽपरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः ।
नराः सुखतरं यांति विमानेषु गृहप्रदाः ॥ ५३ ॥
पानीयदा ह्यतृषिताः प्रहृष्टमनसो नराः ।
पंथानं द्योतयंतश्च यांति दीपप्रदाः सुखम् ॥ ५४ ॥
गोप्रदास्तु सुखं यांति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः ।
विमानैर्हंससंयुक्तैर्यांति मासोपवासिनः ॥ ५५ ॥
तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः ।
त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पांडव ॥ ५६ ॥
अंतरा चैव नाऽश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः ।
पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ॥ ५७ ॥
तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते ।
शीतलं सलिलं तत्र पिबंति ह्यमृतोपमम् ॥ ५८ ॥
ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते ।

व्याकुल नहीं होते और जिन्होंने अन्न दान नहीं किये वे भूखसे व्याकुल होते हैं। वस्त्र देनेवाले वस्त्र पहन कर और जिन्होंने वस्त्र नहीं दान दिये, वे नंगे जाते हैं। सोनेके देनेवाले आभूषण पहरे हुए जाते हैं। भूमिके देनेवाले सब सुखोंसे पूरित होकर, धान्यके देनेवाले क्लेशरहित और घरके देने वाले विमानों पर बैठकर जाते हैं। (५०-५३)

जलके देनेवाले प्रसन्नचित्त और प्यासरहित जाते हैं। दीपकके दान करने वाले मार्गको प्रकाश करते हुए सुखसे गमन करते हैं। गौके देनेवाले सब पापों से रहित और सुखसे जाते हैं, हंसयुक्त विमानोंमें बैठकर वह जाते हैं जो महीना भर व्रत करते हैं। जो छः दिन तक व्रत करते हैं वे मोरके विमानोंपर बैठकर जाते हैं, जो तीन रात्रि एकबार भोजन करके बिताते हैं, और जो रात-दिन के भोजनके बीच में कुछभी भक्षण नहीं करता है, उसको यमलोक दुःख रहित होता है। जल दान में अनेक दिव्य गुण रहते हैं और वे परलोकमें सुख देते हैं। हे राजन्! यमलोकमें पुष्पोदका नामक नदी है, उसका अमृतके समान बहुत ठंढा और मीठा जल जल दान

एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा ॥ ५९ ॥
तस्मात्त्वमपि राजेंद्र पूजयैनान्यथाविधि ।
अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः ॥ ६० ॥
पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाऽऽशया ।
तं पूजयाऽथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥ ६१ ॥
तं यांतमनुगच्छंति देवाः सर्वे सवासवाः ।
तस्मिन्संपूजिते प्रीता निराशा यांत्यपूजिते ॥ ६२ ॥
तस्मात्त्वमपि राजेंद्र पूजयैनं यथाविधि ।
एतत्ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—पुनःपुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम् ।
पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो ॥ ६४ ॥
मार्कण्डेय उवाच—धर्मांतरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप ।
सर्वपापहरां नित्यं शृणुष्वाऽवहितो मम ॥ ६५ ॥
कपिलायां तु दत्तायां यत्फलं ज्येष्ठपुष्करे ।
तत्फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने ॥ ६६ ॥
द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी ।

करनेवाले पीते हैं, वही उसी नदीका जल पापी लोगोंके वास्ते पीब हो जाता है। हे महाराज! वह नदी इच्छाको पूर्ण करनेवाली है। (५४ — ५९)

हे राजेन्द्र! इसलिये तुमभी यथाविधि ब्राह्मणकी पूजा करो। जो मनुष्य मार्ग में थके हुए, धूलिसे व्याप्त शरीर वाले, अन्न दाताकी खोज करते आशासे आये हुए अतिथिको सत्कार पूर्वक अन्न देता है और उसकी पूजा करता है उसके ऊपर अतिथिके साथ चलने वाले इन्द्रादिक देव प्रसाद करते हैं और जो अतिथिकी पूजा नहीं करता है उससे सब देवता निराश होजाते हैं, हे राजन्! तुमभी अतिथियोंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करो। यह मैंने तुम्हारे अनेक प्रश्नों-का उत्तर दिया और क्या पूछना चाहते हो। (६०—६३)

युधिष्ठिर बोले, हे मुनि! मैं वारंवार धर्म सबंधी पवित्र कथा सुनना चाहता हूं। मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! मैं और भी धर्म कथा कहता हूं, जो सब पापोंका नाश करती है, तुम चित्त लगा कर उसे सुनो। जो पुष्करमें कपि-ला गौ दान करनेका फल होता है वही फल ब्राह्मणोंके पैर धोनेसे होता है।

तावत्पुष्करपर्णेन पिबंति पितरो जलम् ॥ ६७ ॥
स्वागतेनाऽग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ॥ ६८ ॥
यावद्वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते ।
तस्मिन्काले प्रदातव्या प्रयत्नेनांऽतरात्मना ॥ ६९ ॥
अंतरिक्षगतो वत्सो यावद्योन्यां प्रदृश्यते ।
तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुंचति ॥ ७० ॥
यावंति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर ।
तावद्युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ७१ ॥
सुवर्णनासां यः कृत्वा सखुरां कृष्णधेनुकाम् ।
तिलैः प्रच्छादितां दद्यात्सर्वरत्नैरलंकृताम् ॥ ७२ ॥
प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे ।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत ॥ ७३ ॥
ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना ।
चतुरंता भवेद्दत्ता पृथिवी नाऽत्र संशयः ॥ ७४ ॥
अंतर्जानुशयो यस्तु भुंजते सक्तभाजनः ।

जबतक ब्राह्मणोंके चरणोंके जलसे पृथ्वी भींगी रहती है, तब तक पितर लोग कमलके पत्तेसे जल पीते हैं; ब्राह्मणोंका आदर करनेसे अग्निदेव प्रसन्न होते हैं; आसन देनेसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं; पांव धोनेसे पितर और अन्न दानसे प्रजापति सन्तुष्ट होते हैं। (६४—६८)

जबतक बछडेके पैर और सिर दीखते हैं; उसी समय गौ ब्राह्मणको दान देना चाहिये, जबतक बछडा उत्पन्न नहीं होता है, गौके योनिमेंही दीखता है, तब तक गौ पृथ्वी कहलाती है। और उसी समय गौदानसे पृथ्वीदानका पुण्य होता है, हे युधिष्ठिर! उत्पन्न होनेवाले बछडा और गौके जितने रोम हैं उतने हजार युग तक देनेवाला स्वर्गमें निवास करता है। जो सुवर्णसे नाक और खुर मढकर गौको तिलसे लादकर तथा सुवर्णके आभूषण पहराकर दान करता है, वह स्वर्गको जाता है। जो ब्राह्मण दान लेकर किसी महात्माको दे देता है, उसको सम्पूर्ण पृथ्वी दान करनेका फल प्राप्त होता है। (६९—७४)

जो ब्राह्मण जांघोंके बीचमें हाथ रखकर चुपचाप भोजन करता है, वह

यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ॥ ७५ ॥
अपानपा न गदितास्तथाऽन्ये ये द्विजातयः ।
जपंति संहितां सम्यक्ते नित्यं तारणक्षमाः ॥ ७६ ॥
हव्यं कव्यं च यत्किंचित्सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति ।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितेऽग्नौ यथा हुतम् ॥७७॥
मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः ।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवाऽसुरान् ॥ ७८ ॥
धर्माश्रितेयं तु कथा कथितेयं तवाऽनघ ।
यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः ॥ ७९ ॥
वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च ।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन्न भवंतीह मानवाः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर उवाच—किंतच्छौचं भवेद्येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत् ।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृतां वर ॥ ८१ ॥

मार्कंडेय उवाच-- वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम् ।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नाऽत्र संशयः ॥ ८२॥
सायं प्रातश्च संध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते ।
प्रजपन्पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥ ८३ ॥

यजमानको तारनेमें समर्थ है, जो अपेय वस्तुओंको नहीं पीते हैं; जो वेदका पाठ नित्य करते हैं, वही ब्राह्मण तारने योग्य हैं; हव्य कव्य सबको ब्राह्मण लेनेके योग्य हैं, जो दान महात्मा ब्राह्मण को दिया जाता है, वह ऐसा होता है, जैसा जलती हुई अग्निमें होम करना। क्रोधही ब्राह्मणका शस्त्र है; ब्राह्मण शस्त्र से नहीं लडते हैं; जिस पर क्रोध करते उसको ऐसा नाशकर देते हैं,जैसा इन्द्र वज्रसे राक्षसोंको मारते हैं, हे पाप-रहित युधिष्ठिर ! मैंने तुमसे यह धर्मकी कथा कही। इस कथाको सुन कर नैमिषारण्यके तपस्वी प्रसन्न हुए थे, हे राजन् ! इस कथाको सुननेवाले मनुष्य शोक, भय, और पाप से रहित हो जाते हैं। (७५--८०)

युधिष्ठिर बोले, हे धर्म जाननेवाले में श्रेष्ठ ! कौनसे कर्मसे ब्राह्मण सदा पवित्र रह सकता है, मैं उसे सुननेकी इच्छा रखता हूं। मार्कण्डेय मुनि बोले, पवित्रता तीन प्रकारकी है; वचनकी, जलकी और कर्मकी। जो इन तीनों पवित्रताओंसे युक्त रहता है, वही स्वर्गको जाता है; जो प्रातःकाल और सायंकालकी

स तथा पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिषः ।
न सीदेत्प्रतिगृह्णानो महीमपिससागराम् ॥ ८४ ॥
ये चाऽस्य दारुणाः केचिद्ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चाऽस्य सौम्या जायंते शिवाः शिवतराः सदा ॥८५ ॥
सर्वे नाऽनुगतं चैनं दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयंति द्विजोत्तमम् ॥ ८६ ॥
नाऽध्यापनाद्याजनाद्वा अन्यस्माद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ॥ ८७ ॥
दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा ।
ब्राह्मणा नाऽवमंतव्या भस्मच्छन्ना इवाऽग्नयः ॥ ८८ ॥
यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति ।
एवं विद्वानविद्वान्वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ८९ ॥
प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः ।
नगराणि न शोभंते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ९० ॥
वेदाढ्या वृत्तसंपन्ना ज्ञानवंतस्तपस्विनः ।
यत्र तिष्ठंति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप ॥ ९१ ॥

सन्ध्यामें गायत्रीको जपते हुए उपासना करते हैं, वे पापरहित और पवित्र हो जाते हैं,वह चाहे सम्पूर्ण पृथ्वीका दान ले ले तौ भी उसे कुछ दोष नहीं है, यदि सूर्यादिक आकाशके ग्रह बुरी दृष्टि रखते हों तो वह भी कल्याण कारी हो जाते हैं। (८१ – ८५)

जितने मांसभक्षी घोर जन्तु हैं, वह कोई भी उस द्विजश्रेष्ठको दुःख नहीं दे सकते हैं; वेद पढाने या दान लेने और यज्ञ करानेसे ब्राह्मणोंको कुछभी दोष नहीं होता, क्योंकि ब्राह्मण जलती अग्निके समान हैं, चाहे अच्छी तरह वेद पढे हों वा न पढे हों,चाहे प्राकृतही पढे हों वा संस्कृत पढे हों उनका अपमान न करना चाहिये, क्योंकि वे राखसे ढंपी हुई अग्निके समान हैं,जैसे मर्घटमें जलने से अग्निको दोष नहीं लगता ऐसेही ब्राह्मण विद्वान् हो वा अविद्वान् वह बडा दैवत है । नगर चाहे छाडादिवारी, द्वार, अटारी आदिसे कैसाभी शोभायमान क्यों न हो, पर ब्राह्मणके विना उसकी शोभा नहीं होती । (८६—९०)

वेदको जाननेवाले ज्ञानी, तपस्वी,- ब्राह्मण जहां रहते हैं, उसीका नाम न गर है । हे राजन् ! गांवमें अथवा जङ्गल

व्रजे वाऽप्यथवाऽरण्ये यत्र संति बहुश्रुताः ।
तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत् ॥ ९२ ॥
रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम् ।
अभिगम्याऽभिपूज्याऽथ सद्यः पापात्प्रमुच्यते ॥ ९३॥
पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम् ।
सद्भिः संभाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ॥ ९४ ॥
साधुसंगमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा ।
पवित्रीकृतमात्मानं संतो मन्यंति नित्यशः ॥ ९५ ॥
त्रिदंडधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुंडनम् ।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याऽभिषेचनम् ॥ ९६ ॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्यास्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥ ९७ ॥
न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना ।
विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिंद्रियगामिनाम् ।
विकारि तेषां राजेंद्र सुदुष्करतरं मनः ॥ ९८ ॥
ये पापानि न कुर्वंति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।
ते तपंति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥ ९९ ॥

में जहां ब्राह्मण रहते हैं उसीको नगर कहते हैं, और वही तीर्थभी माना जाता है, रक्षा करनेवाला राजा और तपस्वी ब्राह्मणको नमस्कार करके मनुष्य पापों-से छूट जाता है। पवित्र तीर्थोंमें स्नान करना पवित्र लोगोंका नाम लेना और सज्जनोंसे बातचीत करनाही उत्तम कर्म कहाता है, सज्जनोंके सङ्गसे और मीठी वाणीसे जिन्होंने अपने आत्माको पवित्र किया है, उन्हीं को पवित्र कहते हैं। ९१-९५

तीन दण्डका धारण करना, जटा बढाना सिर मुडवाना, मौनी होना, छाल पहरना, मृगचर्म पहरना, व्रत करना, स्नान करना, अग्निहोत्र करना, वनमें रहना और शरीरको सुखाना, यदि भाव शुद्ध न हों तो सबही मिथ्या हैं। हे राजन् ! छः इन्द्रियोंकी विशुद्धिके बिना विषयोपभोगसे अलिप्त रहना कठिन है। परन्तु विषयभोगके लिये इन्द्रिय शुद्धि की अपेक्षा नहीं है, वह सुलभही है। उनमें मनही सबको विकार देनेवाले हैं तथा उस मनको रोकना बहुतही कठिन है। (९६—९८)

जो मन बुद्धि और कर्मसे पाप नहीं

न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः।
हिंसा सा तपसस्तस्य नाऽनाशित्वं तपः स्मृतम् १०० ॥
तिष्ठन्गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १०१ ॥
न हि पापानि कर्माणि शुद्ध्यन्त्यनशनादिभिः।
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ॥ १०२ ॥
अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नाऽन्यत्प्रहीयते।
नाऽग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः ॥ १०३ ॥
पुण्यादेव प्रव्रजंति शुध्यंत्यनशनानि च।
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नाऽनिलाशनात् ॥१०४ ॥
शिरसो मुंडनाद्वाऽपि न स्थानकुटिकासनात्।
न जटाधारणाद्वाऽपि न तु स्थंडिलशय्यया ॥ १०५ ॥
नित्यं ह्यनशनाद्वाऽपि नाग्निशुश्रूषणादपि।
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि ॥ १०६ ॥
ज्ञानेन कर्मणा वाऽपि जरामरणमेव च।
व्याधयश्च प्रहीयंते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ॥ १०७ ॥

करते, वही तपस्वी हैं, शरीरको सुखानेवाले तपस्वी नहीं है। जिनकी अपने जाति-वालोंपर दया नहीं है; और शुक्ल वृत्तिसे रहता है उसे कुटुम्ब पीडनसे धर्म नहीं होता है, वह केवल तपकी हिंसा करता है। भोजनत्यागी होना तप नहीं कहलाता है, जो घरमें रहकर पवित्र रहता है, वही मुनि है। सम्पूर्ण जीवोंपर दया करने हीसे सब पापोंसे छूट जाता है; पापकर्म अन्न न खानेसे नहीं छूटते अन्नके न खानेसे केवल मांस और हड्डीका पिञ्जरा शरीरही दुःख पाता है। अज्ञानसे कर्म करनेका केवल क्लेशही फल होता है, अश्रद्ध पुरुषके पापका अग्नि नाश नहीं करती है। (९९--१०३)

पुण्य करनेहीसे मनुष्य का अंतःकरण शुद्ध होता है। और वैराग्य भी बढता है। अन्नके त्यागनेसे, फल मूल और वायुके खानेसे अथवा मौन धारणसे शुद्ध नहीं होता है। न शिर मुडानेसे, न कुटीमें रहनेसे, न जटा बढानेसे न स्थंडिल पर सोनेसे, न अन्न त्याग करनेसे, न अग्निहोत्र करनेसे, न जलमें डूबनेसे और न पृथ्वी पर सोनेसे धर्म होता है, क्योंकि विना ज्ञानसे और उत्तम कर्म करनेसे मनुष्य जरा

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहंति पुनर्यथा ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नाऽऽत्मा संयुज्यते पुनः ॥ १०८ ॥
आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च ।
विनश्यंति न संदेहः फेनानीव महार्णवे ॥ १०९ ॥
आत्मानं विंदते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वाऽर्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥ ११० ॥
द्व्यक्षरादभिसंधाय केचिच्छ्लोकपदांकितैः ।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ १११ ॥
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ ११२ ॥
विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद् प्रयोजनम् ।
उद्विजेत्स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ॥ ११३ ॥
शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम् ।
एकाक्षराभिसंबद्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि ।
बुद्धिर्न तस्य सिद्ध्येत साधनस्य विपर्ययात् ॥ ११४ ॥
वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्तद्वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम् ।

मरण और व्याधियोंसे छूट कर उत्तम गतिको प्राप्त होता है। (१०४–१०७)

जैसे अग्निमें जले हुए बीज से फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता ऐसाही ज्ञानसे जले हुए क्लेश फिर आत्मामें नहीं आते हैं, जीवसे छुटे हुए शरीर काष्ठ कुड्यके समान नाश हो जाते हैं, जैसे समुद्रसे अलग होकर समुद्रफेन मिट जाता है। जिसको सर्व प्राणियोंके अंतःकरणमें स्थित आत्मतत्त्वका ज्ञान एक श्लोकहीको उत्तम पढने से होता है वह जन्म मरण से छूटता है। कोई दो अक्षरसे कोई श्लोकके एक चरणसे, कोई सौ श्लोकोंसे और कोई हजार श्लोकोंसे मोक्षका लक्षण तथा अनुभव को पाते हैं। १०८-१११

ज्ञानके जाननेवाले वृद्ध लोग कहते हैं, कि निश्चयही मोक्षका लक्षण है, जिसको संशय है उसके इस लोक और परलोक दोनोंका नाश हो जाता है। वेदोंका प्रयोजन केवल ज्ञानीही जानते हैं; ज्ञानी लोग वेदोक्तकर्मसे ऐसा डरते हैं, जैसे अग्निसे मनुष्य डरते हैं। हे राजन्! तुम सूखे तर्कोंको त्याग कर श्रुति और स्मृतिको धारण करो। एक अक्षय ब्रह्म हीको तर्कोंसे सिद्ध करके धारण करो। जिसके साधन उलटे हैं, उसकी बुद्धि

वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ क्लीबस्त्वात्मा तत्स वेद्यस्य वेद्यम् ॥११५॥
वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ११६ ॥
इंद्रियाणां प्रसादेन तदेतत्परिवर्जयेत् ।
तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेंद्रियगोचरम् ॥ ११७ ॥
तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते ।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ॥ ११८ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि प्रधानविधिमुत्तमम् ॥ ११९ ॥
मार्कण्डेय उवाच—यत्त्वमिच्छसि राजेंद्र दानधर्मं युधिष्ठिर ।
इष्टं चेदं सदा मह्यं राजन्गौरवतस्तथा ॥ १२० ॥
शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च ।
छायायां करिणः श्राद्धं तत्कर्णपरिवीजिते ॥
दशकल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर ॥ १२१ ॥
जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्वा महीपते ।

कभी ठीक नहीं होती। पहले यत्न पूर्वक वेदको पढना, वेद ब्रह्मका स्वरूप है, वेदही तत्त्व है, उसके जाननेसे जीवको ब्रह्मज्ञान होता है। (११२—११५)

वेदमें लिखा है, देवोंकी आयुष्य, आशीर्वाद और कर्म तथा प्राणियोंका प्रभाव ये सब युगके अनुसार फल देते हैं। इन्द्रियोंकी निर्मलता और इन्द्रियोंका रोकना अनाहार दिव्य व्रत कहलाता है, अन्नका त्यागना नहीं; इस लिये इन्द्रियोंको रोकना चाहिये। तपसे स्वर्ग मिलता है, दानसे भोग मिलता है, ज्ञानसे मोक्ष मिलती है, और तीर्थस्नानसे पाप छूटता है। (११६—११८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर मार्कण्डेय मुनिसे बोले, हे महाराज ! आप मुझसे दानकी उत्तम विधि कहिये। मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजेन्द्र युधिष्ठिर ! जो तुम मुझसे दानधर्मकी विधि पूंछते हो, सो मुझे भी प्यारी है। हे राजन् ! श्रुति और स्मृतिमें लिखा दानका सार है, सो मैं कहता हूं सुनो। (११९—१२१)

हे युधिष्ठिर ! गुरुवारयुक्त अमावास्यामें पीपलकी छायामें जहां पीपलकी हवा आती है, वहां श्राद्ध करनेसे दस कल्पतक नष्ट नहीं होता, जो मनुष्य जीवनके लिये रस युक्त अन्नादिका दान

वैश्यं तु वासयेद्यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ॥ १२२ ॥
प्रतिस्रोतश्छिन्नवाहाः पर्जन्योऽन्नानुसंचरन् ।
महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ॥ १२३ ॥
विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च ।
पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ॥ १२४ ॥
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च ।
चंद्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥ १२५ ॥
ऋतुषु दशगुणं वदंति दत्तं शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम् ।
भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहोर्विषुवति चाऽक्षयमश्नुते फलम् ॥ १२६ ॥
नाऽभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्नाऽयानदो यानमारुह्य याति ।
यान्यान्कामान्ब्राह्मणेभ्यो ददाति तांस्तान्कामान्जायमानः स भुंक्ते १२७॥
अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः ।
लोकास्त्रयस्तेन भवंति दत्ता यः कांचनं गाश्च महीं च दद्यात् ॥ १२८ ॥
परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः ।

देते हैं वह पूजा पाते हैं, जो मनुष्य ग्रह वनवाकर दान करता है उसको सब यज्ञोंका फल होता है; जो नदी के उलटे प्रवाहके स्थलमें उत्तम घोडे और अन्न दान करता है, वह महापापोंसे छूट जाता है, जैसा नौका से नदीपार होता है। जो ग्रहण पूर्णमासी और अमावसको छांछ दान करता है, उसे अक्षय फल प्राप्त होता है, पर्व विशेषमें दान करनेसे दूना और ऋतु विशेषमें दान करनेसे दश गुणा फल पाता है, अयन (कर्क और मकर) और विषुव (मेष तथा तुलाकी संक्रान्ति) एवं षडशीतिमुख (मिथुन कन्या और मीनकी संक्रान्ति) के प्रारंभमें दान करनेसे तथा सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहणमें दान देनेसे जो दान देता है उसको अक्षय फल मिलता है। (१२१-१२५)

ऋतुमें दान करनेसे दश गुणा, ऋतु और अयनमें सौ गुणा, ग्रहणमें सहस्र गुणा, मेष और तुलाकी संक्रान्तिमें अनन्त फल होता है। भूमिके न देनेवाले भूमिको नहीं पाते हैं, वाहनके न देनेवाले वाहन पर चढकर नहीं जाते हैं, किंतु जो वस्तु ब्राह्मणोंको देता है, वह दूसरे जन्ममें पाता है। अग्निकी सन्तान सुवर्ण है, विष्णुकी सन्तान पृथ्वी और सूर्यकी सन्तान गौ है, जो सुवर्ण, गौ और पृथ्वी दान करता है, उसको तीनों लोक दान करनेका फल प्राप्त होता है, तीनों लोकमें दानसे बढ

तस्मात्प्रधानं परमं हि दानं वदंति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि दानमाहात्म्य द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥ [७९६८]

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिंद्रद्युम्नस्य तत्तथा ।
मार्कंडेयान्महाभागात्स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ ।
मार्कंडेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥ २ ॥
विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः ।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ॥ ३ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम ।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ॥ ४ ॥
देवगंधर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा ।
इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
कथं नामविपर्यासाद्धुन्धुमारत्वमागतः ॥ ६ ॥
एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम ।
विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ॥ ७ ॥

कर कल्याण करनेवाला कोई धर्म नहीं है, इसलिये विमल बुद्धिवाले दानहीको संसारमें प्रधान मानते हैं । १२६-१२९

वनपर्वमें दोसौ अध्याय समाप्त । [७९६८]

वनपर्वमें दोसौ पहिला अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! महाराज युधिष्ठिर राजर्षि इन्द्रद्युम्नकी कथा महाभाग मार्कण्डेय मुनिसे सुनके तपोवृद्ध निष्पाप दीर्घायु मार्कण्डेयसे पूछने, लगे, हे धर्मज्ञ ! आप देवता, दानव राक्षस, राजवंश, और ऋषिवंशको जानते हैं, हे द्विजोत्तम ! इस संसारमें आपसे कुछ छिपा नहीं है । हे मुने ! आप सर्प, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व अप्सरा, देव, यक्ष और किन्नरोंकी दिव्य कथाको जानते हैं । (१--५)

हे द्विजसत्तम ! मैं प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलयाश्वकी उस कथाको ठीक ठीक सुनना चाहता हूं, जिससे वह धुन्धुमार नामको प्राप्त हुए थे । हे भृगुवंशियोंमें उत्तम ! कुवलयाश्वका यह उलटा नाम कैसे हुआ आप मुझसे कहिये । (५—७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्!

वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कण्डेयो महामुनिः।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—हंत ते कथयिष्यामि शृणु राजन्युधिष्ठिर।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ॥ ९ ॥
यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः।
धुंधुमारत्वमगमत्तच्छृणुष्व महीपते ॥ १० ॥
महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तंक इति भारत।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ॥ ११ ॥
उत्तंकस्तु महाराज तपोऽतप्यत्सुदुश्चरम्।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून्वर्षगणान्विभुः ॥ १२ ॥
तस्य प्रीतः स भगवान्साक्षाद्दर्शनमेयिवान्।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ॥ १३ ॥

उत्तंक उवाच—त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः।
स्थावराणि च भूतानि जंगमानि तथैव च ॥ १४ ॥
ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते।
शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ॥ १५ ॥
निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाऽच्युत।

युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनके महामुनि मार्कण्डेयने धुन्धुमारकी कथाको आरम्भ किया। श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! मैं तुमसे धर्म भरी राजा धुंधुमारकी कथा कहता हूं, तुम सुनो। जैसे इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए राजा कुवलयाश्व धुन्धुमार नामको प्राप्त हुआ था, वह कथा तुम सुनो। (८—१०)

हे कौरव! हे भारत! महर्षि उत्तङ्क एक प्रसिद्ध ऋषि थे, उनका आश्रम किसी रमणीय मरुभूमि देशमें था। हे राजन्! उत्तङ्कने विष्णुको प्रसन्न करनेकी इच्छासे अनेक वर्षतक घोर तप किया। उत्तङ्कसे प्रसन्न होकर विष्णुने साक्षात् दर्शन दिये। विष्णु भगवानको देखकर उत्तङ्कने अनेक प्रकारकी स्तुति करी। (११—१३)

उत्तङ्क मुनि बोले, हे देव! तुमनेही देवता दैत्य मनुष्यों सहित सम्पूर्ण प्रजाको तथा अचर और चर जगतको बनाया है, तुमने ब्रह्मा और वेद तथा वेद्यको रचा है, हे महा प्रकाशयुक्त देव! आकाश तुम्हारा सिर, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हारे नेत्र, वायु श्वास और अग्नि तेज

बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ॥ १६ ॥
ऊरू ते पर्वता देव खं जंघे मधुसूदन।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ॥ १७ ॥
इंद्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठंति स्तुवंतो विविधैः स्तवैः ॥ १८ ॥
त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवंति त्वां महर्षयः ॥ १९ ॥
त्वयि तुष्टे जगत्स्वास्थ्यं त्वयि क्रुद्धे महद्भयम्।
भयानामपनेताऽसि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥ २० ॥
देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः ॥ २१ ॥
असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन्परम् ॥ २२ ॥
पराभूताश्च दैत्येंद्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः ॥ २३ ॥
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधंति सर्वशः।
एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तंकेन महात्मना ॥ २४ ॥

हैं, हे अच्युत ! सपूर्ण दिशा तुम्हारे हाथ और समुद्र कोख हैं; हे मधुसूदन! पर्वत तुम्हारी पिण्डरी और अन्तरिक्ष जङ्घा हैं; देवी पृथ्वी तुम्हारे चरण और औषधि तुम्हारे रोम हैं। (१४-१७)

हे देव ! इन्द्र, चन्द्रमा, अग्नि, देवता, असुर और नाग लोग सपूर्ण नम्र होकर तुम्हारी स्तुति करते हैं, हे जगत्पते ! तुम सब प्राणियोंमें व्यापक हो। महा-पराक्रमी योगी तथा महर्षिलोग तुम्हारी स्तुति करते हैं; हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारे प्रसन्न रहनेसे जगतमें प्रसन्नता रहती है, और तुम्हारे क्रोध करनेसे जगतमें भय फैल जाता है, तुमही एक जगतके भयनाश करनेवाले हो। तुमही देवता और मनुष्योंके सुख देनेवाले हो, तुमहीने तीन पैरसे तीनों लोकको छीना था। १८-२१

बढे हुए दैत्योंका तुम्हीने नाश किया था; तुम्हारेही प्रतापसे देवतोंको परम पद मिला है; हे महाशोभायमान देव ! तुम्हारेही क्रोधसे दैत्योंकी पराजय हुई, तुमही सब प्राणियोंके कर्त्ता और हर्ता हो; तुम्हारी आराधनासे देवतोंके सुखकी वृद्धि होती है। (२२—२४)

उत्तंकमब्रवीद्विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ।
उत्तंक उवाच—पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान्हरिम् ॥ २५ ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ।
विष्णुरुवाच--प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम ॥ २६ ॥
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज ।
एवं स च्छंद्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा ॥ २७ ॥
उत्तंकः प्रांजलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ।
यदि मे भगवन्प्रीतः पुंडरीकनिभेक्षण ॥ २८ ॥
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा ।
अभ्यासश्च भवेद्भक्त्या त्वयि नित्यं महेश्वर ॥२९ ॥
भगवानुवाच—सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात्तव द्विज ।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ॥ ३० ॥
त्रयाणामपि लोकानां महत्कार्यं करिष्यसि ।
उत्सादनार्थं लोकानां धुंधुर्नाम महासुरः ॥ ३१ ॥
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति ।
राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ॥ ३२ ॥
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ।

हे राजन् ! इस प्रकारसे महात्मा उत्तङ्ककी स्तुतिको सुनकर विष्णु भगवान उत्तंकसे बोले, हे उत्तंक ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं, तुम वर मांगो। उत्तंक बोले, हे महाराज ! मुझे आपके दर्शन हुए; इसीसे सब वर प्राप्त होगया। तुमही सनातन पुरुष और जगतके रचनेहारे हो। विष्णु बोले, हे द्विजसत्तम ! मैं तेरे धीर स्वभावसे प्रसन्न हुआ। तुम मुझसे अवश्य वर मांगो। हे राजन् ! विष्णुके ऐसे वचन सुनके उत्तङ्कने हाथ जोडकर वर मांगा। उत्तङ्क बोले, हे भगवन् ! हे कमलनयन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये, कि मेरी बुद्धि सदा धर्म, सत्य और इन्द्रियोंके जीतने में लगी रहे और आपकी भक्तिमें सदा अभ्यास रहे। (२४—२९)

भगवान ! विष्णु बोले, हे ब्राह्मण ! मेरी कृपासे ऐसाही होगा, वह योगभी तुम्हें प्राप्त होगा, जिसे देवतालोग जानते हैं, इस योगके प्रतापसे तुम संसार का महा कार्य करोगे, हे ब्राह्मण ! धुन्धुमार नामक असुर संसारका नाश करनेका महा तप करेगा; इक्ष्वाकु कुलमें

तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ॥ ३३ ॥
स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तम ।
शासनात्तव विप्रर्षे धुंधुमारो भविष्यति ।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरंतरधीयत ॥ ३४ ॥[८००२]

इति श्रीमहा० आरण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः २०१

मार्कंडेय उवाच — इक्ष्वाकौ संस्थिते राजञ्शशादः पृथिवीमिमाम् ।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥ १ ॥
शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान् ।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चाऽनेनसः सुतः ॥ २ ॥
विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादद्रिश्च जज्ञिवान् ।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्याऽऽत्मजोऽभवत् ॥ ३ ॥
तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता ।
श्रावस्तकस्य दायादो बृहदश्वो महाबलः ॥ ४ ॥
बृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः ।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ५ ॥
सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवंतो दुरासदाः ।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ॥ ६ ॥

महा पराक्रमी बृहदश्व राजा होगा; उस का पुत्र शुद्ध और दाता कुवलयाश्व मेरे योगका आराधन करेगा; फिर तुम्हारे शासनसे वह धुन्धुमार होगा। हे राजन् युधिष्ठिर ! इतना कहकर विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। ३०—३५ [८००२]

वनपर्वमें दोसौ पहिला अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ दूसरा अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! इक्ष्वाकुके स्वर्गवासके पीछे परम धार्मिक शशाद नामक राजा अयोध्यामें थे, शशादके वीर्यवान पुत्र ककुत्स्थ; ककुत्स्थके अनेना, अनेनाके पुत्र पृथु हुए; पृथुके पुत्र विश्वगश्व, विश्वगश्वके पुत्र अद्रि, अद्रिके युवनाश्व, युवनाश्व के श्राव और श्रावके पुत्र श्रावस्तक हुए। हे युधिष्ठिर ! श्रावस्तक हीने श्रावस्ती नगरी बसायी है, राजा श्रावस्तकके पुत्र बृहदश्व और बृहदश्वके कुवलयाश्व पुत्र हुए; राजा कुवलयाश्वके इक्कीस हजार पुत्र उत्पन्न हुए। (१—५)

सब विद्या पढे हुए और बलवान् जीतनेमें अयोग्य थे, कुवलयाश्व अपने पितासे भी अधिक गुणवान था। समय

समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत् ।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥ ७ ॥
पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः ।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय उवाच— अथ शुश्राव राजर्षि तमुत्तंको नराधिप ।
वनं संप्रस्थितं राजन्बृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥ ९ ॥
तमुत्तंको महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम् ।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥ १० ॥

उत्तंक उवाच— भवता रक्षणं कार्यं तत्तावत्कर्तुमर्हसि ।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद्भवेमहि ॥ ११ ॥
त्वया हि पृथिवी राजन्रक्ष्यमाणा महात्मना ।
भविष्यति निरुद्विग्ना नाऽरण्यं गंतुमर्हसि ॥ १२ ॥
पालने हि महान्धर्मः प्रजानामिह दृश्यते ।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये मा भूत्ते बुद्धिरीदृशी ॥ १३ ॥
ईदृशो न हि राजेंद्र धर्मः क्वचन दृश्यते ।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ॥ १४ ॥
रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि ।

प्राप्त होनेपर राजा बृहदश्वने अपने पुत्र कुवलयाश्वको शूर और धार्मिक समझके राज्य देदिया । राजा बृहदश्व अपने पुत्रको राज्य देकर तप करनेकी इच्छासे वनको चले गये । (६--८)

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे नरनाथ युधिष्ठिर ! सब अस्त्रोंके जाननेवाले राजा बृहदश्वको वनमें जाता हुआ सुनके ब्राह्मणोंमें उत्तम उत्तङ्कने निवारण किया। (९–१०)

उत्तंकने कहा,हे नरोत्तम ! आप प्रजाकी रक्षा कीजिये;यह आपका कर्त्तव्य है, आपकी रक्षासे हमलोग निर्भय रहते हैं, हे राजन् ! तुम्हारी रक्षासे पृथ्वी निर्भय रहती है, इसलिये तुम वनको जानेके योग्य नहीं हो। प्रजाकी रक्षा करनेमें जैसा महा धर्म है, वैसा वनके जानेमें नहीं है, तुम अपनी बुद्धिको विपरीत मत करो। (११–१३)

हे राजन् ! प्रजापालन धर्मके सदृश अन्य धर्म नहीं हैं,इसलिये पहले राजालोग इसकोही करते आये हैं,तुम उसीको करो। राजाको प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये; आप यदि रक्षणको न करोगे तो हमलोग

निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ॥ १५ ॥
ममाऽऽश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु ।
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः ॥ १६ ॥
बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः ।
तत्र रौद्रो दानवेंद्रो महावीर्यपराक्रमः ॥ १७ ॥
मधुकैटभयोः पुत्रो धुंधुर्नाम सुदारुणः ।
अंतर्भूमिगतो राजन्वसत्यमितविक्रमः ॥ १८ ॥
तं निहत्य महाराज वनं त्वं गंतुमर्हसि ।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥ १९ ॥
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव ।
अवध्यो दैवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम् ॥ २० ॥
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः ।
अवाप्य स वरं राजन्सर्वलोकपितामहात् ॥ २१ ॥
तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ॥२२॥
क्रूरस्य तस्य स्वपतो वालुकान्तर्हितस्य च ।
संवत्सरस्य पर्यंते निःश्वासः संप्रवर्तते ॥ २३ ॥
यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना ।

उद्विग्न होकर तप नहीं कर सकते हैं। (११—१५)

हे राजन् ! मेरे आश्रमके समीप मारवाड देशमें वालुकासे पूर्ण उज्जालक नामक समुद्र है, जो बहुत योजनका लम्बा और चौडा है, वहीं पर महा भयानक महा पराक्रमी मधु और कैटभोंका पुत्र धुन्धु नामक दैत्य भूमिके भीतर रहता है। हे राजन् ! उसको मारकर तुम जंगलको जाना; वह राक्षस संसारको नाश करने और देवतोंको जीतनेके वास्ते भयानक तप कर रहा है। (१६—२०)

हे राजन् ! उस दैत्यको देवता, दैत्य, राक्षस, सर्प, यक्ष और गन्धर्व नहीं मार सकते हैं, ब्रह्माने उसे यही वर दिया है। हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, तुम उसे मारो, इससे उलटी बुद्धि मत करो; उसको मारनेसे तुम्हारी अक्षय कीर्ति होगी; वह दुष्ट वालूके भीतर सोता है; एक वर्षके पश्चात् जब वह सांस लेता है, तब पृथ्वी वन और पर्वतोंके सहित हिल जाती है और उसके सांससे बहुत

तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ॥ २४ ॥
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकंपनम् ।
सविस्फुलिंगं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ॥ २५ ॥
तेन राजन्न शक्नोमि तस्मिन्स्थातुं स्व आश्रमे ।
तं विनाशाय राजेंद्र लोकानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥
लोकाः स्वस्था भविष्यंति तस्मिन्विनिहतेऽसुरे ।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ॥ २७ ॥
तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति ।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते ॥ २८ ॥
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः ।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम् ॥ २९ ॥
तत्तेजस्त्वं समाधाय राजेंद्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय राजेंद्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ॥ ३० ॥
न हि धुंधुर्महातेजास्तेजसाऽल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ॥ ३१ ॥ [८०३३]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने व्द्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०२॥

मार्कण्डेय उवाच—स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तंकेनाऽपराजितः ।

धूल उडती है; उसके श्वासका वायु सूर्य-मण्डल तकको हिला देता है और सात दिनतक उस वायुसे धूआं और अग्नि निकलती रहती है तथा पृथ्वी हिलती रहती है। इस कारणसे मैंभी अपने आश्रम पर नहीं रह सकता हूं। (२०–२५)

हे राजेन्द्र! संसारकी हित-कामनासे आप उसका नाश कीजिये, उस असुरके मरनेसे संसार सुखी रहेगा; मेरी बुद्धिमें तुम उसके नाश करनेमें समर्थ हो। हे राजन्! जब तुम उसको मारोगे, तब विष्णुका अंश तुममें आवेगा, मुझे विष्णुने पहिले वरदान दिया है, कि जो उस घोर राक्षसको मारेगा, उसके शरीरमें विष्णु का अंश आकर सहाय होगा। २६–२९

हे राजेन्द्र! तुम विष्णुका तेज धारण करके उस महा पराक्रमी घोर राक्षसका नाश करो; हे पृथ्वीनाथ! वह महा पराक्रमी और तेजस्वी राक्षस थोडे बल-वालोंसे सौ वर्षमें भी नहीं मारा जायगा। (३०—३१) [८०३३]

वनपर्वमें दोसौ दूसरा अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ तीसरा अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, राजर्षि बृह-

उत्तंकं कौरवश्रेष्ठ कृतांजलिरथाऽब्रवीत् ॥ १ ॥
न तेऽभिगमनं ब्रह्मन्मोघमेतद्भविष्यति ।
पुत्रो ममाऽयं भगवन्कुवलाश्व इति स्मृतः ॥ २ ॥
धृतिमान्क्षिप्रकारी च वीर्येणाऽप्रतिमो भुवि ।
प्रियं च ते सर्वमेतत्करिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन्न्यस्तशस्त्रोऽस्मि सांप्रतम् ॥ ४ ॥
तथाऽस्त्विति च तेनोक्तो मुनिनाऽमिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुत्तंकाय महात्मने ॥ ५ ॥
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ।
युधिष्ठिर उवाच—क एष भगवन्दैत्यो महावीर्यस्तपोधन ॥ ६ ॥
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ।
एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ॥ ७ ॥
एतदिच्छामि भगवन्याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥ ८ ॥
मार्कंडेय उवाच—शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ॥ ९ ॥
एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजंगमे ।

इथ उत्तङ्कके ऐसे वचन सुन हाथ जोड कर बोले, हे ब्राह्मण! तुम्हारा वचन सत्य होगा, मेरा यह पुत्र कुवलयाश्व बुद्धिमान शीघ्र लडनेवाला पराक्रमी तुम्हारे प्यारे कामको करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं; इसके सब पुत्र ऐसे पराक्रमी हैं, कि जिनके हाथ परिघ के समान हैं। हे महाराज! मैंने शस्त्र त्याग दिये हैं, इस कारणसे आप मुझे जाने दीजिये। उत्तंक मुनिने कहा, कि ऐसा ही होगा। राजा अपने पुत्रको मुनिके कार्य करनेकी आज्ञा देकर उत्तंकके पाससे चलेगये। १-६

राजा युधिष्ठिर बोले, हे तपोधन! वह महापराक्रमी दैत्य कौन, किसका पुत्र और किसका पोता था? ऐसा पराक्रमी दैत्य तो मैंने कभी नहीं सुना। हे महाबुद्धिमान्! मैं उसकी कथा विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूं। (६—८)

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे नरनाथ युधिष्ठिर! मैं ठीक ठीक विस्तारपूर्वक उसकी कथा कहता हूं, तुम सुनो। जब सम्पूर्ण जगत जलमें डूब गया, और

प्रनष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ १० ॥
प्रभवं लोककर्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम् ।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
सुष्वाप भगवान्विष्णुरप्सु योगत एव सः ।
नागस्य भोगे महति शेषस्याऽमिततेजसः ॥ १२ ॥
लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः ।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥ १३ ॥
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।
नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः ॥१४॥
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः ।
चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ॥ १५ ॥
स्वप्रभावाद्दुराधर्षो महाबलपराक्रमः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ ॥ १६ ॥
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवंतौ हरिं प्रभुम् ।
शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् ॥ १७ ॥
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते ।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ॥ १८ ॥

सब चर अचर नष्ट हो गये, तब जगत् के कर्त्ता अविनाशी विष्णु जिनको सिद्ध और मुनि संसारका महेश्वर कहते हैं, अपने योग-बलसे जलपर नागराज शेषके फणापर सो रहे। हे महाभाग! अच्युत लोक-कर्त्ता भगवान विष्णुकी वही नागकी फण शय्या हो गयी। (९—१३)

सोते हुए विष्णुकी नाभीसे सूर्यके समान प्रकाशवाला कमल उत्पन्न हुआ और उस कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। सम्पूर्ण लोकोंके गुरु ब्रह्मा सूर्यके समान प्रकाशवाले चार मुखयुक्त चारों वेद लिये अपने प्रभावसे प्रगट हुए। ब्रह्मा किसीसेभी हारने योग्य नहीं थे, कुछ कालके पश्चात् महापराक्रमी दो दैत्य वहां आये। उनका नाम मधु और कैटभ था, उन दैत्योंने महा शोभायमान विष्णुको दिव्य सांपके फणपर सोते हुए देखा। (१४—१७)

सर्पका फण बहुत योजनों तक लम्बा और चौडा था, उस पर किरीट और कौस्तुभ मणि तथा पीताम्बर धारण किये, विष्णु सोते थे। विष्णुका शरीर

दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा ।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम् ॥ १९ ॥
विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा ।
दृष्ट्वा पितामहं चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥ २० ॥
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम् ।
वित्रस्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः॥ २१ ॥
अकंपयत्पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ।
अथाऽपश्यत गोविंदो दानवौ वीर्यवत्तरौ ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा तावब्रवीद्देवः स्वागतं वां महाबलौ ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ॥ २३ ॥
तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥ २४ ॥
आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम ।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद्ब्रवीह्यविचारयन् ॥ २५ ॥
भगवानुवाच– प्रतिगृह्य वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम ।
युवां हि वीर्यसंपन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ॥ २६ ॥
वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ॥ २७ ॥

शोभा और तेजसे विचित्र और हजारों सूर्योंके समान शोभायमान था; विष्णु तथा कमलनयन ब्रह्माको कमल पर बैठे हुए देखकर मधु और कैटभको महा आश्चर्य हुआ । तब मधुकैटभने महा तेजस्वी ब्रह्माको डराया, महा यशस्वी ब्रह्माने उनके डरसे कमलकी डंडीको खूब हिलाया, उससे विष्णु जागे । (१८-२२)

विष्णुने जागकर महाबली दोनो दैत्योंको देखा, उनको देखकर विष्णुने कहा, हे महाबली दैत्यो ! तुम्हारा कल्याण हो, हम तुमसे प्रसन्न होकर तुमको वर देते हैं । महा अभिमानी बलवान दैत्योंने हंसकर कहा, हे महाराज! हम दाता हैं, जो तुम्हारी इच्छा हो, हमसे वर मांगो, हम तुम्हे विना विचारे देंगे । भगवान विष्णु बोले, हे पराक्रमी वीरो ! मैं तुमसे वर मांगता हूं, तुम दोनोंके समान कोई मनुष्य बलवान नहीं है; तुम सत्य पराक्रमी हो, इस लिये तुम मुझे यही वरदान दो, कि मैं तुम्हे मारडालूं, संसारके कल्याणके लिये

मधुकैटभावूचतुः— अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम ॥ २८ ॥
बले रूपे च शौर्ये च शमे न च समोऽस्ति नौ ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ॥ २९ ॥
उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव ।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३० ॥
आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो ।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥ ३१ ॥
पुत्रत्वमधिगच्छाव तव चापि सुलोचन ।
वर एष वृतो देव तद्विद्धि सुरसत्तम ॥ ३२ ॥
अनृतं मा भवेद्देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा ।
भगवानुवाच— बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद्भविष्यति ॥ ३३ ॥
स विचिंत्याऽथ गोविंदो नाऽपश्यद्यदनावृतम् ।
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि मा मधुसूदनः ॥ ३४ ॥
स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा ।
मधुकैटभयो राजञ्शिरसी मधुसूदनः ।
चक्रेण शितधारेण न्यकृंतत महायशाः ॥ ३५ ॥ [८०६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

मैं यही वर मांगता हूं । (२२-२७)

मधुकैटभ बोले, हे पुरुषोत्तम ! हम दोनों धर्मको करनेवाले हैं, हमने कभी हंसीमें भी झूठ नहीं बोला, हमारे समान जगतमें बल, रूप, शूरता, धर्म, तपस्या, दान, शील और इन्द्रियोंको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं है, हे केशव ! हमको बडा दुःख प्राप्त हुआ, पर कालकी गतिको कोई नहीं रोक सकता है, सो अब तुम अपने कहे हुए वचनको पूरा करो। हे देव ! हम दोनों जलरहित स्थानमें मरना चाहते हैं, और यहभी चाहते हैं, कि मरनेके पीछे हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों। हे देवतोंमें उत्तम ! ऐसा कार्य कीजिये जिससे हमारी इच्छा पूर्ण हो। २८-३३

श्रीविष्णु भगवानने कहा, कि मैं सब ऐसाही करूंगा। तब विष्णुने सब स्थानको जलसे भरा देखकर सोचा, कि इनको कहां मारें; पीछे विचारा कि मेरी जंघा जलमें डूबी नहीं है, तब उसीपर

मार्कंडेय उवाच—धुंधुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः ।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः ॥ १ ॥
अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसंततः ।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ॥ २ ॥
देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥ ३ ॥
एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः ।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥ ४ ॥
स तु धुंधुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः ।
अनुस्मरन्पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ॥ ५ ॥
स तु देवान्सगन्धर्वाञ्जित्वा धुंधुरमर्षणः ।
बबाध सर्वानसकृद्विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ॥ ६ ॥
समुद्रे वालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते ।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ॥ ७ ॥
बाधति स्म परं शक्त्या तमुत्तंकाश्रमं विभो ।
अंतर्भूमिगतस्तत्र वालुकांतर्हितस्तथा ॥ ८ ॥

मधु और कैटभके शिरको रखके तेज धारवाले चक्रसे काटडाला । (३२-३५)

वनपर्वमें दोसौ तीसरा अध्याय समाप्त । [८०६८

वनपर्वमें दो सौ चौथा अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे महाराज! उन मधु कैटभ दैत्योंका महापराक्रमी पुत्र धुन्धु हुआ । तब उसने एक पैरसे खडा होकर बडा भयानक तप किया, जब तप करते करते उसके शरीरकी नसें दीखने लगीं, तब ब्रह्माने उसे वर दिया । धुन्धुने ब्रह्मासे यह वर मांगा, कि मैं दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्पोंसे न मारा जाऊं, ब्रह्माने कहा, कि ऐसाही होगा । धुन्धु ब्रह्माके चरणोंको नमस्कार करके वहांसे चला गया और अपने पिताका वैर याद करके प्रथम विष्णुके मारनेको पहुंचा । (१—५)

वहां जाकर महाक्रोधी धुंधुने अनेक देवता और गन्धर्वोंको मारा; विष्णुको महा व्याकुल करके वालूसे भरे हुए उजालक नामसे प्रसिद्ध समुद्रमें चला गया; हे भरतर्षभ! उस दुष्ट पापात्माने आकर मारवाड देशको महा कष्ट दिया; हे नरनाथ! वह उत्तंकके आश्रममें आकर बहुत उपद्रव करने लगा, वह भूमिके नीचे वालूमें छिपा रहता था; यह मधु कैटभ

मधुकैटभयोः पुत्रो धुंधुर्भीमपराक्रमः ।
शेते लोकविनाशाय तपोबलमुपाश्रितः ॥ ९ ॥
उत्तंकस्याऽऽश्रमाभ्याशे निःश्वसन्पावकार्चिषः ।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः ॥ १० ॥
उत्तंकविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः ।
पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ ॥ ११ ॥
सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः ।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ॥ १२ ॥
तमाविशत्ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः ।
उत्तंकस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥ १३ ॥
तस्मिन्प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् ।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुंधुमारो भविष्यति ॥ १४ ॥
दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समंतात्पर्यवारयन् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः ॥ १५ ॥
शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः ।
विपांसुलां महीं कुर्वन्ववर्ष च सुरेश्वरः ॥ १६ ॥
अंतरिक्षे विमानानि देवतानां युधिष्ठिर ।
तत्रैव समदृश्यंत धुंधुर्यत्र महासुरः ॥ १७ ॥

का पुत्र महा पराक्रमी जगतका नाश करनेके लियेही सोता था । उसे अपने तपका बडा बल था । उत्तंक ऋषिके आश्रमके पास जब सांस लेता था, तबही अग्नि निकलती थी । (९—१०)

हे राजन् युधिष्ठिर ! राजा कुवलयाश्व अपने इक्कीस हजार पुत्रोंके सहित दल बल लेकर उत्तंकके साथ राक्षसके मारने को चले । जब राजा चले, तब विष्णु का तेज उनके शरीरमें आगया । उत्तंक के तपके प्रतापसे जगतकी रक्षा करने को विष्णुका तेज राजामें आया । जब राजा कुवलयाश्व लडनेको चले, तब आकाशमें देवतालोगोंने शब्द किया, कि यह राजा अवध्य होकर धुंधुको मारेगा। देवता लोगोंने आकाशसे दिव्य फूलोंकी वर्षा करी और दुन्दुभी बजायी। (१०–१५)

जब बुद्धिमान राजा कुवलयाश्वने प्रस्थान किया तब शीतल वायु चलने लगी । इन्द्र इस कारणसे मेघ बरसने लगे, कि जिससे धूल न उडे । हे राजन् युधिष्ठिर! जहां धुंधु रहता था वहींपर सैकडों

कुवलाश्वस्य धुंधोश्च युद्धकौतूहलान्विताः ।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन्महर्षयः ॥ १८ ॥
नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितस्तदा ।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतोदिशम् ॥ १९ ॥
अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन्वै वालुकार्णवे ॥ २० ॥
सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुंधुर्महाबलः ।
आसीद्घोरं वपुस्तस्य वालुकान्तर्हितं महत् ॥ २१ ॥
दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ ।
ततो धुंधुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥ २२ ॥
सुप्तोऽभूद्राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ॥ २३ ॥
अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥ २४ ॥
स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः ।
क्रुद्धश्चाऽभक्षयत्तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥ २५ ॥
आस्याद्वमन्पावकं स संवर्तकसमं तदा ।
तान्सर्वान्नृपतेः पुत्रानदहत्स्वेन तेजसा ॥ २६ ॥

विमान देवतोंके आकाशमें दीखने लगे। भयानक युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता और गन्धर्व ऋषियोंके सहित वहां इकट्ठे होगये। विष्णूके तेजके प्रतापसे राजा कुवलयाश्व अपने पुत्रोंके सहित चारों ओर धुन्धुको ढूंढने लगे। राजा कुवलयाश्व और उनके पुत्रोंने उस वालुकामें खोद खोदकर समुद्र बना दिया। (१८-२०)

सात दिनके पीछे खोदते खोदते महाबली धुंधुका शरीर उस वालुकामें मिला। उसका शरीर सूर्यके समान प्रकाशमान था। हे राजशार्दूल ! उस समय धुंधु प्रलयकालकी अग्निके समान पश्चिम दिशाको सोया हुआ था। राजा कुवलयाश्वके पुत्रोंने चारों ओरसे उसे घेर लिया और तीक्ष्ण बाण, गदा, मूसल, पट्टिश परिघ, और खड्गसे मारने लगे। उनकी मारसे क्रोध करके महाबली धुंधु दैत्य उठा और सब अस्त्रोंको खागया। २१-२५

उसके मुखसे प्रलय कालके अग्निके समान अग्नि निकली और राजाके पुत्रों को जलाने लगी, मुखसे उत्पन्न हुई

मुखजेनाऽग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव ।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ॥ २७ ॥
सगरस्याऽऽत्मजान्क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ॥ २८ ॥
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुंभकर्णमिवाऽपरम् ।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥ २९ ॥
तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः ।
तदाऽऽपीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप ॥ ३० ॥
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा ।
ब्रह्मास्त्रेण च राजेंद्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ॥ ३१ ॥
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकभवाय वै ।
सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महाऽसुरम् ॥ ३२
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवाऽपरः ।
धुंधोर्वधात्तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ॥ ३३ ॥
धुंधुमार इति ख्यातो नाम्नाऽप्रतिरथोऽभवत् ।
प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ॥ ३४ ॥
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्रांजलिः प्रणतस्तदा ।

अग्निसे जगत ऐसे जलने लगा, जैसे कपिलके क्रोधकी अग्निसे सगरके पुत्र जले थे। हे राजन्! वह कर्म सब लोगोंको अद्भुत मालुम होने लगा। राजाके पुत्र जब अग्निसे जल गये। तब महात्मा कुवलयाश्व उस कुम्भकर्णके समान दैत्य पर दौडे। (२६—२९)

जब उस राजाकी देहसे बहुत सा जल निकला, तब राजाने जलमय निज तेजसे दैत्यकी अग्निको शान्त किया। योगी कुवलयाश्वने अपने योग-बलसे दैत्यकी अग्निको शान्तकर उस महा पराक्रमी दैत्यको भस्म करनेके वास्ते ब्रह्मास्त्र छोडा। हे राजेन्द्र हे भरतकुल श्रेष्ठ! ब्रह्मास्त्रने लोकोंके हित के लिये उस दैत्यको भस्म कर दिया। राजा कुवलयाश्व उस महासुरको भस्म करके इन्द्रके समान शोभायमान हो गये। हे राजन्! धुन्धुके मारनेसे राजा कुवलयाश्व धुंधुमार और अप्रतिरथ नामसे प्रसिद्ध हुए। (३०—३४)

देवता और महर्षियोंने प्रसन्न होकर राजा कुवलयाश्वसे कहा कि हम लोग तुमसे प्रसन्न हैं, जो इच्छा हो सो वह

अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः ।
सख्यं च विष्णुना मे स्याद्भूतेष्वद्रोह एव च ॥ ३६ ॥
धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाऽक्षयः ।
तथाऽस्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः ॥ ३७॥
ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तंकेन च धीमता ।
संभाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ॥ ३८ ॥
देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे ।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाऽभवन् ॥ ३९ ॥
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चंद्राश्वश्चैव भारत ।
तेभ्यः परंपरा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥
वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् ।
एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ॥ ४१ ॥
धुंधुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः ।
कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुंधुमार इति स्मृतः ॥ ४२ ॥
नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदा प्रभृति सोऽभवत् ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥
धौंधुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ।

मांगो। राजा कुवलयाश्वने हाथ जोड और प्रसन्न होकर कहा, महाराज ! मैं यही वर मांगता हूं, कि मैं ब्राह्मणोंको दान देऊं, शत्रुओंसे न जीता जाऊं, विष्णुसे मेरी मित्रता रहे, प्राणीयोंसे द्वेष न करूं और धर्ममें प्रीति रहे तथा स्वर्गमें मुझे अक्षय वास मिले। सब देवतोंने प्रसन्न होकर कहा, कि ऐसाही होगा। ऋषि, गन्धर्व, और बुद्धिमान महात्मा उत्तंकने आदरके सहित राजाको आशीर्वाद दिया। देवता और ऋषि लोगभी अपने आश्रमपर चले गये। (३४—३९)

हे राजन् युधिष्ठिर ! राजा कुवलयाश्वके उस युद्धमें तीन पुत्र बच गये, एक दृढाश्व, दूसरा कपिलाश्व और तीसरा चन्द्राश्व। हे राजन् ! उन्हींसे इक्ष्वाकु-वंशकी परम्परा चली आती है। इस प्रकारसे गुणवान् राजा कुवलयाश्व धुंधुको मारनेके लिये धुंधुमार नामसे प्रसिद्ध हुए। यह धुंधुमारोपाख्यान तुम्हारे प्रश्नके अनुसार सब कहा है।

इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम् ॥ ४४ ॥
शृणुयाद्यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ।
आयुष्मान्भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु ॥
न च व्याधिभयं किंचित्प्राप्नोति विगतज्वरः॥४५॥ [८११३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २०४ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कंडेयं महाद्युतिम् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ॥ १ ॥
श्रोतुमिच्छामि भगवन्स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः ॥ २ ॥
प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यंति सत्तम ।
सूर्याचंद्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥ ३ ॥
पिता माता च भगवान्गुरुरेव च सत्तम ।
यच्चाऽन्यदेव विहितं तच्चापि भृगुनंदन ॥ ४ ॥
मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यास्तथा स्त्रियः ।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥ ५ ॥
पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो ।

यह धुंधुमारका चरित्र पुण्यको बढानेवाला और कीर्त्तिको विस्तार करनेवाला है, पर्वविशेष में जो पढे वा सुने वह पुत्रवान, धर्मात्मा, दीर्घायु, और धनवान होता है, उसको रोगोंका भय नहीं होता है, और सुखी रहता है। ३९-४५ बनपर्वमें दो सौ चौथा अध्याय समाप्त। [८११३]

वनपर्वमें दो सौ पांच अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! तब भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने महा तेजस्वी मार्कंडेय मुनिसे धर्मका कठिन प्रश्न किया कि, हे भगवन् ! मैं स्त्रियोंका उत्तम धर्म सुनना चाहता हूं, क्योंकि यह धर्म बहुत सूक्ष्म है, आप कृपा करके मुझसे कहिये; हे विप्रर्षे ! सूर्य, चन्द्रमा, वायु पृथ्वी और अग्नि, ये प्रत्यक्ष देवता हैं; ऐसेही पिता,माता, भगवान और गुरुभी प्रत्यक्ष देवता हैं। तथा शास्त्र प्रतिपादित अतिथि आदि भी प्रत्यक्ष देव हैं। जैसे ये सब गुरुलोग मान्य हैं, वैसेही पतिव्रता स्त्रीभी मानने योग्य हैं। (१—५)

पतिव्रताओंका धर्म बहुत कठिन जान पडता है,इस लिये आप पतिव्रता

निरुध्य चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चाऽनघ ॥ ६ ॥
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयंत्यः स्थिता हि याः ।
भगवन्दुष्करं त्वेतत्प्रतिभाति मम प्रभो ॥ ७ ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज ।
स्त्रीणां धर्मात्सुघोराद्धि नाऽन्यं पश्यामि दुष्करम् ॥८॥
साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन्यत्कुर्वंति सदाऽऽदृताः ।
दुष्करं खलु कुर्वंति पितरं मातरं च वै ॥ ९ ॥
एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदंत्युत ।
कुक्षिणा दशमासांश्च गर्भं संधारयंति याः ॥ १० ॥
नार्यः कालेन संभूय किमद्भुततरं ततः ।
संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ॥ ११ ॥
प्रजायंते सुतान्नार्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णंति चापि महता स्नेहेन द्विजपुंगव ॥ १२ ॥
ये च क्रूरेषु सर्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्वंति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ॥ १३ ॥
क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ॥ १४ ॥

ओंका माहात्म्य हम लोगोंसे वर्णन कीजिये । हे निष्पाप ! सब इन्द्रियों और मन को रोककर केवल पतिकोही देवता मानना और उसका ध्यान करना मुझको बहुत कठिन जान पडता है । पुत्रसे माता, पिताकी सेवा और स्त्रीसे पतिकी सेवा करना कठिन है तथापि स्त्रीधर्मसे कठिन और धर्म नहीं दीख पडता है । अच्छे आचारवाली स्त्रियां जो आदर के सहित व्रत करती हैं, तथा पुरुष आदर पूर्वक माता पितासे जो आचार करते हैं वह बहुतही कठिन प्रतीत होता है । ५—९

जो स्त्री केवल पतिको देवता मानती है, सत्य बोलती है, जो दश महीने तक गर्भ धारण करती है, जो पुत्र उत्पत्तिके समय प्राणसंकट और महा दुःखको पाकर भी पुत्र उत्पन्न करती है, फिर बडे स्नेहके साथ पुत्रको पालती है और जो स्त्री क्रूरकर्ममें डूबकर तथा निंद्य होकर स्वकर्मही करती है, यह सब मुझे बहुत कठिन जान पडते हैं । हे ब्राह्मणोत्तम ! क्षत्रियोंके धर्मका सार भी मुझसे कहिये; निंद्य पुरुषको महात्माओंकाभी धर्म करना कठिन है । हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ ! इस

एतदिच्छामि भगवन्प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥ १५ ॥
मार्कंडेय उवाच —हंत तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥ १६ ॥
मातृस्तु गौरवादन्ये पितृनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥ १७ ॥
तपसा देवतेज्याभिर्वंदनेन तितिक्षया ।
अभिचारैरुपायैश्चाऽपीहंते पितरः सुतान् ॥ १८ ॥
एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिंतयंति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ॥ १९ ॥
आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजाधर्मं तथैव च ॥ २० ॥
तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेंद्र तुष्यतो यस्य नित्यशः ॥ २१ ॥
इह प्रेत्य च तस्याऽथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः।
नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ॥ २२ ॥
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।

प्रश्नको आप यथावत कहिये, मुझे सुननेकी बडी इच्छा है (१०–१५)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! हे भरतश्रेष्ठ ! मैं इस कठिन प्रश्नके उत्तरको कहता हूं आप सुनें; कोई आचार्य माताको अधिक,कोई आचार्य पिताको अधिक मानते हैं । वह माता बहुत कठिन काम करती है, जो पुत्रोंका पालन करती हैं । तपस्या, देवतोंकी पूजा और शिक्षा आदि उपायोंसे पिता पुत्रकी उन्नति करता है, इस रीतिसे बडे कष्टके साथ दुर्लभ पुत्रको पाकर पिता और माता यही विचार करते हैं, कि यह पुत्र कैसा होगा । (१६—१९)

हे राजन् ! पिता और माता पुत्रसे यश कीर्ति, ऐश्वर्य, सन्तान और धनकी आशा रखते हैं, हे राजेन्द्र ! जो उनकी आशाको पूरी करता है, वह धर्मको जाननेवाला है । जिससे माता और पिता सन्तुष्ट होते हैं, उसकी इस लोक और परलोकमें कीर्त्ति सदा बनी रहती है । हे राजन् ! स्त्रियोंके वास्ते श्राद्ध, व्रत और यज्ञ आदि कोई क्रिया नहीं लिखी है; स्त्री जो पतिकी सेवा करती है, उसीसे

एतत्प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
पतिव्रतानां नियतं धर्मं चाऽवहितः शृणु ॥ २४ ॥ [८१३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतामाहात्म्ये पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५॥

मार्कंडेय उवाच -- कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ १ ॥
सांगोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन् स्थितः ॥ २ ॥
उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥ ३ ॥
तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ॥ ४ ॥
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद्धरणीतले ।
बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्वामचेतनाम् ॥ ५ ॥
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः ।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ॥ ६ ॥
मार्कंडेय उवाच- इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान्ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः ।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन्कुलानि भरतर्षभ ॥ ७ ॥

उसको स्वर्ग मिलता है। हे राजन् युधिष्ठिर! इसी प्रकरणमें प्रतिव्रता स्त्रीका धर्म कहता हूं, तुम सुनो। (२०-२४)

वनपर्वमें दोसौ पांच अध्याय समाप्त। (८१३७)

वनपर्वमें दो सौ छः अध्याय।

मार्कण्डेय मुनि बोले, किसी देशमें एक जातिश्रेष्ठ, वेद पढनेवाले तपस्वी, धर्मात्मा कौशिक नामक ब्राह्मण रहते थे। वे अङ्ग उपनिषदोंके सहित वेद पढते थे। एक दिन वे किसी वृक्षके नीचे बैठे वेद पढ रहे थे और उस वृक्ष पर एक बगुली छिपी हुइ बैठी थी। उसने ब्राह्मणके ऊपर बीट कर दी, उसको देखकर ब्राह्मणने बहुत क्रोध किया और क्रोधसे बगुलीको देखा। ब्राह्मणके देखनेसे बगुली मरकर पृथ्वीपर गिर गई। बगुलीको पृथ्वीपर गिरा देख ब्राह्मणको बहुत दया आई और सोचने लगे, कि मैंने कोधके वशमें होकर यह बडा बुरा काम किया। (१--६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, ऐसे कहकर वह विद्वान ब्राह्मण गांवमें भीख मांगने

प्रविष्टस्तत्कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः ।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ॥ ८ ॥
शौचं तु यावत्कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ।
एतस्मिन्नन्तरे राजन्क्षुधा संपीडितो भृशम् ॥ ९ ॥
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम ।
सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम् ॥ १० ॥
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम् ।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ॥ ११ ॥
आहारेणाऽथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा ।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुक्ते नित्यं युधिष्ठिर ॥ १२ ॥
दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी ।
कर्मणा मनसा वाचा नाऽन्यचित्ताऽभ्यगात्पतिम् ॥ १३ ॥
तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुंबस्य हितैषिणी ॥ १४ ॥
भर्तुश्चापि हितं यत्तत्सततं साऽनुवर्तते ।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ॥ १५ ॥
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ।

चले गये; गांवमें जाकर उत्तम कुलोंसे भिक्षा मांगने लगे । मांगते मांगते एक उत्तम कुलके घर जाकर भिक्षा मांगी और कहा, कि कुछ दो ! तब स्त्रीने कहा खडे रहो, देती हूं। वह स्त्री बरतन मांज रही थी, इतनेहीमें उसका पति भूखसे व्याकुल होकर घरमें आया और स्त्री पतिको देखकर ब्राह्मणको भीख देना भूल गई; और अपने पतिको पाद्य, आचमन और आसन देने लगी । उस स्त्रीने अपने पतिको खानेके वास्ते भक्षण करने योग्य मधुर अन्न आदरसे दिया । (७— १२)

हे राजन् युधिष्ठिर ! वह स्त्री सदा अपने पतिका जूठ खाती थी, पतिको देवत मानती थी, पतिहीके चित्तके अनुसार चलती थी; मन, वचन व कर्मसे कभी दूसरे पुरुषकी इच्छा नहीं करती थी; वह सब प्रकारसे पतिहीकी सेवा करती थी;वह उत्तम कर्म करनेवाली घरके कामोंमें चतुर और कुटुम्बका हित करनेवाली थी और पतिका सदा हित चाहती थी। देवता और अतिथिकी सेवा और सास ससुरका अच्छी तरहसे आदर

सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकांक्षिणम् ॥१६॥
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराऽथ शुभेक्षणा।
व्रीडिता साऽभवत्साध्वी तदा भरतसत्तम।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ॥ १७॥
ब्राह्मण उवाच— किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वरांगने।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥ १८॥
मार्कण्डेय उवाच— ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलंतमिव तेजसा।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येंद्र सांत्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ १९॥
स्त्र्युवाच— क्षंतुमर्हसि मे विद्वन्भर्ता मे दैवतं महत्।
स चापि क्षुधितः प्राप्तः श्रान्तः शुश्रूषितो मया॥२०॥
ब्राह्मण उवाच— ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ॥ २१॥
इंद्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ॥ २२॥
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि।
स्त्र्युवाच— नाऽहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन ॥ २३॥

करती थी। सदाही इन्द्रियजित रहती थी। (१२—१५)

जब उसका पति भोजन कर चुका, तब उसने देखा कि ब्राह्मण बाहर खडा है। हे भरतसत्तम ! इसे पतिकी सेवा करते करते जब ब्राह्मणकी याद आई, तब वह पतिव्रता बहुत लज्जित हुई और भिक्षा लेकर ब्राह्मणके पास गई। ब्राह्मण बोले, हे उत्तम स्त्री! तुम मुझे "खडा रहो" ऐसा कहकर चली गई और फिर मुझको बिदा न किया। (१६–१८)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! ब्राह्मणको तेज और क्रोधसे जलते हुए देखकर वह पतिव्रता शान्तिपूर्वक बोली, हे विद्वन् ! आप क्षमा कीजिये, मैं पति को देवता मानती हूं; वह भूखे थे, उनकी सेवा करने लगी। ब्राह्मण बोले, हे पतिव्रते ! तैंने ब्राह्मणको छोटा और पतिको बडा समझा ? गृहस्थधर्ममें रहती हुई क्या तुम ब्राह्मणका अनादर करती हो ? इन्द्र भी ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हैं, फिर मनुष्य किस गिन्तीमें हैं। हे अभिमानि ! तैंनें वृद्धोंके वचन नहीं सुने, ब्राह्मण अग्निके समान होते हैं, पृथ्वीकोभी जला सकते हैं। (१९–२३)

स्त्री बोली, हे विप्रर्षे ! मैं बगुली

अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ।
नाऽवजानाम्यहं विप्रान्देवैस्तुल्यान्मनस्विनः ॥ २४ ॥
अपराधमिमं विप्र क्षंतुमर्हसि मेऽनघ ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् ॥२५॥
अपेयः सागरः क्रोधात्कृतो हि लवणोदकः ।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ २६ ॥
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दंडके नोपशाम्यति ।
ब्राह्मणानां परिभवाद्वातापिः सुदुरात्मवान् ॥ २७ ॥
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ।
बहुप्रभावाः श्रूयंते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २८ ॥
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन्प्रसादश्च महात्मनाम् ।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन्क्षंतुमर्हसि मेऽनघ ॥ २९ ॥
पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम् ॥ ३० ॥
अविशेषेण तस्याऽहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम ।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ॥ ३१ ॥
बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मया ।

नहीं हूं; हे तपोधन ! आप क्रोधको छोडिये; क्रोध करके ही मेरा क्या करेंगे ? उसपर मैं ब्राह्मणका अपमान नहीं करती हूं और ब्राह्मणोंको देवतोंके समान मानती हूं; हे पापरहित ब्राह्मण ! मेरे इस अपराधको आप क्षमा कीजिये; मैं ब्राह्मणोंके तेजको जानती हूं; जिन्होंने क्रोधसे समुद्रको खारी और पीनेके अयोग्य बना दिया; मैं ऐसे आत्मज्ञानी, महा तपस्वी, मुनियोंकोभी जानती हूं जिनके क्रोधकी दण्डकवन की अग्नि अबतक नहीं बुझती है; ब्राह्मणोंके अनादरसे दुष्टात्मा महा असुर वातापी अगस्त्य ऋषिके पेटमें पच गया; हे ब्राह्मण ! ब्राह्मणोंके अनेक प्रभाव सुननेमें आते हैं। (२३-२८)

ब्राह्मणका क्रोधभी भारी और कृपाभी भारी होती है; हे पापरहित ! मेरी इस भूलकी आप क्षमा कीजिये; हे ब्राह्मण! पतिकी सेवा करना जो धर्म है, वह मुझे बहुतही प्यारा है मेरे पति देवतोंमेंभी देवता हैं, उसी असामान्य धर्मको मैं करती हूं। हे ब्राह्मण ! पतिसेवाका जैसे फल है उसको तुम देखलो । तुमने

क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ॥ ३२ ॥
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ॥ ३३ ॥
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
जितेंद्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ३४ ॥
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यस्य चाऽऽत्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः॥ ३५ ॥
सर्वधर्मेषु चरतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा ॥ ३६ ॥
दद्याद्वाऽपि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
ब्रह्मचारी वदान्यो योऽप्यधीयाद् द्विजपुंगवः॥ ३७ ॥
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत् ॥ ३८ ॥
सत्यं तथा व्याहरतां नाऽनृते रमते मनः।
धर्मं तु ब्राह्मणस्याऽऽहुः स्वाध्यायं दममार्जवम्॥ ३९ ॥
इंद्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम।

बगुलीको अपने क्रोधसे जला दिया था, उसको मैंने जान लिया। (२९-३२)

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! क्रोधही शरीरमें रहनेवाला शत्रु है; जो क्रोध और मोहको त्याग देता है उसीको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं; जो संसारमें सत्य बोले, गुरुको सन्तुष्ट करे और मार खाकर नहीं मारे, उसीको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं; जो इन्द्रियोंको जीतने वाला, वेदपाठी, पवित्र और काम और क्रोधका जीतनेवाला है, उसीको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जिस धर्मात्मा बुद्धिमानको अपने समान जगत दीखता हो, उस सब धर्म करनेवालेको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो वेद पढे और पढावे, यज्ञ करे वा करावे, यथाशक्ति दान दे उसको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। (३२-३७)

जो ब्रह्मचारी दान देने वाला वेदपाठी ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ अपने पढने पढानेमें सावधान रहे उसे देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं, जो ब्राह्मणके हित कारी है वह ही ब्राह्मणोंको कहना चाहिये। जो सत्य बोलता हो, जिसका मन झूठमें न जाता हो, वही ब्राह्मण है। ब्राह्मणोंका धर्म वेद पढना मनको विषयसे रोकना, शुद्ध

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ॥ ४० ॥
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ॥ ४१ ॥
बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ।
भगवानपि धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ४२ ॥
न तु तत्त्वेन भगवन्धर्मं वेत्सीति मे मतिः ।
यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज ॥ ४३ ॥
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ।
मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेंद्रियः ॥ ४४ ॥
मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान्प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ॥ ४५ ॥
अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षंतुमर्हस्यनिंदित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये धर्ममभिविंदते ॥ ४६ ॥
ब्राह्मण उवाच— प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ।
उपालंभस्त्वयाऽत्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने॥ ४७ ॥

रहना इन्द्रियोंको जीतनाही कहते हैं । हे ब्राह्मणोत्तम ! धर्मको जाननेवाले महात्मा लोग सत्य और शुद्धताको ही धर्म कहते हैं; धर्म जानना बहुतही कठिन है; वह धर्म सत्यहीमें रहता है । वृद्धलोगोंकी आज्ञा है, कि धर्ममें वेदही प्रमाण है । (३७–४१)

हे ब्राह्मण! धर्म बहुत प्रकारका दीखता है । आपभी वेदपाठी पवित्र और धर्मको जाननेवाले हैं, परन्तु मेरी बुद्धि में आप धर्मको यथावत नहीं जानते ! हे ब्राह्मण ! यदि आप धर्मको नहीं जानते हैं, तो जनकपुरीमें जाकर धर्मव्याध से पूछिये । जनकपुरी में मातापिता की सेवा करनेवाला, सत्यवादी,इन्द्रियजित एक व्याधा रहता है, वह तुमको धर्मका उपदेश करेगा । हे द्विजोत्तम ! हे ब्राह्मण ! तुम्हारा कल्याण हो, जो मैंने बहुत कहा; उसकोभी आप क्षमा करने योग्य है। (४२—४५)

हे अनिन्दित । हे ब्राह्मण ! स्त्री किसीकेभी मारने योग्य नहीं हैं, और तुम तो धर्मको जानते हो । ब्राह्मण बोले, हे कल्याणि ! मेरा क्रोध चला गया, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं, तुमने मेरे अभिमानको दूर किया, मेरा कल्याण हुआ,

मार्कंडेय उवाच— तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ।
विनिंदन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ४८ [८१८५]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

मार्कंडेय उवाच— चिंतयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः।
विनिंदन्स स्वमात्मानमागस्कृत इवाऽऽबभौ ॥ १ ॥
चिंतयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाऽब्रवीत्।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् ॥ २ ॥
कृतात्मा धर्मवित्तस्यां व्याधो निवसते किल।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ॥ ३ ॥
इति संचिंत्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः।
बलाकाप्रत्ययेनाऽसौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ॥ ४ ॥
संप्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः।
अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ॥ ५ ॥
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम्।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ॥ ६ ॥

तुम्हारा कल्याण हो, मैं जनकपुरी जाऊंगा और अपना कार्य सिद्ध करूंगा। (४६–४७)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, उस पतिव्रता से विदा होकर कौशिक ब्राह्मण अपनी आत्माकी निन्दा करते हुए अपने घरको चले गये। (४८) [८१८५]

वनपर्वमें दोसौ छः अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ सात अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! स्त्रीके कहे हुए सम्पूर्ण वचनोंको स्मरण करके कौशिक अपने आत्माकी निन्दा करते हुए, पापियोंके समान बैठ गये। सूक्ष्म धर्मकी चिन्ता करते हुए कौशिक ब्राह्मण बोले, कि स्त्रीके कहे वचनों पर श्रद्धा करके जनक पुरीको जाता हूं; आत्मज्ञान और धर्मको जाननेवाला व्याध जिस जनकपुरीमें रहता है, मैं उन्हीं तपोधन व्याध के पास जाके धर्मके लक्षण पूछूंगा। ऐसे विचार कर बगुलीका प्रत्यय और धर्म युक्त वचनोंसे उपदेश, इनसे स्त्रीके वचनोंकी श्रद्धा करके जनक पुरीको बडे आनन्दके साथ गये। वह बहुतसे गांव, वन और नगरोंको लांघते हुए महाराज जनकसे रक्षित मिथिला पुरीको चले। (१–५)

उन्होंने धर्म, यज्ञ, और उत्सवोंसे

गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ॥ ७ ॥
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ॥ ८ ॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद्बहुवृत्तांतां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥
धर्मव्याधमपृच्छच्च स चाऽस्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत्तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ॥ १० ॥
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणंतं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतॄणामेकांते संस्थितो द्विजः ॥ ११ ॥
स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा संभ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥ १२ ॥
व्याध उवाच — अभिवादये त्वां भगवन्स्वागतं ते द्विजोत्तम ।
अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम् १३॥
एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति ।

भरी हुई मिथिला पुरीको देखा । उसमें महल, दुमहले, और अनेक अटारियां विराज थीं । उस रमणीय नगरीमें कौशिक मुनिने प्रवेश किया । जहां अनेक विमान घूमते फिरते थे, जहां अनेक सुन्दर सुन्दर बजार और उत्तम उत्तम मार्ग विराजमान थे; जहां अनेक हाथी, घोडे, रथ और योद्धा लोग घूम रहे थे; जहां पुष्ट और प्रसन्न लोग विहार कर रहे थे; जहां सदाही उत्सव हुआ करते थे, नानाविध वार्ताओं से युक्त उस मिथिलापुरीको जाकर कौशिक मुनिने देखा। (६–९)

वहां जाकर उन्होंने धर्म-व्याधका घर पूछा और ब्राह्मणोंने बता दिया । वहां वधस्थानमें जाकर उन्होंने उत्तम नामधारी व्याधको देखा । उन्होंने देखा वह तपस्वी हरिन भैंसोंके मांसको बेच रहा है, उस समय वहांपर मांस लेने वालोंकी महा भीड थी, इसलिये ब्राह्मण अलग जाकर एकान्तमें बैठ गये । उस व्याधने जाना कि एक ब्राह्मण आये हैं, तब बहुत घबराकर उठा और जहां एकान्तमें ब्राह्मण बैठा था, वहां आया और कहने लगा । हे द्विजोत्तम! हे भगवन् ! हम आपको प्रणाम करते हैं; और आपका स्वागत करते हैं; आपका कल्याण हो । हम व्याध हैं, कहिये

जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहाऽऽगतः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा च तस्य तद्वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः ।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिंतयत द्विजः ॥ १५ ॥
अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम् ।
गृहं गच्छाव भगवन्यदि ते रोचतेऽनघ ॥ १६ ॥
मार्कंडेय उवाच—बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ॥ १७ ॥
प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाऽभिपूजितः ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः ॥ १८ ॥
ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद्वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ॥ १९ ॥
व्याध उवाच— कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम् ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ २० ॥
विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन् ।

आपका कौनसा काम करें ? आपसे जो एक पतिव्रता स्त्रीने कहा था, कि तुम मिथिलापुरीको जाओ जिस कामको आप आये हैं, सो मैं सब जानता हूं। (१०—१४)

ऐसा सुन उस ब्राह्मणको बडा आश्चर्य हुआ। ब्राह्मणने अपने मनमें विचार किया कि यह दूसरा आश्चर्य देखा। व्याधने कहा कि तुम्हारा स्थान कुदेश में है। हे पापरहित! यदि तुम्हारी इच्छा हो,तो घरको चलो। श्री मार्कण्डेयमुनि बोले, ब्राह्मणने प्रसन्न होकर कहा कि बहुत अच्छा चलो। तब वह व्याध ब्राह्मणको आगे करके घरको चला। उसने अपने घरमें जाकर उस ब्राह्मणको आसन दिया, तब पाद्य अर्घ और आचमनसे पूजा की। ब्राह्मणने उसकी पूजाको ग्रहण किया। तब सुखसे बैठकर उस व्याधसे पूछा कि जो कर्म तुम करते हो सो हमारी बुद्धिमें तुम्हारे योग्य नहीं है; हे तात! हम तुम्हारे इस घोर कर्मको देख कर बहुत दुःख करते हैं। १५-१९

व्याध बोला, हे विप्र! यह हमारे पिता प्रपितामहका कर्म है और हमारे कुलके योग्य है, हम अपने कर्मको करते हैं, इस लिये आपको क्रोध नहीं करना चाहिये। ब्रह्माने पहले सब जातियोंके अलग अलग कर्म बना दिये हैं, यत्न

प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ॥ २१ ॥
सत्यं वदे नाऽभ्यसूये यथाशक्ति ददानि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ॥ २२ ॥
न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ॥ २३ ॥
कृषिर्गोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।
दंडनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ॥ २४ ॥
कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मंत्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ॥ २५ ॥
राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।
विकर्माणश्च ये केचित्तान्युनक्ति स्वकर्मसु ॥ २६ ॥
भेतव्यं हि सदा राज्ञां प्रजानामधिपा हि ते ।
वारयंति विकर्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः ॥ २७ ॥
जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते ।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ॥ २८ ॥
स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत्सुतम् ।

करके हम वृद्ध पिता माताकी सेवा करते हैं;हम सत्य कहते हैं, हम कभी किसीकी निन्दा नहीं करते हैं; देवता अतिथि और सेवकोंसे जो अन्न बचता है उसे खाते हैं; बुरेकी वा बलवान की भी निन्दा नहीं करते; हे ब्राह्मणोत्तम ! पूर्व कर्मका फल कर्ताको प्राप्त होता है। (२०-२३)

खेती, गोकी रक्षा और व्यापार यह जगतका जीवन है; राजनीति, दण्ड, और वेद विद्यासे ही जगतकी स्थिति है; शूद्र का कर्म सेवा, वैश्य का कर्म खेती करना, क्षत्रीका युद्ध करना और ब्राह्मणका कर्म ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेद पाठ और सत्य बोलना है। राजा धर्मसे प्रजाकी रक्षा करता है,इसीसे प्रजा अपने कर्मोंको करती है;जो अपने कर्मोंको नहीं करते हैं उन्हें दण्ड देकर राजा उनके कर्ममें लगाता है; राजासे प्रजाको सदा डरना चाहिये, क्यों कि वही प्रजाका पालक है। राजा प्रजाको कुकर्मोंसे ऐसा निवारण करता है जैसे मृगको व्याध बाणोंसे मारते हैं। (२४—२६)

हे ब्राह्मण ! इस राजा जनककी नगरीमें कोई भी कुकर्मी नहीं है; चारों वर्ण अपने अपने कर्मको करते हैं, यह राजा जनक ऐसा धर्मात्मा है, कि यदि इनका

दंड्यं दंडे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् ॥२९॥
सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
श्रीश्च राज्यं च दंडश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ॥३०॥
राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छंति भूयसीम् ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥ ३१ ॥
परेण हि हतान्ब्रह्मन्वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ॥ ३२॥
न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ॥ ३३ ॥
अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतिश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ॥ ३४ ॥
अभिचारान्नरेंद्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्तते चापि संकीर्यन्ते ततः प्रजाः ॥ ३५ ॥
भेरुंडा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीबाश्चांऽधाश्च बधिरा जायंतेऽत्युच्चलोचनाः ॥ ३६ ॥
पार्थिवानामधर्मत्वात्प्रजानामभवः सदा ।
स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ॥ ३७ ॥

पुत्र भी दुर्वृत्त वा दण्डनीय हो, तो ये उसे भी दण्ड देते हैं और किसी धर्मात्मासे ग्लानि नहीं करते। यह सदाचारी राजा सब को धर्मसे देखता है। लक्ष्मी, राज्य और दण्ड क्षत्रियोंकाही है। राजा अपने धर्महीसे लक्ष्मीको बढानेकी इच्छा रखते हैं, राजाही चारों वर्णोंका रक्षक होता है। (२८ — ३१)

हे ब्राह्मण ! मैंने आपसे पशुओंको नहीं मारा, परन्तु दूसरेके मारे हुए पशुओंको बेचता हूं; मैं मांस भक्षण नहीं करता; हे ब्राह्मण ! मैं ऋतुकाल ही में अपनी स्त्रीके पास जाता हूं और सदा व्रत करता हूं; केवल रात्रिमें एक समय भोजन करता हूं; हे ब्राह्मण ! जो प्राणी शील रहित है, वह ही कभी शीलवान हो जाते हैं; हिंसा करनेवाला धर्मात्मा होजाता है। राजाके अधर्मसे धर्म में संकर होती है और राजाके अधर्मसे प्रजामें भी संकर होजाती है। (३२–३५)

भयानक लोग, बौने, कुबडे, बडे सिरवाले, नपुंसक, बहरे और अन्धलोग राजाके अधर्मसे होते हैं; इसी कारणसे यह राजा जनक प्रजाको धर्मसे पालते

अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरताः सदा ।
ये चैव मां प्रशंसंति ये च निंदंति मानवाः ॥ ३८ ॥
सर्वान्सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम् ।
ये जीवंति स्वधर्मेण संयुंजंति च पार्थिवाः ॥ ३९ ॥
न किंचिदुपजीवंति दांता उत्थानशीलिनः ।
शक्त्याऽन्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता ॥ ४० ॥
यथार्हं प्रतिपूजा च सर्वभूतेषु वै सदा ।
त्यागान्नाऽन्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठंति पूरुषे ॥ ४१ ॥
मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः ।
न च कामान्न संरंभान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ४२ ॥
प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ॥ ४३ ॥
कर्म चेत्किंचिदन्यत्स्यादितरन्न तदाचरेत् ।
यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्राऽऽत्मानं नियोजयेत् ॥४४॥
न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत् ।

हैं; सब प्रजाके ऊपर कृपा रखते हैं, इसीसे सब प्रजा धर्ममें लगी रहती हैं। हे ब्राह्मण ! जो लोग मेरी निन्दा करते हैं, और जो स्तुति करते हैं, उन दोनों को अच्छे कर्मोंसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता हूं। (३६—३९)

जो अपने धर्मके अनुसार अपने आपको संयत कर के व्यवहार करते हैं और जितात्मा होकर अपने भोगके लिये किसीका कुछभी हरण नहीं करते वे ही राजा कहलाते हैं, अपनी सामर्थके अनुसार अन्न दान करते हैं, वही धर्मात्मा हैं। मान्य लोगोंकी पूजा करना, सब प्राणियोंमें दया रखना और त्याग इसके समान मनुष्योंका और कोई उत्तम गुण नहीं है। हे ब्राह्मण ! झूटको त्यागे, बिना कहेही पराया हित करे और काम वा भयसेही धर्मको त्याग न करे। ३९–४२

प्यारे कामके सिद्ध होनेसे प्रसन्न न हो, अप्रियसे दुःखी न हो, धनके संकटमें घबडाया नहीं और धर्मको त्याग न करे। जिस कर्मके करनेसे विपरीत फल होता है ऐसा कर्म कभी नहीं करना चाहिये। जिससे अपना और दूसरेका कल्याण होता है उसका ही चिंतन करे तथा उसमें ही चित्तको लगाना चाहिये। जो अपने संगमें बुराई करे उसके सङ्ग में बुराई न करके भलाई करें; भलाई

आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ॥ ४५ ॥
कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत्।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसंति ये ॥ ४६ ॥
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यंति न संशयः।
महादृतिरिवाऽऽध्मातः पापो भवति नित्यदा ॥ ४७ ॥
मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत्।
दर्शयत्यंतरात्मा तं दिवा रूपमिवांऽशुमान् ॥ ४८ ॥
न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चेह मृजाहीनः कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ४९ ॥
अब्रुवन्कस्यचिन्निंदामात्मपूजामवर्णयन्।
न कश्चिद्गुणसंपन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ॥ ५० ॥
विकर्मणा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते।
न तत्कुर्यां पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते ॥ ५१ ॥
कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते ॥ ५२ ॥
पापान्यबुध्वेह पुराकृतानि प्राग्धर्मशीलोऽपि विहंति पश्चात्।

करनेवालोंके साथ जो बुराई करता है वह आप मारा जाता है; जो असाधु दुष्ट लोग हैं उनका यह कर्म निंद्य है। जो पवित्र साधुओंके कर्मोंको कहते हैं, कि यह धर्म नहीं है, वे धर्ममें श्रद्धा न रखने वाले असाधु नष्ट हो जाते हैं। ४३--४७

जिस प्रकार धोंकनी असार होकरभी वायुसे पूर्ण होकर पुष्ट होती ऐसेही पापीभी अकारण पुष्ट होते हैं; मूर्ख अभिमानी असार वस्तुकी चिन्ता करता रहता है, अपने आपको सूर्यके समान बडा प्रकाशवान दिखाता है; जगतमें मूर्ख अपने आत्माकी प्रशंसा करनेसे भी कीर्ति नहीं पाता है, विद्वान मलिन रहनेसेभी कीर्तिमान होते हैं। मूढका मत होता है किसी की निन्दा करनेके विना और आपही अपनी स्तुति करनेके विना कोईभी पूर्व के विद्वान जगतमें प्रसिद्ध नहीं होता है। कुकर्मसे पश्चात्ताप करनेसे पाप छूट जाता है; फिर नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे तथा जप तप तीर्थादिसे दूसरे होनेवाले पापसे मनुष्य शुद्ध हो जाता है। हे ब्राह्मण ! पाप छूटनेके यही उपाय वेदोंमें देखे गये हैं। (४७–५२)

इस लोकमें पहले भूलसे किये हुए

धर्मो राजन्नुदते पूरुषाणां यत्कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥ ५३ ॥
पापं कृत्वा हि मन्येत नाऽहमस्मीति पूरुषः ।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवाऽन्तरपूरुषः ॥ ५४ ॥
चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥ ५५ ॥
पापं चेत्पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चंद्रमाः ॥ ५६ ॥
यथाऽऽदित्यः समुद्यन्वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥
पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यंति नरा नाऽतिबहुश्रुताः ॥ ५८ ॥
अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवाऽऽवृताः ।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ॥ ५९ ॥
मार्कंडेय उवाच—स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥ ६० ॥

पापको पश्चात् धर्मात्मा लोग नष्ट करदेते हैं, [illegible] पुरुषोंके भूलसे किये हुए पापको धर्म नष्ट करता है पाप करके अपनेको एकान्तमें कोई नहीं जानता है ऐसा पुरुष न समझे। क्योंकि उसको देवता और अन्तरात्मा देखते ही हैं। हे ब्राह्मण! जो श्रद्धालु और निन्दा-रहित होकर वस्त्रके समान औरोंके छिद्रको छिपाता है, वह पाप करके भी कल्याणको चाहता है, और वह सब पापोंसे ऐसे छूट जाता है, जैसे सूर्य निकलकर अन्धकारको नाश करते हैं, ऐसेही धर्म उदय होकर पापोंको नाश करता है। (५३-५७)

हे ब्राह्मणोत्तम! पापका मूल लोभ ही है लोभी और मूर्खही पाप करते हैं, अधर्म धर्मसे ऐसे छिप जाता है, जैसे घाससे कुंआ छिप जाता है। जिनको मनके रोकनेकी गति है, उनके सब वचन धर्मके आश्रयसे होते हैं, लोभी और मूर्खोंमें सब हो सकता है, परन्तु शिष्टाचार नहीं हो सकता है। (५८-५९)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! उस महा बुद्धिमान ब्राह्मणने धर्म व्याधसे पूछा कि हे महामते! शिष्टाचारको मैं कैसे जानूं? हे धर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ!

एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर।
त्वत्तो महामते व्याध तद्ब्रवीहि यथातथम् ॥ ६१ ॥

व्याध उवाच— यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम।
पंचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६२ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा दंभं लोभमनार्जवम्।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ६३ ॥
न तेषां विद्यते वृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम्।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥ ६४ ॥
गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन्शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६५ ॥
शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ॥६६॥
वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषत्त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६७ ॥
ये तु धर्मानसूयंते बुद्धिमोहान्विता नराः।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ॥ ६८ ॥

आपसे यह सुननेकी इच्छा रखता हूं, आप मुझसे कहिये। धर्मव्याध बोला, हे ब्राह्मण! उत्तम शिष्टाचारमें यह पांचही कर्म प्रधान हैं, यज्ञ, दान, तप, वेद पढना और सत्य। जो काम और क्रोधको वशमें करके दंभ लोभ और कुटिलता त्यागके धर्महीमें सन्तुष्ट रहते हैं, उन्हें शिष्ट लोग शिष्टपुरुष कहते हैं। (६० — ६३)

शिष्ट लोग स्वेच्छाचारी नहीं होते; यज्ञ, वेदपाठ और आचार पालनमें ही लगे रहते हैं, वेही शिष्ट कहाते हैं। उन यज्ञ और स्वाध्याय शील लोगोंके स्वतन्त्र आचरित कुछ भी नहीं है, केवल प्राचीन लोगोंके सदाचारही उन्हें ग्राह्य हैं; और आचार पालनभी शिष्टोंका दूसरा लक्षण है। गुरुकी सेवा करना सत्य बोलना क्रोध न करना दान देना यह शिष्टाचारके चार कर्म हैं, मनको शिष्टाचारमें लगाकर जिस वृतिको मनुष्य धारण करता है, उसको दूसरा नहीं पा सकता है; वेदोंका सार सत्य, सत्यका सार मनको सब विषयोंसे रोकना, मनके रोकनेका सार त्याग है; और इन सबका सार शिष्टाचार है। (६४–६७)

जो लोग बुद्धिके भ्रमसे धर्मकी निन्दा

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपंथानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ६९ ॥
नियच्छंति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ७० ॥
नास्तिकान्भिन्नमर्यादान्क्रूरान्पापमतौ स्थितान् ।
त्यज ताञ्ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥ ७१ ॥
कामलोभग्रहाकीर्णां पंचेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ ७२ ॥
क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत्साधू रागः शुक्लेव वाससि ॥ ७३ ॥
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ७४ ॥
सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् ।
आचारश्च सतां धर्मः संतश्चाऽऽचारलक्षणाः ॥ ७५ ॥
यो यथाप्रकृतिर्जंतुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते ।

करते हैं, वे कुमार्गमें चलनवोले अपने साथियोंके समेत दुःख पाते हैं;जो सज्जन निष्ठापूर्वक वेद पढने और त्यागनेमें तत्पर होते हैं,उस धर्म के मार्ग में चलते हैं, वेही धर्मात्मा हैं । शिष्टाचार में स्थित होकर जो बुद्धि को अन्य विषयोंसे निवृत्त कर आत्मामें ही लगा देते हैं, तथा आचार्यके वचनोंमें स्थित रहते हैं । जो नास्तिक मर्यादाको नष्ट करनेवाले दुष्ट पापियोंके सङ्गमें रहते हैं, उनको त्यागकर और धर्मात्माओंकी सेवा करके जिसमें काम और क्रोध मगर भरे हुए हैं तथा जिसमें पंचइन्द्रियरूपी जल हैं ऐसी नदी को धारणाकी नाव बनाकर जन्मके दुःखोंसे तरना चाहिये । (६८–७२)

क्रमसे बुद्धि द्वारा धर्मको इकट्ठा करके शिष्टाचारमें तत्पर होनेसे महात्मा ऐसे होजाते हैं, जैसे श्वेतवस्त्र में रंग । अहिंसा और सत्य बोलनाही जगत्का कल्याणकारी धर्म है, अहिंसाही परम धर्म है और वह सत्यमें रहता है । सत्य में स्थित होनेसे मनुष्यकी सब वृत्ति ठीक हो जाती हैं; सत्यही शिष्टाचारमें सबसे प्रधान है । आचार ही सज्जनोंका धर्म है, और आचार सज्जनोंका लक्षण

पापात्मा क्रोधकामादीन्दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ॥ ७६ ॥
आरंभो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥ ७७ ॥
अक्रुद्ध्यंतोऽनसूयंतो निरहंकारमत्सराः ।
ऋजवः शमसंपन्नाः शिष्टाचारा भवंति ते ॥ ७८ ॥
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवंतो मनस्विनः ।
गुरुशुश्रूषवो दांताः शिष्टाचारा भवंत्युत ॥ ७९ ॥
तेषामहीनसत्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् ।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं संप्रणश्यति ॥८० ॥
तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
धर्मं धर्मेण पश्यंतः स्वर्गं यांति मनीषिणः ॥ ८१ ॥
आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ।
श्रुतवृत्तोपसंपन्नाः संतः स्वर्गनिवासिनः ॥ ८२ ॥
वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चाऽपरः ।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
पारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ॥ ८३ ॥

है। जैसा प्राणी होता है, उसका वैसाही स्वभाव होता है, पापी इन्द्रियोंके आधीन होकर क्रोध और कामादि दोषोंको प्राप्त होता है। (७३--७६)

जो आरंभ न्यायसे युक्त होता है, उसे धर्म कहते हैं, और जो अनाचारसे युक्त होता है, उसे अधर्म कहते हैं, यही शिष्टोंकी आज्ञा है। जो क्रोध नहीं करते, किसीकी निन्दा नहीं करते, अभिमान और मत्सर त्यागते हैं,वे शुद्धस्वभाववाले शमशील सज्जन शिष्टाचारसे युक्त होते हैं। वेद विद्यामें निपुण, शुद्ध, सद्वृत्त, बुद्धिमान, गुरुकी सेवा करनेवाले, इन्द्रिय निग्रही महात्मा शिष्टाचारी कहलाते हैं, उन कठोर कर्म करनेवाले महात्माओंके स्वकर्महीसे भय नाश होता है , उस आश्चर्यकारी पुराने अचल धर्मसे सदाचार को करनेवाले बुद्धिमान महात्मा स्वर्ग को जाते हैं। (७७--८२)

जो लोग आस्तिक अभिमान रहित ब्राह्मणोंको पूजनेवाले वेदशास्त्रको जानने वाले और शीलवान होते हैं, वे ही महात्मा लोग स्वर्गगामी होते हैं। धर्म तीन प्रकारका है,एक वेदमें लिखा,दूसरा धर्मशास्त्रमें लिखा,और तीसरा शिष्टाचार, विद्याओं में पारंगत होना और तीर्थोंमें

क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् ।
सर्वभूतदयावंतो अहिंसानिरताः सदा ॥ ८४ ॥
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ।
शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचयं ॥ ८५ ॥
विपाकमभिजानंति ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ।
न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥ ८६ ॥
संतः स्वर्गजितः शुक्लाः संनिविष्टाश्च सत्पथे ।
दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ॥ ८७ ॥
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।
सर्वभूतदयावंतस्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ८८ ॥
दीनशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवंतीह च श्रियम् ।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ॥ ९८ ॥
अतिशक्त्या प्रयच्छंति संतः सद्भिः समागताः ।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ॥ ९० ॥
एवं संतो वर्तमानास्त्वेधंते शाश्वतीः समाः ।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथाऽऽर्जवम् ॥ ९१ ॥
अद्रोहो नाऽभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।

स्नान करना, क्षमा सत्य सरलता शुद्धता ये आचार सज्जनोंमें रहते हैं। सज्जन सब प्राणियों पर दया करनेवाले सदा हिंसासे रहित, मीठा बोलनेवाले ब्राह्मणों के प्यारे होते हैं। (८२–८५)

जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फल और कर्मके विपाकको जानते हैं, वेही शिष्ट संमत शिष्ट कहते हैं। न्याय और गुणसे भरे हुए, लोकके कल्याण करनेवाले सज्जन उत्तम मार्गमें तत्पर रहके स्वर्गको जीतते हैं। दानी, अच्छे बुरेको जाननेवाले, दीनोंपर दया करनेवाले, पूजनीय वेदही जिनका धन है, वे सब भूतों पर दयावान तपस्वी शिष्ट कहते हैं। दीन होकर जो शिष्ट हैं, वे शुभ लोकों को प्राप्त होते हैं तथा इस लोक में धनवान होते हैं। (८५–८९)

शिष्ट लोग भृत्य और कुटुंबके मारसे पीडित होकर भी उनका चित्त स्थिर रहता है; किन्तु जो कोई सज्जन उनके यहां जाता है, उनको अपनी शक्तिसेभी अधिक दान देते हैं, वे केवल लोग यात्रा और आत्महितको देखते हुए संसारमें बहुत वर्षतक उत्कर्ष से जीते हैं। अहिंसा, सत्य-

धीमंतो धृतिमंतश्च भूतानामनुकंपकाः ॥ ९२ ॥
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते संतो लोकसाक्षिणः ।
त्रीण्येव तु सतामाहुः संतः पदमनुत्तमम् ॥ ९३ ॥
न चैव द्रुह्येद्दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ।
सर्वत्र च दयावंतः संतः करुणवेदिनः ॥ ९४ ॥
गच्छंतीह सुसंतुष्टा धर्मपंथानमुत्तमम् ।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥९५ ॥
अनसूया क्षमा शांतिः संतोषः प्रियवादिता ।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥ ९६ ॥
कर्म च श्रुतसंपन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।
शिष्टाचारं निषेवंते नित्यं धर्ममनुव्रताः ॥ ९७ ॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यंते महतो भयात् ।
प्रेक्षंतो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥ ९८ ॥
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।

वचन, कृतज्ञता, सरलता, किसीसे वैर न करना, अभिमानरहित होना, लज्जा, सहिष्णुता, दम, शम, बुद्धि, धारणा, और संसारके ऊपर दया करना, काम द्वेषको त्यागना, यह जिनमें गुण हो, वे ही लोकसंमत साधु कहाते हैं। ८९-९३

ऐसा श्रेष्ठोंका कथन है कि द्रोह न करना, यथा शक्ति दान देना तथा सदा सत्य भाषण करना ये तीन गुण संपादन करने की इच्छा सज्जन करते हैं। सदा दया करने वाले, दीनोंपर करुणा करनेवाले तथा संतुष्ट वृत्तिसे रहने वाले शिष्ट लोग ही धर्मसे प्राप्त उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं । जो कभी धर्मको नहीं छोडते वे ही सदाचारी महात्मा कहलाते हैं! मत्सर न करना, क्षमा, शांति और संतोष वृत्तिसे रहना, प्रिय भाषण करना, काम और क्रोधका त्याग करना, शिष्ट जनोंके आचार का अवलंबन करना, तथा ज्ञानयुक्त कर्म करना ही सज्जनों का उत्तम मार्ग है । जो इस शिष्टाचार का अवलंबन करते हैं धर्मके अनुसार चलते हैं तथा प्रज्ञामंदिर में विराजते हैं, हे द्विजश्रेष्ठ ! तथा जो लोगों के विविध आचार और पाप तथा पुण्य कर्म का विचार करते हैं वे बडे भय से मुक्त होते हैं । हे द्विजवर ! इस प्रकार अपनी मति और अपने ज्ञानके अनुसार

शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन्पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥ ९९ ॥ [८२८४]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याध-संवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

मार्कण्डेय उवाच— स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ॥ १ ॥
विधिस्तु बलवान्ब्रह्मन्दुस्तरं हि पुराकृतम् ।
पुराकृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ॥ २ ॥
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन्विघाते यत्नवानहम् ।
विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ॥ ३ ॥
निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ॥ ४ ॥
तेषामपि भवेद्धर्म उपयोगेन भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितृणां चापि पूजनम् ॥ ५ ॥
ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ ६ ॥
आत्ममांसप्रसादेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान्द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

शिष्टाचार का लक्षण कथन किया है। (८९—९९) [८२८४]

वनपर्वमें दोसौ सात अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ आठ अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! वह धर्मव्याध फिर बोला, हे ब्राह्मण! जो मैं कर्म करता हूं, वह निःसन्देह भयानक है, तौभी प्रारब्ध बलवान है। जो पहले किये कर्म हैं, उन का फल अवश्य होता है; यह मेरे किये पापोंका फल है; इस दोषको छोडनेके वास्ते मैं यत्न करता हूं, तौभी यह नहीं छूटता, प्रारब्ध बलवान है। प्राणियोंका पहले दैवहीसे नाश होता है, मारनेवाला निमित्तही है। हे ब्राह्मणोत्तम! इस कर्मका निमित्त मात्र ही मैं हूं। जिन मरे हुए पशुओंका मांस मैं बेचता हूं, उनको भी मनुष्योंका भोजन देवता, अतिथि, पितर और सेवकोंके पूजन के लिये होनेके कारण पुण्यही होता है। (१—५)

औषधी, वृक्ष, पशु, मृग और पक्षि ये प्राणियोंके अन्न हैं ऐसा श्रुतिमें कहा है। हे ब्राह्मण! अपने शरीरके मांस देनेके कारणसे उशीनरके पुत्र क्षमावान राजा शिबिको दुर्लभ स्वर्ग प्राप्त

राज्ञो महानसे पूर्वं रंतिदेवस्य वै द्विज ।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा ॥ ८ ॥
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा ।
समांसं ददतो ह्यन्नं रंतिदेवस्य नित्यशः ॥ ९ ॥
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम ।
चातुर्मास्ये च पशवो वध्यंत इति नित्यशः ॥ १० ॥
अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन्वध्यंते सततं द्विजैः ॥ ११ ॥
संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन् ।
यदि नैवाऽग्नयो ब्रह्मन्मांसकामाऽभवन्पुरा ॥ १२ ॥
भक्ष्यं नैवाऽभवन्मांसं कस्यचिद् द्विजसत्तम ।
अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे । ॥ १३ ॥
देवतानां पितॄणां च भुंक्ते दत्वाऽपि यः सदा ।
यथाविधि यथाश्राद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात् ॥ १४ ॥
अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
भार्यां गच्छन्ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः॥ १५ ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य अत्रापि विधिरुच्यते ।

हुआ था । पहिले समयमें राजा रन्तिदेवकी रसोईमें दो हजार पशु मारे जाते थे, प्रतिदिन दो हजार गौओंका मांस समांस भोजन देनेवाले राजा रन्तिदेवकी रसोईमें पकता था.इस प्रकार सदा चातुर्मास्यमें पशु वध होता था। उस राजाकी संसारमें बडी कीर्ति फैली थी। (८-१०)

अग्निभी मांसकी इच्छा रखती है, ऐसाभी वेदमें लिखा है। ब्राह्मण लोक भी यज्ञमें सर्वदा पशुको मारते हैं, मन्त्रोंसे जिस पशुके मांसका संस्कार किया जाता है उसको स्वर्ग प्राप्त होता है, हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! यदि अग्नि पहले मांसकी इच्छा न करते तो मांस किसी के भी खाने योग्य न रहता । मांस भक्षणके विषयमें मुनियोंने नियम किया है, जो देवता और पितरोंको देकर विधिके अनुसार श्राद्धमें मांस खाता है, उसे कुछ दोष नहीं होता है । ११-१४

वेदोंमें यही लिखा है कि, विधिसे मांस भक्षण करनेवाला मांस भक्षी नहीं होता है, तथा जो ऋतुकालमें स्त्रीप्रसंग करता है,वह ब्रह्मचारी कहलाता है, तैसे ही यज्ञ विषयमें योग्य और अयोग्य-

सौदासेन तदा राज्ञा मानुषा भक्षिता द्विज ।
शापाभिभूतेन भृशमत्र किं प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥
स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुराकृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ॥ १७ ॥
स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ॥ १८ ॥
पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुंचति ।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ॥ १९ ॥
द्रष्टव्या तु भवेत्प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता ।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् ॥ २० ॥
कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ॥ २१ ॥
द्विजातिपूजने चाऽहं धर्मे च निरतः सदा ।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
कृषिं साध्वीति मन्यंते तत्र हिंसा परा स्मृता ।
कर्षंतो लांगलैः पुंसो घ्नंति भूमिशयान्बहून् ॥ २३ ॥

का विचार करकेही मांसकी विधि कही है। पूर्वकालमें शापके कारणसे राजा सौदास ने मनुष्यको भक्षण किया था ; हे ब्राह्मण ! मैं इसे अपना धर्म समझकर नहीं त्यागता हूं। मेरे पुरुषा भी यही कर्म करते थे, इससे मैं भी इसी व्यापार से जीता हूं। हे ब्राह्मण ! अपने कर्मको त्यागना ही जगत्में अधर्म दीखता है, और जो अपने धर्मको करता है, वही धर्मात्मा है। (१५–१८)

कर्मके निर्णयमें यह अनेक ग्रन्थोंमें देखा गया है, कि ब्रह्माने जिसका जो कर्म बना दिया है, वह उसे नहीं छोडता। मनुष्य को चाहिये कि भयानक कर्म करनेके समय यह विचारता रहे, कि मैं इस कर्मसे कैसे छुटूं और सुकर्म कैसे करूं, तब उस कर्मका निर्णय अवश्य हो जायगा। मैं दान, सत्य बोलने और गुरुकी सदा सेवामें लगा रहता हूं। हे ब्राह्मण! ब्राह्मणोंकी पूजा आदि धर्म सदा करता हूं। अभिमानसे विवाद नहीं करता हूं। (१९–२२)

हे ब्राह्मण! कोई लोग खेतीको उत्तम समझते हैं पर यह भी हिंसासे भरा हुआ है। जब पृथ्वीमें हल चलाते हैं, उस से भूमिमें रहनेवाले बहुत जीव मरते

जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति मे ।
धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ॥ २४ ॥
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति मे ।
अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नंति वै भक्षयंति च ॥ २५ ॥
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिंदंति पुरुषा द्विज ।
जीवा हि बहवो ब्रह्मन्वृक्षेषु च फलेषु च ॥ २६ ॥
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति मे ।
सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन्प्राणिभिः प्राणिजीवनैः ॥ २७ ॥
मत्स्यान्ग्रसंते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति मे ।
सत्त्वैः सत्त्वानि जीवंति बहुधा द्विजसत्तम ॥ २८ ॥
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति मे ।
चंक्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान्बहून् ॥ २९ ॥
पद्भ्यां घ्नंति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति मे ।
उपविष्टाः शयानाश्च घ्नंति जीवाननेकशः ॥ ३० ॥
ज्ञानविज्ञानवंतश्च तत्र किं प्रतिभाति मे ।
जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ॥ ३१ ॥
अविज्ञानाच्च हिंसंति तत्र किं प्रतिभाति मे ।
अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ॥ ३२ ॥

हैं, औरभी बहुतसे जीव जो अन्नमें होते हैं वे मरजाते हैं इसीसे मैं क्या अयोग्य जानता हूं ? बलात्कारसे पुरुष पशुओंको मारकर खाते हैं । हे द्विज ! और कितनेही लोग वृक्षों और औषधियोंको काटते हैं, इससे मैं जानता हूं कि वृक्षमें और फलमें अनेक जीव होते हैं, जलमें भी अनेक जीव होते हैं । मैं जानता हूं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राणियोंको मारकर जीनेवाले प्राणियोंसे भरा हुआ है । (२३–२७)

एक मछली दूसरी मछलीको खाती है, इससे मैं जानता हूं कि जीवही जीवका आधार है । एक प्राणी दूसरे प्राणिका भोजन है, जगत्में व्यवहार ऐसेही चलते हैं। मनुष्य चलनेके समय पैरों से अनेक जीवोंको मारते हैं, इससे मैं जानता हूं, कि बैठते चलते सोते अनेक जीवोंकी हिंसा मनुष्य करते हैं । ज्ञानी और विज्ञानी लोगभी विना हिंसाके नहीं जी सकते हैं, यह जगत् जीवोंसे भरा हुआ है । जिन्होंने अज्ञानसे अहिंसा

केन हिंसंति जीवान्वै लोकेऽस्मिन्द्विजसत्तम ।
बहु संचिंत्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ॥ ३३ ॥
अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम ।
कुर्वंत्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ॥ ३४ ॥
आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः ।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जंति वै न च ॥ ३५ ॥
सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः ।
सम्यक्प्रवृत्तान्पुरुषान्न सम्यगनुपश्यतः ॥ ३६ ॥
समृद्धैश्च न नन्दन्ति बांधवा बांधवैरपि ।
गुरूंश्चैव विनिंदंति मूढाः पंडितमानिनः ॥ ३७ ॥
बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम ।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति मे ॥ ३८ ॥
वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु ।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ॥ ३९ ॥ [८३२३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादेऽष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

मार्कंडेय उवाच —धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर ।

को धर्म कहा है, उन्होंने जगत्को हिंसामय देखकर आश्चर्य प्रकाशित किया, तब उन्होंने यह निश्चय किया कि जगत्में कोई अहिंसक नहीं है। (२८-३३

हे ब्राह्मण ! जो महात्मा यति लोग अहिंसामें तत्पर रहते हैं, वे भी हिंसा करते हैं; परन्तु वे हिंसाको कम करने की चेष्टा करते रहते हैं । बडे कुलमें उत्पन्न हुए, पुरुष महा घोर कर्म करके भी लज्जित नहीं होते। एक मित्र दूसरे मित्रको, एक दुष्ट दूसरे दुष्टको कर्म करते हुए नहीं देखता। एक बन्धुकी उन्नतिको दूसरा बन्धु नहीं देख सकता; कितनेही पण्डित मानी मूर्ख गुरुकी निन्दा करते हैं । हे ब्राह्मण ! इस प्रकारसे जगत्में बहुत [illegible] पलट दीखते हैं, इससे मैं भी [illegible] हूं, केवल वचनसे धर्माधर्मकर्मव[illegible]नेमें बहुत लोग समर्थ हैं, परन्[illegible] स्वधर्म कर्म करता है, जगत्में उसीकी कीर्ति होती है। (३४-३९

वनपर्वमें दोसौ आठ अध्याय समाप्त। [८३२३]

वनपर्वमें दोसौ नौ अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे धर्मके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उस चतुर

विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥
व्याध उवाच — श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनंतिका ॥ २ ॥
प्राणांतिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवाऽनृतं भवेत् ॥ ३ ॥
यद्भूतहितमत्यंतं तत्सत्यमिति धारणा।
विपर्ययकृतो धर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ ४ ॥
यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत्समाप्नोति पुरुषो नाऽत्र संशयः ॥ ५ ॥
विषमां च दशां प्राप्तो देवान्गर्हति वै भृशम्।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपंडितः ॥ ६ ॥
मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम।
सुखदुःखविपर्यासान्सदा समुपपद्यते ॥ ७ ॥
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम्।
यो यमिच्छेद्यथाकामं तं तं कामं स आप्नुयात् ॥ ८ ॥
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम्।
संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमंतश्च मानवाः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणसे धर्मव्याध ऐसा बोला। हे ब्राह्मण! वृद्धोंकी आज्ञा है, कि धर्ममें प्रमाण वेदही है, सूक्ष्म और अनिन्दित धर्मकी बहुतसी शाखा हैं, प्राणके नाश होनेमें और विवाहमें झूठ बोलना चाहिये; कहीं झूठसे सच और कहीं सचसे झूठ प्राप्त होता है। ऐसा निश्चय है, कि जो प्राणियोंका हितकारी हो वही सत्य है, कहीं धर्मका उलटाही फल हो जाता है, धर्मकी सूक्ष्मताको तुम देखो।(१—४)

जो बुरा काम करता है, और जो अच्छा काम करता है,उन दोनोंका फल मनुष्यको अवश्य प्राप्त होता है, जब मनुष्यकी बुरी दृष्टि होती है, तब यह देवतोंकी निन्दा करता है; परन्तु अपने किये कर्म दोषको नहीं जानता; इसी से मनुष्य मूर्ख चञ्चल और कृतघ्न सदाही सुख दुःखके द्वन्द्वमें पडे रहते हैं, उनकी बुद्धि गुरुकी शिक्षा और पुरुषार्थभी रक्षा नहीं करते; इस लिये यदि पुरुषका क्रिया फल पराधीन न होता तो जो व्यक्ति जिस कामनाकी इच्छा करता उसको वही प्राप्त होती। (५—९)

दृश्यंते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ।
भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ॥ १० ॥
वंचनायां च लोकस्य स सुखी जीवते सदा ।
अचेष्टमपि चाऽऽसीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ॥ ११ ॥
कश्चित्कर्माणि कुर्वन्हि न प्राप्यमधिगच्छति ।
देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ॥ १२ ॥
दशमासधृता गर्भे जायंते कुलपांसनाः ।
अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः ॥ १३ ॥
विपुलैरभिजायंते लब्धास्तैरेव मंगलैः ।
कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ १४ ॥
व्याधयो विनिवार्यंते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ।
ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः संभृतौषधैः ॥ १५ ॥
व्याधयो विनिवार्यंते मृगा व्याधैरिव द्विज ।
येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ॥ १६ ॥
न शक्नुवंति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर ।
अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यंति बहवो जनाः ॥ १७ ॥

यदि पुरुषार्थ वा क्रियाका फल प-राधीन न हो तो बुद्धिमान, चतुर और शिक्षायुक्त मनुष्य निष्फल और कर्महीन न दिखलाई पडें। जगत्में जो मनुष्य सदा हिंसा करते हैं, वे संसारके ठगनेमें तत्पर रहते हैं, और वेही सुखी दीखते हैं; कितनेही लोग पुरुषार्थको छोडकर बैठे रहते हैं, परन्तु उनको लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है; कितनेही लोग अनेक कर्म करनेपर भी लक्ष्मी नहीं पाते। (९-१२)

पुत्रके कामनावाले कितनेही देवतोंकी पूजा करते हैं, तप करते हैं, परन्तु उनके दस महीना गर्भमें रहकर कुलकलंक पुत्र उत्पन्न होता है। उसी ही मंगल कर्मसे बहुतसे पुत्र पिताके सञ्चय किये हुए धन धान्यादिसे भोग विलास करते हैं। हे ब्राह्मण! मनुष्योंको रोग और व्याधिभी कर्मसे ही उत्पन्न होती हैं। तथा उनका नाश भी कर्मोंसे ही होता है जैसा व्याधसे मृगका। चतुर वैद्य लोग व्याधियोंका ऐसा नाश करते हैं, जैसे वधिक मृगोंका नाश करते हैं, बहुतसे लोग ऐसेही दीखते हैं, कि जिनको भोजन के लिये बहुत है परन्तु वे ग्रहणी रोगसे ग्रस्त होने के कारण भोजन नहीं कर

दुःखेन चाधिगच्छंति भोजनं द्विजसत्तम ।
इति लोकमनाक्रंदं मोहशोकपरिप्लुतम् ॥ १८ ॥
स्रोतसाऽसकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ।
न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सर्वकामिकाः ॥ १९ ॥
नाऽप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत् ।
उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गंतुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद्वर्तते तथा ॥ २० ॥
बहवः संप्रदृश्यंते तुल्यनक्षत्रमंगलाः ।
महत्तु फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ॥ २१ ॥
न कश्चिदीशते ब्रह्मन्स्वयंग्राह्यस्य सत्तम ।
कर्मणा प्राकृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ॥ २२ ॥
यथा श्रुतिरियं ब्रह्मञ्जीवः किल सनातनः ।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ॥ २३ ॥
वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत ।
जीवः संक्रमतेऽन्यत्र कर्मबंधनिबंधनः ॥ २४ ॥
ब्राह्मण उवाच— कथं कर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः ।

सकते । हे ब्राह्मण ! बहुतसे बलवान लोग भोजनकाभी दुःख भोगते हैं, इस प्रकारसे संसार शोक और मोहसे भर-कर चिल्लाता है । (१७—१८)

प्रारब्धकी नदीमें बलवान फलोंके द्वारा सब प्राणी खींचे जाते हैं । हे ब्राह्मण ! यदि स्वाधीनता रहती तो कोई न मरता, कोई जराजीर्ण न होता, कोई अप्रिय विषयकी कामना न करता, बल्कि सब अपनी सब प्रकारकी काम-ना चरितार्थ करते । सब मनुष्योंकी यही इच्छा रहती है, कि हम जगतसे ऊंचे रहें और ऐसेही यथा शक्ति उद्योग भी करते हैं, परन्तु फल सबको नहीं होता । (१९–२०)

कोई जिनके जन्मकालके मङ्गल नक्ष-त्र समान ऊंचे दीखते हैं उनके कर्मोंके फल बहुत विषम दीख पडते हैं । हे ब्राह्मण ! कोईभी आप नहीं बढता, इस जगतमें पहले कर्मोंकी ही सिद्धि दीखती है, हे ब्राह्मण ! वेदोंमें लिखा है कि जीव सनातन है सब प्राणियोंके शरीर अचल नहीं हैं, शरीरके नाश होने पर कर्मानुसार जीव दूसरे शरीरमें चला जाता है । (२१–२४)

ब्राह्मण बोले हे कर्म जाननेवालोंमें

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ॥ २५ ॥

व्याध उवाच - न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियतीति मूढाः।
जीवस्तु देहांतरितः प्रयाति दशार्धतैवाऽस्य शरीरभेदः ॥ २६ ॥
अन्यो हि नाऽश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित् ।
यत्तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ॥ २७ ॥
सुपुण्यशीला हि भवंति पुण्या नराधमाः पापकृतो भवंति ।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वैस्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच — कथं संभवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः ।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ॥ २९ ॥

व्याध उवाच—— गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं संप्रदृश्यते ।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥ ३० ॥
यथासंभृतसंभारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृच्छुभयोनिषु पापकृत्पापयोनिषु ॥ ३१ ॥
शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ॥ ३२ ॥

श्रेष्ठ ! जीव सनातन किस रीतिसे है, सो मैं सुनना चाहता हूं, आप कहिये। व्याध बोला, कि देहके नाश होनेसे जीव का नाश कभी नहीं होता । मूर्ख लोग मिथ्याही कहते हैं, कि अमुक मनुष्य मर गया । जीव दूसरे शरीरमें चला जाता है, शरीरका भेदही केवल मरना कहलाता है । दूसरेके किये कर्मके फलको संसारमें दूसरा मनुष्य नहीं भोग सकता, जो जिस कर्मको करता है, उसे वह अवश्य भोगता है, और कर्मका नाश कभी नहीं होता है । (२५–२७)

पुण्यात्मा लोग अच्छे और पापी नीच होते हैं, मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार जन्म लेता है, और कर्मके अनुसार ही वह फल भोगता है । ब्राह्मण बोले, कि हे नरश्रेष्ठ ! पाप और पुण्यके अनुसार इस मनुष्यको किस प्रकार नीच और उत्तम योनि प्राप्त होती है? व्याध बोला, हे द्विजोत्तम ! महात्मा लोग गर्भाधानसे कर्मका आरंभ कहते हैं, हम उस सब कर्मको संक्षपसे कहते हैं, सुनो । (२८—३०)

जैसे कर्मका बीज वार वार उत्पन्न होता है, उसके अनुसारही जीवभी पाप और पुण्यके वशमें होकर शुभ अथवा अशुभ योनियोंमें जन्म लेता है । उत्तम कर्मसे देव, मिश्रितकर्मसे मनुष्य,

*

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥ ३३ ॥
तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जीवाः संपरिवर्तन्ते कर्मबंधनिबंधनाः ॥ ३४ ॥
जंतुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ॥ ३५ ॥
ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वाऽपथ्यमिवाऽऽतुरः॥ ३६ ॥
अजस्रमेव दुःखार्तो दुःखितः सुखसंज्ञकः ।
ततो निवृत्तबंधत्वात्कर्मणामुदयादपि ॥ ३७ ॥
परिक्रामति संसारे चक्रवद्बहुवेदनः ।
स चेन्निवृत्तबंधस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ॥ ३८ ॥
तपोयोगसमारंभं कुरुते द्विजसत्तम ।
कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ॥ ३९ ॥

श्रमवाले, तामस कर्म करनेसे नीच, और पाप कर्म करनेसे पशु आदि कुयोनियों में जन्म लेना होता है। इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोंके वशमें होकर जन्म मरण और बुढापा आदि महा दुःखोंमें सदा पडा करता है। पापोंके वशमें होकर सहस्रों नीच योनि और नरकोंको भोगकर पापोंको भोग करता है। (३१–३४)

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोंको भोगकर मरता है, तब उन पापोंको नाश करनेके लिये पाप योनि प्राप्त होती है। जब उस योनिमें जाकर यह नवीन कर्म किया करता है, तब फिर उन कर्मोंके भोगोंको भोगता है। जीवकी निरन्तर ऐसीही दशा रहती है; जैसी अपथ्य खानेसे रोगियोंकी। इस प्रकार यह जीव दुःखोंसे भरा रहता है, और दुःख भोगता रहता है, तौभी यह अपनेको सुखीही मानता है। जब इसके कर्मफलरूप बंधन निवृत्त न होने के कारण कर्म फल भोगनेका काल प्राप्त होता है, तब यह जीव दुःखोंसे पूर्ण होकर कुम्हारके चाकके समान इस संसारमें घूमता है। यदि यह जीव उसी अवस्थामें कर्मोंसे निवृत्त और शुद्ध हो जाय, तो वही जीव योग और शुद्ध तपको करता है, तो वही जीव उस योग और तपके वशमें होकर बहुत कर्मोंसे लोकोंको प्राप्त करता है। (३५–३९)

स चेन्निवृत्तबंधस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान्यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४० ॥
पापं कुर्वन्पापवृत्तः पापस्यांऽतं न गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं यतेत्कर्तुं वर्जयीत च पापकम् ॥ ४१ ॥
अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवने ।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ॥ ४२ ॥
संस्कृतस्य च दांतस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्याऽनंतरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ॥ ४३ ॥
सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ॥ ४४ ॥
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसंकरः ।
संति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः॥४५॥
प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।
तस्माद्धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
तस्यैव सिंचते मूलं गुणान्पश्यति यत्र वै ।
धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चाऽस्य प्रसीदति॥ ४७ ॥
समित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नंदति ।

यदि उस समय उन सब कर्मोंसे निवृत और पवित्र होगया तो उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है जहां दुःख नहीं है । जीव पापको भोगते भोगते पापका अन्त नहीं पाता है, इसवास्ते पुण्य करना चाहिये और पापको छोड देना चाहिये । मत्सर न करनेवाले और कृतज्ञ लोग सुख, धर्म, धन और स्वर्ग पाते हैं, जिसका संस्कार किया गया है, जो जितेन्द्रिय है जिसने अपने मनको वशमें किया है, उसको इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त होता है । इस वास्ते सज्जनोंके मार्गसे ही वर्तन करना चाहिये तथा सदा शिष्टोंके समान आचरण करें। हे ब्राह्मण ! ऐसी आजीविका करे, जिसमें संसारको दुःख न पहुंचे। ४०–४४

अपने ही धर्मसे मनुष्यको वर्त्तना चाहिये; इस से जगतमें संकर नहीं होता। शास्त्रमें शिष्टोंके बहुतसे उपदेश लिखे हुए हैं, बुद्धिमान धर्महीं श्रवण करते हैं, धर्महीसे जीते हैं, धर्महीसे तुमभी अपनी आजीविका करो । गुणवान लोग -धर्मही के मूलको दृढ करते हैं, धर्मात्मा-का चित्त सदा प्रसन्न रहता है, धर्मात्मा

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गंधानिष्टांश्च सत्तम ॥ ४८ ॥
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत्फलं विदुः ।
धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तुष्यति महाद्विज ॥ ४९ ॥
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ।
प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवाऽनुरुध्यते ॥ ५० ॥
विरज्यते यथाकामं न च धर्मं विमुंचति ।
सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ॥ ५१ ॥
ततो मोक्षे प्रयतते नाऽनुपायादुपायतः ।
एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ॥ ५२ ॥
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम् ।
तपो निःश्रेयसं जंतोस्तस्य मूलं शमो दमः ॥ ५३ ॥
तेन सर्वानवाप्नोति कामान्यान्मनसेच्छति ।
इंद्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ॥
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत्परं द्विजसत्तम ॥ ५४ ॥

ब्राह्मण उवाच— इंद्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥ ५५ ॥

इष्ट मित्रके सहित इस लोक परलोक दोनों में सुख भोगते हैं। शब्द, स्पर्श और गन्धके धर्मात्मा ही स्वामी होते हैं, यही धर्मका फल है। (४८—४९)

हे ब्राह्मण! धर्मके फलको पाकर जब मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता, तब उस को वैराग्य आता है, ज्ञानदृष्टि होनेसे संसारके दोषोंमें नहीं फंसता, अपनी इच्छानुसार विहार करता है, किन्तु धर्म को नहीं त्याग करता है, पर संसार को नाशवान समझकर सबको त्यागने का यत्न करता है, तब मोक्षका उद्योग करता है उस प्रकार धर्मात्मा सुखी होता है, और पापोंको त्यागता है, ऐसाही मनुष्य धार्मिक कहाता है, वही धर्म और मोक्षको प्राप्त करता है। (४९—५३)

तपही प्राणियोंके वास्ते परम कल्याणकारी है, उसके फल शम और दम हैं। तपसे मनुष्य अपनी इच्छानुसार फलको पाता है, और इन्द्रियोंको जीतके सत्य और दमसे ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। (५३—५४)

ब्राह्मण बोले, हे व्रतधारी! इन्द्रिय किन्हे कहते हैं? इन्द्रियोंको कैसे जीता जाता है? इन्द्रियोंके जीते जानेका क्या

कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ॥ ५६ ॥ [८२७९]

इति श्रीमहाभारते ० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०९॥

मार्कंडेय उवाच— एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥ १ ॥

व्याध उवाच— विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ।
तत्प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ॥ २ ॥
ततस्तदर्थं यतते कर्म चाऽऽरभते महत् ।
इष्टानां रूपगंधानामभ्यासं च निषेवते ॥ ३ ॥
ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनंतरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनंतरम् ॥ ४ ॥
ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद्धर्मं करोति च ॥ ५ ॥
व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ॥ ६ ॥
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।
सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पंडितैश्च द्विजोत्तम ॥ ७ ॥

फल है ? और वह फल कैसे प्राप्त होता है? इन सबको मैं ठीक जानना चाहता हूं। (५५—५६) [८२७९]

वनपर्वमें दोसौ नौ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ दस अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके ऐसे वचन सुनकर धर्मव्याधने जो कुछ उनसे कहा सो मैं कहता हूं, सुनो । (१)

धर्मव्याध बोला, पहले मनुष्यका मन विज्ञानको जाननेमें प्रवृत्त होता है,तब विज्ञानलाभ होनेपर काम क्रोधको पाता है, पीछे उस काम क्रोधको चरितार्थ निमित्त महत् कर्मका आरंभ करता है, फिर अपने प्यारे रूप वा गन्धादि विषयोंका अभ्यास करता है, तब मनुष्यको राग उत्पन्न होता है, रागसे द्वेष, द्वेषसे लोभ और लोभसे मोह होता है । तब लोभसे भरे और रागद्वेषसे युक्त मनुष्य की बुद्धि धर्ममें नहीं जाती है। (२-५)

जो धर्म करता है, सो केवल कपटसे धन प्राप्तिके लिये है; जो धन कपटसे प्राप्त करता है उसको पापमें लगाता है; उसे जो बन्धु बान्धव लोग पण्डित

उत्तरं श्रुतिसंबद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम्।
अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ॥ ८ ॥
पापं चिंतयते चैव ब्रवीति च करोति च।
तस्याऽधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यंति साधवः ॥ ९ ॥
एकशीलैश्च मित्रत्वं भजंते पापकर्मिणः।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ॥ १० ॥
पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु।
यस्त्वेतान्प्रज्ञया दोषान्पूर्वमेवाऽनुपश्यति ॥ ११ ॥
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाऽप्युपसेवते।
तस्य साधुसमारंभाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ॥ १२ ॥
ब्राह्मण उवाच— ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥ १३ ॥
व्याध उवाच— ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुँजः सदा।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥ १४ ॥
यत्तेषां च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे॥१५॥

महात्मा कुकर्मसे रोकते हैं उनको श्रौत धर्मसे रहित होनेपर भी श्रुतिवाक्यसे युक्तिके साथ उत्तर देता है। ऐसे पुरुष को तीन प्रकारका अधर्म प्राप्त होता है; एक मनसे पापकी चिन्ता करना, दूसरे वचनसे पाप करना, तीसरे कर्मसे पापको करना। उस अधर्मीके सब उत्तम गुण नष्ट होजाते हैं, पापियोंसे इसकी मित्रता होती है, इससे इहलोक और पर लोकमें दुःख भोगता है। (६—१०)

हे ब्राह्मण! पापियोंकी यह गति होती है, अब धर्मात्माओंका वृत्तान्त सुनो। धर्मात्मा पहलेही बुद्धिसे दोषोंको देखते हैं, सुखके तत्त्वको जान कर साधुओंकी सेवा करते हैं, तब उनकी बुद्धि धर्ममें लगती है। ब्राह्मण बोले, हे व्याध! तुम सत्य धर्म कहते हो; तुम्हारे समान धर्मको कहनेवाला कोई भी नहीं है, तुम्हारा प्रभाव दिव्य है, मेरी बुद्धिमें तुम ऋषि ही हो। (११—१३)

व्याध बोला, ब्राह्मण ही महाभाग्यवान और सब वर्णोंके पितृस्वरूप तथा प्रथम भोजन करनेवाले हैं, संसारियोंको चाहिये, कि उन्हींका प्रिय कार्य करें। हे ब्राह्मणोत्तम! जो उनका काम है, सो मैं तुमसे कहता हूं। ब्राह्मणोंको नमस्कार

इदं विश्वं जगत्सर्वमजय्यं चापि सर्वशः।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नाऽतः परतरं भवेत् ॥ १६ ॥
महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च तद्गुणाः ॥ १७ ॥
तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम्।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ॥ १८ ॥
षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥ १९ ॥
इंद्रियाणि च पंचात्मा रजः सत्वं तमस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ २० ॥
सर्वैरिहेंद्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२१॥ [८४००]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

मार्कंडेय उवाच—एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत।
कथामकथयद्भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच — महाभूतानि यान्याहुः पंच धर्मभृतां वर।

करके अब मैं तुमसे ब्राह्मी विद्या कहता हूं, सुनो। यह सब जगत कर्मसे जीतनेके अयोग्य है; यह महाभूतात्मक जगत ब्रह्म है इससे परे कोई पदार्थ नहीं है। पञ्च महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। इनके स्पर्श गन्ध आदि पांच गुण हैं। (१४-१७)

उनके भी गुण परस्परमें संक्रामित दृढ हुए हैं। इन्ही पांचोंसे पांच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, छठां चैतन्य मन है, सातवी बुद्धि और आठवा अहंकार है, इन्द्रियोंमें रजोगुण, तमो गुण, और सतो गुण मिले रहते हैं, इस प्रकार ये सत्रह पदार्थ अव्यक्त कहाते हैं, सब इन्द्रियों के सहित उनके गुणसे गुण मिल करके चौवीस प्रकृति कहाती हैं। यह सब मैंने तुमसे कह [illegible]र अब तुम क्या सुनना चाहते हो [illegible]८-२१) [८४००]

वनपर्वमें दोसौ [illegible]ध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ ग्यारह अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! धर्मव्याधके ऐसे वचन सुनके ब्राह्मणने फिर मनकी प्रीतिको बढानेवाला प्रश्न किया। ब्राह्मण बोले, हे व्याध! हे धर्म

एकैकस्य गुणान्सम्यक्पंचानामपि मे वद ॥ २ ॥

व्याध उवाच — भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च ।

गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥ ३ ॥

भूमिः पंचगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम् ।

गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाऽऽकाशवातयोः ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः ।

एते गुणाः पंच भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥ ५ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम ।

अपामेते गुणा ब्रह्मन्कीर्तितास्तव सुव्रत ॥ ६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।

शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाऽऽकाश एव तु ॥ ७॥

एते पंचदश ब्रह्मन्गुणा भूतेषु पंचसु ।

वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥

अन्योन्यं नाऽतिवर्तन्ते सम्यक्च भवति द्विज ।

यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः ॥ ९ ॥

तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः ।

आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चाऽनुपूर्वशः ॥ १० ॥

करनेवालोंमें श्रेष्ठ! जो पञ्चभूत कहाते हैं, उनमेंसे एक एकका गुण अलग अलग है, सो आप कहिये। (१— २)

व्याध बोला, हे ब्राह्मण! भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनमेंसे पूर्व पूर्वके अधिक गुणवाले और पिछले कम गुणवाले हैं, हे ब्राह्मण! पृथ्वीमें पांच गुण, जलमें चार गुण, तेजमें तीन गुण, वायुमें दो गुण और आकाशमें एक गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण पृथ्वीमें हैं, इसीसे पृथ्वी अधिक गुणवाली कहाती है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये जलके गुण हैं; शब्द, स्पर्श, रूप ये तीन गुण तेजके हैं; शब्द और स्पर्श वायुके गुण हैं और केवल शब्द आकाशका गुण है। (३—७)

हे ब्रह्मन्! यह पन्दरह गुण सब भूतोंके हैं और इन्हींसे जगत् स्थिर है, यह एक दूसरे को नहीं छोडते हैं, क्यों कि एक दूसरेके विना नहीं रह सकता है। जब इनकी घटती बढती होती है, तबही शरीरका मरण होता है। हे ब्राह्मण! ये गुण समय पर ही मिलते हैं; और समय पर ही अलग भी हो जाते हैं। सब

तत्र तत्र हि दृश्यंते धातवः पांचभौतिकाः ।
तैराभूतमिदं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ॥ ११ ॥
इंद्रियैः सृज्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति स्मृतम् ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिंगग्राह्यमतींद्रियम् ॥ १२ ॥
यथास्वं ग्राहकान्येषां शब्दादीनामिमानि तु ।
इंद्रियाणि यदा देही धारयन्निह तप्यते ॥ १३ ॥
लोके विततमात्मानं लोकं चाऽऽत्मनि पश्यति ।
परावरज्ञः सक्तः सन्स तु भूतानि पश्यति ॥ १४ ॥
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाऽशुभेनोपपद्यते ॥ १५ ॥
ज्ञानमूलात्मकं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम् ।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ॥ १६ ॥
अनादिनिधनं जंतुमात्मयोनिं सदाऽव्ययम् ।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान् ॥ १७ ॥
तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्राऽनुपृच्छसि ।
इंद्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नाऽन्यथा ॥ १८ ॥

धातु पञ्चभूतोंसे ही बनती हैं, इन्हींसे सम्पूर्ण चर और अचर जगत् व्याप्त है। (८ — ११)

इन्द्रियोंसे जितने पदार्थ संबद्ध हैं, वे सब व्यक्तसंज्ञक हैं; जो इन्द्रियोंसे अलग तथा रूपादि प्रकाश द्वारा अनुमेय हैं वही अव्यक्त हैं, जब पुरुष अपने शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले इन्द्रियों का संयमन करके आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करता है तब आत्माको सब जगतमें और जगतको आत्मामें देखता है, वही पूर्ण ज्ञानी सब प्राणियोंको देखता है। जो सब अवस्थामें सब प्राणियोंको आत्मरूप देखनेवाला है, उस ब्रह्म समान महात्माको अशुभ कर्म नहीं प्राप्त होते हैं। (१२–१५)

अविद्या भरे हुए क्लेशोंको जो लांघ गया है, वह महात्मा संसारमें प्रकाशमान ज्ञान मार्गसे मोक्षको प्राप्त होता है; जो तिनकेसे ब्रह्म तकमें अविकारी परमेश्वरको व्यापक देखता है, वह शरीररहित अनुपम बुद्धिमान परमेश्वरको जाननेवाला और योगी कहाता है। हे ब्राह्मण! जो तुमने पूछा, वह सब तपसे सिद्ध होता है, इन्द्रियोंको जीतनेसे ही तप होता है, और प्रकारसे नहीं। जो

*

इंद्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १९ ॥
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिंद्रियधारणम् ।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥ २० ॥
इंद्रियाणां प्रसंगेन दोषमाच्छैत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् ॥ २१ ॥
षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेंद्रियः ॥ २२ ॥
रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्टमात्मा नियंतेन्द्रियाण्याहुरश्वान् ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ २३ ॥
षण्णामात्मनि युक्तानामिंद्रियाणां प्रमाथिनाम् ।
यो धीरो धारयेद्रश्मीन्स स्यात्परमसारथिः ॥ २४ ॥
इंद्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥
इंद्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवांऽभसि ॥ २६ ॥

स्वर्ग नरकको प्राप्त होता है, वह इन्द्रियोंको जीतने और न जीतनेसेही होता है; संपूर्ण योगकी विधि इन्द्रियोंको जीतनमें ही है; येही तप और संपूर्ण नरकके मूल हैं। (१९–२०)

इन्द्रियोंको न जीतनेसे ही जीवको दोष प्राप्त होते हैं। जब जीव इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, तब उसको निःसन्देह सिद्धि प्राप्त होती है; पांच इन्द्रिय और छठे मनको जो रोकता है, वह सदा ऐश्वर्यको पाता है, जितेन्द्रियको अनर्थ और पाप कैसे लग सकते हैं? प्राणका शरीर ही रथ है आत्मा उसमें बैठनेवाला, मन सारथी और इन्द्रिय घोडे हैं, उनको अच्छे मार्गमें चलाकर धीर वीरके समान महात्मा लोग चलते हैं। (२१–२३)

जो महात्मा इन्द्रियोंको मनसे रोक कर अच्छे मार्गमें चलते हैं वे ही अच्छे कहाने वाले हैं; जो इन्द्रिय इधर उधर को घोडेके समान मार्गमें भागती हैं, उनको जो रोकता है वही उत्तम सारथी मनसे इन्द्रियोंको जीतता है; और जो अनेक मार्गमें चलनेवाली इन्द्रियोंके पीछे मनको दोडाता है,उसकी बुद्धि ऐसी नष्ट होती है,जैसे वायु नावको जलमें डुबाता

येषु विप्रतिपद्यंते षट्सु मोहात्फलागमम् ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विंदते ध्यानजं फलम् ॥ २७॥ [८४२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

मार्कण्डेय उवाच— एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच— सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥ २ ॥

व्याध उवाच— हंत ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान्पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥ ३ ॥
मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्वं ज्याय इहोच्यते ॥ ४ ॥
अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्यस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥ ५ ॥
प्रवृत्तवाक्यो मंत्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः ।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ॥ ६ ॥

है । जो शब्दादिक विषयोंके मोहमें नहीं फंसता है, वही ध्यानके फलको प्राप्त होता है । (२४-२७) [८४२७]

वनपर्वमें दोसौ ग्यारह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ बारह अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! इस प्रकारसे धर्मव्याधके सूक्ष्म धर्म कहने पर उस सावधान ब्राह्मणने फिर सूक्ष्म प्रश्न किया । ब्राह्मण बोला, हे धर्म व्याध ! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणके गुणोंको आप यथावत कहिये । (१—२)

धर्मव्याध बोला, तुम जो हमसे पूंछते हो, सो हम उन तीनोंके गुणोंको भिन्न भिन्न कहते हैं, सुनो । तमोगुण मोहको बढानेवाला, रजोगुण जगतके कार्योंमें लगानेवाला और सतोगुण प्रकाश करनेवाला है । इसीसे सतोगुण उन सबमें उत्तम गिना जाता है । तमोगुणसे अविद्या, मूर्खता, निद्रा, इन्द्रियोंकी कुमार्गमें प्रवृत्ति, क्रोध और आलस्य बढता है । (३-५)

जो वचनचतुर, विचारशील, मनुष्योंमें उत्तम, पराई निन्दा न करनेवाला, बहुत कामोंको करनेकी इच्छा रखनेवाला, कठोर और अभिमानी

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विचिकित्सोऽनसूयकः ।
अक्रोधनो नरो धीमान्दान्तश्चैव स सात्त्विकः ॥ ७ ॥
सात्त्विकस्त्वथ संबुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते ।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ॥ ८ ॥
वैराग्यस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते ।
मृदुर्भवत्यहंकारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ॥ ९ ॥
ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम् ।
न चाऽस्य संशयो नाम कश्चिद्भवति कश्चन ॥ १० ॥
शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन्क्षत्रियत्वं तथैव च ॥ ११ ॥
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥१२ [८४३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

ब्राह्मण उवाच — पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥

होता है, वह मनुष्य रजोगुणी है । जो ज्ञानयुक्त, धीर, निरालसी हो, जो पराई निन्दा नहीं करता हो, क्रोध रहित हो, बुद्धिमान और इन्द्रिय संयमी हो, वह मनुष्य सतोगुणी होता है । सतोगुणी मनुष्य संसारी मनुष्योंके कर्मसे दुःखी होता है । जब उसे ज्ञान होता है । तब वह संसारी मनुष्योंकी निन्दा करता है, वैराग्यमें उसका चित्त पहले लगा रहता है, अहङ्कार उसे थोडा होता है और उसका स्वभाव सीधा होता है । (७-९)

सतोगुणी मनुष्यों के सब मानापमानादि द्वन्द्व शान्त रहते हैं । सतोगुणी मनुष्योंको कभी किसी कर्मोंका सन्देह नहीं होता । शूद्र मनुष्य सतोगुण के प्रतापसे वैश्य होता है, और वैश्यत्व से क्षत्रियत्वको प्राप्त होता है, फिर सुकर्म करनेसे वह ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है । हे ब्राह्मण ! हमने इन सब गुणोंके गुण कहे अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? (१०—१२) [८४३९]

वनपर्वमें दोसौ बारह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ तेरह अध्याय ।

ब्राह्मण बोला, विज्ञानाभिधेय तेजोमय धातु, पार्थिवधातुको अर्थात् इस पार्थिव देहको प्राप्त होकर किस निमित्त

मार्कण्डेय उवाच— प्रश्नमेवं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर ।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ॥ २ ॥

व्याध उवाच— मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाऽग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ॥ ४ ॥
स जंतुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
महान्बुद्धिरहंकारो भूतानां विषयश्च सः ॥ ५ ॥
एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ६ ॥
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाऽप्यपानः परिवर्तते ॥ ७ ॥
प्रयत्ने कर्मणि बले स एव त्रिषु वर्तते ।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ८ ॥
संधौ संधौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथाऽनिलः ।

देहाभिमानी होता है ! और प्राणादि वायु नाडी मार्ग आश्रय करके किस प्रकार शरीरको बिचेष्टित करता है ? (१)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! ब्राह्मणने धर्मव्याधसे जो प्रश्न किया, धर्मव्याधने महात्मा ब्राह्मणको उत्तर दिया । व्याध बोला, हे ब्राह्मण! प्रकाशमय विज्ञानात्मा चिदात्माको आश्रय करके शरीरका चैतन्य सम्पादन करता है । प्राण उस चिदात्मा और विज्ञानात्मामें वर्त्तमान रहके विचेष्टमान होता है । भूत और भविष्यत जो कुछ हैं सब प्राणहीमें स्थित हैं; सब प्राणियोंमें प्राणही श्रेष्ठ है, और हम उसी प्राणयोनि ब्रह्मकी उपासना करते हैं; प्राणही सब जन्तुओंकी आत्मा, और सनातन पुरुष है। महत्तत्त्व, बुद्धि, अहङ्कार और प्राणही शब्द आदिके विषय हैं। (२–५)

सब जीव स्थानोंमें प्राणहीसे पाले जाते हैं, पीछे प्राणहीसे सब अपनी गतिको प्राप्त होते हैं । मूत्राशय, लिङ्ग, गुदा, और जठराग्निमें प्राणही रहता है, इसीसे मूत्र और विष्ठा निकलते हैं, इसीसे प्राणका नाम अपान है । जो यत्न करनेमें, कर्म करनेमें और बलमें सहाय देता है, उसे अध्यात्मविद्या जाननेवाले उदान कहते हैं। जो शरीरके सब संधियों

शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ९ ॥
धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुः समीरितः ।
रसान्धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्परिधावति ॥ १० ॥
प्राणानां संनिपातात्तु सन्निपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाऽग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ ११ ॥
समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ १२ ॥
अस्यापि पायुपर्यंतस्तथा स्याद्गुदसंज्ञितः ।
स्रोतांसि तस्माज्जायंते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥
अग्निवेगवहः प्राणो गुदांते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १४ ॥
पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥
प्रवृत्ता हृदयात्सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहंत्यन्नरसान्नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ १६ ॥
योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छंति तत्परम् ।

में घूमता है, उसे व्यान कहते हैं, जो धातु और अग्निमें फिरा करता है, उसे वायु कहते हैं, वायुसेही सब धातु और रस बढते हैं। (९–१०)

प्राण ही के योगसे सबका शरीर बढता है; गरमी ही अग्नि है, उसीसे सब प्राणियोंका अन्न पचता है, समान और उदानके बीचमें प्राण और अपान रहते हैं; यही शरीरको समर्थ करते हैं, और अग्नि अन्नको पचाती है। जठराग्निका प्रवेश अपान पर्यंत है उस स्थानको पायु तथा गुद कहते हैं। इसीही से सब प्राणोंके संचार मार्ग होते हैं। प्राण अग्निके वेगसे प्रेरित होकर गुदातक आता है, वहां आहत होकर गेंदुकके समान ऊपर आकरके जठराग्नि को आहत करता है। नाभीके नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय है, नाभीके बीचमें शरीरके सब प्राण रहते हैं। (११—१५)

हृदयसे नीचे और ऊपरको अन्नके रसको ले जानेवाली नाडी चलती हैं, नाडियोंमें दस प्राणोंकी प्रेरणासे अन्न रस जाता है। हे ब्राह्मण ! योगियोंका ब्रह्म सन्निधानमें जानेका सहस्रार मार्ग यहीं है, इसीसेही योगी लोग जाते हैं; इस मार्गमें चलनेसे योगियोंको क्लेश

जितक्लमाः सदा धीरा मूर्धन्याधाय चात्मनः ॥
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ॥ १७ ॥
एकादशविकारात्मा कलासंभारसंभृतः ।
मूर्तिमंतं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥
तस्मिन्यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाऽऽहितः ।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १९ ॥
देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिंदुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ २० ॥
जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम् ॥ २१ ॥
सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदंति प्राकल्पयद्यो भुवनानि सप्त ॥ २२ ॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा संप्रकाशते ।

नहीं होता, वे धीरतासे शिरमें आत्मा-का ध्यान करते हैं। सब प्राणियोंके शरीरमें प्राण और अपान व्याप्त हैं। आत्मा एकादशविकार युक्त लिंग शरीर से तादात्म्यको प्राप्त होता है तथा 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, कर्म, मंत्र, लोक, और नाम,' इन सोल-ह कलाओंके समुदाय से युक्त होता है (वस्तुतः वह अमूर्त है, परंतु कलारूप उपाधिसे) मूर्तिमान दीखता है। वह नित्य है, चित्तवृतियोंके निरोधसे उसका स्वरूप ज्ञात होता है। (१६ – १८)

उस कलासमुदायमें जो अग्नि समान प्रकाशमान आत्मा रहती है; स्थालीमें रखे हुएके समान उसीको तुम जीव समझो, सो योगियोंसे जीतने योग्य है। कमल में जलबिन्दुके समान इस जीवात्मा में जो देवता अलिप्त रूपसे निवास करती हैं, उसीको तुम क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा समझो; वह योगसे जीतने योग्य है। रजो गुण, तमोगुण, और सतोगुण को जीव की उपाधि समझो और परमा-त्मा को जीवके नियामक समझो; वह परमात्मा निर्गुण हैं। (१९ – २१)

सब जड जीवका भोग्य है। वह जीव स्वतः चेष्टा करता है उसकी चेष्टासे सब जगत् चेष्टा करता है; क्षेत्रज्ञको जान-नेवाले परमात्माको जीवात्मासे श्रेष्ठ कहते हैं; उसीने प्रथम भूरादि सात-लोकोंको बनाया है, इस प्रकारसे सब प्राणियोंमें परमात्मा प्रकाशमान हैं, जिसे

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ॥ २३ ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते॥ २४ ॥
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत्।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत्कुशलदीपितः ॥ २५ ॥
पूर्वरात्रे परे चैव युंजानः सततं मनः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति ।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत्पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥ २८ ॥
नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेद्धर्मं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ २९ ॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥ ३० ॥
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।

सूक्ष्मदृष्टिसे ज्ञानी लोग देखते हैं। चित्तकी प्रसन्नतासे शुभाशुभ कर्मोंका नाश होता है; प्रसन्न चित्तवाला आत्मामें स्थित होके अन्तरहित सुखको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है। (२३-२४)

प्रसन्न चित्तवालेका लक्षण यह है, कि वह सुखसे सोता है, जैसे वायुरहित स्थानमें दीपकका प्रकाश होता है;ऐसेही प्रसन्नचित्त वाला दुःखोंसे रहित होकर प्रकाशित होता और सुख भोगता है; रात्रिके पहले वा पिछले भागमें अपने मनको परमात्मामें लगाकर आत्मामें आत्माका दर्शन करता है, प्रसन्नचित्तवाला थोडा भोजन करता है, और सदा शुद्ध रहता है, जलते हुए दियेके समान मनरूपी दीपकसे आत्माको देखता है; उस निर्गुण आत्माको देखनेसे ही मुक्ति होती है। (२५-२७)

सब उपायोंसे लोभ और क्रोधको जीतना ही संसारसे पार पहुंचानेवाला पवित्र मनुष्योंका तप है; क्रोधसे तपकी और मत्सरसे धर्मकी, आदर और अनादरसे विद्याकी और प्रमादसे आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। दया ही परम धर्म, क्षमा परम बल, आत्मज्ञान परम ज्ञान, और सत्यही परम व्रत है। (२८-३०)

यद्भूतहितमत्यंतं तद्वै सत्यं परं मतम् ॥ ३१ ॥
यस्य सर्वे समारंभा निराशीर्बन्धनाः सदा ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥३२॥
यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत् ।
तं विद्याद्ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥ ३२ ॥
न हिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४ ॥
आकिंचन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम् ।
एतदेव परं ज्ञानं सदाऽऽत्मज्ञानमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः ।
अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च । ॥ ३६ ॥
तपोनित्येन दांतेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं संगेष्वसंगिना ॥ ३७ ॥
गुणागुणमनासंगमेककार्यमनंतरम् ।
एतत्तद्ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ३८ ॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं चाऽप्युभयं नरः ।

सत्य बोलना ही श्रेयस्कर है, सत्य जानना हित करनेवाला है, जो सब प्राणियोंके परम हितसाधक है, वही उत्तम सत्य है; जिसके सब कर्म फल-रूपबंधनरहित तथा होम यज्ञादि सुकर्म फल त्यागसे होते हैं, वही बुद्धिमान त्यागी कहाता है; जिसके स्वरूप-का ज्ञान शब्दसे गुरु न कहसके किन्तु ल-क्षणावृत्तिसे सिखलावे उस ब्रह्मयोगहीको अर्थात् चित्तवियोग, चित्तवृत्ति निरोधको योग समझना चाहिये; किसी प्राणीकी हिंसा न करे, सबसे वैर त्यागकर मित्र-ता करे, कुछ संग्रह न करना, सन्तोष रखना, किसीकी आशा न रखना, चपलता न करना यही परम ज्ञान और उत्तम आत्मज्ञान है । (३१ — ३५)

सङ्गको त्यागनेसे बुद्धि अन्य धर्ममें नहीं लगती है, और इस लोक तथा पर-लोकमें निश्चल तथा शोकरहित स्थान प्राप्त होता है; मुनिको चाहिये कि नित्य तप और इन्द्रिय निग्रह करें, आत्माको जीतें; ज्ञानियोंने कहा है, कि गुणोंसे रहित, असंगी, ज्ञान से प्राप्य, सर्वत्र व्यापक, अना दिसिद्ध स्थानभी प्राप्त होता है; गुणी और अगुणी और सुखरूप उत्कृष्ट ब्रह्मका स्थान है । जो मनुष्य सुख और दुःख

ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥ ३९ ॥
यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥४०॥[८४७९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याध-संवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

मार्कंडेय उवाच — एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर ।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥
न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद्धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥ २ ॥

व्याध उवाच — प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम ।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुंगव ॥ ३ ॥
उत्तिष्ठ भगवन्क्षिप्रं प्रविश्याऽभ्यंतरं गृहम् ।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय उवाच— इत्युक्तः स प्रविश्याऽथ ददर्श परमार्चितम् ।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम् ॥ ५ ॥
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम् ।
शयनासनसंबाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ॥ ६ ॥

दोनोंको त्यागता है, वह संशय रहित होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है । हे ब्राह्मणोत्तम ! जैसा मैंने धर्म सुना था वैसा तुमसे कह सुनाया, आगे तुम्हारी सुननेकी क्या इच्छा है । (३६–४०) [८४७९]

वनपर्वमें दोसौ तेरह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ चौदह अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! ऐसे सम्पूर्ण मोक्ष धर्मोंको सुन चुकनेके अनन्तर दृढ प्रीतिवाला ब्राह्मण फिर धर्मव्याधसे बोला, कि जो तुमने कहा सो सब न्यायसे युक्त है, धर्म विषयमें तुमसे कोई बात छिपी नहीं है। व्याध बोला, हे ब्राह्मणोत्तम ! मुझे जिससे यह सिद्धि प्राप्त हुई, मेरे उस प्रत्यक्ष धर्मको देखो । हे भगवन् ! तुम जल्दी खडे होजाओ और घरमें चलके मेरे माता पिताको देखो । (१—४)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! ब्राह्मणने घरके भीतर जाकर बहुत मनोहर अटारी और स्थानोंको देखा, वह घर देवतोंके घरके समान था और देवतोंसे पूजा जाता था । वह स्थान पलङ्ग आसन तथा गन्धोंसे पूरित था, उस

तत्र शुक्लांबरधरौ पितरावस्य पूजितौ ।
कृताहारौ तु संतुष्टावुपविष्टौ वरासने ।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसाऽपतत् ॥ ७ ॥

वृद्धावूचतुः— उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ ८ ॥
गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः ।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ॥ ९ ॥
न तेऽन्यद्दैवतं किंचिद्दैवतेष्वपि वर्तते ।
प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ॥ १० ॥
पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः ।
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनाऽऽवां च पूजया ॥ ११ ॥
मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते ।
न चाऽन्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते सांप्रतं तव ॥ १२ ॥
जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ ।
तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक ॥ १३ ॥
ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत् ।
तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ॥ १४ ॥

घरमें श्वेत वस्त्र पहने हुए, भोजन किये, परम सन्तुष्ट व्याधके मातापिता आसन पर बैठे थे । धर्मव्याध उन्हें देख कर उनके पैरों पर जा गिरा। (६-७)

वृद्ध बोले, हे धर्मके जाननेवाले ! उठ, उठ धर्म तेरी रक्षा करे, तेरी दीर्घ आयु हो, तेरे शुद्ध आचारसे हम बहुत प्रसन्न हैं, तेरी गति, तप और बुद्धि बहुत पवित्र है; हम तुम्हारे सरीखे सुपुत्रसे नित्य योग्य समय पर उत्तम रीतिसे पूजित हैं । हे पुत्र ! देवतोंमें भी हमारे सिवा तुझे और देवता कोई नहीं है, ब्राह्मणकी पूजा करनेसे तुझे शम और दम सब प्राप्त हुए हैं, हे पुत्र ! हमारी सेवा करनेसे तथा इन्द्रिय संमयसे तेरे ऊपर पितामह प्रपितामह सबही प्रसन्न हैं । मन कर्म और वचनसे जैसी हमारी सेवामें तेरी बुद्धि है ऐसी और कर्ममें नहीं है; हे पुत्र ! जैसे जमदग्निके पुत्र परशुरामने वृद्ध माता पिताकी सेवा की थी ऐसेही तुम ने भी हमारी सेवा की है । (८-१३)

तब व्याधने उस ब्राह्मणके आनेका वृत्तान्त अपने माता पितासे कहा, तब उन्होंने ब्राह्मणकी पूजा करके कहा,

प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ।
सुपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद्वां कुशलं गृहे।
अनामयं च वां कच्चित्सदैवेह शरीरयोः ॥ १५ ॥

वृद्धावूचतुः— कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः।
कच्चित्त्वमप्यविघ्नेन संप्राप्तो भगवन्निति ॥ १६ ॥

मार्कंडेय उवाच – बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदाऽन्वितः।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याऽथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

व्याध उवाच – पिता माता च भगवन्नेतौ मे दैवतं परम्।
यद्दैवतेभ्यः कर्त्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥ १८ ॥
त्रयस्त्रिंशद्यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
संपूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ॥ १९ ॥
उपहारानाहरंतो देवतानां यथा द्विजाः।
कुर्वंति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतंद्रितः ॥ २० ॥
एतौ मे परमं ब्रह्मन्पिता माता च दैवतम्।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ॥ २१ ॥
एतावेवाऽग्नयो मह्यं यान्वदंति मनीषिणः।

कि तुम्हारा आगमन अच्छा हुआ। ब्राह्मणने उस पूजा को लेकर सत्कार पूर्वक दोनों वृद्धोंसे कहा, कि अपने पुत्र और सेवकों सहित कुशलसे तो हैं? तुम दोनोंका शरीर निरोग तो है? दोनों वृद्ध बोले, हे ब्राह्मण! हमारे सेवकोंमें और घरमें कुशल है, तुम तो निर्विघ्न यहां आये? (१४—१६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! तब उस ब्राह्मणने प्रसन्न होकर कहा कि मैं कुशलसे आया। तब धर्मव्याध ब्राह्मणकी ओर देखकर बोला, हे ब्राह्मण! यह दोनों मेरे माता पिता है; यह मुझे देवतोंसेभी परम देवता हैं, देवतोंके लिये जो करना योग्य है वह सब ही ऐसे ही मैं इनकी पूजा करता हूं। जैसे सब संसारके इन्द्रादिक तैतिस देवता माननीय है, वैसेही मुझे ये दोनों वृद्ध माननीय हैं; जिस प्रकारसे ब्राह्मण लोग देवतोंकी भेंट चढाते हैं ऐसेही मैं सावधान होकर इनकी भेट देता हूं। (१७–२०)

हे ब्राह्मण! यह मेरे लिये परम देवता हैं। इन्हींकी मैं फूल, फल और रत्नोंसे सदा पूजा करता हूं; विद्यावान लोग जितनी पूजाके योग्य अग्नि कहते

यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ॥ २२ ॥
एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्रः सुहृज्जनः ।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ॥ २३ ॥
स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये ।
आहारं च प्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम ॥ २४ ॥
अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ॥ २५ ॥
धर्ममेवं गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम ।
अतंद्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ॥ २६ ॥
पंचैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः ।
पिता माताऽग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥ २७ ॥
एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम ।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः ।
गार्हस्थ्ये वर्त्तमानस्य एष धर्मः सनातनः ॥ २८ ॥ [८५०७]

इति श्रीमहाभारते०मार्कंडेयसमास्यापर्वणि द्विजव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

मार्कंडेय उवाच— गुरू निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

हैं, मैं उन सबके योग्य इन्हींको जानता हूं। यज्ञ और चारों वेद यही माता पिता हैं इन्हींके वास्ते मेरे प्राण, स्त्री, मित्र और पुत्र हैं, मैं पुत्र और स्त्रीके सहित इनकी सदा सेवा करता हूं, चरण धोता हूं, मैं आपही इनको स्नान कराता हूं, चरण धोता हूं, और भोजन कराता हूं। २१-२४

मैं सदा इनसे प्यारी वाणी बोलता हूं, कभी कठोर वचन नहीं बोलता; जो अधर्म काम भी इन्हें प्रिय हो, तो वह भी मैं करता हूं। ऐसेही इनकी सेवाको परम धर्म जानके मैं सेवा करता हूं; हे द्विज श्रेष्ठ ! मैं उनकी सेवामें आलस्य नहीं करता हूं, अभ्युदयेच्छु पुरुषके 'पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु' ये पांच ही गुरु हैं, इनके साथ जो आदरसे वर्तन करता है उससे सब अग्नि पूजित होते हैं। गृहस्थका यही धर्म है, अपने माता पिताकी सेवा करना। (२१-२४)

वनपर्वमें दोसौ चौहद अध्याय समाप्त। [८५०७]

वनपर्वमें दोसौ पन्द्रह अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, इस प्रकारसे ब्राह्मणको माता पिताका दर्शन करा कर धर्म व्याध फिर ब्राह्मणसे बोला, कि

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि संपश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ॥ २ ॥
पतिशुश्रूषपरया दांतया सत्यशीलया ।
मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान्प्रवक्ष्यति ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच— पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत ।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ॥ ४ ॥

व्याध उवाच— यत्तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो ।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ॥ ५ ॥
त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद्दर्शितं मया ।
वाक्यं च शृणु मे तात यत्ते वक्ष्ये हितं द्विज ॥ ६ ॥
त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रांतो गृहात्ताभ्यामनिंदित ॥ ७ ॥
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत्त्वया कृतम् ।
तव शोकेन वृद्धौ तावंधीभूतौ तपस्विनौ ॥ ८ ॥
तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम् ।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ॥ ९ ॥
सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ संप्रसादय ।

जिससे मेरी ऐसी दिव्य दृष्टि है, यह माता पिताके सेवाका ही फल है। पतिसेवा करनेवाली सत्यशीला पतिव्रताने तुमसे कहा था, कि जनक पुरीको जाओ, धर्म-व्याध तुमको धर्मका उपदेश करेगा। ब्राह्मण बोला उस सत्यशीला पतिव्रताके वचनको स्मरण करके मैं समझता हूं, कि तुम अवश्य गुणवान हो। (१—४)

व्याध बोला हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ! जब उस पतिव्रताने तुमसे मेरे विषयमें कहा था, तब उसने मुझे अवश्य ज्ञानदृष्टिसे देख लिया होगा। हे ब्राह्मण। तुम्हारे ऊपर दयादृष्टि करके हमने यह सब दिखलाया; अब जो मैं तुम्हारे हितके वचन कहता हूं, सो सुनो। तुमने अपने माता पिताका अनादर किया; विना उनकी आज्ञा वेद पढनेको निकल गये; यह तुमने बहुत अयोग्य कर्म किया; तुम्हारे शोकसे वृद्ध माता पिता अंधे हो गये, तुम अब उनको प्रसन्न करनेके लिये घर जाओ; तुम तपस्वी महात्मा सदा धर्म करनेवाले हो, सब प्रकारसे तुमको माता पिताको प्रसन्न करना चाहिये; इन मेरे वचनों पर तुम श्रद्धा

अश्रद्धस्व मम ब्रह्मन्नाऽन्यथा कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ।

ब्राह्मण उवाच — यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम् ।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धर्माचारगुणान्वित ॥ ११ ॥

व्याध उवाच — दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः ।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम् ।
अतः परमहं धर्मं नाऽन्यं पश्यामि कंचन ॥ १३ ॥

ब्राह्मण उवाच — इहाऽहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे संगतं त्वया ।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ॥ १४ ॥
एको नरसहस्रेषु धर्मविद्विद्यते न वा ।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषर्षभ ॥ १५ ॥
पतमानोऽद्य नरके भवताऽस्मि समुद्धृतः ।
भवितव्यमथैवं च यद् दृष्टोऽसि मयाऽनघ ॥ १६ ॥
राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा ।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाऽहं भवता द्विजः ॥ १७ ॥
मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात्तव ।

करो और इसमें विलंब मत करो, हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हारे भलेकी बात कहता हूं, अभी चले जाओ। (९–१०)

ब्राह्मण बोला हे धर्मव्याध ! मैं तुम से बहुत प्रसन्न हुआ, तुम्हारा कल्याण हो। व्याध बोला हे ब्राह्मण ! तुम देवतुल्य धर्म तथा आचार और गुणोंसे युक्त हो, तुम माता पिताके पास जाकर आलस्य त्यागकर उनकी सेवा करो, मैं इससे बडा कोई धर्म नहीं देखता हूं। ११-१३

ब्राह्मण बोला, मैं प्रारब्धही से यहां आया और प्रारब्धहीसे तुमसे भेट होगई; तुम्हारे समान धर्मको कहनेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं, सहस्रों मनुष्योंमें धर्मका जानने वाला एकही होता है, वा नहीं! हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारे सत्यसे मैं प्रसन्न हुआ, मैं नरकमें गिरा जाता था, तुमने उससे मेरा उद्धार किया; जैसे स्वर्गसे गिरते हुए राजा ययातिका उनके पुत्रीके पुत्रोंने उद्धार किया था, हे पुरुषशार्दूल! वैसेही तुमने मेरा उद्धार किया। १४-१७

माता पिताकी सेवा मैं अवश्य करूं-

नाऽकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ॥ १८ ॥
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तते ।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ॥ १९ ॥
येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते ।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ॥ २० ॥
व्याध उवाच — अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम ।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममाऽनघ ॥ २१ ॥
अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः ।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदांगानां च पारगः ॥ २२ ॥
आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम् ।
कश्चिद्राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ॥ २३ ॥
संसर्गाद्धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज ।
एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ॥ २४ ॥
सहितो योधमुख्यैश्च मंत्रिभिश्च सुसंवृतः ।
ततोऽभ्यहन्मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ॥ २५ ॥
अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयाऽपि द्विजसत्तम ।

गा, अविवेकी मनुष्य धर्मको नहीं जानता है, शुद्रयोनिमें उत्पन्न हुए मनुष्यों को धर्म जानना बहुत कठिन है; मैं तुमको एक विशेष कारणसे शूद्र नहीं मानता हूं; हे महाबुद्धिमान्! जिस विशेष कर्मसे तुम शूद्र हुए हो उसको मैं जाननेकी इच्छा रखता हूं, तुम इच्छा पूर्वक कहो। (१८ – २०)

व्याध बोला हे ब्राह्मणोत्तम! ब्राह्मणोंका मैं अनादर नहीं कर सकता हूं; हे पापरहित! पहले मेरे कर्मको सुनो, मैं पहले जन्ममें एक ब्राह्मणका पुत्र वेद और वेदाङ्गोंको जाननेवाला ब्राह्मण था मैं अपनेही दोषसे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ हूं, एक धनुर्वेदका जाननेवाला राजा मेरा मित्र था, उसके संग रहनेसे मुझे भी धनुर्वेदका थोडा थोडा अभ्यास हो गया। (२१ – २४)

एक दिन राजा आखेटको गया; बहुतसे योद्धा और मन्त्रियोंको भी सङ्ग लेगया था; बनमें जाकर राजाने बहुतसे मृगोंको मारा, आखेट करते करते हम लोग एक ऋषिके आश्रममें पहुंचे, वहां जाके भी मैंने एक बाण चलाया, तो

ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणाऽऽनतपर्वणा ॥ २६ ॥
भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् ।
नाऽपराध्याम्यहं किंचित्केन पापमिदं कृतम् ॥ २७ ॥
मन्वानस्तं मृगं चाऽहं संप्राप्तः सहसा प्रभो ।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणाऽऽनतपर्वणा ॥ २८ ॥
अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः ।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनंतं महीतले ॥ २९ ॥
अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाऽब्रुवम् ।
क्षंतुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ॥ ३० ॥
ततः प्रत्यब्रवीद्वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः ।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ॥ ३१ ॥[८५३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे पंचदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१५ ॥

व्याध उवाच – एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम ।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति वै तदा ॥ १ ॥
अजानता मयाऽकार्यमिदमद्य कृतं मुने ।
क्षंतुमर्हसि तत्सर्वं प्रसीद भगवन्निति ॥ २ ॥
ऋषिरुवाच — नाऽन्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् ।

वह बाण उस ऋषिको लगा, बाण लगते ही ऋषि पृथ्वीमें गिर पडे और दीन होकर कहने लगे कि मैंने किसीका अपराध नहीं किया और वह कौनसा पापी है, जिसने मुझे बाण मारा है (२४-२७)

हे ब्राह्मण ! मैं उसे मृग समझकर पास गया, वहां जाके ऋषिको देखा और अपने कुकर्मको देखकर बहुत दुःखी हुआ। उस ऋषिको पृथ्वीमें शब्द करते हुए पडा देखकर कहा कि मैंने यह अज्ञानसे अपराध किया, उस तपस्वीने क्रोधमें भरके मुझसे कहा, कि तू शूद्रयोनिमें व्याध होगा। (२८ - ३१)

वनपर्वमें दोसौ पन्दरह अध्याय समाप्त। ८५३८

वनपर्वमें दोसौ सोलह अध्याय।

व्याध बोला, हे ब्राह्मणोत्तम ! इस प्रकारसे जब मुझे ऋषिने शाप दिया, तब मैंने ऋषिको दीन वाणीसे त्राहि त्राहि कहके प्रसन्न किया। मैंने हाथ जोडकर कहा, महाराज ! मैंने यह कर्म अज्ञानसे किया था, आप क्षमा कीजिये। तब ऋषि बोले, कि मेरा दिया शाप

आनृशंस्यात्त्वहं किंचित्कर्ताऽनुग्रहमद्य ते ॥ ३ ॥
शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥ ४ ॥
तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि ।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ॥ ५ ॥
शापक्षये तु निर्वृत्ते भविताऽसि पुनर्द्विजः ।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणाऽस्म्युग्रतेजसा ॥ ६ ॥
प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर ।
शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ॥ ७ ॥
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराऽभवत् ॥ ८ ॥
अभितश्चापि गंतव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच — एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च ।
आप्नुवंति महाबुद्धे नोत्कंठां कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥
दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः ।
लोकवृत्तांततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण ॥ ११ ॥
कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन वै ।

झूठा नहीं होगा; किन्तु तौभी तेरी प्रार्थनासे मैं कुछ कृपा करता हूं । शूद्र जन्ममेंभी तुझे धर्मका ज्ञान बना रहेगा; माता और पिताकी तू परम सेवा करेगा; उनकी सेवा करनेसे तुझे परमसिद्धि प्राप्त होगी, पहले जन्मका ज्ञान रहेगा और स्वर्गको प्राप्त होगा । (१ – ५)

मेरे शापके समाप्त होने पर फिर तू ब्राह्मण होगा । इस प्रकारसे महा तेजस्वी ऋषिने मुझे शाप दिया था । हे ब्राह्मण ! फिर मेरे ऊपर उनने कृपा भी करी । मैंने उनके शरीरसे बाण निकाला और उन्हें आश्रममें पहुंचाया, उनके प्राण नष्ट नहीं हुए । यह मैंने अपने पूर्व कर्मोंका वृत्तान्त तुमसे कहा । इस जन्मके पीछे मैं स्वर्गको जाऊंगा । (६ – ९)

ब्राह्मण बोला, हे महाभाग ! इसी प्रकारसे मनुष्योंको सुख और दुःख प्राप्त होता है, इसालिये दुःख मत करो । पूर्व जन्मके स्मरण रखनेवाले तुमने यह दुष्कर कर्म किया है; हे लोकके वृत्तांतको जाननेवाले! हे धर्मपरायण! इन सब कर्मोंके दोषोंको इस योनिमें भोगकर फिर

कंचित्कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ॥१२॥
सांप्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः ।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु ॥ १३ ॥
दांभिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत् ।
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ॥ १४ ॥
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ।
कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ॥ १५ ॥
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम ।
कर्तुमर्हसि नोत्कंठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः ।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥ १६ ॥
व्याध उवाच — प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १७ ॥
अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यंते चाऽल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥
गुणैर्भूतानि युज्यंते वियुज्यंते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ १९ ॥

द्विजयोनिमें जन्म होगा, मेरी बुद्धिमें इस समयभी तुम ब्राह्मण हो । जो ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न होकर नीच कर्म तथा दंभ करे वह विद्वान होनेपर भी अवश्यमेव शूद्र तुल्य है, और जो शूद्र इन्द्रिय निग्रह तथा सत्य धर्म करता हो तो उसे भी हम ब्राह्मण ही मानते हैं, शील से ही ब्राह्मण होता है । १०-१५

मनुष्य कर्मके दोषसे ही अच्छी और बुरी गतिको प्राप्त होता है; हे नरोत्तम! मैं तुमको दोष-रहित जानता हूं । तुम घबडाओ मत, तुम्हारे समान बुद्धिमान शोक नहीं करते हैं; जो लोग संसारकी गतिको जानते हैं और धर्म करते हैं, वे लोग कदापि शोक नहीं करते हैं । वह व्याध बोला, हे ब्राह्मण ! बुद्धिसे मनके दुःख और औषधोंसे शरीरके दुःख दूर करना चाहिये । यह जो ज्ञानकी शक्ति है सो मूर्खोंके समान नहीं हो सकती है । (१५—१७)

अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति और इष्ट वस्तुका विरह इन से अज्ञ पुरुषों का चित्त दुःखी होता है। सुखादि सत्वादि गुणोंका कार्य होनेके कारण इनका संयोग और वियोग सब प्राणियोंको अपरिहार्य है, इसीलिये शोक करना व्यर्थ है । जिस

अनिष्टं चाऽन्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।
ततश्च प्रतिकुर्वीत यदि पश्यंत्युपक्रमान् ॥ २० ॥
शोचतो न भवेत्किंचित्केवलं परितप्यते ।
परित्यजंति ये दुःखं सुखं वाऽप्युभयं नराः ॥ २१ ॥
त एव सुखमेधंते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यांति पंडिताः ॥ २२ ॥
असंतोषस्य नास्त्यंतस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचंति गताध्वानः पश्यंतः परमां गतिम् ॥ २३ ॥
न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ २४ ॥
यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥ २५ ॥
अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
नहि निर्वेदमागम्य किंचित्प्राप्नोति शोभनम् ॥ २६ ॥
अथाऽप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाऽव्यसनी भवेत् ॥ २७ ॥

कर्ममें हानि दीखती है, पुरुष उससे शीघ्रही विरक्त हो जाता है; यदि उसका कुछ उपाय दीख पडता है, तो उसका उपाय करने लगता है, सोचसे कुछ नहीं होता है, केवल पुरुषको दुःख ही होता है। जो ज्ञानीलोग दुःख और सुख दोनोंको छोड देते हैं, वेही ज्ञानसे तृप्त होकर सुखको भोगते हैं; वेही लोग पण्डित कहाते हैं। (१८—२२)

जो लोग सन्तोष नहीं करते हैं, वे लोग मूर्ख हैं, और पण्डित लोग वे हैं जो नित्य संतोषी हैं। असन्तोषका अन्त नहीं है, इस लिये सन्तोषही परम सुख है। जो लोग ज्ञान मार्गसे चलकर अपने स्थानको देखते हैं, उनको सोच नहीं होता है। पुरुषको कभी खेद नहीं करना चाहिये, क्योंकि खेदही बडा भारी विष है खेद मूर्ख पुरुषोंको इस प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे क्रोधी सर्प बालकको काट खाता है; पराक्रम करनेका समय आनेसे जिसको खेद हुआ, वह तेजसे हीन होजाता है; तब पुरुषार्थ नहीं कर सकता है। (२२-२५)

जो कर्म किया है, उसका फल अवश्य होता है, केवल सोच होनेसे किस धर्मसे पुरुष छूटता नहीं है। यदि किसी

भूतेष्वभावं संचिंत्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचंति कृतप्रज्ञाः पश्यंतः परमां गतिम् ॥ २८ ॥
न शोचामि च वै विद्वन्कालाकांक्षी स्थितो ह्यहम् ।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन्नवसीदामि सत्तम ॥ २९ ॥
ब्राह्मण उवाच – कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव ।
नाऽहं भवंतं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ॥ ३० ॥
आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ॥ ३१ ॥
मार्कंडेय उवाच–– बाढमित्येव तं व्याधः कृतांजलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ॥ ३२ ॥
स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुसंशितः ॥ ३३॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ३४ ॥

दुःखका उपाय दिखाई भी दे, तो पुरुष विना सोचेही उसको करने लगता है। यदि वह सिद्ध न हो, तो कुछ उसमें दुःख नहीं करे। जो पण्डित लोग बुद्धिके पार हो गये हैं, वे बीते हुए कामको ऐसेही होनेवाला मानते हैं। फिर पण्डित लोग कुछ सोच नहीं करते हैं, क्योंकि वे लोग परम गतिको देखते हैं। हे पण्डित ! हमभी कुछ सोच नहीं करते हैं, क्योंकि हम समयको देखते हुए यहां स्थित हैं। हे ब्राह्मण ! हम इन्हीं सब कारणोंको देखकर कुछ सोच नहीं करते हैं। (२६—२९)

ब्राह्मण बोला, हे व्याध ! हम तुम्हारा कुछ सोच नहीं करते हैं; क्योंकि तुम बुद्धिमान और पण्डित हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत उत्तम है तुम ज्ञानसे भरे और धर्मको जाननेवाले हो। हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम सावधान होकर धर्म करो, हम अब जानेकी आज्ञा मांगते हैं; धर्म तुम्हारी रक्षा करे, हमको आज्ञा दो। (३०–३१)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, व्याधने हाथ जोडकर ब्राह्मणसे कहा, कि बहुत अच्छा। अनन्तर ब्राह्मण व्याधकी प्रदक्षिणा करके चल दिये। वहांसे जाकर उस ब्राह्मणने माता और पिताकी प्रदक्षिणा करी और माता पितानेभी उसकी उचित प्रशंसा करी। हे युधिष्ठिर! हे धर्म जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! हे तात !

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन्धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ॥ ३६ ॥
सुखश्राव्यतया विद्वन्मुहूर्त इव मे गतः ।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवञ्छृण्वानो धर्ममुत्तमम्॥३७॥[८६७९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कंडेयमिदं तदा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथमग्निर्वनं यातः कथं चाऽप्यंगिराः पुरा ।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ॥ २ ॥
अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वं चाऽस्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन्सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥
कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाऽग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च संभूतो गंगायां कृत्तिकासु च ॥ ४ ॥

तुमने जो हमसे पूछा था, सो सब धर्म हमने तुमसे कहा; हमने पतिव्रताका माहात्म्य ब्राह्मणका कर्म और पिता, माता की सेवा तुमसे कही;यह सब धर्म व्याधने ब्राह्मणसे कहा था । (३२–३५)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे सब धर्मोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! हे मुनिवर ! आपने हमसे परम अद्भुत वृत्तान्त कहा! यह वृत्तान्त बहुतही अच्छा था; इससे यह समय मुझको मुहूर्तके समान व्यतीत हो गया, और मैं धर्म सुनकर तृप्त नहीं हुआ । ३६—३७) [८६७९]

वनपर्वमें दोसौ सोलह अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ सतरह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! इस धर्मकी कथाको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने फिर मार्कण्डेय मुनिसे पूंछा । महाराज युधिष्ठिर बोले, हे महर्षि ! पहले समयमें अग्नि देवता किस प्रकार वनमें गये थे ? और महा तेजस्वी अङ्गिराने किस प्रकारसे अग्निके नष्ट होने पर अग्नि होकर यज्ञोंकी आहुतिको भाग किया था ? हे भगवन् ! अग्नि तो एकही है, फिर वह अनेक कर्मोंमें अनेक कैसे हो जाते हैं, हम इस कथाको सुनना चाहते हैं। हम कार्त्तिकेयकी उत्पत्ति

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम ।
कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ॥ ५ ॥

मार्कंडेय उवाच — अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ॥ ६ ॥
यथा च भगवानग्निः स्वयमेवांऽगिराऽभवत् ।
संतापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥ ७ ॥
पुरांऽगिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम् ।
आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन् ॥
तथा स भूत्वा तु तदा जगत्सर्वं व्यकाशयत् ॥ ८ ॥
तपश्चरंस्तु हुतभुक् संतप्तस्तस्य तेजसा ।
भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किंचित्प्रजज्ञिवान् ॥ ९ ॥
अथ संचिंतयामास भगवान्हव्यवाहनः ।
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा संप्रकल्पितः ॥ १० ॥
अग्नित्वं विप्रणष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः ।
कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिंत्य सः ॥ ११ ॥

सुनना चाहते हैं। वे शिवके पुत्र किस प्रकारसे हुए, और कैसे अग्निके पुत्र हुए ? उनको गङ्गा और कृत्तिकाने किस प्रकार उत्पन्न किया ? हे भृगुकुलश्रेष्ठ ! हे महामुनि ! हमें इन सब कथाओंके सुननेकी बहुत इच्छा है, आप यथार्थ रूपसे कहिये। (१–५)

श्रीमार्कंडेय मुनि बोले, हे महाराज ! पण्डित लोग इसी स्थान पर इस पुरानी कथाका उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार अग्नि क्रोधित होकर तप करनेके लिये वनको चले गये थे, जिस प्रकार भगवान अङ्गिरा आपही अग्नि हो गये थे और जिस प्रकार उन्होंने अग्नि होकर अपने तेजसेसब जगतके अन्धकारको नाश किया था, सो सब कथा हम आपसे कहते हैं। (६–७)

हे महाबाहो पहले समयमें महाभाग अङ्गिरा मुनिने अपने आश्रमपर बैठकर अग्निकी घोर तपस्या की थी। अनन्तर अङ्गिराभी अग्निके स्वरूप हो गये, उनके तेजसे सब जगतमें प्रकाश हो गया ! अङ्गिराकी तपस्याके तेजसे अग्निको बहुत दुःख होने लगा; इससे तेजस्वी अग्नि बहुत मलिन होगये और कोई काम न कर सके; तब भगवान अग्निने विचारा, कि ब्रह्माने सब लोकोंके निमित्त नवीन अग्नि बनाई है, और तपस्या

अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयंतं महामुनिम् ।
सोपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाऽङ्गिराः ॥ १२ ॥
शीघ्रमेव भवस्वाऽग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः ।
विज्ञातश्चाऽसि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ १३ ॥
त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः ।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥ १४ ॥

अग्निरुवाच—— नष्टकीर्तिरहं लोके भवाञ्जातो हुताशनः ।
भवंतमेव ज्ञास्यंति पावकं न तु मां जनाः ॥ १५ ॥
निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव ।
भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥ १६ ॥

अंगिरा उवाच— कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाऽग्निस्तिमिरापहः ।
मां च देव कुरुष्वाऽग्ने प्रथमं पुत्रमंजसा ॥ १७ ॥

मार्कंडेय उवाच-— तच्छ्रुत्वाऽङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तदाऽकरोत् ।
राजन्बृहस्पतिर्नाम तस्याऽप्यंगिरसः सुतः ॥ १८ ॥

करते करते हमसे तेज नष्ट हो गया; अब हम कैसे अग्नि हों । (८–११)

फिर अग्निने दूसरी अग्निके समान जगतको तपानेवाले महामुनि अङ्गिराको देखा ! अनन्तर भगवान अग्नि डरते डरते और धीरे धीरे अङ्गिरा मुनिके पास गये; तब अङ्गिराने अग्निसे कहा, कि तुम पुनः शीघ्रही अग्नि हो जाओ, क्योंकि तुम तीनों लोकमें विख्यात हो । हे अन्धकार नाश करनेवाले ! प्रथम कालमें ब्रह्माने तुमहीको अन्धकार नाशक अग्नि बनाया था, इससे तुमही पुनः अग्नि हो जाओ । (१२–१४)

अग्नि बोले, हे महामुने ! जगत्में मेरी कीर्त्ति नष्ट हो गई है और तुम अग्नि हो गये हो, इससे जगतके सर्व पुरुष तुमहीको अग्नि जानेंगे, मुझको नहीं । हम तुमको अग्नि शक्ति देते हैं, तुम प्रथम अग्नि अर्थात् सूत्रात्मा बनो । हम दूसरी अग्नि अर्थात् विराट् होंगे । (१५–१६)

अङ्गिरा बोले, हे अग्नि ! तुम पुण्य करो, और तिमिरापहारी प्रजाओंको स्वर्गप्राप्तिके लिये हव्यकव्यवाही अग्नि हो जाओ और मुझको अपना प्रथम पुत्र बनाओ । (१७)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! अङ्गिराके ऐसे वचन सुन अग्निने वैसाही किया । अङ्गिराको भी बृहस्पति नामक पुत्र हुआ, इस अंगिरा

ज्ञात्वा प्रथमजं तं तु वह्नेरांगिरसं सुतम् ।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥ १९ ॥
स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत् ।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद्वचोऽगिरसस्तदा ॥ २० ॥
तत्र नानाविधानग्नीन्प्रवक्ष्यामि महाप्रभान् ।
कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान्नानार्थान्ब्राह्मणेष्विह ॥ २१ ॥ [८५९९

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१७ ॥

मार्कंडेय उवाच —ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्याऽभवत्सुभा भार्या प्रजास्तस्यां च मे शृणु ॥ १ ॥
बृहत्कीर्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मंत्रो बृहद्भासस्तथा राजन्बृहस्पतिः ॥ २ ॥
प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाऽप्रतिमाऽभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमांऽगिरसः सुता ॥ ३ ॥
भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाऽभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयांऽगिरसः सुता ॥ ४ ॥
यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।

के पहिले पुत्रको उत्पन्न हुए जान कर सब देवतोंने वहां आके उस का कारण पूछा । अनन्तर उन्होंने देवतोंसे सब कारण कह सुनाया; देवतोंने आंगिराका वह सब वचन ग्रहण किया । अब ब्राह्मणोंमें कहे हुए अनेक तेजोंसे युक्त नानाविध अग्नि मैं कहूंगा जिनसे कि विविध कर्म सिद्ध होते और अनेक फल मिलते हैं। (१८ – २१) [८५९६]

वनपर्वमें दोसौ सतरह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ अठारह अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे कुरुकुल-नन्दन ! ब्रह्माके जो तीसरे पुत्र अङ्गिरा हैं, उनकी सुभा नामी भार्या थी; उसकी सन्तानकी कथा सुनिये । (१)

उनके पुत्रोंके नाम ये हैं- बृहत्कीर्ति, बृहज्ज्योति, बृहद्ब्रह्मा, बृहन्मना, बृहन्मन्त्र, बृहद्भास और बृहस्पति । इन सब सन्तानोंमें एक भानुमती नामक कन्या बडी सुन्दरी हुई। वह अङ्गिराकी प्रथम पुत्री थी । और अङ्गिराकी दुसरी पुत्रीका नाम रागा हुआ । सब जगतके जन्तुओंने उससे बहुत अनुराग किया, इससे उसका नाम रागा हुआ । जगतके पुरुष जिसको शिवकी पुत्री कहते हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण दृश्य

तनुत्वात्सा सिनीवाली तृतीयाऽङ्गिरसः सुता ॥ ५ ॥
पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठीमंगिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ॥ ६ ॥
महामखेष्वांगिरसी दीप्तिमत्सु महामते ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥ ७ ॥
यां तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमंगिरसः सुताम् ॥ ८ ॥ [८६०४]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्यानेऽष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

मार्कंडेय उवाच— बृहस्पतेश्चांद्रमसी भार्याऽऽसीद्या यशस्विनी ।
अग्नीन्साऽजनयत्पुण्यान्षडेकां चापि पुत्रिकाम् ॥ १ ॥
आहुतिष्वेव यस्याऽग्नेर्हविषाऽऽज्यं विधीयते ।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाव्रतः ॥ २ ॥
चातुर्मास्येषु यस्येष्ट्यामश्वमेधेऽग्रजः पशुः ।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥
शंयोरप्रतिमा भार्या सत्यासत्याऽथ धर्मजा ।

और अदृश्य हैं, उसका नाम सिनीवाली है, वह अङ्गिराकी तीसरी पुत्री है। २-५

जो अपनी किरणोंसे सबको देखती है, उस चौथीका नाम अर्चिष्मती है। जिसमें यज्ञकी आहुति पाकर देवता लोक प्रसन्न होकर सन्तुष्ट होते हैं, उनकी उस पांचवीं कन्याका नाम हविष्मती है; अङ्गिराकी छठीं कन्याका नाम महिष्मती है; उसीका नाम यज्ञोंमें आङ्गिरसी भी है। हे महामते! अङ्गिराके सातवीं कन्याका नाम महामती है। जिसको देख कर जगतके मनुष्य विस्मित हो जाते हैं, जिसमें चन्द्रमाका कुछ अंश नहीं रहता, अङ्गिराके उस आठवीं पुत्रीका नाम कुहू है। (६-८) [८६०४

वनपर्वमें दोसौ अठारह अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ उन्नीस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे महाराज युधिष्ठिर! बृहस्पतिकी जो चान्द्रमसी यशस्विनी स्त्री थी, उससे छः अग्नि पुत्र उत्पन्न हुए। यज्ञोंकी आहुतिमें जिस अग्निका नाम पहले लिया जाता है, वह महाव्रत अग्नि बृहस्पतिका पुत्र है; उसका नाम शंयु है, चातुर्मास्य और अश्वमेध यज्ञोंमें जिसके निमित्त पशु दिया जाता है, जो अनेक जलती हुई ज्वालाओंसे प्रकाशमान होता है जो वही एक अग्नि बलवान है। शंयूकी असाधारण

अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ॥ ४ ॥
प्रथमेनाऽऽज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे ।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते ॥ ५ ॥
पौर्णमासेषु सर्वेषु हविषाऽऽज्यं स्रुवोद्यतम् ।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः ॥ ६ ॥
तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः ।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका ॥ ७ ॥
भरतो भरतस्याऽग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः ।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम ॥ ८ ॥
भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरस्य पिंडदा ।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः ॥ ९ ॥
हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते ।
रथप्रभूरथाध्वानकुंभरेताः स उच्यते ॥ १० ॥
शरय्वां जनयत्सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत् ।
आग्नेयमानयन्नित्यमाह्वाने ह्येष सूयते ॥ ११ ॥

स्त्री थी, जो धर्मसे उत्पन्न हुई थी, उसका नाम सत्यासत्या था, और दीप्त अग्नि उसका पुत्र हुआ और तीन उत्तम व्रत धारण करनेवाली कन्या हुईं, जो अग्नि यज्ञोंमें पहिले आज्यभाग से पूजा जाता है, उस के पहिले पुत्रका नाम भरद्वाज है ।(१—५)

जो सब पूर्णमास यज्ञोंमें स्रुवासे आहुति पाता है, उस अग्निका नाम भरत है; वह शंयूका दूसरा बेटा है । उसकी और भी तीन कन्या हैं' उन तीनोंसे भरत ज्येष्ठ है। भरतका भरतनामक पुत्र और भरती नामक एक कन्या है। हे भरतसत्तम ! पोषण करने वाला, प्रजाधिपति भरत-नामक अग्निका पावक संज्ञक पुत्र है; वह सबसे बडा है । भरद्वाजकी स्त्रीका नाम वीरा है, वह वीर नामक अग्निकी माता है । ब्राह्मण लोग उसकी पूजा चन्द्रमाके समान आज्य तूष्णीं मंत्र पढकर करते हैं । जो घीसे दूसरे चन्द्रमाके संग पूजा जाता है, वह वीरसंज्ञक अग्नि है । उसके अन्य नाम रथ,प्रभु,रय, और कुम्भरेता है ।(६—१०)

उस वीर संज्ञक भरद्वाज पुत्रकी स्त्रीका नाम शरयु है,उसके पुत्रका नाम सिद्धि है, उसने अपने तेजसे सूर्यको छिपा लिया, वह आग्नेय कर्मोंको प्राप्त करता है, महात्मा लोग इसका आह्वान करते

यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया ।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम् ॥ १२॥
विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चाऽर्चिषा ज्वलन् ।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयधर्मकृत् ॥ १३ ॥
आक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम् ।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेवितं ॥ १४ ॥
अनुकूजंति येनेह वेदनार्ताः स्वयं जनाः ।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः ॥ १५ ॥
यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति ।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ॥ १६ ॥
अंतराग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम् ।
स यज्ञे विश्वभुङ्नाम सर्वलोकेषु भारत ॥ १७ ॥
ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः ।
ब्राह्मणाः पूजयंत्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ॥ १८ ॥
पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याऽभवत्प्रिया ।
तस्मिन्कर्माणि सर्वाणि क्रियंते धर्मकर्तृभिः ॥ १९ ॥

हैं; जो कभी तेज, यश और लक्ष्मीसे नष्ट नहीं होता, जो सदा केवल पृथ्वीही की स्तुति करता है, उस अग्निका नाम निश्च्यवन है; जो सब पापोंसे रहित पवित्र और समयके अनुसार धर्म करने वाला है, जो अपनी पवित्र ज्वालाओंमें जलता रहता है, वह विपाप नामक अग्नि उसका पुत्र है; जो रोते हुए पुरुषोंको दुःखोंसे छुडाता है उस अग्निका नाम निष्कृति है, वह सदा ही शोभायमान रहता है; जिससे रोगी लोग आपही शब्द करते रहते हैं, उस अग्निका नाम स्वन है और वह पूर्वोक्त अग्निका पुत्र है, उससे सब रोग उत्पन्न होते हैं। (११-१५)

जो अग्नि सब जगतके पुरुषोंकी बुद्धिको अपने वशमें रखता है, विद्वान लोग उसका नाम विश्वजित बतलाते हैं; हे भारत ! जो अग्नि सब प्राणियों के अन्तरमें रहती है, जिससे सब भोजन पचता है, उसका नाम विश्वभुक् है, इस अग्निको ब्रह्मचारी, व्रतधारी ब्राह्मण लोग सदाही पाकयज्ञमें पूजते हैं; इसकी प्यारी स्त्री पवित्र गोमती नामक नदी है, उसीमें सब धर्म करनेवाले लोग कर्म करते हैं; जो परम दारुण अग्नि है,

वडवाग्निः पिबत्यंभो योऽसौ परमदारुणः ।
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु यः ॥२०॥
उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते ।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमः स्मृतः ॥ २१ ॥
यः प्रशांतेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः ।
क्रुद्धस्य तु रसो जज्ञे मन्ये तां चाऽथ पुत्रिकाम् ॥२२ ॥
स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति ।
त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन ।
अतुलत्वात्कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ॥ २३ ॥
संहर्षाद्धारयन्क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः ।
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः ॥ २४ ॥
उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः ।
महावाचं त्वजनयत्समाश्वासं हि यं विदुः ॥ २५ ॥ [८६२९]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसोपाख्याने एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१९ ॥

मार्कंडेय उवाच — काश्यपो ह्यथ वासिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः ।
अंगिरांगिरसश्चैव च्यवनस्त्रिषु वर्चकः ॥ १ ॥

जो समुद्रको पीता है उसका नाम वडवाग्नि है, जो प्राण नामक अग्नि ऊपरको जाती है, कवियोंने उसका नाम ऊर्ध्व भाक् रक्खा है। (१९ – २०)

जिसके निमित्त उत्तरदिशामें बलि दी जाती है, जिससे हवन सफल होता है, उसका नाम स्विष्टकृत् है: जो अग्नि शान्त पुरुषोंमें क्रोध रूप होकर वसती है, जो क्रोधी पुरुषोंमें पसीना रूप होकर वसती है, हम जानते हैं, कि वह पूर्वोक्त अग्निकी कन्या है, वह बडी दारुण है उसका नाम स्वाहा है। स्वर्गमें जिसके समान रूपवान कोई नहीं है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती है, उस अग्निका नाम काम है। जो अग्नि रथपर चढकर माला पहनकर और धनुष धारण करके सब शत्रुओंको नाश करती है उस का नाम अमोघ है। जिस की स्तुति तीन उच्च पदोंसे करी जाती है, उस महाभाग अग्निका नाम उक्थ है, उसीसे महा काव्य उत्पन्न हुए हैं ओर उसीको समाश्वास कहते हैं। (२१–२५)

वनपर्वमें दोसौ उन्नीस अध्याय समाप्त। ८६२९

वनपर्वमें दोसौ वीस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! काश्यप वासिष्ठके पुत्र, प्राणके

अचरत्स तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेयं धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ॥ २ ॥
महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पंचभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजो महार्चिष्मान्पंचवर्णः प्रभावनः ॥ ३ ॥
समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा ।
त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जंघे च भारत ॥ ४ ॥
पंचवर्णः स तपसा कृतस्तैः पंचभिर्जनैः ।
पांचजन्यः श्रुतो देवः पंचवंशकरस्तु सः ॥ ५ ॥
दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत्पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥
बृहद्रथंतरं मूर्ध्नो वक्त्राद्वातरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिंद्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥७ ॥
बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान्सृष्ट्वा ततः पंच पितॄणामसृजत्सुतान् ॥ ८ ॥

पुत्र प्राण, अङ्गिरा और च्यवन नामसे प्रसिद्ध अग्नि तथा शरीर, प्राण और परमात्मा इन तीन रूपोंसे स्थित तेजस्वी उक्थ इन पांचोंने पुत्रके लिये कई सौ वर्षोंतक घोर तप किया; उन्होंने कहा, कि हमको ऐसा धार्मिक पुत्र हो, जो यशमें ब्रह्माके समान हो; जब उन्होंने महा व्याहृतियोंसे ब्रह्माका ध्यान किया, उसी समय पांच वर्णवाला महा तेजस्वी एक तेज उत्पन्न हुआ । हे भारत! उसका सिर अग्निके समान, हाथ सूर्यके समान, त्वचा और नेत्र स्वर्णके समान और उसकी जङ्घा काली थी । उन पांचोंने अपने तपके बलसे उस बालकको पांच रंगका बनाया, इसलिये उस बालक का नाम पाञ्चजन्य रखना पडा उससे पांच वंश चले । (१— ५)

उसने दस हजार वर्ष घोर तप किया और प्रजा उत्पन्न करने वाले उसीने अपने तपसे पितरों का घोर अग्नि (दाक्षिणाग्नि) तथा शिरसे बृहद्रथ, मुखसे रथन्तर जो दो प्राणियोंके आयुष्य हरने वाली दिनरात्र्यभिमानी हैं, उसको उत्पन्न किया । नाभिसे शिव, बलसे इन्द्र, प्राणसे वायु और अग्निको उत्पन्न किया । हाथोंसे उदात्त और अनुदात्त स्वर और मन आदि इन्द्रियों और पंच महाभूतोंको उत्पन्न किया, इन सबके पश्चात् पितरोंके पांच पुत्रोंको उत्पन्न किया । (६--८)

बृहद्रथस्य प्राणिधिः काश्यपस्य महत्तरः ।
भानुरंगिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥
प्राणस्य चाऽनुदात्तस्तु व्याख्याताः पंचविंशतिः ।
देवान्यज्ञमुषश्चाऽन्यान्सृजन्पंचदशोत्तरान् ॥ १० ॥
सुभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान्यज्ञमुषः पंच देवानां ह्यसृजत्तपः ॥ ११ ॥
सुमित्रं मित्रवंतं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान्देवानभ्यसृजत्तपः ॥ १२ ॥
सुरप्रवीरं वीरं च सुरेशं च सुवर्चसम् ।
सुराणामपि हंतारं पंचैतानसृजत्तपः ॥ १३ ॥
त्रिविधं संस्थिता ह्येते पंच पंच पृथक्पृथक् ।
मुष्णंत्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ॥ १४ ॥
तेषामिष्टं हरंत्येते निघ्नंति च महद्धविः ।
स्पर्धया हव्यवाहानां निघ्नंत्येते हरंति च ॥ १५ ॥
बहिर्वेद्यां तदादानं कुशलैः संप्रवर्तितम् ।
तदेते नोपसर्पंति यत्र चाऽग्निः स्थितो भवेत् ॥ १६ ॥
चिताग्नेरुद्वहन्नाज्यं पक्षाभ्यां तत्प्रवर्तिते ।

उन पांचमेंसे बृहद्रथका प्रणिधी, काश्यपका महत्तर, अङ्गिराका धैर्यवान् भानु और वर्चका सौभर पुत्र हुआ । प्राणके अनुदात्त ये सब पच्चीस पुत्र हुए और उन्होंने पन्द्रह यज्ञोंके नाश करनेवाले देव उत्पन्न किये । तपःसंज्ञक पांचजन्यने पांच पुत्र उत्पन्न किये । उन पांचोंके ये नाम हैं, सुभीम, अतिभीम, भीमबल, भीम, अबल येही पांच यज्ञोंको नाश करनेवाले हैं । (९—११)

सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्द्धन और मित्रधर्मा, इन पांच देवतोंको भी तप ने ही बनाया है; सुरप्रवीर, वीर, सुरेश, सुवर्चस और सुरहन्ता इन पांचोंकोभी तप ने बनाया । ये सब पांच पांच मिलकर तीन स्थानोंमें अलग अलग रहने लगे । ये सब लोग स्वर्गहीमें बैठे यज्ञोंका भोग करते हैं; वे लोग उनके इष्ट कार्योंको नाश करते हैं और ये लोग अग्निकी स्पर्धासे सब यज्ञोंके हविको नष्ट करते हैं और खा जाते हैं। १२—१५

तब चतुर लोग वेदीके बाहर दान देने लगे; इसी कारणसे ये लोग उस वेदीमें नहीं जाते हैं; चयन याग करने

मंत्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णंति यज्ञियम् ॥ १७ ॥
बृहदुक्थतपस्यैव पुत्रो भूमिमुपाश्रितः ।
अग्निहोत्रे हूयमाने पृथिव्यां सद्भिरिज्यते ॥ १८ ॥
रथंतरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते ।
मित्रविंदाय वै तस्य हविरध्वर्यवो विदुः ॥ १९ ॥
मुमुदे परमप्रीतः सहपुत्रैर्महायशाः ॥ २० ॥ [८६४९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यां-
गिरसोपाख्याने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

मार्कण्डेयउवाच — गुरुभिर्नियमैर्जातो भरतो नाम पावकः ।
अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति ।
भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ॥ १ ॥
अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च सः ।
दुःखार्तानां च सर्वेषां शिवकृत्सततं शिवः ॥ २ ॥
तपसस्तु फलं दृष्ट्वा संप्रवृत्तं तपो महत् ।
उद्धर्तुकामो मतिमान्पुत्रो जज्ञे पुरंदरः ॥ ३ ॥

वाले यजमानका हविर्द्रव्यसे युक्त शक-टसे ये हविर्द्रव्यको लेकर ऊर्ध्व जाते हैं; जब रक्षोघ्न मन्त्रोंसे इनकी शान्ति कर दी जाती है, तब ये लोग यज्ञोंको नाश नहीं करते हैं। तपका पुत्र बृहदु-क्थ भूमिमें रहता है अग्निहोत्रके प्रारं-भमें ब्राह्मण लोग उसकी पूजा करते हैं; तपका पुत्र रथन्तर जिसे विराट अग्नि कहते हैं; उस मित्रविंदको यज्ञ कर्त्ता लोग हवि कहते हैं; इन पुत्रोंके सहित महा यशस्वी तब बहुत प्रसन्न हुए। १६--२०

वनपर्वमें दोसौ बीस अध्याय समाप्त। [८६४९]

वनपर्वमें दोसौ इक्कीस अध्याय

श्रीमार्कंडेय मुनि बोले, बडे भारी नियमोंसे शंयुका पौत्र भरत नामकी अग्नि उत्पन्न हुई। वह सन्तोष को प्राप्त होनेसे पुष्टिको देती है इस लिये इसका नाम पुष्टिमति है और सब प्रजाका भरण पोषण करती है, इससे इसका नाम भरत है। जो शिव नामकी अग्नि है, वह चित् शक्ति की पूजा में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में तत्पर रहता है और दुःखितोंके सब दुःखों को दूर करके कल्याण करता है। इससे इसका नाम शिव है, तप नामक अग्नि के बडे भारी फलको देखकर वह प्राप्त करने के लिये तप करने लगे, तब उसके पुरन्दर नामक पुत्र उत्पन्न हुए। (१—३)

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतस्य लक्ष्यते ।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥ ४ ॥
शंभुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ॥ ५ ॥
ऊर्जस्करान्हव्यवाहान्सुवर्णसदृशप्रभान् ।
ततस्तपो ह्यजनयत्पंच यज्ञसुतानिह ॥ ६ ॥
प्रशांतेऽग्निर्महाभाग परिश्रांतो गवां पतिः ।
असुराञ्जनयन्घोरान्मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ॥ ७ ॥
तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाऽप्यंगिराः सृजत् ।
बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥
भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्यजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्राञ्छृणु तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥
दुर्बलानां तु भूतानामसून्यः संप्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥
यः प्रशांतेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ॥ ११ ॥

उष्मा नामक अग्नि तपसे ही उत्पन्न हुआ है, वह ही प्राणियोंमें दीखता है। मनु नामक अग्निने तपका प्राजापत्य किया। वेदको जाननेवाले ब्राह्मण लोग अग्निको शंभु कहते हैं। जलती हुई अग्निको ब्राह्मण लोक आवसथ्य कहते हैं, तप नामक अग्निके पांच अग्निरूप पुत्र उत्पन्न हुए; वे सब महातेजस्वी तपसे स्वर्णके समान रूपवान यज्ञोंके सोमभागको पाने योग्य थे; जब अस्त-के समयमें सूर्यभी थक गये और अग्नि-स्वरूप हो गये, तब भयानक असुर और अनेक भांतिके मनुष्य उत्पन्न हुए वहभी तपसे ही उत्पन्न हुए; तपके पुत्र मनु और भानु को अङ्गिराने बनाया। वेदपाठी ब्राह्मण उसको बृहद्भानु कहते हैं। (४—८)

भानुकी सुप्रजा और सूर्योत्पन्न बृहद्भासा इन दो स्त्रियोंको छः पुत्र उत्पन्न हुए। उनका उत्पत्ति प्रकार सुनो, दुर्बल मनुष्योंको जो शक्ति देता है, उस भानुके पहिले पुत्र अग्निको बल देनेवाला कहते हैं; तथा जो शांतिको प्राप्त होनेवाले मनुष्यों के हृदयमें भयंकर क्रोध रूपसे उत्पन्न होता है, उसका नाम मन्युमान है और वह भानुका दूसरा पुत्र है। पूर्णमासी और

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽङ्गिराः ॥१२॥
इंद्रेण सहितं तस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।
अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवाऽन्वयस्तु सः ॥ १३ ॥
चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रहः ।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवाऽन्वयः स्तुभः ॥ १४ ॥
निशा त्वजनयत्कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा ।
मनोरेवाऽभवद्भार्या सुषुवे पंच पावकान् ॥ १५ ॥
पूज्यते हविषाग्र्येण चातुर्मास्येषु पावकः ।
पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥
अस्य लोकस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपच्यते ।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ॥ १७ ॥
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमस्तु सः ।
कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ॥१८॥
कर्मणाऽसौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः ।
प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्त्तयति देहिनाम् ॥ १९ ॥

अमावसके दिन जिसमें यज्ञ किया जाता है, उस अग्निका विष्णु, धृतिमान और अङ्गिरा नाम है । (९–१२)

इन्द्रके सहित जिसको आग्रयण नामक आहुति दी जाती है उस अग्निको आग्रयण कहते हैं; वह भी भानुकाही पुत्र है, चातुर्मास्य यागमें हविके उत्पत्ति स्थान तथा जो ग्रह रहित है वह अग्नि अपने चार पुत्रोंके साथ भानुकेही पुत्र हैं । तथा स्तुभ ही भानुका पुत्र है । अग्नि और चन्द्रमासे रात्रि नामक कन्या उत्पन्न हुई; वह कन्या मनुसे व्याही गई और उससे पांच पुत्र उत्पन्न हुए; जो चातुर्मास्य याग में पूजा जाता है, वह अग्नि पर्जन्यके साथ रहता है, उसका नाम वैश्वानर है वह मनुका प्रथम पुत्र है । मनुका दूसरा पुत्र विश्वपति नामक अग्नि है, वही इस जगतका स्वामी है, और जगत् का अन्नपरिपाक करता है । (१३–१७)

जिससे आज्य होम उत्तम होता है उसका नाम स्विष्टकृत् है वहभी मनुका ही पुत्र है । हिरण्यकशिपुकी रोहिणी नामक कन्या थी; वह कुछ कर्मसे भार्या हुई परंतु वास्तविक वह प्रजापति तथा अग्नि ही है । जो प्राणियोंके शरीरोंको प्राणोंके

तस्य सन्निहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ।
शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम् ।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्त्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥२०॥
कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्त्तकः ॥ २१ ॥
अग्रं यच्छंति भूतानां येन भूतानि नित्यदा ।
कर्मस्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वह्निरुच्यते ॥ २२ ॥
इमानन्यान्समसृजत्पावकान्प्रथितान्भुवि ।
अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्बणान् ॥ २३ ॥
संस्पृशेयुर्यदाऽन्योन्यं कथंचिद्वायुनाऽग्नयः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै शुचयेऽग्नये ॥ २४ ॥
दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै वीतयेऽग्नये ॥ २५ ॥
यद्यग्नयो हि स्पृश्येयुर्निवेशस्था दवाग्निना ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या तु शुचयेऽग्नये ॥ २६ ॥
अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।

आश्रयसे कर्ममें प्रवृत्त करता है, उसका नाम सन्निहित है, जो शब्दके रूपका ज्ञान देता है, जिसकी उपासनासे दो गति प्राप्त होती हैं; एक कृष्ण एक शुक्ल यह अग्नि निष्कलमष है और काम्यकर्मों को बनाती है, यह क्रोधके आश्रयमें रहता है। लोग जिसे कपिल और परम ऋषि कहते हैं,वह कपिल नामक अग्नि सांख्य योगका प्रवर्त्तक है। १८–२१

जिसे सब विचित्र कर्मोंमें सब मनुष्य आगे रखते हैं उन अग्निका नाम अग्रणी है। इन ऊपर लिखी अग्नियोंके सिवा और भी दूसरी दूसरी अग्नि पृथ्वीमें बुरे अग्निहोत्रोंके प्रायश्चित करनेको बनाई गई हैं; जब अग्नि वायुके योगसे परस्पर मिल जाय, तब शुचि नामक अग्निके उद्देश्यसे अष्टाकपाल पुरोडाश करना चाहिये; दक्षिणाग्नि जब दूसरी अग्निसे मिलती है तब वीतिसंज्ञक अग्निके उद्देश्यसे अष्टाकपाल पुरोडाश से इष्टि करनी चाहिये। (२२–२५)

जब स्वस्थानमें स्थित अग्नि कहीं बन के अग्निसे स्पृष्ट होजाय,तब अष्टाकपाल पुरोडाश से शुचिनामक अग्निके उद्देश्यसे इष्टी करनी चाहिये। यदि रजस्वला स्त्री अग्निहोत्रको स्पर्श करले तो अष्टाकपाल

इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वसुमतेऽग्नये ॥ २७ ॥
मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या सुरभिमतेऽग्नये ॥ २८ ॥
आर्तो न जुहुयादग्निं त्रिरात्रं यस्तु ब्राह्मणः।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या स्यादुत्तराग्नये ॥ २९ ॥
दर्शं च पौर्णमासं च यस्य तिष्ठेत्प्रतिष्ठितम्।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या पथिकृतेऽग्नये ॥ ३० ॥
सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पृशेदग्निहोत्रिकम्।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या चाऽग्निमतेऽग्नये ॥ ३१ ॥ [८६८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्थापर्वण्यां-
गिरसोपाख्याने एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

मार्कंडेय उवाच— आपस्य मुदिता भार्या सहस्य परमा प्रिया।
भूपतिर्भुवभर्ता च जनयत्पावकं परम् ॥ १ ॥
भूतानां साऽपि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम्।
आत्मा भुवनभर्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु ॥ २ ॥
महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः।

नामक पुरोडाशसे वसुमान नामक आग्निके लिये इष्टि करनी चाहिये। जब किसीको मरा हुआ सुने वा पशुओंका नाश होते देखे तो अष्टाकपाल पुरोडाश से सुरभिमान अग्नि के उद्देश्यसे इष्टि करनी चाहिये। यदि किसी दुःखके कारण ब्राह्मण तीन रात्रि तक होम न करें, तो अष्टाकपाल पुरोडाशसे उत्तराग्निके उद्देश्यसे इष्टि करनी चाहिये। दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि यदि नहीं हो, तो पथिकृत् अग्निके उद्देश्यसे अष्टा कपाल पुरोडाशसे इष्टि करे। यदि सौरीकी अग्नि अग्निहोत्रमें स्पृष्ट हो जाय तो अष्टाकपाल पुरोडाशसे अग्निमान् अग्नि के लिये इष्टि करे। (२६-३१)

वनपर्वमें दोसौ इक्कीस अध्याय समाप्त। [८६८०]

वनपर्वमें दोसौ बाईस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! जलमें जो सह नामक अग्नि रहती है, जो भूमि और अन्तरिक्षका स्वामी है, उसकी प्यारी स्त्रीका नाम मुदिता था, उसने अद्भुत नामक अग्निको उत्पन्न किया, उसी अग्निको सब जगतका जीवन कहते हैं; उसीका नाम आत्मा और भुवनभर्ता है, वह नाम ब्राह्मणोंके वंशमें प्रसिद्ध हुआ है, जो सब जगत्के बडे बडे जीवोंके स्वामी हैं, वही भगवान्

भगवान्स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥ ३ ॥
अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ॥ ४ ॥
अपां गर्भो महाभागः सत्वभुग्यो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते ॥ ५ ॥
दहन्मृतानि भूतानि तस्याऽग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ॥ ६ ॥
स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः ।
आयांतं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशाऽर्णवं भयात् ॥ ७ ॥
देवास्तत्रापि गच्छंति मार्गमाणा यथादिशम् ।
दृष्ट्वा त्वाग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः ।
अथ त्वं गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत्कुरुष्व मे ॥ ९ ॥
प्रेष्य चाऽग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ॥ १० ॥

अग्नि सब जगतमें घुमते हैं। जो गृह पति नामक अग्नि है वही सब यज्ञोंमें पूजी जाती है, वही अग्नि इस सब जगत की आहुतिको खाते हैं, वही महाभाग अग्नि सत्वके खानेवाली और महा अद्भुत है, वही अग्नि जलसे उत्पन्न हुई है; वह ही भूपति भुवनपति और महत्पति है। (१—५)

उस अद्भुत अग्निका पुत्र भरत हुआ; वह भरत सब मरे हुए शरीरोंको जलाता है और अग्निष्टोमादिक यज्ञमें स्थापित किया जाता है; वही अग्नि सबसे प्रथम है; देवता लोग उसीको ढूंढते हैं। जो अग्नि सबका प्रभु है, उसका नाम नियत है। जब नियतने अथर्वाको देखा, तब भयसे समुद्रमें घुस गये; तब देवता लोग सब ओर ढूंढते समुद्रमें भी गये। जब अग्निने अथर्वाको देखा तो ऐसे वचन बोले, हे वीर हम बहुत दुर्बल हैं तुम अबसे देवतोंकी आहुतियोंको भोजन करो, तुम ही आग्नित्व का स्वीकार करो, यह हमारा प्रिय कार्य है इसको तुम करो (६ – ९)

अग्नि अथर्वाको भेजकर दूसरे देश-को चले गये। उनके जानेका समाचार मछलियोंने कह दिया; तब अग्निने क्रोध करके मछलियोंको शाप दिया, कि तुम-को शरीरधारी अनेक प्रकारसे खायंगे।

भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ।
अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद्वचः ॥ ११ ॥
अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः ।
नैच्छद्वोढुं हविः सोढुं शरीरं चापि सोऽत्यजत् ॥ १२ ॥
स तच्छरीरं संत्यज्य प्रविवेश धरां तदा ।
भूमिं स्पृष्ट्वाऽसृजद्धातून्पृथक् पृथगतीव हि ॥ १३ ॥
पूयात्स गंधं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च ।
श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मरकतं तथा ॥ १४ ॥
यकृत्कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव बभुः प्रजाः ।
नखास्तस्याऽभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ॥ १५ ॥
शरीराद्विविधाश्चाऽन्ये धातवोऽस्याऽभवन्नृप ।
एवं त्यक्त्वा शरीरं च परमे तपसि स्थितः ॥ १६ ॥
भृग्वंगिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा ।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाऽऽप्यायितः शिखी ॥ १७ ॥
दृष्ट्वा ऋषिं भयाचापि प्रविवेश महार्णवम् ।
तस्मिन्नष्टे जगद्भीतमथर्वाणमथाऽऽश्रितम् ।

अनन्तर अग्निने अथर्वासे सब वृत्तान्त कह दिया; तब देवतोंने अग्निका हित चाहकर बहुत समझाया परन्तु अग्नि यज्ञकी आहुतियोंको ग्रहण न कर सके और अपने शरीरको छोड दिया । अग्नि अपने शरीरको छोड कर पृथ्वीमें घुस गये वहां जाकर उन्होंने सब धातुओंको अलग अलग उत्पन्न किया, अग्निके पीपसे गन्ध और तेज, हड्डियोंसे देवदारु, कफसे स्फटिक और पित्तसे मरकत मणी उत्पन्न हुई । (१०-१४)

यकृत् (तापतिल्ली) से काला लोहा उत्पन्न हुआ । इन काठ पाषाण और लोहसे प्रजा अनेक सुख पाने लगी । नाखूनसे अभ्रक और नसोंसे मूगें उत्पन्न हुए । हे राजन् ! अग्निके और शरीरोंसे अनेक धातु उत्पन्न हुई । इस प्रकार अग्निने शरीर छोडा और महा तपस्या करी । फिर भृगु और अङ्गिरा आदि ऋषियोंने बहुत तपसे अग्निको स्थिर किया । तब महा तेजस्वी अग्नि प्रज्वलित होकर उठे । जिस समय उन्होंने ऋषियोंको देखा, उसी समय समुद्रमें घुस गए; अग्निके नष्ट होतेही जगत भय से व्याकुल हो गया और सब अथर्वा की आश्रय करने लगे । उस समय

अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ॥ १८ ॥
अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनाऽऽलोक्य पावकम् ।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ॥ १९ ॥
एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा ।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ॥ २० ॥
एवं त्वजनयद्धिष्ण्यान्वेदोक्तान्विबुधान्बहून् ।
विचरन्विविधान्देशान्भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥ २१ ॥
सिंधुं नदं पंचनदं देविकाऽथ सरस्वती ।
गंगा च शतकुंभा च शरयू गण्डसाह्वया ॥ २२ ॥
चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा ।
ताम्रावती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ॥ २३ ॥
तमसा नर्मदा चैव नदी गोदावरी तथा ।
वेणोपवेणा भीमा च वडवा चैव भारत ॥ २४ ॥
भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा ।
तुंगवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ॥ २५ ॥
एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः ॥२६॥
अद्भुतस्य प्रिया भार्या तस्य पुत्रो विभूरसिः ।

देवतादिक लोगोंने भी अथर्वाकी पूजा की। (१५—१८)

अनन्तर अथर्वाने सब जगतके आगे समुद्रको मथा और अग्निको निकाल कर लोक उत्पन्न किये। इस प्रकारसे भगवान अथर्वाने नष्ट अग्निको पुनः जगतमें प्रकाशित किया। उसी दिनसे अग्नि पुनः जगतके सब यज्ञोंमें प्रकट होकर दी हुई आहुतियोंका स्वीकार करने लगी। इस प्रकार वेदोंमें कहे हुए अनेक प्रकारके अग्नि उसने उत्पन्न किये जो सब देशोंमें घूमते हैं, और वह अग्नि भी विविध देशोंमें घूमता है। १९-२१

सिन्धु, पंचनद, देविका सरस्वति, गङ्गा, शतकुंभा, शरयू, गण्डका, चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रवती, वेत्रवती, कौशिकी, तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेणा, उपवेणा, भीमा, वडवा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुंग-वेणा, कृष्णवेणा, कपिला और शोण, ये सब नदी उन देवतोंकी माता हैं। (२२-२६)

इस अद्भुत अग्निकी प्रियानामी स्त्री है; उनके जेठे पुत्रका नाम विभु है।

यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावंत एव तु ॥ २७॥
अत्रेश्चाऽप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसाः प्रजाः ।
अत्रिः पुत्रान्स्रष्टुकामस्तानेवाऽऽत्मन्यधारयत् ॥ २८ ॥
तस्य तद्ब्रह्मणः कायान्निर्हरंति हुताशनाः ।
एवमेते महात्मानः कीर्तितास्तेऽग्नयो मया ॥ २९ ॥
अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमंतस्तिमिरापहाः ।
अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्तितम् ॥ ३० ॥
तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येषु हुताशनः ।
एक एवैष भगवान्विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ॥ ३१ ॥
बहुधा निःसृतः कायाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा ।
इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्तितो मया ।
योऽर्चितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥ ३२ ॥[८७१२]

इति श्रीमहा० मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्यानेऽग्निसमुद्भवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२२॥

मार्कंडेय उवाच — अग्नीनां विविधा वंशाः कीर्तितास्ते मयाऽनघ ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्तिकेयस्य धीमतः ॥ १ ॥

हमने जितनी प्रकारकी अग्नि कही उतनेही सोमयज्ञ भी हैं ! अत्रिके वंशमें ब्रह्माको अग्निरूप मानस पुत्र उत्पन्न हुए हैं; जब अत्रिने पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा करी, तब उन्होंने अग्नियोंको अपने मनमें धारण किया । तब उस महात्मा ब्राह्मणके शरीरसे अग्नि उत्पन्न होने लगे । (२७—२९)

हे महाराज! हमने इस प्रकारसे आपसे इन सब महात्मा अग्नियोंका वर्णन किया । ये सब अनन्त श्रीमान और अन्धकारके नाश करनेवाले हैं; अद्भुत अग्निका महात्म्य वेदमें लिखा है । ऐसाही सब अग्नियोंका महात्म्य है । इन सबमें एकही प्रथम अग्नि है; उसीका नाम भगवान अंगिरा भी है; उसीसे अग्निष्टोम यज्ञके समान अनेक यज्ञ उत्पन्न हुए हैं । हमने यह अग्निका वंश तुमसे कहा; वही अग्नि अनेक मन्त्रोंसे पूजित होकर यज्ञमें मनुष्योंने दी हुई आहुतियोंको भोग करती हैं । (२९—३२) [८७१२]

वनपर्वमें दोसौ बाइस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें एकसौ तेईस अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे पापरहित युधिष्ठिर ! हमने तुमसे अग्निके अनेक वंशोंका वर्णन किया । अब हम बुद्धिमान स्वामी कार्तिकके जन्मका वर्णन करते

अद्भुतस्याऽद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम् ।
जातं ब्रह्मर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्तिवर्धनम् ॥ २ ॥
देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् ।
तत्राऽजयन्सदा देवान्दानवा घोररूपिणः ॥ ३ ॥
वध्यमानं बलं दृष्ट्वा बहुशस्तैः पुरंदरः ।
स सैन्यनायकार्थाय चिन्तामाप भृशं तदा ॥ ४ ॥
देवसेनां दानवैर्हि भग्नां दृष्ट्वा महाबलः ।
पालयेद्वीर्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥ ५ ॥
स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् ।
शुश्रावाऽऽर्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥ ६ ॥
अभिधावतु मां कश्चित्पुरुषस्त्रातु चैव ह ।
पतिं च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥ ७ ॥
पुरंदरस्तु तामाह मा भैर्नास्ति भयं तव ।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत्केशिनं स्थितमग्रतः ॥ ८ ॥
किरीटिनं गदापाणिं धातुमन्तमिवाऽचलम् ।

हैं, आप सुनिये । हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! जो अग्निके विचित्र पुत्र महा तेजस्वी स्वामी कार्त्तिक उत्पन्न हुए उनकी कथा हम कहते हैं । परम तेजस्वी, कीर्तिको बढाने वाले और ब्राह्मणभक्त कार्तिकेय ऋषियों की स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । (१-२)

पहले समयमें जब देवता और राक्षसोंका युद्ध हुआ था, तब घोर रूप दानवोंने देवतोंको जीत लिया । जब इन्द्रने अपनी सेनाको दानवोंसे मारता हुआ देखा तब सेनापतिके निमित्त बहुत चिन्ता करने लगे । इन्द्र विचारने लगे, कि मुझको कोई ऐसा सेनापति मिलना चाहिये, जो महापराक्रमी हो और जो देवतोंकी सेना को भागते देख अपने बलसे उसकी रक्षा कर सके । (३-५)

ऐसा विचार, इन्द्र मानस नामक पर्वतपर गए; वहां जाकर बहुत चिन्ता से इस प्रयोजनको विचारने लगे; उसी समय इन्द्रने एक रोती हुई स्त्रीका दीन शब्द सुना । वह कहती थी कि कोई पुरुष मेरी ओर आवे, मेरी रक्षा करे, मेरे निमित्त कोई पति बतावे या वह स्वयं ही मेरा पति हो । इन्द्रने उससे कहा कि तू कुछ मत डर; तुझे कोई भय नहीं है । अनन्तर इन्द्रने किरीट धारण किये, गदा हाथमें लिये, धातुमान् पर्वतके समान दीखनेवाले, एक

*

हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
अनार्यकर्मन्कस्मात्त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमाऽस्याः प्रबाधनात् ॥१०॥
केश्युवाच—विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया।
क्षमं ते जीवतो गंतुं स्वपुरं पाकशासन ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेंद्रवधाय वै।
तामापतंतीं चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः ॥ १२ ॥
अथाऽस्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत्।
तदाऽऽपतंतं संप्रेक्ष्य शैलशृंगं शतक्रतुः ॥ १३ ॥
बिभेद राजन्वज्रेण भुवि तन्निपपात ह।
पतता तु तदा केशी तेन शृंगेण ताडितः ॥ १४ ॥
हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद्भृशपीडितः।
अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत्।
काऽसि कस्याऽसि किंचेह कुरुषे त्वं शुभानने ॥१५॥[८७२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ केशिपराभवे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ २२३॥

कन्याके सहित आगे खडे हुए केशीको देखा। तब इन्द्रने केशीसे कहा, हे नीच-कर्मकरने वाले! तू इस कन्याको क्यों दुःख दे रहा है, तू मुझे वज्रधारी इन्द्र जानकर इसे छोड दे। (९-१०)

केशी बोला, हे पाकशासन! हे इन्द्र! तुम इस कन्याको छोड दो, क्योंकि मैं इससे विवाह करना चाहता हूं; यदि तुम अपने जीवकी रक्षा करना चाहते हो, तो इसको छोडकर अपने नगरको भाग जाओ। ऐसा कह केशीने मारनेको गदा चलाई। इन्द्रने उस गदाको आते देख वज्रसे काट दिया। अनन्तर केशीने क्रोध करके इन्द्रके मारनेको एक पर्वतका शिखर चलाया। इन्द्रने उसे भी अपने वज्रसे काट दिया। हे राजन्! जब यह पर्वतका शिखर कटकर पृथ्वीपर गिरा तब वही केशीके सिरमें लगा। अनन्तर केशी बहुत पीडित होकर उस कन्याको छोड वहांसे भागा, जब केशी वहांसे भागगया, तब इन्द्रने उस कन्यासे कहा, कि हे सुन्दर रूपवाली! तू कौन है, और किसकी पुत्री है, और यहां क्या कर रही है? (११-१५) [८७२७]

वनपर्वमें दोसौ तेईस अध्याय समाप्त।

कन्योवाच- अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता ।
भगिनी मे दैत्यसेना सा पूर्वं केशिना हृता ॥ १ ॥
सदैवाऽऽवां भगिन्यौ तु सखिभिः सह मानसम् ।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ॥ २ ॥
नित्यं चाऽऽवां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः ।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाऽहं पाकशासन ॥ ३ ॥
सा हृताऽनेन भगवन्मुक्ताऽहं त्वद्बलेन तु ।
त्वया देवेंद्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ॥ ४ ॥

इंद्र उवाच -- मम मातृष्वसेयी त्वं माता दाक्षायणी मम ।
आख्यातुं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥ ५ ॥

कन्योवाच— अबलाऽहं महाबाहो पतिस्तु बलवान्मम ।
वरदानात्पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ॥ ६ ॥

इंद्र उवाच - कीदृशं तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिंदिते ॥ ७ ॥

कन्योवाच — देवदानवयक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम् ।

वनपर्वमें दोसौ चौवीस अध्याय ।

कन्या बोली, मेरा नाम देवसेना है, और मैं प्रजापतिकी पुत्री हूं; मेरी एक बहिनका नाम दैत्यसेना है, उसको पहिलेही केशीने छीन लिया था; हम दोनों बहिन प्रजापतिकी आज्ञासे सदा सखियोंके सहित इस वनमें खेलनेको आती थीं; यह महा बलवान केशी सदा से हम दोनोंकी इच्छा करता था; मेरी बहिन दैत्यसेनाभी इसकी इच्छा रखती थी, परन्तु मैं नहीं। सो यह दैत्यसेनाको ले गया और मुझको तुमने अपने बलसे बचा लिया। हे भगवन्! हे देवराज ! अब मैं तुम्हारी आज्ञानुसार किसी महा बलवानको अपना पति बनाना चाहती हूं। (१—४)

इन्द्र बोले, तुम मेरी माताकी बहिन हो, क्योंकि मेरी माताभी दक्षप्रजापतिकी पुत्री है; हम तुम्हारा बल तुमसे सुनाना चाहते हैं। कन्या बोली, हे महाबाहो ! मैं अबला हूं, और मेरे पिता के वरदानसे मेरा पति महा बलवान होगा; उसको सब देवता और राक्षस नमस्कार करेंगे। इन्द्र बोले, हे देवि ! तुम्हारे पतिका बल कैसा होगा सो हम से कहो हम सुनना चाहते हैं। कन्या बोली, हे इन्द्र ! जो देवता, दानव, यक्ष, किन्नर, सर्प, राक्षस और दुष्ट दैत्योंको

जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीर्यो महाबलः ॥ ८ ॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति ।
स हि मे भविता भर्ता ब्रह्मण्यः कीर्तिवर्धनः ॥ ९ ॥
मार्कंडेय उवाच —इंद्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिंतयद्भृशम् ।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं संप्रभाषते ॥१० ॥
अथाऽपश्यत्स उदये भास्करं भास्करद्युतिः ।
सोमं चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥ ११ ॥
अमावास्यां प्रवृत्तायां मुहूर्ते रौद्र एव तु ।
देवासुरं च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥ १२ ॥
लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः ।
अपश्यल्लोहितोदं च भगवान्वरुणालयम् ॥ १३ ॥
भृगुभिश्चांऽगिरोभिश्च हुतं मंत्रैः पृथग्विधैः ।
हव्यं गृहीत्वा वह्निं च प्रविशंतं दिवाकरम् ॥ १४ ॥
पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्यमुपास्थितम् ।
तथा धर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतं च तम् ॥ १५ ॥
समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च ।

जीतने वाला और महा बलवान महा वीर्यवान होगा और जो तुम्हारे सहित सब प्राणियोंको जीतेगा वही ब्राह्मणोंका भक्त और कीर्तिका बढाने वाला मेरा पति होगा। (५–९)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, उस कन्या के ऐसे वचन सुन, इन्द्र बहुत विचार करने लगे, कि यह कन्या जैसे पतिका विचार कर रही है, वैसा कोई नहीं है। उसी समय सूर्यके समान तेजस्वी इन्द्रने उदय होते हुए सूर्यको और सूर्यमें प्रवेश होते हुए महाभाग चन्द्रमाको देखा। उस समय अमावास्या और रौद्र मुहूर्त्त था,; उसी समय इन्द्रने उदयाचल पर देवता और दानवोंको युद्ध करते देखा। इन्द्रने बडे बडे लाल मेघोंसे भरी हुई प्रातःकालकी संध्याको देखा। अनन्तर भगवान इन्द्रने समुद्रको भी लाल जल से भरा हुआ देखा। (१०–१३)

इन्द्रने देखा कि भृगु और अंगिरा- ओंसे अनेक प्रकारके मन्त्रों सहित दी हुई आहुति को ग्रहण करके अग्नि सूर्य में प्रवेश कर रहे हैं। उसी समय चौबीस पर्व भी सूर्यको ग्रहण करने लगे; उसी समय रौद्र, धर्म, सूर्य और चन्द्रमा एक हो गये। चन्द्रमा और सूर्यको एक देख

समवायं तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिंतयत् ॥ १६ ॥
सूर्याचंद्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम् ।
एतस्मिन्नेव रात्र्यंते महायुद्धं तु शंसति ॥ १७ ॥
सरित्सिन्धुरपीयं तु मत्यसृग्वाहिनी भृशम् ।
शृगालिन्यग्निवक्त्रा च प्रत्यादित्यं विराविणी ॥ १८ ॥
एष रौद्रश्च संघातो महान्युक्तश्च तेजसा ।
सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ॥ १९ ॥
जनयेद्यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ॥ २० ॥
एष चेज्जनयेद्गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
एवं संचिंत्य भगवान्ब्रह्मलोकं तदा गतः ॥ २१ ॥
गृहीत्वा देवसेनां तामवन्दत्स पितामहम् ।
उवाच चास्या देव्यास्त्वं साधु शूरं पतिं दिश ॥२२॥

ब्रह्मोवाच—

मयैतच्चिंतितं कार्यं त्वया दानवसूदन ।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ॥ २३ ॥
स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो ।
अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान् ॥ २४ ॥

इन्द्र बहुत विचार करने लगे, कि इस रौद्र समयमें चन्द्रमा और सूर्यके गिर्दमें घोर मण्डल दीखता है;यह रात्रिके अन्तमें घोर युद्ध होनेका चिन्ह है। १४—१७

इन नदी और समुद्रोंमें लाल जल बह रहा है, ये सियारी अपने मुखसे अग्निको निकालती हुई और घोर शब्द करती हुई सूर्यकी ओर देख रही हैं। यह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका मिलना बहुत अद्भुत और भयानक है;यह चन्द्रमा और अग्नि जिस पुत्रको उत्पन्न करेगा वह ही इस का पति होने योग्य है,यह अग्नि भी सब गुणोंसे युक्त है तस्मात् यदि अग्नि देवता कोई गर्भ धारण करेगी, तो सोई इस कन्याका पति होगा। इन्द्र ऐसा विचार कर ब्रह्मलोकको गए और उस कन्याको अगाडी करके ब्रह्मासे कहनेलगे कि कोई बडा शूरवीर पुरुष इस कन्याका पति होने योग्य बताइये। (१८—२२)

ब्रह्मा बोले हे दानवनाशन ! मैंने इस कार्यको पहलेही विचारा था, एक महा बलवान बालक उत्पन्न होने वाला है, वही तुम्हारा सेनापति होगा। हे शतक्रतो ! वही बलवान् बालक इस

एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वाऽसौ सह कन्यया ।
तत्राऽभ्यगच्छद्देवेंद्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ॥ २५ ॥
वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेंद्राः सुमहाबलाः ।
भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमं तथाऽध्वरे ॥ २६ ॥
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः ।
इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ॥ २७ ॥
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् ।
समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमंडलात् ॥ २८ ॥
विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत्प्रभुः ।
आगम्याऽऽहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मंत्रतो हुतम् ॥ २९ ॥
स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः ।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ॥ ३० ॥
निष्क्रामंश्चाऽप्यपश्यत्स पत्नीस्तेषां महात्मनाम् ।
स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपंतीश्च यथासुखम् ॥ ३१ ॥
रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चंद्रलेखा इवाऽमलाः ।
हुताशनार्चिप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाऽद्भुताः ॥ ३२ ॥
स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेंद्रियः ।

कन्याका पति होगा। ऐसा सुन इन्द्रने और उस कन्याने ब्रह्माको प्रणाम किया। अनन्तर जहां वसिष्ठ आदि ब्राह्मण लोग यज्ञ करते थे वहां सोम पीनेकी इच्छासे इन्द्र और इतर देवभी गये। जब अग्नि प्रज्वलित हुई तब वे लोग देवतोंके लिये आहुति देने लगे। सब महात्मा ऋषि लोग विधिके अनुसार अग्निमें हवन करने लगे। (२३—२८)

अनन्तर देवतोंने अद्भुत अग्निको सूर्य मण्डलसे बुलाया। भगवान अग्नि ब्राह्मणोंकी वाणीके वशमें होकर उस यज्ञ स्थानमें प्रकट हुए। तब सब ब्राह्मणोंने मन्त्रोंको पढकर आहुति दी, भगवान अग्निनेभी उस आहुतिको ग्रहण करके सब ऋषि और देवता लोगोंको भाग दिया। यज्ञ समाप्त होनेके समय अपने लोकको जाते हुए, अग्निने महात्मा ऋषियोंकी स्त्रियोंको अपने आसन पर बैठी और सुखसे सोती हुई देखा। (२८–३१)

सोनेके समान रंगवाली, चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल अग्निकी ज्वाला और तारोंके समान सुन्दर ऋषियोंकी

पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥ ३३ ॥
भूयः संचिंतयामास न न्याय्यं क्षुभितो ह्यहम् ।
साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम् ॥३४॥
नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाऽप्यनिमित्ततः ।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात्पश्याम्यभीक्ष्णशः ॥३५॥

मार्कंडेय उवाच — संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः कांचनप्रभाः ।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः । ॥ ३६ ॥
निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः ।
मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वरांगनाः ॥ ३७ ॥
कामसंतप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः ।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ॥ ३८ ॥
स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत्तदा ।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भाविनी ॥३९॥
अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिंदिता ।
सा तं ज्ञात्वा यथावत्तु वह्निं वनमुपागतम् ॥ ४० ॥

उन स्त्रियोंको देख कर अग्नि कामके वशमें हो गए; उसकी इन्द्रियां वशमें न रहीं। फिर अग्निने विचारा कि यह कर्म हमारा अन्यायका है, ये ब्राह्मणोंकी स्त्रियां पतिव्रता और कामरहित हैं; मैं किस प्रकारसे इनसे कामचेष्टा करूं; विना किसी कारणके मैं इनको देख और छूना नहीं सकता हूं,इस लिये गार्हपत्य अग्नि में प्रवेश करके इनको देखूंगा। (३२-३५)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले,ऐसा विचार कर अग्निने उनके गार्हपत्य अग्निसे प्रवेश किया और वहींसे अपनी ज्वालाओंसे उन स्वर्णके समान रंगवाली स्त्रियोंको छूने लगे और उनके रूपको देखकर प्रसन्न होने लगे; इस प्रकार वहां बहुत दिन रहनेसे अग्नि उन स्त्रियोंके वशमें हो गये और उनमें अपने चित्तको लगा दिया; जब अग्निका हृदय कामसे जलने लगा, तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब हम शरीर छोड देंगे, परन्तु जब ब्राह्मणोंकी स्त्रियां उनको न मिलीं, तब वे वनको चले गए। (३६–३८)

स्वाहा नामक दक्षकी पुत्रीने पहले अग्निको अपना पति बनाना चाहा था। और वह बहुत दिनसे अग्निके दोषोंको ढूंढ रही थी। परंतु अग्निदेव सदा सावधान रहते थे, इससे निन्दा रहित स्वाहाको कोई दोष न मिला। जब

तत्त्वतः कामसंतप्तं चिंतयामास भाविनी।
अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ॥ ४१ ॥
कामयिष्यामि कामार्तं तासां रूपेण मोहितम्।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत्॥ ४२ ॥ [८७६९]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे स्कंदोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४॥

मार्कण्डेय उवाच— शिवा भार्या त्वंगिरसः शीलरूपगुणान्विता।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥ १ ॥
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वरांगना।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥ २ ॥
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय।
अहमंगिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मंत्रयित्वा विनिश्चयम् ॥२ ॥

अग्निरुवाच — कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम्।
यास्त्वया कीर्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः॥४ ॥

शिवोवाच — अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव।

उसने इन सब बातोंको जान लिया कि अब अग्निदेव कामके वशमें होकर वनको गए हैं, तब उसने विचारा कि अब अग्नि कामके वशमें हुए हैं; सो मैं सातों ऋषियोंकी स्त्रियोंका रूप बनाकर उनके पास जाऊं; मुझे जब वे कामके वशमें देखेंगे तब अवश्यही रूप और कामसे मोहित होजायंगे ऐसा करनेसे अग्निकी प्रीति और मेरा कार्य सिद्ध होगा। (३९–४२) [८७६९]

वनपर्वमें दोसौ चौवीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ पचीस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे नरनाथ युधिष्ठिर ! अंगिरा ऋषिकी स्त्रीका नाम शिवा था। वह रूप, शील और गुणोंसे भरी थी। स्वाहा पहले उसीका रूप बना कर वनमें अग्निके पास गई और जाकर कहने लगी, कि हे अग्ने ! मैं कामसे बहुत व्याकुल हूं, तुम मेरे संग मैथुन करो; यदि ऐसा नहीं करोगे, तो मैं मर जाऊंगी; हे हुताशन ! मैं अंगिरा ऋषिकी स्त्री हूं, मेरा नाम शिवा है, सब ऋषियोंकी स्त्रियोंने संमति करके मुझे तुम्हारे पास भेजा है। (१–३)

अग्नि बोले, तुमने और सब सप्त ऋषियोंकी प्यारी स्त्रियोंने कैसे जाना कि मैं कामके वशमें हूं। (४)

शिवा बोली, तुम सदासे हमारे

त्वाचिह्नैर्निमित्तैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवांतिकम् ॥ ५ ॥
मैथुनायेह संप्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर ।
जामयो मां प्रतीक्षंते गमिष्यामि हुताशन ॥ ६ ॥

मार्कंडेय उवाच— ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदा युतः ।
प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥ ७ ॥
अचिंतयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यंति कानने ।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यंति पावके ॥ ८ ॥
तस्मादेतद्रक्ष्यमाणा गरुडी संभवाम्यहम् ।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति ॥ ९ ॥

मार्कंडेय उवाच— सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात् ।
अपश्यत्पर्वतं श्वेतं शरस्तंबैः सुसंवृतम् ॥ १० ॥
दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः ।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ॥ ११ ॥
राक्षसीभिश्च संपूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः ।
सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ॥ १२ ॥
प्राक्षिपत्कांचने कुंडे शुक्रं सा त्वरिता शुभा ।

प्यारे हो, हम सब तुमसे बहुत डरती हैं, तुम्हारे चिन्होंसे हम लोगोंने पहिचान लिया, तब सब ऋषिपत्नियोंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, हमको इस समय कामदेव बहुत पीडा देरहा है; तुम शीघ्र हमारे सङ्ग मैथुन करो, क्योंकि और ऋषियोंकी स्त्री हमारा मार्ग देख रही होंगी हमें शीघ्र जाना चाहिये। ५–६

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, अनन्तर अग्निने प्रसन्न होकर स्वाहाके सङ्ग मैथुन किया । स्वाहा देवीने भी प्रसन्न होकर अग्निका सङ्ग किया । अनन्तर उनके वीर्यको अपने हाथमें ले लिया और विचारने लगीं कि वनमें जो कोई मुझे देखेगा वह ब्राह्मणी और अग्निको दोषी जानेगा, इस लिये गरुडीका रूप बनाना चाहिये, ऐसा करनेसे सुखपूर्वक वनसे चली जाऊंगी । (७— ९)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, ऐसे विचार, स्वाहादेवी गरुडीका रूप बनाकर उस महा वनसे चली । अनन्तर पर्वत पर शरोंके वनको देखा, जो विष भरे हुए सात सिर वाले अद्भुत सर्प, राक्षस, पिशाच, घोर भूत, राक्षसी, वनजन्तु और अनेक प्रकारके पक्षियोंसे भरा हुआ था । उस घोर पर्वतके ऊपर जाकर

सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ॥ १३ ॥
पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ।
दिव्यरूपमरुंधत्याः कर्तुं न शकितं तया ॥ १४ ॥
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ।
षट्कृत्वस्तत्तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ॥ १५ ॥
तस्मिन्कुंडे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ।
तत्स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत्सुतम् ॥ १६ ॥
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत्स्कंदतां ततः ।
षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ॥ १७ ॥
एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत ।
द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ॥ १८ ॥
अंगप्रत्यंगसंभूतश्चतुर्थ्यामभवद्गुहः ।
लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ॥ १९ ॥
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः ।
गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ॥ २० ॥
न्यस्तं यत्त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृंतनम् ।

स्वाहा देवीने उस वीर्यको एक सोनेके कुण्डमें छोड दिया। (१०—१२)

इस प्रकार स्वाहा देवीने सातों ऋषियोंकी स्त्रियोंका रूप बनाकर अग्निसे मैथुन किया; परन्तु वसिष्ठकी स्त्री अरुन्धतीका दिव्य रूप न बना सकी, क्योंकि अरुन्धती बडी तपस्विनी और पतिव्रता थी। हे कुरुसत्तम! इस प्रकार स्वाहा देवीने छः बार प्रतिपदाके दिन अग्निके वीर्यको उसी सोनेके कुण्डमें डाला; उस कुण्डसे कुछ दिनके पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ उसी समय सब ऋषियोंने इसकी पूजा करी और उसका नाम स्कन्द रक्खा। (१३-१७)

उस बालकके छः मुख, बारह हाथ, बारह कान, बारह नेत्र थे; परन्तु गला और हृदय एकही था। वह बालक द्वितीयाको पिण्ड रूप रहा, तृतीयाको बालक रूप हो गया और चौथको उसके सब अङ्ग अलग अलग हो गये। उस समय बिजलीके सहित लाल मेघ आकाशमें दीखने लगे। उन लाल मेघोंमें वह बालक ऐसा दीखने लगा जैसे प्रातः कालका लाल सूर्य उदय होता है। उसने उत्पन्न होतेही उस धनुषको ग्रहण किया जिसके देखनेसे प्रायः सब लोगोंके

तद् गृहीत्वा धनुःश्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ॥ २१ ॥
संमोहयन्निवेमान्स त्रीँल्लोकान्सचराचरान् ।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ।
तावापतन्तौ संप्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ॥ २३ ॥
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चाऽन्येन पाणिना।
अपरेणाऽग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ॥ २४ ॥
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम् ।
गृहीत्वा व्यनदद्भीमं चिक्रीड च महाभुजः ॥ २५ ॥
द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान्गृहीत्वा शंखमुत्तमम् ।
प्राध्मापयत्स भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २६ ॥
द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह ।
क्रीडन्भाति महासेनस्त्रीँल्लोकान्वदनैः पिबन् ॥ २७ ॥
पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा ।
स तस्य पर्वतस्याऽग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ॥ २८ ॥
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः ।

रोवें खडे हो जाते थे। यह वही धनुष था जिसको त्रिपुरासुरके नाश करनेके समय शिवने चढाया था। (१९-२१)

उस धनुषको चढाकर बलवान कार्तिकेय बहुत गरजने लगे, उस शब्दसे समस्त चर और अचरके सहित तीनों लोक मूर्च्छित होने लगे। उस महा मेघके समान शब्दको सुनकर महानाग चित्र और ऐरावत दौडे; सूर्यके समान तेजस्वी बालकने उनको आते देख एक एक हाथसे पकड लिया, एक हाथसे शक्ति और एक हाथसे बडे शरीरवाले महा बलवान कुक्कुटको पकडकर खेलने लगे, और घोर शब्द करने लगे। २१-२५

अनन्तर दो हाथमें उत्तम शङ्ख लेकर बजाने लगे। उस शब्दको सुनकर सब बलवान जन्तु डरने लगे, कार्त्तिकेय अपने दो हाथोंको वारवार आकाशकी ओर चलाने लगे। उस समय खेलते स्वामीकार्तिककी ऐसी शोभा बढी, कि मानो तीनों लोकको वह खा जायंगे। महा बलवान स्वामीकार्त्तिक उस पर्वतपरऐ से शोभायमान हुए जैसे उदयाचल पर सूर्य। विचित्र पराक्रमी स्वामीकार्त्तिक उस पर्वत पर बैठकर सब दिशाओंको देखने लगे और अनेक प्रकारकी वस्तु-

स पश्यन्विविधान्भावांश्चकार निनदं पुनः ॥ २९ ॥
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन्बहुधा जनाः।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥ ३० ॥
ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः।
तानप्याहुः पारिषदान्ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥ ३१ ॥
स तूत्थाय महाबाहुरुपसांत्व्य च ताञ्जनान्।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद्बाणाञ्श्वेते महागिरौ ॥ ३२ ॥
बिभेद स शरैः शैलं क्रौंचं हिमवतः सुतम्।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छंति पर्वतम् ॥ ३३ ॥
स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान्रुवन्।
तस्मिन्निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ॥ ३४ ॥
स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वाऽपि बलिनां वरः।
न प्राच्यवदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चाऽनदत् ॥ ३५ ॥
सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३६ ॥
स तेनाऽभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतः स सुमहात्मनः ॥ ३७ ॥

ओंको देखकर पुनः गर्जने लगे। २६-२९

उस शब्दको सुनकर समस्त प्राणी लोग डरकर भागने लगे। फिर घबरा कर सब उन्हीकी शरण गए। जो बल-वान जन्तु उनकी शरण गए, उन्हींको ब्राह्मणोंने उनका पार्षद कहा है; महाबाहु स्वामीकार्तिक उन सब जीवोंको शान्त करके वहांसे उठे और धनुष चढाकर उस श्वेत पर्वतकी ओर बाण चलाने लगे। उन्होंने अपने बाणोंसे हिमाचलके पुत्र क्रौंच पर्वतको विदीर्ण कर दिया। उसी समय वहांसे हंस और गिद्ध उडकर मेरु पर्वतपर चले गये। (३०—३३)

उनके बाणोंसे वह पर्वत दीन शब्द करता हुआ पृथ्वीपर गिर पडा। उसके गिरनेसे और पर्वतों परभी घोर शब्द होने लगा। बलवानोंमें श्रेष्ठ स्वामीकार्त्तिक उस घोर शब्दको सुनकरभी कुछ न डरे और शक्तिको लेकर गर्जने लगे। जब उन्होंने उस निर्मल शक्तिको उस श्वेत पर्वतकी ओर चलाया तो उसके लगनेसे उसका शिखर कटकर गिर पडा। ३४-३६

महात्मा स्वामीकार्त्तिकके बाण और शक्ति लगनेसे वह पर्वत डरकर पृथ्वी

ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समंततः ।
आर्ता स्कंदं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३८ ॥
पर्वताश्च नमस्कृत्य तत्रैव पृथिवीं गताः ।
अथैनमभजल्लोकः स्कंदं शुक्लस्य पंचमीम् ॥ ३९ ॥ [८८०८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे कुमारोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

मार्कंडेय उवाच— तस्मिन्जाते महासत्त्वे महासेने महाबले ।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥
स्त्रीपुंसोर्विपरीतं च तथा द्वंद्वानि यानि च ।
ग्रहा दीप्ता दिशः खं च ररास च मही भृशम् ॥ २ ॥
ऋषयश्च महाघोरान्दृष्ट्वोत्पातान्समंततः ।
अकुर्वन्शांतिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥ ३ ॥
निवसंति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः ।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाऽऽहितो महान् ॥ ४ ॥
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ।

छोड आकाशको उडने लगा । अनन्तर पृथ्वीभी फटकर चारों ओर गिरने लगी। उसके पश्चात् पृथ्वीभी बहुत दुःख पाने लगी; फिर दीन होकर स्वामीकार्त्तिकके पास आई और शरण पाकर पुनः बलवान हो गई । अनन्तर सब पर्वतोंने उनको प्रणाम किया और पृथ्वीपर बैठ गए । अनन्तर शुक्ल पक्षकी पञ्चमीको सब लोगोंने स्वामी कार्त्तिक को देखा । (३७–३९) [८८०८]

वनपर्वमें दोसौ पचीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ छब्बीस अध्याय ।

श्रीमार्कंडेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! जब महाबलवान, स्वाहासे स्वामीकार्त्तिक उत्पन्न हुए, तब पृथ्वीमें अनेक प्रकारके घोर उत्पात उठने लगे । स्त्री और पुरुषोंमें परस्पर वैर होने लगा । शीत और उष्णका कुछ प्रमाण न रहा । आकाश, दिशा और सब पृथ्वी प्रकाशित हो गई । महा ऋषि लोगोंने जब इन घोर उत्पातोंको देखा तो घबडाकर लोकोंकी शान्तिके निमित्त शान्ति शान्ति कहने लगे । जो ऋषि लोग उस चैत्ररथ वनमें रहते थे, वे सब कहने लगे, कि अग्निने यह हमारे वास्ते परम अनर्थ किया है। (१–४)

वे लोग कहने लगे कि अग्निने छः ऋषियोंकी स्त्रियोंसे इस बालकको उत्पन्न

अपरे गरुडीमाहुस्त्वयाऽनर्थोऽयमाहृतः ॥ ५ ॥
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती ।
न तु तत्स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः ॥ ६ ॥
सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममाऽयं तनयास्त्विति ।
उपगम्य शनैः स्कंदमाहाऽहं जननी तव ॥ ७ ॥
अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् ।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥ ८ ॥
षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः ।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ॥ ९ ॥
अहं जाने नैतदेवमिति राजन्पुनः पुनः ।
विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ॥ १० ॥
पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तत्तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ॥ ११ ॥
विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः ।
स्तवं दिव्यं संप्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ॥ १२ ॥

किया है; कोई कहने लगे कि वह तो गरुडी थी। जिन पुरुषोंने उस स्वाहा देवीके रूपको देखा था, वे लोग कहने लगे कि यह कर्म स्वाहा देवीका ही है। जब उस गरुडीने ये सब वचन सुने तब स्वामीकार्त्तिकके पास जाकर कहने लगी कि मैं ही तेरी माता हूं। जब सप्त ऋषियोंने सुना कि इस प्रकार हमारी स्त्रियोंके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ तब अपनी अपनी स्त्रियोंको सबने छोड दिया परन्तु भगवान वसिष्ठने अरुन्धती देवीको नहीं छोडा। (५—८)

जब सब वनवासी कहने लगे कि सप्त ऋषियोंकी स्त्रियोंसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब स्वाहा देवीने जाकर कहा कि यह पुत्र हमारा है। परन्तु इस बात पर किसी ऋषिको विश्वास न हुआ। इन सब वृत्तान्तको विश्वामित्र मुनि भली भांति जानते थे, क्योंकि उन्होंने उस सप्त ऋषियोंकी यज्ञमें अग्निको कामवश हुआ देखा था और अग्निके पीछे गुप्त रूपसे वनकोभी गए थे, और वहीं स्वाहादेवीका सब चरित्रभी देखा था। तब उन्होंने सब वृत्तान्त सप्त ऋषियोंसे कह सुनाया। (९–११)

अनन्तर विश्वामित्रही पहले स्वामीकार्त्तिककी शरण गए, और एक दिव्य स्तोत्रभी बनाया। विश्वामित्र महा मुनिने

मंगलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश ।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥ १३ ॥
षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि ॥ १४॥
विश्वामित्रश्चकारैतत्कर्म लोकहिताय वै ।
तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत्प्रियः ॥१५ ॥
अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन्सर्वान्नाऽपराध्यंति वै स्त्रियः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात्ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ।

मार्कंडेय उवाच— स्कंदं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिताऽब्रुवन् ॥ १७ ॥
अविषह्यबलं स्कंदं जहि शक्राऽऽशु मा चिरम् ।
यदि वा न निहंस्येनं देवेंद्रोऽयं भविष्यति ॥ १८ ॥
त्रैलोक्यं सन्निगृह्याऽस्मांस्त्वां च शक्र महाबल ।
स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः ॥ १९ ॥
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ।
न बालमुत्सहे हंतुमिति शक्रः प्रभाषते ॥ २० ॥

स्वामीकार्त्तिककी तेरह जातकर्मादि संस्कार और मङ्गल कर्मभी किये। विश्वामित्र मुनिने स्वामीकार्त्तिकका महा कुक्कुट और शक्तिदेवीका साधनभी वहीं किया; और पार्षदोंका पूजनभी किया। विश्वामित्र मुनिने यह सब कर्म लोकके हितके निमित्त किया, इस लिये विश्वामित्र मुनि स्वामीकार्त्तिकके बडे प्रिय हुए। अनन्तर विश्वामित्र मुनिने स्वाहाका सब रूप जानकर सप्त ऋषियोंसे कहा कि तुम्हारी कोई स्त्रियोंका दोष नहीं है, उन्होंने विश्वामित्रके वचन सुन अपनी स्त्रीको (दोषरहित होनेपरभी लोकापवादके भयसे) त्याग दिया। १२-१७

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, जब देवतों ने सुना कि स्वामीकार्तिक उत्पन्न हुए, तब सब इन्द्रके पास जाकर कहने लगे, कि हे शक्र! कार्तिकेय बहुत बलवान हैं, इस लिये इनको शीघ्रही जीत लीजिये, विलंब न कीजिये, यदि आप इन्हें न मारेंगे तो यही इन्द्र हो जायगा। हे महाबल! यह हमारे सहित तीनों लोकोंको जीत लेगा। इद्र बोले, हे देवतो! यह बालक बहुत बलवान है; हम और लोकोंके कर्ता ब्रह्माभी इसको युद्धमें नहीं मार सकते हैं। हम इस बालकके

तेऽब्रुवन्नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे ।
सर्वास्त्वद्याऽभिगच्छंतु स्कंदं लोकस्य मातरः ॥ २१ ॥
कामवीर्या घ्नंतु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः ।
तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ॥ २२ ॥
अशक्योऽयं विचिंत्यैवं तमेव शरणं ययुः ।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ॥ २३ ॥
अभिनंदस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः ।
तासां तद्वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तनान्प्रभुः ॥ २४ ॥
ताः संपूज्य महासेनः कामांश्चाऽऽसां प्रदाय सः ।
अपश्यदग्निमायांतं पितरं बलिनां बली ॥ २५ ॥
स तु संपूजितस्तेन सह मातृगणेन ह ।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ॥ २६ ॥
सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री स्वपुत्रवत्स्कंदं शूलहस्ताऽभ्यरक्षत ॥ २७ ॥
लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।

बलकोभी नहीं सह सकते । (१७-२०)

देवता लोग कहने लगे, हे इन्द्र ! क्या तुममें इतना बल नहीं है, जो इस लडकेको जीत सको ? इस लिये अब जितनी लोकमाता हैं, सब स्वामीकार्तिक के पास जायं और उसके बलको नाश करें । सब लोकमाता उनके वचनको ग्रहण करके कार्तिकेयके पास गई परन्तु उनका अनन्त बल देखकर सब दुःखित हो गईं और उनको जीतनेमें असमर्थ समझकर उन्हीके शरण गईं और उनसे कहने लगीं, कि हे महाबल ! तुम हमारे पुत्र हो जाओ । तुम सब लोकोंको प्रसन्न करो, हम सब तुम्हारे प्रेमसे विकल हैं; तुम हमारा दूध पिओ । उनके वचन सुन भगवान स्वामीकार्तिकने उनका दूध पीनेकी इच्छा करी । (२१-२४)

अनन्तर उनका दूध पीकर उनकी सब इच्छा पूर्ण करी । उसी समय अपने पिता अग्निको आते हुए देखा, तब अग्निने स्वामीकार्तिककी बडी प्रशंसा करी और लोकमाताओंके सहित उनके चारों ओर रक्षा करनेको बैठ गए । लोकमाताओंके क्रोधसे जो स्त्री उत्पन्न हुई थी वह हाथमें त्रिशूल लेकर स्वामीकार्तिक की पुत्रके समान रक्षा करने लगीं । जो लाल समुद्रकी कन्या थी वहभी स्वामीकार्तिककी पुत्रके समान रक्षा करने

परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत्पर्यरक्षत ॥ २८ ॥
अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीडनकैरिव ॥ २९ ॥ [८८३७]

इति श्रीमहाभारते० मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसे स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

मार्कंडेय उवाच— ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा ।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः ॥ १ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः ।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ॥ २ ॥
संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः ।
आरुह्यैरावतस्कंधं प्रययौ दैवतैः सह ॥ ३ ॥
आदाय वज्रं बलवान्सर्वैर्देवगणैर्वृतः ।
विजिघांसुर्महासेनमिंद्रस्तूर्णतरं ययौ ॥ ४ ॥
उग्रं तं च महानादं देवानीकं महाप्रभम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं नानावाहनकार्मुकम् ॥ ५ ॥
प्रवरांबरसंवीतं श्रिया जुष्टमलंकृतम् ।
विजिघांसुं तमायांतं कुमारः शक्रमन्वयात् ॥ ६ ॥
विनदन्पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः ।

लगी ! यह कन्या बडी कठिन स्वभाव वाली और रक्त पीनेवाली थी और नैग-मेय नामक अग्नि बकरेका मुह बनाकर पर्वतमें स्थित उस बालकको खेलौनेके समान खेलाने लगी । (२८ — २९)

वनपर्वमें दोसौ छब्बीस अध्याय समाप्त । ८८३७

वनपर्वमें दोसौ सताइस अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, लोकमाता और अग्नि आदिक देवता तथा पार्षद लोग बहुत प्रसन्न हुए । इनको आदि लेकर औरभी सब देवता लोग और लोकमाता कार्तिकेयके चारों ओर बैठ गए । जब देवराज इन्द्रने अपने विजयमें सन्देह देखा । तब ऐरावत पर चढ सब देवतोंको सङ्ग ले और वज्र धारण करके कार्तिकेयके मारनेकी इच्छा से शीघ्र चलने लगे । (१-४)

जब कार्तिकेयने महाउग्र, महातेजस्वी, महानाद करनेवाली, विचित्र ध्वजा कवच और धनुषधारिणी सेनाको देखा, तो उसको मारनेको चले । हे युधिष्ठिर! जब महाबलवान इन्द्रने कार्तिकेयको आते देखा, तब उनके मारनेकी इच्छासे, और

संहर्षयन्देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम् ॥ ७ ॥
संपूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः ।
समीपमथ संप्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः ॥ ८ ॥
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितैः सुरैः ।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत्सागरो यथा ॥ ९ ॥
तस्य शब्देन महता समुद्भूतोदधिप्रभम् ।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ॥ १० ॥
जिघांसूनुपसंप्राप्तान्देवान्दृष्ट्वा स पावकिः ।
विससर्ज मुखात्क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः ॥ ११ ॥
अदहद्देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले ।
ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ॥ १२ ॥
प्रच्युताः सहसा भांति व्यस्तास्तारागणा इव ।
दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ॥ १३ ॥
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शांतिमुपागताः ।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कंदे वज्रं शक्रो न्यपातयत् ॥ १४ ॥
तद्विसृष्टं जघानाऽऽशु पार्श्वं स्कंदस्य दक्षिणम् ।

देवतोंको प्रसन्न करनेकी इच्छासे गर्जने लगे। इन्द्रका शब्द सुनकर सब ऋषि और देवता लोग उनकी पूजा करने लगे। इस प्रकार इन्द्र कार्तिकेयके पास पहुंचे, वहां पहुंचकर भी इन्द्रने देवतोंके सहित सिंहके समान शब्द किया। उस शब्दको सुनकर कार्तिकेयभी समुद्रके समान गर्जने लगे। (८--९)

उनके शब्दको सुनकर समुद्रके समान देवतोंकी सेना घबडा गई, और चेतना रहित होकर इधर उधर घूमने लगी। जब अग्निके पुत्र कार्तिकेयने देखा कि देवता लोग हमें मारनेको आए हैं, तब उन्होंने अपने मुखसे बडी कठिन घोर अग्निकी ज्वाला उनकी ओरको छोडी; उससे सब देवतोंकी सेना जलने लगी और कांप कांप कर पृथ्वीपर गिरने लगी। किसीका सिर, किसीका शरीर, किसीका वाहन, किसीका शस्त्र जलने लगा। उस समय जलते हुए देवतोंकी ऐसी शोभा भई जैसे गिरते हुए तारोंकी शोभा होती है। (१०--१३)

अनन्तर जलते हुए देवता कार्त्तिकेयकी शरण गए। जब सब देवतोंने इन्द्रको छोड दिया तो युद्धकी शान्ति हो गई। इन्द्रने कार्त्तिकेयको वज्र मारा; वह वज्र

बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
वज्रप्रहारात्स्कंदस्य संजातः पुरुषोऽपरः ।
युवा कांचनसन्नाहः शक्तिधृग्दिव्यकुंडलः ॥ १६ ॥
यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् ।
संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ॥ १७ ॥
भयादिंद्रस्तु तं स्कंदं प्रांजलिः शरणं गतः ।
तस्याऽभयं ददौ स्कंदः सह सैन्यस्य सत्तमः ।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥ १८ ॥[८८५५

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरस इन्द्रस्कन्दसमागमे सप्तविंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः २२७

मार्कंडेय उवाच— स्कंदपारिषदान्घोराञ्शृणुष्वाऽद्भुतदर्शनान् ।
वज्रप्रहारात्स्कंदस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः ॥ १ ॥
ये हरंति शिशूञ्जातान्गर्भस्थांश्चैव दारुणाः ।
वज्रप्रहारात्कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः ॥ २ ॥
कुमारास्ते विशाखं च पितृत्वे समकल्पयन् ।
स भूत्वा भगवान्संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ॥ ३ ॥
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः ।

कार्त्तिकेयके दहने कन्धेमें लगा। तब महात्मा कार्तिकेयके कन्धेसे एक नवीन पुरुष उत्पन्न हुआ। वह युवा सोनेका कवच पहने शक्ति और दिव्य कुण्डल धारण किये था। जो पुरुष वज्रके लगनेसे उत्पन्न हुआ था उसका नाम विशाख हुआ। जब इन्द्रने अग्निके समान दूसरे पुरुषको देखा, तो हाथ जोडकर कार्त्तिकेयकी शरण गए। तब कार्त्तिकेयने सेनाके सहित उन्हें अभय दान दिया। तब सब देवता लोग प्रसन्न होकर बाजे बजाने लगे। (१३-१८) [८८५५]

वनपर्वमें दोसौ सताईस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ अठाइस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! अब कार्तिकेयके पार्षदोंके नाम सुनिये। ये सब विचित्र रूपवाले हैं, इनका जन्म वज्र लगनेके समय कार्त्तिकेयके शरीरसे हुआ था, यही बडे कठोर पार्षद लोग बालकोंको और गर्भोंको नष्ट कर देते हैं। उसी समय वज्र लगनेसे कार्त्तिकेयके शरीरसे महा बलवान कन्यायें भी उत्पन्न हुई थीं। उन कुमारोंने विशाखको अपना पिता माना। अनन्तर वे भगवान विशाख छागमुख होकर तथा कन्या गण और पुत्रोंसे

मातॄणां प्रेक्षतीनां च भद्रशाखश्च कौसलः ॥ ४ ॥
ततः कुमारपितरं स्कंदमाहुर्जना भुवि ।
रुद्रमग्निमुखां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलम् ॥ ५ ॥
यजंति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ।
यास्तास्त्वजनयत्कन्यास्तपोनाम हुताशनः ॥ ६ ॥
किं करोमीति ताः स्कंदं संप्राप्ताः समभाषत ।
भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ॥ ७ ॥
प्रसादात्तव पूज्याश्च प्रियमेतत्कुरुष्व नः ।
सोऽब्रवीद्बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ॥ ८ ॥
शिवाश्चैवाऽशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ।
ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कंदं मातृगणोऽगमत् ॥ ९ ॥
काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहिता तथा ।
आर्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ १० ॥
एतासां वीर्यसंपन्नः शिशुर्नामाऽतिदारुणः ।

वेष्टित होकर कार्त्तिकेयकी रणमें रक्षा करने लगे। वह विशाख देखनेके लिये आये हुए मातृगणमें भद्रशाख तथा कौसल नामसे प्रसिद्ध हुआ। (१–४)

उसी दिनसे संसारके पुरुषोंने महाबलवान कार्त्तिकेयको सब बालकोंका पिता मान लिया है, तथा अग्नि और रुद्रको स्कंदका पिता और स्वाहा तथा उमाको उनकी माता मानते हैं। उसी दिनसे पुत्रोंकी इच्छा रखनेवाले और पुत्रवाले पुरुष कार्त्तिकेयकी पूजा करने लगे। जो तपो नामक अग्निसे कन्या उत्पन्न हुई थीं, वे सब कार्त्तिकेयके पास आकर कहने लगीं कि हम लोग क्या करें। कुमारी बोलीं, हे कार्त्तिकेय! हमलोग बहुत उत्तम हैं; इससे सब जगतकी माता होना चाहती हैं, तुम हमारे इस प्रियकार्यको सिद्ध करो। कार्त्तिकेय बोले, बहुत अच्छा, तुम लोग सब अलग अलग हो जाओ। उत्तम बुद्धिमान कार्त्तिकेय बार बार कहने लगे, कि तुम लोग आधी शिवा और आधी अशिवाके नामसे प्रसिद्ध होओ। तब लोकमाता कार्त्तिकेयको अपना अपना पुत्र मानकर चली गई। (५–९)

उनके नाम ये हैं,—काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहिता, आर्या, पलाला, और वैमित्रा। यही सात शिशु माता कहाती हैं। इसका जो शिशु नामक पुत्र हुआ

स्कंदप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ॥ ११ ॥
एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कंदमातृगणोद्भवः ।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ १२ ॥
षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कंदस्यैवेति विद्धि तत् ।
षट्शिरोभ्यंतरं राजन्नित्यं मातृगणार्चितम् ॥ १३ ॥
षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्द्यते ।
शक्तिं येनाऽसृजद्दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह॥ १४ ॥
इत्येतद्विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पंचमीम् ।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥ १५ ॥ [८८७०]

इति श्रीमहाभारते० मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरसे कुमारोत्पत्तावष्टविंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८॥

मार्कंडेयउवाच — उपविष्टं तु तं स्कंदं हिरण्यकवचस्रजम् ।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥
लोहितांबरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम् ।
सर्वलक्षणसंपन्नं त्रैलोक्यस्याऽपि सुप्रियम् ॥ २ ॥
ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुंडलम् ।
अभजत्पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥

वह बडा भयङ्कर लाल नेत्रवाला और दारुण स्वभाव था। यह पुत्र कार्त्तिकेय के प्रसादसे उत्पन्न हुआ था; यह कार्त्तिकेय और लोकमातासे उत्पन्न हुए आठ वीर हैं। छागमुख अग्निके सहित नौ होते हैं। (१०-१२)

हे राजन्! कार्त्तिकेयके छः मुखोंमेंसे जो बीचका मुख हैं, वह बकरेका है; लोकमाता सदाही उसकी पूजा करती रहती हैं; यह मुख छःही मुखोंसे उत्तम है। विशाखने इसीसे दिव्य शक्तिको बनाया था। इस प्रकारसे यह सब वृत्तान्त शुक्ल पक्षकी पञ्चमीको हुआ और षष्ठीको महाघोर युद्ध हुआ। (१३-१५)

वनपर्वमें दोसौ अठाईस अध्याय समाप्त। ८८७०

वनपर्वमें दोसौ उनतीस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! अनन्तर महा तेजस्वी कार्त्तिकेय सोनेकी माला, कवच और मुकुट धारण करके एक स्थानपर बैठे। उस समय महा तेजस्वी, लाल नेत्रवाले, लाल वस्त्र धारी, तीक्ष्णदांतवाले, मनोहर, सब लक्षणोंसे युक्त, तीन लोकके प्यारे, वरदान देनेवाले, शूर, वीर, युवा, धनुष धारी कार्त्तिकेयकी सेवा करनेको साक्षात रूप धारण करके लक्ष्मी आई।

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा ।
निषण्णो हृद्स्थले भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥
अपूजयन्महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम् ।
इदमाहुस्तदा चैव स्कंदं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥
ऋषय ऊचुः — हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शंकरो भव ।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ॥ ६ ॥
अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम ।
तस्मादिंद्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याऽभयंकर ॥ ७ ॥
स्कंद उवाच —किमिंद्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः ।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥
ऋषय ऊचुः — इंद्रो ददाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम् ।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान्कामान्सुरेश्वरः ॥ ९ ॥
दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति ।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥
असूर्ये च भवेत्सूर्यस्तथाऽचंद्रे च चंद्रमाः ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥

उस समय महा यशस्वी कार्त्तिकेय शोभा से युक्त ऐसे शोभायमान हुए, जैसे पूर्णमासीके चन्द्रमा। उसी समय महात्मा ऋषियोंने कार्त्तिकेयकी पूजा करी और ऐसा कहने लगे। (१–५)

ऋषि लोग बोले, हे हिरण्यगर्भ ! तुम्हारा कल्याण हो; तुम जगतका कल्याण करो; तुमने छःही दिन जन्म लेनेके पश्चात् सब लोकोंको वशमें कर लिया; हे देवश्रेष्ठ ! तुमने फिर उन सब देवतोंको अभय दान दिया है; इस लिये तुम इन्द्र हो जाओ; तब हम लोगोंको किसीका भी भय नहीं होगा। कार्त्तिकेय बोले, हे ऋषियो ! इन्द्र तीन लोक का कौनसा हित करता है, और किस प्रकार देवतोंकी रक्षा करता है ? (६–८)

ऋषि लोग बोले, इन्द्र सब प्रजामें सुख तेज और बलको स्थापन करता है, जब प्रसन्न होता है, तब सब कामोंको सिद्ध करता है, दुष्टोंका नाश और साधुओंका पालन करता है; वही बलनाशक इन्द्र सब प्रजाका शासन करता है; सूर्यके अभावमें सूर्य, चन्द्रमा के अभावमें चन्द्रमा, अग्निके अभावमें अग्नि, वायु, पृथ्वी, जलके अभावमें उन्हींका रूप धारण कर लेता है; यही

एतदिंद्रेण कर्तव्यमिंद्रे हि विपुलं बलम् ।
त्वं च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिंद्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥

शक्र उवाच — भवस्वेंद्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः ।
अभिषिच्यस्व चैवाऽद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥

स्कंद उवाच — शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः ।
अहं ते किंकरः शक्र न ममेंद्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥

शक्र उवाच — बलं तवाऽद्भुतं वीर त्वं देवानामरीञ्जहि ।
अवज्ञास्यंति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥१५॥
इंद्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् ।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यंत्यतंद्रिताः ॥ १६ ॥
भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति ।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥ १७ ॥
विग्रहः संप्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल ।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ॥ १८ ॥
तस्मादिंद्रो भवानेव भविता मा विचारय ।

स्कंद उवाच — त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ॥ १९ ॥

सब इन्द्रके कार्य हैं; इन्द्रही सबसे अधिक बलवान है, तुम सब बलवानोंमें श्रेष्ठ हो; इस लिये तुमही हमारे इन्द्र हो जाओ। (९—१२)

इन्द्र बोले, हे महाबाहो ! हे सत्तम! तुम हम लोगोंको सुख देनेवाले हो इस लिये तुमही इन्द्रासनपर अपना अभिषेक करो। कार्त्तिकेय बोले, हे शक्र ! हमको इन्द्र होनेकी इच्छा नहीं है; तुमही तीनों लोकोंका राज्य करो हम तुम्हारे दास हैं;तुम सदा विजयकी इच्छा रखो। (१३-१४)

इन्द्र बोले, हे वीर ! हे तात ! हे महाबल ! तुम्हारा बल विचित्र है; तुम देवतोंके शत्रुओंको जीतो क्योंकि तुम्हारा अधिक बल देखकर लोक हमारा निरादर करने लगे, जब हम निर्बल होकर इन्द्रासनपर बैठेंगे तो सब लोक सावधान होकर हमारे और तुम्हारे भेदका यत्न करेंगे; जब हममें तुममें भेद हो जायगा तब सब लोक दो दल हो जायगा; उस समयमें हमारा तुम्हारा अवश्यही युद्ध होगा; उस युद्धमें तुम हमको अवश्य जीतोगे, इस लिये तुम अभीसे इन्द्र हो जाओ; इसमें विचार मत करो। (१५-१९)

करोमि किं च ते शक्र शासनं तद्ब्रवीहि मे ।
अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥ २० ॥

इंद्र उवाच— यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद्भाषितं त्वया ।
यदि वा शासनं स्कंद कर्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २१ ॥
अभिषिच्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल ।
दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ॥ २२ ॥

स्कन्द उवाच— गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिंच माम् ।

मार्कंडेय उवाच —सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ॥ २३ ॥
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
तत्र तत्कांचनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ॥ २४ ॥
यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्याऽऽत्ममंडलम् ।
विश्वकर्मकृता चाऽस्य दिव्या माला हिरण्मयी ॥ २५ ॥
आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।
आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ॥ २६ ॥
अर्चयामास सुप्रीतो भगवान्गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥ २७ ॥

कार्तिकेय बोले, हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो; तुमही हमारे और तीन लोकके राजा हो; हम तुम्हारे दास हैं; कहो कौन सी आज्ञा पालन करें; इन्द्र बोले हे महाबल ! हे स्कन्द ! यदि तुम सत्य सत्य यह बात निश्चय करके कहते हो, तो हम तुम्हारी आज्ञासे इन्द्र होंगे और यदि तुम हमारी आज्ञा पालन करना चाहते हो तो सुनो; हमारी यही इच्छा है कि तुम देवतोंके सेनापति बनो। कार्तिकेय बोले, हे इन्द्र ! दानवोंके नाश, देवतोंकी कार्यसिद्धि, तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितार्थ हमको देवतोंका सेनापति बनाओ। (१९–२३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, उसी समय सब देवतोंके सहित इन्द्रने स्वामीकार्तिकको सेनापति किया उस समय ऋषियोंसे पूजित कार्तिकेय अत्यन्त शोभायमान हुए, वह सोनेका छत्र उनके सिरपर लगा हुआ ऐसा विराजमान हुआ जैसे साक्षात अग्निका मण्डल। विश्वकर्माकी बनाई हुई सोनेकी माला साक्षात यशस्वी शिवने अपने हाथसे पहराई। उस समय शिव पार्वतीके सहित आए थे, उन्होंनेभी कार्तिकेयकी पूजा करी। ब्राह्मणोंने शिवका नाम अग्नि

रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २८ ॥
पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥ २९ ॥
अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कंदो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥
रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च भारत ।
जातः स्कंदः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३१ ॥
अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान्रक्ताभ्राभ्यामिवांऽशुमान् ३२॥
कुक्कुटश्चाऽग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३३ ॥
या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शांतिर्बलं तथा ।
अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धिनी ॥ ३४ ॥
विवेश कवचं चाऽस्य शरीरे सहजं तथा ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत्सदा ॥ ३५ ॥

लिखा है, इस लिये कार्तिकेय शिवहीके पुत्र हुए । (२३–२७)

शिवने जो वीर्य त्याग किया था वही श्वेत पर्वत हो गया था; उस पर्वत पर कृत्तिकाने अग्निकी इन्द्रियको बना था । सब देवतोंने शिवसे कार्तिकेयको पूजित देखकर कहा कि अग्निमें प्रवेश करके शिवने इस पुत्रको उत्पन्न किया है; उसी दिनसे सब लोग कार्तिकेयको शिवका पुत्र कहने लगे । हे भारत ! शिव, अग्नि, स्वाहा देवी और छः माताओंसे कार्तिकेयका जन्म हुआ है । ये कार्तिकेय सब देवतोंमें श्रेष्ठ और शिवके पुत्र हुए । (२८–३१)

निर्मल लाल वस्त्र धारण किये अग्नि-नन्दन कार्तिकेय ऐसे शोभायमान हुए जैसे लाल मेघोंके बीचमें सूर्य । उसी समय अग्निने एक कुक्कुट दिया और एक लाल ध्वजा दी । कुक्कुट युक्त वह ध्वजा रथपर लगकर ऐसी शोभायमान हुई, जैसी फैली हुई प्रलय कालकी अग्नि । जो सब प्राणियोंकी चेष्टा, प्रभा और शान्ति है, वही शक्ति अपना रूप धारण करके कार्तिकेयके आगे आई, वही शक्ति उनके संग उत्पन्न हुए कवच-में प्रवेश कर गई और वही शक्ति युद्धके

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कांतत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसंमोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३६ ॥
निकृंतनं च शत्रूणां लोकानां चाऽभिरक्षणम् ।
स्कंदेन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३७ ॥
एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमंडलः ॥ ३८ ॥
इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥ ४० ॥
क्रीडन्भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।
अभिषिक्तं महासेनमपश्यंत दिवौकसः ॥ ४१ ॥
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाऽभ्युदितं तथा
अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥ ४२ ॥
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।
ताः समासाद्य भगवान्सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ ४३ ॥
अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सांत्वयामास ता अपि ।

समय सदा प्रगट हो जाती है। ३२-३५

हे नरनाथ । शक्ति, धर्म, बल, तेज, शोभा, सत्य, बढती, ब्राह्मणता, चेतनता, भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश करना और लोकोंका पालन करना, ये सब गुण कार्त्तिकेयके जन्महीसे उत्पन्न हुए थे, हे महाराज! इस प्रकार सब देवतों ने कार्त्तिकेयका अभिषेक किया। उस समय कार्त्तिकेय सब भूषणोंको धारण करके ऐसे शोभायमान हुए जैसे प्रसन्न चन्द्रमाका मण्डल। उस समय देवतोंके बाजे बजाने लगे, देवता तथा गन्धर्व गाने लगे और अप्सरा नाचने लगीं। इनसे भिन्न औरभी बहुत लोग प्रसन्न हुए। (३६-४०)

उस समय देवता और पिशाचोंके बीचमें बैठकर अग्निनन्दन कार्त्तिकेय बहुत शोभायमान हुए, और उनको देखने लगे। उस समय कार्त्तिकेयकी ऐसी शोभा बढी जैसी प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्यकी। अनन्तर उनके पास सहस्रों देवतोंकी सेना आने लगी। वे सब लोग चारों ओरसे कहने लगे कि तुम हमारे स्वामी हो; तब कार्त्तिकेय

शतक्रतुश्चाऽभिषिच्य स्कंदं सेनापतिं तदा ॥ ४४ ॥
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।
अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥ ४५ ॥
इति चिंत्याऽऽनयामास देवसेनां स्वलंकृताम् ।
स्कंदं प्रोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥ ४६ ॥
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयंभुवा ।
तस्मात्त्वमस्या विधिवत्पाणिं मंत्रपुरस्कृतम् ॥ ४७ ॥
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।
एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥ ४८ ॥
बृहस्पतिर्मंत्रविद्धि जजाप च जुहाव च ।
एवं स्कंदस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ॥ ४९ ॥
षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम् ।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ५० ॥
यदा स्कंदः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया ।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ५१ ॥

ने उन सबको शान्त किया । उन्होंने भी कार्त्तिकेयकी शान्ति और पूजा करी । जब इन्द्र कार्त्तिकेयका अभिषेक कर चुके, तब उस देवसेना कन्याका स्मरण किया जिसको उन्होंने राक्षससे छुडाया था; इन्द्रने विचारा कि ब्रह्माने इसीको इस कन्याके लिये पति बनाया था । (४०-४५)

ऐसा विचारकर इन्द्र उस कन्याको आभूषण पहिराकर कार्तिकेयके पास ले आये; तब इन्द्र कार्तिकेयसे कहने लगे कि हे देवतोंमें श्रेष्ठ ! यह कन्या है, जब तुम उत्पन्न नहीं हुए थे, तबही ब्रह्माने तुम्हारे लिये इसको बनाया था; इस लिये तुम इसका दहना हाथ विधिके सहित अपने कमलके समान हाथसे ग्रहण करो। इन्द्रके ऐसे वचन सुन कार्तिकेयने देवसेनासे विधि पूर्वक विवाह किया । उस विवाहमें मन्त्रके जाननेवाले बृहस्पतिने मन्त्र गाये और होम करी, इस प्रकार देवसेना कार्तिकेयकी स्त्री भई । (४६—४९)

वह विवाह षष्ठी तिथिको हुआ था: इस लिये इसी तिथिको पहले ब्राह्मण लोग सुख और लक्ष्मीको देनेवाली कहते हैं; इसीके सिनीवाली, कुहू सद्वृत्ति और अपराजिता नाम हैं । जिस समय देवसेनाने कार्तिकेयको अपना

श्रीजुष्टः पंचमीं स्कंदस्तस्माच्छ्रीपंचमी स्मृता।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद्यस्मात्तस्मात्षष्ठी महातिथिः॥५२ [८९२२

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसे स्कन्दोत्पत्तावूनत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ २२९ ॥

मार्कंडेय उवाच — श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम्।
सप्तर्षिपत्न्यः षड्देव्यस्तत्सकाशमथाऽऽगमन् ॥ १ ॥
ऋषिभिः संपरित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥
वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसंमितैः।
अकारणाद्रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात्परिच्युताः ॥ ३ ॥
अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाऽप्युदाहृतम्।
तत्सत्यमेतत्संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥
अक्षयश्च भवेत्स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥
स्कंद उवाच — मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिंदिताः।

पति बनाया, उसी समय लक्ष्मीभी अपना शरीर धारण करके कार्त्तिकेयके पास आई। पञ्चमी तिथिको कार्तिकेय लक्ष्मी वान हुए थे, इसी से उस तिथिका नाम श्रीपञ्चमी है। षष्ठीको कार्त्तिकेयका विवाह हुआ था, इसीसे षष्ठीको महातिथि कहा है। (५०-५२) [८९२२]

वनपर्वमें दोसौ उनतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ तीस अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! जिस समय कार्त्तिकेय देवतोंके सेनापति हो चुके और परम शोभासे विराजमान होने लगे उसी समय सप्त ऋषियोंकी स्त्री उनके पास आईं। वे सब धर्मको और व्रतको धारण करने वाली थीं; परन्तु ऋषियोंने उनको छोड दिया था। वे सब कहने लगीं, हे पुत्र हम लोगोंको हमारे देव-समान पतियोंने विना कारणही क्रोधवश होकर छोड दिया है, इस लिये हम लोग धर्मसे नष्ट हो गई हैं; किसीने हमारे पतियोंसे कह दिया कि तुम हमारेही गर्भसे उत्पन्न हुए हो, इन सब सत्यबातोंको सुनकर तुम हमारी रक्षा करो, हे प्रभो! तुम्हारी कृपासे हमको अक्षय स्वर्ग होगा, हम सब तुमको अपना पुत्र बनाना चाहते हैं; यह कार्य करके तुम अऋण हो जाओ। कार्त्तिकेय बोले, हे निन्दारहित

यद्वाऽपेक्षितं तत्सर्वं संभविष्यति वस्तथा ॥ ६ ॥

मार्कंडेय उवाच — विवक्षंतं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कंदेन ब्रूहीति सोऽब्रवीद्वासवस्ततः ॥ ७ ॥
अभिजित्स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा ।
इच्छंती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥
तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालं त्विमं परं स्कंद ब्रह्मणा सह चिंतय ॥ ९ ॥
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिणी ह्यभवत्पूर्वमेवं संख्या समाऽभवत् ॥ १० ॥
एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदैवतम् ॥ ११ ॥
विनता चाऽब्रवीत्स्कंदं मम त्वं पिंडदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाऽहं त्वया पुत्र सहाऽऽसितुम् ॥ १२ ॥

स्कंद उवाच— एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात्प्रशाधि माम् ।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ॥ १३ ॥

ब्राह्मणियो ! तुम सब हमारी माता हो, हम तुम्हारे पुत्र हैं, और जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो सब सिद्ध होगी। (१—६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, कार्तिकेयने इन्द्रसे कहा कि, हे इन्द्र ! हम तुम्हारा कौन सा कार्य सिद्ध करें ? इन्द्र बोले, हे कार्तिकेय ! अभिजित रोहिणीसे छोटी है, परन्तु वह रोहिणीसे बडी होना चाहती है, इसी लिये वह तप करनेको वनमें गई है, इसी लिये मैं घबडा रहा हूं, क्योंकि अभिजित नक्षत्र आकाशसे नष्ट होगया है, रोहिणी उससे बडी होना चाहती है, इसी लिये वह तप करने को वनमें गई है, इसी लिये तुम ब्रह्माके यहां जाकर समयका विचार करो । ब्रह्माने पहले धनिष्ठाको आदि गिना है । सबसे पहली रोहिणी थी इस प्रकार यह संख्या स्थित है।(७–१०)

इन्द्रके यह वचन सुनकर कृत्तिका आकाशको चली गई । वही कृत्तिका सात सिरके समान दिखाई देती है, उसका देवता अग्नि है । विनताने कार्तिकेयसे कहा कि तुम हमारे पिण्ड देने वाले पुत्र हो, इस लिये मैं सदा तुम्हारे सङ्ग रहना चाहती हुं । (११–१२)

कार्तिकेय बोले, तुमने कहा सो ऐसा ही होगा,हम तुम्हें प्रणाम करते हैं, तुम हमें पुत्रप्रेमसे पालन करो और पुत्रवधू

मार्कण्डेय उवाच— अथ मातृगणाः सर्वे स्कंदं वचनमब्रवीत् ।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः ।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥ १४ ॥

स्कंद उवाच — मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः ।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥ १५ ॥

मातर ऊचु— यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्याऽस्य प्रकल्पिताः ।
अस्माकं तु भवेत्स्थानं तासां चैव न तद्भवेत् ॥ १६ ॥
भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ ।
प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः ॥१७॥

स्कंद उवाच— दत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ॥ १८॥

मातर ऊचुः— इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः ।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥ १९ ॥

स्कंद उवाच— प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधुनमस्कृताः ॥ २० ॥

से पूजित होकर यहां सुखसे रहो।(१३)

मार्कंडेय मुनि बोले, इसके पश्चात सब लोकमाता कार्त्तिकेयसे कहने लगीं कि हम सब लोकोंकी माता हैं, और सब पण्डित लोग स्तुति करते हैं हम तुम्हारी माता होना चाहती हैं, तुम हमारी पूजा करो। (१४)

कार्त्तिकेय बोले, हे लोकमाता! तुम सब हमारी माता हो और हम तुम सबके पुत्र हैं, जो तुम्हारी इच्छा हो सो मुझसे कहो मैं उसको पूर्ण करूंगा। लोकमाता बोलीं, पहले जो लोकमाता थीं उनके जो स्थान थे सो हमको मिलें और उनको न मिलें; हमारी सब लोक पूजा करें और उनकी न करें। हे देव-सिंह! उन्होंने तुम्हारे कारणसे हमारी सन्तानको छीन लिया है सो हमे फिर दो। (१५—१७)

कार्तिकेय बोले, वह सब सन्तान नष्ट हो गई, अब तुम लोगोंको नहीं मिल सकती हैं, यदि तुम लोगोंकी इच्छा हो तो दूसरी कौनसी प्रजा तुम्हें दें। (१८)

लोकमाता बोलीं, हे कार्तिकेय! हम उन लोकमाताओंकी प्रजा भोग करना चाहती हैं, तुमको छोडकर और जो कुछ उनका हो हमको दे दो। कार्तिकेय बोले, हम बहुत कष्टसे यह प्रजा तुमको देते हैं, तुम लोग उनकी रक्षा करना, क्यों

मातर ऊचुः— परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कंद यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कंद सहवासश्चिरं प्रभो ॥ २१ ॥

स्कंद उवाच— यावत्षोडश वर्षाणि भवंति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥ २२ ॥
अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच— ततः शरीरात्स्कंदस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः॥ २४ ॥
अपतत्सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ।
स्कंदेन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ॥ २५ ॥
स्कंदापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ।
विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ॥ २६ ॥
पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात्पूतनाग्रहम् ।
कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ॥ २७ ॥
पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान्सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥ २८ ॥

कि तुमको सब साधू लोग नमस्कार करते हैं। (१९—२०)

लोकमाता बोलीं, हे कार्तिकेय ! तुम्हारा कल्याण हो, हम प्रजाकी तुम्हारी इच्छानुसार रक्षा करेंगी, तुम्हारे संग बहुत दिन तक रहनेको हमारी इच्छा है। २१

कार्तिकेय बोले, जब तक सन्तान सोलह वर्षकी हों तब तक अलग अलग रूप बनाकर उनको पीडा करो, हम तुम लोगोंको अपना भयंकर अंश देंगे। उसके सहित सुखसे पूजा पाकर यहां वसो। (२२—२३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, उसी समय कार्तिकेयके शरीरसे मनुष्योंकी प्रजाको भक्षण करनेके लिये एक पुरुष उत्पन्न हुआ, उसका सोनेके समान रंग था; वह उत्पन्न होतेही भूकसे व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर गया। उसी समय कार्तिकेयकी आज्ञासे वह रुद्र रूपी ग्रह हो गया, ब्राह्मणोंने उसीको स्कन्दापस्मार कहा है। जो बडी कठिन विनता है उसीको शकुनि ग्रह कहते हैं। जो पूतना नामक राक्षसी है वह बडा दुःख देने वाली और घोर रूपिणी है, उसीको पूतना ग्रह भी कहते हैं, जो भयानक रूपवाली पिशाची है उसे शीत पूतना कहते हैं; वह

अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालान्महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २९ ॥
दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमंडिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन संप्रहृष्टा दुरासदा ॥ ३० ॥
कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कंदसंभवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ॥ ३१ ॥
तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आजायमानान्गृह्णंति बालकान्रौद्रकर्मिणः ॥ ३२ ॥
गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथाऽऽरुह्य सह भुंक्ते शिशून्भुवि॥ ३३ ॥
सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
साऽपि गर्भान्समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३४ ॥
पादपानां च या माता करंजनिलया हि सा ।
वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकंपिनी ॥ ३५ ॥
करंजे तां नमस्यंति तस्मात्पुत्रार्थिनो नराः ।
इमे त्वष्टादशाऽन्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ॥ ३६ ॥

स्त्रियोंके गर्भसे बालकोंको निकाल देती है। (२४— २८)

अदितिका नाम रेवती है;उसका ग्रह रैवत है, वह भी बडा घोर है और बालकोंको दुःख देता है, जो दिति नामक दैत्योंकी माता है,उसका नाम मुखमण्डिका है वह सदा बालकोंकी मांस खाया करती है। हे कुरुनन्दन! जो हमने कार्तिकेयके उत्पन्न हुए लडकी और लडके कहे सो सब भी बालकोंको दुःख देने वाले और महा ग्रह हैं ये सब इन स्त्रियों के पति और बडे दुष्ट कर्म करनेवाले हैं, यही बालकोंको नाश कर देने वाले हैं। (२९—३२)

हे राजन्! जो सुरभी नामक गौओं की माता है उसके ऊपर शकुनी चढकर पृथ्वीके बालकोंको खाजाता है। हे नरनाथ! सरमा नामक जो कुत्तोंकी माता है वह भी स्त्रियोंके गर्भको निकाल लेती है। करंजनिलया जो वृक्षोंकी माता है वह बडी साधु वरदान देनेवाली और जन्तुओंके ऊपर कृपा करने वाली है। इसी लिये पुत्र चाहने वाले पुरुष करंज के वृक्षमें उसे प्रणाम करते हैं। ये और इनसे अन्य अठारह ग्रह हैं; ये सब मांस और मधुको अत्यन्त प्रिय मानते हैं,

द्विपंचरात्रं तिष्ठंति सततं सूतिकागृहे ।
कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ॥ ३७ ॥
भुंक्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ।
गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति॥ ३८॥
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ।
या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ॥ ३९ ॥
उपनष्टं ततो गर्भं कथयंति मनीषिणः ।
लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कंदस्य सा स्मृता ॥४०॥
लोहितायनिरित्येवं कदंबे सा हि पूज्यते ।
पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथाऽऽर्या प्रमदास्वपि ॥ ४१ ॥
आर्या माता कुमारस्य पृथक्कामार्थमिज्यते ।
एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ॥ ४२ ॥
यावत्षोडश वर्षाणि शिशूनां त्वशिवास्ततः ।
ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ॥ ४३ ॥
सर्वे स्कंदग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ।
तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाऽञ्जनम् ।
बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्या विशेषतः ॥ ४४ ॥

और उस दिन तक सूतिका स्थानमें रहते हैं । (३३—३७)

कद्रु सूक्ष्म रूप धारण करके गर्भमें घुस जाती है, और स्त्रीके गर्भको खा जाती है तब उसके गर्भसे नाग उत्पन्न होता है । जो गन्धर्वोंकी माता है, सो गर्भको लेकर चली जाती है; इसीसे स्त्रियोंका गर्भ छिप जाता है। जो अप्सराओंकी माता है सो गर्भको ग्रहण करती है । इसीसे पंडित लोग स्त्रीका गर्भ नष्ट हो गया ऐसा कहते हैं । जो लाल समुद्रकी कन्या है जिसने कार्तिकेयको दूध पिलाया था, उसका नाम लोहितायनी है; उसकी पूजा कदम्ब वृक्षमें होती है । जैसे पुरुषोंमें शिव हैं; तैसेही स्त्रियोंमें आर्या है; वह आर्या कार्तिकेयकी माता है; उसकी पूजा अलग अलग कार्योंमें की जाती है; मैंने यह सब ग्रह कहे। जब तक सोलह वर्षका बालक होता है, तब तक ये सब दुःख देते हैं।(३७-४३)

जो हमने पुरुष और स्त्री ग्रह कहे इन सबको स्कन्द ग्रह जानना चाहिये; इन सबकी पूजा धूप, दीप और स्नान से करनी चाहिये;इनकी शान्तिके निमित्त

एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छंति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्यं च राजेंद्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४५ ॥
ऊर्ध्वं तु षोडशाद्वर्षाद्ये भवंति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं संप्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४६ ॥
यः पश्यति नरो देवान्जाग्रद्वा शयितोऽपि वा ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ॥ ४७ ॥
आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन् ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥ ४८ ॥
अवमन्यति यः सिद्धान्क्रुद्धाश्चापि शपंति यम् ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥ ४९ ॥
उपघ्राति च यो गन्धान्रसांश्चापि पृथग्विधान् ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ॥५० ॥
गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशंति नरं भुवि ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहो गांधर्व एव सः ॥ ५१ ॥
अधिरोहंति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥ ५२ ॥

कार्तिकेयके नामसे बलिदान करना चाहिये। इस प्रकार पूजा पाकर ये सब अच्छा फल देते हैं। हे राजेन्द्र! ये सब लोग पूजा पाकर पुरुषोंका वीर्य और आयु बढाते हैं। अब हम शिवको नमस्कार करते हैं और उन ग्रहोंका वर्णन करते हैं जो सोलह वर्षके अवस्थाके पीछे बालकोंको दुःख देते हैं। (४३—४६)

जो पुरुष सोते अथवा जागते हुए देवतोंको देखता है, और फिर शीघ्रही पागल होजाता है। उस ग्रहका नाम देवग्रह है। जो बैठे या सोये हुए पितरोंको देखता है, और फिर उन्मत्त हो जाता है, उसे पितृग्रहका दोष जानना चाहिये। जो सिद्धोंका अपमान करता है और जिसे सिद्ध लोग क्रोधित होकर शाप देते हैं, फिर जो पागल हो जाता है, वह सिद्ध ग्रहका दोष है। जो पागल अनेक सुगन्धियोंको सूंघे और अनेक रसोंको खाय और पागल बने जाय उसे राक्षस ग्रह जानना चाहिये। (४७—५०)

जिसके शरीरमें गन्धर्व प्रवेश करता है और वह शीघ्रही पागल हो जाता है, उसे गन्धर्व ग्रह जानना चाहिये। जिसके ऊपर पिशाच चढता है, और

आविशांति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ॥ ५३ ॥
यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५४ ॥
वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात् ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं सांत्वं तस्य तु साधनम् ॥ ५५ ॥
कश्चित्क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथाऽपरः ।
अभिकामस्तथैवाऽन्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥ ५६ ॥
यावत्सप्तति वर्षाणि भवंत्येते ग्रहा नृणाम् ।
अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ॥ ५७ ॥
अप्रकीर्णेंद्रियं दांतं शुचिं नित्यमतंद्रितम् ।
आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयंति सदा ग्रहाः ॥ ५८ ॥
इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः ।
न स्पृशंति ग्रहा भक्तान्नरान्देवं महेश्वरम् ॥ ५९ ॥[८९८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरसे मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१५ ॥

वह पुरुष पागल हो जाता है, उसपर पैशाच ग्रह जानना चाहिये, जिस पुरुष पर समय बिगडनेसे यक्ष लोग आते हैं; और वह पागल हो जाता है, उसको यक्ष ग्रहका दोष है। जो पुरुष वात, पित्त, और कफके दोषोंमें पागल हो जाता है, उसकी चिकित्सा शास्त्रानुसार करनी चाहिये। जो पुरुष विकलतासे भयसे, और कठोर वस्तुके देखनेसे पागलहो जाता है, उसके चित्तको शान्त करना चाहिये। (५१—५५)

कोई ग्रह खेलनेकी इच्छा करता है, कोई खानेकी इच्छा करता है, और कोई साधारण इच्छा रखता है; इस प्रकार ग्रहोंकी तीन इच्छा होती हैं। ७० वर्ष की अवस्था तक पुरुषोंको ये सब ग्रह दुःख देते हैं; इसके पीछे ज्वरही ग्रहके समान हो जाता है। (५६—५७)

जो पुरुष इन्द्रिय-जित, पवित्र, दाता, सदा आलस्यरहित श्रद्धावान और आस्तिक होता है, उसे ग्रह लोग छोड देते हैं, हमने यह सब ग्रहोंका विधान आपसे कहा। जो पुरुष भगवान शिवके भक्त हैं, उनको कोईभी ग्रह दुःख नहीं देते। (५८—५९) [८९८१]

वनपर्वमें दोसौ तीस अध्याय समाप्त।

मार्कंडेय उवाच — यदा स्कंदेन मातॄणामेवमेतात्प्रियं कृतम् ।
अथैनमब्रवीत्स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ॥ १ ॥
इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम् ।
तामब्रवीत्ततः स्कंदः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम् ॥ २ ॥
स्वाहोवाच — दक्षस्याऽहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज ।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने ॥ ३ ॥
न स मां कामिनीं पुत्र सम्यग्जानाति पावकः ।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाऽग्निना ॥ ४ ॥
स्कंद उवाच — हव्यं कव्यं च यत्किंचिद् द्विजानां मंत्रसंस्तुतम् ।
होष्यंत्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम् ॥ ५ ॥
अद्यप्रभृति दास्यंति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः ।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥ ६ ॥
मार्कंडेय उवाच— एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कंदेन पूजिता ।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कंदमपूजयत् ॥ ७ ॥

वनपर्वमें दोसौ इकतीस अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! जिस समय कार्तिकेयने लोकमाताओंका प्रिय कार्य किया, उसी समय स्वाहा देवीने कुमारसे कहा कि तुम हमारे गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्र हो, इस लिये मैं तुम्हारे दुर्लभ प्रेमको चाहती हूं। तब कार्तिकेयने उनसे कहा कि तुम हमारे किस प्रकारके प्रेमको चाहती हो ? स्वाहादेवी बोलीं, हे महाभुज ! मैं दक्षकी प्यारी कन्या हूं मेरा नाम स्वाहा है, मैं बाल्यावस्थाहीसे अग्निको अपना पति बनाना चाहती थी, हे ! पुत्र वह मुझको नहीं जानते थे, कि यह मेरी इच्छा करती है, हे पुत्र ! मैं सदाही अग्निके सङ्ग बसना चाहती हूं । (१—४)

कार्तिकेय बोले, हे स्वाहे ! ब्राह्मण लोग यज्ञों में मन्त्रोंके सहित जो हव्य और कव्य देंगे उसमें स्वाहा शब्द उच्चारण करेंगे। इसी प्रकारसे तू आजसे अग्निके संग बसेगी । हे सुन्दरी ! अच्छे कर्म करनेवाले महात्मा लोग आजसे ऐसाही करेंगे । (५—६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! स्वामीकार्तिकेयके ऐसे वचन सुनकर स्वाहा देवी बहुत सन्तुष्ट हुई और कार्तिकेयने उनकी बहुत पूजा करी। उसी दिनसे स्वाहा देवी अपने पति अग्निके सङ्ग रहती हैं । उन्होंनेभी कार्तिकेयकी पूजा करी । अनन्तर प्रजापति

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाऽब्रवीत् ।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥ ८ ॥
रुद्रेणाऽग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ ९ ॥
उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना ।
अस्मिन्गिरौ निपतितं मिंजिकामिंजिकं यतः ॥ १० ॥
संभूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत् ।
सूर्यरश्मिषु चाऽप्यन्यदन्यच्चैवाऽपतद्भुवि ॥ ११ ॥
आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पंचधाऽपतत् ।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ॥ १२ ॥
एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम् ।
मार्कण्डेय उवाच— अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ॥ १३ ॥
अर्कपुष्पैस्तु ते पंच गणाः पूज्या धनार्थिभिः ।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् ॥ १४ ॥
मिंजिकामिंजिकं चैव मिथुनं रुद्रसंभवम् ।

ब्रह्माने कार्तिकेयसे कहा, कि तुम त्रिपुरासुरके नाश करनेवाले अपने पिता महादेवके पास जाओ; महादेवने अग्निका और पार्वतीने स्वाहादेवीका रूप धारण करके तुमको उत्पन्न किया है; तुमको युद्धमें कोई नहीं जीत सकता। (७-९)

जो शिवने अपने वीर्यको पार्वतीके योनिमें स्थापन किया था, वह इस पर्वत में गिरा इसीसे मिंजिकामिंजिक संज्ञक स्त्री पुरुष उत्पन्न हुए हैं, जो वीर्य शेष रह गया; वह लाल समुद्रमें तथा कुछ भाग सूर्य किरणोंमें, कुछ भूमिमें और वृक्षोंमें गिर गया था, इस प्रकार इस वीर्यके पांच टुकडे हो गये थे; इसी लिये अनेक प्रकारके गणभी उत्पन्न हुए हैं, ये जो मांस खानेवाले, हैं; ये सब तुम्हारे पार्षद हों। पिताके प्यारे कार्तिकेयने उन के वचनोंको स्वीकार करके अपने पिता महादेवकी पूजा करी। (१०—१३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! जो पुरुष धनकी इच्छा रखते हैं, उन्हें उन गणोंकी पूजा अर्कके पुष्पोंसे करनी चाहिये; जो लोग किसी रोगको शान्त करना चाहते हैं, वे सामान्य पूजा करें। मिञ्जिक और अमिञ्जिक ये दोनों शिवसे उत्पन्न हुए हैं, इस

नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ॥ १५ ॥
स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः ॥१६॥
एवमेते पिशाचानामसंख्येया गणाः स्मृताः।
घंटायाः सपताकायाः शृणु मे संभवं नृप ॥ १७ ॥
ऐरावतस्य घंटे द्वे वैजयंत्याविति श्रुते।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते क्रमेणाऽऽनाय्य धीमता ॥ १८ ॥
एका तत्र विशाखस्य घंटा स्कंदस्य चाऽपरा।
पताका कार्त्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ॥ १९ ॥
यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ॥ २० ॥
स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा।
शुशुभे कांचने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः ॥ २१ ॥
तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः।
आदित्येनेवांऽशुमता मंदरश्चारुकन्दरः ॥ २२ ॥
संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ॥ २३ ॥

लिये बालकोंके हित चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि इन दोनोंको सदा प्रणाम करें। सन्तान चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है; कि जो मांसभक्षिणी वृक्षवासिनी, वृद्धिका नामक देवी हैं, उनको वृक्षोंमें प्रणाम करें। हमने इस प्रकारसे असंख्य पिशाचोंके गण कहे; अब हम घण्टा और पताकाका जन्म कहते हैं; आप सुनिये। (१४-१७)

ऐरावतकी जो दो घण्टे हैं, उनका नाम वैजयन्ती है। वे दोनों बुद्धिमान कार्तिकेयको दिये गए थे। उनमेंसे एक विशाखका है, और एक कार्तिकेयका है। कार्तिकेयके घण्टेका नाम पताका और विशाखके घण्टेका नाम लोहिता है। देवतोंने जो कार्तिकेयको खेल दिये थे, उन्हींसे सब देवता और पिशाचोंके सहित कार्तिकेय खेलने लगे। महा तेजस्वी वीर कार्तिकेयसे वह उत्तम बनवाला पर्वत शोभायमान हो गया। उस समय उस पर्वतकी ऐसी शोभा बढी जैसी सूर्यके निकलनेसे उत्तम गुफावाले मन्दराचलकी। (१८—२२)

फले हुए सन्तानक, कनेर, पारिजात,

कदंबतरुषंडैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि।
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ॥ २४ ॥
तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ॥ २५ ॥
तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यंतेऽप्सरसस्तथा।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान् ॥ २६ ॥
एवं सेन्द्रं जगत्सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम्।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कंदं न च ग्लायति दर्शनात् ॥ २७ ॥
मार्कंडेय उवाच—यदाऽभिषिक्तो भगवान्सैनापत्येन पावकिः।
तदा संप्रास्थितः श्रीमान्हृष्टो भद्रवटं हरः ॥ २८ ॥
रथेनाऽऽदित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः।
सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन्युक्तं रथोत्तमे ॥ २९ ॥
उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाऽभिप्रचोदितम्।
ते पिबंत इवाऽऽकाशं त्रासयंतश्चराचरान् ॥ ३० ॥
सिंहा नभस्यगच्छंत नदंतश्चारुकेसराः।
तस्मिन्रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ॥ ३१ ॥

गुडहल, अशोक कदंबादि वृक्षोंके वनसे तथा अनेक दिव्य पशु और पक्षियोंसे वह श्वेत पर्वत बहुत शोभायमान हुआ, उस पर्वत पर मेघ, बाजे और उछलते हुए समुद्रके समान शब्दवाले सब देवता, देवऋषि, दिव्य गन्धर्व, और अप्सरा लोग नाचने लगे, और प्रसन्न होकर गाने लगे। वह शब्द उस पर्वत पर पूरित हो गया। इस प्रकारसे इन्द्रके सहित सब जगत उस श्वेत पर्वतपर कार्तिकेयको देखने लगा, इससे कभी उन लोगोंको दुःख नहीं होता था।(२४-२७)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, जिस समय भगवान कार्तिकेयका सेनापति पद पर अभिषेक हुआ उसी दिन भगवान शिव भी पार्वतीके सहित सूर्यके समान तेजस्वी रथ पर चढ प्रसन्न होकर भद्र बट को चले गए। उनके उस उत्तम रथमें एक सहस्र सिंह जुडे थे। वह रथ उत्तम समय पाकर स्वच्छ आकाशको उडने लगा। उसके चलनेसे ऐसा जान पडता था, मानो यह आकाशको खा जायगा। रथसे समस्त चर और अचर डरने लगे। वे सिंह अपने गलेके बालोंको फैलाकर आकाशमें उडने लगे। उस समय पार्वतीके सहित महादेव उस रथमें बैठे हुए

विद्युता सहितः सूर्यः सेन्द्रचापे घने यथा।
अग्रतस्तस्य भगवान्धनेशो गुह्यकैः सह ॥ ३२ ॥
आस्थाय तु चिरं याति पुष्पकं नरवाहनः।
ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ॥ ३३ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम्।
जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलंकृतः ॥ ३४ ॥
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः।
तस्य दक्षिणतो देवा बहवश्चित्रयोधिनः ॥ ३५ ॥
गच्छंति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह संगताः।
यमश्च मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ॥ ३६ ॥
घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा।
यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ॥ ३७ ॥
विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलंकृतः।
तमुग्रपाशो वरुणो भगवान्सलिलेश्वरः ॥ ३८ ॥
परिवार्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः।
पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ॥ ३९ ॥
गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः।

ऐसे शोभित हुए जैसे इन्द्र-धनुषके सहित मेघोंके बीचमें बिजलीके सहित सूर्य। (२८-३२)

उनके आगे, सब गुह्यकोंके सहित भगवान कुबेर देवता पुष्पक विमानके ऊपर चढकर चले। वरदान देनेवाले वृष वाहन भगवान शिवके पीछे ऐरावतपर चढकर सब देवतोंके सहित इन्द्र चले, और उनकी दहनी ओर माला आदि सब आभूषणोंको पहिरकर जृंभक नामक यक्ष और राक्षसोंको सङ्ग लेकर अमोघ नामक महायक्ष चले। इनके दहनी ओर विचित्र युद्ध करनेवाले अनेक देवता रुद्र और वसु लोग चले! महा घोर रूपधारी यमराज मृत्यु सब रोगोंके सहित शिवको चारों ओरसे घेरकर चले। शिवके पीछे महाघोर तीन धारवाला विजय नामक शिवका त्रिशूल चला। (३२–३८)

उसके पीछे उग्र फांसीको धारण करनेवाले जलके राजा भगवान वरुण जल जन्तुओंके सहित चले। विजय नामक त्रिशूलके पीछे शिवका पट्टिश चला। गदा मूषल और शक्ति आदिक उत्तम शस्त्रोंके सहित पट्टिश के पीछे

पट्टिशं त्वन्वगाद्राजंश्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ॥ ४० ॥
कमंडलुश्चाऽप्यनु तं महर्षिगणसेवितः ।
तस्य दक्षिणतो याति दंडो गच्छञ्छ्रिया वृतः ॥४१॥
भृग्वंगिरोभिः सहितो देवतैश्चाऽनुपूजितः ।
एषां तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यंदने स्थितः ॥ ४२ ॥
याति संहर्षयन्सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः ।
ऋषयश्चापि देवाश्च गंधर्वा भुजगास्तथा ॥ ४३ ॥
नद्यो ह्रदाः समुद्राश्च तथैवाऽप्सरसां गणाः ।
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ॥ ४४ ॥
स्त्रियश्च विविधाकारा यांति रुद्रस्य पृष्ठतः ।
सृजंत्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वरांगनाः ॥ ४५ ॥
पर्जन्यश्चाऽप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् ।
छत्रं च पांडुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ॥ ४६ ॥
चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाऽग्निश्च धिष्ठितौ ।
शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः ॥ ४७ ॥
सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् ।
गौरी विद्याऽथ गांधारी केशिनी मित्रसाह्वया ॥ ४८॥
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यांति पृष्ठतः ।
तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित्कविभिः कृताः ॥४९॥

उत्तम प्रकाशवाला शिवका छत्र चला। उसके पीछे महाऋषियोंसे सेवित कमण्डलु चला। उसके पीछे शोभासे भरा हुआ दण्ड चला। इन सबके पीछे भृगु और अङ्गिरादिक ऋषियोंके सहित विमल रथपर चढकर शिव चले। इसके चलतेही इनके तेजसे सब देवता लोग प्रसन्न होने लगे। (३८—४३)

उनके पीछे ऋषि, देवता, गन्धर्व, सर्प, नदी, तलाव, समुद्र, अप्सरा, नक्षत्र, ग्रह, देवतोंके बालक और अनेक प्रकार की स्त्रियां चलीं। वे सब सुन्दरी स्त्रियां शिवके ऊपर फूल वर्षाने लगीं। शिवको नमस्कार करके मेघही उनके पीछेही चले। शिवके सफेद छत्रको चन्द्रमाने धारण किया, चमरोंको वायु और अग्निने हातमें लिया। हे राजन्! उनके पीछे राजऋषियोंके सहित स्तुति करते हुए लक्ष्मीसे भरे इंद्र चले। ४३-४८

पार्वतीके पीछे सावित्री, गौरी, विद्या,

तस्य कुर्वंति वचनं सेंद्रा देवाश्चभूमुखे ।
गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥
व्यापृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ।
पिंगलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्याऽऽनंददायकः ॥ ५१ ॥
एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम् ।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा ॥ ५२ ॥
रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयंतीह दैवतम् ।
शिवमित्येव तं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम् ॥ ५३ ॥
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयंति महेश्वरम् ।
देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः ॥ ५४ ॥
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ।
अथाऽब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद्वचः ।
सप्तमं मारुतस्कंधं रक्ष नित्यमतंद्रितः ॥ ५५ ॥
स्कंद उवाच — सप्तमं मारुतस्कंधं पालयिष्याम्यहं प्रभो ।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद्वद मा चिरम् ॥ ५६ ॥
रुद्र उवाच — कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि ।

केशिनी, गान्धारी और मित्रसा चलीं। उनके पीछे कवियोंकी जितनी विद्या हैं वे सब चलीं। उस सैन्यमें इन्द्रादिक सब देव शिवजीके आज्ञाधारी बने। उन के पीछे श्मशानवासी रुद्रका सखा सब लोकोंके सुखद पिङ्गल नामक यक्षराज हाथमें पताका लेकर चले। इस प्रकार सुखसे भगवान शिव कैलाससे चले। शिव के आगे और पीछे किसीकी गति नहीं हुई, शिवको जगत्के लोग अच्छे कर्मोंसे प्राप्त करते हैं; शिव परम देवता हैं; उन्हींका नाम शिव, रुद्र, ईश और पितामह है; जगतके लोग उन्हीं महादेव को अनेक प्रकारसे पूजते हैं। (४८-५४)

इस प्रकारसे देवतोंके सेनापति कृत्तिकाके पुत्र ब्राह्मणोंके जाननेवाले भगवान् कार्त्तिकेयभी देवतोंकी सेनाके सहित शिवके पीछे चले। इसके अनन्तर भगवान शिवने कार्त्तिकेयसे कहा कि तुम सदा आलस्य रहित होकर सातवें वायु स्कन्धकी रक्षा करो। (५४-५५)

कार्त्तिकेय बोले, हे नाथ! हम सातवें वायु स्कन्धकी रक्षा करेंगे और जो कुछ हमारे योग्य काम हो सो हमें शीघ्र कहिये। श्रीशिवजी बोले, हे पुत्र! तुम सदा हमारे कार्योंको देखते रहो; ऐसा करनेसे

दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ ५७ ॥

मार्कंडेय उवाच - इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः ।
विसर्जिते ततः स्कंदे बभूवौत्पातिकं महत् ॥ ५८ ॥
सहसैव महाराज देवान्सर्वान्प्रमोहयत् ।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥ ५९ ॥
चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद्विभो ।
ततस्तद्दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शंकरस्तदा ॥ ६० ॥
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः ।
ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसन्निभम् ॥ ६१ ॥
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद्बलम् ।
तद्वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥ ६२ ॥
अभ्यद्रवद्रणे देवान्भगवंतं च शंकरम् ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥ ६३ ॥
पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः ।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ॥ ६४ ॥

और हमारी भक्ति करनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा। (५६—५७)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, कार्त्तिकेयसे ऐसा कहकर और उनको अपने हृदयसे लगाकर शिवने विदा किया। जब कार्त्तिकेय चले गये तो वहां बहुत उत्पात होने लगे। हे महाराज! उस उत्पातसे सब देवता मोहित हो गए। उसी समय आकाश और सब तारे जलने लगे, और तीनों लोक मूर्खके समान जड हो गये। पृथ्वी हिलने लगी और पृथ्वीमेंसे एक घोर शब्द होने लगा। समस्त जगतमें अन्धकार हो गया। इस घोर उत्पातको देखकर शिव और महा भाग्यवती पार्वती तथा और भी देवता आदिक सब घबडा गये। (५८—६१)

जब इस प्रकार सब लोग मूर्च्छित हो गए, उसी समय एक पर्वत और मेघके समान शरीरवाला राक्षसोंका सैन्य दिखाई दिया। वह अनेक प्रकारके शस्त्रोंको धारण किये और गर्जता हुआ शिव और देवतोंकी ओर दौडा। वह सब राक्षस लोग देवतोंकी सेनापर बाण बरसाने लगे। उसी समय देवतोंकी सेनापर पर्वत, शतघ्नी, प्रास, खड्ग और परिघ आदि अनेक शस्त्र वर्षने लगे, उन शस्त्रोंके लगनेसे क्षण भरमें

क्षणेन व्यद्रवत्सर्वं विमुखं चाऽप्यदृश्यत ।
निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥ ६५ ॥
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ ।
असुरैर्वध्यमानं तत्पावकैरिव काननम् ॥ ६६ ॥
अपतद्दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा ।
ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवंतो दिवौकसः ॥ ६७ ॥
न नाथमधिगच्छंति वध्यमाना महारणे ।
अथ तद्विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ॥ ६८ ॥
आश्वासयन्नुवाचेदं बलभिद्दानवार्दितम् ।
भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥ ६९ ॥
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद्व्यथा भवेत् ।
जयतैनान्सुदुर्वृत्तान्दानवान्घोरदर्शनान् ॥ ७० ॥
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान् ।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥ ७१ ॥
दानवान्प्रत्ययुध्यंत शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम् ।
ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥ ७२ ॥

युद्धसे देवतोंकी सेना विमुख हो गई, और भागने लगी । (६१—६५)

किसीका घोडा, किसीका हाथी, किसीका रथ, और किसीका शस्त्र कट गया । उस समय दानवोंसे पीडित देवतोंकी सेनाकी ऐसी शोभा हुई जैसे आगसे जलते हुए वनकी । जैसे जलते हुए वनमें वृक्ष गिरते हैं, तैसेही सिर और हाथके हीन देवता लोग गिरने और भागने लगे । वे लोग युद्धसे पीडित होकर भागने लगे, परन्तु उन्हें कोई अपना स्वामी न दीख पडा । ६५-६८

जब इन्द्रने देवतोंको भागते हुए देखा, तब बलिके मारनेवाले इन्द्र अपने दलको धीरज देकर कहने लगे, हे शूर वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो, भयको छोड दो और शस्त्रोंको धारण करो। तुम लोग युद्ध करनेकी इच्छा करो और किसी दुःखको धारण मत करो; इन दुष्ट घोर राक्षसोंको जीत लो, तुम लोगोंका कल्याण हो, तुम सब हमारे सहित इन राक्षसोंसे लडनेको चलो । (६८-७१)

इन्द्रके वचन सुनकर देवतोंको विश्वास हुआ और इन्द्रको आगे करके दानवोंसे युद्ध करना आरंभ किया । उस समय सब देवता महाबली मरुत, महाभाग

प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥ ७३ ॥
शराश्च दैत्यकायेषु पिबंति रुधिरं बहु ।
तेषां देहान्विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ॥ ७४ ॥
निपतंतोऽभ्यदृश्यंत नगेभ्य इव पन्नगाः ।
तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥ ७५ ॥
अपतन्भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।
ततस्तद्दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥ ७६ ॥
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृत्तं चैव पराङ्मुखम् ।
अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥ ७७ ॥
संहतानि च तूर्याणि प्रावाद्यंत ह्यनेकशः ।
एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत्सुदारुणम् ॥ ७८ ॥
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ।
अनयो देवलोकस्य सहसैवाऽभ्यदृश्यत ॥ ७९ ॥
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नंति दिवौकसः ।
ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ॥ ८० ॥
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।

साध्य और वसु लोग दानवोंसे युद्ध करने लगे। क्रोधित देवतोंने जो शस्त्र चलाए सो राक्षसोंके शरीरमें प्रवेश करके रुधिर पीने लगे। उनके शरीरों को छेद करके तीक्ष्ण बाण पृथ्वीपर गिरने लगे। उस समय उनकी ऐसी शोभा दिखाई देती थी जैसे पर्वतों से सर्प गिरते हैं। (७१ – ७५)

उस समय उन मरे हुए राक्षसोंके शरीर बाणोंसे कट कट कर पृथ्वीमें इस प्रकारसे गिरने लगे, जैसे आकाशसे बादल गिरता है। उस समय समस्त दानवोंकी सेना देवतोंके बाणोंसे व्याकुल होकर भागने लगी। तब सब देवता लोग प्रसन्न होकर गर्जने लगे, और अनेक बाजोंको बजाने लगे। इस प्रकार देवता और दानवोंमें घोर युद्ध हुआ। उस समय उस युद्धभूमिमें मांसका कीचड हो गया था। (७५ — ७९

उस समय देवतोंके अन्याय भी दीखने लगे। देवतोंको दानव और दानवोंको देवता मारने लगे। उसी समय भेरी आदिक अनेक बाजे बजने लगे, और दानव लोग सिंहके समान घोर शब्द करने

अथ दैत्यबलाद्घोरान्निष्पपात महाबलः ॥ ८१ ॥
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम्।
ते तं घनैरिवाऽऽदित्यं दृष्ट्वा संपरिवारितम् ॥ ८२ ॥
तमुद्यतगिरिं राजन्व्यद्रवंत दिवौकसः।
अथाऽभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥ ८३ ॥
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद्भुवि ॥ ८४ ॥
अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन्सुरान्।
अभ्यद्रवद्रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ८५ ॥
तमापतंतं महिषं दृष्ट्वा सेंद्रा दिवौकसः।
व्यद्रवंत रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥ ८६ ॥
ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥ ८७ ॥
यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसाऽऽगतः।
रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ८८ ॥
अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥ ८९ ॥

लगे। उसी समय उस घोर दानवोंकी सेनामेंसे महाबली महिष नामक दानव निकला। वह एक भारी पर्वत लेकर देवतोंकी ओर दौडा। उसको मेघोंके बीचमें सूर्यके समान आते हुए देखकर अनेक देवता लोग उसकी ओर दौडे। महिषने भी देवतोंकी ओर दौड कर उस पर्वतको फेंका। हे राजन्! उस पर्वतके गिरनेसे दश सहस्र देवता मर गए। ७९ – ८४

उस समय दानवोंके सहित महिषने सबको हराया था। वह फिर देवतोंकी ओर ऐसा दौडा जैसे छोटे हरिनकी ओर सिंह दौडे। उसको आते देख इन्द्रादिक देवता डरसे शस्त्रोंको छोडकर भागे। तब वह महिष क्रोध करके शिवके रथकी ओर दौडा और शिवके रथको पकड लिया। ८५—८७

जिस समय महिषासुर शिवके रथकी ओर दौडा था उसी समय पृथ्वी और आकाशमें घोर शब्द होने लगा, ऋषि लोग डरने लगे; उस समय मेघके समान शरीरवाले राक्षस लोग गर्जने लगे; और हमही विजयी हैं ऐसा उनका निश्चय हुआ

तथाभूते तु भगवानहनन्महिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कंदं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ॥ ९० ॥
महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रो रुद्रस्य चाऽनदत् ।
देवान्संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥ ९१ ॥
ततस्तस्मिन्भये घोरे देवानां समुपस्थिते ।
आजगाम महासेनः क्रोधात्सूर्य इव ज्वलन् ॥ ९२ ॥
लोहितांबरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः ।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥ ९३ ॥
रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत्सहसा रणे ॥ ९४ ॥
स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् ।
मुमोच शक्तिं राजेंद्र महासेनो महाबलः ॥ ९५ ॥
सा मुक्ताऽभ्यहरत्तस्य महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ९६ ॥
पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् ।
पर्वताभेन पिहितं तदाऽगम्यं ततोऽभवत् ॥ ९७ ॥
उत्तराः कुरवस्तेन गच्छंत्यद्य यथासुखम् ।

उस समय भगवान शिवने माहिषासुर को मारना आरंभ किया; परन्तु उस दुष्टकी मृत्यु कार्तिकेयके हाथसे थी, इस लिये शिवने कार्तिकेयको स्मरण किया। माहिषासुरने भी शिवके रथको देखकर घोर शब्द किया; उससे दैत्य लोग प्रसन्न हुए और देवता लोग डरे। जब देवतोंके लिये ऐसा भयानक समय उपस्थित हुआ, तब क्रोधसे सूर्यके समान प्रकाश मान कार्तिकेय आये। (८८—९२)

वे लाल कपडे और लाल माला पहिरे थे। महाबाहु कार्तिकेय सोनेका कवच पहिन कर, सूर्यके समान प्रकाशमान सोनेके वर्णवाले रथ पर बैठकर युद्धमें आए, उनको देखतेही दैत्योंकी सब सेना भागने लगी। उसी समय महा बलवान कार्त्तिकेयने महिषको मारनेवाली प्रकाशमान घोर शक्तिको छोडा। उसी समय उस शक्तिने महिषासुरको काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया। सिरके कटतेही महिषासुर गिरकर मर गया। ९३–९६

उस सिरके गिरनेसे उत्तर कुरुदेशका सोलह योजनका द्वार बन्द हो गया; इसीसे वह देश जाने योग्य नहीं रहा;

क्षिप्ता क्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून्सहस्रशः ॥९८॥
स्कंदहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः।
प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥ ९९ ॥
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः।
स्कंदपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥ १०० ॥
दानवान्भक्षयंतस्ते प्रपिबंतश्च शोणितम्।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ १०१ ॥
तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान्खगः।
तथा स्कंदोऽजयच्छत्रून्स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ॥१०२॥
संपूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम्।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांऽशुमान्॥ १०३ ॥
नष्टशत्रुर्यदा स्कंदः प्रयातस्तु महेश्वरम्।
तदाऽब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ॥ १०४ ॥
ब्रह्मदत्तवरः स्कंद त्वयाऽयं माहिषो हतः।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयतां वर ॥ १०५ ॥
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकंटकः।

अबतक मनुष्य उस कुरुदेशमें उसी द्वारसे सुखपूर्वक जाते हैं। वह शक्ति अनेक दानवोंको मारकर फिर कार्त्तिकेय हाथमें आगई। फिर बुद्धिमान कार्त्तिकेयने अपने बाणोंसे अनेक दानवोंको मारा फिर कार्त्तिकेयके घोर पार्षदोंने सहस्रों डरे हुए दानवोंको मार खाया। (९७-१००)

उन्होंने दानवोंको भक्षण करके उनके खूनको प्राशन किया और क्षण भरमें सब दानवोंको नाश कर दिया। जैसे अन्धकारको सूर्य, वृक्षोंको अग्नि और मेघोंको वायु नष्ट कर देते हैं, तैसेही कार्त्तिकेयने अपने बलसे दानवोंको नाशकर दिया। कार्तिकेयने इन सबको मारकर शिवको प्रणाम किया, देवतोंने उनकी स्तुति करी। उस समय कार्त्तिकेयकी ऐसी शोभा बढी जैसे प्रकाशमान सूर्यकी। (१०१—१०३)

जिस समय शत्रुओंको नाश करके कार्त्तिकेय शिवके पास गए, उसी समय इन्द्रने कार्तिकेयको अपने हृदयसे लगा कर कहा, हे कार्तिकेय ! तुमने महिषासुरको मारा उसको ब्रह्माने वरदान दिया था। हे जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ! इसने देवतोंको तिनकेके समान मान रखा था। हे महाबाहु ! तुमने इस देवतोंके कांटेको नाश

शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ॥ १०६ ॥
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः ।
तावकैर्भक्षिताश्चाऽन्ये दानवाः शतसंघशः ॥ १०७ ॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः ।
एतत्ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ॥ १०८ ॥
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाऽक्षय्या भविष्यति ।
वशगाश्च भविष्यंति सुरास्तव महाभुज ॥ १०९ ॥
महासेनमेवमुक्त्वा निवृत्तः सह दैवतैः ।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यंबकेण शचीपतिः ॥ ११० ॥
गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः ।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कंदं पश्यत मामिव ॥ १११ ॥
स हत्वा दानवगणान्पूज्यमानो महर्षिभिः ।
एकाह्नैवाऽजयत्सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनंदनः ॥ ११२ ॥
स्कंदस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
स पुष्टिमिह संप्राप्य स्कंदसालोक्यमाप्नुयात्॥ ११३॥[९०९४]

इति श्रीमहाभारते० आंगिरसे स्कंदोत्पत्तौ महिषासुरवधे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

किया, जिन्होंने हमको पहले दुःख दिया था उन सब दैत्योंको तुमने मारा। ये सब महिषके सन्तान थे और तुम्हारे गणोंनेभी सैकडों दैत्योंको खाया। तुमको युद्धमें कोई नहीं जीत सकता है, तुम भगवान् शिवके समान हो। हे देव! तुम्हारा जो यह प्रथम कर्म है सो प्रसिद्ध हो जायगा और तुम्हारी अक्षय कीर्तिभी तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध होगी। हे महाबाहो सब देवता लोग तुम्हारे वशमें रहेंगे! (१०४ – १०९)

कार्तिकेयकी ऐसी स्तुतिकर और भगवान शिवकी आज्ञा लेकर इन्द्र देवतों के सहित चले गये। भगवान शिवभी भद्रवटको गए। देवता लोगभी अपने अपने घरको चले गए। भगवान शिवने चलते समय देवतोंसे कहा कि तुम कार्तिकेय को हमारे समान देखना। कार्त्तिकेयने एकही दिनमें सब दानवोंको मार कर तीनों लोकोंको जीत लिया, तब सब ऋषि उनकी पूजा करने लगे। जो ब्राह्मण कार्त्तिकेयके जन्मकी इस कथाको पढते हैं, वे सब इस लोकमें सुख पाकर मरनेके पीछे कार्त्तिकेयके लोकको पाते हैं। (११० — ११३) [९०९४]

वनपर्वमें दोसौ इकतीस अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच— भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः ।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच–इत्युक्तः पांडवेयेन महात्मा ऋषिसन्निधौ ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कंडेयो महातपाः ॥ २ ॥
मार्कण्डेय उवाच— आग्नेयश्चैव स्कंदश्च दीप्तकीर्तिरनामयः ।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः ॥ ३ ॥
कामजित्कामदः कांतः सत्यवाग्भुवनेश्वरः ।
अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चंद्राननस्तथा ॥ ४ ॥
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चंडो दीप्तवर्णः शुभाननः ।
दीप्तशक्तिः प्रशांतात्मा भद्रकृत्कूटमोहनः ॥ ५ ॥
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः ।
कन्याभर्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः ॥ ६ ॥
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः ।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः ॥ ७ ॥
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः ।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा ॥ ८ ॥
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु ।

वनपर्वमें दोसौ बत्तीस अध्याय ।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भगवन् ! हे द्विजोत्तम ! हम महात्मा कार्त्तिकेयके उन नामोंको सुनना चाहते हैं जो तीनों लोकोंमें विख्यात हैं । (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुन महातपस्वी मार्कण्डेय कहने लगे । (२)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्त्ति, अनामय, मयूरकेतु, धर्मात्मा, भूतेश, महिषनाशन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवादी, भुवनेश्वर, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, शिशु, शीघ्र, शुचि, चण्ड, दीप्तवर्ण, शुभानन, दीप्त शक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत्, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, धर्मात्मा, पवित्र, मातृवत्सल, कन्याभर्ता, स्वाहापुत्र, विभक्त, रेवतीसुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय दुर्द्धर, सुव्रत, ललित, बालक्रीडनकप्रिय, आकाशगामी, ब्रह्मचारी, शूर, शरवनोद्भव, विश्वामित्रप्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेवप्रिय, और प्रिय, प्रियकर। ये कार्तिकेयके दिव्य नाम

नामान्येतानि दिव्यानि कार्तिकेयस्य यः पठेत्।
स्वर्गं कीर्तिं धनं चैव स लभेन्नाऽत्र संशयः ॥ ९ ॥

मार्कंडेय उवाच–स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम्।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं निबोध चैतानि कुरुप्रवीर ॥ १० ॥
ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः।
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता ॥ ११ ॥
स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं मंत्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः ।
संवत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै मासार्धमासावयनं दिशश्च ॥ १२ ॥
त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविंदवक्त्रः सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम् ॥ १३ ॥
त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचंडः प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता।
सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक्च ॥ १४ ॥
सहस्रशीर्षस्त्वमनंतरूपः सहस्रपात्त्वं गुह शक्तिधारी।
गंगासुतस्त्वं स्वमतेन देव स्वाहामहीकृत्तिकानां तथैव ॥ १५ ॥

हैं। इनको जो कोई पढता है, उसको निःसन्देह स्वर्ग, कीर्ति और धन मिलता है। (३-९)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हम उन कार्तिकेयकी इन नामोंसे स्तुति करते हैं जो ब्राह्मण और शक्तिके सहित निवास करते हैं। हे कुरुप्रवीर ! जो कार्तिकेय छः मुखवाले शक्तिको धारण करते हैं, जो बडे वीर हैं आप उनकी स्तुति सुनिये। (१०)

हे कार्तिकेय ! तुम ब्राह्मणभक्त वेद विधिसे उत्पन्न हुए, ब्रह्मके जाननेवाले, ब्रह्मा और शिवके भक्त, वेदपाठियोंमें श्रेष्ठ, ब्रह्माके प्यारे, ब्राह्मणोंके समान सत्य व्रतधारी, और ब्राह्मणोंको मोक्ष देनेवाले हो। तुम स्वाहा, स्वधा, पवित्र, मन्त्रोंसे पूजित, जगत् विख्यात और छः तेजवाले हो। तुम वर्ष, अमृत, छः महीने, पक्ष, मास, अयन, और दिशा हो ! तुम कमलनेत्र, कमल मुख, सहस्र मुख, सहस्र बाहु, लोकपाल, यक्ष तथा राक्षस और देवतोंके स्वामी हो। (११-१३)

तुम सेनाके स्वामी, महा तेजस्वी, जगतके स्वामी, जगतके उत्पन्न करनेवाले, सहस्रमुख सहस्र तुष्टि और सहस्र वस्तुओंको खानेवाले हो। हे देव! तुम्हारे सहस्र सिर हैं, तुम अनन्तरूप, सहस्र चरणवाले, और शस्त्रधारी हो। तुम गङ्गा, स्वाहा, पृथ्वी और कृत्तिका

त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन यथेष्टनानाविधकामरूपी ।
दीक्षाऽसि सोमो मरुतः सदैव धर्मोऽसि वायुरचलेंद्र इंद्रः ॥ १६ ॥
सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा ।
ऋतस्य कर्ता दितिजांतकस्त्वं जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम् ॥१७॥
सूक्ष्मं तपस्तत्परमं त्वमेव परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम् ।
धर्मस्य कामस्य परस्य चैव त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन् ॥१८॥
व्याप्तं जगत्सर्वसुरप्रवीर शक्त्या मया संस्तुतलोकनाथ ।
नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम् ॥१९॥
स्कंदस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
श्रावयेद्ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद्वा द्विजेरितम् ॥ २० ॥
धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्राञ्शत्रुजयं तथा ।
स पुष्टितुष्टी संप्राप्य स्कंदसालोक्यमाप्नुयात् ॥२१॥[९११५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरसे कार्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

॥ समाप्तं च मार्कण्डेयसमास्या पर्व ॥

॥ अथ द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच–उपासीनेषु विप्रेषु पांडवेषु महात्मसु ।

के पुत्र हो। हे छः मुख! तुम कुक्कुटके सङ्ग खेलते हो, तुम अपनीही इच्छानुसार शरीर धारण करते हो, तुमही दीक्षा हो, तुमही चन्द्रमा, वायु, धर्म, पर्वत और इन्द्र हो। तुम सनातनोंसेभी सनातन हो, स्वामियोंकेभी स्वामी हो। तुम सत्यकर्त्ता, दैत्य नाशक शत्रुओंके जीतने वाले, और देवतोंमें श्रेष्ठ हो। १५-१७

तुम सूक्ष्म, तप, ब्रह्मके जाननेवाले और ब्रह्म हो। हे महात्मन्! तुम्हारे तेजसे धर्म, अर्थ और काम पूरित होते हैं। हे लोकनाथ! तुमसे सब जगत व्याप्त है, हमने अपनी शक्तिके अनुसार तुम्हारी स्तुति करी। तुम्हारे बारह नेत्र और बारह हाथ हैं; हम तुमको प्रणाम करते हैं; इससे आगे हम तुम्हारी गति को नहीं जानते हैं। (१८-१९)

जो ब्राह्मण सावधान होकर इस कार्तिकेयके स्तोत्रको पढे सुने या सुनावे वह धन, आयु, प्रकाशमान यश, शत्रुजय, पुत्र, पुष्टि और सन्तोषको प्राप्त होकर अन्तमें कार्तिकेयके लोकको जाता है। (२० २१)

वनपर्वमें दोसौ बत्तीस अध्याय और मार्कण्डेयसमास्यापर्व समाप्त। (९११५)

द्रौपदीसत्यभामा च विविशाते तदा समम् ॥ १ ॥
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः ।
चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योऽन्यस्य प्रियंवदे ॥ २ ॥
कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदूत्थिताः ।
अथाऽब्रवीत्सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥
सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा ।
केन द्रौपदि वृत्तेन पांडवानधितिष्ठसि ॥ ४ ॥
लोकपालोपमान्वीरान्पुनः परमसंहतान् ।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यंति च ते शुभे ॥ ५ ॥
तव वश्या हि सततं पांडवाः प्रियदर्शने ।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ६ ॥
व्रतचर्या तपो वाऽपि स्नानमंत्रौषधानि वा ।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमा गदास्तथा ॥ ७ ॥
ममाऽद्याऽऽचक्ष्व पांचालि यशस्यं भगदैवतम् ।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ॥ ८ ॥

वनपर्वमें दोसौ तैंतीस अध्याय और द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! जहां महात्मा ब्राह्मण और पाण्डव लोग बैठे थे, वहां द्रौपदी सत्यभामा सङ्ग आई, वे दोनों हंसती हुई सुखसे एक स्थान पर बैठ गई। हे राजेन्द्र ! वे दोनों बहुत दिनोंमें मिली थीं इस लिये परस्पर प्रिय बातें करने लगीं। वे दोनों कुरुवंशी और यदुवंशियोंकी उत्तम उत्तम कथा कहने लगीं, अनन्तर कृष्णकी प्यारी पटरानी सत्राजितकी पुत्री सत्यभामा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीसे बोली। (१ – ४)

हे द्रौपदि! तुम पाण्डवोंके सङ्ग कैसे रहती हो। हे सुन्दरि ! ये पांचोंही लोकपालोंके समान हैं और परस्पर बहुत ही प्रीति रखते हैं। कहो ये पांचों तुम्हारे वशमें कैसे रहते हैं, तुम्हारे ऊपर क्रोध कैसे नहीं करते ? हे सुन्दरी ! ये पांचों तुम्हारे वशमें कैसे रहते हैं ? ये पांचों सुन्दर हैं इन पांचोंको तुम अपने वशमें कैसे रखती हो ? ये सब हमसे कहो। हे पाञ्चालि ! व्रत, तप, स्नान, मंत्र, औषधि, विद्या, जप, होम, ये सब तुम हमसे कहो अथवा और कोई सौभाग्य बढनेकी ऐसी युक्ति कहो जिससे कृष्ण सदा हमारे वशमें रहें, महा यशस्विनी

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ९ ॥
असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ॥ १० ॥
अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत्त्वय्युपपद्यते।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥११॥
यदैव भर्ता जानीयान्मंत्रमूलपरां स्त्रियम्।
उद्विजेत तदैवाऽस्याः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ १२ ॥
उद्विग्नस्य कुतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मंत्रकर्मणा ॥ १३॥
अमित्रप्रहितांश्चापि गदान्परमदारुणान्।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छंति जिघांसवः ॥ १४ ॥
जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाऽप्युपसेवते।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १५ ॥
जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडांधबधिरास्तथा ॥ १६ ॥
पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजंत्युत।

सत्यभामा ऐसा कहकर चुप हो रही। (४—९)

तब पतिव्रता द्रौपदी बोली, हे सत्य भामे! तुम हमसे दुष्ट स्त्रियोंके समान कर्म पूंछती हो, जिस मार्गमें असत् कर्म है उसमें कोई उत्तर किस प्रकार दे सकता है? तुमको ऐसे सन्देह और प्रश्न नहीं करने चाहिये, क्योंकि तुम कृष्णकी प्यारी स्त्री और बुद्धिमती हो। यदि पति इस बातको जान जाय कि हमारी स्त्री मन्त्र करती है तो वह उससे ऐसे घबडाने लगता है, जैसे घरमें बैठे हुए सर्पसे। घबडाए हुए पुरुषको शान्ति कहां? और शान्तिरहितको सुख कहांसे होगा? इस लिये मन्त्रसे पति स्त्रीके वशमें नहीं हो सकता। (९—१३)

वध चाहने वाले शत्रु इस प्रकार औषधिमूलोंके मिषसे भयानक रोग ही भेजते हैं और विष भी देते हैं। उनको यदि पुरुष जिह्वा अथवा त्वचासे सेवन करे तो उसमें जो चूर्ण हो उनसे वह पुरुष अवश्य नष्ट हो जाता है, इस प्रकार अनेक स्त्रियोंने अपने पतियोंको जलोदरी, कुष्ठी, श्वेत बालवाले, नपुंसक, मूर्ख बहरे और

न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ॥ १७ ॥
वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पांडवेषु महात्मसु ।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥१८ ॥
अहंकारं विहायाऽहं कामक्रोधौ च सर्वदा ।
सदारान्पांडवान्नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १९ ॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायाऽऽत्मानमात्मनि ।
शुश्रूषुर्निरभीमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥ २० ॥
दुर्व्याहृताच्छंकमाना दुस्थिताद्दुरवेक्षितात् ।
दुरासिताद्दुर्व्रजितादिंगिताध्यासितादपि ॥ २१ ॥
सूर्यवैश्वानरसमान्सोमकल्पान्महारथान् ।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्यप्रतापिनः ॥ २२ ॥
देवो मनुष्यो गंधर्वो युवा चापि स्वलंकृतः ।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥ २३ ॥
नाऽभुक्तवति नाऽस्नाते नाऽसंविष्टे च भर्तरि ।
न संविशामि नाऽश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २४ ॥

अन्धे कर दिया है, वे स्त्री महा पापिनी हैं पापियोंके सङ्ग ऐसे ऐसे कर्म करनेवाली हैं। स्त्रियोंको कदापि अपने पतियोंके अप्रिय कर्म नहीं करने चाहिये। हे सत्यभामे! हे यशस्विनि! मैं जिस सत्यवृत्तिसे महात्मा पाण्डवोंके सङ्ग बर्ताव करती हूं, उस सबको तुम सुनो। (१४–१८)

मैं सदा काम, क्रोध और अहङ्कारको छोडकर स्त्रियोंके सहित पाण्डवोंकी सेवा करती हूं। मैं अपने पतियोंको सदा विनय पूर्वक सेवती हूं और अपने आत्माको सदा अपने वशमें रखती हूं। मैं अभिमानरहित होकर पतियोंके चित्तकी रक्षा करती हूं, मैं अपने पतियोंकी बुरी बात, बुरे स्थान, बुरी दृष्टि, बुरी चेष्टा, बुरी गति और बुरे चिन्होंसे डरती रहती हूं। मैं अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके समान महा-तेजस्वी दृष्टि मात्रसे शत्रुके नाश करनेवाले महा वीर्यवान प्रतापी पतियोंकी सेवा करती हूं। चाहे देवता हो, मनुष्य हो, चाहे सुन्दर हो या आभूषण धारण किये हो और कैसाही द्रव्यवान क्यों न हो परन्तु मैं दूसरे पुरुषसे प्रेम नहीं करती। (१९—२३)

मैं अपने पतियोंसे पहले स्नान और भोजन कभी नहीं करती, मैं उनको विना बिठलाये कभी नही बैठती

क्षेत्राद्वनाद्वा ग्रामाद्वा भर्तारं गृहमागतम् ।
अभ्युत्थायाऽभिनंदामि आसनेनोदकेन च ॥ २५ ॥
प्रमृष्टभांडा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी ।
संयता गुप्तधान्या च सुसंमृष्टनिवेशना ॥ २६ ॥
अतिरस्कृतसंभाषा दुःस्त्रियो नाऽनुसेवती ।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २७ ॥
अनर्मे चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः ।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥ २८ ॥
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये ।
निरताऽहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ॥ २९ ॥
सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन ।
यदा प्रवसते भर्ता कुटुंबार्थेन केनचित् ॥ ३० ॥
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी ।
यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ॥ ३१ ॥
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद्वर्जयाम्यहम् ।
यथोपदेशं नियता वर्तमाना वरांगने ॥ ३२ ॥

जब मेरे पति किसी खेत, गांव अथवा बनसे घरमें आते हैं, तब मैं उठकर खडी हो जाती हूं, तथा उनको आसन वा जल देती हूं । मैं अपने घरके बर-तनोंको धोती हूं, अन्नको निर्मल रखती हूं और उनको समयपर भोजन देती हूं । अपने शरीरको वशमें रखती हूं, अपने अन्नको छिपाकर रखती हूं और अपने घरको बुहारती हूं; मैं वचनसे भी तिरस्कार नहीं दर्शाती हूं, तथा दुष्ट स्त्रियों का स्नेह कदापि नहीं करती हूं। मैं अपने पतियोंकी सेवामें तनक भी आलस नहीं करती हूं, मैं कभी विना हंसीकी बात पर नहीं हंसती हूं; कभी द्वारपर खडी नहीं होती; मुझे बागमें रहना अच्छा नहीं लगता । (२४-२८)

मैं कभी अधिक नहीं हंसती; मैं क्रोधमें कभी नहीं जाती; मैं सदा सत्य बोलती हूं और पतियोंकी सेवा करती हूं, मुझे पतियोंसे अलग रहना अच्छा नहीं लगता; जब मेरे पति कभी कुटु-म्बके निमित्त कहीं परदेशको जाते हैं, तब मैं अपने मनको स्थिर करके व्रत करती हूं; जिसको पति नहीं खाते और मेरे पति जिन वस्तुवोंकी सेवा नहीं करते, मैं भी उन वस्तुओंको छोड देती

स्वलंकृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ।
ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा ॥ ३३ ॥
भिक्षा बलिः श्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चाऽन्ये विदिता मम ॥ ३४
तान्सर्वाननुवर्तामि दिवारात्रमतन्द्रिता ।
विनयान्नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३५ ॥
मृदून्सतः सत्यशीलान्सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान्पतीन्परिचराम्यहम् ॥ ३६ ॥
पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नाऽन्या तस्य का विप्रियं चरेत् ३७॥
अहं पतीन्नाऽतिशये नाऽत्यश्ने नाऽतिभूषये ।
नापि परिवदे श्वश्रूं सर्वदा परियन्त्रिता ॥ ३८ ॥
अवधानेन सुभगे नित्योत्थितयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ॥ ३९ ॥
नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।

हूं । हे सुन्दरि ! मैं उपदेशके अनुसार सब काम करती हूं । (२९—३२)

मैं सदा आभूषण पहरकर पतिका प्रियकार्य करती हूं, मेरी सासने जो कुछ कुटुम्बके वास्ते धर्म कहे थे मैं वही सब करती हूं, भिक्षा, पूजा, श्राद्ध पर्वोंमें भोजन आदिका बनाना, सेवकोंका, मान्य और सबका आदर तथा सेवा दिन रात आलस्य रहित होकर करती हूं, मैं अपने चित्तको स्थिर करके सदा विनय और नियमोंको धारण करती हूं; मेरे पति भले, पण्डित, सत्य और धर्मके पालनेवाले हैं; और वेही क्रोधमें सर्पके समान हैं ; मैं सबकी सेवा करती हूं (३३—३६)

मेरी यह सम्मति है कि सदा पतिके आश्रयसे रहनाही स्त्रियोंका सनातन धर्म है; स्त्रियोंको पतिही देवता हैं, पतिका अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिये; मैं कभी अपने पतियोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करती हूं; अत्यन्त दुःख होने पर भी कभी उनको बुरे शब्द नहीं कहती हूं, हे सुन्दरी ! मैं सदा सावधान रहती हूं; नित्य उठकर पतियोंकी सेवा करती हूं; और बूढोंकी भी सेवा करती हूं; इसीसे मेरे पति मेरे वशमें रहते हैं; वीरमाता और सत्यवादिनी अपनी सास कुन्तीकी सेवा मैं अपने

स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४० ॥
नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाऽहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ४१ ॥
अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुंजते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४२ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ४४ ॥
तान्सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान्वेदवादिनः ।
यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४५ ॥
शतं दासीसहस्राणि कौंतेयस्य महात्मनः ।
कंबुकेयूरधारिण्यो निष्ककंठ्यः स्वलंकृताः ॥ ४६ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चंदनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४७ ॥
तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाऽहं कर्म चैव कृताकृतम् ॥ ४८ ॥

हाथोंसे करती हूं मैं आपही उनको भोजन और वस्त्र देती हूं; मैं कभी अपनी सासका निरादर नहीं करती हूं;मैं कभी अपनी सासको भोजन और वस्त्र देनेमें विलम्ब नहीं करती हूं, मैं कभी अपनी पृथ्वीके समान साससे नहीं झगडती हूं । (३७-४१)

हमारे घरमें पहले आठ सहस्र ब्राह्मण नित्य सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे, अठासी हजार गृहस्थ वेदपाठी ब्राह्मण भोजन करते थे; और अस्सी तथा तीस ब्राह्मण और भोजन करते थे; दश सहस्र ब्रह्मचारी और ऊर्ध्वरेता यति सोने के पात्रोंमें पका हुआ अन्न पाते थे, उन सब वेदपाठी ब्राह्मणोंको मैं खान पान और वस्त्रोंसे पूजती थी । (४२-४५)

महात्मा कुन्ती-नन्दन महाराज युधिष्ठिरकी लाख दासी थी वे सब ही शंखके समान कण्ठवाली, आभूषणधारिणी गलेमें सोनेके आभूषण पहिने और बहुत मूल्यकी माला धारण करने वाली थीं। वे सब परम सुन्दरी,चन्दन लगानेवाली,मणिजटित स्वर्णके आभूषण पहिने नाचने गाने में निपुण थीं। उन

शतं दासीसहस्राणि कुंतीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयंत्युत ॥ ४९ ॥
शतमश्वसहस्राणि दश नागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्याऽनुयात्रमिंद्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ५० ॥
एतदासीत्तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ५१ ॥
अंतःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५२ ॥
सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाऽहं वेद्मि कल्याणि पांडवानां यशस्विनि ॥ ५३ ॥
मयि सर्वं समासज्य कुटुंबं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयंति वरानने ॥ ५४ ॥
तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५५ ॥
अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाऽहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५६ ॥

सबके नाम भोजन वस्त्र और कर्मोंको मैं जानती हूं, बुद्धिमान कुन्तीनन्दनकी और भी एक लाख दासी हैं, जो रात्रि दिन हाथमें पात्र लिये अतिथियोंको भोजन कराया करती हैं। (४६–४९)

जो एक लाख अश्व और एक लाख हाथी महाराज युधिष्ठिरके पीछे चलते थे और जो इन्द्रप्रस्थमें रहते थे, उन सबकी संख्या और नियमोंको मैं जानती हूं और उन सबको अपनी आज्ञामें रखती थी। महाराज युधिष्ठिरके यह सब सामग्री संग रहती थी, मैं रणवास के दासोंके सहित और मन्त्रियोंसे लेकर अपने राज्यके ग्वालों पर्यन्त सब दासों के कार्यको भली भांति जानती हूं; मैं महाराजके राज्यके आय और व्ययको नित्यही देखती थी। हे कल्याणि ! हे यशस्विनि ! मैं पाण्डवोंके सब कर्मोंको जानती हूं। भरतकुलसिंह पाण्डव सब कुटुम्बका भार मेरेही ऊपर छोड कर आप केवल उपासना करते थे। ५०-५४

दुरात्माओंसे सहन करनेको अशक्य ऐसे उस भार को उठाकर मैं अपने सब सुखोंको छोडकर रातदिन परिश्रम करती हूं। जो वर्णके समान सदा भरा-रहने वाला रत्न पूरित समुद्रके समान

अनिशायां निशायां च सहाया क्षुत्पिपासयोः।
आराधयंत्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५७ ॥
प्रथमं प्रतिबुद्ध्यामि चरमं संविशामि च।
नित्यकालमहं सत्ये एतत्संवननं मम ॥ ५८ ॥
एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत्।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाऽहं कुर्यां न कामये ॥ ५९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा।
उवाच सत्या सत्कृत्य पांचालीं धर्मचारिणीम् ॥ ६० ॥
अभिपन्नाऽस्मि पांचालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ॥६१॥[९१७६]

इति श्रीमहाभारते० द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि त्रयस्त्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

द्रौपद्युवाच—इमं तु ते मार्गमपेतमोहं वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः।
अस्मिन्यथावत्सखि वर्तमाना भर्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः ॥ १ ॥
नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु।
यथापतिस्तस्य तु सर्वकामा लभ्याः प्रसादात्कुपितश्च हन्यात् ॥ २ ॥

धर्म करनेवाले मेरे पतियोंका जो कोष है मैं उस सबको जानती हूं। चाहे रात्रि हो वा दिन हो। मैं सदा ही अपने पतियोंकी सेवा करती हूं। मैं कभी अपने पतियोंको भूखा और प्यासा नहीं रहने देती हूं। पाण्डवोंकी सेवा करनेमें मैं रात्रि और दिनको समान ही समझती हूं; मैं प्रातःकाल उनसे पहले उठती और रात्रिको सबसे पीछे सोती हूं। हे सत्यभामे ! मेरा प्रतिदिनका यही काम है,मैं इन्हीं सब कार्योंसे अपने पतियोंको वशमें रखती हूं और दुष्ट स्त्रियोंके कार्योंको कभी नहीं करती हूं। (५५-५९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, द्रौपदी के धर्म सहित वचन सुनकर धर्मचारिणी सत्यभामा बोली, हे पाञ्चालि ! हम तुम्हारी शरण हैं; हमने हंसीसे ये सब तुमसे कहा था। (६०-६१) [९१७६

वनपर्वमें दोसौ तैंतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ चौतीस अध्याय।

द्रौपदी बोली, हे सत्यभामे ! मैं जो तुमसे मार्ग कहती हूं, इसमें कुछ भ्रम नहीं है; यही पतिके वश करनेका प्रधान कार्य है। हे सखि ! यदि तुम अपने पतिको दूसरी स्त्रियोंसे छुडाना चाहती हो, तो इसी मार्गपर चलो। हे सखि ! तीनों लोकोंमें पतिके समान कोई देवता नहीं हैं; इनके प्रसन्न होनेसे सब काम

तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः शय्यासनान्युत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गंधाः स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ॥३॥
सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥
तथाऽऽसनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यैर्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गंधैः ।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा त्वामेव संश्लिष्यति तद्विधत्स्व॥ ५॥
श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥
संप्रेषितायामथ चैव दास्यामुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥
त्वत्संनिधौ यत्कथयेत्पतिस्ते यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित्सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत्तेन भवेद्विरागः ॥ ८ ॥
प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तुस्तान्भोजयेथा विविधैरुपायैः ।

सिद्ध होते हैं; कुपित होनेसे सर्वनाश हो जाता है। उसीके प्रसन्न होनेसे अपत्य, अनेक प्रकारके भोग, शय्या। उत्तम दर्शन, वस्त्र, माला, गन्ध, स्वर्ग, यह लोक और परम कीर्त्ति प्राप्त होती है। (१—३)

हे सत्यभामे ! सुख करनेसे सुख नहीं मिलता; इससे पतिव्रता स्त्री दुःख भोगकर सुखको प्राप्त होती हैं। सो तुम प्रेम, प्रीति और सेवासे कृष्णको प्रसन्न करो। तुम उनको उत्तम आसन, उत्तम उत्तम सुगन्धी माला पहनावो और धीरे धीरे उनको प्रसन्न करो; उनके शरीरपर उत्तम उत्तम गन्ध लगावो और औरभी उत्तम उत्तम कर्म करो, जिसमें कृष्ण यह हमारी प्रिया है, ऐसा मानकर तुमको ही प्रेमसे आलिंगन देंगे। वेही सब कर्म तुमको करने चाहिये। जब तुम अपने पतिका शब्द द्वारपर सुनो उसी समय अपने द्वारपर खडी हो जावो; जब तुम्हारे पति आसनपर बैठ जायं,तब उनके पैर धोओ।४-६

जब तुम्हारे पति किसी कार्यको दासीको भेजें, तब तुम उठकर आपही उसे कर लिया करो; ऐसा करनेसे कृष्ण जानेंगे कि सत्यभामा हमारी मनसे सेवा करती है। यदि तुम्हारे पति तुमसे कोई साधारण बातभी कहें तौभी तुम उसको किसी से मत कहना। यदि कोई तुम्हारी सौत कृष्णसे कुछ कहे तो उससे वह कदाचित् तुझपर प्रेम नहीं करेगा। तुम उन सबको अनेक प्रकारके भोजन बना

द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥
मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसांबावपि ते कुमारौ नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥
महाकुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चंडाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥११॥
एतद्यशस्यं भगदैवतं च स्वार्थं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणांगरागा भर्तारमाराधय पुण्यगंधा ॥ १२ ॥ [९१८८]

इति श्रीमहा० द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

वैशम्पायन उवाच-- मार्कंडेयादिभिर्विप्रैः पांडवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥
ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥
सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।

कर खिलाना । जो तुम्हारे पतिके भक्त, प्यारे और मित्र हों उन सबको अच्छा भोजन दिया करो और जो तुम्हारे पतिसे द्वेष करते हों, उनसे अलग रहने की इच्छा करते हों, कपट करके अलग रहते हों, उन पुरुषोंके सङ्ग कभी थोडी भूलसे भी मत होना । (७—९)

अन्य पुरुषोंके साथ मद छोडकर सावधान होकर और मौन धारण कर वर्तन करना चाहिये यद्यपि प्रद्युम्न और साम्ब तुम्हारे पुत्र हैं, परन्तु उनके सङ्गभी एकान्तमें मत बैठना; कुलीन, पापरहित और पतिव्रता स्त्रियोंको अपनी सखी बनावो; दुष्ट पराया निरादर करनेवाले बहुत भोजन करने वाले, चोरोंको पास मत आने दो; ये जो धर्म हमने तुमसे कहा सो यश और सौभाग्यका बढानेवाला है, इससे सब काम सिद्ध होते हैं और शत्रुवोंका नाश होता है । तुम बहुत मूल्यवाले आभूषण पहर कर तथा उत्तम गन्ध और माला धारण करके अपने पतिकी सेवा करो । (१०—१२) [९१८८]

वनपर्वमें दोसौ चौतीस अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ पैंतीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! मार्कण्डेय आदि ऋषि और महात्मा पाण्डवोंके सङ्ग अनेक उत्तम वार्तालाप करके श्रीकृष्ण उनसे विदा हुए । जब रथपर चढनेका समय हुआ तब उन्होंने सत्यभामाको बुलाया । सत्यभामा द्रौपदीसे मिलकर प्रेमके

उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितम् ॥ ३ ॥
कृष्णे मा भूत्तवोत्कंठा मा व्यथा मा प्रजागरः ।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥
न ह्येवं शीलसंपन्ना नैवं पूजितलक्षणाः ।
प्राप्नुवंति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ॥ ५ ॥
अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकंटका ।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वंद्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥
धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च ।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसे द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥
यास्ताः प्रव्राजमानां त्वां प्राहसन्दर्पमोहिताः ।
ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥
तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम् ।
विद्धि संप्रस्थितान्सर्वांस्तान्कृष्णे यमसादनम् ॥ ९ ॥
पुत्रस्ते प्रतिविंध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः ।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ॥ १० ॥
सहदेवाच यो जातः श्रुतसेनस्तवाऽऽत्मजः ।
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ॥ ११ ॥

सहित मीठे वचन कहने लगीं, हे कृष्णे ! तुम किसी बातसे घबडाना नहीं तुम कभी दुःख मत उठाना, थोडेही समयमें देव तुल्य पाण्डव लोग सब पृथ्वीको जीतेंगे और तुम महाराणी बनोगी; हे द्रौपदि तुम्हारे समान शील और लक्षण वाली स्त्री बहुत दिन तक दुःख नहीं भोगतीं; मैंने सुना है कि तुम अवश्यही इस सब भूमिको वैरियोंसे रहित करके अपने पतियोंके सहित भोग करोगी। (१—६)

हे द्रुपदनन्दिनि! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर और सब वैरको पूरा करके महाराज युधिष्ठिर राजा होंगे; इस उत्सवको तुम आप देखोगी; जो कुरुवंशियोंकी स्त्री अभिमानसे मोहित होकर तुमको चलते देखकर हंसी थीं, उन सबके सङ्कल्प नष्ट हो जायंगे; हे कृष्णे ! दुःखके समयमें जिन्होंने तुम्हारे अप्रिय कार्य किये हैं, वे सब यमलोकको जायंगे। (७—९)

तुम्हारे जो प्रतिविन्ध्य, श्रुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन पुत्र हैं वे सब कुशल पूर्वक शस्त्रविद्या सीख चुके हैं;

अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम् ।
त्वयि यैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ॥१२॥
प्रीयते तव निर्द्वन्द्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ।
दुःखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ॥ १३ ॥
भजेत्सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा ।
भानुप्रभृतिभिश्चैनान्विशिनष्टि च केशवः ॥ १४ ॥
भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः ।
रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः ॥ १५ ॥
तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि ।
एवमादि प्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोनुगम् ॥ १६ ॥
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति ।
तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराऽभिप्रदक्षिणम् ॥१७॥
आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामा च भामिनी ।
स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसान्त्व्य च ।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात्पुरं स्वकम् ॥ १८ ॥ [९२०६]

इति श्रीमहाभारते० द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि कृष्णगमने पंचत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

समाप्तमिदं द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ।

अभिमन्युके समान प्रीतिपूर्वक द्वारिकामें रहते हैं (७–१२)

जैसे तुम उन्हें प्रेम करती हो वैसेही सुभद्राभी तुमसे परम प्रीति करती है, वह तुम्हारे दुःख से दुःखी और सुखसे सुखी होती हैं;प्रद्युम्नकी माता भी तुम्हारे पुत्रोंको सब प्रकारसे मानती हैं और श्रीकृष्णभी उनपर बहुत ध्यान रखते हैं। हमारे ससुर वसुदेवजी तुम्हारे पुत्रके भोजन और वस्त्रोंका सदा ध्यान रखते हैं, बलराम आदि सब यदुवंशी तुम्हारे पुत्रको मानते हैं; हे भगिनि ! हम तुम्हारे पुत्रोंको प्रद्युम्नके समान मानती हैं। (१२– १६)

इस प्रकारसे अनेक सत्य और प्यारे वचन कहकर सत्यभामा कृष्णके रथकी ओर चलीं। कृष्णकी प्यारी सत्यभामाने द्रौपदीको प्रदक्षिणा करी और प्रणाम किया। अनन्तर श्रीकृष्णके रथपर बैठ गई। श्रीकृष्णनेभी हंसकर द्रौपद्रीको प्रसन्न किया। फिर अपने रथपर चढकर द्वारकाको चले गये। (१८–२०)

वनपर्वमें दोसौ पैतीस अध्याय और द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व समाप्त। [९२०६]

अथ घोषयात्रापर्व ।

जनमेजय उवाच—एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥ १ ॥
सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा जनं समुत्सृज्य विधाय वेश्म ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥
तथा वने तान्वसतः प्रवीरान्स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणास्तान्पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥
ततः कदाचित्कुशलः कथासु विप्रोऽभ्यगच्छद्भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याऽथ यदृच्छयैव वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥
अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः संकथयांबभूव धर्मानिलेन्द्रप्रभवान्यमौ च ॥ ५ ॥
कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान्दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान् ।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम् ॥ ६॥

वनपर्वमें दोसौ छत्तीस अध्याय और

घोषयात्रा पर्व ।

महाराज जनमेजय बोले, हे द्विजोत्तम ! पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! पाण्डवलोग जब इस प्रकार वनमें रहकर शीत, उष्ण, वायु और घामसे दुबले होकर उस पवित्र तालाबके तटपर पहुंचे तब उसके पश्चात् उन्होंने क्या किया ? (१)

श्रीवैशम्पायन बोले, जब महात्मा पाण्डव लोग उस पवित्र तालाव पर पहुंचे, तब अपने सङ्गके पुरुषोंको विदा करदिया और वहां उन्होंने अपना घर बना लिया और आस पासके वन तथा नदियोंको देखते हुए घूमने लगे । महात्मा वीर पाण्डवोंके पास उस वनमें वेदके जाननेवाले महात्मा ब्राह्मण लोग आये । उन्होंने उन सब ब्राह्मणोंकी पूजा करी । (२–३)

एकदिन एक कथा जाननेवाला ब्राह्मण पृथ्वीमें घूमता हुआ कौरवोंके पास गया । उसने वहां जाकर विचित्रवीर्यके पुत्र महाराज धृतराष्ट्रको पूंछा । अनन्तर कुरुकुलश्रेष्ठ बूढे महाराज धृतराष्ट्रने उस ब्राह्मण का बहुत सत्कार किया और बैठनेको आसन देकर पाण्डवोंका कुशल पूंछा । तब उस ब्राह्मणने सब पाण्डवोंकी कथा सुनाई । (४–५)

जब महाराजने पाण्डवोंको सुना कि वायु और घामसे परम दुर्बल हो गए हैं, और घोर दुःखमें पडे हैं, वह वीरपत्नी द्रौपदी अनाथके समान क्लेशोंको भोग

ततः कथास्तस्य निशम्य राजा वैचित्रवीर्यः कृपयाऽभितप्तः ।
वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान्श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान् ॥ ७ ॥
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा निःश्वासवातोपहतस्तदानीम् ।
वाचं कथंचित्स्थिरतामुपेत्य तत्सर्वमात्मप्रभवं विचिंत्य ॥ ८ ॥
कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः ।
अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म शेते पुरा रांकवकूटशायी ॥ ९ ॥
प्रबोध्यते मागधसूतपूगैर्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिंद्रकल्पः ।
पतत्त्रिसंघैः स जघन्यरात्रे प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः ॥ १० ॥
कथं नु वातातपकर्शितांगो वृकोदरः कोपपरिप्लुतांगः ।
शेते पृथिव्यामतथोचितांगः कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ॥ ११ ॥
तथाऽर्जुनः सुकुमारो मनस्वी वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः ।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रैर्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १२ ॥
यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम् ।
विनिःश्वसन्सर्प इवोग्रतेजा ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १३ ॥

रही है, तब महाराज विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्रको बहुत कृपा आई। राजवंशी पाण्डवोंको इस प्रकार वनमें दुःखकी नदीमें बहते हुए सुनकर दुःखसे पीडित होकर लम्बा स्वांस लेकर हीन वचनसे बोले। महाराजने इस सब कर्मको अपना कर्म जानकर बहुत दुःख पाया; परन्तु अपने वचनको स्थिर करके कुछ बोले। (६-८)

महाराज कहने लगे, हमारे ज्येष्ठ पुत्र सत्यवादी, पवित्र, उत्तम कर्म करनेवाले, अजातशत्रु धर्मराज किस प्रकार पृथ्वीमें सोते होंगे; वे पहले हरिनके रोंवोंकी गद्दी पर सोते थे; जिन इन्द्रके समान महाराज युधिष्ठिरकी स्तुति करनेवाले सूत और बन्दियोंके समूह गाते थे; वे अब पृथ्वीमें सोते होंगे और उत्तररात्रिमें विविध पक्षिओंके शब्दसे जागते होंगे; महाक्रोधी भीमसेन वायु और घामसे दुबले हो गये होंगे; वे किस प्रकार द्रौपदीके आगे पृथ्वीपर सोते होंगे; निश्चय भीमसेन इस दुःखसे योग्य नहीं थे। (८-११)

इस प्रकार मनस्वी सुकुमार अर्जुनभी धर्मराजके वशमें होकर अपने अपने दुःखी शरीरसे दुःख सहते होंगे और पृथ्वीपर सोते होंगे; अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और भीमको सुखसे भ्रष्ट देखकर महातेजस्वी युधिष्ठिर सांपके समान क्रोधके स्वांस लेते होंगे; नकुल

यथा यमौ चाऽप्यसुखौ सुखार्हौ समृद्धरूपावमरौ दिवीव ।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ॥ १४ ॥
समीरणेनाऽथ समो बलेन समीरणस्यैव सुतो बलीयान् ।
स धर्मपाशेन सितोऽग्रजेन ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम् ॥ १५॥
स चापि भूमौ परिवर्तमानो वधं सुतानां मम कांक्षमाणः ।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः ॥ १६॥
अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या दुःशासनो यत्परुषाण्यवोचत् ।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं दहन्ति कक्षाग्निरिवेंधनानि ॥ १७ ॥
न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो धनंजयश्चाऽप्यनुवर्त्स्यते तम् ।
अरण्यवासेन विवर्धते तु भीमस्य कोपोऽग्निरिवाऽनिलेन ॥ १८ ॥
स तेन कोपेन विदह्यमानः करं करेणाभिनिपीड्य वीरः ।
विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं दहन्निवेमान्मम पुत्रपौत्रान् ॥ १९ ॥
गांडीवधन्वा च वृकोदरश्च संरंभिणावंतककालकल्पौ ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां शरान्किरंतावशनिप्रकाशान् ॥ २० ॥

और सहदेवभी दुःख सहनेके योग्य नहीं हैं; परन्तु इस समय महा दुःख सह रहे हैं; वे लोग देवतोंके समान कोमल हैं; वे लोग निश्चय रात दिन जागते होंगे और शान्त नहीं होंगे, परन्तु सत्य और धर्मके वशमें हैं।१२-१४

वायुके पुत्र, वायुके समान वेगवाले, वायुके समान बलवान, भीमसेन धर्म राजाके धर्मपाशमें बन्धे हुए हैं, तौ भी क्रोधके वशमें होकर स्वास लेते होंगे; वे पृथ्वीमें सोते हुए हमारे पुत्रोंके नाशकी इच्छा करते होंगे, परन्तु सत्य और धर्मके वशमें होकर कुछ कर नहीं सके; वे अपने समयको विता रहे हैं और युद्धका समय देख रहे हैं; जिस समय महाराज युधिष्ठिरको छलसे जीता था और दुःशासनने कठोर वचनको कहा था वे सब भीमसेनको ऐसा जला रहे हैं जैसे अग्नि ईंधनको जलाती है । (१५-१७)

महाराज युधिष्ठिर कभी पापका ध्यान नहीं करेंगे; और अर्जुनभी उनके सङ्ग रहेंगे, वनमें रहनेसे भीमका क्रोध ऐसा बढेगा जैसे वायु लगनेसे अग्नि बढती है; भीमसेन उस क्रोधसे जलकर हाथसे हाथको मल रहे होंगे, वे हमारे पुत्र और पोतोंके मारनेका विचार करते और घोर गरम गरम सांस लेते होंगे; गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन और भीमसेन काल और यमराजके समान युद्धमें

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो दुःशासनश्चापि सुमंदचेताः।
मधु प्रपश्यंति न तु प्रपातं यद्‌ द्यूतमालंब्य हरंति राज्यम्‌ ॥ २१ ॥
शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्ता।
स तेन मुह्यत्यवशः फलेन मोक्षः कथं स्यात्पुरुषस्य तस्मात्‌ ॥ २२ ॥
क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम्‌।
न स्यात्फलं तस्य कुतः प्रसिद्धिरन्यत्र दैवादिति चिंतयामि ॥२३॥
कृतं मताक्षेण यथा न साधु साधुप्रवृत्तेन च पांडवेन।
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन यथा कुरूणामयमंतकालः ॥ २४ ॥
ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या।
ध्रुवं दिनादौ रजनी प्रणाशस्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः ॥ २५ ॥
क्रियेत कस्मादपरे च कुर्युर्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित्‌।
प्राप्याऽर्थकालं च भवेदनर्थः कथं नु तत्स्यादिति तत्कुतः स्यात्‌ ॥२६॥

हैं; वे दोनों अपने शत्रुओंको स्मरण करके नहीं सोते होंगे; वे लोग युद्धमें शत्रुवोंकी सेनापर वज्रके समान बाणोंको छोडते हैं। (१८–२०)

दुर्योधन, शकुनी, कर्ण, और दुःशासन, ये सब महा मूर्ख हैं; ये लोग केवल अपने प्रयोजनको देखते हैं और हानिको नहीं देखते; इन्होंने जुवा खेलकर युधिष्ठिरका राज्य छीन लिया है; पुरुष शुभ और अशुभ कर्म करके उनके फलका मार्ग देखता है;फिर उनका फल पाकर मोहको प्राप्त होनेसे अपने वशमें नहीं रहता है; फिर उस पुरुषको मोक्ष कैसे हो सकती है ? जब खेत अच्छी प्रकारसे खींचा जाय, फिर बीज बोया जाय, पश्चात्‌ समयपर जलभी वर्षे, फिर उसमें अन्न क्यों नहीं उत्पन्न होगा ? यदि प्रारब्धही उलट जाय तो अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता। (२१–२३)

जो अच्छा कर्म नहीं था, सोई शकुनीने किया परन्तु उत्तम कर्म करने वाले युधिष्ठिरने उस समयभी अच्छा कर्म किया और मैंने अपने दुष्ट पुत्रके वशमें होकर ऐसा कुकर्म किया, जिससे कुरुवंशका अन्त समय आगया। निश्चय वायु बहताही है,चाहे उसे कोई चलावे वा न चलावे; गर्भिणी सन्तान उत्पन्न करती ही है;निश्चय दिन होनेसे रात्रिका नाश और रात्रि होनेसे दिनका नाश होता ही है; यदि पुरुषको ज्ञान हो तो किस प्रकारसे धन इकठ्ठा हो सकता है दूसरे राजा लोग किस प्रकारसे इकठ्ठा करेंगे और किस प्रकारसे कोई किसीको देगा; प्राप्तिका जो समय है, सो भी

कथं नु भिद्येत न च स्रवेत न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम् ।
अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येद् ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके ॥२७॥
गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य ।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः ॥ २८ ॥
स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव को मानुषः पुनरागंतुमिच्छेत् ।
अन्यत्र कालोपहतानेकान्समीक्षमाणस्तु कुरून्मुमूर्षून् ॥ २९ ॥
धनुर्ग्राहश्चाऽर्जुनः सव्यसाची धनुश्च तद्गांडिवं भीमवेगम् ।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र ॥३०॥
निशम्य तद्वचनं पार्थिवस्य दुर्योधनं रहिते सौबलोऽथ ।
अबोधयत्कर्णमुपेत्य सर्वं स चापि हृष्टो ऽभवदल्पचेताः ॥ ३१ ॥ [९२३७]

इति श्री० आरण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्रस्य तद्वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा ।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रव्राज्य पांडवान्वीरान्स्वेन वीर्येण भारत ।

अनर्थका हो जायगा । तब सब कर्म किस प्रकारसे और कहां सिद्ध होंगे वह धन किस प्रकारसे बंट सकता है और किस प्रकारसे उसका खर्च हो सकता है, तथापि उसकी रक्षा करनी होती ही है; क्योंकि रक्षा न करनेसे वह सहस्रों मार्ग बनाकर निकल जाता है, इससे किये हुए कर्मका फल अवश्य होता है । (२४—२७)

देखो अर्जुनका कैसा बल है, यह बलसे इन्द्र लोक हो आया; वहांसे चार प्रकारके दिव्य शस्त्र सीखके पुनः इस लोकमें आगया, ऐसा कौन पुरुष है, जो इसी शरीरसे स्वर्गमें जाय और फिर आनेकी इच्छा करे? दिव्यज्ञानवाले अर्जुनने अनेक मूर्ख कौरवोंको कालके वशमें देखकर क्रोध नहीं किया; धनुषधारी अर्जुन वह घोर वेगवाला गाण्डीव धनुष और वे अर्जुनके दिव्य बाण इस लोकमें इन तीनोंका तेज कौन सह सकता है । राजाके यह वचन सुन कर सुबलपुत्र शकुनीने एकान्तमें दुर्योधन और कर्णसे सब कह सुनाये । वह मूर्ख सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। (२८-३१

वनपर्वमें दोसौ छत्तीस अध्याय समाप्त । ९२३७

वनपर्वमें दोसौ सैंतीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! महाराज धृतराष्ट्रके ऐसे वचन सुन शकुनीने कर्ण और दुर्योधनसे ऐसा कहा । हे भारत ! तुमने अपने

भुंक्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शंबरहा यथा ॥ २ ॥
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः ।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥
या हि सा दीप्यमानेव पांडवानभजत्पुरा ।
साऽद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह ॥४ ॥
इंद्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे ।
अपश्याम श्रियं राजन्दृश्यते सा तवाऽद्य वै ॥ ५ ॥
शत्रवस्तव राजेंद्र न चिरं शोककर्शिताः ।
सा तु बुद्धिबलेनेयं राज्ञस्तस्माद्युधिष्ठिरात् ॥ ६ ॥
त्वयाऽऽक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते ।
तथैव तव राजेंद्र राजानः परवीरहन् ॥ ७ ॥
शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किंकुर्म इति वादिनः ।
तवेयं पृथिवी राजन्निखिला सागरांबरा ॥ ८ ॥
सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा ।
नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ॥ ९ ॥
वंद्यमानो द्विजै राजन्पूज्यमानश्च राजभिः ।
पौरुषाद्दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १० ॥

बलसे वीर पाण्डवोंको वनवास दिया, अब इस समस्त पृथ्वीका इस प्रकार भोग करो जैसे इन्द्र स्वर्गका भोग करता है। हे नरनाथ ! पूर्व, पश्चिम, उत्तर, और दक्षिणके रहनेवाले सब राजा तुमको कर देते हैं, जो प्रकाशमान लक्ष्मी पहिले पाण्डवोंके पास थी सो भाइयोंके सहित आपने प्राप्त करी है, हे राजन् ! हम लोगोंने जो लक्ष्मी इंद्रप्रस्थमें युधिष्ठिरके पास देखी थी सो सब तुम्हारे पास दीखती है। (१-५)

हे राजेन्द्र ! तुम्हारे शत्रु लोग बहुत समय तक दुःख भोगेंगे। हे महाबाहो तुमने अपनी बुद्धि और बलसे राजा युधिष्ठिरकी लक्ष्मीको छीन लिया है । हे शत्रुनाशन ! आज सब राजालोग तुम्हारे वशमें हैं; वे सब लोग कहते हैं कि " हे महाराज ! हम आपके आज्ञापालक हैं; कहिये कौनसा काम करें "; हम लोग आपके आज्ञापालक हैं। आज समुद्र, पर्वत, वन, गांव नगर, और खानीके सहित सब पृथ्वी तुम्हारे वशमें है। (६--९)

जिस प्रकार ब्राह्मण और राजोंसे

रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः ।
कुरुभिस्त्वं वृतो राजन्भासि नक्षत्रराडिव ॥ ११ ॥
यैः स्म ते नाद्रियेताऽऽज्ञा न च ये शासने स्थिताः ।
पश्यामस्ताञ्छ्रिया हीनान्पांडवान्वनवासिनः ॥ १२॥
श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति ।
वसन्तः पांडवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १३ ॥
स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः ।
तापयन्पांडुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥ १४ ॥
स्थितो राज्ये च्युतान्राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः ।
असमृद्धान्समृद्धार्थः पश्य पांडुसुतान्नृप ॥ १५ ॥
महाभिजनसंपन्नं भद्रे महति संस्थितम् ।
पांडवास्त्वाऽभिवीक्षंतु ययातिमिव नाहुषम् ॥ १६ ॥
यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशांपते ।
पश्यंति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १७ ॥
समस्थो विषमस्थान्हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते ।

पूजित सूर्य प्रकाशित होता है, तैसेही आप अपने बलसे प्रकाशमान हैं। जैसे रुद्रोंके सहित यम, मरुतोंके सहित इन्द्र और तारोंके बीचमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है, तैसेही कुरुवंसियोंके बीचमें आप विराजमान हैं। जो लोग तुम्हारी आज्ञा नहीं पालते और जो आपके वचन को नहीं मानते वे ही पाण्डव लोग लक्ष्मीसे रहित होकर वनमें वसते हैं। हे महाराज! हम लोगोंने सुना है कि पाण्डवलोग वनवासी ब्राह्मणोंके सहित द्वैत वनमें एक तलावके तटपर वसते हैं। (१०—१३)

हे महाराज! आप अपनी लक्ष्मीसे सूर्यके समान तेजस्वी होकर पाण्डवोंको पीडा देनेके लिये द्वैत वनको चलिये। हे नरनाथ! आप राज्यमें स्थित हैं,पाण्डव लोग राज्यसे भ्रष्ट हैं; आप लक्ष्मीसे युक्त; वे लक्ष्मीसे हीन हैं, और आप परम बुद्धिसे भरे हैं, अब वहां चलकर बुद्धिहीन पाण्डवोंको देखिये, आपको नहुष पुत्र ययातिके समान लक्ष्मीसे भरे हुए और अपने पुरुषोंके सहित विराजमान हीन पाण्डव लोग देखें; हे नरनाथ! पुरुषमें प्रकाशमान जिस लक्ष्मीको शत्रु और मित्र देखते हैं, वही कार्य करनेमें समर्थ होता है। (१४-१७)

जिस सुखी पुरुषको शत्रु लोग दुःखी

जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १८ ॥
न पुत्रधनलाभेन न राज्येनाऽपि विंदति ।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल यामित्राघदर्शनात् ॥ १९ ॥
किं नु तस्य सुखं न स्याद्‌आश्रमे यो धनंजयम् ।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ २० ॥
सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम् ।
पश्यंतु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥२१॥
विनिन्दन्तां तथाऽऽत्मानं जीवितं च धनच्युतम् ।
न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति ।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलंकृताः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह ।
तूष्णीं बभूवतुरुभौ वाक्यांते जनमेजय ॥ २३ ॥ [९२६०]

इति श्रीमहाभारते० घोषयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

वैशम्पायन उवाच—कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः ।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

होकर देखें, उससे अधिक सुखी कौन होगा? उनकी ऐसीही दशा होती है, जैसे किसी पर्वत पर चढे पुरुषको पृथ्वीमें खडा हुआ मनुष्य देखे। हे राजसिंह! पुत्र धन और राज्यके प्राप्त होनेसे इतना सुख नहीं होता, जितना शत्रुओंको दुःख देनेसे होता है। ऐसा कौन पुरुष है, जो धनवान होकर आश्रमपर बैठे हुए और मुनियोंके वस्त्र पहने हुए अर्जुनको दुःखी देख कर प्रसन्न न हो? (१८–२०)

तुम्हारी सब स्त्रियां अच्छे अच्छे वस्त्र पहनकर वगुले और हरिनके चर्म धारिणी दुःखित द्रौपदीको देखें; इससे उनको बहुत दुःख होगा और तुम्हारी स्त्रियोंको आभूषण पहिरे देखकर द्रौपदी भूषण रहित अपने शरीरकी बहुत निन्दा करेगी; हे राजन्! तुम्हारी स्त्रियोंको देखकर जैसा द्रौपदीको दुःख होगा, तैसा सभामें नहीं हुआ था। (२१–२२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! राजा दुर्योधनसे ऐसे वचन कहकर शकुनी और कर्ण चुप होगए। (२३) [९२६०]

वनपर्वमें दोसौ सैंतीस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ अडतीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कर्णके वचन सुनकर राजा दुर्योधन बहुत प्रसन्न

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पांडवाः ॥ २ ॥
परिदेवति तान्वीरान्धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पांडवान् ॥ ३ ॥
अथवाऽप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् ।
एवमप्यायतिं रक्षन्नाऽभ्यनुज्ञातुमर्हति ॥ ४ ॥
न हि द्वैतवने किंचिद्विद्यतेऽन्यत्प्रयोजनम् ।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ॥ ५ ॥
जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते ।
अब्रवीद्यच्च मां त्वां च सौबलं वचनं तदा ॥ ६ ॥
तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चाऽन्यत्परिदेवितम् ।
विचिंत्य नाऽधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥
ममापि हि महान्हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥
न तथा प्राप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम् ।
दृष्ट्वा यथा पांडुसुतान्वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥
किं नु स्यादधिकं तस्माद्यदहं द्रुपदात्मजाम् ।

हुए और फिर दीन होकर ऐसा बोले। हे कर्ण ! तुमने जो कहा सो सब हमारे मनमें है, परन्तु पाण्डवोंके पास जानेकी आज्ञा महाराज हमको नहीं देंगे,महाराज धृतराष्ट्र पाण्डवोंके निमित्त रोया करते हैं और उनको तपसे हम लोगोंसे अधिक मानते हैं। यदि महाराज हमारी सम्मति को जान जायंगे तो आनेवाले समयकी रक्षा करनेके लिये हमें कदापि आज्ञा न देंगे। (१—४)

हे महातेजस्वी ! वनवासी पाण्डवोंके दुःख देनेके सिवा द्वैत वनमें हम लोगोंको और कोई काम नहीं है; तुम जानते हो कि जुएके समय विदुरने हमसे तुमसे और शकुनीसे कैसे कैसे वचन कहे थे; उन सब वचनोंको और राजाके रोनेका विचार कर,हम चलने और न चलनेको कुछ नहीं कह सकते हैं; हमभी बहुत प्रसन्न हों,जो द्रौपदीके सहित भीम और अर्जुनको वनमें दुःख पाते देखें। हम इस सब पृथ्वीको पाकर इतने प्रसन्न नहीं होंगे, जितने बगुले वा हरिन का चर्म ओढे पाण्डवोंको देखकर होंगे। (५-९)

इससे और अधिक सुख क्या होगा

द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥
यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पांडवः।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥११॥
उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद्वनम्।
यथा चाऽभ्यनुजानीयाद्गच्छंतं मां महीपतिः॥ १२ ॥
स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद्वनम् ॥ १३ ॥
अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय च।
कल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ॥ १४ ॥
मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे।
उपायो यो भवेद् दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः ॥ १५ ॥
वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ॥ १६ ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान्प्रति।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥१७॥
ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत्।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर ॥ १८ ॥

जो मैं द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीको गेरुवा वस्त्र पहिने हुए वनमें बैठी देखूं ? हे कर्ण! मुझे इससे अधिक और क्या सुख होगा जो मुझे धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेन परम लक्ष्मीसे युक्त देखें? परन्तु मुझे कोई द्वैत वनमें चलनेका उपाय नहीं दीखता, जिससे राजा हमें वनमें जानेकी आज्ञा दें। इस लिये तुम दुःशासन और शकुनी के सहित कोई ऐसा उत्तम उपाय विचारो जिससे हम लोग वनको जा सकें। (१०–१३)

मैं भी वनको जानेकी आज्ञा मांगनेके लिये प्रातः कालही महाराजके पास जाऊंगा यदि वहां कुरुकुल श्रेष्ठ भीष्म बैठे होंगे तो उनसे सब वृत्तान्त कहूंगा; इससे तुम और शकुनी कोई उत्तम उपाय विचारो; पश्चात् भीष्म और महाराजके वचन सुनकर और भीष्मकी आज्ञा लेकर चलनेका विचार करेंगे। (१४––१६)

अनन्तर सबने राजाके वचनको स्वीकार किया और सब लोग अपने अपने घरको चले गए। प्रातःकाल होतेही कर्ण राजाके पास आए और हंसकर कहने लगे, हे पृथ्वीनाथ! हमने एक उपाय

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥
उचितं हि सदा गंतुं घोषयात्रां विशांपते ।
एवं च त्वां पिता राजन्समनुज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥
तथा कथयमानौ तु घोषयात्राविनिश्चयम् ।
गांधारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥
उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः ।
अनुज्ञास्यति नो राजा बोधयिष्यति चाप्युत ॥ २२ ॥
घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥
ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान्ददुः ।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥ [९२८४]

इति श्रीमहाभारते० वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वण्यष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

वैशम्पायन उवाच– धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥
ततस्तैर्विहितः पूर्वं समंगो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ २ ॥

विचारा है उसको आप सुनिये। द्वैत बनमें गौ और ग्वाले रहते हैं, वे सब आपका मार्ग देख रहे होंगे, इस लिये राजासे यही कहना चाहिये, तो वे हमको जानेकी आज्ञा देंगे। (१७-१९)

हे पृथ्वीनाथ ! आप उनसे कहना कि, हे महाराज ! "हमें गौ देखने जाना आवश्यक है," तब वे आपको जानेकी आज्ञा देंगे। कर्ण और दुर्योधनका ऐसा निश्चय सुनकर शकुनी बोले, हमने इस उपायको बहुत उत्तम सोचा है; अब महाराज हम लोगोंको अवश्य जानेकी आज्ञा देंगे और 'तुम अवश्य गौवों को देखो' ऐसा भी कहेंगे। ऐसा निश्चय करके वे सब लोग ताली बजाकर हंसने लगे। अनन्तर सब राजा धृतराष्ट्रके पास गए। (२०—२४)

वनपर्वमें दोसौ अडतीस अध्याय समाप्त। ९२८४

वनपर्वमें दोसौ उनतालीस अध्याय

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! महाराजके पास जाकर उन सबने कुशल पूछी और राजाने उनसे कुशल प्रश्न किया। तब उनमेंसे समंग नामक ग्वालेने कहा कि, हे महाराज !

अनंतरं च राधेयः शकुनिश्च विशांपते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ३ ॥
रमणीयेषु देशेषु घोषाः संप्रति कौरव ।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चांकनम् ॥ ४ ॥
मृगया चोचिता राजन्नस्मिन्काले सुतस्य ते ।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच —मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम् ।
विश्रंभस्तु न गंतव्यो बल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥
ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम् ।
अतो नाऽभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ७ ॥
छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने ।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥
धर्मराजो न संक्रुद्ध्येद्भीमसेनस्त्वमर्षणः ।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥
यूयं चाऽप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः ।

सब गौ समीपही हैं। इसके पश्चात् राजोंमें श्रेष्ठ नरनाथ धृतराष्ट्रसे कर्ण और शकुनी कहने लगे, हे कुरुकुलश्रेष्ठ! आज कल्ह गाय बैल रमणीय वनमें हैं, उनको देखने तथा नवीन बछडोंको संख्या चिह्न देनेका समय भी आगया है, और इस समय आपके पुत्रको आहेर खेलनाभी उचित है इस लिये आप दुर्योधनको जानेकी आज्ञा दीजिये। (१—५)

महाराज धृतराष्ट्र बोले, हे तात! आहेर खेलना तो उचितही है, परन्तु ग्वालोंके विश्वासपर नहीं जाना चाहिये, क्योंकि हमने सुना है कि पुरुषसिंह पाण्डव लोग भी वहां ही हैं। इस लिये हमारी यह इच्छा नहीं है कि तुम लोग आपही वनको जाओ। हे राधापुत्र! उन सब लोगोंको तुमने छलसे जीता है और वे लोग वनमें रहते रहते बहुत दुःखी होगये हैं; वे लोग नित्यही तप करते हैं, पाण्डव सामर्थ्यवान् और महारथ हैं। (६—८)

मुझे बिश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर कभी क्रोध नहीं करेंगे, परन्तु भीमसेन महाक्रोधी है और द्रुपदकी पुत्री साक्षात् अग्निही है; और तुम लोग अभिमानमें मोहित हो; इससे उनका अपराध अवश्यही करोगे, तब वे तुम

ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥
अथवा सायुधा वीरा मन्युनाऽभिपरिप्लुताः ।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥
अथ यूयं बहुत्वात्तानभियात कथंचन ।
अनार्यं परमं तत्स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ १२ ॥
उषितो हि महाबाहुरिंद्रलोके धनंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याऽथ ततः प्रत्यागतो वनम्॥१३॥
अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा ।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद्वो महारथः ॥१४ ॥
अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ ।
उद्विग्नवासो विश्रंभाद्दुःखं तत्र भविष्यति ॥ १५ ॥
अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम् ।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ १६ ॥
तस्माद्गच्छंतु पुरुषाः स्मारणायाऽऽप्तकारिणः ।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १७ ॥
शकुनिरुवाच — धर्मज्ञः पांडवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि ।

सब लोगोंको अपने तपसे भस्म कर देंगे, यदि वे पाचों भाई शस्त्र धारण करके और कवच पहर कर क्रोध करेंगे, तो तुम लोगोंको बाणोंसे भस्म कर देंगे। यदि तुम सब लोग इकठे होकर उनसे युद्ध करोगे तो बहुत अधर्म होगा और जीत नहीं सकोगे। (९–१२)

महाबाहु अर्जुन इन्द्रलोकसे सब शस्त्रोंको सीखकर वनसें आये हैं; जब अर्जुनने शस्त्र विद्या नहीं सीखी थी, तभी उसने सब पृथ्वीको जीत लिया था, फिर अब तो सब शस्त्रविद्या सीख ली है; वह महारथ अर्जुन अब तुम लोगोंको क्यों न मारेगा ? यदि तुम लोग हमारे वचन सुनकर वहां जाओगे तो महा दुःख उत्पन्न होगा; क्योंकि पाण्डव लोग वनवाससे घबडा रहे हैं, अथवा कोई तुम्हारी सेनाका पुरुष युधिष्ठिरकी कुछ हानि करेगा तो वही मूर्खतारूपी दोष तुम्हारा नाश कर देगा। हे दुर्योधन ! इस लिये हमारी यह इच्छा नहीं है कि तुम आपही वहां जाओ, बरन अन्य उत्तम पुरुष गौ और बैलोंकी संख्या करनेको जायं। (१३—१७)

शकुनी बोले, हे महाराज! युधिष्ठिर बहुत धर्म जाननेवाले हैं, और उन्होंने

तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥ १८ ॥
अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पांडवा धर्मचारिणः ।
युधिष्ठिरस्तु कौंतेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥
मृगयां चैव नो गंतुमिच्छा संवर्तते भृशम् ।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पांडवदर्शनम् ॥ २० ॥
न चाऽनार्यसमाचारः कश्चित्तत्र भविष्यति ।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥
अनुज्ञातस्तु गांधारिः कर्णेन सहितस्तदा ।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥
दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता ।
संवृतो भ्रातृभिश्चाऽन्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥२४॥
तं निर्यातं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः ।
पौराश्चाऽनुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ॥ २५ ॥
अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च ।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥

सभामें प्रतिज्ञा करी है, इससे वे अवश्य ही बारह वर्ष वनमें रहेंगे, सब पाण्डव लोग धर्मात्मा और उत्तम कार्य करनेवाले हैं; इससे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर हम लोगों पर कभी क्रोध नहीं करेंगे; हम लोगों की इच्छा आखेट खेलनेकी नहीं है; हम केवल गौ और बछडोंको गिनने जाते हैं; हम लोग वहां जाकर कोई अनर्थ नहीं करेंगे और न पाण्डवोंके आश्रम पर जायंगे। (१८—२१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, शकुनीके ऐसे वचन सुन महाराज धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंके सहित दुर्योधन को वन जानेकी आज्ञा दी; परन्तु प्रसन्न होकर जानेको न कहा। गान्धारीपुत्र दुर्योधन पिताकी आज्ञा पाकर कर्ण दुःशासन बुद्धिमान शकुनी तथा अन्य सब भाईयोंके सहित वनको चले। भरतकुलश्रेष्ठ दुर्योधन के संग बहुत सेना और सहस्रों स्त्रियां भी चलीं। जब महाबाहु दुर्योधन द्वैत वनमें तालाव देखनेको चले, तब नगरनिवासी लोगभी स्त्रियोंके सहित उनके पीछे चले। (२२–२५)

दुर्योधनके सङ्ग आठ सहस्र रथ, तीन

शकटापणवेशाश्च वणिजो बंदिनस्तथा ।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥
ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत्स्वनः ।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशांपते ॥ २८ ॥
गव्यूतिमात्रे न्यवसद्राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥ [९३१३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि
दुर्योधनप्रस्थान उनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

वैशम्पायन उवाच--अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन् ।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥
रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे ।
देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान्नराः ॥ २ ॥
तथैव तत्समीपस्थान्पृथगावसथान्बहून् ।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातॄणां चैव सर्वशः ॥ ३ ॥
ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अंकैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ ४ ॥
अंकयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि ।

सहस्र हाथी, नौ सहस्र घोडे और अनेक सहस्र पैदल चले । महाराज दुर्योधनके सङ्ग छकडे, बाजार, बनिये, भाट, और सैकडों सहस्रों आखेट करनेवालेभी चले। दुर्योधनके चलनेके समय ऐसा घोर शब्द हुआ, जैसा वर्षा कालमें घोर वायुका शब्द होता है। उस समय सब वाहनोंके साथ द्वैतवन को चले हुए दुर्योधनने दो कोसमें डेरा किया। २६-२९

दोसौ उनतालिस अध्याय समाप्त । [९३१३]

वनपर्वमें दोसौ चालीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! दुर्योधन इस प्रकारसे वनको देखते हुए अपनी गोशालाके पास पहुंचे और गौवोंके समीपही जल वृक्ष और सब गुणसे भरे हुए स्थानमें डेरा किया। (१-२)

महाराजके पासही कर्ण शकुनी और उनके सब भाइयोंके डेरे हुए । अनन्तर दुर्योधनने सहस्रों गौवोंको देखा और उनके अङ्क तथा चिह्नभी देखे और नवीन बछडोंको संख्या चिन्ह दिये और पुराने बछडोंकोभी गिना और फिर उस गिनतीको नई गिनतीसे मिलाया ।

बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ ५ ॥
अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान् ।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्याहरत्कुरुनंदनः ॥ ६ ॥
स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः ।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन्यथाऽमराः ॥ ७ ॥
ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने ।
धार्त्तराष्ट्रमुपातिष्ठन्कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
स स्त्रीगणावृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु ।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥
ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून्महिषान्मृगान् ।
गवयर्क्षवराहांश्च समंतात्पर्यकालयन् ॥ १० ॥
स तान्शरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून्वने ।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ॥ ११ ॥
गोरसानुपयुंजान उपभोगांश्च भारत ।
पश्यन्स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ॥ १२ ॥
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च ।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

जिन गौओंके नीचे छोटे छोटे बछडे थे, उनकी गिनती अलग अलग करी।(३-५)

उनमें जो तीन वर्षके बछडे थे उनको गिनकर वहीं छोड दिया। अनन्तर कुरुकुल श्रेष्ठ दुर्योधन ग्वालोंसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। पश्चात् दुर्योधनके संग वाले नगरनिवासी और देवतोंके तुल्य सेनाके लोग उस वनमें इच्छानुसार खेलने लगे। अनन्तर गानेवाले और नाचने वाले ग्वाले और उनकी कन्या आभूषण पहरकर दुर्योधनके पास आईं। तब राजाने स्त्रियोंके सहित प्रसन्न होकर उन सबको उचित धन भोजन और अनेक प्रकारकी पीनेकी वस्तु दी। (६–९)

तब उन सब ग्वालोंने राजा दुर्योधन के लिये भैंसे, रीछ, हरिन, नीलगाय और वराहोंकी उठाई की। तब उस रमणीय वनमें दुर्योधनने अपने बाणोंसे हाथी आदि अनेक जन्तुओंको मारा और हरिनोंको पकडवाया। इस प्रकार दूध दहीको भोजन करते हुए और सुन्दर वनको देखते हुए बनके मतवाले मोरोंके शब्द सुनते हुए क्रमसे पवित्र द्वैतवनमें पहुंचे। (१०–१३)

मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकंठरवाकुलम् ।
सप्तच्छदसमाकीर्णं पुन्नागबकुलैर्युतम् ॥ १४ ॥
ऋद्ध्या परमया युक्तो महेंद्र इव वज्रभृत् ।
यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशांपते ।
दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ॥ १६ ॥
कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव ।
द्रौपद्या सहितो धीमान्धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १७ ॥
ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः ।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियंतामिति भारत ॥ १८ ॥
ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः ।
चिकीर्षंतस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥
प्रविशंतं वनद्वारि गंधर्वाः समवारयन् ।
सेनाग्रं धार्त्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ॥ २० ॥
तत्र गंधर्वराजो वै पूर्वमेव विशांपते ।
कुबेरभवनाद्राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ २१ ॥

वहां मतवाले भौंरे और मोर शब्द कर रहे थे। वह बन मौलसरी, पुन्नाग आदि रमणीय वृक्षोंसे भरा था। उसी वनमें परम ऋद्धिसे भरे हुए, साक्षात वज्रधारी इन्द्रके समान प्रतापी महाराज युधिष्ठिरभी निवास करते थे। उस दिन कुरुकुलश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर बारह दिनका राजर्षियज्ञ कर रहे थे, उस यज्ञको उन्होंने दिव्य विधिसे आरंभ किया था। बुद्धिमान् पृथ्वीनाथ महाराज युधिष्ठिरने द्रौपदी और अपने भाइयोंके सहित उसी तडागपर यज्ञ आरम्भ किया था। (१४—१७)

हे भारत! उसी समय दुर्योधनने अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी कि तुम लोग शीघ्र विहार करनेके लिये स्थान ढूंढो। वे सब लोग उनके वचनको स्वीकार करके स्थान ढूंढनेके लिये उसी द्वैतवनके तलावकी ओर जाने लगे। जिस समय उन्होंने द्वैतवन सरोवरके पास आकर वनमें प्रवेश किया, उसी समय गन्धर्व लोग निवारण करने लगे। (१८-२०)

जिस समय दुर्योधनकी सेनाने उस वनमें प्रवेश किया, उससे पहिलेही अलकापुरीसे चलकर गन्धर्वराज अपनी

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथाऽऽत्मजैः ।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत्संवृतं सरः ॥ २२ ॥
तेन तत्संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः ।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन्यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान्युद्धदुर्मदान् ।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ २४ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
सरो द्वैतवनं गत्वा गंधर्वानिदमब्रुवन् ॥ २५ ॥
राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली ।
विजिहीर्षुरिहाऽऽयाति तदर्थमुपसर्पत ॥ २६ ॥
एवमुक्तास्तु गंधर्वाः प्रहसंतो विशांपते ।
प्रत्यब्रुवंस्तान्पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ २७ ॥
न चेतयति वो राजा मंदबुद्धिः सुयोधनः ।
योऽस्मानाज्ञापयत्येव वैश्यानिव दिवौकसः ॥ २८ ॥
यूयं मुमूर्षवश्चापि मंदप्रज्ञा न संशयः ।
ये तस्य वचनादेवमस्मान्ब्रूत विचेतसः ॥ २९ ॥
गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः ।

सेना सहित वहां आये थे। उनके संग अनेक अप्सरा और देवतोंके पुत्रभी थे; उन सबसे उस तलावका तट भरा हुआ था और वे लोग वहां विहार कर रहे थे।राजा दुर्योधनके सेवक यह सब देखकर वहांसे लौट गये और राजासे सब समाचार कह सुनाया। (२१—२३)

राजाने उनके वचन सुनकर महायुद्ध करनेवाले सैनिकोंको भेजा और आज्ञा दी कि गन्धर्वोंको वनसे निकाल दो, वे सब राजाके वचन सुनकर गन्धर्वोंके पास गये और कहने लगे कि, महाराज धृतराष्ट्रके पुत्र महाबलवान राजा दुर्योधन वहां विहार करनेको आना चाहते हैं; इसलिये तुम लोग भागजाओ।२४-२६

उनके ऐसे वचन सुन गन्धर्व लोग- हंसने लगे और कठोर वचन कहने लगे कि, तुम्हारा दुर्योधन नामक राजा महामूर्ख है, वह कुछभी नहीं जानता जो स्वर्गमें रहनेवाले हम लोगोंपर बनियोंके समान आज्ञा करता है, और तुम लोगभी मूर्ख हो, निःसन्देह तुम लोगोंको कुछभी बुद्धि नहीं है, जो उस मूर्खके वचनोंको हम लोगोंसे कहने आये

न चेद्द्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ ३० ॥
एवमुक्तास्तु गंधर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
संप्राद्रवन्यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत्॥ ३१ ॥ [९३४४]

इति श्रीमहाभारते० घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनसंवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥

वैशम्पायन उवाच- ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ॥ १ ॥
गंधर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ २ ॥
शास्तैनानधर्मज्ञान्मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः ॥ ३ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्त्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाऽभिसन्नद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥ ४ ॥
ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद्वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयंतो दिशो दश ॥ ५ ॥
ततोऽपरैरवार्यंत गंधर्वैः कुरुसैनिकाः ।
ते वार्यमाणा गंधर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ॥ ६ ॥

हो। इस लिये तुम लोग उस कुरुवंशी राजाके पास लौट जाओ, नहीं तो हम अभी तुम सबको यमराजके पास भेजेंगे। वे सब गन्धर्वोंके वचन सुन राजा दुर्योधनके पास गये। (२७-३१)

दोसौ चालिस अध्याय समाप्त। [९३४४]

वनपर्वमें दोसौ इकतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! तब उन सब सैनिकोंने गन्धर्वोंके सब वचन दुर्योधनसे कह सुनाए, और जब प्रतापवान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने देखा कि मेरी सेनाको गन्धर्वोंने निवारण कर दिया, तब वही क्रोधसे भर गए और अपनी सेनाको आज्ञा दी कि हमारा अप्रिय कार्य करनेवाले इन अधर्मी गन्धर्वोंको मारो, यदि साक्षात् इन्द्र भी देवतोंके साथ विहार करते हों तो उन्हें भी यहांसे निकाल दो। (१-३)

दुर्योधनकी आज्ञा सुनतेही धृतराष्ट्रके सब पुत्र महा बलवान सहस्रों योद्धा लोग युद्धको उपस्थित हुए। तब उन सब लोगोंने गन्धर्वोंको अपने बलसे व्याकुल करके और अपने घोर शब्दसे दशों दिशाओंको पूर्ण करके, उस वनमें प्रवेश किया। तब उन गन्धर्वोंने इन सबको शान्तिपूर्वक निवारण किया; परन्तु

तानानादृत्य गंधर्वास्तद्वनं विविशुर्महत् ।
यदा वाचा न तिष्ठंति धार्त्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७ ॥
ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन् ।
गंधर्वराजस्तान्सर्वानब्रवीत्कौरवान्प्रति ॥ ८ ॥
अनार्याञ्शासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ।
अनुज्ञाताश्च गंधर्वाश्चित्रसेनेन भारत ॥ ९ ॥
प्रगृहीतायुधाःसर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ।
तान्दृष्ट्वाऽऽपततः शीघ्रान्गंधर्वानुद्यतायुधान् ॥ १० ॥
प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।
तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान् ॥११॥
राधेयस्तु तदा वीरो नाऽऽसीत्तत्र पराङ्मुखः ।
आपतंतीं तु संप्रेक्ष्य गंधर्वाणां महाचमूम् ॥ १२ ॥
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् ।
क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदंतैस्तथाऽऽयसैः ॥ १३ ॥
गंधर्वाञ्शतशोऽभिघ्नँल्लघुत्वात्सूतनंदनः ।
पातयन्नुत्तमांगानि गंधर्वाणां महारथः । ॥ १४ ॥
क्षणेन व्यधमत्सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम्
ते वध्यमाना गंधर्वाः सूतपुत्रेण धीमता ॥ १५ ॥

ये उनका निरादर करके वनमें घुसे गए। (४—७)

जब धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके वचनोंको न सुना, तब उन गन्धर्वोंने जाकर चित्रसेनसे कह दिया। महा क्रोधी गन्धर्वराज चित्रसेनने सुनतेही सब गन्धर्वोंको आज्ञा दी कि, इन अधर्मी कौरवोंको मारो। हे भारत! गन्धर्वराजकी ऐसी आज्ञा सुन गन्धर्वलोग शस्त्र लेकर कौरवोंकी ओर दौडे। जब कौरवोंने शीघ्रगामी गन्धर्वों को शस्त्र लिये अपनी ओर आते देखा, तब सब लोग इधर उधर भागने लगे। ८–१०)

परन्तु सूतपुत्र कर्ण युद्धको छोडकर न भागा। जब कर्णने उस महासेनाको आते हुए देखा, तो घोर बाणोंकी वर्षा करके, उसे निवारण करने लगा। सूतपुत्र कर्णने क्षुरप्र, वत्सदन्त और लोहेके बाणोंसे क्षण भरमें गन्धर्वोंकी सेनाको व्याकुल कर दिया। महारथ कर्णके बाणोंसे अनेक गन्धर्वोंके सिर पृथ्वी पर गिर गये। बुद्धिमान कर्णके बाणोंसे

भूय एवाऽभ्यवर्तंत शतशोऽथ सहस्रशः ।
गंधर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत　　॥ १६ ॥
आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः ।
अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः　॥ १७ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च ये चाऽन्ये धृतराष्ट्रजाः ।
न्यहनंस्तत्तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः　　॥ १८ ॥
भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाऽग्रतः ।
महता रथसंघेन रथचारेण चाप्युत　　॥ १९ ॥
वैकर्तनं परीप्संतो गंधर्वान्समवाकिरन् ।
ततः संन्यपतन्सर्वे गंधर्वाः कौरवैः सह　　॥ २० ॥
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
ततस्ते मृदवोऽभूवन्गंधर्वाः शरपीडिताः　　॥ २१ ॥
उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गंधर्वान्प्रेक्ष्य पीडितान् ।
गंधर्वांस्त्रासितान्दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ।
उत्पपाताऽऽसनात्क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः　॥ २२ ॥
ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयाऽमुह्यंत कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया　　॥ २३ ॥

व्याकुल होकर सहस्रों गन्धर्व लोग फिर युद्ध करनेको लौटे, उस समय वह समस्त रणभूमि गन्धर्वोंसे भरी हुई दीखती थी। (११—१७)

जिस समय चित्रसेनकी सेना फिर लौटी, तब राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनी, दुःशासन और विकर्ण आदि धृतराष्ट्रके पुत्र गरुडके समान रथोंपर बैठकर गन्धर्वोंको मारने लगे, दुर्योधनकी सेना कर्णको आगे करके महायुद्ध करने लगी। उस समय दुर्योधनकी सेनाने रथयुद्ध किया, दुर्योधनकी सेनाने गन्धर्वोंकी सेनाको अपने बाणोंसे जीत लिया। तब गन्धर्व लोगभी उनसे घोर युद्ध करने लगे। यह युद्ध महाघोर और लोमहर्षण हुआ। तब दुर्योधनकी सेनाके बाणोंसे पीडित होकर गन्धर्व लोग ढीले पड गये दुर्योधनके सैनिक लोग गन्धर्वों को व्याकुल देखकर गर्जने लगे। १७-२२

जब महाक्रोधी चित्रसेनने देखा कि गन्धर्व लोग युद्धमें व्याकुल होगए;, तब क्रोध करके और उन सबके मारने की इच्छा करके आपही उठा; चित्रसेनने उस समय गन्धर्वोंकी मायाको प्रकाश किया।

एकैकस्य तदा योधा धार्तराष्ट्रस्य सर्वशः।
पर्यवर्तंत गंधर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २४ ॥
ततः संपीड्यमानास्ते बलेन महता तदा।
प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजञ्जिजीषवः ॥ २५ ॥
भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ २६ ॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः।
गंधर्वान्योधयामासुः समरे भृशविक्षताः ॥ २७ ॥
सर्व एव तु गंधर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन्रणे ॥ २८ ॥
असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः।
सूतपुत्रं जिघांसंतः समंतात्पर्यवाकिरन् ॥ २९ ॥
अन्येऽस्य युगमच्छिंदन्ध्वजमन्ये न्यपातयन्।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ ३० ॥
अन्ये छत्रं वरूथं च बंधुरं च तथाऽपरे।
गंधर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन्रथम् ॥ ३१ ॥
ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत।

चित्रसेनकी उस मायासे सब कौरव लोग मोहित होगये। हे भारत! उस समय दुर्योधनके एक एक योधाके सङ्ग दश दश गन्धर्व युद्ध करने लगे। २३-२५

हे राजन्! उस समय गन्धर्वके बाणोंसे दुर्योधनकी सब सेना पीडित हो गई और योद्धा जीनेकी इच्छासे भागे। जब दुर्योधनकी सब सेना इधर उधर भागने लगी, तब अकेला कर्णही पर्वतके समान खडा रहा। उस समय दुर्योधन कर्ण और सुबल पुत्र शकुनी अत्यन्त घावसे पीडित होकर भी युद्ध करते रहे। तब सहस्रों गन्धर्व लोग इकठे होकर कर्णके मारनेकी इच्छासे केवल कर्णहीसे युद्ध करने लगे। २६-२९

महाबलवान गन्धर्व लोग चारों ओर से कर्णके ऊपर खड्ग, परिघ, शूल और गदा छोडने लगे। किसीने कर्णके रथके पहिये, किसीने ध्वजा, किसीने धुरी किसीने घोडे, किसीने सारथी, किसीने छत्र, किसीने कलश, और किसीने रथ के बन्धन काट डाले। उस समय सूतपुत्र कर्णका रथ कटकर तिलके समान हो गया। तब कर्ण खड्ग और ढाल ले

विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाऽश्वानचोदयत् ॥ ३२॥ [२३७६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४१॥

वैशम्पायन उवाच — गंधर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे ।
संप्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥
तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान् ।
दुर्योधनो महाराजो नाऽऽसीत्तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥
तामापतंतीं संप्रेक्ष्य गंधर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ॥ ३ ॥
अचिंत्य शरवर्षं तु गंधर्वास्तस्य तं रथम् ।
दुर्योधनं जिघांसंतः समंतात्पर्यवारयन् ॥ ४ ॥
युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी ।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशो व्यधमन्छरैः ॥ ५ ॥
दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि ।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाऽग्रहीत् ॥ ६ ॥
तस्मिन्गृहीते राजेंद्र स्थितं दुःशासनं रथे ।
पर्यगृह्णंत गंधर्वाः परिवार्य समंततः ॥ ७ ॥

कर रथसे नीचे उतरा और विकर्णके रथपर चढकर युद्धसे भागा। (३०—३२)

वनपर्वमें दोसौ इकतालिस अध्याय समाप्त।२३७६

वनपर्वमें दोसौ बियालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! जिस समय महारथ कर्ण गन्धर्वोंसे हारकर और युद्धको छोडकर भागा, उस समय दुर्योधनके देखते देखते उनकी सब सेना भाग गई। उस घोर युद्धसे केवल महाराज दुर्योधनही नहीं भागे, जब दुर्योधनने उस महासेना को अपनी ओर आते देखा तब बाणों की घोर वर्षा करने लगे। गन्धर्वोंने उनकी बाण वर्षापर कुछभी ध्यान नहीं दिया और दुर्योधनको मारनेके लिये उनको चारों ओरसे घेरकर मारने लगे। उस समय दुर्योधनके रथके पहिये, धुरी, ध्वजा, सारथी, घोडे और जुआ तिल तिल होकर पृथ्वीपर गिर गये और दुर्योधन भी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिरे। १-६

तब महाबाहु चित्रसेनने उनको जीतेही पकड लिया। जिस समय महाराज दुर्योधन पकड गए उस समय रथपर बैठे हुए दुःशासनकोभी गन्धर्वोंने पकड

विविंशतिश्चित्रसेनश्चादायान्ये विदुद्रुवुः ।
विंदानुविंदावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥
सैन्यं तद्धार्तराष्ट्रस्य गंधर्वैः समभिद्रुतम् ।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पांडवानभ्ययुस्तदा ॥ ९ ॥
शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
शरणं पांडवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ १० ॥
सैनिका ऊचुः — प्रियदर्शी महाबाहो धार्त्तराष्ट्रो महाबलः ।
गंधर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥ ११ ॥
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा ।
बध्वा ह्रियंते गंधर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
इति दुर्योधनामात्याः क्रोशंतो राजगृद्धिनः ।
आर्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥ १३ ॥
तांस्तथा व्यथितान्दीनान्भिक्षमाणान्युधिष्ठिरम् ।
वृद्धान्दुर्योधनामात्यान्भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥
महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः ।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गंधर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा ।

लिया। विविंशती, चित्रसेन, विन्द और अनुविन्द, तथा और सब राजस्त्रियोंको पकडकर चित्रसेनने चल दिया । उस समय दुर्योधनकी सब सेना भाग गई। जिस समय राजा पकडे गये उस समय दुर्योधनके सङ्गके छकडे, बनिये सब वाहन और सेनाके सब लोग पाण्डवों की शरण गये। (६–१०)

सेनाके लोग बोले, हे महाबाहो ! हे युधिष्ठिर ! महा बलवान धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको गन्धर्व लोग पकडे लिये जाते हैं, आप लोग उनको छुडाइये । दुःशासन, दुर्विसह, दुर्जय, दुर्मुख और सब राजस्त्रियोंको बांधकर गन्धर्व लोग लिये जाते हैं, आप लोग छुडाइये, इस प्रकार से रोते हुए दुर्योधनके मन्त्री लोग महाराज युधिष्ठिरकी शरण गए। ११–१३

इस प्रकारसे दुर्योधनके बूढे मन्त्रियोंको दीन और युधिष्ठिरसे भीख मांगते देखकर भीमसेन बोले, बहुत यत्न करके हाथी और घोडोंको इकट्ठा करके जो कार्य हमको करना था, सो गन्धर्वोंहीने कर लिया, जहां कुछ और होना था तहांही कुछ और हो गया। यह जुआ

दुर्मन्त्रितमिदं तावद्राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ॥ १६ ॥
द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयंतीति नः श्रुतम् ।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गंधर्वैरतिमानुषम् ॥ १७ ॥
दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः ।
येनाऽस्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः॥ १८ ॥
शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान् ।
समस्थो विषमस्थान्हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १९ ॥
अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः ।
ये शीलमनुवर्तंति ते पश्यंति पराभवम् ॥ २० ॥
अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम् ।
अनृशंसास्तु कौंतेयास्तत्प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ॥ २१ ॥
एवं ब्रुवाणं कौंतेयं भीमसेनममर्षणम् ।
न कालः परुषस्याऽयमिति राजाऽभ्यभाषत ॥ २२ ॥[९३९८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अस्मानभिगतांस्तात भयार्ताञ्छरणैषिणः ।

खिलानेवाले राजा धृतराष्ट्रकी बुरी संमतिका फल हुआ; हम लोगोंने यह सुना था कि असमर्थोंके शत्रुओंको कोई दूसरा ही मार देता है, परन्तु गन्धर्वोंने यह अमानुष कर्म हमारे आगेही किया; प्रारब्धसे जगतमें हमारा प्रिय करनेवाला कोई है, जिसने हमारे बैठे बैठे हमारे सिरसे इस बोझको उतार दिया। १४-१८

हम लोग शीत, वात और घामको सह कर दुर्बल हो गये हैं और यह दुर्बल सुखी होकर हम दुःखियोंको देखने आया था; महा अधर्मी दुरात्मा दुर्योधन के जो लोग सङ्गी हैं, वे ही इस समय उसका निरादर देख रहे हैं, जिन्होंने यह शिक्षा दी है; उन लोगोंने बडा अधर्म किया है। हम तुम लोगोंके आगे कहते हैं किन्तु पाण्डव लोग बडे धर्मशील हैं। जिस समय कुन्तीनन्दन भीमसेन क्रोधमें भरकर ऐसा कह रहे थे, उसी समय राजा युधिष्ठिरने कहा कि, यह समय कठोरवचनका नहीं है। (१९-२२)

दोसौ बियालिस अध्याय समाप्त। [९३९८]

वनपर्वमें दोसौ तैंतालिस अध्याय ।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे तात ! कौरव लोग इस समय हमारी शरण आये हैं, ये लोग भयसे व्याकुल होकर

कौरवान्विप्रसप्राप्तान्कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ॥ १ ॥
भवंति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर ।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ॥ २ ॥
यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः प्रार्थयते कुलम् ।
न मर्षयंति तत्सन्तो बाह्येनाऽभिप्रधर्षणम् ॥ ३ ॥
जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान् ।
स एवं परिभूयाऽस्मानकार्षीदिदमप्रियम् ॥ ४ ॥
दुर्योधनस्य ग्रहणाद्गंधर्वेण बलात्प्रभो ।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ॥ ५ ॥
शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च ।
उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम् ॥ ६ ॥
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीराऽपराजितः ।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम् ॥ ७ ॥
एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः कांचनध्वजाः ॥ ८ ॥
सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान्रथान् ।
इंद्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान् ॥ ९ ॥

शरणकी इच्छा करते हैं सब तुम ऐसे वचन इनसे क्यों कहते हो? हे वृकोदर! अपने वंशमें अनेक प्रकार कलह और भेद हो जाते हैं, परन्तु कुलके धर्म नष्ट नहीं होते हैं। यदि कोई अन्य पुरुष अपने कुलके पुरुषको किसी प्रकारका दुःख देना चाहे तो वंशमें अच्छे लोग उसको नहीं सह सकते हैं; मूर्ख दुर्योधन जानता था, कि हम लोग यहां बहुत दिनोंसे रहते हैं, तौभी उसने हमारा निरादर करके यह अप्रिय कार्य किया; दुर्योधनके पकडे जानेसे और स्त्रियोंके अन्यत्र जानेसे हमारा वंश नष्ट हो जायगा। (१—५)

हे पुरुषसिंहो! शरणागतकी रक्षा करनेको और वंशका उद्धार करनेको तुम शीघ्र उठो, देर मत करो; सब युद्धकी सामग्री ठीक करलो। अर्जुन, नकुल, सहदेव और तुम चारों वीर अपराजित हो; तुम लोग शीघ्रही पकडे हुए दुर्योधनको छुडाओ; हे पुरुषसिंहो! ये धृतराष्ट्रके पुत्रोंके निर्मल रथ शस्त्रोंके सहित खडे हैं और घोष करनेवाले इन सब पर सोनेकी ध्वजा लगी हैं; शस्त्रविद्या

एतानास्थाय वै यत्ता गंधर्वान्योद्धुमाहवे ।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतंद्रिताः ॥ १० ॥
य एव कश्चिद्राजन्य शरणार्थमिहाऽऽगतम् ।
परं शक्त्याऽभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर ॥ ११ ॥
क इहाऽऽर्यो भवेत्त्राणमभिधावेति चोदितः ।
प्रांजलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ १२ ॥
वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पांडवाः ।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १३ ॥
किं चाप्यधिकमेतस्माद्यदापन्नः सुयोधनः ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥ १४ ॥
स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद्वृकोदरः ।
विततो मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १५ ॥
साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनंदन ॥ १६ ॥
न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गंधर्वराडसौ ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १७ ॥

जाननेवाले इन्द्रसेनादिक सूत बैठे हैं; तुम लोग आलस्य-रहित होकर इन रथोंपर बैठकर गन्धर्वोंसे युद्ध करनेका सङ्कल्प करो और सुयोधनको छुडानेका प्रयत्न करो। (६—१०)

हे वृकोदर ! सामान्य क्षत्रिय लोग भी शरण आयेकी अपनी शक्तिके अनुसार रक्षा करते हैं; तब तुम क्यों नहीं रक्षा करते हो ? ऐसा कौन उत्तम पुरुष होगा, जिसके आगे हाथ जोडकर शत्रु शरण मांगे और वह उसकी रक्षा न करे ! देवतासे वरदान पाना, राज्य पाना, पुत्रका उत्पन्न होना, और शत्रुको किसी दुःखसे छुडाना ये चारों आनंद समान हैं। हे भीम ! इससे अधिक आनन्द क्या होगा जो दुर्योधन तुम्हारी शरण आया है और तुम्हारे बाहुबलसे अपने जीनेकी इच्छा करता है? हे वीर यदि मैं यज्ञ न करता होता तो आपही युद्धको जाता; मुझे इसमें कुछ विचार नहीं है। (११—१५)

हे भीम ! तुम शान्तिहीसे दुर्योधनको छुडा लेना; यदि ऐसे न छुडासको तो औरभी यत्न करना; यदि गन्धर्वराज शान्तिसे दुर्योधनको न छोडे तो कोमल युद्ध करके छुडा लेना; यदि कोमल युद्ध

अथाऽसौ मृदुयुद्धेन न मुंचेद्भीम कौरवान् ।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपंथिनः ॥ १८ ॥
एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर ।
वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच–अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनंजयः ।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ २० ॥
अर्जुन उवाच – यदि साम्ना न मोक्ष्यंति गंधर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
अद्य गंधर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥
अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः ।
कौरवाणां तदा राजन्पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २२ ॥ [९४२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोचनानुज्ञायां त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

वैशम्पायन उवाच–युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः ।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥
अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यंत भारत ।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥ २ ॥
आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समाददुः ।

से भी न छोडे तो सर्व उपाय करके शत्रुओंको अपने वशमें कर लेना और दुर्योधनको छुडा लेना; हे वृकोदर! हमारी इतनाही उपदेश करनेकी शक्ति है, क्योंकि इस समय हमारे यज्ञका कर्म फैल रहा है। (१८—१९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले महाराज युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुन अर्जुनने ऐसा उत्तर दिया और कौरवोंके छुडानेकी प्रतिज्ञा की। (२०)

अर्जुन बोले, यदि गन्धर्व लोग दुर्योधनको शान्तिसे नहीं छोडेंगे तो आज भूमि गन्धर्वराजके रुधिरको पीयेगी। सत्यवादी अर्जुनकी ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर कौरव लोग बहुत प्रसन्न हुए। (२१—२२) [९४२०]

वनपर्वमें दोसौ तैंतालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ चौवालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महाराज युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुन भीमसेन आदि बहुत प्रसन्न होकर उठे। पुरुषसिंह महारथ पाण्डवोंने सोनेसे खिंचे हुए विचित्र और अभेद्य कवचोंको पहना और दिव्य शस्त्रोंको

तं दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ॥ ३ ॥
पांडवाः प्रत्यदृश्यंत ज्वलिता इव पावकाः ।
तान्रथान्साधुसंपन्नान्संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ॥ ४ ॥
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ।
ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ५ ॥
प्रयातान्सहितान्दृष्ट्वा पांडुपुत्रान्महारथान् ।
जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥ ६ ॥
क्षणेनैव वने तस्मिन्समाजग्मुरभीतवत् ।
न्यवर्तंत ततः सर्वे गंधर्वा जितकाशिनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा रथगतान्वीरान्पांडवांश्चतुरो रणे ।
तांस्तु विभ्राजितान्दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान् ॥ ८ ॥
व्यूढानीका व्यतिष्ठंत गंधमादनवासिनः ।
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥
क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रांतं च भारत ।
न तु गंधर्वराजस्य सैनिका मंदचेतसः ॥ १० ॥
शक्यंते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा ।
ततस्तान्युधि दुर्धर्षान्सव्यसाची परंतपः ॥ ११ ॥
सांत्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान्रणे ।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥ १२ ॥

धारण किया। अनन्तर वे सब लोग धनुष धारण करके ध्वजा सहित रथोंपर बैठे, उस समय पाण्डवोंकी ऐसी शोभा बढी जैसे जलती हुई अग्निकी। वे लोग उत्तम घोडोंवाले अच्छे सारथियोंसे युक्त रथोंपर बैठकर शीघ्र चले। उस समय महा रथ पाण्डवोंको युद्ध करनेको चलते हुए देख कौरवोंकी सेना गर्जने लगी। और जीते हुए महारथ गन्धर्व लोगभी क्षण भर में बेडरके समान उस वनमें आये। १-७

चारों पाण्डवोंको युद्धमें आते हुए देखते ही गन्धर्व लोग लौटे। चारों वीर पाण्डवोंको लोकपालोंके समान उद्यत देखकर गन्धर्वोंने अपनी सेनाको उद्यत किया। बुद्धिमान युधिष्ठिरके वचनके अनुसार पाण्डवोंने पहले कोमल युद्ध किया, परन्तु मूर्ख गन्धर्वोंने दुर्योधनको छोडना स्वीकार न किया। तब शत्रुनाशन अर्जुनने महावीर गन्धर्वोंसे शान्तिपूर्वक कहा कि मेरे भाई राजा

त एवमुक्ता गंधर्वाः पांडवेन यशस्विना ।
उत्स्मयंतस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥
एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि ।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥ १४ ॥
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत ।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात्सुरेश्वरात् ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स गंधर्वैः कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
गंधर्वान्पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १६ ॥
न तद्गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् ।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १७ ॥
उत्सृज्यध्वं महावीर्यान्धृतराष्ट्रसुतानिमान् ।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥
यदा साम्ना न मुंचध्वं गंधर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १९ ॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।
ससर्ज निशितान्बाणान्खचरान्खचरान्प्रति ॥ २० ॥
तथैव शरवर्षेण गंधर्वास्ते बलोत्कटाः ।

दुर्योधनको छोड दो । (७—१२)

यशस्वी अर्जुनके ऐसे वचन सुन गन्धर्व लोग हंसकर अर्जुनसे कहने लगे, हे तात ! केवल इन्द्रहीकी आज्ञा हम मानते हैं और उन्हीकी आज्ञासे सुख पूर्वक पृथ्वीपर घूमते हैं; हे भारत ! वे हमको जैसी आज्ञा देते हैं वैसाही हम करते हैं; उनके सिवा और हमको आज्ञा देनेवाला पृथ्वीमें कोई नहीं है।(१२-१५)

गन्धर्वोंके ऐसे वचन सुन कुन्तीपुत्र अर्जुन फिर कहने लगे, गन्धर्व राजने जो नीच कर्म किया सो उनके योग्य नहीं था दूसरेकी स्त्रियोंको पकडना, मनुष्योंके सङ्ग रहना यह उनको उचित नहीं; इस लिये तुम लोग महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे महापराक्रमी धृतराष्ट्र के पुत्रोंको, और उनकी स्त्रियोंको छोड दो । हे गन्धर्वो ! यदि तुम शान्तभाव से धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोडोंगे, तो हम दुर्योधनको अपने बलसे छुडा लेंगे । (१६–१९)

ऐसा कहकर अर्जुन गन्धर्वों पर तीक्ष्ण बाण छोडने लगे, बलवान् गन्धर्व लोगभी पाण्डवोंके ऊपर बाणोंकी वर्षा

पांडवानभ्यवर्तन्त पांडवाश्च दिवौकसः ॥ २१ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धं गंधर्वाणां तरस्विनाम् ।
बभूव भीमवेगानां पांडवानां च भारत ॥ २२ ॥ [९४४२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि पांडवगंधर्वयुद्धे चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४४॥

ततो दिव्यास्त्रसंपन्ना गंधर्वा हेममालिनः ।
विसृजंतः शरान्दीप्तान्समंतात्पर्यवारयन् ॥ १ ॥
चत्वारः पांडवा वीरा गंधर्वाश्च सहस्रशः ।
रणे संन्यपतन्राजंस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ २ ॥
यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः ।
गंधर्वैः शतशाच्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥
तान्समापततो राजन्गंधर्वाञ्छतशो रणे ।
प्रत्यगृह्णन्नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ॥ ४ ॥
ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समंततः ।
न शेकुः पांडुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ॥ ५ ॥
अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गंधर्वानर्जुनस्तदा ।
लक्षयित्वाऽथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥ ६ ॥

करने लगे और पाण्डव लोगभी गन्धर्वोंके ऊपर बाण छोडने लगे उस समय बलवान पाण्डवों और गन्धर्वोंका घोर युद्ध होने लगा। (२०-२१)[९४४२]

वनपर्वमें एकसौ चौवालिस अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ पैंतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! तब सोनेकी माला पहिरे गन्धर्वोंने पाण्डवोंको चारों ओरसे घेर-कर दिव्य बाण चलाना आरंभ किया, उस युद्धमें एक ओर चार पाण्डव और एक ओर सहस्रों गन्धर्व थे; परन्तु जो चारही युद्ध करते रहे, यह बडी अद्भुत बात हुई। तब गन्धर्वोंने जैसे कर्ण और दुर्योधनके रथको घेरा था तैसेही बाणोंकी वर्षा करके पाण्डवोंको भी घेर लिया। जब पुरुषसिंह पाण्डवोंने सहस्रों गन्धर्वोंको अपनी ओर आते देखा, तब बाणों की वर्षा करनी आरंभ करी। १-४

गन्धर्व लोग पाण्डवोंके बाणोंसे पीडित होकर उनके रथोंके पास न आसके,क्रोधी अर्जुनने क्रोधी गन्धर्वोंके ऊपर दिव्य अस्त्र चलाये। उन बाणोंके लगनेसे सहस्रों गन्धर्व लोग मर गये। अनन्तर

सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद्यमसादनम् ।
आग्नेयेनाऽर्जुनः संख्ये गंधर्वाणां बलोत्कटः ॥ ७ ॥
तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः ।
गन्धर्वाञ्शतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ॥ ८ ॥
माद्रीपुत्रावपि तदा युध्यमानौ बलोत्कटौ ।
परिगृह्याऽग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान् ॥ ९ ॥
ते वध्यमाना गंधर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः ।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥ १० ॥
स तानुत्पतितान्दृष्ट्वा कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
महता शरजालेन समंतात्पर्यवारयत् ॥ ११ ॥
ते बद्धाः शरजालेन शकुंता इव पंजरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद्गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥
गदाशक्त्यृष्टिवृष्टीस्ता निहत्य परमास्त्रवित् ।
गात्राणि चाऽहनद्भल्लैर्गंधर्वाणां धनंजयः ॥ १३ ॥
शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाऽऽभाति परेषामभवद्भयम् ॥ १४ ॥
ते वध्यमाना गंधर्वाः पांडवेन महात्मना ।

बलवान् अर्जुनने अग्निबाण चलाया, उससे अनेक गन्धर्व लोग मरगये। इसी प्रकार महा धनुषधारी भीमसेननेभी अनेक गन्धर्वोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा तथा माद्री पुत्र नकुल और सहदेव भी आगे होकर सैकडों गन्धर्वोंको मारने लगे। (५–९)

गन्धर्व लोग महारथ पाण्डवोंके दिव्य बाणोंसे पीडित होकर दुर्योधनको सङ्ग लेकर आकाशको उड गये। जब अर्जुनने गन्धर्वोंको आकाशकी ओर उडते देखा, तो चारों ओरसे बाणोंके जालमें फांस लिया। वे लोग बाणोंके जालमें ऐसे फँस गये जैसे पक्षी लोग पिंजरेमें फँसते हैं। तब उन लोगोंने अर्जुनके ऊपर गदा शक्ति, और खड्गोंकी वर्षा करी। परम शस्त्रोंके जाननेवाले अर्जुन उस शस्त्रवृष्टिको काटकर अपने बाणोंसे गन्धर्वोंकी सेनाको काटने लगे। (१०—१३)

उस समय आकाशसे गिरते हुए शिर, पैर और हाथोंकी ऐसी वृष्टि हुई जैसे कहीं पत्थर वर्षते हों। उस समय गन्धर्वोंको बहुत भय उत्पन्न हुआ। भूमिमें खडे हुए महात्मा अर्जुनके बाणोंसे

भूमिष्ठमंतरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥
तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गंधर्वान्प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥
स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथाऽर्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनंदनः ॥ १७ ॥
ते दह्यमाना गंधर्वाः कुंतीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन्परम् ॥ १८ ॥
ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः ।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यंते सव्यसाचिना ॥ १९ ॥
गंधर्वांस्त्रासितान्दृष्ट्वा कुंतीपुत्रेण भारत ।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ २० ॥
तस्याऽभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ २१ ॥
स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्ययाऽऽत्मानं योधयामास पांडवम् ॥ २२ ॥
अस्त्राणि तस्य दिव्यानि संप्रयुक्तानि सर्वशः ।
दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ॥ २३ ॥

गन्धर्व लोग पीडित हो गए। तब उन्होंने आकाशसे अर्जुनके ऊपर बाण वर्षाये। महा तेजस्वी अर्जुनने उनकी बाण वर्षाको काटकर अपने बाणोंसे उनका शरीर काटना आरंभ किया। कुरुनन्दन अर्जुनने स्थूणाकर्ण, इन्द्र जाल, सौर, आग्नेय और सौम्य बाण चलाये। (१४-१७)

उस समय गन्धर्व लोग अर्जुनके बाणोंसे ऐसे पीडित हुए जैसे इन्द्रके बाणोंसे दैत्य पीडित होते हैं। जो गन्धर्व आकाशको उडते थे उनको अर्जुन अपने बाणोंसे रोकते थे, जो लोग युद्ध करनेको आते थे; उनको भी अर्जुन अपने बाणोंसे निवारण कर देते थे। गन्धर्वोंको अर्जुनके बाणोंसे पीडित देखकर गन्धर्वराज चित्रसेन गदा लेकर अर्जुनकी ओर दौडे। जब अर्जुनने उनको अपनी ओर आते देखा, तब उनकी लोहेकी गदाको अपने बाणसे काट कर सात टुकडे कर दिये। (१८-२१)

जब चित्रसेन गन्धर्वने अपनी गदा को अर्जुनके तेज बाणोंसे कटा हुआ देखा, तो मायासे अपने शरीरको छिपा लिया और अर्जुनसे युद्ध करने लगे। तब वीर

स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना।
गंधर्वराजो बलवान्माययाऽन्तर्हितस्तदा ॥ २४ ॥
अंतर्हितं तमालक्ष्य प्रहरंतमथाऽर्जुनः।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमंत्रितैः ॥ २५ ॥
अंतर्धानवधं चाऽस्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ॥ २६ ॥
स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ॥२७॥
चित्रसेनस्ततोवाच सखायं युधि विद्धि माम्।
चित्रसेनमथाऽऽलक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ॥ २८ ॥
संजहाराऽस्त्रमथ तत्प्रसृष्टं पांडवर्षभः।
दृष्ट्वा तु पांडवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् २९ ॥
संजह्रुः प्रद्रुतानश्वाञ्शरवेगान्धनूंषि च।
चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवाऽवतस्थिरे ॥३०॥[९४७२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

अर्जुनने अपने दिव्य बाणोंसे गंधर्वके दिव्यबाणों को काट दिया। तब महात्मा अर्जुनके बाणोंसे निवारण होकर गन्धर्व राज अपनी मायासे अन्तर्धान हो गया। तब अर्जुनने अपने दिव्य आकाशगामी बाणोंसें बाण चलाते हुए गन्धर्वराजको मारा। (२२–२५)

उस समय अर्जुनने क्रोध करके अन्तर्हित चित्रसेनके ऊपर शब्दभेदी बाण छोडे। जब अर्जुनका प्यारा मित्र चित्रसेन महात्मा अर्जुनके बाणोंसे बहुत पीडित हुआ, तब अपने शरीरको प्रगट कर दिया और बोला, मैं तुम्हारा प्यारा सखा चित्रसेन हूं। (२६–२८)

कुरुकुलसिंह अर्जुनने अपने प्यारे मित्र चित्रसेनको युद्धमें दुर्बल देखा तो अपने बाणको लौटा लिया; जब पाण्डवों ने देखा, कि अर्जुनने अपने शस्त्रको रोक लिया, तब सबने अपने धनुष, बाण और घोडोंको रोक दिया; चित्रसेन, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने परस्पर प्रेम किया और रथोंहीमें बैठ रहे। (२९—३०) [९४७२]

वनपर्वमें दोसौ पैंतालिस अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच—ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गंधर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ॥ १ ॥
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ॥ २ ॥
चित्रसेन उवाच—विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ॥ ३ ॥
वनस्थान्भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
समस्थो विषमस्थांस्तान्द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान् ॥ ४ ॥
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ॥ ५ ॥
गच्छ दुर्योधनं बध्वा सहामात्यमिहाऽऽनय ।
धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ॥ ६ ॥
स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पांडवः ।
वचनाद्देवराजस्य ततोऽस्मीहाऽऽगतो द्रुतम् ॥ ७ ॥
अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम् ।
नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात् ॥ ८ ॥

वनपर्वमें दोसौ छियालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! तब महा तेजस्वी और धनुषधारी, अर्जुनने गन्धर्वोंके मध्यमें हंसकर चित्रसेनसे कहा, हे वीर ! तुमने यह क्या बुरा कर्म किया जो कौरवोंको पकड लिया; तथा तुमने स्त्रियोंके सहित दुर्योधनको क्यों पकडा । (१–२)

चित्रसेन बोला, हे अर्जुन! हमने इस दुष्ट दुर्योधन और कर्णका यह अभिप्राय जाना था, कि यह आप लोगोंको वनवाससे दुःखित देखकर क्लेश देनेको आया है; इसने यह विचारा था, कि पाण्डव लोग दुःखी हैं; इस लिये हम उनको देखने चलें, और ये सब लोग यशस्विनी द्रौपदीको देखनेके लिये आये थे; इन सबके अभिप्रायको जान कर इन्द्रने मुझसे कहा, कि तुम द्वैत वनमें जाओ और मन्त्रियों सहित दुर्योधनको पकड लाओ और युद्धमें भाइयोंके सहित अर्जुनकी रक्षा करना, क्योंकि वह तुम्हारा प्यारा मित्र और शिष्य है; हे अर्जुन ! हम इन्द्रकी इस आज्ञाको मानकर यहीं आये हैं; हम पाकशासन इन्द्रकी आज्ञासे इस दुष्टको बांधकर इन्द्रके यहां ले जायंगे।(३–८)

अर्जुन उवाच —उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्राताऽस्माकं सुयोधनः ।
धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ९ ॥
चित्रसेन उवाच —पापोऽयं नित्यसंदुष्टो न विमोक्षणमर्हति ।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय ॥ १० ॥
नेदं चिकीर्षितं तस्य कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ॥ ११॥
वैशम्पायन उवाच—ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् ।
अभिगम्य च तत्सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ॥ १२ ॥
अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गंधर्वस्य वचस्तदा ।
मोक्षयामास तान्सर्वान्गंधर्वान्प्रशशंस च ॥ १३ ॥
दिष्टया भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः ।
दुर्वृत्तो धार्त्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबांधवः ॥ १४ ॥
उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः ।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः ॥ १५ ॥
आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः ।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम् ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले, हे चित्रसेन ! यदि तुम हमारा प्रिय करना चाहते हो तो महाराज धर्मराजकी आज्ञासे हमारे भाई दुर्योधनको छोड दो। चित्रसेन बोले, यह महापापी, सदा दुष्ट है, यह सदा धर्मराज और द्रौपदीकी निन्दा किया करता है;इस लिये यह छोडनेके योग्य नहीं है; इसकी इच्छाओंको महाराज युधिष्ठिर नहीं जानते हैं; इस लिये हम सब धर्मराजके पास चलते हैं,वे जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही किया जायगा । (९-११)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तब वे सब महाराज युधिष्ठिरके पास गए और उनसे सब वृत्तान्त कह सुनाया। महाराजने गन्धर्वोंका वचन सुन सब कौरवोंको छुडा दिया और गन्धर्वोंकी बहुत प्रशंसा करी। महाराज बोले,तुम सब लोग बहुत बडे बलवान और समर्थ हो; तुम लोगोंने हमारी प्रारब्धहीसे इस दुष्ट दुर्योधनको भाई और बान्धवोंके सहित नहीं मारा, तुम लोगोंने जो इस दुरात्माको छोड दिया, इससे हमारे कुलका निरादर नहीं हुआ; अब तुम लोगोंकी जो इच्छा हो सो मांग लो, हम तुम लोगोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुए; अपनी इच्छानुसार हमसे सब वस्तु प्राप्त करके यहां

अनुज्ञातास्तु गंधर्वाः पांडुपुत्रेण धीमता ।
सहाऽप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः ॥ १७ ॥
देवराडपि गंधर्वान्मृतांस्तान्समजीवयत् ।
दिव्येनाऽमृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि ॥ १८ ॥
ज्ञातींस्तानवमुच्याऽथ राजदारांश्च सर्वशः ।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पांडवाः ॥ १९ ॥
सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः ।
बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाऽग्नयः ॥ २० ॥
ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितंस्तदा ।
युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥
मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् ।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधंति भारत ॥ २२ ॥
स्वस्तिमान्सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनंदन ।
गृहान्व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच—पांडवेनाऽभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा ।
अभिवाद्य धर्मपुत्रं गतेन्द्रियइवाऽऽतुरः ॥ २४ ॥

से शीघ्र चले जाओ। (१२–१६)

महाराज बुद्धिमान धर्मराजकी आज्ञा पाकर गन्धर्व लोग बहुत प्रसन्न हुए और अप्सराओंको सङ्ग लेकर चले गये। युद्धमें कौरवोंने जिन गन्धर्वोंको मारा था,इन्द्रने उन सबपर अमृतकी वर्षा करी तब वे सब जी गये। पाण्डवोंने अपने भाईयोंको और रानियोंको छुडाकर बहुत सुख पाया। उस समय कुरुकुलकी स्त्री और कुमारोंने महारथ पाण्डवोंकी बहुत प्रशंसा करी। पाण्डव लोग उस समय ऐसे विराजमान हुए जैसे यज्ञमें अग्नि। (१७–२०)

अनन्तर गन्धर्वोंसे छुटे हुए दुर्योधनसे भाइयोंके सहित महाराजने शान्तिपूर्वक ऐसे वचन कहे, हे तात ! ऐसा साहस फिर कभी मत करना, क्योंकि साहसी पुरुषको सुख नहीं होता; हे कुरुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो; अब तुम घरको जाओ; और मनमें किसी प्रकारका दुःख मत करना। (२१–२३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा दुर्योधनने पाकर धर्मराजको प्रणाम किया और लज्जासे नीचा मुह करके नगरको चला। उस समय दुर्योधनकी ऐसी दुर्दशा होगई

विदीर्यमाणो व्रीडावाञ्जगाम नगरं प्रति ।
तस्मिन्गते कौरवेये कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवाऽमरैः
तथा द्वैतवने तस्मिन्विजहार मुदा युतः ॥ २६ ॥ [१४९८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि
दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

जनमेजय उवाच --शत्रुभिर्जितबद्धस्य पांडवैश्च महात्मभिः ।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥ १ ॥
कत्थनस्याऽवलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः ।
सदा च पौरुषौदार्यैः पांडवानवमन्यतः ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याऽहंकारवादिनः ।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः ।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशंपायन कीर्त्तय ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच– धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः ।

थी, मानो इसकी किसी इन्द्रीमें कुछ शक्ति नहीं है । जब दुर्योधन चला गया; तब वीर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर भाई और तपोधन ब्राह्मणोंसे पूजित होकर प्रसन्नता पूर्वक उस वनमें ऐसे विहार करने लगे जैसे देवतोंके सहित इन्द्र । (२४–२६) [१४९८]

वनपर्वमें दोसौ छियालिस अध्याय समाप्त

वनपर्वमें दोसौ सैंतालीस अध्याय ।

महाराज जनमेजय बोले, हे द्विजोत्तम ! जान पडता है, कि जो दुरात्मा दुर्योधन सदा अभिमानके वशमें रहता था, जो सदा अपनी प्रशंसा किया करता था, जो सदा अभिमानी रहता था, जो अपने बल और उदारतासे पाण्डवोंको नीच मानता था, जो पापी दुर्योधन सदा अहङ्कारकी बात करता था, उसको जब शत्रुओंने जीतकर बांध लिया और फिर पाण्डवोंने छुडाया तब उसको हस्तिनापुरमें जाना बडा कठिन हुआ होगा । हे वैशम्पायन ! लज्जा और शोकसे व्याकुल दुर्योधनने किस प्रकार नगरमें प्रवेश किया ? इस कथाको विस्तार पूर्वक कहिये । (१–४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज ! जब धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन

लज्जयाऽधोमुखः सीदन्नुपासर्पत्सुदुःखितः　　॥ ५ ॥
स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरंगबलानुगः ।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिंतयानः पराभवम्　　॥ ६ ॥
विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके ।
सन्निविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥ ७ ॥
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् ।
अथोपविष्टं राजानं पर्यंके ज्वलनप्रभे　　॥ ८ ॥
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये ।
उपागम्याऽब्रवीत्कर्णो दुर्योधनमिदं तदा　　॥ ९ ॥
दिष्ट्या जीवसि गांधारे दिष्ट्या नः संगमः पुनः ।
दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गंधर्वाः कामरूपिणः ॥ १० ॥
दिष्ट्या समग्रान्पश्यामि भ्रातृंस्ते कुरुनंदन ।
विजिगीषून्रणे युक्तान्निर्जितारीन्महारथान्　॥ ११ ॥
अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गंधर्वैः पश्यतस्तव　।
नाऽशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ॥१२॥
शरक्षतांगश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः ।

धर्मराजसे विदा हुए, तब लज्जासे नीचा मुंह करके दुःखसे रोते हुए चले। उस समय राजा दुर्योधनकी बुद्धि शोकसे नष्ट हो गई थी, वे अपने निरादरको सोचते हुए, चतुरङ्गिणी सेनाके सहित नगरको चले। थोडी दूर जाकर घास और जल सहित स्थानमें डेरा किया। वहां हाथी, घोडे, रथ और पैदलोंको उचित स्थानमें ठहराकर, आप एक रमणीय सुन्दर स्थानमें अग्निके समान प्रकाशमान पलङ्गपर बैठ गये। उस समय दुर्योधनकी शोभा ऐसी हो रही थी, जैसे रात्रिके अन्तमें राहुसे ग्रहण किये हुए चन्द्रमाकी। (५-९)

उसी समय कर्ण आकर ऐसा बोले, हे गान्धारीपुत्र! तुम प्रारब्धहीसे जीते हो, प्रारब्धहीसे हम फेर तुमसे मिले हैं प्रारब्धहीसे तुमने कामरूपी गन्धर्वोंको युद्धमें जीता। हे कुरुनन्दन! युद्धमें विजय करनेवाले तुम्हारे महारथ भाइयोंको हम प्रारब्धहीसे देखते हैं; हम तुम्हारे सामनेही गन्धर्वोंके युद्धमें भाग आये थे; हम भागती हुई सेनाको स्थिर नहीं कर सके; मेरे शरीरमें बाणोंके बहुत घाव हो गए थे, इस लिये हम युद्धसे भाग गए थे, हे भारत! यह बहुत

इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद्युष्मानिह भारत ॥ १३ ॥
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान् ।
विमुक्तान्संप्रपश्यामि युद्धात्तस्मादमानुषात् ॥ १४ ॥
नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन्पुमान्विद्यति भारत ।
यत्कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
उवाच चांऽगराजानं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १६ ॥ [९५१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि
कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

दुर्योधन उवाच— अजानतस्ते राधेय नाऽभ्यसूयाम्यहं वचः ।
जानासि त्वं जिताञ्शत्रून्गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥ १ ॥
आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥
मायाधिकास्त्वयुध्यंत यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो न समं युद्धमभवत्खेचरैः सह ॥ ३ ॥
पराजयं च प्राप्ताः स्मो रणे बंधनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥ ४ ॥

आश्चर्यकी बात है; कि जो आप लोग स्त्री, सेना और वाहनोंके सहित उस अमानुष युद्धसे बच आए; आपके शरीरमें कहीं घावभी नहीं हुआ; हे महाराज! आपने अपने भाइयोंके सहित इस युद्धमें जो कर्म किया, इसका करनेवाला इस लोकमें और कोई नहीं है। (९-१५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कर्णके वचन सुन राजा दुर्योधन रोकर कहने लगे।(१६)

वनपर्वमें दोसौ सैंतालिस अध्याय समाप्त।९५१४

वनपर्वमें दोसौ अडतालीस अध्याय।

राजा दुर्योधन बोले, हे राधापुत्र! तुम इस वृत्तान्तको नहीं जानते हो; इस लिये हम तुम्हारे वचनका निरादर नहीं करते हैं, क्योंकि तुम यह जानते हो कि गन्धर्वोंको हमने अपने बलसे जीता है। हे महाबाहो! हमारे भाइयोंने बहुत समय तक गन्धर्वोंसे युद्ध किया, परन्तु जब गन्धर्वोंने मायायुद्ध किया और वे लोग आकाशको चले गये तब हम लोग उनके सङ्ग युद्ध नहीं कर सके; तब हमलोग हार गये और उन्होंने हमको बांध लिया, हमारे दास,पुत्र, स्त्री, मन्त्री, सेना और वाहन सब पकडे गए। (१-४)

उच्चैराकाशमार्गेण ह्रियामस्तैः सुदुःखिताः ।
अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ॥ ५ ॥
उपगम्याऽब्रुवन्दीनाः पाण्डवांश्च रणप्रदान् ।
एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ॥ ६ ॥
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ।
तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ॥ ७ ॥
परामर्शो मा ऽभविष्यत्कुरुदारेषु सर्वशः ।
एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पांडुसुतस्तदा ॥ ८ ॥
प्रसाद्य पाण्डवान्सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ।
अथाऽगम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
सांत्वपूर्वमयाचंत शक्ताः संतो महारथाः ।
यदा चाऽस्मान्न मुमुचुर्गन्धर्वाः सांत्विता अपि ॥ १० ॥
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान्प्रत्यनेकशः ॥ ११ ॥
अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचरा दिवम् ।
अस्मानेवाऽभिकर्षंतो दीनान्मुदितमानसाः ॥ १२ ॥

उस समय हम लोग बहुत दुःखित हुए और गन्धर्व लोग हमको लेकर आकाशको उड गए; उसी समय हमारे महारथ मंत्रियोंने युद्ध करनेवाले पाण्डवोंसे दीन होकर कहा, कि हे पाण्डवो ! ये धृतराष्ट्रके पुत्र महाराज दुर्योधनको भाई, मन्त्री और स्त्रियोंके सहित पकड कर गन्धर्व लोक आकाश को लिये जाते हैं; आप लोगोंका कल्याण हो, स्त्रियोंके सहित राजाको छुडाइये; देखो इन गन्धर्वोंने कौरवोंकी सब स्त्रियोंको पकड लिया है,इनके छुडानेमें आप कुछ विचार मत कीजिये । मन्त्रियोंके ऐसे वचन सुन धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाईयोंको प्रसन्न करके हमारे छुडानेकी आज्ञा दी । ५–९

अनन्तर रुपुषसिंह पाण्डव लोग उस स्थानपर आकर शान्तिपूर्वक ऐसा बोले, यद्यपि ये लोग महारथ और युद्धमें समर्थ थे, तौभी उन लोगोंने शान्तिपूर्वक गंधर्वों से हम लोगोंको मांगा। जब गंधर्वोंने हम लोगोंको न छोडा तो अर्जुन,भीम, नकुल, और बलवान सहदेवने गन्धर्वोंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करानी आरंभ करी; उस समय उन गन्धर्वोंने युद्धको छोड दिया और प्रसन्नता सहित हम लोगोंको लेकर स्वर्गको चले । (९—१२)

ततः समन्तात्पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ।
अमानुषाणि चाऽस्त्राणि प्रमुंचंतं धनंजयम् ॥ १३ ॥
समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनञ्जयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १४ ॥
चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परस्परम् ।
कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाऽप्यनामयम् ॥ १५ ॥
ते समेत्य तथाऽन्योन्यं सन्नाहान्विप्रमुच्य च ।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ ॥१६॥[९५३०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्येऽष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

दुर्योधन उवाच— चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत्परवीरहा ॥ १ ॥
भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम ।
अनर्हधर्षणा हीमे जीवमानेषु पाण्डुषु ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना ।
उवाच यत्कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः ॥ ३ ॥

तब हम लोग बहुत दूर नहीं गये; उस समय हम लोगोंने देखा कि गन्धर्व लोग पाण्डवोंके बाणोंमें फंस गये और अर्जुन दिव्य बाण चला रहे हैं; जब गन्धर्वोंने सब दिशाओंको अर्जुनके तीक्ष्ण बाणोंसे पूरित देखा तब प्रगट हो गया। अनन्तर चित्रसेन और अर्जुन मिले और एक दूसरेसे कुशल पूंछने लगे; तब लोगोंने युद्धके वस्त्र उतार लिये और एक हो गए; अनन्तर अर्जुन और चित्रसेनने परस्पर पूजा करी।(१३-१६)

वनपर्वमें दोसौ अडतालीस अध्याय समाप्त ।९५३

वनपर्वमें दोसौ उनचास अध्याय ।

दुर्योधन बोले, चित्रसेनसे मिलकर शत्रुनाशन अर्जुनने हंसकर वीरोंके समान ऐसे वचन कहे, हे वीर गन्धर्वश्रेष्ठ ! आप हमारे भाईयोंको छोड दीजिये, क्योंकि पाण्डवोंके जीते हुए, इन लोगों की ऐसी दुर्दशा नहीं होनी चाहिये, (१—२)

हे कर्ण ! महावीर अर्जुनके ऐसे वचन सुन ।चित्रसेन गन्धर्वने वे सब बातें कह सुनाई जो हम लोगोंने चलते समय विचारी थीं; चित्रसेन गन्धर्वने कहा कि

द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान्सदारान्पाण्डवानिति ।
तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्तथा ॥ ४ ॥
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः ।
युधिष्ठिरमथाऽऽगम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ॥ ५ ॥
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चाऽस्मान्न्यवेदयन् ।
स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम् ।
ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा ॥ ७ ॥
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम् ।
प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन्महारणे ॥ ८ ॥
श्रेयस्तद्भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम् ।
अभूद्यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात् ॥ ९ ॥
प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेंद्रसदनेऽक्षयाः ।
यत्त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः ॥ १० ॥
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् ।
भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति ॥ ११ ॥

ये तुम लोगोंको दुःखसे व्याकुल देखने को आये थे। (१-४)

हे कर्ण ! जिस समय गन्धर्वसे यह सब समाचार कहा उस समय मेरी लज्जासे यह दशा हुई कि मैं पृथ्वीमें घुस जाऊं। अनन्तर पाण्डव और गन्धर्व युधिष्ठिरके पास आये और हमारी सब बातोंको उनसे निवेदन किया; मैं स्त्रियोंके आगे दीन भावसे शत्रुओंके वशमें हुआ, इससे बढके और अधिक दुःख मुझे क्या होगा, जो मैं युधिष्ठिरके आगे बांधकर खडा किया गया ! जिनका मैंने सदा निरादर किया था, जिनका मैं सदासे शत्रु हूं, उन्होंहीने मुझ दुर्बुद्धिको शत्रुओंके हाथसे छुडाया, उन्होंहीने मुझको जीवदान दिया; हे वीर ! यदि मैं उस युद्धमें मर जाता तो बहुत अच्छा होता, परन्तु यह निरादर बहुत बुरा हुआ; यदि मुझको गन्धर्व लोग युद्धमें मार डालते, तो पृथ्वीमें मेरा यश बहुत फैलता और इन्द्र लोकमें अक्षय सुख प्राप्त होता। (४—१०)

हे पुरुषसिंह ! अब हमने जो निश्चय किया है सो तुम सुनो; अब हम इस स्थान पर रहकर व्रत करेंगे; तुम लोग घरको जाओ; हमारे सब भाई लोग भी

कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये ।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयांत्वद्य पुरं प्रति ॥ १२ ॥
नह्यहं संप्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः ।
शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत्तथा ॥ १३ ॥
स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्धनः ।
वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १४ ॥
भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः संजयस्तथा ।
बाह्लीकः सौमदत्तिश्च ये चाऽन्ये वृद्धसम्मताः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥ १६ ॥
रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि ।
आत्मदोषात्परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥
दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च ।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाऽहं मदगर्वितः ॥ १८ ॥
अहो नाऽर्हमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम् ।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद्येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १९ ॥

हस्तिनापुरको जायं; कर्णादिक जो हमारे मित्र और बान्धव हैं, वे सब दुःशासनको अगाडी करके हस्तिनापुरको जायं; मैं शत्रुओंसे निरादर पाकर हस्तिनापुरको नहीं जाऊंगा; मैं अपने मित्रोंको प्रसन्न और शत्रुओंको दुःखी करता था सो अब शत्रुओंको सुख और मित्रोंको दुःख देनेवाला हो गया; मैं हस्तिनापुरमें जाकर राजासे क्या कहूंगा ? (१०—१४)

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य; अश्वत्थामा, विदुर, सञ्जय, बाल्हीक, भूरिश्रवा तथा और जो वृद्धसंमत ब्राह्मण हैं, एवम् श्रेणियोंमें मुख्य और महात्मा लोग जो हैं वे सब हमको देखकर क्या कहेंगे? और मैं उन्हे क्या उत्तर दूंगा ? जो हम पहले शत्रुओंके सिर पर रहे हैं और उनकी छातीपर अपना पराक्रम प्रगट किया है, और अब अपनेही दोषसे नष्ट हो गये, अब उन लोगोंसे जाकर हम क्या कहेंगे ? (१५-१७)

दुष्ट लोग लक्ष्मी विद्या और ऐश्वर्य को पाकर बहुत दिन तक सुख नहीं भोगते; इसीसे हम अभिमानमें भर गए थे, हमने यह बहुत बुरा कर्म किया; यह कर्म हमारे योग्य नहीं था इसीसे अब हमको महा संशय उत्पन्न हुआ है,

तस्मात्प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।
चेतयानो हि को जीवेत्कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥ २० ॥
शत्रुभिश्चाऽवहसितो मानी पौरुषवर्जितः ।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवं चिंतापरिगतो दुःशासनमथाऽब्रवीत् ।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २२ ॥
प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २३ ॥
भ्रातॄन्पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा ।
बांधवाश्चोपजीवंतु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २४ ॥
ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाऽप्रमादतः ।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २५ ॥
ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान्यथा ।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २६ ॥
नन्दयन्सुहृदः सर्वाञ्शात्रवांश्चाऽवभर्त्सयन् ।

इस कर्मको हमनेही अपनी मूर्खता और दुर्बुद्धिसे किया है; इस लिये अब यहीं अन्न, जल छोडकर प्राणत्याग कर देंगे, ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो शत्रुओंसे जीवदान पाकर जीता रहे ? हम परम अभिमानी और शक्तिसे हीन हैं, इसी लिये शत्रु लोग हमको हंसते हैं; महाबलवान पाण्डव लोगोंने निरादरके सहित हमारी ओर देखा। (१९-२१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ऐसा कहकर महाराज दुर्योधनने दुःशासनसे कहा कि हे दुःशासन ! हे भारत ! तुम हमारे वचनोंको सुनो; अब हम तुम्हारा अभिषेक करते हैं;तुम आजसे राजा हो जाओ, तुम कर्ण और शकुनीको अपना सहायक बनाकर समस्त पृथ्वीका पालन करो। (२२—२३)

हे दुःशासन ! तुम अपने भाइयोंका इस प्रकार पालन करना जैसे इन्द्र मरुतों को पालते हैं, तुम्हारे भाई लोगभी तुम्हारी ऐसीही सेवा करेंगे जैसे देवता लोग इन्द्रकी, तुम सदा सावधान होकर ब्राह्मणों की सेवा करना,बन्धु और मित्रोंको सदा पालना, अपनी जातिके ऊपर ऐसीही दृष्टि रखना जैसे विष्णु देवतोंके उपर रखते हैं, बूढोंकी अच्छे प्रकार सेवा करना; अब तुम मित्रोंको प्रसन्न करो और शत्रुओंको दुःख देकर पृथ्वीका पालन करो।

कंठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् ।
अश्रुकंठः सुदुःखार्तः प्रांजलिः प्रणिपत्य च ॥ २८ ॥
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः ।
प्रसीदेत्यपतद् भूमौ दूयमानेन चेतसा ॥ २९ ॥
दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् ।
उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ॥ ३० ॥
विदीर्येत्सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् ।
रविरात्मप्रभां जह्यात्सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ ३१ ॥
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् ।
शुष्येत्तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ॥ ३२ ॥
न चाऽहं त्वदृते राजन्प्रशासेयं वसुंधराम् ।
पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३३ ॥
त्वमेव नः कुले राजा भविष्यसि शतं समाः ।
एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥
पादौ संस्पृश्य मानार्हो भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।
तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासनसुयोधनौ ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर दुःशासनको अपने हृदयसे लगाया और जानेकी आज्ञा दी। २२-२७

दुर्योधनके ऐसे वचन सुन दुःशासन बहुत दीन हुए और आखोंमें आंसू भरकर रोते हुए हाथ जोडकर दुर्योधन के चरणपर गिर पडे और बडे भाईसे बोले, कि आप प्रसन्न हूजिये । ऐसा कहकर पृथ्वीपर गिर गए फिर आंसुओंसे दुर्योधनके चरणोंको धोते हुए दुःशासन बोले,कि जो आप कहते हैं, सो आपके कहनेके अनुसार नहीं होगा; चाहे पृथ्वी फट जाय स्वर्गके टुकडे हो जायं सूर्य, शीतल और चन्द्रमा उष्ण हो जाय, चाहे वायु अपनी गतिको छोड दे, चाहे हिमाचल चलने लगे, चाहे समुद्रका पानी सूख जाय, चाहे अग्नि ठंडी हो जाय, परंतु मैं आपके विना राज्य नहीं करूंगा। (२८-३३)

फिर बार बार दुःशासन कहने लगे, कि आप प्रसन्न हूजिये, आपही सौ वर्ष तक हमारे राजा रहिये। ऐसा कह कर दुःशासन ऊंचे स्वरसे रोने लगे और अपने बडे भाईके चरणोंपर गिर पडे। इस प्रकार जहां दुर्योधन और दुःशासन रोते थे,

अधिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत ।
विषीदथः किं कौरव्यौ बालिश्यात्प्राकृताविव ॥ ३६ ॥
न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित् ।
यदा च शोचतः शोको व्यसनं नाऽपकर्षति ॥ ३७ ॥
सामर्थ्यं किं ततः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः ।
धृतिं गृह्णीतं मा शत्रूञ्शोचंतौ नंदयिष्यथः ॥ ३८ ॥
कर्तव्यं हि कृतं राजन्पांडवैस्तव मोक्षणम् ।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ॥ ३९ ॥
पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसंति गतज्वराः ।
नाऽर्हस्येवं गते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद्यथा ॥ ४० ॥
विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते ।
उत्तिष्ठ व्रज भद्रं ते समाश्वासय सोदरान् ॥ ४१ ॥ [९५७१]

इति श्रीमहा०आरण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेश ऊनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४९॥

कर्ण उवाच— राजन्नाऽद्याऽवगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम् ।
किमत्र चित्रं यद्वीर मोक्षितः पांडवैरसि ॥ १ ॥

तहां दुःखसे भरे कर्ण आए और ऐसा कहने लगे, हे कौरवो ! तुम लोग सामान्य पुरुषके समान क्यों रो रहे हो ? तुम लोगोंको क्या मूर्खता प्रगट हुई है? सोच करनेवाले पुरुषका शोक नष्ट नहीं होता, जब सोचसे शोक नष्ट नहीं होता तब सोच करनेसे क्या लाभ है ? आप लोग सोचमें क्या सामर्थ देखते हैं ? आप लोग स्थिर हूजिये । शोक करके शत्रुओंको प्रसन्न मत कीजिये (३३-३८)

हे राजन् ! पाण्डवोंने जो आप लोगोंको शत्रुओंके हाथसे छुडाया सो ऐसा करना उनको उचितही था, क्योंकि राज्यमें रहनेवालोंको राजाकी सेवा करनी ही चाहिये; आप उनकी सदा रक्षा करते हैं; इसीसे वे लोग सुखपूर्वक वनमें वसते हैं, इस विषयमें आपको साधारण पुरुषोंके समान सोच नहीं करना चाहिये; तुम्हारा व्रत देखकर तुम्हारे भाई लोग दुःख सह रहे हैं । हे राजन् ! आपका कल्याण हो, उठकर अपने भाईयोंको प्रसन्न करो । (३९—४१) [९५७१]

वनपर्वमें दोसौ उनचास अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ पचास अध्याय ।

कर्ण बोले, हे राजन् ! आपके साहस छोडनेका कारण हमको नहीं जान पडता; इसमें क्या आश्चर्य हुआ, जो पाण्डवोंने आपको छुडा दिया ? हे महाराज! राजा

सद्यो वशं सम्प्रापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्शन।
सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ॥ २ ॥
अज्ञातैर्यदि वा ज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम्।
प्रायः प्रधानाः पुरुषाः क्षोभयंत्यरिवाहिनीम् ॥ ३ ॥
निगृह्यंते च युद्धेषु मोक्ष्यंते चैव सैनिकैः।
सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये संति मानवाः ॥ ४ ॥
तैः संगम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम्।
यद्येवं पांडवै राजन्भवद्विषयवासिभिः ॥ ५ ॥
यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना।
न चैतत्साधु यद्राजन्पांडवास्त्वां नृपोत्तमम् ॥ ६ ॥
स्वसेनया संप्रयांतं नाऽनुयांति स्म पृष्ठतः।
शूराश्च बलवंतश्च संयुगेष्वपलायिनः ॥ ७ ॥
भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः।
पांडवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुंजसे ॥ ८ ॥
सत्त्वस्थान्पांडवान्पश्य न ते प्रायमुपाविशन्।
उत्तिष्ठ राजन्भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

लोग तो शत्रुवोंके वशमें हो ही जाते हैं, तब सेना और प्रजाका उनको छुडाना ही धर्म है; हे शत्रुनाशन ! प्रजाका परम धर्म है, कि राजाके जानते अथवा विना जाने राजाका प्रिय कार्य करें; प्रधान पुरुष लोग प्रायः शत्रुवोंकी सेनाको घबडा देते हैं, फिर आप युद्धोंमें पकडे जाते हैं, और सेनावाले लोग फिर उनको छुडा लेते हैं; जो लोग सेनाके हैं और जो लोग राज्यमें वसते हैं; उन सबको मिलकर राजाका कल्याण करना चाहिये; यदि आपके राज्यमें रहनेवाले पाण्डवोंने अपनी इच्छासे आपको छुडा दिया तो उसमें दुःख माननेकी कौनसी बात है ? (१—६)

हे राजन् ! यह बहुत दुःखकी बात होती जो राजोंमें श्रेष्ठ आप अपनी सेनाके सहित जाते होते और पाण्डवलोग आपके ऊपर चढाई करते। पाण्डव लोग बडे शूर वीर बलवान और युद्धमें स्थिर रहनेवाले हैं, वे लोग आपके सहायक हैं, क्योंकि उनके सब रत्नोंका आप भोग करते हैं, देखिये पाण्डव लोग कैसे सत्वस्थ हैं वे कभी तुम्हारे समान प्रायोपवेश नहीं करते हैं। हे राजन् ! आपका कल्याण हो, अब आप उठनेमें विलम्ब

अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः ।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥
मद्वाक्यमेतद्राजेंद्र यद्येवं न करिष्यसि ।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ११ ॥
नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ॥ १२ ॥
वैशंपायन उवाच---एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ १३ ॥ [९५८४]

इति श्री०आ०पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे कर्णवाक्ये पंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२५०॥

वैशंपायन उवाच---प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच सांत्वयन्राजञ्शकुनिः सौबलस्तदा ॥ १ ॥
शकुनिरुवाच — सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया ।
मयाऽऽहृतां श्रियं स्फीतां तां मोहादपहासि किम्॥२॥
त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि ।
अथवाऽप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥ ३ ॥

मत करो, राज्यमें रहनेवाले पुरुषोंको अवश्यही राजाकी सेवा करनी चाहिये; हे शत्रुनाशन ! हे राजेन्द्र ! यदि आप हमारे वाक्योंको न मानेंगे तो हम आपके चरणोंकी सेवा करते हुए, आपके सङ्गही रहेंगे, हे पुरुषसिंह! हे राजेन्द्र! हम आपके विना नहीं जी सकते हैं। हे राजन्! प्रायोपवेश करनेसे आप राजोंसे निंदित होंगे। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,जब राजा दुर्योधनसे कर्णने ऐसे वचन कहे, तब भी महाराजने उठनेकी इच्छा न करी और अपने मनमें निश्चय किया, कि अब हम स्वर्गहीको जायंगे । (७-१३)

वनपर्वमें दोसौ पचास अध्याय समाप्त। [९५८४]

वनपर्वमें दोसौ एकावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महाक्रोधी शत्रु नाशन महाराज दुर्योधनको इस प्रकार वृत्तिमें बैठे हुए देख सुबलपुत्र शकुनि शान्तिपूर्वक कहने लगे। (१)

हे कौरव ! कर्णने जो कुछ आपसे कहा सो आपने अच्छी प्रकार सुना; आप हमारी उपार्जन करी हुई लक्ष्मीको मूर्खतासे क्यों छोडते हैं ? हे नरनाथ ! हम जानते हैं कि आप मूर्खतासे अपना प्राण परित्याग करते हैं और हमको यहभी जान पडता है, कि आपने बूढोंकी सेवा नहीं करी; जो

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवांऽभसि ॥ ४ ॥
अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम् ।
व्यसनाद्विषयाक्रान्तं न भजंति नृपं प्रजाः ॥ ५ ॥
सत्कृतस्य हि ते शोको विपरिते कथं भवेत् ।
मा कुलं शोभनं पार्थैः शोकमालंब्य नाशय ॥ ६ ॥
यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पांडवाः ।
तत्र शोचसि राजेंद्र विपरीतमिदं तव ॥ ७ ॥
प्रसीद मा त्यजाऽऽत्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥ ८ ॥
क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि ।
सौभ्रात्रं पांडवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान ॥ ९ ॥
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि ।
वैशम्पायन उवाच–शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ॥ १० ॥
पादयोः पतितं वीरं विकृतं भ्रातृसौहृदात् ।
बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम् ॥ ११ ॥

उपस्थित सुख और दुःखको नहीं रोकता उसका उसी प्रकारसे नाश हो जाता है जैसे मिट्टीका कच्चा बर्तन पानीमें गल जाता है । (१—४)

हे राजेन्द्र ! भीत, नपुंसक, आलसी, असावधान, व्यसनी और दुष्ट राजाको प्रजा नहीं मानती। आप तो पाण्डवोंका सत्कार करते हैं, इस लिये ऐसे समयमें शोक अनुचित है, क्योंकि पाण्डवोंने अपने धर्मके अनुसार ही काम किया है; जहां आपको प्रसन्न होना चाहिये तहां शोक करते हैं, यह बहुत विपरीत बात है; हे महाराज ! आप प्रसन्न हूजिये; शरीरको वृथा नष्ट न कीजिये; अपने पुण्यका स्मरण कीजिये पाण्डवोंका राज्य उनको देकर यश और धर्मको प्राप्त कीजिये; ऐसा करनेसे आपको सब कोई कृतज्ञ कहेंगे और पाण्डवोंसे सौभ्रात्र भी बना रहेगा, पाण्डवोंके पितामहका राज्य उनको लौटानेसे जगत्में आपकी कीर्ति स्थिर रहेगी । (५-१०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, शकुनीके ऐसे वचन सुनकर और वीर दुःशासनको चरणोंमें पडा हुआ देखकर राजा दुर्योधनने शत्रुनाशन दुःशासनको अपने सुन्दर हाथोंसे उठाकर उनका माथा

उत्थाप्य संपरिष्वज्य प्रीत्याऽजिघ्रत मूर्धनि ।
कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ ॥ १२ ॥
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
व्रीडयाऽभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत्परम् ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत् ।
न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाऽऽज्ञया ॥ १४ ॥
नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत ।
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ॥ १५ ॥
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम ।
त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम् ॥ १६ ॥
या गतिस्तव राजेंद्र साऽस्माकमपि भारत ।
कथं वा संप्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च ।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥ १८ ॥
दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद्धृतराष्ट्रजः ।
संस्पृश्याऽपः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥ १९ ॥

प्रेमसे सूंघा, कर्ण और शकुनीके वचन सुनकर राजा दुर्योधनकी बहुत निराशा हुई और लज्जासे व्याकुल होगए; अनन्तर क्रोधमें भरके कहने लगे कि मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य और राज्यसे तथा अनेक प्रकारके भोगोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है,तुम लोग हमें दुःख मत दो, तुम लोग घरको चले जाओ। मैंने अपनी बुद्धिको स्थिर करके यह निश्चय किया है,कि अब प्राण छोडूंगा,अब तुम सब लोग हस्तिनापुरको चले जाओ और हमारे बूढोंकी सेवा करना। (१०-१६)

राजाका ऐसा वचन सुन वे लोग शत्रुनाशन दुर्योधनसे कहने लगे कि हे राजेन्द्र ! हे भारत ! आपको छोडकर हम लोग नगरमें कैसे प्रवेश करेंगे ? इस लिये आपकी जो दशा होगी सो ही हम सबकी होगी। (१६—१७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! महाराज दुर्योधन इस प्रकार मन्त्री, भाई, मित्र और बान्धवोंके अनेक प्रकारके वचन सुनकरभी अपने निश्चय से चलायमान न हुए । धृतराष्ट्रपुत्र राजसिंह महाराज दुर्योधनने पृथ्वीमें कुशाका आसन बिछाया और जल आदि से पवित्र होकर उसपर बैठे। उस समय

कुशचीरांबरधरः परं नियममास्थितः ।
वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ॥ २० ॥
मनसोऽपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिःक्रियाः ।
अथ तं निश्चयं तस्य बुध्वा दैतेयदानवाः ॥ २१ ॥
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः ।
ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ॥ २२ ॥
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसंभवम् ।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मंत्रैर्मंत्रविशारदाः ॥ २३ ॥
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः ।
मंत्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ॥ २४ ॥
जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मंत्रवत्सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणा वेदवेदांगपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २५ ॥
कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृंभमाणा महाद्भुता ।
कृत्या समुत्थिता राजन्किं करोमीति चाऽब्रवीत् ॥ २६ ॥
आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनांऽतरात्मना ।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहाऽऽनय ॥ २७ ॥

महाराजने कुशके आसनपर बैठकर काले हिरणका चमडा ओढ लिया और अपने वचनको अपने वशमें किया, अर्थात् मौन हो गये। उस समय महाराजने केवल स्वर्ग जाने ही का ध्यान किया। अपने मनको वशमें करके बाहरकी सब क्रियाओंको त्याग दिया। (१८–२१)

महाराजका ऐसा निश्चय देख दिति पुत्र दानव, पाताल में रहनेवाले घोर राक्षस और जिनको देवतोंने पहिले जीता था उन सबने अपने पक्षका नाश विचारकर दुर्योधनको आह्वान करनेके लिये अथर्व वेदकी रीतिसे यज्ञ करना आरम्भ किया। वह जाननेवाले ब्राह्मणों ने बृहस्पति और शुक्रके कहे हुए मंत्रोंसे अथर्व वेद और उपनिषदोंके अनुसार मन्त्र जपना और यज्ञ करना आरम्भ किया। वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले उत्तम व्रत धारी ब्राह्मण लोग अग्निमें खीर और दूधकी आहुति देने लगे २२—२५

हे राजन्! इस प्रकार कर्म सिद्ध होने के समय यज्ञकुण्डसे एक जमूंई देने वाली महाआश्चर्यकारक कृत्या उत्पन्न हुई और कहने लगी, कि हम क्या करें? तब सब दैत्य प्रसन्न होकर उससे बोले, कि व्रत में बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र

तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा ।
निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २८ ॥
समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम् ।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत् ॥
तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ॥ २९ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः ।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाऽब्रुवन् ॥ ३० ॥ [९६१४]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

दानवा ऊचुः—— भोः सुयोधन राजेंद्र भरतानां कुलोद्वह ।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात्प्रायोपवेशनम् ।
आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चाऽयशस्करीम् २ ॥
न हि कार्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जंते बुद्धिमंतो भवद्विधाः ॥ ३ ॥
नियच्छैनां मतिं राजन्धर्मार्थसुखनाशिनीम् ।
यशःप्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥ ४ ॥

राजा दुर्योधनको हमारे पास ले आओ; वह स्त्री उनके वचन को स्वीकार करके वहांसे चली और क्षणभरमें राजा दुर्योधन के पास पहुंची और दुर्योधनको लेकर पुनः दानवोंके पास गई, और राक्षसों को निवेदन किया। इस कृत्यासे प्राप्त हुए राजा दुर्योधनको देख, सब दानव लोग प्रसन्न हुए और रात्रिमें दुर्योधनको भेट कर और अभिमान सहित कहने लगे। (२९—३०) [९६१४]

वनपर्वमें दोसौ एकावन्न अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ बावन अध्याय।

दानव लोग बोले, हे राजेन्द्र ! भरत कुलश्रेष्ठ दुर्योधन ! आप शूर वीर और महात्मा पुरुषोंसे युक्त होकरभी अन्न जल का परित्याग क्यों करते हैं; जो पुरुष अपने शरीरका नाश करता है, वह नरकगामी होता है और पृथ्वीमें उसकी कीर्तिभी नष्ट हो जाती है, आपके समान बुद्धिमान् लोग विरुद्ध, पापमय और सर्वनाशक कार्योंको नहीं करते हैं; हे राजन् ! आप इस धर्म अर्थ और सुख को नाश करनेवाली बुद्धिको त्याग दीजिये, इससे आपका प्रताप यश और वीर्य का नाश होजायगा और शत्रुओं को सुख होगा। (१—४)

श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चाऽऽत्मनो नृप ।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥
पुरा त्वं तपसाऽस्माभिर्लब्धो राजन्महेश्वरात् ।
पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ॥ ६ ॥
अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधःकायश्च तेऽनघः ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥
एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम ।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥
क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः ।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यंति ते रिपून् ॥ ९ ॥
तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते ।
सहायार्थं च ते वीराः संभूता भुवि दानवाः ॥ १० ॥
भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यंत्यपरेऽसुराः ।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यंते तव वैरिभिः ॥ ११ ॥
नैव पुत्रान्न च भ्रातॄन्न पितॄन्न च बान्धवान् ।

हे प्रभो ! धैर्य धारण करो अब आप यथार्थ वार्ताको सुनिये हम आपके शरीर की उत्पत्तिका वर्णन करते हैं । हे राजन् ! पहिले, समयमें हम लोगोंने शिवकी तपस्या करी थी; तब आपको प्राप्त किया था; हे राजेन्द्र! आपका जो नाभीके ऊपरका शरीर है, सो वज्रसे बना हुआ है; हे पापरहित ! आपका जो नीचेका शरीर है, सो भी अस्त्र और शस्त्रोंसे नहीं कट सकता उसको देवीने फूलोंसे बनाया है । इसीसे वह स्त्रियोंको बहुत प्यारा है, हे नृपोत्तम! इस प्रकार आपका शरीर ईश्वर और देवीने बनाया है, हे राजशार्दूल! आप देवता हैं मनुष्य नहीं । (५-८)

महा बलवान् भगदत्त आदि क्षत्री लोग दिव्य शस्त्रोंके जाननेवाले और महा शूरवीर हैं; वे सब आपके शत्रुओं का नाश करेंगे, आप कुछ सन्देह न कीजिये; आपको कुछ भय नहीं है, आपकी सहायताके लिये अनेक दानवोंने पृथ्वीमें अवतार लिया है; भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके शरीरमें अनेक दानव लोग प्रवेश करेंगे;; वे लोग उनके वशमें होकर लज्जा और मोहको छोडकर आपके शत्रुओंसे युद्ध करेंगे; हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! उस युद्धमें कोई पुत्र भाई, पिता, बान्धव, शिष्य, जाति,

नैव शिष्यान्न च ज्ञातीन्न बालान्स्थविरान्न च ॥१२॥
युधि संप्रहरिष्यंतो मोक्ष्यंति कुरुसत्तम ।
निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि ॥१३॥
प्रहरिष्यंति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः ।
हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः ।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ १४ ॥
व्याभाषमाणाश्चाऽन्योन्यं न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ।
सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः ॥ १५ ॥
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यंति जनक्षयम् ।
तेऽपि पंच महात्मानः प्रतियोत्स्यंति पांडवाः ॥१६॥
वधं चैषां करिष्यंति दैवयुक्ता महाबलाः ।
दैत्यरक्षोगणाश्चैव संभूताः क्षत्रयोनिषु ॥ १७ ॥
योत्स्यंति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव ।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १८ ॥
यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसंभवम् ।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ॥ १९ ॥
हतस्य नरकस्याऽऽत्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः ।

बालक और बूढोंको नहीं मारेंगे । सब लोग परस्पर घोर युद्ध करेंगे। (९-१३)

वे पुरुषसिंह क्षत्री लोग किसीका मोह नहीं करेंगे, और परवश होकर दूसरेसे युद्ध करेंगे; उस घोर युद्धमें वीर लोग प्रसन्नभी होंगे,और दुःखीभी होंगे; सब लोग प्रारब्धके वशमें होकर विज्ञान से रहित हो जायंगे; सब लोग परस्पर कहेंगे कि तुम हमसे जीते नहीं बचोगे; वे सब वीर शस्त्र, अस्त्र धारण करके बलपूर्वक अपनी अपनी श्लाघा करेंगे और जगत्का नाश करेंगे, महात्मा पांचों पाण्डवभी घोर युद्ध करेंगे, और उन सबका नाश करेंगे; आज कल्ह अनेक दैत्य और राक्षसोंने क्षत्री जातिमें अवतार लिया है, वे लोग अत्यन्त पराक्रम करके आपके शत्रुओंसे युद्ध करेंगे, हे पार्थिव ! वे लोग गदा मूशल और बडे बडे शस्त्रोंसे लडेंगे । (१३-१८)

हे वीर ! आपके अन्तःकरणमें जो अर्जुनका भय है, हमने उस अर्जुनके मारनेका भी उपाय किया है; जो नरकासुर नामक राक्षस मारा गया था, उसीने अब कर्णका अवतार

तद्वैरं संस्मरन्वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ॥ २० ॥
स ते विक्रमशौटीरो रणे पार्थं विजेष्यति ।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चाऽरीन्महारथः ॥ २१ ॥
ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः ।
कुंडले कवचं चैव कर्णस्याऽपहरिष्यति ॥ २२ ॥
तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः ।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ॥ २३ ॥
प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यंति च मा शुचः ।
असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ॥ २४ ॥
मा विषादं गमस्तस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
विनष्टे त्वयि चाऽस्माकं पक्षो हीयेत कौरव ॥ २५ ॥
गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथंचन ।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पांडवाः ॥ २६ ॥
वैशंपायन उवाच— एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुंजरम् ।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद्दानवर्षभाः ॥ २७ ॥
स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत ।

लिया है, उसी वैरको स्मरण करके अर्जुन और कृष्ण उससे युद्ध करेंगे, समर्थ कर्णभी अपने बलसे अर्जुनको युद्धमें जीतेगा; कर्ण महारथ और शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ है, इससे सब शत्रु-ओंको जीतेगा। (१९-२१)

इसीको जानकर वज्रधारी इन्द्र अर्जु-नकी रक्षा करनेके लिये कर्णसे कुण्डल कवच लेलेंगे,इसी लिये हम लोगोंने भी संशप्तक नामक सहस्रों दैत्य और राक्ष-सोंको इस कार्यपर नियुक्त किया है; आप विचार न करें वे लोग अर्जुनको युद्धमें मारेंगे, हे राजन् ! आप शत्रुओंको मारकर इस पृथ्वीका राज्य करेंगे, हे राजन् ! आप कुछ दुःख मत की-जिये, क्योंकि आप दुःखके योग्य नहीं हैं, हे कौरव ! आप यदि मर जायंगे, तो हमारा बल नष्ट हो जायगा, हे वीर आप चले जाइये; ऐसी बुद्धि फिर कभी मत करना, आप सदा हमारी गति हैं। इसी प्रकार देवता लोगभी पाण्डवोंको मानते हैं। (२२–२६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ऐसा कह कर दानवोंने राजसिंह दुर्योधनको अपने हृदयसे लगा कर बहुत समझाया और पुत्रके समान उनका सम्मान किया। हे

गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २८ ॥
तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवाऽनयत्पुनः ।
तमेव देशं यत्राऽऽसौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २९ ॥
प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या समभिपूज्य च ।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तथैवांऽतरधीयत ॥ ३० ॥
गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिंतयत भारत ॥ ३१ ॥
विजेष्यामि रणे पांडूनिति चाऽस्याऽभवन्मतिः ।
कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्याऽमित्रघातिनः ॥ ३२ ॥
अमन्यत वधे युक्तान्समर्थांश्च सुयोधनः ।
एवमाशा दृढा यस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ३३ ॥
विनिर्जये पांडवानामभवद्भरतर्षभ ।
कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यांऽतरात्मना ॥ ३४ ॥
अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम् ।
संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ॥ ३५ ॥
रजस्तमोभ्यामाक्रांताः फाल्गुनस्य वधैषिणः ।
भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रांतचेतसः ॥ ३६ ॥

राजेन्द्र ! उन्होंने मीठे वचन कहकर दुर्योधनकी बुद्धिको स्थिर कर दिया और जानेकी आज्ञा दई, तथा विजय होनेका आशीर्वाद दिया । फिर उस स्त्रीने महाराज दुर्योधनको उसी स्थानको पहुंचा दिया जहां वे अन्न और जलको छोड कर बैठे थे । राजाको वहां पर पहुंचाकर और उनकी आज्ञा लेकर वह कृत्या गुप्त हो गई । (२६—३०)

उस स्त्रीके चले जानेके पश्चात् राजा दुर्योधनने इन सब बातोंको स्वप्नके समान जाना और अपने मनमें निश्चय किया कि हम पाण्डवोंको युद्धमें जीतेंगे। महाराज दुर्योधनने कर्ण और संशप्तकगणको पाण्डवोंके मारनेमें समर्थ और अपना मित्र समझा । इस प्रकार धृतराष्ट्रपुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनने अपने मनमें दृढ आशा करली दुर्योधनने जाना कि कर्ण नरकासुरका अवतार है,यह अवश्य पाण्डवोंको जीतेगा और यह अर्जुनके मारनेके लिये क्रूर बुद्धि करता रहता है । (३१-३५)

महावीर संशप्तक राक्षस भी रज और तमगुणका आश्रय करके भीष्म द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके शरीरमें

न तथा पांडुपुत्राणां स्नेहवंतो विशांपते ।
न चाऽऽचचक्षे कस्मैचिदेतद्राजा सुयोधनः ॥ ३७ ॥
दुर्योधनं निशांते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत् ।
स्मयन्निवांऽजलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद्वचः ॥ ३८ ॥
न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन्भद्राणि पश्यति ।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ॥ ३९ ॥
न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा ।
परिष्वज्याऽब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥ ४० ॥
उत्तिष्ठ राजन्किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन् ।
शत्रून्प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ॥ ४१ ॥
अथ वा ते भयं जातं दृष्ट्वाऽर्जुनपराक्रमम् ।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ४२ ॥
गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनाऽऽयुधमालभे ।
आनयिष्याम्यहं पार्थान्वशं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥
एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात्तथा ।

प्रवेश करेंगे; तब उन सबकी बुद्धि पलट जायगी और वे लोग अर्जुनके मारनेका उपाय करेंगे; वे लोग जैसा हमसे प्रेम करते हैं वैसा पाण्डवोंसे नहीं करते । हे राजन्! दुर्योधनने इस सब वृत्तान्तको किसीके नहीं कहा । प्रातःकाल होतेही विकर्तनके पुत्र कर्ण ने हाथ जोड कर महाराज दुर्योधनको प्रसन्न करके उनसे हेतुके सहित ऐसे वचन कहे, कि कोई मरकर शत्रुवोंको नहीं जीतता और जीता हुआ पुरुष अनेक सुख देखता है। हे कौरव! मरे हुए पुरुषको सुख और जय कहांसे प्राप्त होंगे? (३५—३९)

महाबाहु कर्णने राजा दुर्योधनको अपने हाथसे पकडकर कहा कि हे राजन्! यह समय शोक भय और मरनेका नहीं है, अब आप उठिये; क्यों सोते हैं? और क्यों शोच करते हैं? आप तो अपने बलसे शत्रुओंको दुःख देनेवाले; हैं फिर मरनेकी इच्छा क्यों करते हैं? यदि आपको युद्धमें अर्जुनका बल देखकर कुछ भय हुवा होता हम आपसे सत्य कहते हैं कि हम युद्धमें अर्जुनको मारेंगे, जब तेरह वर्ष बीत जायंगे, और हम धर्म-पूर्वक शस्त्रोंको ग्रहण करेंगे, तब सब पाण्डवोंको आपके वशमें कर देंगे। (३९-४३)

कर्णके ऐसे वचन सुन तथा दैत्योंका

प्रणिपातेन चाप्येषामुदतिष्ठत्सुयोधनः ॥ ४४ ॥
दैत्यानां तद्वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम् ।
ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ॥ ४५ ॥
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम् ।
गंगौघप्रतिमा राजन्सा प्रयाता महाचमूः ॥ ४६ ॥
श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपांडुरैः ।
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला ॥ ४७ ॥
व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाऽव्यक्तशारदी ।
जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ॥ ४८ ॥
गृह्णन्नंजलिमालाश्च धार्त्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४९ ॥
कर्णेन सार्धं राजेंद्र सौबलेन च देविना ।
दुःशासनादयश्चाऽस्य भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५० ॥
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ।
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ॥ ५१ ॥
प्रयांतं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः ।

स्मरण कर और सब लोगोंको प्रणाम करते देख, महाराज दुर्योधन उठे । उन्होंने दैत्योंके वचनसे अपने मनमें स्थिर किया कि अब हम पाण्डवोंको अवश्य जीत लेंगे । ऐसा विचार कर राजाने अपनी सेनाको चलनेकी आज्ञा दई । रथ सारथी, घोडे और पैदलोंसे भरी हुई वह सेना गंगाप्रवाहके समान शोभित हुई । श्वेत छत्र, चमर, पताका, रथ, हाथी, घोडे और पैदलोंसे वह सेना बहुत शोभित होने लगी। (४४–४७)

उस समय सेनाकी ऐसी शोभा बढी जैसे शरद् ऋतुमें मेघ रहित आकाशकी। ब्राह्मण लोग उनको आशीर्वाद देने लगे। उस समय धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन चक्रवर्त्ती महाराज युधिष्ठिरके समान शोभित हुए। राजा दुर्योधन लक्ष्मीसे परम प्रकाशमान थे, स्तुति करनेवाले लोगोंसे माला और प्रणाम को ग्रहण करते हुए चले । हे राजेन्द्र! राजा दुर्योधनके सङ्ग कर्ण और जुवारी शकुनी चले । राजसिंह दुर्योधनके पीछे कुरुकुलश्रेष्ठ दुःशासनादि सौ भाई; भूरिश्रवा, सोमदत्त, और महाराज बाह्लिक आदि कौरव लोग हाथी, रथ, और उत्तम घोडोंपर चढकर चले। हे राजेन्द्र!

कालेनाऽल्पेन राजेंद्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥ ५२ ॥ [९६६६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

जनमेजय उवाच--वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन्महात्मसु ।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः ॥ १ ॥
कर्णो वैकर्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः ।
भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने ।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनंदनैः ॥ ३ ॥
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्त्तराष्ट्रमिदं वचः ।
उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ॥ ४ ॥
गमनं मे न रुचितं तव तत्र कृतं च ते ।
ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ॥ ५ ॥
मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे ।
प्रत्यक्षं तव गांधारे ससैन्यस्य विशांपते ॥ ६ ॥
सूतपुत्रोऽपयाद्भीतो गंधर्वाणां तदा रणात् ।

वे लोग थोडेही समयमें हस्तिनापुरमें पहुंचे। (४८-५२) [९६६६]

वनपर्वमें दोसौ बाबन अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ तिरपन अध्याय।

महाराज जनमेजय बोले, हे द्विजसत्तम ! जब महात्मा पाण्डवोंने दुर्योधनको छुडा दिया और वे लोग वनमें रहने लगे, तब महा धनुषधारी धृतराष्ट्र पुत्र, विकर्त्तनपुत्र कर्ण, महा बलवान् शकुनी, भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने क्या किया ? सो मुझसे कहिये। (१-२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले हे महाराज ! जब पाण्डवोंने दुर्योधनको छुडाया और दुर्योधन पाण्डवोंसे बिदा होकर हस्तिनापुर पहुंचे, उस समय महाराज दुर्योधनसे भीष्मने कहा, हे तात ! जब तुम तपोवनको जाते थे; तब ही हमने कहा था कि तुम्हारा वनको जाना अच्छा नहीं; परन्तु तुमने नहीं माना; हे वीर ! इसीसे तुमको शत्रुओंने अपने बलसे पकड लिया; उस समय धर्मात्मा पाण्डवोंने ही तुमको छुडाया; क्या तुमको इससे लज्जा नहीं हुई ? हे गान्धारीपुत्र ! हे पृथ्वीनाथ ! देखो, तुम्हारे देखते ही कर्ण गन्धर्वोंके युद्धमेंसे डरकर भाग गया। (३-७)

क्रोशतस्तव राजेंद्र ससैन्यस्य नृपात्मज ॥ ७ ॥
दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पांडवानां महात्मनाम् ।
कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ८ ॥
न चापि पादभाक्कर्णः पांडवानां नृपोत्तम ।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ॥ ९ ॥
तस्मादहं क्षमं मन्ये पांडवैस्तैर्महात्मभिः ।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्याऽस्य विवृद्धये ॥ १० ॥
एवमुक्तश्च भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रहस्य सहसा राजन्विप्रतस्थे ससौबलः ॥ ११ ॥
तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः ।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ १२ ॥
तांस्तु संप्रस्थितान्दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
लज्जया व्रीडितो राजञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १३ ॥
गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
पुनरागम्य तं देशममंत्रयत मांत्रिभिः ॥ १४ ॥
किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं च सुकृतं तत्स्यान्मंत्रयामोऽद्य यद्धितम् ॥ १५ ॥

हे राजपुत्र ! देखो, जब तुम सेनाके सहित रोते थे, तबही महात्मा पाण्डवोंका पराक्रम तुमने देखा और दुर्बुद्धि सूतपुत्र कर्णका बलभी देख लिया। हे नृपोत्तम ! हे धर्मप्रिय ! धनुर्वेद और तेजमें कर्ण पाण्डवोंके चरणके समानभी नहीं है, हे सन्धिजाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! इस लिये हम महात्मा पाण्डवोंसे सन्धि करना अच्छा समझते हैं। सन्धि करनेसे हमारे कुलकी वृद्धि होगी। ७-१०

हे महाराज ! दुर्योधन भीष्मके ऐसे वचन सुन हंसकर वहांसे चल दिये और शकुनीने भी वहांसे चल दिया; जब राजा दुर्योधन वहांसे चले, तब महाबलवान कर्ण और दुःशासन आदि उठ गये। जब भीष्मने उनको जाते देखा तो वे भी लज्जित होकर वहांसे अपने घरको चले गये। (११-१३)

जब भीष्म चले गये, तो राजा दुर्योधन मन्त्रियोंके सहित वहीं आकर संमति करने लगे। दुर्योधन बोले, अब हम लोगोंका कल्याण कैसे होगा ? और हमको क्या करना उचित है ? हमको किस प्रकार पुण्य लाभ होगा, इसका

कर्ण उवाच——दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव।
भीष्मोऽस्मान्निंदति सदा पांडवांश्च प्रशंसति ॥ १६ ॥
त्वद्‌द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति।
विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ॥ १७ ॥
सोऽहं भीष्मवचस्तद्वै न मृष्यामीह भारत।
त्वत्समक्षं यदुक्तं च भीष्मेणाऽमित्रकर्षण ॥ १८ ॥
पांडवानां यशो राजंस्तव निंदां च भारत।
अनुजानीहि मां राजन्सभृत्यबलवाहनम् ॥ १९ ॥
जेष्यामि पृथिवीं राजन्सशैलवनकाननाम्।
जिता च पांडवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
तामहं ते विजेष्यामि एक एव न संशयः।
संपश्यतु सुदुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ॥ २१ ॥
अनिंद्यं निंदते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति।
स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानं तु विगर्हतु ॥ २२ ॥
अनुजानीहि मां राजन्ध्रुवो हि विजयस्तव।
प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ॥ २३ ॥

विचार करना चाहिये। (१४—१५)

कर्ण बोले, हे दुर्योधन ! हे कौरव ! तुम हमारे वचनोंको सुनो, भीष्म सदा ही हमारी निन्दा और पाण्डवोंकी प्रशंसा किया करते हैं; हे नरनाथ। वे तुम्हारे परम द्वेषी हैं; इस लिये मेरा भी द्वेष करते हैं, देखो तुम्हारे आगे ही हमको धिक्कार दे रहे थे, हे भारत ! शत्रुनाशन ! भीष्मने जो तुम्हारे आगे मुझे वचन कहे हैं उनकी अब मैं क्षमा नहीं करूंगा। (१६—१८)

हे राजेन्द्र ! मैं पाण्डवोंका यश और तुम्हारी निन्दा नहीं सुन सकता हूं, इस लिये दास, सेना और वाहनोंके सहित विजय करनेको जाता हूं; मैं वन पर्वत और महा वनोंके सहित सब पृथ्वीको जीतूंगा, हे राजन् जिस पृथ्वीको महाबलवान चार पाण्डवोंने जीता था उसको मैं एकलाही जीतूंगा। कुरुकुलाधम, दुर्बुद्धि भीष्म हमारे बलको देखे, जो भीष्म प्रशंसा करनेके अयोग्य पाण्डवोंकी प्रशंसा और निन्दाके अयोग्य हमारी निन्दा करता है वह हमारे बलको देखे और अपनी निन्दा करे। हे राजन्! हम शस्त्र की शपथ करके सत्य कहते हैं कि आप की अवश्य विजय होगी। (१९-२३)

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन्कर्णस्य भरतर्षभ ।
प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ॥ २४ ॥
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः ।
हितेषु वर्तसे नित्यं सफलं जन्म चाऽद्य मे ॥ २५ ॥
यदा च मन्यसे वीर सवशत्रुनिबर्हणम् ।
तदा निर्गच्छ भद्रं ते ह्यनुशाधि च मामिति ॥ २६ ॥
एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्त्तराष्ट्रेण धीमता ।
सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिकमरिंदम ॥ २७ ॥
प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते ।
शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २८ ॥
मंगलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः ।
नादयन्रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥ [९६९५]

इति श्रीमहाभारते० घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

वैशम्पायन उवाच--ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः ।
द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ ॥ १ ॥
युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम् ।

ऐसा सुन महाराज दुर्योधनने प्रेम पूर्वक कर्णसे कहा कि तुमको धन्य है, क्योंकि तुम महाबली होकरभी हमारा हित चाहते हो, आज हमारा जन्म धन्य हुआ; हे वीर ! यदि तुम सब शत्रुवोंको जीतना चाहते हो तो तुम्हारा कल्याण हो, तुम शीघ्र जाओ । बुद्धिमान दुर्योधनके ऐसे वचन सुन कर्णने आज्ञा दी कि यात्राके लिये सब प्रबन्ध किये जायं । (२४–२७)

उत्तम मुहूर्त्त शुभ तिथि, शुभ दिन और शुभ नक्षत्रमें महाधनुषधारी कर्ण विजय करनेको चले । उस समय ब्राह्मण लोग उनको आशीर्वाद देने लगे, कर्णने उत्तम जलमें स्नान किया और ब्राह्मणोंका आशीर्वाद सुनकर रथमें बैठे । उनके रथके शब्दसे चर और अचरके सहित तीनों लोक निनादित होगए । (२८–२९) [९६९५]

वनपर्वमें दोसौ तिरपन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ चौवन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! तब महाधनुषधारी कर्ण सेनाके सहित वहांसे चलकर द्रुपदपुरमें पहुंचे और उस रम्य नगरको चारों ओरसे घेर लिया । तब वहां घोर युद्ध करके

सुवर्णं रजतं चापि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥
करं च दापयामास द्रुपदं नृपसत्तम ।
तं विनिर्जित्य राजेंद्र राजानस्तस्य येऽनुगाः ॥ ३ ॥
तान्सर्वान्वशगांश्चक्रे करं चैनानदापयत् ।
अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान् ॥ ४ ॥
भगदत्तं च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत् ।
हिमवंतं महाशैलं युध्यमानश्च शत्रुभिः ॥ ५ ॥
प्रययौ च दिशः सर्वान्नृपतीन्वशमानयत् ।
स हैमवतिकाञ्जित्वा करं सर्वानदापयत् ॥ ६ ॥
नेपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत् ।
अवतीर्य ततः शैलात्पूर्वां दिशमभिद्रुतः ॥ ७ ॥
अंगान्वंगान्कलिंगांश्च शुंडिकान्मिथिलानथ ।
मागधान्कर्कखंडांश्च निवेश्य विषयेऽऽत्मनः ॥ ८ ॥
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिक्षत्रं च निर्जयत् ।
पूर्वां दिशं विनिर्जित्य वत्सभूमिं तथाऽगमत् ॥ ९ ॥
वत्सभूमिं विनिर्जित्य केवलां मृत्तिकावतीम् ।
मोहनं पत्तनं चैव त्रिपुरीं कोसलां तथा ॥ १० ॥
एतान्सर्वान्विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः ।

उन सब वीरोंको अपने वशमें करके सोना चांदी और अनेक प्रकारके रत्न लिये । हे राजेन्द्र ! राजा द्रुपदको वशमें करके उनके पासके सब राजोंको जीत लिया और सबसे कर ले लिया । (१–४)

उसके पश्चात् वह उत्तरकी ओर गये। वहां जाके अनेक राजोंको जीत, भगदत्त को अपने वशमें किया । उसके पश्चात् राधापुत्र पर्वतपर चढे । वहां हिमाचल आदि सब पर्वतोंके राजोंको युद्ध करके अपने वशमें किया और सबसे कर ले लिया । उसके पश्चात् नैपालके राजासे घोर युद्ध किया और उसकोभी अपने वशमें करके पर्वतसे उतरे । फिर पूर्वकी ओर गये। वहां अङ्ग,वङ्ग,कलिङ्ग शुंडिक,मिथिला, मगध, कर्कखण्ड,आदि सब राजोंको जीत लिया । (४—८)

आवशीर,योध्य और अहिक्षत्र राजाओं को अपने वशमें किया । पश्चात् पूर्व दिशा को जीतकर वत्सभूमिमें पहुंचे । केवल मृत्तिका युक्त उस वत्सभूमि तथा मोहनपुर त्रिपुर और कोसला आदिके राजों

दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान्॥११॥
रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः ।
स युद्धं तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम् ॥ १२ ॥
प्रीतोऽस्मि तव राजेंद्र विक्रमेण बलेन च ।
न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम् ॥ १३ ॥
प्रीत्या चाऽहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि ।
समेत्य रुक्मिणा कर्णः पांड्यं शैलं च सोऽगमत् १४॥
स केरलं रणे चैव नीलं चापि महीपतिम् ।
वेणुदारिसुतं चैव ये चाऽन्ये नृपसत्तमाः ॥ १५ ॥
दक्षिणस्यां दिशि नृपान्करान्सर्वानदापयत् ।
शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनंदनः ॥ १६ ॥
पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन्वशे चक्रे महाबलः ।
आवंत्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ ।
वृष्णिभिः सह संगम्य पश्चिमामपि निर्जयत् ॥ १७॥
वारुणीं दिशमागम्य यावनान्बर्बरांस्तथा ।
नृपान्पश्चिमभूमिस्थान्दापयामास वै करान् ॥ १८ ॥

को जीतकर कर ले लिया। इन पूर्वके महारथोंको जीत करके दक्षिणकी यात्रा करी, वहां रुक्मी राजासे घोर युद्ध हुआ, उस घोर युद्ध होनेके पश्चात् रुक्मीने प्रसन्न होकर कर्णसे कहा कि, हे राजेन्द्र! हम तुम्हारे बलसे बहुत प्रसन्न हैं, इस लिये हम तुम्हारी यज्ञमें कुछ विघ्न नहीं करेंगे और अपनी प्रतिज्ञाको पालन करेंगे, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम तुम्हे जो धन देते हैं ले जाओ, क्योंकि यह धन हम प्रसन्न होकर देते हैं।९-१४

तब कर्णने राजा रुक्मीके सङ्ग सन्धि कर ली और पाण्डय शैलकी ओर चले गये। वहां जाकर केरल देशके राजा नीलको जीता। फिर वेणुदारिके पुत्रको अपने वशमें किया। अनन्तर दक्षिण दिशाके सब राजोंको जीतकर कर ले लिया। उसके पश्चात् शिशुपालके पुत्रको जीता। उसके अनन्तर वहांके सब राजों को जीता। वहांसे उज्जैनपुरीमें पहुंचे और वहांके राजासे सन्धिकर ली। उसके पश्चात् यादवोंसे संधि करली। फिर सब पश्चिमी दिशाको जीत लिया। १४-१७

वहांसे यवन और बर्बर देशके राजों को जीत लिया, और सबसे कर लेलिया। इस प्रकार कर्णने पूर्व, पश्चिम,

विजित्य पृथिवीं सर्वां सपूर्वापरदक्षिणाम्।
सम्लेच्छाटविकान्वीरः सपर्वतनिवासिनः ॥ १९ ॥
भद्रान्रोहितकांश्चैव आग्नेयान्मालवानपि।
गणान्सर्वान्विनिर्जित्य नीतिकृत्प्रहसन्निव ॥ २० ॥
शशकान्यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनंदनः।
नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणाञ्जित्वा महारथान् ॥ २१ ॥
एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः।
विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागसाह्वयमागमत् ॥ २२ ॥
तमागतं महेष्वासं धार्त्तराष्ट्रो जनाधिपः।
प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबांधवः ॥ २३ ॥
अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम्।
आश्रावयच्च तत्कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ॥ २४ ॥
यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च बाह्लिकात्।
प्राप्तवानस्मि भद्रं ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ॥ २५ ॥
बहुना च किमुक्तेन शृणु कर्ण वचो मम।
सनाथोऽस्मि महाबाहो त्वया नाथेन सत्तम ॥ २६ ॥
न हि ते पांडवाः सर्वे कलामर्हंति षोडशीम्।
अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ॥ २७ ॥

उत्तर और दक्षिणके सब राजोंको जीत, म्लेच्छ पर्वत और वनके सब राजोंको अपने वशमें कर लिया। भद्र, रोहितक, आग्नेय और मालव देशके सब राजोंको हंसते हंसते अपने वशमें कर लिया। सूतपुत्रने शशक, यवन और नग्नाजित् आदि महारथोंको जीता। (१८-२१)

इस प्रकारसे सब पृथ्वीको जीत पुरुष सिंह महारथ कर्ण हस्तिनापुरको लौटे जब राजा दुर्योधनने उनके आनेका समाचार सुना तो पुत्र और भाइयोंके सहित उनको लेनेको आये, और उनकी विधिवत् पूजा की। फिर युद्ध जीतने-वाले कर्णकी बहुत प्रशंसा करके राजा दुर्योधन कहनें लगे, हे वीर! हमारे लिये जो काम भीष्म, द्रोण, कृप और बाह्लीकने नहीं किया था, सो तुमने किया; हम अधिक क्या कहेंगे तुम हमारे नाथ हो और हम तुमसे सनाथ हुए हैं। (२२—२६)

हे कर्ण! हे महाबाहो! पाण्डवलोग तुम्हारी सोलहवीं कलाकोभी नहीं पा

स भवान्धृतराष्ट्रं तं गांधारीं च यशस्विनीम् ।
पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद्यथा ॥ २८ ॥
ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद्विशां पते ।
हाहाकाराश्च बहवो नगरे नागसाह्वये ॥ २९ ॥
केचिदेनं प्रशंसंति निंदंति स्म तथाऽपरे ।
तूष्णीमासंस्तथा चाऽन्ये नृपास्तत्र जनाधिप ॥ ३० ॥
एवं विजित्य राजेंद्र कर्णः शस्त्रभृतां वरः ।
सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ॥ ३१ ॥
देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि ।
द्वीपैश्चाऽनूपसंपूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥
कालेन नाऽतिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान् ।
अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ॥ ३३ ॥
प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यंतरमरिंदम ।
गांधारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ॥ ३४ ॥
पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित् ।
धृतराष्ट्रेण चाऽऽश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः॥३५॥
तदा प्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः ।

सकते हैं। पुरुषव्याघ्र और अत्यन्त बढे हुए राजा लोगभी तुम्हारे समान नहीं हैं। हे महाधनुषधारी! अब तुम धृतराष्ट्र और यशस्विनी गांधारीके दर्शन करो, वह तुम्हारे ऊपर ऐसी कृपा करेंगी जैसे अदिति इन्द्रके ऊपर। (२७ - २८)

हे पृथ्वीनाथ! उस समय हास्तिनापुरमें महा हाहाकार शब्द होने लगा; कोई कर्णकी प्रशंसा और कोई उसकी निन्दा करने लगा, तथा कोई चुपचाप होकर बैठ गया, इस प्रकार शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ कर्णने थोडेही समयमें पर्वत, वन, आकाश, समुद्र, नीचे ऊंचे देश, गांव, नगर, द्वीप, और जलके सहित सब पृथ्वीके देशोंको जीत लिया, अनन्तर धन लेकर राजा दुर्योधनसे मिले। (२९-३३)

हे शत्रु नाशन जनमेजय! रनिवास में जाकर वीर कर्णने गांधारीके सहित राजा धृतराष्ट्रके दर्शन किये, और उनको पिताके समान प्रणाम किया। तब राजाने भी प्रेमसे कर्णको अपने हृदयसे लगाकर विदा किया। उस दिनसे दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनीने जान लिया कि

जानते निर्जितान्पार्थान्कर्णेन युधि भारत ॥ ७६ ॥ [९७३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि
कर्णदिग्विजये चतुष्पंचाशदधिकाद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

वैशम्पायन उवाच—जित्वा तु पृथिवीं राजन्सूतपुत्रो जनाधिप ।
अब्रवीत्परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ॥ १ ॥

कर्ण उवाच—दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ॥ २ ॥
तवाऽद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम ।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाऽब्रवीत्पुनः ।
न किंचिद्दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
सहायश्चाऽनुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तं वै शृणु यथातथम् ॥ ५ ॥
राजसूयं पांडवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत् ।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां संपादय सूतज ॥ ६ ॥
एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत् ।

कर्ण पाण्डवोंको जीत लेगा। (३४—३६)
वनपर्वमें दोसौ चौवन अध्याय समाप्त । ९७३१

वनपर्वमें दोसौ पचपन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! सूतपुत्र शत्रुनाशन कर्णने इस प्रकार पृथ्वीको जीतकर दुर्योधनसे कहा हे शत्रुनाशन ! दुर्योधन ! हे कौरव! तुम हमारे वचनोंको सुनो और जो हम करते हैं सो करो । हे नृपोत्तम ! इस समय पृथ्वीमें तुम्हारा शत्रु कोई नहीं है; इस लिये तुम इस पृथ्वीका इस प्रकार पालन करो जैसे शत्रुवोंको नाश करके महात्मा इन्द्र पालन करते हैं । (१—३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कर्णके ऐसे वचन सुन राजा दुर्योधनने कर्णसे कहा, हे पुरुषसिंह ! जिसके तुम ऐसे सहायक और भक्त हो तथा जिसके लिये तुम सदा उद्यत रहते हो, उसको कोई बात दुर्लभ नहीं है । मेरे मनमें जो इच्छा है, उसको तुम सुनो । जबसे मैंने राजा युधिष्ठिर का बृहत् राजसूय यज्ञ देखा है,तबसे मेरीभी इच्छा राजसूय यज्ञ करनेकी हुई है इस लिये तुम राजसूय यज्ञका प्रबन्ध करो। (४—६)

इस प्रकार दुर्योधन के वचन सुन

तवाऽद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ ७ ॥
आहूयंतां द्विजवराः संभाराश्च यथाविधि ।
संभ्रियंतां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ ८ ॥
ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः ।
क्रियां कुर्वंतु ते राजन्यथाशास्त्रमरिंदम ॥ ९ ॥
बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः ।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ १० ॥
एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्त्तराष्ट्रो विशांपते ।
पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम् ।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ १२ ॥
स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः ।
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम ।
दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता नृप ॥ १४ ॥
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम ।
अस्ति त्वन्यन्महत्सत्रं राजसूयसमं प्रभो ॥ १५ ॥
तेन त्वं यज राजेंद्र शृणु चेदं वचो मम ।

कर्ण बोले, हे नृपोत्तम ! इस समय सब राजालोग तुम्हारे वशमें हैं, अब तुम ब्राह्मणोंको निमन्त्रण भेजो; हे भरतर्षभ ! अब तुम विधिपूर्वक यज्ञकी सब सामग्री इकट्ठी करो,वेद पारंगत ऋत्विजों को निमंत्रण भेजो, वे आपकी यज्ञ क्रिया विधि पूर्ण करेंगे। अब आप खाद्य, पेय और सब समृद्धिसे युक्त महायज्ञ राजसूयको आरम्भ करो। हे पृथ्वीनाथ ! कर्णके ऐसे वचन सुन राजा दुर्योधन ने पुरोहितको बुलाकर कहा कि तुम हमारे लिये दक्षिणा और विधिके सहित राजसूय यज्ञका आरम्भ करो। ७-१२

राजाके ऐसे वचन सुन ब्राह्मण श्रेष्ठ पुरोहित कहने लगे, हे कौरव श्रेष्ठ ! हे नृपोत्तम ! युधिष्ठिरके जीते हुए तुम राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते हो; क्योंकि एक कुलमें दो राजसूय नहीं हो सकती और अभी तुम्हारे पिता धृतराष्ट्रभी जीते हैं इससेभी तुम राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते हो। (१३—१५)

हे पृथ्वीनाथ ! हे राजेन्द्र ! आप

य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ॥ १६ ॥
ते करान्संप्रयच्छंतु सुवर्णं च कृताकृतम् ।
तेन ते क्रियतामद्य लांगलं नृपसत्तम ॥ १७ ॥
यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत ।
तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ॥ १८ ॥
प्रवर्त्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः ।
एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ॥ १९ ॥
एतेन नेष्टवान्कश्चिद्दते विष्णुं पुरातनम् ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ॥ २० ॥
अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत ।
निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात्स्पृहा तव ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्त्तराष्ट्रो महीपतिः ।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातृंश्चैवेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः ।
रोचते यदि युष्माकं तस्मात्प्रब्रूत मा चिरम् ॥ २३ ॥
एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् ।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान्यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

हमारे वचन सुनिये । राजसूयके समान और भी यज्ञ हैं, यदि सब राजालोग तुम्हारे वशमें हैं, तो तुम उसी यज्ञको करो, सब राजा लोग तुमको अलंकाररूप तथा केवल सुवर्ण दें। इस सुवर्णसे एक हल बनवाइये और उससे यज्ञभूमिको ठीक कराइये और वहांपर प्रभूत अन्न और उत्तम संस्कार से युक्त आपका यज्ञ निर्विघ्न शुरू होगा, वहांपर सावधान होकर सत्पुरुषोंके करने योग्य विष्णुयज्ञका आरंभ कीजिये; इस यज्ञको सनातन विष्णुके सिवा और किसीने नहीं किया है, वह महायज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयके समान है, हे राजेन्द्र ! हम आपका कल्याण चाहते हैं, ईश्वर करे और यह आपका यज्ञ निर्विघ्न रीतिसे समाप्त हो । (१५---२१)

ब्राह्मणोंके ऐसे वचन सुन राजा दुर्योधनने कर्ण शकुनी और अपने भाईयोंसे कहा कि हमको ब्राह्मणोंके सब वचन प्रिय लगते हैं; यदि तुम लोगभी स्वीकार करो तो शीघ्र कहो । राजाके वचन सुन सब लोगोंने स्वीकार किया। तब राजाने सब शिल्पियोंको हल तैयार

हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः ।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ॥ २५ ॥ [९७५६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि
दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये ।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्त्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १ ॥
सज्जं क्रतुवरं राजन्कालप्राप्तं च भारत ।
सौवर्णं च कृतं सर्वं लांगलं च महाधनम् ॥ २ ॥
एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्त्तराष्ट्रो विशांपते ।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्त्तनम् ॥ ३ ॥
ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतार्थः सुसंस्कृतः ।
दीक्षितश्चापि गांधारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥
प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गांधारी च यशस्विनी ॥५॥
निमंत्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान् ।
पार्थिवानां च राजेंद्र ब्राह्मणानां तथैव च ॥ ६ ॥
ते प्रयाता यथोदिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः ।

करने के लिये और कर्म कारोंको यज्ञशाला बनानेकी आज्ञा दी । उन्होंने वचन सुनते ही सब बना दिया। (२२—२५)

वनपर्वमें दौसो पचपन अध्याय समाप्त । ९७५६

वनपर्वमें दौसो छप्पन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! जनमेजय ! अनन्तर महा बुद्धिमान् विदुरने सब शिल्पियोंके सहित राजा दुर्योधनसे निवेदन किया कि हे राजन्! हे भारत ! यज्ञशाला बन गई और यज्ञ करनेका समयभी आगया; हमने बहुत धन लगाकर सोनेका हलभी बनवा लिया। विदुरके ऐसे वचन सुन,राजा दुर्योधनने यज्ञ आरंभ होनेकी आज्ञा दी। तब बहुत धन और बहुत अन्नके सहित यज्ञ आरंभ हुआ। उस यज्ञमें राजा दुर्योधनने विधिके अनुसार दीक्षा ली । (१–४)

तब राजा धृतराष्ट्र, यशस्वी विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य,कर्ण और यशस्विनी गान्धारी बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर उन्होंने शीघ्र जानेवाले दूतोंको राजा और ब्राह्मणोंके बुलानेको भेजा । वे लोग शीघ्र चलनेवाले वाहनोंपर चढकर चल दिये । उनमेंसे एक

तत्र कंचित्प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पांडवान्पापपूरुषान्।
निमंत्र्य यथान्यायं विप्रांस्तस्मिन्वने तदा ॥ ८ ॥
स गत्वा पांडवान्सर्वानुवाचाऽभिप्रणम्य च।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ॥ ९ ॥
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसत्तमः।
तत्र गच्छंति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ॥ १० ॥
अहं तु प्रेषितो राजन्कौरवेण महात्मना।
आमंत्रयति वो राजा धार्त्तराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ११ ॥
मनोभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ।
ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ॥ १३ ॥
वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन।
समयः परिपाल्यो नो यावद्वर्षं त्रयोदशम् ॥ १४ ॥
श्रुत्वैतद्धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत्।

दूतसे दुःशासनने कहा कि, तुम शीघ्र द्वैत वनको जावो और वहां विधिपूर्वक पापी पाण्डवोंको न्योता देआवो, तथा वहां रहनेवाले ब्राह्मणोंकोभी न्यायके अनुसार निमन्त्रण दीजिये। (७-८)

वह दूत पाण्डवोंके पास गया और प्रणाम करके कहने लगा, हे महाराजों में श्रेष्ठ! कुरुकुलोत्तम राजा दुर्योधन अपने बलसे पृथ्वीको जीतकर और बहुत धन प्राप्त करके यज्ञ करते हैं; इस लिये वहां अनेक राजा और ब्राह्मण जा रहे हैं हमको महात्मा दुर्योधनने आपके समीप भेजा है; महाराज दुर्योधन आपको यज्ञमें निमन्त्रण देते हैं और उन की इच्छा आपको यज्ञमें बुलानेकी है, इस लिये आप चलकर उस यज्ञको देखिये। (८-१२)

दूतके वचन सुन राजसिंह राजा युधिष्ठिर बोले; प्रारब्धहीसे राजा दुर्योधनने इस उत्तम यज्ञका आरम्भ किया, वह पूर्व पुरुषोंकी कीर्त्तिको बढानेवाले हैं, हमलोगोंकी इच्छाभी उस यज्ञमें जाने की है, परन्तु इस समय किसी प्रकार जा नहीं सकते, क्योंकि हमको तेरह वर्ष वनमें रहकर प्रतिज्ञा पूरी करनी है। १३-१४

महाराजके ऐसे वचन सुन भीम

तदा तु नृपतिर्गंता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ॥ १६ ॥
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्त्तराष्ट्रेषु पांडवः ।
आगंताऽहं तदाऽस्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः ॥१७॥
शेषास्तु पांडवा राजन्नैवोचुः किंचिदप्रियम् ।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्त्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
अथाऽऽजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः ।
ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्त्तराष्ट्रपुरं प्रति ॥ १९ ॥
ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम् ।
मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ॥ २० ॥
धृतराष्ट्रोऽपि राजेंद्र संवृतः सर्वकौरवैः ।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥
यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः ।
तुष्येत्तु यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २२ ॥
विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिंदम ।
यथाप्रमाणतो विद्वान्पूजयामास धर्मवित् ॥ २३ ॥

बोले, हे दूत ! महाराज धर्मराज युधिष्ठिर उस समय हस्तिनापुर जायंगे, जब अस्त्र और शस्त्रोंकी अग्निमें दुर्योधनकी आहुति दे चुकेंगे, तेरह वर्षके पश्चात् जब युद्ध होगा उसमें क्रोधी कर्णके सङ्ग धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी आहुति दी जायगी, तभी हम सब लोग हस्तिनापुरको जायेंगे, इस यज्ञको महाराज धर्मराजही करेंगे, हमारे सब वचन तुम दुर्योधनसे कह देना। हे राजन् ! और किसी पाण्डवोंने कठोर बचन नहीं कहा। वह दूत वहांसे राजा दुर्योधनके पास गया और सब कह सुनाया। (१५-१८)

अनन्तर अनेक राजा और महाभाग ब्राह्मण लोग हस्तिनापुरमें आये। राजा दुर्योधनने उन सबकी पूजा शास्त्रविधि और क्रमके अनुसार करी। राजा लोग भी पूजा पाकर बहुत प्रसन्न हुए। राजा धृतराष्ट्र सब कौरवोंके सहित बहुत प्रसन्न होकर विदुरसे बोले, हे विदुर ! जिसमें सब लोगोंको सुख मिले और जिसमें सब लोग सन्तुष्ट रहें, तुम वैसाही यत्न करो। धर्म जाननेवाले विदुरने उनकी आज्ञाको स्वीकार कर प्रमाणके अनुसार

अक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगंधिभिः ।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ॥ २४ ॥
कृत्वा ह्यावसथान्वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।
सांत्वयित्वा च राजेंद्रो दत्वा च विविधं वसु ॥२५॥
विसर्जयामास नृपान्ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ।
विसृज्य च नृपान्सर्वान्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६॥
विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २७ ॥ [९७८३]

इति श्रीमहा०आरण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२५६॥

वैशम्पायन उवाच—प्रविशंतं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् ।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तम ॥ १ ॥
लाजैश्चंदनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः ।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाऽविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् ।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ॥ ३ ॥
नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम् ।
एवं तत्राऽब्रुवन्केचिद्वातिकास्तं जनेश्वरम् ॥ ४ ॥

सब वर्णोंकी पूजा करी । (१९-२३)

विदुरने प्रसन्न होकर भोजन, पीनेकी वस्तु, माला, सुगन्धि, और वस्त्रोंका उचित प्रबन्ध कर दिया राजा दुर्योधनने इस प्रकार कुछ दिन डेरोंमें निवास किया, फिर शास्त्र और क्रमके अनुसार सब राजोंको प्रसन्न करके विदा किया; फिर ब्राह्मणोंको धन देकर उनकोभी विदा किया । इस प्रकार यज्ञ समाप्त करके कर्ण, शकुनी और अपने भाइयोंके सहित राजा दुर्योधनने हास्तिनापुरमें प्रवेश किया । (२४-२७) [९७८३]

वनपर्वमें दोसौ छप्पन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ सतावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! जब महाधनुषधारी राजा दुर्योधनने नगरमें प्रवेश किया, तो सूत और नगरवासी उनकी स्तुति करने लगे; उनके ऊपर धानके लावे और चन्दनका चूर्ण बरसने लगा । वहां कोई कहने लगा कि, हे राजन् ! यह तुम्हारा यज्ञ प्रारब्धसे निर्विघ्न समाप्त हुआ । कोई उन्मत्तके समान कहने लगे कि, यह तुम्हारा यज्ञ युधिष्ठिरकी यज्ञके ऐसा नहीं हुआ; यह युधिष्ठिरके यज्ञके सोलह वे भागको भी नहीं पाता है ।(१—४)

सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अतिसर्वानयं क्रतुः ।
ययातिर्नहुषश्चापि मांधाता भरतस्तथा ॥ ५ ॥
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः ।
एता वाचः शुभाः श्रृण्वन्सुहृदां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः ।
अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशांपते ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः ।
अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनंदनः ॥ ८ ॥
निषसादाऽऽसने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः ।
तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद्वचः ॥ ९ ॥
दिष्टया ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः ।
हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ॥ १० ॥
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः ।
तमब्रवीन्महाराजो धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ११ ॥
सत्यमेतत्त्वयोक्तं हि पांडवेषु दुरात्मसु ।
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ ॥ १२ ॥
राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि ।

उनके मित्र कहने लगे, कि यह यज्ञ सब यज्ञसे बढकर हुआ है; इसी यज्ञके करनेसे पवित्र होकर ययाति, नहुष, मान्धाता और भरत स्वर्गको गये हैं, इस प्रकारसे अपने मित्रोंके वचन सुनते हुए, राजा दुर्योधनने नगरमें प्रवेश किया। फिर अपने घरमें जाकर माता, पिता, भीष्म, द्रोणाचार्य और बुद्धिमान् विदुरको प्रणाम किया, तथा औरभी सब बूढोंको प्रणाम किया। फिर उनके छोटे भाइयोंने राजा दुर्योधनको प्रणाम किया, अनन्तर राजा भाइयोंके सहित मुख्य आसनपर बैठे। (५ — ९)

उस समय सबके बीचमें खडे होकर कर्ण राजासे कहने लगे, हे भरतश्रेष्ठ यह तुम्हारा महायज्ञ प्रारब्धहीसे समाप्त हुआ; अब जिस समय मैं पाण्डवोंको युद्धमें मार चुकूंगा और आप राजसूय यज्ञ करेंगे, तब फिर मैं आपकी पूजा करूंगा। कर्णके वचन सुन महायशस्वी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन बोले, हे कर्ण! तुमने सत्य कहा, हे नरश्रेष्ठ! जब दुष्ट पाण्डव लोग युद्धमें मारे जायंगे, तब तुम फिर हमारी ऐसी वृद्धि करोगे।

एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ॥ १३ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिंतयामास कौरवः ।
सोऽब्रवीत्कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान्नृपसत्तमः ॥ १४ ॥
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् ।
निहत्य पांडवान्सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १५ ॥
तमब्रवीत्तदा कर्णः शृणु मे राजकुंजर ।
पादौ न धावये तावद्यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥ १६ ॥
कीलालजं न खादेयं करिष्ये चाऽसुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ॥१७॥
अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः
प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ॥ १८ ॥
विजितांश्चाप्यमन्यंत पांडवान्धृतराष्ट्रजाः ।
दुर्योधनोऽपि राजेंद्र विसृज्य नरपुंगवान् ॥ १९ ॥
प्रविवेश गृहं श्रीमान्यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ २० ॥
पांडवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।

ऐसा कहकर राजा दुर्योधनने कर्णको अपने हृदयसे लगाया, और राजसूय यज्ञका विचार करने लगे। (९–१४)

अनन्तर राजोंमें श्रेष्ठ राजा दुर्योधन कौरवोंसे बोले, हे कौरवो ! वह कौनसा दिन होगा जब हम यज्ञमें श्रेष्ठ राजसूय यज्ञको करेंगे, यह कर्म पाण्डवोंको मार कर करना होगा। ऐसा सुन कर्ण बोले, हे राजन् ! मैं जब तक अर्जुनको युद्धमें नहीं मार लूंगा, तब तक पैर नहीं धोऊंगा, मैं सत्य कहता हूं, कि विना अर्जुनके मारे मांस नहीं खाऊंगा, और मद्यभी नहीं पीऊंगा। मैं आजसे सुरा और मांसरहित व्रत करता हूं, कि मुझसे जो भिक्षुक जो कुछ मांगेंगे सो ही दे दूंगा। (१४—१७)

जब इस प्रकारसे कर्णने युद्धमें अर्जुनके मारनेकी प्रतिज्ञा करी, तो महारथ धृतराष्ट्रके पुत्र घोर शब्द करने लगे; उन सबने जाना कि हम पाण्डवोंको जीत लेंगे। अनन्तर महाराज दुर्योधनने सभाको विसर्जन किया जैसे इन्द्र चैत्ररथमें प्रवेश करते हैं, तैसेही दुर्योधनने भी अपने घरमें प्रवेश किया। वे सब लोगभी अपने अपने घरको चले गये। १८–२०

महा धनुषधारी पाण्डवोंने जबसे दूत-

चिंतयंतस्तमेवार्थं नाऽलभंत सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥
भूयश्च चारै राजेंद्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ २२ ॥
एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।
अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ॥ २३ ॥
अनुस्मरंश्च संक्लेशान्न शांतिमुपयाति सः ।
तस्य चिंतापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ॥ २४ ॥
बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ।
धार्त्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुंधराम् ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ।
संगम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाऽऽहवशोभिना ॥ २६ ॥
दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्त्तमानो महीभृताम् ।
पूजयामास विप्रेंद्रान्क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
भ्रातॄणां च प्रियं राजन्स चकार परंतपः ।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २८ ॥ [९८११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरचिंतायां सप्तपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२५७॥ समाप्तं च घोषयात्रापर्व ।

के वचन सुने थे, तबहीसे परम चिन्ता करने लगे, और उनको किसी समय सुख न प्राप्त हुआ, फिर पाण्डवोंके दूतोंने आकर महाराज युधिष्ठिरसे कर्णकी प्रतिज्ञा कह सुनाई। हे महाराज ! कर्ण की प्रतिज्ञा सुन उसका अद्भुत पराक्रम विचार तथा उसके अभेद्य कवचकी चिन्ता करके धर्मराज बहुत घबडाने लगे। अनन्तर सोचते सोचते और क्लेशों को विचार महाराजके चित्तको शान्ति न प्राप्त हुई, तब महात्मा धर्मराजने अनेक श्वापद और मृगोंसे भरे हुए द्वैत-वनको छोडनेकी इच्छा करी। २१–२५

उधर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनभी अपने वीर भाईयोंके सहित पृथ्वीका राज्य करने लगे। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और युद्ध जीतनेवाले सूतपूत्र कर्णके सङ्ग रहकर राज्यमें सब कार्य करने लगे, महाराज दुर्योधन सब राजोंका प्रिय कार्य करने लगे, और अनेक यज्ञ करके ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा देने लगे। तब वीर दुर्योधनने अपने मनमें निश्चय किया कि, धनको देना और भोगनाही इसका फल है। ऐसा विचार अपने भाइयोंका

अथ मृगस्वप्नोद्भवपर्व।

जनमेजय उवाच---दुर्योधनं मोक्षयित्वा पांडुपुत्रा महाबलाः।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाऽऽख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥
वैशंपायन उवाच---ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः।
स्वप्नांते दर्शयामासुर्बाष्पकंठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥
तानब्रवीत्स राजेंद्रो वेपमानान्कृतांजलीन्।
ब्रूत यद्वक्तुकामाः स्थ के भवंतः किमिष्यते ॥ ३ ॥
एवमुक्ताः पांडवेन कौन्तेयेन यशस्विना।
प्रत्यब्रुवन्मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥
वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टास्तु भारत।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्व एवाऽस्त्रकोविदाः।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवंतो वनौकसाम् ॥ ६ ॥
बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते।
विवर्धेमहि राजेंद्र प्रसादात्ते युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

प्रिय कार्य करने लगे। (२५२८)९८११]

दोसौ सतावन अध्याय और घोषयात्रापर्व समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ अठावन अध्याय और मृगस्वप्नोद्भव पर्व।

राजा जनमेजय बोले, हे महामुने! दुर्योधनको छुडाकर महाबलवान पाण्डवोंने उस वनमें वस कर कौन कार्य किया, सो आप हमसे कहिये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, एक दिन कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर वनमें सो रहे थे, उसी समय रोते हुए हरिन लोग उनके पास आए। उनको रोते हुए हाथ जोडे खडे देख राजाधिराज धर्मराजने पूंछा कि तुम लोग कौन हो? और हमसे क्या कहना चाहते हो? सो कहो। (१-३)

महायशस्वी कुन्तीपुत्र पाण्डवश्रेष्ठ धर्मराजके वचन सुन हरिन बोले, हे महाराज! हे भारत! हम लोग हरिण हैं, आपने जबसे इस वनमें वास किया है, तबसे हमारी जाति नष्ट होगई, इसलिये आप दूसरे वनमें निवास कीजिये; आपके भाई लोग शूर, वीर और शस्त्र विद्याके जाननेवाले हैं, उन्होंने वनमें रहनेवाले जन्तुवोंको नाश कर दिया है; हे महामते! अब हम लोग बीजमात्र रह गये हैं; इस लिये आप! कृपा कीजिये; हे राजेन्द्र युधिष्ठिर आपकी कृपासे हम फिर भी बढ जायंगे। (४—७)

तान्वेपमानान्वित्रस्तान्बीजमात्रावशोषितान् ।
मृगान्दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥
तांस्तथेत्यब्रवीद्राजा सर्वभूतहिते रतः ।
यथा भवंतो ब्रुवते करिष्यामि च तत्तथा ॥ ९ ॥
इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यंते राजसत्तमः ।
अब्रवीत्सहितान्भ्रातॄन्दयापन्नो मृगान्प्रति ॥ १० ॥
उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नांते हतशेषितैः ।
तंतुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११ ॥
ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयाऽस्माभिर्वनौकसाम् ।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेनानुपयुंक्ष्महे ॥ १२ ॥
पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम् ।
मरुभूमेः शिरस्थानं तृणबिंदुसरः प्रति ॥ १३ ॥
तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरंतो रमेमहि ।
ततस्ते पांडवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणैः सहिता राजन्ये च तत्र सहोषिताः ।
इंद्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १५ ॥

सब प्राणियोंका हित करनेवाले महाराज धर्मराजने जब उन हरिनोंको कांपते डरते और थोडा देखा, तो बहुत दुःखसे भरकर कहने लगे कि तुम लोग जैसा कहते हो हम वैसाही करेंगे। ऐसा स्वप्न देखकर राजोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर प्रातःकाल उठे, और अपने भाइयोंको बुलाकर हरिनोंके ऊपर कृपा करके कहने लगे कि हमसे स्वप्नमें हरिनोंने ऐसा ऐसा कहा है, हमारा वंश नष्ट होगया अब आप हमारे ऊपर कृपा कीजिये, उन्होंने सत्यही कहा है, हम लोगोंको वनमें रहनेवाले जन्तुओं पर कृपा करनी चाहिये; हम लोगोंको अब एक वर्ष और आठ महीने इस वनमें रहते होगए, तबसे हम इन्हीं हरिणोंको खारहे हैं। (८-१२)

अब हम लोग फिर मरु देशमें उत्तम काम्यक वनको चलें, वह वन बहुत रमणीय तथा बहुत हरिन और घाससे भरा हुआ है; उसमें जो बिन्दुसर नामक तलाव है, उसके तटपर विहार करके हम लोग शेष समयको बिता देंगे। धर्मराजकी आज्ञा सुन, धर्म जानने वालोंमें श्रेष्ठ पाण्डव लोग, ब्राह्मण, सङ्ग रहनेवाले इन्द्रसेनादिक सारथी और दूतोंके सहित वहांसे चल दिये, वे लोग

ते यात्वाऽनुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः।
ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तपसा युतम् ॥ १६ ॥
विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा।
तद्वनं भरतश्रेष्ठाः सर्वं सुकृतिनो यथा ॥ १७ ॥ [९८२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि मृगस्वप्नोद्भवपर्वणि काम्यकप्रवेशे अष्टपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८॥ समाप्तं च मृगस्वप्नोद्भवपर्व।

अथ व्रीहिद्रौणिकपर्व।

वैशंपायन उवाच— वने निवसतां तेषां पांडवानां महात्मनाम्।
वर्षाण्येकादशाऽतीयुःकृच्छ्रेण भरतर्षभ ॥ १ ॥
फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम्।
प्राप्तकालमनुध्यांतः सेहिरे वरपूरुषाः ॥ २ ॥
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम्।
चिंतयन्स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥
न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवाऽर्पितैः।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत्काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥
संस्मरन्परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पांडवः।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत्कोपविषं महत् ॥ ५ ॥

पवित्र, शुद्ध और जलसे भरे हुए मार्गों से चलते चलते पवित्र और तपस्वियोंके स्थान काम्यक वनमें पहुंचे। जैसे पुण्यात्मा लोग स्वर्गमें प्रवेश करते हैं, तैसे ही भरतकुलश्रेष्ठ पाण्डवोंने, ब्राह्मणोंके सहित काम्यक वनमें प्रवेश किया। १३–१७

वनपर्वमें दोसौ अठावन अध्याय और मृगस्वप्नोद्भव पर्व समाप्त। [९८२८]

दोसौ उनसठ अध्याय और व्रीहिद्रौणिक पर्व।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! महात्मा पाण्डवोंको वनमें बसते और दुःख सहते ग्यारह वर्ष बीत गये, सुख करने योग्य पाण्डवोंने फल और मूल खाकर तथा दुःख सहकर इन ग्यारह वर्षोंको व्यतीत किया। महात्मा पाण्डव लोग अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपने उचित समयको विचारकर दुःख सहते रहे। महाबाहु राजऋषि युधिष्ठिर अपने कर्मका अपराध और अपने भाइयोंका दुःख देखकर कभी सुखसे नहीं सोते थे। उनको जुएसे उत्पन्न हुए दुःखोंके विचार करनेसे ऐसी पीडा होती थी, जैसे हृदयमें बाण लगनेसे। (१–४)

जिस समय महाराजको कर्णके कठोर

अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी ।
स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरमुदीक्षंतः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ।
अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ॥ ७ ॥
वपुरन्यदिवाऽकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
आजगाम महायोगी पांडवानवलोककः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ।
तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेंद्रियः ॥ १० ॥
तोषयन्प्रणिपातेन व्यासं पांडवनंदनः ।
तानवेक्ष्य कृशान्पौत्रान्वने वन्येन जीवतः ॥ ११ ॥
महर्षिरनुकंपार्थमब्रवीद्बाष्पगद्गदम् ।
युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ॥ १२ ॥
नाऽतप्ततपसो लोके प्राप्नुवंति महासुखम् ।
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ॥ १३ ॥

वचन स्मरण होते थे, उस समय दीन होकर स्वास लेते थे, और क्रोधके विष से व्याकुल हो जाते थे । अर्जुन, नकुल, सहदेव, यशस्विनी द्रौपदी और महातेजस्वी तथा सबसे अधिक बली भीम युधिष्ठिर के मुखको देखकर दुःख सहते थे! पुरुषसिंह पाण्डव लोग अपने अच्छे समय को आता हुआ देख, अपने समयको उत्साह और क्रोधसे बिता रहे थे। ५-८

उसी समय सत्यवतीके पुत्र महा योगी पाण्डवोंके देखनेकी इच्छावाले, व्यासदेव आए। महात्मा व्यासको आते देख कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर खडे होगये, और उनको विधिपूर्वक आसन दिया। उनको बिठलाकर जितेन्द्रिय धर्मराजभी उनसे कथा सुननेकी इच्छा करके उनके पास बैठ गये। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने हाथ जोडकर व्यासमुनि की स्तुति करी। ८-११

पाण्डवोंको दुर्बल और फलमूल खाते हुए देखकर महाऋषि व्यासको बहुत दया आई, और रोकर कहने लगे, हे युधिष्ठिर ! हे महाबाहो ! हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! तुम हमारे वचनोंको सुनो, विना तप किये कोई पुरुष लोकमें सुख नहीं पाता है; प्रायः सब लोग सुख और दुःखहीमें पडे रहते हैं । कैसा भी

न ह्यनंतं सुखं कश्चित्प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ॥ १४ ॥
उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति ।
सुखमापतितं सेवेद्दुःखमापतितं वहेत् ॥ १५ ॥
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विंदते महत् ॥ १६ ॥
नाऽसाध्यं तपसः किंचिदिति बुध्यस्व भारत ।
सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ॥ १७ ॥
अनसूयाऽविहिंसा च शौचमिंद्रियसंयमः ।
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ १८ ॥
अधर्मरुचयो मूढा स्तिर्यग्गतिपरायणाः ।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्ता न सुखं विंदते जनाः ॥ १९ ॥
इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपयुज्यते ।
तस्माच्छरीरं युंजीत तपसा नियमेन च ॥ २० ॥
यथाशक्ति प्रयच्छेत संपूज्याऽभिप्रणम्य च ।

बुद्धिमान क्यों न हो, और कैसा भी विद्वान् क्यों न हो कोई भी अनन्त सुखको प्राप्त नहीं होता, इस लिये उदय और अस्तको जाननेवाला पण्डित न सोचता है और न प्रसन्न होता है; इस लिये पुरुषको उचित है कि, सुख और दुःखके समयको विता दे। (११–१५)

जैसे किसान समयके अनुसार सब काम करता है तैसेही सबको करना चाहिये! तपसे अधिक और कोई वस्तु नहीं है। तपसे मोक्ष प्राप्त होती है, हे भारत! ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो तपसे न मिल सके। हे युधिष्ठिर! महात्माओंने धर्मके ये लक्षण कहे हैं—सत्य कोमलता, क्रोध न करना, दान, दम, शम, किसीके सुखको देखकर दुःखी न होना, हिंसा न करना, पवित्रता और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना, हे महाराज! यही धर्मके दश लक्षण हैं; इन्हींसे महात्मा लोग पवित्र होते हैं। १६-१८

अधर्मी पापी और मूर्ख लोग इन दशोंका आदर नहीं करते हैं; इसीसे वे लोग नीच योनियोंमें जन्म लेते हैं और सुखको प्राप्त नहीं होते। इस लोकमें जो कर्म करता है, वही पर लोकमें प्राप्त होता है; इस लिये शरीरको तप और नियमोंसे युक्त रखना चाहिये, पुरुषको उचित है, कि अच्छा समय प्राप्त होनेपर

काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन्विगतमत्सरः ॥ २१ ॥
सत्यवादी लभेताऽऽयुरनायासमथाऽऽर्जवम् ।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ॥ २२ ॥
दांतः शमपरः शश्वत्परिक्लेशं न विंदति ।
न च तप्यति दांतात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २३ ॥
संविभक्ता च दाता च भोगवान्सुखवान्नरः ।
भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २४ ॥
मान्यमानयिता जन्म कुले महति विंदति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेंद्रियः ॥ २५ ॥
शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात्कल्याणमतिरेव सः ॥ २६ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भगवन्दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किंस्विद्बहुगुणं प्रेत्य किंवा दुष्करमुच्यते ॥ २७ ॥
व्यास उवाच — दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २८ ॥

प्रसन्न होकर, और दुष्टताको त्यागकर प्रणाम और पूजा करे, शक्तिके अनुसार दान करे। (१९–२१)

सत्यवादीकी आयु अधिक होती है, वह अनायासही कोमलताको प्राप्त कर लेता है, क्रोध और द्रोह रहित पुरुष शीघ्रही विरक्त हो जाता है, जितेन्द्रिय और शान्त पुरुषको कभी क्लेश नहीं होता। जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह दूसरेकी लक्ष्मीको देखकर दुःखी नहीं होता, जो अन्नका विभाग और दान करता है, वह सदा सुखी रहता है, हिंसा न करनेवाले पुरुषको कभी रोग नहीं होता। (२१–२४)

जो मानने योग्य पुरुषको मान्य करता है, वह उत्तम कुलमें उत्पन्न होता है, जितेन्द्रियको कभी कोई दुःख नहीं होता। जो नियमके अनुसार अपनी बुद्धिको अच्छी करता है, वह उसही उत्तम बुद्धिके प्रभावसे अच्छे कुलमें जन्म लेता है, और उसकी बुद्धिभी अच्छी होती है। महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भगवन् ! हे महामुने ! दान धर्म और तपमें कौन अधिक गुणवाला है? और कौन अधिक कठिन है? २५–२७

श्री व्यासदेव बोले, हे तात ! पृथ्वीमें दानसे कठिन और कोई धर्म नहीं है, क्योंकि पृथ्वीमें पुरुषोंको धनका

परित्यज्य प्रियान्प्राणान्धनार्थं हि महामते।
प्रविशंति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ॥ २९ ॥
कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यंति मानवाः।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छंति धनार्थिनः ॥ ३० ॥
तस्माद्दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः।
न दुष्करतरं दानात्तस्माद्दानं मतं मम ॥ ३१ ॥
विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम्।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ ३२ ॥
अन्यायात्समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात ॥ ३३ ॥
पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्याऽनंतफलं स्मृतम् ॥ ३४ ॥
अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद्यत्फलं प्राप मुद्गलः ॥ ३५ ॥ [९८६३]

इति श्रीमहा० पर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्वकथन ऊनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५९॥

युधिष्ठिर उवाच— व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना।

बहुत लोभ रहता है और वह धन बहुत कठिनाईसे प्राप्त होता है। देखो अपने प्यारे प्राणोंकी आशा छोडकर समुद्र और जङ्गलोंमें घुस जाते हैं। हे महामते! कोई पुरुष धनकी इच्छासे खेती और गोरक्षा करते हैं, कोई धनके लोभसे मार्गोंमें दौडते हैं। और उस दान धर्ममें, उसी दुःखसे उत्पन्न हुए धनको त्यागना होता है, इससे हमारी बुद्धिमें दानके समान कोई कठिन धर्म नहीं है तथा उत्तम देशमें सत्पात्रका दिया जाता है, वही उत्तम दान कहाता है। (२८ — ३२)

जो अन्यायसे उत्पन्न हुआ धन दान दिया जाता है, वह देनेवालेको दुःखसे नहीं छुडा सकता है। हे युधिष्ठिर! जो थोडाभी दान उत्तम समयमें सुपात्रको दिया जाता है, और उस समय मन शुद्ध होता है, तो वह दान देनेके पश्चात् अनन्त फलको देता है। यहां हम एक पुराना इतिहास तुमसे कहते हैं, जो द्रौणि धान देनेसे मुद्गलको फल मिला था सो तुम सुनो। (३३-३५)

वनपर्वमें दोसौ उनसठ अध्याय समाप्त। ९८६३

—

वनपर्वमें दोसौ सांठ अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भगवन्!

कस्मै दत्तश्च भगवन्विधिना केन चाऽऽत्थ मे ॥ १ ॥
प्रत्यक्षधर्मा भगवान्यस्य तुष्टो हि कर्मभिः ।
सफलं तस्य जन्माऽहं मन्ये सद्धर्मचारिणः ॥ २ ॥
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संयतेंद्रियः ।
आसीद्राजन्कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः ॥ ३ ॥
अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः ॥ ४ ॥
सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह ।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत् ॥ ५ ॥
दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन्विगतमत्सरः ।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम् ॥ ६ ॥
तस्येंद्रः सहितो देवैः साक्षात्त्रिभुवनेश्वरः ।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि ॥ ७ ॥
स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः ।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ८ ॥

महात्मा मुद्गलने किस विधिसे और कौनसे समयमें किसको एक द्रोणी धान दान किया था । जिस महात्माके दान धर्मसे साक्षात् धर्मरूपी भगवान् प्रसन्न हुए, हम उनके जन्मको धन्य मानते हैं । (१-२)

श्रीव्यासदेव बोले, हे राजन् ! कुरुक्षेत्रमें मुद्गल नामक ब्राह्मण थे । वह जितेन्द्रिय शीलोञ्छ वृत्तिवाले सत्यवादी डाह रहित, अतिथिसेवक और क्रियावान् थे । उनकी वृत्ति कबूतरके समान थी, अर्थात् अधिक संग्रह नहीं करते थे । महा तपस्वी मुद्गल इष्टी नामक यज्ञ करते थे । वे स्त्री और पुत्रोंके सहित एक पक्षमें भोजन करते थे । वह कबूतरकी वृत्तिसे; एक द्रोणी धान इकट्ठा करते थे, उसीसे छलरहित होकर पूर्णमासी और अमावसको यज्ञ करते थे, शेष अतिथि और देवतोंको देते थे, उनको देकर उस से जो बचता था, उसे खाकर वह अपने शरीरका निर्वाह करते हैं । (३ – ६)

महाभाग मुद्गलके आश्रमपर सब पर्वोंमें तीन लोकके स्वामी साक्षात् इन्द्र आते थे, महात्मा मुद्गल मुनि शीलोञ्छ वृत्ति करके सब पर्वोंमें यज्ञ समाप्त करके अतिथियोंको अन्न दिया करते थे, और दान करते समय परम प्रसन्न रहते थे ।

व्रीहिद्रोणस्य तद्वयस्य ददतोऽन्नं महात्मनः ।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धत्यतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥
तच्छतान्यपि भुंजंति ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ।
मुनेस्त्यागविशुद्ध्या तु तदन्नं वृद्धिमर्च्छति ॥ १० ॥
तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं संशितव्रतम् ।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाऽभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥
बिभ्रच्चाऽनियतं वेषमुन्मत्त इव पांडव ।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन्विविधा मुनिः ॥ १२ ॥
अभिगम्याऽथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः ।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥
स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिपाद्याऽर्घ्यमुत्तमम् ॥ १४ ॥
प्रादात्स तापसायाऽन्नं क्षुधितायाऽतिथिव्रती ।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥
ततस्तदन्नं रसवत्स एव क्षुधयाऽन्वितः ।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात्तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥
भुक्त्वा चाऽन्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनाऽऽत्मनस्ततः ।

महात्मा मुद्गलका एक द्रोणी धान, अतिथियोंको देखकर बढ जाता था, वे दुष्टतासे रहित थे, इसीसे उनके एक द्रोणी अन्नमें सौ पण्डित ब्राह्मण भोजन कर लेते थे । मुनिके त्याग बलसे वह अन्न बढता जाता था । (७–१०)

इस प्रकार दान करनेवाले उत्तम वृत्तिधारी महात्मा मुद्गलका नाम सुन कर दिग्वासा दुर्वासा उनके पास आए। हे पाण्डव! दुर्वासाने अद्भुत पागलका वेष बनाया, और अनेक प्रकारकी कठोर वाणी बोलते हुए आए और कहने लगे, हे द्विजोत्तम ! हम अन्नकी इच्छा करके तुम्हारे पास आए हैं । (११–१३)

महामुनि मुद्गलने कहा, कि आपने बहुत अच्छा किया । ऐसा कहकर दुर्वासाको पाद्य, अर्घ और आचमन दिया । उसके पश्चात् भूखे दुर्वासाको अतिथिव्रती मुद्गलने अन्न दिया, और व्रतधारी मुद्गलने उस पागलमें परम श्रद्धा करी । फिर पागलरूपधारी दुर्वासाने, वह स्वाद भरा अन्न सब खालिया । भोजन करनेसे जो अन्न बच रहा उसको उस पागलने अपने शरीरमें लगा लिया, और फिर

अथांऽगं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः ॥ १७ ॥
एवं द्वितीये संप्राप्ते यथाकाले मनीषिणः ।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥
निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः ।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥
न क्रोधो न च मात्सर्यं नाऽवमानो न संभ्रमः ।
सपुत्रदारमुञ्छं तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥
तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम् ।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥
न चाऽस्य मनसा कश्चिद्विकारं ददृशे मुनिः ।
शुद्धसत्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥
तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं तदा ।
त्वत्समो नाऽस्ति लोकेऽस्मिन्दाता मात्सर्यवर्जितः॥२३॥
क्षुद्धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च ।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान्प्रति ॥ २४ ॥
आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

जिधरसे आया था उधरहीको चला गया। (१४—१७)

इस प्रकार जब बुद्धिमान् उञ्छ-वृत्ति मुद्गलने दूसरे पक्षमें यज्ञ किया तो फिर उसी प्रकारसे दुर्वासा आए, और सब अन्न खागये। तब महात्मा मुद्गल भूखेही रहकर, उञ्छवृत्ति करने लगे। इस प्रकार भूखा रहने पर भी कार्य कर-नेसे भी भूख उनको दुःख न दे सकी। महात्मा मुद्गलको क्रोध, दुष्टता, अभि-मान और बुद्धि भ्रम भी न हुआ; स्त्री पुत्र भी भूखे रहने लगे! (१८-२०)

इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाने छैवार मुद्गलका सब अन्न खा लिया; परन्तु शुद्ध मुद्गलके मनमें कुछ भी विकार न देखा, वरन उनका मन सदा शुद्धही पाया। तब महात्मा दुर्वासा प्रसन्न हो-कर मुद्गलसे बोले, कि इस लोकमें तु-म्हारे समान शुद्ध दानी कोई नहीं है। (२१-२३)

तुमने अपने धैर्यसे क्षुधाका धर्म और जिह्वाकी शक्तिको जीत लिया; यह जि-ह्वा रसको चाहनेवाली है, इस लिये पुरुषको अवश्यही रसोंकी ओर खींचती है; प्राण भोजनसे स्थिर रहते हैं; मन बडा चञ्चल है; मनको एकाग्र करके,

मनसश्चेंद्रियाणां चाऽप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः॥ २५ ॥
श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा।
तत्सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥
प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह।
इंद्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ॥ २७ ॥
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम्॥२८ ॥
अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत्स्वर्गवासिभिः।
सशरीरो भवान्गंता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥ २९ ॥
इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः।
देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥
हंससारसयुक्तेन किंकिणीजालमालिना।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगंधवता तथा ॥ ३१ ॥
उवाच चैनं विप्रर्षि विमानं कर्मभिर्जितम्।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥
तमेवंवादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह।

इन्द्रियोंको वशमें रखना यही तप कहाता है; परिश्रमसे उत्पन्न किये धनको शुद्ध मनसे देना बहुत कठिन है; तुमने यह सब कर्म उचित रीतिसे किया; हम तुमसे बहुत सुखी और अनुगृहीत हुए। (२४—२७)

तुम्हारे शरीरमें इन्द्रियोंका जीतना, धैर्य, अन्नादिक बांटनेकी रीति, शम; दम, दया, सत्य और धर्म स्थित हैं, तुमने कर्मोंसे स्वर्गलोकको जीत लिया है; तुम परम गतिको प्राप्त हुए हो, तुम्हारे दानको धन्य है तुम्हारे दानकी देवता प्रशंसा करते हैं, तुम इसी शरीरसे स्वर्गको जाओगे; हे उत्तम व्रतधारी! तुम धन्य हो। (२७—२९)

जिस समय दुर्वासामुनि, मुद्गलसे ऐसा कह रहे थे, उसी समय विमानपर बैठकर देवतोंका दूत आया। वह विमान दिव्य सुगन्ध,घण्टे,घुघुरु,हंस और सारससे युक्त था, तथा इच्छा अनुसार चलता था, वह देवदूत मुद्गलसे कहने लगा कि हे महामुने! तुमने अपने कर्मों से इस विमानको प्राप्त किया है, अब इसपर बैठो तुम परमसिद्धिको प्राप्त हुए हो। (३०-३३)

तब दूतके ऐसे वचन सुन मुद्गल

इच्छामि भवता प्रोक्तान्गुणान्स्वर्गनिवासिनाम्॥३३॥
के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः।
स्वर्गे तत्र सुखं किं च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥
सतां साप्तपदं मित्रमाहुः संतः कुलोचिताः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥
यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद् ब्रवीह्यविचारयन्।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव॥ ३६॥ [९८९९]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६०॥

देवदूत उवाच— महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम्।
संप्राप्तं बहु मंतव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥
उपरिष्टाच्च स्वर्लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने ॥ २ ॥
नाऽतप्ततपसः पुंसो नाऽमहायज्ञयाजिनः।
नाऽनृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छंति मुद्गल ॥ ३ ॥
धर्मात्मानो जितात्मानः शांता दांता विमत्सराः।

मुनि बोले, हे देवदूत! हमारी इच्छा है, कि आपसे स्वर्गवासियोंके गुणको सुनें, आप कहिये स्वर्गमें रहनेवालोंमें क्या गुण हैं? उनका क्या धर्म और क्या निश्चय है? स्वर्गमें क्या सुख और क्या दोष हैं? हे विभो! हम आपको अपना मित्र जानकर ये सब बातें पूछते हैं, क्योंकि कुलीन महात्माओंने सात पदों में सज्जन मित्र होते हैं ऐसा कहा है; हमारे किये हुए प्रश्नोंका जो सत्य और उचित उत्तर हो सो कहिये, उसको सुनकर जो उचित होगा सो करेंगे। (३४-३६) [९८९९]

वनपर्वमें दोसौ साठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ एकसठ अध्याय।

देवदूत बोले, हे महर्षे! तुम्हारी बुद्धि कैसी अच्छी है, क्योंकि आप मानने योग्य परम उत्तम स्वर्गके सुखको भी मूर्खके समान विचार रहे हैं, इस लोकसे ऊपर स्वर्गलोक है उसीको स्वर्लोक भी कहते हैं। उसके ऊपर एक देवतोंका मार्ग है, उसमें सदा ही देवतोंके विमान घूमा करते हैं। हे मुद्गल! उस मार्गमें विना तप और यज्ञ किये कोई नहीं जा सकता है, वहां असत्यवादी और नास्तिककी गति नहीं है, उस स्थानपर धर्मात्मा, मनको वशमें करनेवाले, शान्त, जितेन्द्रिय, साधु,

दानधर्मरताः पुंसः शूराश्चाऽऽहवलक्षणाः ॥ ४ ॥
तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम् ।
लोकान्पुण्यकृतां ब्रह्मन्सद्भिराचरितान्नृभिः ॥ ५ ॥
देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः ।
यामा धामाश्च मौद्गल्य गंधर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६ ॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः ।
भास्वन्तः कामसंपन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥ ७ ॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः ।
मेरुः पर्वतराज्यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥
नंदनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा॥ ९ ॥
बीभत्समशुभं वापि तत्र किंचिन्न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतो गंधाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥ १० ॥
शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नाऽऽयासपरिदेवने ॥ ११ ॥
ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः संभवंत्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥

दान, धर्म करनेवाले और युद्धमें मरे हुए वीरलोग जाते हैं; वहां शम और दमरूपी धर्म करनेसे उत्तम कर्म करनेवाले महात्मा लोग जाते हैं। (४-५)

हे ब्रह्मन् ! देवता, साध्य, विश्वेदेव, महर्षि,याम, धाम, गन्धर्व और अप्सरादि देवजातियोंके लोक भिन्न भिन्न हैं। वे सब लोक परम प्रकाशमान सब सुख और तेजोंसे भरे हुए परम सुन्दर हैं। वहां तैंतीस हजार योजन विस्तृत मेरु पर्वत और देवतोंकी अनेक वाटिका हैं, वह मेरु पर्वत सोनेका है। उसके ऊपर नन्दन आदि अनेक बाग लगे हैं, उनमें पुण्य कर्म करनेवाले महात्मा लोग विहार करते हैं, वहां भूख, प्यास, ग्लानि, शीत और गर्मी कुछ नहीं है,वहां भयानक और अशुभ कुछ नहीं है। वहां बहुत अच्छी सुगन्धि आती है; वहांका वायु बहुत शीतल है। (६-१०)

वहांके शब्द कानको बहुत प्यारे लगते हैं। स्वर्गमें शोक, जरा,पश्चात्ताप और दुःख नहीं है। हे मुने! स्वर्गलोक ऐसा है, उसको महात्मा अपने कर्मसे प्राप्त कर सकते हैं, वहांके रहनेवालोंके शरीर

तैजसानि शरीराणि भवंत्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥ १३ ॥
न संस्वेदो न दौर्गंध्यं पुरीषं मूत्रमेव च ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥
न म्लायंति स्रजस्तेषां दिव्यगंधा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ॥ १५ ॥
ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयंते महामुने ॥ १६ ॥
तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुंगव ।
उपर्युपरि लोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ॥ १७ ॥
पुरस्ताद्ब्रह्मणस्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः ।
यत्र यांत्यृषयो ब्रह्मन्पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥१८॥
ऋभवो नाम तत्राऽन्ये देवानामपि देवताः ।
तेषां लोकात्परतरे यान्यजंतीह देवताः ॥ १९ ॥
स्वयंप्रभास्ते भास्वंतो लोकाः कामदुघाः परे ।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥

कर्मके अनुसार अग्निसे होते हैं । वहां कोई माता और पितासे उत्पन्न नहीं होता । वहां किसीको पसीना, दुर्गन्धि, विष्ठा, मूत्र और रज नहीं होते । वहां देवतोंकी दिव्य गन्धवाली और मनोहर माला कभी कुम्हलाती नहीं है, हे ब्राह्मण ! स्वर्गवासी लोग दिव्य विमानोंपर बैठकर घूमते हैं । (११–१५)

वहां दाह, शोक, थकाई, मोह और दुष्टता किसीको नहीं है । हे महामुने ! उस स्वर्गमें महात्मा लोग निवास करते हैं, हे मुनिराज ! इस प्रकार एक लोकके ऊपर दूसरा लोक है, जो जिसके ऊपर है वह अपने नीचेवाले लोकसे सुन्दर और अधिक गुणवान् है । हे ब्रह्मन् ! उन सबके आगे ब्रह्माके लोक परम सुन्दर और तेजसे भरे हैं । उन्हींमें अपने शुभ कर्मोंसे पवित्र होकर ऋषि लोग जाते हैं । (१६—१८)

उस स्थानमें ऋभु नामक देवता रहते हैं, वे देवतोंके भी देवता हैं; उनके लोकसे ऊपर भी कोई लोक हैं । देवता भी उनकी पूजा करते हैं, वे सब लोक अपनेही तेजसे प्रकाशमान रहते हैं, उनमें सब सिद्धि प्राप्त होती है, उनमें रहनेवालोंको स्त्री, धन और किसी वस्तु

न वर्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाऽप्यमृतभोजनाः।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ॥ २१
न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः।
न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥
जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥
देवानामपि मौद्गल्य कांक्षिता सा गतिः परा।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥
त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः।
गम्यंते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः ॥ २५ ॥
सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया।
तां भुंक्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः ॥ २६ ॥
एतत्स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे॥ २७॥
कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत्फलं दिवि।
न चाऽन्यत्क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते ॥ २८ ॥

का दुःख नहीं है, वे लोग कभी आहुति से उपजीवन नहीं करते और न अमृत भोजन करते हैं; उनलोगोंका शरीर दिव्य हैं, उसको कोई नहीं देख सकता है, उन्हें सुखकी कुछ इच्छा नहीं है, वे लोग देवतोंके देवता और सनातन हैं; फलके अन्तमें महा प्रलय होनेसेभी उनका शरीर नष्ट नहीं होता उनको बुढापा, मृत्यु, सुख, प्रीति, दुःख, रोग और द्वेष कुछ नहीं है। (१९–२३)

हे मुद्गल! देवता लोग भी उस गतिकी इच्छा करते हैं, वह गति परम दुर्लभ और अगोचर है, ये तैंतीस प्रकारके देवता हैं, जिनके लोकोंमें बुद्धिमान् दानी लोग विधिपूर्वक अच्छे कर्म, नियम और दान करके जाते हैं, वही दानियोंकी उत्तम गति तुमको प्राप्त हुई है। अब तुम अपने तपके तेजसे प्रकाशमान होकर उस सुखको भोग करो। हे विप्र! यही स्वर्गादि उत्तम लोकोंके सुख है, हमने स्वर्गके गुण तुमसे कहे; आगे स्वर्गके दोषोंका वर्णन करते हैं। (२४–२७)

हे मुद्गल! पुरुष स्वर्गमें जाकर कर्मोंका जो कुछ फल भोगता है उसके आगे और कुछ नहीं कर सकता, इससे

सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यांते पतनं च यत् ।
सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल ॥ २९ ॥
असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः ।
यद्भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत्सुदुष्करम् ॥ ३० ॥
संज्ञा मोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम् ।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम् ॥ ३१ ॥
आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः ।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम् ॥ ३२ ॥
अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने ।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते ॥ ३३ ॥
तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते ।
न चेत्संबुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः ॥ ३४ ॥
इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्फलभूमिरसौ मता ॥ ३५ ॥
मुद्गल उवाच — महांतस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्तिताः ।
निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे ॥ ३६ ॥

कर्मका मूलच्छेद हो जाता है, कर्म नष्ट होनेसे वह मनुष्य पुनः पृथ्वीमें गिरा दिया जाता है; यही स्वर्गका बडा भारी दोष है, और असन्तोष, दूसरेकी परम लक्ष्मीको देखकर दाह होना, तथा नीचे स्थानमें जन्म होना ये ही परम दोष हैं। वहांसे जो गिराया जाता है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, और वह रजोगुणसे भर जाता है। जिस समय किसीके स्वर्गसे गिरनेके दिन आते हैं, तब उसकी माला सूखने लगती है, उसी दिनसे उसको अपने गिरनेका भय होजाता है। (२८-३१)

हे मुद्गल ! ये दारुण दुःख ब्रह्मादिक देवतोंके लोकको भी होते हैं और इनको छोडकर स्वर्गमें एक और भी परम श्रेष्ठ गुण है कि जो वहांसे गिराया जाता है, उसका जन्म मनुष्यके यहां होता है, मनुष्यमेंभी वह महाभागी और सुखी होता है; यदि वहां उसने अच्छा कर्म न किया तो परम नीचताको प्राप्त होता है। हे ब्राह्मण ! यह कर्म-भूमि है और स्वर्ग को फलभूमि कहते हैं। (३२-३५)

मुद्गल बोले, हे देवदूत ! तुमने स्वर्ग लोकके बहुत दोष वर्णन किया, अब जो निर्दोष लोक हो, उसका वर्णन हमसे

देवदूत उवाच —ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् ।
शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद्विदुः ॥ ३७ ॥
न तत्र विप्र गच्छंति पुरुषा विषयात्मकाः ।
दंभलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः ॥ ३८ ॥
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वंद्वाः संयतेंद्रियाः ।
ध्यानायोगपराश्चैव तत्र गच्छंति मानवाः ॥ ३९ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल ।
तवाऽनुकंपया साधो साधु गच्छाम मा चिरम् ॥४०॥
व्यास उवाच —एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया ।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ॥ ४१ ॥
देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम् ।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा ॥ ४२ ॥
पतनांते महादुःखं परितापः सुदारुणः ।
स्वर्गभाजश्चरंतीह तस्मात्स्वर्गं न कामये ॥ ४३ ॥
यत्र गत्वा न शोचंति न व्यथंति चलंति वा ।
तदहं स्थानमत्यंतं मार्गयिष्यामि केवलम् ॥ ४४ ॥

कीजिये । देवदूत बोले, हे ब्राह्मण ! ब्रह्मलोकसे ऊपर विष्णुपद है, वह शुद्ध सनातन और ज्योतिस्वरूप है उसको परब्रह्म कहते हैं वहां कोई विषयी, पाखण्डी, लोभी, क्रोधी, मोह और द्रोहसे भरा हुआ पुरुष नहीं जाता है । परन्तु ममता, अहंकार और वैररहित महात्मा जाते हैं । हमने तुमसे यह सब कहा । हे साधो ! तुमने कृपाकर हमसे जो पूछा सो सब हमने कहा अब तुम चलनेमें विलम्ब मत करो । (३७–४०)

श्रीव्यासदेव बोले, देवदूतके ऐसे वचन सुन मुद्गल मुनि अपनी बुद्धिसे विचार करने लगे, और विचार कर देवदूतसे बोले, हे देवदूत ! हम तुमको प्रणाम करते हैं, तुम्हारी जहां इच्छा हो वहांको चले जाओ, हम ऐसे दोषोंसे भरे हुए स्वर्गमें जाना नहीं चाहते, हम ऐसे सुखसे सम्बन्ध नहीं रखते जहांसे गिरनेके समय महा दुःख और घोर पश्चात्ताप हो; ऐसे स्थानमें नहीं जाना चाहिये, (हम अपने वनहीको स्वर्ग समझते हैं,) यहां अनेक स्वर्गवासी देवता घूमनेको आते हैं, जहां जाकर कोई सोच और व्यथा नहीं होती है, जहांसे कभी कोई नहीं गिरता हम

इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम् ।
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ॥ ४५ ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकांचनः ।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥ ४६ ॥
ध्यानयोगाद्बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम् ।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम् ॥ ४७ ॥
तस्मात्त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि ।
राज्यात्स्फीतात्परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ॥ ४८ ॥
सुखस्याऽनंतरं दुःखं दुःखस्याऽनंतरं सुखम् ।
पर्यायेणोपसर्पंते नरं नेमिमरा इव ॥ ४९ ॥
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५० ॥
वैशम्पायन उवाच—स एवमुक्त्वा भगवान्व्यासः पांडवनंदनम् ।
जगाम तपसे धीमान्पुनरेवाऽऽश्रमं प्रति ॥ ५१ ॥ [९९५०]

इति श्रीमहा० शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलदेवदूतसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥ समाप्तं च व्रीहिद्रौणिकपर्व ॥

उसी स्थानमें जाना चाहते हैं। ऐसा कहकर मुद्गलने देवदूतको विदा किया और आप धर्मपूर्वक शिलोञ्छ वृत्ति करने लगे। (४१—४५)

फिर स्तुति, निन्दा, ढेला, काठ, पत्थर और सोनेको समान ही समझने लगे। इस प्रकार ज्ञान ध्यान और योगसे पवित्र होकर कुछ कालमें पवित्र बुद्धि प्राप्त करके सनातन मोक्षको प्राप्त हुए। (४६–४७)

हे कौन्तेय ! अब आपभी शोकको परित्याग कीजिये, आप राज्यसे भ्रष्ट हुए हैं, परन्तु फिर उसी राज्यको तपके बलसे पावेंगे। पुरुषको सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात् सुख हुआ ही करता है, ये दोनों इस प्रकार घूमते हैं जैसे रथके पहिये। हे महापराक्रमी ! तेरह वर्षके पश्चात् तुम अपने वंशके राज्यको प्राप्त करोगे, अब तुम अपने मनके दुःखको दूर करो। (४८–५०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भगवान् बुद्धिमान् व्यासदेव युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर तप करने की इच्छासे फिर अपने आश्रमको चले गये। (५१)[९९५०]

वनपर्वमें दोसौ एकसठ अध्याय और व्रीहिद्रौणिक पर्व समाप्त।

अथ द्रौपदीहरणपर्व ॥

जनमेजय उवाच—वसत्स्वेवं वने तेषु पांडवेषु महात्मसु ।
रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ॥ १ ॥
सूर्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि ।
ब्राह्मणांस्तर्पमाणेषु ये चाऽन्नार्थमुपागताः ॥ २ ॥
आरण्यानां मृगाणां च मांसैर्नानाविधैरपि ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्योधनादयः ॥ ३ ॥
कथं तेष्वन्ववर्तंत पापाचारा महामुने ।
दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः ॥ ४ ॥
एतदाचक्ष्व भगवन्वैशंपायन पृच्छतः ।
वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव ॥ ५ ॥
दुर्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् ।
तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः ॥ ६ ॥
नानोपायैरघं तेषु चिंतयत्सु दुरात्मसु ।
अभ्यागच्छत्स धर्मात्मा तपस्वी सुमहायशाः ॥ ७ ॥
शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम् ॥ ८ ॥

दोसौ बासठ अध्याय और द्रौपदीहरण पर्व।

राजा जनमेजय बोले, हे द्विजोत्तम! जब महात्मा पाण्डव लोग इस प्रकार वनमें रहकर मुनियोंसे विचित्र कथा सुनते हुए विहार करते थे, और सूर्यकी दी हुई अक्षयस्थालीके बने हुए अन्नसे द्रौपदीके खानेतक ब्राह्मण और अतिथियोंको तृप्त करते थे, तथा वनमें उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके हरिनोंका मांस खाकर रहते थे। तब दुःशासन, कर्ण और शकुनीके वचनोंमें रहनेवाले दुरात्मा दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके सङ्ग कैसा वर्त्ताव किया? हे वैशम्पायन! हे महामुने! हे भगवन्! आप इन सब कथाओंको हमसे कहिये। (१—५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! जब दुर्योधनने पाण्डवोंकी वृत्ति नगर वासियोंके समान सुनी, तो उनकी ओर से अपने चित्तमें पाप धारण किया। उसी प्रकार कपटी दुरात्मा कर्ण और दुःशासनादिकोंके सङ्ग अनेक प्रकारसे दुष्ट संमती करने लगा। उसी समय महा तपस्वी महायशस्वी धर्मात्मा दुर्वासा मुनि अपने दश सहस्र शिष्योंके सहित आए।

दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च ।
सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमंत्रयत् ॥ ९ ॥
विधिवत्पूजयामास स्वयं किंकरवत्स्थितः ।
अहानि कतिचित्तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः ॥ १० ॥
तं च पर्यचरद्राजा दिवारात्रमतंद्रितः ।
दुर्योधनो महाराज शापात्तस्य विशंकितः ॥ ११ ॥
क्षुधितोऽस्मि ददस्वाऽन्नं शीघ्रं मम नराधिप ।
इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात् ।
न भोक्ष्याम्यद्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम्॥१२॥
अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयाऽस्मांस्त्वरान्वितः ।
कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः॥ १३ ॥
पूर्ववत्कारयित्वाऽन्नं न भुंक्ते गर्हयन्स्म सः ।
वर्तमाने तथा तस्मिन्यदा दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः ।
आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ॥ १५ ॥
वरं वरय भद्रं ते यत्ते मनसि वर्तते ।

महा क्रोधी दुर्वासाको देख दुर्योधन बहुत नम्र भावसे अपने भाईयोंके सहित खडे हो गये, और उनका अतिथिके समान सत्कार किया । (६—९)

राजा दुर्योधन आपही सेवकके समान उनकी सेवा करने लगे । दुर्वासा मुनि कई दिनतक वहां ही रहे । दुर्योधन उनके शापसे डरकर दिन रात आलसरहित होकर दुर्वासा मुनिका सत्कार करते रहे । कभी दुर्वासा मुनि कहते थे, कि हे नराधिप ! हमको भूख लगी है, खानेको दो । ऐसा कहकर स्नान करनेको जाते थे, और वहांसे बहुत विलंब करके लौटते थे; आकर राजासे कह देते थे कि हमको भूख नहीं है, हम नहीं खायंगे । कभी अकस्मात् कहते थे; कि हमको शीघ्र भोजन कराओ! कभी आधी रातको उठकर भोजन बनाकर नहीं खाते थे, और उसकी निन्दा करने लगते थे । (१०—१४)

इस प्रकार व्यवहार करनेवाले दुर्वासा मुनिकी सेवा करनेमें राजा दुर्योधनने कुछ छल और क्रोध न किया । तब दुर्वासा मुनि प्रसन्न होकर कहने लगे, हे भारत ! तुम्हारा कल्याण हो, जगत् में कोई ऐसी धर्मकी वस्तु नहीं है,

मयि प्रीते तु यद्धर्म्यं नाऽलभ्यं विद्यते तव ॥ १६ ॥

वैशंपायन उवाच---एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ॥ १७ ॥
प्रागेवं मंत्रितं चाऽऽसीत्कर्णदुःशासनादिभिः ।
याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ॥ १८ ॥
अतिहर्षान्वितो राजन्वरमेनमयाचत ।
शिष्यैः सह मम ब्रह्मन्यथा जातोऽतिथिर्भवान् ॥१९
अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः ।
वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २० ॥
गुणवाञ्शीलसंपन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव ।
यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ॥ २१ ॥
भोजयित्वा द्विजान्सर्वान्पतींश्च वरवर्णिनी ।
विश्रांता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीना भवेद्यदा ॥२२॥
तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यता मयि ।
तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्येत्येवमुक्त्वा सुयोधनम् ॥ २३ ॥
दुर्वासा अपि विप्रेंद्रो यथागतमगात्ततः ।

जो हमारे प्रसन्न होनेसे न मिल सके, अब जो तुम्हारी इच्छा हो सो हमसे मांगो हम तुम्हे देंगे । (१४—१६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाऋषि जितेन्द्रिय दुर्वासा मुनिके ऐसे वचन सुन राजा दुर्योधनने जाना कि हमारा जन्म फिर हुआ । उन्होंने पहिलेही कर्ण और दुःशासनसे, यह संमति कर रखी थी, कि दुर्वासा मुनिसे यह वरदान मांगेंगे । (१७—१८)

अनन्तर राजा दुर्योधन बहुत प्रसन्न होकर शिष्य सहित दुर्वासासे कहने लगे, हे ब्रह्मन् ! जैसे आप हमारे यहां अतिथि होकर आये हैं, तैसेही हमारे भाई महाराज युधिष्ठिरके यहां जाइये; वे हमारे कुलमें बडे, श्रेष्ठ, धर्मात्मा, गुणवान और शीलवान हैं; आज कल भाइयोंके सहित वनमें वास करते हैं । उनके यहां आप उस समय जाईयेगा, जब यशस्विनी राजपुत्री सुन्दरी द्रौपदी ब्राह्मण और अपने पतियोंको भोजन करा चुकी हों, और आपभी खाकर सुखसे बैठी हों। (१९—२३)

दुर्वासा मुनिने दुर्योधनसे कहा, कि तुम्हारी प्रीतिसे हम ऐसाही करेंगे । ऐसा कहकर दुर्वासा अपने स्थानको

कृतार्थमपि चाऽऽत्मानं तदा मेने सुयोधनः ॥ २४ ॥
करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम् ।
कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच — दिष्टया कामः सुसंवृत्तो दिष्टया कौरव वर्धसे ।
दिष्टया ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ॥ २६ ॥
दुर्वासःक्रोधजे वह्नौ पतिताः पांडुनंदनाः ।
स्वैरेव ते महापापैर्गता वै दुस्तरं तमः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच- इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन्दुर्योधनादयः ।
हसंतः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम् ॥२८॥[९९७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६२ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततः कदाचिद्दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पांडवान् ।
भुक्त्वा चाऽवस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन्वने मुनिः १
अभ्यागच्छत्परिवृतः शिष्यैरयुतसंमितैः ।
दृष्ट्वाऽऽयांतं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः ॥ २ ॥
जगामाऽभिमुखः श्रीमान्सह भ्रातृभिरच्युतः ।
तस्मै बद्धांजलिं सम्यगुपवेश्य वरासने ॥ ३ ॥

चले गये, और राजा दुर्योधनने अपने को कृतार्थ माना। तब दुर्योधनने प्रसन्न होकर कर्णका हाथ पकड लिया, कर्णभी बहुत प्रसन्न होकर भाइयोंके सहित राजा से बोले, हे कौरव ! प्रारब्धसे तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होते हैं, प्रारब्धसे तुम्हारी वृद्धि होती है, प्रारब्धसे तुम्हारे शत्रुलोग घोर दुःख सागरमें पडे हैं; अब पाण्डव लोग दुर्वासाकी क्रोधरूपी अग्निमें जल जायंगे; वे अपने किये हुए पापोंसे अपार अन्धकारमें पडेंगे। २३-२७

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् ! इस प्रकार वे दुर्योधनादिक छली लोग बहुत प्रसन्न हुए, और हंसते हंसते अपने घरको चले गये। (२८)[९९७८]

वनपर्वमें दोसौ बासठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ तिरसठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर सुखसे बैठे पांडवोंके पास दश सहस्र शिष्योंके सहित, दुर्वासा मुनि आए। उस समय द्रौपदीभी खा चुकी थी, दुर्वासा को आते देख श्रीमान् महाराज युधिष्ठिर भाइयोंके सहित खडे होगए, और हाथ जोडकर उत्तम आसन पर बिठलाया।

विधिवत्पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमंत्रयत् ।
आह्निकं भगवन्कृत्वा शीघ्रमेहीति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं शिष्यैः सहाऽनघः ।
भोजयेत्सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन् ॥ ५ ॥
न्यमज्जत्सलिले चापि मुनिसंघः समाहितः ।
एतस्मिन्नंतरे राजन्द्रौपदी योषितां वरा ॥ ६ ॥
चिंतामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता ।
सा चिंतयंती च यदा नाऽन्नहेतुमविंदत ॥ ७ ॥
मनसा चिंतयामास कृष्णं कंसनिषूदनम् ।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनंदनाऽव्यय ॥ ८ ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन ।
विश्वात्मन्विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥ ९ ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नताऽस्मि ते ॥ १० ॥
वरेण्य वरदाऽनंत अगतीनां गतिर्भव ।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥ ११ ॥

फिर उनकी यथायोग्य पूजा करके भोजन करनेको कहा, महाराज बोले, हे भगवन् ! आप नित्यकर्म करके शीघ्र लौट आइये। (१ —४)

पापरहित दुर्वासा मुनिभी शिष्योंके सहित स्नान करनेको चले गये, और मनमें विचारने लगे, कि ये हमको शिष्योंके सहित कहांसे भोजन करावेंगे? जब मुनि लोग सावधान होकर स्नान करने लगे उसी समय स्त्रियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदी उनके लिये अन्नका सोच करने लगी परन्तु कहीं अन्नका संभव न देखा। तब द्रौपदीने अपने मनसे कंस-विनाशक कृष्णका ध्यान किया। (५–८)

द्रौपदी बोली हे कृष्ण! हे महाबाहो देवकीनन्दन! हे अविनाशी ! हे वासुदेव ! हे जगन्नाथ ! हे शरणागत दुःख विनाशक! हे जगत्के आत्मा ! हे जगत्के कर्ता ! हे जगत्के नाशक ! हे नाथ! हे शरणागत पालक! हे गोपाल ! हे प्रजापाल ! हे परब्रह्म ! हे चित्तकी वृत्तियोंको चलानेवाले! मैं तुमको प्रणाम करती हूं, हे श्रेष्ठ! हे वरदान देनेवाले! हे अनन्त! तुम अशरणोंके शरण देनेवाले हो, हे पुराणपुरुष ! तुमको प्राण,

सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता ।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥ १२ ॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण ।
पीतांबरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥ १३ ॥
त्वमादिरंतो भूतानां त्वमेव च परायणम् ।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ १४ ॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसंपदाम् ।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥ १५ ॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहाऽर्हसि ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवंस्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः ।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥ १७ ॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः ।
तत्राऽऽजगाम त्वरितो ह्यचिंत्यगतिरीश्वरः ॥ १८ ॥
ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा ।
अब्रवीद्वासुदेवाय मुनेरागमनादिकम् ॥ १९ ॥

मन और इन्द्री नहीं जान सकते हैं, तुम जगत्के स्वामी हो, तुमहीको परमस्वामी कहते हैं, तुम शरणागकी रक्षा करते हो, इस लिये हम तुम्हारी शरण है तुम हमारी रक्षा करो। (८–१२)

तुम नीले कमलके समान वरणवाले, लाल कमलके समान नेत्रवाले, पीताम्बर और कौस्तुभ धारी हो, तुम्ही जगत्के आदि और अन्त हो, तुम्हीको परायण कहते हैं; तुम्ही ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हो, आप जगत्की आत्मा हो, तुम्हारे सब ओर मुख हैं तुम्ही सब जगत्के बीच हो; तुमही सब सम्पदाके स्थान हो, हे देवेश ! जो पुरुष तुमको अपना स्वामी मानता है उसको किसी आपत्ति में भय नहीं होता। जैसे पहिले तुमने मुझ को सभामें दुःशासनसे छुडाया था, तैसे ही इस कष्टसे भी उद्धार करो। १३–१६

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जगत्के स्वामी भक्तवत्सल देवतोंके देवता कृष्ण-ने द्रौपदीकी ऐसी स्तुति सुन उनके महा कष्टको जान लिया। अपने पास सेजपर बैठी हुई रुक्मिणीको छोड द्वारिकासे श्रीकृष्ण दौडे और बहुत शीघ्र द्रौपदीके पास आगए। श्रीकृष्णको देखकर द्रौपदी ने प्रसन्न होकर प्रणाम किया और

ततस्तामब्रवीत्कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः ।
शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात्सर्वं करिष्यसि ॥२०॥
निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत् ।
स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि ॥ २१ ॥
भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते ।
ततः प्रोवाच भगवान्कृष्णां कमललोचनः ॥ २२ ॥
कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणाऽऽतुरे मयि ।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानयित्वा प्रदर्शय ॥ २३ ॥
इति निर्बंधतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः ।
स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः॥२४॥
उपयुज्याऽब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः ।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चाऽस्त्विति यज्ञभुक् २५ ॥
आकारय मुनीन्शीघ्रं भोजनायेति चाऽब्रवीत् ।
सहदेवं महाबाहुः कृष्णः क्लेशविनाशनः ॥ २६ ॥
ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः ।
आकारितुं तु तान्सर्वान्भोजनार्थं नृपोत्तम ॥ २७ ॥
स्नातुं गतान्देवनद्यां दुर्वासःप्रभृतीन्मुनीन् ।

दुर्वासा मुनिके आनेका सब समाचार कह सुनाया। (१७—१९)

तब कृष्णने कहा, कि हे द्रौपदा ! मैं भूकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूं, हमको शीघ्र भोजन दो । तब द्रौपदीने लज्जित होकर कहा कि सूर्यकी दी हुई बटईमें मेरे भोजन करने तक अन्न रहता है, हे देव ! अब मैं भोजन कर चुकी हूं इससे कुछ नहीं है । तब कमलनेत्र कृष्ण ने कहा, हे द्रौपदी ! मुझे बहुत भूख लगी है, इससे बिलम्ब करनेका समय नहीं है, शीघ्र बटुई लाकर हमें दिखा दो । (२०—२३)

तब द्रौपदीने बटुई लाकर दिखादी। कृष्णने उसमें एक शाकान्न लगा हुआ देखकर खालिया और द्रौपदीसे कहा, कि इस शाकान्नसे जगत्के आत्मा यज्ञका भोग करने वाले परमेश्वर प्रसन्न हों । पश्चात् क्लेश विनाशक महाबाहु कृष्णने सहदेवसे कहा, कि तुम शीघ्र जाओ और सब मुनियोंको भोजनके लिये शीघ्र बुलाओ । तब महायशस्वी सहदेव शीघ्र मुनियोंको बुलाने गये । (२४–२७)

दुर्वासा आदिक मुनिभी स्नान और

ते चाऽवतीर्णाः सलिले कृतवंतोऽघमर्षणम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वोद्गारान्सान्नरसांस्तृप्त्या परमया युताः ।
उत्तीर्य सलिलात्तस्माद् दृष्टवंतः परस्परम् ॥ २९ ॥
दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन् ।
राज्ञा हि कारयित्वाऽन्नं वयं स्नातुं समागताः ॥ ३० ॥
आकंठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद्भुंजामहे वयम् ।
वृथा पाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे ॥ ३१ ॥
दुर्वासा उवाच—वृथापाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् ।
माऽस्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पांडवाः क्रूरचक्षुषा ॥ ३२ ॥
स्मृत्वाऽनुभावं राजर्षेरंबरीषस्य धीमतः ।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥ ३३ ॥
पांडवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः ॥ ३४ ॥
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः ।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवाऽनलः ॥
तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा ।

सन्ध्या कर चुके थे, परन्तु सब मुनि अत्यन्त तृप्त होगये थे और डकार आने लगी थीं। तब दुर्वासा मुनिको देखकर सब शिष्य लोग कहने लगे, हे विप्रर्षे! आप राजाके यहां भोजन बनवाकर स्नान करनेको आये हैं और अब कण्ठ तक पेट भरगया। अब वहां जाकर हम कैसे खायंगे? हम राजाके यहां जाकर क्या कहेंगे?और क्या करेंगे। २८-३१

दुर्वासा मुनि बोले, कि राजर्षि युधिष्ठिरके यहां हम लोगोंने वृथाही भोजन बनवाया; इससे हमने उनका महा अपराध किया है, ऐसा न हो कि वे लोग हमको अपने क्रोध भरे नेत्रोंसे भस्म कर दें, मैं बुद्धिमान राजऋषि अम्बरीषके प्रभावको स्मरण करके हरिभक्तोंसे बहुत डरता हूं; सब पाण्डव लोग महात्मा, धार्मिक, शूर, विद्वान्, यती और तपस्वी हैं; वे लोग उत्तम आचार करनेवाले और कृष्णके भक्त हैं इस लिये हम लोगोंको इस प्रकार भस्म कर सकते हैं जैसे रूईके ढेरको अग्नि। इस लिये उन लोगोंको विना पूछेही भाग जाना चाहिये। (३२-३५)

पांडवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ ३६ ॥
सहदेवो देवनद्यामपश्यन्मुनिसत्तमान्।
तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन् ॥ ३७ ॥
तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान्।
युधिष्ठिरमथाऽभ्येत्य तं वृत्तांतं न्यवेदयत् ॥ ३८॥
ततस्ते पांडवाः सर्वे प्रत्यागमनकांक्षिणः।
प्रतीक्षंतः कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ॥ ३९ ॥
निशीथेऽभ्येत्य चाऽकस्मादस्मान्स छलयिष्यति।
कथं च निस्तरेमाऽस्मात्कृच्छ्राद्दैवोपसादितात् ॥४० ॥
इति चिंतापरान्दृष्ट्वा निःश्वसंतो मुहुर्मुहुः।
उवाच वनं श्रीमान्कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ॥ ४१ ॥
श्रीकृष्ण उवाच— भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषेः परमकोपनात्।
द्रौपद्या चिंतितः पार्था अहं सत्वरमागतः ॥ ४२ ॥
न भयं विद्यते तस्मादृषेर्दुर्वाससोऽल्पकम्।
तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ॥ ४३ ॥
धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदंति कर्हिचित्।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अपने गुरु दुर्वासा मुनिके ऐसे वचन सुन,पाण्डवोंसे डरकर सब मुनि लोग दशों दिआओंको भाग गये; सहदेवभी उनको नदीपर न पाकर उस वनमें चारों ओर ढूंढने लगे। तब वहांके रहनेवाले मुनियोंनें सहदेव से कह दिया, कि वे सब लोग भाग गये। अनन्तर सहदेवने यह सब वृत्तान्त महाराज युधिष्ठिरसे निवेदन कर दिया। तब महात्मा पाण्डव लोग कुछ समय तक दुर्वासाके लौटनेका मार्ग देखते रहे, कि अकस्मात् आधी रातको आकर दुर्वासा हमको छलेंगे,इस प्रारब्धके दुःख से हम लोग कैसे पार होंगे। ३६-४०

जहां इस प्रकारसे पाण्डव लोग विचार कर रहे थे, और बार बार ऊंचे स्वास ले रहे थे, तहां श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष होकर आए और कहने लगे, कि हे पाण्डवो! महाक्रोधी दुर्वासा मुनि तुम लोगोंको दुःख देंगे, ऐसा विचार कर और द्रौपदीका ध्यान देखकर मैं शीघ्र तुम्हारे पास आता हूं; दुर्वासा मुनिसे तुम लोगोंको किञ्चित् भय नहीं है, वे तुम्हारे डरसे पहिलेही भाग गये हैं। जो लोग सदा धर्म करते हैं उनको कभी दुःख नहीं होता, तुम्हारा कल्याण हो।

आपृच्छे वो गमिष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वेरितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः ।

द्रौपद्या सहिताः पार्थास्तमूचुर्विगतज्वराः ॥ ४५ ॥

त्वया नाथेन गोविंद दुस्तरामापदं विभो ।

तीर्णाः प्लवमिवाऽऽसाद्य मज्जमाना महार्णवे ॥ ४६ ॥

स्वस्ति साधय भद्रं ते इत्याज्ञातो ययौ पुरीम् ।

पांडवाश्च महाभागा द्रौपद्या सहिताः प्रभो ॥ ४७ ॥

ऊषुः प्रहृष्टमनसो विहरंतो वनाद्वनम् ।

इति तेऽभिहितं राजन्यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ॥ ४८ ॥

एवंविधान्यलीकानि धार्त्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः

पांडवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाऽभवन् ॥४९ ॥ [१००२७]

इति श्रीमहा० आरण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६३॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः ।

काम्यके भरतश्रेष्ठ विजह्रुस्ते यथाऽमराः ॥ १ ॥

प्रेक्षमाणा बहुविधान्वनोद्देशान्समंततः ।

यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥

पांडवा मृगयाशीलाश्चरंतस्तन्महद्वनम् ।

हम द्वारिकाको जाते हैं, इस लिये आज्ञा दो । (४१–४४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, श्रीकृष्णके वचन सुन द्रौपदी सहित सब पाण्डव लोग प्रसन्न हुए और आनन्दपूर्वक कृष्ण से कहने लगे, हे गोविन्द ! हम दुःख सागरमें डूबते थे, तुमने नावके समान हमारा उद्धार किया, तुम्हारा कल्याण हो द्वारिकाको जाओ । पाण्डवोंकी ऐसी आज्ञाको सुन श्रीकृष्ण द्वारिकाको चले गये । महाभाग पाण्डव लोग भी प्रसन्नता पूर्वक वनोंको देखते हुए विहार करने लगे । हे राजन् ! तुमने जो पूछा था सो हमने कहा । इस प्रकारसे दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्र वनवासी पाण्डवोंके संग दुर्व्यवहार किया करते थे । (४५-४९)

वनपर्वमें दोसौ तिरसठ अध्याय समाप्त।१००२७

वनपर्वमें दोसौ चौसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, इस प्रकार महारथ भरतकुल श्रेष्ठ पाण्डव लोग उस अनेक हरिनोंसे भरे हुए काम्यक वनमें देवतोंके समान विहार करने लगे । सब ऋतुओंमें उत्पन्न हुए अनेक फूलोंको देखते हुए और अनेक वनोंमें रहते हुए विहार

विजह्रुरिंद्रप्रतिमाः कंचित्कालमरिंदम ॥ ३ ॥
ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् ।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ ४ ॥
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिंदोरनुज्ञया ।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥
ततस्तु राजा सिंधूनां वार्धक्षत्रिर्महायशाः ।
विवाहकामः शाल्वेयान्प्रयातः सोऽभवत्तदा ॥ ६ ॥
महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः ।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात्काम्यकं च सः ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यत्प्रियां भार्यां पांडवानां यशस्विनीम् ।
तिष्ठंतीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ॥ ८ ॥
विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम् ।
भ्राजयंतीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥
अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता ।
इति कृत्वाऽजलिं सर्वे ददृशुस्तामनिंदिताम् ॥ १० ॥
ततः स राजा सिंधूनां वार्धक्षत्रिर्जयद्रथः ।

करने लगे। इन्द्रके समान पाण्डव लोग सदाही वनमें विहार करते थे। (१-३)

एक दिन वे सब पुरुषसिंह शत्रुनाशन पाण्डव लोग चारों दिशाको ब्राह्मणोंके लिये आखेट खेलने गये थे, और द्रौपदीको तृणबिन्दुकी आज्ञासे आश्रमहीमें छोड गये थे, और महा तेजस्वी पुरोहित धौम्य मुनि भी वहीं रह गये थे। उसी समय महायशस्वी वृद्धक्षत्रके पुत्र सिन्धु देशके राजा विवाह करनेकी इच्छासे शाल्वदेशको जाते थे। उनके सङ्ग राजाके योग्य सेना सेवक और अनेक राजपुत्रभी थे, और मार्गमें काम्यक वनमें ठहर गये। (४-७)

उस निर्जन वनमें उन्होंने पाण्डवोंकी प्यारी स्त्री द्रौपदीको अपने द्वारपर खडी हुई देखा; द्रौपदी अपने तेजसे प्रकाशमान हो रही थी उसके तेजसे वह वन ऐसा प्रकाशमान हो रहा था, जैसे नील मेघ बिजुलीसे। उनकी सेनाके सब लोग हाथ जोडकर द्रौपदीको देखने लगे और कहने लगे, क्या यह कोई अप्सरा है ? या देवकन्या है ? अथवा देवतोंकी बनाई हुई कोई माया है। (८—१०)

द्रौपदीको देखकर सिन्धु देशके राजा वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथ विस्मित हो गये,

विस्मितस्त्वनवद्यांगीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ११ ॥
स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत्काममोहितः ।
कस्य त्वेषाऽनवद्यांगी यदि वाऽपि न मानुषी ॥ १२ ॥
विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्याऽतिसुंदरीम् ।
एनामेवाऽहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥
गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वाऽत्र कुतोऽपि वा ।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कंटकितं वनम् ॥ १४ ॥
अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुंदरी ।
भजेदद्याऽऽयतापांगी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥
अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम् ।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक ॥१६ ॥
स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात्प्रस्कंद्य कुण्डली ।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥१७॥ [१००४४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

कोटिकउवाच-का त्वं कदंबस्य विनाम्य शाखामेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना।

और उनके चित्तमें दुष्टता आगई। अनन्तर जयद्रथने कामसे पीडित होकर राजा कोटिकास्यसे कहा, कि, यह सुन्दरी किसकी स्त्री है ? हमें जान पडता है, कि यह मानुषी है; यदि यह स्त्री हमको मिले तो विवाहसे कुछ प्रयोजन नहीं है, मैं इसीको लेकर अपने घरको चला जाऊंगा। (११-१३)

हे सौम्य ! तुम इसके पास जाकर पूंछो कि तुम कौन हो ? कहांकी हो ? और इस कांटोंसे भरे हुए वनमें क्यों आई हो ? यदि यह लोकसुन्दरी उत्तम मुख दांत और पतली कमरवाली मेरे वशमें हो जाय तो मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा; हे कोटिकास्य ! तुम इसके पास जाओ और पूछो कि तुम्हारा स्वामी कौन है। जयद्रथके ऐसे वचन सुन कुण्डलधारी कोटिकास्य अपने रथसे उतरा और द्रौपदीके पास जाकर इस प्रकार पूछने लगा, जैसे कोई सियार व्याघ्रकी स्त्रीसे पूछता है। (१४-१७)[१००४४]

वनपर्वमें दोसौ चौसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ पैंसठ अध्याय ।

कोटिकास्य बोला, हे सुन्दर भौंह वाली ! तू कौन है ? और इस कदम्बकी शाखाको पकड यहां क्यों खडी है?

देदीप्यमानाऽग्निशिखेव नक्तं व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ॥ १ ॥
अतीव रूपेण समन्विता त्वं न चाप्यरण्येषु बिभेषि किं नु।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा वराप्सरा दैत्यवरांगना वा ॥ २ ॥
वपुष्मतीवोरगराजकन्या वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री।
यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य ॥ ३ ॥
धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा शक्रस्य वा त्वं सदनात्प्रपन्ना।
न ह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म न चापि जानीम तवेह नाथम् ॥ ४ ॥
वयं हि मानं तव वर्धयंतः पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ॥ ५ ॥
अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः।
असौ तु यस्तिष्ठति कांचनांगे रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ॥ ६ ॥
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षः क्षेमंकरो नाम स एष वीरः।
अस्मात्परस्त्वेष महाधनुष्मान्पुत्रः कुलिंदाधिपतेर्वरिष्ठः ॥ ७ ॥
निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः।

तू इस वनमें ऐसी प्रकाशमान है, जैसे रात्रिमें पवनसे कम्पित होकर अग्निकी ज्वाला प्रकाशित होती है; तुम अपने रूपसे अत्यन्त प्रकाशमान हो, क्या इस वनमें तुम कुछभी नहीं डरती हो? तुम कोई देवी हो? कि यक्षी हो? कि दानवी हो? अथवा अप्सरा हो? वा किसी उत्तम दैत्यकी स्त्री हो? अथवा साक्षात् सर्पराजकी पुत्री हो? या इस वनकी देवता हो? अथवा किसी निशाचरकी स्त्री हो? या राजा वरुण, यम, कुबेर, चन्द्रमा, धाता, विधाता, सूर्य, इन्द्र, आदि किसी की स्त्री हो? हम तुमको नहीं जानते, न तुम्हारे स्वामीको जानते हैं, इसीसे यह प्रश्न करते हैं। (१–४)

हे भद्रे! हम तुम्हारे मानको बढाकर तुम्हारे नाथको और तुम्हारी जन्मभूमिको जानना चाहते हैं; तुम हमसे अपने पति बन्धु और कुलका वर्णन करो और यह भी कहो कि तुम इस वनमें क्या करती हो? मैं राजा सुरथका पुत्र हूं, मेरा नाम कोटिकास्य है; ये जो सोनेके रथमें अग्निके समान तेजस्वी पुरुष बैठा है, जिसके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं, इस वीरका नाम क्षेमङ्कर है, और यह त्रिगर्त्त देशका राजा है, उसके आगे जो महा धनुषधारी राजपुत्र बैठा है, जिसके नेत्र बहुत बडे हैं, जो तुम्हारी ओर देख रहा है, वह कुलिन्ददेशके राजाका पुत्र है; यह सदाही

असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ॥८॥
इक्ष्वाकुराज्ञः सुभवस्य पुत्रः स एव हंता द्विषतां सुगात्रि ।
यस्याऽनुचक्रं ध्वजिनः प्रयांति सौवीरका द्वादश राजपुत्राः॥ ९ ॥
शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः ।
अंगारकः कुंजरो गुप्तकश्च शत्रुंजयः संजयसुप्रवृद्धौ ॥ १० ॥
भयंकरोऽथ भ्रमरो रविश्च शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम ।
यं षट्सहस्रा रथिनोऽनुयांति नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ॥ ११ ॥
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते सौवीरराजः सुभगे स एषः ।
तस्याऽपरे भ्रातरोऽदीनसत्वा बलाहकानीकविदारणाद्याः ॥ १२ ॥
सौवीरवीराः प्रवरा युवानो राजानमेते बलिनोऽनुयांति ।
एतैः सहायैरुपयाति राजा मरुद्गणैरिंद्र इवाऽभिगुप्तः ॥ १३ ॥
अजानतां ख्यापय नः सुकेशि कस्याऽसि भार्या दुहिता च कस्य॥१४॥

इति श्रीमहा० आ०पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पंचषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६५॥[१००५८]

वैशम्पायन उवाच—अथाऽब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन।
अवेक्ष्य मंदं प्रविमुच्य शाखां संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥

पर्वतपर निवास करता है। (५-८)

यह जो तडागके समीप श्याम-सुन्दर युवा पुरुष खडा है, सो अयोध्याके राजा सुभवका पुत्र है; हे सुन्दरी ! यह सब शत्रुओंका नाश करता है; हे सुभगे! जिसके रथके पीछे बारह सौवीर देशके राजपुत्र जाते हैं, जो लाल घोडोंके रथों-पर जलती हुई अग्निके समान बैठे हैं, उनके नाम ये हैं, अङ्गारक,कुञ्जर,गुप्तक, शत्रुञ्जय, सञ्जय,सुप्रवृद्ध,भयङ्कर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप और कुहन; जिसके पीछे छः सहस्र रथी अनेक हाथी घोडे और पदाती जाते हैं, वही सौवीर देशका राजा जयद्रथ है (८-१२)

ये जो उनके पीछे महाबलवान युवा पुरुष जाते हैं, इनके नाम बलाहक और अनीकविदारणादि हैं; ये सब राजा जयद्रथके भाई हैं; इसने रक्षित होकर राजा जयद्रथ इस प्रकार विराजमान हो रहे हैं, कि जैसे मरुत्‌गणसे इन्द्र; हे सुकेशी ! हम तुमको नहीं जानते हैं, इससे कहो कि तुम किसकी बेटी हो?(१२—१४

वनपर्वमें दोसौ पैंसठ अध्याय समाप्त ।[१००५८]

वनपर्वमें दोसौ छासठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, शिबिवंश-श्रेष्ठ कोटिकास्यके ऐसे वचन सुन राज-पुत्री द्रौपदीने कदम्बकी शाखा छोड दी और अपने वस्त्रको संभाल तथा उस

बुद्ध्याऽभिजानामि नरेंद्रपुत्र न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति।
न त्वेह वक्ताऽस्ति तवेह वाक्यमन्यो नरो वाऽप्यथवाऽपि नारी ॥२॥
एका ह्यहं संप्रति तेन वाचं ददानि वै भद्र निबोध चेदम्।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ ॥
जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्यमाख्यामि बंधून्प्रथितं कुलं च ॥ ४ ॥
अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः।
साऽहं वृणे पंच जनान्पतित्वे ये खांडवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ॥ ६ ॥
प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम्।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७॥
संमानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं विमुच्य वाहानवरोहयध्वम्।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥८॥
एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा शैब्यात्मजं चंद्रमुखी प्रतीता।

मूर्खकी ओर देखकर बोली, हे नरेन्द्रपुत्र! मैं तुमको जानती हूं, मेरे समान कोई स्त्री तुझसे बात नहीं कर सकती है; यहां कोई स्त्री वा पुरुष नहीं है जो तेरे वचन का उत्तर दे; मैं इस समय यहां अकेली हूं, इस लिये तेरे वचनका उत्तर नहीं दूंगी, क्योंकि धर्म शास्त्रमें लिखा है, कि अकेली स्त्री किसीसे बात न करे; परन्तु मैं तुझको जानती हूं, तू राजा सुरथका पुत्र है, और तेरा नाम कोटिकास्य है, इस लिये तुझसे अपने बन्धु और प्रसिद्ध वंशका वर्णन करती हूं। (१—४)

हे शैब्य ! मैं राजा द्रुपदकी पुत्री हूं; मेरा नाम द्रौपदी है; प्रसिद्ध खाण्डवप्रस्थके राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और वीर सहदेव मेरे पति हैं; वे मुझको यहां बिठलाकर चारों दिशाओं को आखेट करने गये हैं; पूर्वकी ओर महाराज, दक्षिणको भीमसेन, पश्चिमको अर्जुन और उत्तरको नकुल तथा सहदेव गये हैं, उन पाचों महारथोंके आनेका समय भी यही है, इस लिये तुम लोग अपने रथोंसे उतरकर यहीं ठहरो; महाराज धर्मराज अतिथियोंका बहुत सत्कार करते हैं; वे तुमको देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। चन्द्रमुखी द्रौपदी ऐसा कहकर और अतिथिसत्कारार्थ अपनी सुन्दर

विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां संचिंत्य तेषामतिथित्वमर्थे ॥ ९॥ १००६७

इति श्रीमहाभारते०आरण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६६॥

वैशम्पायन उवाच-- तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत्सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ १ ॥
कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत् ।
यदा वाचं व्याहरंत्यामस्यां मे रमते मनः ॥ २ ॥
सीमंतिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान् ।
एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः॥ ३ ॥
प्रतिभांति महाबाहो सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ॥ ४ ॥
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी ।

कोटिक उवाच —एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ॥ ५ ॥
पंचानां पांडुपुत्राणां महिषी संमता भृशम् ।
सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ॥ ६ ॥
तया समेत्य सौवीरं सौवीराभिमुखो व्रज ।

वैशम्पायन उवाच--एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति ॥ ७ ॥
पतिः सौवीरसिंधूनां दुष्टभावो जयद्रथः ।

पर्णकुटीमें चली गई ।(५–९) १००६७

वनपर्वमें दोसौ छासठ अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ सदसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! द्रौपदीके ऐसे वचन सुन कोटिकास्य जयद्रथके पास गया और सब क्षत्रियोंके बीचमें उसके वचन कह सुनाया तब जयद्रथने कोटिकास्यसे कहा कि जब यह स्त्री कुछ बात करती है,तो मेरा मन उसही पर चला जाता है; यह सब स्त्रियोंमें मुख्य है; तुम इसके पाससे कैसे चले आये; हे महाबाहो ! हम तुम से सत्य कहते हैं, कि इसको देखकर और सब स्त्रियां मुझको बंदरी सी दिखाई देती हैं, इसने मेरे मनको अपने वशमें कर लिया है; तुम हमसे कहो कि यह मानुषी है ? (१–५)

कोटिकास्य बोला, हे राजन् ! यह यशस्विनी द्रौपदी है;यह पांचों पाण्डवों की पतिव्रता प्यारी स्त्री है; पांचों पाण्डव इसको मानते हैं, सो तुम इसको साथ करके अपने देशको चलो । श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कोटिकास्यके ऐसे वचन सुनकर जयद्रथ बोले, कि

स प्रविश्याऽऽश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ॥ ८ ॥
आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत् ।
कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ॥ ९ ॥
येषां कुशलकामाऽसि तेऽपि कच्चिदनामयाः ।
द्रौपद्युवाच —अपि ते कुशलं राजन्राष्ट्रे कोशे बले तथा ॥ १० ॥
कच्चिदेकः शिबीनाढ्यान्सौवीरान्सह सिंधुभिः ।
अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चाऽन्ये विदितास्त्वया ॥ ११ ॥
कौरव्यः कुशली राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अहं च भ्रातरश्चाऽस्य यांश्चाऽन्यान्परिपृच्छसि ॥ १२ ॥
पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज ।
मृगान्पंचाशतं चैव प्रातराशं ददानि ते ॥ १३ ॥
ऐणेयान्पृषतान्न्यंकून्हरिणाञ्शरभाञ्शशान् ।
ऋक्षान्रुरूञ्शंबरांश्च गवयांश्च मृगान्बहून् ॥ १४ ॥
वराहान्महिषांश्चैव याश्चाऽन्या मृगजातयः ।
प्रदास्यति स्वयं तुभ्यं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
जयद्रथ उवाच —कुशलं प्रातराशस्य सर्वं मे दित्सितं त्वया ।

हम द्रौपदीको देखेंगे। ऐसा कहकर दुष्ट जयद्रथ पवित्र कुटीमें इस प्रकार गया, जैसे सिंहके घरमें सियार जाता है। (५-८)

छः पुरुष जयद्रथके सङ्ग गये; जयद्रथ वहां जाकर द्रौपदीसे बोला, हे सुन्दरमुखवाली ! तू कुशलसे हो ? तेरे पांचों पति तो अच्छे हैं न ? जिनको तू कुशल चाहती है वे अच्छे हैं न ? ८-१०

द्रौपदी बोली हे राजेन्द्र ! तुम अच्छे हो ! तुम्हारे राज्यमें कोषमें और सेनामें तो कुशल है ? कहो तुम सौवीर सिंधु और शिबिदेशका धर्मसे राज्य करते हो और उनका कि जो तुमने और भी बहुतसे देश अपने राज्यमें मिलाये हैं? श्रीमान् महाराज युधिष्ठिर अपने भाईयोंके सहित कुशलसे हैं; हे राजपुत्र! इस जलसे पैर धोकर, इस आसन पर बैठ जाईये। हम आपको खानेके लिये पचास हरिन देंगे, ऐणेय, पृषत, न्यंकु, (ये सब हरिनोंकी जाती हैं) शरभ, खरहे, रीछ, रुरु, शम्बर, हरिन, सूवर, और भैंसे आदि अनेक जन्तु तुमको देंगे, स्वयं महाराज युधिष्ठिर ही आपका सत्कार करेंगे। (१०-१५)

जयद्रथ बोला, हे सुन्दरी ! हमारे

एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १६ ॥
गतश्रीकान्हृतराज्यान्कृपणान्गतचेतसः ।
अरण्यवासिनः पार्थान्नाऽनुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्त्तारमुपयुंजते ।
युंजानमनुयुंजीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥ १८ ॥
श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
अलं ते पांडुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १९ ॥
भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान्सुखमाप्नुहि ।
अखिलान्सिंधुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ २० ॥
वैशंपायन उवाच --इत्युक्ता सिंधुराजेन वाक्यं हृदयकंपनम् ।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद्देशात्सभ्रुकुटीमुखी ॥ २१ ॥
अवमत्याऽस्य तद्वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा ।
मैवमित्यब्रवीत्कृष्णा लज्जस्वेति च सैंधवम् ॥ २२ ॥
सा कांक्षमाणा भर्तॄणामुपयातमनिंदिता ।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥२३॥[१००९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदीसंवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६७॥

यहां सब कुशल है, तुमने जो कुछ कहा हमको सो सब प्राप्त होगया, अब तुम रथपर बैठकर हमारे संग चलो और सुखसे समय बिताओ; पाण्डव लोग मूर्ख हैं; उनकी लक्ष्मी और राज्य नष्ट होगये हैं, तुम वनवासियोंकी स्त्री होनेके योग्य नहीं हो; तुमको मूर्ख निर्धन युधिष्ठिरकी सेवा करके संग नहीं रहना चाहिये; पाण्डवलोग बहुत दिनके लिये लक्ष्मी और राज्यसे नष्ट होगये हैं, उनकी सेवा करनेसे तुम्हें कुछ लाभ नहीं है; केवल क्लेशही भोगना है; हे सुन्दरी ! तुम पाण्डवोंको छोड हमारी स्त्री होजाओ; तब अनेक सुखोंको प्राप्त करोगी; तुम हमारे सङ्ग सिन्धु और सौवीर देशका राज्य करो । (१६-२०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जयद्रथके ऐसे हृदयको कंपानेवाले वचन सुनकर सुन्दर मुख और भ्रुकुटिवाली द्रौपदी वहांसे भागी और भागनेके समय जयद्रथका धिक्कार करके कहने लगी कि तुम नहीं लजाते?ऐसी अपने पतियोंका मार्ग देखती हुई जयद्रथसे बात करने लगी । (२१-२३

वनपर्वमें दोसौ सदसठ अध्याय समाप्त १००९०

वैशम्पायन उवाच–सरोषरागोपहतेन वल्गुना सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं ततोऽब्रवीत्तं द्रुपदात्मजा पुनः॥ १॥
यशस्विनस्तीक्ष्णविषान्महारथानभिब्रुवन्मूढ न लज्जसे कथम्।
महेन्द्रकल्पान्निरतान्स्वकर्मसु स्थितान्समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम्॥२॥
न किंचिदीड्यं प्रवदंति पापा वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं संपरिपूर्णविद्यं भषंति हैवं श्वनराः सुवीर॥ ३॥
अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चिदेताहशे क्षत्रियसंनिवेशे।
यस्त्वद्य पातालमुखे पतंतं पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत॥ ४॥
नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्पमुपत्यकां हैमवतीं चरंतम्।
दंडीव यूथादपसेधसि त्वं यो जेतुमाशंससि धर्मराजम्॥ ५॥
बाल्यात्प्रसुप्तस्य महाबलस्य सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि।
पदा समाहत्य पलायमानः क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम्॥ ६॥
महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं जातं हरिं पर्वतकंदरेषु।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम्॥ ७॥

वनपर्वमें दोसौ अडसठ अध्याय

वैशम्पायन बोले, उस समय द्रौपदी क्रोधसे आरक्त, तथा लालनेत्र और टेढी भौंहसे युक्त अपने सुन्दर मुखसे फूत्कार छोडकर सौवीराधिपति जयद्रथ से पुनः कहने लगी; रे मूर्ख! तू यशस्वी, तीक्ष्ण विषवाले, महारथ, इन्द्रके समान पराक्रमी, यक्ष और सर्पोंके जीतनेवाले धार्मिक पाण्डवोंको क्यों क्रोधित करता है? हे सुवीर। चाहे घरमें रहनेवाला हो चाहे वनवासी हो अथवा पूर्ण विद्वान तपस्वी भी क्यों न हो किसीको भी पाप करना अच्छा नहीं है; जैसे तू बकता है वैसेही कुत्ते भी भोंका करते हैं; मैं जानती हूं कि तेरे संगके क्षत्रियोंमें कोई भी ऐसा वीर नहीं है, जो पातालमें गिरते हुए तुझको अपने हाथसे पकडकर निकाले। (१–४)

तू बडा मूर्ख है जो धर्मराजको जीतनेको कहता है यह बात वैसेही है जैसे कोई मूर्ख एक लठ्ठी हाथमें लेकर कहे कि मैं हिमाचलके नीचे घुमते हुए, पर्वतके समान शरीरवाले मतवारे हाथीको उसके यूथके बीचमेंसे पकड लूंगा; जिस समय क्रोधी भीमसेनको युद्धमें देखकर भागेगा तब विचारेगा कि हाय मैंने मूर्खतासे सोते हुए, महाबलवान सिंहके बालोंको खींचा था; तू जिस समय बलवान अर्जुनसे युद्ध करेगा उस समय कहेगा कि महाबलवान पर्वतकी

कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ मत्तः पदाऽऽक्रामसि पुच्छदेशे ।
यः पांडवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम् ॥ ८ ॥
यथा च वेणुः कदली नलो वा फलंत्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः ।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणामादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ॥ ९ ॥
जयद्रथ उवाच— जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः ।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाऽद्य ॥ १० ॥
वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः ।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्मन्यामहे द्रौपदि पांडुपुत्रान् ॥ ११ ॥
सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः ।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ॥ १२ ॥
द्रौपद्युवाच—महाबला किं त्विह दुर्बलेव सौवीरराजस्य मताऽहमस्मि ।
नाऽहं प्रमादादिह संप्रतीता सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ १३ ॥
यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां समास्थितावेकरथे समेतौ ।
इंद्रोऽपि तां नाऽपहरेत्कथंचिन्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः ॥ १४ ॥

गुफामें उत्पन्न हुए, सोते हुए, सिंहको वृथा जगाया । (५-७)

जिस समय वीर नकुल सहदेव तेरे आगे युद्ध करनेको आवेंगे उस समय तू कहेगा मैंने सोते हुए दो जीभ वाले विषसे भरे हुए दो काले सांपोंकी पूंछ पर वृथा लात मारी; जिस प्रकार बांस केला और नलका वृक्ष फल लगनेसे नष्ट हो जाता है, जैसे कर्कटीका गर्भ धारण प्राण नाशक हैं, तैसेही मुझको दुर्वाक्य कहकर तू भी नष्ट हो जायगा ।(८-९)

जयद्रथ बोले, हे द्रौपदी ! पाण्डव लोग जैसे हैं उनको हम अच्छी प्रकार जानते हैं, तेरी इन डरावनी बातोंसे हम डर नहीं सकते; हे द्रौपदी ! हम उस सनातन वंशमें उत्पन्न हुए हैं जिसमें राजोंके सत्रह कर्म, छः गुण विराजमान हैं और पाण्डव लोग इन सबसे रहित हैं, सो तू शीघ्र हाथी अथवा रथपर चढले क्योंकि केवल वचन मात्रसे हम तुझको नहीं छोडेंगे, या दीन होकर सौवीर देशके राजाको प्रसन्न कर । (१०-१२)

द्रौपदी बोली, मैं बहुत बलवती हूं परन्तु इस समय तुमसे दुर्बलके समान बात कर रही हूं; मैं अपने पकडे जानेपर भी तुमसे दीन वचन नहीं कहूंगी, क्योंकि जिसके ढूंढनेको साक्षात् कृष्ण और अर्जुन एक रथपर बैठकर चलेंगे, उसे साक्षात् इन्द्रभी नहीं छीन सकता है, और क्षुद्र मनुष्योंकी कथाही क्या है ? जिस

यथा किरीटी परवीरघाती निघ्नन्रथस्थो द्विषतां मनांसि ।
मदंतरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ॥ १५ ॥
जनार्दनः सांधकवृष्णिवीरो महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे ।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः ॥ १६ ॥
मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा गांडीवमुक्तास्त्वतिवेगवंतः ।
हस्तं समाहत्य धनंजयस्य भीमाः शब्दं घोरतरं नदंति ॥ १७ ॥
गांडीवमुक्तांश्च महाशरौघान्पतंगसंघानिव शीघ्रवेगान् ।
यदा द्रष्टाऽस्यर्जुनं वीर्यशालिनं तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिंदिताऽसि ॥ १८ ॥
सशंखघोषः सतलत्रघोषो गांडीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च ।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि तदा मनस्ते किमिवाऽभविष्यत् ॥१९ ॥
गदाहस्तं भीममभिद्रवंतं माद्रीपुत्रौ संपतंतौ दिशश्च ।
अमर्षजं क्रोधविषं वमंतौ दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ॥ २० ॥
यथा वाऽहं नाऽतिचरे कथंचित्पतीन्महार्हान्मनसाऽपि जातु ।
तेनाऽद्य सत्येन वशीकृतं त्वां द्रष्टाऽस्मि पार्थैःपरिकृष्यमाणम् ॥ २१ ॥

समय साक्षात् अर्जुन रथपर बैठकर अपने शत्रुओंके मनको निराश करते हुए तुम्हारी सेनामें घुसेंगे उस समय तुम्हारी सेना ऐसे नष्ट हो जायगी जैसे उष्णकाल में अग्नि लगनेसे सूखा घास। (१३–१५)

जिस समय अन्धक और वृष्णिवंशियोंके समेत साक्षात् श्रीकृष्ण तुझसे युद्ध करनेको आवेंगे, और केकय देशके सब राजपुत्र प्रसन्न होकर युद्ध करनेको उपस्थित होंगे, तब तू कुछभी नहीं कर सकेगा; जिस समय गाण्डीव धनुषके रोदेसे छूटकर घोर वेगवाले अर्जुनके बाण तेरी सेनामें आकर घोर शब्द करेंगे, तब तू क्या करेगा ? जिस समय महावेगवाले अग्निमें पडे पतंगोंके समान अर्जुनके बाणोंको और वीर अर्जुनको देखेगा, उस समय तू अपनी इस बुद्धिकी निन्दा करेगा। (१६–१८)

जिस समय शंख, पंजे और गाण्डीव धनुषका शब्द करके अर्जुनके बाण तेरे हृदयके रुधिरको पीवेंगे, उस समय न जाने तेरा मन कैसा होगा? रे अधम! जिस समय गदा हाथमें लेकर भीमसेन युद्धमें आवेंगे; और जब नकुल तथा सहदेव क्रोधके विषको छोडते हुए सब ओरसे तेरे ऊपर बाणोंकी वर्षा करेंगे, उस समय तू बहुत दिन तक दुःख भोगेगा; जिस प्रकार से मैं अपने महात्मा पतियोंका मनसेभी निरादर नहीं करती हूं उसी सत्यसे मैं तुमको पाण्डवोंके वशमें

न संभ्रमं गंतुमहं हि शक्ष्ये त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा ।
समागताऽहं हि कुरुप्रवीरैः पुनर्वनं काम्यकमागताऽस्मि ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच–साताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा जिघृक्षमाणानवभर्त्सयंती ।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ॥ २३ ॥
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे जयद्रथस्तं समवाक्षिपत्सा ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २४ ॥
प्रगृह्यमाणो तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
साऽऽकृष्यमाणा रथमारुरोह धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥ २५ ॥
धौम्य उवाच——नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान् ।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २६ ॥
क्षुद्रं कृत्वा फलं पाप त्वं प्राप्स्यसि न संशयः ।
आसाद्य पांडवान्वीरान्धर्मराजपुरोगमान् ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच–इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।
अन्वगच्छत्तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥ २८ ॥ [१०११८]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीहरणे अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६८॥

पडाहुआ और भीमसेनके हाथसे बाल पकडकर खिचता हुआ देखूंगी; मैं घबडाकर तुझ दुष्टके हाथसे खिच कर चलना अच्छा नहीं समझती, मुझे निश्चय है कि अब महात्मा पाण्डव लोग आवेंगे तब मैं काम्यक वनमें आऊंगी।(१९-२२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, विशालनैनी द्रौपदी इस प्रकारसे उन सबको डराती हुई भयसे कांपने लगी, और जयद्रथसे कहने लगी, कि तू मुझे मत छुये और डरसे धौम्य पुरोहितको पुकारने लगी ! उसी समय जयद्रथने द्रौपदीका दुपट्टा पकडा और द्रौपदीने उसे एक झटका दिया, वह पापी झटका लगनेसे इस प्रकार पृथ्वीमें गिर पडा, जैसे जड कटनेसे वृक्ष गिर पडता है, परन्तु फिर उठकर उसने वेगसे द्रौपदी को पकड लिया तब द्रौपदी लम्बे स्वांस लेने लगी और पुरोहित धौम्यको प्रणाम करने लगी । तब जयद्रथने खींचकर द्रौपदीको अपने रथपर बिठला लिया । (२३-२५)

श्रीधौम्यमुनि बोले, हे जयद्रथ ! पाण्डवोंको बिना जीते तुम द्रौपदीको नहीं छू सकते हो क्योंकि क्षात्रियोंका सनातन धर्म यही है, तू युधिष्ठिरादिक पाण्डवोंके सङ्ग पाप करके महा दुःखमें पडेगा । श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ऐसा कहकर महात्मा धौम्य राजपुत्री

वैशम्पायन उवाच-ततो दिशः संप्रविहृत्य पार्था मृगान्वराहान्महिषांश्च हत्वा।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां पृथक्चरंतः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥
ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं महावनं तद्विहगोपघुष्टम्।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद्युधिष्ठिरः श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ॥ २ ॥
आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदंति।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयंतो महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ॥ ३ ॥
क्षिप्रं निवर्तध्वमलं मृगैर्नो मनो हि मे दूयति दह्यते च।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्युरुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥ ४ ॥
सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा राष्ट्रं यथाऽराजकमात्तलक्ष्मि।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं शौंडैर्यथा पीतरसश्च कुंभः ॥ ५ ॥
ते सैंधवैरत्यनिलोग्रवेगैर्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरास्तदाऽऽश्रमायाऽभिमुखा बभूवुः ॥ ६ ॥

यशस्विनी द्रौपदीके रथके पीछे पैदलोंके सङ्ग दौडने लगे। (२६-२८) १०११८

वनपर्वमें दोसौ अडसठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ उनत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उसी समय जगत् प्रसिद्ध धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव लोगभी चारों ओरसे हरिन, और भैंसोंको मारकर एक स्थानपर इकट्ठे हुए। उस समय वनमें हरिन और पक्षी शब्द करते फिरते थे। इन सबके शब्दोंको सुनकर महाराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा, देखो यह हरिन और पक्षी लोग सूर्यकी ओर मुख करके घोर शब्द कर रहे हैं; हमको जान पडता है कि कुछ घोर उपद्रव होगा; हमको निश्चय है कि किसी शत्रुने हमारे आश्रमको घेर लिया है; मेरा मन बहुत घबडाता है; बुद्धि क्रोधसे नष्ट हुई जाती है; इस लिये तुम शीघ्र लौटो; हमको और हरिन मारनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। (१-४)

हमें इस समय काम्यक बन ऐसा दीखता है कि जैसे किसी उत्तम तडागमेंसे गरुडने सर्पको निकाल लिया हो; जैसे किसी धन धान्य भरे राज्यमेंसे राजा निकल गया हो; जिस प्रकार किसी घडेका मद्य मद्यपी पी गया हो और वे शोभा रहित होगये हों, ऐसेही इस वनकी शोभा मुझे दीखती है। तब पाण्डव लोग महाराजकी आज्ञा सुनते ही सिन्धु देशके घोडोंसे युक्त रथोंपर बैठकर वायुके समान वेगसे चले। पुरुष वीर पाण्डव लोग अपने महारथोंपर बैठकर, आश्रमकी ओर आए। जिस

तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो निवर्ततां वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत्तत्प्रविमृश्य राजा प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ॥ ७ ॥
यथा वदत्येष विहीनयोनिः शालावृको वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥
इत्येव ते तद्वनमाविशंतो महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यंत तदा रुदंतीं धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥ ९ ॥
तामिंद्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र धात्रेयिकामंतितरस्तदानीम् ॥ १० ॥
किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ॥ ११ ॥
अचिंत्यरूपा सुविशालनेत्रा शरीरतुल्या कुरुपुंगवानाम् ।
पतिव्रता सत्ययुक्ता तथैव क्व वा नीता केन वा शंस तथ्यम् ।
यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा दिवं प्रपन्नाऽप्यथवा समुद्रम् ॥ १२ ॥
तस्या गमिष्यंति पदे हि पार्था यथा हि संतप्यति धर्मपुत्रः ।
को हीदृशानामरिमर्दनानां क्लेशक्षमाणामपराजितानाम् ॥ १३ ॥
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षेदनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।

समय वे लोग आश्रमकी ओर चले, उस समय अनेक सियार उनकी बांई ओर बोलने लगे, तब महाराजने भीमसेन और अर्जुनसे कहा, कि देखो, सियार हमारे बांई ओर बोल रहे हैं, इससे निश्चय होता है कि, दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्रोंने हमारे आश्रमपर आकर कोई घोर उपद्रव किया है। (५-८)

इस प्रकार ये लोग बात करते चले आते थे। इतनेहीमें देखा कि द्रौपदीकी प्यारी धात्री और दूतकी स्त्री रो रही है। उसी समय इन्द्रसेन शीघ्र रथसे उतरा, और दौडकर धात्रीके पास गया तथा कहने लगा कि हे धात्री ! तू पृथ्वीमें पडी हुई क्यों रो रही है ? तेरा मुख क्यों सुख गया है ? तेरे मुखका वरण क्यों दीन होगया है ? कहो पाण्डवोंके योग्य रूपवाली राजपुत्री द्रौपदीको कोई दुष्ट समुद्र, पृथ्वी और स्वर्गमेंभी ले गया होगा, तो वहांसे भी पाण्डव लोग द्रौपदीको ले आवेंगे, क्योंकि धर्मराज उसके लिये बहुत दुःख कर रहे हैं। (९—१३)

जगतमें ऐसा कौन वीर है जो शत्रु नाशन क्लेश सहनेवाले पाण्डवोंकी प्यारी स्त्रीको ले जाय ? यह काम तो वैसाही

बहिश्चरं हृदयं पांडवानाम् ॥ १४ ॥
न बुध्यते नाथवतीमिहाऽद्य बहिश्चरं हृदयं पांडवानाम्
कस्याऽद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा महीं प्रवेक्ष्यंति शिताः शराग्र्याः।
मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि यथाऽद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ॥१५॥
निहत्य सर्वान्द्विषतः समग्रान्पार्थाः समेष्यंत्यथ याज्ञसेन्या।
अथाऽब्रवीच्चारुमुखं विमृश्य धात्रेयिका सारथिमिंद्रसेनम् ॥ १६ ॥
जयद्रथेनाऽपहृता प्रमथ्य पंचेंद्रकल्पान्परिभूय कृष्णा।
तिष्ठंति वर्त्मानि नवान्यमूनि वृक्षाश्च न म्लांति तथैव भग्नाः ॥१७॥
आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं न दूरयातैव हि राजपुत्री।
सन्नह्यध्वं सर्व एवेंद्रकल्पा महांति चारूणि च दंशनानि ॥ १८ ॥
गृह्णीत चापानि महाधनानि शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम्।
पुरा हि निर्भर्त्सनदंडमोहिता प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता ॥ १९ ॥
ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम्।
पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः पुरा श्मशाने स्रगिवाऽपविद्ध्यते ॥२०॥
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा पुरा शृगालो नलिनीं विगाहते ॥ २१ ॥

हुआ जैसे कोई मूर्ख उत्तम रत्नको चुरा ले; मुझको यहां द्रौपदी नहीं दीखती है, वह द्रौपदी पाण्डवोंका हृदय है; आज पाण्डवोंके तीक्ष्ण बाण किसके हृदयको छेदकर पृथ्वीमें प्रवेश करेंगे, हे धात्री ! तू कुछ सोच मत कर शीघ्र बता दे, द्रौपदीको कौन लेगया; क्योंकि तेरे कहनेसे पाण्डव सब शत्रुओंको मार कर द्रौपदीको छीन लावेंगे। (१३-१६)

इन्द्रसेनके वचन सुन अपने मुखको पोंछकर धात्री, बोली, हे सारथे! इन्द्रके समान पांच पाण्डवोंका निरादर करके जयद्रथ द्रौपदीको खींचकर ले गया। देखो अभी रथोंके पहियेभी मार्गमें लगे हैं; अभी टूटे हुए वृक्षोंके पत्ते मलीन भी नहीं हुए, इससे जान पडता है कि अभी द्रौपदी दूर नहीं गई, तुम शीघ्र दौडो और इन्द्रतुल्य पाण्डवोंको युद्धके वास्ते भेजो; उनसे कहो कि धनुष और बाण लेकर शीघ्र द्रौपदीको ढूंढे जैसे आज्यसे पूर्ण स्रुक्को भस्ममें न फेंके कोई दुष्ट द्रौपदीके शरीरको न छुवे। (१६-२०)

जैसे कोई तुसकी अग्निमें घीकी आहुती न दे, कोई स्मशानमें माला न चढावे, ब्राह्मणोंके बीचमें कोई कुत्ता सोम न पीये, महावनमें आखेट खेलकर कोई सियार उत्तम तालावमें स्नान न करै, जिस

मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं चंद्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम् ।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी श्वा वै पुरोडाशमिवाऽध्वरस्थम् ।
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं मा वः कालः क्षिप्रमिहाऽत्यगाद्वै ॥२३॥
युधिष्ठिर उवाच- भद्रे प्रतिक्राम नियच्छ वाचं माऽस्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा बलेन मत्ता वंचनां प्राप्नुवंति ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच -एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः ।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसंतो ज्यां विक्षिपंतश्च महाधनुर्भ्यः ॥२५ ॥
ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणुमुद्धूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम् ।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं विक्रोशंतं भीममभिद्रवेति ॥ २६ ॥
ते सांत्व्य धौम्यं परिदीनसत्वाः सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः ।
श्येना यथैवाऽमिषसंप्रयुक्ता जवेन तत्सैन्यमथाऽभ्यधावन्॥ २७ ॥
तेषां महेंद्रोपमविक्रमाणां संरब्धानां धर्षणाद्याज्ञसेन्याः ।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च॥ २८ ॥
प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिंधुराजं वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।

प्रकार कोई कुत्ता यज्ञकी खीरको न खाय, वैसेही द्रौपदीके उत्तम नेत्रवाले चंद्रमाके समान मुखको कोई दुष्ट न छुए, इस लिये सत्वर ही इन मार्गोंसे तुम लोग शीघ्र दौडो । (२०-२३)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भद्रे ! तुम हमसे ठीक कहो; हम लोगोंके सन्मुख कठोर वचन मत कहो; हम अनेक राजा और राजपुत्रोंको अपने बलसे मार सकते हैं । (२४)

श्री वैशम्पायनमुनि बोले, ऐसा कहकर सर्पके समान श्वास छोडते हुए पाण्डव लोग शीघ्र उसी मार्गसे चले और अपने धनुष पर रोदे चढाने लगे । थोडी दूर जाकर पाण्डवोंने सेनाके घोडोंके खुरोंसे उडती हुई धूलीको देखा; आगे चलके देखाकि पदातियोंके बीचमें भीमसेनको शीघ्र आओ ऐसा पुकारते हुए धौम्य चले जाते हैं। तब दीन पाण्डवोंने धौम्यको शान्त किया, और कहा आप सुखसे धीरे धीरे आइये, ऐसा कह पाण्डव इस प्रकार वेगसे दौडे कि, जैसे मांस खानेको बाज दौडता है। (२५-२७)

उसी समय इन्द्रके समान पराक्रमी और द्रौपदीके धर्षणसे क्रोधाविष्ट हुए पांचों पाण्डवोंने अपनी प्यारी स्त्रीको जयद्रथके रथमें बैठी हुई देखा । द्रौपदीको देखते ही, पाण्डवोंका क्रोध अग्निके समान तेज होगया, और बार बार ललकारने लगे । उस शब्द को सुनकर शत्रु

यस्मौ च राजा च महाधनुर्धरास्ततो दिशः संमुमुहुः परेषाम् २९॥ १०१४७

इति श्रीमहाभारते आरण्यके प० द्रौ० ह० प० पार्थागमने ऊनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततो घोरतरः शब्दो वने समभवत्तदा ।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १ ॥
तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा स्वयं दुरात्मा कुरुपुंगवानाम् ।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥
आयांतीमे पंच रथा महांतो मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते ।
सा जानती ख्यापय नः सुकेशि परं परं पांडवानां रथस्थम् ॥ ३ ॥
द्रौपद्युवाच --किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धैरैरनायुष्यं कर्म कृत्वाऽतिघोरम् ।
एते वीराः पतयो मे समेता न वः शेषः कश्चिदिहाऽस्ति युद्धे ॥ ४ ॥
आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षोर्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एवः ।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा संपश्यंत्याः सानुजं धर्मराजम् ॥ ५ ॥
यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदंगौ नंदोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं सदा जनाः कृत्यवंतोऽनुयांति ॥ ६ ॥
य एष जांबूनदशुद्धगौरः प्रचंडघोणस्तनुरायनाक्षः ।

दिङ्मूढ बन गये। (२७–२८) १०१४७

वनपर्वमें दोसौ उनहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ सत्तर अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भीमसेन और अर्जुनको देखकर जयद्रथकी सेनाके क्रोधी क्षत्री लोग घोर शब्द करने और पाण्डव लोग भी गर्जने लगे। तब उस वनमें महा घोर शब्द होने लगा। कुरुकुल श्रेष्ठ पाण्डवोंकी ध्वजाओंको देखकर नीच राजा जयद्रथ रथमें बैठी द्रौपदीसे कहने लगा, हे द्रौपदी! ये पांचों महारथ तेरे पति आते हैं, हे सुकेशी! तू हमसे इन पांचोंका अलग अलग वर्णन कर। (१—३)

द्रौपदी बोली रे मूर्ख! इन पांचोंका नाम सुनकर क्या करेगा; ये मेरे पांचों पति महा धनुषधारी और महावीर हैं, तैंने इनका घोर निरादर किया है; इससे तेरी सेनामें कोई जीता नहीं है; मैं भाईयोंके सहित धर्मराजको देखकर अब तुझसे कुछ नहीं डरती; रे मूर्ख! तैंने मुझसे प्रश्न किया है, इससे पाण्डवोंका वर्णन करना ही मेरा धर्म है। (४–५)

जिसकी रथकी ध्वजापर, सुन्दर रूपवाले नन्द और उपनन्द मृदङ्ग बज रहे हैं, जिस धर्म और अर्थ जाननेवालेके पीछे अनेक महात्मा लोग चलते हैं, जिसका रंग शुद्ध सोनेके समान है,

एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदंति युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥
अप्येष शत्रोः शरणागतस्य दद्यात्प्राणान्धर्मचारी नृवीरः ।
परेह्येनं मूढजवेन भूतये त्वमात्मनः प्रांजलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥ ८ ॥
अथाऽप्येनं पश्यसि यं रथस्थं महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् ।
संदष्टौष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥
आजानेया बलिनः साधु दांता महाबलाः शूरमुदावहंति ।
एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ॥१०॥
नाऽस्याऽपराद्धाः शेषमवाप्नुवंति नाऽयं वैरं विस्मरते कदाचित् ।
वैरस्यांऽतं संविधायोपयाति पश्चाच्छांतिं न च गच्छत्यतीव ॥ ११ ॥
धनुर्धराग्र्यो धृतिमान्यशस्वी जितेंद्रियो वृद्धसेवी नृवीरः ।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥
यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्त्यजेद्धर्मं न नृशंसं च कुर्यात् ।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः कुंतीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥
यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो भयार्तानां भयहर्ता मनीषी ।

जिसकी नासिका ऊंची और नेत्र बडे हैं ये ही कुरुकुल प्रधान मेरे पति धर्मराज युधिष्ठिर हैं, ये ही महात्मा शरण आये शत्रुको भी प्राणदान देते हैं; ये बहुत धर्मात्मा और महावीर हैं, अरे मूर्ख ! तू शस्त्र और अस्त्रोंको छोडकर तथा हाथ जोडकर इनकी शरण जा, तब तेरा कल्याण होगा। (६-८)

ये जो शाल वृक्षके समान ऊंचे विशालबाहु टेढी भौं और भ्रुकुटीवाले रथमें बैठे हैं जो अपने होठोंको दांतसे चबा रहे हैं, यह वृकोदर नामक मेरा पति है, जिसके रथके अश्व बलवान् और उत्तम शिक्षित हैं । जिसके कर्मोंको देखकर महा बलवान वीरोंने इन्हें साधु पदवी दी है, जिसके अमानुष कर्मने भीम ऐसा नाम प्रसिद्ध किया है, ये वही हमारे स्वामी भीमसेन हैं, इनका अपराध करके कोई जीता नहीं बचता; ये अपने वैरको कभी नहीं भूलते हैं, ये विना वैरका अन्त किये शान्त नहीं होते।९-११

जो धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् तेजस्वी जितेन्द्रिय पुरुष वीर राजा युधिष्ठिरके शिष्य और भाई हैं वही अर्जुन नामक हमारे पति हैं। ये काम क्रोध लोभ और मोहसेभी कर्म और धर्म को नहीं छोडते और कभी अधर्मका काम नहीं करते; ये ही शत्रु नाशक अग्निके समान तेजस्वी कुन्तीपुत्र अर्जुन हैं। जो सब धर्म और अर्थके

यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां यं पांडवाः परिरक्षंति सर्वे ॥ १४ ॥
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एष वीरो नकुलः पतिर्मे ।
यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो महांश्च धीमान्सहदेवोऽद्वितीयः ॥१५॥
यस्याऽद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये ।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान्मनस्वी प्रियंकरो धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ १६ ॥
य एष चंद्रार्कसमानतेज जघन्यजः पांडवानां प्रियश्च ।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ॥१७॥
स एष शूरो नित्यममर्षणश्च धीमान्प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे ।
त्यजेत्प्राणान्प्रविशेद्धव्यवाहं न त्वेवैष व्याहरेद्धर्मबाह्यम् ॥ १८ ॥
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च कुंत्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः ।
विशीर्यंतीं नावमिवाऽर्णवांते रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ॥ १९ ॥
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पांडुपुत्रैः ।
इत्येते वै कथिताः पांडुपुत्रा यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः ॥

निश्चयोंको जानते हैं, यही सब डरनेहारे पुरुषोंका भय नाश करते हैं, जिनके समान पृथ्वीमें कोई सुन्दर नहीं है, पाण्डव लोग सदा जिनकी रक्षा करते हैं, जो पाण्डवोंको प्राणसे भी अधिक प्यारे हैं, उन्हीका नाम नकुल है। जो खड्ग से विचित्र युद्ध करते हैं जिनका हाथ बहुत शीघ्र चलता है वेही महाबुद्धिमान् अद्वितीय वीर सहदेव हैं। (१२—१५)

अरे मूर्ख! तुम वीर सहदेवके कर्मको युद्धमें इस प्रकार देखोगे जैसे इन्द्रके कर्मको राक्षस लोग देखते हैं। ये महात्मा तेजस्वी शस्त्रविद्याके जाननेवाले और धर्मराजके प्रिय कार्य कर्ता हैं; यही महात्मा सहदेव चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी सब भाइयोंमें छोटे और पाण्डवोंके प्रिय हैं; इनके समान पृथ्वीमें कोई पण्डित, वक्ता, बुद्धिमान् और निश्चयकर्त्ता नहीं है; वे ही हमारे स्वामी सहदेव शूरवीर क्षमावान् और महापण्डित हैं। ये प्राणोंको त्याग दें, अग्निमें प्रवेश कर जायं, परन्तु अधर्म कभी नहीं करेंगे। ये मनस्वी सदा क्षत्रियोंके पालनेवाले महावीर और कुन्तीको प्राण के समान प्यारे हैं। (१६—१९)

अब तुम्हारी सेनाकी वह दशा है, कि जैसे रत्नोंसे भरी हुई टूटी नाव समुद्रके बीचमें किसी मछलीकी पीठमें धरी हो। अब थोडे समयमें तुम देखोगे कि पाण्डवोंने तुम्हारी सब सेनाका नाश कर दिया। जिन पांचों पाण्डवोंका मैंने वर्णन किया उन्हींका तुमने निरादर

यद्येतेभ्यो मुच्यसेऽरिष्टदेहः पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥
वैशंपायन उवाच-ततः पार्थाः पंच पंचेंद्रकल्पास्त्यक्त्वा त्रस्तान्प्रांजलींस्तान्पदातीन्
रथानीकं शरवर्षांधकारं चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य॥ २१ ॥[१०१६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि
द्रौपदीवाक्ये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २७० ॥

वैशम्पायन उवाच–संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत ।
इति स्म सैंधवो राजा चोदयामास तान्नृपान् ॥ १ ॥
ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत्तदा ।
भीमार्जुनयमान्दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ २ ॥
शिबिसौवीरसिंधूनां विषादश्चाप्यजायत ।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ॥ ३ ॥
हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।
प्रगृह्याऽभ्यद्रवद्भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ॥ ४ ॥
तदन्तरमथाऽऽवृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत् ।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ॥ ५ ॥

किया है ; यदि तुम इनसे जीते बच जाओ तो तुम्हारा दूसरा जन्म होगा । (१९–२०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उसी समय इन्द्रके समान पांचों पाण्डव लोग डरी हुई और हाथ जोडती पैदलसेनाको छोड कर जयद्रथकी प्रधान सेनापर क्रोध करके बाणोंकी वर्षा करने लगे, और अन्धकार कर दिया । (२१) १०१६८

वनपर्वमें दोसौ सत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ इकहत्तर अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पाण्डवोंको युद्ध करते देख सिन्धु देशका राजा जयद्रथ अपने साथी राजोंसे कहने लगा कि, तुम लोग शस्त्र चलाओ, दौडो, स्थिर रहो। युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको युद्धमें देखकर सिन्धु और सौवीर देशके क्षत्री गर्जने लगे । उस समय रणभूमिमें घोर शब्द होने लगा; सिंहके समान बलवान् पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंको देख शिबी, सौवीर और सिन्धु देशके क्षत्रियोंको विषाद उत्पन्न हो गया। उस समय सोनेसे खिची हुई लोहेकी गदाको लेकर भीमसेन जयद्रथकी ओर दौडे । (१–४)

तब भीमसेनके आगे महारथ सेनाको लिये हुए कोटिकास्य आया । और उसने रथोंसे घेर कर भीमके ऊपर

शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः ।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकंपत ॥ ६ ॥
गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश ।
जघान गदया भीमः सैंधवध्वजिनीमुखे ॥ ७ ॥
पार्थः पंचशताञ्शूरान्पार्वतीयान्महारथान् ।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥ ८ ॥
राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् ।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ९ ॥
ददृशे नकुलस्तत्र रथात्प्रस्कंद्य खड्गधृक् ।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत्प्रवपन्मुहुः ॥ १० ॥
सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः ।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥ ११ ॥
ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् ।
गदया चतुरो वाहान्राज्ञस्तस्य तदाऽवधीत् ॥ १२ ॥
तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुंतिनंदनः ।
अर्धचंद्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ॥ १३ ॥

शक्ति, तोमर तथा बाणोंकी वर्षा करनी आरम्भ करी; परन्तु उनसे भीम कुछभी न डरे और वीरोंके सहित चौदह हाथियोंको तथा अनेक पैदलोंको मारकर पृथ्वीमें गिरा दिया । उनके मरनेसे जयद्रथकी सेनाका मुख टूट गया । (५—७)

अर्जुननेभी सेनाके आगे लडते हुए महारथ पांच सौ वीरों को मारा और जयद्रथको ढूंढने लगे। उस समय धर्मराजने भी सुवीर देशोत्पन्न शस्त्र वाले सौ वीरों को क्षण भरमें मार डाला । उस समय वीर नकुल खड्ग लेकर अपने रथसे उतरे और पैदल सेनामें प्रवेश किया और इस प्रकार वीरोंके शिर काटकर पृथ्वीमें गिराने लगे, जैसे कोई किसान बीज बोता है। सहदेवने अपने रथको गजसेनाकी ओर चलाया और इस प्रकार वीरोंके सिर काटकर गिराने लगे जैसे वृक्षोंसे मरे हुए पक्षी गिरते हैं । (८—११)

उसी समय त्रिगर्त्त देशका राजा गदा लेकर अपने रथसे उतरा और महाराजके चारों घोडोंको मार दिया । जब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने त्रिगर्त्तराजको अपने पास खडा देखा तो अर्द्धचन्द्र बाण से उनके हृदयको विदीर्ण कर दिया ।

स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
पपाताऽभिमुखः पार्थ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥
इंद्रसेनद्वितीयस्तु रथात्प्रस्कंद्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ॥
नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमंकरमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥
तोमरैरभिवर्षंतौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥
त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याऽथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥ १८ ॥
नकुलस्त्वपभीस्तस्माद्रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्भ्रांतं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १९ ॥
सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥
नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृंतत ॥ २१ ॥
स विनद्य महानादं गजः किंकिणिभूषणः ।

उसी समय वह वीर मुखसे रुधिर गिराता हुआ जड कटे हुए वृक्षके समान पृथ्वी में गिर पडा। तब रथके घोडे नष्ट होनेके कारण इन्द्रसेनके साथ महाराज पृथ्वीमें आकर सहदेवके रथपर चढगये। १२-१५

उसी समय नकुलसे युद्ध करनेको क्षेमङ्कर और महामुख आए। वे दोनों ओरसे वर्षाकालके मेघ के समान बाण और तोमरोंकी वर्षा करने लगे। उसी समय नकुलने एक एक खड्गसे दोनोंको मार दिया। उसही समय त्रिगर्त्त देशके राजा सुरथ अपने हाथीको चलाकर नकुलसे युद्ध करनेको आये। सुरथके हाथीने नकुलके रथकी धुरीको पकडकर रथको उलट दिया। नकुलभी निडर होकर खड्ग और ढाल लेकर रथसे नीचे उतरे, और एक स्थानमें पर्वतके समान अचल होकर खडे होगए। (१६-१९)

तब सुरथने क्रोध करके घण्टाभूषित और विशाल सुण्डवाले हाथीको नकुलके मारनेको चलाया। जब नकुलने उस हाथीको अपने पास आते हुए देखा, तो अपने खड्गसे दांतोंके समेत उसका शुण्ड काट दिया। वह हाथी सूण्ड

पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ॥ २२ ॥
स तत्कर्म महत्कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥
भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य संगरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान्क्षुरेणाऽपाहरच्छिरः ॥ २४ ॥
न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याऽश्वा व्यद्रवन्संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥
विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाऽभ्येत्य पांडवः ॥ २६ ॥
द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥
शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान्सैन्धवानपि ।
जघानाऽतिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥
सादिताः प्रत्यदृश्यंत बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातंगाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥
प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥ ३० ॥

कटनेसे महाशब्द करके पृथ्वीमें गिर गया और उसके चढे हुए वीर भी उसके नीचे दबकर मर गये। वीर महारथ माद्रीपुत्र नकुल इस महा कर्मको सिद्ध करके भीमके रथपर प्राप्त होकर सुखी हुआ। (२०—२३)

भीमसेनने युद्ध करते हुए कोटिकास्यके सारथीको अपने बाणोंसे मार दिया। राजा कोटिकास्यने यह न जाना कि बलवान भीमसेनने हमारे सारथीको मार डाला। तब उसके घोडे इधर उधर घूमने लगे। जब शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने देखा कि कोटिकास्य युद्धसे भागा, तो एक प्राससे उसको मार डाला। वीर अर्जुनने अपने तीक्ष्ण बाणोंसे बारह सौवीर देशी राज पुत्रोंके धनुष और सिर काट दिये। शिबि, इक्ष्वाकु, त्रिगर्त्त, और सिन्धु देशके जो वीर युद्ध करनेको आये उन सबको अर्जुनने मार डाला। (२४—२८)

अर्जुनके मारे हुए ध्वजा और पताकोंके सहित अनेक महारथ और हाथी पृथ्वीमें गिर गये। उस समय विना सिरके शरीर और विना शरीरके सिर

श्वगृध्रकंककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ॥ ३१ ॥
हतेषु तेषु वीरेषु सिंधुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनमनाऽभवत् ॥ ३२ ॥
स तस्मिन्संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम् ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद्वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥
द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत्तदा ॥ ३४ ॥
ततस्तद्विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे ।
आदिश्याऽऽदिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥
सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायंतं जयद्रथम् ।
वारयामास निघ्नंतं भीमं सैंधवसैनिकान् । ॥ ३६ ॥
अर्जुन उवाच —यस्याऽपचारात्प्राप्तोऽयमस्मान्क्लेशो दुरासदः ।
तमस्मिन्समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥
तमेवाऽन्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता ।

समस्त रणभूमिमें भर गये । कुत्ते, गिद्ध सियार और कौवोंने तृप्त होकर रुधिर पिया और मांस खाया । अपने सङ्गके सब वीरोंको मरा हुआ देख, सिन्धुराज जयद्रथ बहुत डरा, और द्रौपदीको छोडकर भागनेकी इच्छा करने लगा । जब इस प्रकार सेनामें हाहाकारका शब्द हुआ तो जयद्रथने कहा कि द्रौपदीको रथ से उतारो, और फिर द्रौपदीको छोडकर घोर वनकी ओर भाग गया। (२९-३३

जब धर्मराजने देखा, कि धौम्यके सहित द्रौपदी पृथ्वीमें खडी है, तो उसको सहदेवके रथपर चढा लिया। जयद्रथके भागते हीं उसकी सब सेना इधर उधर भाग गई । उस समय भीमसेन प्रत्यक्ष और गुप्त बाणोंसे उन सबको मारने लगे । तब अर्जुनने कहा कि, जिस दुष्टके अपराधसे हम लोगोंको महा कष्ट हुआ है, वह जयद्रथ युद्धमें नहीं दीखता; अब उस जयद्रथको ढूंढना चाहिये, क्योंकि इन निरपराधियोंको मारना उत्तम नहीं है । (३४-३८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बुद्धिमान अर्जुनके ऐसे वचन सुन युधिष्ठिरके पास

युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन्निवर्ततु भवानितः ॥ ४० ॥
यमाभ्यां सह राजेंद्र धौम्येन च महात्मना।
प्राप्याऽऽश्रमपदं राजन्द्रौपदीं परिसांत्वय ॥ ४१ ॥
न हि मे मोक्ष्यते जीवन्मूढः सैन्धवको नृपः।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—न हंतव्यो महाबाहो दुरात्माऽपि स सैंधवः।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गांधारीं च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेंद्रिया।
कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पती भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥
कर्तव्यं चेत्प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः।
सैंधवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥
भार्याभिहर्त्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन ॥ ४६ ॥
इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैंधवः।

जाय, वक्ता भीमसेन कहने लगे, हे राजन्! सब शत्रु लोग मारे गये और बचे हुए इधर उधरको भाग गये, अब आप द्रौपदी, नकुल, सहदेव और महात्मा धौम्यको संग लेकर आश्रमको लौट जाइये, और वहां जाकर द्रौपदीको शान्त कीजिये। यदि मूर्ख जयद्रथ पातालमें भी घुस जायगा, और साक्षात् इन्द्रभी उसका सारथी बनेगा, तौ भी आज वह मुझसे जीता नहीं बचेगा। ३९-४२

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे महाबाहो! यद्यपि जयद्रथ बडा दुष्ट है, तौ भी तुम उसको मारना मत, क्योंकि उसके मरनेसे दुःशला विधवा हो जायगी, और यशस्विनी गान्धारी को भी बडा दुःख होगा; तुम इन दोनोंका स्मरण करके उचित कर्म करना। (४३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराजके ऐसे वचन सुन क्रोधसे व्याकुल लज्जावती विदुषी द्रौपदी भीम और अर्जुनसे बोली, यदि तुम मेरा प्रियकार्य करना चाहते हो, तो पापी दुर्बुद्धि पुरुषाधम कुलकलङ्क जयद्रथको अवश्य मारडालना; जो शत्रु स्त्रीको छीने, राज्यको छीने उस दुष्टको क्षमा मांगने परभी जीता छोडना न चाहिये राजा और द्रौपदीके ऐसे

राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः ॥ ४७ ॥
स प्रविश्याऽऽश्रमपदमपविद्धबृसीघटम् ।
मार्कंडेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥ ४८ ॥
द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः ।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः ॥ ४९ ॥
ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम् ।
जित्वा तान्सिंधुसौवीरान्द्रौपदीं चाऽऽहृतां पुनः॥५० ॥
स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह ।
प्रविवेशाऽऽश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी ॥५१ ॥
भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम् ।
स्वयमश्वांस्तुदंतौ तौ जवेनैवाऽभ्यधावताम् ॥ ५२ ॥
इदमत्यद्भुतं चाऽत्र चकार पुरुषोऽर्जुनः ।
क्रोशमात्रगतानश्वान्सैंधवस्य जघान यत् ॥ ५३ ॥
स हि दिव्यास्त्रसंपन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसंभ्रमः ।
अकरोद्दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमंत्रितैः ॥ ५४ ॥
ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ ।

वचन सुन पुरुषसिंह भीम और अर्जुन जयद्रथके मारनेको चले । (४४--४७)

राजाभी द्रौपदी और पुरोहित के साथ जिसके पात्र और आसन भग्न हुए हैं ऐसे अपने आश्रमपर आकर मार्कण्डेय आदि मुनियोंको देखा । वे सब ब्राह्मण लोग, सावधान होकर द्रौपदीको सोचकर रहे थे ! उसी समय अपने भाई और द्रौपदीके सहित महा ज्ञानी युधिष्ठिरभी अपने आश्रम पहुंच गये । जब सब ब्राह्मणोंने देखा कि सिन्धु और सौवीर देशके वीरोंको जीतकर महाराज आये और द्रौपदीको भी देखा तो बहुत प्रसन्न हुए । महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणोंके बीच में बैठे गये । द्रौपदी नकुल और सहदेवके सहित आश्रमके भीतर चली गयी । (४७–५१)

जब भीमसेन और अर्जुनने सुना कि जयद्रथ एक कोस तक भाग गया, तो अपने हाथसे घोडोंको शीघ्र हांकने लगे। उसी समय अर्जुनने एक अद्भुत कर्म किया अर्थात् एक कोससे जयद्रथके घोडोंको मार दिया, अत्यन्त कठिन समयमें भी अर्जुनको भ्रम नहीं होता था, और वे दिव्य अस्त्रोंके जाननेवाले थे, इसहीसे दिव्य मन्त्रोंके बलसे कठोर

हताश्वं सैंधवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम् ॥ ५५ ॥
सैंधवस्तु हतान्दृष्ट्वा तथाऽश्वान्स्वान्सुदुःखितः ।
अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम् ॥ ५६ ॥
पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद्येन वै वनम् ।
सैंधवं त्वभिसंप्रेक्ष्य पराक्रांतं पलायने ॥ ५७ ॥
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ।
अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ॥ ५८ ॥
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ।
कथं ह्यनुचरान्हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ॥ ५९ ॥
इत्युच्यमानः पार्थेन सैंधवो न न्यवर्तत ।
तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाऽभ्यद्रवद्बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान्प्रत्यभाषत ॥६०॥ [१०२२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायन एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥ समाप्तं च द्रौपदीहरणपर्व ॥

अथ जयद्रथविमोक्षणपर्व ।

वैशम्पायन उवाच-जयद्रथस्तु संप्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतावुभौ ।

कर्मोंको भी सिद्ध कर लेते थे । अनन्तर भीमसेन और अर्जुन क्रोध करके जयद्रथके पीछे दौडे, जब डरे हुए, व्याकुल और अकेले जयद्रथने देखा कि मेरे घोडे और सारथी सब मारे गये, और अर्जुन बहुत पराक्रम कर रहे हैं, तब रथको छोडकर घोर वनमें भागा।५२-५७

जब अर्जुनने देखा कि सिन्धुराज भागे जाते हैं, तो पुकार कर कहने लगे कि हे वीर ! तुमको भागना उचित नहीं है, क्या इसी बलसे दूसरेकी स्त्रीको छीनना चाहते थे ? तुमको अपने साङ्गियोंको छोडकर भागना उचित नहीं है, शत्रुओंके आगेसे भागना तुम्हारा धर्म नहीं है । अर्जुनके ऐसे वचन सुनकरभी जयद्रथ न लौटे, तब भीमसेनने कहा, रे मूर्ख ! खडा रह, खडा रह, ऐसा कहके मारनेको वेगसे दौडे । तब दयावान् अर्जुनने कहा कि इसको मत मारो । (५७—६०) [१०२२८]

वनपर्वमें दोसौ इकत्तर अध्याय और द्रौपदीहरण पर्व समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ बाहत्तर अध्याय और जयद्रथविमोक्षण पर्व ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! जब राजा जयद्रथने देखा

प्राधावत्तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ॥ १ ॥
तं भीमसेनो धावंतमवतीर्य रथाद्बली ।
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ॥ २ ॥
समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ।
शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥
पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः ।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद्विलपिष्यतः ॥ ४ ॥
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद्राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥
सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः ।
दुःशलायाः कृते राजा यत्तदाऽऽहेति कौरव ॥ ६ ॥
भीमसेन उवाच —नाऽयं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥
किं नु शक्यं मया कर्तुं यद्राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवाऽस्मान्प्रबाधसे ॥ ८ ॥
एवमुक्त्वा सटास्तस्य पंच चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचंद्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥ ९ ॥
विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।

कि भीम और अर्जुन हमारे पीछे शस्त्र लिये चले आते हैं, तो प्राणको बचाने की इच्छासे सावधान होकर भागने लगा, तब बलवान् भीमसेनने रथसे उतर कर दौडते हुए जयद्रथके बाल पकड लिये, और उठाकर पृथ्वीमें पटक दिया, और उसके सिरपर लात मारने लगे, उस प्रकारसे वह मूर्छित होगया। (१–५)

तब दयावान अर्जुनने क्रोधी भीमसेनसे कहा, कि हे कौरव ! महाराजने आज्ञा दी है कि दुःशलाको विधवा न करना। भीमसेन बोले, यह पापी दुराचारी हममें जीता बचनेके योग्य नहीं है इस पुरुषाधमने दुःख न भोगनेके योग्य द्रौपदीको दुःख दिया है, परन्तु हम क्या करें राजा सभीके ऊपर कृपा कर देते हैं, और तुम भी मूर्खतासे हमारे सब कर्मोंमें बाधा देते रहते हो। (६-८)

ऐसा कहकर भीमसेनने अर्द्धचन्द्र बाणसे जयद्रथके सिरके बाल मूंड दिये और उसके सिरपर पांच चोटी रख दी, और उसको गाली देकर कहा रे मूर्ख!

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥
एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः ।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥
तत एनं विचेष्टंतं बध्वा पार्थो वृकोदरः ।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुंठितम ॥ १३ ॥
ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा ।
अभ्येत्याऽऽश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद्युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥
दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम् ।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाऽब्रवीत् ॥ १५ ॥
राजानं चाऽब्रवीद्भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति ।
दासभावं गतो ह्येष पांडूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।
मुंचेममधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥
द्रौपदी चाऽब्रवीद्भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पंचसटः कृतः ॥ १८ ॥

यदि तू अपने जीनेकी इच्छा करता है तो हम जो कहते हैं उसको सुनः तू सब पण्डितोंकी सभामें कह दे कि हम पाण्डवोंके दास हैं तब तेरा जीवदान दिया जायगा, युद्धमें जीते हुए शत्रुओंको ऐसाही करना चाहिये। (१०-११)

ऐसा कहकर शत्रुनाशक पुरुषसिंह भीम उसको खींचने लगे। तब उसने कहा कि हम चलकर महाराजके आगे ऐसेही कह देंगे। तब भीमसेनने धूल में लिपटे हुए, मूर्च्छित जयद्रथको बांध लिया और रथमें डाल दिया। तब भीमसेन और अर्जुन राजाके पासको चले और जाकर बांधे हुए जयद्रथको आगे खडा कर दिया। (१२-१५)

तब महाराज जयद्रथको बंधा हुआ देख हंसे और अपने भाइयोंसे कहा कि इसे छोड दो फिर महाराजसे भीमसेन बोले, कि इस मूर्खको द्रौपदीके पास ले जाओ और कहो कि पाण्डवोंका यह पापी दास होगया। पश्चात् धर्मराज बोले कि यदि हमारी आज्ञा मानती हो तो इसे जीता छोड दो। द्रौपदीने युधिष्ठिरकी ओर देख भीमसेनसे कहा कि, यदि यह

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ।
ववंदे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥ १९ ॥
तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥ २० ॥
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥२१॥
एवंविधं हि कः कुर्यात्त्वदन्यः पुरुषाधमः ।
गतसत्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ॥ २२ ॥
संप्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः ।
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाऽधर्मे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ ।
एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ॥ २४ ॥
जगाम राजन्दुःखार्तो गंगाद्वाराय भारत ।
स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ॥ २५ ॥

महाराजका दास होगया और तुमने इसके सिरपर पांच शिखा भी रख दो तो अब इसे छोड दो। (१७-१८)

तब भीमसेनने राजा जयद्रथको छोड दिया ! जयद्रथने छूटकर महाराज युधिष्ठिर और सब मुनियोंको प्रणाम किया तथा बहुत व्याकुल होकर बैठ गया । तब दयावान धर्मराज युधिष्ठिरने जयद्रथसे कहा कि तुमको हम दास भावसे छुडा देते हैं अब जहांको तुम्हारी इच्छा हो तहांको चले जाओ; परन्तु ऐसा कर्म फिर कभी न करना; तुम दूसरेकी स्त्रीको इच्छा रखते हो, इस लिये तुम्हे धिक्कार है; तुम क्षद्र हो और तुम्हारे सहायक भी क्षुद्र हैं, तुम्हारे सिवा कौन नीच पुरुष ऐसे कर्मोंको करेगा ? (१९—२२)

जब महाराज युधिष्ठिरने उस पापी जयद्रथको निर्बलके समान बैठे हुए देखा, तो उसके ऊपर कृपा करी और कहा कि हे जयद्रथ ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपने घोडे रथ और पैदलोंके सहित चले जाओ; सदा धर्म करते रहना और अधर्ममें अपनी बुद्धिको कभी मत लगाना। राजाके ऐसे वचन सुन, लज्जासे नीचे मुख करके जयद्रथ चल गये। (२२—२४)

हे राजन् ! जयद्रथ वहांसे गङ्गाद्वार तीर्थको गया और वहां जाकर पार्वतीपति शिवकी तपस्या करने लगा। शिव

तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः ।
बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात्प्रीयमाणस्त्रिलोचनः ॥ २६ ॥
वरं चाऽस्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु ।
समस्तान्सरथान्पंच जयेयं युधि पांडवान् ॥ २७ ॥
इति राजाऽब्रवीद्देवं नेति देवस्तमब्रवीत् ।
अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान्युधि ॥२८॥
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम् ।
बदर्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥ २९ ॥
अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम् ।
मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम् ।
अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन्स महाशरान् ॥ ३० ॥
देवदेवो ह्यनंतात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥३१॥
युगांतकाले संप्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत् ।
सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥ ३२ ॥
निर्दहन्नागलोकांश्च पातालतलचारिणः ।
अथांऽतरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ॥ ३३ ॥

उसके घोर तपसे प्रसन्न हुए । अनन्तर त्रिनेत्र शिवने प्रगट होकर उसकी दी हुई बलिको ग्रहण किया, और उससे कहा कि जो तेरी इच्छा हो सो वर दान मांग। तब उसने कहा कि मैं पांचों पाण्डवोंको रथके सहित युद्धमें जीतूं। २५-२७

तब शिवने कहा ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि पाण्डव लोग, अजेय और अवध्य हैं; परन्तु तुम अर्जुनको छोड कर और सब पाण्डवोंको युद्धमें वारण कर दोगे क्योंकि अर्जुन नर नामक देवताके अवतार हैं; इन्होंने नारायण के सहित बदरिकाश्रममें बहुत तप किया है; उनको लोकमें कोई भी नहीं जीत सकता, वह देवतोंसेभी अजेय हैं, हमने उनको दिव्य पाशुपत अस्त्र दिया है और लोकपालोंने भी अपने अपने सब अस्त्र अर्जुनको दिये हैं । (२८-३०)

जब समस्त युगके अन्तमें प्रलय होती है, तब अनन्त जगत्की मूर्त्ति जगत्की आत्मा अव्यक्त भगवान् विष्णु समय प्राप्त होनेसे अग्नि रूप धारण करके पर्वत, समुद्र, द्वीप, वन, नाग लोक पाताल और तलातलके सहित सब जगत्

घोरस्वरा विनदिनस्तडिन्मालावलंबिनः ।
समुत्तिष्ठन्दिशः सर्वा विवर्षंतः समंततः　॥ ३४ ॥
ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः ।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठंत्यापूर्य सर्वशः　॥ ३५ ॥
एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे ।
नष्टचंद्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते　॥ ३६ ॥
चतुर्युगसहस्रांते सलिलेनाऽऽप्लुता मही ।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात्　॥ ३७ ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतींद्रियः ।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यंकभाजनम्　॥ ३८ ॥
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम् ।
कुंदेंदुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम्　॥ ३९ ॥
तत्राऽसौ भगवान्देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा ।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥ ४० ॥
सत्वोद्रेकात्प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत ।
इमं चोदाहरंत्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति　॥ ४१ ॥

को भस्म कर देते हैं । उस समय आकाशमें घोर शब्दवाले बिजुलीके सहित अनेक वर्णके मेघ प्रगट होते हैं; तब वे सब मेघ चारों ओरसे वर्षनेसे सब अग्नि नष्ट हो जाती है । (३१-३५)

उस समय इन मेघोंकी धारा बहुत भारी होती हैं इनके जलसे देश पूर्ण हो जाता है; उस जलमें सब चर और अचर डूब जाते हैं; चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और सब तारे नष्ट हो जाते हैं; यह प्रलय जब चारों युग सहस्र वार बीत जाते हैं तब होता है । उस समय सहस्र चरण सहस्र नेत्र और सहस्र सिर वाले नारायण सोनेकी इच्छा करते हैं । तब महातेजस्वी सहस्र सूर्यके समान प्रकाशमान कुन्द, चन्द्रमा, हार, गोदुग्ध, कमलकी दण्डी और कुमुदके फूलके समान सुन्दर सहस्रफण धारी शेषनागका पलंग बनाकर भगवान विष्णु समुद्रके बीचमें सो रहते हैं । वह आपकी रात्रिको रात्रिके समयके अन्धकारसे व्याप्त करता है । (३६-४०)

जब भगवान विष्णु सतो गुण अधिक होनेसे जागते हैं । उस जगतको शून्य देखते हैं । इस स्थान पर पण्डित लोग इस श्लोकका उदाहरण देते हैं । जलका

आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम ।
अयनं तेन चैवाऽऽस्ते तेन नारायणः स्मृतः ॥ ४२ ॥
प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोः सनातनः ।
ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥ ४३ ॥
ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद्विनिःसृतः ।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥ ४४ ॥
शून्यं दृष्ट्वा जगत्कृत्स्नं मानसानात्मनः समान् ।
ततो मरीचिप्रमुखान्महर्षीनसृजन्नव ॥ ४५ ॥
तेऽसृजन्सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च ।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥ ४६ ॥
सृजते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः ।
रौद्रीभावेन शमयेत्तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ ४७ ॥
न श्रुतं ते सिंधुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥
जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले ।
तदा चैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ॥ ४९ ॥
निशायामिव खद्योतः प्रावट्काले समंततः ।

नाम नारा है, वही नारा है अयन अ-र्थात् निवासस्थान जिसका उसको नारा-यण कहते हैं । उस अवस्थानमें अर्थात् जागनेके समय भगवान् सनातन विष्णु जगत् उत्पन्न करनेके लिये ध्यान करते हैं, ध्यान करते ही उनकी नाभीसे एक कमल उत्पन्न होता है,उस कमलसे चार मुखवाले ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं वे उसी कमलके ऊपर बैठकर शून्य जगत्को देखते हैं । इसके पश्चात् ब्रह्मा अपने मनसे मरीचि आदि आत्मतुल्य नौ पुत्रोंको उत्पन्न करते हैं (४१—४५)

उन्होंहीने स्थावर जङ्गम जगत्को रचा है; उन्हींसे यक्ष, राक्षस,पिशाच, भूत, सर्प और मनुष्य उत्पन्न होते हैं; परमेश्वर ब्रह्माका रूप धारण करके जग-त्को रचते हैं, विष्णु बनके रक्षा करते हैं और शिव बनके नाश करते हैं, यह तीनों मूर्त्ति ईश्वरहीकी हैं;हे सिन्धुराज! तुमने कभी वेदपाठी ब्राह्मणोंसे कहे हुए विष्णुके अद्भुत कर्म नहीं सुने । जब समस्त पृथ्वी जलसे डूब गयी तब भग-वान विष्णु शून्य आकाशमें घूमने लगे। उस समय विष्णुकी ऐसी शोभा हुई

प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाऽभवत् ॥ ५० ॥
जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति ।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥ ५१ ॥
एवं संचिंत्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ॥ ५२ ॥
कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसंमितम् ।
दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥ ५३ ॥
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत ।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसन्निभम् ॥ ५४ ॥
भूत्वा यज्ञवराहो वा अपः संप्राविशत्प्रभुः ।
दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ॥ ५५ ॥
पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्याऽर्धतनुं प्रभुः ॥ ५६ ॥
दैत्येंद्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनंदनः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा चाऽपूर्वपुरुषं क्रोधात्संरक्तलोचनः ।

जैसे वर्षाकालकी रात्रीमें जुगनूकी। उसी समय भगवान विष्णु पृथ्वीको ढूंढने लगे, तब उन्होंने डूबी हुई पृथ्वी को देखा, और विचारा कि हम कौनसा रूप धारण करके पृथ्वीको रचें।(४६-५१)

तब भगवानने दिव्यदृष्टिसे देखा और जलक्रीडा करनेकी इच्छा की। तब सूअरका रूप धारण किया। भगवानने वह वचनमय शूकररूप वेद के समान धारण किया था। वह स्वरूप सौ योजन लंबा और दश योजन चौडा था; उसकी शोभा महा पर्वतके समान थी; एक दांत बहुत प्रकाशमान और विशाल था, उस नील मेघके समान सूअरका शब्द महा मेघके समान था। भगवान् विष्णु यज्ञ वराह का रूप बनाकर जलके भीतर घुस गये फिर एक दांतपर सब पृथ्वीको उठा कर अच्छे स्थानपर रख दिया। (५२-५५)

उसके पश्चात् भगवानने विचित्र रूप धारण किया। वह शरीर आधा सिंह आधा मनुष्यका था। तब दैत्य राजकी सभामें गये और हाथको मलने लगे, देवशत्रु दितिपुत्र आदिदैत्य हिरण्यकशिपुने उस विचित्र मनुष्यको देख कर क्रोधसे लाल नेत्र कर लिये, और

शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५८ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसन्निभः।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥
समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ॥ ६० ॥
एवं निहत्य भगवान्दैत्येंद्रं रिपुघातिनम्।
भूयोऽन्यः पुंडरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥ ६१ ॥
कश्यपस्याऽऽत्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥ ६२ ॥
दुर्दिनांभोपसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः।
दंडी कमंडलुधरः श्रीवत्सोरसिभूषितः ॥ ६३ ॥
जटी यज्ञोपवीती च भगवान्बालरूपधृक्।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान्दानवेंद्रस्य वै तदा ॥ ६४ ॥
बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ॥ ६५ ॥
प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत।

हाथमें त्रिशूल लेकर मारनेको उपस्थित हुए। काले मेघके समान शब्दकारी दितिपुत्र वीर हिरण्यकशिपु नरसिंहको मारने दौडा। उसी समय बलवान नर-सिंहने अपने तीक्ष्ण नखूनोंसे, हिरण्य-कशिपुका पेट चीर दिया। (५६–६०)

इस शत्रुनाशक दैत्यको मारकर फिर भगवान कमलनेत्र विष्णुने वामन रूप धारण किया, यह वामन अवतार कश्य-पकी स्त्री अदितीके गर्भसे पूरे सहस्र वर्षमें हुआ था। भगवानके अवतार लोकके हितके लिये हैं। वामनका स्वरूप वर्षाकालके मेघके समान और नेत्र बहुत प्रकाशमान थे। वामन दण्ड कमण्डलु जटा और यज्ञोपवीत धारण करके, तथा श्रीवत्समणिको हृदयमें धारण करके बृहस्पतिकी सहायतासे बलिके यज्ञमें गये। (६१—६५)

इन वामनरूपी वामनको देखकर बलि प्रसन्न होकर कहने लगे, हे विप्र! हम तुम्हारे दर्शनसे बहुत बहुत प्रसन्न हुए हैं, कहो तुमको क्या दें, तब वामन

मेदिनी दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥ ६७ ॥
बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायाऽमिततेजसे ।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥ ६८ ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराऽऽशु स मेदिनीम् ।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ॥ ६९ ॥
एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
तेन देवाः प्रादुरासन्वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥ ७० ॥
असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च ।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥ ७१ ॥
स एव भगवान्विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते ।
अनाद्यंतमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥ ७२ ॥
यदेवं विदुषो गांति तस्य कर्माणि सैंधव ।
यमाहुरजितं कृष्णं शंखचक्रगदाधरम् ॥ ७३ ॥
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रधानं सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ ७४ ॥
सहायः पुंडरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः ।
समानस्यंदने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥ ७५ ॥

ने बलिको आशीर्वाद देकर कहा, हे दानवराज ! हमको तीन चरण पृथ्वी दिजिये। तब बलिने प्रसन्न होकर अनन्त तेजस्वी वामनको तीन चरण पृथ्वी दी, उसी समय भगवान विष्णुने अपने पराक्रमसे अद्भुत रूप धारण किया। तब अपने तीन चरणोंमें मापकर समस्त पृथ्वीका राज्य इन्द्रको दे दिया। ६५-६९

हमने तुमसे यह वामन अवतारकी कथा कही, इसीसे सब देवता उत्पन्न हुए हैं और इसी करके जगतका नाम वैष्णव है। भगवान् विष्णु दुष्टोंका नाश और धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं, वही विष्णु अब यदुवंशमें उत्पन्न हुए हैं, उन्हींका नाम श्रीकृष्ण रक्खा-गया है, वह अनादि और अजन्मा देवतोंके देवता हैं, उनको सब लोक नमस्कार करते हैं। विद्वान् लोग उनके गुणोंको गाते हैं; उनको कोई नहीं जीत सकता। हे सिन्धु देशोत्पन्न ! वही कमल नेत्र अतुल पराक्रमी शङ्ख, चक्र, गदा, श्रीवत्स और पीताम्बरधारी कृष्ण उन शस्त्रज्ञ पाण्डवोंके सहायक हैं। ७०-७४

जिस समय शत्रुनाशक श्रीकृष्ण

न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ॥ ७६ ॥
तमेकं वर्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम्।
चतुरः पांडवान्राजन्दिनैकं जेष्यसे रिपून् ॥ ७७ ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः।
उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ॥ ७८ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ७९ ॥
त्र्यंबको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः।
उमासहायो भगवांस्तत्रैवांऽतरधीयत ॥ ८० ॥
जयद्रथोऽपि मंदात्मा स्वमेव भवनं ययौ।
पांडवाश्च वने तस्मिन्न्यवसन्काम्यके तथा ॥८१॥ [१०३०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥ समाप्तं च जयद्रथविमोक्षणपर्व॥

अथ रामोपाख्यानपर्व ॥

जनमेजय उवाच– एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पांडवाः ॥ १ ॥

अर्जुनको रथपर बैठाकर युद्ध करेगें, उस समय देवता भी अर्जुनको नहीं जीत सकते और मनुष्यकी तो क्या शक्ति है? अर्जुनको छोडकर और सब युधिष्ठिर की सेना तथा चारों पाण्डवोंको तुम एक दिनमें जीत लोगे। (७६–७७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, त्रिपुरासुर-के मारनेवाले यक्ष विनाशक पार्वतीनाथ सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान शिव ऐसा कहकर अनेक शस्त्रधारी वामन, भयङ्कर, बडे विशाल नेत्र, और कानवाले घोर पार्षदोंके सहित वहीं अन्तर्धान हो गये। हे राजशार्दूल! जब त्रिनेत्रधारी पार्वतीनाथ भगवान् शिव अन्तर्धान हुए तब मूर्ख जयद्रथ भी अपने घरको चला गया, और पाण्डव लोग उसी काम्यक वनमें रहने लगे। (७८-८१)

वनपर्वमें दोसौ बाहत्तर अध्याय और जयद्रथविमोक्षण पर्व समाप्त। १०३०९]

वनपर्वमें दोसौ तिहत्तर अध्याय और रामोपाख्यान पर्व।

राजा जनमेजय बोले, द्रौपदी हरण के पश्चात् अत्यन्त क्लेश सहकर पुरुष सिंह पाण्डवोंने क्या किया? (१)

वैशम्पायन उवाच—एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥
तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कंडेयमिदं वाक्यमब्रवीत्पांडुनंदनः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भगवन्देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् ।
संशयं परिपृच्छामि छिंधि मे हृदि संस्थितम् ॥ ४ ॥
द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात्समुत्थिता ।
अयोनिजा महाभागा स्नुषा पांडोर्महात्मनः ॥ ५ ॥
मन्ये कालश्च भगवान्दैवं च विधिनिर्मितम् ।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ६ ॥
इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम् ।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवाऽनृतम् ॥ ७ ॥
न हि पापं कृतं किंचित्कर्म वा निंदितं क्वचित् ।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ॥ ८ ॥
तां जहार बलाद्राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः ।
तस्याः संहरणात्पापः शिरसः केशपातनम् ॥ ९ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! इस प्रकार द्रौपदीको छुडा-कर और जयद्रथको युद्धमें जीत कर धर्मराज युधिष्ठिरने मुनियोंका सत्कार किया। उन महा ऋषियोंके बीचमें वि-राजमान मार्कण्डेय महर्षिसे महाराज बोले, हे भगवन् ! आप सब देव ऋषि-योंमें प्रधान हैं और भूत भविष्यत्के जाननेवाले हैं,सो मेरे हृदयमें जो सन्देह है, आप इसको नाश कीजिये। (२–४)

हे भगवन् ! यह द्रौपदी किसी के गर्भसे उत्पन्न नहीं हुई, इसका जन्म यज्ञकुण्डसे हुआ है, यह धर्म करनेवाली और धर्मके जाननेवाली द्रौपदी हम लोगोंकी स्त्री और महात्मा पाण्डुकी बहू है, इसको भी ऐसे दुःख होते हैं जैसे किसी पवित्र पुरुषको चोरी अथवा झूठ बोलनेका दोष लगे; इससे जान पडता है, कि काल और प्रारब्ध बडा बलवान है, जो बात होनेवाली होती है, उसको कोई नांघ नहीं सकता; द्रौ-पदीने कभी कोई पाप निंदित कर्म वा ब्राह्मणोंका निरादर नहीं किया है, यह सदा धर्मही करती रही है। (५–८)

उसको मूर्ख दुर्बुद्धि जयद्रथ छलसे उठा ले गया, द्रौपदीके चुरानेसे उस

पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान् ।
प्रत्याहृता तथाऽस्माभिर्हत्वा तत्सैंधवं बलम् ॥ १० ॥
तद्दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ।
दुःखश्चाऽयं वने वासो मृगयायां च जीविका ॥११ ॥
हिंसा च मृगजातीनां वनौकोभिर्वनौकसाम् ।
ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरियम् ॥ १२ ॥
अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत्॥ १३॥ [१०३२२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

मार्कण्डेय उवाच— प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥ १ ॥
आश्रमाद्राक्षसेंद्रेण रावणेन दुरात्मना ।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २ ॥
प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः ।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लंकां शितैः शरैः॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कस्मिन्रामः कुले जातः किंवीर्यः किंपराक्रमः ।

मूर्खके बाल मूण्डे गये; वह दुष्ट सहायों के सहित हार गया हमने उसकी सेना को नाश करके द्रौपदीको छीन लिया, इस तरह स्वस्त्रीका हरण इस वनमें निवास करना, आखेट खेलकर जीविका चलानी, हरिनोंकी हत्या करनी, और अन्यायके द्वारा जातिसे अलग रहना, इससे अधिक और हमको दुःख क्या होगा ? आपने हमारे समान मन्द भाग्य पुरुष कोई देखा या सुना है ? (९—१३) [१०३२२]

वनपर्वमें दोसौ तिहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ चौहत्तर अध्याय

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! रामने आपसेभी अधिक दुःख पाया था; बलवान राक्षसराज दुर्बुद्धि रावणने उनके आश्रमसे छल करके उनकी स्त्री सीताको चुरा लिया था, उसीने जटायु गिद्धको भी मार डाला था तब रामने सुग्रीवका आश्रय लिया, समुद्रका सेतु बांधा, और तीक्ष्णबाणोंसे लङ्काको जलाकर सीताको छीन लिया ।१—३

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भगवन्! राम कौन कुलमें उत्पन्न हुए थे ? उन-

रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं तस्य तेन ह ॥ ४ ॥
एतन्मे भगवन्सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच— अजो नामाऽभवद्राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः ।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्छुचिः ॥ ६ ॥
अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ७ ॥
रामस्य माता कौसल्या कैकेयी भरतस्य तु ।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ॥ ८ ॥
विदेहराजो जनकः सीता तस्याऽऽत्मजा विभो ।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥
एतद्रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम् ।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥ १० ॥
पितामहो रावणस्य साक्षाद्देवः प्रजापतिः ।
स्वयंभूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥
पुलस्त्यो नाम तस्याऽऽसीन्मानसो दयितः सुतः ।

का बल और पराक्रम कैसा था ? रावण किसका पुत्र था ? और उन दोनोंका वैर क्यों होगया था ? श्रेष्ठ कर्म करनेवाले रामकी इन सब कथाओंको हम आपसे सुनना चाहते हैं; आप इस कथा को कहिये । (४-५)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे पृथ्वीनाथ ! इक्ष्वाकु वंशमें अज नामक महाराज उत्पन्न हुए थे; उनके पुत्रका नाम दशरथ था। दशरथ महाराज परम वेदपाठी और पवित्र थे । उनके चार पुत्र हुए; चारोंके नाम ये थे राम, लक्ष्मण भरत, और शत्रुघ्न । ये चारों धर्म और अर्थके जाननेवाले तथा महा पराक्रमी थे । रामकी माताका नाम कौशल्या, भरतकी माताका नाम कैकेयी, तथा शत्रुनाशन लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे । हे राजन् ! मिथिला देशके राजा जनककी पुत्रीका नाम सीता था; उनको साक्षात् ब्रह्माने बनाया था; यही सीता रामचन्द्रकी पटरानी थी । (६—९)

हमने राम और सीताका जन्म तुमसे कहा, अब रावणका जन्म वर्णन करते हैं । रावणके दादाका नाम साक्षात् ब्रह्मा है; वेही सब लोकोंके करनेवाले महा तपस्वी और स्वयं उत्पन्न होनेवाले

तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत्प्रभुः ॥ १२ ॥
पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः ।
तस्य कोपात्पिता राजन्ससर्जाऽऽत्मानमात्मना ॥१३॥
स जज्ञे विश्रवा नाम तस्याऽऽत्मार्धेन वै द्विजः ।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥
पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह ।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥
ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम् ।
राजधानीनिवेशं च लंकां रक्षोगणान्विताम् ॥ १६ ॥
विमानं पुष्पकं नाम कामगं च ददौ प्रभुः ।
यक्षाणामाधिपत्यं च राजराजत्वमेव च ॥ १७ ॥ [१०३३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणयोर्जन्मकथने चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४ ॥

मार्कंडेय उवाच— पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः ।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥

हैं । उनके प्रिय मानसिक पुत्रका नाम पुलस्त्य है; उस पुलस्त्यकी गऊ नामक स्त्रीके गर्भसे वैश्रवण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, वह वैश्रवण अपने पिताको छोडकर ब्रह्माके पास चला गया, तब उनके पिताको बहुत क्रोध हुआ और उन्होंने अपने शरीरसे एक दूसरा पुत्र उत्पन्न किया; उस पुत्रका नाम विश्रवा रखा । (१०–१४)

उस पुत्रको वैश्रवणके नाश करनेको बनाया था; परन्तु ब्रह्माने पहिलेही प्रसन्न होकर वैश्रवणको अमरत्व और कुबेरका पद दे दिया था और लोकपाल भी बना दिया था, तब शिव उनके मित्र होगये, और उनको नलकूबर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । तब ब्रह्माने राक्षसोंके समेत लंकाको कुबेरकी राजधानी बनाया और इच्छानुसार चलनेवाला पुष्पक नामक विमान दिया और यक्षोंका स्वामी बनाकर राजराजका पद दिया । (१४–१७) [१०३३९]

वनपर्वमें दोसौ चौहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ पचहत्तर अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे महाराज युधिष्ठिर ! क्रोधयुक्त पुलस्त्य मुनिके आधे शरीरसे जो विश्रवा नामक मुनि उत्पन्न हुए थे, उन्होंने क्रोध करके कुबेरकी ओर देखा; तब कुबेरने जाना कि,

बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः ।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप ॥ २ ॥
स राजराजो लंकायां न्यवसन्नरवाहनः ।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥
ताः सदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः ।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४ ॥
पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशांपते ।
अन्योन्यस्पर्धया राजञ्श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः॥ ५ ॥
स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान् ।
लोकपालोपमान्पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ॥ ६ ॥
पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ ।
कुंभकर्णदशग्रीवौ बलेनाऽप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥
मालिनी जनयामास पुत्रमेकं बिभीषणम् ।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ॥ ८ ॥
बिभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ॥ ९ ॥
दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुंगवः ।

ये महात्मा हमारे पिताके क्रोधसे उत्पन्न हुए । फिर उनके प्रसन्न करनेका उपाय करने लगे । नरवाहन राक्षसनाथ कुबेर बहुत दिनतक लङ्कामें राज्य करते रहे, फिर उन्होंने विश्रवाको पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी नामक तीन राक्षसी दयीं। नृत्य गीतमें प्रवीण वे तीनों महात्मा विश्रवाको प्रसन्न करनेको उपाय करने लगीं । हे भरतश्रेष्ठ ! वे सुन्दरी परस्पर अपना अपना कल्याण चाहती थीं। १-५

तब भगवान् विश्रवाने प्रसन्न होकर तीनोंको वरदान दिया कि तुम्हारे तीनोंके एक एक पुत्र होगा, ये तीनों पुत्र तुम्हारी इच्छाके अनुसार लोकपालोंके समान होंगे । तब पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए,एकका नाम कुम्भकर्ण और दूसरेका नाम रावण था; ये दोनों महा बलवान और राक्षसोंके राजा हुए; मालिनीके बिभीषण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; राकाको खर और सूर्पनखा नामक दो सन्तति हुई; इन सबमें बिभीषण बहुत सुन्दर क्रियावान् और धार्मिक हुआ । रावण भाईयोंमें सबसे बढा था; इस लिये वही राजा हुआ । यह दश मुख

महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १० ॥
कुंभकर्णो बलेनाऽऽसीत्सर्वेभ्योऽभ्यधिको युधि ।
मायावी रणशौंडश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥ ११ ॥
खरो धनुषि विक्रांतो ब्रह्मद्विद् पिशिताशनः ।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तदा ॥ १२ ॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ऊषुः पित्रा सह रता गंधमादनपर्वते ॥ १३ ॥
ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम् ।
पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥
जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः ।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ॥ १५ ॥
अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान् ।
वायुभक्षो दशग्रीवः पंचाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥
अधःशायी कुंभकर्णो यताहारो यतव्रतः ।
बिभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन् ॥ १७ ॥
उपवासरतिर्धीमान्सदा जप्यपरायणः ।
तमेव कालमातिष्ठत्तीव्रं तप उदारधीः ॥ १८ ॥

रावण महा पराक्रमी महाबली और महा उत्साही था । (६–१०)

कुंम्भकर्ण सब भाईयोंमें अधिक बलवान और युद्धमें वीर था; खर छली, युद्धवीर, दुष्टबुद्धि, धनुष विद्याका जाननेवाला, ब्राह्मणोंका शत्रु और मांस खानेवाला था । सूर्पनखा सिद्धोंको विघ्न करनेवाली और दुष्टा थी। ये चारों भाई वेदके पण्डित व्रतधारी और वीर थे । ये सब अपने पिताके सङ्ग गन्धमादन पर्वतपर रहने लगे । (११—१३)

एक दिन उन्होंने अपने पिताके सङ्ग बैठे हुए परम लक्ष्मीवान नरवाहन कुबेर को देखा और तब उन सबको महाक्रोध हुआ और तप करनेका निश्चय किया । अनन्तर इन चारोंने घोर तपसे ब्रह्माको प्रसन्न किया। रावण एक सहस्र वर्षतक वायु भक्षण करके एक चरणसे खडा रहा और सावधान होकर पांच अग्नि तापने लगा । कुभकर्ण पृथ्वीमें सोकर व्रत करने लगे, बिभीषण एक सूखे पत्ते खाकर तप करने लगे,ये उदार बुद्धि तब भी कुछ दिनतक उपवास करके तीव्र तप करते रहे । (१४–१८)

खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः ।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ ॥ १९ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः ।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनाऽतुष्यज्जगत्प्रभुः ॥ २० ॥
ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान्न्यवारयत् ।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच —प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान्वृणुत पुत्रकाः ।
यद्यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथाऽस्तु तत् ॥ २२ ॥
यद्यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया ।
तथैव तानि ते देहे भविष्यंति यथेप्सया ॥ २३ ॥
वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा ।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च संशयः ॥ २४ ॥

रावण उवाच —गंधर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा ।
सर्पकिंनरभूतेभ्यो न मे भूयात्पराभवः ॥ २५ ॥

ब्रह्मोवाच — य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव ।
ऋते मनुष्याद्भद्रं ते तथा तद्विहितं मया ॥ २६ ॥

मार्कंडेय उवाच—एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत्तदा ।

खर और सूर्पनखा प्रसन्न होकर तप करनेके समय उन सबकी सेवा और रक्षा करते रहे। एक सहस्र वर्षके पश्चात् रावणने अपना सिर काटकर अग्निमें जला दिया, तब जगत्के स्वामी ब्रह्मा प्रसन्न होगये और इन सबके पास आकर वरदान देनेको कहा, तथा तप करनेसे निवारण किया। (१९—२१)

ब्रह्मा बोले, हे पुत्रो! हम तुम लोगोंसे प्रसन्न हुए, अब जो चाहो सो वरदान मांगो, परन्तु अमर नहीं होगे; जितने सिर तुमने अग्निमें होम किये हैं उतने सब तुम्हारी इच्छानुसार उत्पन्न होजायंगे ; तुम्हारा शरीर कुरूप नहीं होगा तुम इच्छानुसार रूप धारण कर लोगे और युद्धमें सब शत्रुओंको जीतोगे। रावण बोले, गन्धर्व, देवता, अमर, यक्ष, राक्षस, सर्प और गन्धर्वोंसे मेरी मृत्यु न हो। ब्रह्मा बोले, हे रावण ! तुम्हारा कल्याण हो, तुमने जिन सब लोगोंका नाम लिया उनसे मृत्यु नहीं है, तुमको मनुष्यके सिवा और कोई नहीं मार सकेंगे। (२२–२६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, ब्रह्माके

अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान्पुरुषादकः ॥ २७ ॥
कुंभकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः ।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥
तथा भविष्यतीत्युक्त्वा बिभीषणमुवाच ह ।
वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ २९ ॥
बिभीषण उवाच —परमापद्गतस्यापि नाऽधर्मे मे मतिर्भवेत् ।
अशिक्षितं च भगवन्ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥
ब्रह्मोवाच — यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्याऽमित्रकर्शन ।
नाऽधर्मे धीयते बुद्धिरमरत्वं ददामि ते ॥ ३१ ॥
मार्कंडेय उवाच —राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशां पते ।
लंकायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ॥ ३२ ॥
हित्वा स भगवाँल्लंकामाविशद्गंधमादनम् ।
गंधर्वयक्षानुगतो रक्षःकिंपुरुषैः सह ॥ ३३ ॥
विमानं पुष्पकं तस्य जहाराऽऽक्रम्य रावणः ।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद्वहिष्यति ॥ ३४ ॥
यस्तु त्वां समरे हंता तमेवैतद्वहिष्यति ।

वचन सुन रावण बहुत प्रसन्न हुआ और जाना कि मनुष्योंको हम खानेवाले हैं, मनुष्यसे हमको क्या भय है। तब तमोगुणसे चित्त व्याप्त होनेके कारण कुम्भकर्णने ब्रह्माजीसे कहा हमको निद्रा अधिक मिले। उसको यही वरदान देकर ब्रह्मा बिभीषणसे बोले, हे पुत्र! हम तुमसे प्रसन्न हुए हैं,अब जो तुम्हारी इच्छा हो, सो वरदान मांगो। बिभीषण बोले, हे भगवन्! मैं यह वरदान मांगता हूं कि अत्यन्त आपत्ति पडने पर भी मेरी बुद्धि अधर्ममें न जाय और मुझको विना पढे ब्रह्मास्त्र आजाय। ब्रह्माजी बोले, हे शत्रुनाशन! तुमने राक्षस योनिमें उत्पन्न होकर भी अधर्मको ग्रहण न किया, इससे हम तुमको अमर बनाते हैं। (२७-३१)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे पृथ्वीनाथ! रावण राक्षसने इस प्रकार ब्रह्माजीसे वरदान पाकर युद्ध करके लङ्का छीन ली। भगवान् कुबेर लङ्काको छोडकर गन्धर्व यक्ष और राक्षसोंके सहित गन्धमादनको भाग गये। तब रावणने वहां जाकर उनसे पुष्पक विमान छीन लिया; तब कुबेरने रावणको शाप दिया कि यह विमान तुझको नहीं ले जा

अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ॥ ३५ ॥
बिभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन् ।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ॥ ३६ ॥
तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः ।
सैनापत्यं ददौ धीमान्यक्षराक्षससेनयोः ॥ ३७ ॥
राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः ।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिंचन्दशाननम् ॥ ३८ ॥
दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः ।
आक्रम्य रत्नान्यहरत्कामरूपी विहंगमः ॥ ३९ ॥
रावयामास लोकान्यत्तस्माद्रावण उच्यते ।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ॥ ४० ॥ [१०३७९]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २७५ ॥

मार्कंडेय उवाच —ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा ।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ॥ १ ॥
अग्निरुवाच —योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः ।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥

सकेगा और जो तेरा मारनेवाला होगा वह इसपर चढेगा, हम तुझसे बडे हैं, तैने हमारा अपमान किया है, इसलिये तू बहुत दिन नहीं जीयेगा । (३२–३५)

महात्मा बिभीषण धर्मात्माओंके भागको स्मरण करके परम लक्ष्मीके सहित कुबेरके सङ्ग घूमते रहे । तब भगवान् कुबेरने प्रसन्न होकर बिभीषणको यक्ष और राक्षसोंका सेनापति बनाया । उसी समय मनुष्यभक्षी राक्षस महा बलवान पिशाच और सबने मिलकर रावणको राजा बनाया । रावणने राजा होकर देवता और दानवोंसे युद्ध करके रत्नोंको छीन लिया । रावण कामरूपी और आकाशचारी था । उसने सब लोकोंको रुलाया, इस लिये उसका नाम रावण हुआ । उसने राजा होकर देवतोंको बहुत दुःख दिया । (३६–४०) १०३७९

वनपर्वमें दोसौ पचहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ छिहत्तर अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे महाराज युधिष्ठिर ! तब एकदिन ब्रह्मऋषि, सिद्ध और देवर्षि लोग अग्निको आगे करके ब्रह्माजीके पास गये अग्नि बोले, हे भगवन् ! आपने जो महाबलवान् रावणको वरदान देकर अवध्य कर दिया है; सो

स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः ।
ततो नस्त्रातु भगवान्नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥ ३ ॥
न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो ।
विहितं तत्र यत्कार्यमभितस्तस्य निग्रहः ॥ ४ ॥
तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः ।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत्कर्म करिष्यति ॥ ५ ॥
मार्कंडेय उवाच— पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ शक्रमब्रवीत् ।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं संभव त्वं महीतले ॥ ६ ॥
विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः ।
जनयध्वं सुतान्वीरान्कामरूपबलान्वितान् ॥ ७ ॥
ततो भागानुभागेन देवगंधर्वदानवाः ।
अवतर्तुं महीं सर्वे मंत्रयामासुरंजसा ॥ ८ ॥
तेषां समक्षं गंधर्वीं दुंदुभीं नाम नामतः ।
शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥
पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुंदुभी ततः ।
मंथरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत्तदा ॥ १० ॥

अब सबको बहुत दुःख देता है, वह महा बलवान् रावण सब जगतको बाधा दे रहा है, इस लिये आप हमारी रक्षा कीजिये, आपके सिवा और कोई रक्षा नहीं कर सकता है। (१–३)

ब्रह्मा बोले, हे अग्ने ! उसको देवता और दानव कोई नहीं मार सकते हैं, इस लिये उसका जीतना बहुत कठिन है; इसी लिये भगवान् विष्णुने हमारी प्रार्थनासे जगत्में अवतार लिया है, शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ विष्णुही इस कामको सिद्ध कर सकते हैं। (४–५)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, अनन्तर ब्रह्माजीने सब देवतोंके सहित इन्द्रसे कहा कि तुम लोग विष्णुकी सहायताके लिये रीछ और वानरोंकी स्त्रियोंके गर्भमें अवतार लो और अपने वीर्यसे बलवान पुत्रोंको उत्पन्न करो। ब्रह्माके ऐसे वचन सुन देवता दानव और गन्धर्वोंने अपने अंगोंसे अवतार लेनेकी संमति करी । उसी समय भगवान् ब्रह्माने दुन्दुभी नामक गन्धर्वीसे कहा कि तुम देवतोंके कार्यकी सिद्धिके लिये पृथ्वीमें अवतार लो। वरदान देनेवाले ब्रह्माजीकी आज्ञा सुन दुन्दुभी नामक गन्धर्वीने पृथ्वीमें अवतार लिया और उसका नाम मन्थरा

शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः ।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ॥ ११ ॥
तेऽन्ववर्तन्पितॄन्सर्वे यशसा च बलेन च ।
भेत्तारो गिरिश्रृंगाणां सालतालशिलायुधाः ॥ १२ ॥
वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा ।
कामवीर्यबलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १३ ॥
नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे ।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ॥ १४ ॥
एवं विधाय तत्सर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
मंथरां बोधयामास यद्यत्कार्यं यथा यथा ॥ १५ ॥
सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा ।
इतश्चेतश्च गच्छंती वैरसंधुक्षणे रता ॥ १६ ॥ [१०३९५]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानराद्युत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७६॥

युधिष्ठिर उवाच —उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक् ।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥
कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

हुआ वह कुब्जा थी । (६-१०)

इन्द्रादिक देवतोंने उत्तम उत्तम वानरोंकी स्त्रियोंके गर्भसे पुत्र उत्पन्न किये। इसी प्रकार रीछोंकी स्त्रियोंके गर्भसेभी पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब लोग बल और यशमें देवतोंके समान थे; पर्वतोंके शिखरोंको तोड सकते थे; शाल ताड आदि वृक्ष ही उनके शस्त्र थे; उन लोगोंका बल अत्यन्त था । वे लोग इच्छानुसार शरीर और बलको धारण कर सकते थे, सब लोग युद्ध विद्याके पण्डित, सहस्र हाथियोंके समान बलवान, वायुके समान तेज चलनेवाले और इच्छानुसार निवास करनेवाले तथा कोई वनमें रहनेवाले थे । (११—१४)

भगवान् ब्रह्माने ये सब प्रबन्ध करके मन्थराको सब काम बता दिया । मन्थरा ब्रह्माके वचन स्वीकार करके इधर उधर घूमने लगी और वैर करानेके लिये समय देखने लगी । (१५-१६)[१०३९५]

वनपर्वमें दोसौ छिहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ सतहत्तर अध्याय ।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भगवन्! आपने राम आदिका जन्म हमसे वर्णन किया, अब आप उनके वन जानेका वर्णन कीजिये, दशरथके पुत्र वीर राम

संप्रस्थितौ वने ब्रह्मन्मैथिली च यशस्विनी ॥ २ ॥

मार्कंडेय उवाच- जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप ।
क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ॥ ३ ॥
क्रमेण चाऽस्य ते पुत्रा व्यवर्धंत महौजसः ।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ॥ ४ ॥
चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव ।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत्सुखी ॥ ५ ॥
ज्येष्ठो रामोऽभवत्तेषां रमयामास हि प्रजाः ।
मनोहरतया धीमान्पितुर्हृदयनंदनः ॥ ६ ॥
ततः स राजा मतिमान्मत्वाऽऽत्मानं वयोधिकम् ।
मंत्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ॥ ७ ॥
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत ।
प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मंत्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥
लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमात्तंगगामिनम् ।
दीर्घबाहुं महोरस्कं नीलकुंचितमूर्धजम् ॥ ९ ॥
दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे ।

और लक्ष्मण यशस्विनी सीताको सङ्गमें लेकर वनको क्यों गये थे ? (१-२)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे नरनाथ! जब महाराज दशरथके चार पुत्र उत्पन्न हो गये तब दशरथ परम प्रीतिसे क्रिया कर्म और बूढोंकी सेवा करने लगे; महाराजके चार पुत्र महा तेजस्वी वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले धनुर्वेदके पारगामी और ब्रह्मचारी थे । अनन्तर महाराजने चारों पुत्रोंका विवाह कर दिया । उस समय महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए। उन चारों भाइयोंमें बडेका नाम राम था । उनसे प्रजा बहुत प्रसन्न रहती थी। बुद्धिमान् राम बहुत उत्तम थे, इसीसे उनके पिता बहुत प्रसन्न रहते थे । (३-६)

हे भारत ! जब बुद्धिमान् दशरथने देखा कि मैं वृद्ध होगया तब धर्म जानने वाले मन्त्री और पुरोहितोंको बुलाकर रामको युवराज करनेकी संमति पूंछी। मन्त्रियोंने भी उचित समय जानकर स्वीकार किया । (७-८)

हे कुरुनन्दन! महाराज दशरथ लाल नेत्रवाले, महाबाहु, मतवाले हाथीके समान चालवाले, ऊंचे कन्धे और काले बालवाले, महातेजस्वी, इन्द्रके समान

पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम् ।
जितेंद्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥
नियंतारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
धृतिमंतमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥
पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानंदवर्धनम् ।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत्कुरुनंदन ॥ १३ ॥
चिंतयंश्च महातेजा गुणान्रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥
अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन्पुण्यं योगमुपैष्यति ।
संभाराः संभ्रियंतां मे रामश्चोपनिमंत्र्यताम् ॥ १५ ॥
इति तद्राजवचनं प्रतिश्रुत्याऽथ मंथरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चंडो दशतु दुर्भगे ॥ १७ ॥
सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ॥ १८ ॥
सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता ।

योद्धा, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, सब धर्मोंके जाननेवाले, सब विद्याओंके पण्डित, सबके प्यारे, जितन्द्री, शत्रुओं को भी मनोहर, दुष्टोंको दण्ड देनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक, बुद्धिमान और जीत-नेवाले रामको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। (९-१३)

महातेजस्वी दशरथ बलवान रामके गुणोंको विचारकर अपने पुरोहितसे बोले, हे ब्रह्मन्! आपका कल्याण हो, आज सायं काल पुष्य नक्षत्र आवेगा, इससे सब सामग्री इकट्ठी करो और रामको निमन्त्रण दे आओ। महाराज-की ऐसी आज्ञाको सुन मन्थरा कैकेयीके पास गई, और अच्छा समय जानकर कहने लगी, हे कैकेयी! आज राजाने तुमको महा दुःख देनेका उपाय किया है; हे दुर्भागिनी! यदि तुझको घोर सर्प काट ले और तू मर जाय तो अच्छा हो, कौसल्या बडी भाग्यवती है, जिसका पुत्र प्रातःकाल राजा होगा, तुम बडी दुर्भागिनी हो जिसका पुत्र राजा न

वेदीविलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विविक्ते पतिमासाद्य हसंतीव शुचिस्मिता।
प्रणयं व्यंजयंतीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥
सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान्।
उपाकुरुष्व तद्राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ॥ २१ ॥

राजोवाच—

वरं ददानि ते हंत तद् गृहाण यदिच्छसि।
अवध्यो वध्यतां कोऽद्य वध्यः कोऽद्य विमुच्यताम् ॥२२॥
धनं ददानि कस्याऽद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः।
ब्राह्मणस्वादिहाऽन्यत्र यत्किंचिद्वित्तमस्ति मे ॥ २३ ॥
पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता।
यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम् ॥ २४ ॥
सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम्।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २५ ॥
आभिषेचनिकं यत्ते रामार्थमुपकल्पितम्।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २६ ॥
स तद्राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम्।

हुआ। (१४—१८)

मन्थराके ऐसे वचन सुन सुन्दरी वेदीके समान कृश कमर वाली कैकेयी सब आभूषण पहिनकर राजाको एकान्तमें बुलाकर विनय करके हंसती हुई मीठे वचनसे बोली, हे सत्यप्रतिज्ञ महाराज! तुमने जो हमको दो वर दान दिये थे उनको आज पूर्ण करके उस संकटमे मुक्त होना आपको योग्य है। १९–२१

महाराज बोले, हे कल्याणि! जो तुम्हारी इच्छा हो सो वरदान मांगो, हम तुम्हे देंगे तुम्हारे कहनेसे न मारने योग्य भी पुरुष मारा जायगा और मारने योग्य छोड दिया जायगा, कहो कौनसे निर्धनको धनी कर दूं और कौनसे धनीको निर्धन कर दूं; ब्राह्मणोंके धनको छोडकर और जो कुछ मेरे पास है, सो सब तुम्हारे कहनेसे दानकर सकता हूं, मैं पृथ्वीमें राजोंका महाराज हूं, चारों वर्णकी रक्षा करता हूं, इससे जो तुम्हारी इच्छा हो सो वरदान तुम शीघ्र मांगो। (२२–२४)

राजाके ऐसे वचन सुन और अपने को प्रबल जान कैकेयी बोली, तुमने जो रामके अभिषेकके लिये सामग्री इकट्ठी की है, उससे भरतका अभिषेक

दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद्व्याजहार ह ॥ २७ ॥
ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान् ।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ॥ २८ ॥
तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान्धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा ।
सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २९ ॥
ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा ।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ ३० ॥
रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथा गतम् ।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥
गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकंटकम् ॥ ३२ ॥
तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम् ।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३३ ॥
अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने ।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥
स चारित्रं विशोध्याऽथ सर्वप्रकृतिसन्निधौ ।

हो और राम बनको जायं । राजाने ऐसे कठोर और अप्रिय कैकेयीके वचन सुनकर कुछ न कहा और व्याकुल होगये। जब बलवान् रामने इस समाचारको सुना तो महाराजकी प्रतिज्ञा सत्य हो ऐसा कहकर वनको चले गये। उनके पीछे धनुष धारण करके श्रीमान् लक्ष्मण भी उनके सङ्ग चले, उनके पीछे विदेहराज-नन्दिनी सीता भी चली। (२५—२९)

रामके जानेके पश्चात् महाराज दशरथ स्वर्गको चले। जब कैकेयीने देखा कि राम वनको चले गये, तब भरतको बुलाकर कहा कि राजा दशरथ तो स्वर्गको चले गये और राम लक्ष्मण वनवासी होगये, अब तुम इस बडे भारी राज्यको ग्रहण करो। (३०—३२)

माताके वचन सुन धर्मात्मा भरतने कहा, हे कुलकलंकिनी मा ! तैंने धनके लोभसे अपने पतिको मार डाला और अयशकी मोट मेरे सिर पर धर दी; अब तू प्रसन्न होकर अपनी इच्छानुसार काम कर ! ये कहकर भरत रोने लगे। अनन्तर सब सभासदोंको बुलाकर सबके आगे कहा कि यह काम मेरे सम्मतिसे नहीं हुआ; कैकेयीने अपनी इच्छानुसार

अन्वयाद् भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ॥ ३५ ॥
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३६ ॥
वसिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चाऽन्यैः सहस्रशः।
पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकांक्षया ॥ ३७ ॥
ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम्।
तापसानामलंकारं धारयंतं धनुर्धरम् ॥ ३८ ॥
विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा।
नंदिग्रामेऽकरोद्राज्यं पुरस्कृत्याऽस्य पादुके ॥ ३९ ॥
रामस्तु पुनराशंक्य पौरजानपदागमम्।
प्रविवेश महारण्यं शरभंगाश्रमं प्रति ॥ ४० ॥
सत्कृत्य शरभंगं स दंडकारण्यमाश्रितः।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत्तदा ॥ ४१ ॥
वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम्।
खरेणाऽऽसीन्महद्वैरं जनस्थाननिवासिना ॥ ४२ ॥
रक्षार्थं तापसानां तु राघवो धर्मवत्सलः।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि राक्षसान् ॥ ४३ ॥

किया है। अनन्तर भरत रामको लौटानेके लिये चले। (३३-३५)

सबसे पहिले कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी चलीं; उनके पीछे शत्रुघ्नके सहित भरत चले; फिर वासिष्ठ और वामदेव महाऋषियोंके सहित सहस्रों ब्राह्मण, उनके पीछे नगर और सेनाके लोग चले। भरतने चित्रकूट पर्वत पर लक्ष्मणके सहित रामको देखा कि मुनियोंका वेष धारण किये धनुष हाथमें लिये बैठे हैं। रामने भरतको बहुत समझाया और कहा कि मेरे लौटनेसे पिताके वचन असत्य होजायंगे। तब भरत अयोध्याको लौट आये और रामकी खडाऊं रखके नन्दिग्राममें राज्य करने लगे।(३६-३९)

रामने जाना कि यहां फिर भी नगर निवासी आवेंगे, तब वहांसे महा घोर वनको चले गये; वहांसे शरभङ्ग मुनिके आश्रम पर पहुंचे वहां शरभङ्ग मुनिकी पूजा करके दण्डकारण्य वनको चले गये, वहां रमणीय गोदावरीके तटपर रहने लगे, उस वनमें सूर्पनखाके कार्यसे जन-स्थान निवासी खर नामक राक्षससे घोर वैर होगया। धर्मप्रिय रामने मुनियोंकी

दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान्धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४४ ॥
हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लंकां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४५ ॥
ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ॥ ४६ ॥
तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्छितः ।
उत्पपाताऽऽसनात्क्रुद्धो दंतैर्दंतानुपस्पृशन् ॥ ४७ ॥
स्वानमात्यान्विसृज्याऽथ विविक्ते तामुवाच सः ।
केनाऽस्येवं कृता भद्रे मामचिंत्याऽवमन्य च ॥ ४८ ॥
कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते ।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम् ॥ ४९ ॥
आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः ।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्राग्रां स्पृश्य तिष्ठति ॥ ५० ॥
इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरंध्रतः ॥ ५१ ॥

रक्षाके निमित्त चौदह सहस्र राक्षसोंको मारा उसी युद्धमें महाबलवान खर और दूषणभी मारे गये । तब बुद्धिमान राम ने उस धर्मस्थानको पुनः कल्याणकारक बना दिया । (४०-४४)

उन राक्षसोंके पश्चात् सूर्पणखा लङ्का में रावणके घर गई और मूर्च्छित होकर चरणोंमें गिर पडी । सूर्पनखाके मुखका रक्त सूख गया था । सूर्पनखाकी यह दशा देख रावणको बडा क्रोध हुआ । वह अपने दांतोंसे दांतको चावने लगा और सिंहासनपरसे कूदने लगा । (४५-४७)

तब रावणने अपनी सभाको विसर्जन किया और सूर्पनखाको एकान्तमें बुला-कर पूंछने लगा, हे भद्रे! मेरा निरादर करके तुम्हारी यह दशा किसने कर दी? कौन घोर त्रिशूलपर बैठकर अपने शरीर को काटना चाहता है ? किसने जलती हुई अग्निको अपने सिरहाने रखकर सुखसे सोनेकी इच्छा करी है? कौन मूर्ख विषभरे सर्पको लातसे मारना चाहता है ? कौन घोर बलवान सिंहके दांत उखाडना चाहता है ? ऐसा कहते हुए रावणके कान नाकसे अग्निकी ज्वाला निकलने लगीं, उस समय रावणकी ऐसी

तस्य तत्सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम् ।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम् ॥ ५२ ॥
स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसांत्व्य च ।
उर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम् ॥ ५३ ॥
त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च ।
ददर्श मकरावासं गंभीरोदं महोदधिम् ॥ ५४ ॥
तमतीत्याऽथ गोकर्णमभ्यगच्छद्दशाननः ।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः ॥ ५५ ॥
तत्राऽभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः ।
पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम् ॥ ५६ ॥ [१०४५१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७७॥

मार्कण्डेय उवाच — मारीचस्त्वथ संभ्रांतो दृष्ट्वा रावणमागतम् ।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः ॥ १ ॥
विश्रांतं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः ।
उवाच प्रश्रुतं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ २ ॥

शोभा हुई जैसे रातमें जलते हुए वृक्षकी। (४८-५१)

तब सूर्पनखाने रामका सब बल कह सुनाया और कहा कि चौदह सहस्र राक्षसोंके सहित खर दूषणभी मारे गये। तब रावणने सूर्पनखाको शान्त किया और रामके मारनेका विचार करने लगा। (५२-५३)

राजा रावणने अपने सब नगरका प्रबन्ध ठीक किया; उसके पश्चात् त्रिकूटाचल और काल पर्वतको नांघकर मगरोंसे पूर्ण रमणीय समुद्रको देखता हुआ, आकाश मार्गसे गोकर्णकी ओर चला। वह गोकर्ण शूल धारी महात्मा शिवका अत्यन्त प्रिय स्थान है; वहां रावणने जाकर अपने पहले अमात्य मारीचको देखा; वह मारीच पहिलेहीसे रामके डरके मारे उस स्थानमें तप करने के लिये आपडा था। (५३-५६) [१०४५१]

वनपर्वमें दोसौ सतहत्तर अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ अठहत्तर अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! रावणको देखकर मारीच घबडाकर उठा और फल तथा मूलसे उसकी पूजा करी। जब सुखपूर्वक राक्षसराज आसन पर बैठे, तब मारीच बोला

न ते प्रकृतिमान्वर्णः कच्चित्क्षेमं पुरे तव ।
कच्चित्प्रकृतयः सर्वा भजंते त्वां यथा पुरा ॥ ३ ॥
किमिहाऽऽगमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर ।
कृतमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ ४ ॥
शशंस रावणस्तस्मै तत्सर्वं रामचेष्टितम् ।
समासेनैव कार्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः ॥ ५ ॥
मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् ।
अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ॥ ६ ॥
बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः ।
प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥
विनाशमुखमेतत्ते केनाऽऽख्यातं दुरात्मना ।
तमुवाचाऽथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ॥ ८ ॥
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् ।
मारीचश्चिंतयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ॥ ९ ॥
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् ।
ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम् ॥ १० ॥

हे राक्षस नाथ ! हम तुमको सावधान नहीं देखते; कहो तुम्हारे नगर और घरमें कुशल तो है? कहो तुम्हारे आधीन राजा लोग तुम्हारी सेवा तो करते हैं ? आप यहां किस लिये आये हैं ? यदि वह काम बहुत कठिन हो तोभी सिद्ध हो जानिये । (१—४)

तब रावणने रामके सब पराक्रम को मारीचसे कह सुनाया और क्रोध करके सब युक्तिभी कह सुनाई । (५)

रावणके वचन सुन मारीच कहने लगा कि रामसे वैर करना वृथा है, क्योंकि हम उनके पराक्रमको जानते हैं, उस महात्माके बाण वेगको कोईभी नहीं सह सकते हैं, मेरी इस प्रव्रज्याका हेतु वह पुरुष श्रेष्ठ राम ही है। किस मूर्खने तुम को यह नाशका द्वार बता दिया है ? (६—८)

तब रावणने क्रोधसे डराकर मारीचसे कहा हे मारीच ! जो तू मेरे वचन को नहीं मानेगा तो हम तुमको अभी मार डालेंगे । (८—९)

मारीचने विचारा कि श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे मरना अच्छा है, अब मेरी मृत्यु प्राप्त हो गई । ऐसा विचार कर मारीच बोला, कहो हम तुम्हारी

किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ।
तमब्रवीद्दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय ॥ ११ ॥
रत्नशृंगो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः ।
ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति ॥ १२ ॥
अपक्रांते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति ।
तामादायाऽपनेष्यामि ततः स न भविष्यति ॥ १३ ॥
भार्यावियोगाद्दुर्बुद्धिरेतत्साह्यं कुरुष्व मे ।
इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥
रावणं पुरतो यांतमन्वगच्छत्सुदुःखितः ।
ततस्तस्याऽऽश्रमं गत्वा रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥ १५ ॥
चक्रतुस्तत्तथा सर्वमुभौ यत्पूर्वमंत्रितम् ।
रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुंडः कुंडी त्रिदंडधृक् ॥ १६ ॥
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः ।
दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक् ॥ १७ ॥
चोदयामास तस्याऽर्थे सा रामं विधिचोदिता ।

सहायताके लिये कौनसा कर्म करें ? (९—११)

तब दशमुख रावणने कहा कि तुम अपने शरीरको रत्न और सोनेका बनाओ और हरिनका रूप धारण करके रत्नके सींग बनाओ; ऐसा विचित्र रूप बनाकर जब तुम सीताके आगे जाओगे तो वह अवश्य तुम्हारे मारनेके लिये रामको भेजेंगी; जब राम आश्रमसे निकलके चले जायंगे, तब सीता मेरे वशमें हो जायगी, तब मैं सीताको लेकर लङ्काको चला आऊंगा; तो राम आपही मर जायंगे, वह दुर्बुद्धि राम स्त्रीके वियोगमें कभी जीता नहीं रहेगा; इस लिये तुम हमारी यही सहायता करो । (११-१४)

मारीचने उसके वचनको स्वीकार करके अपना श्राद्ध किया, फिर दुःखी होकर रावणके साथ चला । जब ये दोनों उत्तम कर्मकारी रामके आश्रम पर पहुंचे तब उन दोनोंने वही कर्म किया जिसकी संमति पहिले कर चुके थे । रावणने तीन दण्ड धारण किये और सिर मुंडाकर कमण्डलु धारण किया और मारीचने हरिनका रूप धारणकर लिया । तब वे दोनों रामके आश्रमपर पहुंचे । (१४-१७)

मारीचने अपना रूप सीताको दिखाया, तब सीताने रामसे कहा कि इस

रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन्धनुरादाय सत्वरः ॥ १८ ॥
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ।
स धन्वी बद्धतूणीरः खड्गगोधांगुलित्रवान् ॥ १९ ॥
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ।
सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ॥ २० ॥
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ।
निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान् ॥ २१ ॥
अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ।
स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा । ॥ २२ ॥
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशाऽऽर्तस्वरेण ह ।
शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम् ॥ २३ ॥
सा प्राद्रवद्यतः शब्दस्तामुवाचाऽथ लक्ष्मणः ।
अलं ते शंकया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ॥ २४ ॥
मुहूर्त्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्त्तारं त्वं शुचिस्मिते ।
इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशंकत लक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा ।
सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता ॥ २६ ॥

हरिनको मारो । राम उनकी प्रसन्नताके लिये धनुष लेकर शीघ्र दौडे और सीताकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको वहीं छोड गये । राम तूणीर और खड्ग धारण करके उस हरिनके पीछे इस प्रकार दौडे जैसे हरिण रूपधारी प्रजापतिके पीछे शिव दौडे थे । उस समय मारीच कहीं प्रगट कहीं गुप्त हो जाता था, इस प्रकार राम मारीच के पीछे बहुत दूरतक दौडे गये । तब बुद्धिमान् रामने जान लिया कि यह राक्षस है; तब धनुषपर महा बाणको चढाकर मारा, उस बाणके लगनेसे मारीचने मरते समय रामका ऐसा शब्द बनाकर लक्ष्मण और सीताको पुकारा । (१७-२३)

उस रोनेके शब्दको सुनकर सीता उसी ओरको दौडी तब लक्ष्मणने सीतासे कहा, हे भीरु ! जगत्में ऐसा कौन है जो रामको मारेगा ? इस लिये शङ्का करना वृथा है; तुम एक मुहूर्तके पश्चात् अपने पति रामके दर्शन करोगी । लक्ष्मणके ऐसे वचन सुन सीताको बहुत दुःख हुआ और रो कर कहने लगी रे मूर्ख ! मैं सती और पतिव्रता हूं, मेरा

नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ।
अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ॥ २७ ॥
पतेयं गिरिशृंगाद्वा विशेयं वा हुताशनम् ।
रामं भर्त्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन ॥ २८ ॥
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ।
एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः ॥ ॥ २९ ॥
पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः ।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ॥ ३० ॥
अवेक्षमाणो बिंबोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ।
एतस्मिन्नंतरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवाऽनलः ।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिंदिताम् ॥ ३२ ॥
सा तमालक्ष्य संप्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा ।
निमंत्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ॥ ३३ ॥
अवमन्य ततः सर्वं स्वरूपं प्रत्यपद्यत ।
सांत्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुंगवः ॥ ३४ ॥

चरित्र ही मेरा आभूषण है, जो बात तू अपने हृदयमें विचारता है, वह कभी नहीं होगी; मैं किसी शस्त्रसे आत्महत्या करूंगी अथवा पर्वतसे गिरकर मर जाऊंगी, या जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर जाऊंगी, परन्तु सिंहरूपी रामको छोड तुझ सियारकी इच्छा नहीं करूंगी । (२३–२९)

रामके प्यारे उत्तम चरित्र वाले लक्ष्मणने सीताके ऐसे कडे बचनोंको सुनकर अपने कानोंको बन्द कर लिया और धनुष उठाकर जिधरको राम गये थे, उधरहीको जले गये; परन्तु पीछे फिर कर सीताको देखते ही रहे । लक्ष्मणके जानेके पश्चात् रावण रामके आश्रममें आया; उस दुष्ट रावणने सन्यासीका वेष बनाया । उस समय रावणकी ऐसी दशा हुई जैसे राखसे छिपी हुई अग्निकी । उस दुष्टने पतिव्रता सीताको चुरानेको इच्छा करी । (२९-३२)

जब धर्म जाननेवाली सीताने देखा कि हमारे आश्रमपर एक संन्यासी आया है, तब उन्होंने उसे खानेको फल और मूल दिये, तब उसने उन सबका निरादर किया और अपना रूप धारण कर सीतासे बोला, हे सीते! मैं राक्षस-

सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः ।
मम लंकापुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ॥ ३५ ॥
तत्र त्वं नरनारीषु शोभिष्यसि मया सह ।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ॥ ३६ ॥
एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याऽथ जानकी ।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद्वचः ॥ ३७ ॥
प्रपतेद्द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नाऽहं त्यजेयं रघुनंदनम् ॥ ३८ ॥
कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम् ।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत् ॥ ३९ ॥
कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम् ।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरेत॥ ४० ॥
इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाऽऽश्रमं ततः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणौष्ठी विधुन्वाना करौ मुहुः ॥ ४१ ॥
तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत् ।
भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ॥ ४२ ॥
मूर्धजेषु निजग्राह उर्ध्वमाचक्रमे ततः ।

राज रावण हूं, मेरी रम्य लङ्कापुरी समुद्र के पार है, अब तुम मेरे सब स्त्रियोंके सहित मेरे सङ्ग वहीं विहार करना । हे सुन्दरी ! तुम रामको छोड दे और मेरी स्त्री हो जा । (३२-३६)

सुन्दरी सीताने रावणके ऐसे कठोर वचनोंको सुनकर अपने कानोंको बन्द कर लिया, और कहा कि ऐसा नहीं हो सकता, चाहे सब तारे पृथ्वीमें गिरें, चाहे पृथ्वी फट जाय, चाहे अग्नि ठण्डी होजाय, पर मैं रामको नहीं छोडूंगी; भला मतवाले हाथीकी स्त्री सूअरको कब छू सकती है ? भला ऐसी कौनसी स्त्री होगी जो महुए और दाखके मद्यको पीकर कांजीकी इच्छा करे ? (३७-४०)

रावणसे ऐसा कहकर सीता अपनी कुटीके भीतर चली गई उस समय क्रोधके मारे सीताके ओंठ फरकने लगे, और हाथोंको चलाने लगी । तब रावण ने दौडकर सीताको पकड लिया, और कठोर वचन कहने लगा । अनन्तर सीताके बाल पकडकर कुटीसे खींच लिया । उस समय सीता मूर्च्छित हो गई । रावण उसको उठाकर आकाशको

तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः ।
रुदतीं रामरामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥[१०४९४]

इति श्रीम० पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे चाष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७८॥

मार्कण्डेय उवाच —सखा दशरथस्याऽऽसीज्जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीरः संपातिर्यस्य सोदरः ॥ १ ॥
स ददर्श तदा सीतां रावणांकगतां स्नुषाम् ।
सक्रोधोऽभ्यद्रवत्पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २ ॥
अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुंच मुंचस्व मैथिलीम् ।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ॥ ३ ॥
नहि मे मोक्ष्यसे जीवन्यदि नोत्सृज्यसे वधूम् ।
उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ॥ ४ ॥
पक्षतुंडप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम् ।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ५ ॥
स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा ।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः ॥ ६ ॥
निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम् ।

उड गया, तब तपस्विनी सीता हा राम! हा लक्ष्मण ! कहकर रोने लगी । तब पर्वत पर बैठे हुए जटायुने सीताको देखा । (४१-४३) [१०४९४]

वनपर्वमें दोसौ अठहत्तर अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ उनासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! सम्पातीका भाई, अरुणका पुत्र महावीर जटायु नामक गिद्धराज महाराज दशरथका मित्र था, जब उसने देखा कि मेरी पुत्रवधू सीताको रावण लिये जाता है, तो क्रोध करके राक्षसनाथ रावणके पीछे दौडा और कहने लगा हे निशाचर ! तू सीताको छोड दे; मेरे आगेसे तू इसको नहीं छोडेगा तो हमसे जीता नहीं बचेगा । ऐसा कहकर रावणको अपने पञ्जोंसे मारने लगा । (१—४)

गिद्धके पञ्जे और चोंचसे चोट लगनेके कारण रावणके शरीरमें अनेक घाव होगये और उनसे इस प्रकार रुधिर बहने लगा कि जैसे पहाडके झरनोंसे जल बहता है । रामके प्रिय गिद्धसे पीडित होकर रावणने खड्गसे जटायुके पर काट दिये; उस वर्षते हुए मेघके समान गिद्धको मारकर रावण सीताके

ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वाऽङ्केन राक्षसः ॥ ७ ॥
यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममंडलम् ।
सरो वा सरितो वाऽपि तत्र मुंचति भूषणम् ॥ ८ ॥
सा ददर्श गिरिप्रस्थे पंच वानरपुंगवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ॥ ९ ॥
तत्तेषां वानरेंद्राणां पपात पवनोद्धुतम् ।
मध्ये सुपीतं पंचानां विद्युन्मेघांतरे यथा ॥ १० ॥
अचिरेणाऽतिचक्राम खेचरः खेचरानिव ।
ददर्शाऽथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ॥ ११ ॥
प्राकारवप्रसंबाधां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्रविवेश पुरीं लंकां ससीतो राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥
एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् ।
निवृत्तो ददृशे धीमान्भ्रातरं लक्ष्मणं तथा ॥ १३ ॥
कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते ।
इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत ॥ १४ ॥
मृगरूपधरेणाऽथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् ।
भ्रातुरागमनं चैव चिंतयन्पर्यतप्यत ॥ १५ ॥

सहित आकाश मार्गसे चला, सीताने जहां ऋषियोंका आश्रम देखा और नदी तथा तलाव देखा वहीं अपना एक एक भूषण डाल दिया। (७-८)

मनस्विनी सीताने एक पर्वतके शिखर पर पांच बन्दरोंको बैठे देखा, वहां उन्होंने अपना दिव्य वस्त्र डाल दिया। वह पीला वस्त्र वायुसे उडता हुआ, उन पांच बन्दरोंके बीचमें इस प्रकार गिरा कि जैसे पांच बादलोंके बीच बिजुली गिरती है। आकाशमें चलनेवाला रावण भी पक्षीके समान उडता हुआ अनेक द्वार मन्दिर और अटारियोंसे शोभायमान विश्वकर्माकी बनाई हुई दिव्य रमणीय लंकापुरीमें पहुंचा और सीताके सहित अपने नगरमें प्रवेश किया। ९-१२

इस प्रकार जब रावण सीताको ले गया, तब बुद्धिमान् राम भी हरिनको मारके लौटे। तब उन्होंने देखा कि लक्ष्मण चले आते हैं। तब रामने लक्ष्मणसे कहा, हे लक्ष्मण! तुम इस राक्षस भरे वनमें अकेली सीताको छोडकर किस प्रकार चले आये? रामने मृग रूपधारी राक्षसके सङ्ग चले आने और लक्ष्मणके

गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् ।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १६ ॥
तस्य तत्सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः ।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १७ ॥
दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् ।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥
राक्षसं शंकमानस्तं विकृष्य बलवद्धनुः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १९ ॥
स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ॥ २० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा स गृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाऽऽहेत्यूचतुश्च तौ ॥ २१ ॥
ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् ।
तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद्वधम् ॥ २२ ॥
अपृच्छद्राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
तस्य गृध्रः शिरःकंपैराचचक्षे ममार च ॥ २३ ॥
दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वाऽस्य तदिंगितम् ।

आगमनको विचारकर बहुत दुःख किया। फिर लक्ष्मणकी निन्दा की और कहने लगे, हे लक्ष्मण ! शीघ्र आश्रमको चलो, देखो सीता जीती है, या नहीं लक्ष्मणने सीताके कहे कठोर वचनोंको कह सुनाया । सुनकर रामका हृदय जलने लगा । (१३–१७)

तब वे दोनों आश्रमको चले । मार्ग में पर्वतके समान पडे हुए जटायुको देखा । राम और लक्ष्मणने उसको राक्षस जानकर धनुष खींचा और उसकी ओरको दौडे । उसने कहा तुम लोगोंका कल्याण हो; मैं महाराज दशरथका मित्र जटायु नामक गिद्ध हूं । उसके वचन सुनकर उन दोनोंने धनुषको उतार लिया, और कहने लगे कि यह हमारे पिताका नाम लेनेवाला कौन है ? तब दोनोंने उसके पास जाकर देखा एक पङ्ख कटा हुआ पक्षी पडा है । तब गिद्धने सीताके निमित्त रावणसे अपने मृत्युका सब हाल रामसे कह सुनाया । (१८–२१)

अनन्तर रामने गिद्धसे पूछा कि रावण किस ओर गया है। तब जटायुने अपने सिरको हिलाकर दक्षिणकी ओर

सत्कारं लंभयामास सखायं पूजयन्पितुः ॥ २४ ॥
ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं व्यपविद्धबृसीमठम् ।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम् ॥ २५ ॥
दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ ।
जग्मतुर्दंडकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ॥ २६ ॥
वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ॥ २७ ॥
शब्दं च घोरं सत्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः ।
अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबंधं घोरदर्शनम् ॥ २८ ॥
मेघपर्वतसंकाशं शालस्कंधं महाभुजम् ।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २९ ॥
यदृच्छयाऽथ तद्रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम् ।
विषादमगमत्सद्यः सौमित्रिरथ भारत ॥ ३० ॥
स राममभिसंप्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम् ।
विषण्णश्चाऽब्रवीद्रामं पश्याऽवस्थामिमां मम ॥ ३१ ॥
हरणं चैव वैदेह्या मम चाऽयमुपप्लवः ।

बता दिया। उसी समय जटायु मर गया। तब रामने अपने पिताके मित्रकी क्रिया करी। फिर राम अपने आश्रमपर आये। आश्रमको जिसके आसन और पात्र आदि नष्टभ्रष्ट हुए हैं और सहस्रों सियारोंसे भरा हुआ है ऐसा देख शोक और दुःखसे व्याकुल होगये। अनन्तर शत्रुनाशन राम और लक्ष्मण सीताके दुःखसे व्याकुल होकर दक्षिणकी ओर को चले, तो राम और लक्ष्मणने उस घोर वनमें राक्षस और फिरते हुए हिर- नोंके अनेक झुंड देखे। (२३ – २७)

उस समय उस वनमें जन्तुओंका ऐसा घोर शब्द हो रहा था जैसे आग लगनेसे होता है। थोडे समयके पश्चात् उन्होंने कबन्ध नामक राक्षसको देखा, वह मेघ और पर्वतके समान शरीर वाला शालके वृक्षके समान ऊंचा बडा मुख और बडा पेटवाला था। उस राक्षसने लक्ष्मणको अपने हाथसे पकड लिया। उसके पकडनेसे लक्ष्मण दुखित हुए। जब उस राक्षसने लक्ष्मणको पकड कर अपने मुखमें डालना चाहा, तब लक्ष्मण रोकर रामसे कहने लगे कि हमारी इस दशाको आप देखिये। (२८—३१)

हे आर्य ! सीताका चुराया जाना,

राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ॥ ३२ ॥
नाऽहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम्।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ३३ ॥
द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीदलैः।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शांतघनं यथा ॥ ३४ ॥
एवं बहुविधं धीमान्विललाप स लक्ष्मणः।
तमुवाचाऽथ काकुत्स्थः संभ्रमेष्वप्यसंभ्रमः ॥ ३५ ॥
मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
छिंध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ॥३६॥
इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकांडवत् ॥ ३७ ॥
ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाऽजघ्निवान्बली।
सौमित्रिरपि संप्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् ॥ ३८ ॥
पुनर्जघान पार्श्वे वै तद्रक्षो लक्ष्मणो भृशम्।
गतासुरपतद्भूमौ कबंधः सुमहांस्ततः ॥ ३९ ॥

हमारी यह दशा, पिताका मरना और राज्यका नष्ट होना ये सब आपत्तियां एकही बार आपके ऊपर पडीं; हमारी प्रारब्धमें यह नहीं था कि सीताके सहित अयोध्याको जायं और वहां सनातन राजसिंहासन पर बैठे आपको देखें; जो पुरुष आपका कुश लाजा और दूर्वसे अभिषेक होते देखेंगे उनको धन्य है, जब आप राजासिंहासन पर बैठेंगे तो आपके मुखकी ऐसी शोभा होगी कि जैसे बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी। इस प्रकार कहकर लक्ष्मण रोने लगे। (३२-३५)

अनन्तर आपत्ति कालमें भी धीर राम बोले, हे पुरुषसिंह ! तुम किसी प्रकार घबडाओ मत हमारे आगे यह राक्षस क्या वस्तु है ? तुम इसके दहिने हाथको काट दो मैं बांएको काटता हूं। ऐसा कहकर रामने तीक्ष्ण खड्गसे उसकी बांई भुजाको इस प्रकार काटकर गिरा दिया कि जैसे कोई तिलकी शाखाको काटता है। उसी समय बलवान लक्ष्मणने अपने भाई रामको खडा हुआ देखकर अपने खड्गसे उस राक्षसका दहिना हाथ काट लिया। (३५-३८)

अनन्तर उसके हाथसे छूटकर एक खड्ग उसकी पशलीमें मारा तब वह राक्षस मर कर पृथ्वीमें गिर गया; तब

तस्य देहाद्विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः ।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ॥ ४० ॥
प्रपच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४१ ॥
तस्याऽऽचचक्षे गंधर्वो विश्वावसुरहं नृप ।
प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम् ॥ ४२ ॥
रावणेन हृता सीता राज्ञा लंकाधिवासिना ।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति ॥ ४३ ॥
एषा पंपा शिवजला हंसकारंडवायुता ।
ऋष्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी ॥ ४४ ॥
वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह ।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ॥ ४५ ॥
तेन त्वं सह संगम्य दुःखमूलं निवेदय ।
समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति ॥ ४६ ॥
एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टाऽसि जानकीम् ।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ॥ ४७ ॥

उसके शरीरसे एक दिव्य पुरुष निकला और वह आकाशमें जाकर सूर्यके समान प्रकाशमान होने लगा। तब वक्ता रामने उससे पूछा कि तू कौन है? हमको तुम्हें देखकर बहुत आश्चर्य होता है तुमने इच्छाके अनुसार यह रूप क्यों धारण किया था? (३९-४१)

तब उस गन्धर्वने रामसे कहा कि मैं विश्वावसु नामक गन्धर्व हूं, मैंने ब्राह्मणके शापसे राक्षस योनिमें जन्म लिया था; लङ्कावासी राक्षस रावण सीताको लेगया है सो तुम सुग्रीवके पास जाओ, वह तुम्हारी सहायता करेगा; यह ऋष्यमुख पर्वतके तटपर हंस और सारसोंसे भरा हुआ पम्पा नामक तडाग है, इसका जल बहुत सुन्दर है, उसी ऋष्यमूख पर्वतपर चार मन्त्रियोंके सहित सुग्रीव निवास करते हैं, वे सुवर्ण मालाधारी वानरराज वालिके भाई हैं। (४२-४५)

तुम उनसे जाकर अपना सब दुःख कह देना वह भी तुम्हारे समान शीलवान हैं, अवश्य तुम्हारी सहायता करेंगे, हम इतना कह सकते हैं कि तुम अवश्य सीताको प्राप्त करोगे, क्योंकि वानरराज सुग्रीव रावणके घरको जानते हैं। ऐसा

इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४८ ॥ [१०५४२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि
कवंधहनन ऊनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

मार्कंडेय उवाच— ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम्।
सीताहरणदुःखार्तः पंपां रामः समासदत् ॥ १ ॥
मारुतेन सुशीतेन सुखेनाऽमृतगंधिना।
सेव्यमानो वने तस्मिञ्जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २ ॥
विललाप स राजेंद्रस्तत्र कांतामनुस्मरन्।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाऽब्रवीत् ॥ ३ ॥
न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद।
आत्मवंतमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥
प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥
अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुंगवम्।
मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥
एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः।

कहकर वह महा तेजस्वी दिव्य पुरुष अन्तर्धान होगया। तब वीर राम और लक्ष्मणको बहुत आश्चर्य हुआ। (४६-४८)

वनपर्वमें दोसौ उनासी अध्याय समाप्त। १०५४२

वनपर्वमें दोसौ अस्सी अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! तब सीताके दुःखसे व्याकुल राम वहांसे चले और अनेक कमलोंसे भरे हुए पम्पासर पर पहुंचे। वहां अमृतके समान सुगन्धि वाले शीतल वायुके लगनेसे रामको सीताका स्मरण हुआ। महाराज राम कामसे व्याकुल होकर सीताको स्मरण करके रोने लगे। (१-३)

तब लक्ष्मणने कहा हे आर्य! तुम्हारे ऐसे पुरुषको दुःख न होना चाहिये, उत्तम आचारसे रहनेवाले पुरुषको रोना नहीं चाहिये; आपको उचित है कि सीता और रावणको ढूंढे; फिर अपने बल बुद्धिसे रावणके मारनेका उपाय कीजिये, चलिये, हम पर्वतपर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे मिलें, मैं आपका दास, शिष्य और सहायक हूं; इससे घबडाइये मत। (३-६)

लक्ष्मणके अनेक वचनोंको सुनकर

उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चाऽनंतरोऽभवत् ॥ ७ ॥
निषेव्य वारि पंपायास्तर्पयित्वा पितॄनपि ।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥
तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम् ।
गिर्यग्रे वानरान्पंच वीरा ददृशतुस्तदा ॥ ९ ॥
सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः ।
बुद्धिमंतं हनूमंतं हिमवंतमिव स्थितम् ॥ १० ॥
तेन संभाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः ।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ॥ ११ ॥
तद्वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत्सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत॥ १२ ॥
तत्प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥
प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥
इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किंधां तस्थुर्युद्धाभिकांक्षिणः॥ १५ ॥

राम सावधान हुए और उपायका विचार करने लगे। रामने पंपाके जलमें स्नान किया और पितरोंका तर्पण किया। फिर दोनों आगेको चले, वहांसे चलकर राम और लक्ष्मण अनेक फूल और मूलसे भरे हुए ऋष्यमूक पर्वत पर पहुंचे। उन्होंने पर्वत पर बैठे हुए पांच बन्दरोंको देखा। तब सुग्रीवने हिमाचलके समान शरीरवाले बुद्धिमान् मन्त्री हनूमान् को रामके पास भेजा। तब उससे वार्तालाप करके वे दोनों सुग्रीवके पास गये। हे महाराज! तब रामने सुग्रीवके साथ मैत्री करी और अपना सब प्रयोजन कह सुनाया।(७-११)

तब सुग्रीवने रामको सीताका वह वस्त्र दिखाया जो सीताने जाती वार गिरा दिया था। तब रामने सुग्रीवको बन्दरोंका राजा बनाया और अपने हाथसे उसका अभिषेक किया। फिर रामने वालिके मारनेकी प्रतिज्ञा करी और सुग्रीवने सीताके लानेकी प्रतिज्ञा करी। तब उन्होंने परस्पर विश्वास करके मित्रताको दृढ किया। फिर वे सब लोग युद्धकी इच्छा से किष्किंधाको गये। १२-१५

सुग्रीवः प्राप्य किष्किंधां ननादौघनिभस्वनः।
नाऽस्य तन्ममृषे वाली तारा तं प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥
यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः।
मन्ये चाऽऽश्रयवान्प्राप्तो न त्वं निष्क्रांतुमर्हसि ॥१७॥
हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम्।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥
सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता।
केन चाऽऽश्रयवान्प्राप्तो ममैष भ्रातृगंधिकः ॥ १९ ॥
चिंतयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा।
पतिमित्यब्रवीत्प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥
हृतदारो महासत्वो रामो दशरथात्मजः।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥
भ्राता चाऽस्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ॥ २२ ॥
मैंदश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः।
जांबवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ॥ २३ ॥

किष्किन्धाके द्वार पर जाकर सुग्रीव बडे वेगसे गर्जा। सुग्रीवका शब्द सुनते ही वालिको महा क्रोध हुआ और उससे युद्ध करनेकी इच्छा करके चलना चाहा। तब उसकी स्त्री ताराने उसको निवारण किया और कहने लगी कि बलवान वानर सुग्रीव जिस प्रकार गर्ज रहा है इससे जान पडता है कि अवश्य इसका कोई सहायक है, इस लिये तुम युद्ध करने मत जाओ; वानर राज सुवर्ण मालाधारी पण्डित, चन्द्रमुखी ताराके वचन सुनकर बोला तुम सब जन्तुओं-की बोलीको जानती हो। बुद्धिसे विचार करो कि सुग्रीवने किसका आश्रय लिया है। (१६-१९)

अनन्तर चन्द्रमुखी ताराने एक मुहूर्त्ततक विचार कर कहा कि हे वानर-राज! आप सब विचारको सुनिये। दशरथ पुत्र रामकी स्त्रीको रावण चुरा कर लेगया है, वही धनुषधारी राम सुग्रीवके मित्र हुए हैं, उनके भाईका नाम महाबाहु लक्ष्मण है; वे सुमित्राके पुत्र युद्धमें अपराजित और बुद्धिमान हैं, वेही सुग्रीवके कार्य सिद्धिके लिये उपास्थित हुए हैं; द्विविद, मैन्द, वायु-पुत्र हनुमान और ऋक्षराज जांबुवान् ये

सर्वे एते महात्मानो बुद्धिमंतो महाबलाः ।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ॥ २४ ॥
तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः ।
पर्यशंकत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥
तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात् ।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ॥२६॥
असकृत्त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः ।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ॥२७ ॥
इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद्वचः ।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं संबोधयन्निव ॥ २८ ॥
हृतराज्यस्य मे राजन्हृतदारस्य च त्वया ।
किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥
एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ सन्निपेततुः ।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥
उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः ।

चारों सुग्रीवके मन्त्रीभी सुग्रीवके समान हैं, ये सब लोग बुद्धिमान बलवान और महात्मा हैं; सुग्रीव रामके आश्रयसे तुमको मारनेमें समर्थ है, उससे युद्ध करनेको मत जाओ। (२०—२४)

वानरराज वालिने उसके वचनको स्वीकार न किया और जाना कि यह सुग्रीवसे मिली है। तब ताराको वालिने छोडकर वहांसे चल दिया और माल्यवान पर्वतके नीचे खडे हुए सुग्रीवसे कहने लगा कि मैंने तुझको युद्धमें जीत लिया था, तब तू अपने जीवको लेकर भाग गया था; मैंने भी ज्ञाति जानकर तुझको छोड दिया था, अब मरनेके लिये इतनी शीघ्रता करके क्यों आया। (२५—२७)

वालिके ऐसे वचन सुनकर शत्रुनाशन सुग्रीवने हेतुके सहित रामको सुनाकर वालिसे कहा, हे राजन् ! आपने मेरा राज्य छीन लिया, मेरी स्त्रीको छीन लिया तब मैंने विचारा कि अब मैं जी कर क्या करूंगा इस लिये अब युद्ध करनेको आया हूं। ऐसा कहकर वाली और सुग्रीव अनेक प्रकारसे युद्ध करने लगे; कभी शिला और कभी वृक्षोंसे मारते थे, कभी मुके और दांतोंहीको शस्त्र बनाते थे; कभी एक दूसरेको पृथ्वीमें रगडता था कभी दोनों खडे

उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥
उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदंतपरिक्षतौ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥
न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनूमान्कंठ आसजत् ॥ ३३ ॥
स मालया तदा वीरः शुशुभे कंठसक्तया।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥
कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः।
विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥
विस्फारस्तस्य धनुषो यंत्रस्येव तदा बभौ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाऽभिहतोरसि ॥ ३६ ॥
स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वमन्।
ददर्शाऽवस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह ॥ ३७ ॥
गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम् ॥ ३८ ॥
हते वालिनि सुग्रीवः किष्किंधां प्रत्यपद्यत।

होकर युद्ध करने लगते थे, दोनों नाखून और दांतोंके लगनेसे रुधिरसे भींग गये। उस समय उन दोनोंकी ऐसी शोभा हुई जैसे फूले हुए टेंसूकी। (२८-३२)

उन दोनोंके रूपमें भेद कुछ न दिखाई दिया तब हनुमानने सुग्रीवको एक माला पहिनादी उस मालासे सुग्रीवकी ऐसी शोभा बढी जैसी मेघोंसे महा पर्वत मलयाचलकी शोभा होती है। जब रामने सुग्रीवके गलेमें चिन्ह देख लिया, तब महा धनुषपर बाण चढाकर खींचा और वालिको लक्ष बनाया। उस समय रामके धनुषकी टङ्कार ऐसे वेगसे हुई जैसे किसी यन्त्र (कल) की होती है। जिस समय वह बाण वालिके हृदयमें लगा उस समय वालि घबडाकर पृथ्वीमें गिर पडा, उस बाण के लगनेसे वालिका हृदय फट गया, और मुखसे रुधिर गिरने लगा। (३३-३७)

जब वालि पृथ्वीमें गिर गया तब उसने लक्ष्मणके सहित रामको खडा देखा। तब उसने रामकी बहुत निंदा की और मूर्च्छित होकर पृथ्वीमें गिर गया। तब ताराने चन्द्रमाके समान तेजस्वी वालिको भूमिपर पडा हुआ

तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम् ॥ ३९ ॥
रामस्तु चतुरो मासान्पृष्ठे माल्यवतः शुभे ।
निवासमकरोद्धीमान्सुग्रीवेणाऽभ्युपस्थितः ॥ ४० ॥
रावणोऽपि पुरीं गत्वा लंकां कामबलात्कृतः ।
सीतां निवेशयामास भवने नंदनोपमे ॥ ४१ ॥
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे
भर्तृस्मरणतन्वंगी तापसीवेषधारिणी ॥ ४२ ॥
उपवासतपःशीला तत्राऽऽस पृथुलेक्षणा ।
उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना ॥ ४३ ॥
दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः ।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः ॥ ४४ ॥
द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम् ।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम् ॥ ४५ ॥
एताश्चाऽन्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः ।

देखा । वालिके मरनेके पश्चात् सुग्रीव किष्किन्धामें गया, और वहां चन्द्रमुखी ताराके समेत सब राज्यको प्राप्त किया। राम भी सुन्दर माल्यवान पर्वतके ऊपर वर्षा ऋतु भर रहे। सुग्रीव बुद्धिमान् रामकी सेवा करते रहे। (३७–४०)

जब रावण अपनी रमणीय लङ्कापुरीमें पहुंचा तब सीताको नन्दनके समान एक बागमें रख दिया, परन्तु रावण कामसे व्याकुल हो गया। सीता भी उस मुनियोंके आश्रमके समान अशोक वनमें तपस्विनीका वेष धारण करके रामका स्मरण करने लगी। सुन्दरी सीता उपवास करके केवल रामका स्मरण करने लगी; कभी फलमूल खा लेती थीं । (४१—४३)

राक्षसराज रावणने सीताकी रक्षाके लिये अनेक राक्षसियोंको रख दिया। वे राक्षसियां प्रास, खड्ग, त्रिशूल, फरसा और मुद्गर आदि अनेक शस्त्रोंको धारण करके सीताके पास रहने लगीं; कोई एक नेत्रवाली, किसीके दो नेत्र किसीके तीन नेत्र, किसीके माथेमें नेत्र, किसीके बडी जिह्वा और किसीके जिह्वाही नहीं, किसीके तीन स्तन, किसीके एक चरण, और किसीके तीन जटा थी, इत्यादिक अनेक रूपवाली राक्षसियां सीताकी रक्षा करने लगीं। उनके नेत्र बडे प्रकाशमान और बडे बडे तथा उनके बाल भी ऊंटके समान रूपवाले थे

परिवार्याऽऽसते सीतां दिवारात्रमतंद्रिताः ॥ ४६ ॥
तास्तु तामायतापांगीं पिशाच्यो दारुणस्वराः ।
तर्जयंति सदा रौद्राः परुषव्यंजनस्वराः ॥ ४७ ॥
खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्यताम् ।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति ॥ ४८ ॥
इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः ।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः ॥ ४९ ॥
आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते ।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुंचितमूर्धजम् ॥ ५० ॥
अप्येवाऽहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता ।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा ५१॥
न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ॥ ५२ ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत्सर्वमादृताः ॥ ५३ ॥
गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी।

वे राक्षसियां दिन रात आलस रहित हो कर सीताके पास बैठी रहती थीं।४४-४६

वे दारुण पिशाचरूपधारणी राक्षसियां विशालनैनी सीताको डराया करती थीं। वे लोग कहती थीं, कि यह दुष्टा हमारे स्वामी रावणका निरादर करके जीती है इसलिये हम इसको खाजायं, चीरडालें, तिलके समान टुकडे कर डालैं। वे सब लोग सीताको डराकर वार वार ऐसे ही वचन कहती थीं। तब सीता रामके शोकसे व्याकुल होकर और सांस लेकर इस प्रकार उत्तर देती थीं, हे स्त्रियो! तुम हमको शीघ्र खाजाओ, क्योंकि मैं अपने जीनेका लोभ नहीं करती हूं, क्योंकि उन घुंघराले बालवाले रामके विना जीकर मैं क्या करूंगी, इसी लिये मैं निराहार होकर अपने जीवनको त्यागना चाहती हूं; मैं अपने शरीरको इस प्रकार सुखा दूंगी, कि जैसे ताडके वृक्षपर सर्पिनी! मैं रामको छोडकर दूसरे पुरुषकी कभी इच्छा नहीं करूंगी। हमारी इस प्रतिज्ञाको सत्य जानकर जो इच्छा हो, सो करो।४७-५२

घोर शब्द-वाली राक्षसियां सीताके ऐसे वचन सुन ये सब समाचार कहनेको राक्षराज रावणके पास गईं। जब

सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ॥ ५४ ॥
सीते वक्ष्यामि ते किंचिद्विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं वचो मम ॥ ५५ ॥
अविंध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुंगवः ।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स माऽवदत् ॥ ५६ ॥
सीता मद्वचनाद्वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च ।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ॥ ५७ ॥
सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा ।
कृतवान्राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५८ ॥
मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् ।
नलकूबरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ॥ ५९ ॥
शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रंभां परामृशन् ।
न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेंद्रियः ॥ ६० ॥
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाऽभिरक्षितः ।
सौमित्रिसहितो धीमाँस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ॥६१॥
स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः ।

वे सब राक्षसियां वहांसे चली गईं तब धर्म्म जानने वाली प्रियवादिनी त्रिजटा नामक राक्षसी सीताको प्रसन्न करके बोली, हे वैदेही ! हे सखी ! हम तुमसे एक बात कहती हैं, तुम उसका विश्वास करो, तुम भयको छोड दो और वचनोंको ग्रहण करो। (५३–५५)

बुद्धिमान राक्षसश्रेष्ठ बूढा अविन्ध्य रामका हित चाहता है; उसने हमसे कह दिया था, कि तुम सीतासे जाकर हमारे वचन कहना और प्रसन्न करके उसको धीरज देना; तुम्हारे पति श्रीमान् राम लक्ष्मणके सहित सुखी हैं; उन्होंने इन्द्रके समान तेजस्वी वानरराज सुग्रीवसे मित्रता करी है, और तुम्हारे लिये बहुत उद्योग कर रहे हैं; तुम इस नीच रावणसे कुछ भय मत करो; जिस समय यह अजितेन्द्रिय दुष्ट रावण नलकूबरकी स्त्री रम्भाके पीछे दौडा था, तबही नलकूबरने इसको शाप दिया था, तबसे यह किसी स्त्रीके सङ्ग हठ नहीं कर सकता। (५६–६०)

तुम्हारे पति बुद्धिमान् राम सुग्रीव और लक्ष्मणके सहित शीघ्र यहां आवेंगे; और तुमको इस दुःखसे छुडा लेंगे, मैंने महा घोर अशुभ स्वप्न भी

विनाशायाऽस्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६२ ॥
दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ॥ ६३ ॥
स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिंगानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६४ ॥
तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन्पंके दशाननः ।
असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६५ ॥
कुंभकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥६६ ॥
श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव बिभीषणः ॥ ६७ ॥
सचिवाश्चाऽस्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः ।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६८ ॥
रामस्याऽस्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा ।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६९ ॥
अस्थिसंचयमारूढो भुंजानो मधुपायसम् ।

रातमें देखा है, उस स्वप्नका फल यह होगा, कि यह दुर्बुद्धि कुलनाशक रावण मारा जायगा; यह दुष्ट राक्षस महापापी क्षुद्रकर्मकर्त्ता, स्वभावहीसे सबको भयङ्कर है; यह कालके वशमें होकर सदा सब देवतोंका वैर करता है। (६१—६४)

इस दुष्टके लक्षण मैंने स्वप्नमें देखे हैं, मैं ने यह देखा है, कि दशमुख रावण तेलमें स्नान करके और सिर मुंडवाके कीचडमें स्नान करता है, और गधोंके रथपर बैठकर नाचता है, और कुंभकर्ण आदि राक्षस लालमाला चन्दन लगाकर तथा वस्त्र और बालोंसे रहित होकर दक्षिण दिशाको जाते हैं, केवल बिभीषण ही सफेद माला चन्दन छत्र और पगडी धारण करके सफेद पर्वतके ऊपर बैठे हैं। बिभीषणके चारों मन्त्री सफेद मालाको धारण करके हम लोगोंको इस दुःखसे छुडावेंगे; मैंने उन लागोंको भी सफेद पर्वतके ऊपर बैठे देखा है। (६४—६८)

और यह भी देखा है, कि ये समस्त पृथ्वी तुम्हारे पति रामके बाणोंसे व्याप्त हो रही है और उनका यश जगत्में फैल रहा है। लक्ष्मण हड्डियोंके पर्वत

लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतोदिशम् ॥ ७० ॥
रुदती रुधिरार्द्रांगी व्याघ्रेण परिरक्षिता ।
असकृत्त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ॥ ७१ ॥
हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता ।
राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७२ ॥
इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः ।
बभूवाऽऽशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७३ ॥
यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः ।
ददृशुस्तां त्रिजटया सहाऽऽसीनां यथा पुरा ॥७४॥ [१०६१६]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृतसीतासान्त्वनेऽशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८०॥

मार्कंडेय उवाच— ततस्तां भर्तृशोकार्त्तां दीनां मलिनवाससम् ।
मणिशेषाभ्यलंकारां रुदतीं च पतिव्रताम् ॥ १ ॥
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले ।
रावणः कामबाणार्त्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥
देवदानवगंधर्वयक्षकिंपुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः ॥ ३ ॥

पर बैठे हुए, मधु और खीर खा रहे हैं, तथा अपने तेजसे सब दिशाओंको जला रहे हैं; तुमको भी मैंने स्वप्नमें इस प्रकार देखा है, कि तुम रुधिरमें भींग रही हो और व्याघ्रसे रक्षित होकर उत्तरकी ओर जाती हो। (६९—७१)

हे वैदेही ! तुम लक्ष्मणके सहित अपने पतिसे मिलकर शीघ्र आनन्दको प्राप्त होगी, सन्देह मत करो। कमलनेत्र सीता त्रिजटाके ऐसे वचन सुनकर प्रसन्न हुई और उसने अपने पतिसे मिलनेकी दृढ आशा करी। उसी समय वे घोर राक्षसियां वहां आगईं, उन्होंने सीताके सङ्ग त्रिजटाको बैठे हुए देखा। (७२—७४) [१०६१६]

वनपर्वमें दोसौ अस्सी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ एकासी अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! अनन्तर पतिके शोकसे व्याकुल, दुःखिनी, मलिन वस्त्रधारिणी, रोती हुई मणिमात्र भूषण धारिणी, पतिव्रता राक्षसियोंके बीचमें शिलापर बैठी हुई सीताके पास कामपीडित रावण आया। जो रावण देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किम्पुरुषोंसे भी युद्धमें नहीं हारता था, वह कामके

दिव्यांबरधरः श्रीमान्सुमृष्टमणिकुंडलः ।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ॥ ४ ॥
न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः ।
श्मशानचैत्यद्रुमवद् भूषितोऽपि भयंकरः ॥ ५ ॥
स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः ।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः ॥ ६ ॥
स तामामंत्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः ।
इदमित्यब्रवीद्वाक्यं त्रस्तां रौहीमिवाऽबलाम् ॥ ७ ॥
सीते पर्याप्तमेतावत्कृतो भर्तुरनुग्रहः ।
प्रसादं कुरु तन्वंगि क्रियतां परिकर्म ते ॥ ८ ॥
भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणांबरा ।
भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी ॥ ९ ॥
संति मे देवकन्याश्च गंधर्वाणां च योषितः ।
संति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः ॥ १० ॥
चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः ।
द्विस्तावत्पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ ११ ॥

बाणसे पीडित होकर अशोक वाटिकामें सीताके पास आया। दिव्य वस्त्र; मणिमय कुण्डल और विचित्र माला तथा विचित्र मुकुटधारी रावणकी शोभा ऐसी जान पडती थी, जैसी मूर्त्तिधारी वसन्तकी । (१–४)

अनेक आभूषण धारण करनेपर भी उसकी शोभा कल्पवृक्षके समान नहीं थी, बरन ऐसा जान पडता था जैसा फूलने फलनेपर भी मसानका वृक्ष भयङ्कर होता है। रावण उस सुन्दरी सीताके पास जाकर इस प्रकार खडा हुआ जैसे रोहिणीके पास शनैश्चर। काम-पीडित रावणने हरिनीके समान डरी हुई सीतासे इस प्रकार वार्तालाप किया। (५–७)

रावण बोला हे सीता ! तैंने अपने पतिके ऊपर बहुत कृपा करी। हे सुन्दरी! अब हमारे ऊपर कृपा करो और वस्त्रादिको धारण करो; हे सुन्दर मुखवाली! बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंको धारण करके हमारी सेवा करो; ऐसा करनेसे तुम हमारी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ बनोगी; हे सुन्दर वरणवाली ! मेरे यहां अनेक देव तथा गन्धर्वकी कन्या और स्त्रियां हैं, और दैत्य तथा दानवोंकी स्त्रियां भी हैं। चौदह करोड पिशाच मेरे दास हैं,

ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः ॥ १२ ॥
गंधर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा।
उपतिष्ठंति वामोरु यथैव भ्रातरं मम ॥ १३ ॥
पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद्विश्रवसो मुनेः।
पंचमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः ॥ १४ ॥
दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भाविनि ॥ १५ ॥
क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मंदोदरी तथा ॥ १६ ॥
इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना।
तृणमंतरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम् ॥ १७ ॥
अशिवेनाऽतिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा।
स्तनावपतितौ बाला संहतावभिवर्षती ॥ १८ ॥
उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता।
असकृद्वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर ॥ १९ ॥
विषादयुक्तमेतत्ते मया श्रुतमभाग्यया।

और अट्ठाइस करोड राक्षस मेरे वचनमें रहते हैं; वे सब लोग मनुष्योंके खाने-वाले, और घोर कर्म करनेवाले हैं, उनसे तिगुने यक्ष लोग मेरे वशमें हैं, उनसे कई मेरे भाई कुबेरके दास हैं। (८-१२)

हे भद्रे! अप्सरा और गन्धर्व लोग मुझे देखकर इस प्रकार खडे हो जाते हैं जैसे मेरे भाई कुबेरको; मैं साक्षात् महामुनि विश्रवाका पुत्र हूं, जातिका ब्राह्मण हूं, मुझको सब लोग पञ्चम लोकपाल कहते हैं, मेरा यश सब जगत् में फैला है, मेरे घरमें चलनेसे तुझे दिव्य भोजन वस्त्र और पीनेकी वस्तु जो इन्द्रके घरमें मिल सकती हैं, सो मेरे यहां भी प्राप्त होगी, अब तुम वनवासके दुःखोंको छोड दो। हे सुन्दरी! तुम मेरी स्त्री हो आओ, मैं तुमको मन्दोदरी के समान मानूंगा। (१३—१६)

रावणके ऐसे वचन सुन सुन्दर मुखवाली सीता एक तिनकेको अपनी आंखोंके आगे करके और नेत्रोंके जलसे स्तनोंको आर्द्र करती हुई पतिव्रता सीता क्षुद्र रावणसे कहने लगी, हे राक्षसेश्वर! तुमने जो मुझ अभागिनीसे कहा, सो

तद्भद्रसुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम् ॥ २० ॥
परदाराऽस्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता ।
न चैवौपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव ॥ २१ ॥
विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि ।
प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ॥ २२ ॥
न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम् ।
भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् ॥ २३ ॥
धनेश्वरं व्यपदिशन्कथं त्विह न लज्जसे ।
इत्युक्त्वा प्रारुदत्सीता कंपयंती पयोधरौ ॥ २४ ॥
शिरोधरां च तन्वंगी मुखं प्रच्छाद्य वाससा ।
तस्या रुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता ॥ २५ ॥
ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि ।
श्रुत्वा तद्रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम् ॥ २६ ॥
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाऽब्रवीद्वचः ।
काममंगानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः ॥ २७ ॥
न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम् ।

मैंने अत्यन्त दुःखित होकर सुना; हे भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अब इस इच्छाको छोड दो । (१७-२०)

मैं प्रतिव्रता और दूसरेकी स्त्री हूं; इससे तुमको प्राप्त नहीं हो सकती ; मैं मनुष्य जातिमें उत्पन्न हुई हूं, इससे तुम्हारा कुछ उपकार नहीं कर सकती; मुझको विवश करके स्त्री बनानेसे तुमको कुछ लाभ नहीं होगा; तुम्हारे पिता ब्रह्माके पौत्र और ब्रह्माके समान हैं, तुम धर्मका पालन नहीं करते हो, फिर लोकपाल कैसे हुए ? तुम्हारे भाई शिवके मित्र धनेश्वर कुबेर हैं, क्या तुमको उनका नाम लेते कुछ भी लज्जा नहीं आती ? (२१-२४)

रावणसे ऐसा कहकर सीता रोने लगी, और कांपने लगी, सीताने अपने सिर और मुखको ढक लिया और नीचे देखने लगी। सीताके रोते समय उनकी बडी वेणी इस प्रकार हिलने लगी, जैसे चिकने शरीरवाली काली नागिन सांस लेते समय हिलें । सीताके कठोर वचनोंको सुनकर दुर्बुद्धि रावण बोला, हे सीते ! कामदेव भले ही अपनी इच्छानुसार दुःख दे, परन्तु मैं उत्तम हंसनेवाली तुमसे विना तुम्हारी

किं नु शक्यं मया कर्तुं यत्त्वमद्यापि मानुषम् ॥ २८॥
आहारभूतमस्माकं राममेवाऽनुरुध्यसे ।
इत्युक्त्वा तामनिंद्यांगीं स राक्षसमहेश्वरः ॥ २९ ॥
तत्रैवाऽन्तर्हितो भूत्वा जगामाऽभिमतां दिशम् ।
राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता ।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत्तदा ॥ ३० ॥ [१०६४६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावणसंवाद एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

मार्कण्डेय उवाच — राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवेणाऽभिपालितः ।
वसन्माल्यवतः पृष्ठे ददर्श विमलं नभः ॥ १ ॥
स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम् ।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥
कुमुदोत्पलपद्मानां गंधमादाय वायुना ।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ॥ ३ ॥
प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः ।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ॥ ४ ॥

इच्छा कुछ नहीं करूंगा; मैं तुम्हारे सङ्ग कुछ नहीं कर सकता । क्योंकि तुम अब तक हमारे भक्ष्य मनुष्य रामका स्मरण करती हो । (२४-२९)

सुन्दरी सीतासे ऐसा कहकर राक्षसराज रावण वहीं अन्तर्धान हो गया, अर्थात् अपने घरको चला गया, सीता भी शोकसे व्याकुल होकर सब राक्षसियोंके समेत त्रिजटाके सङ्ग उसी वनमें रहने लगी । (२९-३०) [१०६१६]

वनपर्वमें दो सौ एकासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दो सौ बयासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! सुग्रीवसे रक्षित होकर लक्ष्मणके सहित रामने वर्षाऋतु भर माल्यवान् पर्वतपर निवास किया । वर्षाके पश्चात् आकाश निर्म्मल होगया, चन्द्रमा शुद्ध होकर उदय होने लगा, नक्षत्र और तारा प्रकाशित होने लगे । उस समय कमल कुमुदिनी और नीले कमलकी सुगन्धिसे सुगान्धित पर्वतके शीतल वायुने रामको जगाया, अर्थात रामने जाना कि शरद् ऋतु आगई । (१-३)

तब परम धर्मात्मा रामने रावणके घरमें बंदी हुई हुई, सीताका स्मरण करके और दुःखसे व्याकुल होकर वीर लक्ष्मण-

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किंधायां कपीश्वरम् ।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपंडितम् ॥ ५ ॥
योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः ।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजंति वै ॥ ६ ॥
यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह ।
त्वया सह महाबाहो किष्किंधोपवने तदा ॥ ७ ॥
कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि ।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ॥ ८ ॥
असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम् ।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याऽल्पया धिया ॥ ९ ॥
यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः ।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ॥ १० ॥
अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुंगवः ।
तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान्भव मा चिरम् ॥ ११ ॥
इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः ।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः ॥ १२ ॥

से कहा, हे लक्ष्मण ! तुम किष्किन्धाको जाओ और वानरराज सुग्रीवको देखो, वह स्त्रियोंके वशमें होगया है; जान पडता है, कि वह कृतघ्नी केवल अपने प्रयोजनको पण्डित है; मैंने उस कुलाधमको राज्य दिया, मेरे प्रतापसे बन्दर, लंगूर और रीछ उसकी सेवा करते हैं; हे रघुकुलोत्तम ! हे महाबाहो ! जिस लिये मैंने तुम्हारी सहायतासे किष्किन्धामें वालिको मारा है, उसी अवस्थाको वह नीच बन्दर सुग्रीव नहीं जानता। (४–८)

हे लक्ष्मण! मुझे जान पडता है, कि वह मूर्ख मित्रताका पालन करना नहीं जानता, उस मूर्खकी बुद्धि बहुत कम है, इसीसे उसने उपकार करनेपर भी हमको नहीं माना; तुम जाकर देखो कि यदि वह सीताके लिये कुछ उद्योग न कर रहा हो और केवल कामके वशमें सोता हो, तो जिस मार्गसे वालि गया है, और जिस मार्गमें सब जगत्के प्राणी जाते हैं, उसी मार्गमें तुम सुग्रीवको भेजना; यदि वानर-राज सुग्रीव हमारे लिये कुछ उद्योग करता हो तो उसको लेकर शीघ्रही हमारे पास चले आना। (९–११)

बडोंकी आज्ञा पालनेवाले लक्ष्मण

किष्किंधाद्वारमासाद्य प्रविवेशाऽनिवारितः ।
सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ॥ १३ ॥
तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ॥ १४ ॥
तमब्रवीद्रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः ।
स तत्सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृतांजलिः ॥ १५ ॥
सभृत्यदारो राजेंद्र सुग्रीवो वानराधिपः ।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुंजरम् ॥ १६ ॥
नाऽस्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाऽकृतज्ञो न निर्घृणः ।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः ॥ १७ ॥
दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया ।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनाऽऽगमनं पुनः ॥ १८ ॥
यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागरांबरा ।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ॥ १९ ॥
स मासः पंचरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति ।
ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत्प्रियम् ॥ २० ॥
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेंद्रेण धीमता ।

अपने भाईकी ऐसी आज्ञा सुन धनुष रोदा, और बाणोंको लेकर किष्किन्धाके द्वारपर जाकर नगरके भीतर लक्ष्मण चले गये। जब वानरराज सुग्रीवने सुना कि लक्ष्मण क्रोध करके किष्किन्धामें आये हैं; तब आपही उनके पास आए और उचित पूजा करी। निर्भय लक्ष्मण ने सुग्रीवसे रामके सब वचन कह सुनाये। रामकी आज्ञा सुन सुग्रीव हाथ जोडकर स्त्री पुत्र और दासोंके सहित पुरुषसिंह लक्ष्मणसे कहने लगे।(१३-१६)

हे लक्ष्मण ! मैं दुर्बुद्धि कृतघ्न और निर्लज्ज नहीं हूं, मैंने जो सीताके ढूंढने का उपाय किया है, सो सुनिये। मैंने सब दिशाओंको प्रधान बन्दरोंको भेजा है, और सबको एक महीनेका समय दिया है, वे सब लोग समुद्र पर्वत और नगरोंके सहित समस्त पृथ्वीमें सीताको ढूंढते हैं; उनसे कोई गांव, नगर, वन और पहाडी न बचैगी;अब उस महीनेमें पांच दिन शेष हैं अर्थात् पूरा होनेवाला है; तब तुम रामके सहित मीठे वचनको सुनोगे। (१७-२०)

बुद्धिमान वानरराज सुग्रीवके ऐसे

त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ॥ २१ ॥
स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम् ।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत् ॥ २२ ॥
इत्येवं वानरेंद्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः ।
दिशास्तिस्रो विचित्याऽथ न तु ये दक्षिणां गताः॥२३॥
आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम् ।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ॥ २४ ॥
गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुंगवाः ।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽभ्यधारयत् ॥२५
द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः ।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् ॥ २६ ॥
रक्षितं वालिना यत्तत्स्फीतं मधुवनं महत् ।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद्भुंक्ते पवनात्मजः ॥ २७ ॥
वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चाऽन्ये प्लवगर्षभाः ।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन्प्रस्थापितास्त्वया ॥ २८ ॥
तेषामपनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम् ।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद्भवति चेष्टितम् ॥ २९ ॥

वचन सुन तेजस्वी लक्ष्मण शान्त हुए और सुग्रीवकी प्रशंसा करने लगे, फिर सुग्रीव और लक्ष्मणने माल्यवान पर्वत पर जाकर रामसे सब वृत्तान्त कह सुनाया। इस प्रकार सहस्रों वानर पूर्व पश्चिम और उत्तरकी दिशाको देखकर लौट आये, परन्तु दक्षिणसे कोई भी न आया। उन सबने आकर रामसे कहा, कि हम समुद्र पर्यन्त सब पृथ्वीको देख आये परन्तु सीता और रावणको कहीं न पाया। जो वानर दक्षिणकी ओर गये थे, राम उन्हींका मार्ग देखने लगे, और दुःखसे प्राणोंको धारण करते रहे। (२१-२७)

दो महीने बीतनेके पश्चात् वे लोग दक्षिणसे लौटे और सुग्रीवके बागमें जाकर फल खाने लगे। तब उनके रक्षकोंने जाकर सुग्रीवसे कहा, कि हे वानरराज! जिस मधु-वनकी रक्षा वालिने और आपने की थी, उसको हनूमान खाते हैं, वालिपुत्र अङ्गद तथा और जो वानर लोग दक्षिणकी ओर सीताको ढूंढने गये थे, वे सब मधुवनको खा रहे हैं। उन सबके ऐसे वचन सुन सुग्रीवने विचारा कि जो सेवक कार्य सिद्धि कर लेते हैं,

स तद्रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः
रामश्चाऽप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम् ॥ ३० ॥
हनुमत्प्रमुखाश्चापि विश्रांतास्ते प्लवंगमाः ।
अभिजग्मुर्हरींद्रं तं रामलक्ष्मणसन्निधौ ॥ ३१ ॥
गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः
अगमत्प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ॥ ३२ ॥
हनूमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद्रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ॥ ३३ ॥
तानुवाचाऽऽगतान्रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्वध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३४ ॥
अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥
अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून् ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाऽहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३६ ॥
इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचाऽनिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ॥३७॥

वे ही ऐसे ऐसे काम कर सकते हैं, हमें जान पड़ता है, कि वे लोग सीताको देख आये । (२६-२९)

अनन्तर बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवने ये सब समाचार रामसे कहा । रामने भी अनुमानसे जान लिया, कि ये लोग सीताको देख आये हैं । हनुमान् आदि वानर सावधान होकर महाराज सुग्रीव तथा राम और लक्ष्मणके पास गये । रामने हनुमानका मुख और चेष्टा देख कर जान लिया, कि इसने सीताको देखा है । हनुमान आदि बन्दरोंने प्रसन्न होकर सुग्रीव लक्ष्मण और रामको प्रणाम किया । (३०—३३)

तब रामने बाणोंके सहित धनुष उठाके उन लोगोंसे कहा, क्या तुम लोग हमको जिलाओंगे ? क्या तुम लोग कार्यसिद्धि करके आये हो ? क्या हम सब शत्रुओंको युद्धमें मारकर फिर सीताको पावेंगे ? क्या हम अयोध्यामें फिर राज्य करेंगे ? हम प्रण करते हैं कि विना शत्रुओंको युद्धमें मारे, विना स्त्रीके सन्यासीके समान नहीं जीयेंगे । ३४-३६

रामके ऐसे वचन सुन हनुमान बोले, हे राम । हम आपसे प्रिय समाचार कहते हैं, हमने सीताको देखा है । जब

विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताः काले व्यतीते स्म दृष्टवंतो महागुहाम् ॥३८॥
प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
अंधकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३९ ॥
गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवंतः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमंतरा ॥ ४० ॥
मयस्य किल दैत्यस्य तदा सद्वेश्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४१ ॥
तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः संतस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४२ ॥
निर्याय तस्मादुद्देशात्पश्यामो लवणांभसः ।
समीपे सह्यमलयौ दुर्दुरं च महागिरिम् ॥ ४३ ॥
ततो मलयमारुह्य पश्यंतो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम्॥४४॥
अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।
तिमिनक्रझषावासं चिंतयंतः सुदुःखिताः ॥ ४५ ॥

हम पर्वत और गुफाओंके सहित सब दक्षिण दिशाको ढूंढ चुके और समय बीतनेसे थक भी गये, तब एक गुफा दिखाई दी; वह बहुत योजनकी लम्बी और अन्धकारमय थी। उसके भीतर बहुत जन्तु रहते थे। तब हम लोग उस गुफाके भीतर घुस गये। बहुत दूर जाकर हमने सूर्यका प्रकाश देखा और वहीं एक सुन्दर स्थान भी देखा। हे राघव ! वह स्थान मय नामक दैत्य का था; वहां एक प्रभावती नामकी स्त्री तप करती थी। उसने हम लोगोंको अनेक प्रकारके भोजन और पीनेकी वस्तु दी। उसको खाकर हम लोग शान्त हुए और उसके बताये हुए मार्गसे चलने लगे। (३५—४२)

उस गुफासे निकलते ही हम लोगों ने समुद्रके तटपर सह्य मलय और दर्दुर नामक पर्वतोंको देखा। तब हम लोगोंने अपने जीनेकी आशा छोड दी, घबडाये और बहुत डरे। तब हम लोग मलय पर्वतपर चढे, और समुद्र को देखने लगे। समुद्र कई सौ योजनका चौडा, मछली, मगर आदि जलजन्तुओंका स्थान और परम भयानक था। उसको देखकर हम लोग

तत्राऽनशनसंकल्पं कृत्वाऽऽसीना वयं तदा ।
ततः कथांते गृध्रस्य जटायोरभवत्कथा ॥ ४६ ॥
ततः पर्वतशृंगाभं घोररूपं भयावहम् ।
पक्षिणं दृष्टवंतः स्म वैनतेयमिवाऽपरम् ॥ ४७ ॥
सोऽस्मानतर्कयद्भोक्तुमथाऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४८ ॥
संपातिर्नाम तस्याऽहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः ।
अन्योन्यस्पर्धया रूढावावामादित्यसत्पदम् ॥ ४९ ॥
ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः ।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ॥ ५० ॥
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन्महागिरौ ।
तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ॥ ५१ ॥
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद्वै निवेदितम् ।
स संपातिस्तदा राजञ्श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ॥ ५२ ॥
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम ।
कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ॥ ५३ ॥

बहुत डरे और दुःखित हुए । तब हम सब यह सङ्कल्प करके बैठ गये, कि हम सब लोग अब कुछ न खायंगे ।४३–४६

उसके पश्चात् हम लोग वार्त्तालाप करने लगे, तो गृद्धराज जटायुका वृत्तान्त आगया; उसको सुनते ही पर्वतके शिखरके समान शरीरधारी, भयानक, गरुडके समान शरीरवाले एक पक्षीको देखा । वह हमारे पास आकर हमारे खानेका विचार करने लगा, कि भाई तुम लोग कौन हो जो हमारे भाई जटायुका वृत्तान्त कह रहे हो ? मैं सम्पाति नामक पक्षीराज हूं; जटायु मेरा छोटा भाई है, हम लोग सूर्यको देखने चले थे; देखो मेरे यह पंख जल गये, परन्तु जटायुके पङ्ख नहीं जले थे;मैंने अपने भाई प्यारे पक्षी-राज जटायुको नहीं देखा; मैं पङ्ख जलने से इस पर्वतके ऊपर गिर गया। ४६–५१

तब हमने उसके भाईका मरना और आपका यह सब समाचार उससे संक्षेप रीतिसे कहा । सम्पाति हमारे अप्रिय वचनोंको सुनकर बहुत दुःखी हुआ और हमसे पूछने लगा, कि राम कौन हैं ? सीता किस प्रकार चुराई गयी ? और जटायु क्यों मारा गया ? हम इस

इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः ।
तस्याऽहं सर्वमेवैतद्ब्रुवतो व्यसनागमम् ॥ ५४ ॥
प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम् ।
सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनाऽनेन पक्षिराट् ॥ ५५ ॥
रावणो विदितो मह्यं लंका चाऽस्य महापुरी ।
दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकंदरे ॥ ५६ ॥
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः ॥ ५७ ॥
सागरक्रमणे मंत्रं मंत्रयामः परंतप ।
नाऽध्यवास्यद्यदा कश्चित्सागरस्य विलंघनम् ॥ ५८ ॥
ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम् ॥ ५९ ॥
तत्र सीता मया दृष्टा रावणांतःपुरे सती ।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ॥ ६० ॥
जटिला मलदिग्धांगी कृशा दीना तपस्विनी ।
निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ॥ ६१ ॥

सब वृत्तान्तको तुम लोगोंसे सुनना चाहते हैं। तब हमने आपकी सब कथा कह सुनाई और अपने अन्न जल छोडनेका कारण भी कह दिया। (५१—५५)

तब पक्षीराज सम्पातिने हमलोगोंसे कहा, कि हम लङ्काको और रावणको जानते हैं, लङ्का समुद्रके पार त्रिकूट पर्वत पर वसती है वहीं सीता हैं। हम इस बातको निश्चय जानते हैं, कि सीता वहांके सिवाय और कहीं नहीं हैं। हम लोग उसके वचन सुनकर खडे होगये। समुद्र नांघनेके लिये विचार करने लगे। हे शत्रु नाशन ! जब हम लोगोंने समुद्रसे पार होनेका उपाय कोई न देखा, तब वायुका आश्रय लेकर मैं समुद्रको नांघ गया, समुद्र चार सौ कोस चौडा है, मैंने समुद्रके बीचमें एक जल राक्षसीको भी मारा; फिर लङ्कामें जाकर रावणके अंतःपुरमें पतिव्रता सीता का दर्शन किया। (५६—६०)

वहत पस्विनी अत्यन्त दुःखिनी, जटाधारिणी, मलिन शरीरवाली, उपास और तप करती हुई आपके दर्शनकी इच्छा कर रही हैं। जब मैंने अनेक लक्षणोंसे जान लिया, कि यही सीता हैं,

उपसृत्याऽब्रुवं चाऽऽर्यामभिगम्य रहोगताम् ।
सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ॥ ६२ ॥
त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा ।
राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ६३ ॥
सर्वशाखामृगेंद्रेण सुग्रीवेणाऽभिपालितौ ।
कुशलं त्वाऽब्रवीद्रामः सीते सौमित्रिणा सह ॥ ६४ ॥
सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वाऽनुपृच्छति ।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सर्वशाखामृगैः सह ॥ ६५ ॥
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः ।
मुहूर्त्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ॥ ६६॥
अवैमि त्वां हनूमंतमविंध्यवचनादहम् ।
अविंध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसंमतः ॥ ६७ ॥
कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः ।
गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ६८
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिंदिता ।
प्रत्ययार्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ॥ ६९ ॥
क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ ।

तो एकान्तमें जाकर कहने लगा, हे सीते ! मैं जातिका वानर, पवनका पुत्र हनुमान, रामका दूत बनकर आया हूं मैं आकाशमें उडकर आकाश मार्गसे लङ्कामें आया हूं, राजपुत्र राम और लक्ष्मण कुशलसे हैं । (६०–६३)

सब वानरोंके राजा सुग्रीव उनकी रक्षा करते हैं, राम और लक्ष्मण तुम्हारी कुशल पूछते हैं; उनके मित्र सुग्रीवनेभी तुमसे कुशल प्रश्न किया है, तुम्हारे पति राम सब वानरोंके सहित यहां आवेंगे, हे देवि ! तुम निश्चय जानो कि हम राक्षस नहीं है, बन्दर हैं ।(६४–६६)

मेरे वचन सुन सीताने क्षणमात्र ध्यान करके कहा, कि मुझसे अविन्ध्य-नामक राक्षसने पहिले ही कहा था, हे महाबाहो ! एक अविन्ध्य नामक बुद्धि-मान बूढा राक्षस है; उसने हमसे कहा था, कि तुम्हारे समान सुग्रीवके मन्त्री हैं; तब सीताने हमसे कहा, कि तुम जाओ और चलते समय यह मणि भी हमको दी। पतिव्रता सीता इसीसे जीती थी । उन्होंने निश्चयके लिये हमसे यह कथा भी कही है। हे पुरुषसिंह! तुमने

भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ॥ ७० ॥
ग्राहयित्वाऽहमात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् ।
संप्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ॥ ७१ ॥ १०६८७

इति श्रीमहाभारते०पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनूमत्प्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२॥

मार्कंडेय उवाच — ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह ।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात्तदा ॥ १ ॥
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
श्वशुरो वालिनः श्रीमान्सुषेणो राममभ्ययात् ॥ २ ॥
कोटीशतवृतौ चाऽपि गजो गवय एव च ।
वानरेंद्रौ महावीर्यौ पृथक्पृथगदृश्यताम् ॥ ३ ॥
षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन्प्रत्यदृश्यत ।
गोलांगूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ ४ ॥
गंधमादनवासी तु प्रथितो गंधमादनः ।
कोटीशतसहस्राणि हरीणां समकर्षत ॥ ५ ॥
पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः ।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत्पञ्च प्रकर्षति ॥ ६ ॥
श्रीमान्दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्यवान् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ॥ ७ ॥

चित्रकूट नामक पर्वतपर कौएके मारनेको सींक चलाई थी। अनन्तर मैं पकडा गया, फिर मैंने लङ्काको जला दिया; तब आपके पास आया हूं। हनुमानके ऐसे वचन सुन रामने उनकी बहुत प्रशंसा करी। (६६-७१)[१०६८७]

वनपर्वमें दोसौ बियासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ तिरासी अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! उसी समय सुग्रीवकी आज्ञा से उत्तम वानर लोग रामके पास आये। सहस्र करोड वानरोंके सहित वालिके ससुर सुषेण नामक बन्दर रामके पास आये। महाबलवान वानरराज गज और गवय सौ करोड वानरोंको लेकर आये। घोर रूपवाला गवाक्ष नामक लंगूर साठ सहस्र करोड वानरोंको लाया। गन्धमादन बन्दरके सङ्ग सौ हजार करोड वानर आये। (१—५)

पनस बन्दर सतावन करोड बन्दर लाये, बूढे महा बलवान दधिमुखके सङ्ग माथेपर त्रिपुण्ड्र धारण किये काले

कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम् ।
कोटीशतसहस्रेण जांबवान्प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः ।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ॥ ९ ॥
गिरिकूटनिभांगानां सिंहानामिव गर्जताम् ।
श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम् ॥ १० ॥
गिरिकूटनिभाः केचित्केचिन्महिषसन्निभाः ।
शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिंगुलकाननाः ॥ ११ ॥
उत्पतंतः पतंतश्च प्लवमानाश्च वानराः ।
उद्धुन्वंतोऽपरे रेणून्समाजग्मुः समंततः ॥ १२ ॥
स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसन्निभः ।
निवेशमकरोत्तत्र सुग्रीवानुमते तदा ॥ १३ ॥
ततस्तेषु हरींद्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः ।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाऽभिपूजिते ॥ १४ ॥
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्वर्तयन्निव ।
प्रययौ राघवः श्रीमान्सुग्रीवसहितस्तदा ॥ १५ ॥
मुखमासीत्तु सैन्यस्य हनूमान्मारुतात्मजः ।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ॥ १६ ॥
बद्धगोधांगुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः ।

मुखवाले घोर कर्मचारी वानरोंकी महा सेना आई । जाम्बुवानके सङ्ग सौ हजार करोड रीछ आये । इत्यादि लेकर और भी असंख्य वानर आये । उनके शरीर पर्वतोंके समान, शब्द सिंहके समान थे; वे लोग इधर उधर घूमने लगे । तब उनका शब्द चारों ओर फैल गया । (६–१०)

किसी का शरीर पर्वतसा, किसीका शरीर शरद् ऋतुके मेघके समान था । वे लोग कूदने लगे, और धूल उडाते हुए, लङ्काको चले । यह वानरोंकी महा सेना भरे हुए समुद्रके समान शोभित हुई । उस दिन सेना सुग्रीव की आज्ञासे वहीं रही । अनन्तर उत्तम तिथिमुहूर्त्त और नक्षत्रको रामने उस सेनाका व्यूह बनाया और वहांसे चल दिये।(११-१५)

उसके मुखकी रक्षा हनुमान और जङ्घा की निर्भय लक्ष्मण करने लगे । कवच पहिने हुए रामचन्द्र और लक्ष्मण उन

वृतौ हरिमहामात्रैश्चंद्रसूर्यौ ग्रहैरिव ॥ १७ ॥
प्रबभौ हरिसैन्यं तत्सालतालशिलायुधम् ।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति ॥ १८ ॥
नलनीलांगदक्राथमैंदद्विविदपालिता ।
ययौ सुमहती सेना राघवस्याऽर्थसिद्धये ॥ १९ ॥
विविधेषु प्रशस्तेषु बहुमूलफलेषु च ।
प्रभूतमधुमांसेषु वारिमत्सु शिवेषु च ॥ २० ॥
निवसन्ती निराबाधा तथैव गिरिसानुषु ।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम् ॥ २१ ॥
द्वितीयसागरनिभं तद्बलं बहुलध्वजम् ।
वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत्तदा ॥ २२ ॥
ततो दाशरथिः श्रीमान्सुग्रीवं प्रत्यभाषत ।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥
उपायः को नु भवतां मतः सागरलंघने ।
इयं हि महती सेना सागरश्चाऽतिदुस्तरः ॥ २४ ॥
तत्राऽन्ये व्याहरंति स्म वानरा बहुमानिनः ।
समर्था लंघने सिंधोर्न तु तत्कृत्स्नकारकम् ॥ २५ ॥

बन्दरोंके बीचमें ऐसे शोभायमान हुए, जैसे तारोंके बीचमें सूर्य और चन्द्रमा। वह बन्दरोंकी सेना शाल, ताड और शिलाके शस्त्र लिये हुए ऐसी शोभायमान थी, जैसे सूर्योदयके समय धानका खेत। नल,नील,अङ्गद, क्राथ, मयन्द और द्विविदसे रक्षित वह महासेना रामके कार्य सिद्ध करनेको चली। अनेक भांतिके उत्तम उत्तम फल,मूल, मद्य,मांस और जलसे भरे हुए, सुखदाई पर्वतमें निवास करती हुई वह बन्दरोंकी सेना खारी समुद्रके तटपर पहुंची। (१६-२१)

वह सेना अनेक पताकाओंसे शोभायमान दूसरे सागरके समान जान पडती थी। उस दिन उसने समुद्रके तटके वनमें निवास किया। तब दशरथ पुत्र रामने सब मुख्य वानरोंके बीचमें सुग्रीवसे यह वचन कहा, कि आपने समुद्र बांधनेका कौन सा उपाय सोचा है? यह सेना बडी भारी है, और समुद्रभी अति दुस्तर है। बहुतसे अभिमानी बन्दर कहते हैं, कि हम लोग समुद्रको लांघकर ही पार चले जायंगे, परन्तु यह उपाय सबके करने योग्य

केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः ।
नेति रामस्तु तान्सर्वान्सान्त्वयन्प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥
शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः ।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥
नावो न संति सेनाया बह्व्यस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥
विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः ।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवाऽत्र मम रोचते ॥ २९ ॥
अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायनः ।
प्रतिशेष्याम्युपवसन्दर्शयिष्यति मां ततः ॥ ३० ॥
न चेद्दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः ।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः ॥ ३१ ॥
इत्युक्त्वा सहसौमित्रिरुपस्पृश्याऽथ राघवः ।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत्कुशसंस्तरे ॥ ३२ ॥
सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम् ।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान्यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥

नहीं है । (२२–२५)

किसीने बेडे बांधकर पार उतरनेका उपाय बतलाया परन्तु रामने सबको शान्त करके कहा, कि पार जानेका यह कोई भी उपाय नहीं है । इससे सब वानर समुद्रको नांघ नहीं सकेंगे, क्योंकि सौ योजन विस्तारवाले, समुद्रको नांघनेमें सब वानर समर्थ नहीं हैं। इतनी अधिक नौका भी नहीं है; जिनसे सम्पूर्ण सेना पार जा सके और व्यापार की नौकाओंको रोककर व्यापारको हमारे ऐसे पुरुष कैसे बन्द कर सकते हैं। हमारी सेना बहुत बडी है, छिद्र पानेसे शत्रु नाश कर सकता है, इस कारणसे नौका या बेडोंके द्वारा सेनाको पार करना अच्छा नहीं मालूम होता है; मैं इस समुद्रको उपायसे ही तर जाऊंगा; उस उपायसे समुद्र मुझे अवश्य मार्ग देगा । यदि समुद्र मुझे मार्ग न देगा तो मैं अग्निके समान प्रज्वलित और निवारण करनेके अयोग्य शस्त्रोंसे उसे भस्म कर दूंगा । (२६–३१)

इस प्रकारसे कहके लक्ष्मणके सहित राम समुद्रके तटपर कुशासन बिछाकर बैठ गये । इसके पश्चात् स्वप्नमें समुद्र रामके पास आया, वह नद और नदियों

कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः ।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥
ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ ।
ऐक्ष्वाको ह्यस्मि त्वज्ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ॥३५॥
मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते ।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥
यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान् ।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमंत्रितैः ॥ ३७ ॥
इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः ।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धांजलिः स्थितः॥३८॥
नेच्छामि प्रतिघातं ते नाऽस्मि विघ्नकरस्तव ।
श्रृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ॥ ३९ ॥
यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया ।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥ ४० ॥
अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसंमतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान्विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥
स यत्काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि ।

बने स्वामी जलजन्तुओंसे पूर्ण समुद्र मीठे वचनसे बोला, हे नरश्रेष्ठ ! कहिये मैं आपकी क्या सहायता करूं ? मैं आपकी जाति और इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न भया हूं । (३४–३५)

श्रीराम उससे बोले, हे नद और नदियोंके स्वामी ! मैं सेनाके वास्ते मार्ग चाहता हूं, जिस मार्गसे जाकर मैं पुलस्त्यकुलकलङ्क रावणको मारूं । यदि तुम मांगनेसे मुझे न दोगे तो मैं मन्त्रोंसे पूरित दिव्य अस्त्र और बाणोंसे तुमको सुखा दूंगा । (३५—३७)

रामके ऐसे वचन सुनके समुद्र बहुत घबडा कर और हाथ जोड कर बोला, हे राम ! मैं तुमको रोकना नहीं चाहता; मैं तुम्हारा विघ्नकारी नहीं; मेरे वचनको सुनके जो उचित हो सो करो; यदि मैं तुमको और तुम्हारी सेनाको मार्ग दे दूं तो और लोग भी धनुषके बलसे मुझपर आज्ञा चलावेंगे । तुम्हारी सेनामें नल नामक वानर शिल्पी (स्थान बनानेवाला) है, वह विश्वकर्म्माका पुत्र अपने पितासे भी अधिक बलवान है; वह जो काठ तृण वा पत्थर मुझमें

सर्वं तद्धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४२ ॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्हिते तस्मिन्रामो नलमुवाच ह ।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ॥ ४३ ॥
तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् ।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥
नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।
रामस्याऽऽज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसंनिभः॥४५ ॥
तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद्विभीषणः ।
भ्राता वै राक्षसेंद्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥
प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महामनाः ।
सुग्रीवस्य तु शंकाऽभूत्प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ४७॥
राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक्च चरितेंगितैः ।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत्तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥
सर्वराक्षसराज्ये चाऽप्यभ्यषिंचद्विभीषणम् ।
चक्रे च मन्त्रसचिवं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥ ४९ ॥
विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।

डालेगा, उन सबको मैं अपने ऊपर ही रखलूंगा और वही तुम्हारा सेतु (पुल) हो जायगा। (३८—४२)

जब समुद्र ऐसा कहकर अन्तर्धान होगया, तब रामने नलसे कहा कि तुम सेतु बांधो। तुम इस कार्य्यमें समर्थ हो। इस उपायसे रघुवंशी रामने समुद्र का सेतु बंधवाया। इस सेतुकी चौडाई चालीस कोस और लम्बाई चार सौ कोसकी थी। यह सेतु अबतक भी नलसेतुके नामसे जगत्में प्रसिद्ध है। (४३—४५)

वहीं राक्षसेन्द्र रावणका भाई धर्म्मात्मा विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके सहित रामके पास आया। रामने बडे आदर से विभीषणको ग्रहण किया। सुग्रीव को यह शङ्का हुई कि यह दूत होगा, परन्तु जब राम और लक्ष्मण उसकी सत्य चेष्टा पाकर प्रसन्न हुए, तब उसका बहुत सम्मान किया। सम्पूर्ण राक्षसोंका राज्य उसे दिया और अपना मन्त्री तथा लक्ष्मणका मित्र बनाया। (४६—४९)

हे राजन् युधिष्ठिर! विभीषणकी सम्मतिसे एक महीनेमें सेनाके सहित राम समुद्र पार गये, इसके पश्चात् लङ्का

ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥
ततो गत्वा समासाद्य लंकोद्यानान्यनेकशः ।
भेदयामास कपिभिर्महांति च बहूनि च ॥ ५१ ॥
ततस्तौ रावणामात्यौ मंत्रिणौ शुकसारणौ ।
चरौ वानररूपेण तौ जग्राह बिभीषणः ॥ ५२ ॥
प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥
निवेश्योपवने सैन्यं तत्पुरः प्राज्ञवानरम् ।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽगदम् ॥ ५४ ॥[१०७४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८३॥

मार्कंडेय उवाच— प्रभूतान्नोदके तस्मिन्बहुमूलफले वने ।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत्पर्यरक्षत ॥ १ ॥
रावणः संविधिं चक्रे लंकायां शास्त्रनिर्मिताम् ।
प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ॥ २ ॥
अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शंकुभिश्चिताः ॥ ३ ॥

पुरीमें जाके बन्दरोंने बडे बडे बाग नष्ट कर दिये । इसके अनन्तर रावणके शुक और सारण नामक दो मन्त्री वानरका रूप करके सेनामें आए; उन्हें बिभीषण ने पकड लिया । जब उन्होंने फिर राक्षसका रूप धारण किया, तब रामकी आज्ञासे बन्दरोंने सम्पूर्ण सेना दिखलाके सेनासे बाहर निकाल दिया । सेना को लंकाके समीप उपवनमें ठहराकर बुद्धिमान अङ्गदको दूत बनाकर रावणके समीप भेजा । (५०–५४)[१०७४१]

वनपर्वमें दोसौ तिरासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ चौरासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, अन्नजलसे पूर्ण अनेक भांतिके पुष्पोंसे भरे उस वनमें सेनाको स्थापन करके विधिपूर्वक रक्षा करने लगे । रावणभी शास्त्रमें लिखी हुई विधिसे युद्ध सामग्री इकट्ठी करने लगे । (१–२)

लङ्का स्वभावहीसे शत्रुओंके जीतनेके अयोग्य दृढ छारदिवाली और खाईमें अथाह जल भरा हुआ था, जिसमें मछली और नाके भरे हुए थे । लङ्काके सात द्वारोंमें खैरके किवाड लगे हुए

कपाटयंत्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः ।
साशीविषघटातोयाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥
मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः ।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥
पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजंगमाः ।
बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥
अंगदस्त्वथ लंकाया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेंद्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥
मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥
स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामंत्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ९ ॥
आह त्वां राघवो राजन्कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ॥ १० ॥
अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यंत्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥
त्वयैकेनाऽपराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।

थे । वे किवाड ऐसे यन्त्रोंसे युक्त थे, कि उनको कोई भी नष्ट नहीं कर सकता था; अनेक स्थानोंपर मूत्र और विष्ठा त्यागनेके स्थान बने थे; तथा गोलोंके ढेर लगे थे; कहीं सर्पोंके ढेर, कहीं राल और बारूदके ढेर लगे थे, कहींपर मूसल, आलातवान तोमर, खड्ग, परश्वध और तोपोंके ढेर लगे थे; कहीं पर मद्य कहीं मधु मुद्गर रक्खे थे; नगरके सब द्वारोंमें अनेक भांतिके चल और अचल बुर्ज बने थे जिनमें अनेक पैदल और हाथी घोडे रहते थे। (२—६)

अङ्गद लङ्काके द्वार पर जाके रावणको अपने आनेकी सूचना देके भीतर गये। राक्षसोंकी सभामें अङ्गदकी ऐसी शोभा हुई, जैसी मेघोंके बीचमें सूर्यकी। अंगद मन्त्रियोंके सहित बैठे हुए रावणके पास जाकर रामचन्द्रके सन्देश इस प्रकारसे कहने लगे, कि हे राजन् ! महायशस्वी कोशलाधिपति रघुवंशी रामने समयानुसार तुमको यह वचन कहे हैं, उन्हें तुम मानो और वैसेही करो। (७-१०)

अनीति करने वाले पापी राजाको पाकर देश और नगर नष्ट हो जाते हैं,

वधायाऽनपराद्धानामन्येषां तद्भविष्यति ॥ १२ ॥
ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाऽप्यवमानिताः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च निहता रुदत्यश्च हताः स्त्रियः ।
तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्याऽनयस्य ते ॥ १४ ॥
हंतास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥
मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित् ।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥
इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १७ ॥
इंगितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वंगेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥
तांस्तथाऽगेषु संसक्तानंगदो रजनीचरान् ।
आदायैव खमुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥
वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः ।
भुवि संभिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥
संसक्तो हर्म्यशिखरात्तस्मात्पुनरवापतत् ।

अकेले तुमने बल पूर्वक सीताको हर कर मेरा अपराध किया है, किन्तु और निरपराधी लोग मारे जायंगे; तुमने जो बलके अभिमानसे अनेक वनवासी ऋषियोंको मारा है, देवतोंसे अभिमान किया है, राजऋषियोंका नाश किया है, रोती हुई स्त्रियोंको मारा है उन सब पापोंका फल अब उदय हुआ। हे निशाचर! तुम पुरुष बनके मुझसे लडो, मैं मंत्रियोंके सहित तुमको मारूंगा मुझ मनुष्यके धनुषका प्रताप देखो, जानकीको शीघ्र छोडदो, यदि न छोडोगे तो मैं तीक्ष्ण बाणोंसे जगत्‌को निशाचरोंसे रहित करूंगा (११—१६)

ऐसे कठोर वचनको सुनके रावण क्रोधमें भरके क्षमा न कर सका। अपने स्वामीकी चेष्टाको जाननेवाले चार राक्षस अङ्गदके शरीरमें लिपट गये, जैसे शार्दूलके अङ्गमें पक्षी लिपटते हैं, अङ्गमें लिपटे हुए राक्षसोंके सहित अङ्गद राजभवनकी छत पर उड गया। वेगके साथ उडनेसे वे चारों निशाचर पृथ्वीमें गिर गये,

लंघयित्वा पुरीं लंकां सुवेलस्य समीपतः ॥ २१ ॥
कोसलेंद्रमथाऽऽगम्य सर्वमावेद्य वानरः ।
विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाऽऽभिनंदितः ॥ २२ ॥
ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् ।
भेदयामास लंकायाः प्राकारं रघुनंदनः ॥ २३ ॥
विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याऽथ लक्ष्मणः ।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नद्दुरासदम् ॥ २४ ॥
करभारुणपांडूनां हरीणां युद्धशालिनाम् ।
कोटीशतसहस्रेण लंकामभ्यपतत्तदा ॥ २५ ॥
प्रलंबबाहूरुकरजंघांतरविलंबिनाम् ।
ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः॥२६॥
उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः ।
नाऽदृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २७ ॥
शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः ।
तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ॥ २८ ॥
प्राकारं ददृशुस्ते तु समंतात्कपिलीकृतम् ।
राक्षसा विस्मिता राजन्सस्त्रीवृद्धाः समंततः ॥ २९ ॥

उनका हृदय फट गया । अंगद राजभवनकी छतसे उड कर लङ्कापुरीको नांघकर सुवेल पर्वतके समीप आये । (१७—२१)

रामचन्द्रके समीप जाकर अंगदने सब कथा सुना दी और रामसे आदर पाके अंगदने विश्राम किया । पश्चात् रघुनन्दन रामने बन्दरोंकी सब सेनाको भेजकर लंकाकी छार दिवालीको तुडवा डाला । पश्चात् बिभीषण और जाम्बुवानको संग लेकर लक्ष्मण लंकाके दुर्गम दक्षिण द्वार पर पहुंचकर उसको तोड डाला । सोनेके समान रंगवाले सौ हजार करोड बन्दरोंका यूथ युद्ध करने को लंकामें पहुंचा, लम्बी जांघवाले, धुएंके समान रंगवाले तीन करोड रीछ युद्ध करनेको चले । (२२–२६)

हे राजन् ! उस समय बन्दरोंके उडने और गिरनेसे ऐसी धूल उडी कि सूर्य छिप गये, धानोंकी बाल, सिरसके फल, प्रातः कालके सूर्य और सनके समान रंगवाले बन्दरोंसे नगरकी छारदिवालोंको पूरित देखके बालक बूढे और स्त्रियोंके सहित सब राक्षस बिस्मित हो

बिभिदुस्ते मणिस्तंभान्कर्णाट्टशिखराणि च ।
भग्नोन्मथितशृंगाणि यंत्राणि च विचिक्षिपुः ॥ ३० ॥
परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लंकामध्ये महास्वनाः ॥ ३१ ॥
प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३२ ॥
ततस्तु राजवचनाद्राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसंघशः ॥ ३३ ॥
शस्त्रवर्षाणि वर्षंतो द्रावयित्वा वनौकसः ।
प्राकारं शोभयंतस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३४ ॥
स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३५ ॥
पेतुः शूलविभिन्नांगा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तंभतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३६ ॥
केशाकेश्यभवद्युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दंतैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३७ ॥
निष्टनंतो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपतिता भूमौ न मुंचंति परस्परम् ॥ ३८ ॥

गये । बन्दरोंने मणियोंके खम्भ और पत्थरोंके स्थानोंको तोडके गिरा दिया, यन्त्रोंको तोडके इधर उधर फेंक दिये, तोपोंको गोलोंके सहित उठाकर लंकामें घोर शब्द करके फेंकने लगे, छारदिवालीके समीप जितने राक्षस थे, वे वानरोंके भयसे इधर उधरको भाग गये । (२७—३२)

उसके पश्चात् राजाज्ञाको पाके कामरूपी भयंकर आकारवाले हजारों राक्षस शस्त्रोंकी वर्षासे बन्दरोंको डराते और छारदिवालीकी शोभाको वढाते लङ्कासे निकले । उन भयानक शरीरवाले राक्षसोंने क्षण भरमें छारदिवालीको बन्दरोंसे खाली कर दिया । अनेक वानर त्रिशूलोंसे कटकर पृथ्वीमें गिर पडे और खम्भे तथा वृक्षोंकी मारसे राक्षस भी बहुत पृथ्वीपर गिरे । (३३—३६)

बन्दर और राक्षस परस्पर केश पकडके लडने लगे, दांत और नाखूनोंसे काटकर एक दूसरेको खाने लगे, बन्दर और राक्षस शब्द करके पृथ्वीपर गिरते

रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लंकां समासाद्य जघ्नुस्तान्रजनीचरान् ॥ ३९ ॥
सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्याऽऽदिश्य दुर्गस्थान्पातयामास राक्षसान् ॥४०॥
ततः प्रत्यवहारोऽभूत्सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लंकायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ॥ ४१ ॥ १०७८२

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लंकाप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८४॥

मार्कण्डेय उवाच — ततो निविशमानांस्तान्सैनिकान्रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणाऽनेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥
पर्वणः पतनो जंभः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चाऽरुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ॥ २ ॥
ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम् ।
अंतर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स बिभीषणः ॥ ३ ॥
ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः ।
निहताः सर्वशो राजन्महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥
अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ ।

हुए भी नहीं छोडते थे, रामने भी बाणोंकी ऐसी वर्षा की जैसे मेघ जलकी वर्षा करते हैं। रामके बाण लंकामें जाके राक्षसोंको मारने लगे, लक्ष्मण बिना क्लेशके धनुष धारण करके बाणोंसे दुर्ग (किल्ले) के राक्षसोंको मारने लगे। इसके अनन्तर रामकी आज्ञासे लंकाको ध्वस्त करके विजयवती वानरोंकी सेना अपने डेरोंको फिर आई। (३७-४१)

दोसौ चौरासी अध्याय समाप्त। [१०७८२]

वनपर्वमें दो सौ पचासी अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! जब रामकी सेना अपने डेरोंमें आई तब रावणके सेवक पिशाच और छोटे राक्षसोंके झुण्ड उनके पीछे आये, उन झुण्डोंके सङ्ग पर्व्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, अरुज, प्रघस आदि थे। तब दुरात्माओंकी मायाको जाननेवाले विभीषणने उनकी अन्तर्द्धान मायाका नाश कर दिया। (१—३)

हे राजन् युधिष्ठिर ! अन्तर्द्धान मायाके नाश होते ही वे राक्षस वन्दरोंको दीखने लगे। वानरोंने उन सबको मारके पृथ्वीमें गिरा दिया। तब रावण क्रोध करके राक्षस और घोर

राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानां च संवृतः ॥ ५ ॥
युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चाऽपरः ।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत ॥ ६ ॥
राघवस्तु विनिर्यान्तं व्यूढानीकं दशाननम् ।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥ ७ ॥
समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः ।
युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्रजिता सह ॥ ८ ॥
विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः ।
तुंडेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥ ९ ॥
विषह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् ।
युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १० ॥
स संप्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः ।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे तथा ॥ ११ ॥
रावणो राममानर्च्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः ।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ॥ १२ ॥
तथैवेंद्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः ।
इंद्रजिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ॥ १३ ॥
बिभीषणः प्रहस्तश्च प्रहस्तश्च बिभीषणम् ।

पिशाचोंकी सेना सङ्ग लेकर चला । युद्धशास्त्रको जाननेवाला साक्षात् शुक्रके समान रावणने शुक्रव्यूह बनाके बन्दरोंको घेर लिया। रघुवंशी रामने सेनाके सहित रावणको आया देखके बृहस्पति व्यूह बनाके रावणको घेर लिया। ४-७

तब राम और रावणका, लक्ष्मण और मेघनादका, सुग्रीव और विरूपाक्षका, तार और निखर्व, टकातुण्ड और नलका, पटुश और पनसका, युद्ध होने लगा । उस युद्धमें प्रहारोंका कायरोंको डरानेवाला ऐसा भयानक शब्द बढा जैसा देवासुर संग्राममें हुआ था। (८-११)

रावणने शक्ति शूल और खड्गकी वर्षासे रामको बहुत पीडित किया। ऐसे ही तीक्ष्ण बाणोंसे रामने रावणको व्याकुल कर दिया, मेघनादने लक्ष्मणको और लक्ष्मणने मेघनादको तीक्ष्ण बाणोंसे व्याकुल किया; ऐसेही बिभीषणने प्रहस्तको और प्रहस्तने बिभीषणको तेज बाणोंसे व्याकुल किया।

खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद्रुतव्यथः ॥ १४ ॥
तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः ।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥१५ ॥ १०७९७

इति श्रीमहाभारते० रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणादिद्वन्द्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

मार्कण्डेय उवाच— ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य बिभीषणम् ।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः ॥ १ ॥
स तयाऽभिहतो धीमान्गदया भीमवेगया ।
नाऽकंपत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः। ॥ २ ॥
ततः प्रगृह्य विपुलां शतघंटां बिभीषणः ।
अनुमंत्र्य महाशक्तिं चिक्षेपाऽस्य शिरः प्रति ॥ ३ ॥
पतंत्या स तया वेगाद्राक्षसोऽशनिवेगया ।
हृतोत्तमांगो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम् ।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन् ॥ ५ ॥
तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद्भीमदर्शनम् ।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुंगवाः ॥ ६ ॥
ततस्तान्सहसा दीर्णान्दृष्ट्वा वानरपुंगवान् ।

इन शस्त्रधारियोंका युद्ध बहुत भयानक हुआ, कि जिससे तीन लोकके चराचर व्याकुल होगये । (१२-१५) १०७९७

वनपर्वमें दो सौ पचासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दो सौ छियासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले; कि हे राजन् ! तब घोर युद्ध करनेवाले प्रहस्तने शीघ्रताके साथ दौडकर और गर्जकर विभीषण को गदा मारी। उस भयानक गदासे पीडित होकर बुद्धिमान बिभीषण हिमाचल पर्वतके समान खडे रहे, और कुछ भी कम्पायमान न हुए । इसके पश्चात् जिस शक्तिमें सौ घण्टे लगे हुए थे, उसे मन्त्रसे युक्त करके बिभीषणने प्रहस्तके सिरकी ओर छोडा । उस वज्रके समान शक्तिके लगनेसे प्रहस्तका सिर कट गया। उस समय वह ऐसा दीखने लगा, जैसे हवासे गिरा हुआ वृक्ष । (१-४)

प्रहस्तको मरा हुआ देखकर धूम्राक्ष बडे वेगसे बन्दरोंकी ओर दौडा; उसकी भयानक मेघोंके समान सेनाको आते हुए देखकर मुख्य मुख्य वानर भागे; मुख्य बन्दरोंको भागते हुए, देखकर

निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ७ ॥
तं दृष्ट्वाऽवस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम् ।
महत्या त्वरया राजन्संन्यवर्तन्त सर्वशः ॥ ८ ॥
ततः शब्दो महानासीत्तुमुलो लोमहर्षणः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ९ ॥
तस्मिन्प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे ।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः ॥१० ॥
तं स रक्षोमहामात्रमापतंतं सपत्नजित् ।
प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः ॥ ११ ॥
तयोर्युद्धमभूद्घोरं हरिराक्षसवीरयोः ।
जिगीषतोर्युधाऽन्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ १२ ॥
गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान्कपिम् ।
कपिश्च जघ्निवान्रक्षः सस्कंधविटपैर्द्रुमैः ॥ १३ ॥
ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसारथिम् ।
धूम्राक्षमवधीत्क्रुद्धो हनूमान्मारुतात्मजः ॥ १४ ॥
ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम् ।
हरयो जातविस्रंभा जघ्नुरन्ये च सैनिकान् ॥ १५ ॥
ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः ।

पवनपुत्र बन्दरोंमें मुख्य हनुमान् आए। पवनपुत्र हनुमानको युद्धमें खडा हुआ देखकर, चारों ओरसे बन्दर युद्ध करने को फिरे। हे राजन्! उस समय राम और रावणकी सेनाके युद्धका भयानक शब्द होने लगा। (५-९)

उस भयानक युद्धमें रुधिरका कीचड होगया। धूम्राक्षने बन्दरोंकी सेनाको घेर लिया। उसको युद्धमें आते हुए देखकर, शत्रुओंको नाश करनेवाले पवनपुत्र हनुमानने बडे वेगसे ललकारा। उस मुख्य राक्षस और मुख्य बन्दरका जयकी इच्छासे ऐसा भयानक युद्ध हुआ, जैसा प्रह्लाद और इन्द्रका; राक्षसने गदा और परिघादि शस्त्रोंसे हनुमानको मारा, और हनुमानने शाखा युक्त वृक्षोंसे धूम्राक्षको व्याकुल किया। इसके पश्चात् पवनपुत्र हनुमानने बहुत क्रोध करके धूम्राक्षको रथ सारथी और घोडोंके सहित मारडाला। (१०-१४)

राक्षसोत्तम धूम्राक्षको मरा हुआ देखकर बन्दरोंने सेनाके अन्य राक्षसों

राक्षसा भग्नसंकल्पा लंकामभ्यपतन्भयात् ॥ १६ ॥
तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः ।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन् ॥ १७ ॥
श्रुत्वा च रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि ।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः ॥ १८ ॥
सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्त्य वरासनात् ।
उवाच कुंभकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः ॥ १९ ॥
इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः ।
शयानमतिनिद्रालुं कुंभकर्णमबोधयत् ॥ २० ॥
प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनाऽऽगतसाध्वसः ।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः ॥ २१ ॥
ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः कुंभकर्णं महाबलम् ।
धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुंभकर्णेयमीदृशी ॥ २२ ॥
य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम् ।
एष तीर्त्वाऽर्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह ॥ २३ ॥
अवमन्येह नः सर्वान्करोति कदनं महत् ।
मया त्वपहृता भार्या सीता नामाऽस्य जानकी ॥ २४ ॥

को बहुत नाश किया । वानरोंके मुक्कोंसे पीडित होकर राक्षस अपनी आशाओं को त्यागकर लङ्काको चले गये। मरने- से जो राक्षस बचे थे उन्होंने लङ्कामें आकर राजा रावणसे सब वृत्तान्त कहा। उन राक्षसोंसे रावणने युद्धमें प्रहस्तको और महावीर धूम्राक्षको मरा हुआ सुनकर बहुत ऊंचा स्वास लिया, और आसनसे उठकर कहा कि यह समय कुम्भकर्ण के योग्य कर्मका प्राप्त हुआ है। (१५–१९)

ऐसा कहकर बहुत सोनेवाले कुम्भ- कर्णको अनेक भांतिके बाजोंसे जगाने लगा। बडे यत्न और दुःखसे कुम्भक- र्णको जगाकर राक्षसराज रावण सुस्त हो कर बैठे हुए और महा बलवान् कुम्भकर्ण से बोला, हे कुम्भकर्ण ! तुम धन्य हो, तुम्हारी ऐसी प्रबल निद्रा है, जो तुम इस घोर भयको भी नहीं जानते हो, कि राम बन्दरोंके सहित समुद्रको तर- कर और हम सबका अपमान करके ल- ङ्काहीमें घोर उपद्रव कर रहा है। २०–२४

मैं जनकनन्दिनी सीता नामकी उस की स्त्रीको चुरा लाया हूं; उसके लेजाने

तां नेतुं स इहाऽऽयातो बध्वा सेतुं महार्णवे ।
तेन चैव प्रहस्तादिर्महान्नः स्वजनो हतः ॥ २५ ॥
तस्य नाऽन्यो निहंताऽस्ति त्वामृते शत्रुकर्शन ।
स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर ॥ २६ ॥
रामादीन्समरे सर्वाञ्जहि शत्रूनरिंदम ।
दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २७ ॥
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः ।
इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुंभकर्णं तरस्विनम् ।
संदिदेशेतिकर्तव्ये वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २८ ॥
तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ ।
कुंभकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात् ॥ २९ ॥ [१०८२६]

इति श्रीमहा० आरण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुंभकर्णनिर्गमने पडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः२८६

मार्कंडेय उवाच— ततो निर्याय स्वपुरात्कुंभकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत्कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥
स वीक्ष्यमाणस्तत्सैन्यं रामदर्शनकांक्षया ।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥

को राम समुद्रपर सेतु बांधके लंकामें आये हैं; और हमारे प्यारे प्रहस्तादिक को उसने मार डाला है; हे शत्रुनाशन! तुम्हारे सिवाय उसको मारनेवाला और कोई नहीं है; हे बलवानोंमें श्रेष्ठ ! तुम कवचादि पहनकर युद्धके लिये जाओ; हे शत्रुओं को दमन करनेवाले ! तुम युद्धमें रामादिक शत्रुओं को नाश करो, दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी बहुतसी सेना लेकर तुम्हारे पीछे जायंगे । (२४–२८)

हे राजन् युधिष्ठिर ! इस प्रकारसे बलवान कुंभकर्णको आज्ञा देकर राक्षसपति रावण वज्रवेग और प्रमाथीको आज्ञा देने गया । दूषणके छोटे भाईयों ने रावणकी आज्ञा मानकर और कुम्भकर्णको आगे करके नगरसे प्रस्थान किया । (२८–२९) [१०८२६]

वनपर्वमें दोसौ छियासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ सतासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! कुम्भकर्णने अपने सेवकोंके सहित नगर से बाहर निकलके दृढ मुष्टिवाली बन्दरोंकी सेनाको आगे खडे देखा । उस सेनाको देखके कुम्भकर्णको रामके देखनेकी इच्छा बढी । तब उसने धनुषबाण

तमभ्येत्याऽऽशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ॥ ३ ॥
करजैरतुदंश्चाऽन्ये विहाय भयमुत्तमम् ।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवंगमाः ॥ ४ ॥
नानाप्रहरणैर्भीमै राक्षसेंद्रमताडयन् ।
स ताड्यमानः प्रहसन्भक्षयामास वानरान् ॥ ५ ॥
बलं चंडबलाख्यं च वज्रबाहुं च वानरम् ।
तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुंभकर्णस्य रक्षसः ॥ ६ ॥
उदक्रोशन्परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ।
तानुच्चैः क्रोशतः सैन्याञ्श्रुत्वा स हरियूथपान् ॥ ७ ॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुंभकर्णमपेतभीः ।
ततो निपत्य वेगेन कुंभकर्णं महामनाः ॥ ८ ॥
शालेन जघ्निवान्मूर्ध्नि बलेन कपिकुंजरः ।
स महात्मा महावेगः कुंभकर्णस्य मूर्धनि ॥ ९ ॥
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाऽव्यथयत्कपिः ।
ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ॥ १० ॥
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुंभकर्णोऽहरद्बलात् ।
ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुंभकर्णेन रक्षसा ॥ ११ ॥

लिये लक्ष्मणको देखा । अनन्तर बन्दरोंने चारों ओरसे बडे बडे वृक्ष उसके ऊपर डालना आरम्भ किया; नाखूनोंसे अनेक बन्दर उसे काटने लगे, अनेक प्रकारसे बन्दर उससे युद्ध करने लगे, अनेक प्रकारके शस्त्र और वृक्षोंसे पिट कर कुम्भकर्ण हंसा और बन्दरोंको खाने लगा । (१–५)

बल चण्डबल और वज्रबाहु नामक बन्दरोंको कुम्भकर्णने मारकर गिरा दिया कुम्भकर्णके इस भयानक कर्मको देखकर बन्दर लोग इधर उधरको भागने लगे । तार आदिक सेनापति बन्दरों को डरसे चिल्लाते और भागते हुए देखकर निडर सुग्रीव कुम्भकर्णकी ओर को दौडा और कुम्भकर्णके समीप आके शालका एक वृक्ष कुम्भकर्णके सिरमें मारा । (६–१०)

उस शाल वृक्षके लगनेसे कुम्भकर्ण को बोध हुआ और दोनों हाथोंसे पकडके सुग्रीवको लेचला । इस दशाको देखके मित्रोंको आनन्द देनवाले

अवेक्ष्याऽभ्यद्रवद्वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुंखं महाशरम् ॥ १२ ॥
प्राहिणोत्कुंभकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।
स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ १३ ॥
जगाम दारयन्भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।
तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥
कुंभकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥
तस्याऽभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥
तानप्यस्य भुजान्सर्वान्प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥
स बभूवाऽतिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराऽद्रिचयोपमम् ॥ १८ ॥
स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १९ ॥
तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुंभकर्णं तरस्विनम् ।

सुमित्रा-नन्दन लक्ष्मण कुम्भकर्णकी ओरको चले और पंख लगे हुए बाणोंको कुम्भकर्णके ऊपर छोडा । शत्रुओंको नाश करनेवाले लक्ष्मणके बाण कुम्भकर्णके शरीरको छेदकर पृथ्वीमें घुस गये । हृदयके भिद जानेसे कुम्भकर्णने वानरराज सुग्रीवको छोडदिया । (१०–१४)

पश्चात् शिला लेकर कुम्भकर्ण लक्ष्मणकी ओर आया । उसको हाथ उठाये आता देखके शीघ्रताके साथ तीक्ष्ण बाणोंसे लक्ष्मणने उसके हाथको काट दिया; तब कुम्भकर्ण चतुर्भुजी होगया । (१५—१६)

लक्ष्मणने शिला शस्त्रके सहित उन हाथोंकोभी काटके गिरा दिया, तब कुम्भकर्ण अनेक पैर और अनेक हाथवाला होगया; लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्रसे उसे भी काट डाला । दिव्य अस्त्रके लगनेसे महा बलवान कुम्भकर्ण रणभूमिमें ऐसे गिर गया, जैसे बिजलीके लगनेसे शाखा सहित वृक्ष गिर पडता है । (१७—१९)

वृत्रासुर के समान बलवान कुंभकर्ण

गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन्भयात् ॥ २० ॥
तथा तान्द्रवतो योधान्दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याऽथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ॥ २१ ॥
तावाद्रवंतौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्रिभिः ॥ २२ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २३ ॥
महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तौ समवर्षताम् ॥ २४ ॥
मुहूर्त्तमेवमभवद्वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः संप्रहारः सुदारुणः ॥ २५ ॥
अथाऽद्रिश्रृंगमादाय हनुमान्मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याऽऽददे प्राणान्वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २६ ॥
नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २७ ॥
ततः प्रावर्त्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ २८ ॥

को पृथ्वीमें मरा हुआ देखकर राक्षस लोग भयसे इधर उधरको भागने लगे। राक्षस योद्धाओंको इधर उधरको भागते देखकर दूषणके दोनों भाइयोंने उन्हे रोका और युद्ध करते हुए लक्ष्मणके सन्मुख आये । इन दोनों वज्रवेग और प्रमाथीको क्रोधसे भरे और संमुख आये देखकर सुमित्रापुत्र लक्ष्मणने गरजकर अपने धनुषपर बाण चढाया। हे युधिष्ठिर! तब बुद्धिमान लक्ष्मणका और दूषणके भाइयों का रोवों को खडे करनेवाला भयानक युद्ध हुआ । (२०—२३)

लक्ष्मणने बाणोंकी वर्षासे उन्हे छा लिया, और दोनों वीरोंने भी लक्ष्मणके ऊपर बहुत बाणोंकी वर्षा करी । इस रीतिसे एक मुहूर्त तक वज्रवेग और प्रमाथीके सङ्ग लक्ष्मणका भयानक युद्ध होता रहा। इसके पश्चात् पर्वतके शिखर को लेके पवनपुत्र हनुमानने वज्रवेगके प्राणका नाश कर दिया और नीलने पहाड उठाकर महा बलवान प्रमाथीके प्राणको नाश किया । (२४-२७)

इसके अनन्तर राम और रावणकी सेनाका परस्पर भयानक युद्ध होने लगा।

शतशो नैर्ऋतान्वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यंते प्रायेण न तु वानराः॥ २९ ॥ [१०८५५]

इति श्रीमहाभारते०पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुंभकर्णादिवधे सप्ताशीत्याधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७॥

ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुंभकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चाऽतितेजसम् ॥ १ ॥
पुत्रमिंद्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममभित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥
त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥
अंतर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ॥ ४ ॥
रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाः प्रतिसोढुं च कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥
अकृता या प्रहस्तेन कुंभकर्णेन चाऽनघ ।
खरस्याऽपचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ॥६ ॥
त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून्ससैनिकान् ।

बन्दर सहस्रों राक्षसोंको और राक्षस सहस्रों बन्दरोंको मारने लगे, परन्तु अधिक राक्षसही मरे, बन्दर नहीं। (२८–२९) [१०८५५]

वनपर्वमें दोसौ सतासी अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ अठासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! कुम्भकर्ण प्रहस्त और महा शस्त्रधारी धूम्राक्षको युद्धमें मरा हुआ सुनकर रावण अपने पुत्र मेघनादसे बोला कि हे शत्रुनाशन ! तुम लक्ष्मणके सहित राम और सुग्रीवको मारो; हे सुपुत्र ! तुमने इन्द्राणीके स्वामी सहस्र नेत्रवाले वज्रधारी इन्द्रको युद्धमें जीतकर बडा यश प्राप्त किया है, हे शस्त्रधारीयोंमें श्रेष्ठ ! हे शत्रु नाशन ! गुप्त और प्रकट दिव्य शस्त्रोंसे मेरे शत्रुओंको नाश करो (१– ४)

हे पापरहित ! राम लक्ष्मण और सुग्रीव भी तुम्हारे बाणोंको नहीं सह सकते हैं ; तब उनके सेवक कैसे सह सकेंगे ? जिस कार्यको कुम्भकर्ण और प्रहस्त नहीं कर सके उसे तुम करो । युद्धमें जाके तुम खरका बदला लो, हे महा भुज ! तुम आज तीक्ष्ण बाणोंसे सेनाके सहित शत्रुओंको मारके मुझे ऐसा

प्रतिनंदय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ॥ ७ ॥
इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविंद्रजिद्राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥
ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुंगवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥
तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान्यथा ॥ १० ॥
तयोः समभवद्युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ॥ ११ ॥
रावणिस्तु यदा नैवं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद्बलिनां वरः ॥ १२ ॥
तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान्स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ॥ १३ ॥
ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन्धरणीतले ।
तमंगदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ॥ १४ ॥
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ।

आनन्द दो जैसे पहिले इन्द्रको जीतकर दिया था । (५—७)

हे राजन् ! युधिष्ठिर ! इन्द्रको जीतनेवाले मेघनादने कहा बहुत अच्छा ऐसा ही करूंगा, ऐसा कहके युद्ध करनेको चला । तब समरभूमिमें जाके अपने नामको स्पष्ट रीतिसे सुनाके शुभ लक्षण युक्त लक्ष्मणको युद्धके स्थलपर ललकारा । लक्ष्मणभी बाण सहित धनुषको लेके धनुषकी टङ्कारसे लोगोंको डराते हुए ऐसे चले जैसे सिंह छोटे हरिनोंपर दौडता है । हे राजन् ! जयकी इच्छा करनेवाले दिव्य अस्त्रोंके जाननेवाले और परस्पर डाह रखनेवाले लक्ष्मण और मेघनादका भयानक युद्ध हुआ (८—११)

जब रावणका पुत्र बाणोंसे पार न पासका तब बलवानोंमें श्रेष्ठ मेघनादने बडा यत्न करके लक्ष्मणके ऊपर तोमर छोडे । सुमित्रापुत्र लक्ष्मणने तोमरोंको आते हुए देखकर तीक्ष्णबाणोंसे काटकर गिरा दिया । लक्ष्मणके तीक्ष्णबाणोंसे जब तोमर कटकर पृथ्वीमें गिर गये, तब वालिपुत्र श्रीमान् अङ्गद एक वृक्ष लेकर मेघनादकी ओर दौडे और बडे वेगसे राक्षसके सिरमें उस वृक्षको मारा । (१२—१५)

तस्येंद्रजिदसंभ्रांतः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ॥ १५ ॥
प्रहर्तुमैच्छत्तं चाऽस्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ।
तमभ्याशगतं वीरमंगदं रावणात्मजः ॥ १६ ॥
गदयाऽताडयत्सव्ये पार्श्वे वानरपुंगवम् ।
तमचिंत्य प्रहारं स बलवान्वालिनः सुतः ॥ १७ ॥
ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कंधं तथांऽगदः ।
सोंऽगदेन रुषोत्सृष्टो वधायेंद्रजितस्तरुः ॥ १८ ॥
जघानेंद्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ।
ततो हताश्वात्प्रस्कंद्य रथात्स हतसारथिः ॥ १९ ॥
तत्रैवांऽतर्दधे राजन्मायया रावणात्मजः ।
अंतर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ॥ २० ॥
रामस्तं देशमागम्य तत्सैन्यं पर्यरक्षत ।
स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ॥ २१ ॥
विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महाबलम् ।
तमदृश्यं शरैः शूरौ माययांतर्हितं तदा ॥ २२ ॥
योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ ।
स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ २३ ॥
व्यसृजत्सायकान्भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ।

बलवान मेघनाद उससे कुछ भी व्याकुल न हुआ, और प्रास अङ्गदके मारनेको उठाया। लक्ष्मणने उस प्रासको काटकर गिरा दिया। तब रावणके पुत्र मेघनादने अङ्गदकी बाईं कोखमें एक गदा मारी। बलवान् वालिके पुत्र अङ्गद ने उस प्रहारको सहकर बडे क्रोधके साथ एक वृक्ष मेघनादके मारनेको च-लाया। हे राजन् युधिष्ठिर! उस वृक्षसे मेघनादके रथके घोडे और सारथी मर गये। तब रथसे उतरकर रावणका पुत्र मेघनाद अन्तर्द्धान हो गया। (१५-२४)

बहुत माया जाननेवाले मेघनादको अन्तर्द्धान हुआ जानकर राम वहांपर आए और अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे। तब वह राक्षस वर पाये हुए, बा-णसे राम और लक्ष्मणको मारने लगा। राम और लक्ष्मणभी अन्तर्द्धान हुए मेघनादपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। मेघनादने बडा क्रोध करके पुरुषसिंह राम और लक्ष्मणपर सैकडों सहस्रों बाण चलाये। (२०—२४)

तमदृश्यं विचिन्वंतः सृजंतमनिशं शरान् ॥ २४ ॥
हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ।
तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ॥२५॥
स भृशं ताडयामास रावणिर्मायया वृतः ।
तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
पेततुर्गगनाद्भूमिं सूर्याचंद्रमसाविव ॥ २६ ॥ [१०८८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणीन्द्रजिद्युद्धेऽष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८८॥

तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बबंध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा । ॥ १ ॥
तौ वीरौ शरबंधेन बद्धाविंद्रजिता रणे ।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुंताविव पंजरे ॥ २ ॥
तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥
सुषेणमैंदद्विविदैः कुमुदेनांऽगदेन च ।
हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥
ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा बिभीषणः ।

तब शिला लेकर बन्दर लोग बाण छोडनेवाले उस छिपे हुएको ढूंडनेके वास्ते आकाशमें चढ गये। छिपे हुए मेघनादने उन वानरों और राम लक्ष्मण पर बाणोंकी वर्षा करी। मेघनादके बाणोंसे व्याकुल होकर राम और लक्ष्मण दोनों भाई ऐसे गिरे, जैसे सूर्य और चन्द्रमा गिरते हैं। (२४-२६) १०८८१

वनपर्वमें दोसौ अठासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ नवासी अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् उन राम लक्ष्मण दोनों भाईयोंको गिरा हुआ देखकर रावणके पुत्र मेघनादने वर पाये हुए शस्त्रोंसे उन्हें बांध लिया वह दोनों वीर मेघनादसे बंधकर युद्धमें ऐसे शोभायमान हुए, जैसे पिञ्जरमें पक्षी। राम और लक्ष्मणको पृथ्वीमें गिरा और बंधा हुआ देखकर बन्दरोंके सहित सुग्रीव वहांपर आगे और उनको घेरकर बैठ गये। (१—३)

सुषेण, मयन्द, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनुमान, नील, तार, नल, और सुग्रीव सब वहीं आगये। तब उस स्थानमें कार्य सिद्ध करनेवाले, बिभीषणने आके

बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ॥ ५ ॥
विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमंत्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥
तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम्।
गततंद्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ॥ ७ ॥
ततो बिभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनंदनम्।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृतांजलिरिदं वचः ॥ ८ ॥
इदमंभो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात्।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात्त्वत्सकाशमरिंदम ॥ ९ ॥
इदमंभः कुबेरस्ते महाराज प्रयच्छति।
अंतर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतप ॥ १० ॥
अनेन मृष्टनयनो भूतान्यंतर्हितान्युत।
भवान्द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ॥ ११ ॥
तथेति रामस्तद्वारि प्रतिगृह्याऽभिसंस्कृतम्।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥
सुग्रीवजांबवंतौ च हनुमानंगदस्तथा।
मैंदद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥
तथा समभवच्चापि यदुवाच बिभीषणः।

प्रज्ञास्त्रसे राम लक्ष्मणको सचेत किया, और सुग्रीवने मन्त्रयुक्त विशल्या नामक औषधीसे घाव रहित किया। राम लक्ष्मण सचेत घावरहित और सावधान होकर बैठ गये। (४–७)

हे राजन् युधिष्ठिर! तब बिभीषण सावधान हुए इक्ष्वाकुवंशी रामसे हाथ जोडकर ऐसे वचन बोले, हे महाराज! कुबेरकी आज्ञासे यह गुह्यक जल लेके आपके पास आया है। हे शत्रुको दुःख देनेवाले! यह जल छिपे हुएको दिखाने के वास्ते कुबेरने आपके लिये भेजा है, इस जलसे नेत्रोंको धोते ही छिपे हुए प्राणियोंको आप देखेंगे और जिस मनुष्यको आप देंगे, वहभी देखेगा। (८—११)

रामने बहुत अच्छा कहकर उस संस्कार किये जलको ले लिया, और उससे लक्ष्मण, राम, सुग्रीव, जाम्बुवान, अंगद, मयन्द, द्विविद और नीलने अपने नेत्रोंको धोआ और जैसा बिभी-षणने कहा था, वैसाही हुआ। जो

क्षणेनाऽतींद्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन्युधिष्ठिर ॥ १४ ॥
इंद्रजित्कृतकर्मा च पित्रे कर्म तदात्मनः ।
निवेद्य पुनरागच्छत्त्वरयाऽऽजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥
तमापतंतं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया ।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥
अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् ।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥
तयोः समभवद्युद्धं तदाऽन्योन्यं जिगीषतोः ।
अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥ १८ ॥
अविध्यदिंद्रजित्तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः ।
सौमित्रिश्चाऽनलस्पर्शैरविध्यद्रावणिं शरैः ॥ १९ ॥
सौमित्रिशरसंस्पर्शाद्रावणिः क्रोधमूर्छितः ।
असृजल्लक्ष्मणायाऽष्टौ शरानाशीविषोपमान् ॥ २० ॥
तस्याऽसून्पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्रिभिस्त्रिभिः ।
यथा निरहरद्वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥
एकेनाऽस्य धनुष्मंतं बाहुं देहादपातयत् ।

वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीख सकती हैं, वे सब लोग क्षण भरमें देखने लगे । (१२–१४)

हे राजन् युधिष्ठिर ! मेघनाद अपने कार्यको समाप्त करके अपने कर्मको पिताके पास कहने गया । और कहकर फिर युद्धमें आया, उसको युद्धकी इच्छासे आता हुआ देखकर लक्ष्मण उसकी और बिभीषणकी सम्मतिसे दौडे। सन्ध्या वन्दन करनेके पूर्वही उसको मारनेकी इच्छासे बडे क्रोधसे साथ लक्ष्मणने बाण छोडे । (१५—१७)

हे राजन् ! जीतनेकी इच्छा करने वाले इन दोनोंका ऐसा भयानक युद्ध हुआ, कि जैसे इन्द्र और प्रह्लादका । रावणके पुत्र मेघनादने सुमित्राके पुत्र लक्ष्मणको व्याकुल किया, और सुमित्राके पुत्र लक्ष्मणने अग्निके समान बाणके लगनेसे क्रोधमें भरके मेघनादको आठ बाण मारे । मेघनादने सर्पके समान आठ बाण लक्ष्मणको मारे । लक्ष्मणने भी तीन बाण मेघनादको मारके उसकी जो गति करी, सो तुम मुझसे सुनो । (१८—२१)

एक बाणसे धनुषके सहित उसके हाथ काट दिये, और दूसरे बाणसे

द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ॥ २२ ॥
तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता ।
जहार सुनसं चापि शिरो भ्राजिष्णुकुंडलम् ॥ २३ ॥
विनिकृत्तभुजस्कंधं कबंधं भीमदर्शनम् ।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ॥ २४ ॥
लंकां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा ।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ॥ २५ ॥
स पुत्रं निहतं दृष्ट्वा त्रासात्संभ्रांतमानसः ।
रावणः शोकमोहार्त्तो वैदेहीं हंतुमुद्यतः ॥ २६ ॥
अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् ।
खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाऽभिपपात ह ॥ २७ ॥
तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविंध्यः पापनिश्चयम् ।
शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥
महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हंतुमर्हसि ।
हतैवैषा यदा स्त्री च बंधनस्था च ते वशे ॥ २९ ॥
न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः ।
जहि भर्तारमेवाऽस्य हते तस्मिन्हता भवेत् ॥ ३० ॥

बाणयुक्त दूसरा हाथभी काटकर गिरा दिया; तीक्ष्ण धारवाले तीसरे बाणसे चमकीले कुण्डलोंसे युक्त सिरको काट दिया। मेघनादके सिर और भुजाओं-को काटकर बलवानोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मणने सूतको भी तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मार डाला; तब उस रथको घोडे लङ्कामें लेगये, रावणने उस रथको अपने पुत्रसे खाली देखा। (२२—२५)

पुत्रको मरा हुआ देखकर रावणका हृदय भयसे व्याकुल होगया। रावण शोक और मोहसे व्याकुल होकर सीता को मारनेको उद्यत हुआ। अशोक वाटिकामें रहनेवाली रामका दर्शन चाहनेवाली सीताको मारनेके लिये खड्ग उठाके रावण चला। (२६-२७)

उस दुर्बुद्धिको पापकर्ममें निश्चय देखके अविन्ध शान्त करनेके लिये ऐसा बोला, हे राक्षसेन्द्र! तुम प्रकाशमान बडे राज्यमें स्थित हो; इस लिये स्त्रीको मारने योग्य नहीं हो। जब स्त्री तुम्हारे बन्धन और वशमें है, तो मरी हुई है, देहके काटनेसे यह नहीं मरेगी किन्तु इसके पतिको मारडालो, तो यह आपही

न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः ।
असकृद्धि त्वया सेंद्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ॥३१॥
एवं बहुविधैर्वाक्यैरविंध्यो रावणं तदा ।
क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ॥ ३२ ॥
निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायाऽसिं क्षपाचरः ।
आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ॥३३ ॥ १०९१४

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणीन्द्रजिद्वध ऊननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८९॥

मार्कण्डेय उवाच—ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते ।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ॥ १ ॥
स वृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः ।
अभिदुद्राव रामं स योधयन्हरियूथपान् ॥ २ ॥
तमाद्रवंतं संक्रुद्धं मैंदनीलनलांगदाः ।
हनूमाञ्जांबवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥
ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरपुंगवाः ।
द्रुमैर्विध्वंसयांचक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥
ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः ।

मर जायगी । हे राक्षसेन्द्र ! तुम्हारे बलके समान साक्षात् इन्द्र भी नहीं हैं; तुमने अनेक बार युद्धमें देवतोंको व्याकुल किया है । (२८-३१)

इस प्रकार अनेक प्रकारकी बातोंसे क्रोधी रावणको अविन्ध्यने समझाया और रावणने भी उसके वचनोंको ग्रहण किया । तब रावणने युद्धमें चलनेका निश्चय किया, और खड्ग लेकर रथ सजाने की आज्ञा दी । (३२-३३) १०९१४

वनपर्वमें दो सौ नवासी अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दो सौ नव्वे अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! प्यारे पुत्रके मारे जानेपर रावणको बडा क्रोध हुआ । तब रत्न जटित सोनेके रथपर बैठके युद्धको चला । अनेक प्रकारके शस्त्र लिये घोर राक्षसोंसे घिरा हुआ, रावण बन्दरोंके सेनापतियोंसे लडता हुआ रामकी ओर चला । उस क्रोध युक्त रावणको आते हुए देखकर मैन्द, नल, नील, हनुमान् और जाम्बुवानने सेनाके सहित रोका; इन मुख्य वानर और रीछोंने वृक्षोंसे रावणकी सेनाको रावणके सन्मुखही विनाश किया । (१-४)

शत्रुओंसे अपनी सेनाका विनाश होते

मायावी चाऽसृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥
तस्य देहविनिष्क्रांताः शतशोऽथ सहस्रशः ।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यंत शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥
तान्रामो जघ्निवान्सर्वान्दिव्येनाऽस्त्रेण राक्षसान् ।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद्राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥
कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ॥ ८ ॥
ततस्ते राममर्च्छंतो लक्ष्मणं च क्षपाचराः ।
अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः ॥ ९ ॥
तां दृष्ट्वा राक्षसेंद्रस्य मायामिक्ष्वाकुनंदनः ।
उवाच रामं सौमित्रिरसंभ्रांतो बृहद्वचः ॥ १० ॥
जहीमान्राक्षसान्पापानात्मनः प्रतिरूपकान् ।
जघान रामस्तांश्चाऽन्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥
ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥
मातलिरुवाच— अयं हर्यश्वयुग्जैत्रो मघोनः स्यंदनोत्तमः ।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥

देखकर राक्षसराज मायावी रावणने माया रची । रावणके शरीरमें शक्ति आदि शस्त्रधारी सैकडों सहस्रों राक्षस निकलते दीखने लगे । राम ने दिव्य अस्त्रोंसे उन राक्षसोंको मारा । राक्षसपति रावणने फिर माया रची । सहस्रों राम और लक्ष्मण उत्पन्न कर दिये, वह मायाके राम और लक्ष्मण धनुष बाण लेकर राम और लक्ष्मणको मारनेके वास्ते दौडे । (५—९)

उन मायाके राक्षसोंको आते हुए देखकर और भ्रम रहित होके रामसे लक्ष्मण यह गूढ वचन बोले, हे राम ! इन अपने रूपवाले पापी राक्षसोंको मारो । ऐसा कहके राम अपने समान रूपवाले राक्षसोंको मारने लगे । इसके अनन्तर इन्द्रका सारथी मातली सूर्य्यके समान प्रकाशमान हरे-घोडे जिसमें लगे थे, उस रथको लेके रामके पास आया । (१०—१२)

मातली बोला, हे काकुत्स्थवंशी राम ! यह हरे घोडोंसे युक्त रथ इन्द्रका उत्तम जैत्ररथ है, इसीसे सैकडों और सहस्रों दैत्य दानवोंको इन्द्र युद्धमें

शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् ।
तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ॥ १४ ॥
स्यंदनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः ।
इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशंकत मातलेः ॥ १५ ॥
मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच बिभीषणः ।
नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥
तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैंद्रं महाद्युते ।
ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा बिभीषणम् ॥१७॥
रथेनाऽभिपपाताऽथ दशग्रीवं रुषाऽन्वितः ।
हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते ॥ १८ ॥
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्यास्तथाऽनदन् ।
दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत् ॥ १९ ॥
अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाऽभवत् ।
स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः ॥ २० ॥
शूलमिंद्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदंडमिवोद्यतम् ।
तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ॥ २१ ॥
तद् दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् ।
ततः क्रुद्धः ससर्जाऽऽशु दशग्रीवः शिताञ्छरान् ॥२२॥

नाश करते हैं; हे पुरुषसिंह! हमसे नियंत्रित इस रथपर चढकर रावणको मारिये, विलम्ब न कीजिये। मातलीके ऐसे वचन सुनके रामको रावणकृत मायाही की शंका हुई। (१३—१५)

तब बिभीषण बोले, हे पुरुषसिंह राम! यह दुरात्मा रावणकी माया नहीं है, इस कारणसे इन्द्रके प्रकाशयुक्त रथपर शीघ्र चढिये। तब राम बिभीषणसे बहुत अच्छा कहके रथपर चढे, और क्रोधमें भरके रावणकी ओर चले, तब सब लोग हाहाकार करने लगे, आकाशमें देवतालोग अनेक भांतिके बाजे बजाने लगे। हे राजन्! तब राम और रावणका ऐसा युद्ध हुआ कि जिसकी अन्य उपमा नहीं है। १६–२०

तब रावणने इन्द्रके वज्रके समान एक महा घोर त्रिशूल ऐसा फेंका जैसे ब्रह्मदण्ड। रामने उस त्रिशूलको तीक्ष्ण बाणोंसे काटकर गिरा दिया। उस कठिन कर्मको देखकर रावणको बडा भय हुआ। तब रावणने सहस्रों तीक्ष्ण

सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च।
ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान् ॥ २३ ॥
शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शितान्क्षुरान्।
तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २४ ॥
भयात्प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।
ततः सुपत्रं सुमुखं हेमपुंखं शरोत्तमम् ॥ २५ ॥
तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह।
तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणाऽनुमंत्रितम् ॥ २६ ॥
जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः ।
अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यंत रक्षसः ॥ २७ ॥
ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिंनराः ।
ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ॥ २८ ॥
रावणांतकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।
मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत ॥ २९ ॥
स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः ।
प्रजज्वाल महाज्वालेनाऽग्निनाऽभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगन्धर्वचारणाः ।
निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाऽक्लिष्टकर्मणा ॥ ३१ ॥
तत्यजुस्तं महाभागं पंचभूतानि रावणम् ।

बाण और अनेक भांतिके शस्त्र रामके ऊपर चलाये। ऐसेही अनेक प्रकारकी शक्ति, तीक्ष्ण छूरे रावण छोडने लगा। (२०—२४)

रावणकी उस मायाको देखकर बन्दर दशों दिशाको भागने लगे। तब रामने उत्तम पंख लगे हुए, सोनेसे आभूषित बाणको तरकससे निकालकर ब्रह्मास्त्रसे युक्त किया। उस बाणको देखकर इन्द्रादिक देवतोंने समझा कि रावणकी थोडी आयु रह गई। तब रामने रावणके नाश करनेवाले तथा जिसका तेज अप्रतिम है और जो ब्रह्मदण्डके समान भयानक है ऐसे बाणको छोडा। (२४–२९)

हे राजन् युधिष्ठिर ! उस बाणके छोडतेही रावण घोडे और रथके सहित जलने लगा। तब रावणको मरा हुआ देखके गन्धर्व और चारणोंके सहित देवता लोग बहुत प्रसन्न हुए। रावणको पञ्चतत्वोंने त्याग दिया, ब्रह्मास्त्रके तेज

भ्रंशितः सर्वलोकेषु स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३२ ॥
शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माऽप्यदृश्यत ॥ ३३ ॥ १०९४७

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९०॥

मार्कण्डेय उवाच—स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद्रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥
ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥
रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गंधर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥
पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसंकाशमासीदाकाशमच्युत ॥ ४ ॥
ततो हत्वा दशग्रीवं लंकां रामो महायशाः ।
बिभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरंजयः ॥ ५ ॥
ततः सीतां पुरस्कृत्य बिभीषणपुरस्कृताम् ।
अविंध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ॥ ६ ॥
उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितः ।

से वह भस्म हो गया। रावणके शरीरकी धातु, मांस और रुधिर ऐसे जले कि कहीं भस्म भी न मिली। (३०–३३)

दोसौ नव्वे अध्याय समाप्त। [१०९४७]

वनपर्वमें दो सौ एकानव्वे अध्याय।

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! श्रीरामचन्द्र देवोंके शत्रु क्षुद्र रावणको मारकर लक्ष्मण और अपने मित्रोंके सहित बहुत प्रसन्न हुए। रावणके मारने पर देवता और ऋषियोंने जयकारयुक्त आशीर्वादसे महाबाहु रामकी स्तुति करी। कमलनयन राम पर सब देवता और गन्धर्व फूलोंकी वर्षा करने लगे, रामकी यथायोग्य पूजा करके सब देवता अपने अपने स्थानको चले गये। हे युधिष्ठिर! उस समयके उत्सवसे आकाश परिपूर्ण होगया। (१—४)

शत्रुके नगरको जीतनेवाले महा यशस्वी रामने रावणको मारनेके पश्चात् लङ्का बिभीषणको दे दी। इसके पश्चात् बिभीषणसे पूजित सीताको आगे करके अविन्ध नामक बुद्धिमान् बूढा मन्त्री लङ्कासे बाहरको चला। रामके पास आके, दीन होके काकुत्स्थवंशी रामसे

प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मन्जानकीमिति ॥ ७ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात् ।
बाष्पेणाऽपिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनंदनः ॥ ८ ॥
तां दृष्ट्वा चारुसर्वांगीं यानस्थां शोककर्शिताम् ।
मलोपचितसर्वांगीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥
उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशंकितः ।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत्कार्यं तन्मया कृतम् ॥१०॥
मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि ।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥
कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन्धर्मविनिश्चयम् ।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्त्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥
सुवृत्तामसुवृत्तां वाऽप्यहं त्वामद्य मैथिलि ।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥ १३ ॥
ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः ।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥
योऽप्यस्या हर्षसंभूतो मुखरागस्तदाऽभवत् ।
क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ॥ १५ ॥

बोला, हे महात्मन् ! इस सच्चरित्रवाली देवी जानकीको ग्रहण कीजिये । इक्ष्वाकुनन्दन रामने उसके ऐसे वचन सुनके रथसे उतरकर आंसुओंसे भरे नेत्रवाली जानकीको देखा । (७—८)

शोकसे व्याकुल हुई मलीन अङ्ग और वस्त्रवाली जटा बांधे हुए रथमें बैठी उस जानकीको देखके घबडाकर राम बोले, हे वैदेही ! जो मेरे करने योग्य कार्य था उसे मैंने करके तुमको छुडा दिया, हे भद्रे ! मुझे पति पाके तुम राक्षसके घरमें बूढी न हो जाओ ऐसा विचारकर रावणको मैंने मारा है; मुझजैसा मनुष्य धर्मको जानकर पराये हाथमें गई स्त्रीको एक मुहूर्त्त भर भी क्योंकर रख सकता है । हे मिथिलेशपुत्री ! चाहे तुम अच्छे चरित्रवाली हो, चाहे बुरे चरित्रवाली हो मैं तुम्हें अब ऐसे नहीं रख सकता जैसे कुत्तेकी चाटी हुई खीरको । ९-१३

हे राजन् ! इस कठोर वचनको सुनके बहुत दुःखी होके सीता काटी हुई कदली के समान पृथ्वीपर गिर पडी । सीताके हृदयमें जो आनन्द उत्पन्न हुआ था, वह क्षण भरमें ऐसा नष्ट होगया जैसे दर्पणमें

ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम् ।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥
ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः ।
पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥
शक्रश्चाऽग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च ।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥
राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् ।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥
ततोऽतरिक्षं तत्सर्वं देवगंधर्वसंकुलम् ।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥
तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी ।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥
राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते ।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम ॥ २२ ॥
अंतश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः ।
स मे विमुंचतु प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ २३ ॥
अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च ।
विमुंचतु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ २४ ॥

निःश्वास। तब रामके ऐसे वचन सुनकर सब बन्दर लक्ष्मणके सहित मरे हुए के समान निश्चेष्ट होगये (१४-१६)

तब शुद्धात्मा कमलसे उत्पन्न हुए, युगके कर्त्ता ब्रह्माजी रामको दीख पडे। इन्द्र, अग्नि, वायु, यम और कुबेर, निर्मल सप्त ऋषि तथा दिव्य प्रकाशयुक्त राजा दशरथ हंसयुक्त विमानपर बैठे हुए आकाशमें दीख पडे। उस समय देवता और गन्धर्वोंसे भरा हुआ आकाश ऐसा जान पडता था, जैसा शरद् ऋतुमें ताराओंसे भरा हुआ अन्तरिक्ष। १७-२०

तब यशस्विनी सीताने सबके बीचमें खडे होकर चौडी छातीवाले रामसे कहा, हे राजपुत्र ! मैं आपके सन्मुख कोई झूठ नहीं कहती हूं, सो आप सुनें, स्त्री पुरुषोंकी जो गति हैं जो सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान वायु हैं, यदि मैंने पाप किया हो तो वही प्राणका नाश कर दें; अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु मेरे प्राणोंको नाश करें, यदि मैंने पाप किया हो। हे वीर ! यदि मैंने

यथाऽहं त्वदृते वीर नाऽन्यं स्वप्नेऽप्याचिंतयम्।
तथा मे देव निर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव ॥ २५ ॥
ततोऽन्तरिक्षे वागासीत्सुभगा लोकसाक्षिणी।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
वायुरुवाच — भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः।
अपापा मैथिली राजन्संगच्छ सह भार्यया ॥ २७ ॥
अग्निरुवाच — अहमंतःशरीरस्थो भूतानां रघुनंदन।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नाऽपराध्यति ॥ २८ ॥
वरुण उवाच -- रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥ २९ ॥
ब्रह्मोवाच — पुत्र नैतद्दिहाऽऽश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि।
साधो सद्वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम ॥ ३० ॥
शत्रुरेव त्वया वीर देवगंधर्वभोगिनाम्।
यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ॥ ३१ ॥
अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात्पुराऽभवत्।
कस्माच्चित्कारणात्पापः कंचित्कालमुपेक्षितः ॥ ३२ ॥
वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना।

स्वप्नमें भी तुह्मारे सिवाय दूसरे पुरुषका चिन्तन न किया हो तो परमेश्वर तुमहीको मेरा पति बनावे। (२१–२५)

हे युधिष्ठिर! तब वानरोंको आनन्द देनेवाली पवित्र आकाशवाणी हुई। वायु बोले, हे रघुनन्दन! मैं सदा चलनेवाला वायु हूं; मैं सत्य कहता हूं, कि तुम सीताको अपनी स्त्री बनाओ, यह निष्पाप है। अग्नि बोले हे रघुनन्दन! मैं सब प्राणियोंके भीतर रहता हूं, जनकनन्दिनीने कुछ भी अपराध नहीं किया है। वरुण बोले हे राम! सब प्राणियोंके शरीरमें रस मेरा ही उत्पन्न किया है, आपसे कहता हूं कि जानकी को ग्रहण करो। (२६–२९)

ब्रह्मा बोले हे साधु! हे सच्चरित्र! तुम राजऋषि धर्ममें वर्त्तमान हो; तुमने यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं कही; हे वीर! तुमने देव, दानव, गन्धर्व, सर्प, यक्ष और महर्षियोंके शत्रुको मारा; रावण मेरे ही वरदानसे पहिले सब प्राणियोंके मारनेके अयोग्य हुआ था, कुछ कालसे वह किसी कारणसे बचा रहा फिर अपने नाशके वास्ते उस दुष्टने

नलकूबरशापेन रक्षा चाऽस्याः कृता मया ॥ ३३ ॥
यदि ह्यकामामासेवेत्स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम् ।
शतधाऽस्य फलेन्मूर्धा इत्युक्तः सोऽभवत्पुरा ॥ ३४ ॥
नाऽत्र शंका त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते ।
कृतं त्वया महत्कार्यं देवानाममरप्रभ ॥ ३५ ॥
दशरथ उवाच — प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते ।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥
राम उवाच — अभिवादये त्वां राजेंद्र यदि त्वं जनको मम ।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात्तव ॥ ३७ ॥
मार्कंडेय उवाच — तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ ।
गच्छाऽयोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तांतलोचनम् ॥ ३८ ॥
संपूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते ।
ततो देवान्नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनंदितः ॥ ३९ ॥
महेंद्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान् ।
ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविंध्याय परंतपः ॥ ४० ॥
त्रिजटां चाऽर्थमानाभ्यां योजमास राक्षसीम् ।

सीताको चुराया। नलकूबरके शापसे मैंने सीताकी रक्षा की। रावणको यह शाप था कि यदि किसी स्त्रीको बलसे स्पर्श करेगा तो तेरे सिरके सौ टुकडे हो जायंगे; हे देवतुल्य राम! तुमको इसमें कुछ भी शङ्का न करनी चाहिये; तुमने बडा भारी कार्य किया है, अब सीताको भी ग्रहण करो। (३०–३५)

दशरथ बोले, हे पुत्र! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूं; तुम्हारा कल्याण हो, हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हें राज्य देता हूं, ग्रहण करो। (३६)

राम बोले; हे राजेन्द्र! यदि आप मेरे पिता हैं तो, मैं आपको प्रणाम करता हूं; आपकी आज्ञासे मैं मनोहर अयोध्या नगरीको जाऊंगा। (३७)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! युधिष्ठिर! राजा दशरथ फिर प्रसन्न होकर लाल नेत्रवाले रामसे बोले; कि तुम अयोध्याको जाओ; हे महा सुन्दर! वनमें तुमको चौदह वर्ष व्यतीत हो गये हैं! तब देवतोंको नमस्कार करके मित्रोंसे आनन्दित होके रामने सीताको ऐसे ग्रहण किया, जैसे इन्द्र शचीको ग्रहण करते हैं। तब शत्रुके जीतनेवाले रामने अविन्धको वरदान दिया, और त्रिजटा

तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ ४१ ॥
कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् ।
वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चाऽपराजयम् ॥ ४२ ॥
राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम् ।
ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ॥ ४३ ॥
समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः ।
सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ ॥ ४४ ॥
रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति ।
दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ॥४५॥
उपस्थास्यंति हनुमन्निति स्म हरिलोचन ।
ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
अंतर्धानं युयुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।
दृष्ट्वा रामं तु जानक्या संगतं शक्रसारथिः ॥ ४७ ॥
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः ।
देवगंधर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम् ॥ ४८ ॥
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम ।
सदेवासुरगंधर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ४९ ॥
कथयिष्यंति लोकास्त्वां यावद्भूमिर्धरिष्यति ।

राक्षसीको भी प्रसन्न किया। (३८–४१)

तब इन्द्रादिक देवतों सहित ब्रह्मा रामसे बोले, कि वर मांगो। रामने धर्ममें स्थिति और शत्रुओंसे जय मांगी तथा राक्षसोंसे मरे हुए बन्दरों का जीना भी मांगा। ब्रह्माने कहा ऐसेही हो। ब्रह्माके ऐसे वचन कहते ही सब बन्दर चैतन्य होकर खडे होगये। तब महा भाग्यवती सीताने हनुमानको यह वरदान दिया! हे पुत्र जबतक रामका यश जगत्में रहे तबतक तुम जीते रहो मेरी कृपासे तुमको दिव्य भोग प्राप्त हो। (४१–४६)

इसके पश्चात् कठोर कर्म करनेवाले बन्दरोंके सन्मुख इन्द्रादिक देवता अन्तर्धान हो गये। इन्द्रका सारथी मातली रामको जानकीके साथ देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, और मित्रोंके बीचमें यह वचन बोला, हे सत्यपराक्रम! देव, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य और सर्पोंके दुःख तुमने दूर किया; जबतक पृथ्वी रहेगी तबतक देव, असुर यक्ष, गन्धर्व और

इत्येवमुक्त्वाऽनुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां वरम् ॥ ५० ॥
संपूज्याऽपाक्रमत्तेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५१ ॥
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः ।
विधाय रक्षां लंकायां विभीषणपुरस्कृतः ॥ ५२ ॥
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् ।
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता ॥ ५३ ॥
कामगेन यथामुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी ।
ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ॥ ५४ ॥
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ।
अथैनान्राघवः काले समानीयाऽभ्यपूज्य च ॥ ५५ ॥
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ।
गतेषु वानरेंद्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ॥ ५६ ॥
सुग्रीवसहितो रामः किष्किंधां पुनरागमत् ।
विभीषणेनाऽनुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ५७ ॥
पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन्वनम् ।
किष्किंधां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः ॥ ५८ ॥
अंगदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।

राक्षसोंके सहित सब लोग तुम्हारा यश गावेंगे, ऐसा कहकर और रामकी आज्ञा लेके सूर्यके समान प्रकाश युक्त रथपर चढ कर मातली चला गया। ४६–५१

उसके पश्चात् सीता और लक्ष्मणको सङ्ग लेके सुग्रीवादिक बन्दरोंके सहित राम चले। लङ्कामें रक्षाका प्रबन्ध करके बिभीषणभी रामके सङ्ग चला। आकाशगामी पुष्पक विमानमें बैठके फिर उसी सेतुके मार्गसे समुद्रको तरे। इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमानके द्वारा मन्त्रियोंके सहित जितेन्द्रिय राम वहां समुद्रके तटपर पहुंचे। जहां पहिले रहे थे वहां कुछ काल राम ठहरे और बन्दर रीछ लंगूरोंकी यथायोग्य पूजा करके उन लोगोंको बिदा किया। (५१-५६)

इसके पश्चात् सुग्रीव और बिभीषणके सहित किष्किन्धा पुरीको चले। पुष्पक विमानमें बैठे हुए सीताको अनेक वन दिखाते शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ राम किष्किंधा पुरीमें पहुंचे, कार्य सिद्ध करनेवाले अङ्गदको युवराज का

ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५९ ॥
यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ।
अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः ॥ ६० ॥
भरताय हनूमंतं दूतं प्रास्थापयत्तदा ।
लक्षयित्वेंगितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ॥ ६१ ॥
वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नंदिग्राममुपागमत् ।
स तत्र मलदिग्धांगं भरतं चीरवाससम् ॥ ६२ ॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शाऽऽसीनमासने ।
संगतो भरतेनाऽथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ॥ ६३ ॥
राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ।
ततो भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ॥ ६४ ॥
वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ।
तस्मै तद्भरतो राज्यमागतायाऽतिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयासास युक्तः परमया मुदा ॥ ६५ ॥
ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिंचताम् ॥ ६६ ॥
सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
बिभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद्गृहान्प्रति ॥ ६७ ॥
अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।

तिलक दिया । तब सुग्रीवादि लक्ष्मण के सहित जिस मार्गसे आये थे, उसी मार्गसे अपनी अयोध्या नगरीमें प्राप्त हुए । जहां पहुंचके हनुमानको भरतके पास दूत भेजा । (५९–६१)

भरतकी इच्छाओंको जानकर जब वायुपुत्र हनुमान फिर रामके समीप लौट आये, तब रामने नन्दिग्रामसे भरतको देखा कि मलिन वस्त्र, मलिन अङ्ग, आगे खडाऊं धरे हुए आसनपर बैठे हैं । हे पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भरत और शत्रुघ्नसे मिलकर राम और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुये। भरत और शत्रुघ्न भी राम लक्ष्मण और सीताका दर्शनकर बहुत आनंदित हुये, भरतने सत्कार करके रामको राज्य सौंप दिया । (६१–६५)

इसके पश्चात् वशिष्ठ और वामदेवने पवित्र दिनमें रामका राज्याभिषेक किया। राज्य पाकर रामने अपने प्रियमित्र सु-ग्रीव और पुलस्त्य नन्दन बिभीषणको

समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ॥ ६८ ॥
पुष्पकं च विमानं तत्पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद्वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनंदनः ॥ ६९ ॥
ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान्सनिरर्गलान् ॥ ७० ॥ ११०१७

इति श्रीमहाभारते० रामोपाख्यानपर्वणि रामाभिषेक एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९१॥

एवमेतन्महाबाहो रामेणाऽमिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥
मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥
न हि ते वृजिनं किंचिद्वर्तते परमण्वपि ।
अस्मिन्मार्गे निषीदेयुः सेंद्राऽपि ससुरासुराः ॥ ३ ॥
संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥ ४ ॥
सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठंतीह सर्वशः ।
किन्नु तस्याऽजितं संख्ये यस्य भ्राता धनंजयः ॥ ५ ॥

अनेक प्रकारके भागोंसे सत्कार करके तथा राजनीति का उपदेश करके घर जानेको दुःखके साथ बिदा किया। रघुनन्दन रामने पुष्पक विमानकी पूजा करके कुबेरको दे दिया। इसके पश्चात् गोमतीके तटपर देवऋषियोंके सहित दश अश्वमेध यज्ञ किया। (६३-७०)

वनपर्वमें दोसौ एकनव्वे अध्याय समाप्त। ११०१७

वनपर्वमें दोसौ बानव्वे अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! युधिष्ठिर पहिले समयमें महा तेजस्वी रामने इस प्रकार वनमें वास करके घोर दुःख भोग किया था, हे पुरुषसिंह ! हे शत्रुनाशन ! तुम क्षत्री हो, और अपने बाहुबलके आश्रयसे चलते हो, इस लिये सोच मत करो;तुम्हारे कर्म सन्देहसे रहित हैं, तुम्हारे कर्मों को किञ्चित दूसरा नहीं कर सकता; आपमें किंचित् भी पाप नहीं है। जिस मार्गमें तुम चलते हो, उसमें चलनेसे इन्द्रादिक देवता और राक्षसोंको भी दुःख होता है; वज्रधारी इन्द्रने मरुत् गणोंकी सहायतासे वृत्र नमुची, और दीर्घजिह्वा राक्षसीको मारा था, आप भी सब प्रकार सहायवान हैं; जिसके भाई साक्षात् अर्जुन हैं, वे कौनसी वस्तुको नहीं जीत सकते। (१-५)

अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः ।
युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ॥ ६ ॥
एभिः सहायैः कस्मात्त्वं विषीदसि परंतप ।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ७ ॥
त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः ।
विजेष्यसि रणे सर्वानमित्रान्भरतर्षभ ॥ ८ ॥
इतश्च त्वमिमां पश्य सैंधवेन दुरात्मना ।
बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ १० ॥
असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता ।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ ११ ॥
यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा ।
जात्यंतरगता राजन्नेतद् बुद्ध्याऽनुचिंतय ॥ १२ ॥
तस्मात्स त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचंति परंतप ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवमाश्वासितो राजा मार्कंडेयेन धीमता ।

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महा पराक्रमी भीम, युवा महा धनुषधारी नकुल और सहदेव आपके सहायक हैं, तब आप क्यों सोच करते हैं? हे शत्रुनाशन ! आपके भाई मरुत्गणके सहित इन्द्रकी सेनाको भी जीत सकते हैं; हे भरतकुल श्रेष्ठ ! आप महा धनुषधारी देवरूपी अपने भाइयोंकी सहायतासे सब शत्रुओंको जीतेंगे। (६—८)

देखिये इसी समय दुष्ट बलवान उन्मत्त सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीको चुरा लिया था, उसको जीतकर तुम्हारे महात्मा भाइयोंने द्रौपदीको छीन लिया, और रामने तो विना किसीकी सहायता ही महा पराक्रमी राक्षसराज रावण को युद्धमें मारा और सीताको छीन लिया। हे राजन् ! आप अपनी बुद्धिसे विचारिये कि रामके बन्दर रीछ और लंगूर मित्र थे, उनमें कोई भी मनुष्य नहीं था, हे भरतर्षभ ! हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे शत्रुओंको तपानेवाले ! इस लिये अब आप उत्तम साहस कीजिये, क्योंकि आप ऐसे महात्माओंको सोच करना नहीं चाहिये। (९—१३)

त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरप्येनमब्रवीत् ॥१४ ॥ ११०३१

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९२॥ समाप्तं च रामोपाख्यानपर्व ।

अथ पतिव्रतामाहात्म्यपर्व ।

युधिष्ठिर उवाच—नाऽऽत्मानमनुशोचामि नेमान्भ्रातृन्महामुने ।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥
द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम् ।
जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥ २ ॥
अस्ति सीमंतिनी काचिद् दृष्टपूर्वाऽपि वा श्रुता ।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—शृणु राजन्कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर ।
सर्वमेतद्यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया ॥ ४ ॥
आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः ।
ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसंधो जितेंद्रियः ॥ ५ ॥
यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः ।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः ॥ ६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बुद्धिमान मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुन महाबलवान महाराजने दुःखको त्याग दिया, और फिर ऐसा कहने लगे (१४) ११०३१

वनपर्वमें दोसौ बानव्वे अध्याय और रामोपाख्यानपर्व समाप्त ।

वनपर्वमें दो सौ तिरानव्वे अध्याय और पतिव्रता-महात्म्य पर्व ।

महाराज युधिष्ठिर बोले, मैं न अपना, न अपने भाइयोंका, और न राज्य नष्ट होनेका इतना सोच करता हूं, जितना इस बातका कि राजपुत्री द्रौपदीका; इसने जुएके समयमें दुष्टोंके हाथसे बहुत दुःख पाया और हम लोगोंका उद्धार भी किया, फिर वनमें जयद्रथने अपने बलसे इसको चुरा लिया। आपने पहिले कभी द्रौपदीके समान पतिव्रता और महाभाग्यवती कोई स्त्री देखी वा सुनी है? (१-३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले; हे राजन् युधिष्ठिर ! आप कुलीन स्त्रियोंके चारित्रोंको सुनिये। हम राजपुत्री सावित्रीका वर्णन करते हैं, उन्होंने भी बहुत दुःख उठाये थे। मद्रदेशमें धर्मात्मा धर्म जाननेवाले ब्राह्मणोंके भक्त, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, यज्ञकर्त्ता, दानी, प्रजाके प्यारे,

क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग्विजितेंद्रियः ।
अतिक्रांतेन वयसा संतापमुपजग्मिवान् ॥ ७ ॥
अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः ।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेंद्रियः ॥ ८ ॥
हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तम ।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मित भोजनः ॥ ९ ॥
एतेन नियमेनाऽऽसीद्वर्षाण्यष्टादशैव तु ।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात् ॥ १० ॥
रूपिणी तु तदा राजन्दर्शयामास तं नृपम् ।
अग्निहोत्रात्समुत्थाय हर्षेण महताऽन्विता ।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा ॥ ११ ॥
सावित्र्युवाच— ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च ।
सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव ॥ १२ ॥
वरं वृष्णीष्वाऽश्वपते मद्रराज यदीप्सितम् ।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथंचन ॥ १३ ॥
अश्वपतिरुवाच – अपत्यार्थः समारंभः कृतो धर्मेप्सया मया ।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः ॥ १४ ॥

सब जगतका कल्याण करनेवाले, क्षमावान्, अश्वपति नामक राजा थे। ४–७

उनकी बहुत अवस्था बीतने परभी कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ। तब उनको बहुत दुःख हुआ। पुत्र उत्पन्न करनेवाले परम नियम और व्रतोंको वह राजा करने लगा। समयपर थोडा भोजन करके जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी रहता था। हे राजसत्तम! सावित्रीसे सैकडों सहस्रों वार हवन करके दिनके आठवें भागमें थोडा भोजन करता था, ऐसे नियमसे जब वह अठारह वर्ष पुरा कर चुका, तो सावित्रीने अग्निहोत्रसे उठके बडी प्रसन्नताके साथ राजाको दर्शन दिया। वर देनेवाली सावित्रीने राजासे यह कहा। (७—११)

सावित्री बोली, हे राजन्! मैं तुम्हारे शुद्ध ब्रह्मचर्य्य, जितेन्द्रियता और भक्तिसे प्रसन्न हुई हूं, हे अश्वपते मद्रराज! जो तुम्हारे इच्छित हो सो वर मांगो, तथा तुम कभी धर्मको न छोडना। १२-१३

राजा अश्वपति बोले, हे देवि! मैंने पुत्र और धर्मके लिये यह नियम

तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणोम्यहम् ।
संतानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः ॥ १५ ॥

सावित्र्युवाच — पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव ।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः ॥ १६ ॥
प्रसादाच्चैव तस्मात्ते स्वयंभुविहिताद्भुवि ।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १७ ॥
उत्तरं च न ते किंचिद्व्याहर्तव्यं कथंचन ।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद्ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच– स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः ।
प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद्भविष्यति ॥ १९ ॥
अंतर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः ।
स्वराज्ये चाऽवसद्वीरः प्रजा धर्मेण लालयन् ॥ २० ॥
कस्मिंश्चित्तु गते काले स राजा नियतव्रतः ।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥
राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मानव्या भरतर्षभ ।
व्यवर्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवांबरे ॥ २२ ॥
प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् ।

किया था, मेरे कुलके बढाने वाले बहुतसे पुत्र हों । मुझसे ब्राह्मणोंने कहा था कि पुत्र ही परम धर्म है; यदि आप प्रसन्न हुई हैं तो पुत्र दीजिये । (१४—१५)

सावित्री बोलीं, हे राजन् ! मैंने पहिले ही तुम्हारे इस अभिप्रायको समझकर ब्रह्मासे कहा था, मेरे प्रतापसे और ब्रह्माकी आज्ञासे तुम्हारे एक बडी तेजस्वी कन्या होगी, हे राजन् ! तुम इसका उत्तर कुछ मत दो, मैं ब्रह्माकी आज्ञासे प्रसन्न होकर तुमको वर देती हूं । (१६—१८)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! सावित्रीके वचनोंको अङ्गीकार करके राजाने फिर सावित्रीकी स्तुति करी । तब सावित्री अन्तर्द्धान हो गईं, तो राजा अपने नगरको चले आये, और अपने राज्यमें रहकर धर्मसे प्रजाका पालन करने लगे । कुछ काल बीतने पर राजाकी बडी स्त्रीको गर्भ रहा; उस मानिनी राजपुत्रीका गर्भ ऐसे बढने लगा, जैसे आकाशमें शुक्लपक्षका चन्द्रमा बढता है । पूर्ण समयपर कमल

क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ॥ २३ ॥
सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि ।
सावित्रीत्येव नामाऽस्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥२४ ॥
सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा ।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥
तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां कांचनीमिव ।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा संमेनिरे जनाः ॥ २६ ॥
तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
न कश्चिद्वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥
अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभिगम्य सा ।
हुत्वाग्निं विधिवद्विप्रान्वाचयामास पर्वणि ॥ २८ ॥
ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः ।
पितुः समीपमगमद्देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥
साऽभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च ।
कृतांजलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ॥ ३० ॥
यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् ।
अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

नयनी कन्याका जन्म हुआ । राजाने प्रसन्न होकर जन्मकालकी सब क्रिया करी । (१९—२३)

सावित्रीने प्रसन्न होकर यह कन्या दी थी। इस कारणसे ब्राह्मणोंने और पिताने उस कन्याका नाम सावित्री ही रक्खा। वह राजकन्या साक्षात् लक्ष्मीके समान क्रमसे बढने लगी, और कुछ कालमें यौवनवती होगई। उस क्षीण कटि और उत्तम अंगवाली सोनेकी मूर्त्तिके समान कन्याको देखकर सब लोग देवकन्या समझते थे। उस कमलनैनीको तेजसे भरी हुई देखके उसके तेजसे घबडा कर कोई भी ब्याहनेकी इच्छा नहीं करता था।(२४-२७)

एक दिन सावित्री व्रत करके और सिरसे स्नानकर देवता और अग्निकी पूजा कर तथा देवता के प्रसाद भूत माला लेकर पिताके पास गई। लक्ष्मीके समान रूपवाली सावित्री पिताके चरणों में प्रणाम करके देवता प्रसाद अर्पण कर हाथ जोडके पिताके पास बैठ गई। अपनी कन्याको यौवनवती तथा देवतों के समान रूपवाली देख और उसके

राजोवाच—पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद्वृणोति माम् ।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ॥ ३२ ॥
प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम ।
विमृश्याऽहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥
श्रुतं हि धर्मशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः ।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः शृणु ॥ ३४ ॥
अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चाऽनुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ३५ ॥
इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ ३६ ॥
मार्कंडेय उवाच—एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मंत्रिणः ।
व्यादिदेशाऽनुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ॥ ३७ ॥
साऽभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव तपस्विनी ।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाऽविचारितम् ॥ ३८ ॥

योग्य कोई वर न पाके राजा दुःखित हुआ। (२८—३१)

राजा बोले; हे पुत्री ! तेरे विवाहका समय प्राप्त हुआ, किन्तु मुझसे कोई विवाहको नहीं कहता है, इस कारणसे तुम आपही अपने गुणोंके समान अपने पतिको ढूंड लो, तुम जिससे विवाह की इच्छा करेगी तुम मुझे उसको दिखाना, मैं विचारकर उसके सङ्ग तुम्हारा विवाह कर दूंगा । मैंने पढते हुए, ब्राह्मणोंसे धर्मशास्त्रमें सुना है, हे कल्याणी ! मैं तुमसे जो कहता हूं उस वचनको तुम सुनो । जो पिता कन्याका विवाह न करे वह निन्दाके योग्य है, जो पति स्त्रीकी ऋतुकालमें इच्छाको पूरी न करे, वह निन्दाके योग्य है, पतिके मर जानेपर जो पुत्र माताकी रक्षा न करे वह भी निन्दाके योग्य है । हे पुत्री ! मेरे इस वचनको सुनके तू शीघ्रतासे पतिको खोज कर मुझसे कह; जिससे मैं देवतोंकी निन्दाके योग्य न रहूं, ऐसा ही काम तुमको करना चाहिये । (३२—३६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! राजाने अपनी पुत्रीसे ऐसा कहके वृद्ध मन्त्रियोंको यात्राकी सामग्री इकट्ठी करनेकी आज्ञा दी । तप करनेवाली सावित्री पिताके चरणोंको प्रणाम करके और लज्जायुक्त होके पिताके वचनोंको मानकर बहुत शीघ्र चली । सावित्री

सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता ।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ ३९ ॥
मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम् ।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाऽभ्यगच्छत ॥ ४० ॥
एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा ।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ॥४१॥ [११०७२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

मार्कण्डेय उवाच— अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः ।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥
ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाऽऽश्रमांस्तथा ।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मंत्रिभिः ॥ २ ॥
नारदेन सहाऽऽसीनं सा दृष्ट्वा पितरं शुभा ।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ॥ ३ ॥

नारद उवाच —क्व गताऽभूत्सुतेयं ते कुतश्चैवाऽऽगता नृप ।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां संप्रयच्छसि ॥ ४ ॥

अश्वपतिरुवाच —कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताऽद्यैव चाऽऽगता ।

सोनेके रथमें बैठके वृद्ध मन्त्रियोंके साथ राजर्षियोंके मनोहर तपोवनको चली। वनमें जाके वृद्ध और मानने योग्य लोगोंके चरणोंको प्रणाम करती हुई, सब वनमें घूमने लगी । हे तात ! सब तीर्थोंमें धन देती हुई, और मुख्य ब्राह्मणोंकी सेवा करती हुई, राजकन्या सावित्री अनेक देशोंमें फिरने लगी ! (३७-४१)[११०७२]

वनपर्वमें दो सौ तिरानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दोसौ चौरानव्वे अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! एक समय मद्रराज अपनी सभामें नारदके सहित बैठे हुए, कुछ वार्त्तालाप कर रहे थे। उसी समय सब तीर्थोंमें घूमकर मन्त्रियोंके सहित सावित्री अपने पिताके घर आई। नारदके सहित अपने पिताको बैठा हुआ देखकर दोनोंके चरणोंको प्रणाम किया। (१-३)

नारद बोले, यह तुम्हारी पुत्री कहां गई थी? और कहांसे आई है ? किस कारणसे तुम युवती कन्याका विवाह नहीं करते हो ? (४)

राजा अश्वपति बोले, हे नारद ! इसी

एतस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥
मार्कंडेय उवाच – सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा ।
तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥
सावित्र्युवाच – आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चांऽधो बभूव ह ॥ ७ ॥
विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन्पूर्ववैरिणा ॥ ८ ॥
स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् ।
महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने ।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ १० ॥
नारद उवाच —अहो बत महत्पापं सावित्र्या नृपते कृतम् ।
अजानंत्या यदनया गुणवान्सत्यवान्वृतः ॥ ११ ॥
सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
तथाऽस्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत्सत्यवानिति ॥ १२ ॥
बालस्याऽश्वाः प्रियाश्चाऽस्य करोत्यश्वांश्च मृण्मयान् ।

कार्यके लिये मैंने इसे भेजा था। अभी यह आई है, इससे सुनना चाहिये कि किसको इसने स्वामी बनाया। (५)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, "सावित्री ! तुम विस्तरसे कहो" ऐसे पिताके वचन सुनकर सावित्री ऐसे बोली। (६)

सावित्री कहने लगी शाल्व देशमें एक धर्मात्मा क्षत्री द्युमत्सेन नामसे राजा प्रसिद्ध थे, वह पश्चात् अन्धे होगये, उनके जब नेत्र नष्ट होगये और उनका पुत्र बालक था तब उनके पहिले शत्रुओंने उनके राज्यको छीन लिया, द्युमत्सेन बालक पुत्र और स्त्रीके सहित वनमें जाके तप करने लगे। उनका पुत्र जो नगरमें उत्पन्न हुआ और तपोवनमें बढा वही सत्यवान मेरा पति होने योग्य है, यही मैंने मनसे सङ्कल्प किया है। ७–१०

श्रीनारद मुनि बोले, हे राजन् ! तुम्हारी सावित्री कन्याने बडा पाप किया, जो विना जाने गुणवान सत्यवानको अपना पति बनाया। उसके पिता, माता सत्य बोलते थे, इसी कारणसे ब्राह्मणोंने उसका नाम सत्यवान रक्खा। यह बालक-अवस्थासे घोडोंको बहुत प्यार करता था, इस लिये मट्टीके घोडे बनाया करता है, घोडोंके चित्र भी खींचा

चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ॥ १३ ॥

राजोवाच —अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान्वा नृपात्मजः ।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान्पितृवत्सलः ॥ १४ ॥

नारद उवाच —विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ ।
महेंद्र इव वीरश्च वसुधेव क्षमान्वितः ॥ १५ ॥

अश्वपतिरुवाच —अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान् ।
रूपवानप्युदारो वाऽप्यथवा प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

नारद उवाच —सांकृते रंतिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
ययातिरिव चोदारः सोमवत्प्रियदर्शनः ।
रूपेणाऽन्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली ॥ १८ ॥
स दांतः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेंद्रियः ।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान्द्युतिमांश्च सः ॥ १९ ॥
नित्यशश्चाऽऽर्जवं तस्मिन्स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा ।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते ॥ २० ॥

अश्वपतिरुवाच —गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन्प्रब्रवीषि मे ।

करता है इस कारणसे उसको चित्राश्व भी कहते हैं । (११-१३)

राजा बोले, हे नारद ! इस समय वह राजाका बालक तेजस्वी, बुद्धिमान क्षमावान्, सत्यवान, वीर और माता पिताका भक्त है वा नहीं ? (१४)

नारद बोले, हे राजन् ! वह बालक सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके तुल्य वीर और पृथ्वीके तुल्य क्षमाशील है । (१५)

राजा अश्वपति बोले, वह राजाका पुत्र सत्यवान दाता, ब्राह्मण भक्त, रूपवान्, उदार तथा मनोहर है वा नहीं ? (१६)

नारद बोले, वह राजा संकृतिके पुत्र रन्तिदेवके तुल्य अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेवाला, ब्राह्मण भक्त, सत्य वादी; तथा उशीनरके पुत्र शिबीके समान वीर है । ययातिके समान उदार, चन्द्रमाके तुल्य मनोहर, अश्विनीकुमारों के समान रूपवान तथा बलिष्ठ द्युमत्सेन का पुत्र है । वह जितेन्द्रिय, नम्र, वीर, सत्यवादी, इन्द्रिय निग्रही, मित्रतायुक्त, ईर्षारहित, लज्जा और शोभासे युक्त है ; उसमें सदा सीधापन रहता है, संक्षेपसे प्रयोजन यह है कि तपोवृद्ध उसकी

दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि संतीह केचन ॥ २१ ॥

नारद उवाच –एक एवाऽस्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति ।
स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २२ ॥
एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान् ।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २३ ॥

राजोवाच –एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने ।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः ॥ २४ ॥
यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः ।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २५ ॥

सावित्र्युवाच —सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥ २६ ॥
दीर्घायुरथवाऽल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृत्तो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ २७ ॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाऽभिधीयते ।
क्रियते कर्मणा पश्चात्प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २८ ॥

प्रशंसा करते हैं । (१७—२०)

राजा अश्वपति बोले, हे भगवन् ! आपने सब गुणोंसे भरा उस बालकको कहा; अब उसमें जो कुछ दोष हों सो भी कहिये । (२१)

नारद बोले, हे राजन् ! उसमें एक ही दोष है जो सब गुणोंको छिपा लेता है। वह एक दोष यही है कि वह अबसे एक वर्षमें मर जायगा । (२२–२३)

राजा बोले, हे सावित्री ! तुम जाओ और दूसरा पति करो, उसके एक ही दोषने सब गुणोंको छिपा लिया । जैसा मुझसे देवपूजित भगवान् नारदने कहा कि एकही वर्षमें वह अपने शरीरको त्याग देगा । (२४–२५)

सावित्री बोली, हे पिता ! अंश अर्थात् पैत्रिक सम्पत्तिको विभाग निर्णायक गुटिक एकही बार गिरती है, कन्या एकही बार दीजाती है, दान एकही बार दिया जाता है, ये तीनों एकही बार होते हैं । वह बडी आयुवाला हो, वा थोडी आयु वाला हो, वा गुणवान हो, वा गुण रहित हो, मैंने एक बार पति बना लिया अब मैं दूसरा पति नहीं करूंगी; मनसे निश्चय करके वचनसे कहा जाता है; फिर वही कर्मसे किया जाता है, इसमें मेरा मन ही साक्षी है । (२६—२८)

नारद उवाच —स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव ।
नैषा वारयितुं शक्या धर्मादस्मात्कथंचन ॥ २९ ॥
नाऽन्यस्मिन्पुरुषे संति ये सत्यवति वै गुणाः ।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ ३० ॥

राजोवाच —अविचाल्यमेतदुक्तं तथ्यं च भवता वचः ।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान्मम ॥ ३१ ॥

नारद उवाच अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव ।
साधयिष्याम्यहं तावत्सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ ३२ ॥

मार्कंडेय उवाच — एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः ।
राजाऽपि दुहितुः सज्जं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३३ ॥ [११११०५

इति श्रीमहाभारते० पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्नवत्यधिकाद्विशततमोऽध्यायः ॥२९४॥

मार्कंडेय उवाच —अथ कन्याप्रदाने स तमेवाऽर्थं विचिंतयन् ।
समानिन्ये च तत्सर्वं भांडं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥
ततो वृद्धान्द्विजान्सर्वानृत्विजः सपुरोहितान् ।
समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥
मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः ।

नारद बोले, हे नरोत्तम ! तुम्हारी पुत्रीकी बुद्धि स्थिर है; वह इस धर्मसे कदापि नहीं हट सकती है, जो सत्यवानमें गुण हैं, वे दूसरे पुरुषमें नहीं हैं, इस कारणसे मैं उसीको कन्या देना उत्तम समझता हूं। (२९—३०)

राजा बोले, हे भगवन् ! जो आपने कहा सो अटल है, ऐसाही मैं करूंगा, क्योंकि आप मेरे गुरु हैं। (३१)

नारद बोले, तुम्हारी सावित्री कन्याका विवाह निर्विघ्न हो। मैं अब जाऊंगा। तुम सब का कल्याण हो। (३२)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! ऐसा कहकर नारद स्वर्गको चले गये। और राजा अपनी कन्याके विवाहकी सामग्री इकठी करने लगे।(३३) ११११०५

वनपर्वमें दोसौ चौरानव्वे अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें दो सौ पचानव्वे अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! कन्यादानके लिये, नारदके वचनको स्थिर रखके, राजा अश्वपति विवाहके योग्य सब सामग्री जोडने लगे। उसके पश्चात् वृद्ध ब्राह्मण, ऋत्विक और पुरोहितको सङ्ग लेकर कन्याके सहित उत्तम दिन विचारके मेध्यारण्य वनको चले।

पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिं तमुपागमत् ॥ ३ ॥
तत्राऽपश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥
स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः ।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकाराऽऽत्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥
तस्याऽर्घ्यमासनं चैव गां चाऽऽवेद्य स धर्मवित् ।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥ ६ ॥
तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम् ।
सत्यवंतं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥
अश्वपतिरुवाच —सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना ।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥ ८ ॥
द्युमत्सेन उवाच-च्युताः स्म राज्याद्वनवासमाश्रिताश्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः।
कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥
अश्वपतिरुवाच-सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं यदा विजानाति सुताऽहमेव च ।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं विनिश्चयेनाऽभिगतोऽस्मि ते नृप ॥१०॥
आशां नाऽर्हसि मे हंतुं सौहृदात्प्रणतस्य च ।

हे राजन् वे ब्राह्मणोंके सहित पैदलही द्युमत्सेनके आश्रमपर पहुंचे। वहां जाकर महाभाग नेत्रोंसे हीन राजा द्युमत्सेनको शाल वृक्षके नीचे कुशके आसनपर बैठे हुए देखा। (१—४)

राजा अश्वपतिने राजर्षि द्युमत्सेनकी यथा योग्य पूजा करके अपना वर्णन किया। द्युमत्सेनने भी अर्घ, आसन और गोदानसे पूजा करके आनेका प्रयोजन पूछा। राजा अश्वपति ने अपने आनेका सब प्रयोजन कह सुनाया। राजा अश्वपति बोले, हे राजर्षि! यह सुन्दर सावित्री नामकी मेरी कन्या है, इसे आप धर्मानुसार अपनी पुत्रवधू बनानेके वास्ते ग्रहण कीजिये। (५-८)

द्युमत्सेन बोले, हे राजन्! हम लोग राज्यसे भ्रष्ट हैं, सदा तपस्वियोंका धर्म करते हैं, वनवासके अयोग्य तुम्हारी कन्या आश्रममें किस प्रकार रहेगी? (९)

राजा अश्वपति बोले, हे राजन्! सुख और दुःख सदा नहीं रहते हैं; इस बातको मैं जानता हूँ और मेरी कन्याभी, तब आपको मुझसे ऐसा वचन करना उचित नहीं! मैं निश्चय करके आपके पास आया हूं, मेरी आशाको आप

अभितश्चाऽऽगतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न माऽर्हसि ११॥
अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाऽहं तवाऽपि च।
द्युमत्सेन उवाच—स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतस्ततः॥ १२॥
पूर्वमेवाऽभिलषितः संबंधो मे त्वया सह।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद्विचारितम् ॥ १३ ॥
अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाऽभिकांक्षितः।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव कांक्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥१४॥
ततः सर्वान्समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥
दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम्।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ १६ ॥
सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम्।
मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम्॥ १७॥
गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याऽऽभरणानि सा।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ १८ ॥
परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च।

नाश न कीजिये, मैं आपका मित्र और दास हूं, तथा दूसरे प्रेम पूर्वक आया हूं, आप मुझसे ऐसे वचन न कहें, आप मेरे योग्य हैं, मैं आपके योग्य हूं मेरी कन्या को अपनी पुत्रवधू और सत्य वानकी स्त्री बनाइये। (१०-१२)

द्युमत्सेन बोले, हे राजन्! मेरा विचार पहिले ही तुमसे सम्बन्ध करनेका था, परन्तु इस समय राज्य भ्रष्ट होनेके कारण मैं ऐसे कहता हूं। जो मेरा पहिला अभिप्राय था सो अब पूर्ण होगया; तुम मेरे अतिथि हो। जो अच्छा हो सो करो। इसके पश्चात् आश्रमके सब ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजोंने सावित्री सत्यवानका विधि पूर्वक विवाह किया। राजा अश्वपति कन्या तथा और अनेक प्रकारके दान करके परम आनन्दके साथ अपने घरको चले गये। (१२-१६)

सत्यवान भी सब गुण भरी स्त्रीको पाकर प्रसन्न हुए, और सावित्री इच्छानुसार वर पाके प्रसन्न हुई। जब सावित्रीके पिता चले गये, तब सावित्रीने अपने वस्त्र और आभूषण उतारकर वल्कले और गेरूके रंगे वस्त्र पहिन लिये। सेवासे और अपने उत्तम गुणोंसे तथा नम्रता,

सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमादधे ॥ १९ ॥
श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः ।
श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च ॥ २० ॥
तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥
एवं तत्राऽऽश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।
कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥ २२ ॥
सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठंत्यास्तु दिवानिशम् ।
नारदेन यदुक्तं तद्वाक्यं मनसि वर्तते ॥ २३ ॥ [११११२८]

इति श्री०आरण्यके पर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९५॥

मार्कण्डेय उवाच –ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रांते कदाचन ।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ॥ १ ॥
गणयंत्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।
यद्वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ २ ॥
चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचिंत्य भाविनी ।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताऽभवत् ॥ ३ ॥
तं श्रुत्वा नियमं तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः ।

जितेन्द्रियता और सबके इष्ट संपादनसे सावित्री सबको प्रसन्न करने लगी। सास की शारीरिक सेवा और वस्त्र भोजनादि से एवं ससुरकी मीठे वचनोंसे सेवा करने लगी, तथा पतिकी मीठे वचनोंसे, चतुरतासे, एकान्त क्रीडासे, प्रसन्नता पूर्वक सेवा करने लगी। हे राजन्! इस रीतिसे उस आश्रममें रहते हुए उन तपस्वियोंका काल व्यतित हुआ। नारदके वचन को स्मरण करके सावित्री-का मन सदा दीन रहता था। (१७–२३)

वनपर्वमें दोसौ पचानव्वे अध्याय समाप्त। ११११२८

वनपर्वमें दोसौ छानव्वे अध्याय।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! कुछ काल व्यतीत होनेके पश्चात् सत्यवानके मरनेका समय आ-गया। (१)

सावित्री नारदके वचनानुसार रोज दिन गिना करती थी। जब सा-वित्रीने जाना कि अबके चौथे दिन स-त्यवान मर जायगा, तभी तीन दिनके उपवासका व्रत धारण कर लिया। राजा द्युमत्सेनने सावित्रीके नियमको सुन ब-हुत दुःख किया, और सावित्रीको सम-

द्युमत्सेन उवाच —उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत्परिसांत्वयन् ॥ ४ ॥
अतितीव्रोऽयमारंभस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ॥ ५ ॥

साविश्युवाच —न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम्।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥ ६ ॥

द्युमत्सेन उवाच— व्रतं भिंद्धीति वक्तुं त्वां नाऽस्मि शक्तः कथंचन।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत ॥ ७ ॥

मार्कंडेय उवाच— एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः।
तिष्ठंती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥
श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठंत्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ९ ॥
अद्य तद्दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम्।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥१०॥
ततः सर्वान्द्विजान्वृद्धाञ्श्वश्रूं श्वशुरमेव च।
अभिवाद्याऽनुपूर्व्येण प्रांजलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥
अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः।

ज्ञाते हुए,उठके ऐसा वचन कहा। २–४

राजा द्युमत्सेन बोले, हे राजपुत्री! यह तुम्हारा व्रत कठिन है, तीन रात विना अन्न रहना बहुत दुस्तर है। सावित्री बोली, हे तात! तुम कुछ दुःख मत करो, मैं इस व्रतको पूरा करूंगी; उद्योगसे मैंने इस व्रतको किया है, और उद्योगही सब कार्यका मूल है। राजा द्युमत्सेन बोले, मैं यह कहनेमें समर्थ नहीं हूं, कि व्रतको तोड दो, किन्तु हमारे समान मनुष्योंको यह कहना उचित ही है; कि व्रतको पूरा करो। ५-७

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर! ऐसा कहके राजा द्युमत्सेन चुप रहगये, और सावित्री काष्ठके समान दृढ होके व्रत करने लगी। हे पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर! जब प्रातःकाल होते सत्यवानके मरनेका दिन आया, तब सावित्रीने ऐसा विचार करके कि आज ही मरनेका दिन है, अग्निको जलाके हवन किया। सूर्यके उदय होतेही पूर्वाह्ण संबंधी क्रिया करके आश्रमके सम्पूर्ण वृद्ध ब्राह्मण और सास ससुरको प्रणाम कर हाथ जोडके सावित्री खडी हुई, सब लोगोंने उसे आशीर्वाद दिया कि तू कभी विधवा न हो। (८–१२)

ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥
एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात्तपस्विनाम् ॥ १३ ॥
तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षंती नृपात्मजा ।
यथोक्तं नारदवचश्चिंतयंती सुदुःखिता ॥ १४ ॥
ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।
एकांतमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १५ ॥

श्वशुरावूचतुः — व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत्पारितं त्वया ।
आहारकालः संप्राप्तः क्रियतां यदनंतरम् ॥ १६ ॥

सावित्र्युवाच — अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।
एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच — एवं संभाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।
स्कंधे परशुमादाय सत्यवान्प्रस्थितो वनम् ॥ १८ ॥
सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गंतुमर्हसि ।
सह त्वया गमिष्यामि नहि त्वां हातुमुत्सहे ॥ १९ ॥

सत्यवानुवाच — वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पंथाश्च भाविनि ।
व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥ २० ॥

तपोवनके निवासी तपस्वियोंकी वाणीको सावित्रीने बडे ध्यानसे सुनी, और मनसे उन वाणियोंको ग्रहण किया । जैसा नारदने कहा था, उसी मुहूर्त्त और समयको विचारती हुई, सावित्री दुःखसे बैठी रही । एकान्त में बैठी हुई राजकन्या सावित्रीसे सास और ससुर प्रीति पूर्वक बोले, जैसा तुमने व्रत किया था, सो पूरा हुआ, भोजन करो। (१३-१६

सावित्री बोली, सूर्यके अस्त होनेपर जब मेरी कामना पूर्ण होगी, तब मैं भोजन करूंगी, ऐसा मेरे मनका संकल्प है और यही मेरी प्रतिज्ञा भी है । (१७)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! जिस समय सावित्री ऐसा कह रही थी, उसी समय सत्यवान कन्धे पर फरसा रखके वनको चले । अपने पतिसे सावित्री बोली, हे स्वामी ! आप अकेले वनको जाने योग्य नहीं हो, मैंभी आपके सङ्ग चलेंगी, आपको छोड नहीं सकती हूं । (१८-१९)

सत्यवान बोले, हे भामिनि! पहिले तुम कभी वनको नहीं गई हो, इस समय तुम व्रतसे थकी हो । पैदल कैसे चलोगी? २०

सावित्र्युवाच — उपवासान्न मे ग्लानिर्नाऽस्ति चापि परिश्रमः ।
गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न माऽर्हसि ॥ २१ ॥
सत्यवानुवाच— यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।
मम त्वामंत्रय गुरून्न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २२ ॥
मार्कंडेय उवाच—साऽभिवाद्याऽब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता ।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥
इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह ।
अनेन सह निर्गंतुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ॥ २४ ॥
गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम्॥२५॥
संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रांताऽहमाश्रमात् ।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६ ॥
द्युमत्सेन उवाच—यतःप्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।
नानयाऽभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥ २७ ॥
तदेषा लभतां कामं यथाऽभिलषितं वधूः ।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ॥ २८ ॥

सावित्री बोली, व्रतसे मुझे ग्लानि वा परिश्रम नहीं है, आप चलनेमें उत्साह युक्त मुझे न रोकिये । (२१)

सत्यवान बोले, यदि तुमको चलनेमें उत्साह है, तो मैं तुम्हारा प्रिय काम करूंगा, मेरे माता पितासे आज्ञा ले लो जिससे मुझे दोष न लगे । (२२)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! सास और ससुरको प्रणाम करके सावित्री कहने लगी, यह मेरे स्वामी फल लानेके लिये वनको जाते हैं, आप दोनोंकी आज्ञासे मैं भी वन जानेकी इच्छा करती हूं, मुझसे इस समय विरह सहा नहीं जाता, गुरु और अग्निहोत्रके वास्ते तुम्हारा पुत्र वनको जाता है; इस लिये रोकने योग्य नहीं है, कुछ कम एक वर्ष मुझे यहां आये होगया, मैं आश्रमसे बाहर कहीं नहीं निकली, किन्तु मेरे फूलोंसे भरे हुए वनको देखने की इच्छा है । (२३–२६)

द्युमत्सेन बोले, जबसे सावित्रीके पिताने कन्यादान किया है, तबसे मेरी पुत्रवधूने कोई बात मुझसे नहीं मांगी, इस लिये जो इसकी इच्छा है, सो पूर्ण हो; हे पुत्री ! सत्यवानके मार्गमें कोई प्रमाद मत करना । (२७–२८)

मार्कण्डेय उवाच- उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।
सह भर्त्रा हसंतीव हृदयेन विदूयता ॥ २९ ॥
सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।
मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥ ३० ॥
नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥ ३१ ॥
निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिंदिता ।
मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥
अनुवर्जती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।
द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥[११६६१]

इति श्रीमहा०आरण्यके पर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने षण्णवत्याधिकद्विशततमोऽध्यायः२९६

मार्कण्डेय उवाच—अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥ १ ॥
तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत ।
व्यायामेन च तेनाऽस्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! सास और ससुरसे आज्ञा लेके यशस्विनी सावित्री मुखसे हंसती हुई, और हृदयसे दुःख करती हुई चली । वह फूले हुए कमलके समान नेत्रवाली मोरोंके झुण्डसे भरे हुए, विचित्र और मनोहर वनोंको देखने लगी । पवित्र जलसे भरी नदी और फले वृक्षोंसे भरे पर्वतोंको मीठे वचन बोलनेवाली सावित्रीको सत्यवान दिखलाने लगे । निन्दा रहित सावित्री नारदके वचनको स्मरण करके और अपने पतिको देखकर पतिको मरा हुआ जैसा देख कर बहुत दुःखित होती थी । धीरे धीरे अपने पतिके पीछे चलती हुई उसी कालको सोचती थी, उस दुःखसे उसका हृदय दोटुकडा हुआ जाता था।(२९-३३)

वनपर्वमें दोसौ छानव्वे अध्याय समाप्त।[११६६१]

वनपर्वमें दोसौ सतानव्वे अध्याय ।

मार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! युधिष्ठिर ! सत्यवानने फल तोडकर टोकरी भर ली। पश्चात् लकडी उखाडते हुए सत्यवानके शरीरमें पसीना आगया। उस परिश्रमसे सत्यवानके सिरमें पीडा होने लगी । तब वह अपनी प्यारी स्त्रीके पास आया और थककर ऐसे वचन बोला, इस परिश्रमसे मेरे सिरमें

सत्यवानुवाच — व्यायामेन ममाऽनेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥
अंगानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च ।
अस्वस्थमिव चाऽऽत्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
तत्स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ५ ॥
सा समासाद्य सावित्रि भर्तारमुपगम्य च ।
उत्संगेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ६ ॥
ततः सा नारदवचो विमृशंती तपस्विनी ।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥ ७ ॥
मुहूर्तादेव चाऽपश्यत्पुरुषं रक्तवाससम् ।
बद्धमौलिं वपुष्मंतमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षंतं तमेव च ॥ ९ ॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः ।
कृतांजलिरुवाचाऽऽर्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच — दैवतं त्वाऽभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम् ।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ११ ॥

पीडा होने लगी है, हे सावित्री ! मेरे अङ्ग टुटते हैं; हे थोडा बोलनेवाली ! मैं अपनेको स्वस्थ नहीं देखता हूं, मेरे सिरमें शूल वेधनेके समान पीडा होती है, हे कल्याणी ! इस कारणसे मैं सोनेकी इच्छा करता हूं, बैठनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। (१–५)

सावित्री अपने पतिके निकट जाके उसके सिरको अपनी जङ्घापर धरके पृथ्वीमें बैठ गई। तब वह तपस्विनी नारदके वचनको स्मरण करती हुई उस मुहूर्त्त और दिनको मिलाने लगी। एक क्षणके पीछे उसने लालवस्त्रवाले सूर्यके समान प्रकाशयुक्त एक पुरुषको देखा, काले शरीर और लाल नेत्रवाले, हाथमें फांस लिये सत्यवानके पास ठहरे उस पुरुषको देखकर सावित्री धीरे धीरे अपने पतिके सिरको पृथ्वीमें रखके खडी हुई और हाथ जोडके हृदयमें कांपती हुई ऐसा वचन बोली। (६—१०)

सावित्री बोली, मैं जानती हूं कि आप देवता हैं क्योंकि ऐसा शरीर मनुष्योंका नहीं होता; विस्तारसे कहिये कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ? (११)

यम उवाच — पतिव्रताऽसि सावित्रि तथैव च तपोन्विता ।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् १२॥
अयं ते सत्यवान्भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः ।
नेष्यामि तमहं बध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥१३॥

सावित्र्युवाच — श्रूयते भगवन्दूतास्तवाऽऽगच्छंति मानवान् ।
नेतुं किल भवान्कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥ १४॥

मार्कण्डेयउवाच — इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान्स्वचिकीर्षितम् ।
यथावत्सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥
अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान्गुणसागरः ।
नाऽर्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १६ ॥
ततः सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशंगतम् ।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १७ ॥
ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् ।
निर्विचेष्टं शरीरं तद्बभूवाऽप्रियदर्शनम् ॥ १८ ॥
यमस्तु तं ततो बध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवाऽन्वगच्छत ।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥ १९ ॥

यमराज बोले, हे सावित्री ! तुम पतिव्रता और तपसे भरी हुई हो, इससे मैं तुमसे बोलता हूं; हे कल्याणि ! तुम मुझे यमराज समझो, इस तुम्हारे पति सत्यवानकी अवस्था पूर्ण होगई; इससे मैं बान्धकर इसे लेजानेको आया हूं। सावित्री बोले, हे भगवन् ! मैंने सुना है कि मनुष्योंके लेनेको आपके दूत आया करते हैं, तो आप स्वयं किस कारणसे आये ? (१२—१४)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! ऐसा सुनकर भगवान् पितृराज सावित्रीके प्रसन्नार्थ विस्तारसे अपनी इच्छासे कहने लगे ! यह धर्मवान गुणसागर सत्यवान मेरे दूतोंके लेजाने योग्य नहीं था, इस कारण मैं स्वयम् आया हूं। हे राजन् ! इसके पश्चात् सत्यवानके शरीरसे अंगुष्ठमात्र पुरुषको यमराजने बांधके निकाला । तब सत्यवानका शरीर सांस प्राण और चेष्टारहित तथा देखनेमें अप्रिय होगया । यम उसको बांधकर दक्षिणकी ओरको चले । नियम और व्रतोंसे सिद्ध, महाभाग पतिव्रता दुःखसे व्याकुल सावित्रीभी यमके पीछे पीछे

यम उवाच — निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वाऽस्यौर्ध्वदैहिकम्।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद्गम्यं गतं त्वया ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच — यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गंतव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥
तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद्व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥ २२ ॥
प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किंचिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २३ ॥
नानात्मवंतस्तु वने चरंति धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरंति तस्मात्संतो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २४ ॥
एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वांछेत्तस्मात्संतो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २५ ॥

यम उवाच— निवर्त तुष्टोऽस्मि तवाऽनया गिरा स्वराक्षरव्यंजनहेतुयुक्तया
वरं वृषणीष्वेह विनाऽस्य जीवितं ददानि ते सर्वमनिंदिते वरम् ॥ २६ ॥

चली। (१८–१९)

यमराज बोले, हे सावित्री ! तुमको जहां तक पतिके सङ्ग जाना चाहिये था वहांतक तुम आई अपने पतिसे तुम ऋणमुक्त होगई अब तुम लौट जाओ और इस अपने पति की और्ध्वदेहिक क्रिया करो ।(२०)

सावित्री बोली जहां मेरे पतिको कोई लेजाय वा आपही मेरा पति जाय, वहीं मुझे भी जाना चाहिये यह सनातन धर्म है । तप, गुरुभक्ति, पतिस्नेह, व्रत और आपकी कृपासे मेरी गति कहीं नहीं रुक सकती । हे यम ! तत्त्वको जाननेवाले पण्डित सात पग सङ्ग चलनेकी मित्रता मानते हैं, मैं मित्रताको समझके जो कहती हूं, उसे सुनो । (२१–२३)

अज्ञानी लोग वनमें नहीं रहते; न धर्म करते, न गुरुकुलमें निवास, न परिश्रम कर सकते हैं, विज्ञानहीसे उन कर्मोंको मनुष्य करता है । इस लिये धर्मही प्रधान है । सज्जन जिसे मानते हों, वह एकही धर्म सबके मानने योग्य है दूसरे वा तीसरे धर्मकी इच्छा न करें। इस लिये महात्मा लोग धर्महीको प्रधान कहते हैं । (२४—२५)

यम बोले, हे सावित्री ! मैं तुम्हारे स्पष्ट स्वर व्यञ्जनयुक्त वाणीसे प्रसन्न हुआ । हे अनिंदिते! इसके जीवनके सिवाय जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो मैं तुम्हे दूंगा । (२६)

सावित्र्युवाच—च्युतः स्वराज्याद्वनवासमाश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाऽऽश्रमे।
स लब्धचक्षुर्बलवान्भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥ २७ ॥
यम उवाच—ददानि तेऽहं तमनिंदिते वरं यथा त्वयोक्तं भविता न तत्तथा ।
तवाऽध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥२८॥
सावित्र्युवाच-श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥ २९ ॥
सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते ।
न चाऽफलं सत्पुरुषेण संगतं ततः सतां संनिवसेत्समागमे ॥ ३० ॥
यम उवाच —मनोनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३१ ॥
सावित्र्युवाच—हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः।
जह्यात्स्वधर्मान्न च मे गुरुर्यथा द्वितीयमेतद्वरयामि ते वरम् ॥ ३२ ॥
यम उवाच—स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरान्न च स्वधर्मात्परिहास्यते नृपः ।

सावित्री बोली, हमारे आश्रममें राज्य से नष्ट अन्धा मेरा ससुर है, वह नेत्र-युक्त बलवान् सूर्य और अग्निके समान कांतिमान् और राजा हो, यही वर दीजिये । (२७)

यम बोले, हे निन्दारहित सावित्री ! जो तुमने कहा मैं वही वर देता हूं, जान पडता है, कि मार्गकी थकाई तुम्हें आगई इस लिये अधिक श्रम मत करो, लौट जावो । (२८)

सावित्री बोली, हे देवराज ! मुझे पतिके सङ्ग थकाई नहीं आती, क्योंकि पतिही मेरा आश्रय है, इस कारणसे जहां मेरे पतिको लिये जाते हो, मैं भी वहीं चलेंगी और मेरे वचन सुनिये । सज्जनोंसे एक बारभी मिलना उत्तम है, सज्जनोंका सङ्ग निष्फल नहीं होता, इससे सज्जनोंके समागमहीमें रहना चाहिये । (२९—३०)

यमराज बोले,हे भामिनी! तुमने जो वचन कहा,वह मनके अनुसार पण्डितों की बुद्धि बढानेवाला और हितकारी है; इस कारणसे सत्यवानको जिलानेके सिवाय जो इच्छा हो सो वर मांगो । ३१

सावित्री बोली, मेरे बुद्धिमान ससुर का पहिले जो राज्य नष्ट हो गया है, उस राज्यको वह फिर प्राप्त हो,और मेरे ससुर धर्मको परित्याग न करें, यही दूसरा वर मांगती हूं । (३२)

यमराज बोले, हे सावित्री ! तुम्हारे ससुर फिर अपने राज्यको पावेंगे, और धर्मको कभी नहीं छोडेंगे, हे राजपुत्री !

कृतेन कामेन मया नृपात्मजे निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥३३॥
सावित्र्युवाच– प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता नियम्य चैता नयसे निकामया ।
ततो यमत्वं नव देव विश्रुतं निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥ ३४ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥
एवं प्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः ।
संतस्त्वेवाऽप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३६ ॥
यम उवाच–पिपासितस्येव भवेद्यथा पयस्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं वृष्णीष्वेह शुभे यदिच्छसि॥३७॥
सावित्र्युवाच–ममाऽनपत्यः पृथिवीपतिः पिता भवेत्पितुः पुत्रशतं तथौरसम् ।
कुलस्य संतानकरं च यद्भवेत्तृतीयमेतद्वरयामि ते वरम् ॥ ३८ ॥
यम उवाच– कुलस्य संतानकरं सुवर्चसं शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे ।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३९ ॥
सावित्र्युवाच–न दूरमेतन्मम भर्तृसन्निधौ मनो हि मे दूरतरं प्रधावति ।

अब तुम्हारे कार्यको मैंने सिद्ध किया, तुम लौट जाओ । (३३)

सावित्री बोली, हे यमराज ! आपने प्रजाको नियममें रखा है, आप सबके नियन्ता हैं, सबको कर्मका फल देते हैं; इसीसे आपका नाम यम है। आप मेरी वाणीको सुनिये, मन वचन और काया से किसी प्राणीका द्रोह न करना, सबपर दया करना,दान देना यह सज्जनोंका सनातन धर्म है । लोग प्रायःमेरे पतिके समान ही (अल्पायुषी) हैं । इस जगतके मनुष्य शक्ति तथा कौशलसे हीन हैं; तथापि महात्मा लोग शरण आये हुए शत्रुपरभी दया करते हैं ! (३४–३६)

यमराज बोले, प्यासेको जैसे जल मिले, इस प्रकारसे तुमने यह वाणी कही, इसलिये सत्यवानको जिलानेके भिन्न जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो । (३७)

सावित्री बोली, मेरा पिता राजा हो कर भी पुत्रहीन है, उसके सौ ओरस पुत्र हों जिससे मेरे पिताका कुल चले यह तीसरा वर मांगती हूं । (३८)

यमराज बोले, हे राजपुत्री ! तुम्हारे पिताके कुलको बढानेवाले बडे तेजस्वी सौ पुत्र होंगे, हे कल्याणी ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ, तुम बहुत दूर आगई हो, लौट जाओ (३९)

सावित्री बोली, यह तो दूर नहीं है, मेरा मन तो पतिके साथ बहुत ही दूर तक

अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥ ४० ॥
विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवांस्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः ।
समेन धर्मेण चरंति ताः प्रजास्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥ ४१ ॥
आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ४२ ॥
सौहृदात्सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते ।
तस्मात्सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ४३ ॥
यम उवाच–उदाहृतं ते वचनं यदंगने शुभेन तादृक्त्वदृते श्रुतं मया ।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनाऽस्य जीवितं वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥ ४४ ॥
सावित्र्युवाच— ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं भवेदुभाभ्यामिह यत्कुलोद्वहम् ।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिनामिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥ ४५ ॥
यम उवाच––शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां भविष्यति प्रीतिकरं तवाऽबले ।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ४६ ॥
सावित्र्युवाच–सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः संतो न सीदंति न च व्यथंति ।

गमन करने में उत्साह रखता है । इस लिये गमन करने के समय कुछ कहना चाहती हूं, आप पुनरपि मेरी वाणीको सुनिये । तुम सूर्यके पुत्र बडे प्रतापी हो, इससे तुम्हें पाण्डित लोग वैवस्वत कहते हैं, प्रजा तुम्हारे पक्षपात रहित धर्ममें रहती हैं, इससे तुम्हारा नाम धर्मराज है, मनुष्योंको जैसा विश्वास सज्जनोंमें होता है वैसा अपनी आत्मामें भी नहीं होता, इससे महात्मासे सब प्रार्थना करते हैं । महात्मा सब प्राणियोंके मित्र होते हैं, इसीसे विशेष करके सब प्राणी महात्माओंका विश्वास करते हैं । (४०—४३)

यमराज बोले, हे कल्याणि ! जैसा तुमने वचन कहे ऐसे तुम्हारे सिवाय और किसीसे मैंने नहीं सुने । इससे मैं प्रसन्न हुआ हूं, इसके जीवनेके सिवाय और जो चाहो, सो वर मांगो । (४४)

सावित्री बोली, हे देव । मेरे गर्भसे और सत्यवानके वीर्यसे हमारे कुलको बढानेवाले बलवान सौपुत्र उत्पन्न हों, यह मैं मांगती हूं । (४५)

यमराज बोले, हे स्त्री ! तुम्हारे बलवान सौ पुत्र होंगे, तुमको बहुत परिश्रम न हो । इस लिये लौट जाओ, अब बहुत दूर आगई हो ! (४६)

सावित्री बोली, सज्जनोंको धर्ममें शाश्वत प्रवृत्ति रहती है, सज्जन कभी दुःखी नहीं होते; न पछताते हैं, सज्जनों

सतां सद्भिर्नाऽफलः संगमोऽस्ति सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति संतः ॥ ४७ ॥
संतो हि सत्येन नयंति सूर्यं संतो भूमिं तपसा धारयंति ।
संतो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्सतां मध्ये नाऽवसीदंति संतः ॥ ४८ ॥
आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।
संतः परार्थं कुर्वाणा नाऽवेक्षंति परस्परम् ॥ ४९ ॥
न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाऽप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात्संतो रक्षितारो भवंति ॥ ५० ॥
यम उवाच—यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् ।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा वरं वृणीष्वाऽप्रतिमं पतिव्रते ॥ ५१ ॥
सावित्र्युवाच—न तेऽपवर्गः सुकृताद्विना कृतस्तथा यथाऽन्येषु वरेषु मानद ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥ ५२ ॥
न कामये भर्तृविनाकृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥

का सङ्ग निष्फल नहीं होता, सज्जन अभयदान देके फिर नहीं लौटाते, वे भूत और भविष्यतके आश्रय हैं, साधु जन सत्यसे सूर्यको और तपसे पृथ्वीको धारण करते हैं, सज्जन कभी दुःखी नहीं होते। हे यमराज! यह व्रत आर्यसे करने योग्य है, इस सनातन धर्मको जानके साधुजन पराया उपकार करते हैं, और दूसरोंसे अपने उपकारकी इच्छा नहीं रखते, सज्जनोंपर जो दया की जाती है, वह नाश नहीं होती, अर्थ और मान भी नष्ट नहीं होता, इस कारण से महात्माओंमें धर्म रहता है, और वह धर्मकी रक्षा करते हैं। (४७-५०)

यमराज बोले, हे भामिनी! तुम जो जो धर्मके अनुसार और मनकी प्यारी बातोंको कहती हो, सो सब गंभीर अर्थोंसे भरी हुई हैं। हे पतिव्रते! तुम्हारी बातोंको सुनकर हमारी भक्ति बढती जाती है, इस लिये तुम विशेष वर मांगो। (५१)

सावित्री बोली, हे वरदान देनेवाले तुमने जो हमको सौ पुत्र होनेका वरदान दिया है, मैं उसीकी सिद्धि चाहती हूं, इस लिये मैं ये वरदान मांगती हूं कि मेरे पति जी जायं क्योंकि मैंभी विना पतिके मरे हुएके समान हूं, मैं विना पतिके कोई सुख नहीं भोगना चाहती, मैं विना पतिके घरमें नहीं जाना चाहती, मैं विना पतिके धनकी इच्छा नहीं करती, और न विना पतिके जी सकती हूं। तुमहीने पहले मुझको

वरातिसर्गः शतपुत्रता मम त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥ ५४ ॥
मार्कण्डेय उवाच—तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः ।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥
एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनंदिनि ।
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥ ५६ ॥
चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति ।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५७ ॥
त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति ।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥ ५८ ॥
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यंतीह शाश्वताः ।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ ५९ ॥
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।
भ्रातरस्ते भविष्यंति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ६० ॥

वरदान दिया है कि तुम्हारे गर्भसे और सत्यवानके वीर्यसे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। सो तुमही हमारे पतिको लिये जाते हो, तब उस वरकी सिद्धि कैसे होगी ? इस लिये मैं यह वरदान मांगती हूं कि मेरे पति जी जायं, क्योंकि उनके जीनेहीसे आपके वचन सिद्ध होंगे। (५२—५४)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! सूर्य पुत्र यमराज सावित्रीके वचन सुन कर प्रसन्न हुए, और सत्यवानको फांसी से छोडकर कहने लगे, हे भद्रे ! हे कुलनन्दिनी ! हमने तुम्हारे पतिको छोड दिया, ये रोगरहित स्तुति करनेके योग्य और अर्थोंको सिद्ध करनेवाला होगा, इसकी अवस्था चार सौ वर्षकी होगी, ये तुम्हारे सहित धर्मपूर्वक अनेक यज्ञोंको करके लोकमें कीर्त्तिको प्राप्त करेंगे। (५५–५७)

जो इस के वीर्यसे और तुम्हारे गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे वे सब राजा बलवान पुत्र पौत्रोंसे युक्त जगतमें विख्यात और बहुत समय तक तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध रहेंगे। तुम्हारे पिताके वीर्यसे तुम्हारी माताके सौ पुत्र उत्पन्न होंगे ,वे सब लोग मालवीसे उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे प्रसिद्ध होंगे। तुम्हारे सौ भाई देवतोंके समान बलवान् तथा पुत्र और पौत्रोंके सहित बहुत दिनतक आनन्द से काल व्यतीत करेंगे। (५८–६०)

एवं तस्यै वरं दत्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ६१ ॥
सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च ।
जगाम तत्र यत्राऽस्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ६२ ॥
सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च ।
उत्संगे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६३ ॥
संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत ।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ६४ ॥

सत्यवानुवाच— सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नाऽवबोधितः ।
क्व चाऽसौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह॥६५॥

सावित्र्युवाच— सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममांऽके पुरुषर्षभ ।
गतः स भगवान्देवः प्रजासंयमनो यमः ॥ ६६ ॥
विश्रांतोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज ।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥६७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः ।

महा प्रतापी यमराज सावित्रीको ऐसा वर देकर और उसको पीछेको लौटाकर अपने घरको चले गये । जब यमराज चले गये और सावित्रीने अपने पतिको प्राप्त कर लिया, तब सावित्री पुनः उसी स्थानपर आई जहां उसके मरे हुए पतिका शरीर पडा था। वह अपने पतिको मरा हुआ देख, उस के पास गई और उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर भूमि पर बैठ गई, उसी समय सत्यवान जागे और सावित्रीसे कहने लगे । उस समय सत्यवान प्रेमसे अपनी स्त्रीको बार बार इस प्रकार देखने लगे, जैसे कोई परदेशमें आकर अपनी स्त्रीको देखता है । (६१—६४)

सत्यवान बोले, मैं बहुत समय तक सोता रहा; तुमने क्यों नहीं जगाया ? वह जो काला पुरुष मुझको खींचता था, सो अब कहां गया ? (६५)

सावित्री बोली, हे पुरुषसिंह ! तुम मेरी गोदमें बहुत देर तक सोते रहे, पुरुषोंको नियममें रखनेवाले भगवान् यमराज अपने घरको चले गये । हे राजपुत्र ! तुम बहुत थक गये हो, और तुम्हारी निद्राभी खुल गई है, यदि तुमको उठनेकी शक्ति हो तो उठो; देखो यह समय आधी रातका है । (६६—६७)

दिशः सर्वा वनांतांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥६८॥
फलाहारोऽस्मि निष्क्रांतस्त्वया सह सुमध्यमे ।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाऽभवत् ॥ ६९ ॥
शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् ।
तवोत्संगे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ७० ॥
त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयाऽपहृतं मनः ।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥ ७१ ॥
तद्यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे ।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत् ॥ ७२॥
तमुवाचाऽथ सावित्री रजनी व्यवगाहते ।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ७३ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत ।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ॥ ७४ ॥
नक्तंचराश्चरंत्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः ।
श्रूयंते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने ॥ ७५ ॥

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! उसी समय सत्यवान चैतन्य होकर इस प्रकार उठे, जैसे कोई सुखसे सोकर उठता है। तब सब दिशाओंको और वनको देखकर सावित्रीसे बोले, हे पतली कमरवाली ! मैं आज तुम्हारे सहित फल लेने वनको आया था परन्तु काठ उखाडते समय मेरे सिरमें पीडा हुई; उस दुःखसे अत्यन्त पीडित होकर खडा न हो सका, तब तुम्हारी गोदमें सो रहा मुझको यहां तक सब स्मरण है। हे सुन्दरी ! जब मैं तुम्हारी गोदमें सोया, तब मेरा मन निद्राके वशमें होगया; इसके पश्चात् मुझको घोर अन्धकार दिखाई दिया, फिर मैंने एक महातेजस्वी पुरुषको देखा, हे सुन्दरी ! यदि तुम इस वृत्तान्तको जानती हो तो मुझसे कहो। क्या मैंने स्वप्न देखा था अथवा ये सब सत्य हैं ? (६८-७२)

सावित्री बोली, अधिक बात करनेसे रात बीत जायगी; इस लिये मैं तुमसे यह सब वृत्तान्त प्रातःकाल कहूंगी। हे उत्तम व्रतधारी ! तुम्हारा कल्याण हो उठो और चलकर अपने माता पिताको देखो। यह अंधियारी रात है, सूर्य अस्त होगया है, ये घोर शब्द करनेवाले राक्षस प्रसन्न होकर घूम रहे हैं, वनमें घूमते हुए हरिनोंके पैरोंमें लगकर पत्तोंका

एता घोरं शिवा नादान्दिशं दक्षिणपश्चिमाम्।
आस्थाय विरुवंत्युग्राः कंपयंत्यो मनो मम ॥ ७६ ॥

सत्यवानुवाच — वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसा वृतम्।
न विज्ञास्यसि पंथानं गंतुं चैव न शक्ष्यसि ॥ ७७ ॥

सावित्र्युवाच — अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन्।
वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित्क्वचित् ॥७८॥
ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः।
काष्ठानिमानि संतीह जहि संतापमात्मनः ॥ ७९ ॥
यदि नोत्सहसे गंतुं सरुजं त्वां हि लक्षये।
न च ज्ञास्यसि पंथानं तमसा संवृते वने ॥ ८० ॥
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ ॥ ८१ ॥

सत्यवानुवाच — शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यंगानि लक्षये।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम् ॥८२॥
न कदाचिद्विकाले हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः।

शब्द हो रहा है, ये सियारी दक्षिणको मुंह करके घोर शब्द कर रही हैं, ये कभी कभी पश्चिमको मुह करके भी घोर शब्द करने लगती हैं, इससे मेरा हृदय कांपा जाता है। (७३—७६)

सत्यवान बोले, इस वनमें घोर अन्धकार छा गया है; इससे मार्ग नहीं दिखाई देता और तुम चल भी नहीं सकोगी। (७७)

सावित्री बोली, हे राजपुत्र! इस वन में आग लग रही है और एक वृक्ष जल रहा है; उससे वायुसे उडकर कहीं कहीं अग्नि दिखाई देती हैं। मैं वहांसे अग्नि ले आती हूं और इन लकडियोंमें लगाती हूं, तब प्रकाश होनेसे मार्ग दीखने लगेगा। आप अपने दुःखको दूर कीजिये; यदि आप पीडाके कारण इस समय न चल सकें, और इस अन्धकारसे भरे हुए वनमें मार्गको न देख सकें तो आपकी आज्ञानुसार हम इस रात भर इसही वन में रहैं, प्रातःकाल जब सूर्य उदय होगा तब यहांसे चलेंगे। (७८–८१)

सत्यवान बोले, मेरे सिरकी पीडा दूर होगई और सब शरीर सावधान है; इस लिये मेरी इच्छा है, कि तुम्हारी प्रसन्नतासे अपने माता पिताका दर्शन करूं। मैं पहिले कभी इतने समय तक आश्रमसे बाहर नहीं रहा। सन्ध्या होतेही

अनागतायां संध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम् ॥ ८३ ॥
दिवाऽपि मयि निष्क्रांते संतप्येते गुरू मम ।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाऽऽश्रमवासिभिः ॥ ८४ ॥
मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा ।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणाऽऽगच्छसीति हि ॥ ८५ ॥
का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिंतये ।
तयोरदृश्ये मयि च महद्दुःखं भविष्यति ॥ ८६ ॥
पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ ॥ ८७ ॥
त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक ।
यावद्धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम् ॥ ८८ ॥
वृद्धयोरंधयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः ।
त्वयि पिंडश्च कीर्तिश्च संतानं चाऽऽवयोरिति ॥ ८९ ॥
माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल ।
तौ रात्रौ मामपश्यंतौ कामवस्थां गमिष्यतः ॥ ९० ॥
निद्रायाश्चाऽभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम ।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी ॥ ९१ ॥

मेरी माता मुझे बाहर नहीं निकलने देती हैं, दिनको यदि मैं कहीं चला जाता हूं, तो मेरे माता पिता घबडाने लगते हैं, निश्चय मेरे पिता आश्रमवासीयोंके सहित ढूंढते फिरते होंगे, मेरे मातापिताने बहुत दुःखसे मुझको प्राप्त किया है, उन्होंने उसी समय कहा था, कि तुम शीघ्र आना, मुझे बहुत चिन्ता है, कि आज मेरे लिये उन दोनोंकी क्या दशा हुई होगी। उनको विना देखे मुझको भी बहुत दुःख होता है। (८२—८६)

उन दोनों बूढोंने बहुत प्रीतिके सहित चलते समय रोकर मुझसे कहा था, हे पुत्र ! हम दोनों तुम्हारे विना क्षण भरभी नहीं जी सकते हैं; जबतक तुम नहीं आओगे तबतक हमारा जीना कठिन है; तुम हम वृद्धोंकी दृष्टि, वंशकी प्रतिष्ठा, पिण्डदाता और कीर्ति तथा वंशके बढानेवाले पुत्र हो; मेरे माता और पिता दोनों बूढे हैं; मैं उनकी लाठी हूं; इस रात्रिमें मुझको न देखकर उनकी क्या दशा हुई होगी; मैं इस निद्राकी बहुत निन्दा करता हूं; उस अनुपकारिणी

अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः।
मातापितृभ्यां हि विना नाऽहं जीवितुमुत्सहे ॥ ९२ ॥
व्यक्तमाकुलया बुद्धया प्रज्ञाचक्षुः पिता मम।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ॥ ९३ ॥
नाऽऽत्मानमनुशोचामि यथाऽहं पितरं शुभे।
भर्तारं चाऽप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ॥ ९४ ॥
मत्कृतेन हि तावद्य संतापं परमेष्यतः।
जीवंतावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ॥ ९५ ॥
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाऽप्यहम्।
मार्कंडेय उवाच— एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ॥ ९६ ॥
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह।
ततोऽब्रवीत्तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ॥ ९७ ॥
प्रमृज्याऽश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ॥ ९८ ॥
श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्याऽस्तु शर्वरी।
न स्मराम्युक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम् ॥ ९९ ॥

के कारणसे मेरे माता पिताको और मुझे इतना दुःख हुआ। (८७-९१)

मैं इस समय घोर आपत्तिमें पडा हूं, क्योंकि विना माता पिताके देखे, जी नहीं सकता, निश्चय मेरे अन्धे पिता घबडाकर एक एक आश्रमवासीसे मेरा समाचार बूझ रहे होंगे। हे सुन्दरी! मुझे अपना इतना सोच नहीं है, जितना पिता और पतिव्रता माताका है, क्योंकि वे दोनों मेरेही कारणसे घोर दुःखमें पडे हैं; उनके जीनेसे मैं भी जी सकता हूं, क्योंकि उनको पालन करना और उनका प्रिय काम करनाही मेरा धर्म है। (९२—९६)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! पिताके प्यारे पिताके भक्त धर्मात्मा सत्यवान ऐसा कहकर दुःखसे व्याकुल होकर और अपने हाथोंको फैलाकर ऊंचे स्वरसे रोने लगे; धर्म करनेवाली सावित्री अपने पतिको शोकसे व्याकुल देखकर और उनकी आंसुओंको अपने हाथसे पोंछकर कहने लगी, कि यदि मैंने कुछ तप किया हो, यदि मैंने अग्निमें कुछ आहुति दी हो, तो उस पुण्यसे मेरे ससुर और सासको यह रात्रि सुखसे बीते, मुझे सरण नहीं है कि मैंने

तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम ।

सत्यवानुवाच कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम्॥ १००॥

पुरा मातुः पितुर्वाऽपि यदि पश्यामि विप्रियम् ।

न जीविष्ये वरारोहे सत्येनाऽऽत्मानमालभे ॥ १०१॥

यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवंतमिच्छसि ।

मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाऽऽश्रममंतिकात् १०२॥

मार्कण्डेय उवाच—सावित्री तत उत्थाय केशान्संयम्य भाविनी ।

पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ १०३ ॥

उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्यांऽगानि पाणिना ।

सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०४ ॥

तमुवाचाऽथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि ।

योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥ १०५ ॥

कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलंबिनम् ।

गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥ १०६ ॥

वामे स्कंधे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च ।

कभी खेलनेमेंभी झूट बोला हो । वही शक्ति मेरे सास और ससुरकी रक्षा करे । (९६—१००)

सत्यवान बोले, हे सावित्री ! मैं अपने माता पिताके दर्शन करना चाहता हूं; इस लिये तुम चलो विलम्ब मत करो । हे सुन्दरमुखी ! मैं अपने आत्माको शपथ करके सत्य कहता हूं, कि यदि मेरे मातापिताको कुछ भी अनिष्ट हुआ होगा, तो मैं नहीं जीऊंगा, यदि तेरी बुद्धि धर्ममें हो, यदि तुम मुझे जिलाना चाहती हो, और मेरा प्रिय कार्य करनेकी तुम्हारी इच्छा है, तो शीघ्र आश्रमको चलो । (१००—१०२)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् ! अपने पतिके ऐसे वचन सुन सुन्दरी सावित्रीने उठकर अपने बालोंको बांधा, तब हाथ पकडकर अपने पतिको उठाया, सत्यवानने उठकर अपने शरीरको हाथसे पोंछा, फिर सब दिशाओंको देखकर फलकी टोकरीको देखने लगे, तब सावित्री बोली, कि इन फलोंको आप प्रातः काल ले जाइयेगा, आपके कल्याणके निमित्त मैं कुलहाडी ले चलती हूं, फिर सावित्रीने उस फलके टोकरेको एक वृक्षमें बांध दिया, और कुलहाडी उठाकर अपने पतिके पास आई । गजगामिनी सुन्दरी सावित्री दाहिने कन्धे-

दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ॥ १०७ ॥
सत्यवानुवाच —अभ्यासगमनाद्भीरु पंथानो विदिता मम ।
वृक्षांतरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ॥ १०८ ॥
आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च ।
यथागतं शुभे गच्छ पंथानं मा विचारय ॥ १०९ ॥
पलाशखंडे चैतस्मिन्पथा व्यावर्तते द्विधा ।
तस्योत्तरेण यः पंथास्तेन गच्छ त्वरस्व च ॥ ११० ॥
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ ।
ब्रुवन्नेव त्वरायुक्तः संप्रायादाश्रमं प्रति ॥ १११ ॥[११२७२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महाबलः ।
लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्यां सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥
स सर्वानाश्रमान्गत्वा शैब्यया सह भार्यया ।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ ॥ २ ॥

पर अपने पतिका हाथ रखकर और बांये कन्धेपर कुल्हाडी रखकर चली। (१०३-१०७)

सत्यवान बोले, हे सुन्दरी ! आश्रम के समीप आनेसे मैं सब मार्गोंको जान गया, और वृक्षोंके बीचमें बिजली चमकनेसे भी सब मार्ग दीखने लगे। हे सुन्दरी! अब हम उसी स्थानमें आगये जहांसे फल तोडे थे, । (१०८—१०९)

अब मार्गका कुछ विचार न करो, सुखसे चली चलो । आगे ढांकके वनमें दो मार्ग आवेंगे, उसमेंसे उत्तरकी ओर-वाला जो मार्ग है, उसीसे तुम शीघ्र चलना; मैं बहुत सावधान और बलवान होगया हूं । अब मेरी इच्छा माता पिताके देखनेकी है, सावित्री और सत्यवान इस प्रकार बात करते हुए, आश्रमकी ओरको बहुत त्वरासे चले। (१०९—१११) [११२७२]

वनपर्वमें दो सौ सतानव्वे अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें दोसौ अठानव्वे अध्याय ।

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन् युधिष्ठिर ! उसही समय महाबलवान राजा द्युमत्सेनकी दृष्टि ठीक होगई, और वे प्रसन्न होकर जगत्‌की सब वस्तुवोंको देखने लगे । तब वे अपनी शैब्या स्त्रीके सहित सब आश्रममें अपने पुत्रको ढूंढने लगे, परन्तु उसे न पाकर

तावाश्रमान्नदीश्चैव वनानि च सरांसि च ।
तस्यां निशि विचिन्वंतौ दंपती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥
श्रुत्वा शब्दं तु यं कंचिदुन्मुखौ सुतशंकया ।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यभाषताम् ॥ ४ ॥
भिन्नैश्च पुरुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः ।
कुशकंटकविद्धांगावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥
ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः ।
परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥
तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः ।
आश्वासितोऽपि चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥
ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया ।
बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरंतौ भृशदुःखितौ ॥ ८ ॥
पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वाऽसि क्वाऽसीत्यरोदताम् ।
ब्राह्मणः सत्यवाक्तेषामुवाचेदं तयोर्वचः ॥ ९ ॥

सुवर्चा उवाच- यथाऽस्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।

बहुत दुःखी हुए। तब वे दोनों स्त्री पुरुष रात्रिहीमें आश्रम, वन, नदी और तलावोंमें अपने पुत्रको ढूंढने लगे, किसीका शब्द सुनकर अपने पुत्रकी शङ्का कर उधरहीको देखने लगते थे, और कहने लगते थे कि वह सावित्रीके सहित सत्यवान चला आता है, इस प्रकार घूमनेसे उन दोनोंके पैरोंमें घाव हो गये, और रुधिर बहने लगा, उनके शरीर कुशके कांटोंके लगनेसे छिल गये, तब वे उन्मत्तके समान इधर उधर घूमने लगे। (१–५)

अनन्तर आश्रमके रहनेवाले ब्राह्मण उनके पास गये और उनको समझाकर आश्रममें ले आये, तपोधन वृद्ध ब्राह्मणोंने स्त्री सहित राजा द्युमत्सेनसे पुराने राजोंकी कथा कहीं। उनको सुनकर वे दोनों बूढे स्थिर हुए, और अपने पुत्रके बाल चरितोंको स्मरण करके बहुत दुःखसे उसका मार्ग देखने लगे; फिर वे दोनों बूढे बहुत दुःखसे व्याकुल होकर हा पुत्र ! हा पतिव्रता बहू ! तुम दोनों कहां हो ! ऐसा कहकर रोने लगे, तब सत्यवादी सुवर्चा नामक ब्राह्मण कहने लगे। (६–९)

सुवर्चा बोले, सावित्री तप सत्य

आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥

गौतम उवाच — वेदाः सांगा मयाऽधीतास्तपो मे संचितं महत् ।
कौमारब्रह्मचर्यं च गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ॥ ११ ॥
समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे ।
वायुभक्षोपवासश्च कृतो मे विधिवत्सदा ॥ १२ ॥
अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परचिकीर्षितम् ।
सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥

शिष्य उवाच— उपाध्यायस्य मे वक्त्राद्यथा वाक्यं विनिःसृतम् ।
नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ॥१४॥

ऋषय ऊचुः — यथाऽस्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः ।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १५ ॥

भारद्वाज उवाच—यथाऽस्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १६ ॥

दाल्भ्य उवाच —यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम् ।
गताऽऽहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ॥ १७ ॥

और आचारसे भरी है, इससे हम जानते हैं, कि सत्यवान जीता है । १०

गौतम मुनि बोले, मैंने अङ्गोंके सहित वेदोंको पढा है, मैंने बहुत तप और बाल्यावस्थासे ब्रह्मचर्य्य साधन किया है, मैंने सावधान होकर समस्त व्रतोंको किया है, और विधिके सहित वायु भक्षण तथा उपवासभी किये हैं, उसही तपके बलसे सबके कर्मोंको जानता हूं, मैं सत्य कहता हूं, कि सत्यवान बहुत सुखी है । (११-१३)

शिष्य बोला, हमारे गुरुजीके मुखसे जो कुछ वचन निकला है,सो कभी मिथ्या नहीं होगा, इससे हम जानते हैं, कि सत्यवान जीता है । (१४)

ऋषिलोग बोले, हमें खूब निश्चय है कि सावित्रीके शरीरमें विधवा होनेका कोई लक्षण नहीं है; इससे हम जानते हैं, कि सत्यवान जीता है । (१५)

श्रीभरद्वाज मुनि बोले, सत्यवानकी स्त्री सावित्री तप, सत्य और शुद्धाचारसे भरी है, इससे हम जानते हैं कि सत्यवान जीता है । (१६)

श्रीदाल्भ्य मुनि बोले, हमने अपनी दृष्टिसे सावित्रीके व्रतोंको देखा है, उसने निरन्तर कई उपवास किये हैं; इससे हम जानते हैं कि सत्यवान जीता है। (१७)

आपस्तंब उवाच—यथा वदंति शांतायां दिशि वै मृगपक्षिणः ।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान् ॥ १८ ॥
धौम्य उवाच – सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः ।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ॥ १९ ॥
मार्कण्डेय उवाच –एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।
तांस्तान्विगणयन्सर्वांस्ततः स्थिर इवाऽभवत् ॥२० ॥
ततो मुहूर्तात्सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह ।
आजगामाऽऽश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ २१ ॥
ब्राह्मणा ऊचुः —पुत्रेण संगतं त्वां तु चक्षुष्मंतं निरीक्ष्य च ।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते ॥ २२ ॥
समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च ।
चक्षुषश्चाऽऽत्मनो लाभात्त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे॥२३॥
सर्वैरस्माभिरुक्तं यत्तथा तन्नाऽत्र संशयः ।
भूयो भूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ २४॥
ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि ।
उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ॥ २५ ॥

श्रीआपस्तम्ब मुनि बोले, देखो यह शान्त दिशामें पक्षी और हरिण बोल रहे हैं, इससे हम जानते हैं, कि सत्यवान जीता है। (१८)

श्रीधौम्य मुनि बोले, तुम्हारा पुत्र सुलक्षणों से युक्त सब जगतका प्रिय और दीर्घआयु है; इससे हम जानते हैं कि सत्यवान जीता है । (१९)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! जब सत्यवादी तपस्वी महात्माओंके ऐसे ऐसे वचन सुने और उन सबका विचार करके राजा द्युमत्सेन कुछ शान्त हुए उसही समय सावित्री भी प्रसन्न होती हुई अपने पति सत्यवानके सहित आश्रममें आ पहुंची । (२० –२१)

ब्राह्मण लोग बोले, हे पृथ्वीनाथ ! हमलोग पुत्र और दृष्टि सहित आपको देखकर बहुत प्रसन्न हुए, हम लोग आपकी वृद्धि चाहते हैं । प्रारब्धहीसे सावित्री और सत्यवान मिले हैं और आपके नेत्र ठीक हुए हैं, तीनोंको पाकर आप प्रारब्धहीसे वृद्धि लाभ करेंगे । हम सब लोगोंने जो पहिले कहा था ; उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है अब शीघ्रही आपकी उन्नति होगी । (२२—२४)

शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः ।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ॥ २६ ॥
ततो राज्ञा सहाऽऽसीनाः सर्वे ते वनवासिनः ।
जातकौतूहलाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥ २७ ॥

ऋषय ऊचुः—प्रागेव नाऽऽगतं कस्मात्सभार्येण त्वया विभो ।
विरात्रे चाऽऽगतं कस्मात्कोऽनुबंधस्तवाऽभवत् ॥ २८ ॥
संतापितः पिता माता वयं चैव नृपात्मज ।
कस्मादिति न जानीमस्तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

सत्यवानुवाच —पित्राऽहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः ।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिंदतः ॥ ३० ॥
सुप्तश्चाऽहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत्कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥ ३१ ॥
सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो विरात्रागमनं नाऽन्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच — अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः ।

उसी समय ब्राह्मणोंने अग्नि जलाई और राजाके समीप बैठ कर अग्निहोत्र करने लगे। उसी समय एक ओर शैब्या सत्यवान् और सावित्री बैठ गई। तब उन सबने ब्राह्मणोंकी आज्ञासे शोकको दूर किया, तब ऋषियोंने राजाके समीप बैठकर कौतूहलके सहित राजपुत्र सत्यवानसे पूंछा। ऋषिलोग बोले, हे राजपुत्र ! तुम अपनी स्त्रीके सहित पहिले क्यों नहीं आये ? तुमने इतनी अधिक रात्रि क्यों कर दी? वह ऐसा विशेष कार्य क्या होगया था ? तुम्हारे न आनेसे तुम्हारे माता पिता-को बहुत दुःख हुआ, हमलोग इसके कारणको नहीं जानते; तुम हमसे कहो। (२६–२९)

सत्यवान बोले, मैं अपने पिताकी आज्ञा लेकर सावित्रीके सहित वनको गया। वहां काठ उखाडते समय मेरे शिरमें पीडा हुई। मैं वहां सो गया और बहुत समय तक न जागा, जैसा मैं आज सोया वैसे पहिले कभी नहीं सोया था, इसलिये आप कुछ दुःख न कीजिये, इसी लिये मुझे इतनी रात्रि होगई इसके सिवाय और कोई कारण नहीं है। (३०—३२)

गौतम मुनि बोले, अकस्मात् तुम्हारे पिताके नेत्र खुल गये, इसका कारण

नाऽस्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ॥३३ ॥
श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम् ।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा॥३४॥
त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात्सत्यं निरुच्यताम् ।
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥

सावित्र्युवाच— एवमेतद्यथा वेत्थ संकल्पो नाऽन्यथा हि वः ।
नहि किंचिद्रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ ३६ ॥
मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाऽद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम्॥ ३७ ॥
सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत्सकिंकरः ।
स एनमनयद्बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥
अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् ।
पंच वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान्मम ॥ ३९ ॥
चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे ।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चाऽऽत्मनः शतम्॥४०॥
चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्त्ता लब्धश्च सत्यवान् ।

तुम नहीं जानते सावित्री कहेंगी । हे सावित्री ! तुम आदि अन्तको जानती हो हम तुमको तेजमें सावित्रीके समान जानते हैं यदि इसमें कोई गुप्त बात न हो तो तुम हमसे वर्णन करो, क्योंकि तुम इसके सब कारणोंको जानती हो । (३३–३५) ।

सावित्री बोली, हे ब्रह्मन्!आपने जो कहा सो सब सत्य है । आप लोगोंका सङ्कल्प झूंठा नहीं है और इसमें कोई गुप्त बात भी नहीं है; मैं सब सत्य सत्य कह देती हूं । मुझसे महात्मा नारदने मेरे पिताके घरमें कहा था, कि तुम्हारे पतिकी मृत्यु होजायगी, सो दिन आज ही था, इस लिये मैंने इनका संग नहीं छोडा । जब यह वनमें सो गये, तब साक्षात् यमराज अपने दूतोंके सहित इनके पास आये, और इनको फांसीमें बांधके दक्षिणकी ओर ले चले।(३६-३८)

उसी समय मैंने सत्य वचनसे जगत् के स्वामी भगवान् यमराजकी स्तुति करी, तब उन्होंने मुझको पांच वरदान दिये। मेरे ससुरको राज्य और नेत्र प्राप्त हों मैंने ये दो वर-दान ससुरके लिये मांगे । अपने पिताके सौ पुत्र, अपने सौ पुत्र, ये दो वर–प्राप्त किये । पांचवां

भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ॥ ४१ ॥
एतत्सर्वं मयाऽऽख्यातं कारणं विस्तरेण वः ।
यथा वृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥
ऋषय ऊचुः-निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं कुलं नरेंद्रस्य तमोमये ह्रदे ।
त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३ ॥
मार्कंडेय उवाच – तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव वरास्त्रियं तामृषयः समागताः ।
नरेंद्रमामंत्र्य सपुत्रमंजसा शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥४४॥ [११३१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि
सावित्र्युपाख्यानेऽष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९८॥

मार्कण्डेय उवाच– तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमंडले ।
कृतपौर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः ॥ १ ॥
तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः ।
द्युमत्सेनाय नाऽतृप्यन्कथयंतः पुनःपुनः ॥ २ ॥
ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप ।

वर मैंने अपने पतिके लिये मांगा, जिससे सत्यवानकी चार सौ वर्षकी आयु हुई । मैंने अपने पतिके जिलानेके लियेही यह व्रत किया था । मैंने सब कारण विस्तार पूर्वक आप लोगोंसे कहा । आज मैं बहुत प्रसन्न हुई, मेरा सब दुःख नष्ट होगया । (३९-४२)

ऋषिलोग बोले, हे सुन्दरी ! तुमने राजा द्युमत्सेनके कुलको घोर दुःखके तलावमें डूबनेसे बचा लिया; वह तलाव घोर अन्धकार और दुःखोंसे भरा था। हे सुशीले ! तुम बहुत कुलीन पतिव्रता और साध्वी हो । (४३)

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे राजन्! इस प्रकार सब मुनियोंने पतिव्रता सावित्रीकी प्रशंसा करी फिर वे सब लोग राजा द्युमत्सेन और सत्यवानकी सम्मतिसे प्रसन्न होकर अपने अपने घरको चले गये । (४४) [११३१६]

वनपर्वमें दोसौ अठानव्वे अध्याय समाप्त ।।

वनपर्वमें दो सौ निनानव्वे अध्याय

श्रीमार्कण्डेय मुनि बोले, हे महाराज युधिष्ठिर ! जब वह रात्रि व्यतीत होगई और सूर्य उदय हुए तब सब मुनि लोग राजा द्युमत्सेनके पास आये, वे सब महर्षि लोग सावित्रीकी कथा कहते कहते तृप्त नहीं होते थे; इस लिये बार बार कहते जाते थे । हे राजन्! उसी समय शाल्व देशसे राजा द्युमत्सेनके मन्त्री आये; और उनमेंसे प्रधान मन्त्री

आचख्युर्निहतं चैव स्वेनाऽमात्येन तं द्विषम् ॥ ३ ॥
तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबांधवम् ।
न्यवेदयन्यथावृत्तं विद्रुतं च द्विषद्बलम् ॥ ४ ॥
ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याऽथ नृपं प्रति ।
सचक्षुर्वाऽप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥
अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप ।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरंगं च ते बलम् ॥ ६ ॥
प्रयाहि राजन्भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः ।
अध्यास्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥
चक्षुष्मंतं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषाऽन्वितम् ।
मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥
ततोऽभिवाद्य तान्वृद्धान्द्विजानाश्रमवासिनः ।
तैश्चाऽभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥ ९ ॥
शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा ।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥
ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः ।

राजा द्युमत्सेनसे कहने लगा, कि हमने आपके शत्रुवोंको मार डाला। (१-३)

राजा द्युमत्सेनने जब सुना, कि हमारा शत्रु बन्धुबान्धव और सेनाके सहित नाश होगया, और हमारे सब मन्त्री लोग एक मत होकर हमको राज्य देना चाहते हैं, वे लोग कहते हैं कि राजा द्युमत्सेन चाहे अन्धे हों चाहे नेत्रवान हों, हम उनहीको राजा बनावेंगे ऐसाही निश्चय करके ये लोग यहां आये हैं, तब राजा द्युमत्सेन बहुत प्रसन्न हुए। तब एक मन्त्री कहने लगा, हे महाराज! यह आपकी चतुरङ्गिणी सेना उपस्थित हैं, आपका कल्याण हो। नगरमें आपकी विजय हुई हैं; अब चलकर बहुत दिनतक अपने पिता पितामहका राज्य कीजिये। (४-७)

जब मन्त्रियोंने राजाको नेत्रवान और तेजवान देखा तब सब लोगोंने प्रसन्न होकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। तब राजा द्युमत्सेनने बहुत प्रसन्न होकर आश्रममें रहनेवाले बूढे ब्राह्मणोंको प्रणाम किया। अनन्तर अपने मन्त्रियोंके सहित नगरको चले गये, अनन्तर शैब्या महा तेजास्विनी सावित्रीके सहित एक पालकीमें बैठकर सेनाके सहित

पुत्रं चाऽस्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥
ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम् ।
तद्वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥
भ्रातृणां सोदराणां च तथैवाऽस्याभवच्छतम् ।
मद्राधिपस्याऽश्वपतेर्मालव्यां सुमहद्बलम् ॥ १३ ॥
एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च ।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात्समुद्धृतम् ॥ १४ ॥
तथैवैषा हि कल्याणी द्रौपदी शीलसंमता ।
तारयिष्यति वः सर्वान्सावित्रीव कुलांगना ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवं स पांडवस्तेन अनुनीतो महात्मना ।
विशोको विज्वरो राजन्काम्यके न्यवसत्तदा ॥ १६ ॥
यश्चेदं श्रृणुयाद्भक्त्या सावित्र्याख्यानमुत्तमम् ।
स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः ॥ १७ ॥ [११३३३]

इति श्रीमहा० शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥समाप्तं चेदं पतिव्रतामाहात्म्यपर्व ।

अथ कुंडलाहरणपर्व ।

जनमेजय उवाच –यत्तत्तदा महद्ब्रह्मँल्लोमशो वाक्यमब्रवीत् ।

चलीं, नगरमें पहुंचनेके पश्चात् पुरोहितोंने राजा द्युमत्सेनका अभिषेक किया और महात्मा सत्यवानको युवराज बनाया। (८–११)

बहुत समय बीतनेके पश्चात् सावित्रीके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब महा बलवान और युद्ध करनेवाले थे, इसी प्रकार सावित्रीके पिताके भी सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार सावित्रीने पिता माता, सास, ससुर, पति अपने और कुलको दुःखसे उद्धार किया। इसही प्रकार शीलवती कल्याणी द्रौपदी भी सावित्रीके समान आप लोगोंके कुलका उद्धार करेंगी। (१२–१५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! मार्कण्डेय मुनिके ऐसे वचन सुन पाण्डुपुत्र महात्मा युधिष्ठिर शोक और दुःखसे रहित होकर काम्यक वनमें रहने लगे, जो पुरुष इस सावित्रीकी कथाको सुनता है, वह सदा सुखी रहता है और उसके सब प्रयोजनभी सिद्ध होजाते हैं। (१६—१७)[११३३३]

वनपर्वमें दोसौ निनानव्वे अध्याय और पतिव्रतामाहात्म्यपर्व समाप्त।

इंद्रस्य वचनादेव पांडुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित् ।
तच्चाऽप्यपहरिष्यामि धनंजय इतो गते ॥ २ ॥
किं नु तज्जपतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद्भयम् ।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्य चित् ॥३॥
वैशम्पायन उवाच—अयं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम् ।
पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ॥ ४ ॥
द्वादशे समतिक्रांते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे ।
पांडूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ॥ ५ ॥
अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेंद्रस्य विभावसुः ।
कुंडलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः ॥ ६ ॥
महार्हे शयने वीरं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते ।
शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ॥ ७ ॥
स्वप्नांते निशि राजेंद्र दर्शयामास रश्मिवान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ॥ ८ ॥
ब्राह्मणो वेदविद्भूत्वा सूर्यो योगर्द्धिरूपवान् ।

वनपर्वमें तीनसौ अध्याय और

कुण्डलाहरण पर्व ।

राजा जनमेजय बोले, हे ब्रह्मन् ! इन्द्रकी आज्ञानुसार लोमश मुनिने जो राजा युधिष्ठिरसे आकर कहा था, कि जिस घोर भयको तुम किसीसे नहीं कहते हो, अर्जुनके यहां आनेसे हम उसका नाश करेंगे, हे महा तपस्विन्! क्या वह घोर भय कर्णहीसे था ? क्या धर्मात्मा युधिष्ठिरने वह समाचार किसीसे नहीं कहा था ? (१—३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राज-शार्दूल ! हम तुमसे इस कथाको कहते हैं, तुम हमारे वचनका विश्वास करो । जब पाण्डवोंको वनमें रहते रहते बारह वर्ष बीत गये, और तेरहवां वर्ष आरंभ हुआ तब पाण्डवोंके हित करनेवाले इन्द्रने कर्णसे भिक्षा मांगनेका विचार किया, हे महाराज ! जब सूर्यने जाना कि इन्द्र कर्णके पास कुण्डल लेनेको आवेंगे, तब वे कर्णके पास गये, उस समय कर्ण महामूल्य पलंगपर उत्तम बिछौना बिछाये सो रहे थे । (४—७)

जब महात्मा, सत्यवादी; ब्राह्मण-भक्त कर्ण सोते थे, उसी समय सूर्यने अपना पुत्र जानकर कर्णपर बडी कृपा

हितार्थमब्रवीत्कर्ण सांत्वपूर्वमिदं वचः ॥ ९ ॥
कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर ।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात्परमं हितम् ॥ १० ॥
उपायास्यति शक्रस्त्वां पांडवानां हितेप्सया ।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुंडलोपजिहीर्षया ॥ ११ ॥
विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा ।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ॥ १२ ॥
त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम् ।
वित्तं यच्चाऽन्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ॥१३॥
त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः ।
आगंता कुंडलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ॥ १४॥
तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुंडले त्वया ।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥
कुंडलार्थे ब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया ।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः सन्निवार्यः पुनःपुनः ॥ १६ ॥
रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि ।

करी, सूर्यने परम सुन्दर वेदपाठी ब्राह्मणका रूप बनाया, और कर्णका कल्याण करनेके लिये ऐसा कहा, हे कर्ण ! हे तात ! हे सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ ! हे महाबाहो ! तुम हमारे हितके वचनोंको सुनो, हम तुम्हारे प्रेमसे कहते हैं; तुम्हारे पास पाण्डवोंका कल्याण करनेके लिये इन्द्र आवेंगे वे ब्राह्मणका रूप बनाकर तुमसे कुण्डल मांगेगे। (८–११)

उन्होंने तुम्हारे और जगत्के स्वभाव जान लिया है,वे अच्छी प्रकारसे जानते हैं, कि तुम मांगनेवालेको सब कुछ देते हो,और किसीसे कुछ मांगते नहीं हो, हे तात ! तुम्हारा यह स्वभाव है, कि जो ब्राह्मण धनादि कुछ वस्तुको मांगता है, तुम उसे मना नहीं करते, तुम्हारा यह स्वभाव जानकर इन्द्र आपही कुण्डल और कवच मांगनेको तुम्हारे पास आवेंगे, तुम उनको कुण्डल मत देना और शक्तिके अनुसार उनको प्रसन्न कर लेना, इसीमें तुम्हारा परम कल्याण होगा। (१२–१५)

हे तात ! जब वह तुमसे कुण्डल मागें तब तुम और धन देकर उसको निवारण करना; स्त्री, गऊ, अनेक प्रकारके रत्न और अनेक प्रकारके धन

निदर्शनैश्च बहुभिः कुंडलेप्सुः पुरंदरः ॥ १७ ॥
यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुंडले शुभे ।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ॥ १८ ॥
कवचेन समायुक्तः कुंडलाभ्यां च मानद ।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥
अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसंभवम् ।
तस्माद्रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत्प्रियं तव ॥ २० ॥
कर्ण उवाच—को मामेवं भवान्प्राह दर्शयन्सौहृदं परम् ।
कामया भगवन्ब्रूहि को भवान्द्विजवेषधृक् ॥ २१ ॥
ब्राह्मण उवाच —अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात्त्वां निदर्शये ।
कुरुष्वैतद्वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥
कर्ण उवाच—श्रेय एव ममाऽत्यंतं यस्य मे गोपतिः प्रभुः ।
प्रवक्ताऽद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥
प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम् ।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥ २४ ॥

देना; परन्तु इन्द्र तुमसे कुण्डलही मांगेगे। हे कर्ण! यदि तुम सङ्ग उत्पन्न हुए सुन्दर कुण्डलोंको दे दोगे, तब तुम्हारी आयु नष्ट हो जायगी और तुम मर जाओगे, तुम हमारे वचनोंको निश्चय मानो कि जबतक तुम्हारे शरीरमें कवच और कुण्डल हैं, तबहीतक तुमको कोई शत्रु युद्धमें नहीं मार सकता है। हे कर्ण! ये रत्नरूपी कवच और कुण्डल अमृतसे उत्पन्न हुए हैं। तुमको अपना जीवन प्रिय है, तो इनकी रक्षा करो। (१६–२०)

कर्ण बोले, हे भगवन्! आपके समान हमारा कल्याण करनेवाला कौन होगा? आपने हमारे हितके वचन कहे, अब आप हमसे कहिये, कि ब्राह्मण वेषधारी आप कौन हैं? (२१)

ब्राह्मण बोले, हे तात! मैं सूर्य हूं, और तुमसे यह सब कह दिया है, तुम हमारे वचनोंको करोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा। (२२)

कर्ण बोले, जिसके साक्षात् सूर्य स्वामी हैं, ऐसे कर्णका सदा कल्याण ही है, आप हमारे वचनोंको सुनिये। आपने हमारे हितके लिये यह सब कहा, परन्तु हम आपकी स्तुति करते हैं, और हम आपको प्रणाम करके विनय करते हैं, कि यदि आप हमसे प्रेम करते हैं, तो

व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो।
यथाऽहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५॥
यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मनाऽऽवृतः।
हितार्थं पांडुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ॥ २६ ॥
दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुंडले वर्म चोत्तमम्।
न मे कीर्त्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७॥
मद्विधस्याऽयशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम्।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसंमतम् ॥ २८ ॥
सोऽहमिंद्राय दास्यामि कुंडले सह वर्मणा।
यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २९ ॥
हितार्थं पांडुपुत्राणां कुंडले मे प्रयाचितुम्।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याऽकीर्तिर्भविष्यति ॥ ३० ॥
वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनाऽपि भानुमन्।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥
कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत्।
अकीर्तिर्जीवितं हंति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥

हमको इस व्रतसे निवारण न कीजिये, हे सूर्य! हमारे इस व्रतको सब जानता है, मेरा यह प्रण है, कि मैं ब्राह्मणोंको अपने प्राणभी दे दूंगा। (२३-२५)

हे आकाशगामियोंमें श्रेष्ठ! यदि पाण्डवोंका कल्याण करनेके लिये ब्राह्मणका वेष बनाकर इन्द्र मेरे पास भिक्षा मांगनेको आवेंगे, तो मैं कुण्डल और उत्तम कवचको देदूंगा, हे देवश्रेष्ठ! मेरी यह इच्छा है, कि मेरे यशका नाश न हो। मेरे समान पुरुषको उचित है कि प्राणोंकी रक्षा न करके यशकी रक्षा करे, क्योंकि यशके सहित मरण उत्तम है, यदि बलि और वृत्रासुरके मारने वाले इन्द्र मेरे पास भिक्षा मांगनेको आवेंगे; तो मैं कवच और कुण्डल दे दूंगा, यदि पाण्डवोंके कल्याणके निमित्त इन्द्र मुझसे कवच और कुण्डल मांगने को आवें तो मेरी बहुत कीर्त्ति बढेगी। (२६-३०)

हे सूर्य! मैं अपना शरीर देकरभी कीर्त्तिकी रक्षा चाहता हूं, क्योंकि कीर्त्तिवानको स्वर्ग मिलता है और कीर्त्तिहीनका नाश हो जाता है। कीर्ति माता के समान पुरुषकी रक्षा करती है, अपकीर्त्ति जीते हुए पुरुषका भी नाश

अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो ।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य ह ॥ ३३ ॥
पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम् ।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्धनी ॥ ३४ ॥
सोऽहं शरीरजे दत्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
दत्वा च विधिवद्दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥
हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥
भीतानामभयं दत्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम् ।
वृद्धान्बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ३७॥
प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
जीवितेनाऽपि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥
सोऽहं दत्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् ।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गंता परां गतिं ॥ ३९ ॥ [११३७२]

इति श्रीमहाभारते ०आरण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

सूर्य उवाच — माऽहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा ।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥

कर देती है, हे सूर्य ! इस पुराने श्लोक में साक्षात् ब्रह्माने कीर्तिको पुरुषकी आयु बताया है, कीर्ति परलोकमें पुरुष की आश्रय है और इस लोकमेंभी कीर्त्ति आयुको बढाती है, सो अब मैं अपने सङ्ग उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलको देकर अनन्त कीर्त्तिको प्राप्त करूंगा । (३१–३५)

ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान देकर घोर कर्म करके युद्धमें अपने शरीरको छोडूंगा; मैं सब शत्रुवोंको जीतकर अपने यशकी रक्षा करूंगा, जो लोग युद्धमें जीवदान मांगेंगे उन्हें अभय दूंगा, बूढे, बालक और ब्राह्मणोंको महा भयसे छुडा कर इस लोकमें सुख प्राप्त करूंगा, मैं अपना जीव देकर भी यशकी रक्षा करूंगा, यही मेरा प्रण है, अब मैं ब्राह्मण वेषधारी इन्द्रको कवच और कुण्डल देकर यशको प्राप्त करूंगा । (३५-३९)

वनपर्वमें तीनसौ अध्याय समाप्त। [११३७२]

वनपर्वमें तीनसौ एक अध्याय ।

सूर्य बोले, हे कर्ण ! तुम अपना, मित्रोंका, पुत्रोंका, माताका, स्त्री और पिताका अहित कर्म मत करो, हे शरीर-

शरीरस्याऽविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर ।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ॥ २ ॥
यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम् ।
सा ते प्राणान्समादाय गमिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा ।
ये चाऽन्ये बांधवाः केचिल्लोकेऽस्मिन्पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत् ।
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ॥ ५ ॥
मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः ।
मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन्कीर्तिं समश्नुते ॥ ६ ॥
मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः ।
अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद्भक्तोऽसीति हितेप्सया ॥ ७ ॥
भक्तिमंतो हि मे रक्ष्या इत्येतेनाऽपि हेतुना ।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज ॥ ८ ॥
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ।
अस्ति चाऽत्र परं किंचिदध्यात्मं देवनिर्मितम्
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत्क्रियतामविशंकया ॥ ९ ॥

धारियोंमें श्रेष्ठ! पुरुषको उचित है कि जो कर्म शरीरके अनुकूल हो उसीको करे, क्योंकि शरीर रहनेसे इस लोक और परलोकमें यश स्थिर होता है, तुम अपना शरीर देकर जो कीर्त्तिकी इच्छा करते हो; इससे निःसन्देह तुम्हारा शरीर नाश हो जायगा, जीवनके लिये, पिता माता, पुत्र आदि सब बान्धव लोग कार्यको करते हैं । (१–४)

हे पुरुषसिंह ! हे महातेजस्वी ! राजा लोग भी पौरुष करके कीर्त्तिका लाभ करते हैं, परन्तु कीर्त्ति जीतेहीमें कार्य सिद्ध कर सकती है, और मरनेके पश्चात् शरीर जल गया, तब कीर्त्ति किस काम आवेगी, मरा हुआ, मनुष्य कीर्त्तिको देखने नहीं आता, जीता कीर्त्तिको भोगता है, मरे हुए की कीर्त्ति ऐसेही है कि जैसे मरे हुएको माला पहिनानी, हम तुमको भक्त जानकर ये सब हित की बात कहते हैं, क्योंकि भक्तोंकी रक्षा करना हमारा काम है, हे महाभुज! हम तुमको अपना परम भक्त मानते हैं, तुमको भक्त देखकर हम को भी भक्ति उत्पन्न हुई है, इससे

देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ ।
तस्मान्नाऽऽख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद्भवान्१०॥
पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत् ।
मा स्मैते कुंडले दद्या भिक्षिते वज्रपाणिना ॥ ११ ॥
शोभसे कुंडलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते ।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ॥ १२ ॥
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत् ।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुंडलार्थे सुरेश्वरः ॥ १३ ॥
शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुंडलेप्सा त्वयाऽनघ ।
विहंतुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १४ ॥
हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः ।
पुरंदरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥ १५ ॥
त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना ।
सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ॥ १६ ॥
न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुंडलाभ्यां समन्वितम् ।

तुम हमारे वचनोंको ग्रहण करो।(५-९)

इसमें कुछ देवतोंकी बनाई हुई गुप्त बातभी है, इसी लिये हम तुमसे कहते हैं कि हमारे वचनोंमें शङ्का मत करो, तुम देवतोंकी गुह्य बात नहीं जान सकते हो। इससे यह पूरी बात हम तुमको नहीं सुनाते हैं, तुम समयपर आप जान लोगे, हे राधापुत्र ! हम तुमसे बार बार वही बात कहते हैं कि, तुम इन्द्रको अपने कुण्डल मत देना, हे महा तेजस्वी! इन दोनों कुण्डलोंसे तुम्हारी ऐसी शोभा होती है, जैसे विशाखाके बीचमें आकाशमें उदय हुए चन्द्रमाकी।(१०-१२)

तुम इस बातका निश्चय जानो कि जीते हुए पुरुषकी कीर्त्ति सहायक है, इस लिये इन्द्र जब तुमसे कुण्डल लेनेको आवें, तब मना कर देना, हे पापरहित ! जब देवराज इन्द्र तुम्हारे पास कुण्डल मांगनेको आवे तब तुम अनेक प्रकारकी बात करके, उनको कुण्डल न देना तुम देवराजकी इच्छाको बार बार निवारण करना, तुम मीठे हेतुके सहित मनोहर वचनोंसे इन्द्रकी बुद्धिको अपने वशमें कर लेना।(१३-१५)

हे पुरुषसिंह ! तुम सदाही अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते हो। वही वीर अर्जुन तुमसे युद्ध करनेको आवेंगे, यदि साक्षात् इन्द्रभी अर्जुनके मित्र हों तो

विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिंद्रः सखा भवेत् ॥ १७ ॥
तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुंडले शुभे ।
संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥१८ ॥[११३९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

कर्ण उवाच— भगवंतमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते ।
तथा परमतिग्मांशो नाऽस्त्यदेयं कथंचन ॥ १ ॥
न मे दारा न मे पुत्रा न चाऽन्यद्दैवतं दिवि ।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ॥ २ ॥
इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः ।
कुर्वंति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ॥ ३ ॥
इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चाऽन्यद्दैवतं दिवि ।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ॥ ४ ॥
भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः ।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षंतुमर्हसि ॥ ५ ॥
बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम् ।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ॥ ६ ॥

भी कुण्डलोंके सहित तुमको नहीं मार सकते हैं, हे कर्ण ! यदि तुम अर्जुनके जीतनेकी इच्छा करते हो, तो ये सुन्दर कुण्डल इन्द्रको मत देना । (१६–१८)

वनपर्वमें तनिसौ एक अध्याय समाप्त।[११३९०]

वनपर्वमें तीनसौ दोन अध्याय ।

कर्ण बोले, हे सूर्य ! मैं आपका भक्त हूं, परन्तु आप मुझको जानते हैं, कि जगत्में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसको मैं न दान करूं, हे सूर्य ! मुझको जैसा आप प्रिय हैं, तैसे स्त्री पुत्र मित्र और अपना शरीरभी नहीं है, जगत्की यह रीति है कि महात्मा लोग अपने भक्तों के ऊपर कृपा और उनका कार्य सिद्ध करते ही हैं, हे सूर्य ! आप निःसन्देह इन सब बातोंको जानते ही हैं कि कर्ण मेरा प्यारा भक्त है वह कभी किसी दूसरे देवताकी उपासना नहीं करता, इस लिये तुमने यह सब हित हमसे कहा है, अब हम आपके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करते हैं और बार बार यही वरदान मांगते हैं कि आप हमारे इन सब अपराधोंको क्षमा कीजिये। (१–५)

हम इतना मृत्युसे नहीं डरते, जितना

प्रदाने जीवितस्याऽपि न मेऽत्रास्ति विचारणा ।
यच्च मामात्थ देव त्वं पांडवं फाल्गुनं प्रति ॥ ७ ॥
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम् ।
अर्जुनं प्रति मां चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ८ ॥
तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत् ।
जामदग्न्यादुपात्तं यत्तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ९ ॥
इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम ।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ १० ॥
यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुंडले शुभे ।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबलम् ॥ ११ ॥
नियमेन प्रदद्यां ते कुंडले वै शतक्रतो ।
अवध्यो ह्यसि भूतानां कुंडलाभ्यां समन्वितः ॥१२॥
अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः ।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुंडले ते जिहीर्षति ॥ १३ ॥
स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः ।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरंदरम् ॥ १४ ॥

झूठसे, विशेषकर हम पण्डित ब्राह्मणोंसे अधिक डरते हैं, मैं अपना जीव देनेमें भी कुछ विचार नहीं करता, तुमने जो हमसे अर्जुनकी बात कही, सो उसके लिये कुछ आप अपने मनमें दुःख न कीजिये, मैं अर्जुनको युद्धमें जीत लूंगा। हे देव ! तुम हमारे अस्त्र बलको जानते हो। हमने परशुराम और महात्मा द्रोणाचार्य जीसे अस्त्र विद्या सीखी है, हे देव श्रेष्ठ ! आप हमारे इस व्रतको जानतेही हैं, इस लिये यदि इन्द्र हमारा शरीरभी मागेंगे तो हम दे देंगे। ६–१०

सूर्य बोले, हे तात ! यदि तुम इन्द्रको अपने सुन्दर कुण्डल दो, तो उनसे अपने विजयके लिये वरदान मांग लेना, तुम उनसे कहना कि ' हे इन्द्र ! तुम हमसे नियम कर लो तो हम कुण्डल दें ' हे कर्ण ! तू इन कुण्डलोंके सहित सब प्राणियोंसे अवध्य हो, इसी लिये दानवनाशन इन्द्र तुमसे कुण्डल मांगेंगे तुमसे कुंडल ले जाने पर अर्जुन तुमको मार सकेगा। (११–१३)

तब तुम बार बार अच्छी बातें कहकर प्रसन्न करना, इस प्रकार तुम देवराज इन्द्रकी आराधना करना तब तुम्हारा कल्याण होगा, जब इन्द्र प्रसन्न हों

अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिबर्हिणीम् ।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुंडले वर्म चोत्तमम् ॥ १५ ॥
इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुंडले ।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ॥ १६ ॥
नाऽहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः ।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसाऽन्तरधीयत ।
ततः सूर्याय जप्यांते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
यथा दृष्टं यथा तत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि ।
तत्सर्वमानुपूर्व्येण शशंसाऽस्मै वृषस्तदा ॥ १९ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः ।
उवाच तं तथेत्येव कर्ण सूर्यः स्मयन्निव ॥ २० ॥
ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा ।
शक्तिमेवाऽभिकांक्षन्वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २१ ॥११४११

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि
सूर्यकर्णसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

जनमेजय उवाच – किं तद्गुह्यं न चाऽख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।

तब उनसे कहना हमको शत्रुओंके नाश करनेवाली अमोघशक्ति दीजिये, हे सहस्राक्ष ! तब हम आपको अपने उत्तम कुण्डल और कवच देंगे, हे कर्ण! जब इन्द्र इस नियमको मान लें तब तुम अपने कवच और कुण्डल देना, हे कर्ण ! उस शक्तिसे युद्धमें तुम अपने शत्रुओंका नाश करोगे, हे महाबाहो! वह, इन्द्रकी शक्ति सैकडों सहस्रों शत्रुओंको मारे विना पुनः हाथमें नहीं आती है। (१४–१७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, सूर्य कर्णसे ऐसा कहकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये, तब कर्णने सन्ध्या करनेके पश्चात् अपने देखे हुए, स्वप्नको और रातकी बातोंको सूर्यसे कह दिया, इस सब समाचारको सुनकर राहुके जीतनेवाले भगवान् सूर्य ने हंसकर कहा कि यह सब सत्य है, शत्रुनाशन राधापुत्र कर्ण इस सबको सत्य जानकर शक्तिकी इच्छाकर इन्द्रका मार्ग देखने लगे।(१८–२१) ११४११

वनपर्वमें तीनसौ दोन अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें तीनसौ तीन अध्याय ।

राजा जनमेजय बोले, हे तपोधन !

कीदृशे कुंडले ते च कवचं चैव कीदृशम् ॥ १ ॥
कुतश्च कवचं तस्य कुंडले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥
अयं राजन्ब्रवीम्येतत्तस्य गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुंडले ते च कवचं चैव यादृशम् ॥ ३ ॥
कुंतिभोजं पुरा राजन्ब्राह्मणः पर्युपस्थितः ।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदंडजटाधरः ॥ ४ ॥
दर्शनीयोऽनवद्यांगस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
मधुपिंगो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥
स राजानं कुंतिभोजमब्रवीत्सुमहातपाः ।
भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ॥ ६ ॥
न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चाऽनुगैः ।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥
यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च ।
शय्यासने च मे राजन्नाऽपराध्येत कश्चन ॥ ८ ॥
तमब्रवीत्कुंतिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।

वह कौनसी गुप्त बात थी जो सूर्यने कर्णसे नहीं कही ? कर्णके कवच और कुण्डल कैसे थे, और कहांसे उत्पन्न हुए थे? हम सब कथाको सुनना चाहते हैं, आप कहिये । (१-२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! हम आपसे सूर्यकी गुप्त बात तथा कर्णके कवच और कुण्डलोंका वर्णन करते हैं, हे राजन् ! पहिले समयमें राजा कुन्तिभोजके पास एक ब्राह्मण गया, वह महा तेजस्वी सुन्दर लम्बा जटा मूछ और दण्डको धारण किये, सुन्दर उत्तम शरीरवाला तेजसे प्रकाशित होता हुआ, निमगौर वर्ण और मीठे वचनवाला वेदपाठी था । (३—५)

वह महा तपस्वी ब्राह्मण राजा कुन्तिभोजसे कहने लगा, हे छलरहित ! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम तुमसे एक भिक्षा मांगें, तुम अपने दासोंके सहित हमारे वचनोंको स्वीकार करो, हे पापरहित ! यदि तुम हमारे वचनोंको स्वीकार करो तो हम तुम्हारे घरमें रहें, हम अपनी इच्छानुसार बाहर जायंगे और इच्छानुसार आवेंगे हे राजन्! मेरी शय्या और आसनपर कोई बैठने न पावे । (६-८)

एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ॥१०॥
उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयाऽनवमन्य च।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १२ ॥
अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति।
मम गेहे मया चाऽस्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥
त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याऽभिराधनम्।
तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥१४॥
अयं तपस्वी भगवान्स्वाध्यायनियतो द्विजः।
यद्यद्ब्रूयान्महातेजास्तत्तद्देयममत्सरात् ॥ १५ ॥
ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥
अमानयन्हि मानार्हान्वातापिश्च महासुरः।
निहतो ब्रह्मदंडेन तालजंघस्तथैव च ॥ १७ ॥

तब राजा कुन्तिभोजने प्रसन्न होकर ब्राह्मणसे कहा आप जैसा कहते हैं वैसा ही होगा, मेरी पृथा नामक यशस्विनी कन्या है, वह बडी शीलवती धर्मचारिणी सती और साध्वी है, वह आपकी पूजा और सत्कार करेगी, आप उसके शीलको देखकर प्रसन्न हूजियेगा, ऐसा कहकर राजाने उस ब्राह्मणकी पूजा करी। (९—१२)

तब विशालनैनी कुन्तीको बुलाकर कहने लगे, हे पुत्री! यह महाभाग ब्राह्मण हमारे घरमें रहनेकी इच्छा करते हैं, मैंनेभी इनको यहां रखनेकी प्रतिज्ञा किया है, हे पुत्री तुम इस ब्राह्मणकी सेवा करो, तुम हमारे वचनको सदाही सत्य करना, यह तपस्वी ब्राह्मण सदा वेद पठन करता है, यह तेजस्वी ब्राह्मण जो तुमसे मांगे सो देना कभी छल मत करना, ब्राह्मणही, परम तेज है ब्राह्मणही परम तप है, ब्राह्मणोंके नमस्कार करनेही से आकाशमें सूर्य तपता है। (१२-१६)

वातापी नामक दानवने ब्राह्मणका संमान नहीं किया था इसीसे उसका नाश होगया और तालजंघका भी इसीसे

सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि सांप्रतम् ।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याऽभिराधनम् ॥१८॥
जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात्प्रभृति नंदिनि ।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबंधुषु चैव ह ॥ १९ ॥
तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसंबंधिमातृषु ।
मयि चैव यथावत्त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे ॥ २० ॥
न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चांऽतःपुरे च ते ।
सम्यग्वृत्त्याऽनवद्यांगि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥
संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति ।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ॥ २२ ॥
वृष्णीनां च कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ॥ २३॥
वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय तेनाऽसि दुहिता मम ॥ २४ ॥
तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।
सुखात्सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद्ध्रदमिवाऽऽगता ॥ २५ ॥

नाश हुआ है। हे पुत्री ! हम इस महा भारको तुम्हारे सिर देते हैं, तुम सावधान होकर इस ब्राह्मणकी सदा सेवा करना । हे नन्दिनी! हम तुम्हारे स्वभावको बालकपनसे जानते हैं तुम ब्राह्मण गुरु और बन्धुओंको समानही जानती हो तथा सेवक सम्बन्धी और मित्रमें भी सदासे तुम्हारी समान प्रीति है, तुम मुझे और अपनी माताको जैसा मानती हो वैसाही सबको मानना होगा; रनवासमें और नगरमें तुमसे असन्तुष्ट कोई नहीं है । (१७-२१)

हे सुन्दरी ! तुम्हारी सेवकोंमें भी समान प्रीति है, मैं तुमको आज्ञा देकर कहता हूं कि, हे बाले ! हे पृथे ! तुम उत्तम वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुई हो, और शूरसेनकी पुत्री हो, मैं तुमसे बहुत प्रेम भी करता हूं तुम्हारे पिताने प्रसन्न होकर तुम्हे मुझे दे दी थी तुम वसुदेवकी बहिन हो, और मेरी सब पुत्रियोंमें श्रेष्ठ हो, मैंने तुम्हारे पितासे पहिले ऐसीही प्रतिज्ञा की थी, इससे तुम मेरी पुत्री हो । (२२-२४)

तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न और पालित हुई हो, एक ह्रदसे अन्य ह्रदमें जानेके समान एक सुखसे निकलकर अन्य

दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित्प्रग्रहं गताः ।
बालभावाद्विकुर्वंति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥ २६ ॥
पृथे राजकुले जन्म रूपं चापि तवाऽद्भुतम् ।
तेन तेनाऽसि संपन्ना समुपेता च भाविनी ॥ २७ ॥
सा त्वं दर्पं परित्यज्य दंभं मानं च भाविनि ।
आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥
एवं प्राप्स्यासि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।
कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम्॥२९॥ ११४४०

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथोपदेशे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

कुन्त्युवाच — ब्राह्मणं यंत्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेंद्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥
एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्च परमं मम ॥ २ ॥
यद्येवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान्न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥

सुखहीमें रही हो, हे सुन्दरी! प्रायः स्त्री लोग बाला भावसे दुष्टता कर बैठती हैं, परन्तु वे दुष्ट कुलमें उत्पन्न हुई और बन्धन रहित होती हैं, हे पृथे! तुम राजकुलमें उत्पन्न हुई हो और रूपभी तुम्हारा अद्भुत है, इससे तुम्हारे समान और कोई स्त्री चतुर नहीं है, इसलिये तुम अभिमान नहीं करो और छलको छोडकर वरदान देनेवाले ब्राह्मणकी सेवा करो, हे कल्याणी! ऐसा करनेसे निश्चय तुम्हारा कल्याण होगा, यदि ब्राह्मण क्रुद्ध होगा तो वह मेरे सब वंशको भस्म कर देगा। (२५-२९) [११४४०]

वनपर्वमें तीन सौ तीन अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तीनसौ चार अध्याय।

कुन्ती बोली हे राजन्! मैं सावधान होकर ब्राह्मणकी सेवा करूंगी आपकी प्रतिज्ञाको कभी झूंठी नहीं करूंगी, हे राजेन्द्र! मैं सत्य कहती हूं कि ब्राह्मणोंकी पूजा करना मेरा स्वभावही है तिसमें भी आपका प्रिय कार्य करनेसेही मेरा कल्याण होगा। चाहे ब्राह्मण दिनमें आवे चाहे रात्रिमें आवे चाहे संध्यामें आवे अथवा ओ आधी रात्रिहीको क्यों न आवें परन्तु मैं ऐसी सेवा करूंगी कि उन्हें कभी क्रोध न होगा, हे राजेन्द्र!

लाभो ममैष राजेंद्र यद्वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठंती हितं कुर्यां नरोत्तम ॥ ४ ॥
विस्रब्धो भव राजेंद्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन्प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥
यत्प्रियं च द्विजस्याऽस्य हितं चैव तवाऽनघ ।
यतिष्यामि तथा राजन्व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥६ ॥
ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥
साऽहमेतद्विजानंती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन्प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥८॥
अपराधेऽपि राजेंद्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवंति च्यवनो यद्वत्सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥
नियमेन परेणाऽहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम् ।
यथा त्वया नरेंद्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ॥ १० ॥
एवं ब्रुवंतीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च ।
इति चेति च कर्तव्यं राजा सर्वमथाऽऽदिशत् ॥ ११॥

मुझको ब्राह्मणकी सेवा करनेसे बहुत लाभ होगा, हे नरोत्तम! आपकी आज्ञामें रहनेसे मेरा बहुत हित होगा। (१--४)

हे राजेन्द्र ! आप सावधान हूजिये, मैं विना अपराधके ब्राह्मणकी सेवा करूंगी, मैं सत्य कहती हूं कि हमारे घरमें रहनेसे ब्राह्मणको कुछ दुःख नहीं होगा। हे पापरहित ! जिससे ब्राह्मण प्रसन्न हो और जिसमें आपका लाभ हो, मैं वैसाही यत्न करूंगी आप अपने मनके दुःखको दूर कीजिये, हे पृथ्वीनाथ ! महाभाग ब्राह्मण लोग पूजा करनेसे तार सकते हैं और क्रोध करके नाश कर सकते हैं, मैं इन सब बातोंको विचार कर ब्राह्मण श्रेष्ठ तपस्वीकी सेवा करूंगी, आपको मेरे कारणसे कुछ दुःख नहीं होगा। (५-८)

हे राजेन्द्र ! दूसरोंके अपराधसे भी ब्राह्मण लोग राजाका नाश कर देते हैं, जैसे च्यवन मुनिने सुकन्याके अपराधसे राजा शर्यातीको शाप दिया था, मैं परम यत्न करके नियम पूर्वक ब्राह्मणकी सेवा करूंगी, हे नरेन्द्र ! जैसे तुमने ब्राह्मणोंसे कहा यह सब काम वैसाही होगा। कुन्तीके इस प्रकारके वचन सुन, राजाने उसको अपने हृदयमें लगाया, और उसको सब कार्य समझा दिया। (९—११)

राजोवाच- एवमेतत्त्वया भद्रे कर्तव्यमविशंकया ।
मद्धितार्थं तथाऽऽत्मार्थं कुलार्थं चाऽप्यनिंदिते ॥ १२ ॥
एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुंतिभोजो महायशाः ।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ॥ १३ ॥
इयं ब्रह्मन्मम सुता बाला सुखविवर्धिता ।
अपराध्येत यत्किंचिन्न कार्यं हृदि तत्त्वया ॥ १४ ॥
द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु ।
भवंत्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ॥ १५ ॥
सुमहत्यपराधेऽपि क्षांतिः कार्या द्विजातिभिः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १६ ॥
तथेति ब्राह्मणेनोक्ते स राजा प्रीतमानसः ।
हंसचंद्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ॥ १७ ॥
तत्राऽग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत् ।
आहारादि च सर्वं तत्तथैव प्रत्यवेदयत् ॥ १८ ॥
निक्षिप्य राजपुत्री तु तंद्रीं मानं तथैव च ।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याऽभिराधने ॥ १९ ॥

राजा बोले, हे भद्रे ! तुम इन सब कार्योंको शङ्का रहित होकर करना, हे अनिन्दिते ! इसमें तुम्हारा मेरा और कुलका कल्याण होगा, महा यशस्वी राजा कुन्तिभोजने यह कह कन्या ब्राह्मणको दे दी, फिर ब्राह्मणभक्त राजाने ब्राह्मणसे कहा, हे ब्राह्मण ! यह मेरी कन्या जन्मसे सुखमें रही है, और अभी अवस्था बहुत कम है, यदि आपका कोई अपराध करे तो क्षमा कीजियेगा, महाभाग ब्राह्मण लोग बूढे बालक और तपस्वियोंपर अपराध करनेसे भी क्रोध नहीं किया करते। हे द्विजोत्तम ! ब्राह्मणोंको चाहिये कि चाहे कोई कैसाही अपराध करे उस पर शान्ति रक्खे और उत्साह तथा शक्तिके अनुसार पूजा ग्रहण करैं। (१२—१६)

जब ब्राह्मणने कहा बहुत अच्छा, तब राजाने प्रसन्न होकर हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान युक्त घर ब्राह्मणको दिया, उस स्थानमें अग्निशालामें उज्वल आसन और आहारादिकी सब वस्तु रक्खी हुई थी, राजपुत्रीने आलस और अभिमानको छोडकर ब्राह्मणकी बडे यत्नके साथ सेवा करनी आरंभ की, कुन्तीने बहुत शुद्ध होकर

तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती ।
विधिवत्परिचाराहं देववत्पर्यतोषयत् ॥ २० ॥ [११४६०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

वैशम्पायन उवाच- सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥
प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद्द्विजसत्तमः
तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः ॥ २ ॥
तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः ।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा ॥ ३ ॥
अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा ।
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते ॥ ४ ॥
निर्भर्त्सनाऽपवादैश्च तथैवाऽप्रियया गिरा ।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन्न चकाराऽप्रियं तदा ॥ ५ ॥
व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः ।
सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥
कृतमेव च तत्सर्वं यथा तस्मै न्यवेदयत् ।
शिष्यवत्पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता ॥ ७ ॥

देवताके समान विधि पूर्वक ब्राह्मणकी सेवा करी । (१७-२०) [११४६०]

वनपर्वमें तीन सौ चार अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें तीन सौ पांच अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! उस व्रत करनेवाले ब्राह्मणको उस कन्याने शुद्ध मनसे सेवा करके प्रसन्न किया, वह ब्राह्मण कभी यह कहके कि मैं प्रातःकालही आऊंगा, कहके सन्ध्याको वा रात्रीको आता था, परन्तु सब समयमें खाने वा पीने योग्य भोजन वह कन्या तय्यार रखती थी, अन्नादिक तथा शय्या और आसन आदिसे सेवा करनेमें उस कन्याकी श्रद्धा प्रतिदिन बढती जाती थी, कम नहीं होती थी । (१—४)

ब्राह्मणके अप्रिय वचन तथा घुडकी सहकरभी कुन्तीने कभी ब्राह्मणका अनादर न किया, कभी वह ब्राह्मण समयमें आता था और कभी समय पर भी नहीं आता था, और बहुत दुर्लभ भोजन मांगता था, जो वह मांगता था, वह सब बना हुआ, पाता था, कुन्तीने

यथोपजोषं राजेंद्र द्विजातिप्रवरस्य सा ।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिंदिता ॥ ८ ॥
तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः ।
अवधानेन भूयोऽस्याः परं यत्नमथाऽकरोत् ॥ ९ ॥
तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत ।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ॥ १० ॥
तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी ।
ततः प्रीतिमवापाऽग्र्यां कुंतीभोजो महामनाः ॥११॥
ततः संवत्सरे पूर्णे यदाऽसौ जपतां वरः ।
नाऽपश्यद् दुष्कृतं किंचित्पृथायाः सौहृदे रतः ॥१२॥
ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे ॥ १३ ॥
वरान्वृणीष्व कल्याणि दुरापान्मानुषैरिह ।
यैस्त्वं सीमंतिनीः सर्वा यशसाऽभिभविष्यसि ॥१४॥
कुंत्युवाच — कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम ।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम ॥ १५ ॥

उसकी शिष्यके समान पुत्रके तुल्य अथवा भगिनीके समान सेवा करी, हे राजेन्द्र ! मनकी इच्छाके अनुसार ब्राह्मणको निन्दारहित कुन्तीने प्रसन्न किया। (५–८)

वह ब्राह्मण उत्तम कुन्तीके शील और व्रतसे प्रसन्न हुआ, और बडे यत्न से उसके कल्याणकी चिन्ता करने लगा, कुन्तीका पिता सन्ध्या समय प्रातःकाल बूझता था कि हे पुत्री ! तुम्हारी सेवासे ब्राह्मण प्रसन्न है या नहीं ? यशोवती कुन्ती अपने पिता राजा कुन्तिभोजसे यही कह देती थी कि ब्राह्मण बहुत प्रसन्न है। (९—११)

तब राजा कुन्तीभोजभी बहुत प्रसन्न होते थे, इस प्रकारसे जब एक वर्ष पूरा होगया, और उस ब्राह्मणने कुन्तीका कोई दोष न देखा तब कुन्तीके कल्याण चाहनेवाले ब्राह्मणने कहा, हे कल्याणी मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं, जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो वह बहुत कठिनभी होगा, तो भी दूंगा जिससे तुम्हारा जगतमें यश हो। (१२—१४)

कुन्ती बोली, हे वेदके जाननेवालों- में श्रेष्ठ! जो तुम और मेरे पिता प्रसन्न हुए, तो मेरे सब कार्य सिद्ध हुए, । १५

ब्राह्मण उवाच —यदि नेच्छसि भत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते।
इमं मंत्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥
यं यं देवं त्वमेतेन मंत्रेणाऽऽवाहयिष्यसि।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥ १७ ॥
अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे।
विबुधो मंत्रसंशांतो भवेद्भृत्य इवाऽऽनतः ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच-न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिंदिता।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥
ततस्तामनवद्यांगीं ग्राहयामास स द्विजः।
मंत्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥
तं प्रदाय तु राजेंद्र कुंतिभोजमुवाच ह।
उषितोऽस्मि सुखं राजन्कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥
तव गेहेषु विहितः सदा सुप्रतिपूजितः।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वांऽतरधीयत ॥ २२ ॥
स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवांऽतर्हितं तदा।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ॥ २३ ॥ ११४८३

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाया मन्त्रप्राप्तौ पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३०५ ॥

ब्राह्मण बोला कि हे सुहासिनि! जो तुम मुझसे वर नहीं मांगती हो तो देवतोंके बुलानेके वास्ते यह मन्त्र देता हूं, इसे ग्रहण करो इस मन्त्रसे तुम जिस जिस देवताको बुलाओगी वही तुम्हारे वशमें हो जायगा, कामना सहित या कामना रहित जिस देवताको बुलाओगी वही इस मन्त्रके प्रतापसे तुम्हारा सेवकसा हो जायगा। (१६-१८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ब्राह्मणके शापके भयसे दूसरी बार कुन्ती उनके वचनका उत्तर न दे सकी, तब उस ब्राह्मणने उत्तम अङ्गवाली कुन्तीको अथर्ववेदमें लिखा हुआ, मन्त्र उपदेश किया, कुन्तीको मन्त्र उपदेश करके राजा कुन्तिभोजसे ब्राह्मणने कहा मैं तुम्हारी कन्याकी सेवासे बहुत सुखी रहा, तुम्हारे घरमें सुखी रहा, इसी कारणसे तुम्हारे घरमें कल्याण होगा, कहकर वह ब्राह्मण वहीं अन्तर्द्धान होगया। राजा कुन्तीभोज उसको अंतर्द्धान हुआ देखके बहुत आश्चर्य करने लगे, और कुन्तीकी पूजा करी। (१९-२३) [११४८३]

वनपर्वमें तीन सौ पांच अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच– गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित्कारणांतरे।
चिंतयामास सा कन्या मंत्रग्रामबलाबलम् ॥ १ ॥
अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना।
मंत्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नाऽतिचिरादिति ॥ २ ॥
एवं संचिंतयंती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया।
व्रीडिता साऽभवद्बाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥
ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता।
प्राच्यां दिशि समुद्यंतं ददर्शाऽऽदित्यमंडलम् ॥ ४ ॥
तत्र बद्धमनोदृष्टिरभवत्सा सुमध्यमा।
न चाऽतप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ५ ॥
तस्या दृष्टिरभूद्दिव्या साऽपश्यद्दिव्यदर्शनम्।
आमुक्तकवचं देवं कुंडलाभ्यां विभूषितम् ॥ ६ ॥
तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मंत्रं प्रति नराधिप।
आह्वानमकरोत्साऽथ तस्य देवस्य भाविनी ॥ ७ ॥
प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम्।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ८ ॥
मधुपिंगो महाबाहुः कंबुग्रीवो हसन्निव।

वनपर्वमें तीन सौ छः अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब वह ब्राह्मण चला गया, तब कुन्तीने उस दिये हुए मन्त्रके बलाबलका विचार किया, उस महात्माने मुझे यह मन्त्र कैसा दिया है, इसके बलको शीघ्रही विचारना चाहिये; इस प्रकारसे जब कुन्ती चिन्ता कर रही थी, उसी समय उसको अचानक रजस्वलापन जान पडा, उसे देखके कुन्ती बहुत लज्जित हुई, तब महलपर उत्तम शय्याके ऊपर बैठी हुई कुन्तीने पूर्व दिशमें निकलते हुए, सूर्यको देखा, कुन्तीने मन और दृष्टि सूर्यमण्डलमें लगा दी सूर्यके रूपसे कुन्तीको कुछभी क्लेश न हुआ। (१-५)

कुन्तीकी दृष्टि दिव्य होगई तब उसने कुण्डल और कवचके सहित सूर्यदेवको प्रत्यक्ष रूपसे देखा, उसका पहिलेहीसे उस मन्त्रके बलको देखनेका विचार था, तब उसने सूर्यकाही आह्वान किया, कुन्ती प्रणाम करके सूर्यके नामकी आहुती दीं, तब बहुत शीघ्रताके साथ सूर्य वहां आगये; पिङ्गल वर्ण, शंखके समान कण्ठवाले महाबाहु आभूषण पहिन

अंगदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ९ ॥
योगात्कृत्वा द्विधाऽऽत्मानमाजगाम तताप च ।
आबभाषे ततः कुंतीं साम्ना परमवल्गुना ॥ १० ॥
आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मंत्रबलात्कृतः ।
किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ॥ ११ ॥
कुन्त्युवाच —गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवाऽऽगतो ह्यसि ।
कौतूहलात्समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ १२ ॥
सूर्य उवाच — गमिष्येऽहं यथा मा त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे ।
न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥ १३ ॥
तवाभिसंधिः सुभगे सूर्यात्पुत्रो भवेदिति ।
वीर्येणाऽप्रतिमो लोके कवची कुंडलीति च ॥ १४ ॥
सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि ।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमंगने ॥ १५ ॥
अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वया संगम्य सुस्मिते ।
यदि त्वं वचनं नाऽद्य करिष्यसि मम प्रियम् ॥ १६ ॥
शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते ।
त्वत्कृते तान्प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ॥ १७ ॥

अपने तेजसे दिशाओं का प्रकाश करते हुए योगसे अपने दो स्वरूप बनाके सूर्य देव कुन्तीके पास आये, और कुन्तीसे शान्ति पूर्वक ऐसे वचन बोले । ९-१०

सूर्य बोले, हे कल्याणी ! मैं मन्त्रके प्रतापसे तुम्हारे वशमें होगया हूं, कहो मैं तुम्हारा क्या काम करूं, कुन्ती बोली, हे भगवन् ! आप जहांसे आए हैं आप वहींको चले जाइये मैंने क्रीडा खेलसे तुमको बुला लिये था। हे भगवन्! आप मुझपर कृपा कीजिये । (११-१२)

सूर्य बोले; हे कृशकमरवाली ! जैसा तुम कहती हो, मैं वैसेही चला जाऊंगा, किन्तु देवताको बुलाके वृथा भेजना अच्छा नहीं, हे कल्याणि! सूर्यके वीर्यसे कवच कुण्डल धारण किये, अनुपम तुम्हारे पुत्र हो, हे हाथीके समान चालवाली ! तुम मुझे यह आत्मदान दो जिससे तुम्हारी इच्छाके अनुसार पुत्र उत्पन्न हो । (१३—१५)

हे कल्याणी ! मैं फिर चला जाऊंगा, यदि तुम मेरे वचनको न करोगी तो मैं ब्राह्मणको और तुम्हारे पिताको शाप दूंगा, और तुम्हारे वास्ते उन सबको

पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवाऽनयम्।
तस्य च ब्राह्मणस्याऽद्य योऽसौ मंत्रमदात्तव ॥ १८ ॥
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम्।
एते हि विबुधाः सर्वे पुरंदरमुखा दिवि ॥ १९ ॥
त्वया प्रलब्धं पश्यंति स्मयंत इव भाविनि ।
पश्य चैनान्सुरगणान्दिव्यं चक्षुरिदं हि ते।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ २० ॥

वैशंपायन उवाच-ततोऽपश्यत्त्रिदशान्राजपुत्री सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान्।
प्रभावंतं भानुमंतं महांतं यथाऽऽदित्यं रोचमानांस्तथैव ॥ २१ ॥
सा तान्दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं कन्याभावाद् दुःख एवाऽपचारः २२॥
पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये देहस्याऽस्य प्रभवंति प्रदाने।
नाऽहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ॥ २३ ॥
मया मंत्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो।
बाल्याद्बालेति तत्कृत्वा क्षंतुमर्हसि मे विभो ॥ २४॥

सूर्य उवाच - बालेति कृत्वाऽनुनयं तवाऽहं ददानि नान्याऽनुनयं लभेत।

भस्म कर दूंगा ! तेरे मूर्ख पिता कोभी भस्म कर दूंगा, मैं तेरे अन्यायको नहीं जानता था, तेरे स्वभावको विना जाने मैं यहां आगया, ये इन्द्रादिक देवता सब मुझे लज्जित करेंगे, तुझसे ठगा हुआ मुझे देखेंगे। हे भामिनी ! तुम इन्द्रादिक देवतोंको अन्तरिक्षमें देखो, मैंने दिव्यदृष्टि तुमको प्रथम दी थी जिससे तुमने मुझे देखा था। (१६-२०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तब कुन्ती ने विमानोंमें बैठे हुए, सूर्यके समान प्रकाशयुक्त देवतोंको देखा उनको देखके कुन्ती लज्जित हुई और सूर्यसे ऐसे वचन बोली, हे गोपते! आप अपने विमानमें चले जाइये मैंने बालकभावसे आपका यह अपराध किया है माता पिता तथा और बडे लोग इस शरीरको दान करनेमें समर्थ होते हैं, मैं धर्मको नाश नहीं कर सकती हूं, स्त्रियोंका परम धर्म अपनी देहकी रक्षा करना है, हे सूर्य ! मैंने मन्त्रका बल जाननेके लिये आपको बुलाया था, सोभी बालक भावसे आप मुझे बालिका जान कर क्षमा कीजिये। (२१—२४)

सूर्य बोले, कि जो मैं बालिका समझके तुम्हारे अपराधको क्षमाकर दें तो

आत्मप्रदानं कुरु कुंति कन्ये शांतिस्तवैवं हि भवेच्च भीरु॥ २५ ॥
न चापि गंतुं युक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै ।
असमेत्य त्वया भीरु मंत्राहूतेन भाविनि ॥ २६ ॥
गमिष्याम्यनवद्यांगि लोके समवहास्यताम् ।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे ॥२७॥
सा त्वं मया समागच्छ पुत्रं लप्स्यसि मादृशम् ।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः ॥ २८ ॥[११५११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवंती मधुरं वचः ।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ॥ १ ॥
न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम्।
भीता शापात्ततो राजन्दध्यौ दीर्घमथांऽतरम् ॥ २ ॥
अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च ।
मन्निमित्तः कथं न स्यात्क्रुद्धादस्माद्विभावसोः ॥ ३ ॥
बालेनापि सता मोहाद् भृशं पापकृतान्यपि ।
नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ ४ ॥
साऽहमद्य भृशं भीता गृहीत्वा च करे भृशम् ।

और लोगभी ऐसाही अपराध करेंगे, तुम आपका मुझे दान करो इससे तुमको शान्ति प्राप्त होगी, मुझको वृथा जाना उचित नहीं है, मैं अपने लोकमें जाके सब देवतोंसे हंसने योग्य हूंगा, इस लिये तुम मुझसे सङ्गम करो, ऐसा करनेसे तुम्हारे मेरेही समान पुत्र उत्पन्न होगा और सब लोकमें तुम्हारी कीर्ति होगी । (२५—२८) [११५११]

वनपर्वमें तीनसौ छः अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तीनसौ सात अध्याय ।

वैशम्पायन मुनि बोले, कि वह कन्या अनेक भांतिके मीठे वचन कह करके भी सूर्यको निवारण न कर सकी, जब अन्धकारको निवारण करनेवाले सूर्यको निवारण न कर सकी तब सूर्यके शापसे डरी कुन्तीने विचारा कि ये विना अपराध किये मेरे पिताको तथा दुर्वासा ब्राह्मणको क्रोध करके शाप देंगे, बालकपनमेंभी जो मोहसे पाप किया जाता है, वहभी यशस्वियोंके द्वारा फलको देता है, मैं अब भयसे

कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिंतयती हृदा ।
मोहेनाऽभिपरीतांगी स्मयमाना पुनः पुनः ॥ ६ ॥
तं देवमब्रवीद्भीता बंधूनां राजसत्तम ।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशांपते ॥ ७ ॥

कुन्त्युवाच— पिता मे ध्रियते देव माता चाऽन्ये च बांधवाः ।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ॥ ८ ॥
त्वया तु संगमो देव यदि स्याद्विधिवर्जितः ।
मन्निमित्तं कुलस्याऽस्य लोके कीर्तिर्नशेत्ततः ॥ ९ ॥
अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर ।
ऋते प्रदानाद्बंधुभ्यस्तव कामं करोम्यहम् ॥ १० ॥
आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम् ।
त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम् ॥ ११ ॥

सूर्य उवाच —न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते ।
प्रभवंति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ॥ १२ ॥
सर्वान्कामयते यस्मात्कमेर्धातोश्च भामिनि ।
तस्मात्कन्येह सुश्रोणि स्वतंत्रा वरवर्णिनि ॥ १३ ॥

व्याकुल हुई सूर्यको किस प्रकारसे आत्मदान करूं । (१–५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! वह कन्या भयसे व्याकुल मोहसे भरी लज्जित होके बारबार विचारने लगी, हे पृथ्वीपाल! कुन्ती सूर्यके भयसे व्याकुल सखियोंसे लज्जित शापसे डरकर सूर्यसे ऐसे वचन बोली । (६–७)

कुन्ती बोली, हे देव! मेरे पिता माता और बन्धु बान्धव लोग जीते हैं, उनके जीते हुए मैं धर्मको नाश नहीं कर सकती, यदि वेद विधिको छोडकर मैं तुमसे संगम करूं तो मेरे पिताकी कीर्त्ति नाश हो जायगी, अथवा यदि तुम इसको धर्म मानते हो तो विना बांधवों के दिये मैं तुमसे सङ्गम करूंगी । हे उल्लंघन करनेके अयोग्य देव ! आत्मप्रदानसेभी मेरा सतीत्व रहना चाहिये । प्राणियोंका धर्म यश और आयु तुमसेही स्थिर है । (८–११)

सूर्य बोले, हे मन्द हंसनेवाली ! तुम्हारे माता पिता और गुरु लोग तुम्हारे स्वामी नहीं हैं, कन्या सब कामोंमें स्वतन्त्र रहती है इसीसे वह कन्या

नाऽधर्मश्चरितः कश्चित्त्वया भवति भाविनि ।
अधर्मं कुत एवाऽहं चरेयं लोककाम्यया ॥ १४ ॥
अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि ।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ॥ १५॥
सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ॥ १६ ॥

कुंत्युवाच —यदि पुत्रो मम भवेत्त्वत्तः सर्वतमोनुद ।
कुंडली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ॥ १७ ॥

सूर्य उवाच —भविष्यति महाबाहुः कुंडली दिव्यवर्मभृत् ।
उभयं चाऽमृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति ॥ १८ ॥

कुंत्युवाच —यद्येतदमृतादस्ति कुंडले वर्म चोत्तमम् ।
मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि ॥ १९ ॥
अस्तु मे संगमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया ।
त्वद्वीर्यरूपसत्वौजा धर्मयुक्तो भवेत्स च ॥ २० ॥

सूर्य उवाच —अदित्या कुंडले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥

कुंत्युवाच —परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह ।

कहलाती है, हे उत्तम वर्णवाली ! जो तुम काम करोगी वह अधर्म नहीं होगा, जिसे मैं कहता हूं वह अधर्म क्योंकर हो सकता है ? हे उत्तमवर्णवाली ! स्त्री और पुरुष बन्धन रहित हैं, अन्य प्रतिबंधही विकार कहाता है, इस वास्ते तुम मुझसे संगम करके फिर कन्या हो जाओगी, तुम्हारा पुत्र बडा बलवान और कीर्त्तिवान हो । (१२–१६)

कुन्ती बोली, हे अन्धकारके दूर करनेवाले ! यदि तुमसे कुण्डल कवच धारण किये पुत्र हो तो मैं प्रसन्न हूं ।(१७)

सूर्य बोले, हे कल्याणी ! तुम्हारा पुत्र बडा बलवान और कुण्डल कवच धारण किये होगा । (१८)

कुन्ती बोली, यदि मेरा पुत्र गर्भसे कुण्डल कवच पहिने हो तो जैसा आप कहते हैं, वैसेही मेरे साथ सङ्गम कीजिये, परन्तु मेरा पुत्र रूप तेजमें आपके समान तथा धर्मात्मा हो । (१९–२०)

सूर्य बोले, अदितीने मुझे प्रकाशयुक्त कुण्डल दिये थे,वे मैं तुम्हारे पुत्रको दूंगा, और यह उत्तम कवच भी दूंगा । (२१)

कुन्ती बोली, हे भगवन् ! यदि

यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथेत्युक्त्वा तु तां कुंतीमाविवेश विहंगमः ।

स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥२३॥

ततः सा विह्वलेवाऽऽसीत्कन्या सूर्यस्य तेजसा ।

पपात चाऽथ सा देवी शयने मूढचेतना ॥ २४ ॥

सूर्य उवाच— साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।

सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाऽब्रवीत् ।

एवमस्त्विति राजेंद्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥

इति स्मोक्ता कुंतिराजात्मजा सा विवस्वंतं याचमाना सलज्जा ।

तस्मिन्पुण्ये शयनीये पपात मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥२७॥

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा योगेनाऽऽविश्याऽऽत्मसंस्थां चकार ।

न चैवैनां दूषयामास भानुः संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला॥२८॥[११५३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

वैशम्पायन उवाच —ततो गर्भः समभवत्पृथायाः पृथिवीपते ।

आपके कहनेके अनुसार मेरे पुत्र हो, तो मैं तुमसे सङ्गम करूं । (२२)

वैशम्पायन मुनि बोले, ऐसे कहके राहुके शत्रु आकाशचारी सूर्य कुन्तीके पास गये, और उसकी नाभीको स्पर्श किया, तब वह कन्या सूर्यके तेजसे विकल होगई और मूर्च्छित होकर शय्या-पर गिर पडी । (२३—२४)

सूर्य बोले, हे सुन्दरी ! हम तुमको प्रसन्न करेंगे, तुम्हारे गर्भमें सब शस्त्र-धारियोंमें श्रेष्ठ पुत्र होगा, और तुम फिर कन्या होजाओगी । (२५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजेन्द्र! जब कुन्तीने देखा कि महातेजस्वी सूर्य मुझसे सङ्गम करनेको उपस्थित है, तब लज्जासे उनके वचनको स्वीकार किया, फिर लज्जासे व्याकुल होकर टूटी हुई लताके समान मूर्च्छित होकर शय्यापर गिर गई तब सूर्यने अपने तेजसे उसको पूरित कर दिया, और अपनी आत्माको उसके शरीरमें प्रवेश किया, परन्तु उसका कन्या भाव नष्ट नहीं किया, तब कुन्तीको फिर संज्ञा प्राप्त हुई । (२६—२८)

वनपर्वमें तीन सौ सात अध्याय समाप्त।[११५३९]

वनपर्वमें तीनसौ आठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्!

शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवांऽबरे ॥ १ ॥
सा बांधवभयाद्बाला गर्भं तं विनिगूहती ।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ॥ २ ॥
न हि तां वेद नार्यन्या काचिद्धात्रेयिकामृते ।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥
ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी ।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥
तथैवाऽबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुंडलम् ।
हर्यक्षं वृषभस्कंधं यथाऽस्य पितरं तथा ॥ ५ ॥
जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या संमन्त्र्य भाविनी ।
मंजूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समंततः ॥ ६ ॥
मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा ।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ॥ ७ ॥
जानती चाऽप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।
पुत्रस्नेहेन सा राजन्करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥
समुत्सृजंती मंजूषामश्वनद्यां तदा जले ।

जनमेजय ! उसी दिन कुन्तीको गर्भ रह गया, तब वह गर्भ शुक्लपक्षके चन्द्रमा समान बढने लगा, कुन्ती अपने बान्धवोंके भयसे गर्भको छिपाने लगी, इससे किसीने नहीं जाना कि सुन्दरी कुन्तीको गर्भ है, धात्रीके सिवाय और कोई स्त्री उसके गर्भको नहीं जान सकी। (१—३)

वह अपने घरमें रहकर गर्भकी रक्षा करती रही, अनन्तर उत्तम वर्णवाली कुन्तीके गर्भसे देवताके समान पुत्र उत्पन्न हुआ और कुन्ती सूर्यकी कृपासे फिर कन्या होगई। वह बालक कवच और सोनेके समान प्रकाशमान सुन्दर कुण्डल धारण किये उत्पन्न हुआ, उसके नेत्र सिंहके समान और कन्धे बैलके कन्धेके समान ऊंचे थे। उस बालकके उत्पन्न होतेही कुन्तीने अपनी धात्रीके सङ्ग सम्मति करके उस लडकेको एक मोमसे लिपी हुई सुन्दर विस्तृत कोमल सोनेके योग्य कंडीमें लिटाकर अश्व नदीमें बहा दिया (३—७)

कुन्ती जानती थी कि कन्याका गर्भको धारण करना कर्तव्य नहीं है, तौ भी पुत्रके प्रेमसे रोने लगी। पुत्रको नदीमें बहाते समय कुन्तीने रोकर जो

उवाच रुदती कुंती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥
स्वस्ति ते चांऽतरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ॥ १० ॥
शिवास्ते संतु पंथानो मा च ते परिपंथिनः ।
आगताश्च तथा पुत्र भवंत्वद्रोहचेतसः ॥ ११ ॥
पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः ।
अंतरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥ १२ ॥
पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः ।
येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥ १३ ॥
आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥
रक्षंतु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च ।
वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनाऽभिसूचितम् ॥ १५ ॥
धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः ।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥ १६ ॥
धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्रस्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥
को नु स्वप्नस्तथा दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।

कुछ वचन कहे सो सुनिये, हे पुत्र ! आकाश पृथ्वी स्वर्ग और जलमें रहने वाले प्राणी तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हारा मार्गमें कल्याण हो तुम्हे कोई शत्रु दुःख न दे, हे पुत्र ! जो तुम्हारा शत्रु तुम्हारे समीप आवै, वो भी तुम्हारा मित्र हो जाय जलमें जलके स्वामी वरुण और आकाश गामी पवन तुम्हारी रक्षा करें ।(८-१२)

जिन्होंने दिव्य विधिसे तुमको मुझे दिया था, वह सब तेजधारीयोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता सूर्य तुम्हारी रक्षा करें, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वदेव, मरुत, इन्द्र, दिशा, और दिग्पाल आदि सब देवता सुख और दुःखसे तुम्हारी रक्षा करें; मैं जब तुम्हे विदेशमें भी देखूंगी, तब इसही कवचसे पहिचान लूंगी, हे पुत्र ! तुम्हारे पिता सूर्यको धन्य है जो अपनी दिव्य दृष्टिसे तुम्हे नदीमें बहता हुआ देखेंगे । (३-१-१६)

हे देवपुत्र ! उस स्त्रीको धन्य है जो तुमको अपना पुत्त बनावैगी और प्यासमें जिसका तुम दूध पीयोगे, उस

दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुंडलभूषितम् ॥ १८ ॥
पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशांतं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥
धन्या द्रक्ष्यंति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुंठितम् ॥ २० ॥
धन्या द्रक्ष्यंति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् ।
हिमवद्वनसंभूतं सिंहं केसरिणं यथा ॥ २१ ॥
एवं बहुविधं राजन्विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजन्मंजूषामश्वनद्यां तदा जले ॥ २२ ॥
रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन्पुत्रदर्शनलालसा ॥ २३ ॥
विसर्जयित्वा मंजूषां संबोधनभयात्पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥
मंजूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम् ।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गंगां जगाम ह ॥ २५ ॥
गंगायाः सूतविषयं चंपामनुययौ पुरीम् ।
स मंजूषागतो गर्भस्तरंगैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥

स्त्रीने कौन स्वप्न देखा होगा, जो सूर्यके समान तेजस्वी, दिव्य कवच कुण्डलधारी, पद्मके समान लाल वर्णवाले, सुन्दर केशवाले तुमको अपना पुत्र बनावेगी? उन स्त्रियोंको धन्य है जो तुमको पृथ्वीमें चलते हुए, तोतली बानी बोलते हुए और धूलमें लिपटे हुए, देखेंगी। हे पुत्र! उन पुरुषोंको धन्य है जो तुमको यौवन अवस्थामें हिमाचलके वनमें उत्पन्न हुए सिंहके समान बलवान देखेंगे। (१७–२१)

इस प्रकारसे बहुत रोकर कुन्तीने उस बालकको अश्व नदीके जलमें बहा दिया, फिर कमलनयनी कुन्ती उसही आधीरातके समय पुत्रके शोकसे व्याकुल रोती हुई, अपनी धात्रीके संग पिता के भयसे नगरको चली आई और शोकसे व्याकुल होकर राजभवनमें चली गई। (२२–२४)

वह कण्डी अश्व नदीमें बहती बहती चर्मण्वतीमें पहुंची, वहांसे जमुनामें और जमुनासे गंगामें बहती सूतकी राजधानी चम्पापुरीमें पहुंची, वह बालक गङ्गाकी तरंगोंसे कभी

अमृतादुत्थितं दिव्यं तनुवर्म सकुंडलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ॥२७॥[११५६६]

इति श्रीमहाभारते०आरण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागेऽष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

वैशंपायन उवाच –एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ॥ १ ॥
तस्य भार्याऽभवद्राजन्रूपेणाऽसदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविंदत ॥ २ ॥
अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ।
सा ददर्शाऽथ मंजूषामुह्यमानां यदृच्छया ॥ ३ ॥
दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालंभनशोभनाम् ।
उर्मीतरंगैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ४ ॥
सा तु कौतूहलात्प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याऽधिरथस्य वै ॥ ५ ॥
स तामुद्धृत्य मंजूषामुत्सार्य जलमंतिकात् ।
यंत्रैरुद्धाटयामास सोऽपश्यत्तत्र बालकम् ॥ ६ ॥
तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा ।

ऊंचा और कभी नीचा हो जाता था। इस अमृतसे उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलको धारण किये, वह बालक प्रारब्धमें जीता हुआ चम्पापुरीमें पहुंचा। (२२—२७) [११५६६]

वनपर्वमें तीन सौ आठ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तीन सौ नौ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय !उसही समय राजा धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ नामक सूत अपनी स्त्रीके सहित गङ्गास्नान करने गया था अधिरथकी सुन्दरी स्त्रीका नाम राधा था, उसके समान सुन्दरी पृथ्वीमें कोई नहीं थी परन्तु उसको पुत्र नहीं था, वह सदा पुत्रके लिये अनेक यत्न किया करती थी, उसने नदीमें बहती हुई कंडी को देखा, इतनेहीमें वह घाससे ढकी हुई हाथसे पकडने योग्य सुन्दर कण्डी गंगाकी तरङ्गोंसे बहती हुई, राधाके पास आगई, तब सुन्दरी राधाने उसे खेल जानकर पकड लिया, फिर अपने पति अधिरथसे कह दिया। (१–५)

अधिरथने अनेक यन्त्रोंसे उसके पासके जलको हटाकर उसे निकाल लिया, और उससे दो पहरके सूर्यके समान तेजस्वी कवच और कुण्डलधारी

मृष्टकुंडलयुक्तेन वदनेन विराजता ॥ ७ ॥
स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अंकमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनि ।
दृष्टवान्देवगर्भोऽयं मन्येऽस्माकमुपागतः ॥ ९ ॥
अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम ।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते ॥ १० ॥
प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद्दिव्यरूपिणम् ।
पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रिया वृतम् ॥ ११ ॥
पुपोष चैनं विधिवद्ववृधे स च वीर्यवान् ।
ततः प्रभृति चाऽप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः॥ १२ ॥
वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुंडलम् ।
नामाऽस्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः ॥ १३ ॥
एवं स सूतपुत्रत्वं जगामाऽमितविक्रमः ।
वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः ॥ १४ ॥
सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु श्रेष्ठः पुत्रः स वीर्यवान् ।
चारेण विदितश्चाऽऽसीत्पृथया दिव्यवर्मभृत् ॥ १५ ॥
सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समयेन तम् ।

सुन्दर मुखवाले एक बालकको देखा, तब अधिरथ अपनी स्त्रीके सहित बहुत आश्चर्य करने लगा, और उस बालकको गोदमें लेकर अपनी स्त्रीसे बोला, हे सुन्दरी! यह बडे आश्चर्यकी बात मैंने अपनी आयुमें देखी है कि यह देवपुत्र हमको प्राप्त हुआ, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि देवतोंने मुझे पुत्ररहित जानकर यह पुत्र दिया है, ऐसा कहकर उस पुत्रको अपनी स्त्रीको दे दिया। (६-१०)

राधाने उस दिव्यरूपी कमलके समान सुन्दर लक्ष्मीवान देवपुत्रको ग्रहण किया, और विधिपूर्वक पालने लगी, बलवान कर्णभी बडे होने लगे। इसके पश्चात् राधाके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए, ब्राह्मणोंने कर्णको सोनेका कवच और कुण्डल धारण किये हुए देखकर वसुषेण नाम रक्खा, इसरीतिसे कर्ण सूत पुत्र हुआ, महाबलवान कर्ण वृष और वसुषेण नामसे प्रसिद्ध हुए, कुन्तीनेभी दूतोंके मुखसे सुना कि वह दिव्य कवच धारी बलवान बालक सूतके घरमें पलता

दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १६ ॥
तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि।
सख्यं दुर्योधनेनैवमगमत्स च वीर्यवान् ॥ १७ ॥
द्रोणात्कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम् ।
लब्ध्वा लोकेऽभवत्ख्यातः परमेष्वासतां गतः ॥ १८ ॥
संधाय धार्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये रतः ।
योद्धुमाशंसते नित्यं फाल्गुनेन महात्मना ॥ १९ ॥
सदा हि तस्य स्पर्धाऽऽसीदर्जुनेन विशांपते।
अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो बभूव सः ॥ २० ॥
एतद् गुह्यं महाराज सूर्यस्याऽऽसीन्न संशयः।
यः सूर्यसंभवः कर्णः कुंत्यां सूतकुले तथा ॥ २१ ॥
तं तु कुंडलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम्।
अवध्यं समरे मत्वा पर्यतप्यद्युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
यदा च कर्णो राजेंद्र भानुमंतं दिवाकरम्।
स्तौति मध्यंदिने प्राप्ते प्रांजलिः सलिलोत्थितः ॥२३॥

है। (११-१५)

अधिरथ सूतने जब देखा कि मेरा पुत्र बडा होगया, तब उसे पढनेके लिये हस्तिनापुर भेज दिया, कर्ण वहां आकर द्रोणाचार्यके यहां रहने लगे, और उनसे धनुर्वेद पढने लगे। कुछ दिनके पश्चात् महा बलवान कर्ण और दुर्योधनसे मित्रता होगई, कर्णने द्रोणाचार्य कृपाचार्य और परशुरामसे चार प्रकारकी अस्त्र विद्या सीखी, अनन्तर लोकमें महा धनुषधारियोंमें गिने जाने लगे, फिर इन्होंने दुर्योधनसे मित्रता करके पाण्डवोंसे शत्रुता कर ली, ये सदा महात्मा अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते थे, और अर्जुनका डाह किया करते थे। हे पृथ्वीनाथ! इसही प्रकार अर्जुनभी इनसे सदा युद्ध करनेको उपस्थित रहते थे, क्योंकि उन्होंने उनका बल देख लिया था। (१६-२०)

हे महाराज! यही गुप्त बात थी जो कर्णसे सूर्यने कही थी। इस प्रकार कर्ण कुन्तीके गर्भमें सूर्यके वीर्यसे उत्पन्न हुए थे। कर्ण को दिव्य कवच कुण्डल धारण किये हुए देखकर राजा युधिष्ठिर सदा दुःखित होते थे. वे जानते थे कि कर्णको युद्धमें कोई नहीं मार सकता है, हे राजेन्द्र! जिस समय दिनके मध्यमें कर्ण स्नान करनेके पश्चात् हाथ जोडकर

तत्रैनमुपतिष्ठंति ब्राह्मणा धनहेतुना ।
नाऽदेयं तस्य तत्काले किंचिदस्ति द्विजातिषु ॥ २४ ॥
तमिंद्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः ।
स्वागतं चेति राधेयस्तमथ प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥ [११५९१]

इति श्रीमहाभारते० पर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि राधाकर्णप्राप्तौ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

वैशंपायन उवाच —देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृतम् ।
दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधाऽस्य मानसम् ॥ १ ॥
हिरण्यकंठीः प्रमदा ग्रामान्वा बहुगोकुलान् ।
किं ददानीति तं विप्रमुवाचाऽधिरथिस्ततः ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच —हिरण्यकंठ्यः प्रमदा यच्चाऽन्यत्प्रीतिवर्धनम् ।
नाऽहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ३ ॥
यदेतत्सहजं वर्म कुंडले च तवाऽनघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥
एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ॥ ५ ॥

सूर्यको प्रणाम करते थे, उसही समय धन मांगनेके लिये अनेक ब्राह्मण उनके समीप आते थे; जगत्में कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो उस समय कर्ण ब्राह्मणोंको न दें, एक दिन इन्द्र ब्राह्मणका वेष बनाकर कर्णके पास भिक्षा मांगनेको आये, कर्णने उनका बहुत सत्कार किया। (२१–२५) [११५९१]

वनपर्वमें तीनसौ नौ अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तीनसौ दस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! उस कपटवेषी ब्राह्मणको आया देखकर कर्णने उसका आदर किया, पर उसके मनको न समझा। अधिरथपुत्र कर्णने ब्राह्मणसे कहा कि मैं तुमको क्या दूं ? सुवर्ण अलङ्कार कण्ठमें भूषण पहिरे स्त्री, गांव अथवा बहुतसी गौ ? (१–२)

ब्राह्मण बोला, मैं सोनेके आभूषणवाली अथवा प्रीतिको बढानेवाली और वस्तुवोंको लेना नहीं चाहता हूं, यह किसी भिखारीको देना। यह जो तुम्हारे सङ्ग उत्पन्न हुआ कवच और कुण्डल हैं, उनको अपने शरीरसे उतार कर मुझे दो, हे पापरहित! यही मैं मांगता हूं। हे शत्रुनाशन! यही मेरा सब लाभसे उत्तम लाभ है, यही आप मुझे दीजिये। (३–५)

कर्ण उवाच — अवनिं प्रमदा गाश्च निवापं बहुवार्षिकम् ।
तत्ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुंडलम् ॥ ६ ॥
वैशंपायन उवाच—एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नाऽन्यं वरमयाचत ॥ ७ ॥
सांत्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
न चाऽन्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥
यदा नाऽन्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
तदैनमब्रवीद्भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥
सहजं वर्म मे विप्र कुंडले चाऽमृतोद्भवे ।
तेनाऽवध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् ॥१०॥
विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकंटकम् ।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुंगव ॥ ११ ॥
कुंडलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च ।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच–यदन्यं न वरं वव्रे भगवान्पाकशासनः ।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद्वचः ॥ १३ ॥

कर्ण बोले, हे ब्राह्मण ! मैं तुमको पृथ्वी, गौ और अनेक वर्षोंका भोजन दे सक्ता हूं किन्तु कवच और कुण्डल नहीं दूंगा । (६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् ! इस प्रकारसे उस ब्राह्मणसे कर्णने अनेक वाक्य कहे, पर उसने कोई दूसरा वर न मांगा । कर्णने अपनी शक्तिके अनुसार उस ब्राह्मणको शान्तभी किया और उनकी पूजा करी परन्तु उस ब्राह्मणने कोई दूसरा वर न मांगा । तब हंसकर राधापुत्र कर्णने ब्राह्मणसे कहा । (७—९)

हे ब्राह्मण । यह कवच और कुण्डल माताके गर्भसे ही मेरे सङ्ग उत्पन्न हुआ है, इससे मैं शत्रुवोंसे मारनेके अयोग्य हूं, इसही कारणसे मैं इसे नहीं उतार सकता हूं । हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! तुम मुझसे बहुतसा निष्कण्टक, पूर्ण पृथ्वीका राज्य कुशलतासे लो । हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! जब मैं अपने सङ्गमें उत्पन्न हुए कुण्डल और कवचसे हीन हो जाऊंगा तब शत्रु लोग मुझे मारडालेंगे। १०–१२

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् ! जब भगवान् इन्द्रने दूसरा वर न मांगा, तब कर्णने फिर हंसके ऐसे वचन

विदितो देवदेवेश प्रागेवाऽसि मम प्रभो ।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्यं वृथा वरम् ॥१४॥
त्वं हि देवेश्वरः साक्षात्त्वया देयो वरो मम ।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ॥ १५ ॥
यदि दास्यामि ते देव कुंडले कवचं तथा ।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्राऽवहास्यताम् ॥१६॥
तस्माद्विनिमयं कृत्वा कुंडले वर्म चोत्तमम् ।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ॥ १७ ॥
शक्र उवाच — विदितोऽहं रवेः पूर्वमायानेव तवांतिकम् ।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥
काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि ।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रगृणीष्व यथेच्छसि ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम् ।
अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे संपूर्णमानसः ॥ २० ॥
कर्ण उवाच— वर्मणा कुंडलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव ।
अमोघां शत्रुसंघानां घातिनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥

कहे । हे देवतोंके स्वामी ! मैं आपको पहिलेही जान गया था, परन्तु यह उचित नहीं है कि मैं आपको वृथा वर दूं । आप साक्षात् देवपति इन्द्र हैं, आपको चाहिये कि मुझे वर दें, आप सब प्राणियों के स्वामी हैं । हे देव ! यदि मैं आपको कुण्डल और कवच दे दूं तो मैं शत्रुवोंसे मारे योग्य होजाऊंगा, और आपकी जगत्में हंसी होगी । हे इन्द्र ! इस कारणसे आप एक प्रण करके मुझसे कवच और कुण्डल लीजिये । (१३—१७)

इन्द्र बोले, जब मैं तुम्हारे पासको आता था तबही सूर्यने मुझे जान लिया था, इसीसे तुमको मेरा हाल मालुम होगया । हे कर्ण ! जैसा तुम कहते हो, वैसाही हो मेरे वज्रको छोडके जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो । (१८–१९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तब कर्णने प्रसन्न चित्त होके इन्द्रसे कहा, और शत्रुओंको नाश करनेवाली तथा युद्धमें निवारण होनेके अयोग्य शक्ति मांगी।२०

कर्ण बोले, हे इन्द्र ! कुण्डल और कवचके बदलेमें सेनाके मध्यमें शत्रुवोंको नाश करनेवाली अव्यर्थ शक्ति दीजिये ।

ततः संचिंत्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः ।
शक्रस्त्वथं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाऽब्रवीत् ॥ २२ ॥
कुंडले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् ।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन च ॥ २३ ॥
अमोघा हंति शतशः शत्रून्मम करच्युता ।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान्विनिघ्नतः ॥ २४ ॥
सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम् ।
गर्जंतं प्रतपंतं च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच— एकमेवाऽहमिच्छामि रिपुं हंतुं महाहवे ।
गर्जंतं प्रतपंतं च यतो मम भयं भवेत् ॥ २६ ॥

इंद्र उवाच — एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जंतं बलिनं रणे ।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ॥ २७ ॥
यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमपराजितम् ।
नारायणमचिंत्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ २८ ॥

कर्ण उवाच – एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम ।
अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम्॥२९॥
उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुंडले कवचं च ते ।

इन्द्र थोडे समय तक विचार करके कर्ण से बोले, हे कर्ण ! तुम मुझे कुण्डल और कवच देकर मुझसे शक्ति ग्रहण करो, यही हमारा तुमसे प्रण है । यह शक्ति मेरे हाथसे छूटकर सैकडों दैत्यों-को नाश करके फिर मेरे हाथमें चली आती हैं। हे सूतपुत्र ! वही अमोघशक्ति तुम्हारे हाथसे छूटकर एक गर्जते और दौडते शत्रुको मारकर फिर मेरे पास चली आवेगी । (२१–२५)

कर्ण बोले,मैं युद्धमें गर्जते और दौडते एकही शत्रुको मारना चाहता हूं, जिस शत्रुसे मुझे भय है । (२६)

इन्द्र बोले, हे कर्ण ! बलवान् युद्धमें गर्जते हुए जिस एक शत्रुको मारना चाहते हो, उसकी महात्मा कृष्ण रक्षा करते हैं । वेदके जाननेवाले पण्डित लोग जिसे जीतनेके अयोग्य वराह और नारायण कहते हैं, वही कृष्ण तुम्हारे शत्रुकी रक्षा करते हैं । (२७–२८)

कर्ण बोले, हे भगवन् ! जैसा आप कहते हैं, वैसाही हो, एक प्रतापी वीर को मारनेके वास्ते आप मुझको अमोघ शक्ति दीजिये । मैं देहसे निकालकर

निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ॥ ३० ॥

इंद्र उवाच —न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथंचन ।

व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नाऽनृतमिच्छसि ॥ ३१ ॥

यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर ।

तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ॥ ३२ ॥

विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये ।

प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ॥ ३३ ॥

कर्ण उवाच— संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम् ।

यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशांपते ।

शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृंतत ॥ ३५ ॥

ततो देवा मानवा दानवाश्च निकृंतंतं कर्णमात्मानमेवम् ।

दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान्प्रणेदुर्न ह्यस्यासीन्मुखजो वै विकारः॥ ३६ ॥

ततो दिव्या दुंदुभयः प्रणेदुः पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम् ।

दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ॥ ३७ ॥

कवच और कुण्डल दूंगा परन्तु कवच निकालनेसे भी मेरा शरीर विरूप नहीं होना चाहिये । (२९--३०)

इन्द्र बोले, हे कर्ण ! तुमको कभी विरूपता किसी प्रकारसे भी न होगी और गात्रोंमें व्रण भी नहीं होगा, क्योंकि तुम झूठेकी इच्छा नहीं करते हो । हे कर्ण! जैसा तुम्हारे पिताका वर्ण और तेज है, वैसाही अबसे तुम्हाराभी तेज और वर्ण होगा । तुम्हारे पास और शस्त्र होने के समय यदि तुम इस अमोघ शक्तिको असावधान होकर चलाओगे तो यह शक्ति तुमकोही आकर लगेगी । (१३–३३)

कर्ण बोले, हे इन्द्र ! जब मुझे अपने प्राणोंका सङ्कट जान पडेगा तब मैं इस इन्द्रकी शक्तिको चलाऊंगा, जैसा आपने कहा है, वैसाही करूंगा । (३४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महीपाल ! तब कर्णने जलती हुई, शक्तिको लेकर तीक्ष्ण शस्त्रोंसे अपने सब अङ्गोंको काट डाला, अपने अगोंको काटते समय कर्णके मुखपर कुछभी विकार न आया, इस प्रकारसे कर्णको अपने अङ्गोंको काटते हुए, देखके देवता दानव और मनुष्योंने भयानक शब्द किया, उस समय आकाशमें दुन्दुभी बजने लगी, और फूलोंकी वर्षा होने लगी, कर्णको अपने अंग काटगर हंसते हुए देखकर

ततश्छित्वा कवचं दिव्यमंगात्तथैवाऽऽर्द्रं प्रददौ वासवाय ।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुंडले ते कर्णात्तस्मात्कर्मणा तेन कर्णः ॥ ३८ ॥
ततः शक्रः प्रहसन्वंचयित्वा कर्णं लोके यशसा योजयित्वा ।
कृतं कार्यं पांडवानां हि मेने ततः पश्चाद्दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवाऽऽसन् ।
तां चाऽवस्थां गमितं सूतपुत्रं श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ॥ ४० ॥
जनमेजय उवाच– क्वस्था वीराः पांडवास्ते बभूवुः कुतश्चैते श्रुतवंतः प्रियं तत्।
किं वाऽकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते तन्मे सर्वं भगवान् व्याकरोतु ॥४१॥
वैशंपायन उवाच--लब्ध्वा कृष्णां सैंधवं द्रावयित्वा विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात्ते।
मार्कंडेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ॥४२॥ [११६३३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि कवचकुंडलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१०॥ समाप्तं चेदं कुण्डलाहरणपर्व।

अथाऽऽरणेयपर्व ।

जनमेजय उवाच— एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पांडवाः ॥ १ ॥

देवतोंने फूलोंकी वर्षा की । कर्णने अपने अङ्ग काटकर हंससे हुए देखकर देवतों-ने फूलोंकी वर्षा की ! कर्णने अपने अङ्गोंसे निकालकर गीलाही कवच इन्द्र-को दे दिया, ऐसेही कानोंको काटकर कुण्डलभी दे दिये, इसही कर्मसे सूतपुत्र का नाम कर्ण हुआ था । (३५-३८)

इन्द्र कर्णको छलकर तथा लोकमें क-र्णको यशस्वी बनाके और पाण्डवोंके कार्य को पूरा हुआ समझके हंसते हुए स्वर्गको चले गये।धृतराष्ट्रपुत्र कर्णको छला हुआ सुनके बहुत दीन और मान रहित होग-ये । वननिवासी पाण्डव लोग कर्णकी उस दशाको सुनके बहुत प्रसन्न हुए । (३९-४०)

राजा जनमेजय बोले, हे भगवन् ! उस समय पाण्डव लोग कहां रहते थे? उन्होंने इस प्यारी बातको किससे सुना था ? बारह वर्षके पश्चात् उन्होंने क्या किया ? यह सब आप मुझसे कहिये । ४१

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, द्रौपदीको प्राप्त करके और सिन्धुदेशके राजा जय-द्रथको भगाकर, काम्यक वनमें मार्कण्डे-य ऋषिसे ब्राह्मणोंके सहित देवता और ऋषियोंके पुराने चरित्र सुनते हुए पा-ण्डव वहीं रहने लगे । (४२) ११६३३

वनपर्वमें तीनसौ दस अध्याय और कुण्डलाहरण पर्व समाप्त।

वैशंपायन उवाच—एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥
अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन्पांडवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥
वसन्द्वैतवने राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ५ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रांता धर्मात्मानो यतव्रताः ।
क्लेशमाच्छेन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥
तस्मिन्प्रतिवसंतस्ते यत्प्रापुः कुरुसत्तमाः
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत्प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥
अरणीसहितं मंथं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥
तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।

वनपर्वमें तीनसौ ग्यारह अध्याय

और आरणेय पर्व ।

राजा जनमेजय बोले, हे महामुने! जब द्रौपदी हरी गई, तब पाण्डवोंने बहुत क्लेश उठाया, पश्चात् द्रौपदीको पाकर पाण्डवोंने क्या किया ? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! इस प्रकारसे द्रौपदीके हरे जानेपर कठिन क्लेशको पाकर महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित काम्यक वनको त्यागकर मनोहर स्वादयुक्त फल मूलसे भरे, अनेक भांतिके वृक्षोंसे पूर्ण द्वैतवन को चले गये । व्रत करनेवाले, थोडा भोजन करनेवाले पाण्डव द्रौपदीके सहित द्वैतवनमें रहने लगे । (२ – ४)

हे राजन्! राजा युधिष्ठिर, भमिसेन अर्जुन, नकुल और सहदेवने द्रौपदीके सहित उस वनमें रहकर ब्राह्मणोंके हितके वास्ते बहुत दुःख पाया । उन कुरुकुलश्रेष्ठोंने जो उस वनमें रहकर सुख और दुःख भोगे उनका वर्णन करता हूं सुनो । (५—७)

द्वैत वनमें एक तपस्वी ब्राह्मणकी अरणी और मंथानीसे एक हरिन आके अपने सिरको रगडने लगा; उस हरिन के सींगमें उस ब्राह्मणकी अरणी और मंथानी फंस गई, हे राजन् जनमेजय ! अरणी और मंथानीको लेके वह बडे

आश्रमांतरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजनः ॥ ९ ॥
ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम।
त्वरितोऽभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥ १० ॥
अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
अरणीसहितं मंथं समासक्तं वनस्पतौ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥
तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम्।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पांडवाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः।
धनुरादाय कौंतेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥
सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुंगवाः।
ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ १६ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजंतो महारथाः।

वेगसे चलनेवाला महामृग ब्राह्मणके आश्रमसे शीघ्रही भाग गया। हे कुरुसत्तम! वह ब्राह्मण अपनी अरणी और मंथानी को ले जाते देखकर बडी शीघ्रतासे अग्निहोत्रको देखनेके वास्ते अपने आश्रम पर गया। (८–१०)

उस ब्राह्मणने वनमें महाराज युधिष्ठिरको भाईयोंके सहित बैठे हुए देखा, ब्राह्मणने उनके पास जाकर बडे दुःखके साथ यह कहा, हे महाराज! मेरी अरणी और मंथानी एक वृक्षमें लटकी हुई थी, एक हरिन आके उस वृक्षसे अपने शरीरको रगडने लगा, रगडते हुए हरिनके सींगमें मेरी अरणी और मंथानी उलझ गई। वह बडे वेगवाला महामृग शीघ्रताके साथ उन्हे लेकर चला गया। हे पाण्डव लोगो! उस हरिनके पैरोंके चिह्नसे उस हरिनको पकडकर मेरी अरणी और मंथानीको आप लोग ला दीजिये जिससे अग्निहोत्रका नाश न हो। (११–१४)

महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणके वचनोंको सुनके बहुत दुःखी हुए, और धनुष लेके भाइयोंके सहित उठे! सब पाण्डव कवच पहनकर और धनुष धारण करके उस मृगके पैरोंके चिह्नपर चल दिये;

नाऽविध्यन्पांडवास्तत्र पश्यंतो मृगमंतिकात् ॥ १७ ॥
तेषां प्रयतमानानां नाऽदृश्यत महामृगः ।
अपश्यंतो मृगं श्रांता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥
शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीतांगाः पांडवाः समुपाविशन् ॥ १९ ॥
तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद्भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात्कुरुनंदनम् ॥ २० ॥
नाऽस्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो न चाऽऽलस्यादर्थलोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः संप्राप्ताः स्मः संशयं किन्नु राजन् ॥२१॥[११६५४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्यारणेयपर्वणि मृगान्वेषण एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

युधिष्ठिर उवाच— नाऽऽपदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥
भीम उवाच— प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥

कुछ दूर जाके उन्हें वह मृग मिल गया। महारथी पाण्डव लोग कानतक खींचकर बाण मारते थे तौभी समीप खडा हरिन उन बाणोंसे न वेधा गया। १५-१७

उन यत्न करनेवालोंकी दृष्टिसे वह मृग अदृश्य होगया, हरिनके गुप्त होनेसे पाण्डवोंको बडा दुःख हुआ, उस घोर वनमें पाण्डव लोग भूख और प्याससे व्याकुल होकर एक वडकी ठंढी छायामें जा बैठे। जब पाण्डव लोग छायामें जा बैठे, तब दुःखके साथ क्रोध करके नकुल बडे भाई युधिष्ठिरसे बोले, हे राजन्! हमारे कुलमें कभी धर्मका लोप नहीं हुआ, और न कभी आलस्यसे अर्थका नाश हुआ है, परन्तु हम किस कारणसे संकटमें ग्रस्त हुए हैं। (१८-२१) [११६५४]

वनपर्वमें तीन सौ ग्यारह अध्याय समाप्त।

वनपर्वमें तीनसौ बारह अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, आपत्तिके कालमें कोई मर्यादा नहीं होती, आपदोंका कोई निमित्त और कारणभी नहीं होता, पुण्य और पापका विभाग धर्मही करता है। (१)

भीमसेन बोले, जब द्रौपदीको दासीके समान प्रतिकामी सभामें लाया था, तब मैंने उसको नहीं मारा, इसही कारणसे हम लोगोंको यह कष्ट प्राप्त हुआ है। २

अर्जुन उवाच— वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः।
अतितीव्रा मया क्षांतास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥
सहदेव उवाच— शकुनिस्त्वां यदाऽजैषीदक्षद्यूतेन भारत।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत्।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमंतिके पश्य वृक्षांश्चाऽप्युदकाश्रितान्।
एते हि भ्रातरः श्रांतास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम्।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समंततः ॥ ७ ॥
पश्यामि बहुलान्राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान्।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय ॥ ९ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात्।
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवाऽन्वपद्यत ॥ १० ॥

अर्जुन बोले सूतपुत्र कर्णने बहुत कठोर वचन कहे थे, और मैंने उन्हे क्षमा कर दिया, इसही कारणसे हम लोगोंको यह कष्ट मिला है। (३)

सहदेव बोले, जब शकुनिने आपको जुएमें जीता था, तब हमने उसे नहीं मारा इसही कारणसे हम लोगोंको कष्ट मिला है।(४)

श्रीवैशंपायन मुनि बोले इसके अनन्तर महाराज युधिष्ठिर नकुलसे ऐसा वाक्य बोले, हे माद्रीनन्दन! तुम वृक्षपर चढके दशों दिशाओंको देखो, कहीं समीपमें जलके किनारे वाले वृक्ष और पानी हैं या नहीं; देखो यह तुम्हारे भाई प्यासे हो रहे हैं। (५–६)

नकुलभी बहुत अच्छा कहके शीघ्रताके साथ वृक्षपर चढ गये और चार ओरको देखके अपने बडे भाईसे बोले, हे राजन्! मैं जलके तटपर होनेवाले अनेक वृक्षोंको देखता हूं, सारसोंका शब्दभी सुनाई देता है,वहां अवश्यही जल होगा। तब सत्य वादी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर बोले, हे सौम्य! तुम शीघ्रतासे तरकसमें जल भरकर लाओ। नकुल "बहुत अच्छा"

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ ११ ॥

यक्ष उवाच—
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥
चिरायमाणे नकुले कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥
भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाऽग्रजः ।
तथैवाऽऽनय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥
सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥
भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥

कहके बडे भाईकी आज्ञासे वहांको चले जहां पानी था और बहुत शीघ्र वहां पहुंच गये। नकुलने विमल जलको सारसों से घिरा हुआ देखके पीनेकी इच्छा करी, इतनेहीमें नकुलने आकाशवाणी सुनी। (७-११)

यक्ष बोला, हे प्यारे! साहस मत करो, मेरे प्रश्नोंका उत्तर देके जल पीना और लेभी जाना। नकुलने यक्षके वाक्यका अनादर करके जल पीया किन्तु जल पीतेही नकुल पृथ्वीमें गिर पडे। जब नकुलको देर हुई, तब राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंको नाश करनेवाले सहदेवसे कहा, हे पापरहित! हमारे भाईको गये बहुत देर. हुई इससे तुम जाकर भाईके साहित पानीको ले आओ।(१२-१५)

सहदेवभी " बहुत अच्छा " कहके उसही ओरको गये और जलके समीप जाके अपने भाई नकुलको पृथ्वीमें मरा हुआ पडा देखा। सहदेव भाईके शोकसे और प्यासस बहुतही व्याकुल होकर पानी पीनेको चले। तब आकाशवाणी हुई, हे प्यारे! हठ मत करो, पहिले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो फिर जल पीयो और लेभी जाओ। प्यासे

अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥
अथाऽब्रवीत्स विजयं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौ ते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥
तौ चैवाऽऽनय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥ २१ ॥
एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥
प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौंतेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २४ ॥
नाऽपश्यत्तत्र किंचित्स भूतमस्मिन्महावने ।
सव्यसाची ततः श्रांतः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥२५॥
अभिधावंस्ततो वाक्यमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥ २६ ॥
कौंतेय यदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ।

सहदेवने उस वचनका अनादर करके ठण्डा जल पिया, और पीकर गिर पडे। (१६—१९)

इसके पश्चात् युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा, हे शत्रुओंको दुःख देनेवाले अर्जुन ! तुम्हारे दो भाई जल लेनेको गये हैं, तुम जाके दोनों भाइयोंको और जलको ले आओ। हे तात ! हम दुःखियोंका तुमही आश्रय हो। ऐसे वचन सुनके धनुष बाण और नङ्गा खङ्ग लेकर अर्जुन उस तलावपर पहुंचे। वहां श्वेत घोडे वाले अर्जुनने जो जल लानेको पहिले दोनों भाई गये थे उन दोनों पुरुषसिंहोंको पृथ्वीमें पडा हुआ देखा। (२०—२३)

सोए हुएके समान उन दोनों भाइ-ओंको देखके अर्जुनको बडा दुःख हुआ तब धनुष चढाके अर्जुन उस सब वनको देखने लगे, अर्जुनने उस वनमें किसी प्राणीको न देखा, तब थककर पानी पीनेको चले। जब अर्जुन जल पीनेको चले तब बिना शरीरकी वाणी सुन पडी। हे अर्जुन। क्या तुम पानी पीना चाहते हो? सो तुम बलसे

ततः पास्यासि पानीयं हरिष्यासि च भारत ॥ २७ ॥
वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमंत्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥ २९ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्भरतर्षभ ।
स त्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाऽभिप्रपीडितः ॥३०॥
अनेकैरिषुसंघातैरंतरिक्षे ववर्ष ह ।
किं विघानेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥ ३१ ॥
अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ।
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥ ३२ ॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।
अथाऽब्रवीद्भीमसेनं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरंगतास्तोयहेतोर्न चाऽऽगच्छंति भारत ॥ ३४ ॥
तांश्चैवाऽऽनय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।

नहीं पी सकते हो, हे भारत ! यदि मेरे प्रश्नोंका उत्तर दोगे तो जल पियोगे, और लेभी जाओगे । (२४—२७)

अर्जुनको जल पीनेसे जब रोका; तब अर्जुनने कहा कि प्रत्यक्ष होके मुझे रोको; मेरे बाणोंसे छिदकर फिर ऐसे न बोलोगे । अर्जुनने ऐसे कहके बाणोंको दिव्य अस्त्रोंसे युक्त करके शब्दवेधी रीतिसे चारों ओर बाणवर्षा करनी आरम्भ की । हे भरतवंशी जनमेजय ! कानों तक खींचकर निवारण होनेके अयोग्य बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको बहुत प्यास लगी । अर्जुनके बाणोंसे आकाश भर गया । (२८–३१)

यक्ष बोला, हे कुन्तीपुत्र । इस उपायसे कुछ फल नहीं होगा, मेरे प्रश्नोंका उत्तर देके जल पियो, विना प्रश्नोंका उत्तर दिये, जल पीतेही मर जाओगे । सव्यसाची अर्जुन इस बातको सुनके उस यक्षकी वाणीका अनादर करके जल पीने लगे, और जल पीतेही मर गये । (३१—३३)

इसके पश्चात् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा । हे शत्रुओंको तपानेवाले ! नकुल, सहदेव और अर्जुन बहुत देरसे जल लेनेको गये हैं, परन्तु

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥ ३६ ॥
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ।
स चिंतयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥ ३७ ॥
पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३८ ॥
यक्ष उवाच— मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३९ ॥
एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणाऽमिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥
ततः कुंतीसुतो राजा प्रचिंत्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।

कोईभी अबतक नहीं आये, तुम जाकर सब भाइओंको और जलको ले आओ। भीमसेनभी "बहुत अच्छा" कहके वहीं पहुंचे, जहां उनके भाई मरे पडे थे उनको देखकर भीमसेन बहुत दुःखी और प्याससे व्याकुल हो गये। महाबली भीमने समझा कि यह कर्म किसी यक्ष वा राक्षसका है; भीमसेनने विचार किया यहां पर युद्ध अवश्य करना चाहिये, ऐसा विचार कर भीमसेन जल पीनेको चले। (३३— ३८)

यक्ष बोला, हे प्यारे! हठ मत करो; पहिले मेरे प्रश्नोंका उत्तर देके जल पीयो और ले जाओ। भीमसेन यक्षकी बातको सुनके और तेजस्वी यक्षके प्रश्नोंका उत्तर विनाही दिये जल पीकर पृथ्वीमें गिर पडे। तब नरश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर वारंवार चिन्ता करके उठे, उस समय युधिष्ठिरका मन जलने लगा। (३९—४०)

युधिष्ठिरने उस वनमें प्रवेश किया जिसमें किसी मनुष्यका शब्द नहीं सुन पडता था, रुरु, वराह, और अनेक प्रकार पक्षी जिस वनकी सेवा करते थे, जो नीले और धौले वृक्षोंमें शोभायमान था, जिसमें भौरे और पक्षी शब्द कर

अमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥
स गच्छन्कानने तस्मिन्हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४४ ॥
उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सचेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ॥
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाऽथ विस्मितः ॥४५॥ [११६९९]

इति श्रीमहाभारते० आरण्यके पर्वण्यारणेयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१२ ॥

वैशंपायन उवाच— स ददर्श हतान्भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
युगांते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥
विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भ्रातॄन्सर्वांश्चितासमन्वितः ॥ ३ ॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।
ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।

रहे थे । यशस्वी युधिष्ठिरने उस वनमें जाके कमलोंसे भरे उस तालावको ऐसा देखा मानो इसे विश्वकर्माहीने बनाया है । वह तालाव कमलिनियोंसे भरा सिन्धु वारोंसे भरे उत्तम जातिके कमलोंसे पूर्ण, केतकी, कनेर और पीपलके वृक्षोंसे घिरा हुआ था, थके हुए राजा युधिष्ठिर उस तलावको देखकर आश्चर्यको प्राप्त हुए । ((४१—४५) [११६९९]

वनपर्वमें तीन सौ बारह अध्याय समाप्त ।

वनपर्व तीनसौ तेरह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरने गिरे हुए लोकपालोंके समान अथवा प्रलयकालमें इन्द्रके समान अपने भाइयोंको मरा हुआ देखा । अर्जुनको धनुष बाण फेंके मरा हुआ पडा देखके ऐसाही भीमसेन और नकुल तथा सहदेवको पडा हुआ देख ऊंचे सांस लेकर शोकसे आंसू बहाने लगे । अपने सब भाइयोंको मरा हुआ देखकर महा बलवान युधिष्ठिर चिन्तासे व्याकुल होके विलाप करने लगे । (१–४)

हे भीमसेन ! हे महाभुज ! तुमने प्रतिज्ञा करी थी कि मैं युद्धमें दुर्योधनकी

व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते ॥ ५ ॥
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।
मनुष्यसंभवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवंतु कथं मृषा ।
देवाश्चापि यदाऽवोचन्सूतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुंति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रनष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरंजसा ।
नाऽस्य जेता रणे कश्चिद्जेता नैष कस्यचित् ॥ ९ ॥
सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाऽऽशां संहत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥ १० ॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ।
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।

जंघा गदासे तोडूंगा, हे वीर ! आज तुम्हारे मरनेसे वह प्रतिज्ञा व्यर्थ होगई। हे महाभुज ! हे कुरुकुलकी कीर्तिको बढानेवाले ! तुम्हारी वाणी आज झूठी होगई (४–६)

हे अर्जुन ! देवतोंकी वाणी झूंठ कैसे होगई ? देवता लोगोंने तुम्हारी उत्पात्तिके समयही मातासे कहा था, कि हे कुन्ति! तुम्हारा पुत्र अर्जुन इन्द्रके समान होगा, तुमको सब प्राणी कहते थे कि नष्ट हुई राज्यलक्ष्मीको अर्जुन फिर लौटावेंगा, युद्धमें इसको जीतनेवाला कोई न होगा और जिसको युद्धमें यह न जी सके ऐसाभी कोई नहीं होगा, वही अर्जुन मेरी आशाओंको नाश करके पृथ्वीमें कैसे पडा है, वही महाबली किस प्रकारसे मृत्युके वशमें होगये जिस अर्जुनको हम लोग अपना नाथ जानते थे वही अर्जुन आज क्योंकर मर गये ? (६-११)

सदा शत्रुको मारनेवाले रणमें मत्त नकुल और सहदेव किस प्रकारसे शत्रुके वशमें होगये। जो अर्जुन और भीमसेन अस्त्रोंको जानने वाले थे उनको तथा नकुल और सहदेवको पृथ्वीमें पडा देखकरभी जो मेरा हृदय

यमौ यदेतौ दृष्ट्वाऽद्य पतितौ नाऽवदीर्यते ॥ १३ ॥
शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अविक्षतशरीराश्चाऽप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥
सानूनिवाद्रेः संसुप्तान्दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान्प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥
इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाऽभिपेदे महाबाहुश्चिंतयानो महामतिः ॥ १८ ॥
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपःसुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिंतयामास वीराः केन निपातिताः ॥ २० ॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहाऽस्ति कस्यचित् ।

नहीं फटता है, इससे मैं जानता हूं, कि मेरा हृदय लोहेसे भी कठोर है। हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ लोगो! तुम सब देश, काल तथा शास्त्रके जाननेवाले, तप करनेवाले और क्रियायुक्त होकरभी अपने योग्य विना कर्म किये ही क्यों सोते हो? हे जीतनेके अयोग्य भाइयो! विना घाव खाये, विना धनुष बाणको चलाए चेतनारहित होके पृथ्वीमें क्यों पडे हो! (११-१५)

बुद्धिमान राजा युधिष्ठिर पर्वतकी तलहटीके समान अपने भाइयोंको सुखसे सोया देखकर शोकसे बहुतही व्याकुल हुए। ऐसेही शोक करते करते राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके मृत्यु के कारणको विचारने लगे। और यहभी विचारने लगे कि मुझे इस समय क्या करना उचित है, महाबुद्धिमान महाभुज देश और कालके विभागको जाननेवाले राजा युधिष्ठिरको कुछभी निश्चय न जान पडा। (१६-१८)

तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मनको स्थिर करके और अनेक विलाप करके बुद्धिसे विचारनेलगे कि इन वीरोंको किसने मारा है, इनके शरीरोंमें कोई शस्त्रभी नहीं लगा है, न यहांपर किसीके पेर लगे दीखते हैं, मैं जानता हूं कि वह कोई अद्भुत जीव है,

भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥
एकाग्रं चिंतयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।
स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥ २२ ॥
गांधारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥
भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिंतयत् ।
तस्याऽऽसीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥
मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातृणामित्यचिंतयत् ॥ २६ ॥
एकैकशश्चौघबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रति समासेत कालांतकयमादृते ॥ २७ ॥
एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत्तोयमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥२८ ॥

यक्ष उवाच— अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो नीता मया प्रेतवशं तवाऽनुजाः ।

जिसने मेरे भाइयोंको मारा है । मैं चित्तको एकाग्र करके विचारूंगा वा जल पीके निश्चय करूंगा, हो सक्ता है कि दुर्योधनने गुप्त रीतिसे कोई उपाय किया हो अथवा कुटिल बुद्धिवाले गान्धार देशके राजा शकुनिने कोई छल किया हो, उसको करने योग्य और न करने योग्य सब कार्य एकसे ही दीखते हैं। (१९-२२)

उस पापीका कौन विश्वास कर सकता है? अथवा किसी दुरात्मा गुप्त दूतका यह काम है, इस प्रकारसे बुद्धिमान युधिष्ठिर अनेक भांतिके विचार करने लगे, परन्तु उनका मन ऐसे शुद्ध न हुआ जैसे दूषित जल। महाराज युधिष्ठिरने विचारा कि मरे हुए भाइयोंका वर्ण नहीं बिगडा है, उनके मुख अभीतक प्रसन्न हैं। इन एक एक महा बलियोंसे यम के सिवाय और कोईभी नहीं लड सकता है। ऐसा विचार करके महाराज युधिष्ठिर जलमें घुसे जलमें घुसतेही युधिष्ठिरने आकाशवाणी सुनी। (२४-२८)

यक्ष बोला, हे राजपुत्र! मैं शिवार और मछरिओंका खानेवाला बगुला हूं, मैंनेही तुम्हारे चार भाइयोंको मारा है,

त्वं पंचमो भविता राजपुत्र न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि ॥२९॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥
युधिष्ठिर उवाच— रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥३१॥
हिमवान्पारियात्रश्च विंध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२ ॥
अतीव ते महत्कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान्न देवा न गंधर्वा नाऽसुराश्च न राक्षसाः ॥ ३३ ॥
विषहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि कांक्षितम्॥३४
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चाऽऽगतं मम ।
येनाऽस्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ॥
यक्ष उवाच— यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नाऽस्मि पक्षी जलेचरः ॥ ३६ ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।
[वै]शंपायन उवाच— ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥

यदि मेरे प्रश्नका उत्तर न दोगे तो तुम भी इनके साथ पांचवें बनोगे । हे प्यारे ! हठ मत करो, पहिले मेरे प्रश्नका उत्तर देके जल पियो और लेभी जावो॥ २९-३०

युधिष्ठिर बोले, मैं पूंछता हूं कि तुम कौन हो ? रुद्र, वसु वा मरुद्गणके प्रधान देवता हो ? ऐसा प्रश्न पक्षी नहीं कर सकता है । हिमाचल, पारियात्र, विन्धाचल और मलय पर्वतके समान मेरे चार भाईयोंको किसने मारके गिराया है । हे बलवानोंमें श्रेष्ठ ! जिस कर्मको देवता गन्धर्व यक्ष और राक्षस युद्ध करके नहीं कर सकते, उस महा कार्यको तुमने किया है । मैं नहीं जानता हूं कि दैवकी क्या इच्छा है, मुझे बडा आश्चर्य, दुःख और शोक है, इस ही कारणसे मेरा चित्त घबडा रहा है, हे भगवन् ! इसही कारणसे पूंछता हूं कि तुम कौन हो ? जो यहां निवास करते हो । (३१—३६)

यक्ष बोला, हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं यक्ष हूं, मैंनेही तुम्हारे तेजस्वी भाइयोंको मारा है । (३६-३७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तब उस

यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठंतं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगंभीरनादेन तर्जयंतं महास्वनम् ।

यक्ष उवाच — इमे ते भ्रातरो राजन्वार्यमाणा मयाऽसकृत् ॥ ४० ॥
बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै सूदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन्प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच– न चाऽहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत्प्रशंसंति संतो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषर्षभ ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥४४॥

यक्ष उवाच– किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याऽभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ ४५ ॥

कल्याण रहित कठोर अक्षरोंसे भरी वाणीको सुनके राजा युधिष्ठिर सावधान होके खडे होगये । राजा युधिष्ठिरने वृक्षसे ऊपर बैठे हुए भयानक नेत्र और बडी देहवाले, ताडके समान लम्बे, सूर्य और अग्निके समान प्रकाशयुक्त, पर्वतके समान अधृष्य, मेघके समान गर्जते हुए, यक्षको देखा । (३७-४०)

यक्ष बोला हे राजन् ! तुम्हारे भाइयोंको एक बार मैंने जल पीनेसे रोका, जब यह बलसे जल लेने लगे, तब मैंने मारडाला तुमकोभी यदि प्राणकी रक्षा करनी हो तो जल मत पियो। हे कुन्ती पुत्र ! हठ मत करो पहिले मेरे प्रश्नके उत्तर देके जल पियो और लेभी जाओ । (४०–४२)

युधिष्ठिर बोले, हे यक्ष ! मैं तुम्हारे अधिकारको छीनना नहीं चाहता । स्वयं अपनी ही प्रशंसा करना ठीक नहीं क्यों कि साधुजन उसकी प्रशंसा नहीं करते। इसलिये तुम प्रश्न करो मैं अपनी बुद्धिके अनुसार उत्तर दूंगा ।(४३–४४)

यक्ष बोला, सूर्यको कौन उदय करता है ? सूर्यके पास कौनसे सेवक रहते हैं ? कौन सूर्यको अस्त करता है, और सूर्य किस आरमें स्थित है ? ४५

युधिष्ठिर उवाच– ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याऽभितश्चराः ।
धर्मश्चाऽस्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥

यक्ष उवाच — केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विंदते महत् ।
केनस्विद् द्वितीयवान्भवति राजन्केन च बुद्धिमान् ॥४७

युधिष्ठिर उवाच– श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विंदते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥

यक्ष उवाच – किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच – किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच – इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर बोले, ब्रह्म सूर्यका उदय करता है, देव सूर्यके साथी हैं, धर्म सूर्यका अस्त करता है, और सत्यमें सूर्य स्थित है। ४६

यक्ष बोला, हे राजन्! किससे मनुष्य श्रोत्रिय होता है ? किससे महत्त्वको प्राप्त होता है ? किससे दूसरेसे युक्त होता है ? और किससे बुद्धिमान होता है ? ४७

युधिष्ठिर बोले, मनुष्य वेदसे श्रोत्रिय होता है, तपसे महत्त्वको पाता है, धारणासे दूसरेसे युक्त होता है, और वृद्धोंकी सेवासे बुद्धिमान होता है। (४८)

यक्ष बोला, ब्राह्मणोंमें देवतापन क्या है ? सज्जनोंके समान उनका धर्म क्या है ? उनमें मनुष्यत्व क्या है ? और दुष्टोंके समान धर्म क्या है ? (४९)

युधिष्ठिर बोले, नित्यही वेदको पढना ब्राह्मणमें देवतापन है, तपही सज्जनोंके समान धर्म है मरना मनुष्यता है और दूसरोंकी निन्दा करनाही दुष्टोंका सा कर्म है। (५०)

यक्ष बोला, क्षत्रियोंमें देवतापन क्या है? क्षत्रियोंमें सद्धर्म क्या है ? क्षत्रियोंमें मनुष्य भाव क्या है ? और क्षत्रियोंमें दुष्टभाव क्या है ? (५१)

युधिष्ठिर बोले, बाण और अस्त्रोंको धारण करना क्षत्रियोंका देवतापन है, और यज्ञ करना सद्धर्म है, भय करना क्षत्रियोंका मनुष्यभाव है, शरणागतको वा युद्धको त्यागना क्षत्रियोंका दुष्ट कर्म है। (५२)

यक्ष उवाच — किमेकं यज्ञियं साम किमेकं याज्ञियं यजुः ।
का चैका वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच —प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नाऽतिवर्तते ॥ ५४ ॥

यक्ष उवाच — किं स्विदावपतां श्रेष्ठं किं स्विन्निवपतां वरम् ।
किं स्वित्प्रतिष्ठमानानां किं स्वित्प्रसवतां वरम् ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच— वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६ ॥

यक्ष उवाच — इंद्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच— किं स्विद्गुरुतरं भूमेः किं स्विदुच्चतरं च खात् ।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद्बहुतरं तृणात् ॥५९॥

यक्ष बोला, याज्ञिय साम कौन है? यजुर्वेद का एक वह मन्त्र कौनसा है, जिस से यज्ञ हो सकता हो ? यज्ञको आच्छादन करनेवाली कौन है ? किसको यज्ञ नहीं नांघ सकता है ? (५३)

युधिष्ठिर बोले प्राणही यज्ञका साम है, मन यजुर्वेदका यज्ञका मन्त्र है, ऋचा यज्ञको आच्छादन करती है, ऋचा को यज्ञ नहीं नांघ सकता है। (५४)

यक्ष बोला। तृप्ति करनेवालोंमें कौन श्रेष्ठ है ? बोनेवालों के लिये कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है ? प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको क्या उत्तम है? और कुलकी वृद्धि चाहनेवालोंको क्या उत्तम है ?(५५)

युधिष्ठिर बोले, तृप्ति करनेवालोंमें जल की वर्षा उत्तम है ? बोवनेवालों के लिये बीज ही श्रेष्ठ है, प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको गौ उत्तम हैं, कुलकी वृद्धि चाहनेवालोंको पुत्र उत्तम है। (५६)

यक्ष बोला, इन्द्रियोंके विषयोंको भोगता हुआ, बुद्धियुक्त संसारमें आदरयुक्त, सब प्राणियोंका मान्य, सांस लेते हुएभी कौन नहीं जीता है ? (५७)

महाराज युधिष्ठिर बोले, देवता अतिथि पितर और सेवकोंको और अपनी आत्माको जो नहीं देता है, वह सांस लेता हुआ भी मरा है। (५८)

यक्ष बोला, पृथ्वीसे भारी कौन है ? आकाशसे ऊंचा कौन है ? वायुसे जलदी चलने वाला कौन है ? तृणसे अधिक

युधिष्टिर उवाच— माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिंता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच— किं स्वित्सुप्तं न निमिषति किं स्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद्वेगेन वर्धते ॥ ६१ ॥

युधिष्टिर उवाच— मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥

यक्ष उवाच— किं स्वित्प्रवसतो मित्रं किं स्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किं स्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥६३॥

युधिष्टिर उवाच— सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥

यक्ष उवाच— कोऽतिथिः सर्वभूतानां किं स्विद्धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किं स्विद्राजेंद्र किं स्वित्सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥

युधिष्टिर उवाच— अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत ॥ ६६ ॥

क्या है ? (५९)

राजा युधिष्ठिर बोले, माता भूमिसे भारी है, पीता आकाशसे ऊंचा है, मन वायुसे जलदी चलने वाला है, चिन्ता तृणसे अधिक है। (६०)

यक्ष बोला, कौन सोता हुआ पलक नहीं मारता है ? उत्पन्न होकर कौन नहीं चलता है ? हृदय किसको नहीं है ? शीघ्रतासे कौन बढता है ? (६१)

युधिष्ठिर बोले, मछरी सोते हुए पलक नहीं मारती, अण्डा उत्पन्न होकर नहीं चलता है, पत्थर को हृदय नहीं होता है, नदी शीघ्रतासे बढती है । (६२)

यक्ष बोला; परदेशमें कौन मित्र है? घरमें कौन मित्र होता है ! रोगीका कौन मित्र है? मरनेके समय कौन मित्र होता है ? (६३)

महाराज युधिष्ठिर बोले, विदेशमें सङ्गी मित्र है, घरमें स्त्री मित्र है, वैद्य रोगीका मित्र है और दान मरनेके समयका मित्र होता है । (६४)

यक्ष बोला, सब प्राणियोंका अतिथि कौन है ? सनातन धर्म क्या है ? हे राजेन्द्र ! अमृत क्या वस्तु है और यह सब जगत् क्या है ? (६५)

राजा युधिष्ठिर बोले, सब प्राणियोंका अतिथि अग्नि है; गौओंका दूध अमृत है उसहीको सोम कहते हैं, मोक्ष देनेवाला सनातन धर्म है, वायुही सब जगत् है । (६६)

यक्ष उवाच— किं स्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत् ॥६७॥

युधिष्ठिर उवाच— सूर्य एको विचरते चंद्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥

यक्ष उवाच— किं स्विदेकपदं धर्म्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ।
किं स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ॥६९॥

युधिष्ठिर उवाच— दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥

यक्ष उवाच— किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद्दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किं स्विदस्य किं स्विदस्य परायणम्॥ ७१॥

युधिष्ठिर उवाच— पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥

यक्ष उवाच— धन्यानामुत्तमं किं स्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम् ७३॥

युधिष्ठिर उवाच— धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।

यक्ष बोला, एकला कौन फिरता है ? उत्पन्न होकर फिर कौन उत्पन्न होता है ? शीतकी औषध क्या है ? बोवनेका बडा स्थान क्या है ?(६७)

युधिष्ठिर बोले, सूर्य एकला घूमता है; चन्द्रमा फिर उत्पन्न होता है, अग्नि शीतकी औषध है, बोवनेका बडा स्थान भूमि है। (६८)

यक्ष बोला, धर्मका एक स्थान क्या है ? यशका एक स्थान क्या है ? स्वर्गका एक साधन क्या है ? और सुख पानेका एक उपाय क्या है। (६९)

युधिष्ठिर बोले, दक्षताही धर्मका स्थान है, दानही यशका, सत्य स्वर्गका और शीलही सुखका एक उपाय है। ७०

यक्ष बोला, मनुष्यकी आत्मा क्या है ? देवका दिया हुआ मित्र कौन है ? मनुष्यका जीवन क्या है ? मनुष्यका आधार क्या है ? (७१)

महाराज युधिष्ठिर बोले, पुत्र मनुष्यकी आत्मा है, स्त्री दैवकी दी हुई मित्र है, मेघ जीवन है, और दान मनुष्यका आधार है। (७२)

यक्ष बोला, धन्य लोगोंमें उत्तम क्या है ? धनोंमें उत्तम धन क्या है ? लाभोंमें उत्तम लाभ क्या है ? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है ? (७३)

राजा युधिष्ठिर बोले; धन्य लोगोंमें

लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच— कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच— आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

यक्ष उवाच— किं नु हित्वा प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति
किं नु हित्वाऽर्थवान्भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥७७॥

युधिष्ठिर उवाच— मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वाऽर्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत्॥ ७८ ॥

यक्ष उवाच— किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

चतुरता उत्तम है, धनोंमें विद्या उत्तम है, लाभोंमें नीरोगता उत्तम है, और सुखोंमें सन्तोष उत्तम है । (७४)

यक्ष बोला, कौन धर्म सबसे उत्तम है ? कौनसा धर्म सदा फल देनेवाला है ? किसको संयत करनेसे सोच नहीं करना होता ? और किनकी सन्धि नहीं टूटती ? (७५)

युधिष्ठिर बोले, सर्व भूतोंको अभय देनाही सबसे उत्तम धर्म है, वेदोक्त धर्म सदा फल देनेवाला है, मनको रोक कर सोचना नहीं होता है, सज्जनोंकी सन्धि कभी नहीं टूटती है । (७६)

यक्ष बोला किसको त्यागनेसे मनुष्य प्यारा होता है ? किसको त्यागनेसे सोच नहीं पडता ? किसको त्यागनेसे धनी होता है ? किसको त्यागनेसे सुखी होता है ? ७७

महाराज युधिष्ठिर बोले, अभिमानके त्यागनेसे सबका प्यारा होता है, क्रोधका त्यागनेसे सोच नहीं करता, कामको त्यागनेसे धनी होता है और लोभको त्यागनेसे सुखी होता है । (७८)

यक्ष बोला, ब्राह्मणको क्यों दान दिया जाता है ? नट और नाचनेवालोंको क्यों धन दिया जाता है ? सेवकको क्यों द्रव्य दिया जाता है ? और राजाको कर क्यों दिया जाता है ? (७९)

राजा युधिष्ठिर बोले धर्मके लिये ब्राह्मणको दान दिया जाता है, यशके लिये नट और नाचनेवालोंको धन देते हैं,पालनके वास्ते सेवकोंको द्रव्य दिया जाता है, और डरसे राजाको कर देते

यक्ष उवाच— केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अज्ञानेनाऽऽवृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ॥८२॥

यक्ष उवाच— मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच— मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥

यक्ष उवाच— का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥८६ ॥

यक्ष उवाच— तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता॥८७॥

हैं। (८०)

यक्ष बोला, जगत्को क्या आच्छादित करता है? प्रकाशको कौन रोकता है? मित्र किससे त्याग किये जाते हैं? स्वर्गमें किस कारणसे नहीं जाता? (८१)

महाराज युधिष्ठिर बोले, अज्ञानसे संसार आच्छादित होता है, अन्धकारसे प्रकाश रुकता है, लोभसे मित्र छूटते हैं, और सङ्गके कारण स्वर्ग नहीं मिलता है। (८२)

यक्ष बोला, पुरुष काहेसे मरता है? देश काहेसे मरता है? श्राद्ध काहेसे मरता है? और यज्ञ काहेसे मरता है? (८३—८४)

राज युधिष्ठिर बोले, दरिद्रतासे पुरुष मरता है, राजाके विना देश मरता है, विद्याहीन पुरोहितसे श्राद्ध मरता है और दक्षिणाके विना यज्ञ मरता है। ८४

यक्ष बोला, दिशा कौनसी है? जल क्या है? अन्न क्या है? विष क्या है? हे राजन्! श्राद्धका काल कहो, तब जल पिवो वा लेजावो। (८५)

महाराज युधिष्ठिर बोले, सज्जन दिशा हैं, आकाश जल है, गौ अन्न है, मांगना विष है और श्राद्धका समय ब्राह्मण है। हे यक्ष! तुम्हारा मत क्या है? (८६)

यक्ष बोला, तपका क्या लक्षण है? दम किसे कहते हैं? कडी क्षमा किसे कहते हैं और लज्जा किसका नाम है? (८७)

युधिष्ठिर उवाच—तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥
यक्ष उवाच — किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन्कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चाऽऽर्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥
युधिष्ठिर उवाच— ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशांतता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥
यक्ष उवाच— कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनंतकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥
युधिष्ठिर उवाच — क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनंतकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥
यक्ष उवाच — को मोहः प्रोच्यते राजन्कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥ ९४ ॥

महाराज युधिष्ठिर बोले, अपने धर्मका करना तप; मनको विषयोंसे रोकना दम; सुख दुःखादि को सहन करना क्षमा और बुरेकार्योंसे बचना लज्जा कहाती है। ८८

यक्ष बोला हे राजन्! ज्ञान किसे कहते हैं? शम किसका नाम है? परम दया क्या है? और आर्जव किसका नाम है? (८९)

महाराज युधिष्ठिर बोले, तत्त्वार्थके बोधको ज्ञान, चित्तकी शान्तिको शम, सब प्राणियोंके सुखकी इच्छा करनेको दया और चित्तकी समता रखनेको आर्जव कहते हैं। (९०)

यक्ष बोला मनुष्योंको दुःखसे जीतने योग्य शत्रु कौन है? जिसका अन्त नहीं ऐसा रोग कौन है? साधु किसे कहते हैं? और दुष्ट किसे कहते हैं? (९१)

महाराज युधिष्ठिर बोले, क्रोध दुःखसे जीतने योग्य शत्रु है, जिसका अन्त नहीं होता ऐसा रोग लोभ है, सब प्राणियोंका हित करनेवाला साधु और दया रहित दुष्ट कहाता है। (९२)

यक्ष बोला, हे राजन्! मोह किसे कहते हैं? अभिमान क्या वस्तु है? आलस्य किसे कहते हैं? और शोक किसका नाम है? (९३)

महाराज युधिष्ठिर बोले, धर्मको न जानना मोह, अपनेको सबसे बडा समझना अभिमान, धर्मको न करना आलस्य और अज्ञानही शोक कहाता है। (९४)

यक्ष उवाच— किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥ ९५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥

यक्ष उवाच — कः पंडितः पुमान्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात्को मत्सर इति स्मृतः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच —धर्मज्ञः पंडितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥

यक्ष उवाच— कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दंभः प्रकीर्तितः ।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत्पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—महाज्ञानमहंकारो दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ १०० ॥

यक्ष उवाच — धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥ १०१ ॥

यक्ष बोला ऋषिलोग स्थिरता किसे कहते हैं? धैर्य क्या है? उत्तम स्नान क्या है? और दान क्या वस्तु है? (९५)

महाराज युधिष्ठिर बोले, अपने धर्ममें स्थिर रहना स्थिरता, इन्द्रियोंको रोकना धैर्य, मनके मलको त्यागना स्नान और प्राणियोंकी रक्षा करना दान कहाता है। (९६)

यक्ष बोला, हे राजन् ! कौन पुरुष पंडित ? कौन नास्तिक ? कौन मूर्ख ? कौन मत्सर और कौन काम कहाता है ? (९७)

महाराज युधिष्ठिर बोले, धर्मज्ञको पंडित, मूर्खको नास्तिक, संसारके हेतुको काम, और हृदयके सन्तापको मत्सर कहते हैं । (९८)

यक्ष बोला, हे राजन् ! अहंकार किसको कहते हैं ? प्रारब्ध क्या है ? पिशुनता (चुगल खोरी) और पाखण्ड किसको कहते हैं । (९९)

महाराज युधिष्ठिर बोले, बडे अज्ञान को अहंकार, दानके फलको प्रारब्ध, दूसरोंके दोष दिखानेको पिशुनता, और धर्मध्वजीपन अर्थात यश प्राप्त करने के वास्ते धर्म करने को पाखण्ड कहते हैं? (१००)

यक्ष बोला, हे राजन् ! धर्म, अर्थ, और काम परस्पर विरोधी हैं, इनका एक स्थानमें रहना कैसे हो सकता है ? (१०१)

युधिष्ठिर उवाच— यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥१०२॥

यक्ष उवाच — अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥ १०३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंचनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०४॥
वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०५ ॥
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०६॥

यक्ष उवाच — राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥ १०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच – शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ १०८ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ १०९ ॥

महाराज युधिष्ठिर बोले, जब धर्म और पत्नी, परस्पर वशमें हों तब धर्म, अर्थ और काम एकमें रह सकते हैं। (१०२)

यक्ष बोला, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! आप यह कहिये कि अक्षय नरक किसको मिलता है ? (१०३)

महाराज युधिष्ठिर बोले, जो मनुष्य मांगनेवाले दरिद्र ब्राह्मणको आपही बुला कर पीछे आपही कहे कि मेरे पास कुछ नहीं है, उसे अक्षय नरक मिलता है, वेद में, धर्म शास्त्रमें, ब्राह्मणमें, देवतोंमें, और पितरोंके धर्ममें जो मिथ्या दृष्टि करता है, उसे अक्षय नरक मिलता है। जो धन होते भी दान और भोग नहीं करता है, तथा जो कहता है कि मरनेके पीछे कुछ नहीं होता, उसे अक्षय नरक होता है। (१०४—१०६)

यक्ष बोला, हे राजन्! कुलसे, चरित्रसे, वेदपाठसे या विद्यासे ब्राह्मण होता है, यह आप मुझसे निश्चय पूर्वक कहिये। (१०७)

युधिष्ठिर बोले, हे यक्ष ! सुनो, न कुल से और न वेदपाठसे ब्राह्मण होता है, किन्तु आचरणही ब्राह्मणतामें कारण है, इस लिये मनुष्यको विशेषतः ब्राह्मणको चाहिये कि यत्नसे अपने आचरणकी रक्षा करे ! जिसके आचरण हीन है वही हीन

पठकाः पाठकाश्चैव ये चाऽन्ये शास्त्रचिंतका ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स पंडितः ॥ ११० ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दांतः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥१११ ॥

यक्ष उवाच — प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते धर्मे रतः किं लभते कथय ११२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच— को मोदते किमाश्चर्यं कः पंथाः का च वार्तिका ।
वद मे चतुरः प्रश्नान्मृता जीवंतु बांधवाः ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिर उवाच — पंचमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाऽप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥ ११५ ॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छंतीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ११६ ॥

है, पढने और पढानेवाले तथा जो और शास्त्रके विचारनेवाले हैं, वे सब मूर्ख और व्यसनी हैं, किन्तु जो क्रियावान है, वही पण्डित हैं, चारों वेदोंके जाननेवाला यदि दुराचारी हो तो वह ब्राह्मण शूद्रसे भी नीच है, जो अग्निहोत्रका करनेवाला शान्त है वही ब्राह्मण है। (१०८-१११)

यक्ष बोला, प्रिय वचन कहनेवालेको क्या मिलता है? विचारकर कार्य करनेवालेको क्या मिलता है ? बहुत मित्र करनेवालोंको क्या मिलता है? और धर्म करनेवालोंको क्या मिलता है ?(११२)

महाराज युधिष्ठिर बोले, प्रिय वचन वाला सबका प्यारा होता है, विचारकर कार्य करने वालोंको जय मिलती है, बहुत मित्रवालेको सुखसे वास मिलता है और धर्म करनेवालेको मोक्ष मिलता है। (११३)

यक्ष बोला हे राजन्! जगत्में सुखी कौन है ? आश्चर्य क्या है ? मार्ग कौनसा है ? और बात क्या है ? इन मेरे चारों प्रश्नोंका उत्तर दो तो तुम्हारे भाई जीवें। (११४)

महाराज युधिष्ठिर बोले, दिनके आठवें भागमें जो अपने घरमें शाक खाकर रहता है, और किसीका ऋणी तथा विदेशी नहीं है, वही सुखी है। प्रति दिन प्राणी यमपुरीको चले जाते हैं, और शेष जीना चाहते हैं, इससे अधिक और

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः ॥ ११७ ॥
अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ ११८ ॥

यक्ष उवाच— व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना यथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः॥११९॥

युधिष्ठिर उवाच- दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ १२० ॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ १२१ ॥

यक्ष उवाच - व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ १२२॥

युधिष्ठिर उवाच - श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु । ॥१२३ ॥

यक्ष उवाच - प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।

आश्चर्य क्या होगा ? तर्क तो जड है, श्रुति भिन्न हैं, और एक ऋषि नहीं जिसके मतका प्रणाम हो, इससे धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा है, इस लिये महा जन जिसमें चलते हों,वही मार्ग है । इस महामोहमय कडाहमें सूर्यरूपी अग्नि, अहोरात्र इंधन, मास और ऋतु करछी, इन सबसे काल प्राणियोंका हलुआ पका रहा है यही बात है । (११५--११८)

यक्ष बोला, हे शत्रुनाशन ! तुमने मेरे प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर दिया अब पुरुषकी व्याख्या करो और यह कहो कि सब धनवाला पुरुष कौन है ? (११९)

महाराज युधिष्ठिर बोले, पुण्यकर्मसे शब्द आकाश और भूमिमें फैलता है, जबतक वह शब्द रहता है, तबतक वह पुरुष कहाता है, जिसको प्यारा और अ-प्यारा, सुख और दुःख, भूत और भविष्यत समान हों वही सब धनवाला है । (१२०--१२१)

यक्ष बोला, हे राजन् ! तुमने सबसे धनी पुरुषको कहा इस कारणसे चारों भाइयोंमेंसे जिस एकको कहो वही जीजाय । (१२२)

महाराज युधिष्ठिर बोले; यह जो श्याम वर्ण, लाल नेत्रवाला, शालके स-मान ऊंचा, महाबली नकुल है, यही जी जाय । (१२३)

स कस्मान्नकुलो राजन्सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२४॥
यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२५॥
तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनाऽनुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२६ ॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पांडवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२७ ॥
युधिष्ठिर उवाच —धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्१२८॥
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२९ ॥
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३० ॥
कुंती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ १३१ ॥

यक्ष बोला, यह तुम्हारा प्यारा भीम तथा तुम्हारी रक्षा करनेवाला अर्जुन है इनको त्यागकर अपनी सौतेली माके पुत्र नकुलको जिलानेकी क्यों इच्छा करते हो ? जिस भीमसेनमें दश सहस्र हाथीका बल है, उसे छोडकर नकुलको जिलानेकी इच्छा क्यों करते हो ? सब लोग कहते हैं कि भीमसेन युधिष्ठिरका प्यारा है, उसे त्यागकर सौतेली माके पुत्र नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो ? जिस अर्जुनके बाहुबलके आश्रयसे पाण्डव जगत्में रहते हैं, उस अर्जुनको त्याग कर नकुलको जिलानेकी क्यों इच्छा करते हो ? (१२४—१२७)

महाराज युधिष्ठिर बोले, धर्मका नाश करनेसे धर्मभी पुरुषका नाश कर देता है, और धर्मकी रक्षा करनेसे धर्मभी पुरुषकी रक्षा करता है, इससे मैं धर्मको नहीं छोडता हूं, कि धर्म नष्ट होके हमारा नाश न करे, सत्य परम धर्म है, मैं यथार्थ रीतिसे जानता हूं, इस कारणसे हे यक्ष ! नकुलही जीवे । हे यक्ष ! जगत्में मनुष्य कहते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मशील हैं इस कारणसे मैं धर्मको त्यागना नहीं चाहता, मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियां हैं, उन दोनों का पुत्रवती होना ही मेरा अभिप्रेत है । कुन्ती और माद्री को मैं

यथा कुंती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३२॥

यक्ष उवाच— यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम् ।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवंतु भरतर्षभ ॥ १३३ ॥[११८३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्यारणेयपर्वणि
यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१३ ॥

वैशंपायन उवाच— ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठंत पांडवाः ।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच – सरस्येकेन पादेन तिष्ठंतमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षो मतो भवान्॥२॥
वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् ।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥
मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥
सुखं प्रति प्रबुद्धानामिंद्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान्सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान् ॥ ५ ॥

समान ही मानता हूं, उन दोनों के विषयमें भेदबुद्धि मेरे मनमें नहीं है । दोनों माता ओंमें समानता होना मैं चाहता हूं, इसलिये हे यक्ष यह नकुल ही जीवें । (१२८ –१३२)

यक्ष बोला तुम्हारी बुद्धि अर्थ और कामसे भी धर्मको नहीं त्यागती इससे तुम्हारे सब भाई जी जांय । (१३३)

तीनसौ तेरह अध्याय समाप्त । [११८३२]

वनपर्वमें तीनसौ चौदह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तब यक्षके वचन से सब पाण्डव लोग खडे होगये, क्षण भरमें भूख और प्यास से वे सब मुक्त होगये । (१)

महाराज युधिष्ठिर बोले, तलावमें एक पैरसे खडे हुए, पराजय रहित तुम कौन हो ? तुम यथार्थमें यक्षही हो ? या तुम वसुवोंमेंसे कोई एक हो ? अथवा रुद्र हो ? या मरुद्गणमेंसे कोई हो ? यद्वा तुम वज्रधारी इन्द्र हो ? मेरे यह भाई जो सैकडों और सहस्रोंसे लडनेवाले हैं, मैं ऐसा कोई योद्धा नहीं देखता हूं जो इन सबको मार डालता, अब मैं इन सबको सुखसे जिया हुया तथा विकार रहित इन्द्रिय युक्त देखता हूं, इससे आप हमारे बान्धव वा पिता हैं ?(२-५)

यक्ष उवाच— अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥
अहिंसा समता शांतिस्तपः शौचममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥
दिष्ट्या पंचसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चांते सांपराथिके ॥ ९ ॥
धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहाऽऽगतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥
वरं वृणीष्व राजेंद्र दाता ह्यस्मि तवाऽनघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याऽग्नयो न लुप्येरन्प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥
यक्ष उवाच— अरणीसंहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।

यक्ष बोला, हे प्यारे ! मैं तुम्हारा पिता धर्म हूं, हे भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे देखने को यहां आया था। यश, सत्य, दम, शौच, कोमलता, लज्जा, धीरता, दान, तप, और ब्रह्मचर्य यह सब मेरे शरीर हैं। अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच, प्रमाद रहित होना, यह मेरी प्राप्तिके द्वार हैं । तुम मेरे प्यारे हो इसही कारणसे मैंने तुमसे प्रकाशित कर दिया है। (६-८)

प्रारब्धसे तुम नित्यकी पांच यज्ञोंमें तत्पर हो, प्रारब्धसेही तुमने काम आदि छै शत्रुओंको जीता है, इन शत्रुओंमेंसे दो प्रथम अवस्थामें दो मध्य अवस्थामें और दो अन्तकी अवस्थामें दुःख देते हैं। हे राजन् ! मैं धर्म हूं, तुम्हारा कल्याण हो मैं तुमको जाननेके वास्ते यहां आया था, हे पाप रहित ! मैं तुम्हारे सत्यसे बहुत प्रसन्न हुआ अब वर मांगो। हे राजेन्द्र ! मैं तुमको वर देता हूं क्योंकि जो मेरे भक्त हैं, उनकी दुर्गति कभी नहीं होती। (९-११)

महाराज युधिष्ठिर बोले, जिस ब्राह्मणकी अरणीको लेके हरिन भाग गया है उसका अग्निहोत्र नष्ट न हो, यह मुझको पहिला वर दीजिये। (१२)

यक्ष बोला; कि ब्राह्मणकी अरणीको तुम्हारी परीक्षाके वास्ते मैं हरिन बनकर

मृगवेषेण कौंतेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच- ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रन्ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥
युधिष्ठिर उवाच वर्षाणि द्वादशाऽरण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥
वैशपायन उवाच - ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाऽऽश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥
वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥
यद्वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वे छंदतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥
अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत ।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥
प्रवृणीष्वाऽपरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते ।

उठा लाया हूं। (१३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! धर्मने कहा कि हे देवतुल्य राजपुत्र युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हों, यह वर मैंने तुमको दिया अब दूसरा वर मांगो। (१४)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हम लोगोंने बारह वर्ष वनमें बिताये; अब तेरहवां वर्ष आगया है, इसमें हमको कोई मनुष्य न जाने यह दूसरा वर दीजिये। (१५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भगवान धर्मने उत्तर दिया कि वह वर भी मैंने तुम्हें दिया; धर्मने फिर सत्य पराक्रमी कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिरको समझाया; हे भारत! यद्यपि तुम लोग इस पृथ्वीमें अपने रूपसेही फिरोगे, तौभी तुम्हें तीनों लोकमें कोई नहीं जानेगा, हे कुरुकुल श्रेष्ठ पाण्डवो! यह तेरहवां वर्ष है, इसमें तुम विराट नगरमें छिपकर रहो, तुम लोगोंके मनमें जैसा रूप धारण करनेकी इच्छा हो वैसाही रूप धारण करके विचरो। (१६-१९)

यह अरणी सहित मथानी जिसे तुम्हारे जाननेकी इच्छासे मैं हरिन बनके उठा लाया था सो ब्राह्मणको देदेना। हे सौम्य मैं तुमको वर देते देते तृप्त नहीं

न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन्वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत्।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन्विदुरश्च ममांऽशजः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ २३ ॥
जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाऽहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥

धर्म उवाच— उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनाऽसि पांडव।
भवान्धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच— इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः।
समेताः पांडवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥ २६ ॥
उपेत्य चाऽऽश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७॥

इदं समुत्थानसमागतं महत्पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम्।
पठेन्नरः स्याद्विजितेन्द्रियो वशी सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग्भवेत् ॥ २८ ॥
न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने परस्वहारे परदारमर्शने।

होता हूं, तुम तीसरा वर मांगो, हे राजन्! तीसरा वर ऐसा मांगो कि उस की उपमा न हो, तुम मेरे पुत्र हो और विदुर भी मेरेही अंशसे उत्पन्न हैं। (२०–२२)

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे देवदेव! हे सनातन! आप जो प्रसन्न होके वर देंगे सो मैं ग्रहण करूंगा, हे पितः! मैं लोभ, मोह, और क्रोधको जीतूं। दान तप और सत्यमें मेरा मन सदा लगा रहे। (२३–२४)

धर्म बोले,हे पाण्डव! इन गुणोंसे तुम आपही आप भरे हो, तुम धर्म ही है तौभी जो तुमने कहा वैसाही होगा। (२५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,ऐसा कहके लोक पूजित भगवान् धर्म वहीं अन्तर्द्धान होगये, बुद्धिमान वीर पाण्डव भी श्रम रहित होके आश्रमको आये और तपस्वी ब्राह्मणको अरणी दे दी यह पाण्डवोंका मरके जीना पिता पुत्रकी कीर्त्तिका बढानेवाला है जो मनुष्य जीतेन्द्री होके इसे पढे वह पुत्र पौत्रके सहित सौ वर्ष जीवे; अधर्ममें, मित्रोंके प्रेम छुडानेमें, पराया धन लेनेमें, व्यभिचार और कादरतामें उस मनुष्यका चित्त नहीं लगता है, जो इस कथाको जानता

कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्यारणेयपर्वणि नकुलजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥ [११८६१]

वैशम्पायन उवाच— धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पांडवाः सत्यविक्रमाः ।
अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ॥ १ ॥
उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः ।
ये तद्भक्ता वसंति स्म वनवासे तपस्विनः ॥ २ ॥
तानब्रुवन्महात्मानः स्थिताः प्रांजलयस्तदा ।
अभ्यनुज्ञापयिष्यंतस्तं निवासं धृतव्रताः ॥ ३ ॥
विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम् ।
छद्मना हृतराज्याश्चाऽनयाश्च बहुशः कृताः ॥ ४ ॥
उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५ ॥
तद्वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ।
सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ॥ ६ ॥
जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यंतवैरिणः ।
युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य स्वजनस्य च ॥ ७ ॥
अपि नस्तद्भवेद्भूयो यद्वयं ब्राह्मणैः सह ।

है। (२६-२८) [११८६१]

वनपर्वमें तीनसौ चौदह अध्याय समाप्त ।

वनपर्वमें तीनसौ पन्द्रह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! धर्मसे आज्ञा पाकर सत्य पराक्रमी पाण्डव तेरहवें वर्षमें गुप्त होकर अज्ञात वासमें रहे थे, जो पाण्डवोंके भक्त विद्वान व्रतधारी तपस्वी वनमें संग थे उनसे महात्मा पाण्डव हाथ जोडके अपना निवास बतलानेके लिये बोले। १-३

आप लोग सब जानते हैं, कि जिस प्रकारसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंने छलसे हमारा राज्य छीना और हमको दुःख दिया है। हम लोगोंने बडे कष्टके साथ बारह वर्ष वनमें निवास किया, अब यह तेरहवां वर्ष अज्ञातवासका आया है, इस कारणसे हम लोग गुप्त रहेंगे, आप आज्ञा दें। दुर्योधन और दुरात्मा शकुनी हम लोगोंके अत्यन्त वैरी हैं, वे दूतों द्वारा हमको ढूंढनेमें दक्ष रहेंगे और हमारे सेवक पुरवासी और साथियोंका बहुत अपकार कर सकते हैं, इस कारणसे हम लोग अपने राज्यमें बैठकर

समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच–इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तो शुचिर्धर्मसुतस्तदा।
संमूर्छितोऽभवद्राजा साऽश्रुकंठो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
तमथाऽऽश्वासयन्सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह।
अथ धौम्योऽब्रवीद्वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा ॥ १० ॥
राजन्विद्वान्भवान्दांतः सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
नैवंविधाः प्रमुह्यंते नराः कस्यांचिदापदि ॥ ११ ॥
देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १२ ॥
इंद्रेण निषधान्प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ॥ १३ ॥
विष्णुनाऽश्वशिरः प्राप्य तथाऽदित्यां निवत्स्यता।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १४ ॥
प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥
हुताशनेन यच्चाऽपः प्रविश्य च्छन्नमासता।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥
प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणाऽरिविनिग्रहे।

आप लोग तथा ब्राह्मणोंसे मिलेंगे। (४८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ऐसा कहके धर्मपुत्र युधिष्ठिर दुःख और शोकसे व्याकुल होके मूर्च्छित होगये और उनके नेत्रोंसे आंसू बहने लगे, तब ब्राह्मण और भाई उनको समझाने लगे, धौम्य राजा युधिष्ठिरसे बोले, हे राजन्! तुम विद्वान्, दानी, सत्यवादी और जितेन्द्री हो, आपके समान मनुष्य किसी विपतमें भी सोच नहीं करते। देवतोंको भी शत्रुओंके लिये छिपना और विपद भोगनी पडी थी, इन्द्रने पहाडके ऊपर और निषध देशमें गुप्त रह कर शत्रुओंके पकडनेका उपाय किया था। ९-१३

विष्णुने घोडेका सिर पाके आदितिके गर्भमें दैत्योंके मारनेके लिये बहुत दिन तक निवास किया था, फिर वामन रूप धारण करके अपने आत्माको छिपाकर जैसे बलिके राज्यको छीना वह सब आपने सुनाही है, जैसे अग्निने जलमें छिपकर देवतोंका कार्य किया, वह आपने सुनाही है। (१४–१६)

वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत्कृतं तच्च ते श्रुतम् ॥ १७ ॥
और्वेण वसता च्छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा ।
यत्कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ॥ १८ ॥
एवं विवस्वता तात च्छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १९ ॥
विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ २० ॥
एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्छात्रवान्युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ २१ ॥
तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः संपरितोषितः ।
शास्त्रबुद्ध्या स्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
अथाऽब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा संपरिहर्षयन् ॥ २३ ॥
अवेक्षया महाराज तव गांडीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किंचित्साहसं कृतम् ॥ २४ ॥
सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥ २५ ॥

हे धर्मको जाननेवाले ! इन्द्रके वज्रमें घुसकर जैसे विष्णुने शत्रुओंका नाश किया वह आपने सुनाही है, ब्रह्मऋषि और्वने जो छिपकर देवतोंका कार्य किया था वहभी आपने सुनाही है, उत्तम तेजवाले सूर्यने पृथ्वीमें रहकर जैसे छिपकर शत्रुओंका नाश किया, उसेभी आप जानते हैं, ऐसेही विष्णुने दशरथके घरमें छिपके युद्धमें रावणको मारा था । जैसे महात्माओंने जिधर तिधर छिपकर शत्रुओंको जीता था; वैसेही तुमभी जीतोगे (१७-२१)

धौम्यने ऐसे वाक्योंसे राजाको समझाया, तब राजा शास्त्रकी बुद्धिसे और अपनी बुद्धिसे सावधान हुए, पश्चात् बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभुज भीमसेन अपनी वाणीसे राजाको प्रसन्न करते हुए, ऐसे बोले, हे राजन् ! तुम्हारी धर्मबुद्धिको देखकरही गाण्डीवधारी अर्जुनने कुछ साहस नहीं किया था, हे महाराज ! सहदेव और नकुल महा बलवान और शत्रुओंको नाश करनेमें समर्थ हैं, मैंही उनको सदा रोके रहता हूं जिस शत्रुके मारनेको आप हमें छोडेंगे, हम लोग

न वयं तत्प्रहास्यामो यस्मिन्मोक्ष्यति नो भवान् ।
भवान्विधत्तां तत्सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥ २६ ॥
इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषः ।
उक्त्वा चाऽऽपृच्छय भरतान्यथास्वान्स्वान्ययुर्गृहान् २७
सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा ।
आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकांक्षया ॥ २८ ॥
सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पंच च पांडवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥ २९ ॥
क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद्देशान्निमित्ततः ।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥
पृथक्शास्त्रविदः सर्वे सर्वे मंत्रविशारदाः ।
संधिविग्रहकालज्ञा मंत्राय समुपाविशन् ॥ ३१ ॥[११८९२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामारण्यके पर्वण्यारणेयपर्वण्य ज्ञातवासनिमन्त्रणे पंचदशाधिकत्रिंशततमोऽध्यायः॥३१५॥ समाप्तं चेदमारणेयपर्व ।

समाप्तं चेदमारण्यकं पर्वेति । [श्लोक संख्या २३३६३]

इदमारण्यकं श्रुत्वा महापापैः प्रमुच्यते ।
अधनो धनमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥ १ ॥
यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयम् ।

वहांपर हंसी नहीं करावेंगे । आप आज्ञा दीजिये हम बहुत शीघ्र शत्रुओंको जीतेंगे । (२२—२६)

भीमसेनके ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंने परम आशीर्वाद दिया और पांडवोंसे आज्ञा लेकर अपने घरको चले गये, वेदोंके जाननेवालोंमें मुख्य यति और मुनि लोग यथा योग्य आदर पाके फिर दर्शन की इच्छासे अपने घरको चले गये । धौम्यके सहित विद्वान पांच पाण्डव द्रौपदीके सहित उठके चले, उस स्थानसे एक कोस चलके कल प्रातः काल होनेपर गुप्तरूप लेने को उद्यत हुए, विविध शास्त्र और मन्त्रको जाननेवाले सन्धि और विग्रहके समयको जाननेवाले पाण्डव लोग विचार करनेके लिये, इकट्ठे बैठ गये । २७-३१ [११८९२]

वनपर्वमें तीन सौ पन्दरह अध्याय समाप्त ।

वनपर्व समाप्त । पूर्ण श्लोक संख्या २३३६३

इस वनपर्वको सुनकर मनुष्य महा पापोंसे छूटता है, निर्धन धन पाता है, पुत्र पौत्रसे युक्त होता है, जो जो इच्छा

नारी वा पुरुषो वापि शुचिः प्रयतमानसः ॥ २ ॥
आरण्यके श्रुतेऽधीते ब्राह्मणान्पायसादिभिः ।
भोजयेद्वस्त्रगोस्वर्णदानै रत्नैः प्रपूजितान् ॥ ३ ॥
ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु संतुष्टाः पांडुनंदनाः ।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवगणास्तथा ॥ ४ ॥
भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये ।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ॥ ५ ॥
विशेषतस्तु कपिला देया तु जपपाठके ।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृंगी सभूषणा ।
पांडूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ॥ ६ ॥
आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद्यो नरोत्तमः ।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

इत्यारण्यकश्रवणमहिमा दानविधिश्च समाप्तः ।

करता सोसो प्राप्त होती है, स्त्री वा पुरुष शुद्ध होके जो पाठ करता है, उसकी सब कामना पूर्ण होती हैं, वन पर्वको सुनके वा पढके ब्राह्मणोंको वस्त्र सुवर्ण गऊ और रत्न दान दे। (१-३)

ब्राह्मणके प्रसन्न होनेसे पाण्डव, ब्रह्मा विष्णु, रुद्र, इन्द्र तथा और देवता लोग, भूत, मुनि, देवी तथा और लोग प्रसन्न होते हैं, वाचनेवालेको अन्न वस्त्र सोनेके आभूषण विशेषतः कपिला गऊ देना चाहिये, दूध दूहनेका कांसेका पात्र, गऊके खुर चांदीसे और सींग सोनेसे मढकर ब्राह्मणको अन्नके सहित दान दे, इससे पाण्डव लोग प्रसन्न होते हैं, इस वनपर्वकी कथाको जो सुनता है उसकी सब इच्छा पूर्ण होती है, और अन्तको स्वर्गमें जाता है। (४-७)

इति श्रवणमहिमा और दानविधि समाप्त।

इति वनपर्व समाप्त।



॥ अस्मिन्पर्वणिवृत्तांताः ॥ पांडवप्रव्राजनम् ॥ पौरानुगमनम् ॥ पौरवाक्यं पौरविसर्जनं च ॥ ब्राह्मणानुगमनम् ॥ युधिष्ठिरचिंता ॥ शौनकवाक्यम् ॥ धौम्यस्तवः ॥ आदित्यनामाष्टशतम् ॥ विदुरनिर्वासनम् ॥ धृतराष्ट्रस्य संतापः ॥व्यासागमनम्॥ सुरभींद्रसंवादः॥ अर्जुनवाक्यम् ॥ भीमसेनवाक्यम् ॥ व्यासदर्शनम् ॥ कौन्तेयगमनम् ॥ इंद्रलोकपालागमनम् ॥ विद्यालाभः ॥ शस्त्रप्राप्तिः ॥किरातयुद्धम् ॥ इंद्रलोकगमनम् ॥ नलोपाख्यानम् ॥अक्षज्ञानप्राप्तिः ॥ नारदागमनम् ॥ पुलस्त्यतीर्थयात्रा॥ लोमशागमनम् ॥ तत्तीर्थयात्राप्रस्थानम्॥ अगस्त्यप्रभावः॥विंध्यशैलचरितम् ॥ वातापिनाशनम् ॥ समुद्रशोषणम् ॥ कालेयवधः ॥ सगरपुत्रविनाशः॥ गंगावतारः ॥ ऋश्यशृंगोपाख्यानम्॥ वृष्णिपांचालागमनम् ॥ हलधरवाक्यम्॥वासुदेववाक्यम्॥ जामदग्न्यचरितम् ॥ सौकन्योपाख्यानम् ॥ श्येनकपोतीयम् ॥ अष्टावक्रीयम् ॥ गंधमादनप्रवेशः ॥ औत्पातिकम् ॥ घटोत्कचगमनम् ॥जटासुरवधः॥ आर्ष्टिषेणाश्रमनिवासः॥ हनूमद्भीमसमागमः॥पुष्पाभिहरणम् ॥यक्षयुद्धम्॥ वैश्रवणसमागमनम् ॥निवातकवचवधः ॥ अर्जुनागमनम् ॥ शस्त्रदर्शनम् ॥ आजगरम् ॥काम्यकागमनम् ॥ वासुदेवसत्यभामागमनम् ॥ नारदागमनम् ॥ मार्कंडेयागमनम् ॥ मार्कंडेयसमास्याभविष्यम् ॥ ब्राह्मणमाहात्म्यम् ॥ धुंधुमारोपाख्यानम् ॥ सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादः ॥ मनुचरितम् ॥ मंडूकोपाख्यानम् ॥ पतिव्रतोपाख्यानम् धर्मव्याधोपाख्यानम् ॥ मधुकैटभोपाख्यानम् ॥ द्रौपदीसत्यभामासंवादः ॥ घोषयात्रा दुर्योधनकर्म॥ प्रावृड्वर्णनम् ॥ इंद्रद्युम्नोपाख्यानम् ॥ ॥ आंगिरसं स्कंदजननम् ॥ धार्तराष्ट्रयज्ञः ॥ व्यासदर्शनम् ॥ मृगस्वप्नदर्शनम् ॥ व्रीहिद्रौणिकम्॥ द्रौपदीप्रमाथः ॥दुर्वासउपाख्यानम् ॥ रामोपाख्यानम् ॥ सावित्र्युपाख्यानम्॥ कुंडलाहरणम ॥आरणेययक्षप्रश्नाः ॥ समाप्ता वृत्तांताः ॥

अस्याग्रेविराटपर्व भविष्यति तस्यायमाद्यः श्लोकः —

जनमेजय उवाच— कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥ १ ॥

वनपर्वकी विषय सूची ।

वनपर्व समाप्त ।



यहांके सब अंक व्यर्थ हो जाते हैं, इस लिये हरएक ग्राहक इस सूचना का स्मरण रखे और असावधानी होने न दें।

विनामूल्य महाभारत।

(१०) जो सज्जन १००) अथवा अधिक रुपये स्वाध्यायमंडल को एक समय दान देंगे, उनको वैदिकधर्म तथा महाभारत के भाग तथा स्वाध्यायमंडल के पुस्तक, जो उनका दान मिलने के पश्चात् मुद्रित होंगे, विनामूल्य मिलते जायंगे।

(११) जो महाशय दस ग्राहकों का चंदा इकट्ठा म० आ० द्वारा भेजकर अपने नामपर सब अंक मंगायेंगे, उनको एक अंक विनामूल्य भेजा जायगा।

पीछेसे मूल्य बढेगा।

पीछे से इस ग्रंथ का मूल्य बढेगा। इस लिये जो ग्राहक शीघ्रही बनेंगे उनको ही इस अवसर से लाभ हो सकता है।

मंत्री—
स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)